आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक मण्डल

श्री जयप्रकाश नारायण
श्री नरहरि विष्णु गाडगिल
श्री के० एम० मुंशी
श्री हरिभाऊ उपाध्याय
श्री मुकुटबिहारी वर्मा

मुनिश्री नगराजजी
श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री एन० के० सिद्धान्त
श्री जैनेन्द्रकुमार
श्री जबरमल भण्डारी

[illegible]

श्री अक्षयकुमार जैन

[illegible]

श्री मोहनलाल कठौतिया

आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह

प्रकाशक :
आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह समिति
वृद्धिचन्द जैन स्मृति भवन,
४०९३ नयाबाजार, दिल्ली।

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय	२६२
द्वितीय अध्याय	१३२
तृतीय अध्याय	१२४
चतुर्थ अध्याय	२१२
अन्य	२८
कुल योग	७८८

•

मूल्य : चालीस रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
२७ शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली
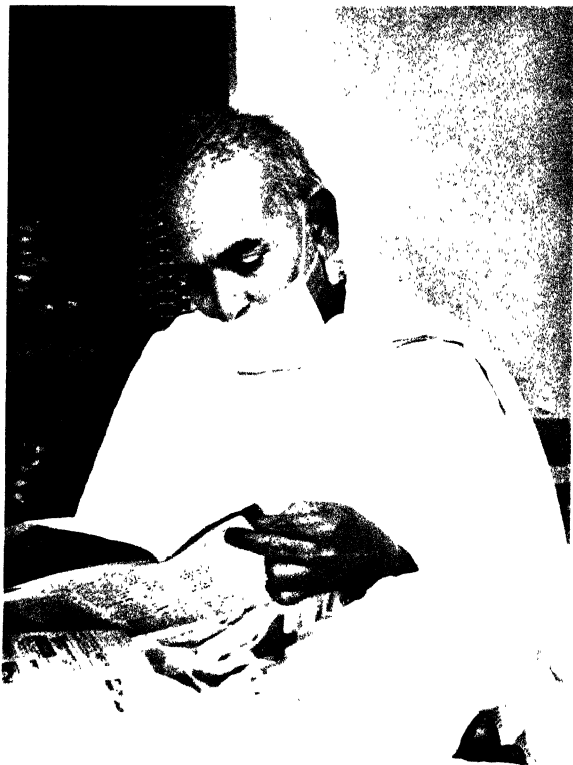
तेरापंथ के नवमाधिशास्ता, अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक—

आचार्य श्री तुलसी

उपराष्ट्रपति डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन्

द्वारा

वि० स० २०१८ फाल्गुन कृष्णा दशमी, गुरुवार

ता० १ मार्च, १९६२

के दिन गंगाशहर (बीकानेर) में

अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी

को

सादर समर्पित

सम्पादकीय

आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ मे चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय श्रद्धाञ्जलि और संस्मरण प्रधान है। देश और विदेश के विभिन्न क्षेत्रीय लोगो ने आचार्यश्री तुलसी को अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। वे आचार्यश्री के व्यापक व्यक्तित्व और लोक-सेवा की परिचायक है। दूसरे अध्याय में आचार्यश्री तुलसी की जीवन-गाथा है। जिनका समग्र जीवन ही अहिसा और अपरिग्रह की पराकाष्ठा पर है, उनकी जीवन-गाथा सर्वसाधारण के लिए उद्बोधक होनी ही है। तीसरे अध्याय की आत्मा अणुव्रत है। समाज में अनैतिकता क्यो पैदा होती है और उसका निराकरण क्या है आदि विषयों पर विभिन्न पहलुओ से लिखे गए नाना चिन्तनपूर्ण लेख इस अध्याय मे है। समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न विचारको द्वारा प्रस्तुत विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। सक्षेप मे इस अध्याय को हम एक सर्वांगीण नैतिक दर्शन कह सकते है। चौथा अध्याय दर्शन और परम्परा का है। विद्वानो द्वारा अपने-अपने विषय से सम्बन्धित लिखे गए शोधपूर्ण लेख इस अध्याय की ही नही, समग्र ग्रन्थ की अनूठी सामग्री बन गए हैं। हालांकि अधिकाश लेख जैन दर्शन और जैन-परम्परा से ही सम्बन्धित है, फिर भी वे नितान्त शोध-प्रधान दृष्टि से लिखे गए है और साम्प्रदायिकता से सर्वथा अछूते रहे है। स्याद्वाद जैन दर्शन का तो हृदय है ही, साथ-साथ वह जीवन-व्यवहार का अभिन्न पहलू भी है। यह सिद्धान्त जितना दार्शनिक है, उतना वैज्ञानिक भी। डा० आइन्स्टीन ने भी अपने वैज्ञानिक सिद्धान्त को सापेक्षवाद की सज्ञा दी है। इस प्रकार चार अध्यायो का यह अभिनन्दन ग्रन्थ दर्शन और जीवन व्यवहार का एक सर्वांगीण शास्त्र बन जाता है। अभिनन्दन-परम्परा की उपयोगिता भी यही है कि उस प्रसग विशेष पर ऐसे ग्रन्थो का निर्माण हो जाता है। अभिनन्दन मे व्यक्ति तो केवल प्रतीक होता है। वस्तुत तो वह अभिनन्दन उसकी सत्प्रवृत्तियो का ही होता है।

भारतवर्ष मे सदा ही त्याग और सयम का अभिनन्दन होता रहा है। आचार्यश्री तुलसी स्वय अहिंसा व अपरिग्रह की भूमि पर है और समाज को भी वे इन आदर्शों की ओर मोडना चाहते है। सामान्यतया लोग सत्ता की पूजा किया करते हैं। इस प्रकार सेवा के क्षेत्र मे चलने वाले लोगो का अभिनन्दन समाज करती रही, तो सत्ता और अर्थ जीवन पर हावी नही होगे।

ग्रन्थ-सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादक मण्डल मे अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह कार्य उनकी देख-रेख मे होना है। व्यक्तिश मैने इस पुनीत कार्य मे अधिक हाथ नहीं बटाया, पर नाम से भी सबके साथ रह कर आचार्यश्री तुलसी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर सका, इस बात का मुझे हर्ष है।

पटना
ता० २६-१२-६१

श्रीप्रकाश नारायण

धवल समारोह : परिकल्पना और परिसमापन

विक्रम संवत् २०१६ का वर्ष मेरे लिए ऐतिहासिक संस्मरण छोड गया। वर्ष की आदि में आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ की रूपरेखा और कार्य दिशा के निर्धारण में अपने-आपको लगाकर महामहिम आचार्यश्री भिक्षु को एक विनम्र श्रद्धाञ्जलि दे पाया और वर्ष के अन्त में आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ के आयोजन में अपने-आपको लगाकर कृत-कृत्य हुआ।

इस वर्ष आचार्यप्रवर का चातुर्मास कलकत्ता में था। श्री शुभकरणजी दसाणी ने अकस्मात् इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि दो वर्ष बाद आचार्यवर को आचार्य-पद के पच्चीस वर्ष पूर्ण हो जाते हैं। इस उपलक्ष में हमें 'सिलवर-जुबली' मनानी चाहिए। सिलवर जुबली का नाम सुनकर मैं सहसा चौंका। मैंने कहा—यह तो बीसवीं सदी में अठारहवीं सदी के सुझाव जैसा लगता है। उन्होंने कहा—सिलवर जुबली को भी हमें बीसवीं सदी के चिन्तन का पुट देकर ही तो मनाना है। बस यही प्राथमिक वार्तालाप समग्र धवल समारोह की भूमिका बन गया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' इस वार्तालाप में साथ थे ही और हम तीनों ने आदि से अन्त तक की सारी योजना उन्हीं दिनों गढ़ ली।

योजना के मुख्यत: तीन पहलू थे—

१ आचार्यप्रवर की कृतियों का सम्यक् सम्पादन हो। उनकी ऐतिहासिक यात्राओं का लेखबद्ध सकलन हो। इसी प्रकार उनके भाषणों का प्रामाणिक सकलन व सम्पादन हो।

२ आचार्यवर की लोकोपकारक प्रवृत्तियाँ सार्वदेशिक रूप से अभिनन्दित हों।

३. धवल समारोह प्रशस्ति परम्परा तक ही सीमित न रहे, वह दर्शन, संस्कृति व नैतिकता का प्रेरक भी हो।

इसी समग्र परिकल्पना को लेखबद्ध कर आचार्यप्रवर के सम्मुख रखा। उन्होंने तो स्थितप्रज्ञ की तरह इसे सुना और चुप रहे। इससे अधिक हम उनसे अपेक्षा भी कैसे रखते। सं० २०१७ का वर्ष तेरापंथ द्विशताब्दी का वर्ष था। आचार्यवर का चातुर्मास राजनगर में हुआ। द्विशताब्दी और धवल समारोह की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए हमारा चातुर्मास आचार्यवर ने दिल्ली ही करवाया। साहित्य-सम्पादन व साहित्य-लेखन का कार्य क्रमश: आगे बढ़ने लगा। धवल समारोह की अन्यान्य अपेक्षाएं भी क्रमश उभरती गई। अणुव्रत समिति के तत्कालीन अध्यक्ष श्री सुगनचन्दजी आचलिया प्रभृति कुछ लोग सक्रिय रूप से समारोह की प्रवृत्तियों के साथ जुटे रहे। उस वर्ष का मर्यादा महोत्सव आमेट में हुआ। उस अवसर पर समाज के प्रतिनिधियों की एक गोष्ठी हुई और धवल समारोह की रूपरेखा पर मुक्त रूप से चिन्तन चला। मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी व मैंने भी इस गोष्ठी में भाग लिया। तेरापंथी महासभा के नव निर्वाचित अध्यक्ष श्री जबरमलजी भण्डारी, पूर्ववर्ती अध्यक्ष श्री नेमचन्दजी गधैया व जैन भारती के भूतपूर्व सम्पादक श्री जयचन्दलालजी कोठारी आदि के उत्साह और आत्म-विश्वास ने समारोह के कार्यक्रम को तेरापंथी महासभा का स्थायी आधार दे दिया।

दिल्ली धवल समारोह के कार्यक्रम का केन्द्र बन गई। श्री मोहनलालजी कठौतिया प्रभृति स्थानीय लोगों का विशेष सहयोग मिलना ही था। कार्यकर्ताओं का भी अनुकूल योग बैठता ही गया। दिल्ली अणुव्रत समिति व धवल समारोह समिति एकीभूत-सी हो गई। देखते-देखते भाद्रव शुक्ला नवमी आ गई। बीदासर में धवल समारोह का प्रथम चरण सम्पन्न हो गया। आत्माराम एण्ड संस के संचालक श्री रामलाल पुरी ने 'श्रीकालू उपदेश वाटिका,' 'अग्नि-परीक्षा' आदि पच्चीस पुस्तकें प्रकाशित कर आचार्यवर को भेंट की। देश के अनेकानेक गणमान्य व्यक्तियों ने अपनी भावभीनी

श्रद्धांजलियाँ प्रस्तुत कीं। अब धवल समारोह का व्यापक कार्यक्रम फाल्गुन कृष्णा १० से गंगाशहर (बीकानेर) में होने जा रहा है। उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन् अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करेंगे, ऐसा निश्चय हुआ है। आचार्यवर का अभिनन्दन सत्य और अहिंसा का अभिनन्दन है। प्रस्तुत आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ भारतवासियों की ही नहीं, विदेशी मनीषियों की भी आध्यात्मिक निष्ठा का परिचायक है। सभी ने आचार्यश्री का अभिनन्दन कर सचमुच अध्यात्मवाद को ही अभिनन्दित किया है।

चूंकि धवल समारोह की परिकल्पना से लेकर परिसमापन तक मैं इसकी अनवद्य प्रवृत्तियों में संलग्न रहा हूँ। मुझे यथासमय इसकी सर्वांगीण सम्पन्नता देख कर परम हर्ष है। दिल्ली में अनेकों चातुर्मास व्यतीत किये और सघन कार्य व्यस्तता रही, पर ये दो चातुर्मास कार्य-व्यस्तता की दृष्टि से सर्वाधिक रहे। मेरे सहयोगी मुनिजनों का श्रमसाध्य सहयोग रहा है, वह निश्चित ही अतुल और अमाप्य है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और 'द्वितीय' ही ग्रन्थ के वास्तविक सम्पादक हैं। इन्होंने इस दिशा में जो कार्य-क्षमता व बौद्धिक दक्षता का परिचय दिया, वह मेरे लिए भी अप्रत्याशित था। समारोह के सम्बन्ध से मुनि मानमलजी की सफलताएं भी उल्लेखनीय रहीं। अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों से जो सहयोग अर्जित हुआ, वह तो समारोह के प्रत्येक अवयव में मूर्त है ही।

'रजत' शब्द भौतिक वैभव का द्योतक है, अत 'धवल' शब्द इसका ही भावबोधक मानकर अपनाया गया है। रजत जयन्ती शब्द की अपेक्षा धवल जयन्ती या धवल समारोह शब्द अधिक सात्त्विक तथा साहित्यिक लगता है। मैं मानता हू, इस दिशा में यह एक अभिनव परम्परा का श्रीगणेश हुआ है।

१ जनवरी '६२
कठौतिया भवन,
सब्जीमण्डी, दिल्ली।

मुनि नगराज

प्रबन्ध सम्पादक की ओर से

सामान्यत: आज का युग व्यक्ति-पूजा का नही रहा है, पर आदर्शों की पूजा के लिए भी हमे व्यक्ति को ही खोजना पड़ता है। अहिंसा, सत्य व सयम की अर्चा के लिए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी यथार्थ प्रतीक है। वे अणुव्रतो की शिक्षा देते है और महाव्रतो पर स्वय चलते है।

भारतीय जन-मानस का यह सहज स्वभाव रहा है कि वह तर्क से भी अधिक श्रद्धा को स्थान देता है। वह श्रद्धा होती है—त्याग और सयम के प्रति। लोक-मानस साधुजनों की बात को, चाहे वे किसी भी धर्म के हो, जितनी श्रद्धा मे ग्रहण करता है, उतनी अन्य की नही। अणुव्रत-आन्दोलन की यह विशेषता है कि वह साधुजनो द्वारा प्रेरित है। यही कारण है कि वह आसानी से जन-जन के मानस को छू रहा है। आचार्यश्री तुलसी समग्र आन्दोलन के प्रेरणा-स्रोत है।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व सर्वांगीण है। वे स्वय परिपूर्ण है और उनका दक्ष शिष्य-समुदाय उनकी परिपूर्णता मे और चार चाँद लगा देता है। योग्य शिष्य गुरु की अपनी महान् उपलब्धि होते है। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ व्यक्ति-अर्चा से भी बढ़ कर समुदाय-अर्चा का द्योतक है। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो सेवा आचार्यजी व मुनिजनो द्वारा देश को मिल रही है, वह आज ही नही, युग-युग तक अभिनन्दनीय रहेगी।

'आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ' केवल प्रशस्ति ग्रन्थ ही नही, वास्तव मे वह ज्ञान-वृद्धि और जीवन-शुद्धि का एक महान् शास्त्र जैसा है। इसमे कथावस्तु के रूप मे आचार्यश्री तुलसी का जीवनवृत्त है। महाव्रतो की साधना और मुनि जीवन की आराधना का वह एक सजीव चित्र है। **राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है** की उक्ति को चरितार्थ करने वाला वह अपने आप मे है ही। साहित्य मर्मज्ञ मुनिश्री बुद्धमल्लजी की लेखनी से लिखा जाकर वह इतिहास और काव्य की युगपत् अनुभूति देने वाला बन गया है। नैतिक प्रेरणा पाने के लिए व नैतिकता के स्वरूप को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए 'अणुव्रत अध्याय' एक स्वतन्त्र पुस्तक जैसा है। दर्शन व परम्परा अध्याय मे भारतीय दर्शन के अचल मे जैन-दर्शन के तात्त्विक और सात्त्विक स्वरूप को भली-भाँति देखा जा सकता है। 'श्रद्धा, संस्मरण व कृतित्व' अध्याय मे आचार्यश्री तुलसी के सार्वजनीन व्यक्तित्व का व उनके कृतित्व का समग्र दर्शन होता है। साधारणतया हरेक व्यक्ति का अपना एक क्षेत्र होता है और उसे उस क्षेत्र से श्रद्धा के सुमन मिलते हैं। नैतिकता के उन्नायक होने के कारण आचार्यजी का व्यक्तित्व सर्वक्षेत्रीय बन गया है और वह इस अध्याय से निर्विवाद अभिव्यक्त होता है।

केवल छ: मास की अवधि मे यह ग्रन्थ सकलित, सम्पादित और प्रकाशित हो जाएगा, यह आशा नही थी। किन्तु इस कार्य की पवित्रता और मगलमयता ने असम्भव को सम्भव बना डाला है। ऐसे ग्रन्थ अनेकानेक लोगो के सक्रिय योग से ही सम्पन्न हुआ करते है। मै उन समस्त लेखको के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ, जिन्होने हमारे अनुरोध पर यथासमय लेख लिख कर दिये। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू, उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्, सर्वोदयी सत विनोबा व राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि ने अपनी व्यस्तता मे भी यथासमय अपने सन्देश भेज कर हमें बहुत ही अनुगृहीत किया है। तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ के व्यवस्थापक श्री मोहनलालजी कठौतिया का व्यवस्था-कौशल भी अभिनन्दन ग्रन्थ की सम्पन्नता का अभिन्न अग है। दिल्ली अणुव्रत समिति के उपमन्त्री श्री सोहनलालजी बाफणा और श्री लादूलालजी आच्छा. एम० कॉम० मेरे परम सहयोगी रहे है। इनकी कार्यनिष्ठा ग्रन्थ-सम्पन्नता की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। श्री सुन्दरलाल झवेरी, बी० एस-सी० ने आचार्यश्री तुलसी के सम्पर्क में आये हुए

विदेशी विद्वानों से ग्रन्थ के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री सकलित की तथा देश के विभिन्न भागो में अणुव्रती कार्यकर्ताओ ने भी लेख-सामग्री के सकलन मे हाथ बँटाया। और भी अनेकानेक लोग इस पुनीत अनुष्ठान मे सहयोगी हुए हैं। पूना के कलाकार श्री बसन्तराव डेरे द्वारा चित्रित कतिपय महत्त्वपूर्ण रेखाकृतियाँ भी ग्रन्थ की साज-सज्जा में सहयोगी रही है। मैं उन सबके प्रति आभार-प्रदर्शन करता हूँ।

मैं अपने आपको कृतकृत्य मानता हूँ कि मै अपने व्यस्त जीवन मे भी यत्किचित् परमार्थ साध पाया।

२६ जनवरी '६२
नवभारत टाइम्स
दरियागंज, दिल्ली

अक्षयकुमार जैन

अनुक्रम

प्रथम अध्याय : श्रद्धा, संस्मरण, कृतित्व

द्वितीय अध्याय : जीवन वृत्त

तृतीय अध्याय : अणुव्रत

चतुर्थ अध्याय : दर्शन और परम्परा

परिशिष्ट

श्रद्धा
संस्मरण
कृतित्व

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली।
जनवरी १, १९६२
पौष ११, १८८३ शक

अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी के धवल समारोह के अवसर पर मैं उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने के निर्णय का स्वागत करता हूं और आचार्य जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। अणुव्रत आन्दोलन का उद्देश्य नैतिक जागरण और जनसाधारण को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना है। यह प्रयास अपने आप में ही इतना महत्वपूर्ण है कि इसका सभी को स्वागत करना चाहिये। आज के युग में जबकि मानव अपनी भौतिक उन्नति से चकाचौंध होता दिखाई दे रहा है, और जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्वों की अवहेलना की आशंका है, ऐसे आन्दोलनों के द्वारा ही मानव अपने सन्तुलन को बनाये रख सकता है और भौतिकवाद के विनाशकारी परिणामों से बचने की आशा कर सकता है।

मैं श्री आचार्य तुलसी धवल समारोह समिति को बधाई देता हूं और इस आयोजन की सफलता की कामना करता हूं।

राजेन्द्र प्रसाद

VICE PRESIDENT
INDIA

NEW DELHI

November 20,1961.

I am glad to know that you are bringing out an Abhinandan Granth to commemorate the services of Acharya Shri Tulsi. I send my best wishes for the success of your function and hope that the Acharya will have many more years of useful life in the service of the country.

(S. Radhakrishnan)

शुभकामना

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आचार्यश्री तुलसी की सेवाओं की स्मृति में आप अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रहे हैं। समारोह की सफलता के लिए मैं अपनी शुभकामनाएं भेजता हूँ और आशा करता हूँ अपने कार्य-शील जीवन के द्वारा अनेकों वर्ष तक आचार्यश्री देश की सेवा करते रहेंगे।

एस० राधाकृष्णन्

प्रधान मंत्री भवन
PRIME MINISTER'S HOUSE
NEW DELHI

December 27, 1961

MESSAGE

I send my good wishes to Acharya Shri Tulsi, the sponsor of the Anuvrat Movement, on his completing twentyfive years of Acharyaship. I have followed with much interest and appreciation his work in the Anuvrat Movement intended to raise the moral standards of our people, especially of the younger generation.

Jawaharlal Nehru

सन्देश

मैं अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को, उनके आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में, अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ। मैंने उनके अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत होने वाले कार्य का विशेष रुचि व प्रशंसात्मक भाव से अनुशीलन किया है, जिसका उद्देश्य हमारे देशवासियों का और विशेषतः नई पीढ़ी का नैतिक स्तर ऊँचा उठाना है।

जवाहरलाल नेहरू
प्रधानमन्त्री, भारत सरकार

संयम और सेवा का संगम

आचार्यश्री तुलसीजी के महान् कार्यों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का विचार योग्य ही है। संयम को सेवा-कार्य मे जोडने का काम अपनी विशिष्ट पद्धति से उन्होने चलाया, जिसका असर जीवन के अनेक क्षेत्रो मे पड़ा है और पड़ेगा। संयम और सेवा के संगम से ही नव-समाज बनेगा।

अणुव्रत की कल्पना

यह मेरा सौभाग्य है कि आचार्यश्री तुलसी को पास से देखने और उनसे बात करने तथा उनके भाषण सुनने का अवसर मुझे मिला है। दिल्ली मे उनके कई अनुयायी मुनियों से मेरी भेट हुआ करती थी। उनके चलाये अणुव्रत-आन्दोलन के पक्ष मे कुछ सभाओं मे भी मैने अपना मत प्रकट किया था। अणुव्रत की कल्पना बहुत सुन्दर है और उसने बहुतों को व्रती बनाकर उनके जीवन की गति मे अच्छी भावना का प्रवेश कराया है।

देश मे नैतिकता की गहरी कमी दिखाई पड़ती है। उसमे परिवर्तन करने के लिए अणुव्रत-आन्दोलन सहायक हो सकता है। आचार्य तुलसी अपनी कल्पना की पूर्ति मे अधिकाधिक सफलता पाये यह मेरी अभिलाषा स्वाभाविक है। आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता के लिए हम सबकी श्रद्धा और सहयोग के अधिकारी है।

पुरुषोत्तमदास टंडन

श्रीराम

आचार्यश्री की सेवा में

मानिक से तुलसी-दल का योग,
हो गया मेरा भोजन भोग!

तुम्हारी वाणी का अणु-दान,
लोक के लिए सुरत्न-समान।
(स्वल्प में सर्व भाव छाता
नहीं मर्म से करता है ज्ञाता।)

भारत भारती के पूत-सपूत,
जियो चिरदिन विवेक-से दूत!

मैथिलीशरण

नैतिकता के पुजारी

श्री लालबहादुर शास्त्री
स्वदेश मन्त्री, भारत सरकार

आचार्यश्री तुलसी नैतिकता के पुजारी है, अहिंसा जिसका मूलाधार है। सभा, सम्मेलन और साहित्य-निर्माण आदि के द्वारा उन्होने एक नये आन्दोलन को सम्बल प्रदान किया है। अणुव्रत-आन्दोलन ने प्रत्येक वर्ग को अपनी ओर खीचने का प्रयास किया है और जैन समुदाय पर स्वभावत इसका विशेष प्रभाव पड़ा है। नैतिकता उपदेशो से कम, उदाहरण से ही पनपती है। आचार्यश्री तुलसी स्वय उस मार्ग पर आचरण कर दूसरो को उस ओर प्रेरित करना चाहते है। उनका अभिनन्दन इसी मे है कि लोग उनके इस आन्दोलन के स्वरूप को समझें और अपने जीवन को एक नये रूप मे ढालने का प्रयास करे।

मानव-जाति के अग्रदूत

न्यायमूर्ति श्री भुवनेश्वरप्रसाद सिन्हा
मुख्य न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय भारतवर्ष

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी को तेरापथ सघ के आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष मे अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन का, जो कि वर्तमान मे न केवल भारतवर्ष के लिए अपितु समग्र विश्व के लिए एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है, प्रारम्भ आपके आचार्य-काल की विशिष्ट देन है। इस आन्दोलन का उद्देश्य है—सत्य और अहिंसा जैसे शाश्वत मूल्यो के प्रति मनुष्यो की श्रद्धा को उद्बुद्ध करना तथा इन मूल्यो को पुन. प्रतिष्ठित करना। इस महान् आचार्य ने न केवल उपदेश से अपितु अपने आचरण के द्वारा प्रामाणिकता, सच्चाई और व्यापक अर्थ में चारित्रिक दृढता जैसे उच्च सद्गुणों को मूर्त रूप दिया है। इसलिए जहाँ तक भारतीय सस्कृति के विलक्षण तत्त्व सत्य-अहिंसा जैसे मौलिक सिद्धान्तो के प्रसार का प्रश्न है, ये महान् आचार्य केवल जैन धर्म के सीमित दायरे मे ही नहीं, अपितु समग्र मानव-जाति के अग्रदूत हैं। मानव-जाति के कल्याणार्थ आचार्य तुलसी दीर्घायु हों।

सौभाग्य की बात

जननेता श्री जयप्रकाशनारायण

हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि ग्राज ग्राचार्य तुलसी जैसी विभूति हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। वे मानवता की प्रतिष्ठापना द्वारा समता, सहिष्णुता स्थापित करना चाहते हैं तथा शोषण का ग्रन्त चाहते हैं। भूदान ग्रौर ग्रणुव्रत-ग्रान्दोलन की प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो हृदय के परिवर्तन द्वारा ग्रहिंसक समाज नव-रचना मे ग्रग्रसर हो रही हैं, जिसे कायम करने के लिए रूस ग्रादि देश प्राय ग्रसफल ही दीख पडते हैं। ग्रपने देश की निर्धनता देखने से पता चलता है कि कितना ग्रसीम दु ख समाज मे व्याप्त है। निर्धनो के साथ कितना ग्रन्याय हो रहा है। इन्ही ग्रन्याय एव शोषणो के कारण ही शासित वर्ग के कुछ नवोदित नेता रक्तरंजित क्रान्ति की दुन्दुभि बजाने तथा शोषको को धनविहीन एव उनकी प्रवृत्तियो को समूल नष्ट कर देने के लिए लोगो का ग्राह्वान कर रहे है।

ग्रणुव्रत-ग्रान्दोलन भी सर्वोदय ग्रान्दोलन का एक सहयोगी ही है। इससे भी देश-विदेश के प्राय सभी विचारक ग्रौर नेता परिचित हो ही गए है। हमारे ग्रादर्श की ग्रोर बढने के लिए ग्राचार्य तुलसी ने बहुत सुन्दर ग्रादर्श रखा है। विनोबाजी ग्रौर तुलसीजी सभी जाति ग्रौर वर्ग के लिए है, दोनो ही सबका भला चाहते हैं। ग्राचार्य तुलसीजी से बम्बई मे वार्तालाप करने पर उनके उच्च उद्देश्यो की झलक मिली। उनका कहना है कि जब सारी हिंसक शक्तियाँ एकत्रित हो सकती है, तब ग्रहिंसक शक्तियाँ भी एक हो सकती है ग्रौर सबके सामूहिक प्रयास ग्रौर प्रयत्न से ग्रवश्य ही ग्रहिंसक समाज की कल्पना पूरी हो सकेगी। सबको मिल कर काम करने मे शीघ्र सफलता मिलेगी।

सर्वप्रथम व्यक्ति-सुधार

हमारे सामने यह प्रश्न ग्रवश्य हो सकता है कि किस पद्धति के द्वारा सबका हित हो सकता है, शोषण मिट सकता है ? क्या सरकार शोषण को मिटा सकती है ? नही, बिल्कुल ग्रसम्भव है। यह जनता कर सकती है। मनुष्य की ग्रान्तरिक शक्ति के द्वारा यह कार्य पूरा हो सकता है। सविधान द्वारा सर्वोदय ग्रसम्भव है। जैसा कि ग्राचार्य तुलसी कहा करते है कि व्यक्ति-व्यक्ति से समाज-परिवर्तन होगा ग्रौर जब तक व्यक्ति नही सुधरेगा, तब तक कुछ नही होगा। ध्यान से देखा जाये तो उनकी इस वाणी मे कितना तत्त्व भरा पडा है। समाज का मूल व्यक्ति ही है, व्यक्ति से समुदाय, समुदाय से समाज का रूप सामने ग्राता है। समाज तो प्रतिबिम्ब है, जैसा मनुष्य रहेगा वैसा समाज बनेगा ग्रौर फिर जैसा समाज बनता रहेगा वैसा-वैसा परिवर्तन मनुष्यो मे भी ग्राता रहेगा। ग्रस्तु, सर्वप्रथम व्यक्ति-सुधार पर जोर देना चाहिए। ग्राचार्य तुलसी यह भी कहते है कि सब ग्रपनी-ग्रपनी ग्रात्म-शुद्धि करे। यह ग्रौर ग्रच्छा है। ग्रगर सब स्वत ग्रात्म-शुद्धि कर ले तो क्रान्ति की क्या ग्रावश्यकता है ? महात्मा गाधी भी समाज-सुधार के पहले व्यक्ति-सुधार पर जोर देते रहे है। साम्यवादी ग्रादि क्रान्तियाँ बाह्य सुधार की द्योतक है। किन्तु जब तक ग्रान्तरिक सुधार नही हुग्रा, तब तक कुछ नही हुग्रा, बाह्य सुधार तो क्षणिक ग्रौर सामयिक कहलायेगा, उसमे ग्रान्तरिक सुधार के समान शाश्वतता कहाँ ? ग्रगर हम ग्रान्तरिक सुधार ग्रौर व्यक्ति-सुधार को प्राथमिकता नही देगे तो हमारा कार्य ग्रधूरा ही रह जायेगा। रूस, ग्रमेरिका, फ्रास ग्रादि देशो मे ग्राज भी ग्रसमानता, परतन्त्रता, ग्रसहिष्णुता, भ्रातृत्वहीनता, पूँजीवादिता ग्रादि किसी-न-किसी रूप मे ग्रवश्य विद्यमान है। विचार-स्वातन्त्र्य की ग्राज भी सुविधा नही, एक तरह से ग्रधिनायकवाद का बोलबाला ही है। वैतनिक ग्रसमानता ग्रस्सी गुणा है। ग्रस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति ग्रौर हिंसा पर ग्राधारित

क्रान्ति से उद्देश्य-पूर्ति नही, यह तो एकमात्र हृदय-परिवर्तन पर आधारित है। इसलिए हम लोगो को चाहिए कि उक्त देशो के समान दुर्दिन आने से बचाने तथा समाज मे उथल-पुथल न आने देने के लिए उचित मात्रा मे त्याग और नि स्वार्थ भावना को जीवन मे उतारे। महात्माजी ने भी व्यक्ति को केन्द्र मान कर उसके सुधार पर जोर दिया है और राजतन्त्र के स्थान पर लोकतत्र को स्थापित करने की अपनी नेक सूझ हमे दी है।

हृदय और विचारों में परिवर्तन आवश्यक

राजनीति और कानून की चर्चा विशेष हुआ करती है। आचार्यश्री तुलसी तो राजनीति और कानून की खुले शब्दो मे आलोचना करते है। वे कहते है कि क्या कानून किसी स्वार्थी को नि स्वार्थी या पर-स्वार्थी बना सकता है? कानून तो एक दिशा मात्र है। इसलिए राजनीति और कानून के परे आचार्य विनोबा और आचार्य तुलसी के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। जिस क्रान्ति से हृदय और विचारो मे परिवर्तन नही आया, वह क्रान्ति नही। हिसा पर आधारित क्रान्ति मे हृदय-परिवर्तन भी सम्भव नही। उसके लिए तो प्रेम और सद्भावना का सहारा लेना होगा।

क्रान्ति कोई नही। जब-जब समाज मे शिथिलाचार हुआ, तब-तब अवतारो व महापुरुषो द्वारा विचारो मे क्रान्ति लाई गई। धर्म और नीति मे से अधर्म और अनीति को निकाल फेका गया। समाज का सुधार किया गया। धर्म और नीति समाज के अनुकूल बनाये गये। समाज मे एक नया विपर्यय हुआ। धार्मिक, सामाजिक और सासारिक जीवन के बीच की दीवार तोडी गई। महात्मा गाधी, विनोबा भावे और आचार्य तुलसी भी ऐसी ही अध्यात्मनिष्ठ क्रान्ति की उद्घोषणा लिए है। अनावश्यक एव समाज-हित के लिए घातक रूढियो का अन्त करना इन्होने भी आवश्यक समझा। भगवान् बुद्ध का 'धर्मचक्र' प्रवर्तन या धार्मिक क्रान्ति भी सर्वोदय या समाज-सुधार का दिशा-सकेत था। अणुव्रत-आन्दोलन भी नैतिक क्रान्ति का एक चिर-प्रतीक्षित चरण है।

एक ही भावना

सम्पत्तिदान और अणुव्रत-आन्दोलन की भावना भी एक ही है। एक समाज के हक को उसे दे देने के लिए बाध्य करता है, प्रेरित करता है या उसे सीख देता है। दूसरा सग्रह को ही न्याज्य बताता है और जो कुछ है उसे दानस्वरूप देने को नही बल्कि त्यागस्वरूप समाज के लिए छोड देने की भावना प्रदर्शित करता है। अणुव्रत-आन्दोलन परिग्रह मात्र को पाप का मूल मानता है। इसके अनुसार सग्रह ही हिसा की जड है। जहाँ सग्रह है वहाँ शोषण और हिसा आप-से-आप मौजूद हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन असाम्प्रदायिक और सार्वभौम है। यह चाहे जिस नाम से चले, हमे काम से मतलब है और इसका नामकरण चाहे जो भी कर दिया जाये, लाभ वही होगा। इसलिए अपेक्षा यह है कि आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित नैतिक अभ्युत्थान के इस पथ को समझ, परख और सीखकर जीवन मे अनुकरण करे। साथ ही उसके आधार पर अपने व्यवसाय, उद्योग व धन्ध मे ऐसे ठोस कदम उठाए, जिनसे जन-जीवन को भी प्रेरणा मिल सके। धर्म केवल नाम लेने, जय-जयकार करने और मस्तक झुकाने मे नही होता, अपितु आचरणो मे परिलक्षित होना है।

आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व मे जो मगलकारी काय हो रहा है, उसके साथ मैं तन्मय हूँ और मेरी जो कुछ भी शक्ति है, उसे इस पुण्य कार्य मे लगाने को तत्पर हू।

अणुव्रत और एकता

श्री उ० न० ढेबर

एकता के लिए यह आवश्यक है कि दो या अधिक पृथक् इकाइयो का अस्तित्व हो और एक ऐसा सयोजक माध्यम हो जो दोनो को मिलाकर एक सम्पूर्ण इकाई बना दे। हमारे देश मे पृथक् समुदायो की कोई कमी नही है। जन्म हमे विभक्त करता है, परम्पराए हमे विभक्त करती है, रीति-रिवाज हमे विभक्त करते हैं, धर्म हमे विभक्त करते है, सम्पत्ति ने तो लोगो को हमेशा ही विभक्त किया है। भारत मे तो '''दर्शन भी हमे विभक्त करता है, चाहे हम उसको समझते हो अथवा नही। अज्ञजनो की यही प्रवृत्ति होती है कि अन्तिम विश्लेषण मे वे अश के खातिर पूर्ण को खो जाने देते है, अश को ही पूर्ण मान लेते हैं और ऐसे निर्णय पर पहुँचते हैं जिसका कोई आधार नही होता। इस देश मे अज्ञान का बोल-बाला है। यह अज्ञान सामाजिक अहकार, धार्मिक अहकार, राजनैतिक और आर्थिक अहकार और अन्त मे दार्शनिक अहकार का पोषण करता है। भारत मे सिद्धान्तो के सघर्ष की अपेक्षा अहम् का सघर्ष अधिक दिखाई देता है। एक व्यक्ति के अहम् से सारी जाति का नाश हो सकता है और किसी समुदाय का अहम् भी कम हानिकर अथवा कम विनाशक नही होता।

राष्ट्र के सामने मुख्य कार्य यह है कि या तो इस अहम् को समाप्त किया जाये, जो अत्यन्त ही कठिन है या उसे सुसस्कृत बनाया जाये, जो कुछ कम कठिन है। इसका अर्थ यही हुआ कि हमे इस अहम् को उसकी सकुचित गलियो से बाहर निकालना होगा। इसका यह अर्थ भी होता है कि हम यह याद रखे कि जिस स्तर पर हम व्यवहार करते है, उन स्तरो पर हमारा आचरण पशुओ जैसा होता है, जबकि हम वास्तव मे मानव है। इसलिए हमको मानव की उत्तम और श्रेष्ठ वृत्तियो को अपनाना और विकसित करना चाहिए।

क्या अणुव्रत इस सुसस्करण की प्रक्रिया मे सहायक हो सकता है? अणुव्रत यदि आचार का विज्ञान नही है तो फिर और कुछ भी नही है। छोटी बातो मे प्रारम्भ करके वह ऐसी शक्ति सचय करना चाहता है जिसके द्वारा बडे लक्ष्य सिद्ध किए जा सके। मनुष्य को दूसरे मनुष्य के साथ व्यवहार मे उसका प्रारम्भ करना चाहिए। उसे ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि जिससे वह दूसरो के अधिक-से-अधिक निकट पहुँचता चला जाये और अन्त मे सारी दूरी समाप्त हो जाये। यह तभी हो सकता है, जब वह उपेक्षा के स्थान मे सहमति उत्पन्न करेगा, घृणा के स्थान पर मित्रता और शत्रुता के स्थान पर लिहाज और आदर की स्थापना करेगा। आचरण के द्वारा ही यह सब सिद्ध किया जा सकता है।

विश्व मे बुराई भी है और अच्छाई भी। जहाँ भी दुनिया है, वहाँ अच्छाई और बुराई दोनो है। मनुष्य को निरन्तर यह प्रयास करना चाहिए कि वह दूसरे व्यक्ति का भला, बलवान् और उज्ज्वल पक्ष देखे और अपने मन को निरन्तर ऐसी शिक्षा दे कि विरोधी की बुराई को अथवा उसके जीवन के निर्बल या कृष्ण पक्ष को देखने की वृत्ति न हो। दक्षिण भारतीय और उत्तर भारतीय, हिन्दू और मुसलमान, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, सवर्ण और हरिजन, आदिवासी और अन्य, भाषा के आग्रही और निराग्रही, पडित और निरक्षर, सरकारी अधिकारी और सार्वजनिक कार्यकर्ता, बगाली और बिहारी, बिहारी और उड़िया, गुजराती और महाराष्ट्री, ईसाई और अ-ईसाई, सिक्ख और आर्यसमाजी, काग्रेसी और अ-कांग्रेसी—सभी को उपेक्षा और पक्षपात के सदियो पुराने घेरे से बाहर आने का प्रयत्न करना होगा और सामने वाले व्यक्ति के बारे मे ऐसा सोचना होगा कि वह हमारे आदर, सहानुभूति और समर्थन का हकदार है। इसके बिना हम सब उस भयंकर सकट से नहीं बच सकते जिसका विघटनकारी शक्तियाँ आज आह्वान कर रही है।

सर्वधर्म समभाव अर्थात् सब विश्वासो और धर्मों के प्रति आदर भाव का जो महान् गुण है, उसका हर व्यक्ति को प्रतिदिन और प्रतिक्षण आचरण करना चाहिए। इसके बिना भारत बलशाली और सुखी नही हो सकता और न मनुष्यो के एक अत्यन्त प्राचीन जीवित समाज के नाते इतिहास ने उसके लिए जो कर्तव्य निर्धारित किया है, उसकी पूर्ति कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे उसका जीवन मे कोई भी स्थान या पद क्यो न हो, प्रतिदिन एक-दूसरे के प्रति आदर प्रकट करने और एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी भी भारतीय के लिए यह महान् देश भक्तिपूर्ण सेवा होगी। कर्तव्य की दृष्टि से यह सेवा बहुत आसान है और परिणाम की दृष्टि मे वह उतना ही शक्तिशाली है। इस छोटी बात की तुलना हम अणु-शक्ति केन्द्र के एक छोटे अणु से कर सकते है।

अणुव्रत-आन्दोलन और इस महान् आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी का यही सन्देश है।

एक अच्छा तरीका

राष्ट्रसंत श्रीतुकड़ोजी

भारत मे ही नही, अपितु सारे ससार मे अधिक-से-अधिक शान्ति, सत्य व अहिसा का प्रचार हो, यह मेरी हार्दिक कामना रही है। मुझ मे अभी तक किसी सम्प्रदाय विशेष का कडवापन प्रविष्ट नही हुआ है। यद्यपि यह मैं अनुभव करता हूँ कि प्रत्येक सम्प्रदाय, पथ अथवा धर्म मे अच्छे तत्त्व होते है। यदि ऐसा न होता तो धर्म की जड ही ससार से समाप्त हो जाती। धर्म या पथ, जाति या सगठन, स्वार्थ और सत्ता के सीकचो मे जकड जाते है, तब वे अपने तात्त्विक शिखर से नीचे गिरने लगते है और अहिसा, सत्य तथा शान्ति जो कि धर्म के अभिन्न अग होते हैं, छूटते चले जाते है और धर्म निष्प्राण बन जाता है। ऐसी परिस्थिति मे धर्म को मिटाने की आवाज उठने लगती है। स्वय उस धर्म के अनुयायी भी ऐसा करते हुए नही हिचकिचाते। वहाँ से क्रान्ति के नाम पर एक नया समाज जन्म लेता है। वह धर्म मे फिर से प्राण-प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। यह क्रम बार-बार इस सृष्टि मे चलता ही रहता है।

मैं आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व, उनकी कार्य-विधि व सुविश्रुत अणुव्रत-आन्दोलन से चिर-परिचित रहा हूँ। केवल परिचित ही नही, उसे निकट मे भी देख चुका हूँ। कई बार उनसे मिलने का भी मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ है। उनके प्रिय शिष्य और आन्दोलन के कर्मठ प्रचारक मुनिश्री नगराजजी से भी मिलने का प्रसग पडा है। आचार्यजी ने अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा अपने अनुयायी और जनता को व्यसन-मुक्त कर सच्चरित्र व त्यागी बनाने का प्रशसनीय प्रयत्न प्रारम्भ किया है। यह एक अच्छा तरीका है। उनका कार्य सुसम्बद्ध और एक सूत्र मे चलता है, यह मुझे बहुत ही अच्छा लगा। आचार्यश्री तुलसी के उपदेशो मे व अणुव्रतो की साधना मे जनता को काफी लाभ होता है। उनका यह प्रचार प्रतिदिन बढे, यह मैं दिल से चाहता हूँ।

जनहितरता जीवतु चिरम्

मुनिश्री नथमलजी

सव्वे वि पईवा अभविमु जत्थ अकयत्था
तत्थ मए दिट्ठा पढम तवालोयरेहा
सव्वे वि सत्था अभविमु जत्थ अकयकज्जा
तत्थ मए दिठो पढम तव विक्कम-क्कमो
महापईव ! पप्प तव सन्निहिं
सयमधयारो वि गच्छई पयासत्तण
अहिसव्वय ! अभिगम्म तव समीवय
सुमहपि भवइ सत्थमसत्थ
असत्थ ! सत्थेसु अत्थि विउला तव मई
तहावि नत्थि रुद्धा तव गई
मइम ! तव मई ण कुणइ विरोह गईए
गइम ! तव गई अविक्खए मइ
तेण करेमि तवाहिनदण ।

स्वय जात पन्थाश्चरणयुगलं येन विहृत,
स्वय जातं शास्त्र वचनमुदित यच्च सहजम् ।
स्वय जाता लब्धिर्मनसि यदिद कल्पितमपि,
न वा दृष्टो राग क्वचन तव हे कृत्रिमविधौ ।

निमज्जन्नात्माब्धौ नयमि पदवीमुन्नततमा,
नयानोप्युच्चैस्त्व पुनरपि पुनर्मज्जसि निजे ।
इद निम्नोच्चत्व नयति नियत त्वा प्रभुपद,
न यल्लभ्य सभ्यैर्जलधि-वियतोर्न्यस्तनयनै ।

विचित्र कर्तृत्वं प्रतिपलमितं चक्षुरमल,
विचित्रा ते श्रद्धाऽप्रतिहतगतिर्याति सततम् ।
विचित्रं चारित्र निजहितरत सत् परहित,
त्वदायत्ता लब्धिर्जनहितरता जीवतु चिरम् ।

युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन

मुनिश्री बुद्धमल्लजी

युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

अपना अतिशय चैतन्य लिए इस धरती पर
युग के श्वासो को सुरभित करने आये हो,
कलि के कर्दम मे खडे हुए तुम पकज मे
अपनी सुषमा मे सतयुग को भर लाये हो,
फिर भी निर्लिप्त; निछावर करते आये हो
जन-हेतु स्वय के जीवन का तुम हर स्पन्दन ।
युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

युग की पीडा का हालाहल खुद पीकर तुम
पीयूष सभी को बाँट रहे हो निर्भय बन,
वत्सलता की यह गोद हो गई हरी-भरी
परहित जब से कि समर्पित तुमने किया स्वतन,
युग के पथदर्शक ! आज तुम्हारी सेवा मे
युग-श्रद्धा आई है करने को पद-वन्दन ।
युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

मानवता की पाचाली का अपमान भूल
सत्साहस का अर्जुन जब भ्रान्त हुआ पथ से,
अणुव्रत की गीता तब तुमसे उपदिष्ट हुई
कर्तव्य-बोध के अकुर फिर फूटे अथ से,
नव-युग के पार्थ-सारथी ! तुम निज कौशल से
सचालित करते युग-चेतनता का स्पन्दन ।
युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

गति ससीम और मति असीम

मुनिश्री नगराजजी

शीतकाल का समय था। आचार्यवर चतुर्विध सघ के साथ बगाल से राजस्थान की सुदीर्घ पद-यात्रा पर थे। भगवान् श्री महावीर की विहार-भूमि का हम अतिक्रमण कर रहे थे। एक दिन प्रात काल गाँव के उपान्त भाग मे आचार्यवर यात्रा मे मुडने वाले लोगो को मगल-पाठ सुना रहे थे। हम सब साधुजन अपने-अपने परिकर मे बँधे जी० टी० रोड पर लम्बे डग भरने लगे। यह सदा का क्रम था। कुछ ही समय पश्चात् पीछे मुडकर देखा तो आचार्यवर द्रुतगति से चरण-विन्यास करते और क्रमश एक-एक समुदाय को लाँघते पधार रहे थे। देखते-देखते सब ही समुदाय उस क्रम मे आ गए। केवल हमारा ही एक समुदाय आचार्यवर से आगे रह रहा था। हम सब भी जोर-जोर से कदम उठाने लगे। कुछ दूर आगे चल कर देखा तो पता चला मै और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ही आचार्यवर से आगे चलने वालो मे रहे है। उस समय हमारे चलने की गति लगभग बारह मिनट प्रति मील हो रही थी। कुछ एक क्षणो के बाद पीछे की ओर झाँका तो मैंने पाया अब आचार्यवर से आगे चलने वालो मे मै स्वय अकेला ही रह गया हूँ, मेरी और आचार्यवर की दूरी दस-बीस कदम भी नही रह पाई है। अकेले को आगे चलते हुए देख आचार्यवर के सहचारी और अनुचारियो मे विनोद और कौतुक का भाव भी उभर रहा था।

एक क्षण के लिए मन मे आया, औरो की तरह मै भी रुक कर पीछे रह जाऊँ, परन्तु दूसरे ही क्षण सोचा आचार्यवर आज सबकी गति का परीक्षण ले ही रहे है, तो अपनी परीक्षा कस कर ही क्यो न दे दूँ। गति का क्रम बारह मिनट प्रति मील से भी सम्भवत नीचे आ गया था। अब पीछे झाँकने को अवसर नही था। चलता रहा, आचार्यवर के साथ चलने वाले स्वय-सेवको के जूतो की आवाज से ही मैं अपनी और आचार्यवर की दूरी माप रहा था। चौदह प्रस्तर फर्लांगो के और दो प्रस्तर मीलो को लाँघ कर ही मैने पीछे की ओर झाँका। लगभग चार फर्लांग की दूरी मेरे और आचार्य-वर के बीच आ गई थी।

अब मुझे सोचने का अवसर मिला, यह अच्छा हुआ या बुरा? सडक के एक ओर हट कर बैठ गया। देखते-देखते आचार्यवर पधार गये। मुझे शक था, आचार्यवर इतना तो अवश्य कह ही देंगे, इस प्रकार आगे चलते रहे, तेतीस आसातनाए पढी है या नही? इसी चिन्तन मे मैं वन्दना करता रहा, आचार्यवर अबोले ही आगे पधार गए।

ग्यारह मील का विहार सम्पन्न कर हम सब भलवा की कोठी मे पहुँच गए। दिन भर रह-रहकर मन मे आता था, मेरे अविचार को आचार्यवर ने कैसे लिया होगा। सतो मे परस्पर नाना विनोद पूर्ण चर्चाए रही, पर आचार्यश्री ने अपने भावो का जरा भी प्रकाशन नही किया।

सायकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं वन्दन के लिए आचार्यवर के निकट गया। मुनिश्री नथमलजी प्रभृति अनेको सत पहले से बैठे थे। मैं भी वन्दन कर उनके साथ बैठ गया। आचार्यवर ने आकस्मिक रूप से कहा—तुम्हारी गति तो मेरी धारणा से बहुत अधिक निकली! आचार्यवर की वाणी मे प्रसन्नता थी। उपस्थित साधुजन प्रात काल के सस्मरण को याद कर हँस पडे। उसी प्रसग पर पृथक्-पृथक् टिप्पणियाँ चलने लगी। आचार्यवर ने सबका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—ऐसी घटना यह सर्वप्रथम ही नही है। बहुत पहले भी ऐसी एक घटना अपने यहाँ घट चुकी है। कालूगणीराज कहा करते थे, तेरापथ के षष्ठम आचार्यश्री माणकगणी जो कि बहुत ही तेज चलने वालो मे थे, एक दिन के विहार मे एक-एक करके सब सतो को पीछे छोडते हुए पधार रहे थे। मैं उनकी भावना को भाप गया। अपने पूरे वेग से ऐसा चला कि अगले गाँव मे सर्वप्रथम पहुँचा। इस प्रकार आचार्यवर ने उस दिन के प्रसग को जिस तरह सँवारा, उनकी अलौकिक महत्ता और असाधारण सवेदनशीलता का परिचायक था। सचमुच ही उस दिन उन्होने मेरी गति को मापा और मैंने उनकी मति को। मेरी गति ससीम रही और उनकी मति असीम रही। उनके प्यार मे मेरी हार स्पष्ट दीखने लगी।

संकल्प की सम्पन्नता पर

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

आचार्यश्री के चौबीसवे पदारोहण दिवस के उपलक्ष पर कलकत्ता मे मैंने एक सकल्प किया था। वह मैने उसी दिन लिखकर आचार्यश्री को निवेदित भी कर दिया था। उसकी भाषा थी—"धवल समारोह की सम्पन्नता तक ग्यारह हजार पृष्ठो के साहित्य का निर्माण, सम्पादन आदि करने का प्रयत्न करूँगा।' उसके अनन्तर ही मै अपने कार्य मे जुट पडा। आचार्यश्री की कृतियाँ, प्रवचन व यात्राए सम्पादित करने व लिखने की दिशा मे तथा तत्सम्बन्धी अन्य साहित्यिक कार्य आगे बढा। नाना दुविधाए अस्वाभाविक रूप से सामने आई। फिर भी कुल मिलाकर मैं देखता हूँ तो मुझे प्रसन्नता है कि मै अपने विहित सकल्प की सम्पन्नता पर पहुँच गया हूँ। आज जब कि आचार्यश्री तुलसी का देश तथा बाहर के विद्वान् अभिनन्दन कर रहे है, मै भी उस साहित्यिक भेंट के द्वारा अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्तित्व

श्री जैनेन्द्रकुमार

आचार्यश्री तुलसी उन पुरुषो मे है, जिनके व्यक्तित्व मे पद कभी ऊपर नही हो पाता। वे जैनमत के तेरापथी सम्प्रदाय के पट्टधर आचार्य है और इस पद की गरिमा और महिमा कम नही है। वे एक ही साथ आध्यात्मिक और लौकिक हैं। किन्तु तुलसी इतने जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्ति हैं कि उस आसन का गुरुत्व स्वय फीका पड सकता है। वेश-भूषा मे वे जैनाचार्य है, किन्तु आन्तरिक निर्मलता और सवेदन-क्षमता से वे सभी मत और सभी वर्गों के आत्मीय बन सके है। मेरा जितना सम्पर्क आया है, मैंने उन्हे सदा जागृत व तत्पर पाया है। शैथिल्य कही देखने मे नही आया। प्रमाद और अवसाद उनमें या उनके निकट टिक नही पाता। आसपास का वातावरण उनकी कर्मशीलता मे चैतन्य और उन्नत बना दिखता है। परिस्थित मे हारने वाले वे नही है, आस्था के बल से उसे चुनौती ही देते रहते है। परम्परा मे उच्छिन्न नही है, लेकिन नव्यता के प्रति भी उद्यत है। उनकी नेतृत्व की क्षमता अभिनन्दनीय है। नेतृत्व उस वर्ग का जिसका प्रत्येक सदस्य निस्पृह, निस्वार्थ और सर्वथा मुक्त हो, आसान काम नही है। किसी प्रकार का लोभ और भय वहाँ व्यवस्था मे सहारा नही दे सकता। अन्तर्भूत आत्मतेज ही इस नैतिक नेतृत्व को सम्भव बनाये रख सकता है। तुलसी में उसी का प्रकाश दीखता है और मुझे उनके सान्निध्य से सदा लाभ हुआ है। इस अवसर पर मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि उनके अभिनन्दन मे अर्पित करता हूँ।

आचार्यश्री तुलसी

डा० सम्पूर्णानन्द
भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, उत्तरप्रदेश

मेरी अनुभूति

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी राजनीतिक क्षेत्र से बहुत दूर है। किसी दल या पार्टी से सम्बन्ध नही रखते। किसी वाद के प्रचारक नही है, परन्तु प्रसिद्धि प्राप्त करने के इन सब मार्गों से दूर रहते हुए भी वे इस काम के उन व्यक्तियो मे हैं, जिनका न्यूनाधिक प्रभाव लाखो मनुष्यो के जीवन पर पडा है। वे जैन धर्म के सम्प्रदाय-विशेष के अधिष्ठाता हैं, इसीलिए आचार्य कहलाते है। अपने अनुयायियो को जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो का अध्यापन कराते ही होगे, श्रमणो को अपने सम्प्रदाय-विशेष के नियमादि की शिक्षा-दीक्षा देते ही होंगे, परन्तु किसी ने उनके या उनके अनुयायियो के मुँह से कोई ऐसी बात नही सुनी जो दूसरो के चित्त को दुखाने वाली हो।

भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि यहाँ के धार्मिक पर्यावरण की धर्म पर आस्था रखी जा सकती है और उसका उपदेश किया जा सकता है। आचार्यश्री तुलसी एक दिन मेरे निवास-स्थान पर रह चुके है। मै उनके प्रवचन सुन चुका हूँ। अपने सम्प्रदाय के आचारो का पालन तो करते ही है, चाहे अपरिचित होने के कारण वे आचार दूसरो को विचित्र से लगते हो और वर्तमान काल के लिए कुछ अनुपयुक्त भी प्रतीत होते हो, परन्तु उनके आचारण और बातचीत मे ऐसी कोई बात नही मिलेगी जो अन्य मतावलम्बियो को अरुचिकर लगे। भारत सदा से तपस्वियो का आदर करता आया है। उपासना शैली और दार्शनिक मन्तव्यो का आदर करना अस्वारस्य होते हुए भी हम चरित्र और त्याग के सामने सिर भुकाते है। हमारा तो यह विश्वास है कि

यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा

जिस किसी देश, जिस किसी समय, महापुरुष का जन्म हो, वह जिस किसी नाम से पुकारा जाता हो, वीतराग तपस्वी पुरुष सदैव आदर का पात्र होता है। इसलिए हम सभी आचार्य तुलसी का अभिनन्दन करते है। उनके प्रवचनो से उस तत्त्व को ग्रहण करने की अभिलाषा रखते है जो धर्म का सार और सर्वस्व है तथा जो मनुष्य मात्र के लिए कल्याणकारी है।

भारतीय संस्कृति ने धर्म को सदैव ऊँचा स्थान दिया है। उसकी परिभाषाएं ही उसकी व्यापकता की द्योतक है। कणाद ने कहा है **यतोभ्युदयनि.श्रेयससिद्धि स धर्म** जिससे इस लोक और परलोक मे उन्नति हो और परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो, वह धर्म है। मनु ने कहा—**धारणाद् धर्म.** समाज को जो धारण करता है, वह धर्म है। व्यास कहते है—**धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किन्न सेव्यते।** धर्म से अर्थ और काम दोनो बनते है, फिर धर्म का सेवन क्यो नही किया जाता ? इस पाठ को भुला कर भारत अपने को, अपनी भारतीयता को खो बैठेगा, न वह अपना हित कर सकेगा और न ससार का कल्याण ही कर सकेगा।

भौतिकता की घुड़-दौड़

इस समय जगत् में भौतिक वस्तुओ के लिए जो घुड-दौड मची हुई है, भारत भी उसमे सम्मिलित हो गया है। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न होना पाप नही है, अपनी रक्षा के साधनो से सज्जित होना बुरा नही है, परन्तु भारत इस दौड़

मे अपनी आत्मा को खोकर सफल नही हो सकता। अनियन्त्रित स्पर्धा से धन प्राप्त हो जाये तो वह धन अविनय और अकरणीय कर्म की ओर ले जाता है। परमाणु बम जैसी नर-सहारवादी वस्तुओ का मार्ग दिखलाता है। मनुष्य आज आकाशारोहण करने जा रहा है। बात तो बुरी नही है, पर इसका परिणाम क्या होगा? यदि वह राग-द्वेष का पुतला बना रहा, यदि लोभ ही उसको स्फूर्ति देने वाला रहा और धन-सम्पत्ति का सग्रह ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य रहा तो वह दूसरे पिण्डो को भी पृथ्वी की भाँति रणस्थल और कसाईखाना बना देगा। यदि उन पिण्डो पर प्राणी हुए तो उनका जीवन भी दूभर हो जायेगा और वे मनुष्य जाति के क्षय को ही अपने लिए वरदान मानेगे। मनुष्य का ज्ञान-समुच्चय उसके लिए अभिशाप हो जायेगा और एक दिन उसे अपने ही हाथो सहस्रो वर्षों से अर्जित सस्कृति और सभ्यता की पोथी पर हरताल फेरनी होगी।

लोभ की आग सर्वग्राही होती है। व्यास ने कहा है—

नाच्छित्वा परमर्माणि, नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

बिना दूसरो के मर्म का छेदन किये, बिना दुष्कर कर्म किये, बिना मत्स्यघाती की भाँति हनन किये (जिस प्रकार धीवर अपने स्वार्थ के लिए निर्दयता से सैकडों मछलियो को मारता है) महती श्री प्राप्त नही हो सकती। लोभ के वशी-भूत होकर मनुष्य और मनुष्यो का समूह अन्धा हो जाता है, उसके लिए कोई काम, कोई पाप, अकरणीय नही रह जाता। लोभ और लोभजन्य मानस उस समय पतन की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, जब मनुष्य अपनी परपीडन-प्रवृत्ति को परहितकारक प्रवृत्ति के रूप मे देखने लगता है, किसी का शोषण-उत्पीडन करते हुए यह समझने लगता है कि मैं उसका उपकार कर रहा हूँ। बहुत दिनो की बात नही है, यूरोप वालो के साम्राज्य प्राय. सारे एशिया और अफ्रीका पर फैले हुए थे। उन देशो के निवासियो का शोषण हो रहा था, उनकी मानवता कुचली जा रही थी, उनके आत्म-सम्मान का हनन हो रहा था, परन्तु यूरोपियन कहता था कि हम तो कर्तव्य का पालन कर रहे है, हमारे कन्धो पर **ह्वाइट मैंस बर्डन** (गोरे मनुष्य का बोझ) है, हमने अपने ऊपर इन लोगो को ऊपर उठाने का दायित्व ले रखा है, धीरे-धीरे इनको सभ्य बना रहे हैं। सभ्यता की कसौटी भी पृथक्-पृथक् होती है। कई साल हुए, मैंने एक कहानी पढी थी। थी तो कहानी ही, पर रोचक भी थी और पश्चिमी सभ्यता पर कुछ प्रकाश डालती हुई भी। एक फ्रेंच पादरी अफ्रीका की किसी नर-मास-भक्षी जगली जातियो के बीच काम कर रहे थे। कुछ दिन बाद लौट कर फ्रास गये और एक सार्वजनिक सभा मे उन्होने अपनी सफलता की चर्चा की। किसी ने पूछा, "क्या अब उन लोगो ने नर-मास खाना छोड दिया है?" उन्होने कहा, "नही, अभी ऐसा तो नही हुआ, पर अब यो ही हाथ से खाने के स्थान पर छुरी-काँटे से खाने लगे है।" मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय पतन पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जब मनुष्य की आत्मवञ्चना इस सीमा तक पहुँच जाती है कि पाप पुण्य बन जाता है। **विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपात. शतमुख.**। एक लोभ पर्याप्त है, सभी दूसरे दोष आनुषगिक बन कर उसके साथ चले आते हैं। जहाँ भौतिक विभूति को मनुष्य के जीवन मे सर्वोच्च स्थान मिलता है, वहाँ लोभ से बचना असम्भव है।

असत्य के कन्धे पर स्वतन्त्रता का बोझ

हम भारत मे वेल्फेयर स्टेट—कल्याणकारी राज्य—की स्थापना कर रहे हैं और 'कल्याण' शब्द की भौतिक व्याख्या कर रहे हैं। परिणाम हमारे सामने है। स्वतन्त्र होने के बाद चरित्र का उन्नयन होना चाहिए था, त्याग की वृत्ति बढनी चाहिए थी, परार्थ-सेवन की भावना मे अभिवृद्धि होनी चाहिए थी। सब लोगो मे उत्साहपूर्वक लोकहित के लिए काम करने की प्रवृत्ति दीख पडनी चाहिए थी। एडी-चोटी का पसीना एक करके राष्ट्र की हितवेदी पर सब-कुछ न्यौछावर करना था। परन्तु ऐसा हुआ नही। स्वार्थ का बोलबाला है। राष्ट्रीय चरित्र का घोर पतन हुआ है। कर्तव्यनिष्ठा ढूंढे नहीं मिलती। व्यापारी, सरकारी कर्मचारी, अध्यापक, डाक्टर किसी मे लोकसग्रह की भावना नहीं है। सब रुपया बनाने की धुन में हैं, भले ही राष्ट्र का अहित हो जाए। कार्य से जी चुराना, अधिक-से-अधिक पैसा लेकर कम-से-कम काम करना— यह साधारण-सी बात हो गई है। हम करोडों रुपया व्यय कर रहे हैं, परन्तु उसके आधे का भी लाभ नहीं उठा

रहे है। लोभ सर्वव्यापी हो रहा है और उसके साथ असत्य का साम्राज्य फैला हुआ है। असत्य-भाषण, असत्य आचरण और सर्वोपरि असत्य-चिन्तन। एक बार १९१७ मे महात्माजी ने कहा था कि हमारे चरित्र मे यह दोष है कि हमारी 'हाँ' का अर्थ 'हाँ' और हमारे 'नही' का अर्थ 'नही' नही होता। वह दोष आज भी हम मे वैसा ही है। परन्तु असत्य के कन्धे पर स्वतन्त्रता का बोझ नही उठ सकता। दुर्बल चरित्र देश को ले डूबेगा और मानव-समाज का भी अहित करेगा। इसीलिए महात्माजी ने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन मे धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया था। उनका यह डिडिम-घोष था कि 'साधन का महत्त्व साध्य से कम नही होता।' वह राजनीति मे भी सत्य और अहिसा को अनिवार्य मानते थे और भावी भारत मे धर्म को। अपनी कल्पना को रामराज्य के नाम से बराबर लोगो के सामने रखते गये। आज वह नही है। करोडो ने उनके उपदेशो को सुना था, अब भी पढते हैं, परन्तु उनका अनुगमन कौन कर रहा है? धर्म मूलक राज्य, रामराज्य की कल्पना पुस्तको के पन्नो मे ही रह गई।

चरित्र की गिरावट की गति अबाध है। इससे घबरा कर कुछ लोगो का ध्यान स्व० श्री बुकमैन और उनके 'मॉरल रिआर्ममेंट' (नैतिक पुनरुत्थान) कार्यक्रम की ओर गया। कार्यक्रम भले ही अच्छा हो, पर हमारी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ भिन्न है और हम कम्युनिज्म के विरोध के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र का उन्नयन नही कर सकते। उससे हमारा काम नही चल सकता। हमारी अपनी मान्यताए है, परम्पराए है, विश्वास है, हमारे अनुकूल वही उपदेश हो सकते है जो हमारी अनुभूतियो पर अवलम्बित हो, जिनकी जडे हमारे सहस्रो वर्षों के आध्यात्मिक धरातल मे जीवन-रस ग्रहण करती हो।

समाज संगठन का भारतीय व पश्चिमी आधार

पश्चिम के समाज-सगठन का आधार है—प्रतिस्पर्धा, हमारा आधार है—सहयोग। हम सभय समुत्थान के प्रतिपादक है, पश्चिम मे व्यक्तियो और समुदायो के अधिकारो पर जोर दिया जाता है, हम कर्तव्यो, धर्मो पर जोर देते है, इस भूमिका मे जो उपदेश दिया जायेगा, वही हमारे हृदयो मे प्रवेश कर सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने इस रहस्य को पहचाना है। वह स्वय जैन है, पर जनता को नैतिक उपदेश देते समय वह धर्म के उस मञ्च पर खडे होते है जिस पर वैदिक, बौद्ध, जैन आदि भारत-सम्भूत सभी सम्प्रदायो का समान रूप मे अधिकार है। वह बालब्रह्मचारी है, साधु है, तपस्वी है, उनकी वाणी मे ओज है। इसलिए उनकी बातो को सभी श्रद्धापूर्वक सुनते है। कितने लोग उनके उपदेश को व्यवहार मे लाते है, वह न्यारी कथा है, परन्तु सुनने मात्र मे भी कुछ लाभ तो होता ही है और फिर **रसरी आवत जात ते, सिल पर होत निसान।**

आचार्यश्री लोगो मे जिन बातो का सकल्प कराते है, वे सब घूम-फिर कर अहिसा या अस्तेय के अन्तर्गत ही आती है। पतञ्जलि ने अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को महाव्रत कहा है और यह ठीक भी है। इनमे से किसी एक को भी निबाहना कठिन होता है और एक के निबाहने के प्रयत्न मे सबको ही निबाहना अनिवार्य हो जाता है। एक को पकड कर दूसरो मे बचा नही जा सकता। मान लीजिये कि कोई यह सकल्प करता है कि मै आज से रिश्वत नही लूंगा और किसी माल में मिलावट नही करूँगा। सकल्प पूरा करने के लिए ही तो किया जायेगा, तोडने के लिए नही। पदे-पदे प्रलोभन आते हैं, पुराने सस्कार नीचे की ओर खीचते है। लोभ का सवरण करना कठिन होता है। चित्त डाँवा-डोल हो जाता है। वह जिन किन्ही दैवी शक्तियो पर विश्वास करता हो उनसे शक्ति की याचना करता है कि मेरा यह सकल्प कही टूट न जाये। मैं मिथ्याचरण को छोडकर सत्याचरण की ओर आता हूं, कही परीक्षा मे डिग न जाऊँ। वैदिक शब्दो मे वह यह कहता है—**अग्ने, व्रतपते, व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयम् तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि—** हे दोषो को दूर करके पवित्र करने वाले भगवन्! हे व्रतो के स्वामी, मै व्रत का आचरण करने जा रहा हूँ। मुझको शक्ति दीजिये कि मैं उसे पूरा कर सकूं। उसको सम्पन्न कीजिये, मैं अनृत को छोड कर सत्य को अपनाता हूं। व्रत का निभ जाना, प्रलोभनो पर विजय पाना, सरल काम नही है। बडे भाग्य से इसमे सफलता मिलती है, और यह भी निश्चित है कि व्रती की गति एक व्रत पर ही अवरुद्ध न होगी। एक व्रत उसको दूसरे व्रत की ओर ले जायेगा। एक को पूरा करने के

लिए युगपत् सबको अपनाना होगा, और जो आरम्भ में परम अणु प्रतीत होता रहा हो, वह अपने वास्तविक रूप मे बहुत बड़ा बन जायेगा। इसी से तो कहा कि **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**। इसीलिए मै कहता हूँ कि वस्तुत कोई भी व्रत अणु नही है। किसी एक छोटे से व्रत को भी यदि ईमानदारी से निबाहा जाये तो वह मनुष्य के सारे चरित्र को बदल देगा।

आचार्य तुलसी के प्रवचनो मे तो बहुत लोग दीख पड़ते हैं, स्त्रियाँ भी बहुत-सी दीख पड़ती है। सेठ-साहूकारो का भी जमघट रहता है। इसी से मैं घबराता हूँ। हमारे देश मे साधुओ के दरबार में जाने और उनके उपदेशो को पल्ले-झाड़ विधि से सुनने का बड़ा चलन है। ऐसे लोग न आवे तो अच्छा है। सबसे पहले उन लोगो को प्रभावित करना है जो समाज का नेतृत्व कर रहे हैं। शिक्षित वर्ग को आकृष्ट करना है। इसी वर्ग मे से शिक्षक, अध्यापक, डाक्टर, इजीनियर, राजनीतिक नेता, सरकारी कर्मचारी निकलते हैं। यदि इन लोगो का चरित्र सुधरे तो समाज पर शीघ्र और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़े। मैं आशा करता हूँ कि आचार्यश्री का ध्यान मेरे इस निवेदन की ओर जायेगा। भगवान् उनको चिरायु और उनके अभियान को सफल करे।

अचार्यश्री तुलसी का जीवन-दर्शन

श्री० वुडलैण्ड कहेलर
अध्यक्ष, अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी संघ, लन्दन

अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध इस समय समस्त ससार की एक प्रमुख समस्या है। दो विश्व-युद्धो के बाद पुराने ढग के सकीर्ण राष्ट्रीयतावादी भी यह अनुभव करने लगे हैं कि विश्व-व्यापी रूप मे, यानी समग्र विश्व की दृष्टि से नई सीमाए निर्धारित करनी आवश्यक हैं। इस कार्य मे सहायता के लिए भारतवर्ष के जैनाचार्य श्री तुलसी अपने अनुयायियो को दुनिया मे हर चीज पर परस्परावलम्बी अहिसक दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा करते है। विश्वव्यापी मैत्री के फल व्यक्तिगत आत्म-सयम के बीज से ही उत्पन्न होते है, इस बात को मुख्य मानते हुए आचार्यश्री तुलसी और उनके सर्वथा शाकाहारी अनुयायियो ने अणुव्रत-आन्दोलन सगठित किया है। यह एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के निर्माण का प्रयत्न है, जिसमे जैन और अजैन सभी ऐसे लोग शामिल हो सकते है, जो आदर्शों को अमली रूप देने के लिए निश्चित की गई कुछ अनुशासनात्मक प्रतिज्ञाओ को अपनी क्षमता के अनुसार स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करने के लिए तैयार हो।

आचार्यश्री तुलसी २० अक्तूबर, १९१४ को लाडनूं मे पैदा हुए थे, जो भारतीय सघ के राजस्थान राज्यान्तर्गत जोधपुर डिवीजन का एक कस्बा है। आचार्यश्री तुलसी तीन वर्ष के ही थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया। पिता के देहावसान के बाद आचार्यश्री तुलसी के सबसे बडे भाई मोहनलालजी पर गृहस्थी का भार आया। मोहनलालजी अवश्य कडे अनुशासन वाले व्यक्ति रहे होगे, क्योकि अपनी डायरी मे आचार्यश्री तुलसी ने लिखा है—"मै उनसे इतना डरता था कि उनके विरुद्ध कुछ कहना तो दूर, उनकी उपस्थिति मे कुछ करने मे भी मुझे सकोच होता था।"

आचार्यश्री तुलसी पर अपनी माता का भी बहुत असर पडा, जो आध्यात्मिक विचारो की थी और बाद मे साध्वी बन गई। तेरापथी साधु-साध्वियो के वातावरण मे शाकाहारी तो वह जन्म से ही थे। बाल्यावस्था मे ही अपने मानसिक धरातल को दृढ करने के लिए उन्होने जीवन मे कभी नशा और धूम्रपान न करने की प्रतिज्ञा ली। इस तरह व्यक्तिगत आत्म-सयम का सहारा लेकर उन्होने छोटी अवस्था मे ही उस मार्ग को अपनाया जो कठिन होते हुए भी दुनिया मे सुखी रहने का सबसे प्रशस्त मार्ग माना जाता है।

बाल्यावस्था के अपने सस्मरणो मे आचार्यश्री तुलसी लिखते है—"पाठ कण्ठाग्र करने की मुझे आदत थी। यहाँ तक कि खेलते समय भी मैं अपना पाठ याद करता रहता था।" प्रारम्भ से ही वे बाहरी प्रभाव के बनिस्पत अन्त-रात्मा का अनुसरण करते थे और प्रारम्भिक काल के उनके सभी अध्यापको ने उनमे नेतृत्व की क्षमता को अनुभव किया था। चार या पाँच साल की अवस्था मे, जबकि बच्चे आमतौर पर ऐसी आदतो का परिचय देते है जो उनके भावी जीवन की रूपरेखा बनाती है, आचार्यश्री तुलसी मे जरा-जरा सी बात पर गुस्सा हो जाने की आदत पड गई। क्रोध के दुष्प्रभाव मे मनुष्य का पेट खाए हुए पदार्थ को अच्छी तरह नही पचा सकता, लेकिन आचार्यश्री तुलसी बाल्यावस्था मे ही इतने समझ-दार थे कि जब उन्हे गुस्सा आता तो खाना खाने से इन्कार कर देते थे। कभी-कभी तो ऐसा होता कि घर के सभी लोगो के बहुत कहने-सुनने पर भी सारे दिन या दो दिन तक वह खाना नही खाते। इसी समय किसी ने उन्हे नारियल चुरा कर भगवान् पर चढ़ाने की सलाह दी। इस सलाह पर, जिसका औचित्य नि:सन्देह सदिग्ध है, चल कर कथित धार्मिक क्रिया के लिए उन्होने अपने ही घर से कुछ नारियल चुराए। लेकिन सदाचार के जिस मार्ग को उन्होने अपनाया, उसमे बचपने के ऐसे अवधान बिरले ही हुए। आज्ञा-पालन और मृदुता उनके विशेष गुण बन गए, जिनके कारण अपनी इच्छा न होने

हुए भी उन्होंने अपनी माता और बड़े भाई मोहनलालजी ने जो कहा, वह किया। ऐसे एक दुखद प्रसग का उन्होंने अपनी डायरी मे उल्लेख किया है, जबकि उनकी माँ ने उनसे पड़ौस के एक घर से छाछ माँग लाने के लिए कहा था। "माँगने मे मुझे अपमान का अनुभव होता था।" आचार्यश्री तुलसी लिखते है, "लेकिन मुझे अपनी माँ के आदेश का पालन करना पड़ा।"

जैन दर्शन के अनुसार पूर्व जन्मो के सस्कार मनुष्य की आत्मा मे रहते है, जिनके अनुसार ही मनुष्य अपने उपयुक्त कार्य का चुनाव करता है। आचार्यश्री तुलसी के लिए निश्चित ही यह बात लागू होती है, क्योंकि आध्यात्मिकता की कोई छिपी हुई शक्ति उनका मार्ग-दर्शन करती मालूम पड़ती है। यही बात उनके कुटुम्ब के कुछ अन्य व्यक्तियो के बारे में भी कही जा सकती है। उनका बहन लाडाजी साध्वी बनी, जो कालान्तर मे तेरापथी सम्प्रदाय की सभी साध्वियो की प्रमुख हुई और उनके भाई चम्पालालजी ही नही, बल्कि एक भतीजे हमराजजी भी तेरापथी साधु बने।

आचार्यश्री तुलसी ने जबसे होश सम्हाला, उनका सारा परिवार तेरापथ के आठवे आचार्यश्री कालूगणी का अनुयायी था। अपने बाल्यकाल मे आचार्यश्री तुलसी ने अक्सर यह आकाक्षा की तो उसमे आश्चर्य की बात नही कि मै भी साधु हो जाऊं तो कितना अच्छा। अपनी माँ से वह अक्सर आचार्यश्री कालूगणी के बारे मे पूछते रहते थे। आचार्यश्री कालूगणी जब कभी लाडनूं आते, जो तेरापथ के प्रभाव का केन्द्र था, आचार्यश्री तुलसी और उनके परिवार के दूसरे सभी व्यक्ति उनके दर्शनो को जाते थे। आचार्यश्री कालूगणी के बारे मे आचार्यश्री तुलसी ने लिखा है—"उनके मुख पर जो आध्यात्मिक तेज था, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता था और मैं घण्टो उन्हे, उनके लम्बे कद, उनके गौर वदन, उनकी चमकती हुई आँखो की ओर निहारता रहता था। मन-ही-मन कहता—क्या किसी दिन मुझे भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा कि मैं साधु बन कर उनकी साधना मे उनके साथ बैठूं।"

जैन तेरापथ मे आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करते है। कालान्तर मे आचार्यश्री कालूगणी ने इस प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ किया कि उनके बाद आचार्य का पद किसे दिया जाये। आचार्यश्री कालूगणी ने लाडनूं की अपनी यात्राओ मे एक बार बालक तुलसी को देखा था और पहली ही नजर मे बालक ने उनका हृदय छू लिया था। बालक की उनके प्रति जैसी भावना थी, उसी तरह वे भी उसकी ओर आकर्षित हुए और बालक तुलसी की चमकती हुई आँखो मे देखते हुए आचार्यश्री कालूगणी ने जान लिया कि जिस उत्तराधिकारी की वह खोज मे थे उसे उन्होंने पा लिया।

आचार्यश्री तुलसी जब ग्यारह वर्ष के हुए तो आचार्यश्री कालूगणीजी एक बार फिर लाडनूं आये। साधु बनने के स्वप्न की पूर्ति मे विलम्ब न हो, यह सोच कर आचार्यश्री तुलसी ने उनसे अपने को तेरापथ के साधु-समुदाय मे दीक्षित करने की प्रार्थना की। बड़े भाई मोहनलालजी इतनी छोटी अवस्था मे ससार के सारे भौतिक सुखो और सम्पत्ति का परित्याग करने की अपने छोटे भाई की तैयारी देख कर धक्क रह गए। छोटे भाई के कानूनी सरक्षक के नाते, इसके लिए आवश्यक अनुमति देने से उन्होंने इन्कार कर दिया। आचार्यश्री तुलसीजी ने बार-बार आग्रह किया, लेकिन मोहनलालजी भी अपनी बात पर दृढ रहे।

इसके कुछ दिन बाद की बात है कि आचार्यश्री कालूगणी लाडनूं मे एक विशाल समुदाय के बीच प्रवचन कर रहे थे। सबको और विशेषत मोहनलालजी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस विशाल समुदाय के बीच खड़े होकर ग्यारह वर्षीय आचार्यश्री तुलसी ने आचार्यश्री कालूगणी को सम्बोधित करके कहा—"आदरणीय आचार्यश्री, मै यह प्रतिज्ञा लेना चाहता हूँ कि आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा और धनोपार्जन के चक्कर मे नही पड़ूँगा।" जिसने अभी युवावस्था मे भी प्रवेश नही किया था, ऐसे बालक का यह साहस देख कर जन-समुदाय भौचक्का रह गया। भाई मोहनलालजी भी ऐसे चकित हुए कि कुछ बोल न सके। स्वय आचार्यश्री कालूगणी भी, जो भारत के विविध भागो के व्यापक प्रवास मे अनोखे-अनोखे दृश्य देख-सुन कर अब वयोवृद्ध हो चुके थे, आचार्यश्री तुलसी के इस आकस्मिक परिवर्तन को देख कर चकित रह गए। बड़े भाई की अवस्थिति मे प्रतिदिन दबे-दबे रहने वाले तुलसी को आज क्या हो गया? मोहनलालजी का भय कहाँ चला गया? यह किसी की समझ मे नही आया। वस्तुत यह छोटे बालक के बजाय एक वयस्क की ही वाणी थी।

लम्बी खामोशी के बाद आचार्यश्री कालूगणी ने कहा—"तुम अभी बालक ही हो, ऐसी प्रतिज्ञा का पालन करना

आसान काम नही है ।"

मोहनलालजी की आँखे आचार्यश्री तुलसी पर एकाग्र थी। जन-समुदाय ज्यों-का-त्यो निःशब्द था। तुलसीजी को यह कसौटी थी। उन्हे लगा कि यहाँ उपस्थित हर एक उनसे प्रश्न कर रहा है, ऐसी हालत मे उन्हे क्या करना चाहिए ? उन्होने अभीष्ट निर्णय किया कि मुझे गलती नही करनी चाहिए, अपनी आत्मा की दृढता दिखाने का यही अवसर है और स्पष्ट वाणी मे आचार्यश्री से कहा—"आदरणीय आचार्यश्री, आप प्रतिज्ञा दिलाने को राजी हो या नही, मै तो आपकी उपस्थिति मे यह प्रतिज्ञा ले ही रहा हूँ।" इसके बाद उस छोटे बालक ने आजीवन विवाह और धनोपार्जन न करने की प्रतिज्ञा को गम्भीरता के साथ दोहराया।

जन-समुदाय मे इससे एक बार फिर आश्चर्य की लहर दौड गई। यहाँ तक कि कठोर अनुशासक मोहनलालजी भी अपने छोटे भाई के वीरतापूर्ण शब्दो से बहुत प्रभावित हुए। एक क्षण बाद मोहनलालजी अपनी जगह से उठे और आचार्यश्री को सम्बोधन करके बोले—'आचार्यश्री, मै अपने भाई की इच्छा के आगे सिर झुकाता हूँ और आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप उसे तेरापथ के साधुओ मे दीक्षित कर ले।'

इस बार आचार्यश्री सोच मे नही पडे, बल्कि तुरन्त सहमति दे दी। दीक्षा के लिए ऐसी शीघ्र अनुमति बहुत असाधारण बात थी, जैसा कि पहले कभी बिरल ही हुआ था। जन-समुदाय एक बार फिर भौचक्का रह गया।

आचार्यश्री तुलसी के बाल्यकाल का यह विवरण मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' द्वारा लिखित आचार्यश्री तुलसी की जीवन-झाँकी 'भारत की ज्योति' के आधार पर लिखा गया है। 'भारत की ज्योति' के प्रति पूरा न्याय करना हो तो इस सक्षिप्त निबन्ध की परिधि से बाहर जाना होगा। आत्म-सयम के लिए जो आध्यात्मिक जिज्ञासा का मार्ग ग्रहण करना चाहे, उनके लिए मै अणुव्रत-आन्दोलन का सदस्य बनने की हार्दिक प्रार्थना करूँगा। अणुव्रत-आन्दोलन के दो उत्साही सदस्यो रमणीकचन्द और सुन्दरलाल झवेरी की कृपा से कुछ वर्ष पूर्व हमारे पहली बार भारत आने पर मुझे और मेरी पत्नी को आचार्यश्री तुलसी के चरणो मे बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

आचार्यश्री तुलसी से भेट करने पर मेरी पत्नी ने कहा था—'आचार्यश्री आपकी आँखो मे जो दिव्य ज्योति मै देख रही हूँ, वैसी इससे पहले अपने जीवन मे मैंने कभी नही देखी।' उनके चेहरे का निचला आधा हिस्सा यद्यपि तेरापथ की परम्परा के अनुसार धवल वस्त्र से ढका हुआ था, फिर भी जैन आचार्यश्री तुलसी की सुन्दर चमकदार आँखे हमसे नही छिपी रह सकी और उनके द्वारा हम उनके हृदय की ऊष्मा, उनके व्यक्तिगत आकर्षण और उससे भी अधिक उनके मन व आत्मा की महान् शुद्धता को अनुभव कर सकते थे।

इस स्मरणीय पहली भेट मे इस बात से हम बहुत प्रभावित हुए कि उनके आस-पास पलथी मार कर जमीन पर बैठे हुए सभी लोग हमे प्रसन्न दिखाई पडे। पश्चिमी दुनिया के सुविधावादी दृष्टिकोण से प्रभावित अनेक धार्मिक व्यक्तियो के विपरीत साधु-साध्वियो तथा आचार्यश्री तुलसी के दूसरे अनुयायियो ने स्पष्टतया प्राकृतिक जीवन के अपने आनन्द को नही खोया है। उनके हास्य और स्वेच्छापूर्ण उल्लास से हमे लगा कि नैतिकता के मार्ग पर चलते हुए उनका समय बहुत अच्छा बीत रहा है। हमारी भेट के बीच आचार्यश्री तुलसी ने कई अच्छी बाते कही, जिनमे से यह मुझे विशेषतया याद है —'अपनी इच्छाओ पर आप विजय नही पायेगे तो वे आप पर हावी हो जायेगी।'

आचार्यश्री तुलसी और उनके अनुयायियो से विदा होने के पहले मैने उनसे पूछा कि बीसवी सदी के ठूठे काल मे जब प्रगति के नाम पर सहार और सहार की तैयारी जारी है, तब दुनिया मे सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? आचार्यश्री ने जो कुछ कहा उसका भावार्थ यह है कि शरीर एक अच्छा नौकर, पर बुरा मालिक है, अत सचमुच सुखी होने के लिए मनुष्य को अहिसा की आवाज पर चलना चाहिए यानी किसी को चोट नही पहुँचानी चाहिए।

तेरापथ के नव आचार्य से अपनी और अपनी पत्नी की पहली मुलाकात के बाद मे ही सुख के सम्बन्ध मे मै एक नई दृष्टि से विचार करने लगा हूँ और वासनाओ की भूख पर बहुत कुछ विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि सुख की कुजी, जैसा कि आचार्यश्री तुलसी कहते है, आत्म-सयम मे ही है। भौतिक शरीर तरह-तरह की झूठी आकाक्षाओ मे आनन्दानुभव करता है और अगर हम उनके चगुल मे पड जाये तो अन्त मे हमेशा निराशा ही हाथ

लगेगी। दूसरी ओर, अगर हम प्राकृतिक नियमो के अनुसार रहने योग्य काफी अनुशासित यानी सयमपूर्ण हो जाये तो हमे सुख की खोज करने की आवश्यकता नही रहेगी। तब वह स्वयमेव हमारे पास आयेगा। वास्तव मे तो मनुष्य की सच्ची प्रकृति ही सुख है, वह उसमे अवस्थित है, जिसे केवल पहचानने की आवश्यकता है।

सामाजिक सुख का एक सबसे बडा खतरा, मुझे लगता है, किसी चीज से ऊब जाना। हमारे व्यग्र, भौतिक युग मे अपनी आवश्यकता की पूर्ति होते ही मनुष्य उस चीज मे ऊब जाता है और उससे अपेक्षाकृत बड़ी, अच्छी, तेज तथा अधिक उत्तेजक चीज की आकाक्षा करने लगता है। अत भौतिक इच्छाओ के विरुद्ध या उन पर विजय पाने के लिए, मनुष्य को आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाले जीवन-दर्शन को अपनाना आवश्यक है—सुख-प्राप्ति की ऐसी जीवन-दृष्टि जिससे अन्त मे निराशा पल्ले न पडे। मुझे लगता है कि सुख के बारे मे आचार्यश्री तुलसी की ऐसी ही जीवन दृष्टि है। आचार्यश्री की आँखो मे देखते हुए मुझे और मेरी पत्नी को ऐसी ही झलक नजर आई।

आचार्यश्री तुलसी और अणुव्रत-आन्दोलन

सेठ गोविन्ददास, एम० पी०

मानव, पूर्ण पुरुष परमात्मा की, एक अपूर्ण कृति है, और मानव ही क्यो, यह सारी सृष्टि ही, जिसका वह नायक बना है, अपूर्ण ही है। जब मानव अपूर्ण है, उसकी सृष्टि अपूर्ण है, तो निश्चय ही उसके कार्य-व्यापार भी अपूर्ण ही रहेंगे। मेरी दृष्टि मे मनुष्य का अस्तित्व इस जगती पर उस सूर्य की भाँति है जो अन्तरिक्ष से अपनी प्रकाश-किरणें भू-मण्डल पर फेंक एक निश्चित समय बाद उन्हे फिर अपने मे समेट लेता है। इस बीच सूर्य-किरणो का यह प्रकाश जगती को न केवल आलोकित करता है, वरन उसमे नित-नूतन जीवन भरता है और समभाव मे सदा सबको प्राण-शक्ति से प्लावित रखता है। यहाँ सूर्य को हम एक पूर्ण तत्त्व मान कर उसकी अनन्त किरणों को उसके छोटे-छोटे अनन्त अपूर्ण अणु-रूपो की सज्ञा दे सकते है। यही स्थिति पुरुष और परमेश्वर की है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा भी है, **ईश्वर अंश जीव अविनाशी**—अर्थात् मानव-रचना ईश्वर के अणुरूपो का ही प्रतिरूप है, जो समय के साथ अपने मूल रूप से पृथक् और उसमे प्रविष्ट होता रहता है। सूर्य-किरणो की भाँति उसका अस्तित्व भी क्षणिक होता है, पर समय की यह स्वल्पता, आयु की यह अल्पज्ञता होते हुए भी मानव की शक्ति, उसकी सामर्थ्य समय की सहचरी न होकर एक अतुल, अटूट और अखण्ड शक्ति का ऐसा स्रोत होती है, जिसकी तुलना मे आज सहस्रांशु की वे किरणे भी पीछे पड जाती है जो जगती की जीवनदायिनी है। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी की यह उक्ति 'Where the sun cannot rises the doctor does inter there' कितनी यथार्थ है! फिर आज के वैज्ञानिक युग मे मानव की अन्तरिक्ष-यात्राए और ऐसे ही अनेकानेक चामत्कारिक अन्वेषण, जो किसी समय सर्वथा अकल्पनीय और अलौकिक थे, आज हमारे मन मे आश्चर्य का भाव भी जागृत नही करते। इस प्रकार की शक्ति और सामर्थ्य से भरा यह अपूर्ण मानव, आज अपने पुरुषार्थ के बल पर, प्रकृति के साथ प्रतिस्पर्धी बना खडा है।

जगती मे सनातन काल से प्रधान रूप मे सदा ही दो बातो का द्वन्द्व चलता रहा है। सूर्य जब अपनी किरणें समेटता है तो अवनि पर सघन अन्धकार छा जाता है। अर्थात् प्रकाश का स्थान अन्धकार और फिर अन्धकार का स्थान प्रकाश ले लेता है। यह क्रम अनन्त काल से अनवरत चलता रहता है। इसी प्रकार मानव के अन्दर भी यह द्वैत का द्वन्द्व गतिशील होता है। इसे हम अच्छे और बुरे, गुण और दोष, ज्ञान और अज्ञान तथा प्रकाश और अन्धकार आदि अगणित नामो से पुकारते हैं। इन्ही गुण-दोषो के अनन्त-अगणित भेद और उपभेद होते है जिनके माध्यम से मानव, जीवन मे उन्नति और अवनति के मार्ग मे अनभ्यास से अनायास ही अग्रसर होता है। यहाँ हम मानव-जीवन के इसी अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित पक्ष पर विचार करेंगे।

जीवन की सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि

भारत धर्म प्रधान देश है, पर व्यावहारिक सचाई मे बहुत पीछे होता जा रहा है। भारतीय लोग धर्म और दर्शन की तो बडी चर्चा करते है, यहाँ तक उनके दैनिक जीवन के कृत्य, वाणिज्य-व्यवसाय, यात्राए, वैवाहिक सम्बन्ध आदि जैसे कार्य भी दान-पुण्य, पूजा-पाठ आदि धार्मिक वृत्तियो से ही आरम्भ होते है, किन्तु कार्यों के आरम्भ और अन्त को छोड जीवन की जो एक लम्बी मजिल है, उसमे व्यक्ति, धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष से सदा ही उदासीन रहता है। इस धर्म-प्रधान देश के मानव मे व्यावहारिक सचाई में प्रामाणिकता के स्थान पर आडम्बर और आधिभौतिक शक्तियो का

आधिपत्य होता जा रहा है। जीवन मे जब व्यावहारिक सचाई नही, प्रामाणिकता नही, तो धर्माचरण कैसे सम्भव है ? इसके विपरीत भौतिकतावादी माने जाने वाले देशो की जब भारतीय यात्रा करते है तो वहाँ के निवासियो की व्यवहारगत सचाई और प्रामाणिकता की प्रशसा करते है। दूसरी ओर जो विदेशी भारत की यात्रा करते है, उन्हे यहाँ की ऊँची दार्शनिकता के प्रकाश मे प्रामाणिकता का अभाव खलता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा यह धर्माचरण जीवन-शुद्धि के लिए नही, पुनर्जन्म की शुद्धि के लिए है। किन्तु यहाँ भी हम भूल रहे हैं। जब यह जीवन ही शुद्ध नही हुआ तो अगला जन्म कैसे शुद्ध होगा ? यह सुनिश्चित है कि उपासना की अपेक्षा जीवन की सचाई को प्राथमिकता दिये बिना इस जन्म की सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि सर्वथा असम्भव है।

अब प्रश्न उठता है कि जीवन की यह सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि कैसे हो सकती है ? स्पष्ट है कि चारित्रिक विकास के बिना जीवन की यह प्राथमिक और महान् उपलब्धि सम्भव नही। चरित्र का सम्बन्ध किसी कार्य-व्यापार तक ही सीमित नही, अपितु उसका सम्बन्ध जीवन की उन मूल प्रवृत्तियो से है जो मनुष्य को हिंसक बनाती है। शोषण, अन्याय, असमानता, असहिष्णुता, आक्रमण, दूसरे के प्रभुत्व का अपहरण या उसमे हस्तक्षेप और असामाजिक प्रवृत्तियाँ ये सब चरित्र-दोष हैं। प्राय सभी लोग इनसे आक्रान्त हैं। भेद प्रकार का है। कोई एक प्रकार के दोष से आक्रान्त है, तो दूसरा दूसरे प्रकार के दोष से। कोई कम मात्रा मे है, तो कोई अधिक मात्रा मे। इस विभेद-विषमता के विष की व्याप्ति का प्रधान कारण शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था का दोषपूर्ण होना माना जा सकता है। आज की जो शिक्षा-व्यवस्था है, उसमे चारित्रिक विकास की कोई निश्चित योजना नही है। भारत की प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजना मे भारत के भौतिक विकास के प्रयत्न ही सन्निहित थे। कदाचित् **भूखे भजन न होइं गोपाला और आरत काह न करै कुकर्मू** की उक्ति के अनुसार भूखो की भूख मिटाने के प्राथमिक मानवीय कर्तव्य के नाते यह उचित भी था, किन्तु चरित्र-बल के बिना भर-पेट भोजन पाने वाला कोई व्यक्ति या राष्ट्र आज के प्रगतिशील विश्व मे प्रतिष्ठित होना तो दूर, कितनी देर खडा रह सकेगा, यह एक बडा प्रश्न है। अतः उदरपूर्ति के यत्न मे अपने परम्परागत चरित्र-बल को नही गँवा बैठना चाहिए। यह हर्ष का विषय है कि तृतीय पचवर्षीय योजना मे इस दिशा मे कुछ प्रयत्न अन्तर्निहित है। हमारी शिक्षा कैसी हो, यह भी एक गम्भीर प्रश्न है। बडे-बडे विशेषज्ञ इस सम्बन्ध मे एकमत नही है। अनेक तथ्य और तर्क शिक्षा के उज्ज्वल पक्ष के सम्बन्ध मे दिये जाते रहे है और दिये जा सकते हैं। निश्चित ही भारतीय शिक्षा के क्षेत्र मे आगे बढे है, किन्तु आज का यह बौद्धिक विकास एक असयत विकास है। कोरा-ज्ञान भयावह है, कोरा भौतिक विकास प्रलय है और नियत्रणहीन गति का अन्त खतरनाक। दृष्टि ही विशुद्ध जीवन की धुरी है। दृष्टि शुद्ध है तो ज्ञान शुद्ध होगा, दृष्टि विकृत होगी तो ज्ञान विकृत हो जायेगा, चरित्र दूषित हो जायेगा। इस दृष्टि-दोष से हम सभी बहुत बुरी तरह ग्रसित हैं। भाषा, प्रान्त, राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता के दृष्टि-दोष के जो दृश्य देश मे आज जहाँ-तहाँ देखने को मिल रहे है, ये यहां के चारित्रिक ह्रास के ही परिचायक है। घृणा, सकीर्ण मनोवृत्ति और पारस्परिक अविश्वास के भयावह अन्तराल मे भारतीय आज ऐसे डूब रहे है कि ऊपर उठ कर बाहर की हवा लेने की बात सोच ही नही पाते। इस भयावह स्थिति को समय रहते समझना है अपने-आपको सम्भालना है। यह कार्य चरित्र-बल से ही सम्भव है और चरित्र को सँजोने के लिए शिक्षा मे सुधार अपरिहार्य है। प्रश्न है—यह शिक्षा कैसी हो ?

सक्षेप मे जीवन के निर्दिष्ट लक्ष्य तक यदि हमे पहुँचना है, तो ऐसे जीवन के लिए निश्चित वही शिक्षा उपयोगी होगी, जिसे हम सयम की शिक्षा की सज्ञा दे सकते है। सयमी जीवन मे सादगी और सरलता का अनायास ही सम्मिश्रण होता है और जहाँ जीवन सादगी से पूर्ण होगा, उसमे सरलता होगी, वहाँ कर्तव्यनिष्ठा बढेगी ही। कर्तव्य निष्ठा के जागृत होते ही व्यक्ति-निर्माण का वह कार्य, जो आज के युग की, हमारी शिक्षा की, उसके स्तर के सुधार की माँग है, सहज ही पूरा हो जायेगा।

उन्नति की धुरी

अर्थ-व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। अर्थ-व्यवस्था सुधरे बिना चरित्रवान् बनने मे कठिनाई होती है और चरित्रवान्

बने बिना समाजवादी समाज बने, यह भी सम्भव नही है। इसीलिए यह आवश्यक है कि देश के कर्णधार योजनाओ के क्रियान्वयन मे चरित्र विकास के सर्वोपरि महत्त्व को दृष्टि से ओझल न करे। ईमानदारी चरित्र का एक प्रधान चरण है। यदि चरित्र नही तो ईमानदारी कहाँ से आयेगी, और जब ईमानदारी नही, तो इन दीर्घसूत्रीय योजनाओ से, जो आज क्रियान्वित हो रही है, आगे चलकर अर्थ-लाभ भले ही हो, पर अभिशाप मे अविचार, असयम और असमानता का ऐसा घेरा समाज मे पडेगा, जिससे निकलना फिर आसान बात न होगी।

इस प्रकार देशोन्नति की धुरी चरित्र ही है। बिना चरित्र विकास के देश का विकास असम्भव है। चरित्र-निर्माण का सम्बन्ध हमारी शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था से जुडा हुआ है। इनके दोषपूर्ण होने पर निष्कलक चरित्र की कल्पना नही की जा सकती।

आचार्य तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र-निर्माण की दिशा मे एक अभूतपूर्व आयोजन है। अणुव्रत का अर्थ है—छोटे व्रत।

स्वभाव से ही मानव अन्धकार की परिधि से बाहर निकल प्रकाश की ओर बढने का इच्छुक होता है। व्रत-ग्रहण मे भी यही तथ्य निहित है। मानव-समाज मे व्याप्त विषमता, बेईमानी और अनैतिकता जब व्यक्ति को दृष्टिगोचर होती है तो उसके अन्दर इस वैषम्य, वैमनस्य, शोषण और अनाचार को दूर करने की प्रवृत्ति जागृत होती है और सद्-भावमूलक इस प्रवृत्ति के उदय होते ही त्याग की भावना से अभिभूत उसका अन्त करण व्रतो की ओर आकर्षित होता है। जीवन-सुधार की दिशा मे व्रतो का महत्त्व सर्वोपरि है। व्रतो मे प्रधानरूप से आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सिद्धान्त कायम करना जितना आसान है, उस पर अमल करना उतना ही कठिन, उसी प्रकार व्रत लेना तो आसान है, पर उसका निभाना बडा कठिन होता है। व्रत-पालन मे स्व-नियमन व हृदय-परिवर्तन से बडी सहायता मिलती है।

अणुव्रत के पाँच प्रकार है—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदार-सतोष और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

अहिसा—रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियो का निरोध या आत्मा की राग-द्वेष-रहित प्रवृत्ति।

सत्य—अहिसा का रचनात्मक या भाव-प्रकाशनात्मक पहलू है।

अचौर्य—अहिसात्मक अधिकारो की व्याख्या है।

ब्रह्मचर्य—अहिसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है।

अपरिग्रह—अहिसा का परम-पदार्थ-निरपेक्ष रूप है।

व्रत हृदय-परिवर्तन का परिणाम होता है। बहुधा जन-साधारण का हृदय उपदेशात्मक पद्धति से परिवर्तित नही होता, अत समाज की दुर्व्यवस्था को बदलने के लिए भी प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए आर्थिक दुर्व्यवस्था व्रतो से सीधा सम्बन्ध नही रखती, किन्तु आत्मिक दुर्व्यवस्था मिटाने के लिए और सयत, सदाचारपूर्ण जीवन-यापन की दिशा मे व्रत बहुत उपयोगी होते है। हृदय-परिवर्तन और व्रताचरण से जब आत्मिक दुर्व्यवस्था मिट जाती है तो उससे आर्थिक दुर्व्यवस्था भी स्वत सुधरती है और उसके फलस्वरूप सामाजिक दुर्व्यवस्था भी मिट जाती है।

व्यक्ति के चरित्र और नैतिकता का उसकी अर्थ-व्यवस्था से गहरा सम्बन्ध है—**बुभुक्षितः किं न करोति पापम्?** की उक्ति के अनुसार भूखा आदमी क्या पाप नही कर सकता! इसके विपरीत किसी विचारक के इस कथन को भी कि ससार मे हरएक मनुष्य की आवश्यकता भरने को पर्याप्त से अधिक पदार्थ है, पर एकभी व्यक्ति की आशा भरने को वह अपर्याप्त है,[१] हम दृष्टि से ओझल नही कर सकते। एक निर्धन निराशा से पीडित है तो दूसरा धनिक आशा से। यही हमारी अर्थ-व्यवस्था की सबसे बडी विडम्बना है। भगवान् महावीर[२] ने आशा की अनन्तता बताते हुए कहा है—यदि सोने और चाँदी के कैलाश-तुल्य असख्य पर्वत भी मनुष्य को उपलब्ध हो जाये तो भी उसकी तृष्णा नही

---

१ There is enough for everyone's need but not everyone's greed

२ सुवण्ण रूवस्स उ पव्वया भवे सियाहु कैलास समा असंखया।

रती, क्योंकि धन असंख्य है और तृष्णा आकाश की तरह अनन्त।

गरीब कौन ?

विचारणीय यह है कि वास्तव मे गरीब कौन है ? क्या गरीब वे है, जिनके पास थोड़ा-सा धन है ? नही। गरीब तो यथार्थ मे वे है जो भौतिक दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी तृष्णा से पीडित है। एक व्यक्ति के पास दस हजार रुपये है। वह चाहता है बीस हजार हो जाय, तो आराम से जिन्दगी कट जाये। दूसरे के पास एक लाख रुपया है, वह भी चाहता है कि एक करोड हो जाये तो शान्ति से जीवन बीते। तीसरे के पास एक करोड रुपया है, वह भी चाहता है, दस करोड हो जाये तो देश का बडा उद्योगपति बन जाऊँ। अब देखना यह है कि गरीब कौन है ? पहले व्यक्ति की दस हजार की गरीबी है, दूसरे की निन्यानवे लाख की और तीसरे की नौ करोड की। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो वास्तव मे तीसरा व्यक्ति ही अधिक गरीब है, क्योकि पहले की वृत्तियाँ जहाँ दस हजार के लिए, दूसरे की निन्यानवे लाख के लिए तडपती हैं, वहाँ तीसरे की नौ करोड के लिए। तात्पर्य यह है कि गरीबी का अन्त सन्तोष है और असन्तोष ही अर्थ-सख्या का सबसे बडा अभाव है। सग्रह के जिस बिन्दु पर मनुष्य सन्तोष को प्राप्त होता है, वही उसकी गरीबी का अन्त हो जाता है। यह बिन्दु यदि पाँच अथवा पाँच हजार पर भी लग गया, तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। हमारे देश की प्राचीन परम्परा मे तो वे ही व्यक्ति सुखी और समृद्ध माने गए हैं, जिन्होने कुछ भी सग्रह न रखने मे सन्तोष किया है। ऋषि, महर्षि साधु-सन्यासी गरीब नही कहलाते थे और न कभी उन्हे अर्थाभाव का दु ख ही व्यापता था।

भगवान् महावीर ने **मुच्छा परिग्गहो**— मूर्च्छा को परिग्रह बताया है। परिग्रह सर्वथा त्याज्य है। उन्होने आगे कहा है—**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते**, धन से मनुष्य त्राण नही पा सकता। महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास ने कहा है—

उदरं भ्रियते यावत् तावत् स्वत्व हि देहिनाम्।
अधिक योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

अर्थात्—उदर-पालन के लिए जो आवश्यक है, वह व्यक्ति का अपना है, इससे अधिक सग्रह कर जो व्यक्ति रखता है, वह चोर है और दण्ड का पात्र है।

आधुनिक युग मे अर्थ-लिप्सा से बचने के लिए महात्मा गाधी ने इसीलिए धनपतियों को सलाह दी थी कि वे अपने को उसका ट्रस्टी मानें। इस प्रकार हम देखते है हमारे सभी महज्जनों, पूर्व पुरुषों, सन्तों और भक्तों ने अधिक अर्थ-सग्रह को अनर्थकारी मान उसका निषेध किया है। उनके इस निषेध का यह तात्पर्य कदापि नही कि उन्होंने सामाजिक जीवन के लिए अर्थ की आवश्यकता को दृष्टि से ओझल कर दिया हो। सग्रह की जिस भावना से समाज अनीति और अनाचार का शिकार होता है, उसे दृष्टि मे रख व्यक्ति की भावनात्मक शुद्धि के लिए उसके दृष्टिकोण की परिशुद्धि ही हमारे महज्जनो का अभीष्ट था। वर्तमान युग अर्थ-प्रधान है। आज ऐसे लोगो की सख्या अधिक है जो आर्थिक समस्या को ही देश की प्रधान समस्या मानते हैं। आज के भौतिकवादी युग मे आर्थिक समस्या का यह प्राधान्य स्वाभाविक ही है। किन्तु चारित्रिक शुद्धि और आध्यात्मिकता को जीवन मे उतारे बिना व्यक्ति, समाज और देश की उन्नति की परिकल्पना एक मृगमरीचिका ही है। अणु-आयुधो के इस युग मे अणुव्रत एक अल्प-अर्थी प्रयत्न है। एक ओर हिंसा के बीभत्स रूप को अपने गर्भ मे छिपाये अणुबमो से सुसज्जित आधुनिक जैट राकेट अन्तरिक्ष की यात्रा को प्रस्तुत है, दूसरी ओर आचार्यश्री तुलसी का यह अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति व्यक्ति के माध्यम से हिंसा, विषमता, शोषण, सग्रह और अनाचार के विरुद्ध अहिंसा, सदाचार, सहिष्णुता, अपरिग्रह और सदाचार की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नरत है। मानव और पशु तथा अन्य जीव-जीवाणुओ मे जो एक अन्तर है, वह है उसकी ज्ञान-शक्ति का। निसर्ग ने अन्यो की अपेक्षा मानव को ज्ञान-शक्ति का जो विपुल-भण्डार सौंपा है, अपने इसी सामर्थ्य के कारण मानव सनातन काल से ही सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बना हुआ है। आज के विश्व मे जबकि एक ओर हिंसा और बर्बरता का दावानल दहक रहा, तो दूसरी ओर अहिंसा और शान्ति की एक शीतल-सरिता जन-मानस को उद्वेलित कर रही है। अब आज के मानव को यह तय करना है कि उसे हिंसा और बर्बरता

के दावानल में झुलसता है अथवा अहिंसा और शान्ति की शीतल सरिता में स्नान करता है। तराज़ू के इन दो पलड़ों पर असन्तुलित स्थिति में आज विश्व रखा हुआ है और उसकी बागडोर, इस तराज़ू की चोटी, उसी ज्ञान-शक्ति सम्पन्न मानव के हाथ में है जो अपनी ज्ञान सत्ता के कारण सृष्टि का सिरमौर है।

सर्वमान्य आचार-संहिता

आचार्यश्री तुलसी से मेरा थोड़ा ही सम्पर्क हुआ है, परन्तु वे जो कुछ करते रहे हैं और अणुव्रत का जो साहित्य प्रकाशित होता रहा है, उसे मैं ध्यान से देखता रहा हूँ। जैन साधुओं की त्याग-वृत्ति पर मेरी सदा से ही बड़ी श्रद्धा रही है। इस प्राचीन संस्कृति वाले देश में त्याग ही सर्वाधिक पूज्य रहा है और जैन साधुओं का त्याग के क्षेत्र में बड़ा ऊँचा स्थान है। फिर आचार्यश्री तुलसी और उनके साथी किसी धर्म के संकुचित दायरे में कैद भी नहीं हैं। मैं आचार्यश्री तुलसी के विचार, प्रतिभा और कार्य-प्रवीणता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। उनका यह अणुव्रत-आन्दोलन किसी पक्ष-विशेष का आन्दोलन न होकर समूची मानव-जाति के क्रमिक विकास और, उसके सदाचारी जीवन का इन व्रतों के रूप में एक ऐसा अनुष्ठान है जिसे स्वीकार करने मात्र से भय, विषाद, हिंसा, ईर्ष्या, विषमता जाती रहती है और सुख-शान्ति की स्थापना हो जाती है। मेरा विश्वास है हिंसा भले ही बर्बरता की चरम सीमा पर पहुँच जाये, पर उसका भी अन्त अहिंसा ही है और इस दृष्टि से हर काल, हर स्थिति में अणुव्रत की उपयोगिता, उसकी अनिवार्यता निर्विवाद है।

आचार्यश्री तुलसी एक समृद्ध साधु-संघ के नायक हैं, बृहत् तेरापंथ के आचार्य हैं और लाखों लोगों के पूज्य हैं। उनके इस बड़प्पन में जो सबसे बड़ी बात है, वह है उनका स्वयं का तथा अपने प्रभावशाली साधु-संघ का एक विशेष कार्य-क्रम के साथ जन-कल्याण के निमित्त समर्पण। उनके इस जन-कल्याण का जो स्वरूप है, उसकी जो योजना है, वह इस अणु-व्रत-आन्दोलन में समाहित है। दूसरे शब्दों में, उनके इस आन्दोलन को देश-निर्माण का आन्दोलन कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति और दर्शन के अहिंसा, सत्य आदि सार्वभौम आधारों पर नैतिक व्रतों की एक सर्वमान्य आचार-संहिता की संज्ञा भी इसे दे सकते हैं।

व्यक्ति न होकर स्वयं एक संस्था

आचार्यश्री तुलसी प्रथम धर्माचार्य हैं जो अपने बृहत् साधु-संघ के साथ सार्वजनिक हित की भावना लेकर व्यापक क्षेत्र में उतरे हैं। आचार्यश्री साहित्य, दर्शन और शिक्षा के अधिकारी आचार्य हैं। वे स्वयं एक श्रेष्ठ साहित्यकार और दार्शनिक हैं। अपने साधु-संघ में उन्होंने निरपेक्ष शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया है तथा संस्कृत, राजस्थानी भाषा की भी वृद्धि में उनका अभिनन्दनीय योग है। उनके संघ में हिन्दी की प्रधानता आचार्यश्री की सूझ-बूझ की परिचायक है। आपकी प्रेरणा से ही साधु-समुदाय सामयिक गति-विधि में दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में उतरा है। इसी के अनन्तर आप देश की गिरती हुई नैतिक स्थिति को उर्ध्व सचरण देने में प्रेरित हुए और उसी का शुभ परिणाम यह सर्वविदित अणु-व्रत-आन्दोलन बना।

आचार्यश्री तुलसी एक व्यक्ति न होकर स्वयं एक संस्था-रूप हैं। आपके इस उपयोगी आचार्य-काल को पच्चीस वर्ष पूरे हो रहे हैं। छब्बीसवें वर्ष में तुलसी-धवल समारोह मनाने का जो निश्चय किया गया है, वह आचार्य तुलसी के धवल व्यक्तित्व के सम्मान की दृष्टि से भी तथा उनके द्वारा हो रहे कार्य की उपयोगिता और उसके मूल्यांकन की दृष्टि से सर्वथा अभिनन्दनीय है।

मैं इस शुभ अवसर पर आचार्यश्री तुलसी को, उनके इस वास्तविक साधु-रूप को तथा उनके द्वारा हो रहे जन-कल्याण के कार्य को, अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

एक अमिट स्मृति

श्री शिवाजी नरहरि भावे

महामहिम आचार्यश्री तुलसी बहुत वर्ष पहले पहली बार ही धूलिया पधारे थे। इसके पहले यहाँ उनका परिचय नही था। लेकिन धूलिया पधारने पर उनका सहज ही परिचय प्राप्त हुआ। वे सायकाल से थोडे ही पहले अपने कुछ साथी साधुओ के साथ यहाँ के माधी तत्वज्ञान मन्दिर मे पधारे। हमारे आमत्रण पर उन्होने नि सकोच स्वीकृति दी थी। यहाँ का शान्त और पवित्र निवास-स्थान देख कर उनको काफी सतोष हुआ। सायकालीन प्रार्थना के बाद कुछ वार्तालाप करेंगे ऐसा उन्होने आश्वासन दिया था। उस मुताबिक प्रार्थना हो चुकी थी। सारी सृष्टि चन्द्रमा की राह देख रही थी। सब ओर शान्ति और समुत्सुकता छाई हुई थी। तत्त्वज्ञान मन्दिर के बरामदे मे वार्तालाप आरम्भ हुआ। **सतां सद्भिः सग. कथमपि हि पुण्येन भवति** भवभूति की इस उक्ति का अनुभव हो रहा था।

वार्तालाप का प्रमुख विषय तत्त्वज्ञान और अहिंसा ही था। बीच मे एक व्यक्ति ने कहा—अहिंसा मे निष्ठा रखने वाले भी कभी-कभी अनजाने विरोध के झमेले मे पड जाते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने कहा—"विरोध को तो हम विनोद समझ कर उसमे आनन्द मानते है।" इस सिलसिले मे उन्होने एक पद्य भी गाकर बताया। श्रोताओ पर इसका बहुत असर हुआ।

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनां।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।

सचमुच भर्तृहरि के इस कटु अनुभव को आचार्यश्री तुलसी ने कितना मधुर रूप दिया। सब लोग अवाक् होकर वार्तालाप सुनते रहे।

आचार्यश्री विशिष्ट पथ के सचालक है, एक बडे आन्दोलन के प्रवर्तक है, जैन शास्त्र के प्रकाण्ड पडित है, किन्तु इन सब बडी-बडी उपाधियो का उनके भाषण मे आभास भी किसी को प्रतीत नही होता था। इतनी सरलता! इतना स्नेह! इतनी शान्ति! ज्ञान व तपस्या के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है?

आचार्यश्री तुलसी की हमारे लिये यही अमिट स्मृति है। इस धवल समारोह के शुभ अवसर पर आशा रखते है कि हम सब इन गुणो का अनुसरण करेंगे।

भौतिक और नैतिक संयोजन

श्रीमन्नारायण
सदस्य—योजना आयोग

नि सन्देह करोडो मानव आज प्राथमिक और मामूली जरूरते भी पूरी नही कर पाते है। अत उनका जीवन-स्तर ऊपर उठाना परम आवश्यक लगता है। प्रत्येक स्वतन्त्र और लोकतन्त्री देश के नागरिक को कम-से-कम जीवनो-वस्तु तो अवश्य ही मिल जानी चाहिए, परन्तु हमे अच्छी तरह समझ लेना होगा कि केवल इन भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर देने से ही शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील समाज की स्थापना नही हो सकेगी। जब तक लोगो के दिलो दिमागों मे सच्चा परिवर्तन नही होगा, तब तक मनुष्य-जाति को भौतिक समृद्धि भी नसीब नही होगी।

सादगी और दरिद्रता

आखिर मनुष्य केवल रोटी खाकर ही नही जीता और न भौतिक सुख-सामग्री से मनुष्य को सच्चा मानसिक और आत्मिक सुख ही मिल सकता है। हमारे देश की सस्कृति मे तो अनादि काल से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। इस देश मे तो मनुष्य के धन-वैभव को देख कर नही, उसके सेवा-भाव और त्याग को देख कर उसका आदर होता है। यह सच कि है दरिद्रता अच्छी चीज नही है और आधुनिक समाज को, एक निश्चित मात्रा मे कम से-कम भौतिक सुख-सुविधा तो सबको मिले, ऐसा प्रबन्ध करना होता है। परन्तु सादगी का अर्थ दरिद्रता नही है और न जरूरतें बढा देना प्रगति की निशानी। हमे भौतिक और नैतिक कल्याण और विकास के बीच एक सतुलन उपस्थित करना होगा। यह ध्यान प्रतिदिन रखना होगा कि आर्थिक सयोजन मे लक्ष्यो को पूरा करने के साथ-साथ नैतिक पुनरुत्थान के लिए भी अनुकूल परिस्थितियां निर्मित करने का काम भी करते रहना है, नही तो हम ऐसे मार्ग पर चल पड़ेगे, जो हमारी सस्कृति और राष्ट्र की आत्मा के प्रतिकूल होगा। जब तक देश के निवासी—स्त्रियां और पुरुष—नेक और ईमानदार नही होगे, हम राष्ट्र की नीव को मजबूत नही कर सकेंगे। राष्ट्र की असली सम्पत्ति बडी-बडी योजनाए, कारखाने या विशाल इमारते नही है। राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति और सुख का कारण तो वास्तव मे समझदार और नैति नागरिक है, जिन्हे अपने कर्तव्यो और अधिकारो का पूरा-पूरा भान होता है। भारतीय लोक-राज्य का चिह्न भी धर्मचक्र है, जिसका अर्थ है—सच्ची प्रगति धर्म के अर्थात् कर्तव्य और सन्मार्ग के अनुसरण मे ही है। यदि इस चिह्न को हमक भुला देंगे तो हमारा कभी कल्याण नहीं हो सकता।

अणुव्रत-आन्दोलन को मैं नैतिक सयोजन का ही एक विशिष्ट उपक्रम मानता हूँ। यह आन्दोलन व्यक्ति की सुप्त नैतिक भावना को उद्‌बुद्ध करता है तथा विवेकपूर्वक जीवन का समत्व प्रत्येक व्यक्ति को समझाता है।

मुझे यह प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी का धवल समारोह मनाने का आयोजन किया गया है। २५ वर्ष पहले आचार्यश्री आचार्य पद पर आरूढ़ हुए थे। यह स्वाभाविक ही है कि इस अवसर पर उनका गौरव और अभिनन्दन किया जाये।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

भारत के मुझ जैसे बहुत से व्यक्ति आज आचार्यश्री तुलसी को केवल एक पंथ के आचार्य नही मानते है। हम

तो उन्हे देश के महान् व्यक्तियो मे से एक प्रभावशाली व्यक्तित्व मानते हैं, जिन्होने भारत मे नीति और सद्व्यवहार का झडा ऊँचा उठाया है। अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा देश के हजारो और लाखो व्यक्तियो को अपना नैतिक स्तर ऊँचा करने का अवसर मिला है और भविष्य मे भी मिलता रहेगा। यह आन्दोलन बच्चे, बूढे, नौजवान, स्त्री, पुरुष, सरकारी कर्मचारी व्यापारी वर्ग आदि सबके लिए खुला है। इसके पीछे एक ही शक्ति है और वह है नैतिक शक्ति। यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का आन्दोलन सरकारी शक्ति से सचालित नही किया जा सकता। भारतवर्ष मे यह परम्परा ही रही है कि जनता की नैतिकता ऋषि, मुनि व आचार्यों द्वारा ही सचालित हुई है।

मैं आशा करता हूँ कि आचार्यश्री तुलसी बहुत वर्षों तक इस देश की जनता को नैतिकता की ओर ले जाने मे सफल रहेंगे और उनके जीवन से हजारो व लाखो व्यक्तियो को स्थायी लाभ मिलेगा।
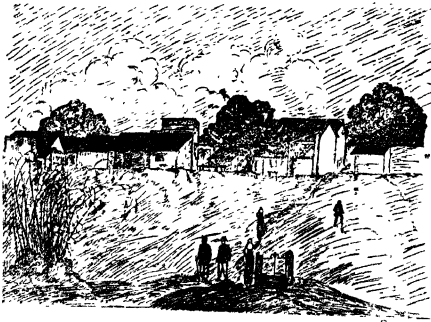
भारतीय संस्कृति के संरक्षक

डा० मोतीलाल दास, एम० ए०, बी० एल०, पी-एच० डी०
संस्थापकमंत्री, भारत संस्कृति परिषद्, कलकत्ता

भारतीय संस्कृति एक शाश्वत जीवन शक्ति है। अत्यन्त प्राचीन काल से आधुनिक युग तक महान आत्माओं के जीवन और उनकी शिक्षाओं से प्रेरणा की लहरें प्रवाहित हुई हैं। इन संतों ने अपनी गतिशील आध्यात्मिकता, गम्भीर अनुभवों और अपने सेवा और त्यागमय जीवन के द्वारा हमारी सभ्यता और संस्कृति के सारभूत तत्त्व को जीवित रखा है। आचार्यश्री तुलसी एक ऐसे ही संत हैं। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मैं ऐसे विशिष्ट महापुरुष के निकट सम्पर्क में आ सका। मैं अणुव्रत समिति कलकत्ता के पदाधिकारियों का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे इस महान् नेता से मिलने का अवसर दिया।

आचार्यश्री तुलसी अवस्था में मुझसे छोटे हैं। उनका जन्म अक्तूबर, १९१४ में हुआ और मैंने उन्नीसवीं शताब्दी की अस्तगत किरणों को देखा है। उन्होंने ग्यारह वर्ष की सुकुमार वय में जैनधर्म के तेरापथ सम्प्रदाय के कठिन साधुत्व की दीक्षा ली। अपने दुर्लभ गुणों और असाधारण प्रतिभा के बल पर बाईस वर्ष की अवस्था में ही वे तेरापथ सम्प्रदाय के नव आचार्य बन गए। तब से आचार्य पद पर उनको पच्चीस वर्ष हो गए हैं और वे अपने सम्प्रदाय को नैतिक श्रेष्ठता और आध्यात्मिक उत्थान के नये-नये मार्गों पर अग्रसर कर रहे हैं।

मंगलमयी आकृति

दुनिया आज घृणोन्माद की शिकार हो रही है। लोभ और लिप्सा, भ्रम और क्रोध का दुर्निवार बोल-बाला है। भ्रष्टाचार और पतन के युग में महान् आचार्य का शान्त चेहरा देख कर कितनी प्रसन्नता होती है। उनके शान्त चेहरे की ओर एक दृष्टि निक्षेप से ही दर्शक को शान्ति और आह्लाद प्राप्त होता है। संयम-पालन के कारण वह कठोर अथवा शुष्क नहीं हुआ है। उनकी आकृति मंगलमयी है जो प्रथम दर्शन पर ही अपना प्रभाव डालती है। उनका चौड़ा ललाट और ज्योतिर्मय नेत्र आप को आशा और शान्ति का आश्वासन देते हैं और उनका सन्तुलित व्यवहार आपको अपने आलोक से मुग्ध कर देता है।

उनमें और भगवान् बुद्ध में समानता प्रतीत होती है। गौतम बुद्ध महानतम हिन्दू थे, जिन्होंने असीम मानवता-प्रेम से प्रेरित होकर अपने अनुयायियों को **बहुजन हिताय** और **बहुजन सुखाय** धर्म का उपदेश देने के लिए भेजा। उन महान् धर्म-संस्थापक की तरह ही आचार्यश्री तुलसी ने पद-यात्राओं का आयोजन किया है। इस नवीन प्रयोग में कुछ असाधारण सुन्दरता है। तेरापथ के साधु अपनी पद-यात्राओं में जहाँ कहीं भी जाते हैं, नई भावना और नया वातावरण उत्पन्न कर देते हैं।

धर्म का ठोस आधार

अपनी पद-यात्रा के मध्य आचार्यश्री तुलसी बंगाल आए और कुछ दिन कलकत्ता में ठहरे। उस समय मैंने उनसे साक्षात्कार किया और बातचीत की। उन्होंने मुझसे अणुव्रतों की प्रतिज्ञा लेने को कहा। मुझे लज्जापूर्वक कहना पड़ता है कि मैंने अपने भीतर प्रतिज्ञाएं लेने जितनी शक्ति अनुभव नहीं की और झिझक पूर्वक वैसा करने में इन्कार कर दिया। किन्तु वे इससे तनिक भी नाराज नहीं हुए। तटस्थ भाव से, जो उनकी विशेषता है और क्षमाशील स्वभाव से,

जो अपूर्व है, उन्होने मुझसे तौलने, विचार करने और फिर निर्णय करने को कहा। आचार्यश्री तुलसी की शिक्षाए बुद्ध की शिक्षाओ की भाँति नैतिक आदर्शवाद पर आधारित है। उनके अनुसार नैतिक श्रेष्ठता ही धर्म का निश्चित और ठोस आधार है। जब कि भौतिकवाद का चारो ओर बोल-बाला है, उन्होने मानवता के, नैतिक उत्थान के लिए अणुव्रत-आन्दोलन चलाया है।

दूसरे अनेक व्यक्तियो के साथ जो ज्ञान और अनुभव मे विद्वत्ता और आध्यात्मिक भावना मे मुझसे आगे है, मै पतनोन्मुख भारत के नैतिक उत्थान के लिए आचार्यश्री तुलसी ने जो काम हाथ मे लिया है और जो आशातीत सफलताए प्राप्त की है, उनके प्रति इस धवल समारोह के अवसर पर अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि भेट करता हूँ।

अणुव्रत-आन्दोलन एक महान् प्रयास है और उसकी कल्पना भी उतनी ही महान् है। एक श्रेष्ठ सत्य-धर्मी सन्यासी के द्वारा उसका सचालन हो रहा है। अपने सम्प्रदाय को सगठित करने के बाद उन्होने १ मार्च, १९४९ को देश व्यापी नैतिक पतन के विरुद्ध अपना आन्दोलन आरम्भ किया।

युग पुरुष व वीर नेता

हम सदियो की दासता के बाद सन् १९४७ मे स्वतन्त्र हुए, किन्तु हमने अपनी स्वतन्त्रता अनुशासन के कठिन मार्ग से प्राप्ति नही की। इसलिए अधिकार और धन-लिप्सा ने समाज-सगठन को विकृत कर दिया। जीवन के हर क्षेत्र मे अकुशलता का बोल-बाला है। नीतिहीनता ने हमारी शक्ति को क्षीण कर दिया है और इसलिए जब तक हम नैतिक स्वास्थ्य पुन प्राप्त नही कर लेते, हम राष्ट्रो के समाज मे अपना उचित स्थान प्राप्त करने की आशा नही कर सकते। मानव पतन के सर्वव्यापी अन्धकार के मध्य नैतिक उत्थान की उनकी मुखर पुकार आश्चर्यकारक ताजगी लिए हुए आई है और नगे पाँव व श्वेत वस्त्रधारी यह साधु अचानक ही युगपुरुष व वीर नेता बन गया है। ऐसे ही पुरुष की आज राष्ट्र को तात्कालिक आवश्यकता है।

शुक्ल यजुर्वेद मे एक स्फूर्तिदायक मन्त्र है, जिसमे ऋषि अपनी सच्ची आस्था प्रकट करते है। 'हे उज्ज्वल ज्ञान के आलोक, शक्ति की अग्नि-शिखा, मुझे अनीति की राह पर जाने से रोक। मुझे सत्पथ पर अग्रसर कर। मै नये पवित्र जीवन को अगीकार करूँगा, अमर आत्माओ के पद-चिह्नो पर चलता हुआ सत्य और साहस का जीवन व्यतीत करूगा।'

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति कर्म के माध्यम से होती है, ऐसा कर्म जो कष्टसाध्य और स्थायी हो और जो आत्मा की मुक्ति और विजय की घोषणा करने वाला हो। मनुष्य को नि स्वार्थ भाव से फल की आकाक्षा का त्याग करके कर्म करना चाहिए। यही सच्ची तपस्या है, यही सच्ची चारित्रिक पूर्णता है। चरित्र और नैतिक श्रेष्ठता के बिना मनुष्य पशु बन जाता है और सत्य, शिव और सुन्दर का अनुसरण करके वह प्रेम के मार्ग पर ऊँचा और अधिक ऊँचा उठता जाता है और अन्त मे अमर आत्माओ के राज-सिहासन के पद पर आसीन होता है।

नैतिक मूल्यों की स्थापना

अत आचार्यश्री तुलसी ने भारत माता की सच्ची मुक्ति के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात करके बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता से काम चलने वाला नही है। यहाँ तक कि शिक्षा-सुधारो, आर्थिक सफलताओ और सामाजिक उत्थान से भी अधिक सहयोग नही मिलेगा। सर्वोपरि आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियो और सारे समाज के जीवन मे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो की स्थापना हो। नैतिक पुनरुत्थान का सर्वोत्तम मार्ग यह नही है कि लोगो के सामाजिक जीवन मे आमूल परिवर्तन होने की प्रतीक्षा की जाये, बल्कि व्यक्ति के सुधार पर ध्यान केन्द्रित किया जाये। व्यक्तियो से ही समाज बनता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति सज्जन बन जाये तो सामाजिक उत्थान के पृथक् प्रयास के बिना ही समाज धर्म-परायण बन जायेगा।

जब कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा लेता है तो वह अपने को नैतिक रूप मे ऊँचा उठाने का प्रयास करता है। वह अपने द्वारा अंगीकृत कर्तव्य के प्रति धार्मिक भावना से प्रेरित होता है और इसलिए वह उस साधारण व्यक्ति की अपेक्षा जिसे

कानून अथवा सामाजिक अप्रतिष्ठा के भय के अलावा और किसी बात से प्रेरणा नही मिलती, आज की दुनिया मे अधिक सफल होता है।

प्रत्येक व्यक्ति मे श्रेष्ठता और महानता का स्वाभाविक गुण होता है चाहे वह समाज के किसी भी वर्ग से सम्बन्धित क्यो न हो। यदि हम प्रत्येक व्यक्ति मे आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न कर सके और उसे अपने इन स्वाभाविक गुणो का ज्ञान करा सके, तो चमत्कारी परिणाम आ सकते है। यदि आत्म-ज्ञान व आत्म-निष्ठा हो तो व्यक्ति के लिए सत्पथ पर चलना अधिक सरल होता है। ऐसी स्थिति मे तब वह सदाचार का मार्ग निषेधक न रह कर विधायक वास्तविकता का रूप ले लेता है।

प्रतिज्ञा-ग्रहण का परिणाम

अणुव्रत आन्दोलन अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सुविदित सिद्धान्तो पर आधारित है, किन्तु वह उनमे नई सुगन्ध भरता है। कुछ लोग प्रतिज्ञाओ और उपदेशो को केवल दिखावा और बेकार की चीजे समझते है, किन्तु असल मे उनमे प्रेरक शक्ति भरी हुई है। उनसे नि स्वार्थ सेवा की ज्योति प्रकट होती है जो मानव-मन मे रहे पशु-बल को जला देती है और उसकी राख मे नया मानव जन्म लेता है, अमर और दैवी प्राणी।

कुछ लोग यह तर्क कर सकते है कि ये तो युगो पुराने मौलिक सिद्धान्त है और यदि आचार्यश्री तुलसी उनके कल्याणकारी परिणामो का प्रचार करते है तो इसमे कोई नवीनता नही है। यह तर्क ठीक नही है। यह साहसपूर्वक कहना होगा कि आचार्यश्री तुलसी ने अपने शक्तिशाली दृढ व्यक्तित्व द्वारा उनमे नया तेज उत्पन्न किया है।

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन को अपने करीब ७०० नि स्वार्थ साधु-साध्वियो के दल की सहायता से चला रहे है। उन्होने आचार्यश्री के कडे अनुशासन मे रह कर और कठोर सयम का जीवन बिता कर आत्म-जय प्राप्त की है। उन्होने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी अच्छा अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त ये साधु-साध्वी दृढ सकल्पवान् है और उन्होने अपने भीतर सहिष्णुता और सहनशीलता की अत्यधिक भावना का विकास किया है, जिसका हमे भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्यो मे दर्शन होता है।

आध्यात्मिक अभियान

यह आध्यात्मिक कार्यकर्ताओ का दल जब गांवो और नगरो मे निकलता है तो आश्चर्यजनक उत्साह उत्पन्न हो जाता है और नैतिक गुणो की सच्चाई पर श्रद्धा हो आती है। जब हम नगे पाँव साधुओ के दल को अपना स्वल्प सामान अपने कधो पर लिए देश के भीतर गुजरते हुए देखते है तो यह केवल रोमाचक अनुभव ही नही होता, बल्कि वस्तुत एक परिणामदायी आध्यात्मिक अभियान प्रतीत होता है।

साधु-साध्वियां श्वेत वस्त्र धारण करते है। वे किसी वाहन का उपयोग नही करते। उनका वाहन तो उनके अपने दो पाँव होते हैं। वे साधारणत किसी की सहायता नही लेते, उनका कोई निश्चित निवास-गृह नही होता और न उनके पास एक पैसा ही होता है। जैसा कि प्राचीन भारत के साधु सन्तो की परम्परा है, वे भिक्षा भी माँग कर लेते है। भ्रमर की तरह वे इतना ही ग्रहण करते है, जिससे दाता पर भार न पड़े।

आचार्यश्री तुलसी का ध्येय केवल लोगो को अपने जीवन का सच्चा लक्ष्य प्राप्त करने मे सहयोग देने का एक नि स्वार्थ प्रयास है। पूर्णता प्राप्त करने का लक्ष्य इसी धरती पर सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु उसके लिए हमको छोटी-छोटी बातो मे प्रारम्भ करना चाहिए। एक-एक बूंद करके ही तो अगाध असीम समुद्र बनता है। पहले एक प्रतिज्ञा, फिर दूसरी प्रतिज्ञा, इसी प्रकार नैतिक पुनरुत्थान की क्रिया आरम्भ होती है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक जीवन-विधि

आचार्यश्री की जीवन-विधि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दोनो ही प्रकार की है। नैतिक उत्थान का सन्देश सभी

को भाता है। वह जाति और धर्म, लिंग और राष्ट्रीयता, शिक्षा और वातावरण के भेद से परे है। उसका सम्बन्ध शाश्वत गुणों से है जिनकी सभी युगों के धार्मिक पुरुषों ने महिमा बखानी है। आचार्यश्री ने चरित्र निर्माण कार्य को नई दृष्टि प्रदान की है और नैतिक श्रेष्ठता में अटूट श्रद्धा ने चरित्र निर्माण की कला को एक रचनात्मक कार्य बना दिया है।

आध्यात्मिक दुष्काल और आत्म-शिथिलता के इस युग में अणुव्रत-आन्दोलन ने जीवन की पवित्र कला को पुनर्जीवित किया है। पशु की भाँति जीवन बिताना, आहार, निद्रा और मैथुन में ही सन्तोष मानना कोई जीवन नहीं है। वही मनुष्य जीवित है जो धर्म के मार्ग का अनुसरण करता है। यह धर्म ही है जो मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को दैवी गुणों में बदल सकता है। अत हम सबको इस आन्दोलन का हार्दिक समर्थन करना चाहिए। उससे धार्मिक सौमनस्य उत्पन्न होगा, फूट दूर होगी और सद्भावना और प्रेम का प्रसार होगा।

समन्वयमूलक आदर्शवाद

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन से भी महान् है। निस्सन्देह यह उनकी महान् देन है, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। उनकी प्रवृत्तियाँ विविध है और उनकी दृष्टि सर्वव्यापी है। उनका समन्वयमूलक आदर्शवाद उनकी सभी प्रवृत्तियों में नये प्राण फूँक देता है, ऐसी प्रफुल्लता ला देता है जो बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होती। अगर दुर्गुणों का लोप हो जाता है तो सस्कृति का आगमन अवश्यम्भावी है। जब दुर्गुण, बुराई और पतन नाम शेष हो जाये तो सस्कृति का अपने आप विकास होता है।

वे प्राचीन भारत के अधिकाश धर्माचार्यों से सहमत है कि इच्छा ही सारे दु खो की जड है। वे उनकी इस राय से भी सहमत है कि जब इच्छा का प्रभाव नष्ट हो जाता है, तभी हम सर्वोच्च शान्ति और आनन्द की प्राप्ति कर सकते है।

कलकत्ता के संस्कृत कालेज में एक साध्वी ने सस्कृत में भाषण दिया था और हमें पता चला कि आचार्यश्री साधु-साध्वियों को शिक्षा देने में अपना काफी समय खर्च करते है। वे सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, ओजस्वी वक्ता और गम्भीर चिन्तक है। वे अपने विचारों में अग्रगामी हैं। वे अथक उत्साह और असीम श्रद्धा के साथ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अपना नैतिक पुनरुत्थान का सन्देश दे रहे है।

बहुत काम हुआ है और अभी बहुत कुछ होना शेष है। इस कठिन कार्य में हम प्रत्येक भारत प्रेमी से हृदय से सहभागी बनने की प्रार्थना करते है। उत्थान के ऐसे निरन्तर प्रयास से ही कवियों और दार्शनिकों की महान् भारत की वह कल्पना साकार हो सकेगी। भारतीय सस्कृति के इस सरक्षक का सभी अभिनन्दन करते है। राजस्थान का यह सपूत दीर्घजीवी हो और अपने पावन ध्येय को सिद्ध करे।

तेजोमय पारदर्शी व्यक्तित्व

श्री केदारनाथ चटर्जी
सम्पादक—माडर्न रिव्यू, कलकत्ता

प्रथम सम्पर्क का सुयोग

बीस वर्ष पूर्व सन् १९४१ के पतझड़ की बात है। एक मित्र ने मुझे सुझाया कि मैं अपनी पूजा की छुट्टियां बीकानेर राज्य में उनके घर पर बिताऊं। इससे कुछ पहले मैं अस्वस्थ था और मुझे कहा गया कि बीकानेर की उत्तम जल-वायु से मेरा स्वास्थ्य सुधर जायेगा। कुछ मित्रों ने यह भी सुझाया कि ब्रिटिश भारत की सेनाओं के लिए देश के उस भाग में रंगरूटों की भरती का जो आन्दोलन चल रहा है, उसके बारे में मैं कुछ तथ्य संग्रह कर सकूंगा। किन्तु यह तो दूसरी कहानी है। मैंने अपने मित्र का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और कुछ समय पटना में ठहरने और राजगृह, नालन्दा तथा पावापुरी की यात्रा करने के बाद मैं बीकानेर राज्य के भादरा नामक कस्बे में पहुंच गया।

बीकानेर की यात्रा एक से अधिक अर्थ में लाभदायक सिद्ध हुई। निस्सन्देह सबसे सुखद अनुभव यह हुआ कि जैन श्वेताम्बर तेरापंथ-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यश्री तुलसी से संयोगवश भेंट करने का अवसर मिल गया। कुछ मित्र भादरा आए और उन्होंने कहा कि बीकानेर के मध्यवर्ती कस्बे राजलदेसर में कुछ ही दिनों में दीक्षा-समारोह होने वाला है। उसमें सम्मिलित होने के लिए आप आने का कष्ट करें। कुछ नये दीक्षार्थी तेरापंथ साधु-समाज में प्रविष्ट होने वाले थे और आचार्यश्री तुलसी उनको दीक्षा देने वाले थे।

मेरे आतिथेय ने मुझसे यह निमन्त्रण स्वीकार करने का अनुरोध किया, कारण ऐसा अवसर क्वचित् ही मिलता है और मुझे जैन धर्म के संयम-प्रधान पहलू का गहराई से अध्ययन करने का मौका मिल जाएगा। इसी सम्भावना का ध्यान में रख कर मैं अपने आतिथेय के भतीजे और एक अन्य मित्र के साथ राजलदेसर के लिए रवाना हुआ।

यह किसी दर्शनीय स्थान का यात्रा-वर्णन नहीं है और न ही यह साधारण पाठक के मन-बहलाव के लिए लिखा जा रहा है, इसलिए दीक्षा-समारोह के अवसर पर मैंने जो कुछ देखा-सुना, उसका अलंकारिक वर्णन नहीं करूंगा और न ही उस समारोह का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करूंगा। मैंने दीक्षा की प्रतिज्ञा लेने के एक दिन पहले दीक्षार्थियों को भड़कीली वेश-भूषा में देखा। उनके चेहरों पर प्रसन्नता खेल रही थी। उनमें से अधिकांश युवा थे और उनमें स्त्री और पुरुष दोनों ही थे। मुझे यह विशेष रूप से जानने को मिला कि उन्होंने अपनी वास्तविक इच्छा से साधु और साध्वी बनने का निश्चय किया है। वे ऐसे साधु-समाज में प्रविष्ट होंगे, जिसमें सांसारिक पदार्थों का पूर्णतया त्याग और आत्म-संयम करना पड़ता है। मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि न केवल दीक्षार्थी के संकल्प की दीर्घ समय तक परीक्षा ली जाती है, बल्कि उसके माता-पिता व संरक्षकों की लिखित अनुमति भी आवश्यक समझी जाती है। इसके बाद मैंने व्यक्तिगत रूप से इस बात की जांच की है और इसकी पुष्टि हुई है। जहां तक इस साधु-समाज का सम्बन्ध है, मुझे उनकी सत्यता पर पूरा विश्वास हो गया है।

मेरे सामने सीधा और ज्वलन्त प्रश्न यह था कि वह कौन-सी शक्ति है, जो इस कठोर और गम्भीर दीक्षा-समारोह में पूज्य आचार्यश्री के कल्याणकारी नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होने वाले दीक्षार्थियों को इस संसार और उसके विविध आकर्षणों, सुखों और इच्छाओं का त्याग करने के लिए प्रेरित करती है?

अपनी पृष्ठभूमि

इस विषय मे अधिक लिखने से पूर्व मै इस ससार और मनुष्य-जीवन के बारे मे अपना दृष्टि-बिन्दु भी उपस्थित करना चाहूँगा। मेरे पूर्वजो की पृष्ठभूमि उन विद्वान् ब्राह्मणो की है जो अपनी आखे खुली रख कर जीवन बिताते थे और उनके मन मे निरन्तर यह जिज्ञासा रहती थी—**तत् किम्** ? मेरी तात्कालिक पृष्ठभूमि ब्रह्म समाज की थी। यह हिन्दुओ का एक सम्प्रदाय है जो उपनिषदो की ज्ञानमार्गी व्याख्या पर आधारित है। मुझे विज्ञान की शिक्षा मिली है और मैंने लन्दन मे डिग्री और डिप्लोमा प्राप्त किया है। बाद मे मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे पत्रकारिता की शिक्षा दी, जो अपने समय मे इस देश के एक महान् और उदार सम्पादक थे। मैने विस्तृत भ्रमण किया और तीन महाद्वीपो का जीवन भी देखा है। मेरे पिताजी को सार्वजनिक जीवन मे जो स्थान प्राप्त था, उसके कारण मै देश के प्राय सभी महापुरुषो और कुछ विशिष्ट विदेशी व्यक्तियो से भी मिल चुका हूँ।

इस प्रकार मुझे यह गौरव है कि मेरी पृष्ठभूमि एक सधे हुए निरीक्षक की थी, जो जीवन को एक यथार्थवादी दृष्टि से देख सकता है। पूज्य आचार्यश्री तुलसी से भेट के समय मेरी अवस्था ५० वर्ष की थी और जीवन के सम्बन्ध मे मुझे कोई विशेष भ्रम नही थे। मैने सन् १९१४-१८ की अवधि मे प्रथम महायुद्ध को निकट से देखा था और इसलिए मानव-स्वभाव और मानव-दुर्बलताओ एव विकारो के सम्बन्ध में काफी शकाशील बन गया था। मै यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि दीक्षार्थियो के सम्बन्ध मे मेरी जिज्ञासा का हल धार्मिक उत्साह मे उत्पन्न नही हुआ था, बल्कि बात इसके बिल्कुल विपरीत थी।

वह ऐसी कौन-सी शक्ति थी, जिसने इन दीक्षार्थियो को कठोर सयम और सम्पूर्ण त्याग का जीवन अपनाने को प्रेरित किया ? मैंने एक दिन पूर्व उनमे से कुछ को भडकीली वेश-भूषा मे जीवन का उपभोग करते हुए देखा था। दीक्षा-समारोह मे मैं इतना निकट बैठा हुआ था कि दीक्षार्थियो को साफ-साफ देख सकता था। उनमे दो या तीन लडके और एक लडकी थी और वे यौवन की देहली म पाँव रखने जा रहे थे। एक दिन पहले मैने जो कुछ देखा, उसके बाद यह तो प्रश्न ही नही उठता कि उन्होने अभाव से प्रेरित होकर यह निर्णय किया होगा। अवश्य ही धार्मिक वातावरण के प्रभाव से इन्कार नही किया जा सकता, किन्तु प्रत्येक उदाहरण मे क्या यही एकमात्र प्रेरक कारण हो सकता है ? यदि इस धर्म को मानने वाले मेरी जान-पहिचान के कुछ लोगो की व्यावसायिक नैतिकता और सामान्य जीवन-पद्धति पर विचार किया जाये तो यही कहना होगा कि यही एक मात्र कारण नही है। मुझे यह खेदपूर्वक लिखना पड रहा है, किन्तु उस समय मेरा यही तर्क था और स्वय पूज्य आचार्यश्री ने अपने अनुयायियो के बारे मे, अणुव्रत-आन्दोलन के सिलसिले म, अपनी पद-यात्रा के दौरान मे कलकत्ता मे जो कुछ कहा था, उसके आधार पर यह लिखने का साहस कर रहा हू।

अपने प्रश्न का जो उत्तर मिला, उसे मैं सीधे और स्पष्ट रूप मे यहाँ लिख दूं। इस पार्थिव ससार मे, साधारण मनुष्यो के लिए मानव प्राणियो पर दैवी प्रभाव किस प्रकार काम करता है, यह मालूम करना आसान नही होता। जहाँ तक सामान्य जन का सम्बन्ध है, तीव्रता और प्रकाश का प्रसार आत्मा के आन्तरिक विकास पर निर्भर करता है जो मशाल-वाहक का काम करता है। मशाल की ज्योति मशालवाहक की आन्तरिक शक्ति के परिमाण पर मन्द या तीव्र होती है। जरूरतमन्दो और पीडितो मे श्री रामकृष्ण के उपदेशो का प्रचार करने के लिए अमीसी के सन्त फासिस जैसी समर्पित आत्मा की आवश्यकता थी। इसी प्रकार आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापथ की स्थापना की। इसलिए मुझे अपने प्रश्न का उत्तर आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व मे खोजना पडा।

दीक्षा-समारोह के पहले मै उनसे मिल चुका था। उन्होने सुना था कि बगाल के एक पत्रकार आये हैं। उन्होने दीक्षार्थियो के चुनाव की विधि और दीक्षा के पहले की सारी क्रियाए मुझे समझाने की इच्छा प्रकट की। इसका यह कारण था कि उनके साधु समाज के उद्देश्यो और प्रवृत्तियो के बारे मे कुछ अपवाद फैलाया गया था। उन्हे यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि मै हिन्दी अच्छी तरह बोल और समझ सकता हूँ और उन्होने सारी विधि मुझे विस्तार से समझा दी। भक्त लोग दर्शन करने और पूज्य आचार्यश्री के आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए आते रहे और

इसमे बीच-बीच मे बाधा पडती रही। वे भक्तो को आशीर्वाद देते जाते और शान्तिपूर्वक दीक्षा की विधि विस्तार से समझाते रहे।

अन्त मे उन्होंने हँसते हुए मुझे कोई प्रश्न पूछने के लिए सकेत किया। मेरे मस्तिष्क मे अनेक प्रश्न थे, किन्तु उनमे से दो मुख्य और नाजुक थे, कारण उनका सम्बन्ध उनके धर्म मे था। काफी सकोच के बाद मैंने कहा कि यदि मेरे प्रश्न आपत्तिजनक प्रतीत हो तो वे मुझे क्षमा कर दे। मैंने कहा कि मै दो प्रश्न पूछना चाहता हूँ और मुझे भय है कि उन पर आपको बुरा लग सकता है। इस पर उन्होंने कहा कि यदि प्रश्न ईमानदारी से पूछोगे तो बुरा लगने की कोई बात नही है। तब मैंने प्रश्न पूछे।

दो प्रश्न

पहला प्रश्न जीवन के प्रकार और मेरी विनीत मान्यता के अनुसार पाप और मोक्ष के बारे मे था। जिस धर्म मे मेरा पालन-पोषण हुआ था, उसमे गृहस्थ आश्रम को मूलत पापमय नही समझा जाता, जबकि जैन धर्म के सिद्धान्तो के अनुसार ससार के सम्पूर्ण त्याग द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अत यदि मै अपने धर्म पर श्रद्धा रख कर चलूँ तो क्या मेरे जैसे प्राणी को मोक्ष मिल ही नही सकता ?

दूसरा प्रश्न था कि दुनिया किस तरह चल रहा है ? उस समय द्वितीय महायुद्ध अपने पूरे वेग, रक्तपात और विनाश के साथ चल रहा था। मैंने पूछा कि जब दुनिया मे सत्ता और अधिकार की लिप्सा का बोलबाला है, शक्तिशाली वही है जो सूक्ष्म नैतिक विचारो की कोई परवाह नही करता और उनको कमजोरो और अज्ञानियो का भ्रम-मात्र समझते है, क्या अहिसा की विजय हो सकती है ? उनके निकट नैतिकता और धर्म-सापेक्ष शब्द है। विज्ञान मे दक्ष और युद्ध करने मे समर्थ लोगो के लिए जो उचित है, वह कमजोरो और अकुशल लोगो के लिए उचित नही है। अपने कथन के प्रमाण स्वरूप वे इतिहास की साक्षी प्रस्तुत करते है।

मेरे साथ एक परिचित सज्जन थे, जो तेरापथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने कहा कि मेरा दूसरा प्रश्न आचार्यश्री की समझ मे नही आया। इससे मेरे मनमे शका पैदा हुई और मैने अपने मित्र की ओर एव फिर आचार्यश्री की ओर देखा। आचार्यश्री, जब मे प्रश्न पूछ रहा था, तो चुप थे और मेरे प्रश्नो का विचार करते प्रतीत हुए। किन्तु मैंने देखा कि उनके शान्त नेत्रो मे प्रकाश की किरण चमक उठी और उन्होंने कहा कि इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए शान्त वातावरण की आवश्यकता होगी, इसलिए अच्छा होगा कि आप सायकाल सूर्यास्त के बाद जब आयेंगे, मै प्रतिक्रमण व प्रवचन समाप्त कर चुकूंगा और तब एकान्त मे वार्तालाप अच्छी तरह हो सकेगा।

मुझे पता था कि मुझे विशेष अवसर दिया जा रहा है, क्योकि सूर्यास्त के बाद आचार्यश्री से उनके निकट शिष्यों के अतिरिक्त बहुत कम लोग मिल पाते है। मैंने यह सुझाव सहर्ष स्वीकार कर लिया।

धर्म-गुरुओं से विशेष चर्चा

मेरे प्रश्न घिसेघिसाए और सामान्य थे, कारण द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों मे दुनिया बहुत अधिक बदल गई है। किन्तु जिस समय मैंने ये प्रश्न पूछे थे, उस समय उनका विभिन्न जातियों, धार्मिक सम्प्रदायो और जीवन-दर्शनो के बीच विद्यमान मतभेदो की दृष्टि से कुछ और ही महत्त्व था। उस समय मनुष्य और मनुष्य के मध्य सहिष्णुता के अभाव के कारण से मतभेद इतने तीव्र और अनुल्लघनीय थे कि विचारो का स्वतन्त्र आदान-प्रदान न केवल असम्भव, बल्कि व्यर्थ हो गया था। इस प्रकार के आदान-प्रदान के फलस्वरूप प्रतिदिन सुस्थिर रहने वाले तनाव मे वृद्धि ही हो सकती थी।

मै पहला प्रश्न थोडे हेर-फेर के साथ भिन्न-भिन्न धर्मों के अनेक विद्वान् धर्म-गुरुओ से पूछ चुका हूँ। उनमे एक रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के मुक्ति-पथी पादरी, एक मुस्लिम मौलाना और एक हिन्दू सन्यासी शामिल थे। मुझे जो उनसे उत्तर मिले, वे या तो अत्यन्त दयनीय या निश्चित रूप से उद्दण्डतापूर्ण थे। उनको समाधानकारक तो कभी नही कहा जा सकता।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध मे, द्वितीय महायुद्ध जो मौत और विनाश के पथ पर तेजी से आगे बढ़ रहा था, अहिसा की विजय की समस्त आशाओ को निर्मूल करता हुआ प्रतीत होता था। जैसा कि विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक निराशाजनक कविता मे इसी आशय की पुष्टि करते हुए कहा भी था—'करुणाधन, धरणी तले करो कलक शून्य।' अवश्य ही शान्ति के दूसरे उपासक महात्मा गाधी स्वय अपने अनुयायियो के विरोध और शकाशील उद्गारो के बावजूद भी अपनी अहिसा की मान्यता पर अविचल भाव से डटे हुए थे। यह स्थिति तो केवल भारत मे थी। शेष दुनिया मे जगल के कानून का बोलबाला था और केवल अहिसा का नाम लेने मात्र पर हल्की और तिरस्कारपूर्ण हँसी सुनने को मिलती थी।

इस पृष्ठभूमि मे मैने अपने दो प्रश्न पूछे थे और मै जिज्ञासा और प्रत्याशामिश्रित भाव से उनके उत्तरो की प्रतीक्षा कर रहा था, क्योंकि उत्तर ऐसे व्यक्ति के द्वारा मिलने वाले थे जो भारतीय ज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् समझे जाते है, भले ही उन्हे पश्चिम की रीति-नीति की प्रकट जानकारी न हो। मैं अपने परिचित साथी के कथन से, जो उनके अनुयायी थे, कुछ ऐसा ही समझा था।

मैं निराश नही हुआ। उन एकान्त शान्त नेत्रों की चमक से जो आशाए मेरे हृदय मे उत्पन्न हुई थी, उनको निराशा मे परिणत नही होना पडा। मेरे परिचित मित्र ने अपने अग्रेजी भाषा के ज्ञान के दर्प मे इस प्राचीन और युगमान्य उक्ति को या तो सुना नही या उस पर ध्यान नही दिया कि **प्रज्ञा भिनत्ति मे तमः** अर्थात् सच्चा ज्ञान अज्ञान के समस्त अन्धकार का नाश कर देता है।

जब मैं आचार्यश्री से सध्या के शान्त समय मे पुनः मिला तो मुझसे कहा गया कि मै अपने प्रश्नो को विशेषकर दूसरे प्रश्न को विस्तार से पुन पूछूं। मैने अपने दूसरे प्रश्न का विस्तार करते हुए कहा कि पश्चिम मे लोग पौरुष और शौर्य को हमारे प्राचीन क्षत्रियो की भाँति मानवी गुण मानते है और जीवन मे साहस को सर्वोपरि स्थान देते हैं। उत्तर स्पष्ट और निश्चित थे और अच्छा होता कि मैने उनको पूरा लिख लिया होता। किन्तु अब अपनी स्मृति के आधार पर सक्षेप मे ही उनका विश्लेषण कर पाऊँगा।

प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा कि किसी धर्म, मान्यता या सम्प्रदाय और उसके सतो या धर्माचार्यों के बारे मे निन्दात्मक या हीन भाषा का प्रयोग करना स्वय उनके धर्म के विरुद्ध है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर काफी विस्तृत और लम्बा था। उनका कहना था कि हिसा और सदेह-लिप्सा दो मूलभूत बुराइयाँ है, जिनसे मानव-जाति पीडित है और ये युद्ध के अत्यन्त उग्र और व्यापक प्रतीक है। इन दोनो नग्न बुराइया पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग अहिसा ही है और दुनिया को यह सत्य एक दिन स्वीकार करना ही होगा। मनुष्य सबमे बडी बुराइयो पर विजय प्राप्त किये बिना कैसे महत्तर सिद्धि प्राप्त कर सकता है?

अन्त मे आचार्यश्री मेरी ओर मुस्कराये और पूछा कि क्या मेरा समाधान हो गया। मैने उत्तर दिया कि मुझे उत्तर अत्यन्त सहायक प्रतीत हुए हैं और मैने प्रणाम कर उनसे बिदा ली।

उसके बाद

इस घटना के वर्षों बाद, मैंने कलकत्ता मे एक विशाल जनसमूह से भरे हुए पण्डाल मे आचार्यश्री को अणुव्रत-आन्दोलन पर प्रवचन करते हुए सुना। उसके बाद उन्होने थोडे समय के लिए मुझसे व्यक्तिगत वार्तालाप के लिए कहा। उन्होने देश के भीतर नैतिक मूल्यो के ह्रास पर अपनी चिन्ता व्यक्त की। उन्होने कहा कि उन्हे भ्रष्टाचार और नैतिक पतन की शक्तियो के विरुद्ध आन्दोलन करने की अन्तरतम मे प्रेरणा हो रही है, विशेषकर जबकि स्वय उनके अपने सम्प्रदाय के लोग भी तेजी से पतन की ओर जा रहे है।

मैंने पूछा कि अपनी सफलता के बारे मे उनका क्या ख्याल है, उनके मुख पर वही मुस्कराहट खेल गई, हालाँकि उनके नेत्रो मे उदासी की रेखा खिची हुई दिखाई दी। उन्होने कहा, जब वह नई दिल्ली मे पडित जवाहरलाल नेहरू से मिले थे तो उन्होंने पडितजी से पूछा था कि अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता के बारे मे उनका क्या ख्याल है। पडितजी ने कहा था कि वह दिन-प्रतिदिन दुनिया के सामने अहिंसा का प्रचार करते रहते है, किन्तु उनकी बात कौन सुनता है? पंडितजी

ने कहा कि हमको अपने ध्येय पर अटल रहना है और उसका प्रचार करते जाना है। आचार्यश्री ने कहा कि शान्ति और पवित्रता के ध्येय पर उनकी भी ऐसी ही श्रद्धा और निष्ठा है।

तेजोमय महापुरुषों की अगली पंक्ति में

मुझे सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य वश अपने जीवन के ७० वर्षों मे ऐसे बहुसख्यक लागो से मिलने का काम पड़ा जो प्रसिद्ध और महान् व्यक्ति की ख्याति अर्जित कर चुके थे। खेद है कि उनमे से बहुत कम लोगो के मुख पर मैंने सत्य और पवित्रता की वह उज्ज्वल ज्योति अपने पूरे तेज के साथ चमकते हुए देखी, जैसी कि एक शुद्ध आबदार हीरे मे चमकती दिखाई देती है। मैं पारदर्शी और तेजोमय महापुरुषो की अगली पंक्ति मे आचार्यश्री तुलसी का स्थान देखता हूँ।

सम्भवामि युगे युगे

श्री को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर
भूतपूर्व उपकुलपति—लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रगति की गति

आज ससार एक भयकर स्थिति मे है। एक ओर तो पाश्चात्य विद्वान् और वैज्ञानिक अपने बुद्धि-बल और परिश्रम से विज्ञान की अद्भुत वृद्धि करा रहे है और दूसरी ओर वही के राजनैतिक नेता वैज्ञानिको द्वारा आविष्कृत तत्त्वो के आधार पर नये-नये विध्वसक अस्त्र-शस्त्र बनवा रहे है और सारे ससार को विनाशोन्मुख बना रहे है। जहाँ मनुष्य-निर्मित ग्रह सूर्य का परिभ्रमण कर रहा है, वहाँ यह समाचार भी सुनने मे आता है कि एक क्षण मे एक विस्तृत भूमि-भाग को निर्जीव बनाने की शक्ति रखने वाले 'कोबाल्ट बम' का निर्माण अत्यन्त निकट है। प्रेम को ऐहिक और पारलौकिक सुख का मुख्य उपाय घोषित करने वाले ईसाई धर्म मे उसी के अनुयायियो की श्रद्धा प्रतिदिन शिथिल होती जा रही है। विमानो के नये-नये प्रकार आविष्कृत हो रहे है, जिससे पृथ्वी मे दूरता का लोप-सा हो रहा है। विप्रकृष्ट मनुष्य-जातियाँ सन्निकृष्ट हो रही है। इसके फलस्वरूप अब सभी मनुष्य-जातियाँ अन्य मनुष्य जातियो को साक्षात् देख सकती है और उनसे सम्पर्क और व्यवहार कर सकती है। परन्तु इस परस्पर-परिचय से पारस्परिक आदर ही बढ रहा हो, यह बात नही है, कभी-कभी पारस्परिक द्वेष भी बढता है। जब तक विजातीय और विधर्मी लोग दृष्टिगोचर नही होते है, विप्रकृष्ट ही रहते हैं, तब तक उनके प्रति उपेक्षा की ही बुद्धि अधिकाश बनी रहती है। अब तो सब लोग सब जगह जल्दी पहुँच जाते हैं। अब भारतीय अधिक सख्या मे विदेशो मे सचार करते है और निवास भी करते है। इसी प्रकार विदेशी अब अधिक सख्या मे भारत आने लगे है। इसलिए परस्पर भेद अधिक स्पष्ट होने लगा है।

सभ्यता, संस्कृति और युग

इस नये ससार मे भारत, अपने स्वभाव और अपनी सस्कृति के अनुसार, एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करने के लिए यत्न कर रहा है। अब भारत ने राजनैतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लिया है। परन्तु स्वातन्त्र्य एक उपाय-मात्र है। उसके द्वारा एक बडे लक्ष्य को सिद्ध करना है तथा इस प्राचीन देश को नवीन बनाना है। यह एक बहुत बडा काम है और उसमे हर व्यक्ति का सहयोग अपेक्षित है। इस देश की पुरानी सभ्यता और सस्कृति को इस नये युग के अनुरूप बनाना है। जीवन के हरएक विभाग मे आमूल परिवर्तन लाना है। यह काम प्रारम्भ हो गया है। केन्द्रीय सरकार की जो पच-वर्षीय योजनाए चल रही हैं, उनका मुख्य उद्देश्य यही है। उनमे यद्यपि आर्थिक सुधार पर अधिक जोर दिया जा रहा है, फिर भी अधिकारियो को इस बात का पूरा ज्ञान है कि केवल आर्थिक उन्नति से, केवल दारिद्रय-निवारण से, देश की उन्नति नही हो सकती है। साथ-साथ अनेक सामाजिक सुधार भी आवश्यक है। शिक्षा-क्षेत्र मे यह देश बहुत पिछडा हुआ है। इस युग मे यह लज्जा और परिभव की बात है। यद्यपि इस देश मे अच्छे-अच्छे विद्वान् भी मिलते हैं। परन्तु इस युग मे उन्नति की कसौटी ही दूसरी है। केवल बीस प्रतिशत आदमी ही पेट-भर खा सके और सब भूखे रह जाय तो यह देश की समृद्धि नही कही जा सकती है। अच्छे-अच्छे विद्वान् भले ही मिलते हो, परन्तु अधिकाश जनता यदि निरक्षर है तो दशा उन्नति की नही समझी जा सकती है। इतनी विद्वत्ता तो व्यर्थ गई, क्योंकि उसका साधारण जनता पर कोई असर ही नही हुआ। इस युग मे साधारण जनता की उन्नति ही उन्नति समझी जाती है। इस दृष्टि से अभी भारत मे बहुत काम बाकी है।

काम इतना बडा और सर्वतोमुख है कि सारी जनता यदि बडी तत्परता और एकता के साथ निरन्तर प्रयत्न करे, तब कार्य-सिद्धि की सम्भावना है, नही तो बिल्कुल नही है। कुछ इने-गिने व्यक्तियो के इस काम मे भाग लेने मे लक्ष्य पूरा नही हो सकता है। सारी जनता का सहयोग अपेक्षित है, बडा ऐकमत्य हो और उत्साह हो। चीन के सम्बन्ध मे भारत मे तरह-तरह की भावनाए है। वहाँ की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था के बारे मे यहाँ काफी मतभेद भी है। कुछ भारतीय चीन हो आये है और उन्होने अपने-अपने अनुभवो का वर्णन भी किया है। इन वर्णनो को पढने के बाद और लौटे हुए कुछ व्यक्तियो से वार्तालाप करने के अनन्तर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चीन मे उत्साह है और एकता है। चीन की जनता अपने देश की उन्नति के लिए बडे उत्साह के साथ भगीरथ प्रयत्न कर रही है। इस बात की भारत मे अत्यन्त आवश्यकता है। क्या यहाँ अपेक्षित उत्साह और एकता है ? कुछ अश मे तो दोनो है। कुछ अश मे एकता है, इस बात का प्रमाण यह है कि सारे भारत मे एक ही राजनैतिक दल राज्य कर रहा है। भारत ने ससार का सबसे बडा प्रजातन्त्र स्थापित किया है और वह चल भी रहा है। देश की उन्नति के लिए बडी-बडी योजनाए बनाई जा रही हैं और कार्यान्वित की जा रही है। इस काम मे लाखो की सख्या मे सरकारी कर्मचारी लगे है, असख्य साधारण व्यक्ति भी व्यापृत है। जहाँ स्वातन्त्र्य के पहले न केवल अग्रेजी राज था, अनेक छोटी-छोटी देशी रियासतें भी थी, राजा-महाराजे और नवाब अपने-अपने राज्य मे स्वेच्छानुसार राज करते थे, वहाँ तब इन रियासतो मे प्रजा का कोई भी अधिकार नही था। इस समय तो भारत का कोई भी अश नही, जहाँ प्रजातन्त्र चल नही रहा हो और जहाँ प्रजा का अधिकार न हो। इस दृष्टि से समस्त भारत एक ही सूत्र मे बाँधा गया है। यह एक प्रकार की एकता है। यह अवश्य उन्नति का लक्षण है। इसके आधार पर बडे-बडे काम किये जा सकते हैं।

चरित्र-भ्रंश

कुछ सन्तोषजनक बातो के होते हुए भी स्वातन्त्र्य के बाद देश मे असन्तोष फैल रहा है। पचवर्षीय योजनाओ के सफल होने पर भी देश मे शिकायतें सुनने मे आ रही है। ये दु ख की आवाजें साधारण जनता की दरिद्रता और पिछडी हुई स्थिति के सम्बन्ध मे नही हैं। चारो ओर से एक ही शब्द-प्रयोग सुनने मे आता है और वह है 'चरित्र-भ्रश'। लोग अपने साधारण वार्तालाप मे, नेतृ-वर्ग अपने भाषणो मे, यही घोषित करते है कि देश के सामने सबसे बडी समस्या जनता के चरित्र-भ्रश की है। धर्म और मानवता का पूरा तिरस्कार करके लोग अपना स्वार्थ साधने मे तत्पर है। जीवन के हर-एक क्षेत्र मे इस बात का अनुभव किया जा रहा है। जनता का ऐसा कोई भी वर्ग नही है जो इस चरित्र-भ्रश से बचा हो। किसी वर्ग, दल, धम, सम्प्रदाय या वर्ण को दूसरो पर इस विषय मे अभियोग करने का अधिकार नही है। जब तक गाधीजी हमारे बीच थे, तब तक हम लोगो के एक बडे पथ-प्रदर्शक थे। वे हर एक व्यक्ति को, हर एक दल को, हर एक वर्ग को, शासन के अधिकारियो को, समस्त देश को चरित्र की दृष्टि से देखा करते थे। उनकी यही एक कसौटी थी। राजनीति के क्षेत्र मे धर्म और चरित्र की रक्षा करते हुए काम करना असम्भव समझा जाता था। उनका सारा जीवन इस बात का प्रमाण है कि यह विचार अत्यन्त भ्रममूलक है। प्रतिदिन अपनी प्रार्थना-सभाओ मे जो छोटे-छोटे दस-दस मिनट के भाषण दिया करते थे, उनका मुख्य उद्देश्य जनता का चरित्र-निर्माण ही था। उनके ये भाषण बडे मार्मिक थे, विचारशील लोग उनकी प्रतीक्षा करते थे, समाचार-पत्रो मे सबसे पहले उन्ही को पढा करते थे और दिन मे अपने मित्रो के साथ उन्ही की चर्चा करते थे। इन भाषणो का प्रभाव सरकारी कर्मचारियो पर, अध्यापक और विद्यार्थियो पर, व्यापारियो पर, गृहस्थो पर, धर्मोपदेशको पर, सारी जनता पर पडता था। गाधीजी के स्वर्गवास होने के बाद उनका वह स्थान अब भी रिक्त है। कोई भी उसको ग्रहण करने मे अपने को समर्थ नही पा रहा है।

धर्म निरपेक्षता बनाम धर्म-विमुखता

देश के पुनर्निर्माण में सबसे बडा काम केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनो के द्वारा ही किया जा रहा है। यह स्वाभाविक भी है। उनके पास शक्ति भी है, धन भी है। परन्तु इस काम मे शासनो की एक विशेष दृष्टि होनी है। उनकी

दृष्टि अधिकाश आर्थिक होती है। हमारे शासन को धर्म-निरपेक्ष शासन होने का बडा गर्व है। वास्तव मे तो हमारा शासन धर्म-निरपेक्ष शासन नही है। धर्म विशेष निरपेक्ष भले ही हो, परन्तु सर्वथा धर्म से विमुख नही है। कोई भी शासन सामान्य धर्म की उपेक्षा नही कर सकता। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि शासन की बडी-बडी योजनाए धर्म की दृष्टि से नही बनाई जा रही हैं। हमारा शासन तो अवश्य चाहता है कि जनता का चरित्र ऊँचा हो। हमारे शासन को बहुत दु ख है कि देश मे स्वातन्त्र्य के बाद चरित्र गिर रहा है। परन्तु शासन का विचार यह है कि देश मे आर्थिक उन्नति के साथ-साथ चरित्र की उन्नति स्वय ही हो जायेगी। चरित्र-उन्नति के साक्षात् प्रयत्न करना शासन का काम नही है, वह तो जनता का काम है।

प्राचीन भारत मे परिस्थितियाँ भिन्न थी। जनता मे धर्म बुद्धि अधिक थी, परलोक से डर था, धर्माचार्यों के नेतृत्व मे श्रद्धा थी। प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के अनेक धर्माचार्य होते थे और जनता पर बडा प्रभाव था। शासन और धर्माचार्यों का परस्पर सहयोग था। दोनो मिलकर जनता को चरित्र-भ्रश से बचाते थे। वह परिस्थिति अब नही है। प्रश्न यह है—अब क्या हो ?

धर्माचार्यों के लिए स्वर्णिम अवसर

परिस्थिति तो अवश्य बहुत बदल गई है; परन्तु स्मरण रहे कि हम लोग अपने-अपने धर्म को सनातन मानते है। हम लोग मानते है कि परिस्थिति के भिन्न होते हुए भी मानव-जीवन मे कुछ ऐसे तत्त्व है जो सनातन है, जिनको स्वीकार किये बिना मनुष्य-जीवन सफल नहीं हो सकता है, मनुष्य सुख प्राप्त नही कर सकता है। भारत मे अनेक धर्मो और सम्प्रदायो का जन्म हुआ। हर एक धर्म और सम्प्रदाय अपने तत्त्वो को सनातन मानता है और उनको हर एक परिस्थिति मे उपयुक्त मानता है। इन तत्त्वो का रहस्य हमारे धर्माचार्य ही जानते है, वे ही साधारण जनता मे उनका प्रचार कर सकते है। भारत मे जो-जो धर्म और सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, वे सब भारत मे आज भी किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान है। उनकी परम्पराए भी अधिकाश सुरक्षित है। इन धर्मों के रहस्य जानने वाले धर्माचार्य और साधु-सन्यासी हमारे ही बीच है और जगह-जगह काम भी कर रहे है। हाँ, अब शासन मे उनका इतना सम्बन्ध नही है जितना प्राचीन काल मे था। तथापि इन धर्मों का रहस्य जानने वाले जनता ही के बीच रहते है और जनता के अन्तर्गत है। क्या हमको यह आशा करने का अधिकार नही है कि इस भयकर समय मे जब चरित्र-भ्रश के कारण जनता अधिक पीडित है, हमारे धर्माचार्य और साधु-सन्यासी अपने को सगठित करके देश के चरित्र निर्माण का काम अपने हाथ मे ले ल। जनता मे इस प्रकार की आशा होना स्वाभाविक है और धर्माचार्यों को यह दिखलाने के लिए एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त है कि हमारे प्राचीन धर्मो और सम्प्रदायो मे आज भी जान है।

आचार्यश्री तुलसी की दिव्य दृष्टि

जिन धर्माचार्यों ने वर्तमान परिस्थितियो को अच्छी तरह से समझ कर इस नये अवसर पर, भारतीय जनता और भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और प्रेम से प्रेरित होकर उनकी रक्षा और सेवा करने का निश्चय किया, उनमे आचार्यश्री तुलसी का नाम प्रथम गण्य है। आचार्यश्री ने अपना 'अणुव्रत-आन्दोलन' प्रारम्भ करके वह काम किया है जो हमारे सबमे बडे विश्वविख्यात नेता नही कर सकते थे। उन्होने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया कि चरित्र-भ्रश के क्या-क्या बुरे असर देश पर हो चुके है और अधिक क्या-क्या हो सकते हैं। उन्होंने देखा कि इसके कारण देश का कृच्छ्र-समुपार्जित स्वातन्त्र्य खतरे मे है। चरित्र-भ्रश के कारण व्यक्ति, वर्ग, दल और जातियाँ अपने-अपने स्वार्थ-साधन मे तत्पर है, देश, धर्म और सस्कृति का चाहे जो भी हो जाए। चरित्र-भ्रश का एक बहुत कड़वा फल यह होता है कि जनता मे पारस्परिक विश्वास सर्वथा समाप्त हो जाता है। जहाँ परस्पर विश्वास नही है, वहाँ सगठन नही हो सकता है, जहाँ फूट होती है, वहाँ एकता नष्ट होती है। अब देश में फिर अलग-अलग होने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। नये-नये सूबों की माँग चारो ओर से उठ रही है। इनके पीछे व्यक्तियो का और वर्गों का स्वार्थ छिपा हुआ है। भाषा-सम्बन्धी झगड़े जिस प्रकार उत्तर भारत मे द्रोह और हिसा के कारण हो रहे है, उसी प्रकार दक्षिण भारत और लंका मे भी। व्यक्तिगत जीवन मे

इतना शैथिल्य आ गया है कि सयम का कुछ भी मूल्य नही रहा। भारतीय सस्कृति का प्राण ही सयम है। सयम-प्राण अणुव्रत-आन्दोलन प्रारम्भ करके आचार्यश्री तुलसी ने अपनी धर्मनिष्ठा और दूरदर्शिता दिखलाई है।

अणुव्रत के अन्तर्गत जो पाँच व्रत है, अर्थात् अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये भारतीय सस्कृति से स्वल्प परिचय भी रखने वालो के लिए कोई नई बात नही है। भारत मे जितने धर्म उत्पन्न हुए, उन सबमे इनका प्रथम स्थान है। क्योकि ये सब सयममूलक हैं और सयम ही भारतीय धर्मों का प्राण है। अथवा धर्म-मात्र का, चाहे वह भारतीय हो अथवा विदेशी, सयम ही किसी-न-किसी रूप मे प्राण है। इन व्रतो को स्वीकार करने मे किसी भी धर्म के अनुयायियो को आपत्ति नही होनी चाहिए।

ये व्रत इसलिए अणुव्रत कहे गये हैं कि महाव्रत इनसे भी बढकर है और उनके पालन करने मे अधिक आध्यात्मिक शक्ति अपेक्षित है। परन्तु साधारण व्यक्तियो के लिए अणुव्रतो के पालन मे भी चरित्र चाहिए। जनता मे इन पाँचो तत्त्वों के अभाव असख्य रूप ग्रहण किये हुए है। अहिसा ही को लीजिये। इसके अभाव का बहुत स्पष्ट रूप तो आमिष-भोजन है। परन्तु इसके और भी असख्य रूप है जिनको पहचानने के लिए विकसित बुद्धि अपेक्षित है। इनके पालन मे त्याग की आवश्यकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि अगर कोई व्यक्ति सच्ची निष्ठा से इनका पालन करे तो उसके जीवन मे एक बडा परिवर्तन हो जाता है। समाज से उसका सम्बन्ध आनन्दमय हो जाता है, वह भीतर से सुखी बन जाता है। शर्त यह है कि श्रद्धा हो। व्रतो का पालन भीतरी प्रेरणा से हो, बाहर के दबाव से नही।

भारतीय संस्कृति का एक पुष्प

जिस पद्धति से आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन प्रारम्भ किया और उसको समस्त भारत मे फैलाया, उससे उनके व्यक्तित्व का प्राबल्य और माहात्म्य स्पष्ट होता है। पहले तो उन्होने इस काम के लिए अपने ही जैन-सम्प्रदाय के कुछ साधुओ और साध्वियो को तैयार किया। अब उनके पास अनेको विद्वान्, सहनशील, हर एक परिस्थिति का सामना करने की शक्ति रखने वाले सहायक है जो पद-यात्रा करते हुए भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे सचार करते है और जनता मे नये प्राण फूंक देते है। उनकी नियमबद्ध दिनचर्या को देख कर जनता आश्चर्य-चकित हो जाती है। उसके पीछे शताब्दियो की परम्परा काम कर रही है। आचार्यश्री और उनके सहायको की जीवनशैली प्राचीन भारतीय सस्कृति का एक विकसित पुष्प है। इस प्रकार की जीवन शैली भारत के बाहर नही देखी जा सकती है। इस पुष्प को आचार्यजी ने भारतमाता की सेवा मे समर्पित किया है। आजकल के गिरे हुए भारतीय समाज मे आचार्यश्री का जन्म हुआ। यही लक्षण है कि इस समाज का पुनरुत्थान अवश्य होगा।
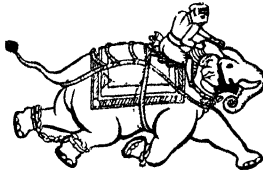
आचार्यश्री तुलसी के अनुभव चित्र

मुनिश्री नथमलजी

आचार्यश्री तुलसी विविधताओ के सगम है। उनमे श्रद्धा भी है, तर्क भी है, सहिष्णुता भी है, आवेग भी है, साम्य भी है और शासक का मनोभाव भी है। हृदय का सुकुमारता भी है और कठोरता भी है, अपेक्षा भी है और उपेक्षा भी है। राग भी है और विराग भी है।

विरोधी युगलों का संगम

अनेकान्त की भाषा मे प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति मे अनन्त विरोधी युगल होते है। आचार्यश्री भी एक व्यक्ति है। उनमे भी अनन्त विरोधी युगलो का सगम हो, वह कोई आश्चर्य नही। अस्तित्व की दृष्टि से आश्चर्य-जैसा कुछ है भी नही। प्रत्येक आत्मा मे अनन्त ज्ञान है, अनन्त-दर्शन है, अनन्त आनन्द है और अनन्त शक्ति है। आश्चर्य का क्षेत्र है, अभिव्यक्ति। अदृश्य जब दृश्य बनता है, तब मन को चमत्कार-सा लगता है। पानी का योग मिलता है, मिट्टी की गन्ध अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। अग्नि का योग मिलता है, अगर की गध अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। मिट्टी मे और अगर मे गन्ध जो है, वह असत् नही है, वस्तु के बहुत सारे पर्याय, बहुत सारी शक्तियाँ अव्यक्त रहती है, अनुकूल निमित्त मिलता है, तब वे व्यक्त हो जाती है। वह अभिव्यक्ति ही चमत्कार का केन्द्र है। पौदगलिक विज्ञान और क्या है? यही पुद्गल की अव्यक्त शक्तियो के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया।

धर्म और क्या है? यही चैतन्य की अव्यक्त शक्तियो के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया। इसीलिए उनके सस्थान चमत्कार से परिपूर्ण है। आचार्यश्री का व्यक्तित्व भी इसीलिए आश्चर्यजनक है कि उसमे बहुत सारी शक्तियो को व्यक्त होने का अवसर मिला है। हमे आचार्यश्री के प्रति इसीलिए आकर्षण है, उनकी उपलब्धियाँ विशिष्ट हैं। और सर्वोपरि आकर्षण का विषय है उनकी शक्तियो की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया। हम उनकी विशिष्ट उपलब्धियो को देख केवल प्रमोद का अधिकार पा सकते है, किन्तु अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को जान कर हम स्वय आचार्यश्री तुलसी बनने का अधिकार पा सकते है।

प्रायोगिक जीवन

तपे बिना कोई भी व्यक्ति ज्योति नही बनता और खपे बिना कोई भी व्यक्ति मोती नही बनता, यह शाश्वत स्थिति है, पर जनतन्त्र के युग मे तो यह बहुत ही स्पष्ट है। आचार्यश्री ने बहुत तप तपा है, वे बहुत खपे है। जनता की भाषा मे, उन्होने जन-हित-सम्पादन के लिए ऐसा किया है। उनकी अपनी भाषा मे, उन्होने अपनी साधना के लिए ऐसा किया है। आत्मोपकार के बिना परापकार हो सकता है, इसमे उनका विश्वास नही है। उनके अभिमत मे परोपकार का उत्स आत्मोपकार ही है। जो अपने को गँवाकर दूसरो को बनाने का यत्न करता है, वह औरो को बना नही पाता और स्वय को गँवा देता है। दूसरो का निर्माण वही कर सकता है, जो पहले अपना निर्माण कर ले। आचार्यश्री को व्यक्ति-निर्माण मे जितना रस है, उससे कही अधिक रस अपने निर्माण मे है। लगता है, यह स्वार्थ है, पर उनकी मान्यता मे, परमार्थ का बीज स्वार्थ ही है। उन्होने अपने विषय मे जो अनुभव प्राप्त किये हैं; वे उन्ही की भाषा में इस प्रकार हैं—
"मेरा जीवन प्रयोगो का जीवन है। मैं हर बात का प्रयोग करता रहता हूँ, जो प्रयोग खरा उतरता है, उसे स्थायी

रूप देता हूँ।"[1]

आचार्यश्री का जीवन वैयक्तिक की अपेक्षा सामुदायिक अधिक है। उनका चिन्तन समुदाय की परिधि मे अधिक होता है। वे तेरापथ के शास्ता हैं। शासन मे उनका विश्वास है, यदि वह आत्मानुशासन से फलित हो तो। सगठन मे उनका विश्वास है, यदि वह आत्मिक पवित्रता से शृखलित हो तो। उनकी मान्यता है, "मेरी आत्मा जितनी अधिक उज्ज्वल रहेगी, शासन भी उतना ही समुज्ज्वल रहेगा।"[2]

स्तवना में खुश न होने की साधना

आचार्यश्री की आस्था आत्मा से फलित है और धर्म मे क्रियान्वित है। इसलिए वे आत्म-विजय को सर्वोपरि प्राथमिकता देते हैं। लक्ष्य की सिद्धि का अकन करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है—"लाडनूं का एक व्यक्ति ... आया और उसने कहा—'इन वर्षों मे मेरे मनोभाव आपके प्रति बहुत बुरे रहे हैं। मैंने अवाच्छनीय प्रचार भी किया है।' उसने जो किया, वह मुझे सुनाया। उसे सुन क्रोध उभरना सहज था, पर मुझे बिल्कुल क्रोध नही आया। मैंने सोचा, निन्दा सुन कर उत्तेजित न होना, इस बात मे तो मेरी साधना काफी सफल है, पर स्तवना या प्रशसा सुन कर खुश न होना, इस बात मे मै कहाँ तक सफल होता हूँ, यह देखना है।"[3]

असमर्थता की अनुभूति

आचार्यश्री सत्य की उपासना मे मग्न है। सत्य को अभय की बहुत बडी अपेक्षा है। जहाँ अभय नही होता, वहाँ सत्य की गति कुण्ठित हो जाती है। सत्य और अभय की समन्विति ने आचार्यश्री को यथार्थ कहने की शक्ति दी है और इसीलिए उनमे अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करने व दूसरो की दुर्बलताओं को उन्ही के सम्मुख कहने की क्षमता विकसित हुई है। तेरापथ के आचार्य जो चाहते है, वह उनके गण मे सहज ही क्रियान्वित हो जाता है। किन्तु कुछ भावनाए ऐसी है, जिन्हे आचार्यश्री समूचे गण मे प्रतिबिम्बित नही कर पाए। इस असमर्थता का उल्लेख आचार्यश्री ने इस भाषा मे किया है—"मेरा हृदय यह कह रहा है कि धर्म को ज्यादा से ज्यादा व्यापक बनाना चाहिए। पर समूचे सघ मे मै इस भावना को भरने मे समर्थ नही हुआ। हो सकता है, मेरी भावना मे इतनी मजबूती न हो, अथवा अन्य कोई कारण हो।"[4]

आज रविवार के कारण विशेष व्याख्यान था, पर मेरी दृष्टि मे अधिक प्रभावोत्पादक नही रहा।"[5]

आचार्यश्री किसी भी धर्म-सम्प्रदाय पर आक्षेप करना नही चाहते, पर धार्मिक लोगो मे जो दुर्बलताए घर कर गई है, उन पर कटु प्रहार किये बिना भी नही रहते। बीकानेर मे एक ऐसा ही प्रसग था। उसका चित्र आचार्यश्री के शब्दो मे यो है—"आज साल्हे की होली वाले चौक मे भाषण हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। लगभग पाँच-छह हजार भाई-बहिन होगे। दस बजे तक व्याख्यान चला। इस स्थान मे जैनाचार्य का व्याख्यान एक विशेष घटना है। यहाँ ब्राह्मण ही ब्राह्मण रहते है। जैनधर्म के प्रति कोई अभिरुचि नही; फिर भी बडी शान्ति से प्रवचन हुआ। यद्यपि आज का प्रवचन बहुत स्पष्ट और कटु था, फिर भी कटुकौषध-पान-न्यायेन लोगो ने उसे बहुत अच्छे मे ग्रहण किया।"[6]

---

१ वि० सं० २०१० चैत्र कृष्णा १४
२ वि० सं० २०१४ आश्विन शुक्ला ५, सुजानगढ़
३ वि० सं० २०१४ दीपावली, सुजानगढ़
४ वि० स० २०१० चैत्र कृष्णा ७, चुनरासर
५ वि० सं० २०१० श्रावण कृष्णा ८, जोधपुर
६ वि० स० २०१० वैसाख कृष्णा ६, बीकानेर

उदार दृष्टिकोण का परिणाम

आचार्यश्री केवल वाक्-पटु ही नही, समयज्ञ भी है। वे कटु बात भी ऐसी परिस्थिति मे कहते है कि श्रोता को वह असह्य नही होती। आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं कि मुझ मे व्यवहार-कौशल उतना नही, जितना कि एक शास्ता मे चाहिए। पर सचाई यह है कि उनका कठोर सयम उन्हे कृत्रिम व्यवहार की ओर प्रेरित नही करता। वे औपचारिकताओ मे दूर हटते जा रहे है, फिर भी उनकी सहृदयता परिपक्व है। आचार्यश्री के मानस मे क्रमिक विकास हुआ है। उनकी प्रगति तत्त्ववेत्ता की भूमिका मे स्थितप्रज्ञता की भूमिका की ओर हुई है। वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य है, फिर भी उनका दृष्टिकोण सम्प्रदायातीत है। उनकी विशेषताएं इसलिए चमकी हैं कि उन्होने दूसरो की विशेषताओ को मुक्त भाव से स्वीकार किया है। वे इसीलिए सबके बने है कि उन्होने सबको अपनत्व की दृष्टि से देखा है। वे अतीत और वर्तमान की तलना करते हुए अनेक बार कहते है—"आज हम भी उदार बने है, आप लोग भी उदार बने है। मैं मानता हूँ कि सब सम्प्रदाय उदार बने है। उदार बने बिना कोई व्यक्ति ग्रहणशील भी नही बनता।" आचार्यश्री के सामने जो विशेषता आती है, उसे वे सहसा ग्रहण कर लेते है। यह उनके उदार दृष्टिकोण का परिणाम है। आचार्यश्री की डायरी के पृष्ठ इसके स्वयभू प्रमाण है। "आज दुपहरी मे पौने तीन बजे विमला बहिन आई। वह विनोबा के भूदान-यज्ञ की विशेषज्ञा है, विदुषी है। बडा अच्छा वक्तव्य देती है। आकृति पर ओज है। थोडा प्रवचन सुना। भूदान-यज्ञ के कार्यकर्ता अच्छे-अच्छे है। इसमे प्रगति का सूचन मिलता है। अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यकर्ता भी ऐसे हो, तो बहुत काम हो सकता।"[1]

"आज वृन्दावन के वन महाराज वैष्णव सन्यासी आए। वे वृन्दावन मे एक विश्वविद्यालय बनाना चाहते है। प्राथमिक तैयारी हो गई। उसमे सब धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए तेरह पीठ रखे गये है। उनमे एक जैन-पीठ भी है। जैन-पीठ के लिए लोगो ने हमारा नाम सुझाया, इसलिए वे आए है। बहुत बाते हुई। समन्वयवादी व विद्वान् व्यक्ति मालूम हुए।"[2]

इस उदार दृष्टि से ही आचार्यश्री का अन्य दर्शनानुयायियो के साथ सम्पर्क बढ गया है। वे यहाँ आते है और आचर्यश्री उनके वहाँ जाते है। इस क्रम मे समन्वय की एक सुन्दर सृष्टि हुई है। आचार्यश्री ने ऐसे अनेक प्रसगो का उल्लेख किया है—"आज तीन बौद्ध भिक्षु आए। एक लंका के थे, एक बर्मा के और तीसरे महाबोधि सोसायटी बम्बई के मत्री थे। प्रवचन सुना। आगामी रविवार को सोसायटी की तरफ से यही सिक्कानगर मे व्याख्यान रखा है और मुझे अपने विहार मे ले जाने के लिए निमत्रण देकर गए हैं।"[3]

"आज हम बौद्ध विहार मे गए। वहाँ के भिक्षुओ ने बडा स्वागत किया। अच्छी चर्चा चली। फिर फादर विलियम्स के चर्च मे गए। ये सब बम्बई सेंट्रल स्टेशन की तरफ है।"[4]

द्रुतगामी पाद-विहारी

आचार्यश्री पाद-विहारी हैं; किन्तु उनका कार्यक्रम यान विहारी से द्रुतगामी होता है। एक प्रसग है—"आज सिक्कानगर मे व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के बाद एक 'रशियन' सुन्दरलाल के साथ आया। उसने कहा—"भारतीय लोगो की तरह रशियनो को स्वतन्त्रता से फलने-फूलने का अवसर नही मिलता। बडा कष्ट होता है।" उसकी बहुत जिज्ञासाए थी, पर हमे समय नही था। डेढ बजे जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स, जो एशिया का सुप्रसिद्ध कला-शिक्षण केन्द्र है, मे प्रवचन करने गए। फिर बोरीबन्दर स्टेशन होते हुए लोकागच्छ के उपाश्रय मे यति हेमचन्द्रजी, जो दो बार अपने यहाँ

---

१ वि० सं० २०१० आश्विन शुक्ला ६, बम्बई—सिक्कानगर
२ वि० सं० २०१६ कार्तिक कृष्णा ७, कलकत्ता
३ वि० सं० २०११ आश्विन शुक्ला २, बम्बई
४ वि० सं० २०११ आश्विन शुक्ला ३, बम्बई

आ चुके थे, मे मिलने गए। कुछ प्रवचन किया। उपाश्रय बडा है। फिर सिक्कानगर आये।"[1]

"गगाशहर मे विहार किया। दूसरे दिन नाल पहुँचे। रास्ते में नथुसर दरवाजे के बाहर लालीबाई का आश्रम है, वहाँ गए। वह पुरुष-वेष मे रहती है। भगवा पहनती है। विधवा बहिनो के चरित्र-सुधार का काम करती है। उसकी बहुत शिष्याए हैं। वे सिर के बाल मुँडाती है और सफेद वस्त्र पहनती है। लालीबाई बोली—'आचार्य आशाराम जी से हम आपके विषय मे बहुत बाते सुनती है, पर आज आपके दर्शन हो गए। वहाँ का वातावरण अच्छा मालूम दिया।"[2]

सिद्धान्त और समझौतावादी दृष्टिकोण

आचार्यश्री सर्व धर्म-समन्वय के समर्थक रहे है। साम्प्रदायिक एकता उनकी दृष्टि मे असभव या अस्वाभाविक प्रयत्न है। सिद्धान्त और समझौतावादी दृष्टिकोण उनके अभिमत मे भिन्न वस्तुएँ है। वे सम्प्रदाय-मैत्री के पोषक है। विचार-भेद मैत्री के अभाव मे ही पलता है। सहज ही तर्क होता है, क्या विचार-भेद मैत्री मे बाधक नही है ? प्रति-प्रश्न भी होता है, क्या जिनमे मैत्री है, उनमे कोई विचार-भेद नही है। अथवा जिनमे विचार-भेद नही है उनमे मैत्री है ही ? मैत्री का सम्बन्ध जितना सद्व्यवहार और हृदय की स्वच्छता मे है, उतना विचारो की एकता से नही है। अपने-अपने सिद्धान्तो को मान्य करते हुए भी सब सम्प्रदाय मित्र बन सकते है। जो विचारो से हमारे साथ नही है, वह हमारा विरोधी ही है—ऐसा मानना अपने हृदय की अपवित्रता का चिह्न है। दो विरोधी विचारो का सहावस्थान या सह-अस्तित्व सर्वथा सम्भव है। इसी धारणा की नीति पर आचार्यश्री ने वि० स० २०११ बम्बई मे सम्प्रदाय-मैत्री के पाँच व्रत प्रस्तुत किए

१ मण्डनात्मक नीति बरती जाये। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये। दूसरो पर लिखित या मौखिक आक्षेप न किया जाये।

२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाय।

३ दूसरे सप्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाये।

४ कोई सप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाये।

५ धर्म के मौलिक तथ्य—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाये।

उन दिनो के आचार्यश्री के मनोमन्थन के चित्र ये है 'इस वर्ष स्थानकवासी साधुओ का सम्मेलन भीनासर मे होने वाला है। सुना है, वे थली की ओर भी जायगे। मैने अपने श्रावको से कहा है कि यदि वे वहाँ आये तो उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाये।"[3]

"आज जयप्रकाशनारायण से मिलन हुआ। एक घंटे तक बातचीत हुई। विचारो का आदान-प्रदान हुआ। अहिंसक दृष्टियो का समन्वय हो, यह मैने सुझाया। वातावरण बडा सौहार्दपूर्ण रहा।"[4]

"जयप्रकाशजी आज तीन बजे फिर आये। उनसे जीवनदानी बनने का इतिहास सुना, बडा स्फूर्तिदायी था। फिर उन्होने पूछा—"अहिंसक शक्तियो का मिलन हो, इस बारे मे आपके क्या सुझाव है ? मैने कहा विचारो का आदान-प्रदान हो, परस्पर एक-दूसरे को बल दे, कठिनाइयो के प्रतिकार के लिए सह-प्रयत्न हो और सामान्य नीति का निर्धारण हो।" उन्होने कहा—"मैं यह विचार विनोबा के पास रखूँगा और आपसे भी समय-समय पर सम्पर्क बनाये रखूँगा।"[5]

---

१ वि० सं० २०११ भाद्रव कृष्णा ११, बम्बई

२ वि० सं० २०१० द्वितीय वैसाख कृष्णा १, नाल

३ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा १, बम्बई—चर्चगेट

४ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा ३, बम्बई—चर्चगेट

५ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा ४, बम्बई—चर्चगेट

मौन की साधना

समन्वय की साधना के लिए आचार्यश्री ने बहुत सहा है। मौन की बहुत बड़ी साधना की है। उसके परिणाम भी अनुकूल हुए है। इस प्रसग मे आचार्यश्री की डायरी का एक पृष्ठ है

"आज व्याख्यानोपरान्त बम्बई समाचार के प्रतिनिधि मि० त्रिवेदी आए। उन्हे प्रधान सम्पादक सोरावजी भाई ने भेजा था। हमारा विरोध क्या हो रहा है ? उसे जानना चाहते थे। और वे यह भी जानना चाहते थे कि एक ओर से इतना विरोध और दूसरी ओर से इतना मौन। आखिर कारण क्या है ?"[1]

"आज त्रिवेदी का लेख बम्बई-समाचार मे आया। काफी स्पष्टीकरण किया है। वे कहते थे, अब हमने आक्षेप-पूर्ण लेखों का प्रकाशन बद कर दिया है। यह निभेगा तो अच्छी बात है।"[2]

"समन्वय-साधको के प्रति प्रशसा का भाव बन रहा है—विजयवल्लभ सूरीजी का स्वर्गवास हो गया। उनकी भावना समन्वय की थी। वे अपना नाम कर गए।"[3]

"इस दिशा मे सर्व धर्म-गोष्ठियाँ भी होती रही—आज सर्वधर्म-गोष्ठी हुई। उसमे ईसाई धर्म के प्रतिनिधि डा० वेरन आदि तीन अमरीकन, पारसी, रामकृष्ण मठ के संन्यासी सम्बुद्धानन्दजी, आर्य समाजी आदि वक्ता थे।

अन्त मे अपना प्रवचन हुआ। फादर विलियम्स ने उसका अग्रेजी अनुवाद किया। बड़े अच्छे ढग से किया। कार्य-क्रम सफल रहा।"[4]

उन्ही दिनो बम्बई-समाचार मे एक विरोधी लेख प्रकाशित हुआ। आचार्यश्री ने उस समय की मन स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है—"आज बम्बई समाचार मे एक मुनिजी का बहुत बड़ा लेख आया है। आक्षेपो से भरा हुआ है। भिक्षु-स्वामी के पद्यो को विकृत रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जघन्यता की हद हो गई। पढ़ने मात्र से आत्म-प्रदेशो मे कुछ गर्मी आ सकती है। औरो को गिराने की भावना से मनुष्य क्या-क्या कर सकता है, यह देखने को मिला। उसका प्रतिकार करना मेरे तो कम जँचता है। आखिर इस काम मे (औरो को नीचा दिखाने के काम मे) हम कैसे बराबरी कर सकते है ! यह काम तो जो करते है, उन्ही को मुबारक हो ! अलबत्ता स्पष्टीकरण करना जरूरी है, देखे, किस तरह होगा।"[5]

"इधर से विरोधी लेखो की बड़ी हलचल है। दूसरे लोग उनका सीधा उत्तर दे रहे हैं। उन्हे घृणा की दृष्टि से देख रहे है। अपना मौन बड़ा काम कर रहा है।"[6]

साधु-साध्वियों का निर्माण

इस मौन का अर्थ वाणी का अप्रयोग नही, किन्तु उसका सयम है। आचार्यश्री का जीवन सयम के सस्कारो मे पला है, इसलिए वे दूसरो के असयम को भी सयम के द्वारा जीतने का यत्न करते है। वे व्यक्ति-विकास मे विश्वास करते है, उसका आधार भी सयम ही है। उन्होने अपने हाथो अनेक व्यक्तियो का निर्माण किया और कर रहे है। उनका सर्वाधिक निकट-क्षेत्र है—साधु-समाज। पहला दृष्टिपात वही हो, यह अस्वाभाविक नही। निर्माण की पहली रेखा यही है। "साधु-साध्वियो मे प्रारम्भ से ही उच्च साधना के सस्कार डाल दिये जाये तो बहुत सभव है कि उनकी प्रकृति मे अच्छा

१ वि० स० २०११ श्रावण शुक्ला १०, बम्बई
२ वि० सं० २०११ श्रावण शुक्ला १३, बम्बई
३ वि० सं० २०११ आश्विन कृष्णा ११, बम्बई
४ वि० सं २०११ आश्विन कृष्णा १२, बम्बई—सिक्कानगर
५ वि० सं० २०११ आश्विन शुक्ला २, बम्बई—सिक्कानगर
६ वि० सं० २०११ श्रावण शुक्ला ११, बम्बई—सिक्कानगर

सुधार हो जाये। इसे प्रामाणिक करने के लिए मैंने इधर मे नव-दीक्षित साधुओ पर कुछ प्रयोग किये है। चलते समय इधर-उधर नही देखना, बाते नहीं करना, वस्त्रो के प्रतिलेखन के समय बाते नही करना, अपनी भूल को नम्रभाव से स्वीकार करना, उसका प्रायश्चित्त करना, आदि आदि। इसमे उनकी प्रकृति मे यथेष्ट परिवर्तन आया है। पूरा फल तो भविष्य बतायेगा।"[1]

"आज के बालक साधु-साध्वियो के जीवन को प्रारम्भतः सस्कारी बनाना मेरा स्थिर लक्ष्य है। इसमे मुझे बडा आनन्द मिलता है।"[2]

"साधुओं को किस तरह बाह्य विकारो से बचा कर आन्तरिक वैराग्य-वृत्ति मे लीन बनाया जाये, इस प्रश्न पर मेरा चिन्तन चलता ही रहता है।"[3]

"इस बार साधु-समाज मे आचार मूलक साधना के प्रयोग चल रहे है। साधु-साध्वियो मे अपने-अपने अनुभव लिखाए। वे प्रामाणिकता के साथ अपनी प्रगति व खामियो को लिख कर लाये। मुझे प्रसन्नता हुई। आगामी चातुर्मास मे बहुत कुछ करने की मनोभावना है।"[4]

साधु-साधना मे ही है, सिद्धि मे नही। वे समय पर भूल भी कर बैठते हैं। आचार्यश्री को उससे बहुत मानसिक वेदना होती है। उसी का एक चित्र है, "आज कुछ बातो को लेकर साधुओ मे काफी ऊहापोह हुआ। आलोचनाए चली, कुछ व्यग्य भी कसे गये। न जाने, ये आदते क्यों चल पडी। कोई युग का प्रभाव है या विवेक की भारी कमी? आखिर हमारे सघ मे ये बाते सुन्दर नही लगती। कुछ साधुओ को मैंने सावधान किया है। अब हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को काम मे लेकर कुछ करना होगा।"[5]

गृहस्थो के जीवन-निर्माण के लिए भी आचार्यश्री ने समय-समय पर अनेक प्रयत्न किये है। उन्हे जो भी कमी लगी, उस पर प्रहार किया है और जो विशेषता लगी, उसका समर्थन किया है। "आज मित्र-परिषद् के सदस्यो को मौका दिया। उन्होने विशिष्ट सेवाए दी है। एक इतिहास बन गया है। मैंने उनसे एक बात यह कहा है, यदि तुम्हे आगे बढना है तो प्रतिशोध की भावना को दिल से निकाल दो।"[6]

अणुव्रत-आन्दोलन इसी परिवर्तनवादी मनोवृत्ति का परिणाम है। वे स्थिति चाहते है, पर आज जो स्थिति है, उससे उन्हे सन्तोष नही है। वे न्यूनतम सयम का भी अभाव देखते है तो उनका मन छटपटा उठता है। वे सोचते रहते है—जो इष्ट परिवर्तन आना चाहिए, वह पर्याप्त मात्रा मे क्यो नही आ रहा है? इसी चिन्तन मे से अनेक प्रवृत्तियाँ जन्म लेती है। 'नया मोड' का उद्भव भी इसी धारा मे हुआ है। समाज जब तक प्रचलित परम्पराओ मे परिवर्तन नही लायेगा, तब तक जो सयम इष्ट है, वह सभव नही। उसके बिना एक दिन मानवता और धार्मिकता दोनो का पलडा हल्का हो जायेगा। उनके हित-चिन्तन मे बाधाए भी कम नही है। कई बार उन्हे थोडी निराशा-सी होती है, किन्तु उनका आत्म-विश्वास फिर उसे झकझोर देता है—"इधर मेरी मानसिक स्थिति मे काफी उतार-चढाव रहा। कारण, मेरी प्रवृत्ति सामूहिक हित की ओर अधिक आकृष्ट है और मैं जो काम करना चाहता हूँ, उसमे कई तरह की बाधाए सामने आ रही है, इससे मेरा हृदय सन्तुष्ट नही है। मेरा आत्म-विश्वास यही कहता है कि आखिर मेरी धारणा के अनुसार काम होकर रहेगा, थोडा समय चाहे लग जाए।"[7]

१ वि० सं० २०१० चैत्र कृष्णा १४, उदासर
२ वि० सं० २०१० श्रावण शुक्ला १५, जोधपुर
३ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा ८, बम्बई—वर्चगेट
४ वि० सं० २०१२ जेठ शुक्ला १०, डांगर—महाराष्ट्र
५ वि० सं० २०१४ आषाढ़ कृष्णा ६, बीदासर
६ वि० सं० २०१६ कार्तिक कृष्णा ६, कलकत्ता
७ वि० सं० २००६ पौष शुक्ला १०, श्रीडूंगरगढ़

आस्था का आलोक

आचार्यश्री मे चिन्तन है, विचारो के अभिनव उन्मेष हैं। इसलिए वे रूढ मार्ग पर ही नही चलते, उपयोगितानुसार नये मार्ग का भी आलम्बन लेते है, नई रेखाए भी खीचते है। यह सम्भवत' असम्भव ही है कि कोई व्यक्ति नई रेखा खीचे और सघर्ष का वातावरण न बने। सघर्ष को निमन्त्रण देना बुद्धिमानी नही है, तो प्रगति के परिणामस्वरूप जो आये उसे नही झेलना भी बुद्धिहीनता है। सघर्ष बुरा क्या है ? वह सफलता की पहली तेज किरण है। उससे जो चौंधिया जाता है, वह भटक जाता है और उसे जो सह लेता है, वह सफलता का वरण कर लेता है। असफलता और सफलता की भाषा मे स्वामी विवेकानन्द ने जो कहा है वह चिर सत्य है—"सघर्ष और त्रुटियो की परवाह मत करो। मैंने किसी गाय को झूठ बोलते नही सुना, पर वह केवल गाय है, मनुष्य कभी नही। इसलिए असफलताओ पर ध्यान मत दो, ये छोटी-छोटी फिसलनें है। आदर्श को सामने रख कर हजार बार आगे बढने का प्रयत्न करो। यदि तुम हजार बार ही असफल होते हो तो एक बार फिर प्रयत्न करो।" आचार्यश्री को अपनी गति मे अनेकानेक अवरोधो का सामना करना पडा, पर वे थके नही। विराम लिया, पर रुके नही। उस अबाध गति के सकल्प और अगाध आस्था ने उनका पथ प्रशस्त कर दिया। आस्था-हीन व्यक्ति हजार बार सफल होकर भी परिणाम काल मे असफल होता है और आस्थावान् पुरुष हजार असफलताओ को चीर कर अन्त मे सफल हो जाता है। आचार्यश्री ने अपनी आस्था के आलोक मे अपने-आपको देखते हुए लिखा है

"यह तीन चार वर्ष का सक्रान्ति-काल रहा। इसमे जो घटना-चक्र चला, उसका हरेक आदमी के दिमाग पर असर हुए बिना नही रहता। इस समय मेरा साथी मेरा आत्म-बल था और साथ ही मै अपने भाग्य विधाता गुरुदेव को एक घडी के लिए भी भूला हूँ, ऐसा नही जान पडता। उनकी स्मृति मात्र से मेरा बल हर वक्त बढता रहा। मेरी आत्मा हर वक्त यह कहती रही कि तेरा रास्ता सही है और यही सत्य-निष्ठा मुझे आगे बढाए चल रही है।

"विरोध भीषण था, पर मेरे लिए बलवर्धक बना। सघर्ष खतरनाक था, पर मेरे और सघ के आत्मालोचन के लिए बना। इससे सतर्कता बढी। साधु-सघ मे प्राचीन ग्रन्थो व सिद्धान्तो के अध्ययन की अभिरुचि बढी। सजगता बढी। पचासो वर्षों के लिए रास्ता सरल हो गया। इत्यादि कारणो से मै इसे एक प्रकार की गुणकारक वस्तु समझता हूँ। फिर भी सघर्ष कभी न हो, शान्त वातावरण रहे, सगठन अधिक दृढ रहे, हर वक्त यही काम्य है। भिक्षु शासन विजयी है, विजयी रहे। साधु-सघ कुशल आचारवान् है, वैसा ही रहे।"[1]

अपराजेय मनोवृत्ति

विजय की भावना व्यक्ति के आत्म बल से उदभूत होती है। आत्मा प्रबल होती है, तब परिस्थिति पराजित हो जाती है, आत्मा दुर्बल होता है, परिस्थिति प्रबल हो जाती है। साधना का आशय यही है कि आत्मा प्रबल रहे, परिस्थिति से पराजित न हो। इस अपराजेय मनोवृत्ति का अकन इस प्रकार हुआ है—"स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं रहता। मौन व विश्राम से काम चल जाता है। वर्ष भर तक दवा लेने का प्रत्याख्यान है। आत्म-बल प्रबल है, फिर क्या ?"[2]

आत्मा मे अनन्त वीर्य है उसका उदय अभिसन्धि से होता है। अभिसन्धिहीन प्रवृत्ति मे वीर्य की स्फुरणा नही होती। जो कार्य वीर्य-अभिसन्धि के बिना किया जाता है, वह सफल नही होता और वही कार्य अभिसन्धि द्वारा किया जाता है, तो सहज सफल हो जाता है। आचार्यश्री का अपना अनुभव है—"परिश्रम की अधिकता के कारण सिर में भार, आँखो मे गर्मी आज काफी बढ गई। रात्रि के विश्राम मे भी आराम नही मिला, तब सबेरे डेढ घण्टे का मौन किया और नाक से लम्बे श्वास लिये। इससे बहुत आराम मिला। पुन शक्ति-सचय-सा होने लगा। चित्त प्रसन्न हुआ। मेरा विश्वास

१ वि० सं० २००६ फाल्गुन कृष्णा २, सरदारशहर
२ वि० सं० २०१२ भाद्र शुक्ला २, उज्जैन

है कि मौन साधना मेरी आत्मा के लिए, मेरे स्वास्थ्य के लिए, बहुत अच्छी खुराक है। बहुत बार मुझे ऐसे अनुभव भी होते रहते हैं। यह मौन साधना मुझे नही मिलती तो स्वास्थ्य सम्बन्धी बडी कठिनाई होती। पर वैसा क्यों हो? स्वाभाविक मौन चाहे पाँच घण्टा का हो उसमे उतना आराम नही मिलता, जितना कि सकल्पपूर्वक किये गए एक घण्टा के मौन मे मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सकल्प मे कितना बल है। साधारणतया मनुष्य यह नही समझ सकता, पर तत्त्वत सकल्प मे बहुत बडी आत्म-शक्ति निहित है। उससे आत्म-शक्ति का भारी विकास होता है। अवश्य ही मनुष्य को इस सकल्प-बल का प्रयोग करना चाहिए।"[1]

आचार्य हरिभद्र ने अभिसन्धिपूर्वक वस्तु के परिहार को ही त्याग कहा है। सकल्प मे कितना वीर्य केन्द्रित है, उसे एक कुशल मनोवैज्ञानिक ही समझ सकता है। आचार्यश्री ने जो कुछ पाया है, उसके पीछे उनका कर्तृत्व है, पुरुषार्थ है और लक्ष्य पूर्ति का दृढ सकल्प। वे लक्ष्य की ओर बढ़े है, बढ रहे है। जब कभी लक्ष्य की गति मे अन्तराय हुआ है, उसका पुन सन्धान किया गया है—"इन दिनो डायरी भी नही लिखी गई। मौन भी छूट गया। अब दोनो पुन प्रारम्भ किये है। धनजी सेठिया बेंगलोर वाले आए, और बोले—आपने मौन क्या छोड दिया? वह चालू रहना चाहिए। उससे विश्राम, स्वास्थ्य और बल मिलेगा। मैने कहा—"आठ वर्षों से चलने वाला मौन यू० पी० मे बन्द हो गया, पर अब चालू करना है। जेठ सुदी १ से पुन मौन प्रारम्भ है।"[2]

सिद्धान्त-विरोधी प्रवृत्ति में असहिष्णुता

आचार्यश्री मे समता के प्रति आस्था है और सिद्धान्त के प्रति अनुराग। इसलिए वे किसी भी सिद्धान्त-विरोधी प्रवृत्ति को सहन नही करते। 'दुपहरी मे मैं व्याख्यान दे रहे थे। एक लाल दरी बिछी हुई थी। सब लोग बैठे थे, कुछ भाभी (हरिजन) भी उस पर बैठ गए। सुनने लगे। जैन लोगो ने यह देखा तो बडे जोश से बोले—तुम लोगो मे होश नही जो जाजम पर आकर बैठ गए। यह पचायती जाजम है। वे आक्रोश करते हुए हरिजनो को उठा कर जाजम खीच कर ले गये। बहुतो को बुरा लगा, हरिजनो को बहुत ही धक्का लगा। कई तो रोने लग गये, मैने भीतर से यह दृश्य देखा। मन मे वेदना हुई। इस मानवता के अपमान को मैं सह नही सका। मै व्याख्यान मे गया। स्पष्ट शब्दो मे मैने कहा—"जिन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने जातिवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया, उन्ही के भक्त आज उसी दलदल मे फस रहे है, बडा आश्चर्य है। मैने आँखो से देखा—"मनुष्य किस प्रकार मनुष्य का अपमान कर सकता है। दरी आपको इतनी प्यारी थी तो बिछाई ही क्यो?" मैने उनसे कहा—"साधुओ के सान्निध्य मे इस प्रकार किसी जाति का तिरस्कार करना क्या साधुओ का तिरस्कार नही है?" वहाँ के सरपच को, जो जैन थे, मैने कहा—"क्या पचायत मे सभी सवर्ण ही है?' नही, भाभी भी है! "तो कैसे बैठते हो?" वहाँ तो एक ही दरी पर बैठते है। "तो फिर यहाँ क्या हुआ।" हमारे यहाँ ऐसी ही रीति है। आखिर उन्होने भूल स्वीकार की। उन्हे छुआछूत की भावना मिटाने की प्रेरणा दी और हरिजनो को भी शान्त किया।"[3]

१ वि० सं० २०११ फाल्गुन शुक्ला ७, पूना
२ वि० सं० २०१६ जेठ शुक्ला १, कलकत्ता
३ वि० सं० २०१० वैसाख कृष्णा १०

जागृत भारत का अभिनन्दन !

अणुविस्फोटो के इस युग में अणुव्रत ही सबल मानव का,
व्रत-निष्ठा के बिना विफल है अनयन्त्रित भुजबल मानव का !

सघबद्ध स्वार्थो के तम में अणुव्रत ही प्रत्यूष-किरण-कण,
महाज्योति उतरेगी भू पर कभी अणुव्रती के ही कारण !

सदा सुभग लघु लघु सुन्दर की महिमा से ही मडित है जग,
नापेगे कल दिग-दिगन्त भी अणुव्रत के कोमल वामनपग !

अणु की लघिमा शक्ति करेगी देशातर का सहज सचरण,
भूमिकिरण के किरण-वाण से होगा ऊर्ध्व बिन्दु का वेधन !

द्यावा की विराट शोभा ही अणुव्रत की दूर्वा है भू पर,
दूर्वा का अतिशय लघु तृण ही मुक्ति-नीड मे सबमे ऊपर !

अणुव्रत के आचार्य प्रवर, जो शील विनय सयम के दानी,
व्यक्ति व्यक्ति का शुभ्र आचरण बन जाती है जिनकी वाणी !

अणुव्रत के महिमा-गायन मे है उन श्री तुलसी का वदन,
अणुव्रत के अभिनन्दन मे है जागृत भारत का अभिनन्दन !

—नरेन्द्र शर्मा

मैक्सिको की श्रद्धांजलि

डा० फिलिप पार्डिनास

डीन, इतिहास और कला संकाय, आईबेरो-अमरीकाना विश्वविद्यालय, मैक्सिको

मैक्सिको से आचार्यश्री तुलसी को विनत प्रणाम। आचार्यश्री तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करने का अवसर पाकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मेरी यह छोटी-सी अभिलाषा रही है कि इस भारतीय जैन आचार्य के प्रति जिन्होंने विश्वशान्ति के लिए अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया है, विश्व के अनेक विद्वान् जो श्रद्धांजलि भेंट करेंगे, उसमें मैं भी मैक्सिको की ओर से अपना योग दूं।

मैक्सिको अभी तक एक युवा देश है, किन्तु सम्भवतः उतना युवा नही, जैसा बहुत लोग समझते है। यद्यपि हमारा इतिहास अर्थात् मे हमारे लोगो का जीवन-वृत्त ईसा पूर्व की दो सहस्राब्दियों मे प्रारम्भ होता है, फिर भी हमारी स्पष्ट जानकारी मैक्सिको की घाटी मे अवस्थित टिओटिहुआकन (Teotihuacan) नामक एक धार्मिक केन्द्र के सम्बन्ध मे प्रारम्भ होती है। इस केन्द्र के साथ-साथ ईसा पूर्व के लगभग छठी शताब्दी मे दो और महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ला वंटा (La venta) जो वर्तमान मे टाबस्को प्रान्त मे है और मोण्टे अलबान (Monte Alban) जो ओक्साका प्रान्त मे है। इन तीनों केन्द्रो ने लेखन-कला और तिथि-पत्र का विकास किया। तिथि-पत्र का उद्देश्य केवल मौसम पर ही नही, समय पर नियन्त्रण प्राप्त करना था, कारण तत्कालीन कृषि-प्रधान सभ्यता के लिए यह आवश्यक था। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये बड़े-बड़े नगर युद्धों और शस्त्रों से अपरिचित थे। वह शान्ति का काल था और उस समय हमारे लोग श्रम करते, देवताओं की प्रार्थना करते और शान्तिपूर्वक रहते थे।

दूसरे केन्द्रों के विषय मे भी जो अब ग्रआटेमाला गणराज्य मे है, यही बात कही जा सकती है। उनके नाम है, टिकाल (Tikal) और युआक्साक्टन (Uaxactan)। यद्यपि ये समारोहिक सांस्कृतिक केन्द्र उल्लिखित केन्द्रों से पश्चात्कालीन थे।

दुर्भाग्यवश पश्चिम के सम्पर्क से पहले ही हमारे देश मे विनाश और हिंसा का प्रादुर्भाव हो चुका था। उस महान युग के अन्त को, जो करीब ईसा की सातवी से नवी शताब्दी के मध्य था, हम 'विशिष्ट' (Classic) युग कहते है। उस समय हमारे लोगो के जीवन मे अत्यन्त आकस्मिक और गहरा परिवर्तन हुआ। आन्तरिक क्रान्ति और बाह्य प्रभावों ने इन समुदायों मे आमूल परिवर्तन कर दिया। हमें बोनाम्पक (Bonampak) योद्धाओं और बलिदानी पुरुषों के आश्चर्यजनक भित्ति-चित्रों मे हिंसा का इतिहास मिलता है। दुर्भाग्यवश ऐसा प्रतीत होता है कि ठेठ पाश्चात्यों के आगमन तक यह नई स्थिति स्थायी रही। ईस्वी सन् १६१५ में जब हरमन कोर्टीज ने मैक्सिको के मुख्य संस्कृति के केन्द्र टेनोक्टिट्लान (Tenoctitlan) नगर पर विजय प्राप्त की, तब से लेकर दीर्घकाल तक हिंसा का बोलबाला रहा। केवल अन्तिम २५-३० वर्षों में शान्ति का नया जीवन हमे देखने को मिला है।

यह रोचक तथ्य है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के अनेक विचार हमारे लोगो के मानस मे गहरे बैठे हुए है। किन्तु जो लोग केवल फिल्मो और कुछ साहित्य के आधार पर मैक्सिको के विषय मे अपनी धारणा बनाते है, उन्हें यह समझने मे कठिनाई होगी कि हमारे लोगो के मानस की एक विशेषता यह भी है कि वे शान्तिपूर्ण है, हिंसक नही। जब आप हमारे राजनीतिक इतिहास का नही, हमारे सांस्कृतिक इतिहास का थोड़ी गहराई के साथ अध्ययन करेंगे तो आप सरलता से हमारे अहिंसा-प्रेम का पता लगा सकेंगे।

अपने पिछले भारत प्रवास के समय मुझे अपने विद्यार्थियो के एक दल के साथ जब अपने मित्र श्रीसुन्दरलाल झवेरी के माध्यम से अणुव्रत-आन्दोलन और उसके मुख्य सिद्धान्तो का परिचय प्राप्त हुआ, तो बडी प्रसन्नता हुई। इस प्रवास मे मुझे आचार्यश्री तुलसी के आश्चर्यजनक कार्य और उनके महान् जीवन के सम्बन्ध मे जानने का अवसर मिला।

हमने मैक्सिको लौटने के पश्चात् टेलीविजन पर व्याख्यानो द्वारा लोगो का अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय दिया और लोगो ने इस आन्दोलन के सिद्धान्तो के विषय मे सुन कर बडी जिज्ञासापूर्ण उत्सुकता प्रकट की।

इसलिए मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि इस महान् भारतीय आचार्य के कार्य का हमारे आधुनिक जगत् पर गहरा प्रभाव पडेगा। हिसा के विरुद्ध एकमात्र शब्द और सन्देश मैत्री का ही हो सकता है। मनुष्यो के प्रति मैत्री, जीवो के प्रति मैत्री और प्राणीमात्र के प्रति मैत्री। अत मै आपको यह कहना चाहूँगा कि यह मेरी उत्कट आन्तरिक इच्छा है कि इस महान् धर्माचार्य की वाणी का असख्य मानव-आत्माओ द्वारा श्रवण हो, जिससे कि वे इस विश्व को अधिक मानवीय और अधिक शान्तिमय बनाने के प्रयास मे सहयोग दे सके।

एक आध्यात्मिक अनुभव

श्री बारन फ़ेरी फोन ब्लोमबर्ग
बोस्टन, अमेरिका

जब मै जैन धर्म के प्रमुख आचार्यश्री तुलसी के सम्पर्क मे आया, तब मेरे लिए वह एक नया आध्यात्मिक अनुभव था और उससे मै अत्यधिक प्रभावित हुआ। अनेक वर्षों से मैं यह मानने लगा हूँ कि अध्यात्म ही सब कुछ है और आध्यात्मिक मार्ग से सब समस्याए हल हो सकती है।

दुनिया ने कूटनीति, राजनीति, बल-प्रयोग, अणुबमो और भौतिक साधनो का प्रयोग किया, किन्तु सब असफल रहे। मैं स्वय एक ईसाई हूँ और मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैन दर्शन मे सब धर्मों और विश्वासो का समावेश हो जाता है।

आज दुनिया को आध्यात्मिक एकता की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नही थी। जब दुनिया मे आग लगी हुई है तो हम बहुधा एक-दूसरे के विरुद्ध क्यो काम कर रहे है? आज यदि हम सच्चे आध्यात्मिक प्रेम-भाव से मिल कर काम करे तो सभी लक्ष्य सिद्ध हो सकते है।

मैं प्रति क्षण यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरा जीवन पूर्णतया आध्यात्मिक हो, मै वचन और कर्म मे सत्य का अनुसरण करूँ। यह प्रकट सत्य है कि भौतिक पदार्थों का सम्पूर्ण त्याग कर देने पर भी जैन साधु सुख और शान्तिपूर्वक रहते है। यथार्थ रूप मे तो मुझे कहना चाहिए कि उनकी शान्ति त्याग कर देने पर भी' नही, अपितु त्याग करने के कारण है। मै चाहूँगा कि जैन धर्म और उसके सिद्धान्तो का हर देश मे प्रसार हो। यह विश्व के लिए वरदान ही सिद्ध होगा।

मै यह मानता हूँ कि यह मेरे परम भाग्य का उदय था कि आचार्यश्री तुलसी के सम्पर्क मे मै आया। जैनो की पुस्तिका मेरे हाथ मे आई और उनके प्रतिनिधि बम्बई मे मुझसे मिलने आए। मैं इस सबके लिए अत्यन्त आभारी हूँ।

मैं अपने कार्य के सम्बन्ध मे दुनिया के नाना देशो मे जाता हूँ, बराबर यात्रा करता रहता हूं और सभी तरह के एव सभी श्रेणियो के लोगो से मिलता हूँ। आज सर्वत्र भय का साम्राज्य है—युद्ध का भय, भविष्य का भय, सम्पत्ति-अपहरण का भय, स्वास्थ्य-नाश का भय, भय और भय! इस भय के स्थान मे हमे विश्वास और श्रद्धा की स्थापना करनी होगी, वह श्रद्धा जिसमे कि अन्तत विश्व-शान्ति अवश्य स्थापित होगी। इतिहास हमे बार-बार यही शिक्षा देता है कि युद्ध से युद्धो का जन्म होता है। जीत किसी की नही होती, अपितु सभी की करुणाजनक हार ही होती है।

पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमे प्रतिदिन ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे मोक्ष और ईश्वरत्व की प्राप्ति हो सके। असत्य, पर-निन्दा, सासारिक आकाक्षाए—सभी का त्याग करना चाहिए और उनके स्थान पर जाति, धर्म और वर्ण का भेद भुलाकर सबके प्रति सच्ची मैत्री का विकास करना चाहिए तथा अन्तिम लक्ष्य की ओर कदम-से-कदम मिला कर आगे बढ़ना चाहिए। मेरा विश्वास है कि अणुव्रत-आन्दोलन स्थायी विश्व-शान्ति का सच्चा और शक्तिशाली साधन बन सकता है। धीरे-धीरे ही सही, किन्तु यह आन्दोलन सारे विश्व मे फैल सकता है।

जैन दर्शन का मूल सत्य है। सत्य से सब कुछ सिद्ध हो सकता है। हमारा भविष्य हमारे अपने हाथों मे है। हम अपने-आप सुख और दुःख की रचना कर सकते है।

पश्चिम को जैन सिद्धान्तो की बडी आवश्यकता है। पूर्व और पश्चिम के धर्म एक-दूसरे की पूर्ति कर सकते है। उन सबमे प्रेम और सत्य का स्थान है। इस विषय मे उनमे कोई अन्तर नही है।

दुनिया मे आज पूर्वाग्रहो को लेकर गहरी खाई पडी हुई है। उस पर हमको सहमति का पुल निर्माण करना चाहिए। अध्यात्म के द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है।

मानव जाति के पथ-दर्शक

श्री हेलमुथ डीटमर,
भारत में पश्चिमी जर्मनी के प्रधान व्यापार दूत

आचार्यश्री तुलसी के धवल समारोह के अवसर पर मुझे कुछ वर्ष पहले माटुंगा (बम्बई) मे आयोजित जैन समाज के धार्मिक समारोह की याद हो आती है, जो साध्वीश्री गोरांजी के तत्वावधान मे हुआ था और उसमे मै प्रथम बार जैनो के सम्पर्क मे आया था। मैं उस समारोह से अत्यन्त प्रभावित हुआ। मै श्रावक और श्राविकाओ के बीच बैठा हुआ था और मैंने साध्वीजी के मुख से धर्म-शास्त्रो की व्याख्याए सुनी। उन्होने काम, क्रोध, मद लोभ, हिसा, दभ, असत्य, चोरी, अहकार और भौतिकवाद के विरुद्ध प्रवचन दिया। जब उन्होने कहा कि अहिसा परम धर्म है, सबसे मुख्य विधान और सर्वोत्तम गुण है, तो मुझे उनका यह कथन बहुत सुन्दर लगा। मै साध्वीजी के भव्य आध्यात्मिक और शान्त रूप को कभी विस्मृत नही कर सकूंगा।

इस अवसर पर जैन धर्म, उसके सिद्धान्तो, सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग चरित्र की विधियो और अणुव्रत-आन्दोलन का मुझ पर गहरा और स्थायी असर पडा और मै उनका प्रशसक बन गया। मेरी कामना है कि जैन श्वेताम्बर तेरापथ के नवं आचार्य और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रणेता आचार्यश्री तुलसी दीर्घायु हो और मानव-जाति का पथ-प्रदर्शन करते रहे।

मानवता का कल्याण

डब्ल्यू फोन पोखाम्मेर
बम्बई में जर्मनी के भूतपूर्व प्रधान व्यापार दूत

जब मैने भारतीय धर्मो का अध्ययन शुरू किया तो मै विशेषत जैन धर्म से अत्यन्त प्रभावित हुआ। वह मनुष्य का उसके अन्तर मे स्थित नैतिक व एकमात्र दैवीतत्त्व के साथ सीधा सम्बन्ध जोडता है।

मै जैनो की कुछ धार्मिक सभाओ मे सम्मिलित हुआ हूं और मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि वे नैतिकता को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। वे हमको शिक्षा देते है कि केवल श्रोता बन कर मत रहो, अपितु आचरण भी करो, सक्रिय मनुष्य बनो। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक सत्सग का परिणाम व्रत के रूप मे आना चाहिए।

आचार्यश्री तुलसी मुझे विशिष्ट पुरुष प्रतीत हुए, कारण वह अपने सम्प्रदाय के अनुयायियो को ही नही, अपितु सभी को नैतिक सिद्धान्तो के अनुसार जीवन बिताने की प्रेरणा देते है।

मेरी हार्दिक कामना है कि वह अपने उच्च लक्ष्य को सिद्ध करने मे सफल होगे, जिसके फलस्वरूप न केवल भारत का अपितु समस्त मानवता का कल्याण होगा।

नैतिक जागरण का उन्मुक्त द्वार

डा० लुई रेनु, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, भारतीय विद्याध्ययन-विभाग, संस्कृत-प्राध्यापक, पेरिस विश्वविद्यालय

आचार्यश्री तुलसी तेरापथ सम्प्रदाय के नवम अधिशास्ता है,जिनसे मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वे एक आकर्षक व्यक्तित्व वाले है। वे युवक है जिनकी शारीरिक आकृति सुन्दर है। उनकी आँखो मे विशेष रूप से आकर्षण है, जिसका किसी भी दर्शक के हृदय पर अनायास ही गहरा असर पड़ता है। वे सस्कृत-साहित्य के अधिकारी विद्वान् है और विशिष्ट कवि भी। सबसे अधिक सब प्राणियो के प्रति उनकी दयालुता और जो सहिष्णुता है, वह बड़ी उच्चकोटि की है। उनके साढे छ सौ के करीब साधु-साध्वियाँ शिष्य है। उनके अनुयायी पाँच लाख के करीब है, जो हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे रहते है।

मुझे ज्ञात है कि भारतीय जनता की प्रवृत्ति बहुत धार्मिक है। मैने इस तथ्य को कुमारी अन्तरीप से दरभगा तक के अपने दौरे मे बहुधा अनुभव किया है। किन्तु धर्म के प्रति जितनी शुद्ध एव सच्ची श्रद्धा मुझे तेरापथ सघ मे प्रतीत हुई, उतनी अन्यत्र कही भी नही।

तेरापथ सघ के लिए यह बडे सौभाग्य का विषय है कि उनको आचार्यश्री तुलसी जैसे महान् व्यक्ति आचार्य के रूप मे प्राप्त हुए है। मै सोचता हू कि उनके कारण ही यह सघ अपना व्यापक विकास करेगा तथा अपनी महत्ता के साथ सारे ससार मे प्रसार पायेगा।

आचार्यश्री तुलसी का धवल समारोह उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने का अवसर देता है। आधुनिक भारत के वे एक अत्यन्त प्रमुख महापुरुष है और इस सम्मान के पूर्णतया अधिकारी है। उन्होने न केवल तेरापथ समाज का सही मार्ग-दर्शन करके पूर्व आचार्य के काम को प्रभावशाली रूप मे आगे बढाया है, प्राचीन शास्त्रो के अनुसार यह सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र का कार्यक्रम है, बल्कि नैतिक जागरण का द्वार उन्मुक्त कर दिया है। यह कार्यक्रम हमारी आज की अशान्त और त्रस्त दुनिया मे विवेक और शान्ति का सबल स्तम्भ है।

ढाई हजार वर्ष पूर्व के जैन-संघ में

डा० डब्ल्यू नोर्मन ब्राउन

अध्यक्ष, दक्षिण-पूर्व एशियाई प्रदेश-अध्ययन विभाग तथा

अध्यापक, सस्कृत, पेन्स्यालवेनिया विश्वविद्यालय (यू० एस० ए०)

तेरापथ सम्प्रदाय के निकट सम्पर्क मे आने का सौभाग्य मुझे तभी प्राप्त हुआ जब कि मैं आचार्यश्री और उनके शिष्य साधु-साध्वियो के तथा श्रावक-श्राविकाओ के परिचय मे आया। जब कभी मै जैनो से मिलता हूँ, मुझे अत्यधिक प्रसन्नता होती है और आचार्यश्री तुलसी के दर्शन पाकर भी मैने यही अनुभूति की है।

मेरे लिए वह एक मूल्यवान् एव आनन्ददायक समय था जब कि आचार्यश्री से बातचीत करने का तथा गोष्ठी मे भाग लेने का अवसर मुझे मिला था। आचार्यश्री की स्वय की विद्वत्ता और उनके साधु-साध्वियो की विद्वत्ता से भी, कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। मुझे यह भी आश्चर्य हुआ कि उनके श्रावको मे भी यह क्षमता है कि वे गोष्ठी मे चर्चित तात्त्विक विषयो को, जो कि गुजराती, सस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओ मे होती रही, समझ सकते थे। यह तो मुझे अत्यधिक ही अद्भुत लगा, जब कि एक साधु बिना किसी पूर्व तैयारी के प्राकृत भाषा मे भाषण करने लगे। इन सब बातो से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन मे उनका सम्प्रदाय जैन दर्शन और सिद्धान्तो का परिश्रम पूर्वक अध्ययन और विकास कर रहा है।

मैं यह मानता हूँ कि आचार्यश्री के साथ वार्तालाप करने से मुझे तेरापथ के विशिष्ट सन्देश की जानकारी हुई है। उनमे तेरापथ के आदर्शों, पद्धतियो, सघ-व्यवस्था, विश्व-शान्ति की दिशा मे उसके प्रयत्नो आदि के विषय मे स्पष्ट और अधिकारपूर्ण जानकारी मुझे प्राप्त हुई है। आचार्यश्री के साथ के मेरे सम्पर्क के समय मुझे यह अनुभूति होती थी, मानो मै ढाई सहस्र वर्ष पूर्व के किसी जैन-सघ मे प्रविष्ट हुआ हूँ।

महान् कार्य और महान् सेवा

श्री वी० वी० गिरि
राज्यपाल, केरल

तीन वर्ष पहले की बात है। मैंने कानपुर मे अणुव्रत-आन्दोलन के नवम वार्षिक अधिवेशन मे भाषण दिया था तो मुझे इस आन्दोलन का पूरा विवरण जानने का सौभाग्य मिला था। तभी से मैं आचार्यश्री तुलसी के उस महान् कार्य और महान् सेवा से प्रभावित हूँ जो वह मानव जाति की भावी प्रगति के लिए नैतिक आधार स्थापित करने के लिए कर रहे हैं।

एक मशाल

आज दुनिया को नैतिक उत्थान की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नही थी। कोई राष्ट्र तब तक प्रगति नही कर सकता अथवा अपने को बलवान् नही कह सकता, जब तक उसके लोग उच्च आदर्शों का अनुसरण नही करते और सद्गुणी नही होते। जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण ने लोगो को स्वार्थी बना दिया है और भ्रष्टाचार एव भ्रष्ट व्यवहारो, जैसे कि रिश्वतखोरी और मिलावट ने भारतीय जीवन को तबाह कर दिया है। आज हम मानव भवितव्य के चौराहे पर खडे है। ऐसी स्थिति मे जब कि हमारे पास युगो पुरानी परम्पराओ और सास्कृतिक मूल्यो की विरासत मे मिली हुई निधि विद्यमान है, तब समस्त अन्धकार को दूर करने के लिए केवल एक मशाल की आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन वह मशाल है।

जैसा कि आचार्यश्री तुलसी ने स्वय कहा है, 'अणुव्रत-आन्दोलन जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक सिचन की योजना है। उसका उद्देश्य सामाजिक अथवा राजनीतिक हित की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है। वह उद्देश्य आध्यात्मिक कल्याण है और आध्यात्मिक कल्याण केवल सर्वोच्च श्रेय ही नही सम्पूर्ण श्रेय है। उसमे स्वय के श्रेय और दूसरो के श्रेय दोनो का समावेश होता है।'

नैतिक मूल्यों से उपेक्षित अर्थशास्त्र असत्य

आज हमने समाजवादी ढग के समाज को अपना राष्ट्रीय उद्देश्य स्वीकार किया है। मेरे विचार से यह केवल राजनीतिक अथवा आर्थिक नही है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए समान अवसर मिलना चाहिए और राष्ट्रीय प्रयास मे भाग लेना चाहिए अथवा प्रत्येक नागरिक को कुछ-न-कुछ आर्थिक न्याय मिलना चाहिए, प्रत्युत ऐसा आदर्श है जो सर्वव्यापक है और राष्ट्र के आध्यात्मिक और सास्कृतिक जीवन को स्पर्श करता है एव जिसका नैतिक आधार है। सन् १९२४ मे गाधीजी ने 'यग इण्डिया' मे लिखा था, 'वह अर्थशास्त्र असत्य है जो नैतिक मूल्यो की उपेक्षा अथवा अवहेलना करता है। आर्थिक क्षेत्र मे अहिसा के नियम के विस्तार का इसके अतिरिक्त कोई अर्थ नही होता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियमन नैतिक मूल्यो के आधार पर किया जाए।'

भारतीय पद्धति के समाजवाद मे जो गांधीजी का स्वप्न था व हमारा राष्ट्रीय ध्येय है, दूसरे कथित समाजवादी देशो के समाजवाद मे यह अन्तर है कि हम अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए सत्य और अहिंसा पर सम्पूर्ण श्रद्धा रखते हैं जब कि अन्य समाजवादी देश शक्ति को नये समाज की प्रसव पीडा मानते है अथवा जैसा कि अन्य कुछ लोग कहते है, अण्डे को तोड़े बिना आमलेट नही बन सकता। विदेशो मे जो लोग समाजवाद की कल्पना के पुष्ठ पोषक बने

हुए है, उनके निकट साधनो का कोई महत्त्व नही यदि साध्य न्यायोचित हो। किन्तु गाधीजी का कहना था कि साधनो को साध्य से पृथक् नही किया जा सकता। इसका यह अर्थ होता है कि न्यायोचित साध्य को अनुचित साधनो से प्राप्त करना नैतिक नही है। गाधीजी का कहना था कि हमको लोगो का हृदय परिवर्तन करके सामाजिक परिवर्तन लाना चाहिए।

हमारी सभी नीतियो और कार्यक्रमो मे यही नैतिक भावना निहित है। सन् १९३७ मे गाधीजी ने आर्थिक पुनर्रचना के अपने सिद्धान्तो का विश्लेषण किया और कहा, "अर्थशास्त्र उच्च नैतिक मानदण्ड का कभी विरोधी नही होता, जिस प्रकार कि सभी सच्चे नैतिक नियमो को उत्तम अर्थशास्त्र के भी अनुकूल होना चाहिए। जो अर्थशास्त्र केवल लक्ष्मी की पूजा करने का आग्रह करता है और बलवान् को निर्बल को हानि पहुँचा कर धन-सग्रह करने मे समर्थ बनाता है, वह झूठा और दयनीय विज्ञान है। वह मौत का सन्देशवाहक होगा। इसके विपरीत सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय का पोषक होता है, वह सबका, निर्बल मे निर्बल का हित साधन करता है और उत्तम जीवन के लिए अनिवार्य होता है।" समाजवाद के नैतिक आधार की इससे अच्छी व्याख्या दूसरी नही हो सकती।

अध्यात्म की नकेल

आचार्यश्री तुलसी ने यही विचार प्रतिपादित किया है। उन्होने भौतिकता पर आध्यात्म की नकेल लगाई है। उनका तत्त्व ज्ञान व्यक्ति पर केन्द्रित है और सर्वोच्च सामाजिक श्रेय प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को नियमो का कुशलता-पूर्वक पालन करना चाहिए। यह विधि सहिता कोई ऐसी कठोर नही है कि उसकी अवहेलना करने पर न्यायालयो द्वारा किसी को दण्ड पाना पडे। न्यायालय वास्तविक और प्रभावशाली समाजवाद की स्थापना करने मे सहायक नही हो सकते। यह बहुधा कहा गया है कि लोकतन्त्र की सफलता मुख्यत इस पर निर्भर करती है कि लोग अपने अधिकारो और सुविधाओ की माँग करने के पहले अपने कर्तव्यो और उत्तरदायित्वो को पूरा करे। लोकतन्त्र की भाँति समाजवाद की सफलता की भी यही कसौटी होगी। आदर्श की पूर्ति के लिए नागरिको को राष्ट्र के सामने उपस्थित सभी कार्यों मे बिना किसी बाहरी सत्ता के आदेश के स्वेच्छा और उत्साहपूर्वक योग देना चाहिए।

इन प्रयत्नो मे अणुव्रत और ऐसे ही अन्य आन्दोलन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचे मे ठोस और स्थिर नैतिक आधार पर व्यापक परिवर्तन लाने मे हमारी सहायता कर सकते है।

संत भी, नेता भी

श्री गोपीनाथ 'अमन'

अध्यक्ष, जन-सम्पर्क समिति, दिल्ली प्रशासन

करीब आठ-नौ वर्ष पूर्व की बात है जबकि मै दिल्ली विधान-सभा का उपाध्यक्ष था, एक दिन मेरे मित्र श्री जैनेन्द्र-कुमारजी ने, जब हम दोनो एक अधिवेशन से वापस आ रहे थे, कहा कि चलिये, आपको एक सत के दर्शन कराए । मैंने पूछा, कौन ? उन्होने बताया, आचार्यश्री तुलसी। मैने आचार्यश्री तुलसी का नाम तो सुन रखा था, न मैने उन्हे देखा था और न उनके आन्दोलन को। मै जैनेन्द्रजी के साथ नया बाजार मे आया। वहाँ आचार्यश्री तुलसी के दर्शन हुए। सडक के किनारे उनके श्रद्धालु भक्तो की बहुत बडी भीड थी। मेरा थोडा ही परिचय हुआ और मै दर्शन करके चला आया। कोई विशेष बातचीत नही हुई। दर्शनो से मै प्रभावित अवश्य हुआ, परन्तु इतना ही कि यह एक सत है और एक धार्मिक सम्प्रदाय के आचार्य है। यद्यपि यह भी अपने-आप मे बहुत बडी बात है, परन्तु तब मै अणुव्रत-आन्दोलन को नही जानता था। इसकी कुछ रूप-रेखा मुझे उनके सतो के द्वारा उस समय ज्ञात हुई, जब मैं एक वर्ष बाद दिल्ली-राज्य का मन्त्री बन गया। मुनिश्री नगराजजी और मुनिश्री बुद्धमलजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनिश्री नथमलजी से मेरा परिचय हुआ और मैंने अणुव्रत-आन्दोलन का थोडा-बहुत अध्ययन किया। जहाँ तक मुझे याद है, मैने जोधपुर मे पहला अधिवेशन देखा। फिर तो सरदार शहर और राजस्थान के कई स्थानो मे जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और आचार्यश्री तुलसी के दर्शन निकट से हो सके।

जब मै मन्त्री था, तो कुछ मेरे अणुव्रती होने की भी चर्चा चली, परन्तु मन्त्री होते हुए मै अणुव्रत के नियमो को पूरी तरह निबाह नही सकता था। मै यह नही कहता कि यह निर्वाह किसी मन्त्री के लिए सम्भव नही है, परन्तु मेरे-जैसे दुर्बल मनुष्य के लिए असम्भव अवश्य था। फिर जब विधान सभा टूटी और मैं जन-सम्पर्क समिति का प्रधान बना तो उसी के कुछ सप्ताह पीछे मैंने एक रात्रि को आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य मे अणुव्रत भी ग्रहण किये। अब एक अणुव्रती होने के नाते और दिल्ली अणुव्रत समिति के प्रधान तथा अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के उपप्रधान होने के नाते आचार्यश्री से और निकट सम्पर्क हुआ। मै जो अपने विचार लिख रहा हूँ, वह उनकी पूरी रूप-रेखा नही है, परन्तु इतना ही है, जितना कि मैं देख सकता था।

सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्ति से प्रभावित

मै सिद्धान्त की अपेक्षा मनुष्य से अधिक प्रभावित होता हूँ। जब मैं सन् १९२१ मे कांग्रेस मे आया तो गाधीजी के चरित्र से आकर्षित होकर, और अणुव्रत-आन्दोलन मे आया तो आचार्यश्री तुलसी और उनके सतो से प्रभावित होकर। महाव्रती का जीवन बीसवी शताब्दी मे, बल्कि सवत् के हिसाब से इक्कीसवी शताब्दी मे बडा आश्चर्यजनक है। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताए बढा ली है और आवश्यकताओं का बढाना सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा है। एक ऐसे दौर मे कोई व्यक्ति या उससे भी बढ कर कोई मण्डली अपनी आवश्यकताओ को इतना समेट ले कि उसके पास एक-दो कपडे और पात्रो से अधिक कुछ न हो, यह बडे आश्चर्य की बात है। और फिर ऐसे महाव्रतियो का अपना सगठन है, यह और भी आश्चर्य की बात है।

आचार्यश्री तुलसी एक सत ही नही, एक नेता भी है। सत नेता होना बहुत कठिन काम है। सत तो अपना ही

सुधार करते है और जो उनके सम्पर्क मे आ जाये, तो कभी-कभी प्रभावित होकर उनका भी सुधार हो जाता है, परन्तु एक नेता तो सुधार का मिशन लेकर चलता है। आचार्यश्री तुलसी के पीछे साढे छ: सौ सत और साध्वियाँ है और लाखो मनुष्य भी। इन साढे छ सौ महाव्रतियो को नियत्रित रखना कोई साधारण काम नही। नेता की दृष्टि मे तो वह सच्चा और पूर्ण नेता है जो सबकी कमजोरियो को भी, जो होती ही हैं, निबाह देता है। आचार्यश्री तुलसी को भी कई ऐसी कठिनाइयाँ पेश आती रहती है, जैसे महात्मा गाधी को आश्रम मे पेश आती थी। इसके विशेष वर्णन की आवश्यकता नही, केवल सकेत करना ही काफी है। परन्तु आचार्यश्री तुलसी मे नेतृत्व का इतना बडा जौहर है कि मैंने उन्हे कभी अशान्त नही देखा। यह एक नेता का सबसे बडा गुण है और यह एक सत नेता मे ही हो सकता है। इस समय आचार्यश्री तुलसी एक तो तेरापथ-सम्प्रदाय के आचार्य है और दूसरे अणुव्रत-आन्दोलन के नेता। तेरापथी सम्प्रदाय तो एक धार्मिक सम्प्रदाय है, परन्तु अणुव्रत-आन्दोलन एक नैतिक आन्दोलन है, जिसमे जैन ही नही, बल्कि न जाने कितने मुझ-जैसे अजैनी भी सम्मिलित है। यह कोई छिपी हुई बात नही कि जो लोग केवल जैनियो को अणुव्रतो का अधिकारी मानते है या अणुव्रत को केवल इसी रूप मे मानते हैं कि वह महाव्रती के लिए प्राथमिक साधन है, वे आचार्यश्री तुलसी के अणुव्रत-आन्दोलन का विरोध भी करते है, परन्तु आचार्यश्री तुलसी ने न तो अपने स्तर से उतर कर कभी इन विरोधियो को उत्तर दिया है और न कभी उनसे प्रभावित होकर अपने आन्दोलन के काम को रोका है। यह भी एक सच्चे नेता की ही बात है।

विरोध की एक लम्बी कहानी

आचार्यश्री तुलसी के विरोध मे क्या-क्या किया गया, क्या-क्या कहा गया, क्या-क्या लिखा गया, यह भी एक लम्बी कहानी है। कलकत्ते मे सन् १६५६ के अधिवेशन मे भी मुझे निमन्त्रित किया गया था। वहाँ मैने भी इन विरोधो का कुछ रूप देखा। मैं कभी-कभी आवेश मे भी आया, परन्तु आचार्यश्री मुस्कराते ही रहे। ये सत माइक्रोफोन पर नही बोलते, इसलिए बडी सभाओ मे उनकी आवाज पहुँचने मे अवश्य ही कठिनाई होती है, परन्तु आचार्यश्री तुलसी की आवाज बहुत तेज है। मैंने देखा कि कलकत्ते मे उनके बोलते समय जोर-जोर से पटाखे छोडे गए, ताकि सभा के काम मे खलबली मचे, परन्तु आचार्यश्री न केवल स्वय शान्त रहे, बल्कि उनमे इतना प्रभाव था कि उन्होने सारे समूह को शान्त रखा। उस समूह मे मुझ-जैसे लोग भी थे, जो जल्दी आवेश मे आ जाते है, परन्तु यह उनका प्रभाव और आकर्षण था कि कोई आवेश मे नही आया। उन्होने अपने व्याख्यान मे भी कहा कि जो मेरे भाई मेरे विरोधी है, वे मुझे अवसर द कि वे मुझे समझा दे या मैं उनको समझा दूँ। इतने बडे महान् नेता के लिए यह बात कहना उसकी महानता का परिचायक है। मैने आचार्यश्री से जब-जब बाते की है तो मैने यह देखा कि विरोधियो के प्रति उनमे जरा भी रोष नही। ससार के अन्य महान व्यक्तियो की तरह वे विरोधियो को निपटाते तो है, परन्तु न उन्हे कोई हानि पहुँचाना चाहते है और न उनके स्तर पर उतर कर कोई जवाब देना चाहते हैं, यह बहुत बडी बात है।

जीवन में स्याद्वाद

दूसरी महानता जो मैंने आचार्यश्री मे देखी, वह यह कि स्याद्वाद को उन्होने अपने जीवन मे पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया है। उनके दर्शको मे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी वर्गों के और सभी जातियो के लोग होते है। यह भी स्पष्ट है कि जैन-धर्म जितना अहिसा पर जोर देता है, अन्य सभी धर्म उतना जोर नही देते, परन्तु आचार्यश्री यह देख लेते है कि मेरे साथ कोई कितना चल सकता है और उससे उतनी ही आशा करते हैं। इससे सगठन मे बहुत सहायता मिलती है। इन दिनो आचार्यश्री ने 'नया मोड' आन्दोलन चलाया है। समाज-सुधार का काम वैसे ही बडा कठिन है, परन्तु मारवाडी समाज जितना पिछडा हुआ है, उसमे यह काम और भी कठिन है। पर्दे के विरोध में, दहेज के विरोध मे, ब्याह-शादियो मे अधिक धन खर्च करने और दिखावा करने के विरोध मे, विधवाओ के तिरस्कार करने के विरोध मे आचार्यश्री ने एक पिछडे हुए समाज मे जिस प्रकार आवाज उठाई, उससे कुछ लोग असतुष्ट भी है। आचार्यश्री ने ऐसे हरिजनो के

यहाँ, जिनका खानपान शुद्ध है, अपने सतो को भिक्षा लेने को भी आज्ञा दे दी। इस पर भी उनका विरोध हुआ और जब ऐसी बातो मे उनका विरोध होता है तो मुझे गाधीजी की याद आती है। महात्मा गाधी भी जीवन-पर्यन्त समाज को उठाने का प्रयत्न करते रहे और उनके विरोधी उन्हे बुरा-भला कहते रहे। आज जो लोग सच्चा धर्म नही चाहते, जो लकीर के फकीर बने रहना चाहते हैं, जो यह चाहते हैं कि साधु-संत उन्हे पिछली कथाए सुनाते चले जायं और भविष्य के बारे मे कुछ न कहे, क्रान्ति की बात न करे, ऐसे लोगो मे आचार्यश्री के प्रति अश्रद्धा और अविश्वास होना प्राकृतिक ही है। परन्तु आचार्यश्री जिस मार्ग पर चल रहे हैं या जिस पर चलना चाहते हैं, उसमे उन्हे कोई विचलित नही कर सकता।

कुशल वक्ता

कुशल वक्तृत्व का भी आचार्यश्री मे एक विशिष्ट गुण है। एक तो उनकी आवाज ही बहुत ऊँची है, मधुर भी है और वह यह देख लेते हैं कि जिस जनता मे मैं बोल रहा हूँ, वह कितना ग्रहण कर सकती है। बाज ऊँचे व्यक्तियो मे यह दोष होता है कि वे कभी-कभी बिल्कुल बे-पढे-लिखे लोगो मे दर्शन शास्त्रो का वर्णन करने लगते है। आचार्यश्री को इतना अनुभव हो गया है कि वह जिस जनता मे बात करते है, ऐसी बात कहते है कि उसके हृदय मे उतर जाये। यह बात और है कि वह जनता कहाँ तक उस उद्देश्य को क्रिया-रूप मे परिणत कर सकती है।

हजारो मील पैदल चल कर लाखो मनुष्यो से सम्पर्क रखते हुए आचार्यश्री तुलसी को कब सोचने का और लिखने का समय मिलता है, यह भी आश्चर्य की बात है। सब-कुछ करते हुए भी वे मनन भी करते रहते है और लिखते भी रहते है। गद्य मे भी लिखते है और पद्य मे भी वे लिखते है। दोनो मे मधुरता है, दोनो मे सरसता है, दोनो मे गम्भीरता है और दोनो मे एक ऊँचे दर्जे का उद्देश्य है।

ऊँचे विचार कार्य-बुद्धि में विघ्न नहीं

आचार्यश्री तुलसी उस गुण के भी धनी है, जो महात्मा गाधी मे था। ऊँची-ऊँची बातो का विचार करते हुए भी छोटी बाते उनकी आँखो से ओझल नही होती और वे कुशलतापूर्वक छोटे-छोटे मसलो को भी निपटाते रहते है। किस सत को कहाँ जाना है, किस गृहस्थी से बात करनी है, कार्यक्रम कैसे बनाना है, सभा मे किस-किस का वर्णन करना है, किसको कहाँ बैठना है, कौन किस प्रकार बैठा है, कौन सुन रहा है, कौन बात कर रहा है, यह सब उनकी नजर मे रहता है। उनके उच्च विचार, उनकी कार्य-बुद्धि मे विघ्न नही डालते। मैने अधिवेशनो मे उनका यह गुण विशेष रूप से देखा है। छोटे-से-छोटा मनुष्य हो या देश का सबसे बडा व्यक्ति, या बाहर के देश से आया हुआ कोई विद्वान् या उच्च पदाधिकारी, उनसे मिल कर सबको सन्तोष होता है। हरिजन उनके कमरे मे आते झिझकते थे, परन्तु उनके हौसला दिलाने से उन्हे चरण-स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अणुव्रत-आन्दोलन की गति से आचार्यश्री तुलसी को नहीं जाँचना चाहिए। उसकी प्रगति यदि मन्द है तो उसके लिए हम जैसे अकर्मण्य लोग जिम्मेदार है।

पूरा सतगुरु क्या करै, जो सिखां में चूक।
अन्धा लोक न लेते रह्यो, कहै कबीरा कूक॥

आज जबकि आचार्यश्री तुलसी का धवल-समारोह मनाया जा रहा है, मै नम्रतापूर्वक उनके चरणो मे अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करता हूँ।

आधुनिक भारत के सुकरात

महर्षि विनोद, एम० ए०, पी-एच० डी०, न्यायरत्न, दर्शनालंकार
प्रतिनिधि विश्व शान्ति आन्दोलन, टोकियो (जापान) सदस्य, रायल सोसाइटी आफ आर्टस्, लन्दन

तपस्या सर्वश्रेष्ठ गुण है

—पौरुशिस्त (तैत्तरीय उपनिषद्, १-६)

आचार्य तुलसी एक अर्थ मे आधुनिक भारत के सुकरात है। वह एक पारगत तर्कविद् है, किन्तु उनकी मुख्य शिक्षा यह है कि सत्य केवल वाद-विवाद का विषय नही, प्रत्युत आचार का विषय है। एक शताब्दी से अधिक की अग्रेजी शिक्षा ने भारतीय मानस को तर्कप्रधान बना दिया है। महात्मा गाधी और प० मदनमोहन मालवीय, डा० राधाकृष्णन् ने इस बुराई का प्रकटत बहुत कुछ निवारण किया है। आचार्य तुलसी ने भारत मे मिथ्या तर्कवाद की बुराई को दूर करने के लिए एक नया ही मार्ग अपनाया है। उनका आग्रह है कि मनुष्य को नैतिक अनुशासनो का पालन करके सत्यमय और ईश्वरपरायण जीवन बिताना चाहिए।

छोटा आकार, विशाल परिणाम

इन दिनो हम घटनाओ और वस्तुओ की विशालता से प्रभावित होते है और उनके आन्तरिक महत्त्व की उपेक्षा करते है। फ्रासीसी गणितज्ञ पोयकेर ने कहा है कि एक चीटी पहाड से भी बड़ी होती है। पहाड की एक छोटी-सी चट्टान लाखो चीटियो को मार सकती है, किन्तु पहाड को यह पता नही चलता कि उसे स्वय को अथवा चीटियो को क्या हुआ। इसके विपरीत हर चीटी को पीडा और मृत्यु का अर्थ विदित होता है। आचार्य तुलसी की अणुव्रत-विचारधारा नैतिक अनुशासन का महत्त्व प्रकट करती है। यह अनुशासन आकार मे छोटे होते हुए भी परिणाम की दृष्टि मे बहुत विशाल है।

अपने प्रारम्भिक जीवन मे आचार्य तुलसी ने अत्यन्त कड़े अनुशासन का पालन किया। वे यह मानते थे कि कठोर तपस्या के द्वारा ही मनुष्य इस ससार मे नया जीवन प्राप्त कर सकता है। नये जीवन का यह पुरस्कार प्रत्येक व्यक्ति अपने ही प्रयत्नो से प्राप्त कर सकता है। नया जीवन अपने आप नही मिलता। उसे प्राप्त करना होता है। आचार्य तुलसी के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए। भारत जैसे देश मे ही आचार्य तुलसी जैसे महापुरुष जन्म ले सकते हैं। तपस्या के द्वारा नया जीवन प्राप्त करने के लिए भारतीय पूर्वजो का उदाहरण और भारतीय सास्कृतिक सम्पदा अत्यन्त मूल्यवान् थाती है।

मैं आचार्य तुलसी से मिला हूँ। मैने अनुभव किया कि वे ईश्वरीय पुरुष है और उन्होने ईश्वर का सन्देश फैलाने और उसका कार्य पूरा करने के लिए ही जन्म धारण किया है। वे न भूत काल मे रहते हैं, न भविष्य काल मे। वे तो नित्य वर्तमान मे रहते है। उनका सन्देश सब युगो के लिए और सारी मानव जाति के लिए है।

ईश्वर द्वारा मनुष्य की खोज

अज्ञात काल से मनुष्य का आन्तरिक विकास केवल एक सत्य के आधार पर हुआ है। वह सत्य है—मानव की ईश्वर की खोज। इस बात को हम बिल्कुल दूसरी तरह से भी कह सकते हैं कि ईश्वर भी मनुष्य की खोज कर रहा है ईश्वर को मनुष्य की खोज उतनी ही प्रिय है जितना कि मनुष्य ईश्वर की खोज करने के लिए उत्सुक है। एक बार यदि

हम यह समझ ले कि ईश्वर और मनुष्य दो पृथक् सिद्धान्त नही है, पूर्ण मनुष्य ही स्वय ईश्वर होत है तो दुनिया के सभी धर्म आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न मार्ग प्रतीत होंगे। जब मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है तो वह केवल अपनी सर्वश्रेष्ठ आत्मा का ही साक्षात्कार करता है।

आचार्य तुलसी के सन्देश का आज के मानव के लिए यही आशय है कि वह स्वय अपने लिए अपनी अन्तरात्मा के अन्तिम सत्य का पता लगाये। यही देवत्व का सिद्धान्त है। उन्होने स्वय पूर्ण दर्शन की स्थापना की है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्म-ज्ञान के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है। अणुव्रत उनके व्यावहारिक दर्शन का नाम है और वह आज के अणु-युग के सर्वथा उपयुक्त है।

अणु शब्द का अर्थ होता है—छोटा और व्रत शब्द का अर्थ है—स्वय स्वीकृत अनुशासन। जैमिनी के अनुसार व्रत एक मनो व्यापार है, बाह्य कर्म नही। अणु भौतिक पदार्थ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग होता है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक भौतिक अणु मे अनन्त शक्ति छिपी हुई है।

त्रिसूत्री उपाय

आचार्य तुलसी ने इस वैज्ञानिक सत्य का मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक प्रयास के क्षेत्र मे प्रयोग किया है। उन्होने यह पता लगाया है कि छोटे-से-छोटा स्वय स्वीकृत अनुशासन मनुष्य की हीन प्रकृति को आमूल बदल सकता है। मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को परिष्कृत करने के लिए दिखाऊ त्याग करने अथवा भक्तिपूर्ण कार्यो का प्रदर्शन करने की आवश्यकता नही होती। यह उपाय त्रिसूत्री है १ गहरी व्याकुलता, २ असदिग्ध सकल्प और ३ एकान्त निष्ठा।

पहले हममे आत्म-विकास की गहरी व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिए। हम बाहरी वस्तुओ और वातावरण मे बहुत अधिक व्यस्त रहते है। हमको अपनी अन्तरात्मा की नवीन विशालता को पहचानना चाहिए। फ्रासीसी यथार्थवादी लेखक सरत्रे ने इस व्याकुलता को ही वेदना का नाम दिया है। व्याकुलता की यह भावना इतनी तीव्र होनी चाहिए कि हर क्षण बेचैनी और व्यग्रता अनुभव हो।

दूसरे आध्यात्मिक प्रगति के लिए स्पष्ट सुनिश्चित सकल्प अत्यन्त आवश्यक है। इन दिनो किनारे पर रहने का फैशन चल पड़ा है। लोग कहते है, हम न इस तरफ है, न उस तरफ। राजनीति मे यह उचित हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे तटस्थता का अर्थ जडता होता है। तटस्थता की भावना भय का चिह्न होनी है। यदि हममे श्रद्धा है और यदि हम भय से प्रेरित नही है तो स्पष्ट सकल्प करना कुछ भी कठिन नही हो सकता।

तीसरे एकान्त निष्ठा का अर्थ है—सम्पूर्ण आत्म समर्पण की पावन क्रिया। विभक्त आत्मा उस जीवन मे कुछ भी सफलता प्राप्त नही कर सकता। अनिश्चय हमारे समय का अभिशाप है। प्राय सारी दुनिया मे शिक्षा प्रणालियाँ इस आन्तरिक विघटन की बुराई का पोषण कर रही है। एमर्सन ने बहुत समय पूर्व इस बुराई के विरुद्ध हमे चेताया था। आत्म-समर्पण की भावना हमको आन्तरिक अनुशासन का जीवन बिताने मे समर्थ बनायेगी।

इस शताब्दी के शान्ति-दूत

आधुनिक जीवन दिखावटी हो गया है। उसमे कोई गभीरता, कोई सार व कोई अर्थ नही है। मनुष्य सम्पूर्ण आत्म-घात के किनारे पहुँच गया है। मनुष्य यदि आचार्य तुलसी के आत्मानुशासन के मार्ग का अनुसरण करे तो वह अपने को आत्म-नाश से बचा सकता है। अणुव्रत की विचारधारा मनुष्य को अपने आन्तरिक शत्रुओ से लडने के लिए अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र प्रदान करती है। अल्प अनुशासन आध्यात्मिक शक्ति का विशाल भण्डार सुलभ कर सकता है। आचार्य तुलसी अपने अणुव्रत के अस्त्र के साथ इस शताब्दी के शान्ति के दूत है। हम अणुव्रतो का व्याकुलता, दृढ सकल्प और निष्ठापूर्वक पालन करके उनके दैवी पथ-प्रदर्शन के अधिकारी बने।

सब सम्मत समाधान

भारतरत्न, महर्षि डी० के० कर्वे

स्पूतनिक के इस युग मे हम विज्ञान द्वारा प्राप्त महान सफलताओ और प्रकृति पर मानव के प्रभुत्व की बात सुनते हैं। किन्तु साथ ही हम नई खोजो की बुराइयो से भयभीत है, जो मानव जीवन का ही अस्तित्व समाप्त कर सकती है। अराजकता की इस स्थिति मे आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे दुनिया की सब बुराइयो का एक समाधान प्रस्तुत करते है, जो सर्वसम्मत है। वह है—आत्म-शुद्धि का वह प्राचीन सन्मार्ग जो मनुष्य के जीवन को सुखद बना सकता है।

चारित्र और चातुर्य

श्री नरहरि विष्णु गाडगिल
राज्यपाल, चण्डीगढ़

गीता के अनुसार जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म की अवस्था बढ़ती है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं और अधर्म को समाप्त करके धर्म संस्थापन का कार्य करते है। सर्व समर्थ ईश्वर निराकार होने की वजह से अवतार कार्य व्यक्ति के द्वारा किया जाता है। आधुनिक भाषा मे यदि हम इसी अर्थ को करे, अब कोई बड़े महात्मा या युगपुरुष बार-बार नही होते। समाज के मार्ग-दर्शन का कार्य नई-नई विचारधाराओ द्वारा किया जाता है। मैं तो यह समझता हूँ कि नवीन दृष्टि समाज के परिवर्तन मे अवश्य हो जाती है और वह दृष्टि रखने वाले जो सज्जन होते है, वे प्रधान विभूति माने जाते हैं। विद्यमान दुनिया मे असन्तोष और अशान्ति इतनी फैली हुई है कि कल क्या होगा, कोई कह नही सकता। न जाने जानकीनाथ प्रभाते कि भविष्यति। अणु मे ब्रह्माण्ड का नाश करने का षड्यन्त्र रचा जा रहा है। वैर से वैर का नाश करने का प्रयत्न किया जा रहा है। परिणाम यह नजर आ रहा है कि वैर बढ़ता जा रहा है और असन्तोष की एक चिनगारी का स्वरूप महान् ज्वालामुखी मे परिवर्तित हो रहा है। शान्ति तो नजर ही नही आती और अगर मूर्खता मे या अविवेकी साहस मे कोई एक कदम उठाया जाये तो जगत का नाश अनिवार्य है। इसीलिए आज शान्ति का और सच्चरित्र का सन्देश आवश्यक है और यही काम आचार्यश्री तुलसी वर्षों से कर रहे हैं। अणु का मुकाबला अणुव्रत से किया जा रहा है। एक-एक व्यक्ति अपने जीवन मे साधु आचार करे तो समाज का जीवन स्थिर नैतिक दृष्टि से बढ़ता ही जायेगा। आज आवश्यकता है, चरित्र की, चातुर्य की नही। आज आवश्यकता है, सम्यक् आचार की, समलकृत वाणी की नही, कार्य की आवश्यकता है, विवरण की नही और यही मार्ग-दर्शन आज आचार्यश्री तुलसी कर रहे है। उनके प्रति श्रद्धाजलि अर्पण कर रहा हूँ। वे अपने कार्य मे सफल हो और उनके द्वारा देश के चरित्र की संस्थापना हो, यही मेरी प्रार्थना है।

सत्य का पवित्र बन्धन

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
महामहिम श्री रघुवल्लभ तीर्थस्वामी
श्री पालिमार मठाधीश, उडीपी

आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन अत्यन्त प्रशसनीय है और सही रास्ते पर चलने मे सहायता प्रदान करता है।

सहअस्तित्व के लिए यह आन्दोलन निश्चित ही बहुत सहायक होगा, अत समस्त मानव जाति सत्य के इस पवित्र बन्धन के प्रकाश मे आबद्ध होगी, ऐसी हम कामना करते है।

समाज-कल्याण के लिए

श्री विद्यारत्न तीर्थ श्रीपादा.
श्री माध्वाचार्य सस्थानम् श्री कृष्णापुर मठ, उडीपी

भौतिकवाद के इस युग मे जब कि जनसाधारण का जीवन नैतिक ह्रास और नैतिक पतन की ओर जा रहा है, यह सर्वथा उपयुक्त है कि उस पतन को रोका जाये और लोगो के सम्मुख नैतिक महानता के समृद्ध आदर्शों को प्रस्तुत किया जाये, जिनके लिए कि देश के महान् आचार्यों ने अपने जीवन काल मे कठोर परिश्रम किया और उनके बाद उनके द्वारा स्थापित मठ यही काम कर रहे है। तुलसी धवल समारोह समिति निस्सदेह अभिनन्दन की पात्र है, जो तेरापथ के आचार्यश्री तुलसी की एकचतुर्थ शताब्दी की उपलब्धियो का विवरण प्रस्तुत कर रही है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ का व्यापक प्रसार होना चाहिए और उसमे देश के नास्तिकों और भ्रमित नवयुवको की आँखे खुल जानी चाहिए कि इस देश के विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओ, सतो और सन्यासियो ने कितनी महान् सफलताए प्राप्त की है। हम भगवान् कृष्ण से प्रार्थना करते है कि इस लौकिकता के और राजनीतिक नेताओ की लम्बी-चौडी बातो के आवरण मे जन-साधारण की, पवित्र हिन्दुओ की मौलिक आकांक्षाए डूबने न पाये। तुलसी धवल समारोह समिति के प्रयास की सफलता की कामना करते हुए हम एक बार पुन प्रार्थना करते है कि आचार्यश्री तुलसी और उनके जैसे सत समाज के कल्याण के लिए दीर्घजीवी हो।

भारत का प्रमुख अंग

श्री गुलजारीलाल नन्दा
श्रम मन्त्री, भारत सरकार

मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के सार्वजनिक सेवाकाल के पच्चीस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष मे उन्हे एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है। अध्यात्मवाद ही भारत का प्रमुख अग है। इसे बिना अपनाये हम अपने चरित्र को ऊँचा नही उठा सकते। इस दिशा मे आचार्यश्री तुलसी ने जो कार्य किया है, वह स्तुत्य एव स्पृहणीय है। ऐसे विद्वानो का अभिनन्दन करने से सर्वसाधारण मे स्फूर्ति आती है और उनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति जागृत होती है। अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाए।

पुरातन संस्कृति की रक्षा

श्री श्रीप्रकाश
राज्यपाल, महाराष्ट्र

आचार्यश्री तुलसी मे मेरा प्रथम परिचय आज मे करीब पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व बीकानेर के चूरू नामक स्थान मे हुआ था। तब से उनसे और उनके समुदाय मे मेरा सम्पर्क बना रहा और कई बार मुझे उनसे मिलने और उनका प्रवचन सुनने का सुअवसर मिला। इसमे मैने बहुत आनन्द का अनुभव किया।

मुझे यह देख कर भी बहुत सन्तोष हुआ कि उनके अनुयायी बहुत ही उत्साही स्त्री-पुरुष हैं जो कि उनके विचारो का सक्रिय प्रचार करते है। उनके द्वारा जन-साधारण की सेवा होती है और जनता को धार्मिक मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। अपने देश मे धर्म का सदा मे ही प्रबल प्रभाव रहा है। आधुनिक विचार शैलियो के कारण इस ओर से कुछ लोग उदासीन होने लगे है। ऐसी अवस्था मे उनको पुन इस ओर ध्यान दिलाते रहना उचित है; क्योकि इसी मे हमारा कल्याण भी है और अपनी पुरातन सस्कृति की रक्षा भी है।

मेरी शुभ कामना है कि आचार्यश्री तुलसी हमारे बीच मे बहुत दिनो तक रह कर हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहे और इनके जीवन और वचन से अधिकाधिक नर-नारी दिन-प्रतिदिन प्रभावित होते रहे। अपनी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करते रहे और व्यक्तिगत मानमर्यादा बनाये हुए देश और समाज की सेवा भी उनके द्वारा होती रहे।

राष्ट्रोत्थान में सक्रिय सहयोग

श्री जगजीवनराम
रेल मन्त्री, भारत सरकार

आत्मोत्थान और नैतिक चारित्र्य-निर्माण अन्योन्याश्रित है। एक को छोड दूसरा सम्भव नही। धर्माचार्य दोनो का मार्ग-दर्शन करने मे अधिक समर्थ होते है। ऐसे आचार्यो मे ही आचार्यश्री तुलसी का स्थान है।

आचार्यश्री ने अपने गत पच्चीस वर्षो के आचार्यत्व एव सार्वजनिक सेवा-काल मे राष्ट्र के आध्यात्मिक व नैतिक उत्थान मे सक्रिय सहयोग दिया है। अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे आपकी सेवाए सराहनीय है। इस उपलक्ष मे उनका अभिनन्दन करना अपने दायित्व को निभाना ही है। आचार्यश्री के सन्देशो व उपदेशो का समावेश करके ग्रन्थ को स्थायी महत्त्व की वस्तु बनाने का प्रयत्न किया जायेगा, इस आशा के साथ मैं अपनी शुभकामना प्रेषित करता हू।

विश्व-मैत्री का राज-मार्ग

श्री यशवन्त राव चह्वाण
मुख्यमंत्री, महाराष्ट्र

सितम्बर मास के अन्त की बात है, राष्ट्रीय एकता सम्मेलन मे भाग लेने मै दिल्ली पहुंचा हुआ था। अकस्मात् आचार्यश्री तुलसी के अनुयायी मुनि (मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम') से साक्षात्कार हुआ। उन्होने आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह का ब्यौरा मुझे बताया। वर्षों की सुषुप्त स्मृतियाँ मेरी आँखो के सामने आ गई। आचार्यश्री बम्बई आये थे। लगभग ८ महीने तक अणुव्रतआन्दोलन का प्रभावशाली कार्यक्रम चला था। मै अनेको बार उस समय आचार्यश्री के सम्पर्क मे आया। उनका व्यक्तित्व अविस्मरणीय है।

प्रत्येक मनुष्य शान्ति चाहता है, पर वह शान्ति व सुख के मार्ग पर चलता नही। यही तो कारण है कि आज भीषणतम आणविक अस्त्रो के परीक्षण चल रहे है। मनुष्य सत्ता-लोलुप होकर सस्कृति और सभ्यता के साथ खिलवाड कर रहा है। यह आध्यात्मिक शून्य भौतिक प्रगति का परिणाम है। आचार्यश्री जैसे लोग आध्यात्मिकता के उन्नयन मे लगे है। यह चिर शान्ति का मार्ग है, मानवता के विकास का मार्ग है। मनुष्य हैवान रहते हुए चन्द्रलोक मे भी यदि पहुंच गया तो वहाँ भी उसे आत्मिक शान्ति के अभाव मे धधकते अगारे ही मिलेगे। अणुव्रत-आन्दोलन विश्वबन्धुता और विश्वमैत्री का राजमार्ग है। आचार्यश्री भूले-भटके लोगो को राह लगा रहे है। उनके प्रति मेरे हृदय मे अगाध श्रद्धा और असीम सम्मान है।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व

श्री हरिविनायक पाटस्कर
राज्यपाल, मध्यप्रदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी के आचार्यकाल व सार्वजनिक सेवाकाल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष मे उन्हे एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेट कर श्रद्धांजलि अर्पित की जा रही है। आचार्यजी का व्यक्तित्व तथा दर्शन, साहित्य आदि क्षेत्रो के श्रेष्ठत्व के सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते। मैं इस महान् प्रयास की सराहना करता हुआ अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए हार्दिक शुभ कामनाए भेजता हूं।

मणि-कांचन-योग

डा० कैलाशनाथ काटजू
मुख्य मंत्री, मध्यप्रदेश

मुझे यह जान कर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को उनके सार्वजनिक सेवा के गौरवशाली पच्चीस वर्ष पूरे होने पर अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया जा रहा है। अभिनन्दन ग्रन्थ वास्तव मे हम सबकी उनके प्रति बनी हुई सम्मान-भावना का प्रतीक है। पिछले वर्षों मे देश के सभी क्षेत्रो मे पैदल भ्रमण कर आपने राष्ट्र के नैतिक एव चारित्रिक पुनरुत्थान का जो महान् कार्य हाथ मे लिया है, वह हमारे पूज्य भारतीय सन्तो की उज्ज्वल परम्परा के अनुरूप ही है। इतिहास जानता है कि इस विशाल देश के सभी क्षेत्रो को एकता के पावन सूत्र मे बाँधने के लिए कितने महापुरुषो तथा सन्तो ने सारे देश का अनेक कठिनाइयो और बाधाओ के बावजूद भी भ्रमण किया है। आचार्यश्री तुलसी उसी परम्परा की नई कडी हैं, जो देश मे नैतिक जागरण के लिए अपना सारा जीवन दे रहे है। सेवा की पवित्र भावना के साथ आचार्यश्री तुलसी में अध्ययन की जो गहराई है, वह मणि मे कांचन-योग के समान है। इस अवसर पर मैं कामना करता हूँ कि आचार्यश्री तुलसी के सेवामय जीवन की आयु बहुत बडी हो और उन्हे अपने कार्यों मे सफलता प्राप्त हो।

आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन

श्री सुज्ञानेन्द्र तीर्थ श्रीपादाः
श्री पुत्तगी मठ, उडीपी

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन ऐसे समय पर किया है जबकि भारत अपनी लुप्त आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने मे लगा है। आचार्यश्री ने भारत मे सर्वत्र अपने अनुयायियो को भेज कर इस आन्दोलन के रूप मे एक सन्देश दिया है।

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन से हमे सचमुच ही प्रसन्नता होती है।

सभी लोग आचार्यश्री तुलसी के इस आन्दोलन मे अपना सहयोग दे और वे अपने पूरे प्रयत्न के साथ इस आन्दोलन को चलाते रहे, ऐसी हमारी शुभ-कामना है।

पंच महाव्रत और अणुव्रत

स्वामी नारदानन्दजी सरस्वती, नेमिषारण्य

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः। सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम्। ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः, अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासबोधः॥

—योग दर्शन

राजनीति व राष्ट्रीय सस्थाए इनको पचशील कहती है। महर्षि पतजलि उपरोक्त पाँचो को पच महाव्रत कहते हैं। सार्वभौम एकता के लिए शास्त्रीय पद्धति मे इनके पालन द्वारा विश्व अपना चारित्रिक निर्माण कर सवप्रकारेण सुखी हो सकता है। जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्, महर्षिपतजलि ने इनको पच महाव्रत बताया है।

आचार्यश्री तुलसी ने इन्ही व्रतो की एक सुगम विधि उपस्थित करते हुए सरलता के अर्थों मे इनको पच अणुव्रत के नाम से प्रचारित करके जनता को चरित्र की शिक्षा दी और समाज का विशेष कल्याण किया है। ईश्वर के भजन करने वालों को, शास्त्र पर चलने वालो को इन नियमो से बडी सहायता मिलती है। वेद सिद्धान्त के मानने वाले आज भौतिकवाद की ज्वाला से जलते हुए समाज को बचाने के लिए इन नियमों मे मिल कर विश्व शान्ति करने मे सफल हो सकेंगे।

हम वैदिक धर्म को मानने वाले भी आचार्य जी के दया, सत्य, त्याग, तपस्या से प्रभावित हुए। भौतिकवाद की कठोरता से पीडित जनता को इन नियमो से शान्ति मिलेगी।

भारत को महत्तर राष्ट्र बनाने वाला आन्दोलन

डा० बलभद्रप्रसाद, डी० एस-सी, एफ० एन० आई०
उपकुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

देश मे बहुत से व्यक्ति ऐसे होते है जो राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्याओ को जान लेते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत थोडे ही होते है, जो समस्याओ का सामना करते है और उनके समाधान के लिए प्रयत्न करते है। आचार्यश्री तुलसी एक ऐसे ही महापुरुष है। उन्होने अनुभव किया कि राष्ट्र की नैतिक भित्ति उसके साधारण विकास के लिए भी सुदृढ नही है, अत. उन्होने राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण एव विकास के आवश्यक कार्य मे अपना जीवन झोक दिया है। इस कार्य को करते हुए वे अनेक प्रकार की दुविधाओ का सामना करते है। समाज सेवा और नैतिक उत्थान के कार्य मे मिली हुई सफलता का अकन अत्यन्त ही कठिन हुआ करता है। बहुधा ऐसा होता है कि वर्षों पश्चात् इनका परिणाम दिखाई पडता है। मुझे इस बात मे तो सन्देह ही नही है कि पूज्य आचार्यश्री तुलसी ने जो कार्य किया है, उसका फल अवश्य मिलेगा और यह भारत को महत्तर राष्ट्र बनाने मे सहायक भी होगा। आचार्यश्री तुलसी अपने इस कार्य के लिए अभिनन्दन के पात्र है और ग्रन्थ के सम्पादको को भी मेरी बधाई है कि वे आचार्यश्री के कार्य का ग्रन्थ रूप मे सम्पादित कर रहे है। आचार्यश्री तुलसी को मै अपनी शुभकामना और वन्दन प्रेषित कर रहा हूँ।

महान् व्यक्तित्व

डा० वाल्थर शुब्रिग एम० ए०, पी-एच० डी०
हेम्बुर्ग विश्वविद्यालय

आचार्यश्री तुलसी के धवल समारोह का समाचार मिला। अनेक धन्यवाद। मुझे आचार्यश्री की गत पच्चीस वर्ष की नि स्वार्थ, नैतिक और सामाजिक सफलताओ और उनके महान् व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धाजलि भेट करते हुए परम प्रसन्नता हो रही है और इस कार्य मे मैं उनके प्रशसको और अनुयायियो के साथ हूँ। मेरी हार्दिक कामना है कि तेरापथ सम्प्रदाय के पूज्य आचार्य और अणुव्रत आन्दोलन के प्रणेता अपने उद्देश्य मे और अधिक सफल हो। मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि स्विट्जरलैण्ड मे नैतिक उत्थान का एक आन्दोलन चल रहा है, जिसे इण्टर नेशनल कौक्स मुवमेन्ट (International Caux Movement) कहते हैं। मै इसे पश्चिम मे अणुव्रतआन्दोलन की ही प्रतिच्छाया समझता हूँ। मैं अभिनन्दन ग्रन्थ व धवल समारोह की सफलता के लिए शुभकामनाए प्रेषित करता हूँ।

अपने आप में एक संस्था

एच० एच० श्री विश्वेश्वरतीर्थ स्वामी
श्री पेजावर मठाधीश, उडीपी

आचार्यश्री तुलसी अपने आप मे एक सस्था है और प्राचीन काल के ऋषियो द्वारा प्रदत्त हमारी सभ्यता के सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यधिक प्रकाशमान पहलुओ का प्रतिनिधित्व करते है। आध्यात्मिक श्रेष्ठता की अगम्य गहराइयों मे पैठ कर मोती निकालने का जो काम वे कर रहे हैं, वह लौकिक मस्तिष्क की पहुँच के परे की बात है।

निराशा से पीडित जो विश्व घृणा, अविश्वास तथा छल के कगार पर है, उसमे आचार्यश्री तुलसी प्रकाशस्तम्भ है। वे सद्भावना एव पारम्परिक विकास पर आधारित दया और क्षमा के सर्वोत्तम गुणो का प्रसार कर इस समय विद्यमान घोर अन्धकार मे सुन्दर मार्ग-दर्शन कर रहे है।

उनके अणुव्रत-आन्दोलन मे उन्ही ऊँचे आदर्शों का समावेश हे, जो उनके अपने जीवन मे फलीभूत हुए है। अतएव मनुष्य के रोगग्रस्त मस्तिष्क मे सन्तुलन तथा उसके कार्यों मे विवेक लाने के लिए उनसे बहुत सहयोग मिलना चाहिए।

प्रेरणादायक आचार्यत्व

श्री एन० लक्ष्मीनारायण शास्त्री,
निजी सचिव, जगद्गुरु शंकराचार्य,
जगद्गुरु महासस्थानं, शारदा पीठ,
शृंगेरी (मैसूर राज्य)

आचार्यश्री तुलसी ने अपना जीवन जन-कल्याण और उनके नैतिक उत्थान के लिए समर्पित कर दिया है। शृगेरी शारदा पीठ मठ के जगद्गुरु शकराचार्य महास्वामीजी ने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की है कि आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति ने आचार्यश्री तुलसी के प्रेरणा-काल के पच्चीस वर्ष पूरे होने पर समारोह करने तथा तुलसी अभिनन्दन ग्रथ निकालने का निश्चय किया है।

इस समारोह की सुखद एवं सफलतापूर्ण समाप्ति के लिए जगद्गुरु अपनी शुभकामना भेजते है और भगवान् चन्द्रमौलेश्वर तथा श्री शारदम्बा से प्रार्थना करते हैं कि आचार्यश्री तुलसी दीर्घजीवी होकर दीर्घकाल तक मानव जाति के कल्याणार्थ कार्य करते रहेंगे।

श्रीकृष्ण के आश्वासन की पूर्ति

श्री टी० एन० वेंकट रमण
अध्यक्ष, श्री रमण आश्रम

भारतवासी कितने सौभाग्यशाली है कि आचार्यश्री तुलसी ने जीवन के नैतिक व आध्यात्मिक अभिसिचन के लिए देश मे अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया है।

भारत वैदिक और उपनिषदीय गाथाओ का देश है, किन्तु उसे राजनैतिक पराधीनता से मुक्त होने के पश्चात् अब इस अणुव्रत-आन्दोलन की आवश्यकता है। देश ने यह स्वतन्त्रता अहिसा के अस्त्र द्वारा प्राप्त की और इस अस्त्र का प्रयोग करने वाले महात्मा गाधी थे। गाधीजी सत्य को ही ईश्वर मानते थे और जीवन मे उनका एक-मात्र ध्येय सत्य की नौका खेना था और उनकी एक-मात्र इच्छा थी कि असत्य पर सत्य की जय हो।

आध्यात्मिक परम्पराओं का धनी

देश को स्वतन्त्र हुए चौदह वर्ष हो गये। इस अवधि मे देश का राजनैतिक एकीकरण हुआ और राष्ट्र निर्माण की बडी-बडी प्रवृत्तियाँ शुरू हुई। इसका प्रकट प्रमाण है—औद्योगिक क्रान्ति और सामाजिक पुनर्गठन। उससे हमारा राष्ट्र क्रमश बलवान् होगा और अन्य पूर्वी और पाश्चात्य देशो के साथ-साथ विश्व-कल्याण के लिए नेतृत्व कर सकेगा। पश्चिमी देश भारत के इस नेतृत्व को स्वीकार करने के लिए उद्यत है। केवल इसलिए नही कि राष्ट्रपिता महात्मा गाधी की कीर्ति चारो ओर फैल गई है, प्रत्युत इसलिए भी कि भारत अत्यन्त प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं का धनी है। किन्तु यदि हमारे राष्ट्र को दूसरे देशो को आध्यात्मिक मूल्य सुलभ करने की आकाक्षा की पूर्ति करना हो तो उसे आत्म-निरीक्षण करना होगा। इस आत्म-निरीक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योकि नैतिक पतन का सकट भी इस समय राष्ट्र पर मंडरा रहा है, चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्यो को भुला देने की बात तो दूर रही, वेदो, उपनिषदो, ब्रह्मसूत्रो और भगवद्गीता के होते हुए, महात्मा गाधी की महान् नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति के उठ जाने के पश्चात् भारतीय सामूहिक रूप मे पतन की ओर अग्रसर हो रहे है और अपने समस्त उच्च आदर्शों को भुलाते जा रहे है। इसलिए अणुव्रत जैसे आन्दोलन की अत्यन्त आवश्यकता है। राष्ट्र को आचार्यश्री तुलसी और उनके सैकडो साधु-साध्वियो के दल के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए जो इस आन्दोलन को चला रहे है।

हमे यह देखकर बडा सन्तोष होता है कि इस आन्दोलन का आरम्भ हुए यद्यपि दस-बारह वर्ष ही हुए है, किन्तु वह इतना शक्तिशाली हो गया है कि हमारे राष्ट्र के जीवन मे एक महान् नैतिक शक्ति बन गया है। हम इस आन्दोलन को भगवान् श्रीकृष्ण के आश्वासन की पूर्ति मानते है। उन्होने भगवदगीता के चौथे अध्याय के आठवे श्लोक मे कहा है कि धर्म की रक्षा करना उनका मुख्य कार्य है और वह स्वय समय-समय पर नाना रूपो मे अवतार धारण करते है।

साधन चतुष्टय की प्राप्ति में सहयोगी

हमारे देश के नवयुवक हमारे सतो और महात्माओ के जीवन चरित्रो और धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि शाश्वत सुख जैसी कोई वस्तु है और उसे इसी लोक और जीवन मे प्राप्त किया जाना चाहिए। हमारे धर्मशास्त्र कहते है—'तुम अनुभव करो अथवा नही, तुम आत्मा हो।' उसका साक्षात्कार करने मे जितना बडा लाभ है,

उतनी ही बड़ी हानि उसे प्राप्त न करने में है। इसलिए वे आत्म-साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त होते है। यह आत्मा है क्या और उसे कैसे प्राप्त किया जाए? यही उनकी समस्या बन जाती है। वे आत्म-ज्ञान का फल तो चाहते है, किन्तु उसका मूल्य नहीं चुकाना चाहते। वे साधन चतुष्टय (साधना के चार प्रकार) की उपेक्षा करते है, जिसके द्वारा ही आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन साधन चतुष्टय की प्राप्ति मे बड़ा सहायक होगा और आत्म-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करेगा।

आत्म-साक्षात्कार जीवन का मूल लक्ष्य है, जैसा कि श्री शकराचार्य ने कहा है और जैसा कि हम भगवान् श्री रमण महर्षि के जीवन मे देखते हैं। भगवान् श्री रमण ने अपने जीवन मे और उसके द्वारा यह बताया है कि आत्मा का वास्तविक आनन्द देहात्म-भाव का परित्याग करने से ही मिल सकता है। यह विचार छूटना चाहिए कि मै यह देह हूँ। 'मैं देह नही हूँ' इस का अर्थ होता है कि मैं न स्थूल हूं, न सूक्ष्म हूँ और न आकस्मिक हूँ। 'मैं आत्मा हूँ' का अर्थ होता है मैं साक्षात् चैतन्य हूँ, तुरीय हूँ जिसे जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव स्पर्श नही करते। यह 'साक्षी चैतन्य' अथवा 'जीव साक्षी' सदा 'सर्व साक्षी' के साथ सयुक्त है जो पर, शिव और गुरु है। अत' यदि मनुष्य अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान ले तो फिर उसके लिए कोई अन्य नही रह जाता, जिसे वह धोखा दे सके अथवा हानि पहुँचा सके। उस दशा मे सब एक हो जाते है। इसी दशा का भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार वर्णन किया है—'ऐ गुडाकेश, मैं आत्मा हूं जो हर प्राणी के हृदय मे निवास करता हूँ, मैं सब प्राणियो का आदि, मध्य और अन्त हूं।' आचार-सेवन के महाव्रत द्वारा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अहकार-शून्य अवस्था अथवा **अहम् ब्रह्मास्मि** की दशा प्राप्त होती है। महाव्रत के पालन के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रतिपादित अणुव्रत प्रथम चरण होंगे।

आचार्यश्री तुलसी ने नैतिक जागृति की भूमिका मे ठीक ही लिखा है, "मनुष्य बुरा काम करता है। फलस्वरूप उसके मन को अशान्ति होती है। अशान्ति का निवारण करने के लिए वह धर्म की शरण लेता है। देवता के आगे गिड-गिडाता है। फलस्वरूप उसे कुछ सुख मिलता है, कुछ मानसिक शान्ति मिलती है। किन्तु पुन उसकी प्रवृत्ति गलत मार्ग पकडती है और पुन. अशान्ति उत्पन्न होती है और वह पुन धर्म की शरण जाता है।" असल मे धर्म और धार्मिक अभ्यास निर्वाण के लिए है। जब मनुष्य एकदम निरावरण होता है, वह सुख और दु ख से ऊपर उठ सकता है और सुख एव दु ख को समभाव से अनुभव कर सकता है। यही कारण है कि विष्णु सहस्रनाम मे, निर्वाणम्, भेषजम्, सुखम् आदि नाम गिनाये है। निर्वाण हमारे सब रोगो की भेषज है और अगर वह प्राप्त हो जाये तो वही सच्चा सुख है—सर्वोच्च आनन्द है।

निषेध विधि से प्रभावक

आपका आदर्श ज्ञान-योग, भक्ति-योग अथवा कर्म-योग कुछ भी हो, अपने अहम् को मारना होगा, मिटाना होगा। एक बार यह अनुभूति हो जाये कि आपका अहम् मिट गया, केवल चिद्भास शेष रह गया है, जो अपना जीवन और प्रकाश पारमार्थिक से प्राप्त करता है। पारमार्थिक और ईश्वर एक ही है, तब आपका अस्तित्वहीन अहम् के प्रति प्रेम अपने-आप नष्ट हो जायेगा। भगवान् श्री रमण महर्षि के समान सब महात्मा यही कहते हैं। इसलिए हम सब अणुव्रतो का पालन करे, जिनके बिना न तो भौतिक और न आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि हो सकती है। अणुव्रत की निषेधात्मक प्रतिज्ञाएं विधायक प्रतिज्ञाओ से अधिक प्रभावकारी है और वे न केवल धर्म और आध्यात्मिक साधना के प्रेमियो के लिए प्रत्युत सभी मानवता के प्रेमियो के लिए पूरी नैतिक आचार-सहिता बन सकती है।

भगवान् को **अणोरणीयान् महतो महीयान्** कहा है। आत्मा हृदय के अन्तरतम मे सदा जागृत और प्रकाशमान रहता है, इसलिए वह मनुष्य के हाथ-पांव की अपेक्षा अधिक निकट है और यदि मानवता इस बात को सदा ध्यान मे रखे तो मानव अपने सह मानवो को धोखा नही दे सकता और हानि नही पहुँचा सकता। यदि वह ऐसा करता है तो स्वय अपनी आत्मा को ही धोखा देगा अथवा हानि पहुँचाएगा, जो उसे इतना प्रिय होता है।

बीसवीं सदी के महापुरुष

महामहिम मार अथनेशियस जे० एस० विलियम्स,
एम० ए०, डी० डी०, सी० टी०, एम० आर० एस० टी० (इंग्लैण्ड)
बम्बई के आर्च बिशप एवं प्राइमेट, आजाद हिन्द चर्च

संसार मे हजारो धार्मिक नेता हो चुके है और पैदा होगे। परन्तु उनमे कुछ ऐसे भी है, जिन्होंने लोगो के हृदय परिवर्तित किये है, ससार मे प्रेम और शान्ति के स्रोत बहाये है और लोगो के दिलो को इसी दुनिया मे स्वर्गीय आनन्द से सरोबार करने के अमूल्य प्रयत्न किये हैं। बीसवी सदी मे हमारी इन आँखो ने भी एक ऐसे ही महापुरुष आचार्यश्री तुलसी को देखा है।

यही वह व्यक्ति है जिसके पवित्र जीवन मे जैनी भगवान् श्री महावीर को देखते है और बौद्ध भगवान् बुद्ध को देखते है। हम जो महाप्रभु यीशू ख्रीष्ट के अनुयायी है यीशू ख्रीष्ट की ज्योति भी उनमे देखते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने महाप्रभु यीशू ख्रीष्ट के उस कथन को अपने वैरियो से भी प्रेम करो, को इतना सुन्दर रूप दिया है कि विरोध को विनोद समझ कर किसी की ओर से मन मे मैल न आने दो।

चर्च से बिदाई

पृथ्वी पर कोई ऐसा स्थान नही है जो आचार्यश्री तुलसी को प्यारा न हो। हमे वह दिन भी याद है, जब आचार्यप्रवर बम्बई की बेलासिस रोड पर 'आजाद हिन्द चर्च' मे पधारे थे। अपने अनुयायियो के साथ मिल कर उन्होंने भजन सुनाये थे और भाषण दिया था। चर्च मे आशीर्वाद देकर अपने साधु और साध्वियो को भारत के कोने-कोने मे नैतिकता और धर्म-प्रचार के लिए विदा किया था। इस दृश्य को देख कर बम्बई मे हजारो व्यक्तियो को यह आश्चर्य होता था कि जैन साधु ईसाइयो के चर्च मे कैसे आ जा रहे है। केवल यह तो आचार्यश्री ही की महिमा थी जो ईसाइयो का गिरजा-घर भी हिन्दू भाइयो के लिए पवित्र-स्थान और धर्म-स्थान बन गया था।

जीवन में एक बड़ी क्रान्ति

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रसार कर आचार्यश्री ने जनता के जीवन मे एक बहुत बडी क्रान्ति कर दी है। यह हमारा सौभाग्य है कि आज भारत के कोने-कोने मे सत्य और प्रेम का प्रसार हो रहा है। जनता जनार्दन अपने साधारण जीवन मे ईमानदारी का व्यवहार कर रही है। सरकारी कर्मचारी भी अपने कर्तव्य को ईमानदारी से पूरा करने का उपदेश ले रहे हैं। व्यापारी वर्ग से धोखेबाजी और चोरबाजारी दूर होती जा रही है। केवल भारतीय ही नही, दूसरे देश भी आचार्यश्री के उच्च विचारो से प्रभावित हो रहे हैं।

यह मेरा सौभाग्य है कि मैं भी अणुव्रत-आन्दोलन का एक साधारण सदस्य हूँ और मुझे देश-देश की यात्रा करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। जब यूरोप और रूस की कडकती ठडक मे भी मैंने चाय और कॉफी तक को हाथ नही लगाया तो वहाँ के लोगों को आश्चर्य होता था कि यह कैसे सम्भव है? किन्तु यह केवल आचार्यश्री के उन शब्दो का चमत्कार है जो आपने सन् १९५४ के नवम्बर महीने के प्रारम्भ मे बम्बई में कहे थे—फादर साहब, आप शराब तो नही पीते हैं?

आचार्यश्री के साथ सैकड़ो साधु और साध्वी जन-सेवा में अपना जीवन बलिदान कर रहे है । इन तेरापंथी जैनी साधुओं जैसा त्याग, तप और सेवा हमारे देश और मानव समाज के लिए बड़े गौरव की बात है । आचार्यश्री के शिष्य और वे लोग भी जो आपके सम्पर्क में आ चुके हैं, अपने आचार-विचार से मनुष्य जाति की अनमोल सेवा कर रहे है ।

आचार्यश्री ने हर जाति के और धर्म के लोगो को ऐसा प्रभावित किया है कि आपके आदर्श कभी भुलाये नही जा सकते और वे सदा ही मनुष्य जाति को जीवन ज्योति दिखाते रहेंगे ।

आचार्यश्री तुलसी का एक सूत्र

आचार्य धर्मेन्द्रनाथ

तीन वर्ष पूर्व सन् १९५८ मे आचार्यश्री तुलसी आगरा जाते हुए जयपुर पधारे। उस समय उनके प्रवचन सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ। आचार्यश्री जिस तेरापथ-सम्प्रदाय के आचार्य है, उसे उद्भव-काल से ही स्वकीय समाज मे अनेक विरोधो और भेदो का सामना करना पडा। किसी भी सम्प्रदाय मे जब नई शाखा का प्रसव होता है तो उसके साथ ही वैर और विरोधो का अवसर भी आता ही है। पूर्व समाज नये समाज को पुरातन लीक से हटाने वाला और अधार्मिक बनाता है और नया समाज पहले समाज की व्यवस्था को सडी-गली और नये जमाने के लिए अनुपयुक्त बनाता है। बाद मे दोनो एक-दूसरे को अनिवार्य मान कर साथ रहना सीख जाते हैं और विरोध का रूप उतना मुखर नही रह जाता, लेकिन मौन-द्वेष की गाँठ पडी ही रह जाती है। आचार्यश्री के जयपुर-आगमन के अवसर पर कही-कही उसी पुरानी गाँठ की पूँजी खुल-खुल पडती। विरोधी जितना निन्दा-प्रचार करते, उससे अधिक प्रशसक उनकी जय-जयकार करते।

सम्पन्न लोगों की दुरभिसन्धि

इस सब निन्दा-स्तुति मे कितना पूर्वाग्रह और कितना वस्तु विरोध है, इस उत्सुकता मे मै भी एक दिन आचार्यश्री का प्रवचन सुनने के लिए पण्डाल मे चला गया। पण्डाल मेरे निवासस्थान के पिछवाडे ही बनाया गया था। आचार्यश्री का व्याख्यान त्याग की महत्ता और साधुओ के आचार पर हो रहा था "किसी धनिक ने साधु-सेवा के लिए एक चातुर्मास-विहार बनवाया जिसे साधुओ को दिखा-दिखा कर वह बता रहा था कि यहाँ महाराज के वस्त्र रहेगे, यहाँ पुस्तकें, यहाँ भोजन के पात्र और यहाँ यह, यहाँ वह। साधु ने देखभाल कर कहा कि एक पाँच खानो की अलमारी हमारे पच-महाव्रतो के लिए भी तो बनवाई होती, जहाँ कभी-कभी उन्हे भी उतार कर रखा जा सकता।" आचार्यश्री के कहने का मतलब था कि साधु के लिए परिग्रह का प्रपच नही करना चाहिए, अन्यथा वह उसमे लिप्त होकर उद्देश्य ही भूल जायेगा।

मै जिस पण्डाल मे बैठा था, उसे श्रद्धालु श्रावको ने रुचि से सजाया था। श्रावक-समाज के वैभव का प्रदर्शन उसमे अभिप्रेत न रहने पर भी होता अवश्य था। निरन्तर परिग्रह की उपासना करने वालो का अपने अपरिग्रही साधुओ का प्रदर्शन करना और दाद देना मुझे खासा पाखण्ड लगने लगा। आचार्यश्री जितना-जितना अपरिग्रह की मर्यादा का व्याख्यान करने गये, उतना-उतना मुझे वह सम्पन्न लोगो की दुरभिसन्धि मालूम होने लगा। हमारा परिग्रह मत देखो, हमारे साधुओ को देखो! अहो! प्रभावस्तापसानाम्! अगले दिन के लिए भोजन तक सचय नही करते। वस्त्र जो कुछ नितान्त आवश्यक है, वह ही अपने शरीर पर धारण करके चलते है। ये उपवास, यह ब्रह्मचर्य, ये अदृश्य जीवो को हिंसा से बचाने के लिए बाँधे गए मुँहपत्ती, यह तपस्या और यह अणुबम का जवाब अणुव्रत! मुझे लगा कि अपने सम्प्रदाय के सेठो की लिप्सा और परिग्रह पर पर्दा डालने के लिए साधुओ की यह सारी चेष्टा है, जिसका पुरस्कार अनुयायियो के द्वारा जय-जयकार के रूप मे दिया जा रहा है। जब और नही रह गया तो मैंने वही बैठे-बैठे एक पत्र लिख कर आचार्यश्री को भिजवा दिया, जिसमे ऐसा ही कुछ बुखार उतारा गया था।

अश्रद्धा और हठ का भाव

आचार्यश्री से जब मैं अगले दिन प्रत्यक्ष मिला, तब तक अश्रद्धा और हठ का भाव मेरे मन पर से उतरा नही था।

आचार्यश्री अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक कहे जाते हैं, इस पर अनेक इतर जैन-सम्प्रदायो को ऐतराज रहा है। "अणुव्रत तो बहुत पहले से चले आते हैं। साधुओ के लिए अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि पच व्रतों का निर्विशेषतया पालन महाव्रत कहलाता है और इन्ही व्रतो का अणु (छोटा) किंवा गृहस्थधर्मीय सुविधा-संस्करण अणुव्रत है। फिर आचार्यश्री अणुव्रतो के प्रवर्तक कैसे ?" इस प्रकार की आपत्ति अक्सर उठाई जाती रही है। आचार्यश्री के परिकर वालो को ख्याल हुआ कि 'अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक' शब्द से चिढ कर मैंने आचार्यश्री को यह सब लिखा है। लेकिन मुझे तब तक इसका भान भी नही था। अणुव्रतो और महाव्रतो का चाहे पूर्व मुनियो ने निरूपण भी किया हो, लेकिन इसको एक जनान्दोलन का रूप आचार्यश्री तुलसी ने ही दिया है, इसलिए उनके आन्दोलन के प्रवर्तकत्व से मुझे विरोध क्यो होता। वस्तुत. मेरे विरोध के मूल मे अशत परिग्रह की पृष्ठ-भूमि मे अपरिग्रह के विरोधाभास मे उत्पन्न एक तात्कालिक प्रतिक्रिया थी और अंशत कुछ पूर्व धारणाए थी, जिनकी सगति मै आज भी जैन-दर्शन से पूर्णत नही मिला पाया हूँ।

उदाहरण के लिए मैं इस निष्कर्ष मे सहमत रहा हूँ कि आहार की दृष्टि से मनुष्य न भेड-बकरी की तरह शाकाहारी है और न शेर-भेडियो की तरह मासाहारी। बल्कि उभयाहारी जन्तुओ जैसे भालू, चूहे या कौए की तरह शाकाहार और मासाहार दोनो प्रकार का आहार खा-पचा सकता है। इसलिए मानव-प्रकृति के विरुद्ध होने से आदमी के लिए आहार का दावा मूलत गलत है। दूसरे, आहार चाहे वानस्पतिक हो अथवा प्राणिज, उसमे जीवरूपता होती ही है, अन्यथा आहार देह मे सात्म्य किंवा तद्रूप नही बन सकता। अत जैव आहार के ऊपर, स्थिति और हिसा का त्याग, ये दोनो बाते एक साथ नही चल सकती। आहार-मात्र हिंसामूलक है, बल्कि आहार और हिंसा अभिन्न अथच पर्यायवाची है, ऐसी मेरी धारणा रही है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता और धर्म की आवश्यकता आदि कितने ही विषयो पर मेरी मान्यताए जैन विचारो स भिन्न थी। जब बात चल निकली तो मैंने अपना कैसा भी मतभेद आचार्यश्री तुलसी से छिपाया नही।

मेरा खयाल था कि आचार्यश्री इस विषय को तर्कों मे पाट देगे, लेकिन उन्होने तर्क का रास्ता नही अपनाया और इतना ही कहा कि "मतभेद भले ही रहे, मनोभेद नही होना चाहिए।" मैं तो यह सुनते ही चकरा गया। तर्क की तो अब बात ही नही रही। चुप बैठ कर इसे हृदयगम करने की ही चेष्टा करने लगा।

श्रद्धा बढ़ी

बाद मे जितना-जितना मैं इस पर मनन करता गया, उतनी ही आचार्यश्री तुलसी पर मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। वास्तव मे विचारो के मतभेद मे ही तो समाजो और वर्गों मे इतना पार्थक्य हुआ है। एक ही जाति के दो सदस्य जिस दिन से भिन्न मत अपना लेते है, तो मानो उसी दिन से उनका सब-कुछ भिन्न होता चला जाता है। भिन्न आचार, भिन्न विचार, भिन्न व्यवहार, भिन्न सस्कार, सब-कुछ भिन्न। यहाँ तक कि सब तरह से अलग दिखना ही परम काम्य बन जाता है। मतभेद हुआ कि मनोभेद उसके पहले हो गया। मनोभेद मे पक्ष उत्पन्न होता है और पक्ष पर बल देने के साथ-साथ उत्तरोत्तर आग्रह की कट्टरता बढ़ती जाती है। अन्त मे आग्रह की अधिकता से एक दिन वह स्थिति आ जाती है, जब भिन्न मतावलम्बी की हर चीज से नफरत और उसके प्रति हमलावराना रुख ही अपने मत के अस्तित्व की रक्षा का एकमात्र उपाय मालूम देता है।

मुझे यहाँ तक याद आता है, किसी भी विचारक ने इसके पूर्व यह बात इस तरह और इतने प्रभाव से नही कही। मत की स्वतन्त्रता की रक्षा की वाछनीयता का हवा मे शोर है। जनतन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए भी मतभेद आवश्यक बताया जाता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व के निखार के लिए भी मतभेद रखना जरूरी समझा जाता है। बल्कि मतभेद का प्रयोजन न हो, तो भी मतभेद रखना फैशन की कोटि मे आने के कारण जरूरी माना जाता है। परिणाम यह है कि चाहे लोगो के दिल फट कर राई-काई क्यो न हो जाये, लेकिन असूल के नाम पर मतभेद रखने से आप किसी को नही रोक सकते।

यदि मुझे किसी एक चीज का नाम लेने को कहा जाये, जिसने मानव-जाति का सबसे ज्यादा खून बहाया है

और मानवता को सबसे ज्यादा कांटो मे घसीटने पर मजबूर किया है तो वह यही मतभेद है। इसी के कारण अलग धर्म, सम्प्रदाय, पथ, समाज आदि बने है, जिन्होने अपनी कट्टरता के आवेश मे मतभेद को आमूल और समूल नष्ट कर डालना चाहा है। मतभेदो का निपटारा जब मौखिक नही हो पाया तो तलवार की दलील से उन्हे सुलझाने की कोशिशे की गई है। एक ने अपने मत की सच्चाई साबित करने के लिए कुर्बान होकर अपने मत को अमर मान लिया है, तो दूसरे ने अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपने हाथ खून मे रग कर अपने मत की जीत मान ली है। दुनिया का अधिकाश इतिहास इन्ही मतभेदो और इनके सुलझाने के लिए किये गए हृदयहीन सघर्षों का एक लम्बा दुःखान्त कथानक है।

अब प्रश्न उठता है कि जब मतभेद रखना इतना विषाक्त और विपरिणम्य है, तो क्या मतभेद रखना अपराध करार दिया जा सकता है, या शास्त्रीय उपाय का अवलम्बन करके इसे पाप और नरक मे ले जाने वाला घोषित कर दिया जाये ? न रहेगे मतभेद, न होगी यह खून-खराबी और अशान्ति।

लेकिन समाधान इससे नही होगा। अगर आदमी के सोचने की और मन स्थिर करने की क्षमता पर समाज का कानून अकुश लगायेगा, तो कानून की जडे हिल जायेगी और यदि धर्मपीठ से इस पर प्रतिबन्ध लगाने की आवाज उठी तो मनुष्य धर्म से टक्कर लेने मे भी हिचकेगा नही। धर्म ने जब-जब मानव को सोचने और देखने से मना करने की कोशिश की है, तभी उसे पराजय का मुंह देखना पडा है। अपना स्वतन्त्र मन बनाने और मतभेद को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता तो मानव को देनी ही होगी, जो पात्र है उनको भी और जो पात्र नही है उनको भी।

फिर इसे निर्विष कैसे किया जाये ? विशुद्ध तर्क से तो सबको अनुकूल करना सम्भव है नही, और शस्त्र-बल से भी एकमत की प्रतिष्ठा के प्रयोग हमेशा असफल ही रहे है। क्रिया, फिर प्रतिक्रिया—फिर प्रति-प्रतिक्रिया, हमले और फिर जबाबी हमले। मतो और मतभेदो का अन्त इसमे कभी हुआ नही। ऐसी अवस्था मे आचार्यश्री तुलसी का सूत्र कि 'मतभेद के साथ मनोभेद न रखा जाये', मुझे अपूर्व समाधानकारक मालूम देता है। विष-बीज को निर्विष करने का इससे अधिक अहिंसक, यथार्थवादी और प्रभावकारी उपाय मेरी नजरो मे नही गुजरा।

भारत के युग-द्रष्टा ऋषि

इसके उपरान्त भी मै आचार्यश्री तुलसी से अनेक बार मिला, लेकिन फिर अपने मतभेदो की चर्चा मैंने नही की। भिन्न मुण्ड मे भिन्न मति तो रहेगी ही। मेरे अनेक विश्वास है, उनके अनेक आधार है, उनके साथ अनेक ममत्व के सूत्र सम्बद्ध है। सभी के होते है। लेकिन इन सब भेदो से अतीत एक ऐसा भी स्थल होना चाहिए, जहाँ हम परस्पर सहयोग से काम कर सके। मै समझता हूँ कि यदि चेष्टा की जाये तो समान आधारो की कमी नही रह सकती।

आचार्यश्री तुलसी एक सम्प्रदाय के धर्मगुरु है। और विचारक के लिए किसी सम्प्रदाय का गुरु-पद कोई बहुत नफे का सौदा नही है। बहुधा तो यह पदवी विचारबन्धन और तगनजरी का कारण बन जाती है। लेकिन आचार्यश्री की दृष्टि उनके अपने सम्प्रदाय तक ही निगडित नही है। वे सारे भारत के युग-द्रष्टा ऋषि है। जैन-शासन के प्रति मेरी आदर-बुद्धि का उदय उनसे परिचय के बाद ही हुआ है, अतएव मैं तो व्यक्तिश. उनका आभारी हूँ। उनके धवल समारोह के इस अवसर पर मेरी विनम्र और हार्दिक श्रद्धाजलि!

दो दिन से दो सप्ताह

डा० हर्बर्ट टिसी, एम० ए०, डी० फिल०, आस्ट्रिया

मै अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार केवल दो दिन ही ठहरने वाला था, लेकिन दो सप्ताह ठहरा। मैं उस अद्भुत मनुष्य का चित्र खीचना चाहता था और उस मानव का, जो महात्मा पद के उपयुक्त था, अध्ययन करना चाहता था। प्राय एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के बारे मे क्वचित् ही ऐसा कर सकता है। जैसे ही मैने उनके प्रथम बार दर्शन किये, उनका असाधारण व्यक्तित्व मेरे हृदय को छूने लगा। उनके नेत्र स्नेहिल और तेजस्वी थे। जैसे ही उन्होने मेरी ओर दृष्टिपात किया, मेरा अहम् नष्ट हो गया और मुझे उनकी महानता का अनुभव हुआ। मैं वहाँ गया तो था उनके कुछ फोटू खीचने के लिए, किन्तु जैसे ही मैने उनको जाना, उनका परिचय पाया, फोटू खीचना तो भूल ही गया। उनके विचारो को और शब्दो को समझने लगा।

उनके अनुयायियो व साधु-साध्वियो के लिए वे महान् प्रेरक के रूप मे होने चाहिये, जो कि उनके प्रति अगाध श्रद्धा रखते है और उनके बारे मे नि शक है। उनका प्रभाव इतना अधिक है कि यदि वे चाहे तो वे एक बहुत ही भयकर व्यक्ति बन सकते है और मनुष्यो को अशान्ति के कगार तक पहुँचा सकते है और अपना कठिनतम लक्ष्य भी प्राप्त कर सकते है। किन्तु उनका केवल एक ही विचार व ध्येय है जिसे कि अहिंसा-विकास कह सकते है।

पूर्ण अहिंसा पर उनकी श्रद्धा का स्पष्ट रूप से प्रकटीकरण ही मेरे हासी जाने का कारण बना है। इस धर्म के अनुयायी मुँह पर पट्टी बाँधते है जैसे डाक्टर लोग आपरेशन के समय मुँह पर 'मास्क' लगाते है। उसका प्रयोजन है कि उनकी आवाज से नि मृत ध्वनि तरगो से हवा की, जो कि उनके अभिमतानुसार सजीव है, हत्या न हो। वे अन्धेरे मे चलते समय भूमि का प्रमार्जन कर पाँव रखते है ताकि किसी भी जीव की हत्या न हो। इसलिए मै हासी गया और वहाँ पर इस सघ के आचार्य ने मुझे समझाया।

उनका पूरा नाम है पूज्य श्री १००८ आचार्यश्री तुलसीरामजी स्वामी। आप जैन श्वेताम्बर तेरापथ के नवम आचार्य है। उनका नाम उतना ही बडा है, जितना कि उनका नम्रता गुण। '१००८' की सख्या जो दो श्री के बीच मे है, वह १००८ गुणो की द्योतक है। 'तुलसीराम' उनका व्यक्तिगत नाम है और उसके पीछे जो 'जी' जुडा है, वह जर्मन भाषा के Chen के समान आदर का सूचक है। 'स्वामी' का अर्थ है—वह व्यक्ति जो गृहस्थ जीवन का त्याग करता है। 'जैन' एक बहुत ही प्राचीन धर्म है जो हिन्दू धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म के अधिक निकट है। श्वेताम्बर तेरापथी सम्प्रदाय जैन धर्म मे ही एक सुधारक आन्दोलन के रूप मे २०० वर्ष का प्राचीन सम्प्रदाय है। मैं उनके सामने बैठ गया और वे मेरी ओर देखने लगे।

वह एक आन्तरिक अनुभव था जो कि केवल हृदयग्राही ही था, वाणी के द्वारा व्यक्त नही हो सकता। किन्तु यदि प्रथम अनुभव को व्यक्त न कर सका तो प्रस्तुत उपक्रम अधूरा ही रह जायेगा।

मैं जब वहाँ गया, वे एक ऊँचे तख्त पर बैठे हुए थे और दैनिक प्रवचन कर रहे थे। उनके सामने लगभग हजार आदमी जमीन पर बैठे हुए थे। मैं अकेला ही वहाँ विदेशी था, अत मेरे मित्र मुझे आचार्यश्री के समीप ले गये। आचार्यश्री बोलते हुए थोडे रुके और मेरा परिचय उनको दिया गया। हम आचार्यश्री की ओर देखते हुए शान्ति से बैठ गये। दुर्भाग्य-वश, बहुत सारे लोगो का ध्यान मेरी ओर खिचा रहा, किन्तु कुछ समय बाद मैं यह भूल गया और मैं और आचार्यश्री अकेले रह गये।

प्राय यह होता है कि यदि मनुष्य किसी भी व्यक्ति की ओर अत्यन्त ध्यानपूर्वक देखता है तो उसके मुख पर द्वेष, प्रेम या उत्तेजना के भाव उत्पन्न हो जाते है, किन्तु आचार्यश्री के विशाल विवेक पूर्ण और काले नेत्रो मे इनमे से एक भी नही पाया गया। मुझे ऐसा लगा उनकी दृष्टि मेरे शरीर को चीर कर हृदय तक पहुँच रही है और उन्होने मेरा अन्तर हृदय पहचान लिया है। पहले-पहल मुझे इस प्रकार का अकेलापन थोडा अखरा, किन्तु बाद मे उनके सामने मेरी यह भावना लुप्त हो गई। मेरे हृदय मे नाना प्रकार के भाव तरग उछलने लगे। मैंने एकाएक ही अनुभव किया कि मैं अब अकेला नही हूँ। मुझे लगा कि मेरे अनुकूल विचार समझे गये है और प्रतिकूल विचारो की निन्दा नही की गई है। अर्थात् मेरे अच्छे विचार के कारण मुझे स्वागत मिल रहा है और बुरे विचारो के कारण मेरी निन्दा नही की जा रही है। अचानक ही मेरी स्मृति मे अपने शैशव काल का विस्तृत स्वर्णिम जगत् स्पष्ट हो गया—निराशा के कारण से नही। युवाकाल की स्मृति रहती है, किन्तु उसके साथ जो सशय होता है, वह नष्ट हो गया। मेरा हृदय अच्छे और आनन्ददायक विचारो से भर गया।

मै जानता हूँ कि इन शब्दो मे जो कुछ मैने लिखा है, वह अतिशयोक्ति-सा लगता होगा, किन्तु वह अपना कार्य समुचित रूप से करता है और आचार्यश्री के साथ वार्तालाप के समय प्रत्येक क्षण मे मेरे हृदय पर नियन्त्रण करने वाली भावनाओ का वर्णन मैने किया है। वास्तव मे तो, सत पुरुषो का यह स्वभाव ही होता है कि वे दूसरो के मन मे अच्छे विचारो को उत्पन्न कर देते है और उन विचारो को अच्छे कार्य के रूप मे परिणत करना तो यह हमारा काम है।

प्रतिदिन तीन बार आचार्यश्री प्रवचन देते है, जिनमे सहस्रो की सख्या मे लोगो की उपस्थिति होती है। उनके अनुयायी लोग बहुत अशो मे राजस्थान और पजाब के वासी है और उनमे से अधिकतर मारवाडी है, जो कि भारत के व्यापारियो मे सबसे अधिक धनिक और परिग्रहासक्त है।

आचार्यश्री उनको अपरिग्रह और सदाचार का उपदेश देते है। वह एक कैसा विरोधाभास था। एक ओर जहाँ उनके अनुयायी—जो कि बहुत अच्छे व्यापारी लोग है, जो कि धोखाबाजी मे लाखो रुपये कमाते है, जो सारी दुनिया के साथ व्यापार का सम्बन्ध रखते है, जो कर की चोरी करने के सब तरीको को काम मे लेते है और विश्वासघात करते है। दूसरी ओर ये छोटे कद के आचार्यश्री जिनके पास अपना कुछ नही है न घर है, न मन्दिर है, न पुस्तके है—केवल हाथ से लिखे हुए सुन्दर शास्त्र है, मामूली बिछाने का कपडा और अत्यन्त सामान्य प्रकार के वस्त्र और स्वाभाविकतया मुख-वस्त्रिका और रजोहरण—यही उनका सब कुछ है।

वे एक कुशल मनोवैज्ञानिक है। वे जानते है कि जो व्यक्ति इस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कालाबाजार करते है, उनके पास से बडे त्याग की आशा नही रखी जा सकती। उनमे से किसी को भी ससार को त्याग करने का उपदेश नही दिया जा सकता। किन्तु उनके पास से कम-से-कम यह आशा तो की जा सकती है कि वे सच्चे अर्थ मे मानव बने, इसलिए उन्होने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया है। यह आन्दोलन छोटे-छोटे व्रतो का आन्दोलन है। उनके अनुयायियो को इस प्रकार के व्रत दिलाये जाते है कि मैं अप्रमाणिकता नही करूँगा। मैं अनैतिकता और आडम्बर को छोड दूंगा। मै अन्य स्त्रियो पर बुरी दृष्टि नही डालूंगा।

कुल मिलाकर ८६ व्रत अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह इन पाँच विभागो मे विभक्त है। इनमे से प्राय सभी व्रत स्वाभाविक है, और प्राय सभी धर्मों के मूल-भूत सिद्धान्त है। उनमे से थोडे व्रत ऐसे है जो कि केवल भारतीय सस्कृति से जुडे हुए है, जैसे कि मै मद्यपान नही करूँगा, दो सौ व्यक्तियो से अधिक बृहत् भोज नही करूँगा। ये नियम बहुत ही कम यूरोपवासियो द्वारा ग्राह्य हो सकते है। किन्तु एक औसत भारतीय विवाह के प्रसग मे उक्त सख्या का उल्लघन सामान्यतया करता है, तथापि आचार्यश्री के इस आह्वान से उनके अनुयायियो मे एक नई चेतना आई है।

मैं अपने एक मित्र के घर ठहरा था। वह एक बहुत ही अच्छे स्वभाव का और मोटा आदमी था। उसने डेरी के व्यापार से धनार्जन किया था। एक बार सायकाल मैं उसकी दूध की दुकान पर उसके साथ गया। उसने उत्साह से बताया कि अब मैं पहले की तरह अधिक धन नही कमाता हूँ, क्योकि मैं अणुव्रती हूँ। इसलिए दूध के व्यापार मे कमाई

कम होती है। यह स्वाभाविक है कि अणुव्रत मे मिलावट छोड़ देने से मेरे मित्र के कहने के अनुसार उसको कमाई पहले जैसी नही होती। अणुव्रती बनने से पूर्व वह मित्र यह सब जानता था।

यह हो सकता है कि अणुव्रतों के बारे मे मेरा अध्ययन केवल ऊपर-ऊपर का ही हो, किन्तु मै विदेशी के साथ मैत्री करने से अवश्य लाभान्वित हुआ हूँ। एक प्रसग ऐसा बना, जिससे मै हाँसी को कभी नही भूल सकता। केवल एक रुपये के बारे मे बात थी। मै प्रतिदिन एक दुकानदार के पास से सिगरेट खरीदता था। मै जो सिगरेट पीता था, उस प्रकार की गाँव मे और कोई नहीं पीता था। मुझे सड़क पर सिगरेट पीने मे भी लज्जा का अनुभव होता था। उस सिगरेट की कीमत उस दुकान पर लिखी हुई थी। मै जब उसके लिए पैसा देने लगा, तब उस दुकानदार ने बहुत ही नम्र भाषा मे मेरे से पैसा लेने से इन्कार किया। यदि गर्मी के दिनो में मुझे किसी होटल पर ठडा लेमन पिलाया जाता, तो उसको भी मुझे भेंट रूप मे ही स्वीकार करना होता।

अणुव्रत के नियम बहुत ही सरल हे। क्योंकि वे अणु यानी छोटे-छोटे व्रत है। आचार्यश्री व्रत लेने के लिए किसी पर भी दबाव नही डालते। अपने प्रवचनों मे वे अनुयायियों को उपदेश देते है कि यदि वे पारलौकिक सुख चाहते है तो उन्हे पाप करने से डरना चाहिए। जब वे बुराइयों को छोड़ने की प्रतिज्ञा करते है, तब ही आचार्यश्री प्रसन्न होते है। जो ८६ व्रतों को पालन करने की प्रतिज्ञा करता है, वही पूर्ण अणुव्रती हो सकता है।

आचार्यश्री के अधिकाश अनुयायी व्यापारी हे। आचार्यश्री अणुव्रतों के बारे मे उनके साथ घण्टों तक उत्साह-पूर्वक चर्चाए करते है। उस चर्चा मे वे लोग इतने जल्दी-जल्दी बोलते थे कि मुझे उनकी बात का कुछ पता नही चलता था। किन्तु जब भी वे लोग ब्लैक मारकेट शब्द का प्रयोग करते थे, मुझे पता चल जाता था, क्योकि प्राय भारतीय लोग बातचीत मे अग्रेजी शब्द ब्लैक मारकेट का प्रयोग करते है। ये व्यापारी लोग अपने व्यापार-सम्बन्धी कागजात आदि साथ लेकर आचार्यश्री के पास आये और वे आचार्यश्री को यह बताना चाहते थे कि बिना कालाबाजार आदि अनैतिक कार्य किये यदि वे व्यापार करे तो, निश्चित ही उनका दीवाला निकल जाये। आचार्यश्री ने उनकी सब बातों को ध्यान से सुना, उन कागजातो को ध्यान से देखा और उनके मुनाफा और घाटा सम्बन्धी सब बातो को सुना। अन्त मे तो वे अपनी माग पर निश्चल ही रहे कि व्यापारियो को अनैतिक व्यापार को छोड़ना चाहिए। इस प्रकार से चर्चा के बाद मे सभी व्यापारी कालाबाजार आदि को पूर्ण रूप से छोड़ने के लिए तो तैयार नही हुए, किन्तु बहुत से व्यापारियो ने थोड़ी छूटके साथ मे नियम लिए कि

मै अनैतिक व्यापार को अमुक मर्यादा से अधिक नही करूँगा।

मैं रिश्वत नही लूंगा।

मै झूठे खाते नही रखूंगा।

मै समाहित हो गया था कि वे लोग इन नियमो को अच्छी तरह से पालेंगे।

इसके बाद आचार्यश्री ने मुझसे कहा—मै चाहता हूँ कि लोग सयम को अपनायें। अणुव्रत आसानी से अपनाये जा सकते है। इन व्रतों का नाम अणुव्रत इसलिए रखा है कि हमे अणुबम के साथ लड़ना है और उससे सम्बन्धित सभी बुराइयो से लड़ना है। यदि थोड़े लाख व्यक्ति भी अणुव्रती बन जायें तो यह वैज्ञानिक सफलता—अणुबम के भय को नष्ट कर देगी।

इस पर मैंने पूछा—क्या आपका उद्देश्य राजनैतिक है। उन्होने उत्तर दिया—नही, हमारा उद्देश्य केवल धार्मिक है। गाधीजी महात्मा भी थे और राजनैतिक नेता भी। मै केवल एक महात्मा बनना चाहता हूँ।

मैने उनसे आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म जैसे दार्शनिक प्रश्न पूछे व कुछ उनके वैयक्तिक जीवन तथा उनके साधु सघ के बारे मे भी जिज्ञासाए की। उन्होने मेरे प्रत्येक प्रश्न व जिज्ञासा का अत्यन्त मधुरता के साथ समाधान किया। मुझे भय था कि कही आचार्यश्री को मैंने नाराज तो नहीं कर दिया। मेरे लम्बे-लम्बे प्रश्न जो कि मैंने उनके पवित्र जीवन को जानने की दृष्टि से पूछे थे, मूल विषय से काफी दूर थे और मेरे तुच्छ उत्साह को प्रकट करने वाले थे, उनसे शायद वे नाराज हो गये हों। फिर भी उन्होने उस प्रकार का कोई भी भाव व्यक्त नही किया, प्रत्युत मेरे

जैसे एक विदेशी व्यक्ति के ऊपर आचार्यश्री की पूर्ण कृपा रही और इसलिए सम्भवत मै लोगो की ईर्ष्या का पात्र भी बना।

एक बार विनोद मे मैने आचार्यश्री से कहा—मैंने आपके धर्म की एक प्रार्थना (नमस्कार) मन्त्र के कुछ पद कण्ठस्थ किये है। क्या आप सुनने की कृपा करेंगे। आचार्यश्री ने धीरे से हाथ हिलाते हुए लोगो को शान्त किया। वह नमस्कार मत्र मुझे उनके मुनियो ने सिखाया था। उसको मैंने कण्ठस्थ कर लिया था और कई बार पुनरुच्चारण भी कर लिया था ताकि बिना कोई भूल किये मैं उसका उच्चारण कर सकूं। मैने कहा—

नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं

मैं उन महात्माओ को नमस्कार करता हूँ जिन्होने मोह, राग और द्वेष रूप शत्रुओ को जीत लिया है। मै उन महात्माओ को नमस्कार करता हूँ जो कि मुक्त अवस्था को प्राप्त कर चुके है। मैं धर्मनायको को, आचार्यों को—नमस्कार करता हूँ। मै धार्मिक शिक्षा गुरुओ को—उपाध्याय को नमस्कार करता हूँ। मैं ससार के सभी साधु साध्वियो को नमस्कार करता हूँ। आचार्यश्री ने स्मित हास्य के साथ कहा—यह तो तुम्हारा इस दिशा मे प्रथम चरण है। अब तुम मुँह पर मुख वस्त्रिका और हाथ मे रजोहरण कब लेने वाले हो ? इस प्रकार से अन्त मे वह दिन आ गया, जिसके दूसरे दिन सुबह पाँच बजे ही मै दिल्ली के लिए प्रस्थान करने वाला था। जब मैं बिदा लेने लगा, तब आचार्यश्री ने हाथ ऊँचा कर आशीर्वाद दिया।

देश के महान् आचाय

श्री जयसुखलाल हाथी
विद्युत् उपमंत्री, भारत सरकार

किशोर के लिए एक कसौटी

दुनिया मे सभी सतो के जीवन मे एक विशेषता होती है, वही विशेषता आचार्यश्री तुलसी के जीवन मे भी दिखाई देती है। उनके बाल्यकाल मे ही उनकी महानता के चिह्न दिखाई देने लगे थे। बचपन मे ही उन्होने ऐसे गुणो का परिचय दिया, जिनसे यह पता चलता था कि वे भविष्य मे एक महान् धर्म गुरु बनेगे। ग्यारह वर्ष की अवस्था मे उन्होने दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। उनके परिवार के सभी लोगो को बडा आश्चर्य हुआ कि ग्यारह वर्ष का किशोर इतनी कम अवस्था मे दीक्षा लेने की बात कैसे सोच सकता है। उनके बड़े भाई अनुमति देने को तैयार नही थे, किन्तु किशोर तुलसी की अन्तरात्मा ने उनको साधु-श्रेणी मे प्रविष्ट होने को प्रेरित किया और वे अपने सकल्प से विरत नही हुए। क्या उन्हे त्याग का अर्थ विदित था ? उनके पारिवारिक जनो के लिए यह एक समस्या थी। जिस दिन वे सन्यास लेने वाले थे, उसके पूर्व पहली रात को उनके बडे भाई मोहनलालजी ने उनको सौ रुपए का एक नोट दिया और कहा कि वह इसे अपने पास रख ले, जब कि वह उन सबसे अगले दिन विदा ले रहे थ। आचार्यश्री तुलसी को यह पता था कि साधु का क्या कर्तव्य होता है और उन्होने हँसकर पूछा—"मै इन रुपयो का क्या करूँगा। साधु तो एक पैसा भी अपने पास नही रख सकता।" यह किशोर तुलसी के लिए एक कसौटी थी। उन्होने सिद्ध कर दिया कि दुनिया के प्रलोभनो और भोग-विलास का उनके लिए कोई अर्थ नही है।

उनमे प्रारम्भ से ही त्याग और सयम के गुण मौजूद थे। आगे चल कर उनका साधु-जीवन विकसित हुआ और वे महान् धर्म-गुरु बन गए। बाईस वर्ष की अवस्था मे आचार्यश्री कालूगणी ने मुनिश्री तुलसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। आचार्य बनने के लिए यह अवस्था छोटी ही थी, किन्तु मुनिश्री तुलसी ने जो गुण विकसित कर लिए थे, उनके कारण उनका यह चुनाव सर्वथा उचित सिद्ध हुआ। सस्कृत मे एक उक्ति है **गुणाः पूजास्थानं गुणिषु, न च लिंगं न च वयः** अर्थात् न तो आयु का और न लिंग का महत्त्व है, असली महत्त्व तो गुणो का ही होता है। आचार्यश्री तुलसी भी अपने गुणो के कारण अपने शिष्यो की श्रद्धा और आदर के अधिकारी बने।

अणुव्रत का प्रवर्तन

सन् १९४९ मे उन्होने अणुव्रत-आन्दोलन चलाया। नैतिक मापदण्डो की गिरावट के विरुद्ध यह आन्दोलन था। नैतिक पतन के पाश मे राष्ट्र को मुक्त करना उसका उद्देश्य है। आज जब कि दुनिया आध्यात्मिक केन्द्र से दूर जा रही है, मानव का दृष्टिकोण अधिकाधिक भौतिकवादी बनता जा रहा है, नैतिक मूल्यो को विस्मृत किया जा रहा है, अणुव्रत-आन्दोलन मनुष्य को नैतिक भ्रष -पतन के दलदल मे फँसने से रोकता है और उसे आन्तरिक शान्ति और सुख की उपलब्धि कराता है। जैसा कि 'अणुव्रत' शब्द से ही प्रकट है, वह छोटी-छोटी प्रतिज्ञा से प्रारम्भ होता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए 'पूर्ण' बनना सम्भव नही हो सकता, किन्तु अल्प प्रारम्भ करके वह सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त कर सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन समाज के नैतिक चरित्र का निर्माण करना चाहता है। इस आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य ये हैं—१ जाति, वर्ण, राष्ट्रीयता और धर्म का कोई भेद न करते हुए सब लोगो के लिए संयम का आदर्श प्रस्तुत करना और उस आदर्श के अनु-

सार अधिकाधिक जीवन बिताने के लिए प्रेरित करना, २ समाज मे विश्व-शान्ति का प्रचार करने के लिए प्रचारक तैयार करना और उन्हे प्रेरित करना। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पाँच प्रतिज्ञाए लेने को कहता है। यदि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से इन पाँच व्रतो का पालन करने का प्रयत्न करे तो वह पूर्ण आदर्श को प्राप्त कर सकेगा। जीवन के हर क्षेत्र मे वह इन व्रतो का पालन कर सकता है।

हम आज देखते है कि धर्म, भाषा, जाति और सम्प्रदाय के नाम पर लोग परस्पर लड रहे है। धर्म की भावना को लोगो ने ठीक प्रकार से नही समझा है। धर्म केवल मन्दिर जाने और दैनिक कर्मकाण्डो का पालन करने मे नही है। वह इन सबसे कुछ अधिक है। वास्तविक धर्म सभी धर्मो के प्रति सहिष्णुता दिखाने मे है। पूजा की विधि कुछ भी हो, उसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ऊचा उठाए और रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाए बिना यह लक्ष्य सिद्ध नही किया जा सकता।

उदार मनोवृत्ति का परिचय

आचार्यश्री तुलसी ने एक धर्माचार्य के रूप मे अपनी उदार मनोवृत्ति का परिचय दिया है, कारण वह कहते है कि दूसरे धर्मों के प्रति किसी को निन्दात्मक भाषा का लेखनी या वाणी द्वारा प्रयोग नही करना चाहिए। केवल अपने विचारो का ही प्रचार करना चाहिए। दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखानी चाहिए। दूसरे धर्मो के सतो और आचार्यो के प्रति घृणा या तिरस्कार नही फैलाना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति अपना धर्म या सम्प्रदाय बदल लेता है तो उसके साथ दुर्व्यवहार नही करना चाहिए और न उसका सामाजिक बहिष्कार ही करना चाहिए। धर्म के सर्वमान्य मूल तत्त्वो का यथा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रचार करने का सामूहिक प्रयास करना चाहिए। अगर मनुष्य इन आचार-नियमो का पालन करने लगे तो वर्तमान दुनिया मे महान् क्रान्ति हो जायेगी।

राष्ट्र का निर्माण करने के लिए नैतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की सदैव आवश्यकता होती है और अणुव्रत-आन्दोलन एक प्रकार से देश के नैतिक उत्थान का आन्दोलन है। जो आन्दोलन वर्तमान युग की चुनौती का सामना नही कर सकता, वह चल नही सकता। अणुव्रत आन्दोलन वर्तमान युग की चुनौती का उत्तर देता है। वह लोगो को केवल भौतिक विचारो का परित्याग करने और नैतिक एव आध्यात्मिक उत्थान के लिए काम करने का आह्वान करता है। सत और धर्माचार्य युग-युग से शान्ति का प्रचार करते आए है, किन्तु जब तक अहिंसा और सत्य के गुणो का विकास नही होगा, तब तक शान्ति की स्थापना नही हो सकती। इसमे कोई सन्देह नही कि यदि अणुव्रत-आन्दोलन के पाँचो व्रतो का पालन किया जाये तो युद्धो की सम्भावना टल जायेगी। इस प्रकार यह आन्दोलन वर्तमान युग की चुनौती का समाधान है।

और जब अणुव्रत-आन्दोलन के प्रणेता आचार्यश्री तुलसी अपने आचार्य-पद के पच्चीस वर्ष पूरे कर रहे है, यह उचित ही है कि देश अपने इस महान् आचार्य के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित कर रहा है।

नैतिक पुनरुत्थान के नये सन्देशवाहक

श्री गोपालचन्द्र नियोगी
सम्पादक—दैनिक वसुमति, बंगला, कलकत्ता

नई आशा का नया सन्देश

मनुष्य का जीवन केवल खाने-पीने और मौज उडाने अथवा कष्ट और दुविधाए झेलने के लिए ही नहीं है। वह उपन्यास के पृष्ठो की भाँति भी नही है। मनुष्य समाज का प्राणी है और समाज भी मानव प्राणियो से ही बना है। उसका जीवन सामाजिक जीवन है और सामाजिक वातावरण मे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। साथ ही वह सामाजिक सम्बन्धो से उत्पन्न होने वाली समस्याओ पर विजय प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को केवल अधिकार ही प्राप्त नही है, उसे कुछ कर्तव्यो का पालन और दायित्वो का निर्वाह भी करना होता है। स्वभाव मे वह चेतन और सक्रिय प्राणी है और उसे तर्क शक्ति प्राप्त है। उसका पारिवारिक, सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक जीवन होता है और वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अनिवार्यत वह जीवन की ऐसी योजना बनाने का प्रयत्न करता है, जिसमें उसके शरीर और मन की आवश्यकताए पूरी हो सके और वह जीवन की आवश्यक समस्याओ को हल कर सके। किन्तु उसे मार्ग म अनेक रुकावटो का सामना करना पडता है, जो दुर्लंघ्य प्रतीत होती है। सामाजिक परिस्थितियाँ ही ये समस्याए है। उन्होने एक सुविधा भोगी वर्ग को जन्म दिया है जो प्रगति के फलो का उपभोग करता है। समाज सत्ता-प्रेम, मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार के दृढ पाश मे जकडा हुआ है। फलस्वरूप बहुसख्यक जन समाज घोर दुख मे जीवन बिता रहा है। कठोर परिश्रम करने पर भी अधिकतर लोग दो जून पेट भर कर रोटी नही खा सकते। विफलता और निराशा का अँधेरा उनके मानस पर छाया रहता है। वर्षों के गहरे चिन्तन के बाद आचार्यश्री तुलसी करोडो शोषितो और श्रमजीवियो के लिए नई आशा और मानव जाति के लिए नैतिक पुनरुत्थान का नया सन्देश लेकर अवतरित हुए है।

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के श्वेताम्बर तेरापथ सम्प्रदाय के आध्यात्मिक आचार्य है। साधारणत कहा जाता है कि जैन धर्म का सबसे पहले भगवान् महावीर ने प्रचार किया, जो भगवान् बुद्ध के समकालीन थे। किन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि जैन धर्म भारत का अत्यन्त प्राचीन धर्म है, जिसकी जडे पूर्व ऐतिहासिक काल मे पहुँची हुई है। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने जैन धर्म के तेरापथ सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसका अर्थ होता है—वह समुदाय जो तेरे (भगवान् के) पथ का अनुसरण करता है। आचार्यश्री तुलसी इस सम्प्रदाय के नवम गुरु अथवा आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक है। केवल ग्यारह वर्ष की अल्प आयु मे उन्होने दीक्षा ग्रहण की और फिर ग्यारह वर्ष की आध्यात्मिक साधना के पश्चात् वे उस सम्प्रदाय के पूजनीय गुरुपद पर आसीन हुए। आचार्यश्री तुलसी का हृदय जन-साधारण के कष्टो को देख कर द्रवित हो गया। उनके प्रति असीम प्रेम से प्रेरित होकर उन्होने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। उसका उद्देश्य उच्च नैतिक मानदण्ड को प्रोत्साहन देना और व्यक्ति को शुद्ध करना ही नही है, प्रत्युत जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रवेश कर समाज की पुनर्रचना करना है। अणुव्रत जीवन का एक प्रकार और समाज की एक कल्पना है। अणुव्रती बनने का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नही है कि मनुष्य भला और सच्चा मनुष्य बने।

नैतिक शास्त्र का आविष्कार

प्रत्येक आन्दोलन का अपना आदर्श होता है और अणुव्रत-आन्दोलन का भी एक आदर्श है। वह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है जिसमे स्त्री और पुरुष अपने चरित्र का सोच-समझ कर परिश्रम पूर्वक निर्माण करते है और अपने को मानव जाति की सेवा मे लगाते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन पुरुषो और स्त्रियो को कुछ विशेष अभ्यास करने की प्रेरणा देता है,जिनसे लक्ष्य की प्राप्ति होती है। हमारे साधारण जीवन मे भी हमको यह विचार करना पडता है कि हमको क्या काम करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। फिर भी हम सही मार्ग पर नही चल पाते। हम क्यो असफल होते है और किस प्रकार सही मार्ग पर चलने का दृढ सकल्प कर सकते है, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। पूज्य आचार्यश्री तुलसी ने उन विषयो पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे अपने विभिन्न सार्वजनिक और व्यक्तिगत प्रवचनो मे उनकी अत्यन्त वैज्ञानिक ढग मे व्याख्या की है।

लोकतन्त्र एक ऐसी राजनैतिक प्रणाली है, जिसके द्वारा समाज का ऐसा सगठन किया जाता है कि सब मनुष्य उसमे सुखी रह सकें। किन्तु जब हम लोकतन्त्री सामाजिक जीवन की ओर देखते है तो हमे हृदयहीन धन-सत्ता और शाषण के दर्शन होते है। राज्य शासको और शासितो मे विभक्त दिखाई देता है। लोकतन्त्र की उज्ज्वल कल्पना और भयानक वास्तविकता मे अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। मानव प्रेम और अगाध निष्ठा से प्रेरित होकर बारह वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के नैतिक शास्त्र का आविष्कार किया और उसको व्यावहारिक रूप दिया। अणुव्रत शब्द नि सन्देह जैन शास्त्रो से लिया गया है, किन्तु अणुव्रत-आन्दोलन मे साम्प्रदायिकता का लवलेश भी नही है।

इस आन्दोलन का एक प्रमुख स्वरूप यह है कि वह किसी विशेष धर्म का आन्दोलन नही है। कोई भी स्त्री-पुरुष इस आन्दोलन मे सम्मिलित हो सकता है और इसके लिए उसे अपने धार्मिक सिद्धान्तों से तनिक भी इधर-उधर होने की आवश्यकता नही होती। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता इस आन्दोलन का मूल मन्त्र है। वह न केवल असाम्प्रदायिक है, प्रत्युत सर्वव्यापी आन्दोलन है।

अणुव्रत जैसा कि उसके नाम मे प्रकट है, अत्यन्त सरल वस्तु है। अणु का अर्थ होता है—किसी भी वस्तु का छोटे-से-छोटा अग। अत अणुव्रत ऐसी प्रतिज्ञा हुई, जिसका आरम्भ छोटे-से-छोटा होना है। मनुष्य इस लक्ष्य की ओर अपनी यात्रा सबसे नीची सीढी से आरम्भ कर सकता है। कोई भी व्यक्ति एक दिन मे, अथवा एक महीने मे वाछित परिणाम प्राप्त नही कर सकता। उसको धीरे-धीरे किन्तु गहरी निष्ठा के साथ प्रयत्न करना चाहिए और शनै -शनै अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना चाहिए। मनुष्य यदि व्यवसाय मे किसी उद्योग मे या और किसी धन्धे मे लगा हुआ हो तो अणुव्रत-आन्दोलन उसे उच्च नैतिक मानदण्ड पर चलने की प्रतिज्ञा लेने की प्रेरणा देता है। इस प्रतिज्ञा का आचरण बहुत छोटी बात से आरम्भ होता है और धीरे-धीरे उसमे जीवन की सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। अणुव्रत मनुष्यो को बुद्धि-सगत जीवन की सिद्धि के लिए आत्म-निर्भर बनने मे सहायता देता है। उसके फलस्वरूप अहिंसा, शान्ति, सद्भावना और अन्तर्राष्ट्रीय सहमति की स्थापना हो सकेगी।

नैतिक क्रान्ति का सन्देश

भारत चौदह वर्ष पूर्व विदेशी शासन के जुए से स्वतन्त्र हुआ। विशाल पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा भी हम आर्थिक और सामाजिक शान्ति नही कर पाये। जब तक हम ऐसी नई समाज व्यवस्था की स्थापना नही करेंगे, जिसमे निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी सुखी जीवन बिता सकेगा, तब तक हमारा स्वराज्य इस विशाल देश के करोडो व्यक्तियों का स्वराज्य नही हो सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे हमारे सिर पर सर्वसहारकारी अणुयुद्ध का भयानक खतरा मंडरा रहा है। इस आणविक युग मे जबकि शस्त्रों की प्रतियोगिता चल रही है, सर्वनाश प्राय निश्चित दिखाई देता है। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो क्षेत्रो मे समस्याए अधिकाधिक जटिल होती जा रही हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि लोकमत

सम्बन्धित सरकारो को प्रभावित नही कर पा रहा है। इस सकट मे आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत आन्दोलन एक नई सामाजिक आर्थिक,राजनीतिक और नैतिक क्रान्ति का सन्देश देकर हमको मार्ग दिखा रहा है। यह न तो दया का कार्यक्रम है और न ही दान-पुण्य का। यह तो आत्म-शुद्धि का कार्यक्रम है। इसमे केवल व्यक्ति की ही आत्म-रक्षा नही है, प्रत्युत ससार के सभी राष्ट्रो की रक्षा निहित है। जबकि विनाश का खतरा हमारे सम्मुख है, अणुव्रत-आन्दोलन हमे ऐसी राह दिखा रहा है, जिस पर चल कर मानव जाति त्राण पा सकती है।

७

स्वीकृत कर वर ! चिर अभिनन्दन

श्री ओमप्रकाश द्रोण

अमल अकुल नव ज्योति विभाकर
सार्वभौम हित द्योति दिपाकर
जन-जन के मन के दूषित वर
बन्धन सकल अबन्धनमय कर।

अणुव्रत, सत्य, अहिसात्मक बल
पा कर हो जन-जन-मन अविचल
पकिल जल रत ज्यों नव उत्पल
किजलकीरत, त्यो जग-हृत्थल।

प्रसरित धवल-कमल-वर-चन्दन
पुलकित चपल भ्रमर दल जन-मन
गुजित अमल समल जग-कानन
'चरैवेति' रत वर जन-जीवन

अरुण राग लाछित मम वन्दन
स्वीकृत कर वर ! चिर अभिनन्दन

सुधारक तुलसी

डा० विश्वेश्वरप्रसाद, एम०ए०, डी० लिट्
अध्यक्ष—इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

विश्व के इतिहास मे समय-समय पर अनेक समाज-सुधारक होते रहे है, जिनके प्रभाव मे समाज की गति एक सीधे रास्ते पर बनी रही है। जब-जब वह राजमार्ग या धर्ममार्ग को छोड कर इधर-उधर भटकने लगता है, तब-तब कोई महान् नेता, उपदेशक और सुधारक आकर समाज की नकेल पकड उसे ठीक मार्ग पर ला देता है। भारतवर्ष के इतिहास मे तो वह बात और भी सही है। इसीलिए गीता मे भगवान् कृष्ण ने कहा था कि "जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब अधर्म को हटाने के लिए मै अवतरित होता हूँ।" महान् सुधारक ईश्वर के अश ही होते है और उसी की प्रेरणा से वह समाज को धर्म के राजमार्ग पर लाते है। समाज की स्थिरता और दृढता के लिए आवश्यक है कि वह धर्म की राह पकडे। यह धर्म क्या है? मेरी समझ मे धर्म वही है, जिससे समाज का अस्तित्व बने। जिस चलन से समाज विशृखल हो और उसकी इकाई को ठेस लगे, वह अधर्म है। समाज को शृखलाबद्ध रखने के लिए और उसके अगो-प्रत्यगो मे एकता और सहानुभूति बनाये रखने के लिए धर्म के नियम बनाये जाते है। यद्यपि समाज की गति के साथ इन नियमो मे परिवर्तन भी होता रहता है, फिर भी कुछ नियम मौलिक होते है जो सदा ही समान रहते है और उनके अकुलित होने पर समाज मे शिथिलता आ जाती है, अनाचार बढता है और समाज का अस्तित्व ही नष्ट होने लगता है। ये नियम सदाचार कहलाते है और हर युग तथा काल मे एक समान ही रहते है। शास्त्रो मे धर्म के दस लक्षणो का वर्णन है। ये लक्षण मौलिक है और उनमे उथल-पुथल होने से समाज की स्थिति ही खतरे मे पड जाती है। सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि ऐसे ही नियम है जो समाज के आरम्भ से आज तक और भविष्य मे समाज के जीवन के साथ सदैव ही मान्य होगे और उनम श्रद्धा घटने पर या उनके विरुद्ध आचरण होने पर समाज मिट जायेगा। इसीलिए पूर्वकाल से निरन्तर समाज-सुधारको तथा गुरुजनो का सकेत सदैव इन नियमो के पालन की ओर रहा है और जब भी सामुदायिक रूप से व्यक्तियो ने इनके विरुद्ध आचरण किया है, सुधार की आवाज तेज हुई है और कोई बडा नेता उत्पन्न हुआ है जिसने समाज की गति को फिर धर्म की ओर मोड दिया है।

वैदिक काल मे वेदो और उपनिषदो मे सदाचार और धर्म के कुछ नियम बनाये गए। उपनिषदो ने आचरण पर बल दिया और मोक्ष या निर्वाण को व्यक्ति के कर्मो पर अवलम्बित माना। परन्तु यह रास्ता कठिन था, अत लोगो ने एक सहज मार्ग को खोज निकाला और यज्ञादि के फल पर भरोसा करके अपने और परमात्मा के बीच पुरोहित के माध्यम को स्वीकार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यज्ञो की भरमार होने लगी और सभी प्रकार की बलि दी जाने लगी। हिंसा का बोलबाला हुआ और धर्म केवल ढोग रह गया। यह भावना मनुष्य के जीवन के दूसरे अशों मे भी व्याप्त हो गई और पारस्परिक कलह, राज्यो के झगडे, लडाई और अत्याचार का जोर हुआ। सामाजिक सम्बन्धो मे स्थिरता के स्थान पर अस्थिरता आने लगी और सैन्य या पाशविक बल के आधार पर साम्राज्य बने तथा विभिन्न वर्गों के सम्बन्धो में भी यही आधार होने लगा जिससे निर्बल और पिछडे हुए वर्ग पद-दलित हुए और उनके अधिकारो को क्षति पहुँची। ऐसे समय पर दो महापुरुषो ने इस देश मे जन्म लिया, भगवान् महावीर तथा गौतम बुद्ध। उन्होने धर्म के सच्चे तत्त्वो का विश्लेषण किया और समाज की दृष्टि बाह्य रूप से हटा कर पुन मौलिक नियमो की ओर आकृष्ट की। आचरण पर बल दिया गया और निर्वाण को, समाज मे मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार पर ही प्राप्य बताया। हिसा से हट कर अहिसा मे आस्था हुई

और अशोक ने इस सदाचरण को ही राज्य का धर्म बनाया। व्यक्ति का अपने परिवार, अपने पडौसी और समाज के प्रति क्या कर्तव्य है, यह अशोक ने पूर्ण रूप से अंकित किया और अहिंसा को शासन-दण्ड बनाया। समाज फिर धर्म-मार्ग की ओर उन्मुख बना। परन्तु इस अवस्था मे पुन परिवर्तन हुआ और सदाचरण की बागडोर फिर ढीली पडने लगी। बुद्ध और महावीर के अनुयायी ही उस सच्चे मार्ग मे विचलित होने लगे और धर्म के सच्चे तत्वो को भूल कर पुन कर्म-काण्ड मे लिप्त हुए। मठो और मन्दिरो के निर्माण, व्रतो और बाहरी लिबास को ही सब कुछ माना गया, जिससे आचरण मे शिथिलता आयी। समाज ढीला पडने लगा और फिर आपसी सम्बन्ध बिगडने लगे। राजनीतिक स्तर पर साम्राज्यो का बनना-बिगडना सैनिक बल पर ही आधारित था और देश की एकता को हानि पहुँची। हर्ष के काल मे यह भावना उत्तरोत्तर और प्रबल होती गई तथा देश पर बाह्य आक्रमण हुए। देश के भीतर युद्धो की परम्परा चल पडी और विदेशी धर्म का भी प्रादुर्भाव हुआ। जनसमूह घबडा उठा और सच्चे मार्ग को पाने के लिए छटपटा उठा। इस काल मे अनेक धर्म-सुधारक और नेता देश मे अवतरित हुए जिनका उपदेश फिर यही था कि अपना आचरण ठीक करो, भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करो और पारस्परिक सहानुभूति, सामजस्य और सहिष्णुता को बढाओ जिससे मत-मतान्तरो के झगडो से ऊपर उठ कर सत्य-मार्ग का आश्रय लिया जाये। अत्याचार से इसी मार्ग द्वारा मुक्ति मिल सकती थी।

शकराचार्य, रामानुज, रामानन्द, कबीर, नानक, तुलसी, दादू आदि अनेक सुधारक कई सौ वर्षों मे होते रहे और समाज को सीधे मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते रहे, जिससे उस समय के शासन और राजनीति की कठोरताओ के बावजूद हिन्दू-समाज और व्यक्ति शान्ति और आत्म-विश्वास कायम रख सका।

देश पर पुन एक सकट अठारहवी शती मे आया और इस बार विदेशी शासन और विदेशी सस्कृति ने एक जोरदार आक्रमण किया, जिससे भारतीय समाज और देश के धर्म का पूर्ण अस्तित्व ही नष्ट प्राय हो गया था। पश्चिम के ईसाई-सम्प्रदाय ने हिन्दुओ को अपने मत मे लाने का घोर प्रयत्न किया और इस कार्य मे मिशनरी लोगो को शासन से सर्वविध सहायता प्राप्त थी। उन्नीसवी शती के आरम्भ मे देश मे अन्धविश्वास, आडम्बरपूर्ण धार्मिक आचरण और शास्त्रयुक्त नियम और आचरण के प्रति अश्रद्धा बढे, जिससे यहाँ के वासी पाश्चात्य धर्म और सस्कृति के सहज ही शिकार होने लगे। विशेषत नई अग्रेजी शिक्षायुक्त कलकत्ते का नवयुवक-समुदाय तो देश की सभी परम्पराओ, बुरी या भली, सभी का घोर विरोध करने लगा और ईसाई मत या नास्तिकता की ओर अग्रसर हुआ। इस सर्वग्रासी आयोजन मे देश और सस्कृति को बचाने का श्रेय राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द प्रभृति महान् सुधारको और धर्मोपदेशको को है, जिन्होने भारतीय दर्शन और धर्म का शुद्ध रूप बलपूर्वक दर्शाया और उसके प्रति विश्वास और श्रद्धा की पुन स्थापना की। इन सभी सुधारको ने सामयिक कुरीतियो और सयमशून्य पद्धतियो का जोरदार खडन किया और बताया कि उनके लिए शास्त्रो मे और पुनीत वैदिक धर्म आदि मे कोई भी पुष्टि नही है। उन्होने वैदिक हिन्दू धर्मका पवित्र रूप सामने रखा और उसी का अनुगमन करने का उपदेश दिया। उस धर्म मे आचरण पर बल दिया गया, ज्ञान को सर्वोपरि माना गया, और मनुष्य अपने शुभ कर्मों द्वारा अपने भाग्य का स्वय निर्माता है, इस तथ्य को बताया गया। इस प्रकार शाश्वत, सनातन धर्म केवल पाखड और पोपलीला न होकर बुद्धिसिद्ध (rational) और समाज के लिए कल्याणकारी है, इस बात को दर्शाया गया। इन सुधारको के यत्न से देश की सस्कृति जागृत हुई और जन समुदाय मे नई चेतना और आत्मविश्वास का विकास हुआ, जिससे राष्ट्रीयता का जन्म हुआ और देश स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हुआ।

इस शताब्दी के आरम्भ में जिस समय राष्ट्रीय आन्दोलन बढ रहा था और हिसा की प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी, उस समय महात्मा गाधी ने उसकी बागडोर सँभाली और आन्दोलन को अहिसात्मक मार्ग पर चलाया और सत्य व सदाचार पर जोर दिया, क्योकि इनके बिना स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर भी राष्ट्र उन्नति नही कर सकता है। त्याग सत्य का प्रेरक है और सदाचार का प्रणेता। इसी त्याग पर गाधीजी ने बल दिया और सत्याग्रह का मार्ग दिखा कर देश के जन-समुदाय को राष्ट्रहित के लिए त्याग की ओर प्रेरित किया। जहाँ त्याग और सेवा प्रमुख कर्तव्य है, वहाँ ऊँच-नीच का भेद, छोटे-बड़े और अफसर-मातहत की संज्ञा का ही लोप हो जाता है और समाज मे एकता, समता और सद्-व्यवहार का आधिपत्य हो जाता है। बिना इन गुणों के समावेश के समाज सुसगठित नहीं होता। इस महान् तथ्य को महात्मा गाधी

ने देश के सामने रखा और इसी के आधार पर देश को स्वतन्त्र किया। उनके निर्वाण के बाद जब भारतवर्ष सर्वसत्ता-सम्पन्न गणराज्य बना और देश मे विकास की योजनाएं बनायी गईं, तब लाभकारी कार्यों की कमी न रह गई और विभिन्न वर्गों की उन्नति के नये रास्ते खुल गये। देश को विकास की ओर ले जाना था, उसकी आर्थिक उन्नति करना था, जिससे सम्पूर्ण जनता का उत्थान हो और उसकी आर्थिक दशा सुधरे। इस योजना के लिए आवश्यक था कि सच्चरित्र, परहित-रत, कर्तव्य-परायण, सदाचारी नेता, हाकिम, व्यापारी, शिक्षक, कारीगर आदि देश के विकास की बागडोर अपने हाथ मे लें। यदि इन वर्गों मे सदाचार की कमी हुई तो देश का हित न होकर अहित हो जाये और देश उन्नति की ओर अग्रसर नही हो सकता। दुर्भाग्यवश जिस समय यह सुअवसर आया और आशा हुई कि अब इतने वर्षों के कठोर परिश्रम और त्याग के फलस्वरूप देश की उन्नति होगी और गरीबी मिटेगी, उस समय देखा गया कि कर्मचारियो, नेताओ, व्यापारियो आदि मे अनाचार और स्वार्थ की वृद्धि हो रही है, क्योकि अब इनके लिए नित्य नये अवसर आने लगे। अगर यही क्रम बना रहा तो नई योजनाओ का कोई लाभ न होगा और उनकी सफलता सदिग्ध बन जायेगी। देश मे चारो ओर यही आवाज उठने लगी कि शासन को इस प्रकार के मगरमच्छो से बचाया जाये और भ्रष्टाचार (Corruption) को दूर किया जाये।

ऐसे समय मे आचार्य तुलसी ने अपने अणुव्रत-आन्दोलन को प्रबल किया और अनेक वर्गों के सदस्यो को पुन सदाचार की ओर प्रेरित किया। आचार्य तुलसी ने यह काम पहले ही शुरू कर दिया था, पर इसकी प्रधानता और गति-शीलता स्वतन्त्रता के बाद, विशेष रूप से बढी। इनका यह आन्दोलन अपने ढग का निराला है। धर्म के सहारे व्यक्ति को ये व्रती बनाते है और उसको इस प्रकार बल देकर कुमार्ग और कुरीतियो मे अलग करके सदाचार की ओर अग्रसर करते हैं। यह व्रत छोटे-छोटे होते है, पर इनका प्रभाव बहुत ही गम्भीर होता है, जो व्यक्ति तथा समाज के जीवन मे क्रान्ति ला देता है। व्यापारियो, सरकारी कर्मचारियो, विद्यार्थियो आदि मे यह आन्दोलन चल चुका है और इसके प्रभाव मे सहस्रो व्यक्ति आ चुके है। आज इसकी महत्ता स्पष्ट न जान पडे, पर कल के समाज मे इसका असर पूरी तरह दिखाई पडेगा, जब समाज पुन सदाचार और धर्म द्वारा अनुप्लावित होगा और भविष्य मे आज की बुराइयो का अस्तित्व न होगा। आचार्य तुलसी और उनके शिष्य मुनिगण का कार्य भविष्य के लिए है और नये समाज के सगठन के लिए सहायक है। इसकी सफलता देश के कल्याण के लिए है। आशा है, यह सफल होगा और आचार्य तुलसी सुधारको की उस परम्परा मे, जो इस देश के इतिहास मे बराबर उन्नति लाते रहे हैं, अपना मुख्य स्थान बना जायेंगे। उनके उपदेश और नेतत्व मे समाज गौरवशील बनेगा।

मेरा सम्पर्क

का० यशपाल

लाहौर-षड्यन्त्र के शहीद सुखदेव और मैं लाहौर के नेशनल कालेज मे सहपाठी थे। एक दिन लाहौर जिला-कचहरी के समीप हमे दो श्वेताम्बर जैन साधु सामने से आते दिखाई दिये। हम दोनो ने मन्त्रणा की कि इन साधुओ के अहिंसा-व्रत की परीक्षा की जाये। हम उन्हे देखकर बहुत जोर से हँस पडे। सुखदेव ने उनकी ओर सकेत करके कह दिया, "देखो तो इनका पाखड!" उत्तर मे हमे जो क्रोध-भरी गालियाँ सुनने को मिली, उससे उस प्रकार के साधुओ के प्रति हमारी अश्रद्धा, गहरी विरक्ति मे बदल गई।

मेरी प्रवृत्ति किसी भी सम्प्रदाय के अध्यात्म की ओर नही है। कारण यह है कि मैं इहलोक की पार्थिव परि-स्थितियो और समाज की जीवन-व्यवस्था से स्वतन्त्र मनुष्य की, इस जगत् के प्रभावो से स्वतन्त्र चेतना मे विश्वास नही कर सकता। अध्यात्म का आधार तथ्यो से परखा जा सकने वाला ज्ञान नही है, उसका आधार केवल शब्द-प्रमाण ही है। इसलिए मै समाज का कल्याण आध्यात्मिक विश्वास मे नही मान सकता। अध्यात्म मे रति, मुझे मनुष्य को समाज से उन्मुख करने वाली और तथ्यो से भटकाने वाली स्वार्थ परक आत्मरति ही जान पडती है। इसलिए अणुव्रत-आन्दोलन के लक्ष्यो मे, सामाजिक और राजनैतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देने की घोषणा मे, मुझे कुछ भी उत्साह नही हुआ था।

जैन-दर्शन का मुझे सम्यक् परिचय नही है। 'काकचचु'-न्याय मे ऐसा समझता हूँ कि जैन-दर्शन ब्रह्माण्ड और ससार का निर्माण और नियमन करने वाली किसी ईश्वर की शक्ति मे विश्वास नही करता। वह कभी अजर-अमर आत्मा मे विश्वास करता है, इसलिए जैन मुनियो और आचार्यों द्वारा आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देने के आन्दोलन की बात मुझे बिल्कुल असगत और निरर्थक जान पडी। ऐसे आन्दोलन को मैं केवल अन्तर्मुख-चिन्तन की आत्मरति ही समझता था।

दो-तीन वर्ष पूर्व आचार्य तुलसी लखनऊ मे आये थे। आचार्यश्री के सत्सग का आयोजन करने वाले सज्जनो ने मुझे सूचना दी कि आचार्यश्री ने अन्य कई स्थानीय नागरिको मे मुझे भी स्मरण किया है। लडकपन की कटु स्मृति के बावजूद उनके दर्शन करने के लिए चला गया था। उस सत्सग मे आये हुए अधिकाश लोग प्राय आचार्य तुलसी के दर्शन करके ही सन्तुष्ट थे। मैंने उनसे सक्षेप मे आत्मा के अभाव मे भी पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न पूछे थे और उन्होने मुझसे समाजवाद की भावना को व्यावहारिक रूप दे सकने के सम्बन्ध मे बात की थी।

आचार्य का दर्शन करके लौटा, तो उनकी सौम्यता और सद्भावना के गहरे प्रभाव से सन्तोष अनुभव हुआ। अनुभव किया, जैन साधुओ के सम्बन्ध मे लडकपन की कटु स्मृति से ही धारणा बना लेना उचित नही था।

दो बार और—एक बार अकेले और एक बार पत्नी-सहित आचार्य तुलसी के दर्शन के लिए चला गया था और उनसे आत्मा के अभाव मे भी पुनर्जन्म की सम्भावना के सम्बन्ध मे बाते की थी। उनके बहुत सक्षिप्त उत्तर मुझे तर्क-संगत लगे थे। उस सम्बन्ध में काफी सोचा, और फिर सोच लिया कि पुनर्जन्म हो या न हो, इस जन्म के दायित्वों को ही निबाह सकूँ, यही बहुत है।

एक दिन मुनि नगराजजी व मुनि महेन्द्रकुमारजी ने मेरे मकान पर पधारने की कृपा की। उनके आने से पूर्व उनके बैठ सकने के लिए कुर्सियाँ हटा कर एक तख्त डाल कर सीतलपाटी बिछा दी थी। मुनियों ने उस तख्त पर बिछी सीतलपाटी पर आसन ग्रहण करना स्वीकार नही किया। तख्त हटा देना पड़ा। फर्श की दरी भी हटा देनी पडी। तब

मुनियो ने अपने हाथ में लिये चँवर से फर्श को झाड कर अपने आसन बिछाये और बैठ गये। मैं और पत्नी उनके सामने फर्श पर ही बैठ गए।

दोनो मुनियो ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से शोषणहीन समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध मे मुझसे कुछ प्रश्न किये। मैंने अपने ज्ञान के अनुसार उत्तर दिये। मुनियों ने बताया कि आचार्यश्री के सामने अणुव्रत-आन्दोलन की भूमिका पर एक विचारणीय प्रश्न है। अणुव्रत मे आने वाले कुछ एक उद्योगपति अपने उद्योगों को शोषण-मुक्त बनाना चाहते है, पर अब तक उन्हे एक समुचित व्यवस्था इस दिशा मे नही दीख रही है। लाभ-विभाजन का मान-दण्ड क्या हो, यह एक प्रश्न अणुव्रती नही सुलझा पा रहे हैं। इस दिशा मे सन्तुलन बिठाने के लिए वे अपना लाभांश कम करने के लिए भी तैयार है।

मैंने अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से उत्तर दिया कि उद्योग-धन्धो से यदि लाभ नही होगा, तो हानि होगी। उद्योग-धन्धो अथवा उत्पादन का तो प्रयोजन ही यह होना है कि उत्पादन मे श्रम और व्यय के रूप मे जितना मूल्य लगे उससे अधिक मूल्य का फल हो। सेर-भर गेहूँ बोकर सेर-भर गेहूँ पाने के लिए खेती नही की जाती। शोषण उद्योग-धन्धो से होने वाले लाभ के कारण नही होता, बल्कि वह लाभ एक व्यक्ति द्वारा ही हथिया लिया जाने के कारण या लाभ का वितरण सब श्रम करने वालो मे समान रूप से न किया जाने के कारण होता है। अणुव्रती जनहित के विचार मे उद्योग-धन्धे आरम्भ करे तो उनकी सफलता न्यूनतम व्यय और अधिक-से-अधिक उत्पादन मे होगी। उन उद्योग-धन्धो द्वारा श्रमिको को उचित जीविका देने के बाद भी यथेष्ट लाभ होना चाहिए, परन्तु वह लाभ किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति नहीं, बल्कि श्रमिको की ही सम्मिलित सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। साधनो को कायम रखने और बढाने के अतिरिक्त वह लाभ-धन उन उद्योग-धन्धो मे लगे हुए श्रमिको को शिक्षा, चिकित्सा तथा सास्कृतिक सुविधाए देने के लिए उपयोग किया जा सकता है। परन्तु उद्योग-धन्धो मे लाभ अवश्य होना चाहिए; समाजवादी देशो मे ऐसा ही किया जाता है।

मेरी बात से मुनियो का समाधान नही हुआ। उन्होने कहा—जिस प्रणाली और व्यवस्था मे लाभ का उद्देश्य रहेगा, उस व्यवस्था से निश्चय ही शोषण होगा। वह व्यवस्था और प्रणाली अहिंसा और पारस्परिक सहयोग की नही हो सकेगी।

मैं मुनियो का समाधान नही कर सका, परन्तु इस बात से मुझे अवश्य सन्तोष हुआ कि अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत शोषण-मुक्ति के प्रयोगो पर सोचा जा रहा है।

मैंने मुनिजी से अनुमति लेकर एक प्रश्न पूछा—आप अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड कर समाज-सेवा करना चाहते है, ऐसी अवस्था मे आपका समाज और सामाजिक व्यवहार से पृथक् रहकर जीवन बिताना क्या तर्कसगत और सहायक हो सकता है? इसमे वैचित्र्य के अतिरिक्त कौन सार्थकता है? इसमे आपको असुविधा ही तो होती होगी।

मुनिजी ने बहुत शान्ति से उत्तर दिया—हमे असुविधा हो, तो उसकी चिन्ता हमे होनी चाहिए। हमारे वेश अथवा कुछ व्यवहार आपको विचित्र लगे हैं, तो उन्हे हमारी व्यक्तिगत रुचि या विश्वास की बात समझ कर उसे सहना चाहिए। हमारे जो प्रयत्न आपको समाज के लिए हितकारी जान पडते हैं, उनमे तो आप सहयोगी बन ही सकते है।

मुनिजी की बात तर्कसगत लगी। उनके चले जाने के बाद खयाल आया कि यदि किसी की व्यक्तिगत रुचि और सन्तोष, समाज के लिए हानिकारक नही है, तो उनसे खिन्न होने की क्या जरूरत? यदि मैं दिन-भर सिगरेट फूंकते रहने की अपनी आदत को असामाजिक नही समझता, उस आदत को क्षमा कर सकता हूँ, तो जैन मुनियो के मुख पर कपडा रखने और हाथ मे चँवर लेकर चलने की इच्छा से ही क्यो खिन्न हूँ? आचार्य तुलसी की प्रेरणा से अणुव्रत-आन्दोलन यदि आध्यात्मिक उन्नति के लिए उद्बोधन करता हुआ भी जनसाधारण के पार्थिव कष्टो को दूर करने और उन्हे मनुष्य की तरह जीवित रह सकने मे भी योगभूत बनता है तो मैं उसका स्वागत करता हूँ।

तुम ऐसे एक निरंजन

श्री कन्हैयालाल सेठिया

तुम ऐसे एक विसर्जन
जो सृजन लिये चलते हो !

कब घन अपनी बूंदों से
अपनी ही तृषा बुझाता ?
कब तरु अपने सुमनों से
अपना शृङ्गार सजाता ?

तुम ऐसे एक समर्पण
जो ग्रहण लिये चलते हो !

देते हो दान विभा का
लेते हो जग की ज्वाला,
तुम सुधा बाँट कर शिव सम
पीते हो विष का प्याला,

तुम ऐसे एक निरंजन
जो भुवन लिये चलते हो !

तुम महामुक्ति के पंथी
बन्धन की महत्ता कहते,
तुम आत्म रूप अपने मे
पर देह रूप से रहते ।

तुम ऐसे एक विचक्षण
जो द्वैत बने दलते हो !

तुम ऐसे एक विसर्जन
जो सृजन लिये चलते हो !

अचार्यश्री तुलसी मेरी दृष्टि में

सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी

आचार्यश्री तुलसी निःसन्देह एक महापुरुष है। महापुरुष कोई जन्म से नही होता, वंश-परम्परा, समाज या स्थान उसे महान् नही बनाता। व्यक्ति अपनी चारित्रिक प्रवृत्ति से ही महान् होता है। उसकी प्रत्येक क्रिया एक अविच्छिन्न सत्य से ओत-प्रोत होती है, किन्तु उस क्रिया का प्रयोग होता है—सर्वजन-हिताय। हित का जहाँ तक प्रश्न है, वह मनोनीत नही होता। उसे सीमाओ की परिधि मे भी नही बाँधा जा सकता और जो रेखांकित होता है, सम्भवत वह विशुद्ध हित भी न हो। हित सदा उन्मुक्त रहा है। उसकी कसौटी आत्म-भावना है। जहाँ निर्विवाद निर्ममत्व, निस्वार्थता हो, वही असदिग्ध क्रिया हित है। सीधे शब्दो मे जो क्रिया जीवन नैर्मल्य का प्रतीक है, औरो को जिससे आत्म-सबल मिले, वही सर्वोत्तम हित है। आचार्यश्री तुलसी सर्वजनहिताय बढ रहे है। उनका वह बहुमुखी व्यक्तित्व सबके सामने है।

मुझे आज भी वे दिन याद है, जिन दिनो आचार्यश्री तुलसी का जन्म हुआ था। उस समय मेरी आयु छः वर्ष को पार कर चुकी थी। अपने नन्हे भाई को देखने के लिए मन मे तीव्र उत्सुकता थी। जन्म के तीसरे ही दिन मैने सबसे पहले तुलसी को देखा। एक पीत वस्त्र मे लिपटा हुआ गुलाबी फूलो का गुच्छा-सा, सिंदूर ढालते से नन्हे-नन्हे पैर, खिलता हुआ चेहरा, एक प्रभा-सी सामने आई। हर्ष-विभोर मन नाच उठा। जी चाहता था कि उसे गोद मे ले लूँ, पर नही मिला। नामकरण के अवसर पर घर मे एक नवीन चहल-पहल थी। हम तुलसी, तुलसी पुकारने लगे।

तुलसी मुझे बहुत भाता। मै नही भूल रहा हूँ, जब तुलसी दो वर्ष का हुआ होगा, गडाली चलने और खडी करने ही लगा था, न जाने किस कारण से, आपसी खीचातान मे या गिर जाने से उसका एक पैर चढ गया। तुलसी बहुत रोया, बहुत रोया। डाक्टर को बुलाया, वैद्यो को बुलाया, सयाने को बुलाया, पर पैर नही उतरा।

हमारे मामा श्री नेमीचन्दजी कोठारी अच्छे अनुभवी व्यक्ति थे। मै उन्हे बुला लाया। माँ ने कहा—भाई तुलसी का पैर'। अब मामाजी ने लोहे का एक भारी-सा कडा तुलसी के पैरो मे पहना दिया। उसको गोदी मे लिये लिये रखना होता। सारी-सारी रात माताजी खडी-खडी निकालती। धीरे-धीरे कुछ दिनो मे पैर बोझ के खिचाव से अपने आप पूर्ववत् हो गया। उन दिनो जो मानसिक कष्ट होता, वह अनुभव की ही बात है। तुलसी को रोता देख मैं रोता तो नही, पर बाकी कुछ नही रहता। मैने भी उन दिनो घण्टो घण्टो तक तुलसी को गोद मे रखा।

मुझसे छोटा भाई सागर बडा ही तूफानी था। जब तब वह तुलसी को तग करता, पर तुलसी नही झलकता। बहुधा तुलसी की ओर से मै डटता और सागर के तूफानो से बचाता। कभी-कभी तो तुलसी के लिए मुझे झडप भी करनी होती। प्राय तुलसी बच्चो मे नही खेलता। एकान्त-प्रियता और अपने आपमे व्यस्त रहना उसका सहभावी धर्म-सा था। बाल्य-चपलता जो सहज है और होनी भी चाहिए, पर तुलसी की चपलता उससे सर्वथा भिन्न थी। उन दिनो पुस्तके बहुत कम थी। प्राय विद्यार्थी स्लेट (पाटी) बस्ता ही रखते थे। तुलसी बरते का शौकीन था। मैं उसे बहुधा छोटे-छोटे बरतो के टुकडे दिया करता और तुलसी दिन भर उन टुकडो से आँगन मे उल्टी-सीधी लाइनें खीचते रहता या एकान्त पा अपने आप गुनगुनाना ही उसकी चपलता थी। निष्कारण न कभी हँसना, न रोना और न बोलना तुलसी का स्वभाव था।

एक दिन तुलसी बरते से कान कुरेद रहा था। किसी अचानक धक्के से बरता अन्दर टूट गया। सुनार के यहाँ

बरते को समाणी से निकालने का प्रयत्न किया, पर नही निकला। डाक्टर के यत्न भी असफल रहे। शायद तुलसी समस्त विद्या को मस्तिष्क मे लिख लेना चाहता हो, इसीलिए कान के द्वार से उसे अपने अन्दर प्रवेश करवाया हो। उसी कारण मे कान का परदा विकृत हो गया। उसमे रसी, मवाद-पीप पड गई, कान बहने लगा। डाक्टरो ने सलाह दी कि इसे पिचकारी से साफ करो। एक दिन कान मे पिचकारी मारते-मारते बरता बाहर निकल पडा। तब से कान मे थोडी-सी कमी रह गई।

मैं इस बीच कलकत्ता यात्रा को गया। तुलसी उदास था, खिन्न-सा डबडबाई आँखे लिये मुझे पहुँचाने आया। वह कितना स्नेहिल,मृदु और मुँह लगा था। भाई का अलगाव बहुत दिनो तक अखरा। मैं पुन लौटा। तुलसी के लिए कुछ खिलौने लाया, किन्तु तुलसी बहुत नही खेला। खेलना पसन्द भी कम था। एक पढने की धुन मे वह मग्न रहता।

तुलसी बचपन मे जितना सरल, गम्भीर और धैर्यशील था, उतना ही जिद्दी भी था। जिद्दी इस माने मे था कि जब तक उसे कुछ नही जचता, वह नही मानता, चाहे कोई कितना ही समझाओ और कहो। जब समझ मे आती तो उसका आग्रह वही समाप्त हो जाता। कभी-कभी अति आग्रह होता तो वह खभा पकड कर बैठ जाता।

जब वह थोडा समझने लगा,चिन्तन जैसी स्थिति मे आया, मैने प्रव्रज्या ले ली। तेरापथ के अष्टमाचार्य श्रीमद् कालूगणी के चरण कमलो मे बैठने का सौभाग्य मिला। उनके दयार्द्र हृदय मे थोडा-सा स्थान मेरे लिये भी सुरक्षित था। उनकी कृपा और वात्सल्य शब्दो मे नही, आँखो मे तैरता है। आज भी वह दिग्गज मूर्ति ज्यो की त्यो आँखो के आगे सदृश हो उठती है।

प्रव्रजित होने के डेढ साल बाद श्रद्धेय गुरुदेव ससघ लाडनूं समवसरित हुए। वहाँ मुझे तुलसी की मन स्थिति आँकने को मिली। एकान्त वार्तालाप किया। उसकी भावना की कसौटी पर चढाने की सोचने लगा। वह सशक मनोवृत्ति, भद्रता और बाल्य-भीरुता वश एक-दो बार तो मेरी बातो को टालता रहा, पर टालने से मतलब हल नही होता था। तुलसी ने साहस बटोर कर हृदय खोल दिया। उसकी दृढता हृदय को विह्वित कर गई। मैं गुरुदेव के समक्ष अपनी और तुलसी की भावना व्यक्त करने लगा। मुस्कराहट ने उत्साह बढाया। तुलसी साध्वोचित आचार-प्रक्रिया सीखने लगा। अनेको प्रयत्न किये, माताजी राजी हुई, पर बडे भाई श्री मोहनलालजी के बिना काम बन नही सकता था। वे बडे कडे और निश्चय के पक्के जो थे। बगाल से उन्हे सवाद द्वारा बुलाया गया। कई दिनो तक वार्तालाप चला, अन्त मे उन्होने स्वय तुलसी की परीक्षाए की। बहिन लाडाजी के साथ ही दीक्षा-सस्कार निश्चित हुआ और वि० स० १९८२ पोष कृष्णा ५ को दीक्षा-सस्कार सम्पन्न हुआ।

एकादश वर्षीय बालक तुलसी अब मुनि तुलसी के रूप मे परिवर्तित हुआ। वे प्रारम्भ से ही कृशकाय और तीव्र प्रतिभा के धनी थे। सयम साधना को मुखरित करने का माध्यम अध्ययन बना। वे दत्तचित से अध्ययन मे जुट गये। एक गुरुकुल के विद्यार्थी की तरह वे रात को सबके सोने पर सोते और सबसे पहले जगते, उठते। वह देना चाहिए रात-दिन एक कर दिया। जब देखा, पुस्तक हाथ मे रहती और अधीत पाठ-आवर्तन सतत चालू रहता।

धीरे-धीरे तुलसी मुनि छात्र से अध्यापक की स्थिति मे आये, फिर भी उनमे शासक भाव नही जागे। सत्ता का व्यामोह उन्हे नही सताया। मैने कभी नही देखा अध्यापक तुलसी ने मुनि छात्रो के साथ हास्य-विनोद या व्यर्थ समय का अपव्यय किया हो। पूरी छात्र-मण्डली तुलसी मुनि सहित एक कमरे मे बैठ जाती। पहरे पर दरबान बन कर मै बैठता। जिस श्रम से तुलसी मुनि ने ज्ञानार्जन किया, वह किसी श्रमोपलब्धि से कम नही था।

मैं कभी-कभी तुलसी मुनि की त्रुटियाँ ढूँढने के लिए लुक-छिप कर जाया करता। मेरा आशय स्पष्ट था—मै अपने भाई को नितान्त निर्दोष देखना चाहता था। एक दिन तुलसी मुनि मेरे पास आये और बोले—आपको मेरे प्रति क्या अविश्वास है, आप लुक-छिप कर क्या देखा करते हैं? इतना पूछने का साहस सम्भवत उन्होने कई दिनो के चिन्तन के बाद किया होगा। मैंने अधिकार की भाषा मे कहा—तुम्हे कोई जरूरत नही। मुझे जैसा उचित जचेगा, करूँगा,देखूँगा, पूछूँगा। स्पष्ट आऊँ या लुक-छिप, तुम्हे क्या प्रयोजन? मैं मानता हूँ तुलसी मुनि ने जो मेरा सम्मान रखा, आज का विद्यार्थी क्या अपने बड़े का रखेगा? न विशेष मैं बोलता और न वे। ऊपर से बीस-बीस छात्र उनके छात्रावास मे रहे,

पर तुलसी के प्रति सब मे समान आदर भाव और श्रद्धा देखी।

एक दिन मैंने तुलसी मुनि से कहा—तुलसी! तुम अपना समय औरो ही औरो के लिए देते रहोगे या स्वय का भी कुछ करोगे? पहले अपना पाठ पूरा करो फिर औरो को कराओ। मेरी इस भावना को तत्रस्थ छात्रो ने विपरीत लिया और यदा-कदा यह भी सामने आया—ये चम्पालालजी हमे पढाने के लिए आचार्यश्री को टोकते है, किन्तु मेरा आशय था कि पहले स्वय अध्ययन नही करोगे तो फिर विशेष जिम्मेवारी आने पर नही होगा। तुलसी मुनि ने बडे विवेक से उसका उत्तर ठीक मे दिया।

गुरुदेव श्री कालूगणी का वह वात्सल्य भरा आदेश आज भी कानो मे गूँज उठता है—चम्पालाल! यदि तुलसी मे कोई कसर रही तो दण्ड तुझे मिलेगा। मैं उन हृदय भरे शब्दो का विस्तार कैसे करूँ, नही आता।

आज भी लिखते-लिखते ऐसे सैकडो सस्मरण मस्तिष्क मे दौड रहे है। एक के शब्दो मे आबद्ध होने से पूर्व ही दूसरा और सामने आ खडा होता है। उसे लेना चाहता हूँ, इतने मे तीसरा उससे अधिक प्रिय लगने लग जाता है। लेखनी लिख नही पाती।

एक दिन श्रीकालूगणी ने मुझे आदेश फरमाया—तुलसी को बुलाओ। मै बुला लाया। अच्छा तुम दरवाजे पर बाहर बैठ जाओ। मै बैठ गया। कई दिनो तक यह क्रम चलता चला। उन दिनो गुरुदेव रुग्णावस्था मे थे। उन्होने अपने उत्तरवर्ती का भार हलका करना शुरू कर दिया था। तुलसी दिन-प्रतिदिन और विनयावनत होते गये।

एक दिन वह भी आया, जब मैंने अपने हाथो मे सूर्योदय होते-होते स्याही निकाली और एक श्वेत पत्र, लेखनी व मसीदान ले गुरुदेव के श्री चरणो मे उपस्थित हुआ। गगापुर मेवाड का वह रगभवन, उसके मध्यवर्ती उस विशाल हाल मे इशानोन्मुख पूज्य गुरुदेव बिराजे और अपना उत्तराधिकार तुलसी मुनि को समर्पित किया।

वि० स० १९९३ भाद्रव शुक्ला ९ को आप श्री ने आचार्य-भार सँभाला। तब से अब तक की प्रत्येक प्रवृत्ति मे मै ही क्यो समूचा साहित्य-जगत किसी न किसी रूप मे परिचित है ही। आज उनके शासन काल को पूरे पच्चीस वर्ष हो चले है। सघ की उदीयमान अवस्था का यह असाधारण काल रहा है।

मानवता के पोषक, प्रचारक व उन्नायक

श्री विष्णु प्रभाकर

किसी व्यक्ति के बारे मे लिखना बहुत कठिन है। कहूँगा, सकट से पूर्ण है। फिर किसी पथ के आचार्य के बारे मे। तब तो विवेकबुद्धि की उपेक्षा करके श्रद्धा के पुष्प अर्पण करना ही सुगम मार्ग है। इसका यह अर्थ नही होता कि श्रद्धा महज होती ही नही, परन्तु जहाँ श्रद्धा महज हो जाती है, वहाँ प्राय लेखनी उठाने का अवसर ही नही आता। श्रद्धा का स्वभाव है कि वह बहुधा कर्म मे जीती है। लेखनी मे अक्सर निर्णायक बुद्धि ही जागृत हो आती है और वही सकट का क्षण है। उससे पलायन करके कुछ लेखक तो प्रशसात्मक विशेषणो का प्रयोग करके मुक्ति का मार्ग ढूँढ लेते है। कुछ ऐसे भी होते है जो उतने ही विशेषणो का प्रयोग उसकी विपरीत दिशा मे करते है। सच तो यह है कि विशेषण के मोह से मुक्त होकर चिन्तन करना सकटापन्न है। वह किसी को प्रिय नही हो सकता। इसीलिए हम प्रशसा अथवा निन्दा के अर्थों मे सोचने के आदी हो गए।

फिर यदि लेखक मेरे-जैसा हो, तो स्थिति और भी विषम हो जाती है। आचार्यश्री तुलसी गणी जैन श्वेताम्बर तेरापथ की गुरु-परम्परा के नवम पट्टधर आचार्य है और मैं तेरापथी तो क्या, जैन भी नही हूँ। सच पूछा जाये तो कही भी नही हूँ। किसी मत, पथ अथवा दल मे अपने को समा नही पाता। धर्म ही नही, राजनीति और साहित्य के क्षेत्र मे भी । लेकिन यह सब कहने पर भी मुक्ति क्या सुलभ है? यह सब भी तो कलम से ही लिखा है। अब तर्क आश्वस्त करे या न करे, पराजित तो कर ही देता है। इसीलिए लिखना भी अनिवार्य हो उठता है।

विष अमृत बन सकता है ?

आज के युग मे हम कगार पर खडे है। अन्तरिक्ष-युग है। धरती की गोलाई को लेकर सुदूर व्यतीत मे हत्याए हुई है। उसी तथ्य को आज का मानव आँखो से देख आया है। इस प्रगति ने मानस की पटभूमि को आन्दोलित भी किया है। दृष्टि की क्षमता बढी है। विवेक-बुद्धि भी जागृत हुई है, पर मानव का अन्तर-मन अभी भी वही है। हिसा और घृणा की बात विवादास्पद मान कर छोड भी दे, लेकिन साम्प्रदायिकता और जातीयता, अर्थलोलुपता और मात्सर्य—ये सब उसे अभी पूरी तरह जकडे हुए है। धर्म, मत अथवा पथ मे न हो, राजनीति और साहित्य मे हो तो क्या उनका विष अमृत बन सकता है? भले ही हम चन्द्रलोक मे पहुँच जाए अथवा शुक्र पर शासन करने लगे। उस सफलता का क्या अर्थ होगा, यदि मनुष्य अपनी मनुष्यता मे ही हाथ धो बैठे? मनुष्यता सापेक्ष हो सकती है, परन्तु दूसरे के लिए कुछ करने की कामना मे, अर्थात् 'स्व' को गौण करने की प्रवृत्ति मे, सापेक्षता है भी, तो कम-से-कम। वहाँ स्व को गौण करना स्व को उठाना है।

आचार्यश्री तुलसी गणी के पास जाने का जब अवसर मिला, तब जैसे इस सत्य को हमने फिर से पहचाना हो। या कहे, उसकी शक्ति से फिर से परिचय पाया हो। जब-जब भी उनसे मिलने का सौभाग्य हुआ, तब-तब यही अनुभव हुआ कि उनके भीतर एक ऐसी सात्त्विक अग्नि है जो मानवता के हितार्थ कुछ करने को पूरी ईमानदारी के साथ आतुर है। जो अपने चारो ओर फैली अनास्था, आचरणहीनता और अमानवीयता को भस्म कर देना चाहती है।

कला में सौन्दर्य के दर्शन

पहली भेंट बहुत सक्षिप्त थी। किन्ही के आग्रह पर किन्ही के साथ जाना पड़ा। जाकर देखता हूँ कि शुभ्र-श्वेत

वस्त्रधारी, मँझले कद के, एक जैन आचार्य साधु-साध्वियो से घिरे हमारे प्रणाम को मधुर-मन्द मुस्कान से स्वीकार करते हुए आशीर्वाद दे रहे है। गौर वर्ण, ज्योतिर्मय दीप्त नयन, मुख पर विद्वत्ता का जड गाम्भीर्य नही, बल्कि ग्रहणशीलता का तारल्य देख कर आग्रह की कटुता धुल-पुछ गई। याद नही पडता कि कुछ बहुत बाते हुई हो, पर उनके शिष्य-शिष्याओ की कला-साधना के कुछ नमूने अवश्य देखे। सुन्दर हस्तलिपि, पात्रो पर चित्राकन, समय का सदुपयोग तो था ही, साधुओ के निरालस्य का प्रमाण भी था। यह भी जाना कि यह साधु-दल शुष्कता का अनुमोदक नही है, कला मे सौन्दर्य के दर्शन करने की क्षमता भी रखता है।

सौम्य और आग्रह-विहीन

दूसरी बार जोधपुर मे मिलना हुआ। कोई उत्सव था, भाषण देने वालो और सुनने वालो की अच्छी-खासी भीड थी। स्वागत-सत्कार मे भी कोई कमी नही थी। कुछ बहुत अच्छा नही लगा। भाषण और भीड मे मुझे अरुचि है, और अगर स्वागत-सत्कार के पीछे सहज भाव नही है, तो वह भी एक बोझ बन कर रह जाता है। परन्तु यही पर आचार्यश्री तुलसी को जी भर कर पास से देखा। विचार-विनिमय करने का अवसर भी मिला। बहुत अच्छी तरह याद है कि रात को बाल-दीक्षा आदि कुछ प्रश्नो को लेकर आचार्यश्री से काफी स्पष्ट बाते हुई थी। तभी पाया कि वे सौम्य और आग्रह-विहीन है। अहिसा और अपरिग्रह के अपने मार्ग मे उन्हे इतना सहज विश्वास है कि शकालु का समाधान करने मे मस्तिष्क पर कुछ अधिक जोर देना नही पडता। आलोचना मे उत्तेजित नही होते। सहिष्णुता उनके लिए सहज है, इसीलिए उद्विग्नता भी नही है। है केवल एकाग्रता और आग्रह-विहीन पक्ष-समर्थन। वे कुशल वक्ता है। जो कुछ कहना चाहते है, बिना किसी आक्षेप के प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत कर देते है। आश्वस्त तो न तब हुआ था, न आज तक हो सका हू, परन्तु विराट मानवता मे उनकी अटूट आस्था ने मुझे निश्चय ही प्रभावित किया था। वह अणुव्रत-आन्दोलन के जन्मदाता है। उनकी दृष्टि मे चरित्र-उत्थान का वह एक सहज मार्ग है। कवि की भाँति मैं अणुव्रत की अणु-बम से काव्यात्मक तुलना नही कर सकता। करना चाहूँगा भी नही। उस सारे आन्दोलन के पीछे जो उदात्त भावना है, उसको स्वीकार करते हुए भी उसकी सचालन-व्यवस्था मे मेरी आस्था नही है। परन्तु उन व्रतो का मूलाधार वही मानवता है, जो कालातीत है, अभिन्न है और है अजेय।

विश्व मे सत्ता का खेल है। सत्ता, अर्थात् स्व की महिमा, इसीलिए वह अकल्याणकर है। इसी अकल्याण का दश निकालने के लिए यह अणुव्रत-आन्दोलन है। इन सबका दावा है कि चरित्र-निर्माण द्वारा सत्ता को कल्याण कर बनाया जा सकता है, परन्तु मुझे लगता है कि उद्देश्य शुभ होने पर भी यह दावा ही सबसे बडी बाधा है। क्योंकि जहाँ दावा है, वहाँ साधन और साधन जुटाने वाले स्वय सत्ता के शिकार हो जाते है, इसीलिए उनके आस पास दल उग आते है। पैसा देते है और देकर मन-ही-मन सहस्र गुना पाने की आकाक्षा रखते है। इसीलिए जैसे ही सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति का मार्ग-दर्शन सुलभ नही रहता, वे सत्ता के दलदल मे आकण्ठ फँस जाते हैं। स्वय आचार्यश्री ने कहा है—"धन और राज्य की सत्ता मे विलीन धर्म को विष कहा जाये तो कोई अतिरेक न होगा।" इससे अधिक स्पष्ट और कठोर शब्दो का प्रयोग हम नही कर सकते।

क्रियात्मक शक्ति और संवेदनशीलता

पर शायद यह तो विषयान्तर हो गया। यह तो मेरी अपनी शकामात्र है। इसमे अणुव्रत-आन्दोलन के जन्मदाता की मानवता मे आशका क्यो हो! जो व्यक्ति निवृत्तिमूलक जैन धर्म को जन-कल्याण के क्षेत्र मे ले आया, मानवता मे उसकी आस्था निश्चय ही अद्भुत है। इसीलिए अनुकरणीय भी है। उनकी क्रियात्मक शक्ति और उनकी सवेदनशीलता निश्चय ही किसी दिन मानवता के रेगिस्तान को नाना वर्णों के पुष्पो मे आच्छादित हरे-भरे सुरम्य प्रदेश मे परिवर्तित कर देगी। कारलाइल ने कही लिखा है, "किसी महापुरुष की महानता का पता लगाना हो तो यह देखना चाहिए कि वह अपने मे छोटे के साथ कैसा बर्ताव करता है।" आचार्यश्री स्वाभाव से ही सबको समान मानते है। बचपन से ही धर्म मे उनकी रुचि रही है और ये सस्कार उन्हे अपनी मातुश्री की ओर से विरासत मे मिले है। उन्होने शूद्रो को कही छोटा

नँही समझा। स्पष्ट शब्दो मे उन्होने कहा है, "धर्म ब्राह्मणो का है, बनियो का है, शूद्रो का नही, यह भ्रान्ति है। धर्म का द्वार सबके लिए खुला है।" वे धर्म को सत्य की खोज, अपने स्वरूप की खोज, मानते है। जो सत्य का खोजी है, जो अपने को जानना चाहता है, उसके लिए न तो कोई बडा है, न छोटा। यही नही, वे मानव के एकीकरण मे विश्वास रखते है। उनकी दृष्टि समानता और समन्वय के तत्त्वो को ही देखती है, विषमता और विशृंखलता के तत्त्वो को नही। उन्होने बार-बार कहा है, "धर्म-सम्प्रदायो मे समन्वय के तत्त्व अधिक है। विरोधी तत्त्व कम।" इसीलिए उनके अणुव्रत-आन्दोलन मे अजैन तो है ही, हिन्दू धर्म के बाहर के लोग भी है।

सब विरोधो, विसगतियो और मतभेदो के बावजूद ये सब तथ्य क्या यह प्रमाणित नही करते कि आचार्यश्री तुलसी गणी का जीवन-लक्ष्य विराट और अखण्ड मानवता का कल्याण है, लघु और खण्डित मानवता का नही और उनका यह विश्वास शाब्दिक भी नही है, क्रियाशील है। तभी यह अणुव्रत-आन्दोलन है। तभी उनका बल आचार पर अधिक है, क्योकि व्यास भगवान् के शब्दो मे 'आचार ही धर्म है' और बीसवी सदी मे आचार ही मानवता है। आचार्यश्री तुलसी इसी मानवता के पोषक, प्रचारक और उन्नायक है।
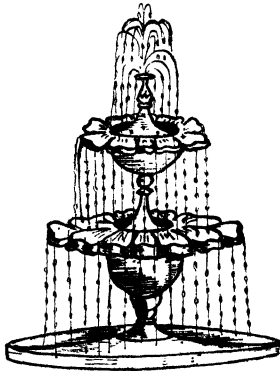
वर्तमान शताब्दी के महापुरुष

प्रो० एन० वी० वैद्य, एम० ए०
फर्ग्यूसन कालेज, पूना

सद्बोधं विदधाति हन्ति कुमतिं मिथ्यादृशं बाधते,
धत्ते धर्ममतिं तनोति परमे संवेगनिर्वेदने।
रागादीन् विनिहन्ति नीतिममला पुष्णाति हन्त्युत्पथं,
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती।

महान् और सद्गुरु के मुख से निकले हुए वचन सद्ज्ञान प्रदान करते है, दुर्मति का हरण करते है, मिथ्या विश्वासों का नाश करते है, धार्मिक मनोवृत्ति उत्पन्न करते है, मोक्ष की आकाक्षा और पार्थिव जगत के प्रति विरक्ति पैदा करते है, राग-द्वेष आदि विकारो का नाश करते है, सच्ची राह पर चलने का साहस प्रदान करते है और गलत एव भ्रामक मार्ग पर नही जाने देते। सक्षेप मे, सद्गुरु क्या नही कर सकता ?

दूसरे शब्दो मे, सद्गुरु इस जीवन मे और दूसरे जीवन मे जो भी वास्तव मे कल्याणकारी है, उस सबका उद्गम और मूल स्रोत है।[1]

शलाकापुरुष

इन पक्तियो का असली रहस्य मैंने उस समय जाना, जब मैंने चार वर्ष पूर्व राजगृह मे आचार्यश्री तुलसी का प्रवचन सुना। कुछ ऐसे व्यक्ति होते है, जो प्रथम दर्शन मे ही मानस पर अतिक्रमणीय छाप डालते है। पूज्य आचार्यश्री सचमुच मे ऐसे ही महापुरुष हैं। जैन श्वेताम्बर तेरापथ सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य को उनके चुम्बकीय आकर्षण और प्राणवान् व्यक्तित्व के कारण आसानी से युगप्रधान, वर्तमान शताब्दी का महापुरुष अथवा शलाकापुरुष (उच्चकोटि का पुरुष अथवा अति मानव) कहा जा सकता है। मेरा यह अत्यन्त सद्भाग्य था कि मुझे उनके सम्पर्क मे आने का अवसर मिला और मै उस सम्पर्क की मधुर और उज्ज्वल स्मृतियो को हमेशा याद रखूंगा, कारण **सतां सद्भि: संग कथमपि हि पुण्येन भवति** अर्थात् सत्सग किसी पुण्य से ही प्राप्त होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे लिखा है कि चार बातो का स्थायी महत्त्व है। वह श्लोक इस प्रकार है :

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥३-१॥

अर्थात् किसी भी प्राणी के लिए चार स्थायी महत्त्व की बातें प्राप्त करना कठिन है। मनुष्य जन्म, धर्म का ज्ञान, उसके प्रति श्रद्धा और आत्म-सयम का सामर्थ्य।

उसी प्रकरण मे आगे कहा गया है—

माणुस्सं विग्गहं लद्धं सुई धम्मस्स दुल्लहा। ३-८॥

अर्थात् मनुष्य जन्म मिल जाने पर भी धर्म का श्रवण कठिन है।

---

१ उत्तराध्ययन पर देवेन्द्र की टीका

दुमपत्तय नामक दशम अध्ययन मे भी इसी भावना को दोहराया गया है

अहीण पंचिदियत्तं पि से लहे

उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा। १०-१८

अर्थात् यद्यपि मनुष्य पाँचो इन्द्रियो से सम्पन्न हो, किन्तु उत्तम धर्म की शिक्षा मिलना दुर्लभ होता है।

इसलिए किसी व्यक्ति के लिए यह परम सौभाग्य का ही विषय हो सकता है कि उसे महान् गुरु अथवा सच्चे पथ प्रदर्शक का सम्पर्क प्राप्त हो—ऐसे गुरु का जो विश्वधर्म के सच्चे सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता हो। सबसे महत्त्व-पूर्ण बात यह कि जो अपने उपदेश के अनुसार स्वय आचरण भी करता हो। आचार्यश्री तुलसी के चुम्बकीय आकर्षण, सच्ची श्रद्धा और उनकी उच्च और भव्य शिक्षाओ का प्रभाव तत्काल ही मन पर पडता है। उनका दृष्टिकोण तनिक कट्टरतापूर्ण अथवा सकुचित साम्प्रदायिकता युक्त नही है। इसके विपरीत वे अपने चारो ओर उदारता, व्यापकता और विशालता का वातावरण विकीर्ण करते है। जब हजारो व्यक्ति ध्यान मग्न होकर उनका प्रवचन सुनते है तो कम-से-कम थोडे समय के लिए तो वे नित्य-प्रति की चिन्ताओ और भौतिक स्वार्थों के लिए होने वाले अपने नैरन्तरिक सघर्षों को भूल जाते है और सकुचित और दकियानूसी दृष्टिकोण त्याग कर मानो किसी उच्च, भव्य और अलौकिक जगत मे पहुँच जाते है।

बुराइयो की राम बाण औषधि

अणुव्रत-आन्दोलन जिसका पूज्य आचार्यश्री सचालन कर रहे है और जो प्राय उनके जीवन का ध्येय ही है, वास्तव मे एक महान् वरदान है और वर्तमान युग की समस्त बुराइयो की रामबाण औषधि सिद्ध होगी। दुनिया मे जो व्यक्ति लोगो के जीवन और भाग्य-विधाता बने हुए है, यदि वे इस महान् आन्दोलन पर गम्भीरता से विचार करे तो हमारे पृथ्वी-मण्डल का मुख ही एकदम बदल जाए और दुनिया मे जो परस्पर आत्म-नाश की उन्मत्त और आवेशपूर्ण प्रतिस्पर्धा चल रही है, बन्द हो जाए। तब निश्शस्त्रीकरण, आणविक अस्त्रो के परीक्षण को रोकने और मानव जाति के सम्पूर्ण विनाश के खतरे को टालने के लिए लम्बी-चौडी बेकार की बहसे करने की कोई आवश्यकता नही रह जाएगी। मनुष्य अपने को सृष्टि का मुकुट समझने मे गर्व अनुभव करता है। किन्तु अकस्मात ये उद्गार फूट पडते है, 'मनुष्य ने मनुष्य को क्या बना दिया है।'

अणुव्रत-आन्दोलन वास्तव मे असाम्प्रदायिक आन्दोलन है और उसको हमारी धर्म निरपेक्ष सरकार का भी समर्थन मिलना चाहिए। यदि इस आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्तो की नई पीढी को शिक्षा दी जाए तो वे बहुत अच्छे नाग-रिक बन सकेगे और वास्तव मे विश्व नागरिक कहलाने के अधिकारी हो सकेगे। राजनैतिक नेताओ की लम्बी-चौडी बातो के बजाय जो प्राय कहते कुछ है और करते कुछ है, इस प्रकार का आन्दोलन राष्ट्रीय एकता के ध्येय को अधिक शीघ्रतापूर्वक सिद्ध कर सकेगा।

धवल समारोह समिति के आयोजको ने पूज्य आचार्यश्री के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाजलि भेट करने का जो अवसर मुझे प्रदान किया है, उसके लिए मै अपने को गौरवान्वित और परम सौभाग्यशाली समझता हूँ। अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादक ने जब मुझसे आचार्यश्री के बारे मे अपने सस्मरण लिखने का अनुरोध किया तो मैंने उसे तुरन्त सहर्ष स्वीकार कर लिया, कारण कवि ने कहा है.

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः

● ● ●

धर्म-संस्थापन का दैवी प्रयास

श्री एल० ओ० जोशी
मुख्य सचिव, दिल्ली प्रशासन

मनुष्य और शेष सृष्टि मे एक मुख्य अन्तर यह है कि मनुष्य मे मनन व विचार की शक्ति अधिक प्रखर एव प्रबल होती है। मन' (=सोचना, विचार करना) धातु से ही 'मनुष्य' शब्द की भी व्युत्पत्ति मानी जाती है, अत मनन मनुष्य की न केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है, वल्कि उसका वैशिष्ट्य भी है। यही प्रवृत्ति नर को नारायण बनाने की आशा भी उपजाती है और वानर बनाने की आशका भी। इसीलिए कहा गया है, **मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो.** मन ही मनुष्यो के बन्धन का कारण है और मोक्ष का भी।

यह मन, यह बुद्धि, मनुष्य को सामान्यत निर्विकार शान्त नही रहने देता। 'सामान्यत' इसलिए कि इस पर स्वामित्व प्राप्त कर लेने वाले मनीषियो पर तो इसका वश नही चलता, किन्तु शेष सब तो इसी के नचाये नाचते रहते है। एक दृष्टि से इस प्रवृत्ति का, और इससे उत्पन्न जिज्ञासा का, बडा महत्त्व है। अग्रेजी कवि एव दार्शनिक ब्राउनिग[1] लिखता है कि मनुष्य एक मिट्टी का ढेला तो नही है, जिसमे शका व जिज्ञासा की एक चिनगारी भी न चमकती हो। और जो समझे कि जीवन केवल इसीलिए है कि खाओ-पीओ और मौज करो—अथवा जैसे कि टाल्स्टाय ने अपनी 'मुक्ति की कहानी' (Confessions and What I believe) मे सविस्तर व्याख्या की है—प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन मे एक प्रश्न उठता है, टाल्स्टाय के लिए भी यह प्रश्न था—"इस ससीम जीवन का कोई नि सीम प्रयोजन अथवा अर्थ है या नही?" और यह प्रश्न उसे इस तरह झकझोर देता है, अभिभूत कर लेता है कि जब तक उसका समाधान न हो न कोई शान्ति मिलती है, न विश्राम।

मै कौन हूं ? किस लिए यह जन्म पाया ?
क्या-क्या विचार मन में किसने पठाया ?
माया किसे ? मन किसे ? किसको शरीर ?
आत्मा किसे कहे सब धर्म धीर ?

ये प्रश्न अनादिकाल से मनुष्य के मस्तिष्क मे उठते चले आये है और महापुरुषो ने भिन्न-भिन्न देश, काल एव परिस्थितियो मे अत्यन्त उत्कट साधना, अनन्य निष्ठा एव प्रखर प्रतिभा के द्वारा इनका उत्तर खोजा है। इस खोज मे उन्हे जिस सत्य के दर्शन हुए, उसे उन्होने प्राणी-मात्र के हित के लिए अभिव्यक्त तथा प्रसारित भी किया है। कालान्तर मे इन्ही उत्तरो का वर्गीकरण हो गया और वे देश, काल अथवा व्यक्ति-विशेष मे सम्बद्ध होकर किसी विशिष्ट धर्म के नाम से सम्बोधित किये जाने लग गये।

मानव समाज की अपूर्व निधि

इस सन्दर्भ मे एक विलक्षण तथ्य की ओर ध्यान सहसा आकृष्ट होता है। जिस प्रकार अध्यात्म अथवा दर्शन के क्षेत्र मे इस प्रकार के अनुभव एव प्रयोग मानव-इतिहास के प्रारम्भ से चले आ रहे हैं, उसी प्रकार भौतिक विज्ञान के क्षेत्र

---

1 Finished and finite clods, untroubled by spark.

मे भी होते आये है। परन्तु इन दोनो मे एक महान् अन्तर यह दृष्टिगोचर होता है कि जहाँ भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे एक के बाद एक सिद्धान्त प्रयोग और परीक्षण की कसौटी पर कसे जाकर प्रस्थापित होते है और उत्तरोत्तर प्रयोगो तथा परीक्षणो से उनके असत्य प्रमाणित होने पर नये सिद्धान्त नवीनतम सत्य के रूप मे प्रतिपादित होते है, वहाँ जीवन दर्शन के क्षेत्र मे ऋषि-महर्षि, विभूतियाँ, अवतार, मसीहा, पैगम्बर, सत भिन्न-भिन्न देश-काल आदि मे सत्य की खोज करने निकले और मूलत एक ही परिणाम पर पहुँचे। कितनी अद्‌भुत है यह अनुभूति ! यही धर्म की सनातनता है। इसी के फल-स्वरूप उत्तरोत्तर प्रयत्नो द्वारा अध्यात्म के क्षेत्र मे पूर्ववर्ती अनुसन्धान मे प्राप्त सत्य की ही पुष्टि एव व्याख्या हुई। यह शाश्वत अविकल्प दिक-कालादि-अनवच्छिन्न तत्त्व, यह सत्य दर्शन, मानव-समाज की अपूर्व निधि है, यही उसकी मानवता का माप-दण्ड है।

दुर्भाग्य से, समय-समय पर बडी चर्चा होती है—धर्म और अधर्म के भेदो की, उनसे उत्पन्न कटुताओं की और धर्म-आचरण के दुष्परिणामो की। आजकल हमारे देश मे भी धर्म एक विभीषिका-सा बना हुआ है। धर्म के नाम पर जो विकृत परम्पराए आदि धर्म का ह्रास होने पर सबल हो जाती है, उन परम्पराओ, अन्धविश्वासो, सकुचित दृष्टिकोणो को ही धर्म मान कर हम धर्म के शाश्वत तत्त्वो की उपेक्षा करने लगेगे तो वह विनाश का मार्ग अपनाने जैसा होगा। धर्म की विकृतियो से हट कर गहराई मे घुसने और धर्मो की मूलभूत एकता तथा समता का अनुभव करने के लिए धर्म-निष्ठा, धर्म-चिन्तन, धर्म-आचरण का मार्ग ग्रहण करना होगा, धर्म-द्वेष, धर्म-उपेक्षा या धर्म-अज्ञान का नही।

धर्मो मे मूलभूत भेद नहीं

वास्तव मे एक धर्म और दूसरे धर्म मे कोई मूलभूत भेद न तो है, न हो सकता है। इन भेदो की कल्पना और उनके आधार पर धर्मों के विरुद्ध लगाये जाने वाले आरोप-प्रत्यारोप सब भ्रामक एव भ्रान्तिमूलक है। वास्तव मे कोई विरोध या सघर्ष है तो वह धर्म और धर्म के बीच नही, वरन धर्म और अधर्म के बीच है और यह विरोध अनादि काल से चला आ रहा है और चिरकाल तक चलता रहेगा। इस दृष्टि से सोचे तो कितनी सुन्दर लीला यह है—मनुष्य युग-युग से प्रतिपादित उच्चतम दर्शन (धर्म तत्त्व) के उत्तराधिकारी के रूप मे जन्मता है, उसमे स्वय इतनी क्षमता निहित है कि वह इन तत्त्वो का आचरण तथा चिन्तन करके विकास की चरम सीमा तक पहुच सके, फिर भी, प्राय वह मोह मे पड कर पथ-भ्रष्ट हो जाता है और पशुवत् अथवा पशु से भी निम्न श्रेणी का जीवन व्यतीत करता है, फिर यही मानव-समाज किसी ऐसी विभूति को जन्म देता है जो फिर मनुष्य का ध्यान उसकी मनुष्यता के मूल स्रोतो की ओर खीचता है, जो नये-नये ढग से उस शाश्वत सत्य को प्रतिपादित करता है और धर्म को फिर से अच्छी तरह स्थापना करने का प्रयास करता है। मनुष्य को ऊर्ध्व गति की ओर तथा अधोगति की ओर ले जाने वाली शक्तियो के इसी अनवरत सघर्ष—सुरासुर-सग्राम के कारण जगन्नियन्ता को स्वय अवतीर्ण होकर धर्म-सस्थापन करना पडता है, जिससे कि इन शक्तियो का सन्तुलन बिगड न जाये, अधर्म धर्म पर हावी न हो जाये।

इस सघर्ष का एक सुन्दर कलात्मक एव प्रेरक चित्र उपस्थित करते हुए जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द ने अपनी कविता 'सत्य और स्वर्ण' मे कितना सुन्दर कहा है—

स्वर्ण भी चिरकाल से है इस धरा पर,
**　　सत्य भी रहता चला आया निरन्तर।**
स्वर्ण की चेष्टा सदा से ही रही यह,
**　　सत्य का मुख ढके माया-जाल से वह।**
सत्य का यह यत्न उतना ही पुराना,
**　　स्वर्ण के मोहक प्रलोभन में न आना।**
आदि से यह द्वन्द्व चलता आ रहा है,
**　　अन्त कोई भी न इसका पा रहा है।**

इस चिरन्तन द्वन्द्व की जो है कहानी,
कथा मानव-साधना की वह पुरानी ।
.. ...
सत्य अन्तर्बाह्य सम अविराम अविजित,
स्वर्ण से संघर्ष करता है अकम्पित ।
स्वर्ण के जो दास वे हैं हाथ उसके,
सत्य के निःस्वार्थ साथी साथ उसके ।
जो न इसके, समर्थक उसके बने है,
मार्ग दो ही मानवों के सामने हैं ।
तीसरा इस विश्व में कोई नहीं है,
सत्य ने आशा कभी खोई नही है ।
प्रश्न यह इतिहास का सबसे सतत है—
'कौन किसके साथ इस रण में निरत है ?'

श्रेय और प्रेय से उपलब्धि

सब धर्मों के सार अथवा अपरिवर्तनीय मूल तत्त्व का सक्षेप मे उल्लेख करना सरल नही है, तथापि प्रस्तुत सदर्भ मे *यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यह है आध्यात्मिकता—अथवा शान्ति या सुख की खोज बाहर न करके अन्दर* करना । यही श्रेय मार्ग है, जिसे उपनिषदों ने प्रेय मार्ग से भिन्न बताया और कहा कि श्रेय मार्ग ग्रहण करने से कल्याण होता है, परन्तु प्रेय मार्ग ग्रहण करने से ऐसा 'हीयतेऽर्थ' प्रयोजन ही विफल हो जाता है । इस श्रेय मार्ग का आनन्द त्याग के द्वारा मिलता है, भोग के द्वारा नही, अतएव यह आनन्द वास्तविक, पूर्ण तथा शाश्वत होता है । भोग द्वारा प्राप्त सुख मिथ्या, अपूर्ण तथा अनित्य होता है, इसलिए यदि सुख ही अभीष्ट हो तो विषयेन्द्रिय-सयोग-जन्य विषाक्त सुख के स्थान पर अतीन्द्रिय सुख का आनन्द लेना मनुष्य को शोभा देता है । श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् कहते है—"मै ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, मै ही अव्यय अमृत की, शाश्वत धर्म की, तथा एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा हूँ ।" अर्थात् चाहे अमृतत्व के लिए साधना हो, चाहे धर्म के अथवा सुख के लिए, हमारी दृष्टि यह होनी चाहिए कि जिस अमृत की हम चाह करते है, वह अव्यय हो, जिस धर्म मे हमारी निष्ठा है, वह शाश्वत (अपरिवर्तनशील) धर्म हो, जिस सुख की हम खोज करे, वह एकान्तिक हो, ऐसा न हो कि वह दुःख मे परिणत हो जाये ।

उपर्युक्त प्रकार मे जीवन की दिशा निश्चित हो जाने पर यह कहा जा सकेगा कि **सम्यग् व्यवसितो हि स.** यह दिशा ठीक स्थिर हुई । इसके पश्चात् लक्ष्य की ओर बढने की बात आती है । यह प्रगति हमारे दैनिक आचरण, व्यवहार व अभ्यास पर निर्भर है । इस क्षेत्र मे हमे आचार्यो, सन्तो और महापुरुषो की जीवन-चर्या से बडी प्रेरणा तथा मार्ग-दर्शन मिलते है । साधना-पथ की ओर उन्मुख व्यक्ति के पैर पथ की विकटता के वर्णनो से डगमगाते है—जैसे कि **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**, Strait is the gate and narrow the path; अथवा कभी-कभी इस भय से कि कही वह उभयत विभ्रष्ट न हो जाये—माया मिली न राम । गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'गीताजलि' के एक गीत मे इस दुविधा का एक सुन्दर चित्र खीचा है :

मेरे बन्धन बड़े जटिल है, किन्तु
जब मै उन्हें तोड़ने का प्रयत्न करता हूँ
तो मेरा दिल दुखने लगता है ।
मेरा दृढ़ विश्वास है
कि तुझमें अमूल्य निधि है और

तू ही मेरा सच्चा सखा है, किन्तु
मुझ में इतना साहस नहीं कि मेरे
अन्तर के कूड़े-करकट को निकाल फेंकूं।

यह आवरण जो मुझे अभिभूत किये हुए है,
मिट्टी और मृत्यु का बना है—
मैं इससे घृणा करता हूँ, परन्तु इसे ही
प्रेम से आलिंगन किये हूँ।

मुझ पर भारी आभार है, मेरी विफलताएं विराट हैं,
मेरी लज्जा गोपनीय एवं गहरी है, किन्तु
जब मैं अपने कल्याण की याचना करने
लगता हूँ तो इस आशंका से कांप उठता हूँ कि
कहीं मेरी प्रार्थना स्वीकार न हो जाये।

ऐसी मन स्थिति मे ही साधक को आवश्यक जीवन दृष्टि तथा साहस प्रदान करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—"इस मार्ग मे अभिक्रम का नाश या प्रत्यवाय नही होता, इस धर्म का स्वल्पाश भी महान् भय से रक्षा करता है", —"कल्याण मार्ग का कोई पथिक दुर्गति को नही जाता", "निस्सन्देह मनुष्य का मन बडा चचल है और बडी कठिनाई से निग्रह मे आता है, फिर भी वैराग्य तथा अभ्यास से यह सम्भव है ?" आदि-आदि।

आध्यात्मिकता के पुनर्जागरण का शंखनाद

आचार्यश्री तुलसी ने आज के भौतिकता-प्रधान युग मे धर्म अर्थात् आध्यात्मिकता के पुनर्जागरण के लिए जो शखनाद किया है, वह धर्म-सस्थापन के समय-समय पर होने वाले दैवी प्रयासो की शृखला की ही एक कडी है। व्यवहार क्षेत्र मे उन्होने 'अणुव्रत' की नई व्याख्या करके साधना के मार्ग को सरल बनाया है। धर्म-पथ पर एक अणु के बराबर भी प्रगति की तो उसके अनेक हितकर प्रभाव होगे, यह स्पष्ट है। सबसे बडा हित तो यही है कि अधर्म से विमुख होने पर ही धर्म-पथ पर एक पग भी बढा जा सकेगा, अतएव हम अधोगति मे पूर्णत बच जायेगे। दूसरे, साधना के पथ की लम्बाई या दुरूहता पर ध्यान लगने से जो आशका व दुविधा हमे अभिभूत कर लेती है, उसके बजाय हम केवल अगले एक कदम की ही सोचे तो रास्ता सरलता से कटता जायेगा। बहुत चलना है, मुश्किल चलना है, इस भय के स्थान पर अणुव्रत यह भावना सामने रखता है कि एक कदम तो चलो। महात्मा गाधी कहते थे, "मेरे लिए एक कदम काफी है" (One step enough for me)। ससार जानता है कि एक-एक करके वे कितने कदम चले और मनुष्य-मात्र के लिए साधना का कितना ऊँचा मानदण्ड स्थापित कर गए। यदि हम इस प्रकार एक-एक कदम भी चले तो उस पश्चात्ताप के गर्त मे न पडेगे, जिसके बारे मे एक ईसाई सत ने कहा है—

जिसे सन्मार्ग समझा, उस पर चल न पाया।
जिसे कुमार्ग समझा, उससे टल न पाया।

अथवा—

किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापमकरवमिति।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का उपदेश आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की मानी हुई आधार-शिलाएं हैं। यह उपदेश धर्म के प्रारम्भकाल से दिया जाता रहा है। शाश्वत धर्म के इन मूल सिद्धान्तो को मानव-जीवन के प्रारम्भिक युग में ही तपस्या, चिन्तन एव स्वानुभव के आधार पर प्रतिपादित किया गया था, किन्तु इसका यह अर्थ

नही कि इस कारण हम अणुव्रत-आन्दोलन के मूल्य को न समझे और कहे कि इसमे तो नवीनता नही है। जैसा कि पहले कहा गया है—जीवन-दर्शन के क्षेत्र मे मौलिक नवीन सिद्धान्तो की खोज ने प्राचीनतम सिद्धान्तो की सत्यता को खडित नही, पुष्ट ही किया है। यहाँ नई खोज, नये प्रयास का लक्ष्य पिछले सिद्धान्त का उखाडना नही, वर्तमान स्थितियो मे उसकी व्यावहारिकता प्रतिपादित करके उसे नया-नया रूप देना होता है। इस दृष्टि से अणुव्रत-आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी कार्य कर रहा है। कालान्तर से धर्म और व्यवहार मे जो खाई पड गई है, जो द्वैत उत्पन्न हो गया है, उसे मिटा कर धर्म को व्यावहारिक जीवन मे सम्यक् प्रकार से स्थापित करने का यह नवीनतम प्रयास इस दृष्टि से अत्यन्त अभिनन्दनीय है।

इस पुनीत अवसर पर आचार्यश्री के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के हेतु मे इन कुछ वाक्य-पुष्पो की अजलि अर्पित है। सच्ची श्रद्धाजलि तो यही होगी कि आचार्यश्री के उपदेशो की ओर हमारा ध्यान जाये, हम उन पर विचार करे, उन्हे समझे उन पर आचरण करे जिससे हममे मानवोचित आध्यात्मिकता फिर से जागे, हमारी धर्म मे आस्था दृढ हो और धर्म-व्यवहार मे उतरे।
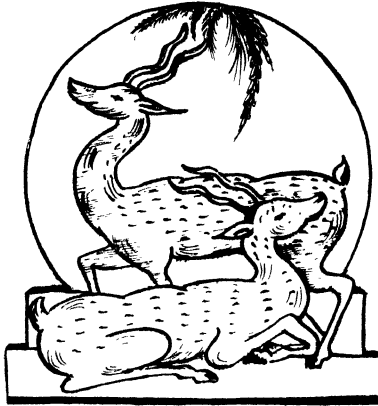
प्रथम दर्शन और उसके बाद

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

वे प्रथम दर्शन मै कभी भूल नही सकता । राजस्थान के कुछ स्थानो का दौरा करने के बाद मै जयपुर पहुँचा । उन दिनो जयपुर के जैन समाज मे कुछ सामाजिक सघर्ष चल रहा था । जयपुर पहुँचने पर उसके बारे मे कुछ जानकारी प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक थी । जैन समाज के साथ मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध था । अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महा-सभा के प्रधानमत्री लाला प्रसादीलालजी पाटनी, कई वर्ष हुए, 'जैन-दण्डनम्' नामक पुस्तक लेकर मेरे पास आये । पुस्तक मे जैन समाज पर कुछ गर्हित आक्षेप किये गए थे । उनके कारण वे उसको सरकार द्वारा जब्त करवाना चाहते थे । मेरे प्रयत्न से उनका वह कार्य हो गया । इस साधारण-सी घटना के कारण मेरा अखिल भारतीय दिगम्बर महासभा के माध्यम से जैन समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ और पाटनीजी के अनुग्रह से वह निरन्तर बढता ही चला गया । इसी कारण उस सघर्ष के बारे मे मेरे हृदय मे जिज्ञासा पैदा हुई ।

मैंने एक मित्र से उसका कारण पूछा, वे कुछ उदासीन भाव से बोले कि आपको इसमे क्या दिलचस्पी है । मैने विनोद मे उत्तर दिया कि पत्रकार के लिए हर विषय मे रुचि रखनी आवश्यक है । इस पर भी उन्होने मुझे टालना ही चाहा । कुछ आग्रह करने पर उन्होने कहा कि जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायो मे बहुत पुराना सघर्ष चला आता है । दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायो मे तो फौजदारी तथा मुकदमेबाजी तक का लम्बा सिलसिला कई वर्षों तक जारी रहा । इसी प्रकार इन सम्प्रदायो का स्थानकवासियो तथा तेरापथियो के साथ और उनका आपस मे भी मेल नही बैठता । यहाँ तेरापथ-सम्प्रदाय के आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मास चल रहा है और उनके प्रवचनो के प्रभाव के कारण दूसरे सम्प्रदायो के लोग उनके प्रति ईर्ष्या करने लगे है । उनका आपस का पुराना वैर नये सिरे से जाग उठा है ।

मेरी दिलचस्पी के कारण उन्होने स्वय ही यह प्रस्ताव किया कि क्या आप आचार्यश्री के दर्शन करने के लिए चल सकेंगे ? मैंने कहा कि मुझे इसमे क्या आपत्ति हो सकती है ! एक आचार्य महापुरुष के दर्शनो से कुछ लाभ ही मिलेगा । उन्होने कुछ समय बाद मुझे सूचना दी कि दोपहर को दो बजे बाद का समय ठीक रहेगा ।

प्रथम दर्शन

लगभग अढाई बजे मैं उनके साथ उस पण्डाल मे पहुँच गया, जिसमे आचार्यश्री के प्रवचन हुआ करते थे । मै अपने मित्र के साथ अजनबी-सा बना हुआ उपस्थित लोगो की पीछे की पक्ति मे एक कोने मे जा बैठा । यदि मै भूलता नही, तो पूज्य आचार्यश्री उस समय उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री दौलतमल भण्डारी के साथ बातचीत करने मे सलग्न थे । आचार्यश्री की निर्मल, स्वच्छ और पवित्र वेश-भूषा तथा उनके रौबीले चेहरे मे कुछ अद्भुत-सा आकर्षण दीख पडा । मै चुपचाप २०-२५ मिनट बैठ कर चला आया । मैंने कोई बातचीत उस समय नही की और न करने की मुझे इच्छा ही हुई । कारण केवल यह था कि मैं उनकी बातचीत में खलल पैदा नही करना चाहता था । परन्तु जैसे ही उठ कर मै चला, पूज्य आचार्यश्री की दृष्टि मुझ पर पडी और मुझे ऐसा लगा जैसे कि उनकी आँखो ने मुझे घेर लिया हो । फिर भी चुपचाप वहाँ से लौट आया । वह थे पहले दर्शन, जिनका चित्र मेरे सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है ।

जयपुर से प्रवास करने के बाद आचार्यश्री का दिल्ली मे आगमन हुआ । अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया जा चुका था । नैतिक चरित्र-निर्माण के, अणुव्रत-आन्दोलन के सन्देश को लेकर आचार्यश्री अपने सघ के साथ राजधानी पधारे

थे। इसी कारण आचार्यश्री के पधारने की विशेष चर्चा थी। नई दिल्ली होते हुए अपने सघ के साथ आचार्यश्री ने जब दिल्ली-दरवाजे की ओर से राजधानी की पुरानी नगरी मे प्रवेश किया और दरियागज से चाँदनी चौक होते हुए आप नया-बाजार पहुँचे तो दर्शक वह दृश्य देख कर मुग्ध रह गये। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि महाकवि तुलसी के **सन्त हस गुण गहहि पय परिहरि वारि विकार** शब्दो के अनुसार क्षीर-नीर का मन्थन करने के लिए मानसरोवर से राजहसो की टोली राजधानी मे अवतरित हुई हो। सचमुच भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, मिलावट तथा अनैतिकता के वातावरण को शुद्ध व पवित्र करने के लिए आचार्यश्री के अणुव्रत-आन्दोलन का नैतिक सन्देश दूध को दूध और पानी को पानी कर देने वाला ही था।

तीन घोषणाएं

नयाबाजार मे पदार्पण करने के बाद जो पहला प्रवचन हुआ, उसके कारण मेरे लिए आचार्यश्री का राजधानी की ऐतिहासिक नगरी मे शुभागमन एक अनोखी ऐतिहासिक घटना थी। वह प्रवचन मेरे कानो मे सदा ही गूँजता रहता है और उसके कुछ शब्द कितनी ही बार उद्धृत करने के कारण मेरे लिए शास्त्रीय वचन के समान महत्त्वपूर्ण बन गये है। आचार्यश्री की पहली घोषणा यह थी कि यह तेरापथ किसी व्यक्ति-विशेष का नही है। यह प्रभु का पथ है। इसीलिए इसके प्रवर्तक आचार्यश्री भिखनजी ने यह कहा कि यह मेरा नही, प्रभु ! तेरा पथ है। इस घोषणा द्वारा आचार्यश्री ने यह व्यक्त किया कि वे किसी भी प्रकार की सकीर्ण साम्प्रदायिक भावना मे प्रेरित न होकर, राष्ट्र-कल्याण तथा मानव-हित की भावना मे प्रेरित होकर राजधानी आये है।

दूसरी घोषणा आचार्यश्री की यह थी कि मैं अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा उन राष्ट्रीय नेताओ के उस आन्दोलन को बलशाली तथा प्रभावशाली बनाना चाहता हूँ, जो राष्ट्रीय जीवन को ऊँचा उठा कर उसमे पवित्रता का सचार करने मे लगे है।

इसी प्रकार तीसरी घोषणा आचार्यश्री ने यह की थी कि मैं अपने समस्त साधु-सघ तथा साध्वी-सघ को राष्ट्र के नैतिक उत्थान के इस महान् कार्य मे लगा देना चाहता हूँ।

इन घोषणाओ का स्पष्ट अभिप्राय यह था कि जिस नैतिक नव-निर्माण के महान् आन्दोलन का सूत्रपात राजस्थान के सरदारशहर मे किया गया था, उसको राष्ट्रव्यापी बना देने का शुभ सकल्प करके आचार्यश्री राजधानी पधारे थे। स्थानीय समाचारपत्रो मे इसी कारण आचार्यश्री के शुभागमन का हार्दिक स्वागत एव अभिनन्दन किया गया। मै उन दिनो मे दैनिक 'अमर-भारत' का सम्पादन करता था। इन घोषणाओ से प्रभावित होकर मैंने 'अमर भारत' को अणुव्रत-आन्दोलन का प्रमुख पत्र बना दिया और उसके लिए भारी-से-भारी लोकापवाद को सहन करते हुए मै अपने इस व्रत पर अडिग रहा।

उपेक्षा, उपहास और विरोध

श्रेयांसि बहु विघ्नानि की कहावत आचार्यश्री के इस शुभागमन और महान् नैतिक आन्दोलन पर भी चरितार्थ हुई। आन्दोलन का राजधानी मे सूत्रपात होने के साथ ही विरोध का बवण्डर भी उठ खडा हुआ। ऐसे प्रत्येक आन्दोलन को उपेक्षा,उपहास,भ्रम और विरोध का प्रारम्भ मे सामना करना ही पडता है। फिर उसके लिए सफलता की झाँकी दीख पडती है। अणुव्रत-आन्दोलन को उपेक्षा और उपहास का इतना सामना नही करना पडा, जितना कि विरोध का। इस विरोधपूर्ण वातावरण मे ही अणुव्रत-आन्दोलन के प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन दिल्ली मे टाउन-हाल के सामने किया गया। न केवल राजधानी मे, अपितु समस्त देश के कोने-कोने मे उसकी प्रतिध्वनि गूँज उठी। कुछ प्रतिक्रिया विदेशो मे भी हुई। हमारे देश का कदाचित् ही कोई ऐसा नगर बचा होगा, जिसके प्रमुख समाचारपत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन और सम्मेलन की चर्चा प्रमुख रूप से नहीं की गई और उस पर मुख्य लेख नहीं लिखे गये। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अन्य नगरो के समाचारपत्रो ने बडी-बडी आशाओं से आन्दोलन एव सम्मेलन का स्वागत किया। बात यह थी कि

अनैतिकता और भ्रष्टाचार दूसरे महायुद्ध की देन है और इन बुराइयों से सारे ही विश्व का मानव-समाज पीडित है। वह इनसे मुक्ति पाने के लिए बेचैन है। इससे भी कही अधिक बिभीषिका विश्व के मानव के सिर पर तीसरे सम्भावित महा-युद्ध की काली घटाओ के रूप मे मँडरा रही है। तब ऐसा प्रतीत होता था, जैसे कि आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा मानव की इस पीडा व बेचैनी को ही प्रकट किया हो और उसको दूर करने के लिए एक सुनिश्चित अभियान शुरू किया हो, इसीलिए उसका जो विश्वव्यापी स्वागत हुआ, वह सर्वथा स्वाभाविक था।

सबसे बड़ा आक्षेप

इस विश्व-व्यापी स्वागत के बावजूद राजधानी के अनेक क्षेत्रो मे अणुव्रत-आन्दोलन को सन्देह एवं आशका से देखा जाता रहा और उसको अविश्वास तथा विरोध की घनी घाटियो मे से गुजरना पडा। विरोधियो और आलोचको का सबसे बडा आक्षेप यह था कि आचार्यश्री एक पथ-विशेष के आचार्य हैं और वह पथ सकीर्ण साम्प्रदायिकता, अनुदारता तथा असहिष्णुता से ओत-प्रोत है। आन्दोलन का सूत्रपात उस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढाने के लिए किया गया है और उस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने आचार्य को पुजवाने के लिए उसमे लगे हुए हैं। यह भी कहा जाता था कि इस सम्प्रदाय की सारी व्यवस्था अधिनायकवाद पर आधारित है। उसके आचार्य उसके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिनायक है। वर्तमान प्रजा-तन्त्र-युग मे अधिनायकवाद पर आश्रित आन्दोलन बडा खतरनाक है। इसी प्रकार के तरह-तरह के आरोप व आक्षेप आन्दोलन पर किये जाते थे। तेरापथी सम्प्रदाय की मान्यताओ व मर्यादाओ के सम्बन्ध मे सकुचित व सकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार व विरोध करने वाले इसी पक्षपातपूर्ण चश्मे से अणुव्रत-आन्दोलन को देखते थे और उस पर मनमाने आरोप व आक्षेप करने मे तनिक भी सकोच न करते थे। तरह-तरह के हस्तपत्रक छाप कर बाँटे गए और दीवारो पर बडे-बडे पोस्टर भी छाप कर चिपकाये गए। विरोध करने वालो ने भरसक विरोध किया और आन्दोलन को हानि पहुँचाने मे कुछ भी कसर उठा न रखी।

इस बवण्डर का जो प्रभाव पडा, उसको प्रकट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए। कुछ साथियो का यह विचार हुआ कि अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद को देकर उनकी सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। उनका यह अनुमान था कि राष्ट्रपतिजी नैतिक नव-निर्माण के महत्त्व को अनुभव करने वाले महानुभाव है। उनको यदि इस नैतिक आन्दोलन का परिचय दिया गया तो अवश्य ही उनकी सहानुभूति प्राप्त की जा सकेगी। श्रीमान् सेठ मोहनलालजी कठौतिया के साथ मैं राष्ट्रपति-भवन गया और उनके निजी सचिव से चर्चा-वार्ता हुई, तो उसने स्पष्ट कह दिया कि यह आन्दोलन विशुद्ध रूप मे साम्प्रदायिक है और ऐसे किसी साम्प्रदायिक आन्दोलन के लिए राष्ट्रपति की सहानुभूति प्राप्त नही की जा सकती। मैने अनुरोध किया कि राष्ट्रपतिजी से एक बार मिलने का अवसर तो आप दे, परन्तु वे उसके लिए भी सहमत न हुए। यह एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए, यह दिखाने के लिए कि आचार्यश्री को राजधानी मे प्रारम्भिक दिनो मे कैसे विरोध, भ्रम, उदासीनता तथा प्रतिकूल परि-स्थितियो मे अणुव्रत-आन्दोल की नाव को खेना पडा। इसके विपरीत जिस धैर्य, सयम, साहस, उत्साह, विश्वास तथा निष्ठा से काम लिया गया, उसका परिचय इतने से ही मिल जाना चाहिए कि विरोधी आन्दोलन के उत्तर मे एक भी हस्त-पत्रिका प्रकाशित नही की गई। एक भी वक्तव्य समाचारपत्रो को नही दिया गया और किसी भी कार्यकर्ता ने अपने किसी भी व्याख्यान मे उसका उल्लेख तक नही किया—प्रतिवाद करना तो बहुत दूर की बात थी। जबकि आचार्यश्री के प्रभाव, निरीक्षण और नियन्त्रण मे इस अपूर्व धैर्य और अपार सयम से कार्यकर्ता आन्दोलन के प्रति अपने कर्तव्य-पालन मे सलग्न थे, तब यह तो अपेक्षा ही नही की जा सकती थी कि पूज्यश्री के प्रवचनो मे कभी कोई ऐसी चर्चा की जाती। अणुव्रत-सम्मेलन के अधिवेशन मे भी कुछ विघ्न डालने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सम्पूर्ण अधिवेशन मे विरोधियो की चर्चा तक नही की गई और प्रतिरोष अथवा असन्तोष का एक शब्द भी नही कहा गया। आन्दोलन अपने सुनिश्चित मार्ग पर अव्याहत गति से निरन्तर आगे बढ़ता गया।

अधिकाधिक सफलता

आचार्यश्री के उस प्रथम दिल्ली-प्रवास मे राजधानी के कोने-कोने मे अणुव्रत-आन्दोलन का सन्देश पूज्यश्री के प्रवचनो द्वारा पहुँचाया गया और दिल्ली से प्रस्थान करने से पूर्व ही उसके प्रभाव के अनुकूल आसार भी चारो ओर दीखने लग गए थे। राजधानी के अतिरिक्त आसपास के नगरो मे आन्दोलन का सन्देश और भी अधिक तेजी से फैला। यह प्रकट हो गया कि तपस्या और साधना निरर्थक नही जा सकती। विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा अपना रग दिखाये बिना नही रह सकते। रचनात्मक और नव-निर्माणात्मक प्रवृत्तियो को असफल बनाने के लिए कितना भी प्रयत्न क्यो न किया जाये, वे असफल नही हो सकती। अणुव्रत-आन्दोलन का १०-१२ वर्ष का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कोई भी लोक-कल्याणकारी शुभ कार्य, प्रवृत्ति अथवा आन्दोलन असफल नही हो सकता। राजधानी की ही दृष्टि से विचार किया जाये तो आचार्यश्री की प्रत्येक दिल्ली-यात्रा पहली की अपेक्षा दूसरी, दूसरी की अपेक्षा तीसरी और तीसरी की अपेक्षा चौथी अधिकाधिक सफल, आकर्षक और प्रभावशाली रही है। राष्ट्रपति-भवन, मन्त्रियो की कोठियो, प्रशासकीय कार्यालयो और व्यापारिक तथा औद्योगिक सस्थानो एव शहर के गली-कूचो व मुहल्लो मे अणुव्रत-आन्दोलन की गूँज ने एक-सरीखा प्रभाव पैदा किया। उसको साम्प्रदायिक बता कर अथवा किसी भी अन्य कारण से उसकी उपेक्षा नही की जा सकी और उसके प्रभाव को दबाया नही जा सका। पिछले बारह वर्षो मे पूज्य आचार्यश्री ने दक्षिण के सिवाय प्राय सारे ही भारत का पाद-विहार किया है और उसका एकमात्र लक्ष्य नगर-नगर, गाँव-गाँव तथा जन-जन तक अणुव्रत-आन्दोलन के सन्देश को पहुँचाना रहा है। राजस्थान से उठी हुई नैतिक निर्माण की पुकार पहले राजधानी मे गूँजी और उसके बाद सारे देश मे फैल गई। राजस्थान, पजाब, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, खानदेश, बम्बई और पूना, इसी प्रकार दूसरी दिशा मे उत्तरप्रदेश बिहार तथा बगाल और कलकत्ता की महानगरी मे पधारने पर पूज्य आचार्यश्री का स्वागत तथा अभिनन्दन जिस हार्दिक समारोह व धूमधाम से हुआ, वह सब अणुव्रत-आन्दोलन की लोकप्रियता, उपयोगिता और आकर्षण शक्ति का ही सूचक है।

मैने बहुत समीप से पूज्य आचार्यश्री के व्यक्तित्व की महानता को जानने व समझने का प्रयत्न किया है। अणुव्रत-आन्दोलन के साथ भी मेरा बहुत निकट-सम्पर्क रहा है। मुझे यह गर्व प्राप्त है कि पूज्यश्री मुझ 'प्रथम अणुव्रती' कहते है। आचार्यश्री के प्रति मेरी भक्ति और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति मेरी अनुरक्ति कभी भी क्षीण नही पडी। आचार्यश्री के प्रति श्रद्धा और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति विश्वास और निष्ठा मे उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई है। महात्मा गाधी ने देश मे नैतिक नव निर्माण का जो सिलसिला शुरू किया था, उसको आचार्यश्री के अणुव्रत-आन्दोलन ने निरन्तर आगे ही बढाने का सफल प्रयत्न किया है। यह भी कुछ अत्युक्ति नही है कि नैतिक नव निर्माण की दृष्टि से पूज्य आचार्यश्री ने उसे और भी अधिक तेजस्वी बनाया है। चरित्र-निर्माण हमारे राष्ट्र की सबसे बडी महत्त्वपूर्ण समस्या है। उसको हल करने मे अणुव्रत-आन्दोलन जैसी प्रवृत्तियाँ ही प्रभावशाली ढग से सफल हो सकती है, यह एकमत से स्वीकार किया गया है। राष्ट्रीय नेताओ, सामाजिक कार्यकर्ताओ, विभिन्न राजनैतिक दलो के प्रवक्ताओ और लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाले समाचार-पत्रो ने एक स्वर से उसके महत्त्व और उपयोगिता को स्वीकार किया है। सत विनोबा का भूदान और पूज्य आचार्यश्री का अणुव्रत-आन्दोलन, दोनो का प्रवाह दोनो के पादविहार के साथ-साथ गगा और जमुना की पुनीत धाराओ की तरह सारे देश मे प्रवाहित हो रहा है। दोनो की अमृतवाणी सारे देश मे एक जैसी गूँज रही है और भौतिकवाद की घनी काली घटाओ मे बिजली की रेखा की तरह चमक रही है। मानव-समाज ऐसे ही सत महापुरुषो के नव जीवन के आशामय सन्देशो के सहारे जीवित रहता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग मे जब अणुबमो और महाविनाशकारी साधनो के रूप मे उसके द्वार पर मृत्यु को खडा कर दिया गया है, तब ऐसे सत महापुरुषो के अमृतमय सन्देश की ओर भी अधिक आवश्यकता है। आचार्य-प्रवर श्री तुलसी और सत-प्रवर श्री विनोबा इस विनाशकारी युग मे नव जीवन के अमृतमय सन्देश के ही जीवन्त प्रतीक है। धन्य है हम, जिन्हे ऐसे सत महापुरुषो के समकालीन होने और उनके नैतिक नव-निर्वाण के अमृत सन्देश सुनने का सौभाग्य प्राप्त है।

अणुव्रत-आन्दोलन के पिछले ग्यारह-बारह वर्षों का जब मै सिहावलोकन करता हूँ, तब मुझे सबसे अधिक

आशाजनक जो आसार दीख पडते है, उनमे उल्लेखनीय है– आचार्यश्री के साधु-सघ का आधुनिकीकरण। मेरा अभिप्राय यह नही है कि साधु-सघ के अनुशासन, व्यवस्था अथवा मर्यादाओ मे कुछ अन्तर कर दिया गया है। वे तो मेरी दृष्टि मे और भी अधिक दृढ हुई है। उनकी दृढता के बिना तो सारा ही खेल बिगड सकता है, इसलिए शिथिलता की तो मै कल्पना तक नही कर सकता। मेरा अभिप्राय यह है कि आचार्यश्री के साधु-सघ मे अपेक्षाकृत अन्य साधु सघो के सार्वजनिक भावना का अत्यधिक मात्रा मे सचार हुआ है और उसकी प्रवृत्तियाँ अत्यधिक मात्रा मे राष्ट्रोन्मुखी बनी है। आचार्यश्री ने जो घोषणा पहली बार दिल्ली पधारने पर की थी, वह अक्षरश सत्य सिद्ध हुई है। उन्होने अपने साधु सघ को जन-सेवा तथा राष्ट्र-सेवा के लिए अर्पित कर दिया है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए। वह यह कि जितने जनोपयोगी साहित्य का निर्माण पिछले दस-ग्यारह वर्षों मे आचार्यश्री के साधु-सघ द्वारा किया गया है और जन-जागृति तथा नैतिक चरित्र-निर्माण के लिए जितना प्रचार-कार्य हुआ है, वह प्रमाण है इस बात का कि समय की माँग को पूरा करने मे आचार्यश्री के साधु-सघ ने अभूतपूर्व कार्य कर दिखाया है और देश के समस्त साधुओं के सम्मुख लोक-सेवा तथा जन-जागृति के लिए एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर दिया है। युग की पुकार सुनने वाली सस्थाए ही अपने अस्तित्व को सार्थक सिद्ध कर सकती है। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि आचार्यश्री के तेरापथ साधु-सघ ने अपने अस्तित्व को पूरी तरह सफल एव सार्थक सिद्ध कर दिया है।

तुभ्यं नमः श्रीतुलसीमुनीश !

आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दन शर्मा, आयुर्वेदाचार्य

अणुव्रतं शान्तिनितान्तशीलै रस्त्रै रमोघै कलह विजेतुम्।
त्व भारतोर्व्या कुरुषे विहार, तुभ्य नम श्रीतुलसीमुनीश ॥१॥
त्व लोकबन्धो सदृशो विभासि, लोकान्धकारस्य विनाशनाय।
पापाधमैधासि विदग्धुमर्ह, प्राज्ञै प्रतीतोऽस्यकृश कृशानु ॥२॥
चिन्ताग्निना प्रज्वलिताङ्गभाजा, शान्त सुशीत हृदय करोषि।
दोषैरशेषै रहित ब्रुवन्ति, विदावरा स्त्वामगश शशाङ्कम् ॥३॥
रत्नोपमानि प्रवरव्रतानि, दीनाय दारिद्रय-हताय दत्से।
विद्वद्वरा स्त्वा मधुर वदन्तमक्षारतोय जलधि विदन्ति ॥४॥
अहिंसया निर्हत लोकदु ख, सद् ब्रह्मचर्यव्रतभूषिताङ्गम्।
अपुत्रभार्य विजहद् गृह त्वा, मन्यामहे गान्धिमगाधबुद्धिम् ॥५॥
अशेषशब्दाम्बुधिपारयात, सारस्वता सम्प्रति सन्दिहन्ति।
त्व पाणिनि वा तुलसीमुनि वा, दाक्षी[1] सुत वा वदना[2] सुत वा ॥६॥
साधू स्त्वदीयान् मम भोज्यवस्त्रान्, एक क्रिया नेक गुरौ निबद्धान्।
वीक्ष्य प्रवीणा इह निर्णयन्ति, न साम्यवाद न समाजवादम् ॥७॥
गीतामपि त्वा परित पठन्त, जैनागमान् पूर्णतया रटन्तम्।
शौद्धोदने ग्रन्थवरान् भणन्त, स्व-स्व विदुर्वैदिकजैनबौद्धा ॥८॥

१ दाक्षी, पाणिनिमाता २ वदना, तुलसी माता

सम्प्रति वासवः

मुनिश्री कानमलजी

सुरसभेव सभा तव राजति, सुरसभाव सभा नव राजति।
त्वमपिससदसंप्रति वासव, कुतूहल मम बिभ्रति वासव ॥१॥
यमवलोक्य भवन्तमिवोज्ज्वल, परिवृत भगणै रिव साधुभि।
प्रवकिरन्तमिवामृतधारया, मितरुच परमचसिताम्बरे ॥२॥
कुमुदिनी मुदिनी मुदिनीरधि रधिपति स्वगृह स्वगृह प्रति।
सुभगवा भगवान् भगवाछया, सकल साध्यल साध्यल साध्यय ॥३॥

निर्द्वन्द्वो द्वन्द्वमाश्रितः

मुनिश्री चन्दनमलजी

विनयेन वराविद्या, विवेको विद्यया सह।
वकारत्रयमाबाल्यात्, ममगम्त त्वयि प्रभो ॥१॥
पाठक पाठकालेय, सेव्यमानोसि सेवक।
तिनीर्पुस्तारकश्चापि, निर्द्वन्द्वो द्वन्द्वमाश्रित ॥२॥
वृद्धिकृद् वर्द्धमानो य, श्रमण श्रमतत्पर।
विरोधिषु महावीर, मंगलाख्यात्रयी त्वयि ॥३॥
पञ्चविंशतिवर्षेषु, भ्राम भ्राम भुवस्तले।
गुप्त नैदयुगीनैस्तद्, यत्त्वयोपकृत गणे ॥४॥
पुत्रस्त्वमनिजानासि, देव! पुत्र चतुष्टये।
वृत्ति सर्व जनीना यत्, समाश्रित्य विराजसे ॥५॥
ध्वान्त दुर्णयसभूत, दूरयन् धवलेश्वर।
धवलस्ते समारोहो, विश्व धवलयिष्यति ॥६॥
स्वय प्रकाशमानोथो, अर्थमार्थ प्रकाशयन्।
भानुमानिव लोकेऽस्मिन्, जयतात्तुलमी प्रभ ॥७॥

तुलसीं वन्दे

श्री यतीन्द्र विमल चौधरी
मन्त्री वङ्गीय सस्कृत शिक्षा परिषद्

आचार्यतुलसी वन्दे जैनधर्मस्वरूपकम्।
'तेरापन्थि' महामङ्ग-मैत्रीबन्धनहेतुकम् ॥१॥
महावीर महाधर्म-सुधारसप्रदायकम् ॥
अणुव्रत-प्रचारेण विश्वशुद्धिविधायकम् ॥२॥

चिरं जयतु श्रीतुलसामुनीन्द्रः

मुनिश्री नवरत्नमलजी

अर्हन त्वमेव भगवन्नुपकारकत्वात् सिद्धोपि विश्ववसुधातल आश्रयत्वात्
आचारचिन्तनपटोरनुयोगकृच्चोपाध्याय आर्य ! मुनि उज्ज्वलसाधकत्वात् ॥१॥
विद्यार्थिनोविनयशासनशीलयुक्तान् व्यापारिण सरलसत्यपथप्रविष्टान्
कर्माधिकारिमनुजान् नयनीति निष्ठान् कुर्वन् चिर जयतु श्रीतुलसीमुनीन्द्र ॥२॥

•

न मनुजोऽमनुजोऽर्हति तत्तुलम्

मुनिश्री पुष्पराजजी

सु तुलसी भुवने स्त्यमर. प्रियो, न मनुजोऽमनुजोऽर्हति तत्तुलम् ।
हृत विधि सुविधि शरणागत, प्रकुरुते हरते च तदापदम् ॥१॥
तदमले कमले चलनेऽधुना, सुमनस मनसोपहरन्नरम्,
सुमनसा प्रणमन्नऽहमुत्सुक, सुसमये धवले ह्यभिनन्दनम् ॥२॥

•

निर्मलात्मा यशस्वी

मुनिश्री वत्सराजजी

लोकोद्धार समयविदुर कर्तुमुद्यद् वचस्वी,
स्वात्मोद्धार समयविदुरो नित्यमीशो मनस्वी ।
स्वान्योद्भासी गृहमणिनिभः सत्तपस्वी महस्वी,
चेतस्तल्पे लसतु तुलसी निर्मलात्मा यशस्वी ॥१॥
को नो विद्यात् तरुणतरणि तीव्र तेज. प्रताप,
भूम्याकाशंयदुदयवशाद् भासते सप्रकाशम् ।
तोष यातं निखिलभुवन क्रान्तिशील निरीक्ष्य,
शोष यातो जनपथ तत. केवल पंकराशि. ॥२॥
कल्याणाभ दिवि दिनमणि नित्य मुच्चैश्चरिष्णु,
मीर्ष्या-म्लाना तिरयितु मिमे वारिवाहा यतन्ते ।
पातस्तेषा भवति तरसा वीक्षणीयो विपाक,
श्रद्धा स्फीता भवति भुवने भास्वता तद् विरोधात् ॥३॥

•

कोपि विलक्षणात्मा

मुनिश्री डूंगरमलजी

आचार्यवर्यपदमाप्य सुशास्त्रसिन्धु, निर्मथ्य तत्त्वसुमणीनुपगम्य पूज्य ।
श्रीमान् स्वय समभवन् कृतवाश्च सङ्घ, विष्णुर्भवानजनि कोपि विलक्षणात्मा ॥१॥
योगात्मवद् वैदिक ब्रह्मवन् किम्, व्याप्त त्रिलोके सुयश स्त्वदीयम् ।
तेषा तु बाधाऽनुपलब्धिमात्रात्, प्रत्यक्षतस्ते सुयश-प्रसिद्धि ॥२॥
अस्त कदा याति कदा ह्युदेति, न ज्ञानमाप्नोति जनस्तवान्तिके ।
वैशेषिक मुक्तिपद समर्पयन्, वैशेषिक कोपि विलक्षणा भवान् ॥३॥
प्रत्यक्षसिद्धान् सुगुणास्त्वदीयान्, मीमासका नैव विलोकयन्ति ।
गुणा न सन्तीति मत मत यत्, मन्येपि सर्व जनपान्धका यथा ॥४॥
प्रतिभया चकित जगतीतल, मधुरया सुगिरा तृपिता नरा ।
तमभिनन्दितवान् धवलोत्सवे, गणवर तुलसी मुनि डूंगर ॥५॥

•

निरन्तरायं पदमाप्तुकामः

मुनिश्री शुभकरणजी

कल्याणकाङ्क्षिन् सुकृतिन् प्रयोगिन् कृतिन् प्रयोगिन् तुलसीमुनीश ।
सर्वान् सदा पाहि निरन्तराय निरन्तराय पदमाप्तुकाम ॥१॥
जीयाच्चिर विश्वदिनेशतेजो, दिनेशतेजोऽपि भवेदणीयम् ।
गतागतिप्रज्ञ समागमज्ञ, समागमज्ञ स्थितधिन् मुमुक्षो ॥२॥

•

वन्द्यो न केषां भवेत् ?

श्री विद्याधर शास्त्री, एम० ए०

राष्ट्रे नित्यमणुव्रतादिषु जनान् सयोजयन् पावयन्,
भ्रष्टाचारतम सदा स्वविषयात् सोन्मूलमुच्छेदयन् ।
तत्तच्छास्त्रनयादिशोधनपर शिष्यप्रदेयागम.,
आचार्यस्तुलसी सभादिनकरो वन्द्यो न केषा भवेत् ॥१॥
रत्नं भारतसस्कृते मुनिवरो मान्यो मनस्वी महान्,
नेता कोऽपि कृती स्वशुभ्रयशसा सर्वा दिश पूरयन् ।
भव्येऽस्मिन् धवले महोत्सवदिने विभ्राजमानोऽधिकम्,
आचार्यस्तुलसी विलक्षणमतिर्जातोऽभिनद्योऽखिले ॥२॥

•

निष्ठाशील शिक्षक

मुनिश्री बुलीचन्दजी

आचार्यश्री तुलसी केवल भारत मे ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे ख्याति प्राप्त महापुरुष है। इसमे उनके मौलिक विचार और उन पर पूर्ण निष्ठा ही मुख्य कारण है। जैन परम्परा मे, एक बडे सघ के अधिनायक होने के कारण उन्हे अपने सघ मे विद्या और प्रचार-कार्य मे अनवरत रत रहना पडता है। जैन साधुओ के लिए नियमानुसार निरन्तर एक स्थान मे रहना तो निषिद्ध है ही, फिर भी वे साधारणत एक क्षेत्र मे एक महीने तक और चातुर्मास की स्थिति हो तो एक क्षेत्र मे चार महीने तक रह सकते है। इसके अतिरिक्त वे घूमते रहते है। किन्तु आचार्यश्री इससे भी कुछ आगे बढे और उन्होने एक देशव्यापी यात्रा प्रारम्भ की। इन कुछ वर्षो मे उन्होने करीब १५-१६ हजार मील की यात्राए की हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बगाल आदि अनेक प्रान्तो मे घूम-घूम कर उन्होने जनता मे नैतिकता की मशाल जगाई। यह सब कार्य चातुर्मास के अतिरिक्त निरन्तर विहार करते रहने पर ही बन पाया है। यदि एक-एक गाँव मे महीने-महीने भर बैठे रहते तो इस प्रकार एक देशव्यापी यात्रा कभी सम्भव नही थी।

पैदल विहार करते हुए भी उन्होने अपने सघ मे विद्या की एक मन्दाकिनी बहायी है। यह उनकी एक निष्ठा का फल है। प्रात और साय दोनो समय विहार करते रहना और उसके साथ-साथ अध्ययन-कार्य भी चालू रखना, यह एक अनहोनी-सी बात लगती है। दिन-भर मे १५-१६ मील चल लेने के पश्चात् शरीर की क्या दशा होती है, यह तो सर्वविदित है ही। इसके उपरान्त भी आचार्यश्री अपनी शिष्य मण्डली को विश्राम करने की वेला मे अध्ययन रत रखते थे। साधु-सत भी इस समय अत्यन्त मनोयोग के साथ अध्ययन कार्य मे सलग्न रहते थे। कभी-कभी जब आचार्यश्री एकनिष्ठ होकर अपने शिष्य समुदाय को अध्ययन करवाते तो प्राचीन महर्षि-मुनियो की याद हो आती थी। आचार्यश्री अनेक कार्यो मे व्यस्त होते हुए भी अपने शिष्यो को सस्कृत-व्याकरण, दर्शन, सिद्धान्त, साहित्य आदि अनेक कठिन विषयो का अध्ययन कराने मे पूर्ण रुचि रखते है।

इस प्रकार आचार्य प्रवर ने अध्ययन-परम्परा को आगे बढाने के लिए एक परीक्षाक्रम भी बनाया। योग्य, योग्यतर और योग्यतम यह एक परीक्षा क्रम है। योग्य मे तीन वर्ष, योग्यतर मे दो वर्ष और योग्यतम मे दो वर्ष, इस प्रकार सात वर्ष का यह आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम है। इस परीक्षाक्रम मे अध्ययनार्थ कुछ वैदिक, बौद्ध और जैनेतर धर्म के ग्रन्थ भी लिए गए हैं। उदाहरणार्थ—गीता, महाभारत, धम्मपद आदि-आदि।

इस परीक्षा क्रम के ऊपर भी एक 'कल्प' नामक परीक्षा है जोकि दर्शन, सिद्धान्त व्याकरण आदि किसी भी विषय मे विशेषज्ञ होने की इच्छा रखने वाला दे सकता है। उपर्युक्त विहारादि की कठिनाइयो के बावजूद भी अनेक साधु सतो ने इस परीक्षा क्रम में परीक्षा देकर सफलता प्राप्त की है।

वस्तुत. यह देखा जाये तो आचार्यश्री के सान्निध्य मे चलने वाला यह अध्ययन कार्य किसी भी विद्यालय मे कम नही कहा जा सकता। इसको यदि हम एक चलता-फिरता विश्वविद्यालय भी कहे तो कोई अत्युक्ति नही होगी। एक स्थान पर रह कर अध्ययन-अध्यापन होना बडा सरल है, किन्तु इस प्रकार ग्रामानुग्राम घूमते हुए इस कार्य मे दक्षता प्राप्त कर लेना, एक टेढी खीर है। यह एक आचार्यश्री जैसी तपःपूत आत्मा की प्रेरणा का ही सुफल है; अन्यथा आज हम देख रहे हैं कि अनेकानेक सुविधाओ व प्रलोभनो के बावजूद भी आज के विद्यार्थी कैसा अध्ययन करते हैं, यह किसी से

छिपा हुआ नही है। साधुओं ने जिस प्रकार आचार्य प्रवर के इस तात्त्विक अध्ययनक्रम को सफल बनाने के लिए प्राणप्रण से चेष्टा की, उसी प्रकार साध्वी समाज ने भी दत्तचित्त होकर ज्ञान प्राप्ति मे कोई कमी नही रखी। फलत उनके साधु सत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, बगला, गुजराती, मराठी, कन्नड, अग्रेजी, मारवाडी आदि अनेको भाषाओ के प्रभावशाली पंडित बने।

आचार्यश्री के साधु समाज मे आज अनेक साधु संस्कृत व हिन्दी के आशु कवि है। अनेक साधु-साध्वियो कविता लिखने मे सिद्धहस्त हैं। अनेक साधु गद्य-पद्य के लेखक है। उनके कुछ साधुओ ने संस्कृत, हिन्दी व प्राकृत की नवीन व्याकरणों की भी रचना की है। उदाहरणार्थ—भिक्षुशब्दानुशासनमहाव्याकरण, कालूकौमुदी, तुलसी प्रभा, तुलसी मजरी व जय हिन्दी व्याकरण आदि। अनेक साधु तात्त्विक ग्रन्थो के लेखक व अनुशीलक बने। अनेक साधु अवधान विद्या के पारगत भी बने। जिनमे कुछ शतावधानी, पचशतावधानी, सहस्रावधानी और सार्धसहस्रावधानी भी है। इस प्रकार आचार्य प्रवर की उत्साहदायिनी प्रेरणा पाकर अनेक साधु उच्चकोटि के विद्वान् बने। पारस लोहे को कंचन बनाता है, 'पारस' नही, किन्तु आचार्यश्री अपने अनेक शिष्यो को अपने समकक्ष लाये। आचार्यश्री मे यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि वे विद्याध्ययन कराने के लिए किसी के भी साथ सकीर्णता का बरताव नही करते। आचार्य प्रवर ने अपने कुछ शिष्यो को जैन-सिद्धान्तो के शोधकार्य मे भी जोता। वह कार्य इतनी यात्राओं के होने हुए भी सुचारु रूप से चल रहा है। जहाँ पर प्रचार, पर्यटन, जन-सम्पर्क, अध्ययन, अध्यापन आदि अनेक कार्य साथ-साथ चल रहे हो, वहाँ सब कार्यो की गति स्वभावत ही मद पड जाती है। किन्तु आचार्यप्रवर के वचनो मे न जाने कौन-सी अदभुत शक्ति भरी हुई है कि उनके सान्निध्य मे चलने वाले अनेक कार्य उसी तीव्र गति से चल रहे है। अनेक कार्यक्रमो की व्यस्तता मे भी उनका एक भी शिष्य पठन-पाठन के परिश्रम से पीछे नही हटता।

आचार्यश्री के कन्धो पर सघ के गुरुतर दायित्व का भार है, अत उन्हे अन्यान्य कार्यों के लिए अवकाश मिल पाना आसान नही है, फिर भी वे व्याख्यान, प्रचार, बातचीत, चर्चा आदि अनेकानेक कार्यो मे व्यस्त रहते है। तेरापथ सम्प्रदाय की प्रणाली के अनुसार छोटे-से-छोटे और बडे-से-बडे सारे कार्य उन्ही की आज्ञा के अनुसार सम्पादित होते है। अत. इन छोटे-मोटे कार्यो मे भी उन्हे ही ध्यान बटाना पडता है। इस प्रकार प्रत्येक समय मे थे कार्यो से 'सावन भादो' मे बादलो से नीले नभ की तरह घिरे रहते है। सुबह चार बजे से लेकर रात को नौ बजे तक वे अत्यन्त उत्साहपूर्वक अपने एक-एक कार्य के लिए सजग रहते है। यहाँ तक कि वे अपने नियोजित कार्यों के लिए कभी-कभी भोजन का भी गौण कर देते है। चर्चा, प्रश्नोत्तर, अध्ययन, अध्यापन आदि कार्य करते समय तो वे अपने-आपको भूल मे ही जाते है। चर्चा, वार्ता व प्रश्नोत्तरो के कारण रात को कभी-कभी ग्यारह व बारह बजे तक जागते रहते है। उधर पश्चिम रात्रि मे साधुओ को स्वाध्याय व पढ़ाने के लिए वे नियमित रूप से चार बजे उठते है। इस प्रकार उनकी एकनिष्ठा ने साधु-समाज को जो विद्या की एक अमोघ शक्ति दी है, वह अतुलनीय है।

बिहार, बगाल, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र आदि अनेक देशो मे आचार्यश्री के अनुयायी लोग रहते हैं। वे लोग सहस्रो ही नही, अपितु लाखो की सख्या मे है। वे लोग भी तात्त्विक और सद्व्यवहारिक ज्ञान से वचित न रह जाए, इसको दृष्टिगत रखते हुए उन्होने उपर्युक्त प्रत्येक प्रान्त के प्रत्येक गाँव व नगर मे अपने साधु-साध्वीगण के दल भेज कर उन्हे भी ज्ञानार्जन करने का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार लोगो को तात्त्विक ज्ञान की अवगति कराने के लिए आचार्यप्रवर ने एक नई दिशा दी। इसका भी एक परीक्षाक्रम निर्धारित किया गया। कलकत्ता तेरापथी महा-सभा द्वारा प्रतिवर्ष इस परीक्षाक्रम मे अध्ययन करने वालो की परीक्षा ली जाती है। सहस्रो बालक, बालिकाए व तरुण इसमे अध्ययन कर अपने ज्ञानाकुर को विकसित करने मे अग्रसर होते है।

आचार्यप्रवर आचार के क्षेत्र मे जितने निष्ठाशील आचारी, विचार के क्षेत्र मे जितने निष्ठाशील विचारक, सद्व्यवहार के क्षेत्र मे जितने सद्व्यवहारी और चर्चा के क्षेत्र मे जितने चर्चावादी है, उतने ही शिक्षा क्षेत्र मे एक निष्ठाशील शिक्षक भी हैं। तेरापथ सघ मे आज जो अप्रत्याशित शैक्षणिक प्रगति देख रहे है, उसका सारा श्रेय उसी एक उत्कट निष्ठाशील आत्मा को है, जिसने अपना अमूल्य समय देकर चतुर्विध सघ को आगे लाने का प्रयत्न किया है।

आञ्जनेय तुलसी

आचार्य जुगलकिशोर
शिक्षा-मंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार

संजीवन विद्या का रहस्य

मानव विचार, मनन और मन्थन मे अनेकानेक शक्तियो का पुज है। वह अपने जीवन को साधना द्वारा नितान्त उज्ज्वल बना सकता है। वैसे तो प्राणीमात्र मे सिद्धत्व और बुद्धत्व जैसे गुणो की उपलब्धि की सम्भावनाए है, किन्तु वे अपनी शारीरिक एव मानसिक दुर्बलताओ के कारण इसके महत्त्व को हृदयगम करने मे बहुत कम क्षमता रखते हैं। मानव के अलावा अन्य प्राणियो का यह दुर्भाग्य है कि वे उसकी भाँति अपने हिताहित व कृत्याकृत्य को परख नही सकते। विवेकबुद्धि का उनमे अभाव है। इस भाँति केवल मानव ही एक ऐसा विचारशील एव मननशील प्राणी है, जिसमे अपने हित-अहित और कृत्य-अकृत्य को परखने की अद्भुत क्षमता पायी जाती है। मानव ही अपने जीवन की सजीवन विद्या के रहस्य को समझ सकता है।

यह सब होते हुए भी आज परिस्थिति कुछ भिन्न-सी नजर आती है। किसी कारणवश आज मानव की वह चेतना-शक्ति मन्द पड गई है। यही मूलभूत कारण है, जिससे वह स्वार्थ मे अन्धा होकर अनैतिकता की ओर अग्रसर हो गया है। उसके जीवन में सात्त्विकता की कमी हो रही है और अवाछनीय तत्त्व घर करने लगे हैं। मानव मानव मे विश्वास की भावना का ह्रास हो रहा है। वह दूसरो के अधिकारो की परवाह नही करता। ऐसी स्थिति मे उसके विवेक को जगाने का कोई उपक्रम चाहिए। अनैतिकता की व्याधि को स्वाहा करने के लिए कोई अमोघ औषधि चाहिए।

मानव की यह सुषुप्त चेतना तभी पुनर्जागृत हो सकती है जब उसमे चरित्र का बल हो। उसके प्रत्येक कार्य मे अहिसा व नैतिकता की पुट हो। जनवद्य आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा मे एक अभिनव प्रयास कर रहा है। वह दिग्भ्रान्त मानव-समाज को नैतिकता की खुराक दे रहा है और उसे एक दिशा-दर्शन देता है। अणुव्रत-आन्दोलन वास्तव मे एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है जिसमें मिलावट, चोरबाजारी, दुराचार, अनाचार, बेईमानी, ठगी, धूर्तता और स्वार्थान्धता आदि का पूर्ण रूप से अन्त हो जाये तथा मानव शीलवान्, सच्चरित्र व सद्गुण-सम्पन्न हो।

एक रचनात्मक अनुष्ठान

आचार्यश्री तुलसी ने समस्त मानव समाज को मैत्री, प्रेम और सद्भावना का सन्देश ऐसे समय में दिया है जबकि उसे उसकी परम आवश्यकता थी। भारतवर्ष के गाँव-गाँव मे पैदल घूम-घूम कर आचार्यश्री ने जनता को यह बताया कि उनके विचारो की यह त्रिवेणी किस प्रकार मानव-समाज का कल्याण कर सकती है। महात्मा गांधी ने जिस समय अहिसा के बल पर स्वराज्य दिलाने का वचन दिया था, तब अधिकाश लोगो ने यह सोचा था कि क्या गांधीजी अपने सम्पूर्ण जीवन में भी यह कर दिखाने मे सफल होगे। उन्होने आलोचको की परवाह न करते हुए अपना प्रयास जारी रखा और अन्त में परतन्त्रता की सदियो पुरानी बेड़ियाँ तोड फेकी। जिस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अहिसा व सत्य का आश्रय लिया गया, उसी प्रकार उसकी रक्षा के लिए भी अहिसा और सत्य का ही आश्रय लेना होगा। इन गुणो को विकसित करने की आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा मे एक स्पृहणीय प्रयास है। यह हमारे सौभाग्य और उज्ज्वल

भविष्य का सूचक है। राजस्थान की तपोभूमि से नि मृत आज यह आन्दोलन केवल भारतवर्ष की ही चार-दीवारी मे सीमित नही रहा है, बल्कि विदेशो मे भी इसकी चर्चा होने लगी है। वास्तव मे यह एक रचनात्मक अनुष्ठान है। अपने जीवन-काल के विगत लगभग बारह वर्षो मे इस आन्दोलन के अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियो का विकास हुआ है और उनमे आशातीत सफलता भी मिली है। सक्षेप मे यह आन्दोलन जन-जीवन का परिमार्जन चाहता है। जहाँ वह नैतिक पतन की ओर जाते हुए मानव को नैतिक नव-जागरण की प्रेरणा देता है, वहाँ वह मनोमालिन्य, वैमनस्य व सघर्ष की ओर जाते हुए मानव-समाज को मैत्री की बात भी कहता है। वास्तव मे यह आन्दोलन एक विचार-क्रान्ति है। यह मनुष्य को आदि से अन्त तक जकडता नही। इसका काम विचारो मे स्वच्छता ला देना है। नि सन्देह यह उपक्रम सभी अर्थों मे विचार-उच्चता का पोषक है और इसके प्रवर्तक जनवद्य आचार्यश्री तुलसी सब के लिए वन्दनीय है, क्योकि उन्होने एक सम्प्रदाय-विशेष के अधिशास्ता होते हुए भी साम्प्रदायिक भावनाओ से परे रह मानव-मात्र को धर्म ग्रन्थो का नवनीत निकाल कर जीवन-सहिता के रूप मे अणुव्रत-आन्दोलन का अनुपम पाथेय दिया है, जिसका उपभोग कर वह (मानव) अपने जीवन को तो सात्त्विक ढग से बिता ही सकता है, पर साथ-ही-साथ दूसरो के लिए भी वह सुविधाशील बन सकता है।

ऐसे कल्याणकारी महापुरुष के चरणो मे मानव का शीश स्वय ही झुक जाता है और उसकी हृत्तन्त्री मे स्वत ही यह भावना मुखर हो उठती है कि ऐसा युगपुरुष सदियो तक मानव-मात्र का पथ-प्रदर्शन करता रहे और अपने आध्यात्मिक बल से मूर्च्छित नैतिकता मे प्राण प्रतिष्ठित करने के लिए सजीवनी का अवतारण कर आञ्जनेय बने।

आचार्यश्री तुलसी के आचार्य काल एव सार्वजनिक सेवाकाल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने पर उनके प्रति मै अपनी हार्दिक शुभकामनाए प्रकट करता हूँ। इन पच्चीस वर्षो के सेवाकाल मे अणुव्रत-आन्दोलन को जो बल प्राप्त हुआ है, वह किसी से छिपा नही है। हम सबकी यही कामना है कि उस बहुमुखी व्यक्तित्व एव राष्ट्रीय चरित्र पुनर्निर्माण के कार्य मे उनका नेतृत्व हमे सर्वदा प्राप्त होता रहे। इस शुभ अवसर पर मै 'अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

तरुण तपस्वी आचार्यश्री तुलसी

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया, एम० ए०

आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन-ग्रन्थ मे मुझे भी कुछ लिखने के लिए आमन्त्रित किया गया, पर मै क्या लिखूं ? जिनको हम इतनी निकटता से जानते है, उनके बारे मे कुछ कहना उतना ही कठिन है, जितना प्रसुप्त प्रज्ञा के द्वारा शक्ति को सीमा-बद्ध करना।

मै उन्हे बचपन से जानती हूं। कई बार सोचा भी था कि मै सुविधा से उनके बारे मे अपनी अनुभूतियाँ लिखूंगी। उनके व्यक्तित्व को जितनी निकटता से देखा, उतना ही निखरा हुआ पाया। उस जमाने मे वे इतने विख्यात न थे, किन्तु विलक्षण अवश्य थे। उनकी तपश्चर्या, मन और शरीर की अद्भुत शक्ति और आध्यात्मिकता के तत्त्वाकुर गुरु की दिव्य-दृष्टि से छिप न सके और वे इस जैन सघ के उत्तराधिकारी चुन लिये गए। इन्होने प्राचीन मर्यादाओ की रक्षा करते हुए, सम्पूर्ण व्यवस्था का, मौलिकता का एक नया रूप दिया। सारे सघ की बल-बुद्धि और शक्ति को इकट्ठा कर तपश्चर्या और आत्म-शुद्धि का सुगम मार्ग बतलाते हुए, सकीर्णता के बन्धनो को काटते हुए, शान्ति-स्थापना का सकल्प ले आगे बढे। जन-समूह ने उनका स्वागत किया और तब उनका सेवा-क्षेत्र द्रौपदी के चीर की तरह विस्तृत हो गया। आचार्यश्री तुलसी ने धार्मिक इतिहास की परम्पराओ पर ही बल नही दिया, बल्कि व्यक्ति और समय की आवश्यकताओ को समझ उसके अनुरूप ही अपने उपदेशो को मोडा। सघ के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और वैशिष्टय का निर्वाह करते हुए साम्प्रदायिक भेदो को हटाने का भगीरथ प्रयत्न किया।

सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यवहार की मूल भित्ति मानने वाले इस सघ के सूत्र-धार के उपदेशो से जनता आश्वस्त हुई। आज के विश्व की इस विषम परिस्थिति मे, जब सेवा का स्थान स्वार्थ ने, विश्वास का सन्देह ने, स्नेह और श्रद्धा का स्थान घृणा ने ले लिया है, तब इन्होने भगवान् महावीर की अहिसा-नीति का हर व्यक्ति मे समन्वय करते हुए नये दृष्टिकोण से एक नई पृष्ठभूमि तैयार की।

मानव को देव नही, मानव बनाने का इनका गम्भीर प्रयत्न, बिना किसी फल और कीर्ति की आकाक्षा के निरन्तर चलता है। इनको अपने जीवन अथवा सेवा के लिए कोई आर्थिक साधन नही जुटाने पडते। बिना किसी प्रति-द्वन्द्विता की भावना से प्रभावित हुए अपने कार्यो को रचनात्मक रूप देते रहते है। पद और प्रशसा की भावना से उपराम होकर ये मानव की असहिष्णु हृदय-भूमि को नैतिक हल से जोतते है। प्रेम और धर्म के बीजो को बोते है। शास्त्रो के निचुडे हुए अर्क से उन्हे सीचते है। क्षेत्रज्ञ की तरह उसकी रखवाली करते है, यही उनके अस्तित्व और सफलता की कुजी है। यही इस पथ का गुह्यतम इतिवृत्त है कि इतने थोडे काल मे विज्ञान और विनाश की इस कसमसाती बेला मे भी समाज मे इन्होने अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

नगरों और ग्रामो मे घूम कर, छाया, पानी, शीत, आतप आदि यातनाए सहन कर लोक-कल्याण करते है। जीवन की सफलता के अचूक मन्त्र इस अणुव्रत को इस अहिसा के देवदूत ने एक सरल जामा पहना कर लोगों के सामने रखा। सुगन्धित द्रव्यो के धूम्रसमूह-सा यह अनन्त आसमान मे उठा और इहलोक और परलोक के द्वार पर प्रकाश डाला।

जब आचार्यश्री पद्मासन की तरह एक सुगम आसन मे बैठते है तो उनके पारदर्शी ज्योति-विस्फारित नेत्रो से विशद आनन्द और नीरव शान्ति का स्रोत बहता है। उनकी वाणी मे मिठास, मार्मिकता और सहज ज्ञान का एक प्रवाह-सा रहता है, जिसे सर्व-साधारण भी सहज ही ग्रहण कर सकता है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए इनके

पास पर्याप्त सामग्री है।

मैं इतना कुछ जानते हुए भी इस धर्म के गूढ तत्त्वो को आज तक हृदयगम नही कर सकी हूँ, क्योकि इन्होने अपने आपको इतना विशाल बना लिया है कि इनको जान लेना ही इनके आदर्शो को सटीक समझ लेना है, क्योंकि ये ही इनकी सत्यता के साकार प्रतीक है। वैसे तो सारे ही धर्म-पथ बडे कठिन और ऊबड-खाबड है, परन्तु इस पथ के पथिक तो खाँडे की तीखी धार पर ही चलते है। गुरु के प्रति शिष्यों का पूर्ण आत्म-समर्पण और उनके व्यक्तित्व इस तरुण तपस्वी के आदेशो मे इस तरह समा जाते है, जैसे बृहत् साम का स्तुति-पाठ इन्द्र मे समा जाता है।

त्याग की वेदी पर कर्मों का होम करने के बाद भी ये बडे कर्मठ है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक इनके क्षण बँधे हुए होते है। काल की अनन्तता मे विश्वास करते हुए भी इनका पलार्धपल का हिसाब उसी तरह होता है, जैसा अवसान-वेला मे वणिक् की दूकान का। इनके जीवन की कोई मिसल या मसला दूसरे दिन के लिए नही छोडा जाता। सारे दिन की आलोचना करने के बाद इनका मानस-पटल उस गहरे जलाशय-सा मालूम देता है, जिसकी तरग विलीन हो गई हो—थाह हीन, शान्त!

इस धार्मिक फिरके के सतो ने अपने-आपको आधुनिक प्रलोभन से इतना ऊपर उठा रखा है कि आज के अपूर्ण युग मे ये अपनी कठिन मर्यादाओं मे बँधे हुए जीते कैसे है?

त्याग और तप की प्रतिमूर्त्ति ये आचार्य और सूई की अनी मे ऊँट को निकालने वाला इनका धर्म श्रेय और प्रेय का ज्ञान कराने मे समर्थ है।

चरैवेति चरैवेति की साकार प्रतिमा

श्री आनन्द विद्यालंकार

सहसम्पादक—नवभारत टाइम्स, दिल्ली

'चरैवेति' का आदि और सम्भवत अन्तिम प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण के शुन शेप उपाख्यान मे हुआ है। उसमे इन्द्र के मुख से राजपुत्र रोहित को यह उपदेश दिलाया गया है कि **पश्य सूर्यस्य श्रेमाण यो न तन्द्रयते चरन्। चरैवेति चरैवेति।** इसका अर्थ है--'हे रोहित! तू सूर्य के श्रम को देख। वह चलते हुए कभी आलस्य नही करता। इसलिए तू चलता ही रह, चलता ही रह।' यहाँ 'चलना ही रह' का निगूढार्थ है कि 'तू जीवन मे निरन्तर श्रम करता रह।' इन्द्र ने इस प्रकरण मे सूर्य का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे सुन्दर और सत्य अन्य कोई उदाहरण नही हो सकता। इस समस्त ब्रह्माण्ड मे सूर्य ही सम्भवत एक ऐसा भासमान एव विश्व-कल्याणकर पिण्ड है, जिसने सृष्टि के आरम्भ मे अपनी जिस आदि-अनन्त यात्रा का आरम्भ किया है, वह आज भी निरन्तर जारी है। इस ब्रह्माण्ड मे गतिमान पिण्ड और भी है, परन्तु जो गति पृथ्वी पर जीवन की जनक तथा प्राणिमात्र मे प्राण की सर्जक है, उसका स्रोत सूर्य ही है। वह सूर्य कभी नही थकता। अपने अन्तहीन पथ पर अनालस-भाव से वह निरन्तर गतिमान है। श्रम का एक अतुलनीय प्रतीक है वह! 'चरैवेति' अपने सम्पूर्ण रूप मे उसी मे साकार हुआ है।

जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि

सूर्य के लिए जो सत्य है, वह इस युग मे इस पृथ्वी पर आचार्यश्री तुलसी के लिए भी सत्य है। जोधपुर-स्थित लाडनूं नगर के एक सामान्य परिवार मे जन्म-प्राप्त यह पुरुष शारीरिक दृष्टि से भले ही सूर्य की तरह विशाल एव भासमान न हो, परन्तु उसका जो अन्तर्मन और प्रखर बुद्धि है, उसकी तुलना सूर्य से सहज ही की जा सकती है। उसके मानसिक ज्योति-पिण्ड ने अपने चैतन्य-काल मे जनहितकारी किरणो का जो विकिरण आरम्भ किया है, उसका कोई अन्त नही है। वह अविराम जारी है। भौतिक शरीर जरा-मरण और क्लान्ति-धर्मा है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने अविराम श्रम से यह सिद्ध कर दिया है कि काल-क्रम के अनुसार जरा-मरण उन्हे भले ही आत्मसात् कर ले, परन्तु क्लान्ति उन्हे यावज्जीवन स्पर्श नही करेगी। जीवन मे यह कितनी बडी व श्रेष्ठ उपलब्धि है। कितना महान् आदर्श है उस मानव-समाज के लिए, जिसका भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण भी इसमे ही निहित है—**नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति।**

भाग्य और श्रम दोनो ही मानव की अनमोल निधि है। इनमे से एक सहज प्राप्त है और दूसरी यत्न-साध्य। भाग्य की महिमा ससार मे कितनी ही दृष्टिगोचर होती हो और **भाग्य फलति सर्वत्र** पर मानव का कितना ही अखण्ड विश्वास हो, परन्तु श्रम की जो गरिमा है, उसकी तुलना उससे नही की जा सकती। भाग्य तो परोपजीवी है और श्रम भाग्य का निर्माता। यह श्रम का ही प्रताप है, जिससे धरती शस्यश्यामला होती है और मनुज महिमा को प्राप्त होता है। ससार मे जो कुछ सुख-समृद्धि दृष्टिगोचर है, उसके पीछे यदि कोई सर्जक शक्ति है तो वह श्रम ही है। नितान्त वन्य जीवन से उन्नति और विकास के जिस स्वर्ण शिखर पर मानव आज खडा है, वह श्रम की महिमा का ही स्वय-भाषी प्रतीक है। जिस श्रम मे इतनी शक्ति हो और जो सूर्य की तरह उस शक्ति का सागर हो, उससे अधिक 'चरैवेति' की साकार प्रतिमा अन्य कौन हो सकता है? आचार्यश्री तुलसी ने अपने अब तक के जीवन मे यह सिद्ध कर दिया है कि श्रम ही जीवन का सार है और श्रम मे ही मानव की मुक्ति निहित है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने बाल्यकाल से जो अथक श्रम किया है, उसके दो रूप हैं—ज्ञान-प्राप्ति और जन-कल्याण। बालक तुलसी जब दस वर्ष के भी नहीं थे, तभी से ज्ञानार्जन की दुर्दमनीय अभिलाषा उनमें विद्यमान थी। अपने बाल्यकाल के संस्मरणों में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—'अध्ययन में मेरी सदा से बड़ी रुचि रही। किसी भी पाठ को कण्ठस्थ कर लेने की मेरी आदत थी। धर्म-सम्बन्धी अनेक पाठ मैंने बचपन में ही कण्ठाग्र कर लिये थे।' अध्ययन के प्रति उनकी तीव्र लालसा और श्रम का ही यह परिणाम था कि ग्यारह वर्ष की अल्प वय में तेरापंथ में दीक्षित होने के बाद दो वर्ष की अवधि में ही इतने पारंगत हो गए कि उन्होंने अन्य जैन साधुओं का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया। उनकी यह ज्ञान-यात्रा केवल अपने लिए नहीं, अपितु दूसरों के लिए भी थी। निरन्तर श्रम के परिणामस्वरूप वे स्वयं तो संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित हो ही गए, अपितु उन्होंने एक ऐसी शिष्य-परम्परा की स्थापना भी की, जिन्होंने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में असाधारण उन्नति की है। उनमें से अनेक प्रसिद्ध दार्शनिक, ख्यातनामा लेखक, श्रेष्ठ कवि तथा संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड उद्भट विद्वान् हैं।

आचार्यश्री की स्मृति-शक्ति तो अद्भुत एवं सहजग्राही है ही, परन्तु उनकी जिह्वा पर साक्षात् सरस्वती के रूप में जो बीस हजार श्लोक विद्यमान हैं, वे उठते-बैठते निरन्तर उनके श्रम-साध्य पारायण का ही परिणाम है। उनमें जो कवित्व और कुशल वक्तृत्व प्रकट हुआ है, उसके पीछे श्रम की कितनी शक्ति छिपी है, इसका अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता। ब्राह्म मुहूर्त से लेकर रात्रि के दस बजे तक का उनका समस्त समय ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान में ही बीतता है। भगवान् महावीर के 'एक क्षण को भी व्यर्थ न गँवाओ' के आदर्श को उन्होंने साक्षात् अपने जीवन में उतारा है। स्वयं की चिन्ता न कर सदा दूसरों की चिन्ता की है। वे प्रायः कहा करते हैं कि 'दूसरों को समय देना अपने को समय देने के समान है। मैं अपने को दूसरों से भिन्न नहीं मानता।' जिस पुरुष की समय और श्रम के प्रति यह भावना हो और जो स्वयं ज्ञान का गोमुख होकर ज्ञान की जाह्नवी बहा रहा हो, उससे अधिक 'चरैवेति' को सार्थक करने वाला कौन है? उपदेष्टा इन्द्र को कभी स्वप्न भी नहीं हुआ होगा कि किसी काल में एक ऐसा महापुरुष इस पृथ्वी पर जन्म लेगा जो उसका मूर्तिमन्त उपदेश होगा।

सर्वतः अग्रणी सम्प्रदाय

आचार्यश्री तुलसी के तेरापंथ का आचार्यत्व ग्रहण करने से पूर्व, अधिकांश साध्वियाँ बहुत अधिक शिक्षित नहीं थीं। यह आचार्यश्री तुलसी ही थे, जिन्होंने उनके अन्दर ज्ञान का दीप जगाया। जिस समय उन्होंने साध्वियों का विद्यारम्भ किया था तो केवल तेरह शिष्याएं थीं, परन्तु आज उनकी संख्या दो सौ से अधिक है और वे विभिन्न विषयों का अध्ययन कर रही हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने शिक्षा-पद्धति में भी संशोधन किये। पाठ्यक्रम को उन्होंने तीन भागों में बाँट दिया—प्रथम में उन्होंने दर्शन, साहित्य, व्याकरण, शब्दकोष, इतिहास, गणित ज्योतिष तथा विभिन्न कला एवं भाषाओं के ज्ञान की व्यवस्था की, दूसरे में जैन धर्म की शिक्षा की तथा तीसरे में धर्म-ग्रन्थों के ज्ञान की। साधु-साध्वियों के बौद्धिक एवं मानसिक स्तर को उन्नत करने के उद्देश्य से प्रबन्ध-लेखन, कविता-पाठ और धार्मिक एवं दार्शनिक वाद-विवादों की व्यवस्था भी की। ग्यारह वर्ष तक वे निरन्तर ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान की पवित्र प्रवृत्तियों में संलग्न रहे। इस अद्भुत श्रम का ही यह फल है कि तेरापंथ आज भारत के सर्वतः अग्रणी सम्प्रदायों में से एक है।

ज्ञान के क्षेत्र में आचार्यश्री तुलसी ने जो महान् कार्य किया है, उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग और भी है और वह है—जैन धर्म-ग्रन्थों—आगमों पर उनका अनुसन्धान। ये आगम भगवान् महावीर के उपदेशों का संग्रह है। वे ज्ञान के भण्डार हैं, परन्तु भगवान् महावीर के निर्वाण के उत्तरकालीन पच्चीस सौ वर्ष के समय-प्रवाह ने इन आगमों में अनेक स्थलों पर दुर्बोध्यता उत्पन्न कर दी है। आचार्यश्री तुलसी के पथ-प्रदर्शन में अब इन आगमों का हिन्दी-अनुवाद तथा शब्दकोष तैयार किया जा रहा है। जिस दिन यह कार्य पूर्णतः सम्पन्न हो जायेगा, उस दिन संसार यह जान सकेगा कि तपःपूत इस व्यक्ति में श्रम के प्रति कैसी अटूट भक्ति है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि अपनी ज्ञान-साधना से आचार्यश्री तुलसी ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे श्रम के ही दूसरे रूप हैं।

आचार्यश्री तुलसी की दिनचर्या भी अविराम श्रम का एक उदाहरण है। वे ब्रह्म मुहूर्त मे ही शय्या छोड़ देते है। एक-दो घण्टे तक आत्म-चिन्तन और स्वाध्याय के अनन्तर प्रतिक्रमण—सब नियमों और प्रतिज्ञाओं का पारायण करते हैं। हलासन, सर्वांगासन, पद्मासन उनका प्रिय एव नियमित व्यायाम है। इसके पश्चात एक घण्टे से अधिक का समय वे जनता को उपदेश तथा उनकी जिज्ञासाओं को शान्त करने मे व्यतीत करते हैं। भोजनानन्तर विश्राम-काल मे हल्का-फुल्का साहित्य पढ़ते हैं। उसके बाद दो से ढाई घण्टे तक का उनका समय साधुओं और साध्वियो के अध्यापन मे बीतता है। विभिन्न विषयों पर विभिन्न लोगों से वार्ता के बाद वे दो घण्टे तक मौन धारण करते हैं और इस काल मे वे पुस्तक-लेखन और अध्ययन करते हैं। सूर्यास्त से पूर्व ही रात्रि का भोजन ग्रहण करने के अनन्तर प्रतिक्रमण और प्रार्थना का कार्यक्रम रहता है। एक घण्टे तक पुन. स्वाध्याय अथवा ज्ञान-गोष्ठी के बाद आचार्यश्री शय्या ग्रहण कर लेते हैं। उनका यह कार्य-क्रम घड़ी की सुई की तरह चलता है और उसमे कभी व्याघात नही होता। जब तक किसी व्यक्ति मे श्रम और वह भी परार्थ के लिए श्रम करने की हार्दिक भावना न हो, तब तक उक्त प्रकार का यत्रवत् जीवन असम्भव है।

आचार्यश्री के श्रम का दूसरा रूप है—जन-कल्याण। वैसे तो जो ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान वे करते हैं, वह सब ही जन-कल्याण के उद्देश्य से है, किन्तु मानव को अपने हिरण्मय पाश मे बाँधने वाले पापो से मुक्ति के लिए उन्होने जो देशव्यापी यात्राए की हैं और अपने शिष्यो मे कराई हैं, उनका जन-कल्याण के क्षेत्र मे एक विशिष्ट महत्त्व है। इन यात्राओं से आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध के शिष्यों द्वारा की गई वे यात्राए स्मरण हो आती हैं जो उन्होने मानवमात्र के कल्याण के लिए की थी। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने इस यात्रारम्भ से पूर्व अपने साठ शिष्यो को पचशील का सन्देश प्रसारित करने का आदेश दिया था, ठीक उसी प्रकार आचार्यश्री तुलसी ने आज से बारह वर्ष पूर्व अपने छ सौ पचास शिष्यो को सम्बोधित करते हुए कहा था—"साधुओ और साध्वियो! तुम्हारे जीवन आत्म-मुक्ति और जन-कल्याण के लिए समर्पित हैं। समीप और सुदूर-स्थित गांवो, कस्बो और शहरो को पैदल जाओ। जनता मे नैतिक पुनरुत्थान का सन्देश पहुँचाओ।" तेरापथ का जो व्यावहारिक रूप है, उसके तीन अग हैं—१ पवित्र एव साधुतापूर्ण आचरण, २ भ्रष्टाचार से मुक्त व्यवहार और ३ सत्य में निष्ठा एव अहिसक प्रवृत्ति। आचार्यश्री तुलसी ने अपने शिष्यो को जो उक्त आदेश दिया था, उसका उद्देश्य तेरापथ के इसी रूप की जनता-जनार्दन के जीवन मे अवतारणा थी।

अणुव्रत चक्र प्रवर्तन

वर्तमान मे भारतीय समाज की जो दशा है, वह किसी से छिपी नही है। प्राचीन आध्यात्मिकता का स्थान नितान्त भौतिकता ने ले लिया है। अन्तर्मुख होने के स्थान पर व्यक्ति सर्वथा बहिर्मुख हो गया है। विलासिता सयम पर आरूढ हो गई है और सर्वत्र भोग और भ्रष्टाचार का ही वातावरण दृष्टिगोचर होता है। यह स्थिति किसी भी समाज के लिए बड़ी दयनीय है। इस दुरवस्था से मुक्ति के लिए ही आचार्यश्री ने जनता मे अणुव्रत चक्र प्रवर्तन का निश्चय किया। यह अणुव्रत ही वस्तुतः तेरापथ का व्यावहारिक रूप है। इस 'अणुव्रत' शब्द मे अणु का अर्थ है—सबसे छोटा और व्रत का अर्थ है—वचन—दृढ़ सकल्प। जब व्यक्ति इस व्रत को ग्रहण करेगा तो उससे यही अभिप्रेत होगा कि उसने अन्तिम मजिल पर पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी पर पैर रख दिया है। इस अणुव्रत के विभिन्न रूप हो सकते है और ये सब रूप पूर्णता के ही आरम्भक बिन्दु हैं। आचार्यश्री तुलसी ने इसी अणुव्रत को देश के सुदूर भागो तक पहुँचाने के लिए अपने शिष्यो को आज से बारह वर्ष पूर्व आदेश दिया था। तब से लेकर अब तक ये शिष्य शिमला से मद्रास तथा बंगाल से कच्छ तक सैकड़ों गाँवों और शहरों में पैदल पहुँचकर अणुव्रत की दुन्दुभी बजा चुके हैं। इस अवधि मे आचार्यश्री ने भी अणुव्रत के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने के लिए जो अत्यन्त आयासकर एव दीर्घ यात्राएं की हैं, वे उनके सूर्य की तरह अविराम श्रम की शानदार एवं अविस्मरणीय प्रतीक हैं। राजस्थान के छापर गाँव से उन्होने अपनी अणुव्रत-यात्रा का आरम्भ किया। उसके बाद वे जयपुर आये और वहाँ से राजधानी दिल्ली। दिल्ली से उन्होने पदल-ही-पैदल पजाब मे भिवानी, हाँसी, संगरूर, लुधियाना, रोपड़ और अम्बाला की यात्रा की। इसके बाद राजस्थान होते हुए वे बम्बई, पूना और हैदराबाद के समीप तक गये। वहाँ से लौटकर उन्होने मध्यभारत के विभिन्न स्थानों तथा राजस्थान की पुन· यात्रा की। इसी प्रकार

उन्होंने उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल के लम्बे यात्रा-पथ तय किये ।

भारत के आध्यात्मिक स्रोत

आचार्यश्री तुलसी की ये यात्राए चरित्र-निर्माण के क्षेत्र मे अपना अभूतपूर्व स्थान रखती है । उनकी तुलना अनैतिकता के विरुद्ध निरन्तर जारी धर्मयुद्धो से की जा सकती है । अपने शिष्यो समेत स्वय यह महान एव अविराम श्रम करके आचार्यश्री तुलसी ने समस्त देश मे शान्ति एव कल्याण का एक ऐसा पवन प्रवाहित किया है, जिसकी शीतलता जन-मानस को स्पर्श कर रही है और जो अपने मे **सागरं सागरोपमः** की तरह अनुपम है । जो आध्यात्मिक सन्तोष और आत्म-विश्वास की भावना इन यात्राओ के परिणामस्वरूप जनता को प्राप्त हुई, उसने समाज को चरित्र के चारु, किन्तु कठिन पथ पर चलने के लिए नवीन प्रेरणा प्रदान की है । अब तक लगभग एक करोड व्यक्ति अणुव्रत-आन्दोलन के सम्पर्क मे आ चुके हैं और एक लाख से अधिक व्यक्तियो ने उससे प्रभावित होकर बुरी आदतो का परित्याग कर दिया है । आचार्यश्री तुलसी सूर्य की तरह ही न केवल दिव्याग है, अपितु सूर्य की तरह ही उनकी समस्त दिनचर्या है । वे भारत के आध्यात्मिक स्रोत है । उन्होने अपने चैतन्य काल से अब तक जो कार्य किया है, उस सब पर उनके श्रान्तिहीन श्रम की छाप विद्यमान है । वह जनता-जनार्दन का एक ऐसा इतिहास है जिसकी तुलना धर्म-सस्थानो के इतिहास मे की जा सकती है । इस सकाम ससार मे वह निष्काम दीप की तरह जल रहा है । जीवन का एक पल भी उनका ऐसा नही है, जिसमे उन्होने अपनी ज्योति का दान दूसरो को न दिया हो । वह 'चरैवेति' की तरह एक ऐसी साक्षात् प्रतिमा है जिसके सम्मुख सिर सहज ही श्रद्धा मे नत हो जाता है ।

नवोत्थान के सन्देश-वाहक

श्री अमरनाथ विद्यालंकार
शिक्षामंत्री, पंजाब सरकार

आचार्य तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन वस्तुत देश मे नैतिकता और नियन्त्रण के प्रचार का आन्दोलन है। महात्मा गाधी ने अपनी पचास वर्ष की कठोर तपस्या द्वारा देश के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया, जिससे हम खून का एक कतरा बहाये बिना ही आजाद हो गये। इतिहास मे अहिंसा और नैतिकता की इतनी बडी विजय इतने बडे विशाल राजनैतिक क्षेत्र मे प्रथम बार ही प्राप्त हुई। आज जब मानव समाज को सगठित तथा व्यवस्थित करने के लिए इतने प्रकार सोचे जा रहे है और मानव स्वभाव तथा भावनाओ के विकारो को बाह्य भौतिक उपायो द्वारा शान्त करने के नये-नये प्रकार उपस्थित किये जा रहे हैं, इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि नैतिक तथा आध्यात्मिक उपायो की यथार्थता तथा श्रेष्ठता व्यावहारिक रूप मे सिद्ध की जाये। भारतीय विचारधारा के अनुसार इतिहास मे अनेक बार क्षात्र भावनाओ पर ब्रह्मत्व की श्रेष्ठता व्यावहारिक रूप से सिद्ध की जा चुकी है।

महात्मा गाधी के पश्चात् आचार्य विनोबा और आचार्यश्री तुलसी ने नैतिकता के सन्देशवाहक का कठिन भार अपने कन्धो पर लिया है। और हमे उनका अनुसरण करना चाहिए।

आचार्यश्री तुलसी की गणना उन महान् धर्म-नायकों और सन्तो मे है, जो केवल धर्मोपदेश देने ही मे अपने कर्तव्य की इतिश्री नही करते, अपितु जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होकर अपने समस्त क्रिया-कलाप को जनसेवा की साधना मे समर्पित कर देते है। हमारे देश मे बहुत थोडे ऐसे धर्म-गुरु हैं जो स्वयं विद्वान् तथा ज्ञानवान् होते हुए भी अपनी विद्वता तथा पाण्डित्य पर सन्तुष्ट होकर नही बैठे रहते, अपितु लोकैषणाओ मे निर्लिप्त रह कर ही जन साधारण के साथ उठने-बैठते, चलने-फिरते है और इस प्रकार अपने सदाचरणो के माध्यम से सामान्य जनो का मार्ग-दर्शन करते है।

आचार्यश्री तुलसी ने जैन मुनियो और थेरो के परम्परागत महान् दर्शन शास्त्र को जीवन दर्शन की भाषा मे अनूदित किया और उसे 'अणुव्रत-आन्दोलन' का रूप दिया। प्राचीन दर्शन नवोत्थान का सन्देश लेकर भारतीय जन-साधारण को नव युग की प्रेरणा देने लगा।

समाज व्यवस्था के बिना क्षण-भर भी जीवित नही रह सकता। विशृखल व्यक्तियो को परस्पर जोड कर समाज के रूप मे सुसगठित करने वाली कडियाँ कानून की तलवारो से गढी नही जा सकती। मानव को मानव से जोडने वाली कडियाँ भावनात्मक होती है। लाठी से हाँके जाने वाले भेडो के रेवड की भाँति इन्सान भी मजमे के रूप मे इकट्ठे भले ही किये जा सकते है, परन्तु जब तक उनकी हृदयतन्त्री के तार सम्मिलित होकर एक सुर मे बज नही उठते, तब तक समाज नही बनता।

मैं जानता हूँ, आचार्यश्री तुलसी के सवेदनशील व्यक्तित्व तथा नैष्ठिक नैतिकतापूर्ण सदाचरण से प्रभावित होकर अनेक चतुर दुनियादार भौतिक सफलता के उपासको ने नैतिकतापूर्ण जीवन का प्रसाद पाया है।

आचार्यप्रवर का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है, इस अवसर पर शुद्ध प्रसूनो की यह तुच्छ भेंट उनके चरणों मे समर्पित करते हुए मैं अपने-आपको धन्य मानता हूँ।

कुशल विद्यार्थी

मुनिश्री मीठालालजी

वस्तुत कुशल विद्यार्थी ही कुशल अध्यापक होता है और कुशल अध्यापक ही औरों को प्रशिक्षित कर सकता है। जो बहुत अभिज्ञ होने पर भी जिज्ञासु भाव को सजोये रखे और सत्य के अनुसन्धान मे 'मम-तव' के भेद मे न उलझे वही व्यक्ति कुशल विद्यार्थी एव अध्यापक होता है। विद्यालय विशेष से उसका लाग-लगाव नही होता। वह जहाँ होता है, वही उसके लिए विद्यालय बन जाता है और निरवकाश उसका कार्य सचारु रूप मे चालू रहता है। मेरा यह कहना सम्भवत लोगो को अचरज मे डालेगा कि आचार्यश्री तुलसी एक विद्यार्थी है।

मैं क्या कहूँ, वे स्वय अपने को ऐसा मानते है और ऐसा बने रहने मे ही उन्हे अपना और समाज का भावी विकास-दर्शन होता है। वे बहुत बार दूसरो को परामर्श भी यही देते है कि साहित्य की तह तक पहुँचने के लिए सदा प्रत्येक व्यक्ति को वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध हो जाने पर विद्यार्थी ही बना रहना चाहिए। ज्ञान की जब इयत्ता नही तब थोडा-सा ज्ञान पाकर अपने को इयत्ता-प्राप्त या सत्य के अन्तिम छोर तक पहुँचा मान लेना निरा अज्ञान है। वैचारिक दुराग्रह भी इसी स्थिति मे पनपता है और वही व्यक्ति को सत्य से बहुत परे ढकेल देता है। सत्य का आग्रह अवश्य उपादेय है, किन्तु सत्य वही नही है जो व्यक्ति ने जाना, माना या अपना लिया। तो सत्य को पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अथ से इति तक विद्यार्थी बने रहना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है।

सत्य को उपलब्ध करने की कुजी

विद्यार्थी दुराग्रही या स्वमताग्रही नही होता और जो दुराग्रही या स्वमताग्रही होता है, वह विद्यार्थी भी नही होता। विद्यार्थी मे निकेवल सत्य का आग्रह होता है। वह अपने अभिमत को ही सत्य नही, किन्तु सत्य को ही अपना अभिमत मानता है। वह किसी भी अभिमत को अपना तब तक ही मानता है, जब तक उसे वह सत्य लगता है। असत्य लगने के पश्चात् उसके परित्याग मे उसे तनिक भी सकोच नही होता। आचार्यश्री ने एक चिन्तन गोष्ठी मे अपना चिन्तन नवनीत प्रस्तुत करते हुए कहा था—'हमे जो समीचीन लगे उसे नि सकोच भाव से आत्मसात् करना है। हम अनुकरण प्रिय नही, सत्य-प्रिय और सत्य-गवेषक है। सत्य पर आधारित बडे-से-बडा परिवर्तन हमारे लिए अपेक्षणीय है और असत्य पर आधारित छोटे-से-छोटा परिवर्तन हमारे लिए उपेक्षणीय है, हेय है। कोरी अनुकरण-प्रियता मे सत्य ओझल रहता है। नवीन चिन्तन के लिए अपने मस्तिष्क को सदा उन्मुक्त रखना चाहिए। किसी भी समय सत्य का कोई पहलू स्पष्ट हो सकता है जो अतीत मे हमारे लिये अस्पष्ट रहा हो। चिन्तन का द्वार बन्द करने मे विकास की इतिश्री हो जाती है।' यह है सत्य को उपलब्ध करने की आचार्यश्री की कुजी।

आचार्यश्री प्राचीन परम्परा को आवश्यक और उचित महत्त्व प्रदान करते है, किन्तु प्राचीनता के साथ सत्य का गठ-बन्धन है और अर्वाचीनता के साथ नही, ऐसा उन्हे स्वीकार्य नही।

वे सर्वथा न प्राचीनता के समुत्थापक हैं और न सर्वथा अर्वाचीनता के सम्पोषक। वे प्राचीनता और अर्वाचीनता दोनो को तुल्य महत्त्व देते हैं, बशर्ते कि उसमे सचाई और औचित्य हो। सच्चाई से रिक्त न प्राचीनता उनके लिए उपादेय है और न अर्वाचीनता। सच्चाई प्राचीनता मे भी हो सकती है और अर्वाचीनता मे भी। प्राचीनता मात्र हेय नही और अर्वाचीनता मात्र उपादेय नही। दोनो मे हेय अश भी है और उपादेय अश भी। ये हैं उनके एक और एक दो जैसे

स्पष्ट विचार। प्राचीनता के हेय अश को छोडने मे और अर्वाचीनता के उपादेय अश को स्वीकार करने मे वे कभी भी नहीं सकुचाते। यह उनकी स्पष्ट और मूलभूत रीति है। यही तो उनकी कुशल विद्यार्थिता है। विद्यार्थी पारखी होता है। उसका लगाव सत्य के सिवाय दूसरे के साथ हो भी कैसे सकता है!

तटस्थ दृष्टि

विद्यार्थी की दृष्टि तटस्थ होती है और उसके आलोक में वह सबको पढ़ता है। आचार्यश्री ने तटस्थ दृष्टि के आलोक मे भारतीय दर्शनो का अध्ययन किया। दर्शनो मे जहाँ अतटस्थ दृष्टिवाले लोगो को पूर्व-पश्चिम का विभेद दीखता है, वहाँ आचार्यश्री को अभेद अधिक दीखा। वे कहते हैं—"सभी आस्तिक दर्शनो के मूलभूत उद्देश्य मे साम्य है, उपासना या साधना पद्धति मे थोडा-बहुत विभेद अवश्य है। सभी दर्शनो मे हमे ऐक्य के बीज अधिक उपलब्ध होगे और अनैक्य के कम। थोडे से अनैक्य के आधार पर लडना, झगडना और राग-द्वेष को उत्तेजना देना धर्म के नाम पर अधर्म का सम्पोषण करना है। उचित यह है कि हम अनैक्य के प्रति, सहिष्णु बने और एक स्वर से ऐक्य के प्रसार मे दत्तचित्त बने।

यह सही है कि तटस्थ दृष्टि रखे बिना किसी भी दर्शन के हृदय को छुआ नही जा सकता। किसी भी दर्शन के प्रति गलत धारणा को लेकर उसे पढना उसके प्रति अन्याय करना है। अत दर्शन के विद्यार्थी के लिए तटस्थ दृष्टि ही स्पृहणीय है, जिसका कि आचार्यश्री मे स्पष्ट प्रतिभास होता है।

आचार्यश्री समन्वय की भाषा मे बोलते है, समन्वय की दृष्टि से सोचते है और लिखते है। समन्वयमूलक वृत्ति ने ही उन्हे जनप्रिय बनाया है। वे जो बात कहते हैं, वह सीधी लोगो के गले उतर जाती है। उनकी वाणी मे ओज, हृदय मे पवित्रता और साधना मे उत्कर्ष है। उत्साह उनका अनुचर है। अत्यधिक कार्य व्यस्तता भी उनके सतत प्रसन्न स्वभाव को खिन्न बनाने मे सर्वथा अक्षम्य ही रहती है। जन-जन के जीवन को नैतिकता से प्रशिक्षित करना ही उनका व्यसन है। उनका जीवन एक प्रेरक जीवन है, इसलिए वे नैसर्गिक कुशल अध्यापक है। उनके जीवन मे लोगो को जो विश्व-बन्धुता और नैतिकता की प्रबल प्रेरणाए उपलब्ध हुई हैं, वे सतत अविस्मरणीय है।

भारत के कोने-कोने से समायोज्यमान धवल समारोह आचार्यश्री की अविस्मरणीय सेवाओ की स्मृति मात्र है। इस अवसर पर मैं भी अपने को आचार्यश्री के अभिनन्दन से वचित रखूं, यह मुझे अभीष्ट नही।

महान् धर्माचार्यों की परम्परा में

श्री पी० एस० कुमारस्वामी
भूतपूर्व राज्यपाल, उड़ीसा

जब मैं यह सोचता हूँ कि मानव जन्म कितना दुर्लभ है और वह भी भारत जैसी पुण्य भूमि में, तो मेरा मस्तिष्क महान विचारों से भर उठता है। यह हमारे देश का सौभाग्य है कि समय-समय पर इसमें महान् विवेकी पुरुषों ने जन्म लिया है और उन्होंने हमारे धर्म पर चढ़े हुए मैल को धोया है तथा लोगों को सही मार्ग दिखाया है। वास्तव में ऐसे पुरुषों ने देश की कीर्ति को आलोकित किया है और उनके विचारों ने सभी के हृदय को प्रभावित किया है। यह भव्य परम्परा वैदिक युग से प्रारम्भ हुई। जैन और बौद्ध धर्म के संस्थापकों ने भी हमको ज्ञान का प्रकाश प्रदान किया है और उनके बाद भी ऐसे सुप्रसिद्ध महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने इस देश की आध्यात्मिक शक्ति में वृद्धि की है। आज भारत के लिए यह समझा जाता है कि वह मानव-कल्याण के लिए अपना नैतिक योग दान देने में समर्थ है तो इसका कारण यही है कि भूत-काल में संतों और ऋषि-मुनियों ने भारत के लोगों को आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न बनाया था।

इस परम्परागत ज्ञान और विवेक का आधार यह विचार है कि सद् विचार, सद्ज्ञान और सदाचार से सुख की प्राप्ति होती है। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि यही शाश्वत और प्रेरक सन्देश अणुव्रत-आन्दोलन का भी मूलाधार है जिसमें जीवन की शुद्धि होती है और दैनिक मानव व्यवहार में नैतिकता और सत्य का समावेश होता है। वर्तमान समय में जब मानव मन भौतिकवाद के जाल में फंस रहा है, हमें अपना पथ आलोकित करने के लिए एक व्याव-हारिक और प्रेरक धर्म की आवश्यकता है। आचार्यश्री तुलसी उपयुक्त अवसर पर अवतरित हुए हैं। वे हमारे महान् धर्माचार्यों की परम्परा में हैं। वे हमें सद्विचार और सदाचार का मार्ग दिखा रहे हैं।

आज जगत की क्या अवस्था है, यह किसी से छुपा हुआ नहीं है। हमारे देश ने भी यदि वर्तमान असम्बद्ध विचारधाराओं को अपनाया होता तो वह बुरे मार्ग पर चल पड़ता। किन्तु सौभाग्य से महात्मा गांधी ने हमारी समाज-नीति को प्रभावित किया। उन्होंने हमारी राजनीति को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयास किया और हमें गहन भौतिक-वाद से बचा लिया। मुझे विश्वास है कि अणुव्रत-आन्दोलन भी अहिंसा, सत्य, स्वावलम्बन और स्वार्थ-त्याग पर बल देकर राष्ट्र का कल्याण सिद्ध करने के लिए कठोर परिश्रम करेगा। ये सिद्धान्त किसी एक धर्म की बपौती नहीं है, सभी धर्म उनको मान्यता देते हैं। यह हो सकता है कि कोई धर्म उनके पालन पर न्यूनाधिक बल देता हो।

मुझे यह ज्ञात हुआ है कि आचार्यश्री तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के नवम आचार्य हैं। इससे मुझे ख्याल आता है कि जैन धर्म का कितना व्यापक प्रचार रहा है। उसके प्राचीन और उदात्त सिद्धान्तों ने अकबर जैसे महा-पुरुषों को और आधुनिक काल में महात्मा गांधी को भी प्रेरणा दी है। जैन जीवन-दृष्टि राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अंग ही बन गई है। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जैन साहित्य और उसकी कलात्मक परम्परा भारतीय संस्कृति के समकक्ष बन गई है।

यह मैं इसलिए कहता हूं कि दक्षिण भारत में भी जैन ग्रन्थकारों ने तमिल साहित्य को समृद्ध बनाया है। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने इस क्षेत्र की भाषा को अपने धर्म की महत्ता और सन्देश का माध्यम बनाने में कोई हानि नहीं समझी। कला और नैतिकता के क्षेत्र में जैनों की उपलब्धियां और जीवन के इस क्षेत्र में जैन समाज की उल्लेखनीय

सफलताए महत्त्वपूर्ण रही है। यह भी सर्वविदित है कि गाधीवाद पर जैन धर्म का कितना भारी प्रभाव पड़ा था।

मै आशा करता हूँ कि आचार्यश्री तुलसी उत्तम और व्यवहारिक नागरिकता का विकास करने का अपना पावन कार्य निरन्तर करते रहेंगे और सभी सत्य-शोधको के लिए समान मच उपलब्ध करेगे। मेरी कामना है कि वह लोगो को सही मार्ग बताए और उनमे सरल और साहसी जीवन एव सदाचार की नई चेतना उत्पन्न करके राष्ट्र का नैतिक कल्याण सिद्ध करने मे यशस्वी हो।

←→

अभिनन्दन गीत

श्री मतवाला मंगल

हे ! युग-स्रष्टा, युग-द्रष्टा, युग के नूतन पथ-प्रवर्तक
हे ! विश्व-शान्ति के अग्रदूत, हे, नूतन विश्व-प्रदर्शक
षट्-शत करोड़ भयभीत हस्त
भौन्तिक प्रवाह मे पडे पस्त
तव अभय-पंथ लखते प्रशस्त
कर रहे तुम्हारा वन्दन, हे, लोक-वन्द्य ! तव वन्दन
तव कोटि-कोटि अभिनन्दन।

तुम अति उदार, उन्नत, विशाल, जाज्वल्यमान शुभदायक
युग के चिन्तन-मन्थन-दर्शन के तुम प्रकाण्ड विधायक
उद्भव तुम से लख अणु-प्रकीर्ण
हो रहा रुद्ध तिमिरावतीर्ण
झर रहे पत्र सब जीर्ण-शीर्ण
बन रहा इन्द्रवन मरुवन, हे लोक-दीप ! तव वन्दन
तव कोटि-कोटि अभिनन्दन।

भौतिक सुषुप्ति मे लीन लोक-नेत्रो के तुम उन्मेषक
अध्यात्म-प्रात के नवल सूर्य, अणुव्रत के तुम अन्वेषक
तुमने उच्चारा दिव्य मन्त्र
हर व्यक्ति धरा का है स्वतन्त्र
है मैत्रि-भाव सुशस्त्र-अस्त्र
है ताज्य आज रण-अर्चन, हे लोक-देव तव अर्चन
तव कोटि-कोटि अभिनन्दन।

तुलसी आया ले 'चरैवेति' का नव सन्देश

श्री कीर्तिनारायण मिश्र, एम० ए०

फैला जब चारो ओर तिमिर का अन्ध जाल
अन्याय-अनय-हिसा का नित दशन कराल,
शोषण-मर्दन की पीड़ा से जब त्रस्त देश
तुलसी आया ले 'चरैवेति' का नव सन्देश।

इसकी वाणी मे नवयुग का नूतन प्रकाश
सस्कृति-दर्शन का तेज अमित जीवन-विकास,
आदर्श-समुज्ज्वल शान्त-स्निग्ध-शुचि-सौम्य-रूप
गढता विकृतियों मे मानव-आकृति अनूप।

यह तुम्हे न कोई नयी बात कहने जाता
या तर्क-वितर्कों मे न तुम्हे यह उलझाता,
जो भूल चुके तुम मार्ग उसे फिर अपनाओ
सात्विक जीवन के तत्त्वो से परिचय पाओ।

सयमित बनालो आज कि अपने जीवन को
परिग्रह की ओर न ले जाओ अपने मन को,
सकल्प-वरण कर जीवन को पावन कर लो
अन्तर ज्योतित करने का व्रत धारण कर लो।

तुम भूल चुके उस तीर्थंकर का शुभ सन्देश
जिसकी किरणो से ज्योतित होता था स्वदेश,
यह आज उसी का गान सुनाने आया है
जागो-जागो यह तुम्हे जगाने आया है।

तुलसी का 'अणुव्रत' जागृति का अभिनव प्रतीक
अध्यात्मवाद का परिपोषक, सद्धर्म-लीक,
दिग्भ्रान्तों का वह करता है पथ-निर्देशन
सभ्यता-सस्कृति के तत्त्वों का अनुशीलन।

यह अनाचार की आज रहा दीवार तोड़
जागरण के लिए नीति-भीत्ति को रहा जोड़;
अज्ञान तिमिर को चीर, ज्ञान का भर प्रकाश
कर रहा आज वह मानव का अन्तर्विकास।

करता न कभी आमर्ष-कलह की एक बात
या धर्मभेद की इसके सम्मुख क्या बिसात ?
बस एक लक्ष्य इसका—'जीवन मगलमय हो
अन्याय-अनय औ' कल्मषका क्षण में लय हो।'

हो गये आज तुम हो अतिशय आचरण-भ्रष्ट
कर रहे आज तुम स्वय आत्म-बल को विनष्ट,
अपनी आँखे खोलो, यदि तुम कुछ सको देख
तो देखो अपने धर्मदूत की ज्योति-रेख।

व्रत करते है कुछ लोग स्वार्थ की सिद्धि-हेतु
व्रत करते है कुछ लोग, बनाने स्वर्ग-सेतु,
लेकिन यह 'अणुव्रत' कैसा जिसमे नही स्वार्थ
निष्काम कर्म यह है नैतिकता प्रचारार्थ।

भगवान् महावीर और बुद्ध की परम्परा में

मुनिश्री सुखलालजी

भगवान् महावीर और बुद्ध का नाम उन अत्यल्प व्यक्तियों में से है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को एक नई चेतना दी है। वैसे रत्नगर्भा वसुन्धरा पर न जाने कितने महावीर और बुद्ध उतरे होंगे, पर उनकी अपनी यह एक विशेषता रही है कि अपने पीछे वे एक पुष्ट-परम्परा-प्रवाह को छोड़ गये है। निश्चय ही परम्परा में अविरल चैतन्य नहीं रहता। कभी-कभी उसे मन्दता का प्रकोप भी सहना पडता है, पर सततवाहिता की यह एक सहज उपलब्धि है कि उसमें समय-समय पर कुछ ऐसे उन्मेष आते रहते है जो उसकी अतीत की मन्दता को भी कुछ हान से बचा देते है। यही कारण है कि ढाई हजार वर्षों के बाद भी हम महावीर और बुद्ध को भूल नही पाये है। श्रमण-संस्कृति के क्षितिज पर आज एक ऐसे तेज-पुज का उदय हो रहा है, जो भगवान महावीर और बुद्ध को एक बार पुन अभिव्यक्ति देने का प्रयास कर रहा है।

हमारा ससार प्रतिध्वनियों का एक स्रोत है। युग-युग में यहाँ सदा कोई-न-कोई महामहिम मानव प्रतिध्वनित होता ही रहता है। पर भारत की प्रतिध्वनि-पंक्ति में भगवान् महावीर और बुद्ध का विशेष प्रभाव रहा है। उन्होंने न जाने कितने महापुरुषों को पैदा कर अध्यात्म के अकुर को प्रकाशभिव्यक्त किया है। निश्चय ही भगवान् महावीर और बुद्ध भी अपने आपमे किसी ध्वनि की ही प्रतिध्वनि रहे होंगे। पर उनकी प्रतिध्वनि अपने आपमे इतनी दूरगामी थी कि वर्तमान में भी हम उसे आचार्यश्री तुलसी के रूप में सुन रहे है।

महावीर और बुद्ध आज हमारे बीच साहित्य के रूप में उपस्थित है। यद्यपि इतिहास की यह दुबलता है कि वह सब स्थितियों को अपने में प्रतिबिम्बित नही कर पाता। पर इसके बाद भी आज उनके विषय में जो कुछ अवशेष रह गया है, वह उनके महत्त्व को अच्छी प्रकार से व्यक्त कर देता है। कालक्रम में उन पर बहुत से आवरण भी चढाये गये हैं, इसलिए हमें उनका वास्तविक स्वरूप समझने में कठिनाई भी हो सकती है। पर भगवान् के महत्त्व को भक्त ही बढाता है, यह भी हमें भूल नही जाना चाहिए। इस प्रकार कुल मिला कर उनका स्वरूप जो हमारे सामने है, वह अत्यन्त आकर्षक है।

अपने समय में महावीर और बुद्ध को कितना महत्त्व मिला था, यह एक विवादास्पद विषय है। उस समय भी एक साथ छ तीर्थंकरो का अस्तित्व जैन और बौद्ध दोनो साहित्य स्वीकार करते हैं। पर परिस्थिति के आघात-प्रत्याघातो से बच कर हम तक केवल वे दो ही पहुँच पाये है। यह तथ्य पूर्ण अनावृत है, अत उनके साहित्य को पढ कर आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर दृष्टिपात किया जाये तो बहुत-सी घटनाए उनमे एक अलभ्य-साम्य रेखा हमारे सामने खींच देती हैं। अत कुछ घटनाओ को मै यहाँ अंकित करना चाहता हूँ, जिनको मैंने अपनी आँखो से देखा है। क्योंकि विचारो का हिम ही पिघल कर घटनाओ के सलिल-प्रवाह के रूप मे हमारे सामने बहता है। निश्चय ही आचार्यश्री तुलसी के सामने वे ही आदर्श है जो श्रमण संस्कृति के उद्भावको के सामने रहे थे। अत विचार-साम्य तो उनमे होगा ही, पर आचार्यश्री ने उन पर अपने अपनत्व की जो मुद्रा लगाई है, वह निश्चय ही उनके अपने व्यक्तिगत व्यवहार की देन है।

महावीर और बुद्ध के जीवन को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हम किसी ऐसी मूर्त्ति के सामने बैठे हैं जो चारों ओर से श्रद्धामय है। सचमुच श्रद्धा जीवन का एक विशेष गुण है। कुछ लोग उसे अन्धी कह कर उससे परहेज कर सकते

है, पर व्यवहार मे उससे किसी भी प्रकार से बचा जा सकता है, ऐसा नही लगता। बल्कि प्रत्येक सरस व्यक्तित्व मे श्रद्धा का अपूर्व स्थान रहेगा ही। श्रद्धेय स्वय श्रद्धाशील बन कर ही अपने पद तक पहुँच पाता है। जिसने श्रद्धा का अनुगमन नही किया, वह कभी श्रद्धेय नही बन सकता। भगवान् महावीर और बुद्ध भी श्रद्धा के आदान-प्रदान मे पूर्ण प्रवीण थे। यही कारण है कि हम उन्हे सदा श्रद्धालुओ से घिरा पाते हैं। उनके चारो ओर लिपटा श्रद्धा-सिचय कभी-कभी इतना अपारदर्शी हो जाता है कि वे स्वय भी उसमे छिप जाते है। पर श्रद्धा मे इतनी अकल्प्य शक्ति होती है कि कभी-कभी तर्क उसका साथ ही नही दे पाता।

महापुरुष का पुण्य प्रसाद

मुझे कलकत्ते की वह घटना याद है। उस दिन आचार्यश्री कलकत्ता के विवेकानन्द रोड पर आस्थित चोपडो के मकान मे ठहरे हुए थे। लोगो का आवागमन भरपूर था। उसी के बीच एक बगाली दम्पति ने आचार्यश्री के कक्ष मे प्रवेश किया। बगाल की भक्ति-भावना तो भारत विश्रुत है ही, अत आते ही उस युगल ने प्रणिपात किया और एक ओर हट कर खडा हो गया। आचार्यश्री ने अपनी दृष्टि उनकी ओर उठाई तो पति कहने लगा—गुरुदेव! सच-मुच आप हमारे लिए भगवान् है। आचार्यश्री के लिए यह शब्द प्रयोग नया नही था, अत उनकी प्रशस्ति सुन शान्त हो गए। पर पति ने फिर दोहराया—गुरुदेव! आप सचमुच हमारे लिए भगवान् ही है। उसकी मुख-मुद्रा मे इतनी स्वाभाविकता थी कि इस बार आचार्यश्री के चेहरे पर एक प्रश्न चिह्न उभर आया।

पति अपनी पत्नी की ओर सकेत कर कहने लगा—यह मेरी पत्नी है। कई वर्षों से क्षय-ग्रस्त थी। अनेक उप-चार करवाने पर भी कोई लाभ नही हुआ। आखिर बढते-बढते यह अन्तिम किनारे पर आ गई और हम लोगो ने सोच लिया, बस अब यह ठीक होने की नही है, अत दवा बन्द कर दी और शान्तिपूर्वक आयु शेष की प्रतीक्षा करने लगे। पर इसी बीच एक दिन मैंने 'अणुव्रत-पण्डाल' मे आपका प्रवचन सुना। तो मुझे उसमे कुछ दिव्य-ध्वनि-सी अनुभव हुई। मै आपकी मुखाकृति से अपरिचित होकर ही तो पण्डाल मे आया था और जब आपकी वीणा-वाणी के स्वरालापो को सुना तो मन मे आया—जरूर यह कोई दिव्य पुरुष है।

उस दिन मै फिर आपके दर्शन की भावना लेकर अपने घर लौट गया। पर दूसरी बार जब मै प्रवचन-पण्डाल से लौटा तो खाली हाथ नही लौटा। उस दिन मेरे साथ आपकी चरण-धूलि भी थी। घर आकर मैंने उसे स्वच्छ बर्तन मे रख दिया और पत्नी मे नियमित रूप से थोडी-थोडी करके इस पुण्य-प्रसाद को खाते रहने का आदेश दे दिया। मैने इसे यह भी बता दिया कि यह एक महापुरुष की चरण-रेणु है। पत्नी ने श्रद्धा से इस क्रम को निभाया और इसी का यह परि-णाम है कि आज यह बिल्कुल स्वस्थ होकर आपके सामने खड़ी है।

सुनने वालो को थोडा विस्मय हुआ, पर श्रद्धा मे अपरिमित शक्ति होती है, यह जान कर मैने मन-ही-मन आचार्य चरणो मे सिर झुका दिया। मैं नही जानता स्वास्थ्य-विज्ञान इस प्रसग को कैसे सुलझायेगा? पर इतना निश्चित है कि श्रद्धा से बड़े-बडे अकल्प्य कार्य सुगम हो जाते है। आचार्यश्री ने वैसा स्थान पाया है, यह न केवल यही घटना बता रही है, अपितु इस प्रकार की अनेको घटनाए लिखी जा सकती है। हो सकता है, यह सब स्वाभाविक ही होता हो, पर यदि कोई व्यक्ति इतनी श्रद्धा अर्जित कर सकता है, उसे महापुरुष कहने मे शब्दो का दुरुपयोग नही है, ऐसा मेरा विश्वास है।

समान श्रद्धेय

कुछ लोगो का विश्वास है कि श्रद्धा अज्ञान की सहचारिणी है, पर आचार्यश्री ने अपने व्यक्तित्व-बल से जहाँ साधारण जन की श्रद्धा का अर्जन किया है, वहाँ देश-विदेश के शिक्षित मानस को भी अपनी ओर खीचा है। यह सच है कि ज्ञान-विज्ञान में आज बहुत तेजी से प्रगति हो रही है और इस युग मे किसी को पुरानी बाते नही सुहाती है, पर रुचि और अरुचि के प्रश्न को मेरे विचार से नये और पुराने के साथ नही जोड़ना चाहिए, क्योकि ज्यो-ज्यो नई बाते पुरानी होती जा रही है, त्यो-त्यो पुरानी बाते भी नवीनता धारण करती जा रही है। उसमें आवश्यकता केवल उचित माध्यम की है।

यदि उसे सम्प्रसारित करने वाला व्यक्तित्व प्रबुद्ध होगा तो पुरानी बाते भी नवता का आकार ग्रहण करने लगेगी। यही कारण है, आचार्यश्री के व्यक्तित्व ने बीसवी सदी के इस विज्ञान बहुल युग मे भी पदयात्रा के महत्त्व को ध्वनित किया है। सयम और साधना के प्रति युग मे एक अनुराग भावना सप्रसारित हुई है। भगवान महावीर और बुद्ध को जिस प्रकार झोपडी से लेकर राजप्रसादो की श्रद्धा समान रूप से मिलती थी, उसी प्रकार आचार्यश्री ने भी झोपडियो मे लेकर राज-प्रसादो तक का समान सम्मान पाया है। राष्ट्रपति भवन मे भी उन्हे जिस प्रकार एक सत के रूप मे देखा गया था, उसी प्रकार गरीबो की झोपडी मे भी उन्हे एक सत के समान ही समझा गया। राष्ट्रपति ने उनमे राष्ट्र के सुधार के लिए अणुव्रत-आन्दोलन की आवश्यकता बताई तो उस हरिजन-दम्पति की घटना भी उनके महत्त्व पर कम प्रकाश नही डाल रही है।

आचार्यश्री जयपुर से आगे श्री माधोपुर की ओर जा रहे थे। बीच के एक गाव मे विश्राम के लिए ठहरे तो उनके चारो ओर लोग एकत्रित हो गए। आचार्यश्री ने उन्हे व्यसन-मुक्ति का उपदेश दिया और आगे चल पडे। बीच मार्ग मे एक हरिजन महिला आई और बोली—बाबाजी! क्या आप मेरे घर मे भी आ सकते है? आचार्यश्री ने तत्क्षण अपने चरण उसके घर की ओर बढा दिए। महिला के हर्ष का पारावार नही रहा। अपने घर मे आचार्यश्री को पाकर कहने लगी—बाबाजी! यह मेरा पति तमाखू बहुत खाता है। मैने इसे बहुत समझाया, पर यह मेरी बात मानता ही नही है। मैं इससे कहती हूँ—तू कोई कमाई न कर सके तो मत कर, घर का कार्य मै चला लूँगी, पर कम-से-कम व्यसनो मे तो पैसो को बर्बाद मत कर। अब आपने आज हमारे आगण को पवित्र कर दिया है तो इसकी तमाखू भी छुडवा दीजिये।

आचार्यश्री ने अपनी बडी आँखे उस हरिजन पर गडाई और बोले—तू तमाखू नही छोड सकता?

एक क्षण के लिए उसके हृदय मे द्वन्द्व हुआ और फिर वह बोला—अच्छा बाबा! आज से नही खाऊँगा, प्रतिज्ञा करवा दीजिये। आचार्यश्री यह भिक्षा पाकर प्रसन्न मुख वापस लौट आये, मानो कहना चाहते हो, मेरा परिश्रम व्यर्थ नही गया है।

पुष्करजी जा रहा हूँ!

आचार्यश्री जब ग्रामीणो से बात करते है तो ऐसा लगता है जैसे उनमे उनका गाढ परिचय रहा है। एक बार लाडनू मे मध्याह्न के समय आचार्यश्री भाई-बहिनो के बीच बैठे थे कि दो किसान भाई जल्दी से आये और वदना कर जाने लगे। आचार्यश्री ने उन्हे पूछा—कौन हो? कहाँ से आये हो भाई? जाने की इतनी क्या जल्दी है? उनमे से एक ने कहा—महाराज हम किसान है। यह आज इसी गाडी से पुष्करजी जा रहा है, अत जल्दी है।

आचार्यश्री—अच्छा! पुष्करजी जा रहे हो? क्यो जाते हो वहाँ?

किसान—वहाँ स्नान करेगे। भगवान् के दर्शन करेगे, साधुओ के भी दर्शन होगे।

आचार्यश्री—स्नान करने से क्या होगा?

किसान—सब पाप धुल जायेगे।

आचार्यश्री—तब तो वहाँ तालाब मे रहने वाली मछलियो के पाप सबसे पहले धुलेगे?

बात कुछ चमकाने वाली थी। किसान बोला—वहाँ हमारे साधुओ के दर्शन होगे।

आचार्यश्री—तो क्या साधुओ मे भी हमारे और तुम्हारे दो होते है? साधु तो सभी के होते है, बशर्ते कि वे वास्तव मे ही साधु हो और समझो कि सच्चे साधु वे ही होते है जो अपने पास पैसा नही रखते। अच्छा तो तुम वहाँ साधुओ को कुछ भेंट चढाओगे?

किसान—जरूर (आवाज मे दृढता थी)।

आचार्यश्री—तो तुम साधु के पास आये हो, क्या कोई भेंट लाये हो?

अपनी जेब टटोल कर उसने एक रुपया निकाला और आचार्यश्री को देने लगा। आचार्यश्री ने उसे हाथ मे लिया और कहने लगे—अरे! एक रुपये से क्या होगा?

किसान—बस, महाराज ! हम तो एक रुपया ही चढाते है और आपके पास तो अनेक भक्त लोग आते है, एक-एक रुपया देगे तो भी बहुत हो जायेगे।

आचार्यश्री—पर बताओ रुपये का हम करे क्या ?

किसान—किसी धर्मार्थ काम मे लगा देना।

आचार्यश्री—पर धर्म के लिए पैसे की जरूरत नही होती। वह तो आत्मा से ही होता है। तब फिर साधुओ के पास पैसा किस काम का ? हम तो पैसा नही लेते। यह लो तुम्हारा रुपया।

किसान को बडा आश्चर्य हुआ। कहने लगा—महाराज ! हमने तो आज तक ऐसा साधु नही देखा जो पैसा नही लेता हो। वह कुछ दुविधा मे पड गया। सोचने लगा पुष्करजी मे नहाने मे पाप नही उतरते और उन सतो के दर्शन करने से कोई कल्याण नही हो सकता जो पैसा रखते है, तब फिर पुष्करजी जाऊँ या नही जाऊँ ?

आचार्यश्री—भाई ! वह तुम तुम्हारी जानो। हमने तुम्हे रास्ता बता दिया है। करने मे तुम स्वतन्त्र हो।

किसान कुछ विचार कर बोला—अच्छा महाराज ! अब पुष्कर जी नही जाऊँगा। आपके पास ही आऊँगा।

आचार्यश्री—पर यहाँ आने मात्र से कल्याण नही होने वाला है, कुछ नियम करोगे तो कल्याण होगा।

किसान—क्या नियम महाराज !

आचार्यश्री ने उसे प्रवेशक अणुव्रती के नियम बताये और वह उसी समय सोच-समझ कर अणुव्रती बन गया।

भगवान् महावीर और बुद्ध के हाथ मे कोई राज्य सत्ता नही थी, पर उन्होने देश के मानस को बदलने के लिए जो प्रयास किया है, वह सम्भवत: कोई भी राज्य-सत्ता नही कर सकती। आचार्यश्री ने भी यही कार्य करने का प्रयास किया है।

सत्ता और उपदेश

एक बार आचार्यश्री महाराष्ट्र मे विहार कर रहे थे। बीच मे एक गॉव मे सडक पर ही अनेक लोग इकट्ठे हो गये। कहने लगे—आचार्य जी ! हमे भी कुछ उपदेश देते जाय। अपनी शिष्य मडली के साथ आचार्यश्री वही वृक्ष की छाया मे बैठ गये और पूछने लगे—क्यो भाई ! शराब पीते हो ? ग्रामीण एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

आचार्यश्री—तुम्हारे यहाँ तो शराबबन्दी का कानून है न ?

ग्रामीण—हाँ महाराज ! है तो सही।

आचार्यश्री—तब फिर तुम शराब तो कैसे पीते होगे ? कोई नही बोला। चारो ओर मौन था। फिर आचार्यश्री कहने लगे—देखो भाई ! हम सरकार के आदमी नही है, हम तो साधु है। तुम हमसे डरो मत। सच्ची-सच्ची बात बता दो। धीरे-धीरे लोग खुलने शुरू हुए और कहने लगे—महाराज ! कानून है तो बाहर है। घर मे तो नही है न ? अत लुक-छिप कर पीने से कौन गवाह करने वाला है।

आचार्यश्री—पर सरकार के आदमी तो देख-रेख करने आते होगे ?

ग्रामीण—देख-रेख कौन करता है महाराज ! वे तो उल्टे हमारे घर पीकर जाते है।

आचार्यश्री ने हम साधुओ से कहा—यह है कानून की विडम्बना। पर उपस्थित समुदाय की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—देखो भाई ! शराब पीना अच्छा नही है। इससे मनुष्य पागल बन जाता है।

ग्रामीण—बात तो ठीक है महाराज ! पर हमारे से तो यह छूटती नही है।

आचार्यश्री—देखो तुम मनुष्य हो। मनुष्य शराब के वश हो जाये, यह अच्छा नही, छोड़ दो इसे।

ग्रामीण—पर महाराज ! यह हमे बहुत प्यारी हो गई है।

आचार्यश्री—अच्छा तो तुम ऐसा करो, एकदम नही छोड सकते तो कुछ दिनो के लिए तो छोड दो। उपस्थित जनसमुदाय मे से अनेक लोगो ने यथाशक्य मद्य पीने का त्याग कर दिया। कुछ ने अपनी मर्यादा कर ली कुछ व्यक्तियो ने बिल्कुल भी त्याग नही किया। एक नौजवान भाई पास मे खडा था। आचार्यश्री ने उसका नाम पूछा, तो वह भाग

खड़ा हुआ। लोग उसे समझा-बुझा कर वापस लाये। आचार्यश्री ने उससे पूछा—क्यों भाई! तुम भाग क्यों गये? कहने लगा मैं नही छोड़ सकता। आप सरकार मे कही रिपोर्ट कर दे तो?

आचार्यश्री—हम किसी की रिपोर्ट नही करते। हम साधु है। हम तो उपदेश के द्वारा ही समझाते है। तुम सोचो, यह अच्छी नही है। बहुत समझाने-बुझाने के बाद उसने महीने मे केवल चार दिन शराब पीने का त्याग किया। यह है कानून और हृदय-परिवर्तन का एक चित्र।

हमने आपको नहीं पहिचाना

पहले परिचय मे आचार्यश्री को समझना जरा कठिन होता है। क्योंकि आज साधु-वेष मे जो अन्याय पल रहे है, उन्हे देखते यह सम्भव भी नही है। पर ज्यो ही उन्होने आचार्यश्री का परिचय पाया, उन्हे अपने-आप पर पश्चात्ताप हुआ है।

आचार्यश्री जब सौराष्ट्र के समीप से गुजर रहे थे, रास्ते मे एक गाँव आया। हमारा वहाँ जाने का पहला ही अवसर था। एक साथ इतने बड़े सघ को देख कर वहाँ के लोग दहल गये और हमारे विषय मे तरह-तरह की बात करने लगे। कई लोग कहते—ये काग्रेसी है, अत वोटो के लिए आये है। कई लोग कहते—ये साधु का वेष बनाये डाकू है। कई लोग कहते—ये अपने धर्म का प्रचार करने आये है। इस प्रकार अनेक प्रकार की आशकाओ के कारण लोगो ने हमे वहाँ रहने का स्थान भी बड़ी मुश्किल से दिया। एक टूटा-फूटा मन्दिर था। उसी मे हम सब जाकर ठहर गये। अनेक प्रकार के कुतूहल लेकर कुछ लोग आये तो आचार्यश्री ने प्रवचन करना शुरू कर दिया। लोग बैठ गये और प्रवचन सुनने लगे। प्रवचन सुन कर उन लोगो के सारे सशय उच्छिन्न हो गये। फिर हम भिक्षा के लिए गये। हमारी भिक्षा विधि को देख कर तो वे और भी प्रभावित हुए। दोपहर को अनेक लोग मिल कर आये। बातचीत की, प्रवचन सुना तो उनकी आँखे खुल गई। आचार्यश्री वहाँ से विहार कर शाम को जाने वाले थे, अत उनमे से एक बूढा आदमी आगे आया और कहने लगा—'बापू! आज-आज तो आपको यहाँ रुकना पड़ेगा। आँखो मे आसू भरकर वह बोला—मै आपको सच बताऊ, हमने आपको पहचाना नही। हमने समझा ये कोई डाकू है। इसलिए न तो हम आपकी भक्ति कर पाये और न आपसे कुछ लाभ ही उठा सके। आप तो महान् है, हमे क्षमा करे और आज रात-रात यहाँ जरूर ठहरे। पर आचार्यश्री को आगे जाने की जल्दी थी, अत ठहर नही सके और चल पड़े। लोगो ने आँसू भरे चेहरे मे आचार्यश्री को बिदाई दी।

महापुरुषो का क्षणमात्र जीवन मे अकल्प्य परिवर्तन कर देता है, उसी का एक चित्र है। ढलते दिन ढलती अवस्था का एक जर्जर देह हरिजन आचार्यश्री के पास आया और कहने लगा—महाराज! आपके दर्शन करने आया हू। पिछली बार जब आप यहाँ आये थे तो मैंने आपसे तमाखू नही पीने का व्रत लिया था। याद है न आपको? आचार्यश्री के उस समय मौन था, अत. बोले नही। कुछ सकेत ही किये, वृद्ध ने अपना कहना जारी रखा। क्यो याद नही महाराज आपके सामने ही तो मैने अपनी चिलम तोडी थी। अब तक पूरा पालन करता हू उस नियम का। आचार्यश्री को भी घटना याद हो आई। अपनी गर्दन हिलाकर उन्होंने उसकी स्वीकृति दी और इशारे से बताया—अभी मेरे मौन है। वृद्ध ने फिर कहना प्रारम्भ किया—महाराज! वह नियम तो मैने पूरा निभाया है, पर मेरी एक बुरी आदत और है। मै अफीम खाता हूँ। बिना उसके रहा नही जाता। पर सोचता हूँ, आज आपके पास आया हूँ तो उसे भी छोड़ता जाऊँ। मैं खुद तो छोड नही सकता, पर आपके पास त्याग करने पर किसी प्रकार मै उसे निभा ही लूँगा। अत आज मुझे अफीम-सेवन करने का त्याग दिलवा दीजिए और सचमुच उसने अफीम-सेवन का त्याग कर दिया।

आत्म-विश्वास का जीता-जागता चित्रण

एक छोटा-सा गाँव। पाठशाला का मकान। सायकालीन प्रार्थना से थोडे समय पहले का समय। एक प्रौढ किसान आचार्यश्री के सामने कर-बद्ध खडा है। आचार्यश्रीने पूछा—कहाँ से आये हो भाई! कहने लगा—यही थोडी दूर पर एक गाँव है, वहाँ से आया हूँ।

आचार्यश्री—इतनी देर से कैसे आये ?

किसान—दिन में मेरा लडका तथा स्त्री आ गये थे। उन्होंने कहा—तुम भी जा आओ। सो खेत में सीधा ही आपके दर्शन करने आया हूँ महाराज !

आचार्यश्री—पर केवल दर्शन करने से क्या होगा ? क्या तमाखू पीते हो ?

किसान—पीता हूँ महाराज ! बचपन से ही पीता हूँ ।

आचार्यश्री—हाथ दिखाओ तो तुम्हारे ? देखो इनमें तमाखू के दाग बैठ गये। धोने से भी नही उतरते, तो क्या पेट में ऐसे दाग नही बैठेंगे ? और सच तो यह है कि तमाखू से जीवन में भी दाग बैठ जाता है। यह अच्छी नही है भाई !

किसान—तो क्या छोड दूँ इसे ?

आचार्यश्री—हाँ, जरूर छोड दो।

किसान—तो लो आज से ही तमाखू पीने का त्याग है।

आचार्यश्री—पर निभाना पडेगा इसे ? केवल त्याग करने से ही कुछ नही हो जाता।

किसान—इसमें क्या शक है। प्राण चले जाये, पर प्रण नही जायेगा।

मानव के आत्म-विश्वास का यह एक जीता-जागता चित्रण है।

इतना सब कुछ होते हुए भी आचार्यश्री अपने-आपको एक अकिंचन भिक्षु मानते है। उस समय जेठ का महीना था। जोधपुर से लाडनू की ओर विहार हो चुका था। आँधियाँ चलने लगी थी, अत आचार्यश्री का सारा शरीर अलाइयो से भर गया था। बार-बार खुजली आती थी। एक साधु 'हैजलीन' लाये और निवेदन किया इसे लगाने से आपको आराम रहेगा। आचार्यश्री ने कहा—भाई ! यह तो अमीर लोगो की दवा है। हम तो अकिंचन फकीर हैं, हमारे ऐसी दवाइयाँ काम नही आ सकती ? हमारी दवाई तो जब वर्षा आयेगी और ठण्डी-ठण्डी हवा चलेगी तो अपने-आप हो जायेगी।

आचार्यश्री ने जहाँ लाखो लोगो की श्रद्धा पाई है, वहाँ अनेक लोगो के विरोध को भी उन्हे सहन करना पडा है। पर उन्होंने इसे इस प्रकार हँस कर टाल दिया जैसे मानो भगवान् महावीर और बुद्ध की आत्मा ही उनमे बोल रही हो।

यह जोधपुर की घटना है। दीक्षा प्रसग को लेकर विरोध बातूल प्रबल वेग से बह रहा था। कुछ लोगो ने विरोध मे कोई कमी नही रखी थी। अत उन्होंने एक दिन उस सडक को, जिससे होकर आचार्यश्री जगल जाते थे, पोस्टरो से पाट दिया। थोडे-थोडे फासलो पर पोस्टर चिपके हुए थे। उस विरोध-बेला मे भी आचार्यश्री के अधरो से स्मित फूट रहा था। बोले—इन लोगो ने कितने पोस्टर चिपकाए है, पर एक कमी इन्होंने रख दी। यदि पोस्टर नजदीक-नजदीक लगाये होते तो हमारे पैर तारकोल से गन्दे होने से बच जाते। सचमुच ऐसी बात कोई महापुरुष ही कह सकता है।
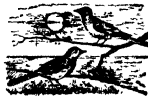
जैसा मैंने देखा

श्री कैलाशप्रकाश, एम० एस-सी०
स्वायत्त शासनमंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार

युग आये और चले गये। अनेकों उनके काल-प्रवाह में बह गये। उनका अस्तित्व के रूप में नाम-निशान तक नहीं रहा। अस्तित्व उसी का रहता है जो कुछ कर-गुजरता है। व्यक्ति की महानता इसी में है कि वह युग के अनुस्रोत में नहीं बहे, बल्कि मानव-कल्याणकारक कार्य-कलापों से युग के प्रवाह को अपनी ओर मोड़ ले। इस रत्नगर्भा वसुन्धरा ने समय-समय पर ऐसे नररत्न पैदा किये हैं जो कि युग के अनुस्रोत में नहीं बहे, बल्कि स्व-साधना के साथ-साथ उन्होंने मानव मात्र का कल्याण किया। स्वनामधन्य आचार्यश्री तुलसी भी उसी गगन के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं जो कि अपनी साधना में निरत रहते हुए भी आज के युग में परिव्याप्त अवाञ्छनीय तत्त्वों का निवारण करने के हेतु मानव-समाज में नैतिकता का उद्घोषण कर रहे हैं।

वर्षों के प्रयास के बाद हमें विदेशी दासता से मुक्ति मिली। अपनी सरकार बनी, जनता के प्रतिनिधि शासक बने। यद्यपि हम राजनैतिक दृष्टि से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं, लेकिन अनैतिकता की दासता से मानव-समाज आज भी जकड़ा है, अतएव सही स्वतन्त्रता का आनन्द हम तब तक अनुभव नहीं कर सकते, जब तक जन-मानस में अनैतिकता की जगह नैतिकता घर न कर ले, पारस्परिक द्वेष-भावना मिटाकर उसका स्थान मैत्री न ले ले। वास्तव में, हमारे राष्ट्र की नींव तभी मजबूत हो सकती है, जबकि वह नैतिकता पर आधारित हो, वरना वह धूल के टीले की तरह हवा के झोंके मात्र से हिल जायेगी। फिर भी हमारे बीच एक आशा की किरण है। जनवन्द्य आचार्यश्री तुलसी इस दिशा में अभिनव प्रयास कर रहे हैं और जन-जन में आध्यात्मिकता का पाञ्चजन्य फूंक रहे हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन एक प्रकाश-स्तम्भ है जो मानव के लिए एक दिशा-दर्शन है तथा उसके लिए क्या हेय, ज्ञेय या उपादेय है, यह मार्ग बताता है।

वैसे तो 'अणुव्रत' कोई नवीन वस्तु नहीं। युगों से उनकी चर्चा धर्मशास्त्रों में आती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को अनेकों नामों से अभिहित किया गया है, जिनका उद्देश्य लगभग एक-सा है, परन्तु जहाँ तक अणुव्रत-आन्दोलन का सम्बन्ध है, उनमें एक नवीनता है। इसके नियमोपनियम बनाते समय आचार्यश्री ने निस्सन्देह बहुत ही दूरदर्शिता से काम लिया है। जहाँ तक मैं समझा हूँ, उन्होंने प्रमुख रूप से यही प्रयास किया है कि मानव-समाज में बहुलता से बुराइयाँ व्याप्त है, पहले उन्हीं पर प्रहार किया जाये। वे यह भी जानते हैं कि आज का मानव आधिभौतिकता की चकाचौंध में चुँधिया गया है, आधारभूत नैतिक मान्यताओं के प्रति उसकी श्रद्धा कम होती जा रही है, शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जा रहा है, अतएव इस आन्दोलन के रूप में आपने मानव-समाज को एक व्यावहारिक संहिता दी है, जिस पर आचरण कर कम-से-कम वह दूसरों के अधिकारों को न हड़पे, अनैतिकता से दूर रहकर, चरित्रवान् बनने की ओर अग्रसर हो।

मेरा आन्दोलन से कुछ सम्बन्ध रहा है। इसके साहित्य को पढ़ा, उस पर मनन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वास्तव में यह एक आन्दोलन है, जिससे मानव-कल्याण सम्भव है। इस आन्दोलन की विशेषता यह पाई कि इसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी या इसके प्रचारक उनके अन्तेवासी जितना स्वयं करते हैं, उससे कहीं कम करने का उपदेश देते हैं। वास्तव में प्रभाव भी ऐसे ही पुरुषों का पड़ता है, जो स्वयं साधना-रत हैं और जिनका जीवन त्याग व तपस्या से मँजा है, जिनके जीवन में सात्त्विकता है। आचार्यश्री में संयम का तेज है, उनकी वाणी में ओज है, मुख-मण्डल

पर अद्भुत आध्यात्मिक आकर्षण है। ऐसे सत्पुरुष जब इस प्रकार के आन्दोलनों का सचालन करते हैं तो उसकी सफलता मे तनिक भी संशय नही रह जाता।

आचार्यश्री तुलसी ने इस आन्दोलन का प्रवर्तन कर मानव-समाज का हित किया है। वे सबके वन्दनीय है, पूजनीय हैं, आदरणीय हैं। उनके आचार्य-काल के इस धवल समारोह के पुण्य अवसर पर मैं भी इन शब्दो के साथ अपनी भाव-भरी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ तथा यह कामना करता हूँ कि वे युगो-युगों तक इसी प्रकार मानव-जाति का कल्याण और आध्यात्मिकता का प्रसार करते रहें!

• • •

शत-शत अभिवन्दन

मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल'

आर्य! तुम्हारे चरणों मे शत-शत अभिवन्दन
दीर्घ दृष्टि तुम, इसीलिए यह जगत तुम्हारे
पद विन्यासो का करता आया अभिनन्दन
मानव उच्च रहा है सदा तुम्हारी मति मे
और उसी पर टिका अटल विश्वास तुम्हारा
कब माना उसको नृशम, विषयान्ध, विगर्हित
क्योकि हृदय का स्वच्छ सदा आकाश तुम्हारा
बाहर सतत वही लोचन पथ मे आता है
जो होता है निहित निगोपित अंतरग मे
जैसा सलिल पयोनिधि मे रहता बहता है
वैसा ही उभरा करता चंचल तरग मे
तुम मानवता के उन्नायक बने प्रतिक्षण
काट-काट कर युग के सब जडता मय बन्धन
आर्य! तुम्हारे चरणो मे शत-शत अभिवन्दन।

प्राण तुम्हारे सदा सत्य के लिए निछावर
प्राप्य सत्य से बढ़ कर कोई है न तुम्हारा
राग, रोष के सारे तिमिर तिरोहित होते
सत्य अचल है विमल विभास्वर वह उजियारा
जहाँ असत्य का पोषण होता, दुख ही दुख है
इसीलिए बस सत्य-साधना तुम बतलाते
आत्मोदय की उस प्रशस्त पद्धति का गौरव
अपने मुख से गाते गाते नही अघाते
ताप शमन का कार्य सहा करते रहते हो
मिटा रहे हो प्रतिपल वितथ जनित आक्रन्दन
आर्य! तुम्हारे चरणों मे शत-शत अभिवन्दन।

अणुव्रत, आचार्यश्री तुलसी और विश्व-शांति

श्री अनन्त मिश्र
सम्पादक—सन्मार्ग, कलकत्ता

नागासाकी के खण्डहरों से प्रश्न

विश्व के क्षितिज पर इस समय युद्ध और विनाश के बादल मँडरा रहे है। अन्तरिक्ष-यान और आणविक विस्फोटो की गडगडाहट से सम्पूर्ण ससार हिल उठा है। हिसा, द्वेष और घृणा की भट्टी सर्वत्र सुलग रही है। समार के विचारशील और शान्तिप्रिय व्यक्ति आणविक युद्धो की कल्पना मात्र से आतंकित हैं। ब्रिटेन के विख्यात दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल आणविक परीक्षण-विस्फोटो पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ८६ वर्ष की आयु मे सत्याग्रह कर रहे है। प्रशान्त महासागर, सहारा का रेगिस्तान, साइबेरिया का मैदान और अमेरिका का दक्षिणी तट भयकर अणुबमो के विस्फोट से अभिगुंजित हो रहे है। सोवियत रूस ने ५० मे १०० मेगाटन के अणुबमो के विस्फोट की घोषणा की है तो अमेरिका ५०० मेगाटन के बमो के विस्फोट के लिए प्रस्तुत है। सोवियत रूस और अमेरिका द्वारा निर्मित यान सैकडो मील ऊँचे अन्तरिक्ष के पर्दे को फाडते हुए चन्द्रलोक तक पहुँचने की तैयारी कर रहे है। छोटे-छोटे देशो की स्वतन्त्रता बडे राष्ट्रो की कृपा पर आश्रित है। ऐसे सकट के समय स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि ससार मे वह कौन-सी ऐसी शक्ति है जो अणुबमो के प्रहार से विश्व को बचा सकती है। जिन लोगो ने द्वितीय युद्ध के उत्तरार्द्ध मे जापान, नागासाकी और हिरोशिमा जैसे शहरो पर अणुबमो का प्रहार होते देखा है, वे उन नगरो के खण्डहरो से यह पूछ सकते है कि मनुष्य कितना क्रूर और पैशाचिक होता है।

निस्सन्देह मानव की क्रूरता और पैशाचिकता के शमन की क्षमता एकमात्र अहिसा मे है। सत्य और अहिसा मे जो शक्ति निहित है, वह अणु और उद्जन बमो मे कहाँ! भारतवर्ष के लोग सत्य और अहिसा की अमोघ शक्ति से परिचित है, क्योकि इसी देश मे तथागत बुद्ध और श्रमण महावीर जैसे अहिसा-व्रती हुए है। बुद्ध और महावीर ने जिस सत्य व अहिसा का उपदेश दिया, उसी का प्रचार महात्मा गाधी ने किया। ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए गाधीजी ने अहिसा का ही प्रयोग किया था। सत्य और अहिसा के सहारे गाधीजी ने सदियो से परतन्त्र देश को राजनैतिक स्वतन्त्रता और चेतना का पथ प्रदर्शित किया। अत भारतवर्ष के लोग अहिसा की अमोघ शक्ति से परिचित है। सत्य, अहिसा, दया और मैत्री के सहारे जो लडाई जीती जा सकती है, वह अणुबमो के सहारे नही जीती जा सकती।

वर्तमान युग मे सत्य, अहिंसा, दया और मैत्री के सन्देश को यदि किसी ने अधिक समझने का यत्न किया है तो निःसकोच अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। अणुबम के मुकाबले आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत अधिक शक्तिशाली माना जा सकता है। अणुव्रत से केवल बडी-बडी लडाइयाँ ही नही जीती जा सकती, बल्कि हृदय की दुर्भावनाओं पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

युद्ध के कारण का उन्मूलक

जैन-सम्प्रदाय के आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक अभ्युत्थान के लिए किया गया बहुत बडा अभियान है। मनुष्य के चरित्र के विकास के लिए इस आन्दोलन का बहुत बड़ा महत्त्व है। चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, हिंसा,

द्वेष, घृणा और अनैतिकता के विरुद्ध आचार्यश्री तुलसी ने जो आन्दोलन प्रारम्भ किया है, वह अब सम्पूर्ण देश मे व्याप्त है। अणुव्रत का अभिप्राय है उन छोटे-छोटे व्रतो का धारण करना, जिनमे मनुष्य का चरित्र उन्नत होता है। सरकारी कर्मचारी, किसान, व्यापारी, उद्योगपति, अपराधी और अनीति के पोषक लोगो ने भी अणुव्रत को धारण कर अपने जीवन को स्वच्छ बनाने का यत्न किया है। कठोर कारादण्ड भोगने के बाद भी जिन अपराधियों के चरित्र में सुधार नही हुआ, वे अणुव्रती बनने के बाद सच्चरित्र और नीतिवान् हुए। इस प्रकार अणुव्रत मानव-हृदय की उन बुराइयो का उन्मूलन करता है जो युद्ध का कारण बनती है। आचार्यश्री तुलसी का मैत्री-दिवस शान्ति और सद्भावना का सन्देश देता है।

अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति आइजन होवर और सोवियत प्रधानमंत्री श्री निकिता ख्रुश्चेव के मिलन के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी ने शान्ति और मैत्री का जो सन्देश दिया था, उसे विस्मृत नही किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष को रोकने की दिशा में अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को उल्लेखनीय सफलता मिली है। उन्होने विभिन्न धर्मों और विश्वासों के मध्य समन्वय स्थापित कराने का प्रयास किया है। यही आचार्यश्री तुलसी के अणुव्रत-आन्दोलन की सबसे बडी विशेषता है।

विश्व-शान्ति के प्रसार में उल्लेखनीय योग-दान

अन्तर्राष्ट्रीय विचारको के मत में आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से विश्व-शान्ति और सद्भावना के प्रसार में उल्लेखनीय योग-दान किया है। हिंसा की दहकती हुई ज्वाला पर वे अहिंसा का शीतल जल छिडक रहे है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन अब केवल भारत तक ही सीमित नही है, बल्कि उसका प्रसार विदेशों मे भी हो गया है। हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत का पैदल भ्रमण करके आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत का जो सन्देश दिया है, उससे राष्ट्र के चारित्रिक उत्थान मे मूल्यवान् सहयोग मिला है। अगर ससार के सभी भागो मे लोग अणुव्रतो को ग्रहण करे तो युद्ध की सम्भावना बहुत अंशो तक समाप्त हो जायेगी। विश्व-युद्ध को रोकने के लिए आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत एक अमोघ अस्त्र है। यूरोप मे चलने वाले 'नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन' की तुलना मे अणुव्रत-आन्दोलन का महत्त्व अधिक है। अगर ससार के विशिष्ट राजनीतिज्ञ अणुव्रतो के प्रति अपनी आस्था प्रकट करे तो युद्ध का निवारण करना आसान हो सकता है। केनेडी, मैकमिलन, दगाल और ख्रुश्चेव जैसे राजनीतिज्ञ जिस दिन अणुव्रत ग्रहण कर लेंगे, उसी दिन युद्ध की सम्भावना समाप्त हो जायेगी।

सन्तुलित व्यक्तित्व

साहू शान्तिप्रसाद जैन

श्री आचार्य तुलसीजी महाराज ने लगभग दो वर्ष पूर्व जब एक पूरा चातुर्मास कलकत्ते मे व्यतीत किया तो मुझे अनेक बार उनके निकट सम्पर्क मे आने का अवसर मिला। दो दिन उनका वास मेरे निवास-स्थान पर भी रहा। उनका सयम उनकी साधु-वृत्ति के अनुरूप तो है ही, मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया उनके सन्तुलित व्यक्तित्व की उस पावन मधुरता ने जो सयम का अलकार है। उनका तत्त्वश्रद्धान जितना परम्परागत है, उससे अधिक उसमे वे अश है जो उनके अपने चिन्तन, मनन और आत्मानुभाव मे उपजे है। उनकी जीवनचर्या का परम्पराबद्ध मार्ग कितना कठिन और कष्टसाध्य है। मैंने पाया है कि आचार्यश्री दूसरो के आग्रहो को चुनौती नही देते, चुनौतियो को आमत्रित करते है और दृष्टि का सामजस्य खोजते है। तत्त्वचर्चा और धार्मिक प्रवचन को उन्होने मनुष्य के दैनिक जीवन की समस्याओ से जोड कर धर्म को जीवन की गति और हृदय का स्पन्दन दिया है। अणुव्रतो की व्यवस्था जिन आचार्यों ने की थी, उनके लिए ये व्रत समाज के नैतिक सगठन और निराकुल सरक्षण के आधारभूत सिद्धान्त थे। ज्यो-ज्यो धर्म जीवन से विच्छिन्न होकर रूढ होता गया, अणुव्रत की महत्ता उसी अनुपात मे शास्त्रगत अधिक और जीवनगत कम हो गयी। अणुव्रत-चर्चा की सार्थकता आन्दोलन के रूप मे जो भी हो, आचार्यश्री तुलसी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होने अणुव्रतो का प्रतिपादन युग के सदर्भ मे किया और व्यापक स्तर पर समाज का ध्यान केन्द्रित किया।

आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह के अवसर पर मै अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

आशा की झलक

श्री त्रिलोकीसिह
नेता, विरोधी दल, उ० प्र० विधान सभा

आचार्यश्री तुलसी आधुनिक युग के उन लोगो मे से है, जिन्होने समाज के उत्थान के लिए महान प्रयत्न किया है। उनके द्वारा सचालित अणुव्रत-आन्दोलन दरअसल गिरते हुए मानव को उठाने के लिए महान प्रयत्न है। कहने को तो वह छोटे-छोटे व्रत हैं, किन्तु उनके अपनाने के बाद कोई ऐसी बात नही रह जाती जो मनुष्य के विकास मे बाधा पहुँचाये।

सच बात तो यह है कि वे समय के खिलाफ चल रहे है। इस समय ऐसा वातावरण है कि चारो ओर ढील-ढाल नजर आती है। समाज बजाय जाति-विहीन होने के मर्यादा विहीन होता जा रहा है। ऐसे समय मे किसी का यह प्रयत्न कि नई मर्यादा कायम हो, साधारण बात नही है। आचार्यजी जो कार्य कर रहे है, उसमे इस देश मे आशा की झलक निकलती मालूम होती है। मुझे इसमे सन्देह नही है कि समाज का कल्याण इनके बताये हुए रास्ते से हो सकता है। मुझे इसमे भी सन्देह नही कि जिस प्रकार वे इस आन्दोलन का सचालन कर रहे है, उसमे अवश्य सफल होगे।

महावीर व बुद्ध के सन्देश प्रतिध्वनित

श्री करणीसिंहजी , सदस्य लोकसभा
महाराजा, बीकानेर

अणुव्रत-आन्दोलन कोई राजनीतिक यज्ञ नही है। यह तो मानव मात्र की आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास है। इसका उद्देश्य है कि जीवन पवित्र बने। दैनिक जीवन मे सच्चाई व प्रामाणिकता आये। थोडे मे कहा जाये तो अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र का आन्दोलन है। यह किसी सम्प्रदाय, जाति, धर्म व व्यक्ति विशेष का न होकर सबका है। इसमे किसी अधिकार अथवा पद की व्यवस्था नही है।

आज के युग मे जब हम अपने चारो ओर देखते हैं तो बडे दुःख के साथ अनुभव करते हैं कि देश मे सर्वत्र भ्रष्टाचार, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि अनेक विषैले कीटाणु हमारे समाज को नष्ट करने मे व्यस्त है। ऐसी दशा मे उसका उद्धार केवल अणुव्रत जैसे आन्दोलनो द्वारा ही हो सकता है।

इसके साथ-ही-साथ प्रत्येक आन्दोलन के सचालन मे उसके प्रमुख कार्यकर्ताओ मे उस आन्दोलन की मर्यादानुसार कार्य करने की क्षमता का होना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उसका उद्देश्य। यह कितनी प्रसन्नता की बात है कि अणुव्रत-आन्दोलन को आचार्यश्री तुलसी का आशीर्वाद प्राप्त है।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व देश के पूर्वी अचल मे भगवान् श्री महावीर और गौतम बुद्ध के आध्यात्मिक सन्देश समग्र भारतवर्ष मे गूँजे थे। भगवान् श्री महावीर का सन्देश पच अणुव्रत के रूप मे था और गौतम बुद्ध का सन्देश पचशील के रूप मे। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत सन्देश पश्चिम से पूर्व की ओर प्रतिध्वनित हुआ है। यह इस अचल का सौभाग्य है। उनके धवल समारोह के अवसर पर उनके कार्यों के प्रति श्रद्धा प्रकट करना प्रत्येक विचारशील अपना कर्तव्य समझता है।

•

विकास के साथ धार्मिक भावना

श्री दीपनारायणसिंह
सिचाई मंत्री, बिहार सरकार

आचार्यश्री तुलसी के दर्शन प्रथम बार कई साल पहले मुझे जयपुर मे हुए। तब से अनेको बार उनके दर्शन का अवसर मुझे मिला है। जन-समाज के नैतिक बल को बढाने के लिए उनका प्रवचन असरदार होता है। बराबर पैदल यात्रा कर समाज के कल्याण के लिए वे रास्ता बनाते है। उनका सरल जीवन तथा सुन्दर स्वास्थ्य बहुत ही प्रभावशाली है।

भारतवर्ष आज स्वतन्त्र है। विकास का काम जोरो से चल रहा है। ऐसे समय मे धार्मिक भावनाओ का समुचित विकास होता रहे और समाज नैतिकता के रास्ते पर चले, इसकी बडी आवश्यकता है। ऐसे कार्यों के लिए आचार्यश्री तुलसी जैसे मार्ग-दर्शक की आवश्यकता है। मेरी शुभ कामना है कि आचार्यश्री तुलसी स्वस्थ रहकर सदा समाज का मार्ग-दर्शन कराते रहे।

आध्यात्मिकता के धनी

श्री प्रफुल्लचन्द्रसेन,
खाद्य मंत्री, बंगाल

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर भारत के धर्म गुरुओं के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है। आज जबकि जाति, प्रान्त, भाषा व धर्म के नाम पर अनेकानेक झगडे खडे हो रहे है, स्वार्थ-भावना की प्रबलता है, साम्प्रदायिकता निष्कारण ही पनप रही है, आचार्यश्री तुलसी द्वारा नैतिक क्रान्ति का आह्वान सचमुच ही उनके दूरदर्शी चिन्तन का परिणाम है। आचार्यजी विशुद्ध मानवतावादी है और प्रत्येक वर्ग मे व्याप्त बुराई का निराकरण करना चाहते है। मुझे उनके दर्शन करने का अनेकदा सौभाग्य मिला है और निकट बैठ कर उनके पवित्र उपदेश सुनने का भी। वे आध्यात्मिकता के धनी है और उनमे साधना का प्रखर तेज है। वे भारतीय ऋषि-परम्परा के वाहक है, अत भारतीय जनता को उन्हे अपने बीच मे पाकर गौरव की अनुभूति भी है। उनके प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त करना प्रत्येक देशवासी का अपना कर्तव्य है।

आप्त-जीवन में अमृत सींकर

श्री उदयशंकर भट्ट

आणविक युद्ध को रोकने का एकमात्र उपाय अणुव्रत-साधना है। युद्ध युद्ध को नही रोक सकते। मरण के साधनो से जीवन नही मिल सकता। शान्ति, अपरिग्रह, क्षमा, आत्म-सन्तोष, सर्वभूतहिते रति ही जीवन के कल्याण-मार्ग है। मनुष्य का सबसे बड़ा दुःख तृष्णाओ के पीछे भटकना है। इस भटकाव का कही अन्त नही है। मृगतृष्णा अज्ञान सम्भूत है, जो निरन्तर एक तृष्णा से दूसरी, तीसरी इस प्रकार अनन्त तृष्णाओ को उत्पन्न करती है। तृष्णा अज्ञानान्ध तम है। उसमे स्वार्थो का प्रकाश है, प्रकाशाभास, एक कामना की पूर्ति से अन्य कामनाओ, अनन्त कामनाओ के चक्कर मे हमारा जीवन भ्रमित होकर अतृप्ति का शाप हो जाता है। ऐसी अवस्था मे आत्म-सन्तोष, आत्म-चिन्तन ही हमे एकाग्र, शान्ति, सर्वोच्च सुख, परम तृप्ति दे सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने हमे इस दिशा मे आप्त-जीवन मे अमृत सीकर की तरह नई दृष्टि दी है। अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, क्षमा, दया के अक्षय अस्त्र देकर आजीवनीय तत्त्वो से सघर्ष करके जीवन का प्रतिष्ठा-प्रण दान किया है। अहिसा सार्वकालिक अस्त्र है। भले ही वह कुछ काल के लिए निर्बल दिखाई दे, किन्तु उससे युगयुगान्तर प्रकाशित होते है और इससे पारम्परिक जीवन की चरम एव परम प्राणमयी धाराए गतिमान होती रहती है। सत्य आचरण, सत्य के प्रति निष्ठा और स्वय सत्यात्मा के दर्शन होते है, जो हमारे जीवन का चरम उल्लास है। मेरी कामना है, आचार्यश्री तुलसी के जीवन चिन्तन से निकले 'अणुव्रत' के उद्गार निरन्तर हमारे लिए चिर सुख के कारण बनें। हम अपने मे अपने सुख को खोज कर आत्म-प्रकाशी हो। मेरा आचार्य तुलसी को शत-शत अभिवन्दन।

नैतिकता का वातावरण

श्री मोहनलाल गौतम

भूतपूर्व सामुदायिक विकासमंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार

आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना के बारे मे जानकर अतीव प्रसन्नता हुई।

आचार्यश्री तुलसी स्वय अपने जीवन से तथा अपने अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा जिस नैतिकता का वातावरण उत्पन्न कर रहे है, वह आज के युग मे भारतीय जीवन को सजीव और सशक्त रखने के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य भी है। आन्तरिक शोध के अभाव मे बाह्य प्रगति कल्याणप्रद के स्थान पर हानिकर होगी, यह निर्विवाद है।

मुझे विश्वास है कि इस अभिनन्दन ग्रन्थ द्वारा आचार्यश्री तुलसी के जीवन, विचार पद्धति और कार्यप्रणाली पर जो बहुमुखी प्रकाश पडेगा, वह हमारे जन जीवन को आलोकित कर सही मार्ग की ओर उन्मुख करने मे सहायक होगा।

प्राचीन सभ्यता का पुनरुज्जीवन

महाशय बनारसीदास गुप्ता

उपमन्त्री, जेल विभाग, पंजाब सरकार

आचार्यश्री तुलसी जैसे उस महान् तपस्वी के दर्शन मैने उस समय किये थे, जब कि वे हजारो मील की पद-यात्रा करते हुए हांसी (पजाब) पधारे थे। मैने भी आपका पजाब सरकार और पजाब की जनता की ओर से, हजारो नर-नारी जो भारत के सभी प्रान्तो से वहाँ आये हुए थे, उनकी विशाल उपस्थिति मे अभिनन्दन और स्वागत किया था। आचार्यश्री तुलसी का यह परिश्रम भारत की प्राचीन सभ्यता को पुनरुज्जीवित करने मे सफल हो रहा है और रहेगा। देश की स्वतन्त्रता के भरण-पोषण के लिए जहाँ तमाम साधन जुटाने की आवश्यकता है, वहाँ इस देश मे चरित्र-निर्माण का महान् कार्य चलाने की भी महती आवश्यकता है। आपके पुनीत प्रयत्न के फलस्वरूप लाखो प्राणी इस महान् कार्य मे जुटे हुए है। परन्तु इतना ही काफी नही है। यह देश तो बडा महान् है। इसका भूतकाल बडा महान् रहा है। आओ! मिल कर इसके भविष्य को भी उज्ज्वल बनाए।

मैने पिछले चार सालो मे आचार्यश्री तुलसी के चरण-चिह्नो पर चलने का थोडा-सा प्रयास किया है। पदयात्राए की और गाँव-गाँव मे जाकर सास्कृतिक जीवन का सदेश दिया। इससे मुझे यह अनुभव हुआ कि यह रास्ता महान् कल्याणकारी है। भारतवर्ष को आप जैसे हजारो तपस्वी साधुओ की परम आवश्यकता है ताकि यह देश फिर से धर्मपरायण होकर ऊँचे आदर्शों, अपनी सभ्यता और सस्कृति की रक्षा के लिए आपके बताये हुए मार्ग पर चल सके और ससार मे फिर विख्यात होकर आध्यात्मिकता के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर सके। मैं इस शुभ अवसर पर आपका अभिनन्दन करता हूँ।

सर्वोत्कृष्ट उपचार

श्री वृन्दावनलाल वर्मा, झाँसी

मुझे आचार्यश्री तुलसी के दर्शनो का सौभाग्य तो कभी प्राप्त नही हुआ, परन्तु मैं पत्रो मे प्रकाशित उनकी वाणी को नत-मस्तक होकर पढा करता हूँ।

हमारे देश के लिए इस समय ऐसे महान् सत्पुरुष की परम आवश्यकता है। समाज और राष्ट्र का ही वह हित नही कर रहे है, प्रत्युत मानव भर का भी। राष्ट्र मे कुछ प्रवृत्तियाँ विघटन की ओर है। आचार्यश्री घृणा और द्वेष को तिरोहित करवाकर समाज को सगठित—सच्चे और कल्याणकारी रूप मे सगठित करने का शुभ कार्य कर रहे है। साथ ही वे व्यक्ति के विकास और उत्थान पर भी ध्यान दिये हुए है। तभी तो उन्होने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति कम-से-कम पन्द्रह मिनट प्रतिदिन स्वाध्याय करे और एकाग्र मन होकर किसी स्वस्थ विषय का चिन्तन करे। आजकल जहाँ देखिये वहाँ जीवन पर तरह-तरह का बोझ बढता जा रहा है। व्यक्ति मे बेचैनी बढ रही है। इसके कारण समाज मे खटपट और व्यक्तियो मे नाना प्रकार के रोग फैल रहे है। आचार्यश्री का बतलाया हुआ उपचार सर्वोत्कृष्ट है। जो जिस प्रकार इसे अपना सके, अवश्य अपनाये और उसका अभ्यास करे। मुझे रत्तीभर भी सन्देह नही कि इसमे व्यक्ति को सन्तुलन प्राप्त होगा और साथ ही समाज को सगठन एव उत्थान।

आध्यात्मिक जागृति

सवाई मानसिंहजी

महाराजा, जयपुर

आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन ने गत बारह वर्षों मे जो प्रगति की है,वह आशातीत व सन्तोषप्रद है। इस भीषण सघर्ष के युग मे जनता को अध्यात्म मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता है। भौतिक जागृति से अधिक महत्त्व पूर्ण हमारी आध्यात्मिक जागृति है, जिसके अभाव मे जीवन सुखी नही बन सकता। समाज का वास्तविक कल्याण तभी हो सकता है, जबकि जन-साधारण के चरित्र की ओर ध्यान दिया जाये। आचार्यश्री तुलसी ने इस दिशा मे चारित्रिक जागृति का एक ठोस कदम रखा है। सबसे बडी विशेषता इस आन्दोलन की यह है कि बिना किसी जाति, सम्प्रदाय और वर्ग-भेद के जनता इसमे भाग लेकर लाभान्वित हो रही है। राष्ट्रव्यापी इस पुनीत कार्य की प्रगति मे जिन महानुभावो ने अपना योग दिया है, वे भी बधाई के पात्र है।

मेरी हार्दिक कामना है कि नैतिक निर्माणकारी व जन-जीवन की शुद्धि का यह उपक्रम पूर्ण सफलता प्राप्त करे एव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की दिशा मे एक महत्त्व-पूर्ण प्रयास सिद्ध हो।

आचार्यश्री तुलसी का तप पूत जीवन सुषुप्त मानवता को उदबुद्ध करने मे सजीवनी का कार्य कर रहा है। अशान्ति और हिसा से प्रताडित समाज को उनके उपदेशो से राहत की अनुभूति होगी, इसमे सन्देह नही है।

उत्कट साधक

श्री मिश्रीलाल गंगवाल
वित्तमन्त्री, मध्यप्रदेश सरकार

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। आचार्यश्री तुलसी अहिंसा और सत्य के उपासक तथा भारतीय संस्कृति और दर्शन के उत्कट साधक है। वे सरल, मृदुभाषी 'साधु' शब्द को वास्तविक रूप मे चरितार्थ करने वाले आदर्श पुरुष है। उनके समक्ष किसी भी बुद्धिजीवी का मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है। उनकी गणना देश के गणमान्य साहित्य सेवियो और संस्कृत तथा दर्शन के गिने-चुने विद्वानो मे की जाती है। उनमे अनेक व्यक्तियो को साहित्य और दर्शन मे रुचि रखने की प्रेरणा मिली तथा उनके सान्निध्य मे बैठ कर अनेक जनोपयोगी पुस्तको का सृजन करने का अनेको को अवसर मिला। उन्होंने केवल समाज का ही मार्ग-दर्शन नही किया वरन साधु-समाज मे फैली अनेक बुराइयो का उन्मूलन करने के लिए संस्कृति, दर्शन और नैतिकता को नया मोड देकर अध्यात्म का सही मार्ग प्रशस्त किया। उनका व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा जन हित मे किये गए अनेक कार्य दोनो ही एक-दूसरे के पूरक होकर जन-मानस के लिए श्रद्धा की वस्तु बने है। ऐसे महान् व्यक्ति का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर निश्चित ही समाज के लिए एक बडा उपादेय कार्य किया जा रहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसमे जन-मानस को आत्मीय बोध प्राप्त होगा। मै अभिनन्दन ग्रन्थ की हृदय से सफलता चाहता हू।

• • •

महान् आत्मा

डा० कामताप्रसाद जैन, पी-एच० डी०, एम० आर० ए० एस०
संचालक—अखिल विश्व जैन मिशन

सुवासित फूलो की सुगन्धि अनायास ही सर्वत्र फैलती है। तदनुरूप जो महान् आत्मा अपना समय ज्ञानोपयोग रूप आत्मानुभूति-चर्या मे बिताता है उसका यश भी दिगदिगन्त मे फैल जाता है। कहा भी है—**णाणोपयोग जो कालगमइ तसु तणिय कित्ति भुवणयला भमइ।** श्रद्धेय आचार्य तुलसीजी उसी श्रेणी के सत है, महान आत्मा है। गत बुद्ध जयन्ती समारोह के अवसर पर जब दिल्ली मे जैनो ने जो सॉस्कृतिक सम्मेलन किया था, उसी मे हमे उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मच पर श्वेत वस्त्रो मे सज्जित वे बडे ही सौम्य और शान्त दिखाई पड रहे थे। उनके हृदय की शुभ्र उज्ज्वलता मानो उनके वस्त्रो को चमका रही थी। उनका ज्ञान, उनकी लोकहित भावना और धर्म-प्रसार का उत्साह अपूर्व और अनुकरणीय है। अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा वे सर्वधर्म का प्रचार सभी वर्गों मे करने मे सफल हो रहे है। एक ओर जहाँ वे महामना राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री नेहरू को सम्बोधित करते है तो दूसरी ओर गाँव और खेतो के किसानो और मजदूरो को भी सन्मार्ग दिखाते है। उनका सगठन देखते ही बनता है? वे सच्चे श्रमण है। उनका अभिनन्दन सार्थक तभी हो, जब हम सब उनकी शिक्षा को जीवन मे उतारे। इन शब्दो मे मैं अपनी श्रद्धा के फूल उनको अर्पित करता हुआ उनके दीर्घ-आयु की मगल कामना करता हूँ।

प्रभावशाली चारित्रिक पुनर्निर्माण

डा० जवाहरलाल रोहतगी

उपमंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार

हमारे देश की पुरातन परम्परा रही है कि जब कभी राष्ट्र पर कोई संकट आया, ऋषि-मुनियो ने अपनी साधना और तपोबल को लोकोपकार की दिशा मे उन्मुख किया और जन-साधारण मे आत्म-विश्वास पैदा किया, जिसके फलस्वरूप दुरूह कार्य भी सरल और सुगम हो गये। यह परम्परा आज भी किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान है।

आचार्यश्री तुलसी सरीखे बिरले लोग हमारे बीच मे है जो न केवल राष्ट्र के नैतिक उत्थान मे लगे हुए है, वरन् उसकी छोटी-से-छोटी शक्ति के यथेष्ट उपयोग की चेष्टा कर रहे हैं। साथ ही आचार्य प्रवर के नेतृत्व मे प्रभावशाली साधु समाज जन-सम्पर्क द्वारा चारित्रिक पुनर्निर्माण के कार्य मे लगा हुआ है।

सच पूछा जाये तो आज के युग मे जब हम आर्थिक एव सामाजिक पुनरुत्थान के लिए योजनाबद्ध कार्य कर रहे हैं, अणुव्रत जैसे आन्दोलन का विशेष महत्त्व है। इससे हमारे उद्देश्यो को पूरा करने मे बडा सम्बल मिलता है।

मुझे प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी के सार्वजनिक सेवा-काल के पच्चीस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष मे अभिनन्दन का आयोजन किया गया है। मैं आपके प्रयास की सफलता की कामना करता हूँ।

●

तपोधन महर्षि

श्री लालचन्द सेठी

आचार्यश्री तुलसी वर्तमान अशान्ति के युग मे शोक-सन्तप्त अशान्त मानव को जीवन की शान्तिमय रूपरेखा के मार्गदर्शक, तपोधन एव महर्षि के रूप मे आज भारत मे विद्यमान है। आचार्य तुलसीजी ने अपूर्व साधना से न केवल अपना ही जीवन धन्य किया है, बल्कि अपने प्रभावशाली साधु-सघ को भी एक विशेष गति-विधि देकर जन-कल्याण के लिए अर्पित किया है, जो बडा ही श्रेयस्कर कार्य है। वह केवल जैन-समाज के निमित्त ही नही, वरन् समस्त मानव-जाति के लिए एक ध्येय के रूप मे रहेगा।

मेरी आचार्य तुलसी के प्रति अटूट श्रद्धा है। जो पावन कार्य वे कर रहे है, वह दिग्दिगन्त मे उनके नाम को सदा अमर रखेगा।

धवल समारोह मनाने के कार्यक्रम एव अभिनन्दन ग्रन्थ की रूपरेखा का जो निर्माण हुआ है, तदर्थ हार्दिक बधाई देता हूँ और चाहता हूँ कि ये कार्य खूब ही समारोहपूर्वक सम्पन्न हो और आचार्यश्री तुलसीजी महाराज के तप, ज्ञान एव सदुपदेश मानव की अशान्ति मिटाकर उन्हे शान्ति प्राप्त कराने मे सहायक हो, यही मेरी हार्दिक कामना है।

मेरी बहुत दिनो से इच्छा हो रही है कि आकर महामहिम श्री तुलसीजी महाराज के दर्शन कर अपने को धन्य समझूँ, किन्तु कार्याधिक्य की उलझनो के कारण यह इच्छा पूर्ण नही हो पा रही है और मन की मन मे ही गोते खाती रहती है। आशा है कि यह शुभ दिन भी अवश्य ही प्राप्त होगा।

अनेक विशेषताओं के धनी

डा० पंजाबराव देशमुख
कृषिमंत्री, भारत सरकार

यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी जी के महान् कार्यों के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने के उद्देश्य से उन्हे अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करने का निश्चय किया गया है। यो तो आचार्यजी अनेक गुणो और विशेषताओ के धनी है—हिन्दी साहित्य, दर्शन और शिक्षा भी उनके अधिकृत क्षेत्र है। सस्कृत और हिन्दी भाषा के विकास मे उनका व्यापक योग है, फिर भी उनकी सबसे बडी विशेषता तो यह है कि उन्होने अपने-आपको और अपने प्रभावशाली साधु-सघ को जन-कल्याण के लिए अर्पित किया है।

मुझे आशा है कि अधिक-से-अधिक लोग उनके महान कार्यों तथा आदर्शों का नुसरण करते हुए लोक-कल्याण की भावना को अपनायेगे।

वास्तविक उन्नति

श्री गुरुमुख निहालसिंह
राज्यपाल, राजस्थान

आचार्य तुलसी के जीवन व कार्य से हमे सदा प्रेरणा मिलती रहेगी और हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि जो सिद्धान्त उन्होने हमारे सामने रखे है उनको ग्रहण करे। देश का वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है जब कि सामाजिक और आर्थिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उत्थान भी हो।

सफल बनें

सरसंघचालक मा० स० गोलवलकर

आचार्यजी को यहाँ के सभी की ओर से एव प० पू० श्री गुरुजी की ओर से विनम्र प्रणाम प्रेषित करने की कृपा करे। उनको परम कृपालु परमात्मा सुदीर्घ एव निरामय आयु प्रदान करे ताकि दु.ख से भरे हुए, शोषित, पीड़ित, मार्गदर्शन के लिए इधर-उधर भटकने वाले त्रस्त मानव समाज को पथ-प्रदर्शन करने मे वे सफल बने।

—मु० कृ० चौधाईवाले

समाज के मूल्यों का पुनरुत्थान

श्री मोहनलाल सुखाड़िया
मुख्यमंत्री, राजस्थान सरकार

मुझे यह जान कर प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति की ओर से एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

आचार्यश्री तुलसी देश के एक साधु-सघ के नेता तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रणेता है, जिसका उद्देश्य समाज के मूल्यो का पुनरुत्थान तथा समाज का नैतिक विकास है। अभिनन्दन ग्रन्थ मे नैतिक तथा सामाजिक विषयो पर प्रेरणाप्रद तथा उपादेय सामग्री का सकलन होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं इस अवसर पर आचार्यप्रवर के दीर्घ जीवन के लिए शुभकामना करते हुए ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ।

आचार-प्रधान महापुरुष

श्री अलगूराय शास्त्री
वनमंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार

श्री तुलसीजी वर्तमान युग के सदाचार प्रचारकों तथा आचार-प्रधान महापुरुषों मे सूर्य समान देदीप्यमान व्यक्ति है। उनकी प्रेरणाओ से जन-मानस मे उच्च आचरण के लिए उथल-पुथल उत्पन्न हो जाती है। मुझे इनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। श्री तुलसीजी दीर्घ आयु प्राप्त कर और मानव समाज को आचार-शिखर पर ले जाकर उन्हे सिद्धशिला का अधिकारी बनाये, यही कामना है, ईश्वर मे यही याचना है।

अपना ही परिशोधन

डा० हरिवंशराय 'बच्चन' एम० ए०, पी-एच० डी०

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी के अभिनन्दन का आयोजन किया गया है। सत का अभिनन्दन क्या ? हम अपना ही परिशोधन कर रहे है। योजना की सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभकामना। सब कुछ आचार्य के अनुरूप हो।

उनके कार्य से कौन अपरिचित है। मुझ-जैसे अपरार्थ को भी उनकी करुणा का प्रसाद मिल चुका है। एक दिन उन्होने स्वय पाद-विहार से आकर मेरे घर पर मुझे दर्शन दिये थे और मेरे घर को पवित्र किया था।

मुझे उनके विषय मे कहने का अधिकार नही। मेरा प्रणाम उनके चरणो मे निवेदित कर दें।

एक अनोखा व्यक्तित्व

मुनिश्री धनराजजी

मेरे दीक्षक, शिक्षक व गुरु होने के कारण मै उन्हे असाधारण प्रतिभा सम्पन्न, साहित्य जगत् के उज्ज्वल नक्षत्र, अमित आत्मबली, कुशल अनुशासक व अनुत्तर आचार-निधि आदि उपमाओ से अलकृत करूँ, ऐसी बात नही है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता और जलधि का गाम्भीर्य प्रमाणित करने की आवश्यकता नही, उसी प्रकार महापुरुषो के व्यक्तित्व को निखारने की आवश्यकता नही होती, वह स्वत निखरित होता है। महापुरुष जिस ओर चरण बढाते है, वही मार्ग, जो कहते है, वही शास्त्र और जो कुछ करते है, वही कर्तव्य बन जाता है। महापुरुष तीन कोटि के माने गये है, १ जन्मजात, २ श्रम व योग्यता के बल पर और ३ कृत्रिम, जिन पर महानता थोपी जाती है।

आचार्यश्री तुलसी को जन्मजात महापुरुष कहने मे कोई आपत्ति नही, किन्तु तो भी श्रम और योग्यता से बने इस स्वीकरण मे भी दो मत नही होगे।

कर-ककण को दर्पण की तरह ही प्रत्यक्ष को प्रमाण की अपेक्षा नही होती। इतिहास कहता है—पूर्वजात महापुरुषो का अमर व्यक्तित्व स्वत धरा के कण मे चमत्कृत हुआ है तो फिर वर्तमान मे हो तो आश्चर्य व नवीनता क्या हो सकती है ?

आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व का अरुण आलोक मजदूर की झोपडी मे लेकर राष्ट्रपति भवन तक फैल चुका है, इसकी अनुभूत यथार्थता को स्पष्ट करके ही मै आगे लिखना चाहूँगा।

घटना जुलाई सन् १९५९ की है। राजस्थान की राजधानी जयपुर की यातायात सकुल मिर्जा इस्माइल रोड स्थित दूगड बिल्डिग की दूसरी मजिल मे मै ठहरा हुआ था। एक युवक पारिवारिक कलह से ऊब कर मेरे पास आया। कहने लगा मुझे मगल पाठ सुनाओ। मैंने सुना दिया। वह उसी समय वहाँ से नीचे सडक पर कूद पडा। मै अवाक् रह गया। उसके चोट भी लगी। जोरो से चिल्लाने लगा। सैकडो लाग इकट्ठे हो गये। वातावरण कुछ कलुषित हो गया। उसे थाने में ले जाया गया। वहाँ उसने कह दिया—उस मकान मे तीन साधु भी ठहरे हुए है। उन्होने किसी के कहने से निष्कारण ही मुझे पकड कर नीचे गिरा दिया। थानेदार ने पूछा—वे साधु कौन है ? उसने कहा—आचार्यश्री तुलसी के शिष्य तेरापथी साधु है। थानेदार आचार्यश्री के सम्पर्क मे आ चुका था। उसने कहा—तुम झूठ बोलते हो। आचार्य तुलसी व उनके शिष्य ऐसा काम कभी नही कर सकते। मैं उनसे अच्छी तरह परिचित हूँ। आखिर दो-चार डण्डे लगने पर युवक ने सच्ची घटना रख दी और कहा मैं स्वय ही नीचे गिरा था। साधुओ का कोई दोष नही। मैंने बहकावे मे आकर झूठ ही उनका नाम लिया है। अस्तु ! यह है आपके बहुमुखी व्यक्तित्व की परिचायिका एक छोटी-सी घटना।

आज आपका व्यक्तित्व एक राष्ट्रीय परिधि में सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। बम्बई मे श्री वेरन आदि कतिपय अमेरिकनो ने आचार्यश्री से कहा—"हम आपके माध्यम से अणुव्रतो का प्रचार अपने देश मे करना चाहते हैं, क्योंकि वहाँ इनकी आवश्यकता है।"

सन् १९५४ मे जापान में हुए सर्व धर्म सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने यह निश्चय किया कि अणुव्रतो का प्रचार यहाँ भी होना चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध की लपटो से झुलसे हुए संसार को 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' नाम से आपने एक सन्देश दिया, जिस पर टिप्पणी करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा, "क्या ही अच्छा होता, दुनिया इस महापुरुष

के बताये हुए मार्ग पर चलती ।"

सात्त्विक विचारधारा की अपेक्षा

आज अनेक व्यक्ति आपके सम्पर्क के लिए उत्सुक रहते है। उसका मूल कारण है - आपका प्रसरणशील व्यक्तित्व । लाखो व्यक्तियो ने आपका साक्षात् सम्पर्क किया है। आपके नाम और नैतिक उपक्रमो से तो करोडो व्यक्ति परिचित है। आपके प्रति जन-मानस की जो श्रद्धा और भावना है, उसका सही चित्रण इस लघुकाय निबन्ध मे असम्भव है, किन्तु यह कहने का लोभ भी सवृत नही कर सकता कि प्राचीन और अर्वाचीन युगल विचारधाराए आपके प्रति आस-सोपचित है। यद्यपि आप किसी को भौतिक समृद्धि अथवा स्वराज्य-प्रदान नही करते, किन्तु आपक प्रेरणा पीयूष स मानव सहज उन्मार्ग को छोड कर सन्मार्ग को ग्रहण कर जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है। विविध समस्याओं की जड आप विचार-दारिद्रय को ही मानते है। मनुष्य का वर्तमान और भविष्य दोनो विचारो पर ही अवलम्बित है। शुद्ध और सात्त्विक विचारधारा की अपेक्षा है। इसके अभाव मे अनेक समस्याओ का उद्गमन होता है।

आपके विशाल व्यक्तित्व के अनेक कारणो मे मैं आचार को प्राथमिकता देता हूँ। जिसका आचार आकाश की तरह विशद और सुस्थिर है, उसका व्यक्तित्व भी अनन्त व असीम है। आचारहीन व्यक्तित्व बिना नीव के प्रासाद तुल्य होता है। किसी का व्यक्तित्व प्रायोगिक होता है और किसी का नैसर्गिक। आपका व्यक्तित्व द्विधात्मक है। आचार की अपेक्षा नैसर्गिक और विचार-दारिद्रय को मिटाने की अपेक्षा प्रायोगिक। अत आपके व्यक्तित्व के आगे अनोखा विशेषण युक्तिसगत ही है।

मानवता के उन्नायक

श्री यशपाल जैन
सम्पादक—जीवन साहित्य

आचार्यश्री तुलसी का नाम मैने बहुत दिनो से सुन रख था, लेकिन उनसे पहले-पहल साक्षात्कार उस समय हुआ जबकि वे प्रथम बार दिल्ली आये थे और कुछ दिन राजधानी मे ठहरे थे। उनके साथ उनके अन्तेवासी साधु-साध्वियो का विशाल समुदाय था और देश के विभिन्न भागो से उनके सम्प्रदाय के लोग भी बहुत बडी सख्या मे एकत्र हुए थे।

विभिन्न आलोचनाएं

आचार्यश्री को लेकर जैन समाज तथा कुछ जैनेतर लोगो मे उस समय तरह-तरह की बाते कही जाती थी। कुछ लोग कहते थे कि वह बहुत ही सच्चे और लगन के आदमी हैं और धर्म एव समाज की सेवा दिल से कर रहे हैं। इस के विपरीत कुछ लोगो का कहना था कि उनमे नाम की बडी भूख है और वह जो कुछ कर रहे हैं, उसके पीछे तेरापथी सम्प्रदाय के प्रचार की तीव्र लालसा है। मैं दोनो पक्षो की बाते सुनता था। उन सबको सुन-सुन कर मेरे मन पर कुछ अजीब-सा चित्र बना। मैं उनसे मिलना टालता रहा।

अचानक एक दिन किसी ने घर आकर सूचना दी कि आचार्यश्री हमारे मुहल्ले मे आये हुए है और मेरी याद कर रहे हैं। मेरी याद ? मुझे विस्मय हुआ। मैं गया। उनके चारो ओर बडी भीड थी और लोग उनके चरण स्पर्श करने के लिए एक-दूसरे को ठेल कर आगे आने का प्रयत्न कर रहे थे। जैसे-तैसे उस भीड मे से रास्ता बना कर मुझे आचार्यश्री जी के पास ले जाया गया। उस भीड-भाड और कोलाहल मे ज्यादा बातचीत होना तो कहाँ सम्भव था, लेकिन चर्चा से अधिक जिस चीज की मेरे दिल पर छाप पडी, वह था आचार्यश्री का सजीव व्यक्तित्व, मधुर व्यवहार और उन्मुक्तता। हम लोग पहली बार मिले थे, लेकिन ऐसा लगा मानो हमारा पारस्परिक परिचय बहुत पुराना हो।

उसके उपरान्त आचार्यश्री से अनेक बार मिलना हुआ। मिलना ही नही, उनसे दिल खोल कर चर्चाए करने के अवसर भी प्राप्त हुए। ज्यो-ज्यो मैं उन्हे नजदीक से देखता गया, उनके विचारो मे अवगत होता गया, उनके प्रति मेरा अनुराग बढता गया। हमारे देश में साधु-सन्तो की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। आज भी साधु लाखो की सख्या मे विद्यमान हैं, लेकिन जो सच्चे साधु हैं, उनमे से अधिकाश निवृत्ति-मार्गी है। वे दुनिया से बचते हैं और अपनी आत्मिक उन्नति के लिए जन-रव से दूर निर्जन स्थान मे जाकर बसते है। आत्म-कल्याण की उनकी भावना और एकान्त मे उनकी तपस्या नि सन्देह सराहनीय है, पर मुझे लगता है कि समाज को जो प्रत्यक्ष लाभ उनसे मिलना चाहिए, वह नही मिल पाता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "मेरे लिए मुक्ति सब कुछ त्याग देने मे नही है। सृष्टि-कर्ता ने मुझे अगणित बन्धनों में दुनिया के साथ बाँध रखा है।"

आचार्यश्री तुलसी इसी मान्यता के पोषक हैं। यद्यपि उनके सामने त्याग का ऊँचा आदर्श रहता है और वे उसकी ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहते हैं, तथापि वे समाज और उसके सुख-दु ख के बीच रहते हैं और उनका अहर्निश प्रयत्न रहता है कि मानव का नैतिक स्तर ऊँचा उठे, मानव सुखी हो और समूची मानव-जाति मिल-जुल कर प्रेम से रहे। वह एक सम्प्रदाय-विशेष के आचार्य अवश्य हैं, लेकिन उनकी दृष्टि और उनकी करुणा सकीर्ण परिधि से आवृत नहीं है।

वे सबके हित का चिन्तन करते है और समाज-सेवा उनकी साधना का मुख्य अग है।

गाधीजी कहा करते थे कि समाज की इकाई मनुष्य है और यदि मनुष्य का जीवन शुद्ध हो जाए तो समाज अपने-आप सुधर जायेगा। इसलिए उनका जोर हमेशा मानव की शुचिता पर रहता था। यही बात आचार्यश्री तुलसी के साथ है। वे बार-बार कहते हैं कि हर आदमी को अपनी ओर देखना चाहिए, अपनी दुर्बलताओ को जीतना चाहिए। वर्तमान युग की अशान्ति को देख कर एक बार एक छात्र ने उनसे पूछा—'दुनिया में शान्ति कब होगी ?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'जिस दिन मनुष्य मे मनुष्यता आ जायेगी।' अपने एक प्रवचन मे उन्होने कहा—'रोटी, मकान, कपडे की समस्या से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या मानव मे मानवता के अभाव की है।'

मानव-हित के चिन्तक

मानव-हित के चिन्तक के लिए आवश्यक है कि वह मानव की समस्याओ से परिचित रहे। आचार्यश्री इस दिशा में अत्यन्त सजग है। भारतीय समाज के सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ है, राष्ट्र किस सकट से गुजर रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत के क्या-क्या मुख्य मसले है, इनकी जानकारी उन्हे रहती है। वस्तुत बचपन से ही उनका झुकाव अध्ययन और स्वाध्याय की ओर रहा है और जीवन को वे सदा खुली आँखो से देखने के अभिलाषी रहे है। अपने उसी अभ्यास के कारण आज उनकी दृष्टि बहुत ही जागरूक रहती है और कोई भी छोटी-बडी समस्या उनकी तेज आँखो से बची नही रहती।

जैन-धर्मावलम्बी होने के कारण अहिसा पर उनका विश्वास होना स्वाभाविक है। लेकिन मानवता के प्रेमी के नाते उनका वह विश्वास उनके जीवन की श्वास बन गया है। हिसा के युग मे लोग जब उनसे कहते है कि आणविक अस्त्रो के सामने अहिसा कैसे सफल हो सकती है तो वे साफ जवाब देते है, "लोगो का ऐसा कहना उनका मानसिक भ्रम है। आज तक मानव-जाति ने एक स्वर से जैसा हिंसा का प्रचार किया है, वैसा यदि अहिसा का करती तो स्वर्ग धरती पर उतर आता। ऐसा नही किया गया, फिर अहिसा की सफलता मे सन्देह क्यो ?"

आगे वे कहते है—"विश्व शान्ति के लिए अणबम आवश्यक है, ऐसा कहने वालो ने यह नही सोचा कि यदि वह उनके शत्रु के पास होता तो।"

धर्म पुरुष

आचार्यश्री की भूमिका मुख्यत आध्यात्मिक है। वे धर्म-पुरुष है। धर्म के प्रति आज की बढती विमुखता को देख कर वे कहते है, "धर्म से कुछ लोग चिढते है, किन्तु वे भूल पर है। धर्म के नाम पर फैली हुई बुराइयो को मिटाना आवश्यक है, न कि धर्म को। धर्म जन-कल्याण का एकमात्र साधन है।"

इसी बात को आगे समझाते हुए वे कहते है—"जो लोग धर्म त्याग देने की बात कहते है, वे अनुचित करते है। एक आदमी गन्दे विषैले पानी से बीमार हो गया। अब वह प्रचार करने लगा कि पानी मत पीओ, पानी पीने से बीमारी होती है। क्या यह उचित है ? उचित यह होता कि वह अपनी भूल को पकड लेता और गन्दा पानी न पीने को कहता। धर्म का त्याग करने की बात कहने वालो को चाहिए कि वे जनता को धर्म के नाम पर फैले हुए विकारो को छोडना सिखाए, धर्म छोडने की सीख न दे।"

धर्म क्या है, इसकी बडे सरल सुबोध ढग से उन्होंने इन शब्दो मे व्याख्या की है—"धर्म क्या है ? सत्य की खोज, आत्मा की जानकारी, अपने स्वरूप की पहचान, यही तो धर्म है। सही अर्थ मे यदि धर्म है तो वह यह नही सिखलाता कि मनुष्य मनुष्य से लडे। धर्म नही सिखलाता कि पूँजी के मापदण्ड से मनुष्य छोटा या बडा है। धर्म नहीं सिखलाता कि कोई किसी का शोषण करे। धर्म यह भी नही कहता कि बाह्य आडम्बर अपना कर मनुष्य अपनी चेतना को खो बैठे। किसी के प्रति दुर्भावना रखना भी यदि धर्म मे शुमार हो तो वह धर्म किस काम का। वैसे धर्म से कोसो दूर रहना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा।"

आज राजनीति का बोलबाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'राज' को केन्द्र मे रख कर सारी नीतियाँ बन और चल रही है, जबकि चाहिए यह कि केन्द्र मे मनुष्य रहे और सारी नीतियाँ उसी को लक्ष्य मे रख कर सचालित हो। उस अवस्था मे प्रमुखता मानव को होगी और वह तथा मानव-नीति राज और राजनीति के नीचे नही, ऊपर होगी। आज सबसे अधिक कठिनाइयाँ और गन्दगी इस कारण फैली है कि राजनीति जिसका दूसरा अर्थ है सत्ता, पद, लोगो के जीवन का चरम लक्ष्य बन गई है और वे सारी समस्याओ का समाधान उसी मे खोजते हैं। कहा जाता है कि सर्वोत्तम सरकार वह होती है जो लोगों पर कम-से-कम शासन करती है, लेकिन इस सच्चाई को जैसे भुला दिया गया है। इस सम्बन्ध मे आचार्यश्री का स्पष्ट मत है—"राजनीति लोगो के जरूरत की वस्तु होती होगी। किन्तु सबका हल उसी मे ढूंढना भयकर भूल है। आज राजनीति सत्ता और अधिकारो को हथियाने की नीति बन रही है। इसीलिए उस पर हिसा हावी हो रही है। इससे ससार सुखी नही होगा। ससार सुखी तब होगा, जब ऐसी राजनीति घटेगी और प्रेम, समता तथा भाईचारा बढेगा।"

वे चाहते है कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास का पूरा अवसर मिले, लेकिन यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि मनुष्य स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय यह नही है कि उसके ऊपर कोई अकुश ही न हो और वह मनमानी करे। ऐसी स्वतन्त्रता तो अराजकता पैदा करती है और उससे समाज सगठित नही, छिन्न-भिन्न होता है। उनके कथनानुसार—"स्वतन्त्र वह है, जो न्याय के पीछे चलता है। स्वतन्त्र वह है, जो अपने स्वार्थ के पीछे नही चलता। जिसे अपने स्वार्थ और गुट मे ही ईश्वर-दर्शन होता है, वह परतन्त्र है।"

आगे वे फिर कहते है—"मैं किसी एक के लिए नही कहता। चाहे साम्यवादी, समाजवादी या दूसरा कोई भी हो, उन्हे समझ लेना चाहिए कि दूसरो का इस शर्त पर समर्थन करना कि वे उनके पैरो तले चिपटे रहे, स्वतन्त्रता का समर्थन नही है।"

कुशल अनुशासक

वे किसी भी वाद के पक्षपाती नही है। वे नही चाहते कि मानव पर कोई भी ऐसा बाह्य बन्धन रहे, जो उसके मार्ग को अवरुद्ध और विकास को कुण्ठित करे। पर इससे यह न समझा जाये कि सगठन अथवा अनुशासन मे उनका विश्वास नही है। वे स्वय एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं और हजारो साधु-साध्वियो के सम्प्रदाय और शिष्य मण्डली के मुखिया है। उनके अनुशासन को देख कर विस्मय होता है। उनके साधु-साध्वियो मे कुछ तो बहुत ही प्रतिभाशाली और कुशाग्रबुद्धि के है, लेकिन क्या मजाल कि वे कभी अनुशासन से बाहर हो। जब किसी क्षुद्र स्वार्थ के लिए लोग मिलते है तो उनके गुट बनते हैं और गुटबन्दी कदापि श्रेयस्कर नही होती। इसी प्रकार वाद का अर्थ है, आंखो पर ऐसा चश्मा चढा लेना कि सब चीजे एक ही रग की दिखाई दे। कोई भी स्वाधीनचेता और विकासशील व्यक्ति न गुटबन्दी के चक्कर मे पड सकता है और न वाद के। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के दीपक को लेकर भले ही वह कितना ही छोटा क्यो न हो, अपने मार्ग को प्रकाशमान करता रहे, जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाता रहे, यही उसके लिए अभीष्ट है।

वास्तविक स्वतन्त्रता का आनन्द वही ले सकता है, जो परिग्रह से मुक्त हो। अपरिग्रह की गणना पच महाव्रतो मे होती है। आचार्यश्री अपरिग्रह के व्रती है। वे पैदल चलते है; यहाँ तक कि पैरो मे कुछ भी नही पहनते। उनके पास केवल सीमित वस्त्र, एकाध पात्र और कुछ पुस्तकें हैं। समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता को देख कर वे कहते है—"लोग कहते हैं कि जरूरत की चीजे कम है। रोटी नही मिलती, कपडा नही मिलता। यह नही मिलता, वह नही मिलता, आदि आदि। मेरा ख्याल कुछ और है। मैं मानता हूँ कि जरूरत की चीजे कम नही, जरूरते बहुत बढ गई है, सघर्ष यह है। इसमे से अशान्ति की चिनगारियाँ निकलती है।"

अपनी आन्तरिक भावना को व्यक्त करते हुए वे आगे कहते है—"एक व्यक्ति महल मे बैठा मौज करे और एक को खाने तक को न मिले, ऐसी आर्थिक विषमता जनता से सहन न हो सकेगी।"

"प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने वाले इस वैज्ञानिक युग के लिए शर्म की बात है कि वह रोटी की समस्या को

नहीं सुलझा सकता।"

आज का युग भौतिकता का उपासक बन रहा है। वह जीवन की चरम सिद्धि भौतिक उपलब्धियों में देखता है। परिणाम यह है कि आज उसकी निगाह धन पर टिकी है और परिग्रह के प्रति उसकी आसक्ति निरन्तर बढती जा रही है। वह भूल गया कि यदि सुख परिग्रह में होता तो महावीर और बुद्ध क्यो राजपाट और दुनिया के वैभव को त्यागते और क्यो गाधी स्वेच्छा से अकिचन बनते। सुख भोग मे नही है, त्याग मे है और गौरीशकर की चोटी पर वही चढ सकता है जिसके सिर पर बोझ की भारी गठरी नही होती। आचार्यश्री मानते हैं कि यदि आज का मनुष्य अपरिग्रह की उपयोगिता को जान ले और उस रास्ते चल पडे तो दुनिया के बहुत से संकट अपने आप दूर हो जायेंगे।

मानव के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को शुद्ध बनाने के लिए आचार्यश्री ने कई वर्ष पूर्व अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया था और वह आन्दोलन अब देश व्यापी बन गया है। उस नैतिक क्रान्ति का मूल उद्देश्य यह है कि मनुष्य अपने कषायो को देखे और उन्हें दूर करे। इसके साथ-साथ जो भी काम उसके हाथ मे हो, उसके करने मे नैतिकता का पूरा-पूरा आग्रह रखे। इस आन्दोलन को अधिक-से-अधिक व्यापक और सक्रिय बनाने के लिए आचार्यश्री ने बड़े परिश्रम और लगन से कार्य किया है और आज भी कर रहे है, चूंकि इस आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य मानव जाति को सुखी बनाना है, इसलिए उसका द्वार सब के लिए खुला है। उसमे किसी भी धर्म, मत अथवा सम्प्रदाय का व्यक्ति भाग ले सकता है। अणुव्रत के व्रतियो मे बहुत से जैनेतर स्त्री-पुरुष भी है।

इसी आन्दोलन के अन्तर्गत प्रति वर्ष अहिंसा तथा मैत्री-दिवस भी देश भर मे मनाये जाते है। जिसमे तनाव का वातावरण सुधरे और यह इच्छा सामूहिक रूप से व्यक्त हो कि वास्तविक सुख और शान्ति हिंसा एव वैर से नही, बल्कि अहिंसा और भाईचारे से स्थापित हो सकती है।

प्रभावशाली वक्ता और साहित्यकार

आचार्यश्री प्रभावशाली वक्ता तथा अच्छे साहित्यकार भी है। उनके प्रवचनो मे शब्दो का आडम्बर अथवा कला की छटा नहीं रहती। वे जो बोलते है, वह न केवल सरल-सुबोध होता है, अपितु उसमे विचारो की स्पष्टता भी रहती है। जटिल-से-जटिल बात को वे बहुत ही सीधे सादे शब्दो मे कह देते है। कभी-कभी वे अपनी बात को समझाने के लिए कथा-कहानियो का आश्रय लेते हैं। वे कहानियाँ वास्तव मे बडी रोचक एव शिक्षाप्रद होती हैं।

आचार्यश्री प्राय कविताए भी लिखते रहते है। जब उन कविताओ का सामूहिक रूप मे सस्वर पाठ होता है तो बड़ा ही मनोहारी वायुमण्डल उत्पन्न हो जाता है।

लेकिन वे प्रवचन करते हो अथवा गद्य-पद्य लिखते हो, उनके सामने मानव की मूर्ति सदा विद्यमान रहती है और मानवता के उत्कर्ष की उदात्त भावना उनके हृदय मे हिलोरे लेती रहती है।

आचार्य विनोबा कहा करते है कि भूदान यज्ञ के सिलसिले मे उन्होने सारे देश का भ्रमण किया है, लेकिन उन्हे एक भी दुर्जन व्यक्ति नही मिला। मानव के प्रति उनकी यह आस्था उनका बहुत बडा सम्बल है। यथार्थत प्रत्येक व्यक्ति मे सद् और असद् दोनो प्रकार की वृत्तियाँ रहती है। आवश्यकता इस बात की है कि सद्वृत्तियाँ सदा जागृत रहे और असद् वृत्तियो को मनुष्य पर हावी होने का अवसर न मिले।

आचार्यश्री तुलसी भी उसी विश्वास को लेकर चल रहे हैं। वे लोगो को अपने अन्दर आत्म-विश्वास पैदा करने की प्ररणा देते हैं और कहते है कि इस दुनिया मे कोई भी बुरा नही है। अच्छा काम करने की क्षमता हर किसी मे विद्यमान है।

आचार्यश्री के सामने वास्तव मे बडा ऊँचा ध्येय है, पर मानना होगा कि कुछ मर्यादाए उनके कार्य की उपयोगिता को सीमित करती है। वे एक सम्प्रदाय विशेष के है, अत अन्य सम्प्रदायो को अवसर है कि वे मानें कि वे उनके उतने निकट नही हैं। फिर वे आचार्य के पद पर बैठे है, जो सामान्य जनों के बराबर नहीं, बल्कि ऊँचाई पर है। इसके अतिरिक्त उनके सम्प्रदाय की परम्पराए भी हैं। यद्यपि उनके विकासशील व्यक्तित्व ने बहुत-सी अनुपयोगी परम्पराओं को छोड देने

का साहस दिखाया है। तथापि आज भी अनेक ऐसी चीजे है जो उन पर बन्धन लाती है।

सहिष्णुता का आदर्श

जो हो, इन कठिनाइयो के होते हुए भी उनकी जीवन-यात्रा बराबर अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि की ओर ही रही है। उनमे सबसे बडा गुण यह है कि वे बहुत ही सहिष्णु हैं। जिस तरह वे अपनी बात बडी शान्ति से कहते है, उसी तरह वे दूसरे की बात भी उतनी ही शान्ति से सुनते है। अपने से मतभेद रखने वाले अथवा विरोधी व्यक्ति से भी बात करने मे वे कभी उद्विग्न नहीं होते। मैंने स्वय कई बार उनके सम्प्रदाय की कुछ प्रवृत्तियो की, जिनमे उनका अपना भी बडा हाथ रहता है, उनके सामने आलोचना की है, लेकिन उन्होने हमेशा बडी आत्मीयता से समझाने की कोशिश की है। एक प्रसग यहाँ मुझे याद आता है कि एक जैन विद्वान् उनके बहुत ही आलोचक थे। हम लोग बम्बई मे मिले। सयोग से आचार्यश्री भी उन दिनो वही थे। मैंने उन सज्जन से कहा कि आपको जो शकाए है और जिन बातो मे आपका मतभेद है, उनकी चर्चा आप स्वय आचार्यश्री से क्यो न कर ले? वे तैयार हो गये। हम लोग गये काफी देर तक बातचीत होती रही। लौटते मे उन सज्जन ने मुझसे कहा—"यशपालजी, तुलसी महाराज की एक बात की मुझ पर बडी अच्छी छाप पडी है।" मैंने पूछा—"किस बात की ?" बोले, "देखिये, मैं बराबर अपने मतभेद की बात उनसे कहता रहा, लेकिन उनके चहरे पर शिकन तक नही आई। एक शब्द भी उन्होने जोर से नही कहा। दूसरे के विरोध को इतनी सहनशीलता से सुनना और सहना आसान बात नही है।"

अपने इस गुण के कारण आचार्यश्री ने बहुत से ऐसे व्यक्तियो को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है, जो उनके सम्प्रदाय के नही है।

अपनी पहली भेंट से लेकर अब तक के अपने ससर्ग का स्मरण करता हूँ तो बहुत से चित्र आँखो के सामने घूम जाते है। उनसे अनेक बार लम्बी चर्चाए हुई है, उनके प्रवचन सुने हैं, लेकिन उनका वास्तविक रूप तब दिखाई देता है, जब वे दूसरो के दुःख की बात सुनते है। उनका सवेदनशील हृदय तब मानो स्वय व्यथित हो उठता है और यह उनके चेहरे पर उभरते भावो से स्पष्ट देखा जा सकता है।

पिछली बार जब वे कलकत्ता गये थे तो वहाँ के कतिपय लोगो ने उनके तथा उनके साधु-साध्वी वर्ग के विरुद्ध एक प्रचार का भयानक तूफान खडा किया था। उन्ही दिनो जब मै कलकता गया और मैंने विरोध की बात सुनी तो आचार्यश्री से मिला। उनसे चर्चा की। आचार्यश्री ने बडे विह्वल होकर कहा—"हम साधु लोग बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि हमारे कारण किसी को कोई असुविधा न हो।...स्थान पर हमारी साध्वियाँ ठहरी थी। लोगो ने हम से आकर कहा कि उनके कारण उन्हे थोडी कठिनाई होती है। हम ने तत्काल साध्वियो को वहाँ से हटाकर दूसरी जगह भेज दिया। यदि हमे यह मालूम हो जाये कि हमारे कारण यहाँ के लोगो को परेशानी या असुविधा होती है तो हम इस नगर को छोड कर चले जायेगे।"

आचार्यश्री ने जो कहा, वह उनके अन्तर से उठकर आया था।

भारत-भूमि सदा से आध्यात्मिक भूमि रही है और भारतीय सस्कृति की गूंज किसी जमाने मे सारे ससार मे सुनाई देती थी। आचार्यश्री की आँखो के सामने अपनी सस्कृति तथा सभ्यता के चरम शिखर पर खडे भारत का चित्र रहता है। अपने देश से, उसकी भूमि से और उस भूमि पर बसने वाले जन से, उन्हे बडी आशा है और तभी गहरे विश्वास के साथ कहा करते है—"वह दिन आने वाला है, जब कि पशु बल से उकताई दुनिया भारतीय जीवन से अहिसा और शान्ति की भीख माँगेगी।"

आचार्यश्री शत जीवी हों और उनके हाथो मानवता की अधिकाधिक सेवा होती रहे, ऐसी हमारी कामना है।

—⁂—

महामानव तुलसी

प्रो० मूलचन्द सेठिया, एम० ए०
बिरला आर्ट्स कालेज, पिलानी

आचार्यश्री तुलसी का नाम भारत मे नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन का एक प्रतीक बन गया है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन अन्धकार मे दीप-शिखा की तरह सबका ध्यान आकृष्ट कर रहा है। एक मुग्ध विस्मय के साथ युग देख रहा है कि एक सम्प्रदाय के आचार्य मे इतनी व्यापक सवेदनशीलता, दूरदर्शिता और अपने सम्प्रदाय की परिधि से ऊपर उठ कर जन-जीवन की नैतिक-समस्याओ मे उलझने और उन्हे सुलझाने की प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न हुई ? आचार्यश्री तुलसी को निकट से देखने वाले यह जानते है कि इसका रहस्य उनकी महामानवता मे छिपा है। मानवीय सवेदना से प्रेरित होकर ही उन्होने अनैतिकता के विरुद्ध अणुव्रत-आन्दोलन आरम्भ किया। आज के युग मे, जब कि प्रत्येक वर्ग एक-दूसरे को भ्रष्टाचार के लिए उत्तरदायी सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है और स्वय अपने को निर्दोष घोषित करता है आचार्यश्री तुलसी अपने निर्लेप व्यक्तित्व के कारण ही यह अनुभव कर सके कि भ्रष्टाचार एक वर्ग-विशेष की समस्या न होकर निखिल मानव-समाज की समस्या है। जितनी व्यापक समस्या हो, उसका समाधान भी उतना ही मूलग्राही होना चाहिए। आचार्यश्री तुलसी ने इस मानवीय समस्या का मानवीय समाधान ही प्रस्तुत किया है। उनका सन्देश है कि जन-जीवन के व्यापक क्षेत्र मे, जो व्यक्ति जहा पर खडा है, वह अपने बिन्दु के केन्द्र से वृत्त बनाते हुए समाज के अधिकाधिक भाग को परिशुद्ध करने का प्रयत्न करे। यही कारण है कि जब अन्यान्य विचारक विवाद और वितर्क के द्वारा प्याज के छिलके उतारते ही रह गये, आचार्यश्री तुलसी अपनी दृढ निष्ठा और अपार मानवीय सवेदना के सम्बल को लेकर भ्रष्टाचार की समस्या के व्यावहारिक समाधान मे सलग्न हो गये।

पवित्रता का वृत्त

यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि किसी भी समस्या को उसके व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे ही समझा और सुलझाया जा सकता है, परन्तु जब तक सामाजिक वातावरण मे परिवर्तन नही हो, तब तक हाथ-पर-हाथ धर कर बैठे रहना भी तो एक प्रकार की पराजित मनोवृत्ति का परिचायक है। जो समाज-तन्त्र की भाषा मे सोचते हैं, वे बडे-बडे आंकडो के माया-जाल मे उलझे हुए निकट भविष्य मे ही किसी चमत्कार के घटित होने की आशा मे निश्चेष्ट बैठे रहते हैं, परन्तु जो मानव को व्यक्ति-रूप मे जानते है और नित्यप्रति सैकडो व्यक्तियो के सजीव सम्पर्क मे आते है, उनके लिए कार्य-क्षेत्र सदैव खुला रहता है। आचार्यश्री तुलसी के लिए व्यक्ति समाज की एक इकाई नही, प्रत्युत समाज ही व्यक्तियो की समष्टि है। वे समाज से होकर व्यक्ति के पास नही पहुँचते, वरन व्यक्ति से होकर समाज के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते है। समाज तो एक कल्पना है, जिसकी सत्यता व्यक्तियो की समष्टि पर निर्भर है, परन्तु व्यक्ति अपने-आप मे ही सत्य है, हालांकि उसकी सार्थकता समाज की मुखापेक्षिणी होती है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन इसी व्यक्ति को लेकर चलता है, समाज तो उसका दूरगामी लक्ष्य है। वे व्यक्ति को सुधार कर समाज के सुधार को चरम परिणति के रूप मे प्राप्त करना चाहते हैं, समाज के सुधार की अनिवार्य परिणति व्यक्ति का सुधार नही मानते। इसलिए उनका प्रयत्न अपने प्रारम्भिक रूप मे कुछ स्वल्प-सा, नगण्य-सा प्रतीत हो सकता है, परन्तु उसमे महान् सम्भावनाए छिपी

हुई है। कुछ निष्ठावान् व्यक्ति समाज मे एक ऐसा पवित्रता का वृत्त तो बना ही सकते है, जो उत्तरोत्तर विस्तृत होते हुए कभी सम्पूर्ण समाज को अपने घेरे के अन्दर ले सकता है। खेद है कि अणुव्रत-आन्दोलन की इस महती सम्भावना की ओर विचारको का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हुआ है।

मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक

दस-बारह वर्षों के सीमित काल मे आचार्यश्री तुलसी ने अपने अणुव्रत-आन्दोलन को एक नैतिक शक्ति का रूप प्रदान कर दिया है। इस आन्दोलन का मूलाधार कोई राजनैतिक या आर्थिक सगठन नही, बल्कि आचार्यश्री तुलसी का महान् मानवीय व्यक्तित्व ही है। एक सम्प्रदाय के मान्य आचार्य होते हुए भी आचार्यप्रवर ने अपने व्यक्तित्व को साम्प्रदायिक से अधिक मानवीय ही बनाये रखा है। आचार्यप्रवर अणुव्रतियो के लिए केवल सघ-प्रमुख ही नही, उनके मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक (Friend, Philosopher and Guide) भी है। वे अपने जीवन की कठिनाइयो, उलझनो और सुख-दुःख की सैकडो बाते आचार्यश्री तुलसी के सम्मुख रखते है और उनको अपने सघ-प्रमुख द्वारा जो समाधान प्राप्त होता है, वह उनकी सामयिक समस्याओ को सुलझाने के साथ ही उन्हे वह नैतिक बल भी प्रदान करता है जो अन्तत आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करता है। आचार्यश्री तुलसी की दृष्टि मे हल है हलकापन जीवन का। आचार्यप्रवर मनुष्य के जीवन को भौतिकता के भार से हलका देखना चाहते है, उसके मन को राग-विराग के भार से हलका देखना चाहते है और अन्तत उसकी आत्मा को कर्मों के भार से हलका देखना चाहते है। उनकी दृष्टि ध्रुव-तारे की तरह इसी जीव-मुक्ति की ओर लगी हुई है, परन्तु वे लघु मानव को अँगुली पकड कर धीरे-धीरे उस लक्ष्य की ओर आगे बढाना चाहते है। मेरी दृष्टि मे आचार्यश्री तुलसी आज भी समाज-सुधारक नही, एक आत्म-साधक ही है और उनका समाज-सुधार का लक्ष्य आत्म-साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण करना ही है।

आज के युग मे जबकि प्रत्येक व्यक्ति पर कोई-न-कोई 'लेबल' लगा हुआ है और दलो के दलदल मे धँसे हुए मानवता के पैर मुक्त होने के लिए छटपटा रहे है, किसी व्यक्ति मे मानव का हृदय और मानवता का प्रकाश देखकर चित्त मे आह्लाद का अनुभव होता है। हमारा यह आह्लाद आश्चर्य मे बदल जाता है, जब कि हम यह अनुभव करते है कि एक बृहत एव गौरवशाली सम्प्रदाय के आचार्य होने पर भी उनकी निर्विशेष मानवता आज भी अक्षुण्ण है। निस्सन्देह आचार्यश्री तुलसी एक महान् साधक है, सहस्रो साधको के एकमात्र मार्ग-निर्देशक है। एक धर्म-सघ के व्यवस्थापक है और एक नैतिक आन्दोलन के प्रवर्तक है, परन्तु और कुछ भी होने के पूर्व वे एक महामानव है। वे एक महान् सत और महान आचार्य भी इसी लिए बन सके है कि उनमे मानवता का जो मूल द्रव्य है, वह कसौटी पर कसे हुए सोने के समान शुद्ध है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने आचार्यत्व के पच्चीस वर्ष पूरे किये है और इसी उपलक्ष मे धवल-समारोह मनाया जा रहा है। सम्भवत रजत-समारोह इसलिए नही मनाया जा रहा है कि वह तो उनके लिए मिट्टी है। हाँ, श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य होने के नाते धवल का, उनके लिए कुछ आकर्षण हो सकता है। उनकी सम्पूर्ण साधना धवलता की ही तो साधना है—वस्त्र की धवलता, चित्त की धवलता, वृत्तियो की धवलता और अन्तत आत्मा की अमल धवलता। आचार्यश्री तुलसी अपने को धवल बना कर ही सन्तुष्ट नही हुए, वे युग की कालिमा को भी धो-पोछकर धवल बना देने पर तुले हुए है। इसीलिए तो आज उनके धवल-समारोह मे एक विचार और एक लक्ष्य मे विश्वास रखने वाले सभी सम्प्रदायो और दलो के व्यक्ति सम्मिलित हो रहे है। इस धवल-समारोह के उज्ज्वल क्षणो मे उन अमल-धवल चरणो मे मेरा भी प्रणत प्रणाम! क्या मेरा यह प्रणाम भी उस महामानव के चरणो मे जाकर धवल बन सकेगा?

हे गौरव-गिरि उत्तुंग काय!
पद-पूजन का भी क्या उपाय?

भारतीय संत-परम्परा के एक संत

डा० युद्धवीर सिंह
अध्यक्ष, औद्योगिक सलाहकार परिषद्, दिल्ली प्रशासन

आचार्य प्रवर श्री तुलसी से मेरा सम्पर्क आज से लगभग कोई आठ-दस वर्ष पूर्व स्थापित हुआ। उसके बाद उनके दर्शन और उनके भाषण सुनने का लगातार अवसर मिलता रहा। उनकी कृपा से मैने तेरापथ, जिसके वे आचार्य है, उसका कुछ साहित्य आदि और आचार्यश्री भिक्षु का जीवन-चरित्र भी पढ़ा।

आचार्यश्री तुलसी भारत के सन्तो की परम्परा मे एक सन्त तुल्य है। आपकी वाणी मे रस है, आपके सम्पर्क से मनुष्य अपनी आत्मा का उत्थान होते हुए अनुभव करता है। आपका जीवन तपस्वी जीवन है और आपका व्यक्तित्व आकर्षक है। एक छोटी-सी सम्प्रदाय के नेता होते हुए भी आपने हर मजहब और हर प्रान्त के अच्छे-अच्छे लोगो को आकर्षित किया है। आपके आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के इस शुभ अवसर पर मै आपके चरणो मे अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ।

आपने नैतिकता की ओर विशेष ध्यान दिया और उसी के लिए अणुव्रत-आन्दोलन चलाया। आन्दोलन मे बहुत से लोग सम्मिलित हुए और नि सन्देह उसका असर भी लोगो पर पड़ा है। मेरी कुछ ऐसी धारणा है कि यदि आचार्य-प्रवर एक साम्प्रदायिक आचार्य न होकर मुक्त होते हुए ऐसा आन्दोलन चलाते तो उसका व्यापक असर होता। आपके एक सम्प्रदाय के आचार्य होने के कारण जनता का ध्यान सम्भवत उतना उस ओर आकर्षित न हुआ हो, जितना होना चाहिए था। फिर भी आपके त्याग, तपस्या और व्यक्तिगत प्रभाव से प्रभावित होकर बहुत से लोगो का नैतिक उत्थान हुआ है और होगा।

मेरी ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना है कि आचार्य प्रवर दीर्घायु हो और उनको जो शिष्य मिले, वे उनके कार्य को आगे बढ़ाए और वे शिष्य न केवल उनके पथ मे बल्कि उसके बाहर भी मिले, जिससे उनका अत्युपयोगी और अत्यावश्यक अणुव्रत-आन्दोलन देश मे व्यापक रूप धारण करके देश की आचार-हीनता और गिरती हुई नैतिकता को रोकने मे समर्थ हो, क्योकि स्वतन्त्र भारत सर्वथा उन्नत तभी होगा, जब त्याग और तपस्या एव सत्य और अहिसा के मूल सिद्धान्तो को धारण करके उसका आचार ऊँचा होगा। आचार्यजी को मै एक बार फिर नमस्कार करता हूँ और उनके प्रयत्नो की सफलता के लिए प्रार्थना करता हूँ।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व : एक अध्ययन

मुनिश्री रूपचन्दजी

जीवन अनन्त गुणात्मक है। उसका विकास ही व्यक्तित्व की महत्ता का आधार बनता है। महान् और साधारण, ये दोनों शब्द गुणात्मक तारतम्य ही लिये हुए है, जो कि व्यक्ति-व्यक्ति के व्यक्तित्व का विभाजन करते है। अन्यथा हम एक व्यक्ति के लिए महान् और दूसरे व्यक्ति के लिए साधारण शब्द का प्रयोग नही कर सकते। आचार्यश्री महान् है, क्योकि उनका व्यक्तित्व महान् है। उनका व्यक्तित्व महान् इसलिए है कि वे साधारण की भूमिका को विशिष्ट बनाते हुए चलते है। कोई भी व्यक्ति साधारण म अस्पृष्ट रह कर महान् नही बनता है। किन्तु वह साधारण को विशिष्ट बनने का विवेक देता है, इसलिए महान् बनता है। मेरा विवेक सब पर छा जाये, यह चेतना का ग्रह है। महत्ता उससे अतीत है। वह प्रत्येक सुषुप्त विवेक को जगाने के लिए पथ-निर्देशन भी करती है और उसके समुचित विकास के लिए पर्याप्त अवकाश भी देती है। जहां इसका अभाव होता है, वहां व्यक्ति अनुशास्ता बन सकता है, महान् नही। सीधे शब्दो मे कहे तो उसका अधिकार केवल कलेवर तक पहुंच सकता है, प्राण उसके लिए सदैव ही अगम्य रहते है। आचार्यश्री का व्यक्तित्व महान् इसलिए है कि प्राण उनके लिए गम्य ही नही बने, किन्तु प्राणो ने उनका अनुगमन कर उनका लक्ष्य भी पाया।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे एक ओर जहां अध्यात्म-साधना मे तल्लीन है, वहां दूसरी ओर एक बृहत् संघ के अनुशास्ता भी। तीसरी ओर वे व्यक्ति-व्यक्ति की समस्याओं को समाहित करने मे तत्पर है तो चौथी ओर अध्ययन, स्वाध्याय और शिक्षा-प्रसार के लिए अथक प्रयास करते दिखाई देते है। प्राचीन आगमिक साहित्य की शोध के लिए जहां वे अहर्निश जुटे हुए है तो इसके साथ ही जीवन की प्राचीन रूढता के उन्मूलन मे भी वे बद्ध परिकर है। इस प्रकार उनके जीवन का प्रत्येक क्षण अदम्य उत्साह और सतत गतिशीलता से ओत-प्रोत है। जीवन की डोर को हाथ मे थाम जो उसको जितना अधिक विस्तार दे सकता है, वही व्यक्तित्व-विकास की समग्रता पा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति मे अपनत्व की पुट बिखेर देना व्यक्तित्व की सबसे बडी सफलता है। यह तभी सम्भव है, जबकि व्यक्ति अपने 'व्यक्ति' से ऊपर उठ कर अपना सब कुछ उत्सर्ग कर दे। जीवन अनन्त तृष्णाओं का सगम-स्थल है। यह प्रत्येक जीवधारी की सामान्य अवस्थिति थी। किन्तु चिन्तन की उदात्तता यही विश्राम लेना नही चाहती। वह और आगे बढती है और वहां तक बढती है, जहां कि तृष्णाए छिछली बनती हुई तृप्ति का भी पार पाने का यत्न करती है। तृष्णा और तृप्ति हमारी मानसिक कल्पनाओं की ही तो कलनाए है। वे कलनाए जब उनका पार पा ले, तब व्यक्ति देहातीत बन जाता है। वैसी स्थिति मे उसके लिए आगत और अनागत, दृश्य और अदृश्य की सभी सीमाए होने पर उनसे वह बाधित नही हो सकता। क्योंकि उन्हे वह उत्साहपूर्वक आत्म-सात् करने का प्रण लिये चलता है, उत्सुकता और उद्विग्नता जैसा कोई भी तत्त्व उसके लिए अवशेष नही रह जाता।

जीवन की दो अवस्थाएं

व्यक्ति और देवत्व जीवन की ये दो अवस्थाए है। व्यक्तित्व वह है जो कि व्यक्ति का स्व होता है और देवत्व वह है जो कि व्यक्तित्व को कुछ विशिष्ट ऐश्वर्य मे समारोपित करता है। व्यक्तित्व लौकिक होता है और देवत्व अलौकिक। अलौकिक हमारे व्यवहार को नहीं साध सकता। वह व्यवहार के लिए सदा आदर्श और अगम्य ही बना रहता है,

इसलिए उसकी दृष्टि मे उस (देवत्व) का कोई मूल्य भी नही। आचार्यश्री एक मानव है। इसलिए उनका अंकन भी उनके अपने व्यक्तित्व मे करना अधिक समुचित होगा। वे मानव है, इसलिए सभी मानव विवशताए भी उनमे उसी रूप मे विद्यमान है, जिस रूप मे प्रत्येक सामान्य जीवन के समक्ष आती रहती है। फिर भी उनका व्यक्तित्व अन्य से विशिष्ट इसलिए है कि उन्होने सामान्य की भूमिका पार कर विवशताओं को परास्त ही नही किया, किन्तु उसे सहयोगी गुणो के रूप मे परिवर्तित भी कर दिया। तिमिर को मिटाना उनके जीवन का लक्ष्य नही, किन्तु उसको आलोक मे परिवर्तित कर देना, यही उनका आत्म-घोष रहा है। विरोधी के साथ भी मित्रता का व्यवहार करना अहिंसा का विकास है। किन्तु अहिंसा की पराकाष्ठा वह है, जहाँ शत्रु नाम की कोई चीज रह ही न जाये, सब कुछ मित्र मे परिणत हो जाये।

व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति अपने आस-पास के वातावरण की अनुकूलता पाकर फले-फूले यह स्वय एक निष्क्रियता है। सक्रियता वह है, जहाँ व्यक्ति जीवन भर स्थूल दृष्टि मे निष्क्रिय रह कर भी गतिशीलता के लिए जूझता रहे। गतिशीलता कभी भी वातावरण की अनुकूलता सहन नही कर सकती। प्रतिकूल परिस्थिति मे भी अपना धैर्य न खोये यह व्यक्ति की महत्ता का परिचायक है, किन्तु व्यक्ति की महत्ता वहाँ दुगुनी हो जाती है, जब कि वह पथ मे आने वाले प्रत्येक रोडो को भी लक्ष्य का महत्त्व समझा कर उसमे गति-प्रेरकता भर दे। इसमे आचार्यश्री सिद्धहस्त है। वे चलते है, प्रतिकूल परिस्थिति मे भी चलते रहे है, किन्तु अकेले ही नही, समूह का साथ लेकर चलते है। वे प्रत्येक व्यक्ति को महत्त्व देते है और उसकी योग्यता का अंकन भी करते है। उनकी गति का क्रम भी यही है कि जो गति से अनजान है, उन्हे गति का भान कराना, जो जानते है, किन्तु फिर भी प्रमादवश रुद्ध है, उन्हे प्रेरणा देना और गति करने वालो को निरन्तर आगे बढते रहने के लिए समुचित अवकाश देना। योग्यता का मूल्यांकन जहा नही होता, वहाँ नई प्रतिभाए ना विकसित हो ही नही सकती। किन्तु विकसित प्रतिभाए भी मुरझा जाती है, अत उसका समुचित रूप से नियोजन करना गतिमत्ता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है।

कुशल अनुशासक

आचार्यश्री एक कुशल अनुशासक है। अनुशास्ता बनना सहज है, किन्तु उसमे कुशलता निखर आये, यह अनुशासन की सफलता है। शासक शासितो के साथ घुल मिल जाये, यह कुशलता की कसौटी है। उस पर खरा उतरने वाला ही सघ को विकास व विस्तार दे सकता है, क्योकि वहाँ अनुशासकत्व भी त्याग और बलिदान की परिधि मे रह कर अपना कार्य साधता है। आज जहाँ अनुशासन करने की व्यक्ति-व्यक्ति मे भूख लगी है, वहाँ उसके दायित्व को समझने का प्रयास कहाँ है? आचार्यश्री ने एक बार अपने प्रवचन मे कहा—'अनुशासक बनने की अपेक्षा अनुशासन का पालन करना अधिक सहज होता है। अनुशासन-पालन मे व्यक्ति को केवल अपनी ही चिन्ता होती है, किन्तु अनुशासकत्व मे न जाने कितने अनजानो की भी चिन्ता रखनी पडती है। अनुशासकत्व का दायित्व क्या लेना है, मानो काँटो का ताज धारण करना है।' किन्तु इस गुरुतर भार का महत्त्व तभी है, जब अनुशासक उसके दायित्व को समझे। वस्तु सत्य हमे बताता है कि अनुशासन करना एक पृथक् कर्म है और उसके दायित्व को समझना एक पृथक् कर्म। दायित्व के अभाव मे ही अनुशासन लडखडाता है, अन्यथा अनुशासन मे उच्छृखलता पनप ही नही सकती। वर्तमान राज्यतन्त्र विकास नही पा रहा है, समाज-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त है और कह देना चाहिए कि बीते हुए 'कल' के माप-दण्ड 'आज' के समक्ष लडखडा रहे है और आने वाले 'कल' के समक्ष 'आज'। ऐसा क्यो है? इसलिए कि दायित्व का अंकन नही हो रहा है। अनुशासकत्व अनुशासन को विवेक देता है कि वह अपना कर्तव्य समझे। किन्तु उसके साथ ही यह प्रश्न भी उभरता है कि उसका अपना भी कोई दायित्व होता होगा? जहाँ यह चिन्तन नही होता, वही शासन क्रान्ति का रूप लेता है।

तेरापथ शासन एकतन्त्रीय परम्परा पर आधारित है, इसलिए यह अधिक अपेक्षित होता है कि उसका शास्ता योग्यता सम्पन्न हो। संघ के प्रत्येक व्यक्ति को नियन्ता के रूप मे वह तभी स्वीकार्य हो सकता है जबकि शास्ता के प्रति प्रत्येक हृदय समान रूप से श्रद्धा और समर्पण मे अन्वित हो और श्रद्धा व समर्पण को शास्ता तभी प्राप्त कर सकता है जब कि उसके समस्त व्यवहार एक इस प्रकार की कसौटी पर कसे हो, जो सर्वमान्य है। प्रजातन्त्र मे इसके लिए सम्भवत:

इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नही। किन्तु एकतत्र मे इसका सर्वोपरि स्थान है। एकतत्र का प्रयोग वही असफल रहा है, जहाँ कि शास्ता के व्यवहारो पर अहता ने अपना स्थान जमा लिया। एकतत्र की यही सबसे बडी दुर्बलता है और यदि वह कुशल अनुशास्ता द्वारा पाट दी जाती है तो वह समाज सम्भवत. अन्य किसी समाज से उन्नति और विकास की घुडदौड मे पिछड नही सकता। मुझे एक घटना याद आ रही है। एक बार की बात है कि आचार्यश्री के समक्ष एक विवादास्पद प्रसग उपस्थित हुआ। दोनो पक्षो ने अपने-अपने पक्ष सबलता पूर्वक रखे। आचार्यश्री सुनते रहे और सुनते रहे किन्तु एक शब्द भी उत्तर मे नही कहा। बात की समाप्ति पर दोनो ही पक्ष निर्णय सुनने को आतुर थे। पर आचार्यश्री ने निर्णय की अपेक्षा उसी दिन से एकासन (एक समय भोजन) करना आरम्भ कर दिया। एकासन का पहला दिन बीता, दूसरा दिन बीता और तीसरा दिन भी बीत गया। दोनो पक्षो के आग्रह पर यह निर्मम प्रहार था जो उसे सहन नही कर सका। उसके बन्धन ढीले पडे और विवाद स्वय समाहित हो गया। तब सभी ने माना कि विवाद के अन्त के लिए यह निर्णय उस निर्णय की अपेक्षा कही अधिक अमोघ व सहज था। ऐसे एक नही, अनेको अवसर शास्ता के समक्ष आते है जबकि अनुशासन स्वय अनुशासक का परीक्षण करना चाहता है। परीक्षण ही नही, कभी-कभी उसे अनुशासित भी करना है ताकि सघ की सुचारुता बनी रहे। आचार्यश्री इसमे कितने कुशल और कहाँ तक सफल रहे है, इसके लिए तेरापथ सगठन का सर्वांगीण विकास एक ज्वलन्त प्रमाण लिये हमारे सामने है।

प्रत्येक चेतना का यह स्वभाव होता है कि वह अपने से भिन्न चेतना मे कुछ वैशिष्ट्य खोजना चाहती है। जहाँ से वह मिल जाता है, उसे वह सहर्षतया अपना समर्पण भी कर देती है, किन्तु समर्पण भी अपना स्थायित्व नही गाडता है, जहाँ उसे नित नई स्फुरणाए और उसे सवारने वाली साज-सज्जा मिलती रहे। अन्यथा वह अस्थायी नही बन सकता। वैशिष्ट्य भी जब दूसरी चेतना को देने का उपक्रम करने लगता है तब कृत्रिमता पनपने लगती है और वह उस दुर्बलता को अवसर पाकर प्रकट कर ही देती है। सच तो यह है कि वैशिष्ट्य मे चेतना का समर्पण जब तक स्वय कुछ न कुछ ग्रहण करता रहेगा, तब तक ही वह निभ सकेगा। कृत्रिमता भले ही कुछ समय के लिए उसे भुलावे मे रख सकती है, किन्तु समर्पण उससे प्रेरणा नही पा सकता। इस दृष्टि से भी श्रद्धेय का व्यक्तित्व उस रूप मे निखरे यह अपेक्षित होता है, जिसमे कि वह सबकी श्रद्धा समान रूप से पचा सके। क्षण-स्थायी आस्था को प्रतिपल भटकने का भय बना रहता है तो उसे अन्त तक निभाने मे श्रद्धेय भी सफल नही हो सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमे कि मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय का प्राधान्य होता है। यही कारण है कि तर्क उसे सिद्ध करने मे सदा ही असफल रहा है। वस्तुवृत्त्या तेरापथ सगठन मे शासक-शासित की भावना के प्राधान्य की अपेक्षा उसमे गुरु-शिष्य भाव रहे, इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। नेतृत्व-पालन करने वालो मे नेता की अनिवार्यता का भान हो, तभी शिष्यत्व का भाव उभरता है। वहाँ हृदय का प्राधान्य रहता है, मस्तिष्क का नही। यही कारण है कि एक अकिंचन सगठन जिसके सचालन मे अर्थ का कोई प्रश्न ही नही, आज दो सौ वर्षों से भी अक्षुण्ण और गतिशीलता लिये अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा है। मै नही समझता कि विश्व के इतिहास मे ऐसा एक भी उदाहरण मिलता हो जिसमे कि बिना किसी प्रकार के भौतिक मूल्यो के आधारित कोई भी सगठन का स्थायित्व इतने लम्बे समय तक और वह भी अपनी उत्तरोत्तर उज्ज्वलता और विकास को अपने मे समेटे चला हो। प्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्रजी से एक बार तेरापथ के बारे मे उनके विचार पूछे गये तो उन्होने बताया कि "जो कुछ मै जानता हूँ, उससे इस सगठन के प्रति मुझमे विस्मय का भाव होता है। कारण कि उसके केन्द्र मे सत्ता नही है। सत्ता को अधिकार, हथियार और सम्पत्ति से सुरक्षित और समर्थ बनाया जाता है।" तो क्या तेरापथ को एक ऐसे रूप मे स्वीकार किया जा सकता है जो कि सत्ता और सम्पत्ति से दूर कुछ परम तत्त्वो से ही अपनी मौलिकता सचित करता हो। यह पूछने पर उन्होने बताया कि मैं इससे सहमत हूँ। कारण कि मैं आस्तिक हूँ। आस्तिक का मतलब मै समष्टि को चित्-केन्द्रित और चित्-सचालित मानता हूँ। यह चित्-अस्तित्व का ससार है। मेरी श्रद्धा है कि जहाँ सगठन के केन्द्र मे यह चित् तत्त्व है, वही संगठन का जीवन है और शुभ है। अन्यथा सगठन मे सदिग्ध का मेल होता है और उससे फिर जीवन का अहित होने लगता है। मानव सगठन के सम्बन्ध मे यह श्रद्धा आज खत्म हुई-सी जा रही है कि बिना सत्ता और सम्पदा के वह उदय मे आ सकता या कायम रह सकता है।" इस अनास्था को टूटना चाहिए और मालूम होना चाहिए कि कुछ और

भी तत्त्व है—चिन्मय तत्त्व, आध्यात्मिक तत्त्व, नैतिक तत्त्व आदि, जिस के चारों ओर मानव-सघटना हो सकती है और होनी चाहिए। यदि ऐसा हो तो मेरा विश्वास है, हम देख पायेंगे कि यह सघटना काल को भेदती हुई स्थायी बनती है, उसमे उगने और बढ़ने के बीज रहते है।

सप्राण नेतृत्व

व्यक्ति और संगठन इतने सश्लिष्ट और एकात्मक होते है कि हम उनमे विभेद देख ही नही सकते। यह तभी सम्भव है, जब उसका नेता सघटनात्मक प्रवृत्तियो मे अनुयायी वर्ग को एक-रस कर दे। एक-रसात्मकता व्यक्ति सगठन के बीच मे अभिन्नता ही स्थापित नही करती, किन्तु वह उसमे अपनी अनिवार्यता भी आरोपित कर देती है। वहां न व्यक्ति सघ के लिए भारभूत बनता है और न व्यक्ति के लिए सगठन ही स्वतन्त्रता-अपहरण की स्थिति उपस्थित करता है। जैनेन्द्र जी के शब्दो मे—"मैं स्वतन्त्रता शब्द को बहुत ऊँचा नही मानता। मेरे निकट स्वतन्त्रता की सार्थकता सर्वथा देने मे है, लेने मे तनिक भी नही, अर्थात् मुझे प्रेम प्रिय है। अपनी स्वतन्त्रता उस नाते मुझे अप्रिय भी हो सकती है। आचार्य तो, मान लो, एक के बजाय अनेक भी हो सकते है। लेकिन क्या आदमी मे अन्त करण और विवेक भी दो हो सकते है। क्या विवेक के आधिपत्य को स्वतन्त्रता का घातक कहना होगा ? यदि आचार्य सत्ता भोगी नही है, उस समाज या सघ के अन्त करण का प्रतीक है तो उसमे मै पूरा-पूरा औचित्य देखता हूं।" किन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि आचार्य या सघ-सचालक उसमे सजीवता भर दे। मानव की प्रत्येक कृति अपने मे एक अकल्पित सम्भार लिए हुए है। पर वह सम्भार तभी खलता है, जब वह प्राण-शून्य बन जाता है। प्रत्येक कला मे अमरत्व वही निखरता है, जब वह सजीव और जीवन्त हो। निष्प्राण तो यह शरीर भी भारभूत बन जाता है। आचार्यश्री की यह सर्वाधिक विशेषता रही है कि उन्होने अपने नेतृत्व को सप्राण बनाये रखा है। इसे नेता की ही सफलता मानना चाहिए। अनुपालक वर्ग तो उसे रूढ व निष्प्राण बनाने को प्रतिपल तत्पर दिखाई देता है। वह सघ की प्रत्येक पद्धति को शरीर से ही पकड़ने का प्रयत्न करता है। उसके साथ चेतना कही छूट न जाये, यह कार्य उसके नेता से ही सम्भव होता है। यही कारण है कि तेरापथ अपनी उज्ज्वलतर धारा लिए अविरल गति से आगे बढ रहा है।

सफल कलाकार

उनके जीवन का कलात्मक पक्ष अधिक प्रभाव और प्रवाह पूर्ण रहा है। सत्य, शिव, सुन्दर मनुष्य का स्वभाव है। वह उसे अपने जीवन मे साकार देखना चाहता है। किन्तु वह तभी सम्भव है जबकि वह अपनी प्रत्येक कृति मे कलात्मकता भर दे। हम सत्य, शिव, सुन्दर का रचनात्मक रूप कला को मान ले तो कोई असगत नही होगा। इस प्रकार प्रवृत्ति की प्राणवत्ता के लिए यह आवश्यक है कि उसमे कला का रूप निखरे। प्रत्येक वस्तु मे जो सरसता और सौन्दर्य का दर्शन होता है, वह कला का ही परिणाम है। कलाकार उसमे जितनी अधिक कलात्मकता भर पाता है, उसमे सौन्दर्य उतना ही अधिक चमत्कार लिये अवतरित होता है। धरती का प्रत्येक अणु अपने मे सौन्दर्य समेटे हुए है। परन्तु उसका प्रक्रियात्मक और प्रयोगात्मक रूप केवल कलाकार के हाथो से ही सम्भव होता है। उसकी कुशलता प्रत्येक नीरसता मे सरसता उड़ेल देती है। सस्कृत व्याकरण की दुरूहता से उसके छात्र अनभिज्ञ नही है। सम्भवत व्याकरण की इस दुरूहता के कारण सस्कृत लोक-भाषा बनने मे अभी तक सफल नही हो रही है। किन्तु यही विषय जब आचार्यश्री के द्वारा विद्यार्थीगण पढते है तो सचमुच ही यह अनुभव होता है कि यह विषय अन्य विषयो से कम रसात्मक नही। पर यह अनुभूति व्याकरण की सुगमता सिद्ध नही कर सकती। यह तो अध्यापक की विलक्षणता है जो कि अपने अध्यापन मे वह कलात्मकता भर देता है जिससे विद्यार्थी उसे काव्य की-सी सरसता प्राप्त कर सके। इसका यह परिणाम है कि वे व्याकरण, दर्शन, तर्क-शास्त्र और आगमिक ज्ञान जैसे दुर्गम विषयो को भी सफलतापूर्वक प्रसारित करते रहे है। उन्होने सस्कृत का सागोपाग अध्ययन स्वय तो किया ही, किन्तु सघ के शिक्षा-पाठ्यक्रम मे प्रमुख स्थान देकर मृत-भाषा कही जाने वाली सस्कृत-भाषा को जीवन्तता दी है। ठीक इसी प्रकार उन्होने अपने प्रत्येक क्रिया-कलापो मे कला की पुट का आरोपण किया

है या उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति मे कला का स्फुरण सहज रूप से हुआ है, क्योंकि वे सफल कलाकार जो ठहरे।

अपनी आत्म-साधना

आचार्यश्री के व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष जिसे कि मै मानता हूँ, उनकी अपनी आत्म-साधना है। प्रत्येक व्यक्तित्व अपनी दुर्बलताओ से अधिक मर्माहत होता है। यह आघात भी ऐसा होता है जिसका कि कोई उपचार नही। व्यक्तित्व की सबसे बडी असफलता वह होती है, जहाँ व्यक्ति स्वय अपने मे ही कतरा जाता है। इसका प्रभाव प्रत्येक क्रिया मे कुण्ठा भरता है और अन्तत असफलता और निराशा के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नही आता।

सामान्यतया साधना और ससार दोनो के क्षेत्र सर्वथा पृथक्-पृथक् होते है। साधना के अभ्यास काल के लिए यह आवश्यक भी होता है। अन्यथा ससार की टेढी-मेढी पगडडियों मे वह कभी ही भटक जाये। किन्तु साधना की परिपक्वता मे ससार उससे अस्पृष्ट नही रहता है। साधक के लिए समूचा ब्रह्माण्ड साधनामय हो जाता है। वह साधना के उत्कर्ष का फल है। उसके लिए यह आवश्यक होता है कि साधक अपने क्रिया-कलापो मे साधना का समारोहण कर दे। वह अपनी प्रवृत्ति और साधना के बीच विलगता न पनपने दे। प्राय साधक वही फिसलता है जबकि वह साधना और प्रवृत्ति के बीच सामजस्य नही रख पाता। जो इस पर विजयी बना, वह अध्यात्म की भाषा मे जीवन-मुक्त बना। आचार्यश्री अपनी वर्तमान अवस्था मे साधना की कौन-सी भूमिका पार कर रहे है, यह प्रश्न सम्भवत उनके लिए नही है, किन्तु हमारे लिये अवश्य है जो कि बुद्धि के कठघरे मे बँधे हुए है। वे अपने मे जो कुछ बनना चाहते है या जो कुछ है, वह उनके लिए कुछ भी विशेष नही। क्योंकि वे अपने मे एक-रस है। एक-रसता मे कुछ भी भिन्न नही रह जाता और उसी एक-रसता मे वे साधना और ससार को घुला-मिला देखना चाहते है। व्यक्ति और साधनाके बीच मे समय की रेखाए खिच जाये, यह उनको बिल्कुल मान्य नही। उनके अपने शब्दो मे "विचार प्रवाहमान रहते है, तब तक उनमे स्वच्छता रहती है। उसका प्रवाह रुकता है, वे पकिल बन जाते है। रूढियाँ अनावश्यक नही होती। व्यक्ति या समाज को जीवित रखने के लिए देश-काल के अनुरूप रूढि का आलम्बन लेना होता है। यहाँ पर रूढिवाद नही है। रूढिवाद वह है, जो देश-काल के बदले जाने पर भी देश-काल-जनित स्थिति को न बदलने का आग्रह करे।" इसी भावना को लक्षित करते हुए कहा गया

इस काल पुरुष की रेखा में सिमटे जीवन को
उस असीम की ओर बढ़ाना चाहते हो,
व्यवहार जहाँ पर तरल रूप ले बह जाता
उस चरम सत्य को व्यक्त बनाना चाहते हो।

सच तो यह है कि आचार्यश्री जो कुछ है, हमारे समक्ष है और जो कुछ बनना चाहते है, वह भी दृष्टि से ओझल नही है। फिर हमारे अन्तर-चक्षु या चर्म-चक्षु उन्हे कहाँ तक परखते है, यह अपनी-अपनी योग्यताओ पर भी अवलम्बित है।

द्वितीय संत तुलसी

श्री रामसेवक श्रीवास्तव
सहसम्पादक—नवभारत टाइम्स, बम्बई

सन् १९५५ की बात है, जब अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी बम्बई में थे और कुछ दिनो के लिए वे मलुण्ड (बम्बई का एक उपनगर) मे किसी विशिष्ट समारोह के सिलसिले मे पधारे हुए थे। यही पर एक प्रवचन का आयोजन भी हुआ था। सार्वजनिक स्थान पर सार्वजनिक प्रवचन होने के नाते मैं भी उसका लाभ उठाने के उद्देश्य से पहुँचा हुआ था।

प्रवचन मैं कुछ अनिच्छा से ही सुनने गया था, क्योकि इससे पूर्व मेरी धारणा साधुओं तथा उपदेशको के प्रति, विशेषतया धर्मोपदेशको के प्रति कोई बहुत अच्छी न थी और ऐसे प्रसगो मे प्राय महात्मा तुलसीदास की उस पक्ति को दोहराने लगता था जिसमे उन्होने **पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे** कहकर पाखडी धर्मोपदेशको की अच्छी खबर ली है। परन्तु आचार्यश्री तुलसी के प्रवचन के बाद जब मैंने उनकी और उनके शिष्यो की जीवनचर्या को निकट से निरीक्षण किया तब तो मैं स्वय अपनी लघुता से बरबस इतना दब-सा गया कि आत्म-ग्लानि एक अभिशाप बन कर मेरे पीछे पड गई और आचार्यश्री तुलसी जैसे निरीह सत के प्रति अनजाने ही अश्रद्धा का भाव मन मे लाने के कारण बडा पश्चात्ताप हुआ। मारे लज्जा के मै कई दिनो तक फिर किसी ऐसे समारोह मे गया ही नही।

मुनिश्री से भेंट

कुछ दिन बाद मुनिश्री नगराजजी की सेवा मे मुझे उपस्थित होने का सौभाग्य मिला। आपने मुझे अणुव्रत पर कुछ साहित्य तैयार करने की प्रेरणा दी। मैंने अपनी असमर्थता के साथ अपनी हीनता का भी स्पष्टत निवेदन किया और बताया कि अणुव्रत-आन्दोलन के किसी भी नियम की कसौटी पर मै खरा नही उतर सकता, तब, ऐसी स्थिति मे इस विषय पर लिखने का मुझे क्या अधिकार है? मुनिश्री ने कहा कि अणुव्रत का मूलाधार सत्य है और सत्य-भाषण कर आपने एक नियम का पालन तो कर ही लिया। इसी प्रकार आप अन्य नियमो का भी निर्वाह कर सकेंगे। मुझे कुछ प्रोत्साहन मिला और मैंने अणुव्रत तथा आचार्यश्री तुलसी के कतिपय ग्रन्थो का अध्ययन कर कुछ समझने की चेष्टा की और एक छोटा-सा लेख मुनिश्री की सेवा मे प्रस्तुत कर दिया। लेख अत्यन्त साधारण था, तो भी मुनिश्री की विशाल सहृदयता ने उसे अपना लिया। तब से अणुव्रत की महत्ता को कुछ आँकने का मुझे सौभाग्य मिला और मेरी यह भ्रान्ति भी मिट गई कि सभी धर्मोपदेशक तथा सत निरे परोपदेशक ही होते है। सच तो यह है कि गोस्वामी तुलसी की वाणी की वास्तविक सार्थकता मैंने आचार्यश्री तुलसी के प्रवचन मे प्राप्त की।

जीवन और मृत्यु

गोस्वामी तुलसी ने नैतिकता का पाठ सर्वप्रथम अपने गृहस्थ जीवन मे और स्वय अपनी गृहिणी से प्राप्त किया था, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने तो आरम्भ मे ही साधु-वृत्ति अपनाकर अपनी साधना को नैतिकता के उस सोपान पर पहुँचा दिया है कि गृहस्थ और सन्यासी, दोनो ही उससे कृतार्थ हो सकते है। तुलसी-कृत रामचरितमानस की सृष्टि गोस्वामी तुलसी ने 'स्वान्त सुखाय' के उद्देश्य से की, किन्तु वह 'सर्वान्त सुखाय' सिद्ध हुआ, क्योकि सतो की सभी विभू-

तियाँ और सभी कार्य अन्यों के लिए ही होते आए है। **परोपकाराय सतां विभूतय** । फिर आचार्यश्री तुलसी ने तो आरम्भ मे ही अपने सभी कृत्य परार्थ ही किए है और परार्थ को ही स्वार्थ मान लिया है। यही कारण है कि उनके अणुव्रत-आन्दोलन मे वह शक्ति समायी हुई है जो परमाणु शक्ति-सम्पन्न बम मे भी नही हो सकती, क्योकि अणुव्रत का लक्ष्य रचनात्मक एव विश्वकल्याण है और आणविक शस्त्रो का तो निर्माण ही विश्व-सहार के लिए किया जाता है। एक जीवन है तो दूसरा मृत्यु। तो भी जीवन मृत्यु मे सदा ही बडा सिद्ध हुआ है और पराजय मृत्यु की होती है, जीवन की नही। नागासाकी तथा हिरोशिमा मे इतने बडे विनाश के बाद भी जीवन हिलोरे ले रहा है और मृत्यु पर अट्टहास कर रहा है।

वास्तविक मृत्यु

मानव की वास्तविक मृत्यु नैतिक ह्रास होने पर होती है। नैतिक आचरण से हीन होने पर वस्तुत मनुष्य मृतक से भी बुरा हो जाता है, क्योकि साधारण मृत्यु होने पर 'आत्मा' अमर बनी रहती है। **न हन्यते हन्यमाने शरीरे** (गीता)। किन्तु नैतिक पतन हो जाने पर तो शरीर के जीवित रहने पर भी 'आत्मा' मर चुकती है और लोग ऐसे व्यक्ति को 'हृदयहीन', 'अनात्मवादी', 'मानवता के लिए कलक' कहकर पुकार उठते है। इसी प्रकार नैतिकता मे हीन राष्ट्र चाहे जैसा भी श्रेष्ठ शासनतन्त्र क्यो न अगीकार करे, वह जनता की आत्मा को सुखी तथा सम्पन्न नही बना सकता। ऐसे राष्ट्र के कानून तथा समस्त सुधार-कार्य प्रभावकारी सिद्ध नही होते और न उसकी कृतियो मे स्थायित्व ही आने पाता है, क्योकि इन कृतियो का आधार सत्य और नैतिकता नही होती, अपितु एक प्रकार की अवसरवादिता अथवा अवसरसाधिका वृत्ति ही होती है। नैतिक सबल के बिना भौतिक सुख-साधनो का वस्तुत कोई मूल्य नही होता।

अणु और अणुव्रत-आन्दोलन

आज के युग मे आणविक शक्ति का प्राधान्य है और इसीलिए इसे अणु युग की सज्ञा देना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। विज्ञान आज अपनी चरम सीमा पर है और उसने अणुमात्र मे भी ऐसी शक्ति खोज निकाली है, जो अखिल विश्व का सहार कुछ मिनटो मे ही कर डालने मे समर्थ है। इस सर्वसहारकारी शक्ति से सभी भयभीत है और तृतीय विश्वव्यापी युद्ध के निवारणार्थ जो भी प्रयास प्रकारान्तर से आज किये जा रहे है, उनके पीछे भी भय की यही भावना समायी हुई है।

पश्चिमी राष्ट्रो की सगठित शक्ति से भयभीत होकर रूस ने पुन आणविक शस्त्रास्त्रो के परीक्षण की घोषणा ही नही कर दी है, वस्तुत वह दो-चार परीक्षण कर भी चुका है। रूस के इस आचरण की स्वाभाविक प्रतिक्रिया अमरीका पर हुई है और अमरीका ने भूमिगत आणविक परीक्षण आरम्भ कर दिये है।

अमरीका प्रक्षेपास्त्रो की होड मे रूस से पहले मे ही पिछडा हुआ है और इसीलिए रूस को उस दिशा मे और अधिक बढने का मौका वह कदापि नही दे सकता। साथ ही, विश्व के अन्य देशो पर भी इसकी प्रतिक्रिया हुई है और बेलग्रेड मे आयोजित तटस्थ देशो का सम्मेलन इस घटना से कदाचित् अत्यधिक प्रभावित हुआ है, क्योकि सम्मेलन शुरू होने के दिन ही रूस ने अपनी यह आतककारी घोषणा की है। इस प्रकार आज का विश्व आणविक शक्ति के विनाश-कारी परिणाम से बुरी तरह त्रस्त है। सभी ओर 'त्राहि-त्राहि'-सी मची हुई है, क्योकि युद्ध शुरू हो चुकने पर कदाचित् कोई 'त्राहि-त्राहि' पुकारने के लिए भी शेष न रह जायेगा। इस विषम स्थिति का रहस्य है कि शान्ति के आवरण मे युद्ध की विभीषिका सर्वत्र दिखाई पड रही है?

परिग्रह और शोषण की जनयित्री

जब मानव भौतिक तथा शारीरिक सुखो की प्राप्ति के लिए पाशविकता पर उतर आता है और अपनी आत्मा की आन्तरिक पुकार का उसके समक्ष कोई महत्त्व नही रहता, तब उसकी महत्त्वाकाक्षा परिग्रह और शोषण को जन्म

देती है, जिसका स्वाभाविक परिणाम साम्राज्य अथवा प्रभुत्व-विस्तार के रूप में प्रकट होता है। अपने लिए जब हम आवश्यकता से अधिक पाने का प्रयास करते है, तब निश्चय ही हम दूसरो के स्वत्व के अपहरण की कामना कर उठते है, क्योंकि औरो की वस्तु का अपहरण किये बिना परिग्रह की भावना तृप्त नही की जा सकती। यही भावना औरो की स्वतन्त्रता का अपहरण कर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को जन्म देती है, जिसका व्यवहारिक रूप हम 'उपनिवेशवाद' मे देखते हैं। शोषण की चरम स्थिति क्रान्ति को जन्म देती है, जैसा कि फ्रास और रूस मे हुआ और अन्तत हिंसा को ही हम मुक्ति का साधन मानने लगते है तथा साम्यवाद के सबल साधन के रूप मे उसका प्रयोग कर शान्ति पाने की लालसा करते हैं, किन्तु शान्ति फिर भी मृग-मरीचिका बनी रहती है। यदि ऐसा न होता तो रूस शान्ति के लिए आणविक परीक्षणो का सहारा क्यो लेता और किसी भी समझौता-वार्ता की पृष्ठभूमि मे शक्ति-सन्तुलन का प्रश्न क्यो सर्वाधिक महत्त्व पाता रहता ?

मिथ्याचरण

भारत के प्राचीन एव अर्वाचीन महात्माओं ने सत्य और अहिंसा पर जो अत्यधिक बल दिया है, उसका मुख्य कारण मानव को सुख का वह सोपान प्राप्त कराना ही रहा है, जहा तृष्णा और वितृष्णा का कोई चिह्न शेष नही रह जाता। सभी धर्मों ने अपरिग्रह और त्याग पर अत्यधिक बल दिया है, जो मूलत सत्य और अहिंसा के ही रूपान्तर है। सत्य की प्राप्ति के लिए सत्य का आचरण अनिवार्य बनाया गया है—**सच्च लोगम्मि सारभूय** (जैन) **यम्हि सच्च च धम्मो च सो सुखी** (बौद्ध) **अहमनृतात् सत्यमुपैमि** (वैदिक)।

वास्तविक धर्म मनसा, वाचा और कर्मणा शुद्धाचरण माना गया है और मन मे भी प्रतिकूल आचरण करने वाले को 'पाखण्डी' तथा 'मिथ्याचारी' बताया गया है—

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते॥ —गीता

मिथ्याचरण स्वय अपने मे एक छलना है, तब औरो मे भी अविश्वास उत्पन्न करे, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

विश्व की महान् शक्तियां शान्ति के नाम पर युद्ध की गुप्त रूप से जो तैयारियां कर रही है, यह मिथ्याचरण का ही द्योतक है और इसीलिए पूर्व तथा पश्चिम मे पारस्परिक विश्वास का निरन्तर ह्रास होकर भय की भावना उद्दीप्त हो उठी है।

भारत मे आज सर्वोत्कृष्ट प्रजातन्त्र विद्यमान होते हुए भी प्रजा (जनता) सुखी एव सन्तुष्ट क्यो नही है ? मद्यनिषेध के लिए इतने कड़े कानून लागू होने पर और केन्द्र द्वारा इतना अधिक प्रोत्साहन दिये जाने पर भी वह कारगर होता क्यो दिखाई नही पडता ? भ्रष्टाचार रोकने के लिए प्रशासन की ओर से इतना अधिक प्रयास किये जाने पर भी वह कम होने के स्थान मे बढ क्यो रहा है ? इन सबका मूल कारण मिथ्याचरण नही तो और क्या है ? आन्तरिक अथवा आत्मिक विकास किये बिना केवल बाह्य-विकास बन्धन-मुक्ति का साधन नही हो सकता। विज्ञान तथा अणु शक्ति का विकासमात्र ही उत्थान का एकमात्र साधन नही है।

अणुशक्ति (विज्ञान) के साथ-साथ आज अणुव्रत (नैतिक आचरण) को अपनाना भी उतना ही, अपितु उससे कही अधिक, महत्त्व रखता है, जितना महत्त्व हम विज्ञान के विकास को देते है और जिसे राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद आर्थिक स्वतन्त्रता का मूलाधार भी मान बैठे है।

अणुव्रत के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के शब्दो म भारतीय परम्परा मे महान् वह है जो त्यागी है। यहां का साहित्य त्याग के आदर्शों का साहित्य है। जीवन के चरम भाग मे निर्ग्रन्थ या सन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही, जीवन के आदि भाग मे भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है **यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।**

त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है। यह निरपवाद सयम-मार्ग है, जिसके लिए अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के बीच की स्थिति मे होता है, वह अणुव्रती

बनना है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है—'भगवन्! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं, किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूं। इसलिए मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत, द्वादश व्रतरूप गृही धर्म स्वीकार करूँगा।'[1]

यहां शक्ति का अर्थ है विरक्ति। संसार के प्रति, पदार्थों के प्रति, भोग-उपभोग के प्रति जिसमें विरक्ति का प्राबल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रह का व्रत उसका जीवन-धर्म बन जाता है। यह वस्तु सबके लिए सम्भव नहीं। व्रत का अणु-रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती जीवन शोषण और हिंसा का प्रतीक होता है और महाव्रती जीवन दुःशक्य। इस दशा में अणुव्रती जीवन का विकल्प ही शेष रहता है।

अणुव्रत का विधान व्रतों का समीकरण या संयम और असंयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नहीं, अपितु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

चारित्रिक आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन मूलतः चारित्रिक आन्दोलन है। नैतिकता और सत्याचरण ही इसके मूलमंत्र हैं। आत्म-विवेचन और आत्म-परीक्षण इसके साधन हैं। आचार्यश्री तुलसी के अनुसार यह आन्दोलन किसी सम्प्रदाय या धर्म-विशेष के लिए नहीं है। यह तो सबके लिए और सार्वजनीन है। अणुव्रत जीवन की वह न्यूनतम मर्यादा है जो सभी के लिए ग्राह्य एवं शक्य है। चाहे आत्मवादी हो या अनात्मवादी, बड़े धर्मज्ञ हो या सामान्य सदाचारी, जीवन की न्यूनतम मर्यादा के बिना जीवन का निर्वाह सम्भव नहीं है। अनात्मवादी पूर्ण अहिंसा में विश्वास न भी करे, किन्तु हिंसा अच्छी है, ऐसा तो नहीं कहते। राजनीति या कूटनीति को अनिवार्य मानने वाले भी यह तो नहीं चाहते कि उनकी पत्नियां उनसे छलनापूर्ण व्यवहार करें। असत्य और अप्रामाणिकता बरतने वाले भी दूसरों से सच्चाई और प्रामाणिकता की आशा करते हैं। बुराई मानव की दुर्बलता है, उसकी स्थिति नहीं। कल्याण ही जीवन का चरम सत्य है जिसकी साधना व्रत (आचरण) है। अणुव्रत-आन्दोलन उसी की भूमिका है।

अणुव्रत-विभाग

अणुव्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदार संतोष और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

१. **अहिंसा**—अहिंसा-अणुव्रत का तात्पर्य है—अनर्थ हिंसा से अनावश्यकता शून्य केवल प्रमाद या अज्ञानजनित हिंसा से बचना। हिंसा केवल कायिक ही नहीं, मानसिक भी होती है और वह अधिक घातक सिद्ध होती है। मानसिक हिंसा में सभी प्रकार के शोषणों का समावेश हो जाता है और इसीलिए अहिंसा में छोटे-बड़े अपने-बिराने, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि विभेदों की परिकल्पना का निषेध अपेक्षित होता है।

२ **सत्य**—जीवन की सभी स्थितियों में नौकरी, व्यापार, घरेलू या राज्य अथवा समाज के प्रति व्यवहार में सत्य का आचरण अणुव्रती की मुख्य साधना होती है।

३ **अचौर्य—लोभाविले आययइ अदत्तम्** (जैन) **लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं** (बौद्ध) अचौर्य में मेरी निष्ठा है। चोरी को मैं त्याज्य मानता हूँ। गृहस्थ-जीवन में सम्पूर्ण चोरी से बचना सम्भव न मानते हुए अणुव्रती प्रतिज्ञा करता है—१ मैं दूसरों की वस्तु को चोर-वृत्ति से नहीं लूंगा, २ जानबूझकर चोरी की वस्तु नहीं खरीदूंगा और न चोरी में सहायक बनूंगा, ३ राज्यनिषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नहीं करूँगा, ४ व्यापार में अप्रामाणिकता नहीं बरतूंगा।

४. **ब्रह्मचर्य—१. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं** (जैन), **२. माते कामगुणे रमस्सु चित्तं** (बौद्ध) **३. ब्रह्मचर्येण**

---

१ **नो खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे जाव पव्वइत्तए। अहण्णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालस विहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि—उपासकदशांग ।। १ ।।**

तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (वेद)।

ब्रह्मचर्य अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकने की स्थिति मे एक पत्नीव्रत का पालन अणुव्रती के लिए अनिवार्य ठहराया गया है।

५. अपरिग्रह—१ 'इच्छाहु आगाससमा अणंतया' (जैन), **२ तण्हक्खयो सब्ब दुक्खं जिनाति** (बौद्ध), **३ मा गृध कस्यस्विद्धनम्** (वैदिक) परिग्रह मे तात्पर्य संग्रह से है। किसी भी सद्गृहस्थ के लिए संग्रह की भावना से पूर्णतया विरत रहना असम्भव है। अत अणुव्रत मे अपरिग्रह से संग्रह का पूर्ण निषेध का तात्पर्य न लेते हुए अमर्यादित संग्रह के रूप मे गृहीत है। अणुव्रती प्रतिज्ञा करता है कि वह मर्यादित परिणाम मे अधिक परिग्रह नही करेगा। वह घूस नही लेगा। लोभवश रोगी की चिकित्सा मे अनुचित समय नहीं लगायेगा। विवाह आदि प्रसगो के सिलसिले मे दहेज नही लेगा, आदि।

इस प्रकार हम देखते है कि अणुव्रत विशुद्ध रूप मे एक नैतिक सदाचरण है और यदि इस अभियान का सफल परिणाम निकल सका तो वह एक सहस्र कानूनो मे कही अधिक कारगर सिद्ध होगा और भारत या अन्य किसी भी देश मे ऐसे आचरण से प्रजातन्त्र की सार्थकता चरितार्थ हो सकेगी। प्रजातन्त्र धर्मनिरपेक्ष भले ही रहे, किन्तु जब तक उसमे नैतिकता के किसी मर्यादित मापदण्ड की व्यवस्था की गुजाइश नही रखी जाती, तब तक वह वास्तविक स्वतन्त्रता की सृष्टि नही कर सकता और न ही जनसाधारण के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठा सकता है। स्वतन्त्रता की ओट मे स्वच्छन्दता और आर्थिक उत्थान के रूप मे परिग्रह तथा शोषण को ही खुलकर खेलने का मौका तब तक निस्सदेह बना रहेगा, जब तक इस आणविक युग मे विज्ञान की महत्ता के साथ-साथ अणुव्रत जैसे किसी नैतिक बन्धन की महत्ता को भी भली-भाँति आँका नही जाता। विश्व-शान्ति की कुञ्जी भी इसी नैतिक बन्धन मे निहित है। वस्तुत पचशील, सह-अस्तित्व, धार्मिक सहिष्णुता अणुव्रत के अगोपाग जैसे ही है। अत आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन आज के अणुयुग की एक विशिष्ट देन ही समझा जाना चाहिए।

भारत विश्व मे यदि प्राचीन अथवा अर्वाचीन काल मे किसी कारण सम्मानित रहा अथवा आज भी है तो अपने सत्य, त्याग, अहिंसा, परोपकार (अपरिग्रह) आदि नैतिक गुणो के कारण ही, न कि अपनी सैन्य शक्ति अथवा भौतिक शक्ति के कारण। किन्तु, आज देश मे जो भ्रष्टाचार व्याप्त है और नैतिक पतन जिस सीमा तक पहुँचा चुका है, उसे एक 'नेहरू का आवरण' कब तक ढँके रहेगा? एक दिन तो विश्व मे हमारी कलई खुल कर ही रहेगी और तब विश्व हमारी वास्तविक हीनता को जान कर हमारा निरादर किये बिना न रहेगा। अत भारतवासियो के लिए आणविक शक्ति के स्थान मे आज अणुव्रत-आन्दोलन को शक्तिशाली बनाना कही अधिक हितकारी सिद्ध होगा और मानव, राष्ट्र तथा विश्व का वास्तविक कल्याण भी इसी मे निहित है।

आचार्यश्री तुलसी का वह कथन, जो उन्होने उस दिन अपने प्रवचन मे कहा था, मुझे आज भी याद है कि "एक स्थान पर जब हम मिट्टी का बहुत बडा और ऊँचा ढेर देखते है तब हमे सहज ही यह ध्यान हो जाना चाहिए, किसी अन्य स्थान पर इतना ही बडा और गहरा गड्ढा खोदा गया है।"

शोषण के बिना संग्रह असम्भव है। एक को नीचे गिराकर दूसरा उन्नति करता है। किन्तु जहाँ बिना किसी का शोषण किये, बिना किसी को नीचे गिराये सभी एक साथ आत्मोन्नति करते है, वही है जीवन का सच्चा और शाश्वत मार्ग।

'अणुव्रत' नैतिकता का ही पर्याय है और उसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी महात्मा तुलसी के पर्याय कहे जा सकते है।

युवा आचार्य और वृद्ध मन्त्री

मुनिश्री विनयवर्धनजी

आचार्यश्री तुलसी ने बाईस वर्ष की अल्पतम आयु मे आचार्य-पद का भार सम्भाला। उनके मन्त्री मुनिश्री मगनलालजी उस समय लगभग उनसे तिगुनी आयु मे थे। युवा आचार्य और वृद्ध मन्त्री का यह एक अनोखा मेल था। योग्य सेवक का मिल जाना भी स्वामी के सौभाग्य का विषय होता है। योग्य मन्त्री का मिल जाना राजा का अपना सौभाग्य है ही। मन्त्रीमुनि एक तपे हुए राजसेवक थे। इससे पूर्व वे क्रमश चार आचार्यों को अपनी असाधारण सेवाए दे चुके थे। आचार्यश्री तुलसी ने उन्हे मन्त्री-पद से विभूषित किया, पर इससे पूर्व भी वे अपनी कार्य-क्षमता से मत्रीमुनि कहलाने लगे थे। उनका मन्त्रीत्व सर्वसाधारण से उदभूत हुआ और यथासमय आचार्यश्री तुलसी के द्वारा मण्डित हुआ। आचार्यश्री के शासनकाल मे लगभग तेईस वर्ष की सेवाए उन्होने दी। उनके जीवन की उपलब्धियाँ अगली पीढी के लिए एक खोज का विषय बन गई है। प्रत्येक उपलब्धि के पीछे उनका नीति-कौशल ही आधारभूत था। एक-एक करके पाँच आचार्यों से वे सम्मानित होते रहे। यह एक विलक्षण बात थी। इसके मुख्य कारण दो थे एक तो यह कि प्रत्येक आचार्य के पास समर्पित होकर रहे। अपनी योग्यता और प्रभाव का उपयोग उन्होने उनके लिए किया। वे नितान्त निष्काम सेवी थे। **सर्वदापद्गतो राजा भोग्यो भवति मंत्रिणां** का विचार उनको छू तक नही गया था। आचार्यश्री तुलसी जब सघ के नूतन अधिनायक बने तो उन्होने अपना सारा कौशल चतुर्विध सघ का ध्यान उनमे केन्द्रित करने के लिए लगाया। उन्होने आचार्यश्री को अन्तरग रूप से सुझाया—आप समय-समय पर साधु-साध्वियो के बीच मुझे कोई न कोई उलाहना दिया करे, इससे अन्य सभी लोग अनुशासन मे चलना सीखेगे। आचार्यवर ने ऐसे प्रयोग अनेको बार किये भी। एक बार की घटना है—कुछ एक प्रमुख श्रावक किसी बात के लिए अनुरोध कर रहे थे। मन्त्रीमुनि ने भी उनके अनुरोध का समर्थन किया। श्रावको ने कहा—अब तो आप फरमा ही दीजिये, मत्रीमुनि ने भी हमारा समर्थन कर दिया है। आचार्यश्री ने ओजस्वी शब्दो मे कहा—क्या मैं सब बाते मगनलालजी स्वामी के निर्देश पर ही करता हूँ। सब श्रावक सन्न रह गए। युवक आचार्य ने अपने वृद्ध मन्त्री को कितना अवगणित कर दिया। पर विशेषता तो यह थी कि मत्रीमुनि का नूर जरा भी बिगडा नही। वे आचार्यों के लिए विनम्र परामर्शदाता थे। स्पष्टवादिता व सिद्धान्तवादिता का हौआ उनके सिर पर नही था। लोग उन्हे कभी-कभी 'जी हुजूर' भी बतलाते, पर आचार्यों के साथ बरतने की उनकी अपनी निश्चित नीति थी। यही कारण था कि विभिन्न नीति-प्रधान आचार्यों के शासन-काल मे समान रूप से रहे। नाना झझावात उनके ऊपर से गुजरे, जिनमे अनेको के चरण डगमगा गए, पर वे अपनी नीति पर अटल रहे और उनका सुन्दर परिणाम जीवन भर उन्होने भोगा।

वे अपने जीवन में सदैव लोकप्रिय रहे। जीवन के उत्तरार्द्ध मे तो मानो वे सर्वथा अनालोच्य ही हो गए। इसका कारण था, विरोध का प्रतिकार उन्होने विरोध मे नही किया। **'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'** की कहावत चरितार्थ हुई। प्रतिस्पर्धी भी नि.सन्तान होकर समाप्त होते गए। लोकप्रियता का एक अन्य कारण था कि वे दायित्व-मुक्त रहना पसन्द करते थे। बहुत थोडे ही काम उन्होने अपने जिम्मे ले रखे थे। आचार्य ही सब काम निबटाते रहे, यह उनकी प्रवृत्ति थी। किसी को अनुगृहीत कर अपना प्रभाव बढाने का शौक उनमे नही था। उनका विश्वास था—भलाई असन्दिग्ध नहीं होती, उसमे किसी की बुराई भी बहुधा फलित हो जाती है। इसलिए निर्लिप्तता ही व्यक्ति के लिए सुखद मार्ग है। इस विश्वास में सब लोग भले ही सहमत न हो, पर उनकी लोकप्रियता का तो यह एक प्रमुख कारण था ही।

उनके जीवन मे नित नये उन्मेष आते रहते थे। बहुधा अवकाश प्राप्त व्यक्ति बहुत दिनो तकलीफ कर अपना प्रभाव सीमित करता है। मंत्रीमुनि ९० वर्ष तक जीए। वर्षों तक वे वार्धक्य और रुग्णावस्था से पूरी तरह ग्रसित रहे, पर उनके जीवन की यह विलक्षण बात थी कि परिस्थितियाँ स्वय बदलकर उनके लिए किसी न किसी प्रकार से श्रेय बटोर कर ले आती। टाला गया भी श्रेय उन्हे चतुर्गुणित होकर मिलता। इस प्रकार वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक नूतन ही बने रहे। उनके जीवन का एक उल्लेखनीय आनन्द था—घोर तपस्वी मुनिश्री सुखलालजी और विद्या वारिधि मुनिश्री मोहनलालजी जैसे आत्म साथ मुनियो का योग।

वे अत्यन्त मित-भाषी थे। उनके मुख से सदैव नपी-तुली बात निकलती। दूसरो को देने के लिए उनकी प्रमुख शिक्षा थी—

> "वचन रतन मुखकोट है, होट कपाट बणाय।
> सम्भल-सम्भल हरफ काढिये, नहीं परवश पड जाय।

यही दोहा बचपन मे उन्होने मुझे याद करवाया था।

हो सकता है उनकी वाणी का सयम ही उनके लिए वाक्सिद्धि बन गया हो। अनेकानेक लोग आज भी उनके वचन-सिद्धि की गाथा गाते हैं। सरदारशहर की घटना है। मुनिश्री नगराजजी व मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी दिल्ली की ओर विहार करा रहे थे। मत्रीमुनि पहुँचाने के लिए कुछ दूर पधारे। वन्दन और क्षमायाचना की वेला मे मत्रीमुनि ने मुनिश्री नगराजजी के कान मे कहा—"देखो, दिल्ली जाओ हो, जवाहरलाल नेहरू स्यू भी बात करनी पडे तो भी मन मे सकोच नही राखणो। शासण री बात बनाने मे कोई टर नही।" मुनिश्री वहाँ से विहार कर गये। प्रधानमन्त्री नेहरू से मुनिजनो का तब तक कोई सम्पर्क नही था। कोई आसार भी सामने नही थे। उसी वर्ष प्रथम बार मुनिश्री से प्रधानमन्त्री की ८० मिनट बातचीत हुई। मुनिश्री ने जिस निस्सकोच भाव से अणुव्रत-आन्दोलन का कार्यक्रम सामने रखा वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होने मुनिश्री से आचार्यश्री को दिल्ली बुलवाने का भी आमन्त्रण करवाया। अणुव्रत-सभा मे भाग लेने की बात भी उसी समय निश्चित कर दी। यह वही वर्ष था जिस वर्ष आचार्यवर सरदारशहर चतुर्मास कराकर केवल ग्यारह दिनो मे दिल्ली पधारे। राष्ट्रपति तथा नेहरूजी ने प्रथम बार अणुव्रत आयोजनो मे भाग लिया। इस प्रकार मत्री-मुनि मगनलालजी स्वामी की वाक्सिद्धि के उदाहरणो को सजोया जाये तो एक बहुत बडा ग्रन्थ बन सकता है।

उनकी सेवाए तेरापथ साधु-सघ के लिए महान् थी। कौन जानता था भेदपाट की पथरीली भूमि मे जन्मा यह बालक महान् धर्म-सघ का मन्त्री बनेगा। कौन जानता था, केवल बारह आने की विद्या पढने वाला बालक इतना असाधारण, दूरदर्शी और अनुपम मेधावी होगा। पर यह कहावत भी सत्य है—"होनहार विरवान के होत चीकने पात"। जब ये पाठशाला मे पढते थे तो गुरु ने बुद्धि-परीक्षा की दृष्टि से सभी छात्रो से पूछा—यज्ञोपवीत की खूँटी कौनसी है? उपस्थित छात्र एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। गुरु ने इनकी ओर देखा तो उन्होने झट से उत्तर दे डाला—यज्ञोपवीत की खूँटी कान है। गुरु और छात्र सभी इस उत्तर से आनन्द-विभोर हुए।

यह है सक्षेप मे युवा आचार्य के वृद्ध मत्री की जीवन गाथा।

संत-फकीरों के अगुआ

बेगम अलीजहीर
अध्यक्षा, समाज कल्याण बोर्ड, उत्तरप्रदेश

यह जानकर निहायत खुशी हुई कि आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति अणुव्रत-आन्दोलन के रहनुमा आचार्यश्री तुलसीजी का अभिनन्दन समारोह मनाने जा रही है और उनकी शान मे एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी तैयार कर रही है।

आचार्यश्री तुलसी हमारे देश के उन सत-फकीरो के अगुआ हैं, जिन्होने इस बात को महसूस किया कि देश की आजादी को कायम रखने के लिए यह बहुत जरूरी है कि हमारे देश के रहने वालो का नैतिक और चारित्रिक स्तर ऊचा हो। इसके बिना किसी तरह से हमारी असली तरक्की मुमकिन नही है। इसलिए उन्होने अपने साढे छ सौ शिष्य साधुओ और साध्वियो का रुझान इस ओर खीचा कि सारे देश का ध्यान अणुव्रत-आन्दोलन के असूलो की ओर खीचने मे जुट जाओ। इतना ही नही, उन्होने अपने तेरापथ समाज के साथ सारे देश को यह महसूस कराया कि अणुव्रत के असूलो पर चलना हमारे लिए बहुत जरूरी है।

एक बार जब अणुव्रत-आन्दोलन का सालाना जलसा सन् १९५७ मे सुजानगढ (राजस्थान) मे हुआ तो उत्तर-प्रदेशीय अणुव्रत समिति के सयोजक ने हमे भी उसमे भाग लेने की दावत दी। यह पहला मौका था जब हमने नजदीक से आचार्यश्री तुलसी और उनके विद्वान् व बहुत-सी विद्याओ व हुनरो मे माहिर शिष्यो, साधुओ और साध्वियो को देखा। ये सभी अच्छे-अच्छे घरो के थे और सारे दुनियावी सुखो को छोड कर इस नये सुख की दुनिया मे आ चुके थे, जिसे हम रूहानी जिन्दगी का सुख कहते है।

आचार्यश्री तुलसी से मिलने पर हमने देखा कि वे सही माने मे एक फकीर की जिन्दगी बसर करते हुए इस बात की कोशिश मे जुटे हुए हैं कि हमारी तरक्की के साथ-साथ सारी दुनिया की तरक्की हो। यही वजह है कि हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी लोग उनके बताये हुए अणुव्रत के असूलो को पसन्द करते हैं।

आज के जमाने मे हम इन्सान का आर्थिक स्तर तो ऊचा करने मे जुटे हुए है, लेकिन उसके मुकाबले मे उसके जीवन का स्तर ऊचा करने की कितनी कोशिश हम कर रहे हैं, यह सोचने की बात है। हम अपने देश की तरक्की के लिए पचवर्षीय योजना चला रहे है, लेकिन पचवर्षीय योजनाओ की कामयाबी के लिए जरूरी है कि देश मे रहने वालो का नैतिक और चारित्रिक स्तर काफी ऊचा हो। इसके बिना देश मे राष्ट्रीय चेतना नही जाग सकती है।

यह तो सभी लोग जानते है कि सच बोलना चाहिए, किसी को सताना नही चाहिए, दुनिया भर की दौलत बटोरने की कोशिश नही करनी चाहिए, लेकिन सवाल यह है कि कितने लोग इस बात पर अमल करते हैं? आचार्यश्री तुलसी का आन्दोलन महज लेक्चर देने का या नसीहत देने का आन्दोलन नही है बल्कि यह उन बातो पर अमल करने का आन्दोलन है। आचार्यश्री तुलसी और उनके शिष्य खुद महाव्रतों का पालन करते हुए हरएक को इस बात के लिए राजी करने की कोशिश करते हैं कि कम-से-कम लोग अणुव्रतो पर चलने का अहद करे। इसके लिए वे, जो लोग इन असूलो को पसन्द करते है, उनसे प्रतिज्ञा-पत्र भरवाते है कि कम-से-कम एक साल वे इन असूलो पर जरूर चलेगे। इस तरह से यह महज कहने की नहीं, बल्कि करने की तहरीक है, जगने और जगाने की तहरीक है, नामुमकिन को मुमकिन बना देने की तहरीक है। आचार्यश्री तुलसी ने मरीज इसान की नब्ज को अच्छी तरह से समझा है। उसे इसानियत का पैगाम किस

तरह सुनाया जाये और उस पर चलने के लिए किस तरह जोश पैदा किया जाये, यह आज के जमाने में और लोगों की बनिस्पत ज्यादा अच्छी तरह समझा है।

आज सबसे ज्यादा कमी चरित्र की है। आज इस चरित्र की कमी की वजह से एक इंसान दूसरे इंसान का ऐतबार खो चुका है, एक जमात दूसरी जमात का ऐतबार खो चुकी है और एक मुल्क दूसरे मुल्क का ऐतबार खो चुका है। इस बे-ऐतबार (अविश्वास) के जमाने में हरएक को एक-दूसरे से खतरा पैदा हो गया है और इस खतरे का सामना करने के लिए दुनिया के मुल्क अणुबम और उदजन बम आदि का सहारा ले रहे हैं, जिनके इस्तेमाल से न सिर्फ एक मोहल्ला या एक शहर, बल्कि सूबे-के-सूबे, देश-के-देश साफ हो जायेंगे। ऐसे नाजुक जमाने में अणुबम के मुकाबले में अणुव्रत-आन्दोलन चला कर आचार्यश्री तुलसी ने दुःख और निराशा के अन्धकार में भटकती हुई दुनिया को सुख-शान्ति की एक नई रोशनी दी है।

यह ठीक है कि अणुव्रत-आन्दोलन के चलाने वाले आचार्यश्री तुलसी जैन-श्वेताम्बर तेरापंथ-समाज के नव आचार्य हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में आचार्यश्री तुलसी दुनिया को मानवता का वही सन्देश सुना रहे है जिसे कभी योगिराज कृष्ण ने सुनाया, महावीर स्वामी ने सुनाया, महात्मा गौतम बुद्ध ने सुनाया, जिसके लिए हजरत मुहम्मद साहब ने हिजरत किया और हमारे देश के राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी शहीद हुए। आज उसी मानवता का सन्देश, इंसानियत का पैगाम आचार्यश्री तुलसी और आचार्य विनोबा भावे हमें सुना रहे हैं।

हमारा यह फर्ज है कि तन, मन और जी-जान से जहाँ तक मुमकिन हो, उनके इस आन्दोलन को कामयाब बनाने की हम पूरी कोशिश करें। इसी में हम सबकी भलाई है, हमारे देश की भलाई है और हमारी इस दुनिया की भी भलाई है।

आज ऐसे महात्मा आचार्यश्री तुलसी का धवल समारोह मनाया जा रहा है। समझ में नहीं आता, किन शब्दों में मैं अपने जज्बात का इजहार करूँ, किन शब्दों में अपनी भावनाञ्जलि पेश करूँ। फिर भी इन चन्द शब्दों में मैं अपनी ख्वाहिश का इजहार करती हूँ कि वे चिरायु हों और सब लोगों को इसी तरह अणुव्रत-आन्दोलन और मैत्री-दिवस आदि के जरिये रहनुमाई करें जिससे कि हमारी यह दुनिया आज की फैली हुई मुसीबतों से नजात पा सके, छुटकारा पा सके। आदमी सच्चे माने में आदमी बन कर एक-दूसरे का मान करना सीख सके। सब लोग मिल-जुलकर सुख से रह सकें और इंसान की खुशहाली के लिए किन बातों की जरूरत है और किन बातों की नहीं है, यह समझ सकें, एक जौहरी की तरह हीरे और पत्थर की पहचान कर सकें।

भारतीय दर्शन के अधिकृत व्याख्याता

सरदार ज्ञानसिंह राड़ेवाला
सिंचाई और बिजली मंत्री, पंजाब सरकार

सत और गुरु का महत्त्व भारतवर्ष मे सदा से रहा है। गुरु नानक ने भी सत-सेवा और गुरु-भक्ति पर अधिक-से-अधिक बल दिया। आचार्यश्री तुलसी केवल सत ही नही, वे सत-नायक हैं। उनकी वाणी साढे छ सौ साधु-साध्वियो की वाणी है। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर आपने सारे देश को नैतिक उद्‌बोध दिया है। देश मे इसकी सबसे बडी आवश्यकता थी। देश आजाद हुआ और बडी बडी योजनाए यहाँ क्रियान्वित हो रही है। पर देशवासियो का चारित्र यदि ऊँचा नही हो जाता तो वह भौतिक निर्माण केवल बिना रूह का शरीर रह जाता है। रोटी और कपडे से भी अधिक जरूरी मनुष्य का अपना चरित्र है, पर आज हम जो महत्त्व रोटी और कपडे को दे रहे है वह चरित्र को नही। रोटी और कपडे की समस्या भी तभी बनती है, जब मनुष्य का चरित्र ऊँचा नही रहता। मनुष्य जो अपने बारे मे सोचता है, वह पडोसी के बारे मे नही सोचता। छोटे स्वार्थों के लिए बडे स्वार्थों का हनन करता है।

भारतवर्ष धार्मिक देश कहलाता है। हम बात-बात मे धर्म की दुहाई भी देते है, पर धर्म का जो स्वरूप हमारे जीवन-व्यवहार मे मिलना चाहिए, वह नही मिल रहा है। आज धर्म केवल मठो, मन्दिरो, गुरुद्वारो तक ही सीमित कर दिया गया है। धर्म का सम्बन्ध जीवन व्यवहार के प्रत्येक क्षण से रहना चाहिए। बाजारो और आफिसो मे जब तक धर्म नही पहुँचता, तब तक देश का कल्याण नही है। धर्म के अभाव मे ही झूठा तोल-माप, चोरबाजारी और रिश्वत आदि चल रहे है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, अणुव्रत-आन्दोलन का जन्म धर्म के इसी दबे पहलू को उठाने के लिए हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन धर्म को बाजारो, आफिसो और राजनैतिक व सामाजिक क्षेत्रो मे लाना चाहता है। अणुव्रतो का हार्द है किसी भी क्षेत्र मे कार्य करता हुआ व्यक्ति अपने धर्म-कर्म को न खोये। इन्सानियत का खयाल रखे। कोई भी अनैतिक कर्म न करे। अणुव्रत-आन्दोलन का जितना विस्तार हमारे देश मे होगा, उतना ही देश हर माने मे ऊँचा होगा।

मुझे यह जान कर बहुत ही प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री के नेतृत्व मे साढे छ सौ साधु-साध्विजन व्यवस्थित रूप से सारे देश मे नैतिक जागृति का कार्य कर रहे हैं। मैंने दिल्ली मे मुनिश्री नगराजजी के पास वह तालिका भी देखी, जिसमे अणुव्रत केन्द्रो का और वहाँ कार्य करने वाले साधुजनो का पूरा ब्योरा था। सचमुच यह कार्य साधु-सतो से ही होने का है। भारतवर्ष के कोटि-कोटि लोग जिस श्रद्धा से उनकी बात सुनते है, उतनी और किसी की नही। उसका एक कारण भी है और वह यह है कि वे जो कहते है, उसका अपने जीवन मे पालन करते है। वे शिक्षा अणुव्रत की देते है और स्वय महाव्रतो पर चलते है। दूसरे सभी लोगो मे कथनी और करनी का वह आदर्श नही मिलता, अत उनकी कही बात उतनी कारगर नही होती।

किसी भी देश की महत्ता और सफलताओ का मूल्याकन केवल भौतिक उपलब्धियो से ही नही किया जाता, बल्कि नैतिक धरातल से ही लगाया जाता है। भारतीय सस्कृति का चिरकाल से यही दृष्टिकोण रहा है और स्वाधीनता के उपरान्त इसी लक्ष्य को मूर्त रूप देने की आवश्यकता थी। इस दिशा में मनोयोग से काम करने वाले महानुभावो मे आचार्यश्री तुलसी तथा इनके द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन ने अन्य सस्थाओ के लिए एक आदर्श स्थापित किया है। अत ऐसे समाज सुधारक भारतीय सस्कृति के महान् विद्वान् और भारतीय दर्शन के अधिकृत व्याख्याता के आचार्यत्व के पच्चीस वसन्त पूरे हो जाने के उपलक्ष में जो अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, वह न केवल आभार प्रदर्शन मात्र ही है, अपितु इससे हमे सतत कर्मरत रहने और राष्ट्र मे भावनात्मक ऐक्य स्थापित करने की प्रेरणा भी प्राप्त होगी।

परम साधक तुलसीजी

श्री रिषभदास रांका
सम्पादक, जैन जगत्

बारह साल पहले मैं आचार्यश्री तुलसीजी से जयपुर मे मिला था। तभी से परस्पर मे आकर्षण और आत्मीयता बराबर बढती रही है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों मे इच्छा रहते हुए भी मैं जल्दी-जल्दी नही मिल पा रहा हूँ, फिर भी निकटता का सदा अनुभव होता रहता है और आज भी उस अनुभव का आनन्द पा रहा हूँ।

धवल समारोह उन पर आचार्य-पद का उत्तरदायित्व प्राप्त होकर पच्चीस वर्ष बीतने के निमित्त मे मनाया जा रहा है, यही इसकी विशेषता है। व्यक्ति का जन्म कब हुआ और उसकी कितने साल की उम्र हुई, यह कोई महत्त्व की बात नही है। पर उसने अपने जीवन मे जो कुछ वैशिष्ट्य प्राप्त किया, कोई विशेष कार्य किया हो, वही महत्त्वपूर्ण बात है।

इस जिम्मेदारी को सौंपते समय उनकी आयु बहुत बडी नही थी। उनके सम्प्रदाय मे उनसे वयोवृद्ध दूसरे सत भी थे, परन्तु उनके गुरु कालूगणीजी ने योग्य चुनाव किया, यह तुलसीजी ने आचार्य-पद के उत्तरदायित्व को उत्तम प्रकार से निभाया, इससे सिद्ध हो गया।

कुछ आशंकाएं

वैसे किसी तीर्थंकर, अवतार, पैगम्बर, मसीहा ने जो उपदेश दिया हो उसकी समयानुसार व्याख्या करने का कार्य आचार्य का होता है। उसे तुलसीजी ने बहुत ही उत्तम प्रकार से किया, यह कहना ही होगा। कुछ लोग उन्हे प्राचीन परम्परा के उपासक मानते हैं और कुछ उस परम्परा मे क्रान्ति करने वाले भी। पर हम कहते है कि वे दोनो भी जो कहते है, उसमे कुछ न कुछ सत्य जरूर है, पर पूर्ण सत्य नही है। तुलसीजी पुरानी परम्परा या परिपाटी चलाते है, यह ठीक है, पर शाश्वत सनातन धर्म को नये शब्दो मे कहते है, यह भी असत्य नही है। कई लोगो को इसमे छल दिखाई देता है तो कईयो को दम्भ। उनका कहना है कि यह सब अपना सम्प्रदाय बढाने के लिए है। लेकिन तुलसीजी छल या माया का आश्रय लेकर अपने सम्प्रदाय को बढाने का प्रयत्न कर रहे हो, ऐसा हमे नही लगता। क्योकि उनमे हमे इस समझ के दर्शन हुए है कि कुछ व्यक्तियो को तेरापथी या जैन बनाने की अपेक्षा जैन धर्म की विशेषता का व्यापक प्रचार करना ही श्रेयस्कर है। उनमे इच्छा जरूर है कि अधिक लोग नीतिवान् चरित्रशील व सद्गुणी बने। यदि व्यापक क्षेत्र मे काम करना हो तो सम्प्रदाय-वृद्धि का मोह बाधक ही होता है।

यदि आज कोई किसी को अपने सम्प्रदाय मे खीचने की कोशिश करता है तो हमे उस पर तरस आता है। लगता है कि वह कितना बेसमझ है और तत्त्वो के प्रचार की एवज मे परम्परा से चली आई रूढियो के पालन मे धर्म-प्रचार मानता है। हमे उनमे ऐसी सकुचित दृष्टि के दर्शन नही हुए। इसलिए हम मानते हैं कि उनमे छल सम्भव नही है।

दभ या प्रतिष्ठा-मोह के बारे मे भी कभी-कभी चर्चा होती है। उनके प्रतिकूल विचार रखने वाले कहते है कि वे जैसा जो आदमी हो, वैसी बात करते है। मन मे एक बात हो और दूसरा भाव प्रकट करना दभ ही तो है। यदि इतने साल परिश्रम कर यही साधना की हो तो रत्न को चन्द रुपयो मे बेचने जैसा है ही। जब साधना के मार्ग मे दभ से बढ कर कोई दूसरा बाधक दुर्गुण न हो, तब क्या तुलसीजी जैसा साधक—विकास मार्ग का प्रतीक—इसी दभ मे उलझ जायेगा, विश्वास नही

होता। हमने देखा है कि उनसे चर्चा करने के लिए आने वालों में कई बहुत उत्तेजित होकर ऐसी बाते भी कह बैठते हैं जो सहसा सभ्य और सस्कारी व्यक्ति के मुंह से नही निकल सकतीं, फिर भी वे गरम नही होते, उन्हे उत्तेजित होते हमने नही देखा। यह शान्ति साधना द्वारा प्राप्त है या दिखावा ? हमारी यह हिम्मत नही कि हम उसे दिखावा कहे।

रही प्रतिष्ठा या बडप्पन की भूख की बात, सो इस विषय मे कई अच्छे लोगो के मन मे गलतफहमी है कि उनके शिष्य बडे-बडे लोगो को लाकर उनका इतना अधिक प्रचार क्यों करते है ? क्या यह बात आत्म-विकास मे लगे हुए साधक के लिए उचित है ? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नही है। आज विज्ञापन का युग है। अच्छी बात भी बिना प्रचार के आगे नही बढती। यदि अपनी अच्छी प्रवृत्तियो या आन्दोलन के प्रचार के हेतु यह सब किया जाता हो तो क्या उसे अयोग्य या त्याज्य माना जा सकता है ?

प्रतिष्ठा का मोह ऐसा है, जिसका त्याग करता हुआ दिखने वाला कई बार उसका त्याग उससे अधिक पाने की आशा से करता है। दूसरे पर आक्षेप करते समय हम अपना आत्म-निरीक्षण करे, तो पता लगेगा कि हमारी कहनी और करनी मे कितना अन्तर है। हमें कई बार अपने-आपको समझने में कठिनाई होती है। लोकैषणा को त्यागने का प्रयत्न करने वाले ही जानते हैं कि ज्यो-ज्यो बाह्य त्याग का प्रयत्न होता है,त्यो-त्यो वह अन्तर मे जड जमाता है। यह बात अपना मानसिक विश्लेषण,अपनी वृत्तियो का निरीक्षण-परीक्षण करने वाला ही जानता है। कई बार त्याग किये हुए ऐसा दिखाई देने वाले के हृदय मे भी उसकी कामना होती है तो कई बार बाहर मे दी हुई प्रतिष्ठा का भी जिसके हृदय पर असर न हुआ हो ऐसे साधक भी पाये जाते है। इसलिए तुलसीजी के हृदय मे प्रतिष्ठा का मोह है या धर्म-प्रसार की चाह इसका निर्णय हम जैसो को करना कठिन है, इसलिए इस बात को उन्ही पर छोड दे, यही श्रेष्ठ है।

कर्मठ जीवन

उन्होने जो धवल समारोह के निमित्त मे वक्तव्य दिया, वह हमने देखा। वह भाषा दिखावे की नही लगती, हृदय के उद्गार लगते है। हमारी जब-जब बात हुई, हमने जो चर्चा की, वह आन्तरिक और साधना मे सम्बन्धित ही रही है। हाँ, कुछ समाज से सम्बन्धित होने से सामाजिक चर्चा भी हुई, पर अधिकाश से साधना सम्बन्धित होती रही है। इसलिए हम उन्हे 'परम साधक' मानते आये हैं और कोई अब तक ऐसा प्रसग उपस्थित नही हुआ कि हमें अपने मत को बदलना पडा हो। हमे उनमे कई गुणो के दर्शन हुए। ऐसी सगठन-चातुरी, गुणग्राहकता जिज्ञासावृत्ति, परिश्रमशीलता, अध्यवसाय व शान्ति बहुत कम लोगो मे पाई। हमने प्रत्यक्ष मे उन्हे बारह-बारह, चौदह-चौदह घण्टे परिश्रम करते देखा है। कई बार हमने उनके भक्तो से कहा कि इस प्रकार वे उन पर अत्याचार न करे। वे सबेरे चार बजे उठ कर रात को ग्यारह बजे तक बराबर काम करते है, लोगो से चर्चा या वार्ता होती रहती है। हमने देखा न तो दिन को वे आराम करते है और न अपने साधुओ को करने देते हैं। ध्यान, चिन्तन, अध्ययन, व्याख्यान, चर्चा चलती ही रहती है। फिर जैन साधुओ की चर्या ऐसी होती है जिसमे स्वावलम्बन ही अधिक रहता है। सभी धार्मिक क्रियाए चलती रहती है। इतने परिश्रम के बाद भी सन्तुलन न खोना कोई आसान बात नही है। कोई उनके साथ दो-चार रोज रहकर देखे तभी पता चल सकेगा कि वे कितने परिश्रमी है और यह बिना साधना के सभव नही है।

उन्होने अपने साधुओ तथा साध्वियो को पठन-पाठन, अध्ययन तथा लेखन मे निपुण बनाने मे काफी परिश्रम और प्रयत्न किये। उनके साधु केवल अपने सम्प्रदाय या धर्म ग्रन्थो या तत्त्वो मे ही परिचित नही, पर सभी धर्मों और वादो से परिचित है। उन्होने कई अच्छे व्याख्याता, लेखक, कवि, कलाकार तथा विद्वानो का निर्माण किया है। केवल साधुओ को ही नही, श्रावक तथा श्राविकाओ को भी प्रेरणा देकर आगे बढाया है।

आचार्य का कार्य

राजस्थान और राजस्थान मे भी थली जैसा प्रदेश, ऐसा समझा जाता है, जहाँ पुराने रीति-रिवाज और रूढियो का ही प्राबल्य है। उस राजस्थान मे पर्दा तथा सामाजिक रीति-रिवाजो को बदलने की प्रेरणा देना सामान्य बात नही है, पर

अत्यन्त कठिन कार्य है। उन्होने पर्दा प्रथा तथा सामाजिक कुरीतियो के प्रति समाज को सजग कर नया मोड दिया है। जैसे प्रगतिशील युवको को लगता है कि वही पुरानी दवाई नई बोतल मे भरकर दे रहे है, उसी तरह परम्परावादियोको लगता है कि साधुग्रो का यह क्षेत्र नही, यह तो श्रावको का—गृहस्थियो का काम है। उनका क्षेत्र तो धार्मिक है। वे इस झझट मे क्यो पडते है। पर प्रगतिशील तथा परम्परावादियो के सिवा एक वर्ग ऐसे लोगो का भी है जो प्राचीन सस्कृति मे विश्वास या निष्ठा रखते हुए भी अच्छी बात जहाँ से भी प्राप्त हो, लेना या ग्रहण करना श्रेयस्कर मानता है। उन्हे ऐसा लगता है कि तुलसीजी आचार्य हैं और आचार्य का कार्य है, धर्म की समयोपयोगी व्याख्या करने का, सो वे कर रहे है।

उन्होने केवल जैनियो के लिए ही किया है, सो बात नही है। वे राष्ट्रीय दृष्टि से ही नही, अपितु मानव-समाज की दृष्टि से ही कार्य कर रहे है। अणुव्रत-आन्दोलन उसीका परिणाम है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-समाज जिन जीवन-मूल्यो को भुला रहा था, उसे स्थापित करता है। मानव का प्रारम्भ से सुख-प्राप्ति का प्रयत्न रहा है। ऋषि-मुनि, सत साधक और मार्ग-द्रष्टा तीर्थकर यह बताते आये है कि मनुष्य सद्गुणो को अपनाने से ही सुखी हो सकता है। सुख के भौतिक या बाह्य साधनो से वह सुखी होने का प्रयत्न करता तो है, लेकिन वे उसे सुखी नही बना सकते। सुखी बना जा सकता है, सद्गुणो को अपनाने से। अणुव्रत उसे सच्ची दृष्टि देता है। केवल किसी बात की जानकारी होने मात्र से काम नही चलता, पर जो ठीक बात हो, उसे जीवन मे उतारने का प्रयत्न हो, विचारो को आचार की जोड मिले, तभी उसका उचित फल प्राप्त होता है। अणुव्रत केवल जीवन की सही दिशा नही बताता, पर सही दिशा मे प्रयाण करने का सकल्प करवाता है और प्रयत्नपूर्वक प्रयाण करवाता है।

शुभ की ओर प्रयाण

भारत मे सदा से जीवन-ध्येय बहुत उच्च रहा है, पर ध्येय उच्च रहने पर यदि उसका आचार सभव न रहे तो वह ध्येय जीवनोपयोगी न रह कर केवल वन्दनीय रह जाता है। पर अणुव्रत केवल उच्च ध्येय, जिसका पालन न हो सके, ऐसा करने को नही कहता। पर वह कहता है, उसकी जितनी पात्रता हो, जो जितना ग्रहण कर सके, उतना करे। प्रारम्भ भले ही अणु से हो, पर जो निश्चिय किया जाये, उसके पालन मे दृढता होनी चाहिए। इस दृष्टि से अणुव्रत शुभ की ओर प्रयाण कर दृढतापूर्वक उठाया हुआ पहला कदम है।

मनोवैज्ञानिक जानते है कि सकल्प पूरा करने पर आत्म-विश्वास बढ़ता है और विकास की गति मे तेजी आती है। इसलिए अणुव्रत भले ही छोटा दिखाई पडे, लेकिन जीवन-साधना के मार्ग मे महत्त्वपूर्ण कदम है। इस दृष्टि से आचार्यश्री तुलसीजी ने अणुव्रत को नये रूप मे समाज के सन्मुख रख कर उसके प्रचार मे अपनी तथा अपने शिष्य-समुदाय और अनुयायियो की शक्ति लगाई। यह आज के जीवन के सही मूल्य भुलाये जाने वाले जमाने मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। यदि इस आन्दोलन पर वे सारी शक्ति केन्द्रित कर इसे सफल कर सके तो केवल अपने धर्म या सम्प्रदाय का ही नही, अपितु मानव-जाति का बहुत बडा कल्याण कर सकते है। किन्तु हमने देखा है कि आन्दोलन को जन्म देने वाले या शुरू करने वाले जब विभिन्न प्रवृत्तियो मे शक्ति को बाँट देते है, तब वह कार्य चलता हुआ दिखाई देने पर भी वह प्राणरहित, परम्परा से चलने वाली रूढियो की तरह जड बन जाता है।

भारत का महान् अभियान

यदि अणुव्रत-आन्दोलन को सजीव तथा सफल बनाने के उद्देश्य से आचार्यश्री अपना सारा ध्यान उस पर केन्द्रित कर पूरी शक्ति से इस कार्य को करेगे तो वह भारत का महान् अभियान होगा, जो अशान्त ससार को शान्त करने का महान् सामर्थ्य रखता है।

हमारा तुलसीजी की शक्ति मे सम्पूर्ण विश्वास है। वे इस महान् अभियान को गतिशील बनाने का प्रयास करे, जिससे अशान्त मानव शान्ति की ओर प्रस्थान कर सके।

हम भगवान् से प्रार्थना करते है कि आचार्य तुलसीजी को दीर्घायु तथा स्वास्थ्य प्रदान कर, ऐसी शक्ति दे, जिससे उनके द्वारा अपने विकास के साथ-साथ समाज का अधिकाधिक कल्याण हो।

जन-जन के प्रिय

मुनिश्री मांगीलालजी 'मधुकर'

आचार्य तुलसी की यात्रा का इतिहास अणुव्रत-आन्दोलन के आरम्भ से होता है। यो तो आचार्यश्री की पद-यात्रा जीवन-भर ही चलती है, परन्तु यह यात्रा उससे कुछ भिन्न थी। पूर्ववर्ती यात्रा मे स्व-साधन का ही विशेष स्थान था, पर इसमे 'स्व' के आगे 'पर' और जुड गया। इसलिए जनता की दृष्टि मे इसका विशेष महत्त्व हो गया।

इसके पीछे बारह वर्ष का लम्बा इतिहास है। प्रस्तुत निबन्ध मे कुछ ऐसी घटनाओ का उल्लेख करना चाहूँगा, जिनमे आचार्यश्री तुलसी तेरापथ के ही नही, बल्कि जन-जन के आराध्य और पूज्य बन गये है।

आचार्यश्री यात्रा प्रारम्भ करने के बाद राजस्थान, बम्बई, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, बगाल तथा पजाब आदि देश के अनेक भागो मे करीब पन्द्रह-सोलह हजार मील घूम चुके है। प्रतिवर्ष भारत के ही नही, अपितु विदेशो के भी अनेक पर्यटक यहाँ पर आते है। उनके सामने पथवर्ती हरे-भरे लहलहाते खेत, कलकल वाहिनी स्रोतस्विनियां, गगनचुम्बी पर्वत श्रेणियां, प्राकृतिक दृश्यो की बहारे और अनेक दर्शनीय स्थलो की मनोरमता का अनिर्वचनीय आनन्द लूटने का ही प्रमुख ध्येय होता है, परन्तु आचार्यश्री के लिए यह सब गौण है। वे इन सब बाहरी दृश्यो की अपेक्षा मानव के अन्त स्थल मे छिपे सौन्दर्य-दर्शन को मुख्य स्थान देते है। दस मील चले या पन्द्रह मील, स्थान पर पहुँचते ही बिना विश्राम स्थानीय लोगो की समस्याओ का अध्ययन कर, उचित समाधान देना उन्हे विशेष रुचिकर है। वे थोड़े समय मे अधिक काय करना चाहते है, अत कही एक दिन, कही दो दिन और कही-कही तो एक ही दिन मे तीन-चार और पाँच-पाँच स्थानो पर पहुँच जाते है। लोग अधिक रहने के लिए आग्रह करते है, पर उनका उत्तर होता है—जो कुछ करना है, वह इतने समय मे ही कर लो। दर्शक को आश्चर्य हुए बिना नही रहता, जब वे अपनी प्रभावोत्पादक शैली मे अनेक विकट समस्याओ का बहुत थोडे समय मे ही समाधान दे देते है।

मामला एक दिन में सुलझ गया

आचार्यश्री 'सेमड' (मेवाड) गाँव मे पधारे। उन्होने सुना उस छोटे-से गाँव मे अनेक विग्रह है। वे भी दस-दस और पन्द्रह वर्षों से चल रहे है। भाई-भाई के साथ मन-मुटाव, चाचा-भतीजे, बाप-बेटे, श्वसुर-जमाई और सास-बहुओ मे झगडा है। वे इस कलह को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो गये। उस दिन आचार्यश्री के प्रतिश्याय का प्रकोप था। कण्ठ भी कुछ भारी थे, फिर भी उसकी परवाह किये बिना उस कार्य मे जुट गये। एक-एक पक्ष की राम-कहानी सुनी, कोमल-कठोर शिक्षाए दी और भविष्य मे क्या करना है, यह दिग्दर्शन किया। वादी-प्रतिवादियो का हृदय बदला। आचार्यप्रवर ने दोनो पक्षो को सोचने के लिए अवसर दिया। सायकालीन प्रतिक्रमण के बाद पुन दोनो पक्ष उपस्थित हुए और आचार्यश्री की साक्षी से परस्पर क्षमायाचना करने लगे। कल तक जो ३६ के अक की तरह पूर्व-पश्चिम थे और जिनकी आँखे ही नही मिलती थी, वे आज गले मिल रहे थे। अनेक पच व न्यायाधीश जिन मामलो को वर्षों तक नही सुलझा सके थे, वे एक दिन मे सुलझ गये। क्या वे परिवार इस उपकार को जीवन-भर भूल सकेंगे ?

यह धर्म स्थान है

आचार्यश्री के व्यक्तित्व मे एक सहज आकर्षण है। वे जहाँ-कही भी चले जाये सहस्रो व्यक्तियो की उपस्थिति

सहजतया हो जाती है। गाँव चाहे छोटा हो या बडा, प्रवचन के समय स्थान पूर्ण न भरे, ऐसे अवसर कम ही आते हैं। आचार्यश्री के शब्दो मे "कहाँ से आ जाते है इतने लोग। न धूप की परवाह है और न वर्षा की। पता लगते ही पन्द्रह-पन्द्रह मील से पैदल चले आते है। कितनी श्रद्धा है इन ग्रामीणो मे। मै बहुत सुनता हूँ कि आजकल लोगो मे धार्मिक भावना नही रही, पर यह बात मैं कैसे मान लूं कि यह बात सही है।"

एक समय था जब कुछ पुराणपन्थियो ने कहा—स्त्री और शूद्र को धर्म-श्रवण का अधिकार नही। आचार्यश्री की दृष्टि मे यह गलत है। धर्म पर किसी व्यक्ति या जाति विशेष की मुहर छाप नही है। वह तो जाति-पाँति और वर्ग के भेदभावो से ऊपर उठा हुआ है। क्या वृक्षो की छाया, चन्द्रमा की चादनी और सरिता का शीतल जल सामान्य रूप से सभी के लिए उपयोगी नही होता? उसी तरह धर्म भी किसी कठघरे मे क्यो बँधा रहे। जितना अधिकार एक महाजन को है, उतना ही अधिकार एक हरिजन को भी है।

अभी-अभी मारवाड यात्रा के दौरान मे आचार्यश्री 'सणया' नामक गाँव मे थे। प्रवचन स्थल पर स्थानीय लोगो ने एक जाजम बिछाई। आचार्यप्रवर परीक्षार्थी साधु-साध्वियो को अध्ययन करवा रहे थे, अत एक साधु ने प्रवचन आरम्भ किया। सभी वर्गों के लोग आ-आकर जमने लगे। एक मेघवाल भाई भी आया और उस जाजम पर बैठ गया। तथाकथित धार्मिको को यह कैसे सह्य होता। वे उठे, आँखे लाल करते हुए उस भाई के पास पहुँचे और बुरा-भला कहते हुए वहाँ से उठने के लिए उसे बाध्य करने लगे। इस हरकत से उस भाई की आँखो मे आँसू आ गये। आचार्यप्रवर सामने से सारा दृश्य देख रहे थे। उनका कोमल हृदय पसीज उठा। अध्यापन मे मन नही लगा। तत्काल प्रवचन स्थल पर पहुँचे और कहने लगे—भाइयो, यह क्या है? एक व्यक्ति को अस्पृश्य मान कर उसका अपमान करना कहाँ तक उचित है। धर्म-स्थान मे इस प्रकार का अनुचित बर्ताव, यह तो साधुओ का अपमान है। यह कोई आपकी साज-सज्जा देखने नही आया है अपितु सतो का प्रवचन और आध्यात्मिक बातें सुनने के लिए आया है। उसे नही सुनने देना कितना बडा अपराध है!

एक स्थानीय पच बोला—पर यह जाजम तो आगन्तुक भाइयो के लिए बिछाई थी। यह बैठा ही क्यो। इसे क्या अधिकार था?

आचार्यश्री—किसने कहा तुम इसे बिछाओ। यह आपकी है, आप चाहे जिसे बिठाए, किन्तु सार्वजनिक स्थान पर बिछा कर किसी व्यक्ति विशेष को जातीयता के आधार पर वचित करना, शान्ति से बैठे हुए को अनुचित तरीके से उठाना, बिल्कुल गलत है। यहाँ आपके पचायत भी तो होगी? उसमे जितने पच है, क्या सारे महाजन ही है?

पच—नही, एक हरिजन भी है।

आचार्यश्री—तो क्या पचायत के समय उसके बैठने की अलग व्यवस्था होती है?

पच—नही महाराज! वहाँ तो सभी साथ मे ही बैठते है।

आचार्यश्री—तो फिर इस बेचारे ने आपका क्या बिगाडा है। इसके साथ इतना भेदभाव क्यो? याद रखो, यह धर्म-स्थान है।

इस प्रकार आचार्यश्री ने अनेक तर्क-वितर्कों से अस्पृश्यता की ओट मे होने वाली घृणा की भावना को दूर करने पर बल दिया। प्रवचन समाप्ति पर घटना से सम्बन्धित व्यक्ति आये और इस बात के लिए माफी माँगने लगे। वह मेघ-वाल भाई तो गद्गद् हो रहा था।

मै निहाल हो गया

बहुधा सुना जाता है कि आजकल लोगो पर धार्मिक उपदेशो का असर नही होता। ठीक है,हो भी कैसे जब तक उपदेश के पीछे वक्ता का जीवन न बोले। वक्ता मे अगर आस्था हो तो श्रोता का जीवन तो पल भर मे बदल जाये। क्या दयाराम की घटना इस तथ्य को अभिव्यक्त नही करती। दयाराम की उम्र साठ वर्ष से ऊपर होगी। पर अब भी पति-पत्नी मिलकर हाथो से एक कुआँ खोदने मे व्यस्त हैं। लम्बा कद, गठीला बदन, बडी-बडी डरावनी आँखें व बिखरे हुए बाल देख कर हरेक व्यक्ति तो उसे बतलाने का भी सम्भवत: साहस न करे। वह अपने जीवन मे अनेक लोगो की तिजोरियाँ

उडा चुका था। यही उसका प्रमुख धन्धा है।

अपने पार्श्ववर्ती गाँव मे आचार्यश्री का शुभागमन सुन कर दर्शनो की उत्कण्ठा जगी तो चल पडा। उपदेश सुना, अच्छा लगा। रात्रिभर चिन्तन चला। सबेरे आचार्यश्री उसी की ढाणी के पास से गुजरे। पैर पकड लिये और कहने लगा—थोडा-सा दूध तो लेना ही पडेगा। आप मेरे गुरु हैं। मैं आपकी साक्षी मे आज प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से चोरी नही करूँगा, चाहे सौ मन सोना भी क्यो न हो, मेरे लिए हराम है। आचार्यप्रवर ने नियम दिलाते हुए दूध लिया तो वह हर्ष विह्वल हो गया। उसके मुँह से निकले शब्द 'मै निहाल हो गया' अब भी मेरे कानो मे गुनगुना रहे है।

बाबा तो बोलता-देखता है

आचार्यश्री 'पदराडे' मे थे। इधर-उधर की बस्तियो के भीलो को पता लगा कि एक बडे बाबा आये है, तो करीब पचास भाई इकट्ठे होकर आये और बाहर से ही आचार्यश्री को देखने लगे। वे कुछ सकुचा रहे थे। सम्भवत सोच रहे थे कि बाबा हमारे से बात करे या न करे। आचार्यश्री ने उन्हे देखा तो उनका परिचय पूछने लगे। आचार्यश्री की मृदु-वाणी से वे इतने मुग्ध बने कि वही पर जम गये और कहने लगे—बाबा, हमे भी कुछ रास्ता बतलाइये।

आचार्यश्री ने बुराइयो के बारे में कहा, जो उनके जीवन मे व्याप्त थी तो एक बूढा भील खडा होकर कहने लगा—'वाह! वाह! बाबा तो बोलता-देखता है।' तत्रस्थ श्रोताओ को आश्चर्य हुआ, जब उन भीलो ने परस्पर विचार-विमर्श कर वर्षों मे पलने वाली बुराइयो को तिलाजलि देते हुए शिकार, शराब और महीने मे एक दिन मे अधिक मास खाने का त्याग कर दिया और यह विश्वास दिलाया कि हम हमारी जाति के अन्य व्यक्तियो को भी इन उपदेशो पर चलने के लिए प्रेरित करेगे।

साहित्य और सेठ

बच्चो मे अच्छे सस्कार आए, यह सभी को काम्य है, पर वे कैसे आए, यह कोई नही सोचता। वे क्या करते है, कहाँ रहते है, क्या पढते है, इस पर ध्यान दिये बिना इस स्थिति मे परिवर्तन आ जाये, यह कम सम्भव है। इस कार्य को सम्पादित करने मे अभिभावको का आदेश-निर्देश तो मुख्य है ही, सत्साहित्य भी कम महत्त्व नही रखता। पर व्यापारी समाज का साहित्य से क्या वास्ता! इन वर्षों मे आचार्यश्री की वरद प्रेरणा पाकर जहाँ अनेक बालक व युवक इस ओर रुचि लेने लगे हैं, वहाँ अनेक प्रौढ भी इस ओर आकर्षित हुए है।

आचार्यप्रवर 'भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर' पढा रहे थे। एक भरे-पूरे परिवार वाले सेठजी आये। वे अच्छे तत्त्वज्ञ और समझदार श्रावक है। पुस्तक को देख कर पूछने लगे—कौनसी पुस्तक है?

आचार्यश्री—'भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर'। स्वामीजी का समग्र साहित्य ऐसे तीन भागो मे द्विशताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुआ है। पढ़ा है या नही? घर पर तो होगा?

सेठ—नही, गुरुदेव। मैं पोते—स्वय तो पढ ही नहीं सकता, क्या करूँ मँगा कर!

आचार्यश्री ने पोते शब्द को दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त करते हुए कहा—पोते, स्वय नही पढ सकते तो क्या हुआ पोते (पौत्र) तो पढ़ सकते है? पर कौन ध्यान दे। हजारो रुपये के गहने व अन्य आडम्बर की चीजे मँगा देगे, पर साहित्य नही। घर पर रहने से कही कोई पढ ले तो? कहते है, बच्चो मे सस्कार नही पडते। कहाँ से आये सस्कार? उन्हे अपने घर के साहित्य का ही पता नही है।

सेठ—गुरुदेव! आप ठीक फरमाते है। ऐसी ही बात है। घर पर रहने से तो कोई पढेगा ही। इस छोटी-सी घटना से उसमे साहित्य के प्रति काफी रुचि जागृत हो गई। अब वे बहुधा वाचन के समय अनुपस्थित नही रहते और साहित्य भी अपने पास रखने लगे है।

अपना अहोभाग्य समझूँगा

महता जी अच्छे पढ़े-लिखे और प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कस कर मानने वाले व्यक्ति है। वे अणुव्रत-

आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये, एक बार नही अनेक बार। सूक्ष्मता से आचार-विचारो का अध्ययन किया और अणुव्रती बन गये। उन पर अणुव्रतो की गहरी छाप है। ग्राहक को आश्चर्य हुए बिना नही रहता, जब वह उनकी दुकान पर पैर धरते ही निम्नोक्त हिदायते पढता है :

१. भाव सबके लिए एक है जो कि प्राइस कार्ड पर लिखे हुए है।

२ भाव मे फर्क आने पर तीन दिन के दरम्यान कपडा वापस लेकर पूरे दाम लौटाने का नियम है।

३ खरीद कर जाने के बाद भी मित्र-गण नापसन्द कर दे तो कपडा वापस लेकर दाम लौटाने की सुविधा है।

ऐसा केवल लिखा ही नही गया है, इसे अक्षरश क्रियान्वित किया जाता है। यही कारण है कि उनकी दुकान की प्रतिष्ठा प्रतिदिन वृद्धिगत है। इस बार उन्होने आचार्यश्री की पद-यात्रा मे साथ रहने का कार्यक्रम बनाया। वे केवल १५ दिवस साथ मे रहे, पर इस दौरान मे आचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित तत्त्वो का खूब सूक्ष्मता से अध्ययन किया। अणुव्रतो का प्रचार तो उनका मुख्य ध्येय ही बन गया है। ,वे जाने लगे तो उनका जी भर आया, पर जाना जरूरीथा, अत विवश थे। दो दिन बाद अपनी इस यात्रा की चर्चा करते हुए अपने एक मित्र को पत्र लिखा उसमे उनके मानसिक भावो की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है। कुछ पक्तियाँ इस प्रकार है—मै यह अनुभव कर रहा हूँ कि सारी जिन्दगी मे सिर्फ ये १५ दिन ही काम के रहे है, बाकी सब निकम्मे। जो कृपा गुरुदेव की मुझ पर इन दिनो रही, उसको जन्म-जन्मान्तर भी भूल नही सकना। मेरी तरफ से गुरुदेव के चरणो मे प्रतिज्ञा पत्र अर्ज कर देना कि मै तेरापथ तत्त्व, अणुव्रत-आन्दोलन, नया मोड व भविष्य मे आपके किसी भी आदेश पर अपना सब कुछ अर्पण करने मे अपने आपका अहोभाग्य समझूंगा।

आपका

चन्दनमल महता

लो बाबा इसे ही स्वीकार करो

आचार्यप्रवर जहाँ कही भी जाये, अपने कार्य का गौण नही करते। उनका यह ध्येय रहता है कि कोई भी व्यक्ति उनके पास न तो खाली हाथ आये और न खाली हाथ जाये। इसका मतलब यह नही कि उन्हे कोई अर्थ चाहिए। उसे तो वे छूते भी नही। जब उन्होने मेवाड यात्रा के दौरान मे आदिवासी क्षेत्र मे प्रवेश किया तो बहुत से गरासियो (भीलो) ने उनका स्वागत किया। आचार्यश्री ने मन्द-मन्द मुस्कराहते हुए पूछा—अरे भाई ! खाली हाथ ही आये हो या भेट के लिए भी कुछ लाये हो ?

सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। एक भाई कुछ पैसे लेकर आगे आया और कहने लगा—बाबा मेरे पास तो इतने ही पैसे है। आप स्वीकार कीजिये।

स्मितवदन आचार्यश्री ने कहा—बस इतने ही ? इस छोटी-सी भेट से क्या होगा ? मै तो ऐसी भेट चाहता हूँ जो तुम्हे सबसे अधिक प्रिय हो।

वह बेचारा असमजस मे पड गया। आखिर जब आचार्यश्री ने सारा भेद खोला तो वह प्रसन्न होकर बोला—बाबा ! और तो कोई लत नही है एक शराब जरूर पीता हूँ।

आचार्यश्री—कितनी पीते हो।

व्यक्ति—बाबा ! कितनी का मत पूछिये, वर्ष मे पाँचसौ, सातसौ, हजार का कुछ भी पता नही है।

आचार्यश्री—भाई, शराब तो बहुत खराब है, अनेक बुराइयो की जड है। इसको तुम इतना प्रश्रय क्यो देते हो? जिस अर्थ को प्राप्त करने के लिए दिन-भर कडी मेहनत कर खून-पसीना एक करते हो, उसे यो बरबाद करो, क्या यह उचित है ? क्या मैं तुमसे यह भेट माँग लूं ?

कुछ देर तो वह सोचता रहा। आखिर पौरुष जागा, आगे आया और बोला—लो बाबा ! इसे ही स्वीकार करो। मैं आपके चरण छूकर कहता हूँ कि अब इसकी ओर आँख उठा कर भी नही देखूंगा।

मैं तो मनुष्य हूँ

आचार्यश्री के जीवन मे **जहा पुण्णस्स कत्थई, तहा तुच्छस्स कत्थई, जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थई** यह महावीर की वाणी पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। वे किसी व्यक्ति को, वह छोटा या हीन है, इस दृष्टि से नही आँकते, किन्तु उसकी मनुष्यता का अकन करते हैं। उनके सामने अन्य भेद अतात्त्विक हैं। वे मानवता को विभक्त देखना नही चाहते।

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया—आप हिन्दू हैं या मुसलमान।

आचार्यश्री—भाई न तो मैं हिन्दू हूँ और न मुसलमान। क्योकि अगर मुझे हिन्दू कहे तो मेरे सिर पर चोटी नही है और अगर मुसलमान कहे तो दाढ़ी नही है। अत मैं तो मनुष्य हूँ और मनुष्यता का ही विकास चाहता हूँ।

जन-प्रियता के तीन सूत्र

व्यक्ति साधना का फल पाना चाहता है, क्योकि वह उसे प्रिय है पर साधना के क्षेत्र मे उतरते हुए सकुचाता है, क्योकि उसमे कुछ बलिदान करना पडता है, वह उसे अभिप्रेत नही है। आचार्यश्री का अटल विश्वास है कि हमे कुछ कार्य करना है तो बाधाओ को पार करते हुए भी चलना होगा। याद रहे हीरे मे तभी चमक आती है, जब वह खरसाण पर चढता है। अत आज की परिस्थितियो को देखते हुए आचारात्मक धर्म के साथ-साथ विचारात्मक धर्म को भी विकसित किया जाना चाहिए। हमारा है इसलिए सत्य है, यह आग्रह व्यक्ति की बुद्धि को कुठित कर देता है। उसमे नये-नये अन्वेषणो की आशा आकाश कुसुम ही सिद्ध होगी। जो व्यक्ति चिन्तन के द्वार खुले रख कर सत्य का अन्वेषण करता है, उसके सामने कठिनाइयाँ टिक नही सकती, वे स्वय कपूर हो जाती है। आचार्यश्री इसी के मूर्त रूप हैं। अगर सक्षेप मे कहा जाये तो आचार्यश्री की जन-प्रियता के तीन सूत्र है ·

१ आचार व विचारो में उच्चता।

२ अनाग्रह बुद्धि।

३ दूसरो के विचारो को सहने की क्षमता।

इस वर्ष उन्हे आचार्य पद प्राप्त किये पूरे २५ वर्ष सम्पन्न हो रहे है। इस बीच मे उन्होने सहस्रो व्यक्तियो का नेतृत्व किया है, लाखो व्यक्तियो को मार्ग-दर्शन दिया है व करोडो व्यक्तियो को अपने विचारो से लाभान्वित किया है। आज भारत मे ही नही, विदेशी व्यक्तियो की जबान पर भी उनका नाम है। जनता के लिए उनके चरण-चिह्न मार्ग-दर्शन का कार्य कर रहे है, इसलिए वे आज जन-जन के प्रिय बन गये है।

अनुशासक, साहित्यकार व आन्दोलन-संचालक

श्री माईदयाल जैन, बी० ए० (आनर्स), बी० टी०

इस युग को ज्ञान-विज्ञान का युग कहते है और आज के साधारण से शिक्षित स्त्री-पुरुष का यह दावा है कि वह सु-सूचित (Well-informed) भी है, पर वास्तविकता इसके विपरीत ही है। इस बात का मुझे तब पता लगा जबकि अप्रैल सन् १९५० मे आचार्यश्री तुलसी अपनी शिष्य-मण्डली सहित दिल्ली पधारे और मैने उनके बारे की बातें जैन जनता से सुनी। वे बाते विपक्षीय आलोचना से पूर्ण थी। पर मै मानूं कि जैन-समाज की प्रवृत्तियो मे तीस वर्ष तक भाग लेने पर भी मैंने श्वेताम्बर तेरापथ या आचार्यश्री तुलसी का नाम नही सुना था। उनके सम्बन्ध मे कुछ ज्ञान न था। इस अज्ञान से मुझे दु ख ही हुआ।

और यदि मै यहाँ यह कह दूं कि जैन-समाज के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वालो मे आज भी इतनी विलगता है कि वे एक-दूसरे के बारे मे बहुत कम जानते है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। हमारे ज्ञान की यही स्थिति दूसरे धर्मो के सम्बन्ध मे है। यह है हमारे ज्ञान की सीमा! इस स्थिति को बदलने के लिए परस्पर अधिक मेल-जोल बढाना होगा।

और मैं ठहरा उग्र सुधारक, बुद्धिवादी तथा लेखक। पर श्रद्धा, धर्म-प्रेम तथा जिज्ञासा की मुझमे न तब कमी थी, न अब है। इसलिए मैं उनके भाषण मे गया। पास ही बैठा – बिल्कुल अनजान-सा, अज्ञात-सा। उनके भाषण की ओर तो मेरा ध्यान था ही, पर मेरी आँखे —पैनी आँखे—उनके व्यक्तित्व तथा उनके हृदय को जाँचने पड़तालने की कोशिश कर रही थी।

उनके तेजस्वी चेहरे, सुगठित गौर वदन, मँझले कद और आकर्षक चुम्बकीय व्यक्तित्व और उनके विद्वत्तापूर्ण सन्तुलित तथा सयत भाषण की मेरे मन पर अच्छी छाप पडी। मै निराश नही हुआ, बल्कि उनकी तरफ खिचा और उनसे फिर मिलने की तीव्र अभिलाषा लेकर घर लौटा।

यह थी मेरी उनसे पहली भेट—साक्षात्, पर मौन, या यो कहिए कि यह था उनका प्रथम दर्शन।

और तब से आज तक तो मुझे उनसे दिल्ली, हिसार, पानीपत तथा सोनीपत मे कई बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनसे बात हुई है, उन्हे पास से देखा भी है। उनके कई शिष्य-साधुओ से मेरा व्यक्तिगत गहरा परिचय है और उनका तथा उनके योग्य विद्वान् मुनियो द्वारा रचित बहुत-सा साहित्य पढा है। उनके द्वारा सचालित अणुव्रत-आन्दोलन को सब रूपो मे मैंने देखा है, उसकी सराहना भी सुनी है और परोक्ष मे उस आन्दोलन की आलोचना, जैन-अजैन दोनो से सुनी है। जैसे राष्ट्रपति आदि की आचार-सीमाए है, वैसे जैन साधु तथा पट्टधर आचार्य के पद के अनुसार उन्हे कुछ आचार-मर्यादाए निभानी होती है और उन सीमाओ मे रह कर वे प्रशसनीय काम कर रहे है। इसलिए उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढी है। उनके महत्त्व का मै कायल हुआ हूँ और मै उनको जैन-समाज और देश की गौरवपूर्ण, महान् विभूति मानता हूँ।

मैं उनके जीनव को इन तीन पहलुओ से देखता हूँ—१ जैन श्वेताम्बर तेरापथ के पट्टधर आचार्य, २ कला-प्रेमी तथा साहित्य-सेवी और ३ अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक तथा सचालक। किसी महात्मा के व्यक्तित्व को अलग बाँटना कठिन है, क्योकि वह तो एक ही है, पर विचार करने के लिए इस पद्धति मे आसानी रहती है।

आचार्यश्री तुलसी ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था मे दीक्षा लेकर जैन साधु हुए और ग्यारह वर्ष तपस्या, साधु जीवन तथा कठोर प्रशिक्षण के बाद और अपनी योग्यता पर अपने गुरु—आचार्य के द्वारा बाईस वर्ष की आयु मे (वि०-

सं० १९९३) मे आचार्य चुने गए और तब से अब तक, पच्चीस वर्षों मे, अपने इस पद के उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यों को बडी योग्यता से पूरा कर रहे हैं। इनके साधु तथा साध्वी शिष्य-मण्डल की सख्या सात सौ के लगभग है और अनुयायी श्रावक-श्राविकाओ की सख्या भी बडी है। तमाम साधु-साध्वियो के अनुशासन और समस्त तेरापथ की धार्मिक प्रवृत्तियो का सचालन आप करते हैं। आज जबकि समस्त देश मे राजनैतिक दलो, मंत्री-मण्डलो, दफ्तरो और कालेजो तथा विश्व-विद्यालयो मे अनुशासन हीनता या अनुशासन कम होने की बात देख-सुन रहे हैं, तब क्या यह बात कम आश्चर्य की है कि उनके शासन के विरुद्ध कही कोई आवाज सुनाई नही देती। इस पद को जैन-समाज मे इतनी सुन्दरता से चलाने का श्रेय जैन तेरापथी समाज को ही है। ऐसी व्यवस्था जैन-समाज के दूसरे सम्प्रदायो मे है ही नही, भारत के दूसरे सम्प्रायो मे भी नही है। साधुत्व के साथ-साथ प्रेमपूर्ण शासकत्व के इस सम्मिलन से आज के शासक बहुत-कुछ सीख सकते है। अपने आधीन साधु-साध्वियो के शिक्षण, प्रशिक्षण, ज्ञानवर्द्धन तथा उनकी गुप्त योग्यताओ को उभारने मे वे कितने दत्तचित्त तथा प्रयत्नशील है, इसका मुझे कुछ ज्ञान है। सन् १९५१ को दिन के दो बजे मैं पानीपत धर्मशाला मे उनसे मिलने गया और तब मैंने देखा कि वे अपने कुछ शिष्यो को सस्कृत-ग्रथ पढा रहे थे। मैं यह देखकर चकित रह गया। मैंने उन्हे प्रात चार बजे से रात के नौ-दस बजे तक भिन्न-भिन्न कार्यों मे व्यस्त देखा है और यह दिनचर्या एक-दो दिन की नही, बल्कि नित्य की है। काम करने की इतनी अथाह शक्ति का कारण उनकी लगन समाज, धर्म तथा देश के लिए कुछ कर गुजरने की तीव्र इच्छा ही हो सकती है।

जैन-समाज अपने विपुल साहित्य तथा कला-प्रेम के लिए प्रसिद्ध है। पर मानना पडेगा कि गत दो-चार सौ वर्षों मे इस प्रवृत्ति मे कमी ही आई है। किन्तु आचार्य तुलसी ने राजस्थान के अपने गृहस्थ अनुयायियो तथा साधु-साध्वियो मे साहित्य-पठन, साहित्य-सर्जन और कला की प्रवृत्तियो को बढावा दिया है। उनके कई शिष्य आशुकवि, अच्छे वक्ता, लेखक, विचारक तथा चिन्तक है। अवधान या स्मृति के धनी भी कई साधु है और ये सब काम या इन प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देने का कार्य वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे इन बातो मे स्वय रुचि हो, जो स्वय इन गुणो मे विभूषित हो। और ये साधु इन प्रवृत्तियो से समाज, साहित्य तथा कलाओ के लिए प्रशसनीय योगदान दे रहे है।

और अब अन्त मे उनके महत्त्वपूर्ण आन्दोलन 'अणुव्रत-आन्दोलन' के सचालक के सम्बन्ध मे लिखना चाहूँगा। अणुव्रतो की कल्पना पूर्णतया जैन कल्पना है और वह गृहस्थो के वास्ते है। छोटे रूप मे अहिंसा सत्य, चोरी न करने, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य को पालन करना ही अणुव्रत है। वे विभाज्य नही है, सबको पालन करना पडता है। पर आज के युग मे जब मानव व्रतो, बन्धनो तथा नियमो मे दूर भागता है, तब उसे अणुव्रतो की बात कह कर उसे व्रतो मे स्थिर करना है। इसलिए आचार्यश्री ने इनके बहुत से भेद-प्रभेद करके उन्हे आज की स्थिति के अनुकूल बनाकर देश की करोडो जनता तथा विदेशो के रहने वालो के सामने नैतिक उत्थान के लिए रखा है। अपने-आपको तथा अपने सैंकडो शिष्य तथा शिष्याओ को उसकी सफलता के लिए आन्दोलन मे लगा दिया है। इस आन्दोलन की तुलना आचार्य विनोबा के 'भूमिदान आन्दोलन' तथा अमरीका वालो के 'नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन' (Moral Re-armament Movement) से की जा सकती है। मुझे मालूम हुआ है कि भारत के बुद्धिवादी तथा पत्रकार और राजनीतिज्ञ इसे शका की दृष्टि से देखते थे, कुछ को आज भी शका है, पर यह आचार्यश्री के सतत प्रयत्न का फल है कि यह आन्दोलन आज लोकप्रिय बन गया है। इस आन्दोलन की सफलता समय लेगी और इससे देश का लाभ ही होगा। पर इस आन्दोलन को स्थायी बनाने के लिए इसके सचालको को इसके सचालन-प्रबन्ध को किसी महान् सस्था के अधीन करना होगा, जैसे कि गाधीजी अपनी प्रवृत्तियो को सस्था-आधीन कर देते थे। पर यह दूसरी बात है कि इस आन्दोलन के सचालक के रूप मे आपने अपने सक्रिय तथा रचनात्मक कल्पनाशील व्यक्ति होने का परिचय दिया है।

आचार्यजी अभी पचास के इधर ही है। और यह आशा या कामना करना ठीक ही है कि आगामी पचास वर्षों मे उनसे समाज, देश तथा धर्म को अत्यधिक लाभ होगा।

अवतारी पुरुष

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

भारत सतो का देश है। हमारे यहाँ एक से एक बढकर सत पैदा हुए है। उन्हीं की कृपा तथा प्रसादी से यह देश नैतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक दृष्टि से सब देशो से महान् है। यह गर्व की बात है। यह मिथ्या ग्रहकार नही है। मैंने दो बार ससार का भ्रमण किया है। मैं उसी ग्राधार पर यह बात दावे के साथ लिख रहा हूँ। पुलिस तथा जेल के महकमे से मेरा घना सम्बन्ध है। मैं ग्रपराध शास्त्र का विनम्र सेवक हूँ। इसी नाते मैं कह सकता है कि धनी-से-धनी, उग्र समाजवादी तथा वर्गवादी, प्रजातन्त्रीय तथा पूँजीवादी देशो मे ग्राज जितनी ग्रनैतिकता तथा भ्रष्टाचार है, उतना भारत मे नही है। किन्तु ससार के दूषित वातावरण से हम कब तक बचे रह सकते है। हमको भी उसी गर्त्त मे जाने की ग्राशका है। हम ग्रभी तक सम्हले हुए हैं इसलिए कि ग्रब भी बडे-बडे साधु सत जन्म लेकर हमको उँगली पकड कर सही रास्ते पर चला देते है।

सुमन्तभद्राचार्य हमे एक बडी सीख दे गए थे। वह थी मानवता की। मानवता के सेवक साधु के चरणो मे सिर नवाते समय एक चीज ध्यान मे रखते है। वह यह कि उनके चरण वहाँ नही है, जहाँ दिखाई पडते है, वहाँ नही है, जहाँ हमारा सिर टिकता है। उनके चरण उन दीन दुखी ग्रात्माग्रो की टोलियो ग्रौर बस्तियो मे है, पीडित तथा पतित कहे जाने वालो की गोद मे हैं, ग्रतएव बडे-बडे धनी मानी लोग जो सतों की सेवा को ही सब कुछ समझते है, वे एक बडी भारी भूल करते हैं। सतो के कथन का पालन करने से उनकी ग्रसली सेवा होती है।

मैं ऊपर लिख ग्राया हूँ कि हमारे देश मे बडे-बडे सत सदैव ग्राते रहे है—ग्रवतार लेते रहे है। ऐसे ग्रवतारी, पुरुष ग्राचार्यश्री तुलसी भी है। मैंने जब कभी इनसे भेट की, इनसे बाते की, इनका उपदेश सुना, मुझे बडी प्रेरणा मिली। मुझे ऐसा लगा कि उनके उपदेशो का ग्रनुकरण कर हम ग्रपने देश तथा समाज को बहुत ऊँचा उठा सकते हैं।

ग्राचार्यश्री तुलसी जैसे सत भाग्य से पैदा होते है। जितना हो सके हम इनसे ले लें—उपदेश ग्रौर इनकी विकट तपस्या का वरदान ग्रौर उसी के सहारे ग्रपनी नैया चलाए।

आचार्यश्री के शिष्य परिवार में आशुकवि

मुनिश्री मानमलजी

शताब्दी के इस पाद मे सारा विश्व ही नव-नव उन्मेषमूलक रहा। सभ्यता, सस्कृति और समाज-व्यवस्था की दृष्टि से मौलिक उन्मेष इस अवधि मे हुए। घटनाक्रम की इस द्रुत गति के साथ तेरापथ साधु-सघ मे आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल के पच्चीस वर्ष भी अप्रत्याशित उन्मेषक बने। अनेको अभिनव उन्मेषो मे एक उन्मेष आशुकवित्व का बना। कविता यो ही कठिन होती है और सस्कृत भाषा का माध्यम पाकर तो वह नितान्त कठोरतम ही बन जाती है। प्राचीन काल मे भी कुछ एक मेधावी लोग ही सस्कृत के आशुकवि हुआ करते थे। तेरापथ के इतिहास मे मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी, मुनिश्री नगराजजी आद्य आशुकवि है। इस नवीन धारा के प्रवाहित होने मे आशुकविरत्न प० रघुनन्दन शर्मा प्रेरक स्रोत बने है। उनका सहज और मधुरिम आशुकवित्व मेधावी मुनिजनो के कर्ण कोटर पर गुन-गुनाता-सा ही रहता था। मुनिजनो की स्फटिकोपम मेधा मे उसका प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही था। प्रकृतिलब्ध माने जाने वाली आशुकविता अनेक मुनियो की उपलब्धि हो गई। सर्वसाधारण और विद्वत्-समाज मे इस अलौकिक देन का अद्भुत समादर होने लगा। आचार्यश्री तुलसी के शिष्यो की यह एक अनुपम ऋद्धि समझी जाने लगी। हर विशेष प्रसग पर, राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद की और आचार्यश्री के वार्तालाप पर, विनोबा भावे और आचार्यश्री के वार्तालाप प्रसग पर मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री बुद्धमल्लजी की प्रभावोत्पादक आशु कविताए हुई। पूना मे सस्कृत वाग्वर्धिनी सभा की ओर से आचार्यश्री के अभिनन्दन मे एक सभा हुई। मुनिश्री नथमलजी को आशु कविता के लिए विषय मिला—**स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य घटी यन्त्र विवर्ण्यताम्** अर्थात् स्रग्धरा छन्दो मे घटी यन्त्र का वर्णन करे। मुनिश्री ने तत्काल प्रदत्त विषय पर चार स्रग्धरा छन्द बोले। सारी परिषद् मन्त्र-मुग्ध-सी हो गई।

आचार्यश्री पजाब पधारे। अम्बाला छावनी के कॉलेज मे आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम रहा। मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने आधुनिक शिक्षा विषय पर धारा प्रवाह आशु कविता की। श्रोताओ को ऐसा लगने लगा कि मुनिजी पूर्व रचित श्लोक ही तो नही बोल रहे है। चालू विषय के बीच मे ही प्रिंसिपल महोदय ने एक जटिल से राजनैतिक पहलू पर भाषण दिया और कहा—इस भाषण को आप सस्कृत श्लोको मे कहे। मुनिश्री ने तत्काल उस क्लिष्टतर भाषण को सस्कृत मे ज्यो का त्यो दुहराया और सारा भवन आश्चर्य-मग्न हो उठा।

मुनिश्री नगराजजी सस्कृत भाषा की राजधानी वाराणसी मे पधारे। रात्रिकालीन प्रवचन मे आशुकवित्व का आयोजन रहा। अनेकानेक सस्कृत के विद्वान् व प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे। प्रदत्त विषय पर आशुकवित्व हुआ। प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने आशुकवित्व पर अपने विचारप्रकट करते हुए उपस्थितलोगो मे कहा—सस्कृत पद्य रचना को कितना सहज रूप मिल सकता है, यह मैंने जीवन मे पहली बार जाना।

बम्बई मे बगाल विधान परिषद् के अध्यक्ष और देश के शीर्षस्थ भाषाशास्त्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने मुनिश्री नगराजजी से भेट की। आशुकवित्व का परिचय पाकर उन्होने मुनिश्री से निवेदन किया, आप एक ही श्लोक मे जैन-दर्शन का हार्द बतलाए। मुनिश्री ने जीवन और मृत्यु आत्मा की पर्याय है, मोक्ष आत्म-स्वभाव का अन्तिम विकास है, अत. उसकी उपलब्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, इस भाव का एक सुन्दर श्लोक तत्काल उन्हे सुनाया। डा० सुनीतिकुमार गद्गद् हो उठे और बोले, इस श्लोक मे अपूर्व भाव-गरिमा भरी है। सस्कृत मे ऐसा ही एक श्लोक प्रचलित है, जिसमे सारे वेदान्त का सार आ गया है।

यह प्रसंग पाँच वर्ष से भी अधिक पुराना हो चला है। **विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्** की उक्ति इस प्रसग पर एक अपूर्व ढग से चरितार्थ हुई है। कलकत्ता से प्रकाशित 'जैन भारती' के ता० २७ अगस्त, १९६१ के एक अक मे एक सवाद प्रकाशित हुआ है, जिसमे बताया है—दिनाक १९ अगस्त, ६१ शनिवार को इण्डियन मिरर स्ट्रीट स्थित कुमार-सिह हॉल मे श्रीपूर्णचन्दजी श्यामसुखा अभिनन्दन समिति की ओर से श्यामसुखाजी की अस्सीवी वर्षगाँठ के उपलक्ष मे माननीय डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की अध्यक्षता मे एक अभिनन्दन समारोह आयोजित किया गया, जिसमे श्री श्यामसुखाजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। समिति के मन्त्री श्री विजयसिह नाहर व अध्यक्ष श्री नरेन्द्रसिहजी सिंघी प्रभृति सज्जनो ने श्यामसुखाजी के जीवन-प्रसग प्रस्तुत किये। अध्यक्ष श्री चटर्जी ने श्री श्यामसुखाजी के बगाल मे जैनधर्म के प्रचार-कार्य की सराहना करते हुए कहा कि जैन दर्शन हमेशा ससार को एक नया आलोक देता ही है। गत कुछ वर्ष पूर्व बम्बई मे जैन मुनिश्री नगराजजी से मेरा साक्षात्कार हुआ, जो सस्कृत के आशुकवि थे। उनके द्वारा तत्काल रचित सस्कृत के दो पद्यो का उच्चारण करते हुए श्री चटर्जी ने कहा कि इन दो पद्यो मे जैनधर्म क्या है? इसका एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। अन्त मे जैनधर्म और जैन विद्वानो के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए अध्यक्ष महोदय ने श्री श्यामसुखाजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित किया।

मुनिश्री का आशुकवित्व बहुत ही सरल और मार्मिक होता है। आचार्यश्री तुलसी जब राजगृही के वैभारगिरि की सप्तपर्णी गुहा के द्वार पर साधु-साध्वियो की परिषद् मे विराजमान थे, उस प्रसग पर मुनिश्री नगराजजी के आशु-कवित्व रचित श्लोको का एक श्लोक था

आचार्याणामागमात् साधुवृन्दं, साध्वीवृन्दं सार्धमत्र प्रपूर्नं।
विश्वख्याता सप्तपर्णी गुहेयम्, सजाताद्य श्वेतवर्णा गुहेयम्॥

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' के भी आशुकवित्व सम्बन्धी रोचक सस्मरण बने है। कुछ वर्ष पूर्व उनका एक अवधान प्रयोग कान्स्टीट्यूशन क्लब, नई दिल्ली मे हुआ। उसमे बहु सख्यक ससद सदस्य, राजर्षि टण्डन, लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयगर आदि अनेको गणमान्य व्यक्ति तथा गृहमत्री प० पन्त आदि अनेक केन्द्रीयमत्री उपस्थित थे। सस्कृतज्ञ श्री अनन्तशयनम् आयगर ने आशुकविता का विषय दिया—**मसक गलत रन्ध्रे हस्तियूथ प्रविष्टम्** अर्थात् मच्छर के गले मे हाथियो का झुण्ड चला गया। इस विचित्र विषय पर मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी ने बहुत सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किए, जिसका साराश था—आज बडे-बडे वैज्ञानिको ने परमाणुओ की शोध मे अपने-आपको इस तरह खपा दिया है कि मानो मच्छरो के गले मे हाथियो का झुण्ड समा गया हो। सारी सभा बहुत ही चमत्कृत हुई। यह रोचक सस्मरण अगले दिन प्राय सभी दैनिक पत्रो मे प्रमुख रूप मे प्रकाशित हुआ।

राष्ट्रपति भवन मे जब उनका एक विशेष अवधान-प्रयोग हुआ तो प्रधानमत्री प० जवाहरलाल नेहरू ने आशु कविता के लिए उन्हे विषय दिया—'स्पूतनिक' अर्थात् कृत्रिम चाँद। रूस ने उन्ही दिनो अन्तरिक्ष कक्षा मे स्पूतनिक छोडा था। मुनिश्री ने तत्काल कतिपय श्लोक इस अद्भुत विषय पर बोले, जिन्हे सुन कर सारे लोग विस्मित रहे।

आचार्यश्री के शिष्य परिवार मे आज तो इने-गिने ही नही, किन्तु अनेकानेक आशुकवि है। आचार्यवर की पुनीत प्रेरणाओ ने अपने सघ को एक उर्वर क्षेत्र बना दिया है।

अमा में प्रकाश किरण

महासती श्री लाडांजी

आचार्यश्री तुलसी अमा के सघन निशीथ मे प्रकाश किरण लेकर आये। तब जनता जडता की नीद मे डूबी हुई थी। आपने तिमिर की गोद मे सोये हुए एक-एक व्यक्ति को सहलाया, जागे हुए को पथ बतलाया। पथिक को प्रकाश दिखाया, प्रकाशित पथ वालो को मजिल की निकटता का आभास दिया। इसीलिए जन-मानस आपको अमा मे प्रकाश किरण मानता है। आपने आत्म-आलोक मे स्वय को पहचाना, तत्पश्चात् अपनी ही अनुभूतियो को जनता तक पहुँचाया, जिसे जनता अपनी ही अनुभूति मान लीन हो रही है। पथ-दर्शन पा रही है। आपका दिव्य आलोक अनेक रूपो मे निखरा। अज्ञानियो के लिए ज्ञान का अक्षय कोष बन कर आया। सघीय विद्या-विकास आज आपको सरस्वती पुत्र के रूप मे देख रहा है। अनैतिक जीवन जीने वालो को सुगम साधना का पथ दिखाया। साधना मे कतराने वालो का साहस बढाया। सयम को अनावश्यक समझने वालो की मान्यता का परिष्कार किया, दानवीय वृत्तियो से लोहा लिया। सदाचार और सहनीति की नई व्याख्या दी और एक ही वाक्य मे कहे तो आपने दिग्मूढ मानव को राजपथ दिखलाया।

आज कृतज्ञ मानव समाज आपके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित कर रहा है। आपको पाकर जगत गौरवान्वित है। आप जैसे जगत बन्धु को बन्धु रूप मे प्राप्त कर मै विशेष रूप से गौरवान्वित हूँ।

शत बार नमस्कार

श्री विद्यावती मिश्र

करना है आज युग तुम्हे शत बार नमस्कार!
शत बार नमस्कार!!

भूले हुए पथी को तुमने राह दिखायी,
फिर ध्येय-प्राप्ति की पुनीत चाह जगायी,
ऐसा लगा कि लक्ष्य धाम ही रहा पुकार!
शत बार नमस्कार!!

तुमने न बहुत ही बडे आदर्श सजाये,
पारस से छू के लौह भी है स्वर्ण बनाये,
भय-शोक-ग्रस्त विश्व को तुमने लिया उबार!
शत बार नमस्कार!!

चाहे जो आये इसमे कोई रोक नही है,
ऐसा सुरम्य अन्य कोई लोक नही है,
तम तोम कहाँ ज्योति राशि का हुआ प्रसार!
शत बार नमस्कार!!

आधुनिक युग के ऋषि

श्री सुगनचन्द
सदस्य, उत्तरप्रदेश विधान परिषद्

आधुनिक युग के ऋषि आचार्य तुलसी आज वही कार्य कर रहे है जिसे प्राचीन ऋषियों ने उठाया था। **आत्मवत् सर्वभूतेषु** और **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को स्वय जीवन मे उतार कर वे सारे समाज को उसी तरफ ले जाने का प्रयत्न कर रहे है।

भारतीय समाज ने राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर स्वामी, स्वामी दयानन्द, गाधी, विनोबा आदि महापुरुषो को पैदा कर जिस ऊँचाई का परिचय दिया है, आप उसी परम्परा को अक्षुण्ण कर रहे है। हमारा दर्शन सत्य, शिव, सुन्दर और सत्य, प्रेम तथा करुणा की जिस सुदृढ नीव पर आधारित है, उस नीव को आपसे बल मिलेगा, ऐसी आशा है।

आप सादा जीवन और उच्च विचार तथा तप, त्याग, सयम की भारतीय परम्परा को समाज मे उतारने के प्रयत्न मे निरन्तर लगे हुए है।

अणुव्रत-आन्दोलन यह सिद्ध करता है कि जब तक व्यक्ति ऊँचा नही उठेगा, तब तक समाज ऊँचा नही उठ सकता और व्यक्ति का निर्माण छोटी-छोटी बातो को जीवन मे उतारने से ही होता है। जिनको हम छोटी बात और छोटा काम कहते है, उन्ही कामो ने ससार के महान् पुरुषो को महान् बनाया है। राम ने शबरी के बेर खाये, कृष्ण ने झूठी पत्तले उठाई, गाधीजी कातने और बुनने वाले बने, विनोबा ने भगी का काम किया। इन्ही छोटे कामो ने इन्हे महान् बनाया। यही नही इस देश मे जितने भी ऊँचे साधु-सत हुए है वे भी ऐसा ही छोटा-मोटा काम करते रहे। कबीरदास जुलाहे का काम करते थे। वे कपडे का ही ताना-बाना नही बुनते रहे बल्कि जीवन का ताना-बाना भी उसी के साथ बुनते रहे। उनका प्रसिद्ध भजन **झीनी झीनी बीनी चदरिया** मे पच तत्त्व और शरीर-तत्त्व का कितना सुन्दर विश्लेषण किया गया है, जिसे कोई योगी ही कर सकता है। पर कबीर ने सीधी-सादी भाषा मे बहुत ही सुन्दर ढग से इसे व्यक्त किया है। इसी तरह रैदास ने मोची का काम किया, दादूदयाल ने धोबी का और नामदेव ने दर्जी का। ये सभी सत भारत के अमूल्य रत्नो मे है।

साधु-सतो का आविर्भाव समाज-सचालन के लिए सदैव होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। सरकारे समाज को अनुशासित कर सकती है, पर उसे बदल नही सकती। आज तक दुनिया की किसी सरकार ने समाज को या सामाजिक मूल्य को नही बदला, न उनमे बदलने की क्षमता ही है। यह काम तो साधु-सत ही कर सकते है और अब तक करते आए है तथा आगे भी करते रहेगे। कानून द्वारा किसी को रोका नही जा सकता है, डराया जा सकता है, किसी का हृदय नही बदला जा सकता। आज के युग मे भी विज्ञान ने प्रकृति पर बहुत-कुछ विजय पा ली है, मनुष्य चन्द्रमा तक पहुँचने की तैयारी मे है, पर विज्ञान स्वय मनुष्य को बदलने मे असफल रहा है। यही कारण है कि आज विज्ञान का उपयोग निर्माण के बजाय सहारक अस्त्रो मे किया जा रहा है।

आज दुनिया के सामने दो ही मार्ग है, सर्वोदय या सर्वनाश। इनमे से ही किसी एक को चुनना होगा। यदि विज्ञान का सम्बन्ध अहिसा से हुआ तो इस धरा पर ऐसा स्वर्गोपम सुख आयेगा जो आज तक कभी आया भी नही, पर अगर विज्ञान का सम्बन्ध हिसा से हुआ तो जैसा कि आज हो रहा है, इतना बडा विनाश भी इसी पृथ्वी पर होगा, जितना कभी हुआ नही, बल्कि सृष्टि ही समाप्त न हो जाये, यह खतरा भी पैदा हो गया है।

विज्ञान अपने-आप मे प्रशस्त है, पर प्रश्न है उसके प्रयोग का। प्रयोग करने वाला मनुष्य है, इसलिए सबसे आवश्यक अब यही है कि मनुष्य को कैसे बदला जाये और कौन बदले ? कैसे बदला जाये, इसका उत्तर है, मनुष्य के सस्कार बदले जाये, और कौन बदलेगा, इसका उत्तर है, ऋषि-महर्षि, साधु-सत। इसलिए आज विज्ञान के युग मे, जहाँ सर्वनाश खडा है, साधु-सतो का मूल्य और भी बढ जाता है। आज मानव-सृष्टि का कल्याण इन्ही के हाथो सुरक्षित है।

आज लोगो के मन मे यह शका होने लगी है कि नैतिकता का कोई मूल्य है भी या नही और समाज को उससे कुछ लाभ भी होगा या नही ? क्योकि आज चारो ओर विकास के साथ-साथ भ्रष्टाचार और अनैतिकता का भी फैलाव होता जा रहा है। मानवीय मूल्यो का ह्रास होता जा रहा है। जनता को यह सोचने को मजबूर कर दिया गया है कि नैतिकता हमारा सरक्षण और अनैतिकता का मुकाबला कर भी सकेगी या नही या समाज मे जीने के लिए अनैतिकता का आश्रय ही लेना पडेगा। पर जरा गभीरतापूर्वक सोचने पर लगता है कि नैतिकता के बिना एक क्षण भी समाज चल नही सकता। यही बन्धन समाज को एक तत्त्व मे पिरोये हुए है। यदि यह बन्धन टूट गया तो न तो समाज रहेगा, न भ्रष्टाचार रहेगा।

नैतिकता का प्रभाव समाज मे क्या है और कितना है, यह नापा नही जा सकता। बल्कि इसका प्रवाह लोगो के दिलो मे निरन्तर बहता रहता है। कभी धारा वेगवती हो जाती है, कभी मन्द पड जाती है। साधु-सतो के, महापुरुषो के प्रभाव मे यह बढती-घटती रहती है। आज विनोबा के प्रभाव ने लोगो से कई हजार ग्रामदान दिलवा दिया, जो इतिहास की सर्वथा अभूतपूर्व घटना है। इसी तरह आचार्यश्री तुलसी जो कार्य कर रहे है, उसका प्रभाव समाज पर पड रहा है। हजारो लोगो का जीवन उन्होने बदला है। पैदल ही नगे पॉव सारे देश का भ्रमण कर रहे है।

वे हैं, पर नहीं हैं

मुनिश्री चम्पालालजी (सरदारशहर)

वे शासक है, उन्होने अनुशासन किया है, पर तलवार से नही, प्यार से।
वे आलोचक है, उन्होने कडी आलोचनाए की है, पर धर्म की नही, धर्म के दम्भ की।
वे वैज्ञानिक है, उन्होने अनेक आविष्कार किये है, पर हिंसक शस्त्रो के नही, शान्ति के शस्त्रो के।
वे क्रान्तिकारी है, उन्होने बगावत की है, पर पापियो के विरुद्ध नही, पापो के विरुद्ध।
वे चिकित्सक है, उन्होने सफल चिकित्सा की है, पर मानव के तन की नही, मन की।
वे द्रष्टा हैं, उन्होने सब के सुख-दुख को देखा है, पर तुला से तोलकर नही, स्वय से तोलकर।
वे युगपुरुष हैं, उन्होने युग को नई मोड दी है, पर औरो को मोडकर नही, पहले स्वय मुडकर।

आचार्यश्री के जीवन-निर्माता

मुनिश्री श्रीचन्दजी 'कमल'

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है। एक और सब मे इतना सम्बन्ध है कि उन्हे सर्वथा पृथक् कर, जाना ही नही जा सकता। इस शाश्वत सत्य की भाषा मे कहा जा सकता है, जो आचार्यश्री तुलसी को जानता है, वह पूज्य कालूगणी को जानता है और जो पूज्य कालूगणी को जानता है, वही आचार्यश्री तुलसी को जानता है। इन दोनो मे इतना तादात्म्य है कि उन्हे पृथक् कर, जाना ही नही जा सकता। आचार्यश्री तुलसी बाईस वर्ष मे महान् सघ के सर्वाधिकार सम्पन्न आचार्य बने, यह उतना आश्चर्य नही, जितना आश्चर्य यह है कि उस अल्प अवस्था मे इतना बडा दायित्व एक महान् आचार्य ने एक युवक को सौपा। आचार्यश्री तुलसी पूज्य कालूगणी पर इतने निर्भर थे कि उनकी वाणी आपके लिए सर्वोपरि प्रमाण था। आज भी इतने निर्भर है कि अपनी सफलता का बहुत कुछ श्रेय उन्ही को देते है। प्रमोद और विरोध दोनो स्थितियो मे उन्ही का आलम्बन लेकर चलते है। अपने कर्तृत्व पर विश्वास करते हुए भी उस नाम से महान् आलोक और अपूर्व श्रद्धा का सबल पाते है। कोई विचित्र ही परस्परता है। ऐसा तादात्म्य मैने अपने जीवन मे अन्यत्र नही देखा।

कालूगणी करुणा और वात्सल्य के पारावार थे। तेरापथ के साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाए आज भी उनके वात्सल्य की मधुर स्मृतियो मे ओत-प्रोत है। उनका वात्सल्य सर्व सुलभ था। विद्या की अभिवृद्धि मे उन्होने अमित प्यार बिखेरा। इतने पुरस्कार बाँटे कि विद्या स्वय पुरस्कृत हो गई। छोटे साधुओ की पढने मे रुचि कम होती। सस्कृत व्याकरण के अध्ययन को वे स्वय 'अलूणी' शिला चाटना कहते थे। चखने वाले कुशल हो तो चाटने वालो की कमी नही है। उन्होने अपना अमृत सीच-सीच उसे इतना स्वादु बना दिया कि उसे चाटना प्रिय हो गया।

कठोर भी मृदु भी

आचार्य बनते-बनते उन्होने एक स्वप्न देखा। उसमे सफेद चमकीले छोटे-छोटे बछडे देखे। शिष्यो की बहुत वृद्धि हुई। केवल वृद्धि का महत्त्व नही होता। कसौटी सरक्षण मे होती है। उनका हृदय मस्तिष्क पर सदा अधिकार किये रहा, इसलिए उनके सामने तर्क उठा ही नही। दर्पण मे सबका प्रतिबिम्ब होता है, पर उसका प्रतिबिम्ब सबमे नही होता। वे कोई विचित्र ही थे। स्फटिक से कम उज्ज्वल और पारदर्शी नही थे, फिर भी उनका प्रतिबिम्ब उन सबने लिया, जो उनके सामने आये। उन्होने चाहा तो किसी का प्रतिबिम्ब लिया, नही तो नही। उनकी आत्मा मे सतत प्रतिबिम्बित थे मघवागणी, जो अपने दैहिक सौन्दर्य के लिए ही नही, किन्तु अपने आत्मिक सौन्दर्य के लिए भी विश्रुत थे। गगाजल-सा निर्मल था उनका जीवन। स्फटिक-सा स्वच्छ था उनका मानस। वे नही जानते थे गाली क्या होती है और क्या होता है क्रोध? विषयो से इतने विरत कि उन्हे इन्द्रिय-कामनाओ की पूरी जानकारी भी नही थी। जिन्हे आत्मलीन कहा जाता है, उन्ही की पक्ति के थे वे महान् योगी। उनका मानस प्रतिबिम्बित हुआ कालूगणी मे। जब कभी उनके मुँह से मघवागणी का नाम निकल पडता तो उनकी आँखो मे मघवागणी का चित्र भी दीखता। जिसे जीवन मे एक बार भी वासना न छू पाए, जो केवल अपने अन्तर मे ही रम जाए, वह कितना पवित्र होता है, इसकी कल्पना वे लोग नही कर सकते, जो वासना की दृष्टि से ही देखते है और वासना के मस्तिष्क से ही सोचते है। जितने पवित्र मघवागणी थे, उतने ही पवित्र कालूगणी थे और जितने मृदु मघवागणी थे, उतने ही मृदु कालूगणी थे। पर मघवागणी कही भी कठोर नही थे। उनके अनुशासन मे

मृदुता बोलती और शासन मौन रहता। पर कालूगणी के व्यक्तित्व के एक कोने में कठोरता भी छिपी थी। उनका मानस मृदु था, पर अनुशासन मृदु नहीं था। वे तेरापथ को व्यक्ति देना चाहते थे। व्यक्ति-निर्माण अनुशासन के बिना नहीं होता। इसलिए उनकी कठोरता मृदुता से अधिक फलवती थी। वे कोरे स्नेहिल ही होते तो दूसरो को केवल खीच पाते, बना नहीं पाते। वे कोरे कठोर होते तो न खीच पाते और न बना पाते। उनकी मृदुता कठोरता का चीवर पहने हुए थी और उनकी कठोरता मृदुता को समेटे हुए थी। इसीलिए वे बहुत रूखे होकर भी बहुत चिकने थे और बहुत चिकने होकर भी बहुत रूखे थे। जिन व्यक्तियों ने उनका स्निग्ध रूप देखा है, उन्होंने उनका रूखा रूप भी देखा है। ऐसे विरले ही होंगे जिन्होंने उनका एक ही रूप देखा हो।

वे कर्तव्य को व्यक्ति से ऊचा मानते थे। उनकी दृष्टि में व्यक्ति की ऊँचाई कर्तव्य के समाचरण में ही फलित होती थी। मन्त्री मुनि मगनलालजी स्वामी उनके अभिन्न हृदय थे। बचपन के साथी थे। सुख-दुःख के सहयोगी थे। फिर भी जहाँ कर्तव्य का प्रश्न था, वहाँ कर्तव्य ही प्रधान था, साथी नहीं। प्रतिक्रमण की वेला थी। मन्त्री मुनि गृहस्थो से बात करने लगे। कालूगणी ने उलाहने की भाषा में कहा—"अभी प्रतिक्रमण का समय है, बातों का नहीं।" जो व्यक्ति कर्तव्य के सामने अपने अभिन्न हृदय की अपेक्षा नहीं रखता, वह दूसरों के लिए कितना कठोर हो सकता है, यह स्वय कल्पना-गम्य है। वे यदि धर्मप्राण नहीं होते तो उनकी कठोरता निर्ममता में बदल जाती। पर वे महान् धर्मी थे। विस्मृति का वरदान उन्हें लब्ध था। भूल परिमार्जन पर वे इतने मृदु थे कि उनके साथ शत्रु-भाव रखने वाला भी उनका अपूर्व प्यार पाता था। कठोरता और कोमलता का विचित्र सगम उस महान् व्यक्तित्व में था।

वट के बीज को देखकर उसके विस्तार की कल्पना नहीं की जा सकती है, पर वह बीज से बाह्य नहीं होता। तेरापथ के विद्या-विस्तार के बीज कालूगणी थे। विद्यार्जन के लिए काल की कोई मर्यादा नहीं होती। समूचा जीवन उसके लिए क्षेत्र है। कालूगणी ने इसे प्रमाणित कर दिखाया। आचार्य बने, तब आपकी अवस्था तेतीस वर्ष की थी। उस समय आपने ढाई महीनों में समग्र सिद्धान्त चन्द्रिका कण्ठस्थ की। आचार्य हेमचन्द्रकृत अभिधान चिन्तामणि शब्दकोष आप पहले ही कण्ठस्थ कर चुके थे। आपने सकल्प किया—मैं और मेरा साधु-साध्वीगण संस्कृत व प्राकृत के पारगामी बने। आपने अपने जीवनकाल में ही उसे फलित होते देखा था। तेरापथ की अधिकाश प्रतिभाए उन्ही के चरणो में पल्लवित हुई है।

उनमें स्पृहा और निस्पृहता का विचित्र योग था। विद्या के प्रति उनकी जितनी स्पृहा थी, उतनी ही बाह्य सम्बन्धो के प्रति उनकी निस्पृहता थी। दिए से दिया जलता है—इसमें बहुत बडी सच्चाई है। कालूगणी के आलोकित पथ से आचार्यश्री तुलसी अपना पथ आलोकित करते है। उन्ही की भाषा में—"मैं जब सुनता हू कि कुछ लोगों की श्रद्धा हिल उठी, तब मुझे वह वृत्त स्मरण हो आता है, जब कालूगणी ने कुछ सतो के सामने अपने भाव व्यक्त किये थे। उस समय थली (बीकानेर राज्य) में 'देशी-विलायती' का सघर्ष चलता था। तब वहाँ दूसरी सम्प्रदाय के साधु आए। कुछ लोग उनके पास जाने लगे, उनकी ओर झुके। तब कुछ सतो ने कालूगणी के सामने निराशाजनक बातें की। उनके उत्तर में आचार्यवर ने कहा, 'कोई किधर ही चला जाये, मुझे इस बात की कोई चिन्ता नहीं। हमने दीक्षा किसी के ऊपर नहीं ली है, अपनी आत्मा का सुधार करने के लिए ली है। मेरे तो स्वप्न में भी यह नहीं आता कि अमुक श्रावक चला जायेगा तो हम क्या करेगे ? आखिर श्रावकों से हमें चद्दर के पैसे तो नहीं लेने है। श्रावक हमारे अनुयायी है, हम श्रावकों के नहीं। साधुओ ! तुम्हे निश्चिन्त रहना चाहिए। मन में कोई भय नहीं लाना चाहिए।' न जाने कितनी बार ये बातें मुझे स्मरण हो आती है और इससे अपार आत्मबल बढ़ता है।"[1]

स्वावलम्बन उनके जीवन का व्रत था। वे आदि से ही अपनी धुन में रहे। न पद की लालसा थी और न कोई वस्तुओ के प्रति आकर्षण था। छठे आचार्य माणकगणी दिवगत हो गए। वे अपना उत्तराधिकारी चुन नहीं पाये थे। तेरापथ के सामने एक बहुत बडी समस्या खडी हो गई। प्रत्येक साधु इस स्थिति से चिन्तित था। जयचन्दजी नामक एक

१. वि० सं० २००७ पौष सुदी ६

साधु ने कालूगणी से पूछा, "आचार्य कौन होगा ?" आपने उत्तर दिया, "तू और मैं तो नही होंगे। और कोई भी हो। उससे अपने को क्या ?" उस समय आप बाईस वर्ष के थे। ढाई मास तक तेरापथ मे आचार्य की अनुपस्थिति रही। उस समय सारा कार्य-सचालन पूज्य कालूगणी और मन्त्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी ने किया, फिर साधु-परिषद् ने डालगणी को अपना आचार्य चुना। उन्होंने उस युगल का कार्यकुशलता की भूरि-भूरि प्रशसा की।

डालगणी मनुष्य के बहुत बडे पारखी थे। उन्होने मन्त्री मुनि से पूछा —'यदि मै आचार्य पद का दायित्व नही संभालता तो तुम लोग किसे सौपते ?' मन्त्री मुनि ने कहा, 'यह कैसे हो सकता है ? जो दायित्व आये उससे कोई भी गण-हित चाहने वाला कैसे दूर भाग सकता है ?' डालगणी ने कहा, 'फिर भी कल्पना करो, यदि मै इस दायित्व को लेना स्वीकार नही करता तो तुम लोग क्या करते ?' वे इस प्रश्न को दोहराते ही गए, तब मन्त्री मुनि ने कहा, 'कालूजी को सौपते।' डालगणी आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने कहा, 'मै सब ओर घूम गया, पर मगनजी ! यहा नही पहुँच पाया, जहाँ पहुँचना था, वहाँ नही पहुँच पाया।'

कालूगणी की आन्तरिक सम्पदा जितनी समृद्ध थी, उतनी बाह्य सम्पदा नही थी। उनकी आत्मा मे जितना था उतना वाणी मे नही था। वे जितने गण के थे उतने व्यक्ति के नही। उन्होंने एक प्रसग मे डालगणी से कहा था, 'मै कोहनी तक हाथ जोडना नही जानता। फिर भी गण और गणी के प्रति मेरा अन्तरग उनसे कही अधिक निष्ठावान् है, जो कोहनी तक हाथ जोडते है।' उनका 'स्व' बडा प्रबल था। वह यदि अभिमानजनक होता तो परिणाम काल मे निश्चित ही विकार उत्पन्न करता। किन्तु वह निरपेक्ष भाव से प्रसूत था। इसीलिए उसने दायित्व भाव को सजग रखा और कृत्रिम व्यवहार को सुषुप्त। आचार्यश्री ने ठीक ही कहा है, "जो आत्मभाव मे जागृत होता है, वह व्यवहार मे सुप्त होता है और जो व्यवहार मे जागृत होता है, वह आत्मभाव मे सुप्त होता है।" कालूगणी की सतर्कता इतनी थी कि डालगणी जैसे कठोर अनुशासन से कभी इन्हे उलाहना नही मिला। उनकी निरपेक्षता इतनी थी कि उन्हे कभी कोई विशेष अनुग्रह प्राप्त नही हुआ। डालगणी ने अपने उत्तराधिकारी का पत्र लिख दिया, फिर भी यह प्रश्न था कि आचार्य कौन होगा ? उनका स्वर्गवास हो गया। फिर भी लोग इससे अनजान थे कि हमारा भावी आचार्य कौन है ? कालू अब भी अपने स्वावलम्बन मे थे। अपना काम, अपने हाथ-पैर, अपनी धुन और अपना जगत्। व्यक्तित्व छिपा नहीं था। कल्पना दौडती ही थी। कुछ व्यक्तियो ने कहा, 'गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया है। अब आप पाट पर विराजे।' आपने निर-पेक्ष भाव से कहा, 'पहले देखो, आचार्यवर ने अपना उत्तराधिकारी किसे चुना है ? फिर बात करना।' मन्त्री मुनि ने डालगणी का पुठा खोला। पत्र निकाला। परिषद् के बीच उसे पढा, तब जनता ने आश्चर्य के साथ सुना कि हमारे आचार्य श्री कालूगणी है। अब आप पाट पर बैठे। यह निरपेक्षता अन्तिम साँस तक बनी रही। रुचि का खाना वही था जो ग्रामीण लोग खाते है। ठाट-बाट का कोई आकर्षण नही था। बाहरी उपकरण उन्हे कभी नही लुभा पाये। एक ही धुन थी—गण का विकास, विकास और विकास। पहले ही वर्ष उन्होंने साधु-साध्वियो के सात सिघाडे किये। अपने साथ सिर्फ सोलह साधु रखे। शेष साधुओ से कहा—जाओ, विचरो, उपकार करो। सकल्प अवश्य फल लाता है। चतुर्दिक वृद्धि होने लगी। शिष्य-शिष्याए बढी, विद्या बढी, बल बढा, गौरव बढा, यश बढा। जो इष्ट था, वह सब-कुछ बढा। उनका प्रयत्न फल लाने लगा। 'भिक्षुशब्दानुशासन' नामक सस्कृत महाव्याकरण बना। सस्कृत काव्य रचे जाने लगे। रचना के अनेक क्षेत्र खुल गए। उन्हे डिगल काव्य बडे प्रिय थे। चारण लोग आते ही रहते। कविता-पाठ चलता ही रहता। स्वय कवि थे। पर ऐसा ही कोई विश्वास बैठ गया, विशेष नही लिखते। शिष्यो को प्रेरित करते। उत्साह बढाते। उनकी वाणी मे कोई अपूर्व चमत्कार था। उनकी दृष्टि मे कोई अथाह अमृत था। उनका स्पर्श पा एक बार तो मृत भी जी उठता।

विकास और विरोध दोनो साथ-साथ चलते है। तेरापथ का यश बढा, वैसे ही विरोध बढा। जैसे विरोध बढा, वैसे उनका सौम्यभाव बढा। आचार्यश्री तुलसी को विरोध को 'विनोद' मानने का मत्र उन्ही से तो मिला था। आचार्य-श्री ने एक बार कहा था—बाधाओ और विरोध से मेरे दिल मे घबराहट नही होती। मुझे याद आती है मालवा की बात। गुरुदेव रतलाम पधारे। मैं भी उनके साथ था। वहाँ लोगों ने तीव्र विरोध किया। आज से दस गुना, पर गुरुदेव तो

अपने में ही लीन थे। एक, दो, तीन दिन बीत गए। चौथा दिन आया। एक पंडितजी आये। गुरुदेव ने पूछा—'यहीं के रहने वाले है?' पंडितजी ने कहा—'यहीं रहता हूँ। यह सामने ही मेरा घर है।' गुरुदेव ने फिर पूछा—'आज ही आये है?' पंडितजी ने कहा—'आया नहीं हूँ आना पड़ा है।' 'तो कैसे?' पंडितजी बोले—'आपका विरोध आपके आने में पहले ही शुरू हो चुका था। आप आये उस दिन से आज तक आपकी ओर से प्रतिविरोध नहीं हुआ। मैंने सोचा आज आये है, थके-मादे होंगे, शायद कल करेंगे। दूसरा दिन बीता कोई विरोध नहीं किया गया। मैंने सोचा—तैयारी करते होंगे, विरोध करने के लिए। तीसरे दिन भी कुछ नहीं हुआ। मैंने सोचा—'जहाँ एक व्यक्ति को 'कै' करते देख दूसरे व्यक्ति को उबाक आने लगता है वहाँ आज चौथा दिन है फिर भी कुछ नहीं हुआ, अवश्य ही इनकी पाचन-शक्ति सुदृढ़ है। इनमे सारे विरोध को पचाने की क्षमता है। मैं इस इक तरफे विरोध से खिचा-खिचा आया हूँ'।

बीकानेर का विरोध भी बड़ा प्रबल था। साधुओं को प्रतिदिन पचासों गालियाँ सुनने को मिलती थी। फिर भी मौन, सर्वथा मौन। वह दिन मुझे याद है जब गुरुदेव ने सब साधुओं को एकत्रित कर शिक्षा के स्वर में कहा था—'मैं जानता हूँ तुम्हें गालियाँ सुनने को मिल रही है। मैं जानता हूँ तुम्हारे पर आक्रोश किया जा रहा है, व्यंग कसे जा रहे है, फिर भी तुम साधु हो, इसलिए तुम्हें मौन ही रहना चाहिए। तुम्हारा धर्म है सब सुनो, वापस एक भी मत पूछो। यही मेरी आज्ञा है'।[1]

कालूगणी विरोध को सदा बोध-पाठ मानते रहे। आचार्यश्री तुलसी का मानस भी उसी से प्रतिबिम्बित है। कुछ लोग इस विरोध को ईश्वरीय कृपा बतलाते है। आचार्यश्री तुलसी बाड़मेर में थे। वहाँ एक रेलवे गार्ड आया। वह बोला—'कुछ लोग आपकी आलोचना करते है, किन्तु मैं समझता हूँ उन्होंने अभी साधना का पथ नहीं पाया। गुरुजी! आप पर ईश्वर की बड़ी कृपा है।' 'सो कैसे?' 'आपके साथ कोई न कोई विरोध बना रहता है। बिना कृपा के ऐसा हो नहीं सकता।'[2] निर्मिति और निर्माता में जो अभेद होना चाहिए, वह बहुत ही प्रगाढ़ है। इसीलिए आचार्यश्री तुलसी को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव को समझना आवश्यक है। मनुष्य की यह असमर्थता है कि वह जितना होता है, उतना जान नहीं पाता। जितना जान पाता है, उतना कह नहीं पाता। इसीलिए एक महान् को मैंने शब्दों की लघु सीमा में बांध दिया। इस असमर्थता का भागी केवल मैं ही नहीं हूँ, स्वयं आचार्यश्री भी है। उन्होंने अपने निर्माता को स्वल्प रेखाओं में चित्रित किया है। मेरी असमर्थता को अवश्य ही थोड़ा आलम्बन मिलेगा। वे इस प्रकार है—"मैं कई बार सोचता हूँ, मेरे जीवन पर किन-किन का प्रभाव पड़ा। इस दिशा में सबसे पहले मुझे दीखते है पूज्य कालूगणी, उन्होंने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। दीक्षा के पहले दिन जो पहला श्वास मिला, उससे लेकर उनके अन्तिम श्वास तक उनका अविरल प्रभाव मुझ पर पड़ता रहा। उनके जीवन की अविरल विशेषताए आज भी मुझे प्रेरित कर रही है। पूज्य गुरुदेव ब्रह्मचर्य के प्रतीक थे। उनका ललित ललाट तथा दिव्य आत्म-बल इसका साक्षी था। नारी मात्र के प्रति उनमें सदा 'मातृवत्' की भावना मैंने साक्षात् देखी।

वे इसलिए महामानव थे कि उन्होंने जिसके सिर पर अपना वरद हाथ रख दिया, वह तब तक नहीं हटा जब तक वह उचित पथ से नहीं हटा, फिर भले ही उसके पास धन रहा या नहीं। और कुछ रहा या नहीं रहा। पवित्रता रही तो उनका हाथ बना का बना ही रहा।

वे विचारों के स्वतन्त्र और महान् तटस्थ थे। मंत्री मुनि उनके अनन्य थे। पर कई विचार उनमें मेल नहीं खाते सो नहीं ही खाते। जिस पर भी कभी कोई मनोभेद नहीं हुआ। प्रेम अथाह ही रहा। सचमुच वे एक असाधारण व्यक्ति थे।

विद्यानुराग उनके जैसा विरल ही मिलेगा। उन्होंने अथक प्रयास व विभिन्न उपायों से विद्या का जो स्रोत बहाया, उससे आज हमारा समूचा संघ निष्णात है। एक दिन उन्होंने कहा था—"शिष्यो! तुम नहीं जानते, हम विद्यार्थी थे तब

---

१ प्रवचन डायरी १९५३, पृ० ११-१२

२ डायरी ४ पृ० ३४६

हमे विद्या प्राप्त करने मे बडी कठिनाई होती थी। कुछ अल्पचेता लोग 'देवानाप्रिया एते' कहकर हमारा तिरस्कार कर जाते, पर आज तुम्हारे सामने ऐसा करने का कोई साहस नही कर सकता। उन्हे अपने श्रम की फल-परिणति पर सन्तोष था। उनका जीवन कितना सादा था, यह तो प्रत्यक्षदर्शी ही जान सकता है। रात-भर दो चिलमिलिया पर लेटे रहते। महान् आचार्य होने पर खान-पान इतना साधारण कि देखने वाले पर वह प्रभाव डाले बिना नही रहता। श्रम मे बडी निष्ठा थी। वे बहुत बार कहते थे कि श्रम के अभाव मे आज कल नए-नए रोग बढ रहे है। कोई साधु दुर्बल होता तो वे उसे कहते दूर जगल से झोली भर रेत लाओ, परिश्रम करो। शरीर का पसीना निकल जायगा। अधिक चिकना भोजन मत करो। इन दवाओ मे क्या धरा है? वे स्वय बहुत श्रम-शील थे। उनका स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा था। औषध पर उनकी आस्था जैसे थी ही नही। वे साधारण काष्ठादि औषध से ही काम चला लेते। ज्वर होने पर लघन कराते। चाय से तो पटती ही नही थी। उनके सामने दूसरे साधु चाय का नाम लेते हो सकुचाते थे।

आचार्यवर की इन विशेषताओ मे मै अत्यन्त प्रभावित हूँ। वे मेरे अणु-अणु मे रम रही है। उन्होने मुझे सदा अपनी करुणाभरी दृष्टि से सीचा। इतना सीचा कि उसका वर्णन करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नही है। मैने कुछ भूले भी की होगी, पर वे उनका परिमार्जन करते गए। मुझे कभी दूर नही किया। यह कहना कठिन है कि मैं उनकी कितनी विशेषताओ का आकलन कर पाया हूँ। उनकी अनेक विशेषताओ का मेरे मन पर अमिट प्रभाव है। उन्ही के प्रसाद की खुराक पाकर मेरा जीवन बना है। यह कहते हुए मुझे सात्विक गर्व का अनुभव होता है।"

निर्माण लिये आये हो

मुनिश्री बच्छराजजी

कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।
गूढ कला जीवन की तुम पहिचान लिये आये हो।
लगता ऐसा बाहर से तुम, बाँध रहे जीवन को,
पर झाँका भीतर तो पाया, खोल रहे बन्धन को,
रश्मि-बन्ध से तुम जीवन के, स्थल को बाँध रहे हो,
नियम-बन्ध से जग मानस को, जल को बाँध रहे हो,
मुक्ति-दूत! तुम बन्धन मे परित्राण लिये आये हो।
कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।
निष्क्रिय सुन्दरता को कृति मे, स्थान दिया कब तुमने,
सक्रिय-जीवन-तत्त्वो पर ही, ध्यान दिया बस तुमने,
आ जाता सौन्दर्य स्वय जब, गौरव भर देते हो,
वन की कली-कली मे मधुमय, सौरभ भर देते हो,
चित्रकार! निज चित्रो मे तुम प्राण लिये आये हो।
कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।
भौतिक युग मे आज मनुज, मनुजत्व गमा बैठा है,
उठ पाये खुद कैसे जब निज सत्व गमा बैठा है,
शक्ति-पुञ्ज! अब युग तेरा आलम्बन माँग रहा है,
धरणी का कण-कण तेरा पद-चुम्बन माँग रहा है,
विश्व-प्राण! तुम सयम का आह्वान लिये आये हो।
कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।

मानवता का नया मसीहा

श्री एन० एम० झुनझुनवाला

आज मानवता सकट मे है। भौतिक उत्थान की इस उपग्रह-बेला मे भी व्यक्ति-व्यक्ति त्रस्त है। विज्ञान के प्रखर प्रकाश मे भी ससार विपथ हो गया है। शीत-युद्ध के गगन पर शस्त्रीकरण का उच्छृखल अभिनय काफी विकराल हो उठा है। समर-देवता की भयानक जीभ विश्व को निगल जाने के लिए लपलपा रही है। तीन अरब कण्ठो की आर्त्त वाणी आज पल-पल चकित होती हुई-सी निकल रही है। मानवता सकटापन्न है। शान्ति को खतरा है।

यह वैज्ञानिक युग का उपग्रह-काल है। बौद्धिकता की पराकाष्ठा है, मनुष्य के चरम विकास की भी पराकाष्ठा है। मानव-निर्मित उपग्रहो ने ईश्वर-निर्मित ग्रहो को विजित करने की चेष्टा की है। अन्तरिक्ष का विराट रहस्य आज यन्त्रो द्वारा मनुष्य की आँखो मे उतारा जा रहा है। शून्यता का महावास मनुष्य के ज्ञान से चिह्नित हो रहा है। विज्ञान की इस महाबेला मे भी कही से झनझनाहट सुनाई पड रही है—मानवता मर रही है, शान्ति रो रही है।

मानवता और शान्ति की नीलामी

मनुष्य की सर्वतोमुखी भौतिक जागृति मे सद्बुद्धि की रोशनी बुझती जा रही है। ज्ञान का मार्तण्ड भी अज्ञान से घिरा जा रहा है। प्रलय मचाने वाली शक्ति से लज्जित होकर भी मनुष्य को चैन नही। अपने अस्त्र-शस्त्र से अपना ही गला घोटने को उद्यत विज्ञान-पुरुष मूढता का महान् नाटक खेल रहा है। मनुष्य की दोनो मुट्ठियो मे मानवता और शान्ति की मासूम बुलबुले छटपटा रही है। हर ओर से आवाज आ रही है—मानवता को बचाओ ! शान्ति को संभालो ! और मानवता तथा शान्ति की रक्षा के लिए चेहरे पर नकाब डालकर अनेक खलनायक विश्व-मच पर अभिनय कर गये है। शीत-युद्ध के दुपट्टे मे अणु और उद्जन बम छिपाये प्राची और प्रतीची के दो अभिनेता मैत्री के लिए हाथ मिलाते है। शान्ति और मानवता की सहमी आँखो मे थोडी खुशी झाँकती है, किन्तु अपने-अपने घर आकर फिर मानवता और शान्ति की नीलामी शुरू हो जाती है और दुर्बल-पतले मानवो का महासागर चिल्ला उठता है—मानवता को मत लूटो ! शान्ति को मत मारो ! बाण्डुग से लेकर बेलग्रेड तक बेचारे टूटे हुए लोग दौड-धूप करते है। प्रस्ताव पर प्रस्ताव रखे जाते है। किन्तु अणु-परीक्षण का एक ही विस्फोट तटस्थता के अनुयायियो की धज्जी-धज्जी उडा डालता है।

प्राची और प्रतीची के ये दो सूत्रधार तीन अरब पुतलो के जीवन की सट्टेबाजी खुले आम खेलते है। कही इस द्यूत-क्रीडा का नकाब फाड न डाला जाये, इसलिए ये चिल्ला-चिल्लाकर बोलते है—शान्ति सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण । किन्तु, कहाँ है वह प्रयास, जो सम्मान्य शान्ति का मार्ग प्रशस्त करे, जो सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण की भावना को जगा सके ! मानवता की इस दर्दसरी का मूल कहाँ है, कौन जाने ?

नये चिकित्सक का अन्वेषण

राजनीति के खिलाडी, चिकित्सा के नाम पर, कूटनीतिक सूचिका-रस-भरण अवश्य कर सकते है, किन्तु सही रोग-निदान और तदनुकूल चिकित्सा तो कोई अनुभवी चिकित्सक ही कर सकता है। कृष्ण, बुद्ध, ईसा, गाधी और मार्क्स की चिकित्सा बीमार मानवता का रोग पहचान सकती है, किन्तु आज उसी पद्धति का नवीन रूप लेकर किसी नये मसीहा की आवश्यकता है। महामारी के रूप मे रोग की परिणति होने से पहले चिकित्सक का अन्वेषण आवश्यक लगता है,

नये चिकित्सक का।

प्राची और प्रतीची के दो माँझियों के हाथों में मानवता की भाग्य तरी डगमगाती हुई तट की ओर नही, मझधार की ओर जा रही है। इन कूटनीतिक माँझियों से, बीमार मानवता की तरी, तट की ओर नही जा सकती। मानवता की सुरक्षा भौतिक प्रगति नही कर सकती। तो, मानवता की आर्त्त पुकार पर प्राची और प्रतीची के गगन मे दो नक्षत्र उदित हो ही गए आखिर। हो, मानवता की सही चिकित्सा के लिए दो मसीहा प्राची और प्रतीची मे आविर्भूत हुए—आचार्य तुलसी और बुकमैन।

इन दोनो चिकित्सको ने मानवता की दुखती हुई नसो पर उँगली रखी। इनका निदान यही हुआ—मानवता के विनाश का एक ही कारण है अनैतिकता, और इसकी उपयुक्त चिकित्सा है नैतिक जागृति।

नैतिकता के ये दो उद्गाता अपने-अपने क्षितिज पर चमके, खूब चमके। प्रतीची का बुकमैन शारीरिक रूप मे अभी-अभी अस्त हो चुका है, किन्तु, ससार की अरबो आत्माओं मे उस महापुरुष का शखनाद प्रतिध्वनित हो रहा है और अरबो मस्तक आज भी उसकी स्मृति मे श्रद्धावनत है।

और आचार्यश्री तुलसी, प्राची नभ-नगरी का यह सार्वभौम तरुण भास्कर आज भी उद्दीप्त है। मानवता का यह नया मसीहा उन्ही नक्षत्रो मे से एक है, जिनमे बुद्ध, महावीर, कबीर, सूर, तुलसी, नानक, चैतन्य, अरविन्द, गाधी, विवेकानन्द और रवीन्द्र का अक्षत प्रकाश आज भी विश्व को परमानन्द का लक्ष्य-बिन्दु बतला रहा है। इस नये मसीहा ने निदान किया—मानवता क्यो पीडित है, शान्ति क्यो भयभीत है? क्यो व्यक्ति विनाश की ओर वेग मे दौडा जा रहा है? इन सबो का एक ही निदान बतलाया है इसने—अनैतिकता और इससे उत्पन्न अचारित्रिकता, भौतिकता की उच्छृखल प्रगति और इससे उत्पन्न अनाध्यात्मिकता, असयम और इससे उत्पन्न महत्त्वाकाक्षा का व्यामोह तथा उद्वेग।

चिकित्सा के लिए तीन औषधियाँ बतलाई, इस नैतिक भिषग् शिरोमणि ने, नैतिकता, अध्यात्म और सयम। अहिसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य का सरल और सुपाच्य पचामृत 'अणुव्रत' के नाम से पीडित विश्व के गले म डालते हुए इस मानवता के जय-घोषक ने उद्घोषणा की—अणुव्रत-आन्दोलन एक नैतिक क्रान्ति है। उसका उद्देश्य है, मनुष्य का आध्यात्मिक सिचन। आध्यात्मिक प्रगति मनुष्य की सर्वोच्च प्रगति ही नही, सर्वांगीण प्रगति है। इस प्रगति का मूल कार्य है- -चरित्र की सुदृढ स्थापना तथा मैत्री द्वारा शान्ति की रक्षा। सभी प्रकार के स्वास्थ्य-लाभ के लिए सयम की अत्यधिक आवश्यकता है। इतना ही नही, सयम को उसने जीवन-साधना बतलाया और नैतिकता को जीवन कला।

उसने सयम से रचमात्र भी विलगाव को जीवन के लिए अभिशाप कहा और आदश उद्घोषित किया—**सयम: खलु जीवनम्।**

युद्ध-देवता का तीसरा चरण

इस यान्त्रिक युग मे मानवता और शान्ति का शत्रु युद्ध है। बीसवी शताब्दी मे दो दशाब्दियों का अन्तर देकर दो विश्व-युद्ध हो चुके है। भयकर नर-सहार हुए है। सैनिक, असैनिक तथा अबाध शिशु भी युद्ध-देवता की विकराल भट्टी मे झोक दिये गए। हीरोशिमा और नागासाकी विश्व-युद्ध के द्वितीय परिच्छेद के वे अमर आकर्षण है, जहाँ मानवता की छाती एटम बम के प्रहारो से चाक-चाक करदी गई और जापान के ये दो सुनहले पख पल-भर मे जला कर खाक कर दिये गये।

आज भी वही स्थिति है, वही रग। युद्ध-देवता का तीसरा चरण उठ चुका है। मानवता की गर्दन पूर्व-पश्चिम के दो 'क' की उँगलियो के बीच मे दबी पडी है। अणु-परीक्षण, सामयिक चुनौतियाँ, अन्तरिक्ष-प्रतियोगिता, शस्त्रीकरण आदि शीत-युद्ध को पराकाष्ठा की ओर ले जा रहे है। राष्ट्र-सघ-जैसा सघटन भी शीत-युद्ध की उष्ण-परिणति को रोक रखने मे असमर्थ सिद्ध हो रहा है। ससार के सारे राजनीतिज्ञ मिलते है, शिखर-सम्मेलन करते है, गरम-गरम भाषण दे जाते है, किन्तु, ये दो 'क' अपनी एक ही घुडकी से मानवता की रही-सही आशा को धूल मे मिला देते है।

निष्कर्षत , यही सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक प्रगति से शस्त्रीकरण को बल मिलता है और सैद्धान्तिक नेतृत्व या क्षेत्र-विस्तार की भावना मनुष्य को रण-अर्चना के लिए उद्धत करती है। मानवता तथा शान्ति की रक्षा के लिए एक ही उपाय है--निरस्त्रीकरण और वह सम्भव है, व्यक्ति व्यक्ति के नैतिकीकरण से।

युद्ध का कारण

मानवता के इस नये मसीहा आचार्य तुलसी ने युद्ध का एक ही कारण बतलाया है—अनैतिकता के प्रमाद से अनियन्त्रित दुराचारिता की महत्त्वाकांक्षा, उन्माद और व्यामोह में पड कर, एक-दूसरे की सीमा से टकरा जाना चाहती है तथा ससार में ज्ञान के साथ-साथ मूढ़ता भी विकसित हुई है। यदि शान्ति की सुरक्षा करनी है, तो प्रत्येक व्यक्ति को पहले शान्ति की अन्तर्मुखी अर्चना करनी होगी। यदि मानवता की रक्षा करनी है तो सभी मानवों को सच्चे अर्थ में मानव बनना होगा, आसुरी प्रकृतियों का परित्याग करना होगा। निरस्त्रीकरण से भी सुन्दर समस्या का समाधान हृदय-परिवर्तन द्वारा, पारस्परिक सद्भावना तथा मैत्री से हो सकता है। निरस्त्रीकरण सामयिक भावुकता द्वारा भले ही युद्ध की आशका को टाल दे, किन्तु युद्ध की भावना का परित्याग तो पारस्परिक मैत्री द्वारा ही हो सकता है। सद्भावना विहीन निरस्त्रीकरण हाथ-पैर से भी यद्ध करा सकता है, जबकि सद्भावना अणशक्ति को पकडे हुए हाथों को भी एक-दूसरे के उत्कर्ष में सहयोगी बना कर मानवता की रक्षा कर सकती है।

दूसरी ओर मानवता के इस प्रहरी ने मनुष्य-जीवन की सारी अनैतिक गतिविधियों का अध्ययन किया और मानवता की सही पीडा पहचानी। अप्रामाणिकता, मिलावट, अकारण हिंसा, सामान्य असत्य, चारित्रिक निर्बलता, सग्रह एव काम-पिपासा आदि को बढावा देने वाली छोटी-छोटी अनैतिकताओं को भी खोज निकाला। इतना ही नही, इस मसीहा ने तो मनुष्य को कौन कहे, जानवरो तक की पीडा का भी अनुमान किया। अणुव्रतो के छोटे-छोटे बम हमारे जीवन मे अणु-परीक्षण करती हुई अनैतिकता को बडे ही स्नेहपूर्ण ढग से नैतिकता मे परिवर्तन कर देते है। इस मसीहा के शब्द-कोष म कही भी 'विनाश' का शब्द नही है।

आधुनिक बुद्ध

यह तरुण तपस्वी समूची दु खी मानवता को पुकार-पुकार कर एकत्र कर रहा है। इसकी पुकार पर मनुष्यो का विशाल समूह दौड रहा है और इस आधुनिक बुद्ध के चारो ओर ललचाई दृष्टि से खडा हो रहा है। इसकी पुकार सागर की प्रत्येक लहर पर छहर रही है, पर्वतो की बर्फीली चोटियो पर मचल रही है।

भौतिक प्रवाह से त्रस्त मनुष्यो के बीच उनका यह नया आराध्य बडे ही प्यार से कहता है, "मुझे भीख दो, भाइयो ! मुझे अपने एक-एक दोष की भीख दो !"

तुम व्यक्ति को मिटा नही सकते ! तुम्हे समाज बन जाना है—एक बूंद और बूंदो के अगणित अस्तित्वो का सग्रह-सागर। वह एक बूंद भी अमर है, किन्तु सिन्धु बन कर।

अणु और विराट के मधुर सामजस्य का यह महान् प्रणेता आज लोगो मे आनन्द बाट रहा है।

अणु-परीक्षण का काल अभी भूत नही हो सका। सहारा की रेत के बाद अब उसके क्रूर चरण वायुमण्डल और भू-गर्भ मे विचरण कर रहे है। मानवता का परोक्ष विनाश प्रारम्भ है, चाहे युद्ध द्वारा प्रत्यक्ष विनाश अभी दूर हो। किन्तु अणुव्रतो की आध्यात्मिक अणु-शक्तियो का परीक्षण अब समाप्त हो चुका है। वे जीवन के एक-एक दीप सिद्ध हो चुके है।

आज मानवता के इस मसीहा को प्रकाश फैलाते हुए पच्चीस वर्ष पूर्ण हुए। इसकी धवल-जयन्ती मनाई जा रही है। मैं साफ कह दूं—यह आचार्यश्री तुलसी की धवल-जयन्ती नही, मानवता के भविष्य का रजत-समारोह है। गगन-मण्डल के जय-घोष, आचार्य तुलसी के लिए नही, अहिंसा और सत्य की विजय का शखनाद है। आचार्यश्री तुलसी को देख कर ससार को फिर एक बार विश्वास हो चला है—"मानवता अमर है, शान्ति अमिट है, सत्य की विजय होती है, अहिंसा परम धर्म है और मैत्री तथा सद्भावना का आधार ही सच्चा निरस्त्रीकरण है।"

युगधर्म-उन्नायक आचार्यश्री तुलसी

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०

श्रमण-परम्परा मे साधु और श्रावक का सयोग मणि-कचण सयोग है। साधु की शोभा श्रावक से है और श्रावक की साधु से। बिना श्रावक हुए कोई साधु नही बन सकता। दूसरी ओर श्रावक को धर्म-साधन मे, अपने नैतिक एव आत्मिक विकास मे साधु से ही निरन्तर प्रेरणा एव पथ-प्रदर्शन मिलता है। साधु को लेकर ही श्रावक का अधिकांश व्यवहार और धर्म-साधन चलता है। साधुओ के समीप धर्मोपदेश श्रवण करने से ही गृहस्थ की श्रावक सज्ञा सार्थक होती है। दोनो ही एक-दूसरे के पूरक है, एक-दूसरे के लिए अनिवार्य है तथा श्रमण-सघ के अविभाज्य अग है। भगवान महावीर ने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप जिस चतुर्विध श्रमण-सघ का सगठन किया था, उसके ये चारो ही अग परस्पर मे एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे के पूरक एव धर्म-साधन मे सहयोगी होते है। गृहस्थ (श्रावक-श्राविका) जीवन मे धर्म के साथ-साथ अर्थ और काम पुरुषार्थो के साधन की भी मुख्यता होती है, जबकि त्यागी (साधु-साध्वी) का जीवन धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ द्वय-साधन के लिए होता है। अस्तु, धर्म-पुरुषार्थ ही साधु और गृहस्थ के सम्बन्धो की प्रधान कडी है। साधुवर्ग की सेवा-भक्ति करना गृहस्थ का मुख्य दैनिक कर्तव्य है, तो गृहस्थो को धर्मोपदेश देना, उनका पथ-प्रदर्शन करना, उनमे धर्मभाव की वृद्धि करना और नैतिकता का सचार करना साधुवर्ग के धर्म का मुख्य अग है।

यो तो श्रमण-परम्परा के सभी साधु उपर्युक्त प्रकार से प्रवर्तन करते है, किन्तु वर्तमान मे श्वेताम्बर तेरापथी साधु-सघ अपने नवम सघाचार्य श्री तुलसी गणी के नेतृत्व मे जिस सगठन, व्यवस्था, उत्साह एव लगन के साथ, श्रमण-आचार-विचारो की प्रभावना कर रहा है, वह श्लाघनीय है। भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के दो वर्ष के भीतर ही जिस सूझ-बूझ के साथ आचार्यश्री तुलसीगणी ने देश मे नैतिकता की वृद्धि के लिए अपना अणुव्रत-आन्दोलन चलाया, उसकी प्रत्येक देश-प्रेमी एव मानवता-प्रेमी व्यक्ति प्रशसा करेगा। गत बारह वर्षो मे इस अणुव्रत-आन्दोलन ने कुछ-न-कुछ प्रगति की ही है, किन्तु अपने उद्देश्य मे वह कितना क्या सफल हुआ, यह कहना अभी कठिन है। ऐसे नैतिक आन्दोलनो का प्रभाव धीरे-धीरे और देर मे होता है। वह तो एक वातावरण का निर्माण-मात्र कर देते है और जीवन के मूल्यो को नैतिकता के सिद्धान्तो पर आधारित करने मे प्रेरणा देते है। यही ऐसे आन्दोलनो की सार्थकता है। श्रमणाचार्य तुलसी के सघ के सैकडो साधु-साध्वियो द्वारा अपने-अपने सम्पर्क मे आने वाले अनगिनत गृहस्थ स्त्री-पुरुषो का नैतिक स्तर उठाने के लिए किये जाने वाले सतत प्रयत्न अवश्य ही युग की एक बडी माँग की पूर्ति करने मे सहायक होगे। अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भीखणजी ने कुछ विवेकी श्रावको की प्रेरणा से ही अपने सम्प्रदाय मे एक सुधार-क्रान्ति की, जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत श्वेताम्बर तेरापथी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह सघ तब से शनै-शनै विकसित होता एव बल पकडता आ रहा है। किन्तु इस सम्प्रदाय की सीमित क्षमताओ का व्यापक एव लोक-हितकारी उद्देश्यो की सिद्धि के लिए जितना भरपूर एव सफल उपयोग इसके वर्तमान आचार्य ने किया है और कर रहे है, वैसा किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने नही किया। देश की नैतिकता मे वृद्धि और श्रमण-संस्कृति की प्रभावना के लिए किये गए सत्प्रयत्नो के लिए युगधर्म-उन्नायक आचार्य तुलसी गणी को उनके आचार्यत्व के धवल-समारोह के अवसर पर जितना भी साधुवाद दिया जाये, थोडा है।

●

संघीय प्रावारणा की दिशा में

मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुदर्शन'

जिस प्रकार आजकल डायरी का स्थान साहित्य जगत् मे महत्त्व पूर्ण बन गया है, उसी प्रकार पत्रो ने भी साहित्य क्षेत्र मे अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। इसीलिए आजकल लोग बडे साहित्यकारो व महापुरुषो के पत्र बडे चाव से पढते है।

पत्र स्वाभाविकता से भरा रहता है, अत उसमे अपनी विशेषता होती है। वह दूर बैठे व्यक्ति को सौहार्द के धागे मे पिरोए रखता है। उसमे लेखक का निश्छल हृदय और उनके दूसरो के प्रति विचार बडी स्पष्टता से निकलते है, जिससे पाठक पर अनायास ही असर पडे बिना नही रहता।

तेरापथ के आचार्यों मे भी पत्र देने की परम्परा रही है, परन्तु उनकी सख्या बहुत कम है। क्योकि जैन साधु गृहस्थो के साथ व डाक द्वारा पत्र व्यवहार नही करते। इस कारण पत्र बहुत कम दिये जाते है। जो अत्यावश्यक पत्र सघ के साधु-साध्वियो को दिये जाते है, वे उसी स्थिति मे दिये जाते है जबकि कोई सघ का साधु-साध्वी वहाँ तक पहुँचा सके।

आचार्य भिक्षु ने अपने सघ की साध्वियो को, अनुशासन के प्रश्न को लेकर पत्र दिये है, जिससे हमे उस समय के सघ की स्थिति का कुछ इतिहास मिलता है। तृतीय आचार्य श्रीमद् रायचन्दजी ने अपने भावी उत्तराधिकारी को पत्र दिया है जिसमे उनके (जयाचार्य के) प्रति बडे मार्मिक उदगार प्रगट हुए है। इस प्रकार आचार्यो ने अपने सघ के साधु-साध्वियो को विभिन्न परिस्थितियो मे पत्र दिये है जो आज हमारे लिए इतिहास के अग बन गये है।

तेरापथ साधु समाज का विस्तार जितना आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में हुआ, उतना पिछले आचार्यों के समय नही हुआ। इसलिए उनके दायित्वो का विस्तार भी हो गया। अनेक आन्तरिक कार्य उनको पत्रो द्वारा करने पडते है। इसलिए अन्य आचार्यों की अपेक्षा आचार्यश्री के पत्रो की सख्या अधिक है। उनके पत्रो मे तेरापथ की आन्तरिक स्थिति का चित्रण पाठको को मिलेगा। इसके अलावा साधु-साध्वियो के प्रति उनकी वत्सलता का सजीव भाव। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है उनके हृदय की आवाज कि वे किस प्रकार आज के जमाने मे सघ को फला-फूला देखना चाहते है। उनका अदम्य उत्साह, कार्य करने की अजस्र धुन, विरोधो को सहने की अटूट शक्ति, देशाटन करने की प्रबल भावना, कर्तव्य-परायणता आदि अनेक हृदय को छूने वाली घटनाए है।

आचार्यश्री को पदारूढ हुए पच्चीस वर्ष सम्पन्न हो गये है। इस दीर्घ अवधि मे उन्होने साधु-साध्वियो को अनेक पत्र दिये है। उनमे सर्व प्रथम सती छोगाजी को दिया हुआ पत्र है, जो उन्होने पदासीन होते हुए ही लिखा था।

सती छोगाजी अष्टम आचार्य कालूगणी की ससार पक्षीय माता थी। उसने अपने पुत्र कालू के साथ ही दीक्षा ली थी। वृद्धावस्था के कारण उनसे चला नही जाता इसलिए वे कई वर्षों से बीदासर मे स्थिरवास किये हुए थी। कालूगणी का स्वर्गवास स० १९९३ भाद्रव शुक्ला ६ को हुआ। भाद्रव शुक्ला ९ को बाईस वर्ष की अवस्था मे आचार्यश्री तुलसी पदासीन हुए। चातुर्मास के बाद साध्वियो के एक सिंघाडे के साथ छोगाजी को आचार्यश्री ने एक पत्र लिखकर भेजा।[1]

ॐ नम !

छोगाँजी सूँ घणी-घणी सुखसाता बचै। थे चित्त मे घणी-घणी समाधि राखज्यो और अठै सूँ सत्याँ चानाँजी आदी

---

१ आचार्यश्री ने अधिकांश पत्र मारवाड़ी में ही लिखे थे।

ठाणा ५ बठै भेज्या छै सो वह सुखसाता का समाचार सारा ही कहसी और बडा म्हाराज साहिब महा भाग्यवान प्रबल प्रतापी देवलोक पधार गया सो निजोरी बात है। काल आगै कोई को जोर चालै नही तीर्थंकर देव नै पिण काल तो छोडै नही इस विचार करी नै चित्त मैं समाधि विशेष राखणी चाही जै। बाकी जिम कालूगणीराज के आप माता छा तिम म्हांरे पिण माता तुल्य छो जिण सूं कोई बात की विचार करी ज्यो मनी और म्हांरा पिण दर्शन देवण रा भाव वेगा ही है। मेवाड देश मै चोमासा दोय हुवा तो पिण गामां मैं विशेष विचरणो हुवो नहि तिण सूं अठै विचरवा की अबार जरूरत है तो पिण बठै दर्शन देणा जरूरी समझकर द्रव्य, क्षेत्र काल-भाव देखकर दर्शन वेगा ही देवारा भाव है। पिण दूर को काम है। आणो बेत सूं होसी। तिण सूं पहली सत्यांनै मेल्या छै सो जाणीज्यो। और तपस्या शरीर की शक्ति देख-देख कर करीज्यो और चित्त समाधि मे घणो राखज्यो। स० १९९३ मृगशिर वदि २ सोमवार।

मेवाड मै तथा मारवाड मै विहरमाण साधु सतियां सूं यथायोग वचै। अबकी बार अठांनै नही बोलाया तिण सूं साधु सत्यां के दिल मैं खासी आइ हुवेला। थांरी काइ बात म्हारे भी दिल मे आवे है। पर जियां अवसर हुवै वियां ही करणो पडे। बाकी बठे रहकर भी शासन को काम करो हो आही म्हारी ही सेवा है। अबकी बार साधु-सत्यां म्हारो दृष्टि देखकर सार्वजनिक प्रचार मै केइ जग्यां आछी मिहनत करी, इ बात की मनै प्रसन्नता है। सारां ने ही चाहिजै कि आपणी हद मै रहता हुवा धर्म को व्यापक प्रचार हुवै। धर्म एक जाति विशेष मै बध्यो नही रह सके है। मेवाड सार्वजनिक प्रचार को आछो क्षेत्र है सो पूरी मिहनत हुणी चाहिजे। श्रावका न भी पूरी चेष्टा करनी चाहिजे। सारा ही सत सत्यां आछी तरह सूं आनन्द मे रहीज्यो। अठे घणो आनन्द छै। शेष समाचार शिष्य मिठालाल केवेला। वि० सवत २००८ फा० व० १० सरदारशहर।

तुलसी गणपति नवमाचार्य

सौराष्ट्र में विहरमाण चन्दनमुनि सूं वदना तथा सुखसाता बचै। सौराष्ट्र मैं आप आछो उपकार कर रह्या हो, प्रसन्नता की बात है। इधर मै आपको स्वास्थ्य कुछ कमजोर सुण्यो तथा रात मै नीद कम आवै इसी सुणी तिण सूं कुछ विचार हुयो। देशान्तर मैं विचरणे वाला साधुवां को शरीर ठीक रेणे सूं म्हारे भी दिल मैं तसल्ली रेवे। काम भी आछो हुवै। बाकी आपकै शरीर नै वो देश नही माने तो आप कहवा दीज्यो मै विचार लेवांगा। शिष्य पूनम, शिष्य उगम आदि सर्व सता सूं भी सुखसाता बचै। सारा ही सत घणी चित्त समाधि मूं रहीज्यो। तन मन सूं घणे राजी हत सूं काठियावाड मे मिहनत करज्यो, उपकार हो तो लखावै है। सारा ही सता की मिहनत पर म्हारो चित्त प्रसन्न है। अठै सूं कानमलजा स्वामी तथा रूपाजी, गुलाबांजी ने भेज्या है। अठै की सुखसाता का सारा ही समाचार कहसी। इधर मै म्हारे त्रिवार्षिक देशाटन मैं शासन को अच्छो उद्योत हुयो है सो जाणसी। स० २००८ पो० व० ८ भादरा।

तुलसी गणपति नवमाचार्य

जेष्ठ सहोदर चम्पालालजी स्वामी, वदनांजी तथा लाडांजी सूं यथायोग्य वदनां सुखसाता बचै। अपरञ्च म्हे आज पौणी दस वज्यां आसरै घणी सुखसाता सहीत फूलासर पहुँच्या सवारे अठै सू विहार कर के आगै जावण रा भाव है और वदनांजी के अबै ठीक ही हुवेला। तरतर कमजोरी मिटकर शक्ति आवेला। आप तीनां के इयां लारै रेहणे को सायत पहिलो ही मोको है, घणो आछो सजोग मिल्यो है। माता नै सजम को स्हाज देवणो ओ एक पुत्र-पुत्री के वास्ते उऋण होने को मोको है। मनै पिण इ बात को घणो हर्ष है। अबै वदनांजी के जल्दी ठीक हुणै सूं विहार करके आइज्यो। घणी जल्दी करीज्यो मती, कारण रहणो तो हो ही गयो। घणी-घणी चित्त समाधि राखीज्यो। वदनांजी के समाधि हुणै सूं सघलां के चित्त मैं घणी समाधि हुवै। और सर्व सत सत्यां सूं यथायोग्य वदनां सुखसाता बचै। स० २००२ फा० वदि १२ फूलासर।

तुलसी गणपति

मत्री मुनि तेरापथ सघ के सर्व सम्मान्य व्यक्ति थे। उन्होने पाँच आचार्यों का जीवनकाल देखा, वे सभी के कृपापात्र रहे। आचार्यश्री तुलसी ने इनको मत्री की उपाधि मे विभूषित किया। यह तेरापथ सघ मे पहला अवसर था कि किसी मुनि को मत्री की उपाधि मिली हो। वे अपने जीवन मे सदा ही आचार्यों के साथ रहे। पहली बार शारीरिक अस्वस्थता के कारण उनको बीदासर मे रहना पडा। तब लाडनूं मे आचार्यश्री ने उनको पहला पत्र सस्कृत मे लिखकर दिया था, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है

मत्री मुने ! पुन-पुन वदना और बार-बार सुख पृच्छा। इन समाचारो को सुनकर मुझे बडा खेद हुआ कि आपका शरीर पहले की तरह अस्वस्थ ही है। खेद ! जिस प्रकार आपका शरीर जरा जीर्ण हो गया, क्या इस दुनिया की औषधियाँ भी जीर्ण हो गई ? क्या सभी प्रकार की चिकित्साए सदिग्ध हो गई ? जिससे आपका शरीर अभी भी व्याधि-ग्रस्त हो रहा है। मै मानता हूँ कि आपका शरीर जितना रोग से पीडित नही है उतना मुझसे दूर रहने के कारण है। ऐसा मै विश्वास करता हूं। यह मेरी कल्पना सही है। किन्तु यह शरीर तो समय आने पर मुझसे मिलने पर स्वयमेव स्वस्थ हो जायेगा, ऐसा लगता है।

आप इस अन्तराय काल मे शान्त चित्त होकर रहे। क्योकि यह मैं निश्चित मानता हूँ कि "आप मेरे से कोई दूर नही है और न मै आपसे दूर हूँ।" इन मेरे वाक्यो को बार-बार स्मरण रखते हुए अपने अन्त करण को शान्त रखे। अपना मिलन शीघ्र ही होने की सम्भावना है।

यहाँ समस्त सघ पूर्णतया कुशल है वैसे ही वहाँ होगा। स० २००५ पौष कृष्णा ५, लाडनूं।

तुलसी गणपति नवमाचार्य

तुम मानव !

मुनिश्री श्रीचन्दजी 'कमल'

तुम मानव हो
देवत्व तुम्हारे चरणो मे लुटता है
लोग तुम्हारे मे देवत्व की कल्पना कर रहे है
पर तुम मानव हो
और
मानव ही रहना चाहते हो
क्योकि

देवत्व विलासिता का रूपक है और मानव पुरुषार्थ का। पुरुषार्थ मे तुम्हारा विश्वास है, इसीलिए तुम मानव रहना चाहते हो।

इस युग के प्रथम व्यक्ति

श्री गिल्लूमल बजाज
अध्यक्ष, अणुव्रत समिति, कानपुर

यह कोई शाश्वत तथ्य नही कि भौतिकता अनैतिकता का आश्रय लेकर ही चले, किन्तु जब मानव दृष्टि-पथ मे नि श्रेयस् हो ही नही और वह उसकी आवश्यकता भी स्वीकार न करना चाहे तो उस उपेक्षित आध्यात्मिकता मे भौतिकता को अनैतिकता की भूमि पर खडे होने से रोक देने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी। यह एक नियम-सा है कि भौतिक उत्थान आध्यात्मिकता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और इसीलिए यह स्वीकार किया जाता है कि भौतिकता अनैतिकता की भूमि पर खडी होती है।

जब हम अपने राष्ट्र पर दृष्टि डालते है और यह देखते है कि हमे भयकर अनैतिकता के वातावरण मे से होकर चलना पड रहा है, तब हमे आश्चर्य होता है और हम यह सोचने के लिए बाध्य हो जाते है कि यह सम्भव कैसे हुआ, क्योकि हमे स्वतन्त्र करने का श्रेय सत्य, अहिसा और प्रेम पर आधारित हमारे नैतिक आन्दोलन को है। स्वतन्त्र हम हुए नैतिकता के बल पर और स्वतन्त्रता-जन्य सुखोपभोग के लिए हम आश्रय ले रहे है—अनैतिकता का. यह आश्चर्य ही तो है!

ऐसा विपरीत परिणाम क्यो? और इस विपरीतावस्था मे होने वाले राष्ट्रोत्थान का प्रयास क्या हमारी वास्तविक सुख-समृद्धि की सृष्टि कर सकेगा, यह भी एक प्रश्न है और जिसे हम राष्ट्र-निर्माण की सज्ञा दे रहे है क्या सचमुच मे इस प्रकार का राष्ट्र-निर्माण वस्तुत हमारे लिए लाभप्रद है, इस पर भी हमे सोचना होगा।

राष्ट्र निर्माण और नैतिकता

राष्ट्र किसी विशेष स्थल के अन्योन्याश्रित निवासियों के उस समूह को कहते है जो अपने सदस्यो की सास्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक विचारधाराओ को एक साथ, एक ही दिशा मे प्रवाहित करता है और जो सम्बन्धित सदस्यों के वैयक्तिक स्वार्थों को सामूहिक स्वार्थ का पूरक बना देता है। इसीलिए राष्ट्र-निर्माण का वास्तविक अर्थ है, राष्ट्र के नागरिको के चरित्र को उस साँचे मे ढालना, जो सम्बन्धित समुदाय के स्वार्थ की पूर्ति करने वाला हो। यदि ऐसा प्रयास नही हो रहा तो नामपट्ट चाहे जो लगा दिया जाये, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस प्रयास को राष्ट्र-निर्माण का नाम देना, राष्ट्र को धोका देना है।

नि सन्देह बडे-बडे कारखानो की स्थापना हो रही है, बाँध और नहर अस्तित्व मे आ रहे है, बिजली का प्रसार हो रहा है, किन्तु क्या इसीसे राष्ट्र-निर्माण हो जायेगा? क्या इसीसे हमारे देश मे घी और दूध की नदियाँ बहने लगेगी? सत्य तो यह है कि राष्ट्र-निर्माण की दिशा मे सबसे पहले नागरिको के चरित्र-निर्माण की आवश्यकता है।

प्राप्य एव सग्रह मे एक अन्तर है, यह नागरिको को मालूम होना चाहिए। अधिकार का ही ज्ञान पर्याप्त नही है, नागरिक को कर्तव्य का ज्ञान भी होना चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो राष्ट्र की चाहे जो भी इमारत खडी की जाये, वह स्थायी नही होती। जिस राष्ट्र का नागरिक अपने कर्तव्य और अधिकार, अपने प्राप्य और देय के अन्तर को ईमानदारी से स्वीकार नही करता, वह राष्ट्र जियेगा कैसे?

राष्ट्रीयता का प्राण है, राष्ट्र के प्रति निष्ठा। राष्ट्र-निष्ठा का अर्थ है, उसके निवासियो के कल्याण की भावना।

राष्ट्रहित-साधन नागरिकों की सुख-समृद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयास का नाम है। हम वर्तमान काल को राष्ट्र-निर्माणकाल की संज्ञा देते है; अतः हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम राष्ट्र-निर्माणात्मक अपने कार्यों पर एक दृष्टि डाल ले और यह देख लें कि हम कितने पानी मे है। इस सम्बन्ध मे हमें दो बातो की विवेचना करनी होगी। एक तो यह कि क्या हम सचमुच राष्ट्र-निर्माण कर रहे हैं और दूसरी यह कि क्या हमारा प्रयास स्थायी परिणाम का जनक होगा।

नैतिकता व अनैतिकता का सम्बन्ध

हमारी पचवर्षीय योजनाए निःसन्देह देश के आर्थिक स्तर को उठाने वाली हैं, किन्तु हम यह कैसे समझे कि योजनाओं द्वारा राष्ट्र का उच्चीकृत स्तर देश मे सुख-शान्ति की सृष्टि करेगा और यदि सुख-शान्ति के हमे दर्शन भी हुए तो इसका क्या भरोसा कि हम उसे पकड कर रख सकेंगे।

समृद्ध नागरिक का नैतिक स्तर उच्च ही होगा, यह कहना स्वय अपने को भ्रम मे डालना है। वास्तविकता तो यह है कि नैतिकता-अनैतिकता का सम्बन्ध धन अथवा दरिद्रता से बिल्कुल नही। यदि अनैतिकता का प्रसार अवरुद्ध नही हुआ तो वह बढेगी और उसका बढना क्या होगा, कहाँ तक होगा, इसका अनुमान नही लगाया जा सकता। हीन चरित्र के नागरिक से राष्ट्रोत्थान की आशा करना बुद्धिमानी की बात नही, क्योकि वह अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी कर सकता है। राष्ट्र को बेच सकता है, राष्ट्र की इज्जत को गिरवी रख सकता है।

राष्ट्र-निर्माणार्थ आवश्यक है कि उसमे नैतिक बल उत्पन्न किया जाये। राष्ट्रोत्थान तभी सम्भव होगा, जब नागरिक का नैतिक उत्थान होगा, जब नागरिक अपना कर्तव्य समझना होगा और उसका पालन करता होगा। जब नागरिक अपने कर्तव्यो और दूसरे के अधिकारो की रक्षा को अपना धर्म मानता है, तभी राष्ट्र का वास्तविक उत्थान होता है और वह उत्थान उत्तरोत्तरोन्मुख रहता है।

गिरती हुई नैतिकता को रोकने की सुविधा मिलना कठिन हो जाता है। दूर न जाकर हमे अपने पर ही एक दृष्टि डालनी होगी। यह एक तथ्य है कि स्वतन्त्र होने के पश्चात आर्थिक दृष्टि से देश कुछ ऊपर उठा है, किन्तु साथ ही यह एक विचित्र-सी बात हुई कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र हीन ही होता चला गया है। आखिर ऐसा क्यों ?

हम ऊपर कह चुके है कि हम नैतिकतापूर्ण राजनैतिक आन्दोलन की सीढी पर चढ कर स्वतन्त्रता के मन्दिर तक पहुँच सके है। तब हमारा चरित्र आज हीन क्यो है ? कारण केवल इतना है कि स्वतन्त्र होने के पश्चात स्वतन्त्रता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसको नैतिकता का सिहासन देना हम आवश्यक नही मान सके। हमने सुख-समृद्धि के लिए तो वास्तविक प्रयास जारी रखा, किन्तु मार्ग-भ्रष्ट हो गये, अत फल विपरीत हुआ। सुख-समृद्धि का युग तो चलना ही रहा, किन्तु नैतिकता का युग समाप्त हो गया। परिणाम यह हुआ कि सुख-समृद्धि मे न्यूनता नही आई, किन्तु शक्ति नष्ट होना प्रारम्भ हो गई। हमको अपनी-अपनी पड गई। हमने कर्तव्य का पल्ला तो छोड दिया, किन्तु अधिकारो की माँग करने मे एक-दूसरे को पीछे धकेल कर आगे बढने के प्रयास में जुट गए। विवेक को चालाकी ने पराजित कर दिया। कर्तव्य-भावना को अवसरवादिता ने रौद डाला।

इस वातावरण मे हम राष्ट्र-निर्माण कर रहे है। यह हम जानते है कि राष्ट्र-निर्माताओ की कर्तव्य-भावना सन्देह से परे है, किन्तु जिन ईंटो से भवन खडा हो रहा है, वे कच्ची है, घटिया किस्म की है। तब पक्का और मजबूत भवन खडा कैसे होगा ?

राष्ट्रपिता महात्मा गाधी नैतिकता की अपरिहार्यता को ठीक-ठीक समझते थे, अत उसको उन्होने अपने आन्दोलन का आधार बनाये रखा। महात्माजी के पश्चात् उनके सिद्धान्त को यथावत् समझने वाली और उनको कार्यान्वित करने वाली देश मे केवल दो विभूतियाँ रह गईं एक तो आचार्य विनोबा भावे और दूसरे आचार्य तुलसी। आचार्य तुलसी की विशेषता यह है कि उन्होने देश मे नैतिकता की स्थापना को ही अपने जीवन का लक्ष्य घोषित किया और अपनी घोषणा को सत्य एव फलवती सिद्ध करने के लिए उन्होने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कया।

अणुव्रती के काम्य

अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र-निर्माण का आन्दोलन है, राष्ट्र-निर्माण का आन्दोलन है, मानव-मात्र के कल्याण-साधन का आन्दोलन है। इस आन्दोलन को देश, काल और पात्र की सीमाओ से परिवेष्टित नही किया जा सकता। यह मनुष्यमात्र के कल्याण का मार्ग-निर्माण करने वाला प्रयास है और कहा तो यह भी जा सकता है कि प्राणी-मात्र के सुख और शान्ति अणुव्रती के काम्य है।

आचार्य तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापथ के निर्देशक, नियामक व नवम आचार्य है और उनका स्थान अपने अनुयायियो मे इतना उच्च है कि शायद ही किसी अन्य सम्प्रदाय के आचार्य का आसन उसकी समता कर सके, किन्तु फिर भी अणुव्रत-आन्दोलन पर साम्प्रदायिकता की किसी प्रकार की छाप नही। अणुव्रत-आन्दोलन का क्षेत्र सभी मनुष्यो का स्वागत करता है। वे चाहे किसी भी देश, समाज, जाति, वर्ण अथवा सम्प्रदाय के हो। अणुव्रत-आन्दोलन साम्प्रदायिक मान्यताओ पर न तो आघात करता है और न उन्हे बढावा देता है। किन्तु मानव-धर्म को प्रमुखता देने का प्रयास करता है और उसको मान्यता दिलवाने का प्रयत्न करना ही अणुव्रत-आन्दोलन का एकमात्र उद्देश्य है।

आचार्यश्री तुलसी तेरापथ के नवम आचार्य है, अत जो तेरापथ की मान्यताओ से परिचित नही और जिसको आचार्यश्री के दर्शन नही मिले, वह यही समझेगा कि इतने सामान्य व्यक्ति का वैभव स्पृहणीय होगा, उनकी सुविधाए असीम होगी। किन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है। उनके परिवार नही, घर नही, सम्पत्ति नही, मठ नही, कोई स्थायी निवास नही, किसी सवारी पर चलते नही, किसी प्रकार की कोई सामग्री पास रखते नही, श्वेत परिधान, कुछ आवश्यक पुस्तके और काष्ठपात्र को छोडकर। भिक्षान्न पर जीवन-यापन और जीवन का लक्ष्य मनुष्यमात्र का कल्याण। आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करना उनकी परम्परा के विपरीत है। आचार्यत्व के अतिरिक्त किसी पद को स्वीकार करना उनकी धार्मिक मान्यताओ के अनुकूल नही। वे इतने नि स्पृह और इतने निष्काम है।

यदि ऐसे शुद्ध चरित्र का व्यक्ति हमसे शुद्ध चरित्र की आकाक्षा करता है, तो वह स्वाभाविक है और उसका प्रभाव पडना हमारे ऊपर अनिवार्य भी है। अणुव्रती स अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक न तो सम्मान चाहते है और न बदले मे किसी कामना की पूर्ति की आकाक्षा ही रखते है। उनकी तो हमसे केवल इतनी ही माँग है कि हम अपने चरित्र को निष्कलक रखे और वास्तविक मनुष्य बनने का प्रयास करे।

आचार्यश्री श्रमण-सस्कृति के वर्तमान तपोधन प्रतिनिधि है। उनकी प्रवृत्ति जन्मना वैराग्यमूलक है। आचार्यश्री का व्यक्तित्व इतना महान सिद्ध हुआ कि वह तेरापथ के घेरे मे न समा सका और आज अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक के रूप मे हम उन्हे युग-स्रष्टा मनीषियो मे प्रमुख स्थान अधिकृत किये पा रहे है।

आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि ऐसे ही गृहत्यागी महात्माओ के द्वारा होती आई है। भगवान् बुद्ध, महावीर स्वामी, शकराचार्य, ईसा इत्यादि जितने भी आध्यात्मिकता का सन्देश देने वाले विश्व मे हुए है, सब इसी श्रेणी के थे। उनकी नि स्पृहता, उनकी अकिंचनता ही मे वह शक्ति थी कि मनुष्य को उनकी बात सुनने के लिए बाध्य होना पडा है। आचार्य तुलसी उसी परम्परा के है। इसीलिए अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता असदिग्ध है और सबसे बडी बात तो यह है कि मनुष्य को आज इसी सन्देश की सबसे अधिक आवश्यकता है।

स्वर्ण तभी शुद्ध होता है, जब वह अग्नि मे तपा लिया जाता है। जितना जल जाता है, वह विकार होता है और जो शेष रहता है, वही सोना है। गुणगान ही यथेष्ट नही होता, गुणो को कसौटी पर कसना भी जरूरी होता है। अणुव्रत-आन्दोलन पर हम जितना विश्वास करते है, कही ऐसा तो नही कि वह आवश्यकता से अधिक हो।

सबसे पहले तो हमे यह देख लेना आवश्यक है कि आन्दोलन-प्रवर्तक अपने आन्दोलन के द्वारा किस उद्देश्य-प्राप्ति के इच्छुक है। कही ऐसा तो नही कि अपने वैयक्तिक, पारिवारिक अथवा अन्य किसी सकुचित स्वार्थ सिद्धि के लिए आन्दोलन केवल सीढी का काम दे रहा हो। यदि ऐसी परिस्थिति आन्दोलन को जन्म देने वाली होती है तो कर्णधार कर्णधार न सिद्ध होकर अपने अनुयायियो को बीच धार मे डुबाने वाला होता है। वह अपने अनुयायियो की निष्ठा का

दुरुपयोग करता है और जब वह देखता है कि उसकी आन्तरिक लिप्सा-पूर्ति की क्षमता अनुयायियो की तपस्या ने उसमे उत्पन्न कर दी है तो वह उन्हे ठीक उसी तरह पीछे छोड जाता है, जिस तरह किसी भवन की सीढियो को एक-एक कर छोडता हुआ कोई व्यक्ति ऊपर चढता है।

आचार्यश्री की ओर जब हमारी दृष्टि जाती है तो हम उन्हे ससार-त्यागी के रूप मे पाते है। जब वे अपना स्थायी निवास-स्थान नही बनाते, किसी पद को स्वीकार नही करते, धन को छूते भी नही, अपने पास कुछ भौतिक ऐश्वर्य रखते ही नही, तब उनकी कोई ऐसी भौतिक कामना हो ही कैसे सकती है जिसे वे आन्दोलन के बल पर पूरी करना चाहते हो। हाँ, उनकी कामना है और वह यही है कि मानव आध्यात्मिक बने। उसका चरित्र शुद्ध हो और उसका कल्याण हो। यह अवस्था ऐसी है जो हमे आश्वस्त करती है, विश्वास दिलाती है और भयमुक्त करती है।

इस युग मे राष्ट्र के प्रत्येक अग मे अनैतिकता घर कर गई है जिसे सभी देखते है, अनुभव करते है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी इस युग के प्रथम व्यक्ति है जिन्होने उन बुराइयो को दूर करने का निश्चय किया है और वह अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे क्रियान्वित हुआ।

यह आन्दोलन अपने ढग का एकाकी है, क्योकि इसमे न तो उपासना-पद्धति पर जोर दिया जाता है और न किसी प्रकार का कोई वचन ही लिया जाता है। वह तो केवल आत्म-शुद्धि की माँग करता है।

नारियो मे, विद्यार्थियो मे, सरकारी कर्मचारियो मे, व्यापारियो मे और सभी अन्य नागरिको मे आन्दोलन की माँग उनकी परिस्थितियो के अनुसार है। आचार्यश्री तुलसी चाहते है कि राष्ट्र का प्रत्येक वर्ग आदर्श हो, उच्च हो, कर्तव्यपालक हो। यदि यह हो गया तो देश का कल्याण होगा, इसमे सन्देह नही।

नहीं भक्त भी, किन्तु विभक्त भी

मुनिश्री मानमलजी (बीदासर)

जन-जागृति के अमर प्रणेता है तेरा शतश अभिनन्दन,
नही भक्त भी, किन्तु विभक्त भी करते है तेरा अभिनन्दन।

झूम रहे थे जग के चेतन जिन भौतिक श्वासो को पाने,
उलझे थे सूने भावो मे जग की चापो को अपनाने,
आ तुमने तब घोर अमा मे जीवन की ज्योति दे डाली,
मानव डग भरता है अब तो पाने क्षितिज पार की लाली,
बीहड पथ सुषमा मे पूरित, हुआ आज सब टूटे बन्धन,
जन-जागृति के अमर प्रणेता है तेरा शतश अभिनन्दन।

अणु से हो आरम्भ पूर्ण तक है सबको ही बढते जाना,
इसीलिए तो अणुव्रतो का सुना रहा तू गीत सुहाना,
पुलकित हो नैतिकता युग-युग मानवता की हो अगवानी,
जीवन मधुरिम घडियाँ ले, गढ जाये अपनी मधुर कहानी,
तुम तो स्थितप्रज्ञ तुम्हारे लिए एक है पावक-चन्दन,
जन-जागृति के अमर प्रणेता है तेरा शतश अभिनन्दन।

व्यक्तित्व-दर्शन

श्री नथमल कठोतिया

उपमन्त्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

मूर्तिकार की कलाकृति मे सजावता एव लालित्य तभी आता है जबकि उसे उपयुक्त शिला-खण्ड प्राप्त हो। माली की कला-दक्षता का सही प्रस्फुटन तभी हो सकता है जबकि उसे उर्वर भूमि उपलब्ध हो, साहित्यकार की लेखनी मे रस-सचार तभी हो पाता है, जब कि उसे भावनानुकूल विषय सुलभ हो। यद्यपि मूर्ति की सद्य सजीवता एव सौन्दर्य-सुघडता का श्रेय मूर्तिकार को, वाटिका की सुरम्य रमणीयता का श्रेय माली को एव साहित्य की रस स्निग्ध आनन्दमयी कृति का श्रेय साहित्यकार को मिलता है, यह स्वाभाविक है। परन्तु कलाकृति के पृष्ठाधार को परिष्कृत व परिमार्जित करने वाले उस मूक सूत्रधार का एव कलाकृति व कलाभिव्यक्ति के चरम-विकास मे अन्य सभी सहयोगी माध्यमो का भी अपना विशेष महत्त्व है, किन्तु उनका मूल्याकन व उनके प्रति वास्तविक आभार-प्रदर्शन तो वह कलाकार ही कर पाता है, जिसको इन सबके सहयोग एव बल पर वाछित सफलता का श्रेय मिला हो।

सर्वसाधारण जन तो उन मूक व मुखर सभी उपादानो के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन का केवल प्रयास मात्र ही कर पाते है। प्रस्तुत लेख भी एक ऐसा ही प्रयास है। आचार्यश्री तुलसी वर्तमान युग की एक अनुपम कृति है और उसके कलाकार है महामानव अष्टमाचार्य श्री कालूगणीराज, जिनकी अनुपम व अनोखी सूझ-बूझ, कर्मठ कर्तव्य-निष्ठा व बहुमुखी विकास प्रतिभा के फलस्वरूप विश्व को एक अमूल्य रत्न, एक ज्वलन्त प्रतिभा प्राप्त हुई। जिसके पुनीत प्रकाश मे भ्रमित विश्व अपना पथ-प्रदर्शन पाता है। गौरव एव गरिमामयी इस भेट के लिए विश्व इस मूर्धन्य कलाकार का चिर ऋणी रहेगा, इसमे सन्देह नही। वर्चस्वी कलाकार श्री कालूगणी के उपर्युक्त अप्रतिम कर्तृत्व मे उनके सेवाभावी शिष्य मुनिश्री चम्पालालजी (भाईजी महाराज) का भी उल्लेखनीय योगदान हुआ। वस्तुत ऐसा सौभाग्य किसी विरले जन को ही मिल पाता है। मुनिश्री आचार्यप्रवर के वरद हस्त है, इस हेतु आचार्यश्री के क्रम-विकास मे उनका पूरा-पूरा योगदान रहा है, जो स्वाभाविक है।

मुनिश्री की दीक्षा स्वर्गीय आचार्यश्री कालूगणीराज के करकमलो द्वारा चूरू वि० स० १६८१ मे सम्पन्न हुई थी। उनकी अपनी दीक्षा हो जाने के लगभग डेढ वर्ष पश्चात् आपका ध्यान अपने अनुज आचार्यश्री तुलसी की विशेषताओ व विलक्षणताओ की ओर आकर्षित हुआ। अनुज के अग विशेषो मे उन्हे महापुरुषोचित लक्षण दृष्टि-गोचर हुए। इस प्रकार आकृत-विशेष मे प्रच्छन्न किसी महान् व्यक्तित्व का आभास पाकर मुनिश्री ने मन-ही-मन अनुज के लिए सर्वोत्तम आत्मार्थी मार्ग की कल्पना सयोजित की और इस हेतु प्रयासित हुए। समय-समय पर मुनिश्री उन्हे प्रेमपूर्वक सरल शब्दो मे भिन्न-भिन्न बालकोचित उपायो एव उपदेशात्मक चित्रो द्वारा जीवन की सही दिशा का निर्देशन करते तथा उन्हे सासारिकता से विरक्त कर आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करते रहते। इस तरह कुछ तो मुनिश्री के अविरल प्रयास मे एव कुछ अपने सयोजित सस्कारो से बालक तुलसी की निर्मल आत्मा मे ग्यारह वर्ष की आयु मे ही एक दिन वैराग्य का अकुर प्रस्फुटित हुआ एव आज के आचार्यप्रवर बालक तुलसी अपने भविष्य की ओर आकर्षित हुए। प्रयासित फल-प्राप्ति की सफलता पर मुनिश्री के हर्ष का पारावार न रहा, पर साथ-ही-साथ उन्होने अब उसके विकास प्रकाश की आवश्यकता भी अनुभव की और उन्होने विनम्र निवेदन के साथ यह प्रश्न अपने परमगुरु स्वर्गीय आचार्यश्री कालूगणीराज के समक्ष रखा तथा इस सहज अर्जित सफलता को उनके चरणो मे समर्पित कर अनुज के लिए शुभाशीर्वाद की कामना की।

आचार्यश्री तुलसी के जीवन-प्रसंग

मुनिश्री पुष्पराजजी

आचार्यश्री तुलसी के जीवन को जिस किसी कोण से देखा जाये उसमे विविधताओ का सगम मिलता है। उनका बचपन, उनका मुनिजीवन व उनका आचार्यकाल जन-जन को अनिर्वचनीय प्रेरणा देने वाला है। प्रस्तुत उपक्रम मे उनके बाल्य-जीवन व कुछ आचार्यकाल की घटनाओ का सकलन किया गया है, जिससे उनके जीवन का थोडे मे ही सर्वांगीण अध्ययन किया जा सके। उनके बाल्य-जीवन की घटनाए उनके अपने शब्दो मे—सस्मरणो के रूप मे दी गई है और आचार्यकाल की घटनाओ को एक दर्शक के शब्दो मे।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात

प्रात काल भाभी ने हाथ पर पैसे रखते हुए आज्ञा के स्वर मे कहा—मोती ! लोहे के कीले ले आओ। उस समय मेरी आयु सात वर्ष के करीब होगी। मैने नेमीचन्दजी कोठारी की दुकान से कीले ले लिए। उन्होने पैसे नही लिए, चूंकि वे मेरे मामा होते थे। मैं घर की ओर चला आया। भाभी के हाथ मे पैसे और कीले दोनो रख दिये। भाभी ने साश्चर्य कहा—यह कैसे ? पैसे भी और कीले भी ? मैने सहज भाव से कहा, मामा जो ठहरे।

"तुलसी ! पैसे यदि तू रख लेता, तो मुझे क्या पता लगता ?" भाभी ने कहा।

"पता नही लगता, पर मेरी आत्मा तो मुझे कचोटती ?" मैने बीच मे ही बात काटते हुए कहा।

"तुम्हारे हृदय मे पैसे चुराने का चिन्तन तो हुआ होगा ?" भाभी ने मुस्कराते हुए कहा।

"मुझे अप्रामाणिकता से अत्यन्त घृणा है भाभी !" मैने स्वर को तेज करते हुए कहा।

भाभी के मुख से सहज निकल पडा, "यह कोई होनहार बालक प्रतीत होता है।" 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'।

इनके पीछे कौन ?

मेरे बचपन की एक घटना है। उस समय मै केवल सात वर्ष का था। माताजी मुझे नहला रही थी। मैने उस समय प्रश्न किया—माँ ! मुझे पूजीमहाराज बहुत प्यारे लगते है।

माँ—बेटा ! वे बडे पुण्यवान् पुरुष हैं।

बेटा—माँ ! उनके चरण फूल जैसे बडे ही कोमल है और वे पैदल चलते है, तब इनके पैरो मे कांटे नही लगते क्या ?

माँ—पुण्यवानो के पग-पग निधान होते है, बेटा !

बेटा—माँ ! इनके पीछे पूजी महाराज कौन होगे ?

माँ—(लाल आंखे दिखाकर डाँटते हुए) मूर्ख कही का, हमारे पूजीमहाराज युग-युगान्तर तक अमर रहे।

माँ की लाल आँखो ने मेरे हृदय मे उठते हुए प्रश्नो को मौन मे परिणत कर दिया।

सजा तो माफ हो गई, पर···

एक बार की घटना है, मै जगल (पचमी) से पुन लौटते समय बालू के टीले से नीचे उतर रहा था कि इतने मे

गुरुदेव ने फरमाया, तुलसी ! नीचे हरियाली है। मैंने सहसा उत्तर दे दिया, मैं ध्यान रख लूंगा। पर चला उसी मार्ग पर। धीरे-धीरे व सावधानीपूर्वक चलने पर भी धूली कण हरियाली पर आ गये। गुरुदेव ने मीठा उलाहना देते हुए कहा, "देख, रेत हरियाली पर आ गई न? मैंने कहा था न? 'दो परठणे दण्ड'।" मेरा मुँह छोटा-सा हो गया। स्थान पर आने के पश्चात् मैंने विनम्र शब्दों मे त्रुटि की क्षमा चाही। समुद्र के समान गम्भीर गुरुदेव ने सजा माफ कर दी। सजा तो माफ हो गई, पर वह शिक्षा माफ नही हुई। आज भी स्मृति को सरस बना रही है।

तारे गिन के आओ

रात्रि का समय था। तारे झिलमिल-झिलमिल कर धरती पर झांक रहे थे। उस समय मेरी अवस्था सत्रह वर्ष की होगी। नीद अधिक आना स्वाभाविक ही था। कालूगणी शिवराजजी स्वामी को आदेश देते, जाओ तुलसी को उठा लाओ। वे मुझे उठा जाते। मैं कभी-कभी नीद मे ही, हा आता हूँ, कहकर पुन सो जाता। आप फिर कहते—तुलसी आया नही। जाओ, इस बार उसे साथ लेकर आओ। मै साथ-साथ चला आता। फिर भी स्वाध्याय, चिन्तन करते-करते मुझे नीद आ ही जाती। आप उस समय बड़े ही मीठे शब्दों मे मनोवैज्ञानिक ढग से नीद उड़ाने के लिए कहते—तुलसी, जाओ आकाश के तारे गिन कर आओ, तारे कितने है? सजग होने पर पुन ज्ञानामृत पिलाते। इस प्रकार गुरुदेव ने प्रशिक्षण देकर मेरे जैसे बिन्दु को सिन्धु बना दिया। गुरु हो तो वस्तुत. ऐसे ही हो।

टूटे हृदयों का मिलन

६ दिसम्बर, १९६१ को **अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैर त्याग** पातजल योग सूत्र के इस वाक्य को प्रत्यक्ष होते हुए देखा जब कि आचार्यश्री तुलसी के एक स्वल्प कालीन प्रयास से इक्कीस वर्ष से पिता और पुत्र के टूटे हृदय का मधुर मिलन हुआ। घटना इस प्रकार थी। कानोडवासी श्री देवीलालजी बाबेल और उनके पुत्र वकील श्री राजमलजी बाबेल मे कुछ लेन-देन व बटवारे को लेकर इक्कीस वर्ष से बोल-चाल,खान-पान, मेल-जोल आदि पारस्परिक व्यवहार सर्वथा बन्द थे। इस बीच अनेको अवाच्छनीय घटनाए न चाहते हुए भी हो गई। सहसा सयोगवश आचार्य प्रवर का उनके घर पर पदार्पण हुआ। आचार्यश्री उस परिस्थिति से परिचित थे, अत दोनो को परस्पर वैमनस्य का त्याग कर शान्ति से जीवन व्यतीत करने का सदुपदेश दिया। उस उपदेश मे दोनो का हृदय बदल गया। एक-दूसरे ने परस्पर क्षमा याचना की। पुत्र ने पिता के चरण छुए और पिता ने पुत्र को हृदय से लगाया। जनता ने यह स्पष्ट देखा कि जिस समस्या को सुलझाने के लिए पच, सरपच, न्यायाधीश असफल रहे, वह समस्या क्षण म ही सुलझ गई।

निश्चल मन और आत्म-दर्शन

पाँच नदियो के सगम स्थल पजाब की भूमि को नापते हुए आचार्यश्री तुलसी ने एक दिन भाखडा-नागल से निकलने वाली नहर पर विश्राम किया। शिष्य मडली के साथ, जिसमे मै भी उपस्थित था, आचार्यश्री तुलसी शान्त सुधारस की गीतिका का मधुर गायन करने मे तल्लीन हो गए। नयन खुलते ही नहर के चलते हुए जल-प्रवाह की ओर ध्यान गया। चलते हुए जल मे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नही देता था। तत्क्षण आत्म-दर्शन की गहन चर्चा मे निमज्जन करते हुए आचार्यप्रवर ने कहा—जिस प्रकार चलते हुए मैले जल-प्रवाह मे अपने तन का प्रतिबिम्ब नही दीखता, ठीक उसी प्रकार ही चलित मैले मन मे भी आत्म-दर्शन नही होता। स्वरूप-दर्शन तो निश्चल और निर्मल मन से ही होता है।

न हमारे जेब है और न मठ

आदिवासियो के बीच आचार्यप्रवर प्रवचन कर चुके थे। प्रवचन के बाद एक पन्द्रह वर्षीय भील बालक आया और कहने लगा—दारू-मास का परित्याग करवा दीजिए। आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिये। उसने वन्दन किया और चुपचाप एक चवन्नी आचार्यश्री की पलथी पर रख कर एक कोने मे बैठ गया। आचार्यश्री अपनी साहित्य-साधना मे

तल्लीन थे। थोडी देर बाद जब उस चवन्नी की ओर ध्यान गया तो पूछा—यह किसने रख दी। पास में बैठे भाइयों ने कहा—दर्शन करते समय किसी की जेब से गिर गई होगी।

आचार्यश्री—यह गिरी हुई तो नहीं लगती, किसी-न-किसी ने भेंट रूप मे रखी है, ऐसा लगता है। तत्रस्थ लोगों से पूछा गया तो सकुचाता हुआ वह बालक जिसका, नाम था 'उदा' सामने आया और कहने लगा—महाराज ! यह तो इस सेवक की तुच्छ भेंट है।

आचार्यश्री अरे भाई ! हम इस भेंट को कहाँ रखेंगे। (अपने वस्त्रों की ओर इंगित करते हुए) हमारे न तो कहीं जेब है और न कोई अलमारी और न मठ है।

बरगद में नया मोड़

सडक के किनारे पर एक बरगद का पेड था। नीचे झुकी हुई जीर्ण जटाएं उसकी पुरानता की कथा स्पष्ट कह रही थी, किन्तु उसके हरे-भरे और कोमल पत्ते इतने आकर्षक और नयनाभिराम थे कि आचार्यश्री के चरण वहीं पर रुक गये। ऊपर-नीचे देखा और पद यात्री मेवाडी भाइयों से कहने लगे—देखो आपने बरगद की चतुरता ? कितना समयज्ञ है यह ? वैशाख मास से पूर्व ही पुराने पत्तो को बिदाई दे दी और अब नया मोड़ लेकर नया वेष धारण किये पथिकों को मोह रहा है। इस बरगद से प्रेरणा प्राप्त कर आप भी अपने जीवन को देखिये। पुरानता के मोह मे कहीं पिछड तो नहीं रहे है ?

सुदामा की भेंट

१५ जून, १९६० को आचार्यश्री अटालिया से पुन रिछेड पधार रहे थे। रास्ते मे एक 'उदोजी' नामक वयोवृद्ध किसान नौजवान की तरह हृदय मे खुशियाँ लिये आचार्यश्री के पैरो मे लोट गया। उसके हाथ मे गुड की डली (ढला) थी। उसने आचार्यश्री के चरणों में उस गुड का भेंट कर दिया। उस भेंट को अस्वीकार करते हुए आचार्यश्री ने गुड सम्बन्धी अनेक प्रश्न उससे पूछे। परन्तु उस वृद्ध पटेल का हृदय विशुद्ध प्रेम एव भक्ति-विभोर था। आँखें आनन्द के आँसुओं से डबडबाई प्रतीत हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर और चन्दन बाला की घटना रह-रहकर हमे याद आ रही थी। उदोजी बोल नही सके। भक्ति ने कुछ करने के लिए बाध्य कर दिया। वृद्ध ने आचार्यश्री का जोर लगा कर हाथ पकड लिया। गुड मुट्ठी मे रखा और बन्द कर दिया। उधर से एक साथ मे जयघोष सुनाई दिया 'आज के आनन्द की जय हो।' मैंने पीछे से जिज्ञासा भाव से पूछा—पटेल वासा ! यह क्या किया ? उसने हाजिर जवाबी को लज्जित करते हुए कहा—यह तो गरीब सुदामा के चावल की कृष्ण—तुलसीराम जी महाराज की भेंट थी।

हनुमान का मूल्य

आचार्यश्री प्रात शौचार्थ गाँव बाहर जा रहे थे। पार्श्व स्थित मन्दिर पर लगे लाउड स्पीकर से आवाज आई—'भगवान् हनुमानजी री कीमत छब्बीस रुपया।' कुछ कदम आगे चले कि फिर सुनाई दिया—'भगवान् हनुमानजी री कीमत सत्ताईस रुपया, तीस रुपया, अड़तीस रुपया बधे सो पावै।'

आचार्यश्री ने अपने प्रवचन के बीच उक्त घटना का उल्लेख करते हुए कहा —कितना अन्धेर है। जिन देवता और भगवान् को सर्व शक्तिमान मानते है, उन्हे भी बोलिया बोल कर बेचा जाता है। विवाह और स्नान करवाया जाता है। क्या भगवान् भी मैले हो जाते है ? भगवान् की कितनी विडम्बना कर रहे है, उनके ही भक्त। कबीर ने ठीक ही कहा है

कबीर कुबुद्धि अनाब की घट-घट माँहि बड़ी।
किस-किस को समझाइये, कुए भाँग पड़ी।।

♦

अनुपम व्यक्तित्व

श्री फतहचन्द शर्मा 'आराधक'
मन्त्री, दिल्ली राज्य हिन्दी पत्रकार संघ

आचार्य तुलसी किसी सीमित क्षेत्र के आचार्य अथवा साधुमात्र नही है और न वे तेरापथ के केवल विशिष्ट मुनि ही रह गये है। अपने पच्चीस वर्षों की आचार्य काल की सतत साधना से उनका स्थान इतना व्यापक बन गया है कि अब उनके सामने किसी एक छोटी इकाई-मात्र का कल्याण करने की कामना ही बहुत पीछे रह गई है। उनकी साधना ने मानव मात्र का हित-चिन्तन करना अपने जीवन का पुनीत उद्देश्य बना लिया है। जीवन मे अनेक वर्ग के साधु-महात्माओं को मुझे देखने का अवसर मिला है। किन्तु आचार्य तुलसी जैसा विलक्षण व्यक्तित्व मैं बहुत कम देख पाया। बहुत वर्ष पहले की बात है, जब आचार्य तुलसी पहली बार दिल्ली पधारे। दिल्ली के लिए आचार्यजी बिल्कुल नये थे, किन्तु उन्होने दिल्ली की चकाचौंध के सामने अपना समर्पण न करके दिल्लीवासियो को कुछ सोचने और करने पर मजबूर किया। इसी भूमि पर उन्होने अणुव्रत जैसे देशव्यापी आन्दोलन की सृष्टि की। अणुव्रत दिल्ली ही मे अणु का रूप लेकर देश व्यापी बना। आचार्यजी भारत की राजधानी मे कई बार अपने पदार्पण से इस क्षेत्र के नागरिको को एक विशेष प्रेरणा समय-समय पर देते रहे है। कुछ उद्बोधो से समाज के सभी वर्गों मे चैतन्य आया है। अनेक बार आचार्य-जी के दिल्ली और दूसरे स्थानो पर दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर चुका हूं। जब हजारो लोगो की भीड से उन्हे घिरा देखता हूँ, यह भ्रम अपने आप हृदय से निकल जाता है कि वे किसी सम्प्रदाय विशेष के आचार्य है।

जिस देश मे मेरी जन्म-भूमि है, उस प्रदेश मे आचार्यजी का जब आगमन हुआ तब उन्हे अणुव्रत-आन्दोलन के सचालन मे केवल उनके सम्प्रदाय का अथवा जैन समाज का ही सहयोग नही मिला, अपितु ईसाई और मुसलमानो का भी आन्दोलन को सक्रिय सहयोग मिला और उन सबने उसमे प्रेरणा भी पाई। आचार्यजी ने उत्तरप्रदेश मे ऐसा जादू कर डाला कि बहुत कम व्यक्ति ऐसे रहे है जिन्होने अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति अपना सौहार्द प्रदर्शित न किया हो। यह उनके प्रयत्न और प्रभाव का ही चमत्कार मानता हूँ कि उन्होंने उत्तरप्रदेश की नैतिक गतिविधियो को प्रोत्साहन देने वाली सस्थाओं मे अणुव्रत समिति को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करा दिया। अभी तक बडी-से-बडी दूसरी सस्थाओं के नैतिक आन्दोलन उत्तरप्रदेश मे चले और पनपे, किन्तु उन्हे जनता और सरकार दोनो का सहयोग समान रूप से नहीं मिला। अणुव्रत समिति के सम्बन्ध मे यह बात बिल्कुल अपवाद मात्र है। इतना गहरा प्रभाव दूसरे व्यक्ति कम कर पाये है। इस सारी सफलता के पीछे जहाँ उनके सहयोगी कर्मठ कार्यकर्ताओं का योग है, वहाँ आचार्यजी की साधना, उनके द्वारा किया गया निर्णय और उसे क्रियान्वित करने की तीक्ष्ण बुद्धि है। इन सबका योग मिलाकर आचार्य तुलसी ने अपनी शान्तिप्रिय साधना से केवल राजस्थान ही मे नही, सारे देश का बाध लिया है।

समान शुभ चिन्तक

अनेक विशिष्ट व्यक्ति जब अपने पास बडी-से-बडी शक्तियो को आते देखते है, तब उनके द्वार जनसाधारण के लिए बन्द हो जाते है। किन्तु आचार्यश्री तुलसी के सम्बन्ध मे ऐसा नही कहा जा सकता। उनके यहाँ सभी को आने का अवसर मिलता है। राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री से अणुव्रत-आन्दोलन की बात करने के बाद आचार्यजी का क्षेत्र वही नही समाप्त हो जाता। जिस तरह की चर्चा आचार्यजी इस आन्दोलन को लोकोपयोगी बनाने के लिए राष्ट्र नायको से करते है, उसी प्रकार अपने आन्दोलन के सचालन और सवर्धन करने के लिए वे सर्वसाधारण कार्यकर्ताओं से भी बातचीत करते

है। उनकी यह उदार वृत्ति अपने निकट दूसरे धर्मों के लोगो को भी खीच लाने मे विशेष सहायक सिद्ध हुई है। उनके आन्दोलन मे जहाँ जैन धर्म के उपासक जुटे है, वहाँ सनातन धर्मी और अन्य मतावलम्बी बडे स्नेह मे इस आन्दोलन को अपना आन्दोलन मानते हे। बडे-से-बडे कट्टर आर्यसमाजी जिन्होने बहुत समय तक स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तो के आधार पर जैन धर्म के सेवको से अलग मार्ग रखा, वे भी बडे चाव के साथ आचार्यजी के अणुव्रत-आन्दोलन के विशेष कार्यकर्ता बने हुए है। उनका यह सब प्रभाव देख कर आश्चर्य होता है कि राजस्थान के एक सामान्य परिवार मे जन्म लेने वाला यह मनुष्य कितने विलक्षण व्यक्तित्व का स्वामी है जिसने वामन की तरह से अपने चरणो से भारत के कई राज्यो की भूमि नापी है। इस समय देश मे एक-दो व्यक्तियो को छोड कर आचार्य तुलसी पहले व्यक्ति है, जिन्होने आचार्य विनोबा से भी अधिक पदयात्रा करके देश की स्थिति को जाना है और उसकी नब्ज देख कर यह चेष्टा की है कि किस प्रकार के प्रयत्न करने पर शान्ति प्राप्ति की जा सकती है। उनके जीवन-दर्शन मे कभी विराम और विश्राम देखने का अवसर नही मिला। जब कभी भी उन्हे किसी अवसर पर अपना उपदेश करते देखा, तब उन्हे ऐसा देख पाया कि वे उस समारोह मे बैठे हुए उन हजारो व्यक्तियो की भावना को पढ रहे है। उन सबका एक व्यक्ति किस प्रकार समाधान कर सकता है, यह उनकी विलक्षणता है। समारोहो मे सभी लोग पूरी तरह से सुलझे हुए नही होते। उनमे सकीर्ण विचारधारा के व्यक्ति भी होते है। उनमे कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते है जो अपने सम्प्रदाय विशेष को अन्य सभी मान्यताओ से विशेष मानते है। उन सब व्यक्तियो का इस प्रकार समाधान करना किसी साधारण व्यक्ति का काम नही हे। ग्रामो और कस्बो की अज्ञान परिधि मे रहने वाले लोगों को, जिन्हे पगडडी पर चलने का ही अभ्यास है, एक प्रशस्त राजमार्ग से उन्हे किसी विशेष लक्ष्य पर पहुँचा देना आचार्य तुलसी जैसे ही सामर्थ्यवान् व्यक्तियो के वश की बात है।

विरोधियो से नम्र व्यवहार

उनके जीवन की विलक्षणता इस बात मे प्रगट होती है कि वे अपने विरोधियो की शकाओ का समाधान भी बडे आदर और प्रेमपूर्ण व्यवहार से करते है। कई बार उनके उग्र और प्रचण्ड आलोचको को मैने देखा है कि आचार्यजी से मिलने के बाद उनका विरोध पानी की तरह से ढुलक गया हे।

आचार्यजी के दिल्ली आने पर मै यही समझता था कि वे जो कुछ कार्य कर रहे है, वह और साधु-महात्माओ की तरह से विशेष प्रभाव का कार्य नही होगा। जिस तरह से सभा समाप्त होने पर, उस सभा की सभी कार्यवाही प्राय सभा-स्थल पर ही समाप्त-सी हो जाती है, उसी तरह की धारणा मेरे मन मे आचार्यजी के इस आन्दोलन के प्रति थी।

कैसे निभाएंगे ?

आजकल जहा नगर-निगम का कार्यालय है, उसके बिल्कुल ठीक सामने आचार्यजी की उपस्थिति मे हजारो लोगो ने मर्यादित जीवन बनाने के लिए तरह-तरह की प्रेरणा व प्रतिज्ञाए ली थी। उस समय यह मुझे नाटक-सा लगता था। मुझे ऐसी अनुभूति होती थी कि जैसे कोई कुशल अभिनेता इन मानवमात्र के लोगो को कठपुतली की तरह से नचा रहा है। मेरे मन मे बराबर शका बनी रही। इसका कारण प्रमुख रूप से यह था कि भारत की राजधानी दिल्ली मे हर वर्ष इस तरह की बहुत-सी सस्थाओ के निकट आने का मुझे अवसर मिला है। उन सस्थाओ मे बहुत-सी सस्थाए असमय मे ही काल-कवलित हो गई। जो कुछ बची, वे आपसी दलबन्दी के कारण स्थिर नही रह सकी। इसलिए मै यह सोचता था कि आज जो कुछ चल रहा है, वह सब टिकाऊ नही हे। यह आन्दोलन आगे नही पनप पायेगा। तब से बराबर अब तक मै इस आन्दोलन को केवल दिल्ली ही मे नही, सारे देश मे गतिशील देखता हूं। मै यह नही कह सकता कि यह आन्दोलन अब किसी एक व्यक्ति का रह गया हे। दिल्ली के देहातो तक मे और यहाँ तक कि झुग्गी-झोपडियो तक इस आन्दोलन ने अपनी जड जमा ली है। अब ऐसा कोई कारण नही दीखता कि जब यह मालूम दे कि यह आन्दोलन किसी एक व्यक्ति पर सीमित रह जाये। इस आन्दोलन ने सारे समाज मे एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि सभी वर्गों के लोग एक बार यह विचारने के लिए विवश हो उठते है कि आखिर इस समाज मे रहने के लिए हर समय उन

बातो की ओर जाना ठीक नही होगा, जिनका कि मार्ग पतन की ओर जाता है। अन्ततोगत्वा सभी लोग यह विचार करने पर मजबूर दिखाई देते है कि सबको मिल-जुलकर एक ऐसा रास्ता जरूर खोजना चाहिए, जिससे सभी का हित हो सके। समाज मे इस तरह की चेतनता प्रदान करने का श्रेय आचार्य तुलसी ही को दिया जा सकता है। उन्होने बड़े स्नेह के साथ उन हजारो लोगो के हृदयो पर बरबस विजय प्राप्त कर ली है। जीवन की यही विशेष रूप से सफलता है, जिसे आचार्य तुलसी अपनी सतत साधना से प्राप्त कर सके है। अणुव्रत-आन्दोलन अब मनुष्य के जीवन की इतनी निकटता प्राप्त कर चुका है कि वह कुछ मामलो मे एक सच्चे मित्र की तरह से समाज का मार्ग-दर्शन करता है। नही तो उसे दिल्ली और देश के दूसरे स्थानो मे कैसे बढावा मिलता और क्यो विद्यार्थी, महिलाए और दूसरे श्रमिक एव धनिक वर्ग उसे अपनाते ? इस से यह प्रकट होता है कि आन्दोलन मे कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य है। बिना प्रभाव के यह आन्दोलन देशव्यापी नही बन सकता।

सतत साधना

अनेक बार आचार्यजी के पास बैठने पर ऐसा जान पड़ा कि वे जीवन दर्शन के कितने बड़े पण्डित है, जो केवल किसी भी आन्दोलन को अपने तक ही सीमित रहने देना नही चाहते। अभी पिछले दिनो की बात है कि उन्होने सुझाव दिया कि अणुव्रत-आन्दोलन के वार्षिक अधिवेशन का मेरी उपस्थिति मे होना या न होना कोई विशेष महत्त्व की बात नही है। इस तरह से समाज के लोगो को अपने जीवन सुधारने की दिशा मे आचार्य जी ने बहुत बार प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध मे उनका यह कहना कितना स्पष्ट है कि भविष्य मे कोई व्यक्ति यह नही कहे कि यह कार्य आचार्य जी की प्रेरणा अथवा प्रभाव के कारण ही हो रहा है। वे चाहते है कि व्यक्तियो को किसी के साथ बँधकर आत्म-अभ्युदय का मार्ग नही खोजना चाहिए। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे प्रेरणा लेनी चाहिए। जीवन जिस ओर उन्हे प्रेरणा दे, उस काम उन्हे करना चाहिए। यह सब देख कर आचार्यजी को समझने मे सहायता मिल सकती है। वे उन हजारो साधुओ की तरह अपने सिद्धान्तो को ही पालन कराने के लिए दुराग्रही नही है, जैसा कि बहुत से लोगो को देखा गया है, जो अपने अनुयायियो को अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिए ही विवश किया करते है। आचार्यजी के अनुयायियो मे काग्रेस, जनसघ, कम्यु-निस्ट, समाजवादी और यहा तक कि जो ईश्वरीय सत्ता मे विश्वास नही करते, ऐसे भी व्यक्ति है। आचार्यजी मानते है कि जो लोग अपने को नास्तिक कहते है, वे वास्तव मे नास्तिक नही है। इसलिए आचार्यजी के निकट जाने मे सभी वर्गो के व्यक्तियो को पूरी छूट रहती है। यह मै अपने अनुभव की बात कह रहा हूँ।

प्रेरक व्यक्तित्व

उन्होने आत्म-साधना से अपने जीवन को इतना प्रेरणामय बना लिया है कि उनके पास जाने से यह नही लगता कि यहा आकर समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ। जितनी देर कोई भी व्यक्ति उनके निकट बैठता है, उसे विशेष प्रेरणा मिलती है। उनकी यह एक और बड़ी विशेषता है जिसे कि मै और कम व्यक्तियो मे देख पाया हूं। वे जिस किसी व्यक्ति को भी एक बार मिल चुके है, दूसरी बार मिलने पर उन्हे कभी यह कहते हुए नही सुना गया कि आप कौन है ? अपने समय मे से कुछ-न-कुछ समय निकाल कर वे उन सभी व्यक्तियो को अपना शुभ परामर्श दिया करते है, जो उनके निकट किसी जिज्ञासा अथवा मार्ग-दर्शन की प्रेरणा लेने के लिए जाते है। अनेक ऐसे व्यक्ति भी देखे है कि जो उनके आन्दोलन मे उनके साथ दिखाई दिये और बाद मे वे नही दीख पाये। तब भी आचार्यजी उनके सम्बन्ध मे उनकी जीवन गतिविधि का किसी-न-किसी प्रकार से स्मरण रखते है। यह उनका विराट व्यक्तित्व है, जिसकी परिधि मे बहुत कम लोग आ पाते है। ऐसा जीवन बनाने वाले व्यक्ति भी कम होते है, जो ससार मे विरक्त रह कर भी प्राणी-मात्र के हित-चिन्तन के लिए कुछ-न-कुछ समय इस काम पर लगाते है और यह सोचते है कि उनके प्रति स्नेह रखने वाले व्यक्ति अपने मार्ग से बिछुड तो नही गये है ?

विशेषता

कभी-कभी उनके कार्य को देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि यह सब आचार्यजी किस तरह कर पाते है। कई वर्ष पहले की बात है कि दिल्ली के एक सार्वजनिक समारोह मे जो आचार्यजी के सान्निध्य मे सम्पन्न हो रहा था, देश के एक प्रसिद्ध धनिक ने भाषण दिया। उन्होंने जीवन और धन के प्रति अपनी निस्सारता दिखाई। एक युवक उस धनिक की उस बात से प्रभावित नही हुआ। उसने भरी सभा मे उस धनिक का विरोध किया। उस समय पास मे बैठा हुआ मैं यह सोच रहा था कि यह युवक जिस तरह से उस धनिक के विरोध मे भाषण कर रहा है, इसका क्या परिणाम निकलेगा, जब कि उस धनिक के ही निवास स्थान पर आचार्यजी उन दिनो ठहरे हुए थे और उस धनिक की ओर से ही आयोजित सभा की अध्यक्षता आचार्यजी कर रहे थे। पहले तो मुझे यह लगा कि आचार्यजी इस व्यक्ति को आगे नही बोलने देगे, क्योकि सभा मे कुछ ऐसा वातावरण उस धनिक के विशेष कर्मचारियो ने उत्पन्न कर दिया था, जिससे ऐसा लगता था कि आचार्यजी को सभा की कार्यवाही स्थगित कर देनी पड़ेगी। किन्तु जब आचार्यजी ने उस व्यक्ति को सभा मे विरोध होने पर भी बोलने का अवसर दिया तो मुझे यह आशका बनी रही कि सभा जिस गति से जिस ओर जा रही है, उससे यह कम आशा थी कि तनाव दूर होगा। अपने मालिक का एक भरी सभा मे निरादर देख कर कई जिम्मेदार कर्मचारियो के नथुने फूलने लगे थे। किन्तु आचार्यजी ने बड़ी युक्ति के साथ उस स्थिति को सम्भाला और जो सबसे बड़ी विशेषता मुझे उस समय दिखाई दी, वह यह थी कि उन्होंने उस नवयुवक को हतोत्साह नही किया, बल्कि उसका समर्थन कर उस नवयुवक की बात के औचित्य का सभा पर प्रदर्शन किया। यदि कही उस नवयुवक की इतनी कटु आलोचना होती तो वह समाप्त हो गया होता और राजनैतिक जीवन मे कभी आगे बढने का नाम ही नही लेता। किन्तु आचार्यजी की कुशलता से वह व्यक्ति भी आचार्यजी के सेवको मे बना रहा और उस धनिक का भी सहयोग आचार्यजी के आन्दोलन को किसी-न-किसी रूप मे प्राप्त होता रहा। ऐसे बहुत-से अवसर उनके पास बैठ कर देखने का मुझे अवसर मिला है, जब उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा बड़े से बड़े सघर्ष को चुटकी बजा कर टाल दिया। आजकल आचार्यजी जिस सुधारक पग को उठा कर समाज मे नव जागृति का सन्देश देना चाह रहे है, वह भी विरोध के बावजूद भी उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण सकीर्णता की सीमा को छिन्न-भिन्न करके आगे बढ रहा है। आचार्यजी की साधना के ये पच्चीस वर्ष कम महत्त्व के नही है। राजस्थान की मरुभूमि मे आचार्यजी ने ज्ञान और निर्माण की अन्त सलिला सरस्वती का नये सिरे से अवतरण कराया है, जिससे वह ज्ञान राजस्थान की सीमा को छू कर निकट के तीर्थों मे भी अपना विशेष उपकार कर रहा है।

विशेष आवश्यकता

उत्तरप्रदेश के एक गाव मे जन्म लेने वाला मुझ-जैसा व्यक्ति आज यह अवश्य विचार करता है कि आचार्य तुलसी-जैसे अनुपम व्यक्तित्व की हजारो वर्ष तक के लिए देश को आवश्यकता है। देश के जागरण मे उनके प्रयत्न से जो प्रेरणा मिलेगी, उससे देश का बहुत-कुछ हित होगा। यह केवल मेरी अपनी ही धारणा नही है, हजारो व्यक्तियो का मुझ जैसा ही विश्वास आचार्यश्री तुलसी के प्रति है। समाज के लिए यदि भगवान् महावीर की आवश्यकता थी तो बुद्ध के अवतरण से भी देश ने प्रेरणा पाई थी। उसी प्रकार समय-समय पर इस पुण्य भू पर अवतरित होने वाले महापुरुषो ने अपने प्रेरणास्पद कार्य से इस देश का हित-चिन्तन किया। उस हित-चिन्तन की आशा और सम्भावना से आचार्यश्री तुलसी हमारे समाज की उस सीमा के प्रहरी सिद्ध हुए है, जिससे समाज का बहुत हित हो सकता है। मेरी दृष्टि मे उनके आचार्य-काल के ये पच्चीस वर्ष कई कल्प के बराबर है। हजारो व्यक्ति इस भूमि पर जन्म लेते और मरते है। जीवन के सुख-दुख और स्वार्थ मे रह कर कोई यह भी नही जानता था कि उन्होंने स्वप्न मे भी समाज पर कोई हित किया। इस प्रकार के क्षुद्र जीवन से आगे बढ कर जो हमारे देश मे महामनस्वी बन कर प्रेरणा प्रदान कर सके है, ऐसे व्यक्तियो मे आचार्य तुलसी हैं। इनकी देश को युगों तक आवश्यकता है।

प्रमुख शिष्य

आचार्य तुलसी के जितने भी शिष्य है, वे सब यथाशक्ति इस बात मे लगे रहते है कि आचार्यजी ने जो मार्ग ससार के हित के लिए खोजा है, उसे घर-घर तक पहुँचाया जाये। इस कल्पना को साकार बनाने के लिए मुनिश्री नगराजजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी आदि अनेक उनके प्रमुख शिष्यो ने विशेष यत्न किया है। ऐसा लगता है कि जो दीप आचार्यजी ने जला दिया है, वह जीवन को सयमी बनाने की प्रक्रिया मे सदैव सफल सिद्ध होगा। यही मेरी इस अवसर पर हार्दिक कामना है कि आचार्य तुलसी का अनुपम व्यक्तित्व सारे देश का मार्ग-दर्शन करता हुआ चिर स्थायी शान्ति की स्थापना मे सफल हो।

भगवान् नया आया

श्री उमाशकर पाण्डेय 'उमेश'

उर मे हुलास
अन्तर प्रकाश ले
कौन ! यहाँ आया ?
मन मे उमग, ये नया रग,
मेहमान नया आया !
यह गगन मगन,
मृदु मद पवन
मधुतान सुनाते है—
हे, कीर्ति धवल !
तव स्वागत मे—
हम नयन बिछाते है,
अनुभूति जगाती जाग-जाग,
भगवान् यहाँ आया, मेहमान नया आया।

लहरे मचले,
सरिता बदले,
सागर न बदलता है,
आदर्श धवल,
सम्मान प्रबल,
पर्वत न मचलता है।
शुभ कर्म, अहिसा मृदुता का,
वरदान नया लाया, भगवान् यहाँ आया।

एक रूप में अनेक दर्शन

मुनिश्री शुभकरणजी

गति की भिन्नता कोई भिन्नत्व पैदा नही करती। उसमे अपना चुनाव होना है। आखिर चलने वाले नियत चौराहे पर मिल जाते है। उनका जीवन आदर्शमय होता है। वे झुकना जानते भी है और नही भी। झुकाना उनका कोई साध्य नही होता। लोक आदर्शों पर झुक जाते हैं। वे बन्धनो मे परे होते है और बँधे हुए भी। उनका दर्शन बन्धन-विहीन है, लेकिन फिर भी वे दूसरो को बाँध देते है। वे बँधे हुए भी मुक्ति का अनुभव करते है। बन्धन मे यह मुक्ति का दर्शन अवश्य कुछ अटपटा-सा है। अटपटा इसलिए है कि हम उसके तल मे नही बैठ सकते है। किनारे पर रहने मे यह बन्धन बन जाता है और तल मे जाने पर बन्धन-विहीन। यहाँ आगम बोलता है—**कुशले पुण नो बद्धे नो मुक्के** कुशल न बद्ध है और न मुक्त, वह मुक्त भी है और बद्ध भी।

यह सब प्रतिस्रोत का दर्शन है। अनुस्रोतगामी का दर्शन भिन्न होता है। उसे मुक्ति प्रिय नही लगती। वह खुला हुआ भी बँधा रहता है। प्रतिस्रोत का घोष है 'अपने आपको कसो'। जबकि अनुस्रोत का इससे उलटा। वह दूसरो को कसने की बात कहता है। यही से आस्तिक, नास्तिक, आध्यात्मिक, भौतिक, लौकिक या पारलौकिक जैसे प्रतिपक्षी शब्द जन्म लेते है। दोनो की दो दिशाए हो जाती है।

आचार्यश्री तुलसी का दर्शन प्रतिस्रोत का है। वे अनुस्रोत से प्रतिस्रोत मे आये और उसी ने उन्हे महान् बनाया। महानता प्रतिस्रोत के बिना नही जन्मती। वे जन्म से महान् थे, फिर भी उनकी महानता पुरुषार्थ से चमकी। भाग्य लँगडा होता है पुरुषार्थ के बिना और पुरुषार्थ उसके बिना अन्धा। अन्धे और लँगडे दोनो का सगम ही एक नई सृष्टि को जन्म देता है। महानता के क्रमिक विकास से वे विश्वव्यापी बने।

वसुधैव कुटुम्बकम् मे सकीर्णता कैसे रहे। उनका जीवन सूत्र यही है। आत्म तुला के वे प्रतीक है। एक दिन उन्होने कहा—"जब मैं प्रत्येक वर्ग और कौम के व्यक्तियो को अपने सामने देखता हूँ, तब मुझे बडी प्रसन्नता होती है।" यह उदार और आत्मस्पर्शी वाणी किसके अन्त करण को नही छूती।

महान् पुरुष अकृत्रिम होते है। वह सहजता मे ही आनन्द मानते है। **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** मे परे उन्हे कुछ दृष्टिगत नही होता। वे सहज करते हैं, सहज चलते है और सहज ही बोलते है। उनकी सहज वाणी स्वत जनता को अपनी ओर खीच लेती है। इसका कारण है उसमे उनकी आत्मा है। आत्मशून्य विचार सजे हुए और सरल भी, जनता के अन्त करण को छू नही सकते। वे अगर छू भी जाये, तो अपना स्थायित्व प्रतिष्ठापित नही कर सकते। आत्मानुस्यूत विचार भाषा से अलकृत न होने पर भी जनता के हृत्पट पर छा जाते है।

आचार्यश्री को जिस ओर से देखा जाये वे महान् ही नजर आते है। एक रूप मे अनेक रूप का दर्शन है। व्यष्टिवाद की रेखा समष्टिवाद मे विलीन हो गई है। वे क्या है ? और क्या नही ? शब्दो का प्रवेश यहाँ असम्भव है। वे कुछ है भी और नही भी। हैं इसलिए कि दृश्यमान है और नही इसलिए कि उनका अपना कुछ भी नही है। सब कुछ परार्पण है। परार्पण मे ही उनका साध्य स्वय सध जाता है। कुछ व्यक्ति पहले अपना साधते है और फिर दूसरो का। कुछ दूसरो को ही साधते है, अपना नही। कुछ अपना और दूसरो दोनो का साधते है। आचार्यश्री अपना और दूसरो दोनो का साधने वाले है, लेकिन विशेषता यह है कि वे दूसरो मे से अपना साधते है। यह देखने मे विचित्र-सा लगता है, लेकिन साधन के प्रकर्ष मे नहीं। ऐसा भी कहा जाये कि दूसरो के बनाने मे वे खुद बने है तो कोई बडी बात नही। रस की अनुभूति से गध कभी

परे नही रहता है ? बनाने का यह क्रम बचपन मे ही उनके साथ चिपटा हुआ है। वे इससे मुक्त नही हुए, कितने उन्होने बनाये, बनाते है और बनाते रहेगे यह आकलन से परे है।

व्यक्ति विचार और आचार दो प्रकार से बनता है। आचार आत्म-सापेक्ष है। विचार मन और विद्या से अपेक्षित है। सामान्यतया विचार मानव का धर्म है। वह आचार के साथ भी रहता है और स्वतन्त्र भी। आचारवान् आत्मवान् होता है। इसमे कोई दो मत नही। विचारवान् आचारवान् ही हो, ऐसा नियम नही। आचार मे आत्मा बोलती है और विचारो मे मन। मन और आत्मा का योग हो तो विचारक भी आचारक हो सकता है। विद्या विचारो को विकसित और जनभोग्य बनाती है। विश मित विचार मनुष्य की आत्मा को आन्दोलित कर देते है। वह स्फूर्तिवान् हो उठता है।

आचार्यश्री को प्रिय है आचारवान्। विचारक उन्हे प्रिय नही है, ऐसी बात नही। लेकिन वह आचारवान् होना चाहिए। आचार-शून्य व्यक्ति की प्रियता अस्थिर होती है। वह स्वय एक दिन लडखडा उठती है। उसमे स्वार्थ रहता है, पवित्रता नही। वे आचारवान् को विचारक और विचारक को आचारवान् बनाते है। सभी विचारक बने, यह असम्भव होता है। क्योकि वह विशिष्ट क्षयोपशम सापेक्ष है, लेकिन आचारशील तो होना ही चाहिए। **आचार: प्रथमो धर्मः** यह पहली सीढी है।

क्षयोपशम का बीज अनुकूल स्थिति मे स्वत पल्लवित हो जाता है और कही-कही उसके लिए भूमि तैयार करनी पडती है। स्वत पल्लवन होने वालो के लिए कम श्रम की अपेक्षा है और दूसरो के लिए अधिक।

भूमि को बीज वपन के योग्य बनाना असाध्य है, उतना फल पाना नही। आचार्यश्री इस कार्य मे योग साधना की तरह अविरत जुटे रहे और है भी।

उनके बनाने का अपना तरीका है। वे ताडन और तर्जन मे विश्वास नही रखते। उनका तर्जन, गर्जन, वर्षण और अमृत सब आँखो मे रहता है। आँखो मे जहाँ समता और ममता रहती है, वहाँ विषमता भी। वे कोमल है, कठोर भी, मीठे भी है, कडवे भी, विनम्र और स्तब्ध भी है। ऐसा होना उनके लिए अनावश्यक नही है। इनके बिना दूसरो की प्रगति नही सधती। ये सब परस्पर विरोधी लगने वाले धर्म अविरोध के उपासक है। वे आगम वाणी की तरह थोडे से विद्यार्थियो को सब कुछ दे देते है। उनके विवेक-जागरण की अपनी पद्धति है। वे कहते है—"देखो, यह समय तुम्हारे समूचे जीवन निर्माण का है। अभी का दुःख भविष्य के लिए अक्षय सुख का स्थान बनेगा। समय का प्रमाद मत करो। पढने के बाद मे फिर खूब बाते करना। मै तुम्हे कुछ भी नही कहूँगा।" इन शब्दो मे कितनी आत्मीयता है और है बनाने की तडफ।

काटना सहज है, पर जोड़ना नहीं

बनना सहज है, पर बनाना नही। काटने और जोडने की क्रिया मे कितना अन्तर रहता है। अकुर की उत्पत्ति इतनी दुरूह नही, जितनी कि उसकी वृक्ष के रूप मे परिणति है।

बच्चे को बचपन से जवानी मे लाना जितना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन शिष्यो को अपने पैरो पर खडा करना है। साधना का जीवन एक रूप से पुनर्जन्म है। साधक द्विजन्मा है। शिष्य को चलने, बैठने, खाने, पीने, रहने, सोने आदि का सारा प्रशिक्षण उन्हे देना होता है। इन क्रियाओ मे कमी का अर्थ है—साधना मे कमी। साधना का पहला चरण है .

कहं चरे कह चिठे, कहं मासे, कहं सए।
कहं भुजतो भासंतो, पावकम्म न बंधइ।

मैं कैसे चलूं, कैसे ठहरूं, कैसे सोऊँ, कैसे भोजन करूँ और कैसे बोलूं जिससे कि पाप-कर्म का बन्धन न हो। साधना की कुशलता इन्ही मे है।

आचार्यश्री शिष्यो का सर्वस्व लेते है और वे सब देते है। देने की उनकी क्रिया इतने मे परिसमाप्त नही होती। वह तो अजस्र जीवन की समाप्ति तक चलती ही रहती है। वे सर्वस्व लेकर भी हलके रहते है और शिष्य सब कुछ देकर भी भारी रहता है। पहले चरण को परिपुष्ट करने के लिए आचार्य शिष्यो को ज्ञान-विज्ञान की ओर मोड़ते हैं। ज्ञान का क्षेत्र

कितना अगाध है ? इसे समझने वाले ही समझ सकते है। पहले-पहले उसमे कोई रस नही टपकता है। वह नमक बिना के भोजन जैसा है। उसका आनन्द परिपक्व अवस्था मे आता है। शिक्षण के अन्त तक धैर्य को टिकाये रखना बहुत भारी पडता है। कुछ व्यक्ति शैशव मे हताश हो जाते हैं और कुछ मध्य मे। जिनकी धृति अचल होती है, वही उसके अन्तिम चरण तक पहुँच कर इसकी अनुभूति कर सकता है।

दुर्बलता मानव का स्वभाव नही, विभाव है। मनुष्य उसे स्वभाव मान लेता है, यह भ्रान्ति है। इसका कारण है मोह और अज्ञान। आचार्य मोह और अज्ञान को मिटाने के लिए सतत जागृत रहते है। वे मनोवैज्ञानिक ढंग से शिष्य की अभिरुचि का अध्ययन करते है और उसके धैर्य को टिकाये रखने का प्रयास भी।

सबके सब इसमे उत्तीर्ण हो, यह असम्भव है, लेकिन कुछ हताश व्यक्ति फिर से प्रोत्साहित हो जाते है। जो न होते है उनके लिए शेष अनुताप रहता है।

आचार और विचार दोनो गतिमान रहे, अत विविध प्रयोग नई चेतना को जागृत करते रहते है। विचार और आचार का अपना क्षेत्र अलग है। ये अभिन्न भी हो सकते है। आचार्यश्री दोनो का प्रकर्ष चाहते हैं। आचार स्वय के लिए है जबकि विचार दोनों के लिए। जनता पर विचारो का प्रभाव होता है। उसके लिए विचारवान् और विद्वान् होना भी आवश्यक है। दोनो की सह-प्रगति एक चामत्कारिक योग है।

आचार्यश्री का उत्तरदायित्व और तपस्या दोनो सफल है। वे इसमे सतुष्ट भी है और नही भी। सतुष्टि का कारण है—जिन सफलताओ के दर्शन पहले नही हुए, उनके दर्शन आपके शासनकाल मे हुए, होते है और होते रहेगे। असतोष अपूर्णता का है। पूर्णता के बिना सतुष्टि कैसे आये ? उनकी आन्तरिक अभिलाषा पूर्णता के शिखर पर पहुंचने की है। प्रगति का द्वार पूर्णता के अभाव मे सदा खुला रहता है। अपूर्ण को पूर्ण मानने का अर्थ है, प्रगति के पथ को रोक देना। 'प्रगति शिखर पर चढती जाये' यह जिन का उद्घोष है। सघ और सघपति पूर्णता के लिए कटिबद्ध है। दोनो का तादात्म्य सम्बन्ध है। वे उसमे प्राण फूंकते है और सघ विकास के पथ मे प्रतिक्षण अग्रसर होता रहता है। शासक की कुशलता सघ को सकुशल बनाने मे है। उसकी सक्रियता और निष्क्रियता उन पर अवलम्बित रहती है। आचार्यश्री का सघ आचार और विचार के क्षेत्र मे आज प्रमुख है। यह आपकी कुशल शासकता का सुफल है। हम चाहते है कि आचार्यप्रवर अपनी अमाप्य शक्ति के द्वारा आचार और विचार की कडी को सर्वदा अक्षुण्ण बनाते रहे।

अमरों का संसार

मुनिश्री गुलाबचन्दजी

देव ! सृष्टि के व्याधि-हलाहल की घूँटे पी।
दूर क्षितिज तक अमरो का ससार बसादो।

छलना की ममृति व्यवहृति मे पलती प्रतिदिन,
स्वप्निल कलना स्पष्ट नही विश्लिष्ट कही है,
पग-पग पर है भ्रान्ति भीरुता व्यवहित मानस,
इतरेतर आकृष्ट किन्तु सश्लिष्ट नही है।
अब व्यवधान समाहित हो सब सहज वृत्ति से,
ऐसा शुभ सौहार्द भरा ससार बसा दो।

यशस्वी परम्परा के यशस्वी आचार्य

मुनिश्री राकेशकुमारजी

तेजसा हि न वय समीक्ष्यते तेज-सम्पन्न महापुरुषो का अकन गणित-प्रयोगो के आधार पर नही होता। उनका तेज-प्रधान जीवन विश्व के सामान्य नियमो का अपवाद होता है। उनका अभ्युदय स्थिति-सापेक्ष नही होता। उनका गतिशील व्यक्तित्व बाहर की सीमाओ से मुक्त रहता है।

केवल बाईस वर्ष की अवस्था, यौवन की उदय बेला मे आचार्यपद का यह गुरुतर दायित्व इतिहास के पृष्ठो की एक महान् आश्चर्यकारी घटना है। श्री कालूगणी के स्वर्गवास के समय अनेको वृद्ध साधु विद्यमान थे, किन्तु उनके भावी उत्तराधिकारी के रूप मे नाम घोषित हुआ एक नौजवान साधु का, जिसे हम आज आचार्यश्री तुलसी के रूप मे पहचानते है।

प्रवहमान निर्झर

गगन मे चमकते हुए चॉद और सितारे अपनी गति से सदा बढते रहते है। पवन की गतिशीलता किसी से छिपी हुई नही है। विभिन्न रूपो मे बहती हुई जल-धारा ससार के लिए वरदान है। निश्चल प्रकृति के अणु-अणु मे समाया हुआ गति और कर्म का सन्देश ससार के महापुरुषो का जीवन मत्र होता है। गति जीवन है और स्थिति मृत्यु, इसी अन्त प्रेरणा के साथ उनके चरण आगे से आगे बढते जाते है। जब हम आचार्यश्री के व्यक्तित्व पर विचार करते है तो वह प्रवहमान निर्झर के रूप मे हमारे सामने आता है। उनका लक्ष्य सदा विकासोन्मुख रहता है। बडी-से-बडी बाधाए उन्हे रोक नही सकती। **बढ़े चलें हम रुके न क्षण भी हो यह दृढ़ सकल्प हमारा** इस स्वर लहरी मे उनकी आत्मा का सगीत मुखरित हो रहा है। उनके पारिपार्श्विक वातावरण मे अभिनव आलोक की रश्मियाँ छाई हुई दिखाई देती है। निराशा के कुहरे मे दिग्मूढ बना मानव वहाँ सहज रूप से नया जीवन पाता है।

अभिनव प्रयोगों के आविष्कर्ता

सघ के सर्वतोमुखी विकास के लिए आचार्यश्री के उर्वर मस्तिष्क से विभिन्न प्रयोगो का आविष्कार होता रहता है। उन्होने समयानुकूल नया-नया कार्यक्रम दिया, प्रगति की नई-नई दिशाए दी। **प्रतिक्षण यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया** इस परिभाषा के अनुसार साधना, शिक्षा और स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे होने वाले उनके प्रयोग बहुत प्रेरणादायी है। तेरापथ की वर्तमान प्रगति के पीछे छिपी हुई आचार्यश्री की विभिन्न दृष्टियाँ इतिहास के पृष्ठो से ओझिल नही हो सकती।

सारे सघ मे सस्कृत भाषा का विकास आज बहुत ही सुव्यवस्थित और सुदृढ रूप से देखा जाता है। जहाँ एक युग मे इस सुरभारती का सितारा बिल्कुल मद-मद-सा दिखाई दे रहा था, लोग मृत भाषा कह कर उसकी घोर उपेक्षा कर रहे थे, प्रगति के कोई नये आसार सामने नही थे, वहाँ तेरापथ साधु समाज मे इसका स्रोत अजस्र गति से प्रवाहित होता दिखाई दिया। जिसके निकट परिचय से बडे-बडे विद्वानो का मानस भोज युग की स्मृतियो मे डूबने लगा। इसका श्रेय आचार्यश्री द्वारा अपनाये गये नये-नये प्रयोगो और प्रणालियो को है।

साधना की दिशा मे होने वाली प्रेरणाओ मे खाद्य-सयम, स्वाध्याय व ध्यान के प्रयोग विशेष महत्त्व रखते है।

किसी भी प्रयोग का प्रारम्भ वे अपने-आप से करना चाहते हैं। उनका विश्वास है, अपने को अपवाद मानकर किया जाने वाला प्रयोग कभी सफल नही हो सकता। आगे की बिन्दयों का महत्त्व पहले के अंक के पीछे होता है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के संगम

सत्य, शिव और सुन्दरम् की उपसाना का त्रिवेणी संगम आचार्यश्री के जीवन का एक विलक्षण पहलू है। वे जितने तत्त्वद्रष्टा हैं, उससे अधिक एक साधक और कलाकार भी। उनके विचारो के अनुसार इन तीनो के समन्वय के बिना पूर्णता के दर्शन नही हो सकते। जीवन का समग्र रूप निखार नही पा सकता।

सामान्यतया साधना और कला मे अन्तर समझा जाता है। पूर्व और पश्चिम की तरह दोनो का समन्वय सम्भव नही माना जाता। किन्तु आचार्यश्री ने कला के लक्ष्य को बहुत ऊंचा प्रतिष्ठित कर उसे साधना मे बाधक नही, प्रत्युत महान् साधक के रूप मे स्वीकार किया है। उनका मस्तिष्क चिन्तन की उर्वरस्थली है, उनके हृदय मे साधना की पवित्र गगा बहती है और उनके हाथ और पैर कला के विविध रूपो की उपासना मे निरन्तर सलग्न रहते है।

प्राचीनता और नवीनता के मध्य

आज के सक्रमण काल मे गुजरते हुए प्राचीनता और नवीनता का प्रश्न भी आचार्यश्री के जीवन का एक विषय बन गया। यद्यपि उन्होने इसको महत्त्व नही दिया। किन्तु एक सघ-विशेष का नेतृत्व करने के कारण लोगो की दृष्टि मे वह महत्त्वपूर्ण अवश्य बन गया। इस सम्बन्ध मे अपने विचार स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा—"सत्य के प्रकाश मे नवीनता और प्राचीनता की रेखाए बिलकुल गौण है। पुराना होने से कोई श्रेष्ठ नही नया होने से कोई त्याज्य नही। सत्य की व्यावहारिक अभिव्यक्तियाँ समय-सापेक्ष होती है। उसका अन्तरात्मा मे कोई परिवर्तन नही होता। परम्पराए बनती है और मिटती हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व उनसे ऊँचा होना है। किन्तु जीवन की शाश्वत रेखाए कभी नही बदलती। उनको आधार मानकर ही व्यक्ति अपने मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।" इस चिन्तन को वृक्ष की कल्पना के आधार पर आचार्यश्री ने बडे सुन्दर ढग से रखा—'जो वृक्ष अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता है, ससार मे अपने सौन्दर्य का विकास करना चाहता है उसे मौसम के अनुसार सर्दी और गर्मी दोनों की हवाओं को समान रूप से स्वीकार करना होगा। उसका एक तरफ का आग्रह चल नही सकता। किन्तु उसका मूल सुदृढ चाहिए। मूल के हिल जाने पर बाहर की हवाओ से कोई पोषण नही मिल सकता।'

साम्य योग की राह में

प्रगति की धारा समर्थन और विरोध इन दोनो तटो के बीच से गुजरती है। प्रगतिशील व्यक्तित्व इन दोनो को अपना सहचारी सूत्र मानकर चलते हैं। ससार गतिशील है, वह प्रगति का अभिनन्दन किए बिना नही रह सकता। ज्यो-ज्यो पथिक के चरण आगे बढते हैं, जनता उन पर स्वागत के फूल चढ़ाती है। किन्तु साथ ही लक्ष्य की रेखाओ को सुस्पष्ट बनाने के लिए छोटे-मोटे विरोधो के प्रवाह भी विश्व के व्यापक नियम मे बिल्कुल स्वाभाविक माने गए है।

आचार्यश्री तुलसी को बहुत बडा समर्थन मिला, साथ मे विरोध और समालोचनाए भी। किन्तु उनका ममता-परायण जीवन इन दोनो स्थितियो मे काफी ऊँचा रहा है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनो प्रकार की स्थितियो मे साम्ययोग का निर्वाह करना, उनकी क्रियाशील साधना को सबसे अधिक प्रिय है।

महान् धर्माचार्य

आचार्यश्री की जीवनधारा ऊपर-ऊपर से विभिन्न रूपो में बहती हुई हमारे सामने आती है। इससे किसी अपरिचित व्यक्ति को कभी-कभी विरोधाभास का अनुभव हो सकता है। किन्तु गहराई मे पैठने से वस्तुस्थिति का दर्शन अपने-आप हो जाता है। अध्यात्म की सुदृढ साधना के साथ-साथ शिक्षा, साहित्य, सस्कृति के सम्बन्ध मे भी उनकी अपनी

अनूठी देन है। नैतिक आन्दोलन के व्यापक प्रसार के लिए जन-सम्पर्क भी उनकी दैनिक चर्या का मुख्य भाग रहता है। इन विविधमुखी धाराओ को एक रस बनाने मे व इनमे सगति बिठाने मे एकमात्र कारण उनका सन्तुलित व्यक्तित्व है।

यशस्वी परम्परा के यशस्वी आचार्य

तेरापथ की आचार्य-परम्परा बहुत यशस्वी रही है। आचार्यश्री ने उसमे अनेको महत्त्वपूर्ण कडियाँ जोडी है। गत दो दशको मे धर्म का क्षेत्र अनेको सक्रान्तियो से भरा हुआ रहा है। एक ओर जहाँ विज्ञान, मनोविज्ञान व पाश्चात्य नीतिशास्त्र ने धर्म की दार्शनिक व नैतिक पूर्वमान्यताओ पर प्रभाव डाला, वहाँ दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र मे छाई हुई अनेको विकृत परिस्थितियो ने उसके तेज को धूमिल बना डाला। धर्म के मौलिक आधारो पर जहाँ आचार्यश्री के सस्कार बडे दृढ रहे है, वहाँ उससे सम्बन्धित विकृतियो पर उनका प्रहार भी बडा कठोर रहा है। उनके स्वरो मे होने वाले धर्म के विश्लेषण ने बडे-से-बडे नास्तिको को भी बहुत प्रभावित किया है। अपने सुव्यवस्थित साधु-समाज को देश के नैतिक पुनरुत्थान मे सलग्न कर धर्माचार्यों के सम्मुख एक बहुत बडा उदाहरण प्रस्तुत किया है। हमे विश्वास है कि आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन मे यह धर्म-सघ अपनी अभीष्ट प्रगति की दिशा मे अधिक-से-अधिक पल्लवित और पुष्पित होगा।

सभी विरोधों से अजेय है

मुनिश्री मनोहरलालजी

तुम अविचल बन
अपनी धुन मे ही चलते हो
चाहे कोई उसको आँके
या अनदेखा उसे छोड दे
फिर भी अपने निश्चित पथ से
नही तनिक भी डिगते हो तुम
बाधाओ से सम्बल लेकर
आगे बढने का साहस यह
सभी विरोधो से अजेय है
सभी दृष्टियो से अजेय है
और तुम्हारा सत्य चिरन्तन
जिसके इन पावन चरणो मे
सिर असत्य का
युग युगान्त से
हार-हार कर
बार-बार झुकता आया है।

तो क्यों ?

श्री अक्षयकुमार जैन
सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

बड़े-बडे आकर्षक नेत्र, उन्नत ललाट, श्वेत चादर से लिपटे एक स्वस्थ और पवित्र मूर्ति के रूप मे जिस साधु के दर्शन दिल्ली मे ही दस-बारह वर्ष पहले मुझे हुए, उन्हे भूलना सहज नही है। उनके व्यक्तित्व मे कुछ ऐसा तेज और प्राचीन साधुता है। भारत मे साधु सन्यासी सदा से समादृत रहे हैं, बिना इस भेदभाव के कि कौन साधु किस धर्म अथवा सम्प्रदाय का है। हमारे देश मे त्यागियो के प्रति एक विशेष श्रद्धा रही है। ऐसे बहुत कम भारतीय होगे जो इस भाव से बचे हुए हो।

श्रद्धानन्द बाजार मे आचार्य तुलसी के प्रथम दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उस समय मन मे यह प्रश्न उठ रहा था कि उम्र मे बहुत अधिक बडे न होकर भी आचार्य पद प्राप्त करने वाले तुलसीगणी जहाँ जा रहे है, वहाँ पर एक विशेष जागृति उत्पन्न होती है तो क्यो ?

भक्तो की बडी भारी भीड थी। फिर भी मुझे आचार्यश्री के पास जाकर कुछ मिनट बातचीत करने का सुअवसर मिला। जो सुना था कि आचार्य तुलसी अन्य साधुओ से कुछ भिन्न है, वह बात सच दिखाई दी। तेरापथ सम्प्रदाय के छोटे-बडे सभी लोग उनके भक्त है, उनसे बधे हैं, किन्तु मेरी धारणा है कि आचार्य तुलसी सम्प्रदाय से ऊपर है। सच्चे साधु की तरह वे किसी धर्म विशेष से बँधे नही है। उनका अणुव्रत आन्दोलन शायद इसीलिए तेरापथ अथवा जैन समाज मे सीमित न रहकर भारतीय समाज तक पहुँच रहा है।

गत कुछ वर्षों मे आचार्यश्री तुलसी के विचार और उनका आशीर्वाद-प्राप्त समाजोत्थान का आन्दोलन धीरे-धीरे राष्ट्रपति भवन से लेकर छोटे-छोटे गाँव तक चलता जा रहा है।

अभी कुछ समय पहले जब वे पूर्व भारत के दौरे से दिल्ली लौटे थे, तब दिल्ली मे सभी वर्गों की ओर से एक अभिनन्दन समारोह हुआ था। तब मैं सोच रहा था कि अपने आपको आस्तिक समझते हुए भी धर्म निरपेक्ष देश में मुझे अपने ही समाज के एक साधु के अभिनन्दन मे मच पर सम्मिलित होना चाहिए या अधिक-से-अधिक मै श्रोताओ मे बैठने का अधिकारी हूँ। किन्तु तभी मेरे मन को समाधान प्राप्त हुआ कि साधु किसी समाज विशेष के नही होते। विशेष कर आचार्य तुलसी बाह्यरूप से भले ही तेरापथ के साधु लगते हो, पर उनके उपदेश और उनकी प्रेरणा से चलाये जा रहे आन्दोलन मे सम्प्रदाय की गन्ध नही है। इसलिए मैं अभिनन्दन के समय वक्ताओ मे शामिल हो गया।

आचार्यश्री भारतीय साधुओं की भाँति यात्रा पैदल ही करते हैं। इसलिए छोटे-छोटे गाँवो तक वे जाते है। उन गाँवों मे नयी चेतना शुरू हो जाती है। यदि इस स्थिति का लाभ बाद मे कार्यकर्ता लोग उठाएँ तो बहुत बडा काम हो सकता है।

तीर्थंकरों के समय का वर्तन

डा० हीरालाल चोपड़ा, एम० ए०, डी० लिट्
लेक्चरार, कलकत्ताविश्वविद्यालय

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व से, भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के समय से अहिंसा के सिद्धान्त का निरन्तर प्रचार किया जा रहा है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने अहिंसा की भावना को जिस रूप मे हमारे सामने रखा है, वह अभूतपूर्व ही है। अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नही है कि हम मनुष्यो अथवा पशुओ की भावना को आघात न पहुँचाए, अपितु जीवन का वह एक विधायक मूल्य है। यह मन, वचन व कर्म मे सब प्रकार की हिंसा का निषेध करता है और समस्त चेतन और अचेतन प्राणियो पर लागू होता है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने आचार्यत्व काल मे अहिंसा की सच्ची भावना को, केवल उसके शब्द को ही नही, अपितु क्रियात्मक रूप मे अपनाने पर बल दिया है।

अहिंसा जीवन का नकारात्मक मूल्य नही है। गाधीजी और आचार्यश्री तुलसी ने बीसवी शताब्दी मे उसको विधायक और नियमित रूप दिया है और उसमे गहरा दर्शन भर दिया है। यह आज की दुनिया की सभी बुराइयो की रामबाण औषधि है।

दुनिया आज विज्ञान के क्षेत्र मे तीव्र प्रगति कर रही है और सभ्यता की कसौटी यह है कि मनुष्य आकाश मे अथवा ब्रह्माण्ड मे उड सके, चन्द्रमा तक पहुँच सके अथवा समुद्र के नीचे यात्रा कर सके, किन्तु दयनीय बात यह है कि मनुष्य ने अपने वास्तविक जीवन का आशय भुला दिया। उसे इस पृथ्वी तल पर रहना है और अपने सहवासी मानवो के साथ मिल-जुलकर और समरस होकर रहना है। गाधीजी ने जीवन का यही ठोस गुण सिखाया था और आचार्यश्री तुलसी ने भी जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण मे इसी प्रकार क्रान्ति ला दी है। पुरातन जैन परम्परा मे लालन होने पर भी उन्होने जैन धर्म को आधुनिक, उदार और क्रान्तिकारी रूप दिया है जिससे कि हमारी आज की आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके अथवा यो कह सकते है कि उन्होने जैन धर्म के असली स्वर्ण से सब मैल हटा दिया है और उसे अपने उज्ज्वल रूप मे प्रस्तुत किया है जैसा कि वह तीर्थंकरो के समय मे था।

प्रेम, सत्य और अहिंसा मे हमको उस समय विरोधाभास दिखाई देता है, जब हम उनके एक साथ अस्तित्व की कल्पना करते हैं, किन्तु वे वास्तविक जीवन मे विद्यमान है और जीवन के उस दर्शन मे भी है, जिसका प्रतिपादन आचार्यश्री तुलसी ने किया है। यद्यपि यह असगत प्रतीत होगा, किन्तु यह एक तथ्य है कि विज्ञान और सभ्यता के जो भी दावे हो, मनुष्य तभी प्रगति कर सकता है, जब वह आध्यात्मिकता को अपनायेगा और अपने जीवन को प्रेम, सत्य और अहिंसा की त्रिवेणी मे प्लावित करेगा।

जब इस प्रकार के जीवन को बदल डालने वाले व्यावहारिक दर्शन का न केवल प्रतिपादन किया जाता है, प्रत्युत उसे दैनिक जीवन मे कार्यान्वित किया जाता है तो बाहर और भीतर से विरोध होगा ही। अणुव्रत ऐसा ही दर्शन है, किन्तु उसके सिद्धान्तो मे दृढ निष्ठा इस पथ पर चलने वाले व्यक्ति को बदल देगी।

अणुव्रत आत्म-शुद्धि और आत्म-उन्नति की प्रक्रिया है। उसके द्वारा व्यक्ति की समस्त विसगतियाँ लुप्त हो जाती हैं और वह उस पार्थिव उथल-पुथल मे से अधिक शुद्ध, श्रेष्ठ और शान्त बन कर निकलता है और जीवन के पथ का सच्चा यात्री बनता है।

आचार्यश्री तुलसी अपने उद्देश्य मे सफल हो जिन्होने अणुव्रत के रूप मे व्यवहारिक जीवन का मार्ग बतलाया है। उनकी धवल जयन्तियाँ बार-बार आयें, यही मेरी कामना है।

इस युग के महान् अशोक

श्री के० एस० धरणेन्द्रय्या
निर्देशक, साहित्यिक व सांस्कृतिक संस्थान, मैसूर राज्य

आचार्यश्री तुलसी एक महान् पडित तथा बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति हैं। लौकिक बुद्धि के साथ-साथ उनमे महान् आध्यात्मिक गुणो का समावेश है। आध्यात्मिक शक्ति मे वे सम्पन्न है, जिसका न केवल आत्म-शुद्धि के लिए, बल्कि मानव जाति की सेवा के लिए भी वह पूरा उपयोग करते है।

मानव जाति की आवश्यकताओ का उन्हे भान है। लोगो के अज्ञान और उनकी शिक्षा-हीनता को दूर करने मे वे विश्वास करते हैं। अपने अनुयायियो मे, जिनमे साधु और साध्वियां दोनो हैं, शिक्षा-प्रचार को वे खूब प्रोत्साहन देते रहे है। वे एक जन्मजात शिक्षक है और ज्ञान की खोज मे आने वाले सभी की शिक्षा मे वे बहुत रुचि लेते है।

उनका दृष्टिकोण आधुनिक है। पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनो ही दर्शनो का उन्होने अध्ययन किया है। यही नही बल्कि आधुनिक विज्ञान, राजनीति तथा समाजशास्त्र मे भी उनकी बडी दिलचस्पी है।

लोगो मे व्यापक नैतिक अध पतन को देख कर उन्होने सारे राष्ट्र मे पुनीत अणुव्रत-आन्दोलन शुरू किया है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यो के प्रतिपादन मे उनका उत्साह सराहनीय है। महान् अशोक से उनकी तुलना की जा सकती है, जिसने अहिंसा के सिद्धान्त की शिक्षा और उसके प्रसार के लिए अपने दूतो को सुदूर देशो मे भेजा था। सर्वोदय नेता के रूप मे महात्मा गांधी से भी उनकी तुलना की जा सकती है।

उनका व्यक्तित्व आकर्षक है और उससे आध्यात्मिक प्रकाश तथा अन्तर्ज्ञान का तेज प्रस्फुटित होता है। लोग उन्हे पसन्द करते है और उन्हे शान्ति प्राप्त करने के लिए उसी तरह उनके पास आते है जैसे ईसामसीह के पास जाते थे।

भगवान् बुद्ध की तरह उन्होने ऐसे नि स्वार्थ और उत्साही अनुयायियो का दल तैयार किया है जो मनुष्य जाति की सेवा के लिए अपने जीवन अर्पित करने के लिए कटिबद्ध है। वे सभी विशिष्ट विद्वान् और निष्कलक चरित्र वाले व्यक्ति है।

आचार्यश्री तुलसी अभी सैंतालीस वर्ष के ही है, किन्तु उन्होने सेवा और आत्म-त्याग के द्वारा त्याग और बलिदान का अनुपम उदाहरण उपस्थित कर दिया है।

आचार्यश्री तुलसी के प्रति मै बड़ी विनम्रता से अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

सूझ-बूझ और शक्ति के धनी

पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्य तुलसी मे सूझ-बूझ, शक्ति और सामर्थ्य कितना है, यह किसी से छिपा नही रहा। आज से पच्चीस वर्ष पहले साधु-शिक्षण का कार्य प्रारम्भ करना और बाद मे अणुव्रत-आन्दोलन उठाना, उनकी समय को पहचानने की शक्ति तथा समाज को अपने विचारो के साँचे मे ढालने के सामर्थ्य की परिचायक है। तेरापथ सम्प्रदाय के दो सौ वर्षों के इतिहास मे इनका अपना विशिष्ट स्थान है। इन्होने एक ऐसे रूढ़िग्रस्त सम्प्रदाय एव समाज को समय की गति पहचानने की दृष्टि दी है, जो दूसरो के लिए सहज नही। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से सर्वथा पिछडे हुए अपने साधु-साध्वी सघ को युगानुरूप शिक्षित करने मे इन्हे स्वय कितना परिश्रम करना पडा, अध्यवसाय से काम लेना पडा, यह सब बडा कष्ट साध्य था। वर्षों पहले यदि वे अपने साधु-साध्वी सघ को शिक्षित करने मे न जुटते तो बाद मे अणुव्रत-आन्दोलन को भी नही उठा सकते थे और न युगानुरूप दूसरी प्रवृत्तियो को ही शुरू कर सकते थे। नि सन्देह उनका शिक्षित त्यागी सघ ही आज स्वय उनको आगे बढने मे बल दे रहा है और प्रेरक बना हुआ है। आचार्य तुलसी की विलक्षण कर्तृत्व शक्ति पर दूसरे जैन सम्प्रदाय वाले भी चकित है।

आचार्यश्री तुलसी की शक्ति और प्रभाव इन सबको देख सुनकर अच्छे-अच्छे विचारशीलो के मन मे अब ये भाव आने लगे है कि आचार्यश्री तुलसी कुछ और आगे बढ, तो कितना अच्छा हो। वे अपने प्रभाव और कार्यशीलता का कुछ और विस्तार कर सके, तो इससे समूचे जैन समाज को आगे लाने व बढाने मे विशेष सहायता मिल सकेगी। समग्र जैन समाज की क्रियाशीलता और सगठन भी बढ सकगे। जो चीज अभी केवल तेरापथ सम्प्रदाय तक सीमित है, वह सारे जैन समाज मे जा सकेगी। उनका यह भी विचार है कि आचार्य तुलसीजी जैसे युगदर्शी और प्रभावशाली व्यक्तित्व के लिए अब यह काम विशेष दुरूह या दु साध्य नही है। प्रश्न है, विचारो को और भी उदात्त एव विशाल बनाने का। आचार्य तुलसी सारे जैन समाज को एक मच पर लाने का कोई विशिष्ट कार्यक्रम रख सकेगे, तो उनकी क्रान्तिकारिता सूर्य के प्रकाश की तरह चमक उठेगी। अब हम उनसे एक यह अपेक्षा भी रख रहे है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते

रायसाहब गिरधारीलाल

श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव को निष्काम कर्म करने का आदेश दिया है। फल की इच्छा कर्म को पगु बना देती है। भौतिक सुखो की लालसा मनुष्य को मृगतृष्णा के अन्धकूप मे ढकेल देती है। विधि की कैसी विडम्बना है कि आज का वैज्ञानिक ग्रह-नक्षत्रो की थाह लेने के लिए तो उतावला हो रहा है, परन्तु जिस जन्म भू की रज मे लोट-लोटकर बडा हुआ है, जिसकी गोद मे घुटनो के बल रेग-रेग कर उसने खडा होना सीखा है, उसके प्रति उसका कर्तव्य क्या है और कितना है, इस पर सम्भवत वह शान्त चित्त मे सोचने का प्रयास ही नही करना चाहता। नित नये आविष्कारो के इस धूमिल वातावरण मे भी विश्व-हित-चिन्तन करने वाले, वसुधा-भर को परिवार की सज्ञा देने वाले, अपने को अणु-अणु गलाकर भी पर-हित-चिन्तन करने वाले जीव मात्र मे प्रभु की मूर्ति के दर्शन करने वाले, सत्य, अहिसा के समर्थक, मानवता के पूजक भारतीय महात्माओ के पुण्य-प्रताप का डका आज भी पृथ्वी पर बज रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक महामहिम आचार्यश्री तुलसी ऐसे ही गण्यमान्य महापुरुषो मे से है, जिन्होने साधु-सघ को समयानुकूल राष्ट्रीय चरित्र के पुनरुत्थान मे लगाकर मानव जगत् के समक्ष एक नवीन दिशा को जन्म दिया है। आपने चारो दिशाओ मे जन-मानस मे जो एक नैतिक-जागरण की पताका फहराई है, वह अनुकरणीय है। सहस्रो मीलो की पदयात्रा करके राष्ट्रीय जागृति का आपने जनगण मन मे दिव्य सन्देश पहुँचाया है।

हमारी सरकार जहाँ पचवर्षीय योजनाओ द्वारा देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील है, वहाँ आचार्यश्री तुलसी का ध्यान देश के नैतिक पुनरुत्थान की ओर जाना और तुरन्त उस ओर कदम बढाना, देश के आबाल वृद्ध के हृदयाकाश मे नैतिकता की चन्द्रिका का प्रकाश भरना, मानव धर्म की व्याख्या करना आदि सत्कार्य ऐसे है जिनके कारण आचार्यजी के चरणो मे हमारा मस्तक श्रद्धा मे झुक जाता है। आपने भारतीय सस्कृति और दर्शन के सत्य, अहिसा आदि सिद्धान्तो के आधार पर नैतिक व्रतो की एक सर्वमान्य आचार-सहिता प्रस्तुत करके जनता की अपरिष्कृत मनोवृत्ति का परिष्कार करने के लिए स्तुत्य प्रयत्न किया है।

काल की सहस्रो परतो के नीचे दबे हुए नैतिकता के रत्न को जनता जनार्दन के समक्ष सही रूप मे प्रस्तुत करके उसके माहात्म्य को समझाया है। आपके अणुव्रत अनुष्ठान मे सलग्न लाखो छात्र और नागरिक अपने जीवन को धन्य बना रहे है।

आचार्य तुलसी की विद्वत्ता सर्वविदित है। आप प्रथम आचार्य है जो अपने अनुगामी साधु-सघ के साथ सर्व जन हिताय अणुव्रत का प्रचार करने के लिए व्यापक क्षेत्र मे उतरे है। २६ सितम्बर, १६३६ को आप बाईस वर्ष की अवस्था मे ही आचार्य बने। प्रथम द्वादश वर्षों मे आप तेरापथ साधु सम्प्रदाय मे शैक्षणिक और साहित्यिक क्षेत्र मे प्रयत्नशील रहे। सस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषाओ की श्रीवृद्धि मे आपका व्यापक योग रहा है। आपके परिश्रम के फलस्वरूप ही सघ मे हिन्दी का अधिकाधिक प्रचार हुआ।

कर्मवीर, स्वनामधन्य आचार्यश्री तुलसी का अभिनन्दन नि सन्देह सत्य, अहिसा और अणुव्रत का अभिनन्दन है। आपके प्रभावशाली आचार्य काल के पच्चीस वर्ष पूरे हो रहे है। इसी उपलक्ष मे मै भी कुछ श्रद्धा-सुमन आपकी सेवा मे समर्पित करना चाहता हूँ। आप जैसे पथ-प्रदर्शको की देश को महती आवश्यकता है। परम पिता परमात्मा आपको दीर्घायु करे, जिससे देश मे फैली अनैतिकता का समूलोन्मूलन होकर भारत रामराज्य का आनन्द ले सके।

विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

श्री ए० वी० आचार्य
मंत्री, पूना कन्नड़ संघ

आज के स्पूतनिक युग मे मनुष्य ने निसर्ग पर अपने अखण्ड परिश्रम द्वारा विजय प्राप्त कर ली है। मनुष्य प्रगतिशील तो है ही, लेकिन वह आज निराशा और भय के अन्धकार मे पूरा फंस गया है। उन्नति का मार्ग टटोलते हुए वह अधोगति के गढे मे क्यो गिर रहा है? इसका कारण है—उसकी राक्षसी महत्त्वाकांक्षा। वह चाहता है कि वह इतना बलवान् बन जाये कि दुनिया की सारी शक्ति का निर्मूलन वह अकेला कर सके। लेकिन वह भूल जाता है कि इस ससार मे एक से दूसरा अधिक बनने का प्रयत्न हमेशा ही करता रहता है और परिणाम निकलता है—सब का ही सर्वनाश।

आज मनुष्य मनुष्य का विरोधी बनने मे व्यस्त हो रहा है। जाति, धर्म, भाषा, पथ, रग, राज्य, प्रान्त, देश आदि जो केवल भौगोलिक और व्यावसायिक उपयुक्तता पर निर्भर रहे है, वे ही आज एक-दूसरे को शत्रुत्व पैदा करने के साधन बन कर नानाशाही को निमत्रण दे रहे है। इस अराजक स्थिति मे (Chos) मनुष्य जाति, मैत्री का विकास करने मे कभी सफलता नही पायेगी, अपितु नष्ट जरूर हो जायेगी।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उपर्युक्त शब्दावली मे यही बताया है कि जब भारत मे ऐसी ग्लानि, ऐसा घनघोर अधकार, ऐसी जटिल समस्या पैदा हो जायेगी, तब उस ग्लानि को हटाने के लिए, उस अधकारमय जीवन को उजाला देने के लिए और उस जटिल समस्या को हल करने के लिए इस महान् देश मे कोई-न-कोई श्रेष्ठ विभूति जरूर पैदा हो जायेगी और वह महान् विभूति है—आचार्यश्री तुलसी।

मनुष्य जाति का विकास और उन्नति उसके सत्-चरित्र, उसकी एकता आदि पर निर्भर है। इन महान् तत्त्वो की उपासना के लिए आचार्यश्री ने जन्म लिया है। आचार्यश्री जो उपदेश देते है, वह होता है अणुव्रतो का और पद-यात्रा करके इस देश के कोने-कोने मे सर्दी और गर्मी से सघर्ष करते हुए पालन करते है—महाव्रतो का। मराठी भाषा मे एक मुहावरा है जिसके शब्द है :

क्रिये वीण वाचालता व्यर्थ आहे।

स्वत बिना कुछ किये दूसरो को कोरा उपदेश करना विफल है। आचरणहीन उपदेश वास्तव मे आत्मवचना है।

श्रम आचार्यश्री के जीवन का क्रम है। भाग्यवाद का समर्थन करने वालो की अकर्मण्यता पर आचार्यश्री हँसते है और अत्यन्त कठोर कष्ट उठाने वालो को आशा भरी दृष्टि से देखते है। उनकी दृष्टि मे पुरुष का काम है सतत सदुद्योग।

कोटि-कोटि जनता को ज्ञानामृत देने के लिए जो वाणी का वैभव होना चाहिए, वह आपकी वाणी मे है। इसलिए आप विद्वत्-सभा मे तथा साधारण जनता मे अपना प्रभाव डालने मे सदा सफल हुए है। राजा की महानता होती है उसके राज्य मे, परन्तु विद्वान् की सारे विश्व मे। इसीलिए कहा गया है—**स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।**

शतायु हों

सेठ नेमचन्द गधैया

उत्तरोत्तर वर्धमान एव विकासशील तेरापथ सघ के नव आचार्यों मे से उत्तरवर्ती पाँच आचार्य एव मन्त्री मुनि आदि तपोनिष्ठ चरित्रात्माओ के घनिष्ठ सम्पर्क मे आने का, यत्किंचित् सेवा करने का एव उनके शुद्ध, सात्विक स्नेह प्राप्त करने का जिस परिवार को अविछिन्न आनन्ददायक अवसर प्राप्त होता आ रहा है, उस परिवार का एक सदस्य नवम अधिशास्ता के धवल समारोह के अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा सुमन भेट करे, यह उसके लिए परम आल्हाद का विषय है। इस पच्चीस वर्ष की अवधि मे तेरापथ सघ की जो सर्वतोमुखी वृद्धि हुई है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप का जो विकास हुआ है, वह किसी से अविदित नही। आज राजस्थान मे ही नही, भारत के प्रत्येक प्रान्त मे 'तेरापथ' का नाम सर्वविदित हो रहा है। इसके मूल मे आचार्यश्री तुलसी है जिनकी शुद्ध सनातन सिद्धान्तो पर दृढ निष्ठा है और जो आत्म प्रत्यय के मूर्तिमान अवतार हैं। यह आप ही की दूरदर्शिता का फल है कि आपने धर्म को सम्प्रदाय के घेरे से ऊँचा उठाकर उसे व्यापक और बहुजन हिताय बनाया है, उसे जाति, वर्ण, लिंग निरपेक्ष बनाया है।

आज न केवल तेरापथ समाज अपितु समग्र जैन समाज धन्य है कि आप जैसा एक महान् आचार्य उसे मिला है। धर्म सम्प्रदायो मे एकता स्थापित करने के लिए आपके सफल प्रयास चिर स्मरणीय रहेगे। जो इसे अफीम समझते थे, वे ही अब धर्म की आवश्यकता और उपादेयता समझने लगे है। यह आप ही के कठिन प्रयास का फल है। धर्म को आप पुन समाज व राष्ट्र के शिखर स्थान मे स्थापित करने मे समर्थ हुए है, यह कितने हर्ष का विषय है।

आप शतायु हो, मानव को सच्चे अर्थ मे मानव बनाने का आपका अभियान सफल हो, अणुव्रत का विस्तार कोने-कोने मे हो, देश का नैतिक धरातल शुद्ध बनाने मे आप सफल हो, अहिसा और सयम को साधारण व्यक्ति भी आपके मार्ग-दर्शन से जीवन मे उतार पाय, यही हमारी कामना है।

गुरुता पाकर तुलसी न लसे
गुरुता लसी पा तुलसी की कृपा

—गोपालप्रसाद व्यास

अर्चना

श्री जबरमल भण्डारी

अध्यक्ष, श्री जै० श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता

श्रद्धा व्यक्ति के कार्यों के प्रति होती है और भक्ति उसके व्यक्तित्व के प्रति। जिस व्यक्ति मे दोनो का समावेश होता हो, वह उसका आराध्य बन जाता है। कोई भी अपने आराध्य के प्रति अपने भावो को शब्दो मे बाँधना चाहे तो वह महान् दुष्कर कार्य होगा। जैसे कहा भी गया है

भाषा क्या है भावो का लगड़ाता सा अनुवाद

बिल्कुल सत्य है। परन्तु यह भी सत्य है कि भाषा के माध्यम से ही भाव व्यक्त किये जा सकते है।

"तेरा चित्र (व्यक्तित्व) और तेरे आदेश व विचार (कार्य) सदा मेरे हृदय मे रहते है, जिन्हे देख अक्सर लोग पूछ बैठते है मै तेरा कौन ?"

"मैं यह जानते हुए भी, मैं तेरा कौन हूँ, लोगो के समक्ष स्पष्टीकरण नही कर पाता।"

"तब क्या इस रहस्य का उद्घाटन तू ही न कर सकेगा।"

उपरोक्त पंक्तियाँ मैने आचार्यश्री तुलसी के प्रति कुछ वर्षों पूर्व लिखी थी, परन्तु मैने सोचा, गभीरता पूर्वक सोचा, और इस नतीजे पर पहुँचा कि आदेशो और विचारो को हृदय मे केवल रखने मे ही काम नही चलेगा, उन्हे तो जीवन मे लक्ष्य बना कर उतारना होगा।

तूने तेरे शक्ति-स्रोत मे थोडी-सी सुधा पिलाई, जिसके बल से मै निर्भय होकर अबाध गति से अपने लक्ष्य की ओर बढने लगा।

तेरे आदेशानुसार सम्प्रदायवाद का रंगीन चश्मा हटाकर दृष्टि का शोधन किया तो यथार्थता के दर्शन होने लगे।

दूसरो के दोष देखने की आदत जो मेरे मे थी, तेरी प्रेरणा से छूटने लगी, अपने दोषो को देखने मे प्रवृत्त होने लगा। सम्यग् दृष्टि बना।

जब मैने मेरे प्रति व्यग्य सुने, घबराया, लडखडाया, तेरे चरणो मे आ पडा, बात रखी, तुझसे जीवन का सम्बल मिला। तूने मुझे अक्षरो को सूत्र मे बाँधने के लिए प्रेरित किया। जीवन मे नवीन प्रकाश दिया कि पत्थर के बदले कभी ईट न फेको। लक्ष्य-च्युत होने के अवसर भी मेरे जीवन मे आये, पर तूने शिक्षा द्वारा ऊँचा उठाया।

इस पावन बेला मे मेरी श्रद्धा-कुसुमाञ्जलि जो मेरे अन्तर हृदय से उमड रही है, स्वीकार करो। यही मेरी अर्चना है।

तुम दीर्घ-जीवी बनो, मेरा व तेरापथी समाज का ही नही, सारे ससार का पथ प्रदर्शन करते रहो।

का विध करहु तव रूप बखानी

श्री शुभकरण दसाणी

गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।
का विध करहु तव रूप बखानी ॥

श्री राम के अनन्य भक्त कवि श्रेष्ठ तुलसीदासजी का यह पद आज पुन -पुनः मुझे स्मरण हो रहा है, अत. अनेक अनिर्वचनीय अनुभूतियो के साथ-साथ मानवता के उज्ज्वल प्रतीक आचार्यश्री तुलसी के प्रति इस शुभ अवसर पर अपने हृदय की समस्त मगल कामनाए, विनम्र अभिनन्दन और अटूट श्रद्धा की अञ्जलि समर्पित करता हूँ।

युग प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी

डा० रघुवीरसहाय माथुर, एम० एस-सी, पी-एच० डी० (यू० एस० ए०)
वनस्पति निदान शास्त्री, उत्तरप्रदेश सरकार, कानपुर

हमारे देश मे समय-समय पर ऋषि, मुनि और सतो ने चरित्र-निर्माण और आध्यात्मिक विकास को प्रबल बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयास मे जितनी सफलता भारत को मिली है, उतनी सम्भवत अन्य किसी देश को नही मिली। इसीलिए हमारे देश की कुछ विभूतियाँ अमर है—जैसे राम कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि, जिनको हम अवतार मानते है। इनके गुणगान से मनुष्य जाति के हजारो दु ख शताब्दियो से मिटते रहे है और धर्म-पथ पर आगे बढने की प्रेरणा मिलती रही है। भगवद्गीता मे स्वय भगवान् कृष्ण की अमर वाणी है

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥

साक्षात् भगवान् के प्रतीक इन अवतारो के अतिरिक्त सत, महात्मा तथा आचार्यों की भी हमारे देश मे कोई कमी नही रही। जब-जब हमारी जनता चरित्र भ्रष्ट हुई, तब-तब कोई-न-कोई महान् सत हमारे सामने अपने विमल चरित्र का दिग्दर्शन कराता रहा। परन्तु धर्म-अधर्म तथा सात्विक एव तामस भावनाओ का समागम सदा से रहा है और रहेगा। केवल हम मे यह शक्ति होनी चाहिए कि हम अधोगति के मार्ग मे गिरने से बच सके और काम, क्रोध, मद, लोभ के माया-जाल मे उतना ही उलझे, जिससे आधुनिक औद्योगिक काल के सुखो से वचित न होकर भी आध्यात्मिक पथ से विपथ न हो सके। इस प्रकार के भौतिक सुख-प्रधान युग मे रहते हुए आध्यात्मिक सुख को पूर्णत प्राप्त करने का उदाहरण हमारे समक्ष राजा जनक का है, परन्तु आज के प्रजातान्त्रिक युग मे राजा जनक जैसे लोगो का होना तो सम्भव नही है, अतः भौतिकवाद के सुखो को भोगते हुए भी कम-से-कम आचार्यश्री तुलसी के बताये हुए अणुव्रतो का पालन तो अवश्य ही कुछ कर सकते है।

समाज के प्रति तथा सभी धर्मानुयायियो के प्रति आचार्यश्री का कठोर तप पूत जीवन एक जीता-जागता उदाहरण है। स्वतन्त्रता के बाद जो चरित्रहीनता आज देश मे देखी जा रही है, उसके अन्धकार को मिटाने के लिए आचार्यश्री देदीप्यमान सूर्य के सदृश हैं। हम शत-शत कामना करे कि वे चिरायु हो और समाज मे वह साहस भरे कि बताये हुए सदाचार के पथ पर वह चल सके।

विशिष्ट व्यक्तियों में अग्रणी

श्री कन्हैयालाल दूगड़
संस्थापक, गांधी विद्यामन्दिर, सरदारशहर

आचार्यश्री तुलसीरामजी महाराज जैन समाज के उन इने-गिने विशिष्टि व्यक्तियो मे अग्रणी है, जिन्होने समाज को उन्नत करने मे अथक परिश्रम किया है। अणुव्रत और नई मोड के नाम से जो साधना की नई दिशा मानव समाज को दी है, उसका सारा श्रेय आचार्यश्री को ही है। धवल समारोह के उपलक्ष पर मगल कामना के रूप मे मेरी प्रभु से यही प्रार्थना है कि वह इनसे भविष्य मे भी इसी प्रकार की आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक अनेक सेवाए ले।

उज्ज्वल सन्त

श्री चिरंजीलाल बड़जाते

महापुरुषो का जीवन अनेक विशेषताए लिए हुए रहता है। उनके जीवन मे अलौकिक प्रतिभा और सहनशीलता की भावना पूर्णरूपेण समाई हुई रहती है।

आचार्य तुलसीजी ऐसे ही महापुरुषो में अनोखे है। उनकी तेजोमय मुखमुद्रा से मै बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ।

आज पन्द्रह वर्षों से मैं उनके सान्निध्य का लाभ उठा रहा हूँ। सबसे पहले मैंने उनके दर्शन जयपुर मे किये। नाम वैसे सुन रखा था। देखने की लालसा थी। आखिर सयोग मिल ही गया। जब देखा, तब उनके तेज और प्रभावकारी मुखमण्डल ने मुझे उनकी ओर खिचने को बाध्य कर दिया और मै निरन्तर उनकी ओर खिचता गया। उनसे प्रभावित होता रहा। उनके उपदेशो को अपने जीवन मे उतारने की भरसक कोशिश करता रहा। फिर तो जोधपुर, कानपुर, सरदारशहर, बम्बई आदि कई स्थानो पर उनके दर्शन करने गया। उनके पास जाकर अमृतवाणी सुनकर एक अनिर्वचनीय शान्ति का आभास होता है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा ऐसी ही शान्ति की इच्छुक रही है और इसी मे उसके जीवन का रूप मिलता रहा है और तुलसीजी जैसे त्याग और सयमधन सतो के सान्निध्य का लाभ जिसे मिल जाये, उस मनुष्य के तो अहोभाग्य ही समझिये।

उन्ही की वजह से मैंने अणुव्रत पालन किया। उनके पास जाकर मैंने परिग्रह परिमाण व्रत लिया। सच कहूँ तो ऐसा मार्ग उनके पास मे मुझे मिला है कि जिसके कारण मेरा जीवन धन्य हो गया है, सफल हो गया है। एक बडे सघ के आचार्य होते हुए भी अभिमान एव मोह की भावना का लेश मात्र भी उस मानव देहधारी आचार्य मे नही और यही कारण है कि तुलसीजी विरोधियो द्वारा भी पूजित होते रहे है। वे भी जब उनका स्मरण करते हैं तो इस निष्कलंक व्यक्तित्व के समक्ष अपना सिर झुका लेते है।

आज यह अभिनन्दन उनका नही, उनके तप शील जीवन का है। आचार्यत्व का है और सस्कृति के उत्थापक एव जलकमलवत् निरपेक्षी स्वय प्रभु सत का है जिसने जीवन ज्योति जगा कर पीडित मानवता को प्रकाश दिया, उसे चलने का मार्ग बताया। जीवन के जीने का मन्त्र सिखाया।

उनके इस अभिनन्दन के अवसर पर मेरी हार्दिक शुभकामनाए स्वीकार करे।

●

तुमने क्या नहीं किया ?

श्री मोहनलाल कठौतिया

अपनी विशाल विचारधारा द्वारा इस धर्म-परायण भारत मे अनेकों साम्प्रदायिक भेद मिटाये।

अपने असीम आत्म-बल के प्रयोग से इस स्वतन्त्र राष्ट्र की जनता का हृदय-परिवर्तित कर जाति-पाँति व ऊँच-नीच के बन्धन तोडे।

अपने अद्वितीय व्यक्तित्व की प्रभा मे सामाजिक अन्ध-विश्वासों व कुरूढियो की जडें उखाडी।

अपनी अनवरत पद-यात्रा द्वारा भारत के गिरते हुए जनमानस मे नैतिक और आध्यात्मिक चेतना जागृत की।

अपने गुरुओ के अटल अनुगामी रहते हुए मान व अपमान पर समदृष्टि रखकर सघर्षों का सफल सामना किया, विरोध को विनोद मानकर उसे अहिंसा से जीता।

सच्चे धर्माचार्य के रूप मे तथाकथित धर्म के प्रति फैलती हुई ग्लानि को मिटा, जन-जन को सत्य और अहिसा का सच्चा मार्ग दिखाया, अनेको अभिमानी व विलासी जीवन बदले।

अपने स्वाभाविक वात्सल्यपूर्ण हृदयोद्‌गारो से ससार को विश्व मैत्री का पाठ पढाया।

तेरापथ के चलते-फिरते आध्यात्मिक विश्वविद्यालय को विस्तृत बनाकर ज्ञान-वृद्धि का सर्वोत्तम साधन बनाया।

मानव कल्याण के लिए तुमने क्या नही किया ?

अहिंसा व प्रेम का व्यवहार

रा० सा० गुरुप्रसाद कपूर

हमारे देश की धार्मिक व सास्कृतिक परम्पराए विश्व मे सब से प्राचीन है। समय के साथ-साथ अनेक उतार-चढाव आये और भारतवर्ष पर भी उनका प्रभाव पडा। परन्तु फिर भी हमारा मूल धर्म और हमारी सस्कृति इन तूफानो को सहन करती हुई आगे बढती गई और समय-समय पर हमारे समाज मे ऐसे सत, महात्मा, ऋषि आते रहे, जिन्होने हमे प्रेरणा दी और भटकने से बचाया। जब कभी भी हमारे देश का नैतिक पतन हुआ है, अथवा धर्म की ग्लानि हुई है, तब-तब ईश्वर की प्रेरणा से आचार्य तुलसी जैसे महापुरुष और सतो ने जन्म लेकर हमे मार्ग दिखाया है। आज हमारे देश की जो हालत है, समाज मे जो अनैतिकता, व्यभिचार, भ्रष्टाचार का बोलबाला हो रहा है, वह हमे कहाँ ले जायेगा और हमारा जिस कदर नैतिक पतन हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा, इसकी कल्पना भी भयावह है। ऐसे समय मे आचार्यश्री तुलसी ने देश के कोने-कोने मे भ्रमण करके अपने उपदेश के द्वारा जो जन जागृति की है, वह हमारा सही मार्ग प्रदर्शन करती है। आचार्यजी ने जो रास्ता दिखाया है, उससे मानव जाति का कल्याण होगा, इसमे मुझे तनिक भी सन्देह नही है। मैं उनके महान् व्यक्तित्व और उपदेशो से अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ और मुझे आशा है कि उनके उपदेशो के फलस्वरूप जनता सत्य, अहिंसा व प्रेम के व्यवहार को अधिकाधिक अपनायेगी तथा समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठगा। मैं आचार्यजी के चरण कमलो मे अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

धरा के हे चिर गौरव

साध्वीश्री जयश्रीजी

जिओ हजारो साल धरा के हे महामानव !
आगत और अनागत की सकुल रेखा मे
तुम कब सिमटे धरती के हे नित नव उज्ज्वल !
तुमने अपनी अमर सूझ से वर्तमान को समझा
पर कब समझ सका युग तुमको परिमल।
जिओ हजारो साल धरा के हे चिर वैभव।
तुमने ही प्राणो के मिष था स्वर उँडेला
पीडित सासो से आहत जीवन-सरगम मे
अकुर बनकर तुम आये, इस नभ-धरती
के उच्छ्वासो-नि.श्वासो के झिलमिल मगम मे
जिओ हजारो साल धरा के हे चिर गौरव।

लघु महान् की खाई

साध्वीश्री कनकप्रभाजी

सत्य साधना के बल से आलोक अनोखा पाया
तम पुञ्ज परिव्याप्त पथ मे उसको है फैलाया
चाह तुम्हारी यह वसुधा अब स्वर्ग तुल्य बन जाये
नैतिकता के गान धरा का कण-कण फिर से गाये
पाट रहे तुम साम्य भाव से लघु महान् की खाई।

तपःपूत

मुनिश्री मणिलालजी

तप पूत !
तुमने ही युग को
नव प्रकाश दे
अन्धकार मे
भूले भटके
पडते-गिरते
हर राही को
मजिल का विश्वास दिखाया
खोई-सोई मानवता को
आशा का आलोक दिखाया।

पाप सब हरते रहेंगे

मुनिश्री मोहनलालजी

विश्व के इतिहास मे तेरा अमर अभिधान होगा,
विश्व के हर श्वास मे तेरा चिरन्तन ज्ञान होगा।
विशद तेरी साधना ही विश्व को सन्देश देगी,
समन्वय की भावना शक्ति-युत आदेश देगी।
सत्यशोधक दार्शनिकता उच्च पद आसीन होगी,
आग्रहहीन अभिव्यक्तियाँ कभी नही प्राचीन होगी।
पदचिह्न तेरे पथ बन दर्शन सदा करते रहेंगे,
प्रस्फुटित वे शब्द तेरे पाप सब हरते रहेंगे।

शुभ अर्चना

मुनिश्री बसन्तीलालजी

क्षितिज के इस थाल विशाल मे
उदित स्वर्णिम-सूर्य सुदीप ले
प्रवर-पाशु पमारित अक्ष मे
प्रकृति यो करती तव अर्चना।
ललित घोलित लाल गुलाल मे
विहग-कूजित सुन्दर गीत गा
पवन डोलित चामर चारु से
प्रकृति यो करती शुभ अर्चना।

तुम कौन ?

साध्वीश्री मंजुलाजी

तुम कौन ? गगन के हसित चाँद !
अथवा धरती की चिनगारी !
पीकर नित विष की कड़ी घूँट
प्राणो का अकुर अकुलाया
साँसो का पछी नीड छोड
है तडप रहा वह घबराया
है हर मुरझा-सा प्राण तुम्हारे सुधा-सेक का आभारी।

गीत

साध्वीश्री सुमनश्रीजी

नयन गवाक्षों से मानस क्यो धीमे-धीमे झाँक रहा है ?
शुभ्र प्रात की मधुर-मधुर
स्मृतियो के आँचल मे छिप-छिप कर,
चिर परिचित से इस अतीत औ'
भावी मे अनुराग बिछाकर,
वर्तमान के नील गगन में, आशा के रथ हाँक रहा है।
नयन गवाक्षों से मानस क्यो धीमे-धीमे झाँक रहा है ?

असाधारण नेतृत्व

श्री कृष्णदत्त, सदस्य राज्यसभा

मैं आचार्यश्री तुलसी के महान् व्यक्तित्व के आगे नतमस्तक होता हूँ। बचपन से और उसके बाद का उनका असाधारण जीवन यह सिद्ध करता है कि विधाता ने उनको मानवता के एक सच्चे नेता के रूप मे गढा है।

उनकी शिक्षाओ का सौन्दर्य और प्रभाव इस बात मे निहित है कि वे जो कहते है, उस पर स्वय आचरण करते है। अपने अनुयायियों और दूसरो पर उनके असाधारण प्रभाव का यही रहस्य है। मानव जाति के इतिहास मे यह नाजुक समय है और इस समय केवल भारत को ही नही, समस्त ससार को ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है।

आज की परिस्थितियो मे आचार्यश्री द्वारा सचालित अणुव्रत-आन्दोलन बहुत ही उपयुक्त है। व्यक्तियो के जीवन को सुधारने के लिए भी वह आवश्यक है और तीसरा विश्व-युद्ध छिडने पर आणविक अस्त्रो के कारण सम्पूर्ण विनाश के खतरे से मानव जाति को बचाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को नैतिक आधार देने के लिए भी वह आवश्यक है।

मानव-जाति की कल्याण की कामना करने वाले सभी व्यक्तियो को आचार्यश्री के इस आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए।

पूज्य आचार्य तुलसीजी

श्री तनसुखराय जैन

मंत्री, भारत वेजीटेरियन सोसाइटी

आचार्यश्री तुलसी जी महाराज के मुझे पहले पहल सरदार शहर मे दर्शन हुए थे। उनका तेज व विशाल व्यक्तित्व देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। कुछ देर बाते करने के बाद उनकी योग्यता की गहरी छाप पडी। मैं वहाँ दो दिन ठहरा और तमाम व्यवस्था देखकर बहुत सन्तोष हुआ। साधुओ के इतने बडे समूह पर एक आचार्य का नियन्त्रण बडे कमाल की बात है जोकि और सम्प्रदायो मे बहुत कम देखने मे आता है। साधुओ के काम करने की शैली और उनके कार्यों की रिपोर्ट आचार्यजी तक पहुँचाना और नियन्त्रण मे रहना यह एक अति उत्तम व्यवस्था है। आचार्यजी महाराज जहाँ भी विराजते है, वहाँ की व्यवस्था भी ठीक ढग से होती है।

उसके बाद आचार्य तुलसी जी महाराज तथा अन्य तेरापथी साधु-मुनियो से मेरा बहुत सम्पर्क रहा और अभी भी समय-समय पर उनके दर्शन करता रहता हूँ। इस समय अणुव्रत-आन्दोलन जोकि पूज्य आचार्यजी ने आरम्भ किया है समय की चीज है। देश मे घूसखोरी, बेईमानी, ब्लैक मार्केट तथा अन्य व्यसन बहुत ज्यादा जोर पकड गये है। मुझे पूरी आशा है कि अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा बहुत सुधार होगा।

पूज्य आचार्य तुलसीजी महाराज ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर जैन समाज का सिर ऊँचा किया है।

आचार्यश्री तुलसी की जन्म कुण्डली पर एक निर्णायक प्रयोग

मुनिश्री नगराजजी

व्यक्ति जन्म से महान् नही, अपने कर्तृत्व से महान् बनता है। आचार्यश्री तुलसी के सम्बन्ध मे भी यही बात है। जिस दिन आपका जन्म हुआ, वह परिवार के लोगो के लिए कोई अनहोनी बात नही थी। अपने भाइयो मे आपका क्रम पाँचवाँ था। उस समय किसने पहचाना था कि कोई महान् व्यक्तित्व हमारे घर मे आया है। स्यात् यही कारण हो कि घरवालो ने आपके जन्म ग्रहो का भी अकन नही करवाया। आज आपका कर्तृत्व देश के कण-कण मे व्याप्त हो रहा है। देश के अनेकानेक ज्योतिर्विद आपके जन्म ग्रहो की निश्चितता करने मे लगे है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए मैंने किसी प्रसग पर निम्न श्लोक कहा था .

भ्रातृषुपंचमो जन्मग्रहाः केनाऽपि नांकिताः
अद्य ज्योतिर्विदो भूयो यतन्ते लग्नशोधने।

आचार्यश्री तुलसी का जन्म विक्रम स० १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया मगलवार की रात का है। मातृश्री वदनाजी को इतना और याद है कि आपका जन्म पिछली रात का हुआ था। क्योकि उस समय आटा पीसने की चक्कियाँ चल पडी थी। इससे आपकी जन्म कुण्डली का कोई निश्चित लग्न नहीं पकडा जा सकता। अनेकानेक ज्योतिषियो ने कर्क लग्न से लेकर तुला लग्न तक आपकी विभिन्न कुण्डलियाँ निर्धारित की हैं। कुछेक ज्योतिषियो ने आपका जन्म लग्न कर्क माना है तो किसी ने सिह, किसी ने कन्या, तो किसी ने तुला। भृगु सहिताओ से भी लग्न-शुद्धि पर विचार किया गया, परन्तु स्थिति एक निर्णायकता पर नही पहुँची।

आचार्यवर की कलकत्ता यात्रा मे किसी एक भाई ने मुझे बताया कि यहाँ पर एक ऐसे रेखा शास्त्री है जो केवल हाथ की रेखाओ से यथार्थ जन्म कुण्डली बना देते हैं। उन्ही दिनो और भी लोग मिले जो इस बात की पुष्टि करते थे। उन्होने बताया हमारी जन्म कुण्डलियाँ जन्मकाल से ही हमारे घरो मे बनी हुई थी। प्रयोग मात्र के लिए हमने रेखानुगत कुण्डलियाँ भी बनवाई थी। मिलाने पर वे दोनो प्रकार की कुण्डलियाँ एक प्रकार की निकली।

मैं बहुत दिनो से सोचता था, आचार्यवर के जन्म लग्न को पकडने मे हस्तरेखा का सिद्धान्त एकमात्र आधार बन सकता है। ज्योतिष और हस्तरेखा इन दो विषयो मे गति रखने वाले यह भली-भाँति जानते है कि हस्त-रेखाओ और जन्म ग्रहो के पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? मेरे सामने इससे पूर्व ही कुछ ऐसे प्रयोग आ चुके थे। मन मे आया आचार्यवर के जन्म लग्न पर भी हमे यह प्रयोग अपनाना चाहिए।

अगले दिन आचार्यवर से आज्ञा लेकर हम देवज्ञभूषण प० लक्ष्मणप्रसाद त्रिपाठी रेखाशास्त्री के घर पहुँचे। उनसे इस सम्बन्ध में बाते की। मन मे सन्तोष हुआ। उन्होने कहा—आप आचार्यवर के दोनो हाथो के छापे तैयार कर लीजिये। जिन्हे सामने रखकर मैं उनके सवत् व तिथि से लेकर लग्न तक विचार कर सकूँ। इसमे आचार्यवर को अधिक समय इस प्रयोजन के लिए नही देना होगा।

अगले दिन त्रिपाठीजी ने भी आचार्यवर के दर्शन किये। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने उनके कथनानुसार मुद्रणमसि से आचार्यवर के दोनो हाथो के छापे उतारे। उन्हे लेकर हम लोग मध्याह्न मे फिर उनके यहाँ गये। छापा उनके सामने रखा। उन्होने उसका अध्ययन किया और हमे कुण्डली लिखने को कहा। हमें सन्तोष हुआ। यह सोचकर कि इन्होने रेखा के आधार से सवत्, तिथि वार, आदि ठीक बतलाये है तो लग्न के ठीक न होने का कोई कारण नही रह

जाता । दूसरी बात लग्न भी उन्होने वही बतलाया है जो आचार्यश्री के प्रचलित लग्नो मे मध्य का है। आचार्यवर की कन्या लग्न की कुण्डली विशेष रूप से प्रचलित थी। उसमे केवल सत्रह मिनट पूर्व का लग्न इन्होने पकडा है। वह लग्न मन-कल्पित था और यह रेखाओ से प्रमाणित।

वे यथाक्रम सवत्, मास, तिथि, वार, नक्षत्र आदि बोल गये। एक-एक कर भावानुगत ग्रह भी बोल दिये। लग्न के विषय मे कहा—इस जातक का जन्म असदिग्ध रूप मे सिह लग्न मे हुआ है।

कुछ दिनो बाद एक अन्य रेखाशास्त्री सम्पर्क मे आये। उनके भी सामने आचार्यश्री के हाथो के वही छापे रखे गये। उन्होने भी अपनी गणना मे जो लग्न निकाला वह ठीक वही था जो दैवज्ञभूषण प० लक्ष्मणप्रसाद त्रिपाठी ने निकाला था। इस प्रकार **द्विर्बद्धं सुबद्ध भवति** की उक्ति चरितार्थ हुई। आचार्यवर ने यह सब सुनकर कहा—आगे ज्योतिषियो को यही लग्न बताना चाहिए। यह है आचार्यश्री के जन्म ग्रहो के निर्णय का सक्षिप्त विवरण।

आचार्यवर की निर्धारित जन्म कुण्डली समग्र रूप मे इस प्रकार है—विक्रम सवत् १९७१ मगलवार कार्तिक शुक्ला द्वितीय इष्ट-५२/५१ लग्न सिह ४/२४
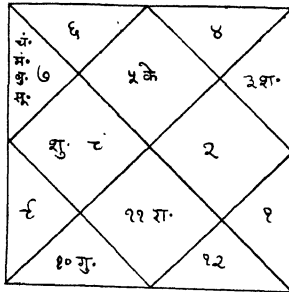
पद्मभूषण श्री सूर्यनारायण व्यास ने भी उक्त कुडली की मान्यता देकर आचार्यवर के ग्रहो पर अपने लेख मे विचार किया है।

श्री तुलसीजी की जन्म कुण्डली का विहंगावलोकन

पद्मभूषण पं० सूर्यनारायण व्यास

श्रीयुत् तुलसीजी की जन्म कुण्डली का विवरण इस प्रकार है —
श्री सवत् १६७१ श० श० ३६ कार्तिक शुक्ल १ भौमे, पर द्वितीयायाम्।
विशाखा २ चरणे इष्ट ५२।५१। तदा जन्म। ल० ४।२४

सू०	च०	म०	बु०	गु०	शु०	श०	रा०
६	६	६	६	६	७	२	१०
३	२५	२१	२५	२१	१०	१०	१०
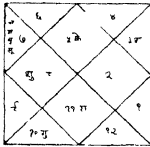
श्री तुलसीजी के जन्म समय के ग्रह योगो पर से विचार करते हुए विदित होता है कि जिन परिस्थितियो और विशिष्ट ग्रह-प्रभाव काल मे उन्होने जन्म लिया, वह वास्तव मे महत्त्वपूर्ण था। आरम्भ ही से तुलसीजी ने विशिष्ट एव परस्पर-विरोधी वातावरण मे उत्पन्न होकर, जीवन के प्रस्तुत काल पर्यन्त ऐसे ही वातावरण मे कार्य किया है। एक साधारण-सुखी व्यवस्थित परिवार मे जन्म लेकर अपने परिवार की परम्परा और कार्य के विरुद्ध वैराग्य मार्ग का वरण किया है। इतना ही नही, अपने मार्ग की ओर परिवार को भी प्रेरित और प्रभावित करने मे वे सफल हुए है। असाधारण शिक्षा-दीक्षा लेकर वे अपने पथ मे सफलतापूर्वक अग्रसर हुए और जीवन के अल्पावधि काल मे ही वे नेतृत्व का पद प्राप्त करने मे सफल हुए है। इसमे भी उन्हे स्पर्धा का प्रसग आया है, किन्तु यह स्पर्धा उन के पथ मे एव उत्थान मे सहायक हुई है। नीच राशि का होकर षष्ठ स्थान मे अष्टमेश एव पचमेश गुरु है। इसलिए सघर्ष और वह भी उच्च स्थानीय बना रहे, इसमे विस्मय का कारण नही रहता। इस पर भी लग्नेश सूर्य भिन्न क्षेत्र मे नीच राशि का होकर स्थित है। इसलिए मित्रो, स्वजनो, सहकारियो एव अनुयायियो से भी सतत सघर्ष सजग रहता है। किन्तु उसी भिन्न क्षेत्र मे भौम और एकादश मे शनि इतना सबल है कि सघर्षों मे भी इनका बल बढता और बना रहता है। एक प्रकार से इनके अधिनायकत्व को पोषित करता रहता है।

गुरु और सूर्य की नीच राशि के कारण सहसा इनका भावना-प्रधान मन विम्नतित हो जाये और विचारो मे भी विकृति का अवसर प्रदान करे, किन्तु गुरु और सूर्य नीच राशि के होकर भी नीचांश मे नही हैं। इस कारण वे विकृतियो

को नियन्त्रित करने मे समर्थ बन जाते हैं और अपना गौरव स्थिर रख सकते हैं। विकारी-विचारो पर उनके कोमल मन की तात्कालिक प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है तथापि नीच राशि के गुरु के उच्चाश मे नवम स्थान मे स्थित होने के कारण उनकी व्यावहारिक बुद्धि उस पर प्रभुत्व पा लेती है। यही गुरु, जो सहज विरोध जागृत करता है, वही उनके व्यक्तित्व मे प्रभाव प्रेरित करने वाला अश बली होकर बन गया है। उनका ज्ञान यद्यपि शिक्षा-क्षेत्र मे सीमित रहे, परन्तु उच्चाश मे गए हुए नवमस्थ गुरु की पचम पूर्ण दृष्टि होने के कारण उनकी अन्त प्रज्ञा का प्रेरक बन गया है और व्यापक योग्यता के साथ उनमे मौलिकता को विकसित करने मे सहायक बन जाता है। इसी नीच राशि (एव उच्चाश) के गुरु ने तथा शनि ने इन्हे परिवार से विरक्त बनाया, किन्तु विरक्ति मे भी परिवार की निकटता प्रदान की है। बुध-चन्द्र युति परस्पर विरोधी मिलन है। किन्तु यह मिलन जन्म मे ही नही, ठेठ नवाश तक अपना सह-अस्तित्व रखती है। इसलिए अपनो से, सहवर्गियो मे और अन्यजनो से भी जीवन-भर परस्पर-विरोध की स्थिति मे से गुजरना होगा और सतत जागरूक रहने को बाध्य बनना पडता है। किन्तु चन्द्र भी अपने उच्चाश मे स्थित है। इसलिए जितना उच्च विरोध हो, उतना ही उच्च वर्ग मित्र भी बनना है। बुध-चन्द्र की आशिक युति भी पारस्परिक विरोध के सहअस्तित्व की जनक बन गई है। साथ ही विरोध मे प्रभावोत्पादक बन रही है।

शुक्र बुध-चन्द्र की स्थिति जहाँ सयमित, गम्भीर और प्रभावशाली व्यक्तित्व की निर्मात्री है, वहाँ रस-विलास, साहित्य, कला, काव्य रस मे प्रावीण्य प्रदान करती है। कला और सौन्दर्य मे अभिरुचि बढाती है।

नवाश मे बुध-चन्द्र योग सप्तम स्थान मे हो जाने तथा सूर्य-इष्ट-प्रभावित होने के कारण गार्हस्थ्यहीन होना साहजिक होना है। परन्तु बुध-चन्द्र सयोग मे उच्चाश स्थित चन्द्र क्लीब बुध के सहवास के कारण विलासी प्रवृत्ति को विकसित नही होने देता, सयमित, सीमित, मर्यादित बना देता है। शुक्र के कारण व्यवहार नैपुण्य, योग्य शिष्यो का व्यवस्थित सहयोग प्राप्त होता है तथा कठिन स्थितियो मे से भी ऊपर उठने मे सहायता मिलती है, अवश्य ही कुछ निकटवर्तियो के व्यवहार और कार्यों मे वातावरण मे निष्कारण शका का प्रसार होता हो, पतनोन्मुख परिस्थितियो मे गुरु के द्वारा गौरव-रक्षा होती है। गुरु के कारण ही आध्यात्मिक नेतृत्व उपलब्ध होता है।

इस समय स० २०१६ से तुलसीजी को केतु-दशा आरम्भ हुई है। केतु लग्न मे है। यह दशा सवत् २०२३ तक रहेगी। इसमे आरम्भिक काल सतोषप्रद नही कहा जा सकता। २०१७ से २०१८ का शुक्रान्तर-काल प्रतिष्ठा, यश, ख्याति और उत्थान मे सहायक बनता है। १४ जनवरी, ६० से ७ मास का काल कला-रस-विलास और साहित्य-प्रवृत्तियो के साथ प्रतिष्ठा का रहेगा। सवत २०१६ के भाद्रपद से एक वर्ष शारीरिक चिन्ता और मानसिक चिन्ता का कारण हो सकता है तथा सवत् २०२० के माघ से ११ मास का समय सघर्ष एव कसौटी का रहेगा, अपने ही जनो से असतोष व अशान्ति का अवसर आयेगा। आगे २०२३ तक की यह दशा उपयोगी रहेगी।

१८ फरवरी, ६२ से प्राय उदर-विकार, प्रवास मे श्रम और आत्म-परिजनो के व्यवहारो से मनस्ताप एव स्पर्धा की परिस्थिति रहेगी।

यह स्पष्ट है कि इस कुण्डली के जिन ग्रहो के तत्वो से पोषित होकर तुलसी का जन्म हुआ है, वह उनके व्यक्ति-विकास मे बहुत सहायक हुआ है। सीमित क्षेत्र से उन्हे व्यापक बनाने मे उनके उच्चाश भोगी—नीच राशि गत—गुरु ने बहुत सहायता की है। यह गुरु नवाश मे इतना सबल न बना होता तो सम्भव है कि उनका विरोधी वातावरण चिन्तनीय बन जाता, किन्तु गुरु के सबल हो जाने से ही उनका विरोध भी उन्हे ऊपर उठाने मे सहायक बनता रहा है और उन्हे गौरव प्रदान करता रहा है।

हस्तरेखा-अध्ययन

रेखाशास्त्री श्री प्रतापसिंह चौहान

महामाननीय ग्राचार्यश्री तुलसी का हाथ कुछ चमसाकार मिश्रित समकोण ग्राकार का है। समकोण हाथ वाला दूरदर्शी, ग्रादर्शवादी ग्रौर शासक होता है। चमसाकार मिश्रित होने की ग्रवस्था मे ग्रादर्शवादी होने के साथ-साथ व्यक्ति क्रान्तिकारी, नई धारणाग्रो ग्रौर प्रवृत्तियो का सस्थापक होता है।

ग्राचार्यश्री के हाथ मे बुध की ग्रगुलि टेढी है ग्रौर उसका नाखून छोटा है। यह वक्तृत्व शक्ति ग्रौर परख शक्ति का द्योतक है।

सूर्य रेखा जीवन रेखा से ग्रारम्भ हुई है। जिससे ग्राप प्रसिद्ध ग्रौर प्रतिभा के धनी होगे ग्रौर जन-जीवन का कल्याण करते हुए ग्रादरणीयता ग्रौर ख्याति प्राप्त करते रहेगे।

जीवन रेखा को मगल के स्थान से ग्राने वाली रेखाए काटती हुई मस्तिष्क रेखा तक पहुँच रही हैं, इसलिए कभी-कभी ग्रपने ही व्यक्तियो से मानसिक खिन्नता प्राप्त होती रहेगी। स्व-धर्मावलम्बी व इतर-धर्मावलम्बियो मे विरोध उपस्थित होता रहेगा।

दाहिने हाथ मे ग्रपूर्ण मगल रेखा होने मे व्यवहार कुछ कठोर रहेगा, किन्तु विरोधियो के प्रति सहिष्णुता रहेगी। विरोधी कालान्तर से नतमस्तक होते रहेगे। ग्रनुभव सिद्ध बात है, मगल रेखा विरोधियो पर विजय दिलाती है, किन्तु समकोण ग्रौर चमसाकार मिश्रित हाथ होने की वजह से हृदय मे शत्रुता के भाव शत्रुग्रो के प्रति भी नही रहेगे।

हृदय रेखा बृहस्पति की उँगली को छू रही है, इसलिए प्रतिभा व जन-कल्याण की भावना उत्तरोत्तर बढती रहेगी, ग्रादर्शवादी चरित्र रहेगा।

दोनो हाथो मे छोटी-छोटी रेखाए है, इसलिए मानसिक चिन्ताए ग्रधिक रहेगी। बाए हाथ मे सूर्य, शनि ग्रौर बृहस्पति के स्थान पर भाग्य रेखा जा रही है। यह उद्यमशील व ख्यातिशील होने की सूचक है। यही रेखा सघ-सचालक ग्रौर ग्रनुसधान कर्त्ता होने का भी सकेत करती है। प्रारम्भ मे ग्रन्तरग विरोधो का निश्चित ही मुकाबला करना पडेगा। वृद्धावस्था मे पूर्ण शान्ति का ग्रनुभव करेगे।

चन्द्र स्थान पर रेखाए गहरी होकर शनि स्थान की ग्रोर झुकती है। यात्राए विशेष होगी। चन्द्र विशेष यात्रा का भी कारण होगा। ग्रँगूठे के नीचे से मगल स्थान मे गहरी रेखा टूटती हुई मगल तक ग्राई है। पदयात्रा जीवन-भर होती रहेगी।

मस्तिष्क रेखा शनि के नीचे झुकी हुई है। साथ-ही-साथ शनि के पर्वत पर छोटी रेखाए ग्रधिक है। ये वायु विकार की सूचक हैं।

सूर्य के नीचे हृदय रेखा मे बडा द्वीप है, इसलिए एक ग्राँख विशेष निर्बल होगी।

जीवन रेखा दोनो हाथो मे विशेष घुमावदार है ग्रौर कटी हुई है। सघर्षमय जीवन ग्रौर लक्ष्य सिद्धि की सूचक है।

बाएं हाथ मे मस्तिष्क रेखा मगल के पहाड़ पर गई है ग्रौर दाए हाथ मे सूर्य के पहाड के नीचे पूर्ण हुई है। इसमे विषय को समझाने की सूक्ष्म शक्ति ग्रौर प्रत्युत्पन्नमति मिली है।

सूर्य रेखा सूर्य के स्थान से गहरी होकर नीचे की ग्रोर चली है। वक्षस्थल में यदाकदा पीडा करेगी।

अँगूठा बृहस्पति की उँगली से अधिक दूरी पर खुलता है। दृढ निश्चय और आत्मविश्वास का प्रेरक है। हृदय-रेखा और मस्तिष्क रेखा दोनो समानान्तर होकर कम दूरी पर हैं। ऐसा व्यक्ति तब तक दृढ रहता है। जब तक अपने निश्चय पर नही पहुँच जाता है। जितना ही समय लगे, अपने लक्ष्य पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है।

हृदय रेखा मे द्वीप है और वह सूर्य के पहाड तक मोटी है। वायु विकार हृदय को भी प्रभावित करेगा। यह स्थिति विशेषतया वृद्धावस्था मे होगी।

हृदय रेखा मे ३६, ३७, ४३, ४४, ५५ और ५६वे वर्ष मे शाखाए निकल कर मस्तिष्क रेखा पर आई है। ये तीनो रेखाए सघर्ष सूचक हैं। उक्त अवधि मे सघ-सम्बन्धी या स्वास्थ्य-सम्बन्धी चिन्ताओ का योग है।

बृहस्पति के स्थान पर × का निशान है। यह प्रतिष्ठासूचक होने के साथ मस्तिष्क मे भारीपन रखने वाला भी है।

मस्तिष्क रेखा बृहस्पति के स्थान से निकल कर शाखान्वित होती हुई मगल के स्थान की ओर चली है। जीवन रेखा से अलग होते हुए भी कुछ सटी हुई है। साहित्य मे चतुर्मुखी प्रतिभा देगी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्य के सम्पादन की क्षमता व निर्णायक बुद्धि होगी।

हृदय रेखा और मस्तिष्क रेखा समानान्तर है। सूर्य, शनि और बृहस्पति पर भाग्य रेखा का होना इस बात को प्रमाणित करता है कि किसी नई शैली से अहिसक क्रान्ति करेगे। कुछ एक लोग अपनी सकीर्ण भावनाओ के कारण आपका विरोध करेगे। किन्तु अन्त मे वे ही लोग आपके उद्बोधन को स्वीकार करेगे। पहले-पहल वे लोग आप पर आडम्बर-प्रियता, निरकुशता आदि के आरोप भी लगाएगे। यह सब होते हुए भी आप पूर्ण निष्ठा के साथ अपने गन्तव्य की ओर बढते रहेगे।

भाग्य रेखा और सूर्य रेखा का विशेष उदय २२वे वर्ष से होता है। उसी समय से आपका जीवन लोक-सेवा के दायित्व को उठा कर चल रहा है।

मस्तिष्क रेखा के आरम्भ मे द्वीप है और वह मोटा है। जब भी शारीरिक कष्ट होगा जोर से होगा।

बृहस्पति मुद्रिका बाए हाथ मे है। साधु सघ पर आपकी विशेष अनुकम्पा रहेगी।

आपका हाथ समकोण है। चन्द्रमा से भाग्य रेखा उदय होकर मस्तिष्क रेखा पर रुकी है। आपके द्वारा प्रचारित धर्म इतर लोग भी स्वीकार करेंगे, सामाजिक वृद्धि होगी।

जीवन रेखा घुमावदार है। मस्तिष्क रेखा साफ और सीधी है। हृदय रेखा बृहस्पति तक जा रही है। निश्चित ही आप दीर्घ आयु होंगे।

सूर्य रेखा जीवन रेखा से उदित हुई है। उसी स्थान से बुध रेखा निकल कर बुध के स्थान पर गई है। भिन्न-भिन्न विषयो का साहित्य आप और आपके शिष्यो द्वारा सम्पादित होगा। शोध कार्य की तरफ विशेष ध्यान रहेगा। अहिंसा स्वरूप को सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप मे प्रतिपादित कर लोकहित करेंगे। आप अपनी सघीय व्यवस्था मे विकास भी करेंगे। विभिन्न विभाग विभिन्न उत्तरदायित्व युक्त करेंगे। यह व्यवस्था विषय से सम्बन्धित होगी। इसका श्रीगणेश ४६वें वर्ष से और उसकी पूर्णता ५१, ५२, ५३ तक होती रहेगी।

एक सामुद्रिक अध्ययन

श्री जयसिंह मुणोत, एडवोकेट

विश्व के प्रागण मे कई सभ्यताएँ आईं, सिर ऊँचा किया और नष्ट हो गईं। कितने ही राष्ट्र आगे आये, किन्तु टिके नही। कई संस्कृतियाँ चमकी, लेकिन विस्मृति के अंचल मे सिमिट गईं। उन सभ्यताओ राष्ट्रो एव संस्कृतियो के विकास एव विनाश का जो इतिहास है, वह सामने है। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एव बौद्धिक तथा अन्य आघातो ने उनके भव्य प्रासादो को चकनाचूर किया और उनके खडहरो पर धूल बिछाई, किन्तु उन प्रहारो की सबल चोटें खाकर भी हमारी भारतीय संस्कृति अभी तक जीवित है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है—इसकी आध्यात्मिकता। सहस्राशु की वह तेजोमयी किरण अपना पूर्ण प्रभाव इस भू-भाग पर रखती है और विशेष रखती है। आध्यात्मिकता की यह अमर बेल समय-समय पर आर्ष पुरुषो द्वारा सिंचित हुई, उनसे सरक्षण प्राप्त किया और जिसे सवर्द्धन एव सवरण उनकी छत्र-छाया मे मिला। आध्यात्मिकता से उत्पन्न मानवता जहाँ यत्र-तत्र-सर्वत्र दीखने मे आती रही। इस रत्न-प्रसूता वसुन्धरा ने ऐसे महामनस्वी नर पुगवो को जन्म दिया कि जिनकी वैखरी वाणी एव अपूर्व कार्य-कलापो ने अल्पकाल ही मे वह कार्य कर दिखाया जो साधारण जनो द्वारा सम्भवत सदियो तक अथक प्रयत्न करने पर भी सम्पन्न नही किया जा सकता था। जिन्होने अपनी मानवता की चिनगारियो से इस देश की प्रसुप्त आत्मा के अन्तराल मे क्रान्ति के वे स्फुलिग जगा दिए कि जिनके प्रकाश मे अखिल जगत की बडी-से-बडी सत्ता भी शान्ति का पथ ढूंढने को आतुर रही और है। धर्म और दर्शन की जननी भारत भूमि मानवता का मुख उजागर करने वाले पहुँचे हुए महापुरुषो से कभी भी खाली नही रही है। उसी आर्ष परम्परा की पुनीत माला के मनके है—आचार्यश्री तुलसी। इनके जीवन मे निखार पाने वाले गुण अगणित है और उनका दिव्य चरित्र का पृष्ठ हम सबके सामने खुला है, जिसका समर्थन उनके हाथ से होता है। कितना सुन्दर साम्य है।

यह हाथ नहीं है पुस्तक है जिसमे जीवन का सार भरा।
है उसका पूर्ण प्रतिबिम्ब यही जो वास्तव में है सही, खरा।

Noel Jaquin का कथन है कि, "The hand is the symbolic of the whole" और 'हस्त-संजीवन' मे लिखा है :

नास्ति हस्तात्परं ज्ञानं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यद् ब्राह्मं पुस्तकं हस्ते धृतं बोधाय जन्मिनाम्॥

आचार्यश्री तुलसी का हाथ चौकोर, लाल-गुलाबी रग की मुलायम समुन्नत हथेली नीचे स्थित अगुस्त कटिवाला लम्बा एक निराला कोण बनाता हुआ है, दूसरा पेरवा लम्बा, प्रथम पेरवा दूसरे की लम्बाई से दो तिहाई से कम नही और दूसरे पेरवे मे एक तारे का निशान है। तर्जनी अवश्य कुछ छोटी है और उसका दूसरा पेरवा लम्बा है। मध्यमा लम्बी है, दूसरा पेरवा लम्बा व तीन खडी रेखा वाला है। अनामिका लम्बी है और उसका प्रथम पेरवा (नख वाला) लम्बा है। अनामिका मे दूरी पर स्थित कनिष्ठा है जो लम्बी है, जिसका प्रथम पेरवा लम्बा है। तर्जनी के नीचे जो गुरु का स्थान है, वह समान रूप से उभरा हुआ है और उस पर क्रास तारे मे परिणत होता दिखाई देता है। मध्यमा के नीचे जो शनि का स्थान है, उस पर खडी रेखा है और V का चिह्न है। स्थान समान रूप से उभरा हुआ है। अनामिका के नीचे जो सूर्यस्थान है, वह भी उभरा हुआ है। कनिष्ठा के नीचे जो बुध स्थान है, समुन्नत है और उस पर तीन-चार खड़ी रेखाए हैं। इस स्थान के नीचे जो मगल स्थान है, अच्छा उभरा हुआ है। चन्द्र स्थान जो इस मंगल स्थान

से नीचे है, समुन्नत है और शुक्र स्थान भी खासा उभरा हुआ है। हथेली मे खड्डा नहीं है।

मस्तिष्क रेखा त्रिशूलाकार से प्रारम्भ होकर गुरु स्थान के नीचे जीवन-शक्ति रेखा से ऊपर, किन्तु अलग प्रथम कुछ दूर सीधी और फिर झुकती हुई है जिसकी एक शाखा चन्द्रस्थान की ओर दूसरी मगल स्थान की ओर गई है, जहाँ आखिरी सिरा ऊपर बुध की ओर मुडा है। हृदय-रेखा शनि एव गुरु स्थान के बीच से प्रारम्भ होती है और बुध स्थान के नीचे हथेली की छोर तक चली गई है। प्रारम्भ मे इसकी एक शाखा गुरु-स्थान की ओर बढ़ती है। भाग्य रेखा चन्द्र स्थान के ऊपर से चल कर मस्तिष्क रेखा तक गई है, दूसरी कुछ ऊपर गई है। सूर्य-रेखा बडी सुन्दर है और भाग्य रेखा से मगल के मैदान मे निकल कर करीब हृदय रेखा के नीचे तक गई है और दूसरी सूर्य रेखा मस्तिष्क-रेखा से कुछ नीचे से उठ कर प्रथम सूर्य रेखा के पास चलती हुई सूर्य स्थान तक गई है और जहाँ एक शाखा बुध स्थान की ओर भेजती है। दोनो मगल स्थान से एक-एक रेखा सूर्य स्थान को आई है जिनमे हथेली के छोर वाले मगल स्थान वाली रेखा बहुत तीखी एव स्पष्ट है। सूर्य स्थान के नीचे हृदय रेखा से एक रेखा बुध स्थान की ओर बढी है। मस्तिष्क रेखा से एक रेखा गुरु स्थान की ओर बढी है। जीवन-शक्ति-रेखा पुणचे तक गई है और स्थान-स्थान पर इससे भाग्य रेखाए निकली हैं, जिनमे एक रेखा ठीक गुरु स्थान मे गई है। जीवन शक्ति रेखा के बराबर सी अन्दर की ओर एक रेखा है। जीवन शक्ति रेखा से एक रेखा शनि की उँगुली (मध्यमा) के पास गई है जो विरक्ति रेखा है। दोनो हाथ की उँगुलियो मे लगभग छ शुभ चक्र है, चार मे सीप का आकार है। मध्यमा मे सीप का आकार है। उँगलियाँ हथेली मे छोटी नही है। हथेली की लम्बाई एव चौडाई प्राय समान-सी है। प्रारम्भ मे सूर्य रेखा ने कुछ ऊपर उठ कर एक शाखा बुध की ओर छोडी है और भाग्य-रेखा की एक

(ऊपर खीचा गया हाथ उसी हस्त-दर्शन के आधार पर है)
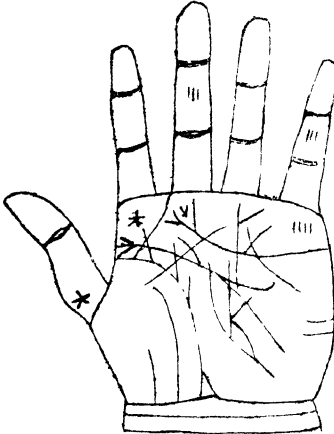
शाखा भी कही-कही आकर मिली दीखती है। यह ऊपर लिखा वर्णन अल्प समय मे किये गये हस्त-दर्शन के आधार पर है।

चौकोर हाथ एव मुलायम समुन्नत लाल गुलाबी रग की हथेली जिसकी लम्बाई एव चौडाई समान-सी है और अँगुलियाँ भी हथेली के बराबर है, इस बात की द्योतक है कि इनमे अपूर्व चरित्र-बल, बहस करने की प्रबल शक्ति है, सन्तुलित स्वभाव है, परिवर्तनशील है और निरन्तर कार्य मे सलग्न रह कर विजयश्री प्राप्त करने के लक्षण है। छोटी तर्जनी निर-भिमान की सूचक है। मध्यमा प्रबुद्धता, चिन्तनशील, उद्योगी एव धार्मिक पुरुष की परिचायक है। अनामिका से कला-कार, कवि एव सामाजिक चेतनावान् मानव का परिचय मिलता है। प्रथम पेरवा लम्बा होना कवि होने की पुष्टि करता है। कनिष्ठा रचयिता एव व्याख्यता की प्रतीक है और इसको दूरी अनामिका से जो स्थित है, वह यह बतलाती है कि यह मानव अपने कर्म मे पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है। उपरोक्त अगुस्त विभिन्न विचारो का समावेश, प्रखर बुद्धि, समन्वय शक्ति एव उदारमना का द्योतक है। प्रथम पेरवा जहाँ सम्पूर्ण आत्म-बल को बतलाता है, वहाँ दूसरा पेरवा सुदृढ साधारण ज्ञान (Common sense) एव प्रबल कर्म शक्ति एव तर्क शक्ति का परिचायक है। कटि वाला अगुस्त कुशल राजनीतिज्ञ एव नेता होने का सकेत करता है। गुरु स्थान पर तारा का चिह्न गुरु पद एव विश्व-विश्रुत विभूति का द्योतक है। शनि स्थान पर जो रेखा खडी है एव V का चिह्न है, वह माता से विशेष स्नेह होने का परिचय देता है। जीवन शक्ति रेखा से मध्यमा के पास रेखा गई है, वह विरक्ति (Renunciation) रेखा है जो ससार से उदासीन कर विरक्त बनाने मे सहा-यक होती है। शनि का समुन्नत स्थान दार्शनिक, कुछ एकान्त प्रेमी एव सगीत की अभिरुचि का होना प्रकट करता है। ऐसा सूर्य स्थान बहुश्रुत, यशस्वी एव विवेकी होना जाहिर करता है। सूर्य रेखा से बुध की ओर जाने वाली रेखा रचयिता एव व्याख्याता की द्योतक है। बुध स्थान एव उस पर खडी रेखाए कुशल मनोवैज्ञानिक, विज्ञानवेत्ता, विलक्षण बुद्धि वाला एव सुन्दर वक्ता होने का परिचायक है। मगल स्थान एव उनसे सूर्य की ओर जाने वाली रेखाए महा पराक्रमी, उत्कृष्ट साहसी, हिमालय-सा अडिग, शत्रु पर अहिंसक वृत्ति से सदा विजय पाने वाला एव परम सहिष्णु होने की द्योतक है। उपरोक्त चन्द्र स्थान तीव्र कल्पना-शक्ति वाला एव सिरजनहार का सूचक है। शुक्र स्थान सद्भावनाओ का सम्मान करने वाला एव सगीतज्ञ के गुण बतलाता है। जीवन-शक्ति रेखा से गुरु स्थान मे जाने वाली रेखा प्रतिभा प्रदान करने वाली है। अगुस्त के दूसरे पेरवे मे जो तारा का चिह्न है, वह आनन्दयोग का सूचक है।

अधिक महत्त्वपूर्ण रेखा मस्तिष्क की है जो प्रबल आत्म-विश्वास, कल्पना एव यथार्थता के सामजस्य, न्यायी, सुनीतिवान्, गुत्थियो को सहज सुलझाने की शक्ति की सूचक है। त्रिशूलाकार सुयश, सौभाग्य, अन्तिम सिरा गुरुता उसका ऊपर उठना अद्भुत वाक्-शक्ति का द्योतक है। साथ-ही-साथ स्थिर बुद्धि एव प्रवाह मे नही बहने वाले मस्तिष्क की कल्पना कराता है। हृदय-रेखा कुशाग्र बुद्धि, यश एव आदर्शवादी की सूचक है। भाग्य-रेखा पूर्वजो की सम्पदा प्राप्त होने की सूचना देती है और गुप्त स्थान निहित है, ऐसा बतलाती है और मस्तिष्क के विशाल एव व्यापक होने की परि-चायक है। सबसे महत्त्वशाली सूर्य रेखा है जो सर्वांगीण सफलता, बहुश्रुत, अनेक ज्ञान, परम यश, प्रबल वाक्-शक्ति तथा विश्व-विभूति की द्योतक है। यह इक्कीस, बाईस वर्ष की आयु के पास भाग्य रेखा से निकलती है जो भाग्योदय का समय बतलाती है। फिर चौबीस वर्ष की आयु के पास इससे निकलने वाली एक रेखा जो बुध की ओर बढना चाहती है, वह ज्ञानवृद्धि, राजनीति एव विद्या विकास होना प्रकट करती है। तेतीस वर्ष की आयु के पास एक सूर्य रेखा और निक-लती है जो सीधी सूर्य स्थान को गई है। नवीन जन-क्रान्ति द्वारा विमल यश व सफलता की सूचक है। इससे मानवता से देवत्व की ओर प्रगति होगी, ऐसी सूचना मिलती है। लम्बा अगुस्त, जो नीचे स्थित है और निराला कोण लिये हुए है, निगूढतम दार्शनिक, सिद्धान्तवादी, नीतिवान्, उच्च कोटि का न्यायी होना प्रकट होता है। जीवन-शक्ति की पूरी रेखा है, दोष रहित है जिससे सुस्वास्थ्य की कल्पना है और इसके साथ दूसरी जीवन रेखा चली है जिससे जीवन को बल मिलता है। स्थान-स्थान पर जीवन-शक्ति रेखा से सिट्टे की नाई जो भाग्य रेखाए निकली है, वे उस समय की उन्नति एव प्रतिभा की सूचक है। मस्तिष्क रेखा से बृहस्पति की ओर रेखा का बढना सुयश की वृद्धि बतलाती है और हृदय रेखा से बुध की ओर रेखा का जाना ज्ञान-विकास की सूचक है। पेरवो मे जो खडी रेखाए है, वे व्यवहार-कुशल होने की प्रतीक है और इनसे बुद्धि एव चतुराई को बल मिलना कहा जाता है।

आचार्यश्री तुलसी के दो प्रबन्ध काव्य

डा० विजयेन्द्र स्नातक एम०ए०, पी-एच०डी०
रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

नैतिक उत्थान का दिव्य सन्देश

आचार्यश्री तुलसी अपने अभिनव अणुव्रत-आन्दोलन के कारण आज भारतवर्ष मे एक तपस्वी साधक, मर्यादा-पालक वीतराग जैनाचार्य के रूप मे विख्यात है। ध्वस और विनाश के जिस उद्वेगमय वातावरण मे आज ससार सास ले रहा है, उसमे नैतिक मूल्यो द्वारा शान्ति और समभाव की स्थापना का प्रयत्न करने वाले महापुरुषो मे आचार्य तुलसी का स्थान अन्यतम है। नैतिक एव चारित्रिक ह्रास के कारण वर्तमान युग मे जीवन के शाश्वत मूल्य का जिस द्रुत गति से लोप हुआ है, वह समस्त ससार के लिए चिन्ता का विषय बन गया है। एक ओर देश, जाति, धर्म और सम्प्रदाय की सकीर्ण दीवारे खडी करके मानवता खडाघो मे टूट-टूट कर विभक्त हो गई है तो दूसरी ओर दुर्धर्ष ध्वसायुधो के आविष्कार के सन्देह—शका का भयावह वातावरण विश्व मे व्याप्त हो गया है। ऐसे सकट के समय समूची मानवता के लिए सौहार्द, ममता, सौख्य और शान्ति का सन्देश देने वाली महान् आत्माओं और शाश्वत मूल्यो की स्थापना करने वाले उपायो की आवश्यकता स्पष्ट है। आचार्यश्री तुलसी एक ऐसे ही महान् व्यक्ति है जिनके पास मानव के नैतिक उत्थान का दिव्य सन्देश है जो अणुव्रत चर्या के रूप मे धीरे-धीरे इस देश मे फैल रहा है। कहना होगा कि इस शान्त, स्वस्थ एव निरुपद्रवी आन्दोलन को यदि विश्व के सभी देश स्वीकार कर ले तो व्यक्ति-निर्माण के मार्ग से राष्ट्र का निर्माण और अन्त मे समग्र मानवता के विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

आचार्यश्री तुलसी की काव्य साधना के प्रसग मे अणुव्रत विषयक दो-चार शब्द मैंने जान-बूझकर लिखे है। अणुव्रत का सन्देश आचार्यश्री तुलसी के प्रबन्ध काव्यो मे भी निहित है, किन्तु कवि ने उसे किसी आन्दोलन की भूमि पर प्रतिष्ठित न कर भावना की उर्वर धरा पर उसका वपन किया है। अणुव्रत की अनाविल नैतिकता का बीज स्वाभाविक रूप से उनके काव्यो मे अकुरित हुआ है और उसके द्वारा पाठक की परिष्कृत चेतना दीप्त होती है, ऐसी मेरी धारणा बनी है। अणुव्रत-आन्दोलन देश, जाति, धर्म—सम्प्रदाय-निरपेक्ष एकान्त व्यक्ति-साधना होने के कारण सभी विचारशील व्यक्तियो द्वारा समादृत हुआ है, फलत उसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के विषय मे साधारण जनता का परिचय इसी के माध्यम से हुआ है। आचार्यश्री की नैसर्गिक काव्य प्रतिभा से बहुत कम व्यक्तियो का परिचय है, अत मैं काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध मे संक्षेप मे परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा।

ज्ञान-क्रिया की समवेत शक्ति

आचार्यश्री तुलसी के काफी काव्य-ग्रन्थो को पढ कर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इन ग्रन्थो के निर्माण मे जिस प्रेरक शक्ति का सबल हाथ रहा है, वह इच्छा, ज्ञान-क्रिया की समवेत शक्ति है। इन ग्रन्थो की रचना का उद्देश्य 'यशसे' और 'अर्थकृते' न होकर 'दिव्योपदेश' और 'शिवेतर क्षति' ही है। लौकिक एव पारलौकिक विषयो का व्यवहार ज्ञान भी उपदेश की प्रक्रिया मे समाया हुआ है। जिस सरल अभिव्यजना और सहज अनुभूति से वर्ण्य का विस्तार इन काव्य ग्रन्थो में हुआ है, वह इस तथ्य का निदर्शन है कि भोग्य जगत् के प्रति अनासक्त भाव रखने वाले सत की वाणी मे वस्तु-

सत्य के प्रति उतना आग्रह नही रहता, जितना भाव-सत्य के प्रति होता है। भाव-सत्य को केन्द्र बिन्दु बनाकर वस्तु-सत्य (घटना) का चित्रण करते समय सत कवि की वाणी जितनी तत्वाभिनिवेशी बनी रहती है, कदाचित् पदार्थ के प्रति आग्रह रखने वाले सामान्य कवि की वाणी नही रहती। 'शिवेतर क्षति' जिस काव्य का मूल स्वर हो उसमे यश और अर्थ की लिप्सा को स्थान नही रहता। आचार्यश्री तुलसी का निसर्ग कवि स्वय तटस्थ भाव से इन सबको ग्रहण करके काव्य रचना मे प्रवृत्त हुआ है, यह सभी काव्य ग्रन्थो के अनुशीलन से स्पष्ट होता है।

आचार्यश्री की लेखनी से अद्यावधि तीन हिन्दी काव्य-ग्रन्थ प्रकाश मे आ चुके है। यो तो सस्कृत और मारवाडी मे भी आपने काव्य-रचना की है, किन्तु इस लेख मे मै उनके दो प्रमुख हिन्दी प्रबन्ध काव्यो की ही चर्चा करूँगा। स्थानाभाव से हिन्दी के सभी ग्रन्थो की समीक्षा करना भी मेरे लिए सम्भव नही है। प्रमुख कृतियो मे 'आषाढभूति' और 'अग्नि-परीक्षा' है।

आषाढ़भूति

'आषाढभूति' एक प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध काव्य की पुरातन शास्त्रीय मर्यादा को कवि ने रूढि के रूप मे स्वीकार न कर स्वतन्त्र रूप से कथा को विस्तार दिया है। सर्ग या अध्याय आदि का परम्परागत विभाजन भी इसमे नही है। वर्णन की दृष्टि मे भी इस काव्य मे शास्त्र का अनुगमन प्राय नही हुआ है। वस्तुत कवि की दृष्टि वर्ण्य वस्तु को जन-मानस तक पहुँचाने की ओर ही अधिक रही है। कवि का अभिप्रेत है 'जनकाव्य' की शैली पर गेय रागो मे कथा को अति मधुर बना कर व्यापकता प्रदान करना। शास्त्र-मर्यादा के कठोर पाश मे आबद्ध होकर उसे विद्वन्मण्डली तक सीमित बनाने की कवि की तनिक भी इच्छा नही है। जैन-साहित्य परम्परा मे यह शैली सुदीर्घ काल से विकसित होती रही है। आचार्यश्री ने उसी को प्रमाण माना है और उसके विकास मे नई कडी जोडी है।

यह काव्य आस्तिक भावना का प्रतिष्ठापक होने के साथ जीवन की दुर्दम प्रवृत्तियो का यथार्थ बोध कराने मे भी सहायक है। मानव की दुर्ललित वासना वृत्ति किस प्रकार मानव को पाप-पक मे धकेल देती है और किस प्रकार वह इन्द्रियासक्ति के जाल मे पड कर सन्मार्ग से च्युत हो जाता है, यह बडी रोचक शैली से व्यक्त किया गया है। 'आषाढभूति' का कथा-प्रसग निशीथ सूत्र की चूर्णि व उत्तराध्ययन की अर्थ कथाओ मे लिया गया है। आचार्य तुलसी ने अपनी उपज्ञात प्रतिभा और कल्पना के योग से सामान्य कथा को दीप्त कर दिया है। कथा के विवरण केवल घटनाश्रित न होकर दर्शन, अध्यात्म, लोक-व्यवहाराश्रित अनेक उपयोगी प्रसगो से गुँथे हुए है। कथा के नायक आचार्य आषाढभूति को प्रारम्भ मे दृढ आस्तिक के रूप मे चित्रित किया गया है, किन्तु अपने सौ शिष्यो को महामारी द्वारा अकाल कवलित देख कर और देवयोनि से वापस आकर गुरु से न मिलने पर गुरु के मन का दृढ आस्तिक भाव सशय के अधड भाव से हिल उठा। शिष्यो ने वचन दिया था कि देवयोनि से आकर गुरु की खैर-खबर लेगे, किन्तु एक भी शिष्य वापस न आया। उन्हे लगा कि शास्त्र मिथ्या हैं, परलोक मिथ्या है, तत्त्वज्ञान की चिन्ता व्यर्थ है। इहलोक के सुख को तिलाजलि देना मूर्खता है। भोग की सामग्री की अवहेलना करके मैने क्या पाया। भोग्य वस्तुओ से परिपूर्ण इस ससार मे रमना ही मानव का इष्ट है, ऐसी भ्रम बुद्धि उत्पन्न होने पर आचार्य आषाढ़भूति पथभ्रष्ट होकर लोभ के पक-जाल मे फँस गये। उन्होने छ अबोध बालको की हत्या की, उनके आभूषण छीने, चोरी की और पतन का मार्ग पकडा। ऐसी दशा मे वचनबद्ध उनका प्रिय शिष्य विनोद देवयोनि से आया और उसने आषाढभूति का इस पाप-योनि मे उद्धार किया। आषाढभूति पुन आस्तिक मुमुक्षु बनकर सत्पथ पर आरूढ हुए। यही सक्षिप्त-सी कथा है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने काव्य को जनकाव्य बनाने के लिए लोक प्रचलित विभिन्न गेय रागो का आश्रय लिया है। राधेश्याम कथावाचक की रामायणी शैली का ग्रहण इस बात का प्रमाण है कि कवि इस काव्य का उसी शैली से प्रचार चाहता है। जैन दर्शन के गूढ सिद्धान्तो को सरल और सुबोध शैली से बीच-बीच मे गुम्फित कर आचार्यश्री ने इसे प्रारम्भ मे चिन्तनप्रधान काव्य का रूप दिया है, किन्तु बाद मे घटनाओ के वर्णन के कारण चिन्तन की गूढ़ता कम होती जाती है। दार्शनिक चिन्तन की झलक नीचे के पदो मे स्पष्ट देखी जा सकती है :

यदि भूतवाद ही सब कुछ है, चेतन का पृथगस्तित्व नहीं ?
चेतनता धर्म, कहो किसका, गुण अननुरूप होता न कहीं ?
चेतना शून्य क्यों मृत शरीर, धर्मी से धर्म भिन्न कैसे ?
यह जीव स्वतन्त्र द्रव्य इसकी, सत्ता है स्वयं सिद्ध ऐसे ?
चार्वाक नहीं चिन्तन देता, साम्प्रतिक सुखों का यह केवल।
आश्वासन मात्र प्रलोभन है, इसमें न दार्शनिक, तात्विक बल।
सैद्धान्तिक सबल प्रमाणों से जाती है जड़ जिसकी खिसकी।
औदार्य भारती संस्कृति का, दर्शन में गणना की इसकी।

देवयोनि मे शिष्यो के वापस लौट कर न आने पर आचार्य आषाढभूति की आस्था डिग गई। उनके मन मे सन्देह-शका के बादल मँडराने लगे। उन्हे लगा कि यह जप-तप, धर्म-पुण्य, सब मिथ्या है। स्वर्ग सुनिश्चित नही है, साम्प्रतिक दृष्टि ही सत्य है।

लोकस्थिति सारी कल्पित, क्या यह षट् द्रव्याश्रित,
कोई भी आस्था का आधार है नहीं।
झूठी धर्माधर्मास्ति, क्या पद्गल आकाशास्ति,
इस उलझन का कोई भी प्रतिकार है नहीं।

इस प्रकार एक बार घोर पतनगामी होकर आषाढभूति की जीवनयात्रा गहनाधकार मे भटक जाती है। किन्तु सौभाग्य से उनका शिष्य विनोद आता है और उनके उद्धार का आयोजन करता है। शिष्य के लिए गुरु के ऋण का शोध केवल यही है कि वह अपने अर्जित ज्ञान को गुरु-प्रबोध के लिए काम मे लेने का अधिकारी बने। सयोग की बात, विनोद के सौभाग्य से वह दिन उसे देखने को मिला और उसने गुरु को प्रबोध देकर सत्पथ पर पुन आरूढ किया। विनोद ने गुरु को प्रबोध दिया

अवितथ हैं सारे आगम, संयम का सफल परिश्रम,
तत्क्षण ही आत्म-शक्ति यह फल साकार है।
आश्रव है बन्ध निबन्धन, संवर से कर्म निरुन्धन,
तप संचित कर्मों का सीधा प्रतिकार है।
देता आकाश आश्रय, पुद्गल है गलन-मिलनमय,
पुद्गल के सिवा न कोई का आकार है।

आषाढभूति काव्य का अन्त जैन दर्शन के सिद्धान्तो को सरल भाषा मे प्रतिपादन करने मे हुआ है। कुछ पारिभाषिक शब्दावलि इन पृष्ठो मे प्रयुक्त हुई है जिसको सम्पादक महोदय ने परिशिष्ट मे स्पष्ट कर पाठको का कल्याण किया है।

काव्य सौष्ठव के धरातल पर इस प्रबन्ध काव्य मे एक ही उल्लेख्य तत्त्व मै पा सका, वह है—मनोरजक शैली से गूढार्थ-प्रतिपादन। अभिव्यजना का मार्दव या व्यजना का चमत्कार इसमे नही है। मूलत यह अभिधा काव्य है, जिसे साधारण पाठक के लिए सुबोध शैली मे लिखा गया है। कही-कही गेय रागो के साधारण या अति प्रचलित रूपो ने इसमे हल्कापन भी ला दिया है, किन्तु लेखक का उद्देश्य भिन्न होने से वह दुर्बलता आक्षेप योग्य नही रहती। प्रचार की दृष्टि से मैं इस काव्य को सफल समझता हूँ। इसका धरातल भी व्यापक बनाया गया है ताकि सभी वर्गों या सम्प्रदायो के धार्मिक वृत्ति के पाठक इससे रस ग्रहण कर सके।

अग्नि-परीक्षा

'अग्नि-परीक्षा' आचार्यश्री तुलसी की प्रौढ काव्य कृति है। इस कृति का सम्बन्ध रामायण की सुविश्रुत कथा

मे है। रामकथा का क्षेत्र देश, काल, जाति, धर्म और भाषा की दृष्टि से जितना व्यापक है, उतना सम्भवत ससार की किसी अन्य कथा का नही है। राम और सीता को भारतवर्ष के विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय ही नही, बाहर के देश भी अपना उपास्य देव मान कर ग्रहण करते है। रामकथा का विस्तार होने से इसमे रूपान्तर होना तो स्वाभाविक है ही, किन्तु कही-कही आद्यन्त परिवर्तन भी दृष्टिगत होता है। जैन ग्रथो मे रामकथा का प्रारम्भ सातवी शती से देखा जा सकता है। 'अग्नि-परीक्षा' की रचना आचार्यश्री तुलसी ने रामकथा के विभिन्न रूपो को पढ कर अपनी नूतन शैली से की है। किन्तु इसका कथा-प्रसग मूलत विमल सूरि कृत 'पउम चरिउ' की परम्परा मे जुडा हुआ है। इस कथा मे कुछ नवीन पात्र अवश्य है जो वाल्मीकि और तुलसी की रामायण के पाठको को नये प्रतीत होगे, किन्तु समग्र कथा-प्रवाह मे उनको बिना जाने भी पाठक अव्यवधान से रसानुभूति कर सकता है।

'अग्नि-परीक्षा' आठ सर्गों मे विभक्त प्रबन्ध काव्य है। इस काव्य की कथा रावण-वध के उपरान्त लका मे जुडी राम की विराट सभा से प्रारम्भ होती है। दशकधर के दिव्य प्रासाद म राम-लक्ष्मण सिहासन पर विराजमान है और सुग्रीव, विभीषण, हनुमान आदि उनके चारो तरफ मडलाकार बैठे है। नारद उस समय सभा मे आते है और वे साकेत नगरी मे दु खी होती हुई वृद्धा माताओ का वात्सल्य भरा करुण सन्देश राम-लक्ष्मण को देते है। इस प्रसग मे कवि की वाणी माता की ममता और उसके अतुल उपकारो का वर्णन करने मे लीन हुई है और बडी भावनाओ के साथ मातृत्व का प्यार इन पक्तियो मे उल्लसित हुआ है। अग्नि-परीक्षा का दूसरा अध्याय 'षड्यन्त्र' शीर्षक प्रसिद्ध रामचरित कथा से कुछ नया है। सम्भवत यह प्रसग जैन कथाओ मे हो, किन्तु वाल्मीकि और तुलसी मे यह कथा-प्रसग नही है। रामराज्य के सुख और आनन्दपूर्ण वातावरण के चित्रण करने के ठीक बाद ही यह दिखाया गया है कि राम की अन्य रमणियाँ सीता के प्रति ईर्ष्यालु और वैमनस्य की भावना से सीता के विषय मे मिथ्या प्रवाद प्रसारित करते का षड्यन्त्र करती है। राम की ये रमणियाँ कौन है और इनको राम के प्रति किस प्रकार का ममत्त्व है, यह इस कथा-प्रसग मे अघटित-सा प्रतीत होता है

> **रमणियाँ राम की सब मिल सोच रही हैं,**
> **सीता रहते किंचित सुख हमें नही है।**
> **उससे ही रंजित नाथ ! रात दिन रहते,**
> **हमसे हँसकर दो बात कभी ना कहते।**
> **जलता रहता मन भीतर ही भीतर में।**
> **यह कैसा घोर अधेर राम के घर में।**
> **आलोक जहाँ से फैला भारत भर में।**
> **यह कैसा घोर अधेर राम के घर में।**

राम की रमणियो ने षड्यन्त्र कर सीता मे रावण के पैरो का चित्र बनवा कर उसे लाछित किया और राम को विवश कर दिया कि वह सीता को विसर्जित करे।

> **सुन अकल्पित कल्पना यह, राम दु खित हो गये,**
> **खिन्न मन विश्राम गृह में, क्लान्त होकर सो गये।**
> **ज्वार विविध विचार के हृदयाब्धि में आने लगे,**
> **लहर बन कर ओष्ठ तट से शब्द टकराने लगे।**

राम का अन्तस्तल नगर मे व्याप्त किवदन्तियो और प्रवादो से खिन्न हो गया। वे निर्णय न कर सके कि सीता के उज्ज्वल धवल चरित्र पर यह कलक-कालिमा क्यो थोपी जा रही है। किन्तु लोकापवाद को बलवान् मानकर सीता-परित्याग का कठोर निर्णय कर ही लिया। कवि ने राम के उद्भ्रान्त मन को बड़े सशक्त शब्दो मे वर्णन किया है.

> **अभ्र, अवनी, सर, सरोरुह, श्रान्त-शान्त नितान्त थे,**
> **सरित्, सागर-शब्द रह-रह हो रहे उद्भ्रान्त थे।**

विहग, पन्नग, हय-चतुष्पद, सर्वतः निस्तब्ध थे,
हुई परिणति गति स्थिति में, शब्द भी नि.शब्द थे।

सीता-परित्याग का यह सारा वर्णन बहुत ही प्रवाह पूर्ण शैली मे लिखा गया है। सहृदय पाठक का इस प्रसंग में अनेक प्रकार की कोमल अनुभूतियो से आप्लावित हो जाना स्वभाविक है। लक्ष्मण की दशा का यथार्थ अकन करने मे कवि की वाणी इतनी सवेद्य हो गई है कि उसके साथ तादात्म्य करने मे कोई बाधा नही आती। राम के कठोर आदेश का पालन करने की विवशता और महासती के प्रति अगाध श्रद्धा से भरा कृतान्तमुख सेनापति का मन द्विवधा मे डूब जाता है। उसे सीता को छोडने वन मे जाना ही होगा—कैसी परवशता है।

स्खलित चरण, कम्पित वदन, आकृति अधिक उदास।
पहुँचा सेनानी सपदि महासती के पास।

परित्यक्त होकर सीता वन मे चली आई, किन्तु उसका मन घोर अनुताप मे भर गया। सती-साध्वी निर्दोष नारी को इतना भीषण कष्ट उठाना पडा, यह नारी जीवन का अभिशाप नही तो क्या है? नारी के अभिशप्त जीवन का वर्णन कवि के शब्दो मे सुनने योग्य है

अपमानों से भरा हुआ है नारी-जीवन,
अरमानों से भरा हुआ है नारी-जीवन,
अभियानों से डरा हुआ है नारी-जीवन,
बलिदानों से घिरा हुआ है नारी-जीवन।
... .

पुरुष-हृदय पाषाण भले ही हो सकता है,
नारी-हृदय न कोमलता को खो सकता है।
पिघल-पिघल उसके अन्तर को धो सकता है,
रो सकता है, किन्तु नहीं वह सो सकता है।

अनुताप की भट्टी मे जलकर सीता ने अपनी विचारधारा को कचन बनाया। उसे साहस का सम्बल मिला अपने ही अन्तर के भीतर। आसन्न प्रसवा होकर वह वन मे आई थी। उसने दो पुत्रों को जन्म देकर अनुभव किया कि वह पति परित्यक्ता होकर भी पुत्रवती है। उसके पुत्र मर्यादा पुरुषोत्तम की सन्तान है। सीता के उदर मे पल कर उन्होने सत्य, धर्म और व्रत-पालन की दीक्षा ली है, क्या वे मातृ-अपमान का बोध होने पर शान्त रह सकते थे। सीता के पुत्रो की वाणी मे प्रतिशोध की अग्नि भभक उठी और वीरोचित दर्प से वे हुकार उठे

जिस माँ का हमने दूध पिया
उसका अपमान न देखेंगे,
चम-चमती इन तलवारो से
हम आकर के बदला लेंगे,
रे! क्रूर कौन-सा कौशल है
वीरत्व स्वयं का तुम तोलो,
यदि थोड़ी-सी भी क्षमता है
करके दिखलाओ, कम बोलो।

सीता के पुत्र युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर मैदान मे उतरते है और लक्ष्मण के साथ आई हुई सेना से पूरी तरह मोर्चा लेने मे जुट जाते है। इनकी वीरता से एक बार लक्ष्मण व राम भी अभिभूत हुए बिना नही रहते। राम और लक्ष्मण दोनो की समवेत शक्ति भी इन्हे परास्त करने मे सफल नहीं होती। राम व लक्ष्मण ने अनेक शस्त्रास्त्रो का प्रयोग किया, किन्तु सभी बेकार गये।

एक एक कर यों सभी अस्त्र गये बेकार।
श्रद्धा, ज्ञान बिना यथा क्रिया न हरती भार।
यों लक्ष्मण के भी सभी हैं निरर्थ हथियार।
दया-दान, संयम बिना ज्यों होते निस्सार।

युद्ध के वर्णन में आचार्यश्री तुलसी ने एक परम्परा—मर्यादा रखी है। उसे विकराल बनाने के लोभ से शब्दो का आडम्बर खडा नही किया। सहज शैली से युद्ध की भूमिका मे मानव-मन के प्रतिद्वन्द्वो को ही प्रमुख स्थान दिया है। इस प्रसग के बाद इस प्रबन्ध काव्य का उत्कर्ष स्थल और उपसहार एक साथ आता है। फलागम की दृष्टि से यह अध्याय अन्त मे है, किन्तु इस पर उत्कर्ष जिस रूप मे चित्रित किया गया है, वह लोक विख्यात कथा मे कुछ भिन्न है। लोक-कथाओ मे राम ने सीता की अग्नि-परीक्षा लका से आने पर साकेत नगरी मे प्रवेश से पहले ली थी, किन्तु आचार्यश्री तुलसी के काव्य मे जैन-परम्परा का ग्रहण हुआ है और सीता की अग्नि-परीक्षा राम ने अपनी आत्म-ग्लानि के उपरान्त अपने अन्तर की प्रबल प्रेरणा से ली है। राम की अन्तरात्मा सीता को सर्वथा शुद्ध, सती-साध्वी मान रही है, अत यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि जनापवाद के निरसन के लिए बाह्य परीक्षा भी की जाये।

नहीं, नहीं मेरे मन में तो शंका जैसा कोई तत्व,
दयिते! अप्रतिहत आस्था है मानों ज्यों क्षायक सम्यक्त्व।
जड़जन का उन्माद मिटाने सचमुच यही अचूक दवा,
सफल परीक्षण हो जाने से हो जायेगी शुद्ध हवा।

सीता अग्नि-कुण्ड मे प्रविष्ट होने के लिए उद्यत हुई। उसके मन मे अटूट विश्वास का तेज था। वह निर्भय भाव से प्रसन्न मुद्रा मे अग्नि मे प्रविष्ट हुई

चीर क्षितिज की छाती भास्कर नभ प्रांगण में चढ़ता है,
मुनि ज्यों बन्धन-मुक्त साधना-पथ पर आगे बढ़ता है।
अरुण अरुण है, अरुण व्योम है, अरुण सलिल है, अरुण धरा,
तरुण अरुणता लिये ज्योतिमय रूप मैथिली का निखरा।

. .

बिना हुताशन-स्नान किये होता सोने का तोल नहीं,
नहीं शाण पर चढ़ता तब तक हीरे का कुछ मोल नहीं,
कड़ी कसौटी पर कस अपनी अभिनव ज्योति जगाएगी,
सूर्य वंश की विजय पताका भूतल पर लहराएगी।

सीता के दिव्य एव पवित्र चरित्र का प्रभाव ऐसा हुआ कि प्रज्वलित हुताशन की लपटे क्षण-भर मे शीतल सलिल की तरगे बन गई और सती सीता उसके ऊपर शान्त सुस्थिर भाव से विराजमान दृष्टिगत हुई। किसी अज्ञात शक्ति के प्रभाव से वह अग्नि-कुण्ड मणि-मडित सिहासन बन गया। उस पर बैठी सीता ऐसी लगी जैसे हस वाहन पर साक्षात् सरस्वती सुशोभित हो रही हो

मणि-मंडित स्वर्णिम सिंहासन
कर रहा सूर्य-सा उद्भासन,
है समासीन उस पर सीता
सुख पूर्वक साधे पद्मासन,
मानो मराल पर सरस्वती
उत्पल पर कमला कलावती।

सद्ज्ञानोपरि सम्यक् श्रद्धा,
त्यों हुई सुशोभित महासती।

सक्षेप मे, अग्नि-परीक्षा भी एक अभिधा प्रधान सरस प्रबन्ध काव्य है जिसे आचार्यश्री तुलसी ने लय और स्वरों मे बाँध कर गेय बनाने का प्रयास किया है। यदि इस काव्य को प्रचलित गीत स्वरो मे न बाँध कर विषयानुकूल प्रवाह मे बहने दिया जाता तो निश्चय ही इसका काव्य सौष्ठव अधिक उत्कृष्ट होता। ग्रथ-सम्पादक मुनिश्री महेन्द्रकुमार ने अपनी सम्पादकीय भूमिका मे ग्रथ की तुलनात्मक समीक्षा करते समय मैथिलीशरण गुप्त रचित साकेत का सकेत किया है। कुछ स्थल उद्धृत करके साम्य-वैषम्य दिखाने की भी उन्होने चेष्टा की है, किन्तु उनका ध्यान इस तथ्य की ओर शायद नहीं गया कि साकेत के प्रणेता गार्हस्थ्य जीवन की मोहक झाँकियाँ प्रस्तुत करने मे बेजोड है। सद्गृहस्थ होने के कारण उनके काव्य मे गार्हस्थिक जीवन की मर्म छवियो के अनुभूत चित्र जिस रूप मे उभर कर आते है, वैसे एक वीतराग साधु की लेखनी से कैसे सम्भव हो सकते है। वियोग और करुण भाव की योजना के लिए भी जिस प्रकार की अनुभूति चाहिए, वैसी एक सत के पास नही हो सकती। यह दूसरी बात है कि धार्मिकता—नैतिकता का जीवन चित्र उनके काव्य मे आ जाये, किन्तु गृहस्थी की भावना को साकार कैसे कर सकेगे ? यही कारण है कि 'अग्नि-परीक्षा' में पवित्रता और धार्मिकता का वातावरण अधिक है, गृहस्थ जीवन का नहीं। रामायण के जिस प्रसग का आचार्यश्री तुलसी ने चयन किया है उसके लिए उपसहार मे नैतिक और धार्मिक उपदेशो के लिए अवकाश होने पर भी प्रारम्भ और मध्य मे व्यावहारिक जीवन की कडवी-मीठी सामान्य अनुभूतियाँ ही अधिक उभर कर आनी चाहिए थी।

'अग्नि-परीक्षा' का सबसे बडा गुण है, उसकी सुबोध शैली और रोचक कथा-प्रसगो की अन्विति। कवि की वाग्धारा सरस-स्निग्ध होकर जिस रूप मे प्रवाहित हुई है, वह सर्वत्र कथा के अनुकूल है। रोचकता की दृष्टि से यह काव्य व्यापक यश का भागी होगा। कही-कही गेय रागो का प्रबल आग्रह पद-योजना तथा अर्थ-तत्त्व को इतनी साधारण कोटि तक उतार लाया है, जो ग्रथ के विषय-गाभीर्य की दृष्टि से घातक है। किन्तु प्रचारात्मक दृष्टिकोण के कारण शायद आचार्यश्री को यह माध्यम अत्युपयुक्त प्रतीत होता है।

मैने दोनो काव्य ग्रन्थो का प्रबन्धात्मक दृष्टि से ही विश्लेषण किया है। रस, ध्वनि, अलकार आदि के गुणदोष-विवेचन में जान-बूझकर नही गया हूँ। मैंने इन दोनो काव्यो मे प्रबन्धात्मकता का गुण पूरी तरह पाया है और एक तटस्थ पाठक की भाँति इन्हे पढ कर पर्याप्त आनन्द प्राप्त किया है। इन दोनो प्रबन्ध काव्यो की एक उल्लेख्य विशेषता यह भी है कि इनका ध्येय नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा करना होने पर भी कवि ने प्रतिपाद्य को इस प्रकार गठित किया है कि उसमे लोक-व्यवहार-ज्ञान की अत्यधिक सामग्री एकत्र हो गई है। इन दोनो प्रबन्ध काव्यो के अनुशीलन से प्रत्येक पाठक की लोक-दृष्टि व्यापक बनेगी और उसके दैनन्दिन जीवन में होने वाली घटनाओ से इन काव्यो की घटनाओ का तादात्म्य हो सकेगा। आचार्यश्री तुलसी का जीवन धार्मिक एव नैतिक आदर्शो का साकार रूप है। उन्ही आदर्शो को लोकभाषा मे निबद्ध करना उनका ध्येय था। कथा-प्रसग तो व्याज-मात्र है, किन्तु उनका निर्वाह जितनी सावधानी से होना चाहिए था, उतनी ही सावधानी से किया गया है। आचार्यश्री तुलसी वीतराग आचार्य होने पर भी लोक चेतना से सम्पृक्त रहते हैं और उसके उन्नयन और उत्थान के लिए किये गये उनके अनेक प्रयोगो मे इन काव्य ग्रन्थो का भी अमिट योग है।

अग्नि-परीक्षा : एक अध्ययन

प्रो० मूलचन्द सेठिया
बिड़ला आर्टस् कॉलेज, पिलानी

प्राय ढाई हजार वर्षों से रामचरित भारतीय साहित्य का प्रमुख उपजीव्य रहा है। रामायण की कथा भारत की सीमाओं का अतिक्रमण कर बृहत्तर भारत मे भी लोकप्रिय रही है, परन्तु डॉ० कामिल बुल्के की यह धारणा तो निर्विवाद है कि "विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रथम महाकाव्य या सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ प्राय कोई 'रामायण' है।" राम-भक्ति का धार्मिक क्षेत्र मे अवतरण भी साहित्य के माध्यम मे ही हुआ है। डॉ० गोपीनाथ कविराज राम-भक्ति का विशेष विकास आठवी शताब्दी ई० के पश्चात् मानते है, परन्तु प्राचीनतम उपलब्ध रामकाव्य वाल्मीकि रामायण का रचनाकाल ईसा के छह सौ से चार सौ वर्ष पूर्व के अन्तर्गत माना जाता है। वाल्मीकि के पूर्व भी स्फुट या प्रबन्ध रूप मे राम-काव्य की रचना होती रही होगी, लेकिन साहित्य-शोधकों के लिए अब तक वह अप्राप्य है। यह निश्चित है कि राम के अवतार रूप की प्रतिष्ठा और राम-भक्ति के शास्त्रीय प्रतिपादन की अपेक्षा राम-चरित की काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्राचीनतर है। भारतीय लोक-मानस की सम्पूर्ण आदर्श-परिकल्पनाए राम के चरित्र मे कुछ इस परिपूर्णता के साथ मूर्तिमन्त हुई है कि 'लोकेश लीलाधाम' राम का पावन चरित्र कवियो के लिए चिरन्तन आकर्षण का केन्द्र रहा है। हो भी क्यो नही

राम तुम्हारा नाम स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

—गुप्तजी

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के अनुसार विभिन्न कवियो को राम के व्यापक चरित्र मे अपने मनोनुकूल मन्तव्य प्राप्त हो गया है। राम के नाम मे ही कुछ ऐसा दुर्निवार आकर्षण था कि सम्पूर्ण नाम-रूप के परे अन्तर्ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले निर्गुणिया कबीर 'राम नाम का मरम है आना' कह कर भी अपने को 'राम की बहुरिया' घोषित करने का लोभ सवरण नही कर सके। वाल्मीकि और स्वयभू, तुलसी और केशव, कम्बन और कृत्तिवास, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त द्वारा राम के पवित्र चरित्र का पूर्ण प्रशस्त अभिव्यजन हो चुकने पर भी उसके प्रति नये कृतिकारो का आकर्षण उत्तरोत्तर बढता जा रहा है।

राम का चरित्र एक ऐसे प्रभा-पुञ्ज की तरह है, जिसके प्रतिफलन के कारण उसके पार्श्ववर्ती ग्रह-उपग्रहो के रूप मे सीता, लक्ष्मण, भरत, कौशल्या, कैकयी, हनुमान आदि के चरित्र भी अलौकिक आभा से अभिमण्डित प्रतीत होते है। आधुनिक कवियो मे दिवगत निरालाजी ने 'राम की शक्ति पूजा' और 'पचवटी-प्रसग' मे राम के तप पूत जीवन के कुछ पावन प्रसगो को चित्रित किया है। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'साकेत सन्त' मे भरत और माण्डवी, श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने कैकयी और दिवगत प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने ऊर्मिला के चरित्र को अपने काव्य का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। परन्तु राम-कथा के चाहे किसी भी पार्श्व को क्यो न स्पर्श किया जाये, राम की वर्चस्विता तो उसमे बनी ही रहती है। 'साकेत' मे कविवर मैथिलीशरण गुप्त ऊर्मिला को नायिका बना कर भी लक्ष्मण को अपने महाकाव्य का नायक नही बना सके। वस्तुत, राम भारतीय जीवनादर्श के एक पावन प्रतीक बन गये है और उनके सर्वांगपूर्ण जीवन मे प्रत्येक कवि को अपने अभिप्रेत की प्राप्ति हो जाती है। राम-काव्य की बृहत् शृङ्खला मे नवीनतम कड़ी है—आचार्यश्री

तुलसी की अग्नि-परीक्षा, जो सन् १९६१ मे प्रकाशित हुई है। राम-कथा के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने 'प्रशस्ति' मे स्पष्ट कहा है .

रामायण के हैं विविध रूप
अनुरूप कथानक ग्रहण किया,
निश्छल मन से कलना द्वारा
समुचित भावों को वहन किया,
वास्तव में भारत की संस्कृति
है रामायण में बोल रही,
अपने युग के संवादों से
वह ज्ञान-ग्रंथियाँ खोल रही।

आचार्यश्री तुलसी तेरापथ के नवमाचार्य, अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक एव जैन-दर्शन के एक महान् व्याख्याता के रूप मे राष्ट्र-व्यापी ख्याति प्राप्त कर चुके है, परन्तु उनके कवित्व का परिचय आषाढभूति के प्रकाशन के साथ ही प्राप्त होता है। जन्मना राजस्थानी होने के कारण राजस्थानी भाषा मे आचार्यश्री तुलसी द्वारा विरचित विपुल काव्य-सामग्री विद्यमान है, जिसमे पूर्वाचार्य श्रीकालूगणी के जीवन से सम्बद्ध चरित-काव्य 'श्री कालू यशोविलास' प्रमुख रूप से उल्लेख्य है। विगत वर्षों मे उत्तरी एव मध्य भारत मे विचरण करने के पश्चात् हिन्दी काव्य-सृजन की ओर आपके आकर्षण का सूत्र-पात होता है। 'अग्नि-परीक्षा' मे रामायण के उत्तरार्द्ध की कथा है, जो राम के लका-प्रस्थान से प्रारम्भ होकर अग्नि-परीक्षिता महासती सीता के जयनाद के साथ समाप्त होती है। स्पष्टत आचार्यश्री तुलसी का आलोच्य काव्य राम-काव्य की जैन-परम्परा के अन्तर्गत ही परिगणित किया जा सकता है। आचार्यश्री तुलसी के राम गोस्वामी तुलसीदास के राम की भाँति "व्यापक, अकल, अनीह, अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना विध करत चरित्र अनूप।" वाले मर्यादावतार नहीं हैं। वे आठवें बलदेव है और उनकी गणना लक्ष्मण एव रावण के साथ त्रिषष्टि महापुरुषो मे की जाती है। जैन मतानुसार राम ने अपने जीवन के सध्या-काल मे साधु-जीवन अगीकार किया था और कर्मक्षय कर सिद्ध पुरुष बन गए थे। जैनो के राम मोक्ष-प्रदाता नही है, उन्होने स्वय अपनी जीवन-मुक्ति के लिए साधना की थी। हाँ, इसमे सन्देह नही कि आज राम एक जीवन-मुक्त महापुरुप सिद्ध है। 'अग्नि-परीक्षा' के दशरथ भी राम-वनवास के बाद जैन-दीक्षा ग्रहण कर लेते है। भरत राम से कहते है 'ली पूज्य पिताजी ने दीक्षा।' राम के अयोध्या प्रत्यागमन के बाद भरत भी जैन साधुत्व स्वीकार करने मे विलम्ब नही करते है

भरत त्वरित मुनि बन चले, कर जागृत सुविवेक।
वासुदेव-बलदेव का हुआ राज्य-अभिषेक।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अग्नि-परीक्षा' का प्रणयन वाल्मीकीय रामायण की परम्परा मे न होकर, 'पउम चरिय' के प्रणेता विमलसूरि की जैन रामायण-परम्परा मे हुआ है। जैनो में भी रामायण की दो परम्पराएं मिलती है, परन्तु गुणभद्र और पुष्पदन्त के 'उत्तर पुराण' में, जो दिगम्बर सम्प्रदाय मे ही अधिक प्रचलित रहे है, सीता के परित्याग और अग्नि-परीक्षा की घटना का कही उल्लेख तक नही किया गया है। अत. आचार्यश्री तुलसी की 'अग्नि-परीक्षा' का सम्बन्ध विमलसूरि के 'पउम चरिय' की परम्परा से ही स्थापित किया जा सकता है। आलोच्य काव्य के कथात्मक विकास पर भी 'पउम चरिय' का सुस्पष्ट प्रभाव है। राम के द्वारा सीता का परित्याग, वज्रजघ द्वारा सीता का सरक्षण, नारद द्वारा लवणाकुश को माता के अपमान की कथा सुनाया जाना, राम-लक्ष्मण के साथ लवणाकुश का युद्ध और अन्तत सीता की अग्नि-परीक्षा आदि घटनाओ का विधान 'पउम चरिय' की परम्परानुसार ही किया गया है।

'अग्नि-परीक्षा' मे अग्नि स्नाता सीता का अत्युज्ज्वल चरित्र ही प्रमुख रूप मे उपस्थित किया गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के शब्दो मे "वैदिक साहित्य मे 'सीता' शब्द का प्रयोग अधिकतर हल से जोतने पर बनी हुई रेखा के लिए हुआ है। किन्तु एक सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी भी है। एक अन्य सीता सूर्य की पुत्री है। विदेहतनया सीता वैदिक

साहित्य मे नही है।" वैदिक साहित्य मे सीता का उल्लेख केवल 'रामोत्तर तापनीयोपनिषद्' मे मिलता है, जो साहित्य-शोधको द्वारा काल-क्रम की दृष्टि मे अर्वाचीन ठहराया गया है। डॉ० कामिल बुल्के के मतानुसार "वैदिक सीता का व्यक्तित्व ऐतिहासिक न होकर लागल पद्धति के मानवीकरण का परिणाम है।" प्रचलित वाल्मीकि रामायण मे सीता को भूमिजा भी कहा गया है। "एक दिन राजा जनक यज्ञ-भूमि को तैयार करने के लिए हल चला रहे थे कि एक छोटी-सी कन्या मिट्टी से निकली। उन्होने उसे पुत्री-स्वरूप ग्रहण किया तथा उसका नाम सीता रखा। सम्भव है कि भूमिजा सीता की अलौकिक जन्म-कथा सीता नामक कृषि की अधिष्ठात्री देवी के प्रभाव से उत्पन्न हुई हो।" गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' के अनुसार सीता रावण की पुत्री थी और मन्दोदरी के गर्भ से उसका जन्म हुआ था। इसी प्रकार पद्मजा सीता, रक्तजा सीता और अग्निजा सीता की कल्पनाए भी अनेक पौराणिक कथा-काव्यो मे मिलती है।

विष्णु के अवतार राम की पत्नी सीता को भी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का अवतार माना गया है। भक्तप्रवर तुलसीदास ने सीता को प्रभु की शक्ति-योग माया के रूप मे प्रस्तुत किया है, जो केवल विष्णु की पत्नी का अवतार मात्र नही, प्रत्युत स्वय सृष्टि का सृजन, पालन और सहार करने मे समर्थ सर्वशक्तिमती है

जासु अंश उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि विलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।

'अग्नि-परीक्षा' मे आचार्यश्री तुलसी ने सीता को महामानव राम की महीयसी महिषी के रूप मे चित्रित किया है और यह चरित्र आँसुओ से धुल कर और आग मे जल कर तप्त कुन्दन की तरह सर्वथा निष्कलुष हो गया है। पत्नी के रूप मे राम की अर्द्धाङ्गिनी बन कर भी वह अभागिनी ही रही

जबसे इस घर में आई इसने दुःख ही दुःख देखा,
पता नहीं बेचारी के कैसी कर्मों की रेखा?

पृथ्वी की पुत्री को भी अगर अपनी सर्वसहा माता की भाँति सबका पदाघात सहन करना पडा हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या? 'अग्नि-परीक्षा' मे आचार्यश्री तुलसी ने उसी अश्रुमती सीता को नायिका के पद पर प्रतिष्ठित किया है जिसकी पलको मे आँसुओ की आर्द्रता के साथ सतीत्व का ज्वलन्त तेज भी है। उसमे नारीत्व के आत्म-गौरव की भावना सदैव प्रगाढ रूप मे परिलक्षित होती है। वह राम के माध्यम से पुरुष जाति के अत्याचार को सहर्ष सहन करती हुई भी अपने अन्तर मे विद्रोहिणी है। वाल्मीकि और तुलसी की सीता उसके सामने नतनयना और मूकवचना निरीहा नारी प्रतीत होती है। युग के प्रभाव से आधुनिक युग की प्रबुद्ध नारी-चेतना से आचार्यश्री तुलसी भी अप्रभावित नही रह सके है। 'साकेत' की सीता और ऊर्मिला की आत्यन्तिक कोमलता और कातरता का प्रायश्चित्त श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'विष्णुप्रिया' मे किया है। 'अग्नि-परीक्षा' की सीता राम से उपालम्भ के रूप मे जो कुछ कहती है, उसमे युग-युग से पदमर्दित और प्रवचित नारी जाति की वह मर्म-वेदना भी मिली हुई है, जो विद्रोह की सीमा-रेखा को स्पर्श करने लगी है

हाय राम! क्या नारी का कोई भी मूल्य नहीं है?
क्या उसका औदार्य, शौर्य पुरुषों के तुल्य नहीं है?

आचार्यश्री तुलसी एक धर्म-सम्प्रदाय—तेरापथ के आचार्य है। बचपन से ही परम्परा और मर्यादा के पालन करने और कराने का उनका चिराचरित अभ्यास रहा है। इसलिए उनसे यह आशा करना तो दुराशा ही होगी कि वे किसी भाव-प्रतिक्रिया के आवेश मे आकर नारी के विद्रोह का शखनाद करने लगेगे, परन्तु 'अग्नि-परीक्षा' की कुछ ज्वलन्त पक्तियाँ नारी के निपीडन और पुरुषो की स्वेच्छाचारिता और स्वार्थपरायणता को इतनी प्रखरता के साथ उपस्थित करती हैं कि समाज का यह मूलभूत वैषम्य—जो और कुछ भी हो, सत्य और न्याय के आधार पर प्रतिष्ठित नही है—अपनी नग्न वास्तविकता के साथ हमारे सामने आ जाता है।

नारी का अस्तित्व रहा नर के हाथों में,
नारी का व्यक्तित्व रहा नर के हाथों में,

... ...

है पुरुषों के लिए खुली यह वसुधा सारी,
पर नारी के लिए सदन की चार दीवारी।

... ...

क्या पैरों की जूती नारी ?
जो सहे आपदाएं सारी।

सिंहनाद-वन मे (जिसका नाम ही रोंगटे खड़े करने वाला है) घोर निराशा के क्षणो मे भी सीता एक सन्नारी के रूप में अपने आत्म-बल को जागृत करती है और इस प्राणान्तक संकट के हलाहल को अमृत बना कर पी जाती है। तभी तो लक्ष्मण कहते है :

सहज सुकोमल सरल, गरल को अमृत करती सीता
विषम परिस्थितियों में जो कभी नहीं भय भीता

सीता ने अपने अखण्ड सतीत्व के बदले क्या नही पाया— निर्वासन, निर्यातन, निन्दा, लाछना और अन्तत पुरुष का विश्वासघात ! परन्तु विधि की ये विडम्बनाए उसके प्राणों के सत्व का शोषण नही कर सकी। सीता ने जहर के घूंट पर घूंट पीकर ही नारी के लिए जीवन का यह तत्त्व-दर्शन प्राप्त किया था

अपने बल पर नारी तुझे जागना होगा,
कृत्रिम आवरणो को तुझे त्यागना होगा।
खो सन्तुलन भीत हो नही भागना होगा,
सत्य क्रान्ति का अभिनव अस्त्र दागना होगा।

'अग्नि-परीक्षा' मे सीता एक परित्यक्ता पत्नी के रूप मे ही नही, एक महिमामयी माता के रूप मे भी हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। उसका पत्नीत्व चाहे आहत हो, लेकिन उसका मातृत्व लवणाकुश जैसे पुत्र-रत्न पाकर सफल-सार्थक है। वे जब माता के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए राम और लक्ष्मण जैसे विश्व-विश्रुत वीरों से लड़ने के लिए तैयार हो जाते है तो उन्हे इन नवल किशोरो से लड़ने मे एक प्रकार का सहज सकोच हो आता है। इस अवसर पर सीता के सपूतो की ओजस्विनी वाणी गूंज उठती है

करुणा किसी दीन पर करना,
झोली किसी हीन की भरना,
दया-पात्र हम नही तुम्हारे, क्यो फैलायें हाथ ?

लवणाकुश जैसे पुत्रो को पाकर सीता कुछ क्षणो के लिए पति की प्रवचना के अन्तर्दाह को भी भूल गई होगी। माता के रूप मे ही नारी पुरुष की प्रवचना और प्रताड़ना के ऊपर उठ पाती है। सम्भवत नारी अपने पुत्र के रूप मे ही पुरुष को अपने सर्वान्त करण से क्षमा कर जाती है। माता के अपमान का शोध सत्पुत्रों के द्वारा ही होना है

सत्पुत्र कभी यों माता का
अपमान नहीं सह सकते हैं,
पाते ही सचमुच शुभ अवसर
वे मौन नहीं रह सकते हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने कौशल्या और सीता के रूप मे मातृ-हृदय की नवनीत कोमलता और मर्म-मधुरता को सजीव रूप मे उपस्थित कर दिया है। लक्ष्मण के वन से लौट आने पर माता सुमित्रा पूछती है. "तुम्हारे घाव कहाँ लगा था ? जरा मुझे वह जगह तो दिखलाओ।" कौतुक प्रिय नारदजी भी माता की महिमा गाते हुए सुनाई पड़ते है

वात्सल्य भरा माँ के मन में,
माधुर्य भरा माँ के तन में,
उस स्नेह-सुधा की सरिता का रस तुम्हें पिलाने आया हूं।

सुनती जब सुत का किञ्चित् दुःख,
पीला पड़ जाता उस का मुख,
उसकी उद्वेलित आत्मा को मैं तुम्हें दिखाने आया हूँ।

'अग्नि-परीक्षा' के अनेक पृष्ठ परित्यक्ता सीता के आँसुओ से गीले है। सीता के विरह-वर्णन मे केवल पति-वियोग जन्य वेदना की ही अभिव्यजना नही है, अपने सतीत्व पर किए गए सन्देह की चुभन, नारीत्व के अपमान की कसक और पति के द्वारा दी गई प्रवचना की प्राणान्तक पीड़ा का भी समावेश है। गर्भवती अवस्था मे सिहनाद-वन मे नितान्त निराश्रय छोडे जाने पर उसके सम्मुख सबसे पहले तो कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? की समस्या आ उपस्थित हुई होगी .

अम्बर से मैं गिरी हाय ! अब नहीं झेलती धरती,
टुकड़े-टुकड़े हृदय हो रहा, रो-रो आहें भरती।

सीता के करुण क्रन्दन मे जीवन के कुछ ऐसे करुण और कठोर सत्य प्रकट हुए है, जो मर्यादा पुरुषोत्तम के इस कर्म को अमर्यादित सिद्ध करते हुए प्रतीत होते है

यदि कुछ ममत्व मन में होता
करते न कभी विश्वासघात,
क्यों हाथ पकड़ कर लाए थे,
जो निभा न सकते नाथ ! साथ।

सीता के वेदनामय उद्गारो मे एक प्रकार की विदग्धता है, जो केवल हमे भावोद्वेलित ही नही करती, विचारोत्तेजित भी करती है। राम की सकटापन्न एव द्विधाग्रस्त मन स्थिति को भी कवि ने लक्ष्य किया है। बडे गम्भीर अन्तर्द्वन्द्व और विचार-मन्थन के पश्चात् (यद्यपि 'अग्नि-परीक्षा' मे उसका साङ्केतिक वर्णन ही हुआ है) राम सीता का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत होते हैं।

किन्तु राघव का हृदय आन्दोलनों से था भरा,
घूमता आकाश ऊपर, घूमती नीचे धरा।

सीता अगर सिहनाद-वन को अपने कुहरी के से करुण क्रन्दन से विह्वल कर रही थी, तो राम के लिए भी अयोध्या का सुख-शयनागार कण्टक-वन बन गया था। तुलसी के राम अपहृता सीता का पता खग, मृग और मधुकर-श्रेणी से पूछ सकते थे, परन्तु अपनी ही आज्ञा से सीता को निष्कासित करने वाले राम उसका पता किससे पूछते ? राम सीता को अयोध्या के राजमहलो से निकाल कर भी उसे अपने हृदय से नही निकाल सके। सीता के वियोग मे राम को

लगते फीके सरस स्वादु पकवान भी,
कुसुम सुकोमल शय्या तीखे तीर-सी,
नहीं सुहाते सुखकर मृदु परिधान भी,
मलयानिल भी दुःखद प्रलय-समीर-सी।

अन्तत. राम और सीता का मिलन होता है—उनके अगजात लवणाकुश के प्रबल पराक्रम से ! सीता माता के ये पुत्र अपने बाहु-बल के दीप्त प्रकाश मे राम के मशयाच्छन्न नेत्रो को निमीलित करते हैं। राम और लक्ष्मण की सेना के रक्त-प्रवाह द्वारा वे अपनी माता पर अकारण लगाई गई कलक-कालिमा को धो डालते है। नारद के मुख से अपनी माता के अपमान की कथा के श्रवण मात्र से उनका खून खौलने लगता है। है कहाँ अयोध्या ? राम कहाँ ? माता के द्वारा बार-बार समझाए जाने पर भी उनके आक्रोश का उत्ताल वेग शान्त नही होता। अपनी माता के अपमान का प्रतिकार करने के लिए वे अयोध्या पर आक्रमण कर ही देते हैं। प्रारम्भ मे राम और लक्ष्मण इस युद्ध को बाल-लीला समझ कर गम्भीरता से नहीं लेते। परन्तु लवणाकुश की भयंकर मार-काट को देख कर उनको भी लडने के लिए प्रस्तुत होना पडता है। युद्ध-वर्णन मे भी आचार्यश्री तुलसी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रशस्त परिचय दिया है। रणोद्यत राम का रौद्र रूप द्रष्टव्य है :

अरुण नेत्र निष्करुण हृदय, त्यों निष्प्रकम्प निःस्नेह,
थर-थर अधर दशन से डसते, शस्त्र-सुसज्जित देह,
सोच रहे जन अरे ! हो गया है किसका विधु वाम !
भृकुटि चढ़ी है, बड़ी व्यग्रता, फड़क रहे भुज-दण्ड,
कड़क रहे बिजली ज्यों रिपु को कर देंगे शत-खण्ड,
है प्रचण्ड कोदण्ड हाथ में मूर्त रूप ज्यों श्याम।

परन्तु रोषारुण होने से ही युद्ध नही होता। राम-लक्ष्मण भले ही लवणाकुश को नही पहचानते हो, पर रक्त तो रक्त को पहचानता था। उनके अस्त्र ही जैसे आज उनको छल रहे थे, वे फेंके किधर ही जाते थे और जाकर लगते किधर ही थे। रथ जर्जर हो गए, अश्व आहत हो गए, सेना शिथिल हो गई। नारदजी फिर रहस्योद्घाटन करने पहुँच जाते है। लवणाकुश का परिचय पाकर राम-लक्ष्मण अस्त्रो को छोड कर और रथ से उतर कर उनसे मिलने के लिए दौड पडते है

पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, परम मुदित मन मिलते हैं।
शशि को देख सिन्धु, रवि-दर्शन से पंकज ज्यों खिलते है।
विनय और वात्सल्य बरसता है भीगी पलकों के द्वारा।
स्नेह-सुधा से सिञ्चित कण-कण आज अयोध्या का सारा।

युद्ध के आँगन मे जहाँ पहले तलवारो से तलवारें मिल रही थी, वहाँ बाहु से बाहु और वक्ष से वक्ष मिलते है। आचार्यश्री तुलसी ने इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन का बडा हृदयग्राही वर्णन किया है

पल भर में ही वीर रौद्र रस बदल गया हर्षोत्सव में,
शीघ्र उग्र प्रतिशोध-भावना परिवर्तित प्रेमोद्भव में।
क्षण भर पहले जो लड़ते थे वे आपस में गले मिले,
पलट गया पासा ही सारा, फूल और के और खिले।

युद्ध-प्रकरण के पश्चात् सीता की अग्नि-परीक्षा का प्रसग उपस्थित होता है। कपिपति सुग्रीव पुण्डरीकपुर मे सीता की सेवा मे उपस्थित होते है और उनका अभिनन्दन करते हुए कहते है

कुल कमले ! कमनीय कले ! अमले ! अचले ! सन्नारी,
सहज सुव्रते ! सौम्य सुशीले ! अननुमेय अविकारी।

सुग्रीव के द्वारा राम की ओर से आमन्त्रण की बात सुनकर सीता का दबा हुआ विक्षोभ फूट पडता है। सीता के भावोद्गारो मे नारी की वेदना ही नही, उसका विद्रोह भी मुखरित हो उठा है

कपिपति ! मैं भूली नहीं वह भीषण कान्तार,
नहीं और अब चाहिए स्वामी का सत्कार।

सीता कहती है—"राम की धरोहर लवणाकुश—मै उन्हे सौंप चुकी हूं। राम इस कुलटा को अयोध्या जैसी पुण्य नगरी मे बुलाकर उस नगरी को कलंकित क्यो करना चाहते है ? हाँ, अगर वे मेरी परीक्षा लेकर मेरा कलक उतारना चाहे, तो मै सहर्ष अयोध्या जाने के लिए प्रस्तुत हूँ।" राम सीता के दृढ सतीत्व के प्रति अपने मन मे अप्रतिहत आस्था होते हुए भी जड जनता को शिक्षा देने के लिए सीता की अग्नि-परीक्षा करने को प्रस्तुत हो जाते है। महेन्द्रोद्यान के निभृत क्षणो मे जब राम सीता के सामने अपनी सफाई का बयान देने लगते है तो उन्हे सीता दो टूक जवाब देती है

जीवन भर मे साथ रही,
फिर भी पाये पहिचान नहीं,
कहलाते हो अन्तर्यामी,
किस भ्रम में भूले हो स्वामी!

"सीता अपने सतीत्व का प्रमाण देने के लिए अग्नि-कुण्ड मे प्रवेश करती है, इस पर अग्नि-कुण्ड तालाब मे बदल जाता है और उसका जल चारो ओर बढने लगता है। जब पानी लोगो के कानो तक पहुँचता है, वे सीता से प्रार्थना करने लगते हैं और पानी कम हो जाता है।" इन चरम क्षणो मे सती सीता के जय-जयकार के साथ आचार्यश्री तुलसी ने अपने काव्य का चरम समापन किया है। एक भव्य, प्रशस्त और उदात्त वातावरण मे काव्य की परिसमाप्ति होती है। सीता हेम की तरह शुद्ध होने पर भी इस अग्नि-परीक्षा मे से और भी उज्ज्वलतर होकर निकलती है

बिना हुताशन-स्नान किये होता सोने का तोल नहीं,
नहीं शाण पर चढ़ता तब तक हीरे का कुछ मोल नहीं।

प्रत्येक प्रबन्धकार को अपने आधारभूत कथानक मे से प्रबन्धौचित्य के अनुरूप ग्रहण और त्याग करने का अधिकार होता है। आचार्यप्रवर ने अधिकाशत: जैन-परम्परा मे प्रचलित कथानक को ही स्वीकार किया है, परन्तु कतिपय प्रसगो मे नवोद्भावना का चमत्कार भी देखने को मिलता है। जब राम अयोध्या मे लौट कर आते हैं तो भरत का यह उपालम्भ कितनी अभिन्न आत्मीयता से भरा हुआ प्रतीत होता है

हरण हुआ भाभी का फिर भी मुझे स्मरण तक नहीं किया,
और कुशल सन्देश हमें लक्ष्मणजी का भी नहीं दिया,
रण में सबको बुला लिया, पर मेरी याद नहीं आई
उसी पिता का पुत्र कहो, क्या था न आपका ही भाई ?

राम का उत्तर केवल भरत का निरुत्तर ही नही करता, उसे गुरुतर गौरव-गरिमा से भूषित भी कर देता है

कर प्रजाजनो का संरक्षण
तू ने भारी गौरव पाया,
मैं एक सिया को पूर्णतया
वन में न सुरक्षित रख पाया।

इसी प्रकार-सीता त्याग के प्रसग मे राम केवल सुनी-सुनाई बातो पर ही निर्भर न रह कर, स्वय छद्मवेश बना कर अयोध्या के जन-समाज मे घूमते है। सीता-त्याग के मूल मे स्थित लोकापवाद के आतक को घटनात्मक आधार देने के लिए विभिन्न कृतिकारो ने धोबी के वृत्तान्त, रावण के चित्र, भृगु-शाप, शुक-शाप आदि की कल्पनाए कर डाली है। धोबी के वृत्तान्त का प्राचीनतम उल्लेख सोमदेवकृत 'कथा सरित्सागर' मे मिलता है और सम्भवत मूल ग्रन्थ गुणाढ्य की 'बड्ढ कहा' मे भी रहा होगा। सीता के पास रावण का चित्र मिलने की घटना का वर्णन सर्वप्रथम हेमचन्द्राचार्य के 'जैन रामायण' में मिलता है। आचार्यश्री तुलसी ने प्रसगत रावण के चित्र और धोबी के वृत्तान्त का भी उल्लेख किया है। वास्तविकता तो यह है कि सीता-त्याग का मूल कारण लोकापवाद का आतक ही रहा है, जिसे प्रसिद्ध राजनीति-शास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल ने जन-मत का अत्याचार (Tyranny of the Public opinion) कहा है। आचार्यश्री तुलसी ने जड़जनता की मूढ मतवादिता का मर्मग्राही चित्रण इन पक्तियो मे किया है

है प्रवाह गडरी जनता का,
अस्थिर ज्यों शिखरस्थ पताका।
क्षण में इधर-उधर हो जाती,
नहीं सही चिन्तन कर पाती।

'अग्नि-परीक्षा' के कला-पक्ष का मूल्याकन करते हुए हमे यह स्मरण रखना होगा कि एक धर्माचार्य होने के नाते आचार्यश्री तुलसी कला-पक्ष को ऐकान्तिक महत्त्व नही दे सकते थे। इसमे जो कलात्मक उत्कर्ष है, वह तो सहज सिद्ध है। आचार्यप्रवर की दृष्टि से काव्य का आनन्द चाहे गौण न हो, परन्तु उसका नैतिक मूल्य सर्वोपरि है। परन्तु काव्य धार्मिक होने पर भी काव्य ही रहता है, उसमे नैतिक प्रबोधन भी होता है तो कलात्मकता के माध्यम से ही होना है। 'अग्नि-परीक्षा' की सफलता इसीमे है कि इसमे एक धर्म-भावना से अनुप्राणित कथा का निर्वाह भी विशुद्ध मानवीय भाव भूमिका

पर हुआ है। धर्म-भावना काव्य के नीर मे ही क्षीर की तरह सम्मिश्रित हो गई है। वह ऊपर से आरोपित अनुभव नही होती। हाँ, अलकार-विधान के अन्तर्गत जैन धर्म के सिद्धान्तो एव दार्शनिक तथ्यो का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। महाकवि तुलसीदास ने भी नैतिक एव दार्शनिक तथ्यो का निरूपण इसी प्रकार उपमानो के रूप मे यथाप्रसङ्ग किया है। यथा—"बूद अघात सहे गिरि कैसे, खल के वचन सन्त सह जैसे।" 'अग्नि-परीक्षा' मे आचार्यश्री तुलसी ने परम्परागत एव रूढ उपमानो का परित्याग कर अपने अलकार-विधान को कही-कही जैन-दर्शन की तात्त्विक मान्यताओ पर आधारित किया है। इससे जहाँ अलकार-विधान मे एक प्रकार की नवीनता और विलक्षणता का समावेश हुआ है, वहाँ एकाध स्थान पर दुर्बोधता भी आ गई है। कुछ पक्तियाँ तो वास्तव मे बडी ही चामत्कारिक एव अनुरञ्जनकारी बन पडी है। लक्ष्मण राम से कहते है

अभवी मुक्त बने, अलोक मे चाहे पुद्गल दौड़े।
तो भी कभी न जँचता भाभी अटल पतिव्रत तोड़े।

. . . .

शोभित माँ की गोद में दोनों पुण्य-निधान।
होते ज्यों चारित्र्य में सम्यग् दर्शन-ज्ञान।

कही-कही गूढ दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण उपमान दुर्बोध हो गए है, परन्तु जैन-दर्शन की सामान्य मान्यताओ से परिचित पाठको के लिए ये रसपूर्ण ही सिद्ध होगे। यथा

स्वल्प-सी भी वृष्टि होती, सिद्ध अत्युपयोगिनी,
सजग मुनि की क्रिया, संवर-निर्जरा संयोगिनी।

भारतीय साहित्य मे तो वैद्यक, गणित और ज्योतिष-शास्त्र से भी उपमानो का चयन करने की प्रवृत्ति रही है, अत. आचार्यश्री तुलसी का यह अलकार-विधान कुछ नवीनता और विलक्षणता लिए हुए होने पर भी अप्रतीत्व दोष का द्योतक नही है।

लोक-जीवन के निकट सम्पर्क मे रहने के कारण आचार्यश्री तुलसी ने अग्नि-परीक्षा मे मुहावरो और लोकोक्तियो का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। मुहावरेदानी की दृष्टि से 'अग्नि-परीक्षा' खडी बोली के किसी भी काव्य से टक्कर ले सकती है। 'कामायनी' मे तो जैसे मुहावरो का अकाल ही है। कुछ मुहावरे और लोकोक्तियाँ सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती है .

१ पूर्ण भर कर घडा जैसे फूटता है पाप का।
२ चढे और पैदल दोनो की लोक मजाक उडाते।
३ एक गुफा मे दो-दो मृगपति, एक म्यान मे दो तलवार।
४. भर बूँद-बूँद से घड़ा, बड़ा वह देश-राष्ट्र निर्माता है।

कही-कही भाषा का सहज सरल प्रवाह ही बडा प्रभावकारी बन गया है। यथा .

लेना है या लाए हो, भाड़े के पकड़-पकड़ रँगरूट,
केवल भगना ही सीखे, ये मानो रेगिस्तानी ऊँट।

प्रकृति-वर्णन को 'अग्नि-परीक्षा' मे प्रमुखता तो प्राप्त नही हो सकी है, परन्तु जहाँ कहीं आचार्यश्री तुलसी ने प्रकृति को ओर दृष्टिपात किया है, उन्होने कुछ बिम्बग्राही चित्र उपस्थित करने मे सफलता प्राप्त की है। कुछ स्थल तो निराला की 'राम की शक्ति पूजा' के 'उगलता गगन घन अन्धकार' का स्मरण कराते है। प्रकृति वर्णन प्राय सर्वत्र कथा-प्रवाह को पूर्व-पीठिका देने के लिए ही उपयुक्त हुआ है। परन्तु सधी हुई कलम से दो-चार रेखाओ मे ही जो चित्र अकित किए गए है, वे हमारे सम्मुख पूर्ण बिम्ब उपस्थित करने मे समर्थ है .

अभ्र, अवनी, सर-सरोरुह, श्रान्त-शान्त नितान्त थे,
सरित्, सागर-शब्द रह-रह हो रहे उद्भ्रान्त थे।

विहग, पन्नग, द्रुय-चतुष्पद, सर्वतः निस्तब्ध थे,
हुई परिणत गति स्थिति में, शब्द भी निःशब्द थे।

अन्तिम पक्ति मे शब्द भी नि शब्द थे कह कर नीरवता की पराकाष्ठा को सूचित किया गया है। प्रकृति-वर्णन अधिकतर पात्रगत भावनाओ के अनुरूप ही हुआ है। सिहनाद-वन की दुर्गमता, निर्जनता और भयकरता का प्रस्तुत वर्णन वातावरण के भयकारी प्रभाव को और भी गहरा कर देता है

वन-बिडाल, शृगाल शूकर हैं परस्पर लड़ रहे,
द्विरद मद झरते कहीं दन्तूशलों से भिड़ रहे।
प्रबल पुच्छाछोट करते कहीं मृगपति घूमते,
भेड़िये, भाल, भयकर, घोर श्वापद झूमते।

'पुच्छाछोट' आदि व्यजक शब्दो का चयन भी ऐसा किया गया है कि जो एक भयकारी वातावरण का बोलता हुआ चित्र उपस्थित कर देता है। अग्नि-परीक्षा के प्रसग मे अग्नि-कुण्ड के वर्णन मे भी लेखनी से तूलिका और शब्दो से रेखाओ का काम लिया गया है

अम्बर से अम्बर मणि की, नव किरणें भू पर उतर रहीं,
अग्नि-कुण्ड की ज्वालायें, अम्बर छूने को उभर रही।

आलोच्य काव्य मे सर्ग बद्धता तो अवश्य है, परन्तु परम्परागत शास्त्रीय विधान के अनुसार एक सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग नही किया गया है। छन्दोभेद सर्गान्त मे न होकर स्थान-स्थान पर स्वच्छन्दतापूर्वक होता गया है। हाँ, छन्दोभेद के पीछे भाव-भेद की प्रकृत प्रेरणा अवश्य विद्यमान है। सम्भवत 'अग्नि-परीक्षा' के सुधी सम्पादक ने इसमे गीतो का बाहुल्य देखकर ही इसे प्रगीत काव्य कहा है। अन्यथा, यह प्रगीत काव्य न होकर एक कथा-काव्य ही है, जिसमे यथास्थान भाव-प्रकाशन के लिए लोक-लयाश्रित गीतो का आश्रय लिया गया है। अन्यथा, वास्तविकता यह है कि 'अग्नि-परीक्षा' को उस रूप मे प्रगीत-काव्य (Lyrical Poetry) नही कहा जा सकता, जिस अर्थ मे कालिदास के मेघदूत, प्रसाद के आँसू और साकेत के नवम सर्ग को कहा जा सकता है। इसमे भावना की प्रगीतात्मक तरलता, सूक्ष्मता एव कोमलता के स्थान पर घटनाश्रित कथात्मकता का प्राधान्य है। कथानुबन्ध की दृष्टि मे भी यह प्रगीतात्मक (Lyrical) की अपेक्षा महाकाव्यात्मक (Epic) ही अधिक है।

'अग्नि-परीक्षा' हिन्दी की राम-काव्य-परम्परा मे एक अद्यतन कृति के रूप मे साहित्य-समीक्षको का ध्यान अवश्य ही आकृष्ट करेगी। सभवत आधुनिक भारतीय भाषाओ मे जैन परम्परानुवर्ती राम-काव्य का यह प्रथम प्रयोग है। परन्तु यह सर्वथा परम्परानुवर्तिनी कृति नही है, इसमे आधुनिक युग की प्रबुद्ध नारी-चेतना का साक्षात्कार होता है और जीवन के बदलते हुए मूल्यो का इस पर स्पष्ट प्रभाव है। एक धर्माचार्य की कृति होने के नाते इसके साहित्यिक एव कलात्मक मूल्य मे कोई अन्तर नही पडता। हिन्दी-ससार अब आचार्यश्री तुलसी को एक प्रबन्धकार के रूप मे पहचानने लगा है और उनकी आगामी कृतियो की भी उत्साहपूर्वक प्रतीक्षा की जाएगी। हिन्दी के अद्यतन काव्य-रूपो एव काव्य-प्रवृत्तियो के निकट सम्पर्क मे आने के लिए यथेष्ट समय का अभाव रहते हुए भी आचार्यप्रवर ने साहित्य-साधना को अपने जीवन मे एक प्रमुख स्थान प्रदान किया है। उनके तेरापथ सम्प्रदाय के साधुओ एव साध्वियो मे काव्याराधना की प्रवृत्ति बहुत दिनो से चल रही है।

'अग्नि-परीक्षा' मे सती सीता के अमल धवल चरित्र को उसकी अग्नि-स्नान पवित्रता मे प्रस्तुत किया गया है। उसमे नारीत्व की चिरन्तन महिमा और उसके ज्वलन्त तेज का आख्यान है। इस पाषाणमय ससार मे निरन्तर प्रहार सहन करते हुए भी नारी ने अपने हृदय की नवनीत कोमलता को अक्षुण्ण बनाये रखा है।

पुरुष-हृदय पाषाण भले ही हो सकता है,
नारी-हृदय न कोमलता को खो सकता है।

पिघल-पिघल उनके अन्तर को धो सकता है,
रो सकता है, किन्तु नहीं वह सो सकता है।

परन्तु नारी के लिए उसकी ममता और मधुरिमा, उसकी सेवा और समर्पण युग-युग मे अभिशाप ही सिद्ध हुए है। स्वय शक्ति की प्रतीक होते हुए भी जैसे वह अपने आत्म-बल को भूली हुई है। इस जागृत आत्म-चेतना के अभाव मे ही उसका बलिदान आज बकरी का बलिदान बनता जा रहा है। स्वय बलि होने मे नारी का गौरव रहा होगा, परन्तु पुरुष के द्वारा बलि किए जाने मे तो उसके भाग्य की विडम्बना ही है। 'अग्नि-परीक्षा' की सीता अपने प्रकृत धर्म का पालन करते हुए अपने आपको मिटाने मे कही पीछे नही हटती है, परन्तु वह बकरी की तरह मिमियाती नही है, उसकी वाणी मे वज्र का गर्जन है और अग्नि-कुण्ड की लपलपाती हुई लपटो के सामने वह नारी-जीवन के एक महान सत्य का प्रत्यक्षीकरण करती है :

जागृत महिला का महत्त्व, इस महि-मंडल पर अमल रहा,
जिसने प्राण-प्रहारी संकट, प्रण को रखने सदा सहा,
उसके यश का उज्ज्वल अविरल अविकल अविचल स्रोत बहा,
दिखलाया है हृदय खोलकर, समय-समय वीरत्व महा,
कड़ी जुड़ेगी उसमें मेरे इस उन्नत अभियान की।
बलिदानों से रक्षा होगी नारी के सम्मान की।

आत्म-बलिदान के द्वारा आत्म-सम्मान की रक्षा करने वाली जागृत महिला सती सीता के उज्ज्वल यश का यह काव्य-स्रोत प्रवाहित करने के लिए हिन्दी-जगत् आचार्यश्री तुलसी का चिर आभारी रहेगा। आशा है, जीवन के शाश्वत सत्यो के प्रकाश मे सम-सामयिक समस्याओ के समाधान की ओर इङ्गित करने वाले और कई महाकाव्य आपकी पुण्य-प्रसू लेखनी से प्रसूत होगे।

श्रीकालू यशोविलास

डा० दशरथ शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय

चरित-लेखन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारत ने जिस किसी वस्तु या व्यक्ति को आदर्श रूप मे देखा, उसे जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। एक आदर्श वीर, एक आदर्श राजा, एक आदर्श पुरुष विशेष का चरित चित्रित करने के लिए महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। जैन सम्प्रदाय ने भी उसी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए केवल तीर्थकरो के ही नही, अनेक शलाका-पुरुषो के चरित भी हमारे सामने प्रस्तुत किये। चाहे तो हम यह भी कह सकते है कि हमारा इतिवृत्त लिखने का ढग प्रायश आदर्शानुप्राणित रहा है। प्राचीन काल मे अनेक अन्य शूरवीर, योद्धा और राजा भी हुए है। किन्तु भारत ने उन्हे भुला दिया है। उसके लिए यही पर्याप्त नही है कि किसी व्यक्ति ने जन्म लिया, राज्य किया या युद्ध किया हो, वह उसमे कुछ और विशिष्टता ढूढता है उसमे वह विशिष्टता न हो तो उसके लिए ऐसे व्यक्तियो का होना या न होना एक बराबर है।

ख्याति-प्रिय राजाओ ने इस प्रवृत्ति के परिहार-रूप मे अनेक प्रशस्तियो, ताम्रपत्रो और दरबारी कवियो के काव्यो द्वारा अपने को अमर करने का प्रयत्न किया है। हर्षचरित, नव साहसाक चरित, विक्रमाक देव चरित, द्वयाश्रय-काव्य, पृथ्वीराज विजय काव्य आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ है, जिनमे राजाओ का यशोगान पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान है। किन्तु ये ग्रन्थ भी वर्णित राजाओ की महत्ता से नही, अपितु बाण, बिल्हणादि कवियो के कवित्व के कारण जीवित है। आदर्शानुप्राणित भारत के जीवन मे अमरत्व उसी कृति को मिलता है, जो हमारे सामने किसी आदर्श को उपस्थित करे। विशेषत जैन सम्प्रदाय मे तो देवाधिदेव वही है जो अज्ञान, क्रोध, मद, मान, लोभादि अठारह दोषो मे मुक्त हो। उसी के गुणगान मे आनन्द है। उससे ही जरामरणादि दु खो मे सन्तप्त लोगो को कुछ लाभ हो सकता है, उसी के प्रभाव मे प्रभावित होकर जनता कैवल्य मार्ग की ओर उन्मुख हो सकती है। सम्भवत इसी बात को ध्यान मे रखते हुए आचार्यश्री तुलसी ने अपने दिवगत गुरु आचार्यप्रवर श्री कालूरामजी का चरित 'श्रीकालू यशोविलास' मे प्रस्तुत किया है। भाषा भी मुख्यत राजस्थानी ही रखी गई है, जिससे सस्कृत और प्राकृत मे अनभिज्ञ व्यक्ति भी आचार्यवर के उपदेश और जीवन से पूर्ण लाभ उठा सके। शास्त्रो के अवतरण मूल अर्धमागधी आदि मे है। किन्तु उनके साथ ही उनका राजस्थानी अनुवाद भी प्रस्तुत है।

काव्य का संक्षिप्त वृत्त

काव्य छः उल्लासो मे विभक्त है। पहले उल्लास का प्रारम्भ तीर्थकर नाभेय, शान्तिनाथ और महावीर एव स्वगुरु श्री कालूगणी को नमस्कार करके किया गया है। इसके बाद मरुस्थल, मरुस्थल के नागरिक और श्री कालूगणी की जन्मभूमि छापर (बीकानेर, राजस्थान) का वर्णन है। इसी नगर मे ओसवशीय चोपड़ा जाति के बुधसिह कोठारी थे। इनके द्वितीय पुत्र मूलचन्द और कोटासर के नरसिहदास लूणिया की पुत्री छोगा बाई के सुपुत्र हमारे चरित नायक श्री कालूगणी ने वि० स० १९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया गुरुवार के दिन अत्यन्त शुभग्रहादि युक्त समय मे जन्म लिया। इनका जन्म नाम शोभाचन्द था, किन्तु माता-पिता प्रेम से इन्हे कालू कहते। १९३४ मे मूलचन्दजी के दिवगत होने पर माँ इन्हे अपने पीहर ले गई। वही बाल्यकाल से ही उनमे वैराग्य की भावना बढ़ने लगी।

इसी समय तेरापंथ के पंचम आचार्यश्री मघवागणी का सरदार शहर मे चातुर्मास हुआ और माँ, मासी आदि के साथ जाकर कालूगणी ने उनके दर्शन किये। श्री कालूगणी की आकृति आदि से श्री मघवागणी इतने प्रभावित हुए कि वे तदनन्तर उन्हे न भूले। संवत् १६४४ की आश्विन शुक्ल तृतीया के दिन स्वाति नक्षत्र मे खूब बाजे गाजे के साथ बीदासर मे उनकी दीक्षा हुई। गुरु के साथ उन्होने अनेक स्थानों मे विहार किया। सवत् १६४६ मे मघवागणी का शरीर अस्वस्थ हुआ। कालूरामजी की आयु उस समय छोटी थी। इसलिए मघवागणी ने चैत्र कृष्ण द्वितीया के दिन श्री माणिकगणी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। पचमी के दिन श्री मघवागणी का स्वर्गवास हुआ। श्री कालूगणी को इसमे महान् दुःख हुआ।

सवत् १६४६ की चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन माणिकगणी पट्टाधिकारी बने। श्री कालूगणी ने उनकी समुचित सेवा की। सवत् १६५३ के आश्विन मास मे श्री माणिकगणी का शरीर रुग्ण हुआ, किन्तु कर्तव्यनिष्ठ गणीजी ने इस पर कुछ ध्यान न दिया और कार्तिक कृष्णा तृतीया के दिन असार ससार का त्याग कर दिया। चतुर्विध सघ ने मिलजुल कर श्री डालिमगणी को सघपति बनाया।

श्री डालिमगणीजी की सेवा मे रहते हुए श्री कालूगणी ने अनेक स्थानो पर अपने प्रभावी व्याख्यानो से लोगो को रजित किया। इस समय इन्होने बगड के प० घनश्यामजी से सस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया और हेम कोष—अभिधान चिन्तामणि, उत्तराध्ययन एव नन्दी (सूत्र) आदि को कण्ठस्थ किया। बारह वर्ष तक कालूगणी ने श्री डालगणी की सेवा की। १६६४ मे डालगणी चन्देरी पहुँचे। वही वे अस्वस्थ हो गये। स० १६६६ की भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के दिन स्वर्गत हुए। सघ ने श्री कालूगणी को सिहासन पर बैठाया। श्री डालगणी के सम्वत् १६६६ प्रथम श्रावण वदी १ के पत्र मे भी उन्हे यही सम्मति मिली।

भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन कालूगणी जी का पाटोत्सव चन्देरी नगर मे हुआ। इन्होने प्रथम याम मे उत्तराध्ययन का और रात्रि के समय रामचरित का व्याख्यान किया। चन्देरी के बाद अनेक स्थानो मे विहार कर कालूजी ने लोगो को उपदेश दिया और दीक्षित किया।

द्वितीय उल्लास का आरम्भ श्री महावीर स्वामी के स्मरण से है। सम्वत् १६६८ मे कालूगणी ने बीदासर मे चातुर्मास किया और अनेक योग्य साधु और साध्वियो को दीक्षित किया। १६६६ का चातुर्मास चूरु मे और १६७० का चन्देरीमे हुआ। यही से ये बीकानेर मे धर्म की प्रभावना के लिए पहुँचे। राज्य के बडे-बडे सरदारो और उच्च राज्य कर्मचारियो ने इनके दर्शन किये और अनेक दीक्षाए हुई।

इन्ही दिनो जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान्, जैन शास्त्र के महान् पण्डित और अनेक जैन धर्म-ग्रन्थो के अनुवादक डा० हर्मन याकोबी भारत पहुँचे और लाडनूं मे श्री कालूगणी के दर्शनार्थ आये। श्री कालूगणी ने याकोबी महोदय के अनेक सन्देह स्थलो की इतनी विशद व्याख्या की कि उस विद्वान् का हृदय कृतज्ञता से पूर्ण हो गया और उसे यह भी निश्चय हो गया कि तेरापथ ही जैन धर्म का सच्चा स्वरूप है। जूनागढ मे जाकर भरी सभा मे याकोबी महोदय ने यह भी घोषित किया कि आचाराग के अन्तर्गत मत्स्य और मास का अर्थ उसने सम्यक् रूप से कालूगणीजी से ही समझा है।

इसी अवसर पर जोधपुर राज्य ने नाबालिगो की दीक्षा पर प्रतिबन्ध लगाया और २१ मार्च सन् १६१४ के गजट मे ऐसी दीक्षा के विरुद्ध अपनी आज्ञा प्रसारित की। तेरापथ के युक्ति युक्त विरोध के कारण यह आज्ञा कैन्सिल (रद्द) की गई। यू० पी० काउसिल ने भी नाबालिगो की दीक्षा को रोकने के लिए प्रस्ताव पास किया और कानून तैयार करने के लिए आठ सदस्यो की एक कमेटी नियुक्त की। श्री कालूगणी से आशीर्वाद प्राप्त कर तेरापथ के गणमान्य सज्जन इलाहाबाद पहुँचे और अपनी युक्तियाँ दी। इतने मे यूरोप का प्रथम महायुद्ध छिड गया और प्रस्ताव बीच मे ही लटक गया। यू० पी० में कानून के प्रस्तावक ला० सुखबीरसिह जब दिल्ली काउंसिल के मेम्बर बने तो वहाँ भी यह प्रश्न उठा। तेरापथी धर्मवीरों के प्रयास से यह बिल पास न हुआ।

चित्तौड में श्री कालूगणी ने अमल के काँटे के अफसर को प्रबोधित किया। भगवती सूत्र के आधार पर वहां यह भी सिद्ध किया कि जीव के नाम तेईस हैं। इसी प्रकार रायपुर में आचारांग से उद्धरण देकर उन्होने दया का ठीक स्वरूप

समझाया। जिसने भिक्षुक वेष धारण किया है उसे किसी के सुख और दुःख से कोई लगाव नहीं है। कहीं लड़ाई हो या आग लगे—ये दोनो ही उसके लिए उपेक्षा के विषय है।

उदयपुर मे विपक्षियो ने तेरापथ के विषय मे अनेक अफवाहे फैलाईं, किन्तु वास्तविक सत्य के सामने वे ठहर न सकी। वहाँ से विहार कर श्री कालूगणी ने एक सौ अडतीस गाँवो को अपनी चरण-रज से पवित्र किया। आउवे मे सूत्रकृताग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध छठे अध्ययन के निर्दिष्ट पाठ को पढ कर उन्होने सिद्ध किया कि उसमे कही प्रतिमा का उल्लेख नही है।

स० १६७३ मे चातुर्मास जोधपुर मे और १६७४ मे सरदारशहर मे हुआ। यही इटली के विद्वान् डा० टेसीटरी ने आपके दर्शन किये। अगला चातुर्मास चूरू मे हुआ। यही आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न प० रघुनन्दन जी आपकी सेवा मे आये। रतनगढ़ मे गणेश्वर ने पडित हरिदेव के व्याकरण-ज्ञान का मद दूर किया। १६७६ मे बीदासर मे चातुर्मास हुआ। इसके बाद सरदार शहर, चूरू आदि शहरो मे होते हुए आपने हरियाणे के अनेक नगरो और ग्रामों मे विहार किया। १६७७ के भिवानी के चातुर्मास मे कार्तिक कृष्णाष्टमी के दिन कई दीक्षाओ का मुहूर्त निश्चित हुआ। विरोधियो ने दीक्षाओ के विरोध मे सभा की, किन्तु दैववश उसी समय आकाश मे एक गोला गिरा। लोगो मे भगदड पड गई। दीक्षाए नियत समय पर हुईं। १६७८ का चातुर्मास रतनगढ मे हुआ। दूसरे स्थानो की तरह यहाँ भी अनेक दीक्षाए हुईं। इसके बाद बीदासर, डूँगरगढ, गगाशहर आदि मे इन्होने सवत् १६७६ मे विहार किया। भीनासर मे स्थानकवासी कनीरामजी बाँठियाँ से चर्चा हुई। फिर चौमासे के लिए बीकानेर पहुँचे।

तीसरे उल्लास का आरम्भ जिनेन्द्र की मुखभारती को प्रणाम कर हुआ है। बीकानेर मे विरोधियो ने यत्र तत्र उनके विरुद्ध खूब पत्र बँटवाए और चिपकाए। फिर भी दीक्षामहोत्सव बडे आनन्द से सम्पन्न हुआ। ज्येष्ठ मे जयपुर वाटी मे आपने विहार किया। चातुर्मास जयपुर मे हुआ और माघोत्सव सुजानगढ मे। इक्यासी की साल मे फिर चूरू मे चातुर्मास हुआ। जब आप राजगढ पहुँचे तो अमेरिकन प्रोफेसर गिल्की ने आपके दर्शन किये और तेरापथ के बारे मे जानकारी प्राप्त की। माघ मास मे गुरुवर सरदारशहर पहुँचे।

मार्गशीर्ष मे श्री कालूगणी लाडनूं पहुँचे और धन लग्न मे काव्य-कर्ता तुलसी और उनकी बहन एक साथ दीक्षित हुए। इसके बाद के विहार मे तुलसी सदा गुरु सेवा मे रहे। इन्हीं दिनो थली देश मे एक महान् द्वद्व मच गया। गुरुवर ने एक मास तक लगातार प्रयास किया। जिससे श्राद्ध समाज मे अच्छी जागृति हुई। माघ-महोत्सव चूरू मे हुआ। स्थानक वासी साधु-साध्वी सभोग सम्बन्धी शास्त्रार्थ मे परास्त हुए। इस चर्चा मे भगवानदास मध्यस्थ थे। चूरू मे श्रीकालूगणी रतनगढ और राजलदेसर पहुँचे। अगला चातुर्मास छापर मे हुआ। १६८६ का चातुर्मास सरदारशहर मे हुआ।

चतुर्थ उल्लास का आरम्भ मूलसूत्र श्री कालूगणी के नमस्कार से है। १६६० मे सुजानगढ मे चातुर्मास करने के बाद आचार्यजी ने जोधपुर राज्य मे विहार किया। छापर, बीदासर, लाडनूं, सुजानगढ, डीडवाणा, खाटू, डेगाणा, बलून्दा पीपाड, पचपदरादि होते हुए अपने वैदुष्य और सयमपूर्ण साधु परिवार के साथ गणिवर आगे बढे और टलोकरो द्वारा विस्तारित मिथ्या प्रचार का उद्भेदन कर जोधपुर पहुँचे। १६६१ का चातुर्मास वही हुआ। चारो ओर से लोग दर्शनार्थ एकत्रित हुए। बाईस दीक्षाओ का निश्चय हुआ। इसके विरुद्ध प्रतिपक्षियो ने खूब आन्दोलन किया। गणीजी ने जैन सिद्धान्त के अनुसार ऐसी दीक्षाओ का समर्थन किया और लोगो को बताया कि आठ वर्ष से अधिक बालक-बालिकाओ की दीक्षा सर्वथा विहित है। स्मृतियो मे भी ऐसी दीक्षाओ का विधान है। नव वार्षिक बालक कच्चे भाण्ड की तरह है जिसे उचित रूप से सस्कृत किया जा सकता है। वह काली कम्बल नही है जिसे रगा न जा सके। बडी आयु मे दीक्षित होने पर मार्गभ्रष्ट होने की सम्भावना अत्यधिक है। महावीर स्वामी से दीक्षित होने पर भी उनका जामाता जमाली मार्गभ्रष्ट हो गया। लोग इन युक्तियो से प्रभावित हुए बिना न रह सके। कार्तिक कृष्णा अष्टमी के दिन ये बाईस दीक्षाए सोत्सव सम्पन्न हुईं। फिर काण्ठा देश के सुधरीपुर मे मर्यादोत्सव पूर्ण कर और दुरारोह मेवाड की पर्वतमाला को पार कर सब भिक्षुगण सहित श्री कालूगणी सवत् १६६१ के चातुर्मास के लिए उदयपुर पहुँचे। महाराणा भूपालसिंह अपने लवाजमे सहित आषाढ शुक्ला चतुर्थी के दिन आपके दर्शनार्थ आये और आपका उपदेश सुन कर कृतार्थ हुए।

पाँचवाँ उल्लास भी धर्माचार्य कालूजी को नमस्कार करके आरम्भ किया गया है। कार्तिक कृष्णा पचमी के दिन महोत्सवपूर्वक पन्द्रह दीक्षाए सम्पन्न हुई। इनमे तीन पुरुष और बारह स्त्रियाँ थी। उदयपुर से विहार कर श्री कालूगणी मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष मे राजनगर पहुँचे और साधु-साध्वियों के वार्षिक व्यतिकर के बारे मे पूछकर उनके उत्साह की वृद्धि की। इसके बाद मालव सघ की अभ्यर्थना से गणीजी ने मालव देश मे प्रवेश किया। सादडी, नीमच छावनी, मह छावनी, मन्दसौर आदि होते हुए आप माघ कृष्णा चतुर्थी के दिन जावर पहुँचे। वहाँ सबके सामने आपने तेरा-पथ के सिद्धान्तो का सयुक्तिक व्याख्यान किया। इससे बिना उत्तर और प्रत्युत्तर के लोगों का सशय दूर हुआ। वहाँ से माघ शुक्ला सप्तमी के दिन आप रतलाम पहुँचे। विद्वेषियो ने बहुसख्यक लेख आपके विरुद्ध निकाले। प्रश्नकारियो का उचित समाधान कर गणेश्वर बडनगर पहुँचे। यहाँ महान् मर्यादामहोत्सव सम्पन्न हुआ। माघ पूर्णिमा के दिन आपने उज्जैन के लिए विहार किया। फिर इन्दौर आदि नगरो मे देशना देते हुए १२१ गाँवो का चक्कर लगाकर आप फिर रतलाम पहुँचे। वहाँ रतलाम के दीवान आदि आपके दर्शनार्थ आये। चार मास तक इस प्रकार आपने मालव भूमि को अपने उपदेशामृत का पान करवाया। वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन आपने मेवाड की ओर विहार किया। सवत् १९९३ का चातुर्मास गगापुर के लिए निश्चित हुआ।

इसी समय गणीजी के बाए हाथ की तर्जनी अगुली मे फुन्सी होकर पीडा हो गई। यह पीडा बढती गई। आपरे-शन करना आवश्यक हो गया। किन्तु इसी कार्य के लिए लाए हुए औजारो को प्रयुक्त करना विधानानुकूल न था। अत कलम बनाने के चाकू से मगन मुनिजी ने डाक्टर के कथनानुसार चीरा दिया। गुरुजी भीलवाडे पहुँचे। अनेक डाक्टर और श्रद्धालु भी वहाँ आए। डाक्टर अश्विनीकुमार ने मधुमेह का निदानकर व्रणविरोपण के लिए एक औषधि विशेष का विधान किया। किन्तु जैन व्रतव्रती कालूजी ने उसका सेवन स्वीकार न किया। न वे उस स्थान पर ठहरे। गगापुर मे चातुर्मास करना उन्होने स्वीकृत किया था। इसलिए वही जाना उन्होने निश्चित किया।

छठे उल्लास का आरम्भ गुरुवन्दना मे है। गुरु कष्टमय मार्ग को पार कर गगापुर पहुँचे। सवत् १९९३ का चातुर्मास वही हुआ। वर्षाकाल मे व्रण का और विस्तार हुआ और अस्वास्थ्य बढने लगा। किन्तु इतना होने पर भी उपदेश का कार्य सततरूप से चलता रहा। ग्रन्थकर्त्ता तुलसीजी ने भी उनके आदेश मे श्रावण शुक्ला दशमी के दिन रामचरित का व्याख्यान आरम्भ किया। इसी समय आशु कविरत्न आयुर्वेदाचार्य प० रघुनन्दनजी वहाँ आये। नाडी परीक्षा के बाद उन्होने तीव्र औषधों के प्रयोग से चिकित्सा आरम्भ की। फिर उन्होने जयपुर निवासी दादूपथी लक्ष्मीरामजी राजवैद्य को सम्मति के लिए इक्कीस श्लोको मे एक पत्र लिखा। इसका उत्तर लक्ष्मीरामजी ने छ श्लोको मे दिया। औषध की अदल-बदल से कुछ लाभ हुआ। किन्तु फिर औषध कार्यकर न होने लगी। डाक्टर अश्विनीकुमार भी कलकत्ते से आये। उन्होने और प० रघुनन्दनजी ने भी रोग की असाध्यता का अनुभव किया। भाद्रपद की अमावस्या के दिन श्री कालूगणी ने तुलसीजी को भिक्षुगण का भार सँभालने की आज्ञा दी। फिर गुरुवर ने श्रमण वर्ग को अन्तिम शिक्षा दी। एकान्त मे काव्यकार को भी बहुत तरह से उपदेश दिया। तृतीया के प्रात काल मे गणेश्वर ने अपने हाथ से युवराज पद-पत्र मे तुलसी राम को अपना पट्टाधिकारी लिखकर युवराज बनाया। इस पत्र की पूरी नकल ग्रन्थ मे वर्तमान है। मगन मुनि ने यह लेख सबको सुनाया। देह-त्याग से पूर्व गणरक्षा के विषय मे श्री कालूगणी ने तुलसीजी को फिर शिक्षा दी। नाडी डगमगा रही थी तो भी गणाधिप ने यह सब व्यवस्था की।

सब प्रदेशो के लोग अब गंगापुर मे आकर एकत्रित हो गए थे। सभी उनकी दृढता देखकर चकित थे। तीज की रात्रि मे सावत्सरिक उपवास को धारण कर छठ की प्रात काल मे आपने पारण किया। सायकाल के समय भगवान् अरिहन्त की शरण ग्रहण कर सचेत अवस्था मे श्री कालूगणीजी ने शरीर-त्याग किया। अन्त्येष्टि के समय लगभग ३६ हजार व्यक्ति उपस्थित थे।

ढाल १६वी और १७वी मे फिर कालूगणी का सक्षिप्त जीवनवृत्त और उनके समय की तपश्चर्यादि का वर्णन है।

समालोचनात्मक कुछ शब्द

पिछली पंक्तियो मे हमने सक्षिप्त रूप मे 'श्री कालूयशोविलास' का वृत्त दिया है। इसके समालोचन के लिए उपर्युक्त व्यक्ति तेरापथ दर्शन का कोई अच्छा ज्ञाता ही हो सकता है। किन्तु मध्यस्थ भाव से अपनी शक्ति के अनुरूप मैं भी कुछ शब्द कहना उचित समझता हूँ और कुछ नही तो उससे आदेश का पालन तो हो सकेगा।

कोई काव्य अच्छा बना है या नही इसे देखने के लिए हमे उसके प्रयोजन के विषय मे विचार करना चाहिए। सभी काव्यो के लिए एक मापदण्ड नहीं होता है। यह अवश्य है कि काव्य जितना अधिक विश्वजनीन हो, उतनी ही उसकी महत्ता अधिक बढती है। उसमे वह विश्वहित की दृष्टि रहती है जो स्वत उसे उच्चासन पर स्थापित करती है। इसके अतिरिक्त काव्य-शब्दाभिधेय कृतियो मे सच्चा काव्यत्व भी होना चाहिए। केवल पद्यो मे ग्रन्थित होने से कोई कृति काव्य नही बनती।

कई कवि यश के लिए काव्य-रचना करते है, कई धन के लिए, कई अमगल की हानि के लिए, कई कान्ता-सम्मत-शब्दो मे उपदेश प्रदान के लिए और कोई स्वान्त सुख के लिए। श्रीकालू यशोविलास के रचयिता न यश प्रार्थी है और न धनाभिलाषी। किन्तु चतुर्थोल्लास के अन्त मे आपने यह श्लोक दिया है—

सौभाग्याय शिवाय विघ्न वितत भेदाय पङ्काच्छिदे।
आनन्दाय हिताय विभ्रमशत ध्वसाय सौख्याय च ॥
श्री श्रीकालू यशोविलास विमलोल्लास स्तुरीयोयक।
सम्पन्नः सतत सतां गुण भृतां भूयाच्चिर भूतये ॥१॥

इसमे प्रतीत होता है कि काव्य के अन्य लक्ष्य भी उनकी दृष्टि से दूर नही रहे है। इनके कवि हृदय ने स्वान्त सुख की अनुभूति तो की ही होगी, किन्तु गणनायक के रूप मे सैकडो भ्रान्तियो का उन्मूलन भी उनका अभीष्ट रहा है। गुरुयशोगान और गुरूपदेश को जनता के समक्ष सुस्पष्ट एव सुग्राह्य शब्दो मे रखना इसका एकमात्र ही नही तो कम-से-कम बहुत सुन्दर उपाय तो है। सुललित एव रसात्मक शब्दो मे इनको प्रस्तुत करना मानो सोने मे सुगन्ध भरना है। हमे निश्चय है कि 'श्रीकालू यशोविलास' का समाधान पारायण किसी भी व्यक्ति को तेरापथ के मुख्य सिद्धान्त समझाने के लिए पर्याप्त है। इसके मूलग्रन्थो और टीकाओ के उदाहरण विद्वानो के लिए भी पठनीय और मननीय हैं। ब्राह्मण ग्रथो मे जिस प्रकार रामायण और महाभारत काव्य होते हुए भी धर्मग्रन्थ है, उसी तरह 'श्रीकालू यशोविलास' काव्य के रूप मे ही नही, तेरापथी समाज के धर्मग्रन्थ के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। इसमे युक्तियुक्त रूप से जैन धर्म के तत्त्वो का निरूपण और अपने सिद्धान्तो का मण्डन है। मोक्षमार्ग मे स्त्री का अधिकार, साधु के लिए दया का सच्चा स्वरूप, सुविहित दान, अल्पवय मे भी दीक्षाधिकार और उसकी युक्तियुक्तता आदि स्थल तेरापथी समाज को सदैव उसके सिद्धान्त समझने और विरोधी युक्तियो का शास्त्र और तर्क-सम्मत उत्तर देने का सामर्थ्य प्रदान कर उसकी रक्षा करेंगे। समाज के लिए उससे बढकर 'सौभाग्य शिव (मगल) आनन्द और हित' का विषय क्या हो सकता है?

शुद्ध काव्य के रूप मे भी 'श्रीकालू यशोविलास' सहृदय जनो के हृदय मे स्थान प्राप्त करेगा। इसमे अनेक उत्कृष्ट छन्दो और बन्धो का प्रयोग है। भाषा गभीरार्थमयी होते हुए भी प्रसादगुणयुक्त है। सुन्दर राग और रागनियो मे विभूषित, यह धर्म प्राण जनता का सुमधुर गेय काव्य है। अनेक कण्ठो की स्वरलहरी से नभो मार्ग को प्रतिध्वनित करती हुई इसकी पवित्र ध्वनि एक विचित्र स्फूर्ति उत्पन्न करती होगी।

काव्य अधिकतर अतिशयोक्ति-प्रधान होते है, किन्तु यह काव्य अनेक अलकारो और काव्य-वृत्तियों का समुचित प्रयोग करता हुआ भी असत्य से दूर रहा है। मरुस्थल के लिए कवि ने लिखा है:

रयणीये रेणु कणा शशि किरणां, चलके जाणक चान्दी रे।

रात्री के समय धूलि के कण चादनी मे ऐसे चमकते हैं, मानो चादी हो। किन्तु साथ ही मे कवि ने यह भी कहा है:

मनहरणी धरणी यदि न हुवे, अति आतप अव आंधी रे।

यह पृथ्वी अत्यन्त मनोहारी होती, यदि यहाँ बहुत जोर की धूप और आँधी न होती। कोई अन्य कवि होता तो कवित्व के बहाव मे बह कर मरुस्थल की प्रशंसा ही प्रशसा कर बैठता।

स्वाति नक्षत्र मे दीक्षित श्रीकालूगणी के गुरुदेव के कर की शुक्ति से और स्वय श्रीकालूगणी की इस स्वाति नक्षत्र मे उत्पन्न उस मोती से उपमा दी है जो लाखो मनुष्यो के सिर पर चढेगा और जिसकी चमक दिन-दिन बढ़ेगी। ऐसी ही दूसरी उपमा मे कवि ने श्रीकालूगणी की माता के उदर को खान से, गुरु के हाथ को साण, जैन शासन को मुकट और श्रीकालूगणी को हीरे से उपमित किया है। गुरु के प्रति तुलसीजी का इतना अनुराग है कि काव्य मे एक के बाद अनेक उपमाओ की झडी-सी लग गई है।

पहले उल्लास की सातवी ढाल मे विपक्षियो के मनोमोदको का भी अच्छा वर्णन है। दूसरे उल्लास की बारहवी ढाल मे आजकल की स्थिति का निदर्शन कवि ने गुरुमुख से इन शब्दो मे किया है—

कोई चवदै आना काण टाण तोहि रुपियो बरसावै।
घर में खांचा ताण बाहर जई मूछा बल खावै॥
कोई है कगाल हाल तोहि मगरूरी में नहिं मावै।
सन्धि अरु पद लिंग लिंग अनजाने कवि थावै॥
कोई झूठमूठ इक सूठ ग्रहि जू पसारी बन जावै।
देखै सुनै अनेक छेक कोई विरलो ही पावै॥

भिवानी मे ओले की वर्षा का वर्णन आँखो के सामने पूरा दृश्य खडा कर देता है। सोलहवी ढाल का आत्मशुद्धि विषयक उपदेश भी अपनी निजी छटा रखता है। तृतीय उल्लास मे आचार्य तुलसी ने अपनी दीक्षा मे पूर्व का हास्याद्भुत रसधार युक्त अच्छा वर्णन दिया है। गुरु-विषयक ये उपमाए भी अपनी उक्ति विशेष के कारण हृदयहारिणी है—

सभा सभ्यजन संभृता, यथा चित्र आलेख।
सयल श्रोतृगण श्रवण हित, अरवण प्रवण विशेष॥
सुधा झरे मुख निर्झरे, चवि चकोर अनिमेष।
वासर में हिमकर रमै, वा छोगांगज एष॥
निरख विपक्षी नयन में, प्रमिला तणो प्रवेश।
वासर में हिमकर रमै, वा छोगांगज एष।
आस्य कमल मुकुलित समल, प्रसहन जनां अशेष।
वासर में हिमकर रमै, वा छोगांगज एष॥
उच्चैस्वर गणिवर यदा, पाठ पढ्यो मुख जोर।
भविक मोर प्रमुदित भया, लखि सावन घन घोर॥

चतुर्थ उल्लास मे १९९१ को जोधपुर के चातुर्मास का निम्नलिखित वर्णन भी पठनीय है—

गत विरहा मरुधरधरा, पूज्य पदार्पण पेख।
नवनवांकुरोग्दम विषम, रोमोग्दम सम लेख॥
पुहु पतती करती नती, माली भई अतीव।
मधुकर गुंजारव मिषै, मंगल गीत व तीव॥

इसके अतिरिक्त काव्य अनेक मार्मिक स्थलो मे परिपूर्ण है। श्रीकालूगणी की बीमारी, अस्वास्थ्य मे भी उनका धैर्य और जैन धर्मानुसार कार्य-कलाप एव अन्तिम शिक्षादि का वर्णन काव्य और धर्म कथा दोनो ही के रूप मे प्रशस्य और अध्येय है। समय के अभाव से इतना ही लिखकर विराम करना पड रहा है। सहृदय पाठकगण 'श्रीकालू यशोविलास' रूपी रत्नाकर से अनेक अन्य अनर्घ काव्य मुक्ताओ और मणियो की प्राप्ति कर सकते है।

'श्रीकालू यशोविलास' को इतिहास-ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य तुलसी ने गुरु के गुणो का अवश्य

गान किया है, किन्तु ये गुण भी महापुरुषोचित सीमा से बहिर्भूत नही है। श्रीकालूगणी के सभी कार्य एक महान् पुरुष के है। अपनी तपश्चर्या, अपने ज्ञान, अपनी धर्म-श्रद्धा और अपने चारित्र्य द्वारा उन्होने वह स्थान प्राप्त किया है, जिनका अनुसरण सबके लिए श्रेयस्कर है। आचार्य तुलसी ने उनका यशोवर्णन कर द्वितीय उल्लास के अन्त मे निर्दिष्ट अपने लक्ष्य की सुचारू रूप मे सिद्धि की है। तेरापथ समाज के विषय मे जो अनेक भ्रान्तियाँ जनमानस मे रूढ हो चुकी है, उनके समूल उच्छेद के लिए कुठारवत् और भव्यजनो के हृदय कमलो को विकसित करने के लिए सदा चराचर स्फूर्तिदायी सविता के रूप मे वर्तमान रहते हुए यह काव्य यशोनि स्पृह आचार्य तुलसी के यश का भी स्वभावत सर्वत्र प्रसार करेगा।
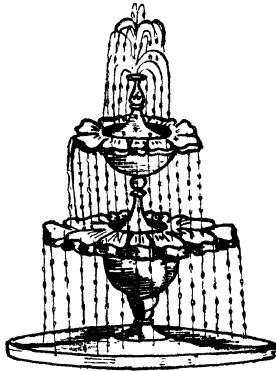
भरत-मुक्ति-समीक्षा

डा० विमलकुमार जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, दिल्ली कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

महामान्य आचार्यप्रवर तुलसीजी कृत '**भरत मुक्ति**' एक **महाकाव्य** है, जिसमे आदीश्वर भगवान् ऋषभदेव की दीक्षा, तपस्या एव केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय का उत्सव, उनके अट्ठानवे भाइयो का ससार-त्याग, तत्पश्चात् बाहुबली से युद्ध और पुन देवो द्वारा प्रतिबोधित होकर बाहुबली का सन्यास-ग्रहण और अन्त मे भरत का राज्य-व्यवस्था के उपरान्त इन घटनाओ से विषण्ण होकर प्रव्रज्या ग्रहण करके घोर तपश्चरण के पश्चात् मुक्ति का वरण करना वर्णित है।

इसमे महाकाव्य के प्राय सभी लक्षण उपलब्ध हैं। भरत इसके नायक हैं, जो धीरोदात्त एव इक्ष्वाकु क्षत्रिय-कुलोत्पन्न है। यह काव्य अष्टाधिक सर्गों मे समाप्त हुआ है तथा भरत के दीर्घकालिक जीवन की अनेक घटनाओ से व्याप्त है। इसमे नायिका का चित्रण नही है। केवल एक स्थान पर उनकी अनेक पत्नियाँ होने का उल्लेख है।[1] इसमे अनेक छन्दो का प्रयोग हुआ है तथा अगीरस शान्त के अतिरिक्त वीरादि अगभूत रसो का भी चित्रण है। इसमे प्रकृति-चित्रण भी है तथा युद्धादि का वर्णन भी है। इसका अन्त इसकी सज्ञानुसार आदर्शपूर्ण उद्देश्य से युक्त है।

इस प्रकार लक्षण-निकष पर कसा हुआ यह एक बृहत्काय काव्य है, जो अपने सौष्ठव से ओत-प्रोत होकर जीवन के बाह्य और अन्त सौन्दर्य पर प्रकाश डालता हुआ उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करता है।

इसमे काव्य के दोनो ही पक्ष भाव एव कला अपने चरमोत्कर्ष पर है। भारतीय सस्कृति एव विचार-परम्परा के अनुसार जीवन का लक्ष्य जगज्जजाल से मुक्त होना है। ससार मे सदसत् सभी प्रकार के कर्म प्राणी को सुख-दु खात्मक स्थितियो मे डालते हुए उसके जन्म-मरण के निमित्त बनते है। देही काम, क्रोध, मद, लोभादि के वशीभूत हुआ कर्म करता है। कभी वह पाप करता है तो कभी पुण्य परन्तु ये सभी सन्ताप के कारण होते है, क्योकि क्रियानुसार फल-मुक्ति अनिवार्य है। यथा शूल के बदले फूल नही मिलते उसी प्रकार पाप करके शुभ परिणाम की कामना निष्फल है। अत शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए कर्म-बन्धन से विमुक्ति आवश्यक है और वह साधना एव तपस्या से ही सम्भव है।[2]

भगवान् आदीश्वर के इस तात्विक चिन्तन पर, जो आध्यात्मिक दृष्टि से एक ध्रुव सत्य है, इस काव्य की आधार-शिला स्थापित है इसीलिए प्रारम्भ से अन्त तक ऋषभदेव, उनके अट्ठानवे पुत्रो तदनन्तर उनके पुत्र बाहुबली और अन्त मे भरत का ससार-त्याग वर्णित है, जिसका पर्यवसान निर्वाण मे हुआ है, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। सभी महानुभावो की दीक्षा एव प्रव्रज्या के प्रेरक कारण उपर्युक्त कषाय ही हैं, जो कर्म-प्रवृत्ति का मूल हेतु है। भगवान् ऋषभदेव के इन शब्दों मे ससार की निस्सारता स्पष्ट ही प्रत्यक्ष हो जाती है—

> **आकर के कितने चले गये,**
> **यह धरती किसके साथ रही,**

---

१ **'सभी भाभियाँ तेरी देगी भाई ! मुझे उलाहने'—भरत-मुक्ति, पृष्ठ १६१**

२ **भरत-मुक्ति, पृष्ठ १५**

मेरी मेरी कर मरे सभी,
कोई भी अपना सका नहीं।
वैभव साम्राज्य अखाड़े मे,
सोचो तो कितने ही उतरे,
जो हारे वे तो हारे ही,
जीते उनकी भी हार अरे ![1]

इस प्रकार ससार एक निस्सार स्थान है जहाँ निवास करना तथा जिसमे सलग्न मन होना बुद्धिमत्ता नही है, इसीलिए ऋषियो ने ससार को हेय बता कर कम-से-कम जीवन की अन्तिम स्थिति मे सन्यास लेना परमावश्यक कहा है।

घोर युद्ध के पश्चात् देवो द्वारा प्रतिबोधित होकर स्वय बाहुबली भी ससार की निस्सारता को इस प्रकार उद्घोषित करते हैं—

कोई सार नहीं संसार में,
पग-पग पर दुविधा की है तलवार दुधारी रे।
क्षण में सरस-विरस होता,
यहाँ नश्वर घन-छाया सी सत्ता विभुता सारी रे।[2]

इसी प्रकार अन्त मे भरत ने भी ससार की नश्वरता को जाना, जिसके परिणामस्वरूप वे ससार मे विरक्त होकर मुक्ति के अधिकारी बने—

प्रत्येक वस्तु में नश्वरता की
झलक प्रतिक्षण झांक रहे,
इस जीवन की क्षण-भगुरता
अजलि-जल सी वे आंक रहे।[3]

× × ×

यो चिन्तन करते विविध, जागृत हुआ विराग।
जीत लिया नश्वर जगत, ज्यो पानी के झाग॥[4]

इसी उद्देश्य को लक्ष्य मे रखकर इस काव्य का निर्माण हुआ है। इस तथ्य के ज्ञान-प्रकाश मे हृदय जिस भाव-भूमि पर अवस्थित होता है, उसी का चित्रण अन्ततोगत्वा इस काव्य मे हुआ है। अत इसका भावपक्ष बडा ही समुज्ज्वल है। यदि यो कहे कि इसमे मानव के मन-मानस मे विद्यमान विविध भावावली मे से केवल सदभाव-मुक्ताओ का ही प्राधान्य है तो अत्युक्ति न होगी।

इसमे **कलापक्ष** भी प्राय मनोहारी है। रस काव्य की आत्मा होती है। इसके अनुसार यह काव्य भी रसाप्लुत है। इसमे **शान्त रस** ही अगीरस है, क्योकि ससार विरक्ति ही इसका उद्देश्य है। अतएव भगवान् ऋषभदेव तथा उनके पुत्र इस ससार को असार समझ कर इससे विमुख हो गये। उपर्युक्त अवतरण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शान्त का चित्रण करते हुए सभी पद्यो मे तदपेक्षित माधुर्य गुण का अकन भी दर्शनीय है। तदनुकूल वर्ण-चयन एव शब्द-योजना मणि-काञ्चन के तुल्य ही मनोरम है। शान्त के अतिरिक्त **वीर रस** का चित्रण भी भरत एव बाहुबली के युद्ध मे पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। निम्न पक्तियो मे वीरता का सजीव चित्रण कितना ओजपूर्ण है—

---

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ ४७
२ वही, पृष्ठ १५८
३ वही, पृष्ठ १६०
४ वही, पृष्ठ १६२

रणभेरी गूंज उठी नभ में,
वीरों के मानस फड़क उठे,
वे कड़क उठे हैं लड़ने को,
कायर जन के मन धड़क उठे।[1]

× ×

म्यानों से निकली तलवारें,
मानो घन में बिजली दमकी,
बरछियाँ, कटारें, तेज शूल,
वे भालों की अणियाँ चमकीं।[2]

× × ×

अश्व-सूत समेत स्यन्दन दण्ड से शतखण्ड थे,
मत्त गज-कुम्भस्थलों पर गदा-घात प्रचण्ड थे,
पारधी-भय से यथा मृग-यूथ ग्रस्त-व्यस्त हो,
ओट में छुपने लगे सब भयाकुल संत्रस्त हो।[3]

प० श्यामनारायण पाडे द्वारा रचित 'हल्दीघाटी' काव्य मे जो ओजपूर्ण वर्णन हमे दृष्टिगोचर होता है, वैसा ही प्रखर प्रवाह हमे यहाँ भी लक्षित होता है। यहाँ हमे रणभेरी की गूंज, वीर-हृदय की कडक और कायर-जन की धडक स्पष्ट सुनाई देती है तथा विद्युत्तुल्य तलवारो की दमक और बरछी, कटार एव भालो की चमक प्रत्यक्ष-सी दिखाई देती है। काव्य को पढ़ते-पढ़ते समरागण की ठेल-पेल एव ग्रस्त-व्यस्तता, मार-काट एव हाहाकार तथा घर्षण-कर्षण सभी कुछ चलचित्र की भाति अनुभूत होता है। इस वर्णन मे वीर के अनुकूल ओजगुण मे व्यजक वर्णों की योजना दर्शनीय है। यह कुशल कलाकार की सफल एव सबल लेखनी का ही परिचायक है।

युद्ध का चित्रण करते हुए बीभत्स रस का अकन भी प्रसगवश आ ही गया है, यथा—

अर्ध क्षत-विक्षत सभी शव दूर फंके जा रहे,
मांस-लोलुप श्वान, जम्बुक, गीध उनको खा रहे।[4]

× ×

जिस हृदय-स्थल में कितनो का स्नेह भाव था रहता।
आज खा रहे कौए, कुत्ते, रह-रह शोणित बहता॥
जिन आँखों में तेज तरुण था, अरुण ओज की रेखा।
चोचें मार रही है चीलें दारुण वह दृश्य न जाता देखा॥
हृष्ट-पुष्ट सुन्दर वपु जिस पर थे मन स्वत लुभाते।
काट-काट पैने दाँतों से उसको जम्बुक खाते॥[5]

इस चित्रण मे भी ओज अपनी पराकाष्ठा पर है। इसके अतिरिक्त रौद्र का आभास हमे भरत-दूत एव बाहुबली के वार्तालाप आदि में उपलब्ध होता है। भयानक का चित्रण भी अल्प मात्रा मे हुआ है यथा बाहुबली के वन मे जाते

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ ८४
२ वही, पृष्ठ ९३
३ वही, पृष्ठ ९६
४ वही, पृष्ठ १००
५ वही, पृष्ठ १००-१०१

समय अरण्य की भयानकता इस प्रकार अंकित हुई है—

गहरी गहरी पडी दरारें, चारों ओर झाड़-झंखाड़,
द्विरद यूथ चिघाड़ रहे है, शेर रहे है कहीं दहाड़,
चीते, व्याघ्र, भेड़िये भालू, वनबिलाव, सूअर खूंखार,
घूम रहे है गेंडे, रोझे, अरण्य-महिष, सारग, सियार।[1]

इस प्रकार रसो का चित्रण तदनुकूल गुणो के साथ बडी ही उपयुक्तता के साथ हुआ है।

इस काव्य मे अलंकार योजना भी स्तुत्य है। शब्दालकारो मे अनुप्रास का व्यवहार तो पर्याप्त मात्रा मे हुआ है, परन्तु यमकादि का प्रयोग बहुत ही कम है। इसी प्रकार अर्थालकारो मे विशेषत उपमा, रूपक एव उत्प्रेक्षा का प्रयोग अत्यधिक है। नीचे कुछ सुन्दर उदाहरण दिये जाते है—

अनुप्रास—

अमल, अविकल, अतुल, अविरल प्राप्त कर तुलसी उजारा।
... ...
आँखें लाल कराल काल-सा बढ़ने लगा सरोष।

यमक—

सम समय परीवह मुनि को अधिक नहीं है।

पुनरुक्तिवदाभास—

मधु मधु बरसाकर सबको मुदित बनाता।

उपमा—

उषा समय प्राची यथा उभय क्रोध से लाल।
... ..
विकसित बसन्त ज्यों सन्त हृदय सरसाता।

रूपक—

आज हमारे मन उपवन की फूली क्यारी क्यारी,
चित चातक है उत्फुल्ल देखकर श्यामल मेघ-वितान रे।

उत्प्रेक्षा—

स्वर्णिम सूर्य उदित है प्रमुदित नयनाम्बुज विकसाने,
मानो क्षीर सिन्धु लहराता आया प्यास बुझाने।
... ...
जल-सीकर जिन पर चमक रहे,
मानो मुक्ताफल दमक रहे।

इसी प्रकार और भी अनेक अलकारो की छटा यत्र-तत्र छिटकी हुई है, जिमने काव्य के सौन्दर्य पर चार चाँद लगा दिये है।

छन्द योजना भी दृष्टव्य है। इसमे गीतक, दोहा, सोरठा, मुक्तक एव हरिगीतिका आदि छन्दो का चारु प्रयोग हुआ है। कही-कही कुछ दोष भी दृष्टिगोचर होते है, यथा—

और महामाता विराजित हस्ती पर सानन्द हैं।

यह गीतक छन्द का अश है, जिसमे २६ मात्राएं होनी चाहिए, परन्तु इसमे २८ मात्राए है अत. अधिक पदत्व दोष

---

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ १६३

है। इसी प्रकार—

लड़ने का एक बहाना है,
दिखलाना चाहता हूँ भुजबल।

इसकी दूसरी पक्ति मे भी अधिक पदत्व दोष है। परन्तु इस प्रकार के दोष यत्र-यत्र अल्पमात्रा मे ही हैं, जो सम्भवत शीघ्रता मे प्रकाशित कराने के कारण पुनरावृत्ति न होने से छूट गये हैं।

इसमे भाषा शुद्ध खड़ी बोली है, परन्तु कुछ उर्दू एव अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग भी कही-कही पर उपलब्ध होता है, जैसे—

उर्दू शब्द—मौका, हजारो, आजिजी, सजोश, खामोश और फरमाते आदि।

अंग्रेजी शब्द—सीन, फिट और नम्बर आदि।

इस काव्य मे लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग बडा ही रुचिकर एव अधिकता से हुआ है। इस विषय मे निम्न पक्तियाँ दर्शनीय है—

जैसी करनी वैसी भरणी यह पुरानी है प्रथा।
उच्च राज-प्रासाद शिखर जो नभ से करते थे बातें।
लगता ऐसा मुझे अभी तक दीये तले अंधेरा है।
नहीं नहीं कहते जो मंत्री सोलह आना बात सही।
बाहुबली को शासित करना सचमुच ही है टेढ़ी खीर।
है दिन दूना रात चौगुना जिससे वृद्धिगत उद्योग।
कितनों को उसने नृशंस बन दिए मौत के घाट उतार।

इसी प्रकार लोहा लेना, दाल न गलना, होश उडना, मुँह पर थूकना, प्राणो से हाथ धोना, नौ दो ग्यारह होना, गले पर छुरी चलाना आदि और भी अनेक लोकोक्ति-मुहावरो का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

कही-कही खाण्डे (खाँडे), बान्धे (बाँधे), झूझ (जूझ) आदि अशुद्ध शब्दो का प्रयोग अखरता है। सम्भवत ये अशुद्धियाँ शीघ्रता-वश पुन पाठ के अभाव मे रह गई है।

इस काव्य मे नानाविध वर्णन भी पठनीय है। अनेक स्थलो पर **प्रकृति-चित्रण** बडा ही मनोहारी है। वनिता नगरी के पार्श्व मे सरयू तट पर तथा वाह्लीक देश मे प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है, उदाहरणत क्रमश दो पद्य प्रस्तुत है—

मसृण तृणराजि विराज रही,
दूर्वा की वह छवि छाज रही,
जल-सीकर जिन पर चमक रहे,
मानो मुक्ताफल दमक रहे।[1]

× ×

वृक्षों के झुरमुट में मनहर,
अति सुन्दरतम लघुतर सरवर,
वह मुकुर-समुज्ज्वल स्वच्छ सलिल,
खिल-खिल कर खिलते हैं उत्पल।[2]

---

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ २४
२ वही, पृष्ठ ६८

भरत का राज्य-वर्णन करते हुए षड्ऋतुओ का वर्णन भी अत्यन्त मनोहर है। यह वर्णन परम्परानुसार ही हुआ है। रात्रि एव प्रभात का सक्षिप्त वर्णन केवल भरत की चिन्ता के प्रसग मे हुआ है। इस समस्त प्रकृति-चित्रण मे प्रसाद गुण पूर्णत परिव्याप्त है। इन स्थलो पर निर्माता की प्रकृति-प्रियता का पर्याप्त प्रकाशन हुआ है।

नगरी एव जनपद-वर्णन मे वनिता (साकेत, अयोध्या) एव तक्षशिला का वर्णन तथा वाह्लीक देश का वर्णन और इनके साथ ही साथ भरत एव बाहुबली के राज्य का वर्णन भी अत्यन्त रोचक है। युद्ध-वर्णन मे भरत एव बाहुबली का सैन्य युद्ध और अन्त मे उनका दृष्टि, नाद, भुज एव दण्ड का चतुर्विध युद्ध बडा ही कुतूहलवर्धक एव प्राण-प्रेरक है। इन वर्णनो मे परम्परा को कही भी परित्यक्त नही किया गया है, परन्तु सन्त कवि की अपनी शैली कही भी मन्द एव लुप्त नही होने पाई है।

इस प्रकार इस काव्य का भाव एव कलापक्ष अत्यन्त उज्ज्वल एव उदात्त है। इसका सन्देश है जगत्प्रपच से विमुख होकर तपस्या एव साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त करना, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। वास्तव मे यह काव्य जहाँ ज्ञान-पिपासुओ के लिए उपादेय है वहाँ साहित्य-मर्मज्ञो के लिए भी ग्राह्य है। आचार्य तुलसी ने दोनो ही वर्ग के व्यक्तियो के लिए एक अमूल्य देन दी है। निश्चय ही यह ग्रन्थ अध्येताओ के लिए एक महान् निधि का कार्य करेगा।

आचार्यश्री तुलसी की अमर कृति—

श्रीकालू उपदेश वाटिका

श्रीमती विद्याविभा, एम० ए०, जे० टी०

सम्पादिका—नारी समाज, नई दिल्ली

आदि काल से सतो के वचनामृत से मानवता के साथ-साथ साहित्य और सस्कृति भी समृद्ध होती चली आई है। सूर, तुलसी और कबीर की भाँति आचार्य तुलसी ने भी सत-परम्परा की माला मे जो अनमोल मोती पिरोये हैं 'श्री-कालू उपदेश वाटिका' उनमे से एक है। ग्यारह वर्ष की आयु से ही आचार्य तुलसी ने अपने गुरु श्रीकालूगणी के चरणो मे बैठ-बैठकर उनकी 'हीरा तोली बोली' मे जो सीख ग्रहण की, उसी धरोहर को उन्होने 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' के रूप मे जनता-जनार्दन को सौप दिया है। वैसे तो आचार्य तुलसी भारत की प्राग्-ऐतिहासिक जैन-परम्परा के अनुयायी सत हैं, परन्तु इस वाटिका मे जिन उपदेश सुमनो का चयन हुआ है, उनकी सुगन्ध सर्वव्यापी है। इस प्रकार आचार्य तुलसी केवल जैन-परम्परा के ही सत नहीं, भारत की सत-परम्परा के कीर्ति स्तम्भ हैं। जहाँ उन्होने भक्ति के गीत गाए है और जन-हित के लिए उपदेश दिये हैं, वहाँ उनमें साहित्य-सृजन की भी विलक्षण प्रतिभा है।

आचार्य तुलसी की कृतियो मे भाषा भावो के साथ बही है। आवश्यकतानुसार उन्होने विभिन्न भाषाओ के शब्दो को तोडा-मरोडा भी है तो भाषा मे एकरूपता लाने के लिए। उन्होने सस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी, इन तीन भाषाओ मे रचना की है। 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' की भाषा राजस्थानी है। आचार्य तुलसी को सस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी मे से किस भाषा पर विशेष अधिकार है, यह कहना कठिन है। प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका मे मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने उचित ही लिखा है कि 'आचार्यश्री तुलसी के लिए सस्कृत अधीत और अधिकृत भाषा है। राजस्थानी उनकी मातृभाषा है और हिन्दी मातृभाषावत् है'। सभवत इसी समानाधिकार के कारण 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' मे इन तीनो भाषाओं का कही-कही जो मिश्रण हुआ है, वह स्वाभाविक बन पडा है। आचार्यश्री ने उसकी प्रशस्ति मे निम्न पक्तियाँ लिखकर उस मिश्रण को और भी स्पष्ट कर दिया है·

सम्वत एक लाडनूं फागण मास जो,
सारां पहली परमेष्ठी पंचक रच्यो।
समै समै फिर चलतो चल्यो प्रयास जो,
सो 'उपदेश वाटिका' रो ढांचो जच्यो।

पर प्राचीन पद्धति रै अनुसार जो,
भाषा बणी मूंग चावल री खीचड़ी।
वापिस देख्या एक-एक कर द्वार जो,
सो अखरी बोली मिश्रित बैठी-खड़ी।

आचार्य तुलसी को अपनी भाषा जहाँ 'मूंग चावल री खीचडी' के रूप में अखरी है, वहाँ उसने ऐसे पाठकों का कार्य सुगम बना दिया है जो राजस्थानी नही समझते। भाषा की ऐसी खिचड़ी मीराबाई के राजस्थानी भक्ति-पदो मे भी

मिलती है। इससे रसोत्पत्ति मे कोई बाधा नही पहुँचती है और यह सतो की वाणी की विशेषता भी है। आचार्य तुलसी सत-परम्परा मे होने के कारण भाषा के अलावा भावाभिव्यजना मे भी तुलसी, सूर कबीर और मीरा के निकट है, जिन्होने अपने आराध्य के गीत गाये है। आचार्यश्री तुलसी जैन-परम्परा मे दीक्षित होने के कारण अपने आराध्य अरिहन्त प्रभु का यश-गान करते है। वे कहते है

प्रभु म्हारे मन-मन्दिर में पधारो,
करूँ स्वागत-गान गुणा रो।
करूँ पल-पल पूजन प्यारो॥

चिन्मय ने पाषाण बणाऊँ ? नहिं मैं जड़ पूजारो।
अगर, तगर, चन्दन क्यूँ चरचूँ ? कण-कण सुरभित थांरो॥
नहिं फल, कुसुम की भेंट चढ़ाऊँ, मैं भाव भेंट करणारो।
आप अमल अविकार प्रभुजी, तो स्नान कराऊँ क्यारो।
नहिं तत, ताल, कंसाल बजाऊँ, नहिं टोकर टणकारो।
केवल जस झालर झणणाऊं धूप ध्यान धरणारो॥

अन्त मे जब वे कहते है

अशरण-शरण, पतित-पावन, प्रभु 'तुलसी' अब तो तारो।

तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे तुलसी ने अपने राम को, सूर ने अपने कृष्ण को, कबीर ने अपने 'साहिब' को और मीरा ने अपने गिरधर-गोपाल को पुकारा है।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का शुद्ध अथवा अशुद्ध होना उसी के उपक्रमों पर निर्भर है। साधक को यह जानते हुए भी सन्तोष नही होता। उसकी अन्त-शुद्धि के लिए जैन धर्म मे चार शरण और पाँच परम इष्ट है। शरण की अवस्था मे जैन धर्म और बौद्ध धर्म एक दूसरे के निकट आ जाते है। बौद्ध धर्म मे शरणागत केवल तीन की शरण ग्रहण करता है। वह कहता है—

बुद्ध शरणं गच्छामि,
धम्मं शरण गच्छामि,
सघ शरण गच्छामि।

जैन धर्म का साधक अरिहन्तो, सिद्धो, साधुओ और धर्म की शरण ग्रहण करता है। वह अरिहन्तो, सिद्धो, आचार्य, उपाध्याय एव समस्त साधुओ को नमस्कार करता है। जैन मत के अरिहन्त और सिद्ध यही दो मुख्य आधार हैं। धर्म और साधु शरण है। आचार्य, उपाध्याय और मुनि इष्ट है। अरिहन्त इसलिए पूज्य है कि वे देह सहित है और अपने अष्ट कर्म आवरणो से चार कर्म आवरणो को दूर कर चुके है, इसीलिए वे जिन है। धर्म और तीर्थ के प्रवर्तक अरिहन्त परोपकारी है। आचार्य तुलसी ने अपनी उपदेश वाटिका का आरम्भ अरिहन्त की स्तुति से ही किया है। वे कहते है :

परमेष्ठी पंचक ध्याऊँ,
मैं सुमर-सुमर सुख पाऊँ,
निज जीवन सफल बणाऊँ।

अरिहन्त सिद्ध अविनाशी,
धर्माचारज गुण-राशी,
हैं उपाध्याय अभ्यासी,
मुनि-चरण शरण में आऊँ।

इन्ही पक्तियो से उन्होने अपनी यात्रा आरम्भ की और 'मगल द्वार' मे पैर रखा। धीरे-धीरे एक-एक करके जिन चार प्रकोष्ठों मे प्रवेश किया, उनका रहस्य समझाने का भी पूरा प्रयास किया है। एक 'मगल द्वार' और चार प्रवेश के इस ग्रन्थ मे अनेक सरस गीत है। उन गीतो मे कितनी ही अन्तर कथाए छिपी है। यदि वे ग्रन्थ के साथ अलग से नही दी जाती तो उनका पाठको के सामने आना एक प्रकार से कठिन ही था। ग्रन्थ के कुशल सम्पादन ने 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' को एक नया निखार दिया है। इसके लिए सम्पादक श्रमण श्री सागरमलजी व मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' तथा मार्ग-दर्शक मुनिश्री नगराजजी पाठको की श्रद्धा के पात्र है। पुस्तक हर प्रकार से सुन्दर एव मनन के योग्य है।

मगल द्वार मे आराध्य की स्तुति सम्बन्धी बीस गीत है। कबीर की भाँति आचार्य तुलसी ने भी गुरु की महिमा गाई है। तेरापथ के आठवे आचार्य श्रद्धेय श्रीकालूगणी उनके दीक्षा गुरु थे। आचार्य तुलसी उनकी महिमा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उन्ही के नाम से की। वे गुरु को पुकार कर कहते है

ओ म्हांरा गुरुदेव !
भव-सागर पार पुगाओजी,
म्हांरे रूं-रूं में रम जाओजी।
अज्ञान अन्धेर मिटाओ जी॥

अन्य भक्ति मार्गी सतो की भाँति वे भी गुरु को परमात्मा से मिलाने का माध्यम मानते है। सद्गुरु के बिना मुक्ति नही मिल सकती, ऐसा उनका विश्वास है। तभी वे कहते भी है

है गुरु दिव्य देव घर-घर का,
पावन प्रतिनिधि परमेश्वर का,
गुरु गोविन्द खड़्या लख गुरु ने, पहली शीश नमावं।

और भी कहा है—

एडी घिसे खिसे चहै चोटी, गुरु बिन गोता खावं।

यही कारण है कि वे गुरु और गोविन्द दोनो के सामने खडे रहने पर कबीर की भाँति पहले गुरु के आगे ही शीश नमन करना चाहते है, क्योकि गुरु ही गोविन्द से मिलाने वाली कडी है।

वीतराग का वर्णन करते समय आचार्य तुलसी निर्गुण उपासको की पक्ति मे प्रकट होते है। मगलद्वार मे ही उन्होने कहा है .

वीतराग नित्य सुमरिए, मन स्थिरता ठाण,
वीतराग अनुराग स्यूं, भजो भविक सुजाण,
वीतराग पद पावणो, जो बारम गुणठाण॥

इसके पश्चात् वे सतो को ससार मे सुखी मानकर कहते हैं .

समता रा सागर सन्त सुखी संसार में।
निज आतम उजागर सन्त सुखी संसार में॥

यही से वे प्रथम प्रवेश की ओर अग्रसर हुए है। इसमे उन्होने मनुष्य को अपने दुर्लभ जीवन को सवार कर रखने और बुराइयो का त्याग करने की बात कही है

चेतन अब तो चेत,
चेत-चेत चौरासी में तूं भमतो आयो रे।
भयकर चक्कर खायो रे॥

और भी :

अब मानव जन्म मिल्यो जाणो,
ओ यौवन, धन, तन, तरुणाई।

ऐश्वर्य, अलौकिक अरुणाई,
इक खिण में टूटे ज्यू तागो ॥

इन सब वस्तुओ की नश्वरता की ओर ध्यान दिलाते हुए आचार्यश्री प्राणियो से एक बार फिर कहते है

नर-देही व्यर्थ गमाई नां ।

वे व्यसनी लोगो को भी चेतावनी देते हुए कहते है

भूली मत पीवो रे भवियां भांग तमाखू।

गांजो, सुलफो, तिम साथ, जरदो मत झालो हाथ ।
बीड़ी, सिगरेट संघात, त्यागो चाहो जो सुख सात।
भांगां बागां बिच घोटै मोटै सिलाड़े, छोटा-मोटा मिल सग ।
पीवै अरु पावै हो मन की गोठ पुरावै, होवै कहि रंग मे भंग ॥

भंगड़ी कहिवावै पावै बुद्धि-विकलता, आवै चोहट्टे दौड़ ।
'फूलां मालण-सी करणी' स्वमुख सराहवै, पावै फल जैसी खोड़ ॥

यहाँ 'फूला मालण' की अन्तरकथा से दुराचारी और उसका समर्थन करने वाले को एक ही कोटि मे रखने का सकेत मिलता है। कथा इस प्रकार है कि एक युवा रानी अपने झरोखे मे बैठी राजमार्ग की शोभा देख रही थी। उसकी आँख उधर से निकलते एक सुन्दर युवक पर पडी। रानी उसके रूप पर मुग्ध हो गई। युवक ने भी रानी को देखा तो मोहित हो गया। दोनो एक दूसरे से मिलने के लिए आतुर हुए। युवक ने फूला मालिन को राजमहल मे फूल ले जाते देखा। वह उसे समझा-बुझा कर उसकी पुत्रवधू बन कर महल मे रानी के पास जा पहुँचा। रानी की कली-कली खिल गई। अब तो युवक प्रतिदिन इसी रूप मे रानी के पास पहुँच जाया करता था। एक दिन यह पाप का घडा फूट गया और राजा को पता चल गया। राजा ने रानी और युवक के साथ फूला मालिन को भी मृत्यु-दड सुना कर बीच बाजार मे बैठा दिया। उसने अपने गुप्तचरो से कह दिया कि जो कोई व्यक्ति इनकी प्रशसा करे उसे भी इनके साथ बैठा दिया जाये और अन्त मे मौत के घाट उतार दिया जाये। उस रास्ते से कई लोग निकले, सबने बुराई की। एक ऐसा भी आया जो बोला 'मरना तो एक दिन था ही, अच्छा किया जो रानी के साथ रह कर जीवन का आनन्द लूट लिया।' जब गुप्तचरो ने उसे पकड लिया तो आगन्तुक ने पूछा—'क्यो ?' उत्तर मिला 'दुराचार का समर्थन करने के लिए।' इसीलिए प्रथम प्रवेश के अन्त मे आचार्यश्री तुलसी ने अनुरोध पूर्वक कहा है .

प्राणी करणी निर्मल कीजै ।
'तुलसी' कामधेनु सम पाइ, मंजुल मानव काय,
मूरख अब चिन्तामणि स्यूं, तू मत नां काग उड़ाय ।

द्वितीय प्रवेश मे पहुँच कर भी आचार्यश्री का ध्यान प्राणियो की पाप-मुक्ति की ओर ही विशेष रहा है। पाप और पुण्य का अन्तर आपने बडी सुन्दरता से चित्रित किया है। कहा है

पुण्य पाप रा फल है परगट, जो कोई आंख उघारै ।
एक मनोगत मोजां माणै, इक नर नगर बुहारै ॥

पाप-मुक्ति का उपाय बताते हुए कहा है :

नर क्षमा धर्म धारो ।
आध्यात्मिक सुख-साधन हृदय रोष वारो ॥
श्रमण-धर्म को दशविध जैनागम गावै ।
खंति धर्म तिण मांही, प्रथम स्थान पावै ॥

वे साधक से कहते हैं :

राग री रंस पिछाणो ।
हो…आखिर पड़सी थांनै अन्तर ज्ञान जगाणो ।
द्वेष, राग दो बीज करम रा,
बाधक दोन्यूं आत्म-धरम रा,
हो…साधक नैं आवश्यक यांरो मूल मिटाणो ।

आचार्य तुलसी ने द्वेष, कलह मिटाकर, झूठ बोलना छोड कर, लोभ और माया-मोह तजकर मुक्ति का सुख लेने का आग्रह किया है।

तीसरे प्रवेश मे पहुँच कर वे साधक को सुखी होने का मार्ग बताते हैं कि

अरिहन्त-शरण मे आ जा,
शिव-सुख री झांकी पा जा।

क्योकि :

तीन तत्त्व हैं रत्न अमोलक, जीव जडी कर मानोजी ।
अर्हन् देव, महाव्रतधारी सुगुरु पिछाणोजी।

इस प्रवेश मे उन्होने अनित्य, अशरण आदि सोलह भावनाओ का वर्णन किया है और जैन धर्म की महिमा स्थापित की है।

चौथे प्रवेश का आरम्भ उन्होने समिति और गुप्ति से किया है कि :

प्रवचन माता आठ कहावै।
समिति गुप्तिमय सदा सुहावै।

पूरे प्रवेश मे आचार्यश्री ने पाँच समिति, तीन गुप्ति और पर्व के सम्बन्ध मे बताया है।

अन्त मे प्रशस्ति मे उन्होने प्रस्तुत ग्रथ के विषय मे कहा है :

श्री कालू-गुरु वचनामृत उपदेश जो,
मैं पद्यांकित करचो स्मरचो जुग-पाछलो।
'श्रीकालू उपदेश वाटिका' वेद जो,
प्रस्तुत चाहे सुणो, सुणाओ, बांचल्यो।

वास्तव मे यह ग्रथ सुनने, सुनाने और पढने योग्य है। इसमे शिक्षा, सिद्धान्त और अनुभूति का त्रिवेणी सगम है। निस्सन्देह यह आचार्यश्री तुलसी की एक अमर कृति है, जो आने वाले वर्षों मे उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाश फैलाती रहेगी।

आषाढ़भूति : एक अध्ययन

श्री फरजनकुमार जैन, बी० ए०, साहित्यरत्न

'आषाढभूति' आचार्यश्री तुलसी की एक साहित्यिक कृति है। अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा नैतिक जागृति का उद्घोष करने वाले महापुरुष ने आषाढ़भूति मे साहित्य के माध्यम से आत्मवाद का दिव्य सन्देश दिया है। हिन्दी-साहित्य की काव्य-परम्परा मे यह एक खण्ड काव्य है। काव्य की प्रबन्धात्मकता के साथ-साथ प्रगीत के सम्मिश्रण ने कृति को चार चाँद लगा दिए है। साथ ही औपन्यासिक पात्र सवादो ने तो काव्य की कथावस्तु मे जान ही फूंक दी है। इस प्रकार कवि ने प्रबन्ध काव्य में प्रगीत की विशेषताओ तथा उपन्यास के तत्त्वो का प्रयोग कर हिन्दी साहित्य उपवन को अभिनव-धारा से सिंचित किया है, जो कि वास्तव मे उनका साहित्य को एक श्लाघनीय वरदान कहा जा सकता है। उपर्युक्त काव्य 'आषाढभूति' मे एक जैनाचार्य का जीवनवृत्त चित्रित किया गया है। 'आषाढभूति' के गणनायक और एक अच्छे व्याख्याता होने के कारण उनके चरित्र का समुज्ज्वल रूप पाठको के सम्मुख प्रस्तुत होता है। परन्तु बाद मे उनकी विचार-शिथिलता ने उनकी सयम वीणा की झकारो को तोडकर भोगवाद का बेसुरा राग अलापना आरम्भ कर दिया था। स्वर्ग-प्रवासी शिष्य द्वारा वे पुन: उद्बोधित हुए। इन सबका प्रस्तुत काव्य मे बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। यह हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि बन गई है। वास्तव मे यह रचना आस्तिकता की नास्तिकता पर विजय की प्रतीक है।

'आषाढभूति' की भाषा समासयुक्त हिन्दी है। सस्कृत के तत्सम शब्दो का इसमे बाहुल्य है। 'हरिऔध' जी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे सस्कृत के मूल शब्दो का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करते हुए भी कही उसमें दुरूहता तथा सौन्दर्य-विघ्नता नही आने दी है। उसी प्रकार आचार्यश्री ने भी अपने काव्य मे सस्कृत तथा प्राकृत के मूल पदो का खुलकर प्रयोग किया है, पर पाठक को उसमे भटकने का मौका नही मिलता, अपितु वह उनमे झूमता हुआ काव्य का रसास्वादन करता चलता है। जहाँ पर मूल शब्दो का प्रयोग ही कविता मे किया गया है, वहाँ काव्य की भावना को अधिक प्रस्फुटन मिला है। जैसे—**शरणं चत्तारि।** यहाँ ऐसा लगता है मानो चार और चत्तारि मे कोई अन्तर ही नही। यहाँ पर चत्तारि शब्द हिन्दी का ही बन गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार सस्कृत के शब्दो का भी बहुत प्रयोग हुआ है। एक-दो शब्द ऐसे भी आये है जो कि हिन्दी मे प्रचलित नहीं हैं, जैसे 'बाढ' शब्द। फिर भी इसका प्रयोग उपयुक्त स्थान पर होने के कारण अर्थ समझने मे कठिनाई अनुभव नही होती, प्रत्युत काव्य प्रवाह को आगे बढाने मे ही सहायक होता है। परन्तु जहाँ प्राकृत के वाक्यो का प्रयोग ज्यो-का-त्यो हुआ है, वहाँ अवश्य थोडा खटकता है। जैन दर्शन के मूल सैद्धान्तिक शब्दो का प्रयोग भी अधिक मात्रा मे हुआ है। उन शब्दो का पारिभाषिक ज्ञान रखने वाले पाठक के लिए तो सोने मे सुहागा है ही। जैनेतर या जैन दर्शन से अनभिज्ञ पाठक भी इसका समुचित आनन्द ले सके, इसके लिए सम्पादक ने परिशिष्ट मे इनका अर्थ और व्याख्या कर दी है।

कवि ने विविध स्थानो पर मुहावरो और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। जो न केवल भावाभिव्यजक है, अपितु पाठक के मर्मस्थल को भी छूती है। सस्कृत की उक्ति **यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्**, का हिन्दी रूप **बन कर्जदार भी घी पीना** स्वार्थी बनकर अन्याय करने वालो और दूसरो का सब-कुछ छीनने वालों के ऊपर कितना तीव्र आघात करती है। **मधु से आप्लावित तीक्ष्ण छुरी, मोठो में पीसे जाते घुन** ये लोकोक्तियाँ शब्दो का परिधान पाकर कितनी सहज व हृदयस्पर्शिनी बन गई है। जिस प्रकार 'हरिऔध' जी ने 'चोखे चौपदे' तथा 'चुभते चौपदे' में मुहावरो का उपयोग कर समाज पर तीखा प्रहार किया है, उसी प्रकार आचार्यश्री ने 'आषाढ़भूति' मे प्रचिलित उक्तियो का ग्रन्थन

कर मानव को आदर्शाभिमुख करने का सफल प्रयास किया है। कहीं-कहीं तो आचार्यश्री की स्वय की पंक्ति भी एक लोकोक्ति बन गई है। **भोज्य को पहचानने से पेट बोलो कब भरा।**

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि आचार्यश्री ने 'आषाढ़भूति' की भाषा को बहुरगी बनाया है। आचार्यश्री भाषा के अनुगत न होकर भाषा उनकी अनुगामी है। 'आषाढ़भूति' प्रसाद की तरह तत्सम शब्दो की प्रधानता तथा गुप्त जी की भाँति अप्रचलित सस्कृत शब्दों का अभिनव प्रयोगो का समवायी रूप है।

'आषाढ़भूति' मे मुख्यत दोहा, सोरठा तथा गीतिक छन्दो का प्रयोग अधिक हुआ है, परन्तु काव्य का सबसे आकर्षक रूप प्रबन्ध काव्य मे प्रगीत का अभिनव प्रयोग है। कवि ने विभिन्न राग-रागिनियो में कविता कामिनी को सँवारा है। प्राचीन एव अर्वाचीन हिन्दी तथा राजस्थानी लोक गीतो के सगीत तथा आधुनिक प्रसिद्ध लयो को काव्य मे गुजित किया है। प्रगीत काव्य की अभिव्यक्ति प्रस्तुत रचना मे विभिन्न स्थलो पर प्रस्फुटित हुई है। विविध घटनाओ तथा भावनाओ को व्यक्त करते हुए लेखक ने छन्द परिवर्तित किये हैं, जिससे विभिन्नताओ की सुकुमारता दृष्टिगत होती है। जहाँ सगीत मानव की हृत्तन्त्री को झकृत करता है, वहाँ वह काव्यमय होकर मानव की भावनाओ को प्रांजल करने मे अपना सानी नही रखता। लेखक ने सगीत को काव्यमय तथा काव्य को सगीतमय बनाकर अनात्मवाद के गहनतम मे सोये हुए स्वार्थी मानव को उद्बोधित करने का सफल प्रयास किया है।

सरसता, रमणीयता तथा शब्दो और अर्थों मे अदोषता आदि काव्य के मुख्य गुण माने जाते है। रसयुक्त तथा दोषमुक्त काव्य ही रमणीयता अथवा सुन्दरता की कोटि मे आ सकता है और कविता मे रमणीयता अथवा सुन्दरता लाना अलकारो का विशेष काम है। मानव सौन्दर्य प्रेमी होता है, यही कारण है कि वह प्रागैतिहासिक काल के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भी सुन्दरता लाने का प्रयास करता है। काव्य क्षेत्र मे भी सुन्दरता के लिए ही अलकारो का आविर्भाव हुआ है। प्रस्तुत काव्य मे अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश, उपमा, रूपक, उदाहरण आदि अलकारो का मुख्यत प्रयोग हुआ है। अन्य अलकार भी यत्र-तत्र दिखाई देते है।

अलकारो से किस प्रकार पाठक की आँखो के आगे वर्ण्य विषय का चित्र-सा खिच जाता है, यह निम्न पक्तियो मे देखिए—

आध्यात्मिक मार्मिक धार्मिक उनके भाषण का अद्भुत ओज,
व्यक्ति व्यक्ति करने लग जाते अपने अन्तर मन की खोज,
जीवन दर्शन मुख्य विषय था जिनके पावन प्रवचन का,
पूंगी पर ज्यों नाग डोलते, लगता था मन जन-जन का।

उपर्युक्त पक्तियो मे अलकारो की कैसी छटा विद्यमान है। अन्त्यानुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश तथा उपमा अलकारो का प्रयोग किस सुन्दर ढग से किया गया है। जिस प्रकार पूंगी पर सर्प मन्त्रमुग्ध होकर झूमने लगते है, उसी प्रकार सभास्थल मे बैठा हुआ जनसमुदाय भी धर्माचार्य आषाढभूति का पावन उपदेशामृत मग्न होकर पान कर रहा है। इस प्रकार अलकारो का प्रयोग कर काव्य को द्विगुणित सौन्दर्य प्रदान करना आचार्यश्री की अद्भुत सूझ का परिचायक है। इसी प्रकार रूपक का भी एक उदाहरण देखिए—

होंगे श्री आचार्यदेव ही, लाखों पतितों के पावक।
होगा यही विनोद पूज्य-पादाम्बुज का नन्हा साधक।

'साहित्य दर्पण' के लेखक ने लिखा है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्** अर्थात् रस युक्त वाक्य ही काव्य होता है। रस हीन रचना काव्य की अधम कोटि मे आती है। रस वह अपार्थिव पदार्थ होता है, जिसका पान कर पाठक इस लौकिक ससार से दूर **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना से ओत-प्रोत होता है तथा पात्र के सुख-दुख से स्वय को तादात्म्य कर उसके सुख-दुःख को अपना मानने लगता है।

'आषाढ़भूति' मे शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। यही इसमें प्रमुख रस है। वियोग, करुण, वात्सल्य एव बीभत्स रस आदि भी सहायक रस के रूप मे आये हैं। कौन ऐसा सहृदय पाठक होगा जो धर्माचार्य आषाढ़भूति

के दुख में अपनी सहानुभूति न रखता होगा, वे करुणार्त पुकार रहे है—

क्या करूँ ? कहाँ अब जाऊँ रे ? दुःख किसे सुनाऊँ रे !
मन को कैसे समझाऊं रे ! दुःख किसे सुनाऊँ रे !
एक रहा था जो छोटा-सा, बालक नयन सितारा।
अन्ध-यष्टि-सा मेरे आगे-पीछे एक सहारा।
निर्बल का बल, निर्धन का धन, यदि वह भी बच जाता।
तो उसके आधार बुढ़ापा, सुखपूर्वक कट जाता।
अब रो-रो नयन गमाऊँ रे।

जिस समय आचार्य आषाढभूति पदच्युत हो निर्दय बन सुकुमार छ: बालको की हत्या करते है। उस समय तो ऐसा लगता है मानो करुणा स्वय ही मूर्तरूप धारण करके आ गई है।

वियोग शृगार रस का प्रबल रूप है। जितना वियोग मे रस का परिपाक हो पाता है, उतना सयोग मे नही। चिन्ता, स्मृति, गुण कथन, प्रलाप और उन्माद आदि वियोग की अनेक दशाए मानी जाती है। शिष्यो के काल कवलित हो जाने पर उनके उपकरण आदि को देखकर उनका स्मरण, उनके बिना भविष्य की चिन्ता, विनोद के गुणकथन, विनोद को पुकारना और उन्माद की दशा मे द्वार तक दौडे जाना आदि वियोग मे ही होते है। एक उदाहरण देखिए—

हा ! वत्स ! विनोद कहाँ तू मेरी आशा के तारे।
करुणार्त पुकार रहे हैं, आ वत्स ! शीघ्र तू आ रे।
आहट सुन दौड़े-दौड़े, वे द्वारोपरि जाते हैं।
कोई न दृष्टिगत होता (तो) मूच्छित से हो जाते है।

बच्चो के वियोग मे उनके माता-पिता की दशा का वर्णन तो बहुत मार्मिक बन पाया है। उनके प्रति माता-पिता तथा गुरु की शिष्य के प्रति वात्सल्य भावना का भी समुचित चित्रण भली-भाँति किया गया है। बीभत्स रस भी एक जगह आया है। इसका एक उदाहरण पढिए—

गीध-दृष्टि से दूर-दूर तक, पैनी नजर निहार रहे।
बन करके लोभान्ध आज वे कुछ भी नहीं विचार रहे।
नहीं दृष्टिगत पशु-पक्षी भी क्या मानव का नाम निशान।
चारों ओर रेत के टिब्बे नीरव पथ अरण्य सुनसान।

इस प्रकार 'आषाढभूति' एक रस युक्त काव्य रचना है तथा इसमे विभिन्न रसो का सुन्दर समावेश है।

आषाढभूति की कथा जैन समाज मे अत्यन्त प्रचलित है। समय-समय पर प्राकृत, सस्कृत, गुजराती व राजस्थानी भाषाओं मे इस पर प्रबन्ध रचे जाते रहे हैं। प्रख्यात कथावस्तु कल्पना का सामजस्य पाकर अधिक मुखरित हो उठी है। स्थान-स्थान पर प्रासगिक लोक कथाए तथा प्रचलित शिक्षा कहानियाँ भी सकेत रूप मे आई है, जिन्हे पाठको की सुविधा के लिए परिशिष्ट मे सम्पादक ने सविस्तार हिन्दी गद्य मे लिख दिया है। यह मात्र प्राचीन भाषाओ से अनूदित ही नही है, अपितु इसमे यथा प्रसग दर्शन, अध्यात्म लोक व्यवहार के नाना उपयोग प्रसग बहुत ही रोचक शैली मे सयोजित किये गए हैं। हिन्दी काव्य रचना मे जितना दर्शन का दिग्दर्शन हो पाया है, उतना अन्य भाषाओ मे उपलब्ध नही है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, प्रसाद आदि का किसी-न-किसी दार्शनिक वाद से सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि अद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शैव दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि दर्शनो की मीमासा हिन्दी कविता मे प्रचुर मात्रा मे मिलती है और आश्चर्य यह है कि दर्शन जैसे शुष्क और दुरूह विषय को भी हिन्दी कवियो ने सरस बना दिया है। साथ ही हम कह सकते हैं कि हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ निधि भी वे ही कृतियाँ है, जिनमे किसी न किसी दर्शन का पुट पाया जाता है। 'आषाढभूति' आस्तिकता की नास्तिकता पर विजय का प्रतीक है। भारतीय सस्कृति मे आस्तिकवाद का विशेष महत्त्व है। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति ने जन्म-मृत्यु, नरक-स्वर्ग, आत्मा-परमात्मा सभी इस भौतिक ससार

मे ही माना है। नास्तिको के मत में प्रकृति ही सब कुछ है। उनके अनुसार जड-चेतन एक ही है। परन्तु **प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्** यदि जड और चेतन एक ही वस्तु के नाम हैं और उनका पृथक् अस्तित्व नही है तो मृत शरीर कर्मशील क्यो नही होता ? कवि ने निम्न पक्तियो मे नास्तिको के तर्क का खण्डन तार्किक ढग से प्रस्तुत किया है

यदि भूतवाद ही सब कुछ है, चेतन का पृथगस्तित्व नहीं,
चेतनता धर्म, कहो किसका, गुण अननुरूप होता न कहीं ?
चेतना शून्य क्यों मृत शरीर ? धर्मी से धर्म भिन्न कैसे ?
वह जीव स्वतन्त्र द्रव्य इसकी सत्ता है स्वयं सिद्ध ऐसे।

भारतीय विद्वानो व कवियो ने गुरु महिमा का बहुत वर्णन किया है। कबीर तो गुरु को भगवान् से भी बढ़कर मानते थे। वे कहते थे

हरि रूठें गुरु ठोर है, गुरु रूठें नहीं ठोर।

आचार्यश्री ने भी गुरु-गुण महिमा को अपनी कृति मे दर्शाया है। स्थानागसूत्र मे भगवान् श्री महावीर ने कहा है कि पिता से पुत्र का, लालन-पालन कर अपने ही समान बना देने वाले महाजन से अनाथ बालक का तथा गुरु से शिष्य का उऋण होना बहुत कठिन है।

माता-पिता का पुत्र पर उपकार अपरम्पार है,
निस्व- सेवक पर महर्धिक का अथक आभार है।
शिष्य पर गुरु का ततोधिक महा उपकृति भार है,
करो सेवा क्यो न कितनी, किन्तु दुष्प्रतिकार है।

यही कारण है कि स्वर्गप्रवासी शिष्य विनोद भी अपने गुरु के गुणो का गान करता है

शिष्यो पर रहता सद्‌गुरु का है उपकार अनन्त रे।
कण-कण ले सागर के जल का कौन पा सके अन्त रे।

पड़ा कोयलो की खानो से कंकर जौहरी लाता।
चढ़ा सान पर चमका कर करोडो का मूल्य बढ़ाता।
वैसे ही चमकाते शिष्यों को गुरुवर गरिमावन्त रे।

देव, गुरु, धर्म का महत्त्व भारतीय संस्कृति ने आँका है, इसीलिए भारतवर्ष मे प्राचीन काल से किसी भी कार्य के प्रारम्भ मे इनकी आराधना की जाती है। साहित्यिक कला कृतियो मे भी प्रारम्भ मे मगलाचरण की रीति चली आ रही है। कवि ने कृति के प्रारम्भ मे इनकी स्तुति की है।

जहाँ हम रचना मे भाव पक्ष समुन्नत पाते है, वहाँ कला पक्ष और कल्पना पक्ष भी कम नही है। कवि की कल्पना तो अपनी चरम सीमा पर ही पहुँच गई है। एक ओर कवि की लेखनी से महामारी की विभीषिका चित्रित हुई है तो दूसरी ओर बालको की सुकुमारता। दोनो ही दृश्य चित्रपट की भाँति आँखो के सम्मुख घूमते मे नजर आते है। महामारी का चित्रण कितना सजीव है -

एक चिता पर, एक बीच में, एक पड़ा है धरती।
वर्ग-भेद के बिना शहर में घूम रहा समवर्तीजी।

छहो बालक आचार्य आषाढ़भूति को वन्दन करने आते है, जहाँ बालको के कान्त वपु का वर्णन आता है वहाँ के स्थिति चित्रण मे तो कवित्व परमाकर्षक बन गया है। चित्रण शैली तथा वस्तु शैली का एक नमूना देखिए

तप्त स्वर्ण से उनके चेहरे, कोमल प्यारे-प्यारे।
झलक रही थी सहज सरलता, हसित बदन थे सारे रे।

दीप्तिमान कानों में कुण्डल, लोल-कपोल स्पर्शी।
मुक्ता, मणि, हीरो, पन्नों के हार हृदय आकर्षी रे।

रत्न-जड़ित कण्ठी कण्ठो में, कर कंकण मणि-मण्डित।
हीरों की अक्षुद्र मुद्रिका, थी नव-ज्योति अखण्डित रे।

इसी प्रकार उत्थान एव पतन की स्थितियो का चित्रण देखिए

आता पतन चरम सीमा पर तब आहता उत्थान।
प्राय: मानव-मानस का यह सरल मनोविज्ञान॥

है सम्भावित अत्युत्कर्षण में होना अपकर्ष।
अत्यपकर्षण में ही होता निहित सदा उत्कर्ष॥

कवि की वर्णन शैली के आकर्षण के साथ-साथ पाठकों का ध्यान औपन्यासिक कथोपकथन की सर्जावता की ओर चला जाता है। रीति कालीन कवि केशव की रचनाओं मे इसकी प्रधानता रही है। जहाँ सम्वाद कथावस्तु को सरस बनाते है, वहाँ वे उसको आगे बढाने मे भी सहायता देते है। गुरु-शिष्य के सम्वाद वास्तव में बहुत ही हृदयस्पर्शी बन पडे हैं और उनमे नाटकीयता के भी दर्शन होते है। गुरु-शिष्य सम्वाद मे शिष्य विनोद अपने देवलोक का वर्णन करता है तथा नाटक को अपनी ही माया बताता है। इस प्रकार कथा कथोपकथन के सहारे आगे बढती है। इस प्रकार के उदाहरण हिन्दी-कृतियो मे कम ही मिलते है।

दिन-प्रतिदिन हिन्दी का साहित्य वृद्धि पर है। अनात्मवादी भौतिक समाज को साहित्य के माध्यम द्वारा आध्यात्मिकता मे ओत-प्रोत करना आचार्यश्री का प्रमुख कार्य है। 'तेरापथ द्विशताब्दी समारोह' एव 'आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह' के उपलक्ष मे प्रकाशित योजनाबद्ध साहित्य ने हिन्दी-साहित्य की समृद्धि ही की है। 'आषाढभूति' उसी शृखला मे एक पुष्प है और आशा है कि भविष्य मे भी इसी प्रकार भारत भारती के अमूल्य कोष मे आचार्यश्री तथा उनके आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वियाँ अनेक मूल्यवान् साहित्यिक रत्नो की वृद्धि करते रहेगे।

जब-जब मनुजता भटकी

मुनिश्री बुलीचन्दजी

जब जब यहाँ मनुजता घोर तिमिर राशि मे भटकी
तब तब हाथों मे नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

कर्राह रहा था मनुज यहाँ भीषण दु.खो के उन
ऊडे गर्त्तों मे घायल-सा असहाय जरू जकडा
वह हार चुका था शक्ति सभी बस केवल उसका तब
जीवन-दीपक टिम-टिम जलता था, हा ! निस्तेज पडा
हो स्नेह से पूर्ण तभी, द्रुत सीच-सीच कर बुझते
उस दीपक को तुमने शुभ आलोक किरण दिखलाए
जब जब यहाँ मनुजता घोर तिमिर राशि मे भटकी
तब तब हाथो में नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

नैतिकता का मृदुल धरातल जब जब अगारों मे
तपा यहाँ पर प्रलयकाल की पावक से भी बढकर
लगा रहा था चीख, सभी सुध-बुध खो देने वाली
किसी दु ख की तीखी चुभती कगर पर चढकर
तब तब तुमने प्राणों को ले मुठी मे निज मातृभूमि
की लाज बचाने को थे दृढतर हाथ बढ़ाये
जब जब यहाँ मनुजता घोर तिमिर राशि मे भटकी
तब तब हाथो मे नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

जब जब मानवता का विश्वास यहाँ पर डोला और
सशकित होकर किसी अबुधता के पजे में उलझा
किये अनेको यत्न मनुज ने पर उसको न यहाँ पर
ला पाया और न रंच सका उसको वह समझा
तब तब तुमने इस दुनिया को, अविकल दिल से वे शुभ
विश्वासों के पोषक, सुमधुर गीत अनन्त सुनाये
जब जब यहाँ मनुजता घोर तिमिर राशि मे भटकी
तब तब हाथों मे नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

शुभ भावना

प० जुगलकिशोर
अधिष्ठाता 'वीर सेवा मन्दिर'

मै आचार्यश्री तुलसी को उस वक्त से कुछ-न-कुछ सुनता, जानता तथा अनुभव मे लाता आ रहा हूँ, जब वे सितम्बर, १९३६ मे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। उस समय पत्रों मे उनके अनुकूल-प्रतिकूल अनेक आलोचनाएँ निकली थी, जिनमे उन्हे 'नाबालिग आचार्य' तक कहकर भी कुछ खिल्ली उड़ाई गई थी। और इसलिए उक्त साधनो द्वारा मुझे जो कुछ भी परिचय आचार्यश्री का अब तक प्राप्त होता रहा है उन सबके आधार पर इतना निश्चित ही है कि आचार्यश्री तुलसीजी ने बड़ी योग्यता के साथ अपने पद का निर्वाह किया है। इतना ही नही, उसकी प्रतिष्ठा को आगे बढ़ाया है। उनके गुरु महाराज ने आचार्य-पद प्रदान के समय उनमे जिस योग्यता और शक्ति का अनुभव किया था उसे साक्षात् सत्य सिद्ध करके बतलाया है। वे उस वक्त की अनुकूल आलोचनाओं पर हर्षित और प्रतिकूल आलोचनाओं पर क्षुभित न होकर अपने कर्तव्य की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने समदर्शित्व और सहनशीलता को अपनाकर अपनी योग्यता को उत्तरोत्तर बढ़ाने का प्रयत्न किया। नैतिकता का पूरा ध्यान रखते हुए ज्ञान और चरित्र को उज्ज्वल एवं उन्नत बनाया। उसी का यह फल है कि वे प्रतिकूलों को भी अनुकूल बना सके और इतने बड़े साधु-साध्वी-संघ का बाईस वर्ष की अवस्था मे ही बिना किसी खास विरोध के सफल सचालन कर सके है। आपके सत्प्रयत्न से कितने ही साधु-साध्वीजन अच्छी शिक्षा एव योग्यता प्राप्त कर स्व-पर-हित साधना के कार्य मे लगे हुए है और लोक-कल्याण की भावनाओ को अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा आगे बढ़ा रहे है, यह सब देख-सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती है। अत मै आचार्यश्री के इस धवल समारोह के पुनीत अवसर पर उनके निराकुल दीर्घ जीवन और आत्मोन्नति मे अग्रसर होने की शुभ भावना भाता हुआ उन्हे अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

●

अणुव्रत के आचार्यप्रवर श्री तुलसी के प्रति
अर्पित है मेरी लघु वचना प्रणति—नमस्कृति !

—**सियारामशरण**

मुनि श्री बुद्धमल्लजी

आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ के नवम आचार्य हैं। उनके अनुशासन मे वर्तमान मे तेरापथ ने जो उन्नति की है, वह अभूतपूर्व कही जा सकती है। प्रचार और प्रसार के क्षेत्र मे भी इस अवसर पर तेरापथ ने बहुत बडा सामर्थ्य प्राप्त किया है। जन-सम्पर्क का क्षेत्र भी आशातीत रूप मे विस्तीर्ण हुआ है। सक्षेप में कहा जाये तो यह समय तेरापंथ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का रहा है। आचार्यश्री ने अपना प्राय समस्त समय सघ की इस प्रगति के लिए ही अर्पित कर दिया है। वे अपनी शारीरिक सुविधा-असुविधाओ की भी परवाह किये बिना अनवरत इसी कार्य मे जुटे रहते है। इसीलिए आचार्यश्री के शासनकाल को तेरापथ के प्रगतिकाल या विकासकाल की सज्ञा दी जा सकती है। आचार्यश्री का बाह्य तथा आन्तरिक, दोनो ही प्रकार का व्यक्तित्व बडा आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। मॅझला कद, गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झाँकती हुई तेज आँखे, लम्बे कान व भरा हुआ आकर्षक मुखमण्डल—यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व। दर्शक उन्हे देखकर महात्मा बुद्ध की आकृति की एक झलक अनायास ही पा लेता है। अनेक नवागन्तुको के मुख से उनकी और बुद्ध की तुलना की बाते मैंने स्वय सुनी है। दर्शक एक क्षण के लिए उन्हे देखकर भावविभोर-सा हो जाता है। उनका आन्तरिक व्यक्तित्व उससे भी कही बढकर है। वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी सभी सम्प्रदायो की विशेषताओ का आदर करते है और सहिष्णुता के आधार पर उन सब में नैकट्य स्थापित करना चाहते है। वे मानवतावादी है, अत समस्त मानवो के सुसस्कारो को जगाकर भू-मण्डल से अनैतिकता और दुराचार को हटा देने के स्वप्न को साकार करने मे जुटे हुए हैं। अथक परिश्रम उनके मानस को अपार तृप्ति प्रदान करता है। वे बहुधा अपने भोजन तथा शयन के समय मे से भी कटौती करते रहते है। अपराजेय साहस, चिन्तन की गहराई, दूसरे के मनोभावो को सहजता से ही ताड लेने का सामर्थ्य और अयाचित स्नेहार्द्रता ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को और भी महत्त्वशील बना दिया है।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जहाँ सन्देहो से परे है, वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व अनेक व्यक्तियो के लिए सन्देह-स्थल भी बना है। कुछ लोगो ने उनमे द्वैध व्यक्तित्व की आशकाएँ की है। उनका व्यक्तित्व किसी को सम्प्रदायातीत मालूम दिया है, तो किसी को अपार साम्प्रदायिक। किसी ने उनमे उदारता और स्नेहार्द्रता के दर्शन किये है, तो किसी ने अनुदारता और शुष्कता के। तात्पर्य यह है कि वे अनेक व्यक्तियों के लिए अभी तक अज्ञेय रहे है। वे समन्वयवाद को लेकर चलते हैं, अत अपने-आप को बिल्कुल स्पष्ट मानते है, परन्तु उनमे भयकर अस्पष्टता का आरोप करने वाले व्यक्ति भी मिलते है। वे अहिंसक है, अत अपने लिए किसी को अमित्र नही मानते, फिर भी अनेक व्यक्ति उनको अपना भयकर विरोधी मानते है। भारत के प्राय सभी प्रमुख पत्रो ने, तथा कुछ विदेशी पत्रो ने भी, जहाँ उनको तथा उनके कार्यो को महत्त्वपूर्ण बतलाया है, तो कुछ छोटे पत्रो ने उनको जी भरकर कोसा भी है। इतना ही नही, अपितु उनकी तथा उनके कार्यो की निम्नस्तरीय आलोचनाए भी की, पर वे उन सबको एक भाव से देखते रहे। न स्वय उन विरोधो का प्रतिवाद किया और न अपने किसी अनुयायी को करने दिया। वे सत्य-शोध के लिए विरोध को आवश्यक समझते है और उसे विनोद की ही तरह सहज भाव से ग्रहण करते है। अपनी इस भावना को उन्होने अपने एक पद्य मे यो व्यक्त किया है

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद,
सत्य, सत्य-शोध में, तब ही सफलता पायेंगे।

अनेक विचारक व्यक्तियो ने उनके विचारो का समर्थन करने वाला तथा अनेको ने खण्डन करने वाला साहित्य लिखा है। उस उच्चस्तरीय आलोचना तथा खण्डन का उन्होने उसी उच्च स्तर पर उत्तर भी दिया है। वे 'वादे वादे जायते

तत्त्वबोध' को एक बहुत बडा तथ्य मानते है। वे आलोचनाओ से बचने का प्रयास नही करते, किन्तु उनके स्तर का ध्यान सदैव रखते है। उच्चस्तरीय आलोचना को उन्होने सदैव सम्मान की दृष्टि मे देखा है और उसपर उनकी भावनाए मुखर होती रही है, जबकि निम्नस्तरीय आलोचना पर वे पूर्णत मौन धारण करते रहे है।

इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विषय मे विविध व्यक्तियो के विविध विचार है, पर यह विविधता और विरोध ही उनके व्यक्तित्व की प्रचण्डता और अदमनीयता का परिचायक है। वे समन्वयवादी है, अत जहाँ दूसरो को अन्तर्-विरोध का आभास होता है, वहाँ उनको समन्वय की भूमिका भी दिखायी पडती है। उनके दर्शन की इस पृष्ठभूमि ने उनको विविधता प्रदान की है और उनके विरोधियो को एक उलझन।

ऐसे व्यक्तियो को शब्दो मे बाँधना बहुत कठिन होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्तित्व ही शब्दो मे बाँधने योग्य होते हैं। जिनके जीवन मे न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य, उनका व्यक्तित्व शब्द मे छिपकर रह जाता है और जिनमे ये विशेषताए होती हैं उनके व्यक्तित्व मे शब्द छिपकर रह जाता है। समस्या दोनो जगह पर है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार की है। आचार्यश्री के व्यक्तित्व को शब्दो मे बाँधने वाले के लिए यही सबसे बडी कठिनाई है कि उसे जितना बाँधा जाता है उससे कही अधिक वह बाहर रह जाता है। शब्द उसके सामर्थ्य को अपने मे अटा नही पाते, उनके व्यक्तित्व की गुरुता के सम्मुख शब्दो के ये बाट बहुत ही हलके पडते है।

— लेखक

: १ :

बाल्य काल

जन्म

आचार्यश्री तुलसी का जन्म स० १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया को राजस्थान (मारवाड) के लाडनूं शहर मे हुआ था। उनके पिता का नाम झूमरमलजी तथा माता का नाम वदनाजी है। वे ओसवाल जाति के खटेड गोत्रीय है। छ भाइयो मे वे सबसे छोटे है। उनके तीन बहने भी हैं। उनके मामा हमीरमलजी कोठारी उन्हे 'तुलसीदासजी' कहकर पुकारा करते थे। वे यह भी कहा करते थे कि हमारे 'तुलसीदासजी' बडे नामी आदमी होगे। उनकी यह बात उस समय तो सम्भवत प्यार के अतिरेक से उद्भूत एक सरल और सहज कल्पना ही मानी गई होगी, परन्तु आज उसे एक सत्य घटित होने वाली भविष्यवाणी कहा जा सकता है।

घर की परिस्थिति

आचार्यश्री के ससारपक्षीय दादा राजरूपजी खटेड काफी प्रभावशाली और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सिराजगज (अब यह पूर्वी पाकिस्तान मे है) मे रायबहादुर बाबू बुधसिहजी के यहां मुनीम थे। वहाँ उनका बहुत बडा व्यापार था और उसकी सारी देख-भाल राजरूपजी के ऊपर ही थी। वे व्यापार मे बडे निपुण थे, अत उस क्षेत्र मे उनका काफी सम्मान था। रहन-सहन भी उनका वडा रौबीला था।

स० १९४४ मे सेठ बुधसिहजी के पौत्र इन्द्रचन्दजी आदि विलायत-यात्रा पर गये, तो लौटने पर वहा एक सामाजिक झगडा चल पडा था। उनके विरोधी पक्ष ने उनको तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालो को जाति-बहिष्कृत कर दिया था। उस झगडे मे श्रीसघ के पक्षपाती होने के कारण राजरूपजी ने उनके यहाँ से नौकरी छोड दी और घर आ गए। पहले कुछ दिनो कही अन्यत्र मुनीमी प्राप्त करने का प्रयास करते रहे, परन्तु जिस सम्मान और रौब से वे सिराजगज मे रह चुके थे, उससे कम मे रहना उन्हे पसन्द नही था तथा उतना कही मिल नही सका। अत वे तब से प्राय घर पर ही रहने लगे। उनके पुत्र झूमरमलजी एक सरल स्वभावी व्यक्ति थे। व्यापार मे अधिक सफल नही हो सके। कमाई साधारण रही और परिवार बडा होने से व्यय अधिक रहा, अत धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति गिरने लगी और परिवार पर ऋण हो गया। स० १९७३ मे राजरूपजी का देहान्त हो गया। उसके बाद स० १९७६ मे झूमरमलजी का भी देहान्त हो गया। इन मौतो के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति पर और भी दबाव पडा, किन्तु आचार्यश्री के वडे भाई मोहनलालजी ने काफी प्रयत्न तथा साहस से उस स्थिति को सँभाल लिया। उन्होने बहुत कम समय मे ही उस ऋण को उतार दिया तथा अपने घर की स्थिति को फिर से सुव्यवस्थित कर लिया। उस समय उनके अन्य भाई भी व्यापार-कार्य मे लगे और उन्होने घर की आर्थिक स्थिति सुधारने मे यथाशक्ति योग दिया। इस प्रकार वह परिवार फिर से अपने पैरो पर खडा रहकर सम्मानित जीवन बिताने लगा।

धार्मिकता की ओर झुकाव

आचार्यश्री के परिवार वालो मे प्राय सभी की धार्मिक अभिरुचि अच्छी थी। उनमें भी वदनांजी की श्रद्धा तथा अभिरुचि सर्वोपरि कही जा सकती है। लाडनूं मे स० १९१४ से लगातार वृद्ध सतियो का स्थिरवास चला आ रहा

है। साध्वियाँ जहाँ रहती है वहाँ पास मे ही उनका घर है, अत उनका फुरसत का समय प्राय वही व्यतीत होता था। व्याख्यान आदि के समय तो एक प्रकार मे निश्चित बँधे हुए थे ही। वे अपने बालको को भी दर्शन करने के लिए प्रेरित करती रहती थी। जब कोई भी बालक प्रातराश के लिए कहता, तो वे बहुधा यह पूछ लिया करती थी कि दर्शन कर आया कि नही ? यदि दर्शन किये हुए नही होते तो वे यही चाहती कि एक बार दर्शन कर आए। उनकी इस नैरन्तरिक प्रेरणा ने वहाँ का वातावरण ही ऐसा बना दिया था कि साधु-साध्वियो के स्थान पर जाकर दर्शन कर आना उन सबका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य हो गया। आचार्यश्री उस समय बाल्यावस्था मे ही थे, फिर भी घर के अन्य सदस्यो के समान ही प्रतिदिन वे दर्शन करने के लिए जाया करते थे। उनका धर्म के प्रति एक आन्तरिक अनुराग हो गया था। उनके एक बडे भाई मुनिश्री चम्पालालजी ने जब स० १६८१ मे दीक्षा ग्रहण की, तबसे तो वे और भी अधिक धार्मिकता की ओर आकृष्ट हुए थे। उनका वह झुकाव धीरे-धीरे अनुकूल वातावरण मे वृद्धिगत होता रहा।

एक दूसरा पहलू

जीवन मे जब दैवी सस्कारो का बीज-वपन होता है, तब बहुधा आसुरी सस्कार भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने का जोर मारते है। वे किसी-न किसी बहाने से व्यक्ति को भटका देना चाहते है। वैसी स्थिति मे अनेक व्यक्ति भटक जाते है तो अनेक सँभलकर वैसे सस्कारो पर विजय पा लेते हैं और उन्हे सत्-सस्कारो मे परिणत कर लेते है। आचार्यश्री के बाल-जीवन मे भी कुछ-एक ऐसे क्षण आये जब कि एक ओर तो धार्मिक सस्कार उनके मन मे जड जमाने लगे, और दूसरी ओर से आसुरी सस्कारो ने उन्हे भटका देना चाहा। वह उनके बाल-जीवन के चित्र का एक दूसरा पहलू कहा जा सकता है। उन्होने स्वय अपने 'अतीत के कुछ सस्मरण' लिखते हुए इस घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—"एक बार उन्हीके एक कौटुम्बिक जन ने उन्हे बतलाया कि यहाँ गाँव से बाहर 'ओरण' मे एक रामदेवजी का मन्दिर है। उसमे देवता बोलता है, परन्तु उसको नारियल चढाना आवश्यक होता है। यदि तुम अपने घर से नारियल ला सको तो हम तुम्हे देवता की बोली सुना सकते है। बाल-सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होने नारियल ले आने का वचन दिया और घर मे जाकर चुपके-से एक नारियल उठा लाये। मन्दिर मे छिपकर किसी व्यक्ति के बोलने को ही उन्होने अपनी बाल-सुलभ सरलता से देव-वाणी मान लिया था। उस चक्कर मे उन्होने कई बार नारियल चुराये, परन्तु शीघ्र ही आत्म-निरीक्षण द्वारा वे इस कुसगति से छूट गए और सत्-सस्कारो की विजय हुई।

दीक्षा के भाव

स० १६८२ मे मिगसर महीने मे आचार्यश्री कालूगणी का लाडनूँ-पदार्पण हुआ। उस समय बालक तुलसी को प्रथम बार निकटता से आचार्यदेव के दर्शन करने तथा व्याख्यान आदि सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। इस निकट-सम्पर्क ने उनके पूर्वार्जित सस्कारो को उद्बुद्ध कर दिया। फलस्वरूप बालक होते हुए भी वे विराग-भाव से रहने लगे। जो बात व्याख्यान आदि मे सुनते, उसपर विशेष रूप से मनन करते। मन मे जो प्रश्न उठते, उनकी चर्चा घर जाकर अपनी माता के पास करते और उनका समाधान खोजते। माता वदनांजी उन्हे जो सरल-सा उत्तर देती, उस समय उनकी जिज्ञासा उसी से तृप्त हो जाया करती।

एक दिन उन्होने अपने घर वालो के सामने अपनी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की, परन्तु उसे बाल-भाव का विनोद-मात्र समझकर यो ही टाल दिया गया। उन्होने कुछ दिन बाद फिर अपनी बात को दुहराया, परन्तु किसी ने उस बात पर गम्भीरता से ध्यान नही दिया। उन्हे इस बात पर बहुत खेद हुआ कि वे जिस बात को एक तथ्य के रूप मे कहना चाहते है, घर वाले उसे एक बाल-भाव मात्र समझते है, परन्तु वस्तुत बात ऐसी नही थी। घर वाले उनकी इस भावना से परिचित होने के साथ-साथ सावधान भी हो गए थे। अपनी 'हाँ' या 'ना' से वे इस बात को खीचकर अधिक पक्का करना नही चाहते थे। वे इस समस्या को सुलझाने का अन्दर-ही-अन्दर कुछ प्रयत्न सोचने मे लगे थे।

उनकी बहिन लाडांजी के कुछ समय से दीक्षा लेने के विचार थे। आचार्यश्री कालूगणी के पदार्पण से ऐसी

सम्भावनाए की जाने लगी थी कि सम्भवत इस अवसर पर उन्हे दीक्षा की स्वीकृति मिल जाये। परिवार के प्रमुख तथा अगुआ सदस्य मोहनलालजी उस समय बगाल मे थे। उनको बुलाये बिना न लाडाँजी के विषय मे कोई निश्चित कदम उठाया जा सकता था और न बालक तुलसी के विषय मे। दोनो समस्याओ का हल एक ही था कि मोहनलालजी को यहाँ बुला लिया जाये, फिर क्या कुछ करना है तथा कैसे करना है, इसकी चिन्ता वे स्वय ही कर लेगे। वे उन दिनो सिराजगज (पूर्वी बगाल) मे रहा करते थे। उन्हे तार दिया गया कि लाडाँजी की दीक्षा की सम्भावना है, शीघ्र आइये। तार पढकर वे तुरन्त लाडनूँ चले आये। स्टेशन पहुँचने पर पता चला कि 'तुलसी' भी दीक्षा की बात कर रहा है, तो वे बहुत झल्लाये। कहने लगे कि मुझे यह खबर होती तो मै आता ही नही। आखिर वे घर पर आये। घर वालो को बहुत-कुछ कहा-सुना। आपको भी अच्छी-खासी डाँट सुनायी और आगे के लिए ऐसी बात मुँह मे भी न घालने की चेतावनी दी।

जो टलने का नही होता, उसे कैसे टाला जा सकता है! बात रुकने की नही थी, सो नही रुकी। जब-तब सामने आती रही। उनके चौथे भाई मुनिश्री चम्पालालजी पहले ही दीक्षित हो चुके थे। उनकी प्रेरणा थी कि वे इस दीक्षा मे बाधा न दे, परन्तु मोहनलालजी अब और किसी भाई को दीक्षित होने देना नही चाहते थे। उन्होने साफ-साफ कह दिया था कि वे दीक्षा की स्वीकृति नहीं देगे। तेरापथ की दीक्षा-विषयक नियमावली के अनुसार अभिभावको की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षा नही दी जा सकती। मोहनलालजी को अनेक व्यक्तियो ने समझाने का प्रयास किया, मुनिश्री मगनलालजी ने भी उनसे कहा, पर वे नही माने।

समस्या का सुलझाव

आपने जब देखा कि यह समस्या यो सुलझने वाली नही है, तो अपने-मे से ही कोई मार्ग खोजने लगे। मन मे एक विचार कौधा और वे हर्षोत्फुल्ल हो उठे। उस समय आचार्यश्री कालूगणी व्याख्यान दे रहे थे। वहाँ की विशाल परिषद् उनके सामने उपस्थित थी। आप वहाँ गये और व्याख्यान मे खडे होकर कहने लगे—गुरुदेव! मुझे आजीवन विवाह करने और व्यापारार्थ परदेश[1] जाने का त्याग करा दीजिये। सुनने वाले चकित रह गए! मोहनलालजी सोच मे पड गए कि यह क्या हो रहा है। आचार्यदेव ने शान्त भाव से समझाते हुए कहा—तू अभी बालक है, इस प्रकार का त्याग करना बहुत बडी बात होती है।

गुरुदेव के इस कथन से मोहनलालजी बडे आश्वस्त हुए, परन्तु आपके मन मे बडी उथल-पुथल मच गई। जो उन्होने सोचा था, वह द्वार खुल नही पाया। वे एक क्षण रुके, कुछ असमजस मे पडे और दूसरे ही क्षण नये मार्ग का निश्चय कर लिया। उन्होने अपने साहस को बटोरा और कहने लगे—गुरुदेव! मैं आपकी साक्षी से ये त्याग करता हूँ।

मोहनलालजी अब कहे तो क्या कहे और करे तो क्या करे! बहुत व्यक्तियो ने पहले उनको समझाया था, पर भ्रातृ-मोह बाधक बन रहा था। समस्या की जो डोर सुलझ नही पा रही थी, आपके इस उपक्रम से वह अपने-आप सुलझ गई। बात का और डोर का, सिरा हाथ लग जाने पर उसे सुलझते कोई देर नही लगती।

मोहनलालजी ने परिस्थिति को समझा, दीक्षार्थी के परिणामो की उत्कटता को समझा और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इसे रोकने का प्रयास करना व्यर्थ है। आखिर उन्होंने दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करने का ही निर्णय किया। गुरुदेव के चरणों मे दीक्षा प्रदान करने के लिए विनती प्रस्तुत की। गुरुदेव ने पहले साधु-प्रतिक्रमण सीखने के लिए आज्ञा प्रदान की और उसके बाद फिर प्रार्थना करने पर दीक्षा प्रदान करने के लिए पौष-कृष्णा पञ्चमी का दिन घोषित कर दिया गया।

एक परीक्षा

दीक्षा ग्रहण करने से एक दिन पूर्व रात्रि के समय मोहनलालजी ने विरागी बालक की भावना तथा साधु-आचार-सम्बन्धी ज्ञान की परीक्षा करने की सोची। मोहनलालजी की चारपाई के पास ही उनकी चारपाई बिछी हुई थी। जब

---

१ उन दिनों 'थली' के ओसवाल व्यापारार्थ प्रायः बंगाल जाया करते थे। वे उसे 'परदेश जाना' कहते थे।

वे सोने के लिए उस पर आकर लेटे तो मोहनलालजी और वे दो ही वहाँ पर थे। परीक्षा के लिए वही अवसर ठीक समझ कर मोहनलालजी ने उनसे धीरे से बात करते हुए कहा—कल तो तुम दीक्षित हो जाओगे। साधु-जीवन मे कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होती है। अत बडी सावधानी और साहस से तुम्हे रहना होगा। अभी तुम बालक हो, अत भूख-प्यास के कष्ट भी काफी सतायेगे। कभी किसी समय भोजन मिलेगा, तो कभी किसी समय। कही आचार्यदेव के द्वारा दूर प्रदेशो मे विहार करने के लिए भेज दिए जाओगे, तो मार्ग मे न जाने कैसे-कैसे कष्टो का सामना करना पडेगा। अन्य सब कष्ट तो आदमी फिर भी सह सकता है, परन्तु यदि आहार-पानी नही मिला तो तुम जैसे बालक के लिए भूख और प्यास के कष्टो को सहना बडा ही कठिन हो जायगा। परन्तु हां, उसका एक उपाय हो सकता है। यह कहकर उन्होने अपने पास से एक सौ रुपये का नोट निकाला और उनको देने का प्रयास करते हुए कहने लगे कि यह नोट तुम अपने पास रखो। जब कभी तुम्हारे सामने भूख-प्यास का सकट आवे, तब तुम इसे अपने काम मे ले लेना।

अपने बडे भाई की यह बात सुनकर वे बहुत हँसे और छोटा सा उत्तर देते हुए कहने लगे कि साधु हो जाने के बाद नोट रखना कल्पता ही कहाँ है ?

मोहनलालजी ने उनकी बात का विरोध किया और कहा कि रुपये-पैसे रखने तो नही कल्पते, किन्तु यह तो एक कागज है। क्या तुम प्रतिदिन नही देखते कि साधुओ के पास कितने कागज होते है ! तुमने अभी जो साधु-प्रतिक्रमण सीखा है, वह भी कागजो पर ही साधुओ द्वारा लिखा हुआ था। व इतने सारे कागज कल्प से बाहर नही है तो फिर यह छोटा-सा कागज क्यो नही कल्पेगा ? उनमे और इसमे आखिर अन्तर भी क्या है ? अपने 'पूठे' मे एक ओर रख लेना, पडा रहेगा, तुम्हारा इसमे नुकसान भी क्या है ? समय-बेसमय काम ही आयेगा।

उनकी इतनी सारी बातो के उत्तर मे वे केवल हँसते रहे और बोले—ये तो रुपये ही है। यह नही कल्पता। बार-बार मनुहार करने पर भी वे अपनी धारणा पर दृढ रहे, तब मोहनलालजी ने समझ लिया कि केवल ऊपर से ही विराग नही है, अपितु अन्तरग से है और साथ मे सयम की सीमाओ का भी ज्ञान है। उन्होने नोट को यथास्थान रख लिया और परीक्षा मे उनकी उत्तीर्णता पर मन-ही मन प्रसन्न हुए।

दीक्षा-ग्रहण

आचार्यश्री कालूगणी को लाडनूं आये एक महीना पूर्ण हो चुका था, अत चौथ के दिन ही वहाँ से विहार कर गाव से बाहर महालचन्दजी बोरड की कोठी मे पधार गए। कोठी के बाहर ही बहुत बडा खुला चौक है। वही दीक्षा प्रदान करने का स्थान निर्णीत किया गया था। प्रात काल ही हजारो व्यक्तियो के सम्मुख दीक्षा प्रदान की गई और सीधे वही से विहार करके सुजानगढ पधार गए। वह दिन स० १९८२ पौष कृष्णा पञ्चमी का था।

इस दीक्षा को आचार्यश्री कालूगणी ने सम्भवत प्रारम्भ से ही कुछ विशिष्ट समझा था। दीक्षा से पहले तो उन्होने अपनी कोई ऐसी भावना प्रकट नही की थी, किन्तु कुछ दिन बाद एक बार वह अनायास ही प्रकट हो गई थी। एक बार उनके पास शकुन-सम्बन्धी बाते चल पडी थी। मुनिश्री चौथमलजी ने कहा कि पहले तो शकुनो के फल प्राय मिला करते थे, यही सुना जाता है, पर अब तो वैसा कुछ नही देखा जाता। आचार्यश्री कालूगणी ने तब इसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया कि नही ही मिलते, ऐसी तो कोई बात नही है। अभी हम लोग बीदासर से विहार करके लाडनूं जा रहे थे, तब अच्छे शकुन हुए थे। फलस्वरूप तुलसी की दीक्षा कैसी अनायास और अकस्मात् ही हो गई।

मालूम होता है, उनके इन शब्दो के पीछे कुछ विशिष्ट भावना अवश्य रही थी। जिसको कि उन्होने कुछ खुली और कुछ ढकी ही रहने दिया था। उस समय उस शकुन की विशेषता के प्रति किसी को निष्ठा हुई हो चाहे न हुई हो, पर अब यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्यश्री कालूगणी का उस शकुन के विषय मे जो विचार था, वह बिल्कुल सत्य निकला। आचार्यश्री तुलसी ने अपने विकासशील व्यक्तित्व से अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि वे एक विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व को लेकर ही दीक्षित हुए थे।

: २ :

मुनि-जीवन के ग्यारह वर्ष

विद्या का बीज-वपन

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी ग्यारह वर्ष की अल्प-अवस्था मे ही दीक्षा ग्रहण की थी। उसके बाद वे तत्काल ही विद्यार्जन मे लग गए। प्रारम्भ से ही विद्या के विषय मे उनकी विशेष आतुरता रहा करती थी। गृहस्थावस्था मे जब उन्होने अपना प्रारम्भिक अध्ययन शुरू किया था, तब भी उनकी वह आतुरता लक्षित की जा सकती थी। वे अपनी कक्षा के सबसे बुद्धिमान् और निपुण विद्यार्थी समझे जाते थे। वे अपनी कक्षा के मानीटर थे। अध्यापक उनके प्रति विशेष आश्वस्त रहा करते थे।

विद्या का बीज-वपन यद्यपि उन्होने गृहस्थ जीवन मे किया था, किन्तु उसका यथेष्ट अर्जन तो दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ही किया। बाल्य अवस्था, तीव्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम—इन तीनो का एकत्र सयोग होने से वे अपने भावी जीवन के महल का बड़ी तीव्रता से निर्माण करने लगे।

ज्ञान कण्ठाँ दाम अण्टाँ

दीक्षा-ग्रहण करते ही साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान कराने के लिए दशवैकालिक सूत्र को, जो कि प्राय प्रत्येक नव-दीक्षित को कण्ठस्थ कराया जाता है, उन्होने बहुत थोड़े ही समय मे कण्ठस्थ कर लिया। उसके बाद वे सस्कृत-अध्ययन मे लग गए। 'ज्ञान कण्ठाँ और दाम अण्टाँ' इस राजस्थानी कहावत के हार्द को वे भली भाँति जानते थे, अत कण्ठस्थ करने मे उनका विशेष ध्यान था। उन्होने अपने विद्यार्थी-जीवन मे करीब बीस हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था। प्राचीन काल मे तो ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ करने की प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया जाता था। सारा-का-सारा ज्ञान-प्रवाह परम्पर-रूप से कण्ठस्थ ही चलता रहता था। परन्तु युग की बदलती हुई धारणाओं के समय मे भी इतना ग्रन्थ कण्ठस्थ करके उन्होने सबके सामने एक आश्चर्य ही पैदा कर दिया था। उनके कण्ठस्थ किये हुए ग्रन्थो मे व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम-विषयक ग्रन्थ मुख्य थे।

अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त उन्होने सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का अधिकारपूर्ण अध्ययन किया। उनकी शिक्षा के संचालक मुख्यतः स्वयं आचार्यश्री कालूगणी ही रहे थे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा का भी उसमे काफी अच्छा सहयोग रहा था। सस्कृत-व्याकरण की दुरूहता का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्यश्री कालूगणी अनेक बार विद्यार्थी साधुओ को एक दोहा फरमाया करते थे। वह इस प्रकार है :

खान पान चिन्ता तजे, निश्चय मांडे मरण।
घो-ची-पू-ली करतो रहै, जब आवै व्याकरण॥

अर्थात्, "जब कोई खान-पान आदि की चिन्ताओ को छोडकर केवल व्याकरण के ही पीछे अपना जीवन झोंक देता है तथा उतने समय के लिए घोटने, चितारने (घोटे हुए पाठ का पुनरावर्तन करने), पूछ-ताछ करने और लिखने को ही अपना मुख्य विषय बना लेता है, तब कहीं संस्कृत-व्याकरण को हृदयगम करने मे सफलता मिलती है।" इस दोहे के माध्यम से वे अपने शिष्यवर्ग को यह बतलाने का प्रयास किया करते थे कि व्याकरण सीखने वालो को अपना सकल्प कितना दृढ़ करने की तथा अपनी वृत्तियो को कितना केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने विद्यार्थी-जीवन मे आचार्यश्री कालूगणी की उसी प्रेरणा को चरितार्थ कर दिखाया था। केवल व्याकरण के लिए ही नही, वे तो जिस विषय को हाथ मे लेते थे, उसके पीछे उपर्युक्त प्रकार से ही अपने-आपको झोक दिया करते थे। कभी न थकने वाली उनकी इस लगन ने ही उनको आज अकल्पनीय को भी कल्पनीय और असम्भव को भी सम्भव बना देने का सामर्थ्य प्रदान किया है। विद्यार्थी-जीवन की उनकी वह प्रकृति आज भी रूपान्तर पाकर उसी तरह से विद्यमान है।

अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर वे जिस किसी भी ग्रन्थ को कण्ठस्थ करने का निर्णय करते, उसे बहुत स्वल्प समय मे ही पूर्ण कर छोडते। इसीलिए उनकी त्वरता मे दूसरो का उनके साथ निभ पाना प्राय कम ही सम्भव रहा। दशवैकालिक, भ्रमविध्वसन, अभिधानचिन्तामणि (नाममाला), सिद्धान्तचन्द्रिका, भिक्षुशब्दानुशासन, प्रमाणनय-तत्त्वालोक और षड्दर्शनसमुच्चय आदि आगम, व्याकरण तथा दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ तो उन्होने कण्ठस्थ किये ही थे, परन्तु शान्तसुधारस, भक्तामर आदि अनेक स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ तथा अनेक छोटे-बडे व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ भी उन्होने कण्ठस्थ किये थे। इनके अतिरिक्त उन्होने अनेक ऐसे ग्रन्थ भी कण्ठस्थ कर डाले थे, जिन्हे कि साधारणतया पढ लेने से ही काम चल सकता था। सम्पूर्ण सस्कृत-धातुपाठ, गणरत्नमहोदधि तथा उणादि-सूत्रपाठ आदि को उसी कोटि के ग्रन्थो मे गिनाया जा सकता है। आज के शिक्षा-विशेषज्ञ इसे बुद्धि पर डाला गया अतिरिक्त भार कहकर अनावश्यक कह सकते है, परन्तु जिस व्यक्ति को थोडा-सा विशेष ध्यान देकर पढने-मात्र मे ही जब पाठ कण्ठस्थ हो जाये, तो उसे अनावश्यक तथा भार कैसे कहा जा सकता है! अल्पबुद्धि के छात्रो को यह भार अवश्य हो सकता है, परन्तु वे इस भार को उठाने के लिए उद्यत ही कहाँ होते है! सम्भवत उस अवस्था मे आचार्यश्री को साधारण अध्ययन की अपेक्षा उसे कण्ठस्थ कर लेने मे ही अधिक आनन्द मिलता था।

उनकी कण्ठस्थ करने की वृत्ति तथा त्वरता का अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। आचार्यश्री कालूगणी स० १९९० के शीतकाल मे मारवाड के छोटे-छोटे गाँवो मे विहार कर रहे थे। कही अधिक दिनो तक एक स्थान पर टिक कर रहने का अवसर आने की सम्भावना नही थी। ऐसी स्थिति मे भी उन्होने जैन-रामायण को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। प्रात कालीन समय का अधिकाश भाग प्राय विहार करने मे ही व्यतीत हो जाता था। किसी भी कृत्रिम प्रकाश मे पढ़ना सघीय मर्यादा मे निषिद्ध होने से रात्रि का समय भी काम नही आ सकता था। दिन मे साधुचर्या के अन्यान्य दैनन्दिन कार्यों का करना भी अनिवार्य था। इन सबके बाद दिन मे जो समय अवशिष्ट रहता, उसमे से कुछ हम लोगो के पढाने मे लगा दिया जाता था और शेष समय मे वे स्वय पाठ कण्ठस्थ किया करते थे। इतनी सब दुविधाओ के बावजूद भी उन्होने उस विशाल ग्रन्थ को केवल ६८ दिनो मे ही समाप्त कर डाला। बहुधा वे अपना पाठ मध्याह्न के भोजन से पूर्व ही समाप्त कर लिया करते थे। उन दिनो वे प्रतिदिन पचास-साठ से लेकर सौ-सवा सौ पद्यो तक को याद कर लिया करते थे।

स्वाध्याय

वे कण्ठस्थ करने मे जितने निपुण थे, उतने ही परिवर्तना (चितारना) के द्वारा उसे याद रखने मे भी। अनेक बार वे रात्रि के समय सम्पूर्ण चन्द्रिका की परिवर्तना कर लिया करते थे। शीतकाल मे तो प्राय पश्चिम-रात्रि मे आचार्यश्री कालूगणी उन्हे अपने पास बुला लिया करते थे और पाठ-श्रवण किया करते थे। पूर्व-रात्रि के समय मे भी उन्हे जितना समय मिल पाता, उसका अधिकाश वे स्वाध्याय मे ही लगाने का प्रयास किया करते थे। यदि कभी नीद या आलस्य आने लगता तो खडे हो जाया करते थे और अपने उद्दिष्ट स्वाध्याय को पूरा कर लिया करते थे। कभी-कभी तो शयन से पूर्व ही दो-दो हजार पद्यो तक का स्वाध्याय कर लिया करते थे। प्रारम्भिक समय की अपनी वह प्रवृत्ति आज भी आचार्यश्री अपने मे सुरक्षित रखे हुए है। यद्यपि पूर्व-रात्रि मे जन-सम्पर्क आदि कार्यों की व्यस्तता से उन्हे विशेष समय नही मिलता, फिर भी पश्चिम-रात्रि मे वे बहुधा स्वाध्याय-निरत देखे जा सकते है। कभी-कभी वे नव-दीक्षितो का पाठ सुनते हुए भी मिल सकते हैं।

सुयोग्य शिष्य

तेरापथ मे आचार्य पर जो अनेक दायित्व होते है, उनमे सबसे बडा दायित्व है—भावी सघपति का चुनाव। उसमे आचार्य को अपनी व्यक्तिगत रुचि से ऊपर उठकर समाज मे से ऐसे व्यक्ति को खोजकर निकालना होता है, जो प्राय सभी की श्रद्धा को प्राप्त करने मे सफल हुआ हो तथा भविष्य के लिए भी उनकी श्रद्धा को सुनियोजित रखने का सामर्थ्य रखता हो।

आचार्य अपने प्रभाव-बल से किसी व्यक्ति को प्रभावशाली तो बना सकते है, पर श्रद्धेय नही बना सकते। श्रद्धेय बनने मे आचार-कुशलता आदि आत्म-गुणो की उच्चता अपेक्षित होती है। श्रद्धेयता के साथ प्रभावशीलता अवश्य-म्भावी होती है, जबकि प्रभावशीलता के साथ श्रद्धेयता हो भी सकती है और नही भी।

इस विषय मे आचार्यश्री कालूगणी बडे भाग्यशाली थे। अपने दायित्व की पूर्ति करने मे उन्हे कभी चिन्तित नही होना पडा। आप-जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गए थे। आप अपने विद्यार्थी-जीवन मे ही प्रभावशाली होने के साथ-साथ सघ के अधिकाश व्यक्तियो के लिए श्रद्धास्पद भी बन गए थे। प्रभाव व्यक्तियो के शरीर पर ही नियन्त्रण स्थापित करता है, जबकि श्रद्धा आत्मा पर। किसी भी समाज को ऐसा सचालक सौभाग्य से ही मिल पाता है जो जनता की आत्मा पर नियन्त्रण कर पाता हो। शरीर पर किये जाने वाले नियन्त्रण की अपेक्षा से यह बहुत उच्च कोटि का नियन्त्रण होता है।

गुरु का वात्सल्य

शिष्य के लिए गुरु का वात्सल्य जीवन-दायिनी शक्ति के समान होता है। उसके बिना शिष्यत्व न पनपता है, और न विस्तार पाकर फलदायी ही बन सकता है। शिष्य की योग्यता गुरु के वात्सल्य को पाकर धन्य हो जाती है और गुरु का वात्सल्य शिष्य की योग्यता पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। आचार्य के प्रति शिष्य आकृष्ट हो, यह कोई विशेष बात नही है, किन्तु जब शिष्य के प्रति आचार्य आकृष्ट होते है, तब वह विशेष बात बन जाती है। आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर तथा उनका सान्निध्य पाकर आपको जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी, वह कोई आश्चर्यजनक बात नही थी, परन्तु आपको शिष्य-रूप में प्राप्त कर स्वय आचार्यश्री कालूगणी को जो प्रसन्नता हुई थी, वह अवश्य ही आश्चर्यजनक थी। आपने आचार्यश्री कालूगणी का जो वात्सल्य पाया था, वह निश्चय ही असाधारण था। एक ओर जहाँ वात्सल्य की असाधारणता थी, वहाँ दूसरी ओर नियन्त्रण तथा अनुशासन भी कम नही था। कोरा वात्सल्य उच्छृं-खलता की ओर ले जाता है, तो कोरा नियन्त्रण वैमनस्य की ओर। पर जब ये दोनो जीवन मे साथ-साथ चलते है, तब जीवन मे सन्तुलन पैदा करते है। वह सन्तुलन ही जीवन के हर क्षेत्र मे व्यक्ति को विकासशील बनाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब साधुओ को बारी से करने होते है) से मुक्त रखा। वे आपके हर क्षण को शिक्षा मे लगा देखना चाहते थे। इस विषय मे आप स्वय भी बडे जागरूक रहते थे। पाँच-दस मिनट का समय भी आपके लिए बहुमूल्य हुआ करता था। आप उसका उपयोग स्वाध्याय मे कर लिया करते थे। स्वय गुरुदेव की दृष्टि भी यही रहती थी कि आप अपने समय का अधिक-से-अधिक उपयोग करे। इस विषय मे समय-समय पर वे आपको प्रेरित भी करते रहते थे। निम्नोक्त घटना से यह जाना जा सकता है कि गुरुदेव आपके समय को कितना मूल्यवान् समझते थे।

आचार्यश्री कालूगणी का अन्तिम जनपद-विहार चालू था। वृद्धावस्था के कारण मार्ग मे अपेक्षाकृत अधिक समय लगा करता था। विहार के समय आप भी साथ-साथ चला करते थे। एक दिन आचार्यदेव ने आपसे कहा—तुलसी! तू आगे चला जाया कर और वहाँ पर सीखा कर। आप साथ में रहना ही अधिक पसन्द किया करते थे, अत आपने साथ मे रहने का ही अनुरोध किया। परन्तु आचार्यदेव ने उसे स्वीकार नही किया और फरमाया कि वहाँ जो कार्य करेगा, वह भी तो मेरी ही सेवा है। आप उसके बाद आगे जाने लगे। इस क्रम से लगभग आध घटा समय निकल सकता

था, उसे अध्ययन-अध्यापन के कार्य मे लगाने लगे। जो समय निकल सके, उसका उपयोग कर लेने की ओर ही गुरुदेव का झुकाव था।

योग्यता-सम्पादन

आचार्यश्री कालूगणी आपके योग्यता-सम्पादन मे हर प्रकार से सचेष्ट रहते थे। पहले कुछ वर्षों तक विद्याभ्यास के द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त कराने का उपक्रम चला। उसके बाद वक्तृत्व-कला मे भी आपको निपुण बनाने का उनका प्रयत्न रहा। मध्याह्न के व्याख्यान का कार्य आपको सौंपा गया। यद्यपि आजकल मध्याह्न का व्याख्यान एक उपेक्षित-सा कार्य बन गया है, कही होता है कही नही भी होता, परन्तु उस समय उसका बडा महत्त्व था। जनता भी काफी आया करती थी।

आपके कण्ठ मधुर थे और महीन भी। आप जब व्याख्यान करते तथा गाते, तो लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक बार रात्रि के समय ऐसा भी होता था कि आप कोई गीतिका गाते और आचार्यश्री कालूगणी स्वय उसकी व्याख्या किया करते। कई बार मुनिश्री नथमलजी तथा मै 'सूक्ति मुक्तावली' के श्लोक गाया करते और आचार्यश्री के सान्निध्य मे आप उनका अर्थ किया करते। आप अपने कण्ठो का बहुत ध्यान रखा करते थे। आप कहा करते है कि मै ज्यो-ज्यो अवस्था मे बडा होता गया, त्यो-त्यो मोटे स्वर मे गाने और बोलने का प्रयास करने लग गया। इसका कारण आप यह बतलाते है कि ऐसा किये बिना कण्ठो का माधुर्य बना नही रह सकता। आपके विचार से लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के आसपास, जबकि शारीरिक विकास त्वरता से होता है, तबध्यान न रखने से कण्ठ एकाएक बेसुरे बन जाते है।

आचार्यश्री कालूगणी के अन्तिम तीन वर्ष उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्षों मे से थे। वे वर्ष क्रमश मारवाड, मेवाड और मालवा की यात्रा मे ही बीते थे। इससे पूर्व बहुत वर्षों तक वे थली मे ही विहार करते रहे थे। आपकी दीक्षा के बाद यह उनका प्रथम जनपद-विहार था तथा उनके अपने जीवन की दृष्टि से अन्तिम। यह विहार मानो आपको अपने श्रद्धालुओ तथा उनके क्षेत्रो से परिचित कराने के लिए ही हुआ था। इस यात्रा मे पूर्व आपका जन-सम्पर्क काफी सीमित था। यात्रा-काल मे उसका काफी विस्तार हुआ। व्यावहारिक ज्ञानार्जन के लिए ये वर्ष बहुत ही मूल्यवान् सिद्ध हुए।

आचार-कुशलता और अनुशासन-कुशलता आपको अपने सस्कारो के साथ ही प्राप्त हुई थी। उनको आपने अपने प्रयास से दिन-प्रतिदिन और भी निखार लिया था। विद्या तथा व्यवहार-कुशलता आपने आचार्यश्री कालूगणी के सान्निध्य मे प्राप्त की और उन्हे अपने अनुभवो के आधार पर एक आकर्षक रूप प्रदान किया। आपकी योग्यताओं का निखार स्वय आचार्यश्री कालूगणी को इष्ट था। वे उनकी प्रगति से अत्यन्त प्रसन्न थे।

शासन की आन्तरिक प्रवृत्तियों मे भी आचार्यश्री कालूगणी समय-समय पर आपका उपयोग करते थे। उनका बहुमुखी अनुग्रह हर दिशा मे आपको परिपूर्ण बनाने का रहा करता था। इन्ही कारणो से आपकी ओर समूचे सघ का ध्यान खिंच गया। लोग आपके विषय मे बडी बडी कल्पनाए करने लगे। सघ के विशिष्ट साधु भी आपको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। आपका प्रभाव सभी पर छाने लगा। आपने जिस अप्रत्याशित गति से योग्यता का सम्पादन किया था, वह सचमुच ही बड़ा प्रभावशाली था।

शिक्षा या संकेत ?

उन दिनो मारवाड मे कांठे के गाँवो मे विहार हो रहा था। एक बार सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् जब आप वन्दन के लिए गये तो आचार्यश्री कालूगणी ने आपको अपने पास आने का सकेत किया। आपने समीप जाकर वन्दन किया तो गुरुदेव ने एक शिक्षात्मक सोरठा रचकर सुनाया और फरमाया कि सबको सिखा देना। वह सोरठा था

सीखो विद्या सार, परहो कर परमादनै।
बधसी बहु बिस्तार, धार सीख धीरज मनै ॥

दूसरे दिन शाम को गुरु-वन्दन के पश्चात् जब आप मंत्री मुनिश्री मगनलालजी को वन्दन करने गये, तब उन्होंने पूछा—कल आचार्यदेव ने जो सोरठा कहा था, उसके उत्तर में तू ने वापस कुछ निवेदन किया या नहीं ?

आपने कहा—किया तो नहीं।

आगे के लिए मार्ग बतलाते हुए मंत्री मुनिश्री मगनलालजी ने कहा—अब कर देना।

आपने उस बात को शिरोधार्य कर उत्तर में जो सोरठा निवेदित किया, वह इस प्रकार है :

महर रखो महाराय, लख चाकर पदकमलनों।
सीख अपो सुखदाय, जिम जल्दी शिव गति लहूं ॥

अकेले आचार्यश्री कालूगणी के सोरठे को देखने से लगता है कि उसके द्वारा शिष्यों को शिक्षा दी गई है। पूर्व-भूमिका सहित जब दोनों सोरठों को देखते हैं, तब लगता है कि संवाद है। पर क्या इतने से मन भर जाता है ? वह अपने समाधान के लिए गहराई में जाता है तब इनके शब्द तथा अर्थ तो ऊपर रह जाते हैं और उनकी मूल प्रेरणाओं के प्रकाश में जो समाधान निकलता है, वह कहता है कि ये किसी अर्ध प्रकाशित संकेत के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री कालूगणी एक गम्भीर प्रकृति के आचार्य थे, अतः उनके मन की गहराई को स्पष्ट समझ पाना जरा कठिन होता था। मंत्री मुनि उनके बाल्यावस्था के साथी थे, अतः सम्भवतः वे उनके संकेतों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट समझते थे। तभी तो उन्होंने आपको उस सांकेतिक पद्य का उत्तर देने की प्रेरणा दी होगी। अन्य किसी के पास उन संकेतों को समझने के साधन तो नहीं थे, पर अनुमान अनेकों का यही था कि इसके द्वारा गुरुदेव ने अपनी अतिशय कृपा का द्योतन करने के साथ-साथ भावी के लिए बहुविस्तार का आशीर्वचन भी दिया था।

विस्तार में योग-दान

बीज छोटा होता है, पर उसकी योग्यताएं बहुत बड़ी होती है। उसके अपने विकास के साथ-साथ योग्यताओं का भी विस्तार होता रहता है। उस विस्तार में अनेकों का योग-दान होता है। बीज उसे कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता है और आगे बढ़ता है। आचार्यश्री में व्याप्त बीज-शक्तियों का विकास भी इसी क्रम से हुआ है। वे आज जो कुछ है, वैसा बनते अनेक वर्ष लगे है। आज भी वे अपने-आपको परिपूर्ण नहीं मानते। वे मानते है कि निर्माण की गति कभी रुकनी नहीं चाहिए। मनुष्य को सीखते ही रहना चाहिए। जहाँ उपयोगी वस्तु मिले, उसे निःसंकोच भाव से ग्रहण करते ही रहना चाहिए। उन्होंने अपने बाल्य-जीवन से आज तक अनेकों व्यक्तियों से सीखा है। हरएक का यही क्रम होता है। पहले स्वयं सीखता है, तब फिर सिखाने योग्य बनता है। शिष्य बने बिना कौन गुरु बन पाया है ? हरएक व्यक्ति के ज्ञात तथा अज्ञात अनेक गुरु होते हैं। प्रथम गुरु माता को माना जाता है। शिक्षा का बीज-वपन उसी से प्रारम्भ होता है। उसके अतिरिक्त परिवार के तथा आस-पास के वे सब व्यक्ति कुछ-न-कुछ सिखाने में सहयोगी बनते ही है, जिनके कि सम्पर्क में आते रहने का अवसर मिलता है। किसने क्या और कितना सिखाया है, इसका विश्लेषण करना सहज नहीं होता। अतः उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यही उपाय हो सकता है कि व्यक्ति सबके प्रति विनम्र रहे। बहुत-से व्यक्तियों के उपकार बहुत स्पष्ट भी होते है। उन्हें पृथक् रूप से पहचाना जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति जो विनम्र तथा भक्ति-सभृत व्यवहार होता है, वही कृतज्ञता का मापदण्ड बन जाता है।

आचार्यश्री आज सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को उपकृत कर रहे हैं, परन्तु वे स्वयं भी अनेकों से उपकृत हुए है। अपने उपकर्ताओं के विषय में वे अपने कर्तव्य को जानते है। उन व्यक्तियों के नाम से ही वे कृतज्ञता से भर उठते हैं।

प्रत्यक्ष उपकारकों में वे अपना सबसे बड़ा उपकारक आचार्यश्री कालूगणी को मानते है। इसीलिए वे उनके प्रति सर्वभावेन समर्पित होकर चलते है। अपनी हर क्रिया की श्रेयोभिमुखता में वे उन्हीं की आन्तरिक प्रेरणा मानते हैं। उनके उपकारों को वे अनिर्वचनीय मानते है। वे आज जो कुछ है, वह सब आचार्यश्री कालूगणी की ही देन हैं।

माता वदनांजी के उपकार को भी वे बहुत महत्त्व देते हैं। उनके द्वारा उप्त धार्मिकता का बीज ही तो आज विकसित होकर शतशाखी बना है। आगम कहते हैं कि पुत्र पर माता का इतना उपकार होता है कि यदि वह आजीवन

उनके मनोनुकूल रहे, सभी शारीरिक सेवाए करे तो भी वह ऋण-मुक्त नही हो सकता। उनको धार्मिकता मे नियोजित करे तो ऋण-मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री ने वही किया है। पुत्र के द्वारा दीक्षित होने वाली माताए इतिहास मे विरल ही मिल पायेगी। स्वभाव की ऋजुता, निरभिमानता तथा तपस्या ने उनके सयम को और भी उज्ज्वलता प्रदान की है।

मत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी ने भी आपके निर्माण मे बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया था। सर्वप्रथम वे आपकी दीक्षा मे सहयोगी बने थे। उनकी प्रेरणा ने ही परिवार वालो को इतने शीघ्र आज्ञा देने को तैयार किया था। दीक्षा के पश्चात् भी वे आपके हर विकास को प्रोत्साहन देते रहे थे। युवाचार्य बनने पर वे आपके कर्तव्यो का मार्ग प्रशस्त करते रहे थे। आचार्य बनने के बाद वे आपकी मन्त्रणा के प्रमुख अवलम्बन बनकर रहे थे। आचार्यश्री ने उनके महत्त्वपूर्ण योग दान को यो प्रकट किया है—"उस सन्धिकाल मे, जब पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ था और मैंने छोटी अवस्था मे सघ का उत्तरदायित्व संभाला था, यदि वे नही होते, तो मुझे न जाने किन-किन कठिनाइयो का अनुभव करना होता।"[1]

वे आचार्यश्री को किस प्रकार सहयोग-दान करते थे, यह भी आचार्यश्री के शब्दो मे ही पढिये—"एक दिन वे आये और बोले कि आप कभी-कभी मुझे सबके सामने उलाहना दिया करे। मेरा तो उसमे कुछ बनना-बिगडता नही, दूसरो को एक बोध-पाठ मिलेगा।"[2] यह उस समय की बात है जबकि आपने शासन-भार सँभाला ही था। उस समय उपर्युक्त प्रार्थना करने का उनका उद्देश्य यह था कि लघवय आचार्य के व्यक्तित्व की कोई अवहेलना न करने पाये।

मत्री मुनि के स्वर्गवास होने के समाचार पाकर आचार्यश्री ने कहा था—"वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है? कोई एक साधु उनकी विशेषताओ को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओ को सँजो ले। उन्हे जाने न दे।"[3]

मुनिश्री चम्पालालजी आचार्यश्री के ससारपक्षीय बडे भाई है। वे उनकी दीक्षा मे प्रमुख रूप से प्रेरक रहे थे। दीक्षा के अनन्तर आप उन्हीकी देख-रेख मे रहते रहे थे। उनका नियन्त्रण काफी कठोर होता था, पर जो स्वय अपने नियन्त्रण मे रहता हो, उसके लिए दूसरे का नियन्त्रण केवल व्यवहार-मात्र ही होता है। उसे वह कभी भारी नही लगा करता। रात्निक तथा बडे भाई होने के नाते वे सदैव उनका उस समय भी सम्मान करते रहे थे, आज भी करते है। स्वभावत वे मिलनसार है, आचार्यश्री अपने निर्माण मे उनका भी श्रेयोभाग मानते है।

आपके अध्ययन-कार्य मे कुछ योग मुनिश्री चौथमलजी का भी रहा था। वे एक सेवा-भावी और कार्य-निष्ठ व्यक्ति थे। भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण तथा कालूकौमुदी आदि के निर्माण मे उनका जीवन खपा था। तेरापथ के भावी छात्रो के लिए उनका श्रम वरदान बन गया। वे जो भी कार्य करते, पूरी लगन से करते।

आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा तेरापथ मे विद्याप्रसार के लिए बहुत बडे निमित्त बने है। इनके पूर्व पण्डित घनश्यामदासजी ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। उन्होने अपना सहयोग उस समय प्रदान किया था, जबकि बिना अर्थ-प्राप्ति के इतना प्रयत्न करने वाले मिलने ही कठिन थे। प० रघुनन्दनजी का महत्त्व इसलिए भी है कि विद्या-विकास का द्वार पूर्णत उन्ही के योग से खुला। मुनिश्री चौथमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण किया। इन्होने उसपर बृहद्वृत्ति लिखकर तेरापथ के मुनि-समाज को सस्कृत-अध्ययन मे स्वावलम्बी बना दिया था। आचार्यश्री को व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र के अध्ययन मे उन्ही का योगदान रहा था।

आगम-ज्ञान अर्जन करने मे आचार्यश्री के मार्गदर्शक मुनिश्री भीमराजजी तथा मुनिश्री हेमराजजी थे। मुनिश्री भीमराजजी को आगमो का जितना गहरा ज्ञान था, उतना कम ही व्यक्तियो को होता है। वे अनेक सन्तो को आगम का

---

१ जैन भारती, २८ फरवरी, १९६०

२ जैन भारती, २८ फरवरी, १९६०

३ जैन भारती, २८ फरवरी, १९६०

अध्ययन कराते रहते थे। समय के बड़े पक्के थे। निर्णीत समय से पाँच मिनट पहले या पीछे भी उन्हे अखरता था। आगम-रहस्यो की गहराई तक स्वय उनकी तो अबाध गति थी ही, पर वे अपने छात्रो मे भी वैसा ही सामर्थ्य भर देते थे। आचार्यश्री ने उनके पास अनेक आगमो का अध्ययन किया था। वे अपने शेष जीवन तक अपने ही प्रकार से जीये। सेवा लेना उन्होने प्राय कभी पसन्द नही किया। पराश्रयी होकर जीना, उनके सिद्धान्तवादी मन ने कभी स्वीकार नही किया था। आचार्यश्री की दृष्टि मे उनके गुण अनुकरणीय तो थे ही, पर साथ ही अनेक गुण ऐसे भी थे, जो अद्वितीय थे।

हेमराजजी स्वामी का आगम-ज्ञान भी बड़ा गहरा था। आगम-मन्थन उन्होने इतने बड़े पैमाने पर किया था कि साधारणतया उनके तर्कों के सामने टिक पाना कठिन होता था। आचार्यश्री के आगम-ज्ञान को परिपूर्णता की ओर ले जाने मे उनका पूरा हाथ था।

आचार्यश्री इन सभी व्यक्तियो के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ रहे है। बातचीत के सिलसिले मे जब कभी इन व्यक्तियो मे से किसी का भी प्रसग उपस्थित हो जाता है, तब वे बड़े भावुक बनकर इनका वर्णन करते है। अपने गुरुजनो और श्रद्धेयो के प्रति उनकी अतिशय कृतज्ञता की यह भावना उनके गौरव को और ऊँचा उठा देती है।

: ३ :

युवाचार्य

उत्तराधिकार-समर्पण

उस वर्ष (स० १९९३) आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मासिक निवास गगापुर (मेवाड) मे था । वहाँ पहुँचने से पूर्व ही उनका शरीर रोगाक्रान्त हो गया था । फिर भी वे गगापुर पहुँचे । शरीर क्रमश रोगो से अधिकाधिक घिरता गया । बचने की आशाए धूमिल होने लगी । ऐसी स्थिति मे सघ के भावी अधिकारी का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक था ।

तेरापथ के विधानानुसार आचार्य अपनी विद्यमानता मे ही भावी आचार्य का निर्धारण करते है । यह उनका सबसे बडा और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है । यदि वे किसी कारणवश अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वहन नही कर पाते तो यह उनके कर्तव्य की अपूर्ति तो होती ही है, परन्तु ऐसी स्थिति सारे सघ के लिए भी चिन्ताजनक हो जाती है । आचार्यश्री माणकगणी के समय एक बार ऐसा हो चुका था । उस समस्या को बडे ही सात्त्विक ढग से सुलझाकर तेरापथ एक विकट परीक्षा मे उत्तीर्ण हुआ था । वैसी परिस्थिति का दुहराया जाना किसी को अभीष्ट नही था । अत सघ-हितैषी जन ऐसे समय मे विशेष सावधानी बरतते है । गुरुदेव का ध्यान इस समस्या की ओर खीचा गया । वे तो स्वय ही इसके लिए सजग थे । उन्होने उचित समय पर इस कार्य को सम्पन्न कर देने की घोषणा कर दी ।

गुरुदेव ने उसी दिन से आपको एकान्त मे बुलाना प्रारम्भ कर दिया । सघ की सारणा-वारणा-सम्बन्धी आवश्यक आदेश-निर्देश दिये । कुछ बाते मुखस्थ कही तथा कुछ लिखायी भी । इतने दिन तक जो बाते केवल सकेत के रूप मे ही सामने आती थी, अब वे स्पष्टता से सामने उभर रही थी । जन-जन की कल्पनाओ मे बना हुआ अव्यक्त चित्र अब व्यवहार के पट पर स्पष्ट रेखाओ के रूप मे अभिव्यक्त होने लग रहा था । गुरुदेव जब उन दिनो साधु-साध्वियो को विशेष शिक्षा प्रदान करते समय यह कहते—"किसी समय आचार्य अवस्था मे छोटे होते है, किसी समय बडे, फिर भी सबको समान रूप से उनके अनुशासन का पालन करना चाहिए। गुरु जो कुछ करते है, वह सघ के हित को ध्यान मे रख कर ही करते है," तब प्राय सभी जानने लग गए थे कि गुरुदेव का सकेत क्या है । गुरुदेव उसे छिपाना चाहते भी नही थे । नाम की उद्घोषणा नही की गई थी, केवल इसीलिए वे उसे बचाना चाहते थे ।

विधिवत् उत्तराधिकार-समर्पण करने का कार्य प्रथम भाद्र शुक्ला ३ को सम्पन्न किया गया । प्रात काल का समय था । रग-भवन के हॉल मे साधु-साध्वियाँ तथा कुछ श्रावक उपस्थित थे । सारी जनता को वहाँ जाने की छूट नही दी जा सकती थी । उस हॉल मे तो क्या, विशाल पण्डाल मे भी वह नही समा सकती थी । लोग बहुत बडी सख्या मे आये हुए थे । गगापुर बसने के बाद इतने लोगो का आगमन वहाँ पहले-पहल ही था । जनता मे अपार उत्सुकता थी । सब कोई युवाचार्य-पद प्रदान करने के उत्सव मे सम्मिलित होना चाहते थे, पर ऐसा सम्भव नही था । स्थितिजन्य विवशता थी । रुग्ण होने के कारण गुरुदेव पण्डाल मे तो क्या, उस कमरे से बाहर भी नही जा सकते थे । हाल मे भी अधिक भीड का एकत्र होना अभीष्ट नही था । इससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पडने की सम्भावना थी ।

अशक्त होते हुए भी कर्तव्य की पुकार के बल पर आचार्यश्री कालूगणी बैठे । युवाचार्य-पद का पत्र लिखा । फूलते हुए साँस, धूजते हुए हाथ और पीडा-व्याकुल प्रत्यग की अवहेलना करते हुए उन्होने कुछ पक्तियाँ लिखी । मोटे-मोटे अक्षर और टेढी-मेढी पक्तियो वाला वह ऐतिहासिक पत्र कई विश्रामो के बाद पूरा हुआ । उसके बाद आपको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया गया और पत्र पढकर जनता को सुनाया गया । उसमें लिखा था :

"गुरुभ्यो नमः
भिक्षु पाट भारीमल
भारीमल पाट रायचन्द
रायचन्द पाट जीतमल
जीतमल पाट मघराज
मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचन्द
डालचन्द पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम।
विनयवंत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे चालसी, सुखी होसी।"

सवत् १९९३ प्रथम भाद्र शु० तृतीया, गुरुवार आचार्यश्री कालूगणी तथा युवाचार्यश्री तुलसी के जयनादो से वातावरण गुजायमान हो गया। योग्य धर्मनेता को प्राप्त कर सबको गौरवानुभूति हुई। आचार्यश्री कालूगणी तो सघ-प्रबन्ध की चिन्ता से मुक्त हुए ही, परन्तु साथ मे सारे सघ को भी निश्चिन्तता का अनुभव हुआ।

अदृष्ट-पूर्व

युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियो के क्या कर्तव्य होते हैं, यह जानने वाले वहाँ बहुत कम ही साधु थे। जयाचार्य के समय आचार्यश्री मघवागणी अनेक वर्षो तक युवाचार्य रहे थे। उसके बाद लगभग पचपन वर्षों मे कोई ऐसा अवसर आया ही नही। आचार्यश्री माणकगणी को युवाचार्य-पद दिया गया था, पर वह अत्यन्त स्वल्पकालीन था, अत कर्तव्य-बोध के लिए नगण्य-सा ही समय प्राप्त हुआ था। उसे देखने वालो मे भी एक तो स्वय गुरुदेव तथा दूसरे मत्रीमुनि, बस, ये दो ही व्यक्ति वहाँ विद्यमान थे। शेष के लिए तो यह पद्धति अदृष्ट-पूर्व ही थी।

पहले-पहल स्वय गुरुदेव ने ही युवाचार्य के प्रति कर्तव्यो का बोध प्रदान किया। शेष सारी बाते मत्रीमुनि यथा-समय बतलाते रहे थे। आचार्य के समान ही युवाचार्य के सब काम किये जाते हैं। पद की दृष्टि से भी आचार्य के बाद उन्ही का स्थान होता है। गुरुदेव ने युवाचार्य के व्यक्तिगत सेवा-कार्यों का भार मुनिश्री दुलीचन्दजी (शार्दूलपुर) को सौपा। वे अपने उस कार्य को आज भी उसी निष्ठा और लगन से तथा पूर्ण निष्काम और निर्लेप भाव से कर रहे है।

अधूरा स्वप्न

आचार्यश्री कालूगणी को अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त शोचनीय अवस्था के कारण ही उस समय उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी पडी थी, अन्यथा उनका स्वप्न कुछ और ही था। अपने उस अधूरे स्वप्न का अत्यन्त मार्मिक शब्दो मे विवेचन करते हुए एक दिन उन्होने सभी के समक्ष कहा भी था कि युवाचार्य-पद प्रदान करने की मेरी जो योजना थी, वह मेरे मन मे ही रह गई। अब उसकी पूर्ति सम्भव नही है। जिस कार्य को मैं छोगांजी (घोर तपस्विनी गुरुदेव की ससार पक्षीया माता) के पास बीदासर पहुँचने के पश्चात् सु-आयोजित ढग से करने वाला था, वह मुझे यही पर बिना किसी विशेष आयोजना के करना पडा है। काल के सम्मुख किसी का कोई वश नही है।

नये वातावरण में

युवाचार्य बनने के साथ ही आपको नये वातावरण में प्रवेश करना पडा। वहाँ सब कुछ नया-ही-नया था। नये सम्मान का भार इतना बढ़ गया था कि आप उससे बचना चाहते थे, परन्तु बच नही पा रहे थे। जनता द्वारा अर्पित श्रद्धा और विनय की बाढ़ मे आप अपने को घिरा-सा महसूस कर रहे थे। जिन रात्निक साधुओ का आप सम्मान करते रहे थे, अब वे सब आपका सम्मान करने लगे थे। उनके सामने पड़ते ही आपकी आँखें झुक जाती थी। तेरापथ सघ की

विनय पद्धति की एकार्णवता ने आपको अप्रत्याशित रूप से अभिभूत कर लिया था। उन दिनों आप जिधर से भी जाते, मार्ग जनाकीर्ण ही होता। सभी कोई दर्शन करना चाहते, परिचय करना चाहते, कम-से-कम एक बार तृप्त होकर देख लेना तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने गये

यों तो व्याख्यान आप कई वर्षों से ही देते आ रहे थे। जनता को रस-प्लावित करने की आप मे अपूर्व क्षमता थी, परन्तु उस दिन जब कि युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम व्याख्यान देने गये, तब आपके मानस की स्थिति बडी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी-कभी अपनी उस मानस-स्थिति का पुनरवलोकन या विश्लेषण करते है, तब भाव-विभोर हो जाते है।

पण्डाल जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्ट बिछाया गया था। उसी के पास बैठकर पहले मत्रीमुनि ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर बाद व्याख्यान देने के लिए आप गये थे। अनेक मुनि साथ थे। मत्रीमुनि तथा तत्रस्थ जनता ने खडे होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढकर पट्ट के पास आये, किन्तु सहसा ही ठिठककर खडे रह गए। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा मे खडी थी, पर आप बैठ नही पा रहे थे। सम्भवत आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मत्री मुनिश्री मगनलालजी के सामने पट्ट पर बैठे तो कैसे ! मत्रीमुनि ने देखा तो बढकर आगे आये, प्रार्थना की, जोर दिया और जब उसमे भी काम नही बना तो हाथो के कोमल तथा भक्ति-सभृत दबाव मे आपको उसपर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नही थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे सकुचे-सकुचे आप पट्ट पर बैठ तो गए, परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बडी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्राय समूचे व्याख्यान मे आपके नेत्र ऊँचे नही उठ पाये थे। यह थी नये उत्तरदायित्वों की झिझक, जोकि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की झिझक थी। अन्दर की योग्यता उसमे से भी झाँक-झाँककर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया, वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभरकर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। झिझक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के बाद आचार्यश्री कालूगणी एक प्रकार से चिन्ता-मुक्त हो गए थे। सघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गए थे। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, आज्ञा, धारणा आदि भी आपको सँभला दिये गए। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बडी सुखद घटना थी, परन्तु उसकी स्थिति अधिक लम्बी नही हो सकी। चार दिन बाद ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप मे हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ पाये होते तो कितना ठीक होता ! परन्तु कल्पना को वास्तविकता के ससार मे उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे सघ ने उन चार दिनों मे जो कुछ देखा, पाया, उसी को अपनी स्मृति मे सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।

: ४ :

तेरापंथ के महान् आचार्य

शासन-सूत्र

तेरापंथ की देन

आचार्यश्री तुलसी एक महान् आचार्य हैं। उनका निर्माण तेरापथ मे हुआ है, अत उनके माध्यम से आज यदि जन-जन तेरापथ से परिचित होता हो तो कोई आश्चर्य नही। वे तेरापथ से और तेरापथ उनसे भिन्न नही है। तेरापथ उनकी शक्ति का स्रोत है और वे तेरापथ की शक्ति के केन्द्र है। यह शक्ति कोई विनाशक या वियोजक शक्ति नही है, यह धर्म-शक्ति है जो कि विधायक और सयोजक है। तेरापथ को पाकर आचार्यश्री अपने को धन्य मानते हैं तो आचार्यश्री को पाकर तेरापथ गौरवान्वित हुआ है। जो व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी को गहराई से जानना चाहेगा, उसे तेरापथ को और जो तेरापथ को गहराई से जानना चाहेगा, उसे आचार्यश्री तुलसी को जानना आवश्यक होगा, उन्हे एक-दूसरे से भिन्न करके कभी पूरा नही जाना जा सकता। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री भु० प्र० सिन्हा ने 'तेरापथ द्विशताब्दी महोत्सव' के अवसर पर अपने वक्तव्य मे कहा था, "मेरी समझ मे तेरापथ की सबसे बडी देन आचार्यश्री तुलसी है, उन्होने ठीक समय पर सारे देश मे नैतिक जागरण का शख फूंका है।"[1] उनके इस कथन में जहाँ आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व और कर्तव्य के प्रति आदर-भाव है, वहाँ ऐसे नर-रत्न का निर्माण करने वाले तेरापथ के प्रति कृतज्ञता भी है। व्यक्ति की तेजस्विता जहाँ उसके आधार को प्रख्यात करती है, वहाँ उसके निर्माण सामर्थ्य को भी उजागर कर देती है।

समर्पण-भाव

आचार्यश्री तेरापथ के नवम अधिशास्ता है। उनके अनुशासन मे रहने वाला शिष्यवर्ग उनके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है। यह अनुशासन न तो किसी प्रकार के बल मे थोपा जाता है और न किसी प्रकार की उसमे बाध्यता ही होती है। आचार्यश्री के शब्दों में उसका स्वरूप यह है "तेरापथ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है, यहाँ बल-प्रयोग को कोई स्थान नहीं है। जो कुछ होता है, वह हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते है, समूचा सघ उसका पालन करता है। इसके मध्य मे श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नही है। श्रद्धा और विनय, ये हमारे जीवन के मन्त्र है। आज के भौतिक जगत् मे इन दोनो के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है। वह अकारण भी नही है। बडो मे छोटो के प्रति वात्सल्य नही है। बडे लोग छोटे लोगो को अपने अधीन ही रखना चाहते है। इस मानसिक द्वन्द्व मे बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमे छोटे-बडे का कृत्रिम भेद है ही नही। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी नसो में प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या! जहाँ अहिंसा है, वहाँ पराधीनता हो ही नही सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नही रखता, किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह

1 जैन भारती, २४ जुलाई '६०

हमारी स्थिति है।"[1]

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और सुव्यवस्था के विषय मे तेरापथ को प्रारम्भ से ही ख्याति उपलब्ध है। उसके विरोधी अन्य वालो के विषय मे चाहे कुछ भी कहते हो, परन्तु इन विषयो मे तो बहुधा वे तेरापथ की प्रशंसा ही करते पाये गए है। तेरापथ का लक्ष्य है—चारित्र की विशुद्धि। उसका उद्भव इसीलिए हुआ था। अनुशासन और सुव्यवस्था के बिना चारित्र की विशुद्ध आराधना असम्भव होती है। तेरापंथ के प्रतिष्ठाता आचार्यश्री भिक्षु इस रहस्य से सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होने इसकी स्थापना के साथ ही इन गुणो पर विशेष बल दिया। वे सफल भी हुए। अनुशासन और व्यवस्था के विघटन में जिन प्रमुख कारणो को उन्होने अन्य साधु-सघो मे देखा था, तेरापथ मे उन्होने उनको पनपने ही नही दिया। आचार्यश्री ने 'तेरापथ द्विशताब्दी-महोत्सव' पर अपने मगल प्रवचन मे कहा था, "तेरापथ की अपनी विशेषता है—आचार का दृढतापूर्वक पालन। आचार्यश्री भिक्षु ने हमारे सविधान का उद्देश्य यही बतलाया—"न्याय मार्ग चालण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।"

तेरापथ का उद्भव ही चरित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है, यह उन्हे मान्य नही हुआ। इस स्वीकृति मे ही तेरापथ के उदभव का रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था, ये दोनो स्वय प्राप्त होते है। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम-सूत्रो मे सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थितियो के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा, वर्तमान के साधु-शिष्यो के लिए विग्रह करते है। उन्होने शिष्य-परम्परा को समाप्त कर दिया। तेरापथ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नही देता।

आज तेरापथ के सब साधु-साध्वियाँ इसलिए सन्तुष्ट है कि उनके शिष्य-शिष्याएं नही है।

आज तेरापथ इसलिए सगठित और सुव्यवस्थित है कि उसमे शिष्य-शाखा का प्रलोभन नही है।

आज तेरापथ इसलिए शक्ति-सम्पन्न और प्रगति के पथ पर है कि वह एक आचार्य के अनुशासन मे रहता है, और उसका साधु-वर्ग छोटी-छोटी शाखाओ मे बँटा हुआ नही है।"[2]

तेरापथ की व्यवस्था बहुत सुदृढ है। इसका कारण यह है कि उसमे, सबके प्रति न्याय हो, यह विशेष ध्यान रखा गया है। आचार्यश्री भिक्षु ने दो सौ वर्ष पूर्व सघ-व्यवस्था के लिए जो सूत्र प्रदान किये थे, वे इतने सुदृढ प्रमाणित हुए है कि आज के समाजवादी सिद्धान्तो का उन्हे एक मौलिक रूप कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शब्दो मे वह इस प्रकार है—"आचार्यश्री भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विस्तृत प्रयोग है। यहाँ सब-के-सब श्रमिक हैं और सब-के-सब पण्डित। हाथ, पैर और मस्तिष्क मे अलगाव नही है। सामुदायिक कार्यों का सविभाग होता है। सब साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती है। खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओ का सविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकडे हो जाते है, यदि खाने वाले चार हो तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागो मे बँट जाता है, यदि पीने वाले चार हो तो।"[3] यह सविभाग साधु-साध्वियो के जीवन-व्यवहार मे आने वाली प्राय हर वस्तु पर लागू पड़ता है। '**असविभागी न हु तस्स मोक्खो**'—अर्थात् सविभाग नही करने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता—यह आगम-वाक्य तेरापथ सघ-व्यवस्था के लिए मार्ग-दर्शक बन गया है।

---

१ जैन भारती, २४ जुलाई '६०
२ जैन भारती, २४ जुलाई '६०
३ जैन भारती, २४ जुलाई '६०

समाजवाद का सूत्र यही तो है कि 'एक के लिए सब और सब के लिए एक', और यह तेरापथ के लिए बहुलाश मे लागू पड़ता है। जननेता श्री जयप्रकाशनारायण जयपुर मे जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले, तब तेरापंथ की व्यवस्था को जानकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए। उन्होने कहा, "हम जिस समाजवाद को आज लाना चाहते है, वह आपके यहाँ दो शताब्दी पूर्व ही आ चुका है, यह प्रसन्नता की बात है। हम इन्ही सिद्धान्तो को गृहस्थ जीवन मे भी लागू करना चाहते है।"

प्रथम वक्तव्य

आचार्यश्री ने तेरापथ का शासन-भार स० १९९३ भाद्र-पद शुक्ला नवमी को सँभाला था। उस समय सघ मे एक सौ उन्तीस साधु और तीन सौ तेतीस साध्वियाँ थी। उनमे से छियत्तर साधु तो आपसे दीक्षा-पर्याय मे बड़े थे। छोटी अवस्था, बड़ा सघ और उन सब पर समान अनुशासन की समस्या थी। उस समय भी आचार्यश्री का धैर्य विचलित नही हुआ। उन्हे जहाँ अपने सामर्थ्य पर विश्वास था, वहाँ भिक्षुसघ के साधु-साध्वियो की नीतिमत्ता अनुशासन-प्रियता पर भी कोई कम विश्वास नही था। नवमी के मध्याह्न मे उन्होने अपनी नीति के बारे मे जो प्रथम वक्तव्य दिया था, उसमे वे दोनो ही विश्वास परिपूर्णता के साथ प्रकट किये गए थे। उस वक्तव्य का कुछ अंश यो है

"श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री कालूगणी का स्वर्गवास हो गया। इससे मैं स्वय खिन्न हूँ। साधु-साध्वियाँ भी खिन्न है। मृत्यु एक अवश्यम्भावी घटना है, उसे किसी प्रकार टाला नही जा सकता। खिन्न होने से क्या बने, इस बात को विस्मृत ही बना देना होता है। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नही है।

"अपना सघ नीतिप्रधान सघ है। इसमे सभी साधु-साध्वियाँ नीतिमान् है, रीति-मर्यादा के अनुसार चलने वाले है। इसलिए किसी को कोई विचार करने की जरूरत नही है। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे सघ का कार्य-भार सौपा है। मेरे नन्हे कन्धो पर उन्होने अगाध विश्वास किया, इसके लिए मै उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सघ के साधु-साध्वियाँ बड़े विनीत, अनुशासित और इगित को समझने वाले हैं, इसलिए मुझे इस गुरुतर भार को ग्रहण करने मे तनिक भी सकोच नही हुआ। शासन की नियमावली को सब साधु-साध्वियाँ पहले की तरह हृदय से पालन करते रहे। मै पूर्वाचार्य की तरह ही सबको अधिक-से-अधिक सहायता करता रहूँगा, ऐसा मेरा दृढ सकल्प है। इसके साथ मै सबको सावधान भी कर देना चाहता हूँ कि मर्यादा की उपेक्षा मै सहन नही करूँगा।

सब तेरापथ संघ मे फले फूले, सयम मे दृढ रहे, इसी मे सबका कल्याण है, सघ की उन्नति है। यह सबका सघ है, इसलिए सभी इसकी उन्नति मे प्रयत्नशील रहे।"

बयासी वर्ष के

एक बाईस वर्ष के युवक पर सघ का भार देकर आचार्यश्री कालूगणी ने जिस साहस का काम किया था, आचार्यश्री ने अपने कर्तृत्व से उसमे किसी प्रकार की लाछना नही आने दी। वे उस अवस्था मे भी एक स्थविर आचार्य की तरह कार्य करने लगे। प्रारम्भ मे जो लोग यह आशंका करते कि अवस्था बहुत छोटी है, उन्हे मुनिश्री मगनलालजी कहा करते—कौन कहता है आचार्यश्री की अवस्था छोटी है? आप तो बयासी वर्ष के है। वे अपनी बात की पुष्टि इस प्रकार करते थे कि जन्म के वर्षों से ही अवस्था नही होती, वह अनुभवो की अपेक्षा से भी हो सकती है। जन्म की अपेक्षा से आप अवश्य बाईस वर्ष के हैं, किन्तु अनुभवों की अपेक्षा से आपकी अवस्था बहुत बड़ी है। आचार्यश्री कालूगणी ने अपनी साठ वर्ष की अवस्था तक जो अनुभव अर्जित किये थे, वे सब उनके द्वारा आपको सहज ही प्राप्त हो गए है। अत अनुभवो की दृष्टि से आप बयासी वर्ष के होते हैं। मन्त्री मुनि के इस कथन ने उस समय के वातावरण मे एक प्रगाढ़ता और गौरव ला दिया था।

सुचारु संचालन

तेरापथ का शासन-सूत्र सँभालते ही आचार्यश्री के सामने सबसे प्रमुख कार्य था, सघ का सुचारु रूप से सचालन। संघ-संचालन का अनुभव एक नवीन आचार्य के लिए होते-होते ही होता है। किन्तु आचार्यश्री ने उसमे सहज ही सफ-

लता पा ली। वे अपने कार्य मे पूर्ण जागरूक रहकर बढे। अनुशासन करने की कला मे यो तो वे पहले से ही निपुण थे, पर अब उसे विस्तार से कार्यरूप देने का अवसर था। उन्होने अपने प्रथम वर्ष मे ही जिस प्रकार से सघ-व्यवस्था को सँभाला, वह श्लाघनीय ही नही अनुकरणीय भी था। उन्होने साधु-सघ के स्नेह को जीत लिया था। जिन व्यक्तियो को यह आशका थी कि एक बाईस-वर्षीय आचार्य के अनुशासन मे सघ के अनेक प्राचीन व विद्वान् मुनि कैसे चल पायेगे, उनकी वह आशका शीघ्र ही निर्मूल सिद्ध हो गई।

तेरापथ मे समूचे साधु-सघ के चातुर्मासिक प्रवास तथा शेषकालीन विहरण के क्षेत्रो का निर्धारण एकमात्र आचार्य ही करते है। वह कार्य यदि सुव्यवस्था से न हो, तो असन्तोष का कारण बनता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक सिघाडे की पारस्परिक प्रकृतियो का सन्तुलन भी बिठाना पडता है। पिछले वर्ष मे किये गए समस्त कार्यों का लेखा-जोखा भी उसी समय लिया जाता है। सघ-उन्नति के विशिष्ट कार्यों की प्रशसा और खामियो का दोष-निवारण भी एक बहुत बडा कार्य है। रुग्ण साधु साध्वियो की व्यवस्था के लिए विशेष निर्धारण करना पडता है। वृद्ध जनो की सेवा और उनकी चित्त-समाधि के प्रश्न को भी प्राथमिकता के आधार पर हल करना होता है। इतना सब-कुछ करने के बाद शेष सिघाडो के लिए आगामी वर्ष का मार्ग-निर्धारण किया जाता है। लेखन-पठन आदि के विषय मे भी पूछताछ तथा दिशानिर्देशन करना आचार्य का ही काम होता है। ये सब कार्य गिनाने मे जितने लघु है, करने मे उतने ही बडे और जटिल है। जो आचार्य इन सबमे अत्यन्त जागरूकता के साथ मुनिजनो की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है, वही सघ का सुचारु रूप से सचालन कर सकता है। आचार्यश्री ने इन सब कार्यो का व्यवस्थित सचालन ही नही किया, अपितु इनमे नये प्राणो का सचारण भी किया।

असाम्प्रदायिक भाव

पर-मत-सहिष्णुता

आचार्यश्री द्वारा किये गए अनेक विकास-कार्यो मे प्रमुख और प्रथम है— चिन्तन-विकास। अन्य समाजो के समान तेरापथ भी एक सीमित दायरे मे ही सोचता था। सम्प्रदाय-भावना उसमे भी प्राय वैसी थी, जैसीकि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय मे हुआ करती है। आचार्यश्री ने उस चिन्तन को असाम्प्रदायिकता की ओर मोडा। 'सम्प्रदाय' शब्द का मूल अर्थ होता है—गुरु-परम्परा। वह कोई बुरी वस्तु नही है। वह बुरी तब बनती है, जब असहिष्णुता के भाव आते है। वृक्ष का मूल एक होता है, पर शाखाओ, प्रशाखाओ तथा टहनियो के रूप मे उसकी अनेकता मे भी कोई कमी नही होती। फिर भी उनमे कोई असहिष्णुता नही होती, अत वे परस्पर एक-दूसरे की शक्ति और शोभा बढाती है। मनुष्य जहाँ भी रहा है, सम्प्रदाय, सगठन, परम्परा आदि बनाकर रहा है। तब आज कैसे कोई सम्प्रदायातीत हो सकता है। अपने सामूहिक जीवन की कोई-न-कोई परम्परा अवश्य ही विरासत मे हर व्यक्ति को मिलती है। 'भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नही रहने चाहिए' यह कहने वाले भी तो अपना एक सम्प्रदाय बनाकर ही कहते है। आचार्यश्री की दृष्टि मे असाम्प्रदायिकता का अर्थ होता है—पर-मत-सहिष्णुता। जब तक मनुष्य मे पर-मत-सहिष्णुता रहती रहेगी, तब तक मत-भेद होने पर भी मन-भेद नही हो सकेगा। असहिष्णुता ही मन-भेद को मत-भेद मे बदलने वाली होती है। जो व्यक्ति प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के भाव रखता है, वह चाहे फिर किसी भी सम्प्रदाय मे रहता हो, असाम्प्रदायिक ही कहा जायेगा।

इस चिन्तन-विकास ने तेरापथ को वह उदारता प्रदान की है जो कि पहले की अपेक्षा बहुत बडी है। इसमे सम्प्रदायो के साथ तेरापथ के सम्बन्ध मधुर हुए है। दूरी कम हुई है। आचार्यश्री के प्रति सभी सम्प्रदाय वालो के मन मे आदर-भाव बढ़ा है।

वे एक सम्प्रदाय के आचार्य है। उसकी सारणा-वारणा करना उनका कर्तव्य है। वे उसे बडी उत्तमता से निभाते है। फिर भी सम्प्रदाय उनके लिए बन्धन नही, साधना-क्षेत्र है। वे एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल निश्चित स्थान पर रुपा हुआ होता है, पर उसकी छाया और फल सबके लिए समान रूप से लाभदायक होते है।

पाँच सूत्र

आचार्यश्री के चिन्तन तथा कार्यकलापो का रुझान समन्वय की ओर ही रहा है। उन्होंने समय-समय पर सभी सम्प्रदायो से सहिष्णु बनने और परस्पर मैत्री रखने का अनुरोध किया है। इसके लिए उन्होने एक पचसूत्री योजना भी प्रस्तुत की थी। सभी सम्प्रदायों के लिए वे सूत्र माननीय है—

१ मडनात्मक नीति बरती जाये। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये। दूसरा पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जाये।

२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाये।

३ दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाये।

४ कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाये।

५ धर्म के मौलिक तथ्य अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाये।

धर्म-सम्प्रदाया मे परस्पर सहिष्णुता का भाव पैदा करना कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नही, क्योकि उनमे मूलत ही समन्वय के तत्त्व अधिक और विरोधी तत्त्व कम पाये जाते है। यदि विरोधी तत्त्वों की ओर मुख्य लक्ष्य न रहे तो समन्वय बहुत ही सहज हो जाता है। धार्मिको के लिए यह एक लज्जास्पद बात है कि वे किसी विचार-भेद को आधार मानकर एक दूसरे-पर आक्षेप करे, घृणा फैलाये और असहिष्णु बने। आचार्यजी का विश्वास है कि विचारो की असहिष्णुता मिट जाये तो विभिन्न सम्प्रदायो के रहते हुए भी सामजस्य स्थापित हो सकता है। उनके इन उदार विचारो के आधार पर ही उन्हे एक महत्त्वपूर्ण आचार्य माना जाता है। जनता उन्हे भारत के एक महान् सन्त के रूप मे जानने लगी है।

समय नही है

आचार्यश्री अपने इन उदार विचारो का केवल दूसरो के लिए ही निर्यात नही करते, वे स्वय इन सिद्धान्तो पर चलते है। वे किसी की व्यक्तिगत आलोचना करना तो पसन्द करते ही नही, पर किसी की आलोचना सुनना भी उन्हे पसन्द नही है। एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के साधु ने आचार्यश्री के पास आकर बातचीत के लिए समय माँगा। आचार्य श्री ने उन्हे दूसरे दिन मध्याह्न का समय दे दिया। यथासमय वे आये और बातचीत प्रारम्भ की। वे अपने गुरु के व्यवहारो से असन्तुष्ट थे, अत उनकी कमियो का व्याख्यान करने लगे। आचार्यश्री यदि उसमे कुछ रस लेते, तो वे तेरापथ का प्रमुख रूप से विरोध करने वाले एक विशिष्ट आचार्य की कमजोरियों का पता दे सकते थे, परन्तु उन्हे यह अभीष्ट ही नहीं था। उन्होने उस साधु से कहा, मेरा अनुमान था कि आप कोई तत्त्व-विषयक चर्चा करना चाहते है, इसीलिए मैने समय दिया था। किसी की निन्दा सुनने के लिए मेरे पास कोई समय नही है। इस विषय मे मै आपकी कोई सहायता भी नही कर सकता। उसी क्षण बातचीत का सिलसिला समाप्त हो गया और आचार्यश्री दूसरे काम मे लग गए।

सार्वत्रिक उदारता

उनके उदार विचारो का दूसरा पहलू यह है कि वे हर सम्प्रदाय के व्यक्ति से खुलकर विचार-विमर्श करते है। वे इसमे कोई कार्पण्य या सकोच नही करते। वे अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थानो पर भी निस्सकोच भाव से जाते है। जहाँ लोग अन्य सम्प्रदायो के स्थानो मे जाना अपना अपमान समझते हैं, वहाँ आचार्यश्री बडी रुचि के साथ जाते है। वे जानते हैं कि दूर रहकर दूरी को नही मिटाया जा सकता; सम्पर्क मे आने पर वह दूरी भी मिट जाती है, जिसे कभी न मिटने वाली समझा जाता है। वे अनेक बार दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिरों में जाते रहे है। अनेक बार वहाँ उन्होंने प्रार्थनाए भी की है। मूर्ति-पूजा मे उन्हे विश्वास नही है; पर वे मानते है कि जब अन्य सभी स्थानो मे भाव-पूजा की जा सकती है तो वह मन्दिर मे भी की जा सकती है। आचार्यश्री के ऐसे विचार सभी लोगो को सहजतया आकृष्ट कर लेते

हैं। उनकी यह उदारता इस या उस किसी एक पक्ष को आधार रखकर नहीं होती, किन्तु सार्वत्रिक होती है। वस्तुत उदार वृत्तियाँ हर प्रकार की मानसिक दूरी को मिटाने वाली होती हैं।

आगरा के स्थानक मे

उत्तरप्रदेश की यात्रा मे आचार्यश्री आगरा पधारे। धर्मशाला मे ठहरना था। मार्ग मे जैन-स्थानक आया। वहाँ ससद्-सदस्य सेठ अचलसिंहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख श्रावको ने आगे खडे होकर प्रार्थना की—यहाँ कवि अमरचन्दजी महाराज विराज रहे है। आप अन्दर पधारने की कृपा कीजिये। यद्यपि काफी विलम्ब हो चुका था, फिर भी इस समन्वय के क्षण को उन्होने छोडा नही। साधुओ-सहित अन्दर पधार गए। इतने मे कविजी भी ऊपर से आ गए। वे अच्छे विद्वान् तथा मिलनसार व्यक्ति है। स्थानकवासी समाज मे अच्छी प्रतिष्ठा है। 'उपाध्यायजी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। आते ही बडी उल्लासपूर्ण मुद्रा मे कहने लगे—मैं नही जानता था कि आप अन्दर आ जायेगे। आपकी उदारता स्तुत्य है। परोक्ष मे जो बातें सुनी थी, उससे भी कही अधिक महत्ता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है। फिर तो लगभग ढाई बजे तक वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत और विचार-विमर्श मे इतना उल्लास रहा कि पहले उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी। कई वर्ष पूर्व प्रकाशित उपाध्यायजी की 'अहिसा-दर्शन' नामक पुस्तक मे कई जगह तेरापथ की आलोचना की गई थी। बातचीत के प्रसग मे आचार्यश्री ने उन स्थलो की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा। मुनिश्री नथमलजी उन स्थलो को खोजने लगे, पर वे मिले नही। उपाध्यायजी ने मुस्कराते हुए कहा—यह दूसरा सस्करण है। इसमे आप जो खोज रहे है, वह नही मिलेगा। आचार्यश्री की समन्वय-नीति का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि स्वय लेखक ने ही अपनी आत्म-प्रेरणा से उन सब आलोचनात्मक स्थलो को अपनी पुस्तक मे से हटा दिया था।

वर्णीजी से मिलन

इसी प्रकार एक बार दिगम्बर-समाज के बहुमान्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे थे। पारसनाथ हिल का स्टेशन 'ईसरी' है। वे वहाँ एक आश्रम मे रहते थे। आचार्यश्री विहार करते हुए उधर पहुँचे तो आश्रम मे भी पधारे। आचार्यश्री की इस उदारता से वर्णीजी बडे प्रभावित और प्रसन्न हुए। बातचीत के सिलसिले मे उन्होने तेरापथ के विषय मे बडी गुणग्राहकता और उदारता-भरी वाणी मे कहा—"आपका धर्म-सघ बहुत ही सगठित है। ऐसी अद्वितीय अनुशासनप्रियता अन्य किसी भी धर्म-सघ मे दिखाई नही देती।" इस प्रकार के स्वल्पकालीन मिलन भी सौहार्द-वृद्धि मे बडे उपयोगी होते है। इस मिलन की सारे दिगम्बर-समाज पर एक मूक किन्तु अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। य छोटी-छोटी दिखायी देने वाली बाते ही आचार्यश्री की महत्ता के पट मे ताना और बाना बनी हुई हैं।

आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहाँ

बम्बई मे मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के प्रभावशाली तथा सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे थे। वहाँ भी बडे उल्लासमय वातावरण का निर्माण हुआ था। वहाँ के मूर्तिपूजक जैन समाज पर तो गहरा असर हुआ ही था, पर बाहर भी इस मिलन की बहुत अनुकूल प्रतिक्रियाए हुई।

दरगाह में

आचार्यश्री केवल जैनो के धर्म-स्थानो या जैन धर्माचार्यो के यही जाते हो, सो बात नही है। वे हर किसी धर्म-स्थान और हर किसी व्यक्ति के यहाँ उसी सहज भाव से जाते है, मानो वह उनका अपना ही धर्म-स्थान हो। अजमेर मे वे एक बार वहाँ की सुप्रसिद्ध दरगाह की ओर चले गए। वहा के सरक्षक ने उन्हे अन्दर जाने से रोक दिया। नगे सिर वह किसी को अन्दर नही जाने देना चाहता था। आचार्यश्री तत्काल वापस मुड गए। किसी भी प्रकार की शिकायत की भावना के बिना उनके इस प्रकार वापस मुड जाने ने उसको प्रभावित किया। दूसरे ही क्षण उसने सम्मुख आकर कहा,

आप तो स्वय पहुँचे हुए व्यक्ति है, अत. आप पर इन नियमों को लागू करना कोई आवश्यक नही है। आप मज़े से अन्दर जाइये और देखिये। जिस सौम्य भाव से वे [illegible] थे, उसी सौम्य भाव से फिर दरगाह की ओर मुड गए। अन्दर जाकर उसे देखा और उसके इतिहास की जानकारी ली।

वे गुरुद्वारा, सनातनधर्म मंदिर, आर्यसमाज मदिर, चर्च आदि मे भी इसी प्रकार की निर्बन्धता के साथ जाते रहे है। इस व्यवहार ने उनकी समन्वयवादी दृष्टि को बहुत बल दिया है।

श्रावकों का व्यवहार

आचार्यश्री के सहिष्णु और समन्वयी विचारो का अन्य सम्प्रदाय वालो पर अच्छा प्रभाव पडा है। ऐसी स्थिति मे स्वय तेरापथी समाज पर तो उसका प्रभाव पडना ही चाहिए था। वस्तुत वह पडा भी है। कही अधिक, तो कही कम। प्राय सवत्र वह देखा जा सकता है। तेरापथ समाज को प्रायः बहुत कट्टर माना जाता रहा है। उसमे एतद्-विषयक परिवर्तन को एक आश्चर्यजनक घटना के रूप मे ही लिया जा सकता है। कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है कि असहिष्णुता की भावना मे कमी और सहिष्णुता की भावना मे वृद्धि हुई है।

बम्बई के तेरापथी भाई मोतीचन्द हीराचन्द झवेरी ने सविग्न-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। चौपाटी के अपने मकान फूलचन्द-निवास मे सात दिन उन्हे भक्ति बहुमान सहित ठहराया। तेरापथ समाज की ओर से उनका सार्वजनिक भाषण भी कराया गया। आचार्यश्री ने उस भाषण मे बड़े मार्मिक शब्दो मे जैन-एकता की आवश्यकता बतलायी।[1] इस घटना के विषय मे भाई परमानन्द ने लिखा है, "एक सम्प्रदाय के श्रावक जन अन्य सम्प्रदाय के एक मुख्य आचार्य को बुलायें और वे आचार्य उस निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ जाये, व्याख्यान दे, ऐसी कोईघटना पहले कभी भाग्य से ही घटित हुई होगी। एकता के इस वातावरण को उत्पन्न करने मे तेरापथी समाज निमित्त बना है, अत वह धन्यवाद का पात्र है।"[2]

फादर विलियम्स

आचार्यश्री उन दिनो बम्बई मे थे। कुछ तेरापथी भाई वहाँ के इडियन नेशनल चर्च मे गये। पादरी का उपदेश सुना। बातचीत की। उन लोगो के उस आगमन तथा उपदेश-श्रवण का चर्च के सर्वोच्च अधिकारी फादर जे० एम० विलिम्यस पर बडा ही रुचिकर प्रभाव पडा। उसके मन मे यह भावना उठी कि जिसके शिष्य इतने उदार है कि उन्हे दूसरे धर्म का उपदेश सुनने मे कोई ऐतराज़ नही है तो उनका गुरु न जाने कितना महान् होगा! इसी प्रेरणा ने उनको आचार्यश्री का सम्पर्क कराया। वे किसी गद्दीधारी महन्त की कल्पना करते हुए आये थे, पर वहाँ की सारी स्थितियो को देख-सुनकर पाया कि ईसा के उपदेशो का सच्चा पालन यही होता है। वे अत्यन्त प्रभावित हुए। एक धर्म-गुरु होते हुए भी उन्होने अणुव्रत स्वीकार किये। अधिकाश अणुव्रत-अधिवेशनो मे वे सम्मिलित होते रहे है। आचार्यश्री के प्रति उनकी बडी उत्कट निष्ठा है।

साधु-सम्मेलन में

इसी प्रकार के उदारता और सौहार्द-पूर्ण कार्यों की एक घटना बीकानेर चोखले की भी है। भीनासर मे एक साधु-सम्मेलन हुआ था। उसमे अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी साधु एकत्रित हुए थे। भीनासर अपेक्षाकृत एक छोटा कस्बा है। उससे बिल्कुल सटा हुआ ही गगाशहर है। वह उससे कई गुना बडा है। वहाँ तेरापथ के लगभग नौ सौ परिवार रहते है। उन्होने उस सम्मेलन मे हर प्रकार का सम्भव सहयोग प्रदान किया था। यह सहयोग केवल भाईचारे

---

१ प्रबुद्ध जीवन, १ मई '५३
२ प्रबुद्ध जीवन, १ मई '५३

के नाते ही था और उसमे दोनो समाजो मे काफी निकटता का वातावरण बना।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे बनेचन्द भाई। उनका जब बीकानेर मे जुलूस निकाला गया, तब वहाँ के तेरापथ समाज की ओर से उन्हे माला पहनायी गई तथा सम्मेलन की सफलता के लिए शुभ कामना व्यक्त की गई। इस घटना ने उन लोगो को और भी अधिक प्रभावित किया।

इन सब घटनाओ का अपना एक मूल्य है। ये तेरापथ के मानस का दिग्दर्शन कराने वाली घटनाए है। इनके पीछे आचार्यश्री के समन्वयवादी विचारो का बल है। तेरापथ के सभी व्यक्ति आचार्यश्री की इन उदार प्रेरणाओ से अनुप्राणित हो चुके हो, ऐसी बात नही है। अनेक व्यक्ति ऐसे भी है जो आचार्यश्री के इन समन्वयी तथा उदार कार्यो को सन्देह की दृष्टि से देखते है। उनके विचार से आचार्यश्री तेरापथ को लाभ नही, अलाभ ही पहुँचा रहे है। उनका कथन है कि ऐसी प्रवृत्तियो से श्रावको की एकनिष्ठता हटती है। आचार्यश्री उनके विचारो को यह समाधान देते है कि तेरापथ सत्य से अभिन्न है। जहाँ सत्य है, वहाँ तेरापथ है और जहाँ सत्य नही है, वहाँ तेरापथ भी नही है, यह व्याप्ति है। समन्वयवादिता तथा गुणज्ञता आदि गुण अहिसा की भूमिका पर उद्भूत होते है। अत वे सत् और आदेय होते है। कदाग्रहवादिता और अवगुणग्राहिता आदि दोष हिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते है, अत वे असत् और हेय होते है। इसीलिए सत्य के प्रति निष्ठा रखना ही तेरापथ के प्रति निष्ठा रखना है। तेरापथ के प्रति निष्ठा रखता रहे और सत्य के प्रति निष्ठा न हो तो वह वास्तविक तेरापथ तक पहुँचा ही नही है। सम्प्रदाय के रूप मे तेरापथ एक मार्ग है, उसपर चलकर पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना है। मार्ग साधन होता है, साध्य नही।

चैतन्य-विरोधी प्रतिक्रियाएं

सेतुबन्ध

आचार्यश्री किसी के द्वारा 'नयी चेतना के प्रहरी' करार दिय जाते है तो किसी के द्वारा 'पुराणपथी'। वे बिलकुल गलत भी नही है, क्योकि आचार्यश्री का नवीनता मे भी प्यार है और पुराणता से भी। उनकी प्रगति के ये दोनो पैर है। एक उठा हुआ, तो दूसरा टिका हुआ। वे दोना पैर आकाश मे उठाकर उडना नही चाहते, तो दोनो पैर धरती पर टिकाकर रुकना भी नही चाहते। वे चलना चाहते है, प्रगति करना चाहते है, निरन्तर और निर्बाध। उसका क्रम यही हो सकता है कि कुछ गतिशील हो, तो कुछ टिका हुआ भी हो। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव पडता रहे। साधारणतया लोग नयी बात से कतराते है और पुरानी से चिमटते है। पुरानी के प्रति विश्वास और नयी के प्रति अविश्वास उन्हे ऐसा करने के लिए बाध्य कर देता है। परन्तु आचार्यश्री ऐसे लोगो से सर्वथा पृथक् है। वे प्राचीनता की भूमि पर खडे होकर नवीनता का स्वागत करने मे कभी नही हिचकिचाते। वस्तुत वे प्राचीनता और नवीनता को जोडने वाला उपादेयता का ऐसा सेतुबन्ध बनाना जानते है कि फिर व्यवहार की नदी के परस्पर कभी न मिलने वाले इन दोनो तटो मे सहज ही सामजस्य स्थापित हो जाता है। उनकी इस वृत्ति को स्वय तेरापथ समाज के कुछ व्यक्तियो ने सशक दृष्टि से देखा है। वृद्धो का कथन है कि वे नये-नये कार्य करते रहते है। न जाने समाज को कहाँ ले जायेगे। युवक कहते है कि वे पुराणता को साथ लिये चलते है। इस प्रकार कोई क्रान्ति नही हो सकती। दोनो का साथ-साथ निभाव करने की नीति तुष्टीकरण की नीति होती है। उससे दोनो को ही लाभ नही मिल सकता। यो वे दोनो की आलोचनाओ के लक्ष्य बनते रहते है। विरोधी विचार रखने वाले अन्य लोगो ने तो उनके दृष्टिकोण पर तरह-तरह के आक्षेप किये ही है।

विरोध से भी लाभ

आचार्यश्री विरोध से घबराते नही है। वे उसे विचार-मन्थन का हेतु मानते है। दो पदार्थों की रगड से जिस प्रकार ऊष्मा पैदा होती है, उसी प्रकार दो विचारो के सघर्ष मे नव-चिन्तन का प्रकाश जगमगा उठता है। विरोध ने

उनके मार्ग मे जहाँ बाधाए उत्पन्न की है, वहाँ अनेक बार लाभान्वित भी किया है। जो व्यक्ति विशेषज्ञ है, वे किसी भी प्रकार की चेतना को प्रत्यक्ष सम्पर्क से तो आंकते ही है, पर कभी कभी उसके विरोध मे किये जाने वाले प्रचार को देख-सुनकर परोक्ष रूप से भी आंक लेते है। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मगलदास पकवासा बम्बई के समाचार-पत्रो मे आचार्यश्री के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को पढ़कर ही सम्पर्क मे आये थे। वे जानना चाहते थे कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध हो रहा है, वह वस्तुत कितना चैतन्य-युक्त होगा। काका कालेलकर भी जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले, तो बतलाया कि मैं तेरापथ के विरोध मे बहुत-कुछ सुनता आ रहा हूँ। मुझे जिज्ञासा हुई कि जहाँ विरोध है, वहाँ अवश्य चैतन्य है। मृत का कभी कोई विरोध नही करता।

विरोधी साहित्य-प्रेषण

आचार्यश्री के प्रति विरोध-भाव रखने वालो मे अधिकाश ऐसे मिलेगे जो उनके चैतन्य को—उनके सामर्थ्य को, सहन नही कर पा रहे है। वे अपनी शक्ति से उस 'सर्वजन-हिताय' बिखरे चैतन्य को बटोरने के बजाय आवृत कर देना चाहते है। ऐसे व्यक्ति उनके विरुद्ध मे नाना प्रकार के अपवाद फैलाते है, उनके विरोध मे पुस्तके लिखते तथा छपाते है। जहाँ अवसर मिले, वहाँ इस प्रकार का साहित्य भेजकर उनके विरुद्ध वातावरण बनाने का प्रयास करते है। परन्तु वे उनके अपराजेय व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार आच्छन्न नही कर पाये हैं। आज तक उनका व्यक्तित्व जितना निखर चुका है, भविष्य मे वह उतना ही नही रहेगा, उसमे और निखार आयेगा। उनके चैतन्य का, सामर्थ्य का प्रकाश और जगमगायेगा—यही एकमात्र सम्भावना की जा सकती है। वहाँ कुछ लोग ऐसा सोचते है कि इस प्रकार के विरोधी प्रचार से उनके व्यक्तित्व पर रोक लगेगी, तो वे भूल करते है। इस प्रकार के कुछ प्रयासो के फलित देख लेने से पता चल सकता है कि उनका यह शस्त्र उल्टा आचार्यश्री के व्यक्तित्व को और अधिक निखारने वाला ही सिद्ध होता रहा है।

ढेर लग गया

सुप्रसिद्ध लेखक भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने एक बार 'हरिजन' मे अणुव्रत-आन्दोलन की समालोचना की। फलस्वरूप उनके पास इतना तेरापथ-विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे आश्चर्यचकित रह गए। उन्होने पत्र द्वारा आचार्यश्री को सूचित किया कि जब से वह समालोचना प्रकाशित हुई है, तब से मेरे पास इतना विरोधी साहित्य आने लगा है कि एक ढेर-का-ढेर लग गया है।

ऐसा होता ही है

इसी प्रकार की घटना उ० न० ढेबरभाई के साथ भी घटी। वे उन दिनो सौराष्ट्र के मुख्य मन्त्री थे। आचार्यश्री बम्बई-यात्रा के मध्य अहमदाबाद पधारे। वहाँ वे पहले-पहल आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। उन्होने आचार्यश्री को सौराष्ट्र आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमो की वहाँ बडी आवश्यकता है। आप अपने कार्यक्रम मे सौराष्ट्र-यात्रा को भी अवश्य सम्मिलित करे। वहाँ आपको अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता भी उपलब्ध हो सकते है। दूसरे दिन वे फिर आये और बातचीत के सिलसिले मे अपने उस निमन्त्रण को दुहराते हुए कहा कि आप इसकी स्वीकृति दे दीजिये। आचार्यश्री का आगे का कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था। उसमे किसी प्रकार का बडा हेर-फेर कर पाना सम्भव नही रह गया था अत. वह बात स्वीकृत नही हो सकी।

कुछ समय बाद ढेबरभाई कांग्रेस-अध्यक्ष बनकर दिल्ली मे रहने लगे। उन दिनो मैं भी दिल्ली मे ही था। मिलन हुआ तो बातचीत के सिलसिले मे उन्होने मुझे यह सारी घटना सुनायी और कहा कि जब से मेरे निमन्त्रण देने के समाचार समाचार-पत्रों मे प्रकाशित हुए है, तभी से मेरे पास आचार्यश्री के विषय मे विरोधी साहित्य इतनी मात्रा में पहुँचने लगा है कि मैं चकित रह गया हूँ।

मैंने जब यह पूछा कि आप पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई? तब वे कहने लगे—मैं सोचता हूँ कि हरएक अच्छे

कार्य के प्रारम्भ मे बहुधा ऐसा होता ही है। ऐसा हुए बिना कार्य मे चमक नही आती।

व्यक्तिगत पत्र

अभी तेरापंथ-द्विशताब्दी के अवसर पर साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रो मे तेरापथ, अणुव्रत और आचार्यश्री के विषय मे अनेक लेख प्रकाशित हुए। कुछ व्यक्तियो को वे अखरे। उन्होने सम्पादको के पास काफी मात्रा मे विरोधी साहित्य तथा सम्पादकों को कर्तव्य-बोध देने वाले व्यक्तिगत पत्र भी भेजे। ऐसा ही एक पत्र सयोगवशात् मुझे देखने को मिला। वह 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक श्री बांकेबिहारी भटनागर के नाम था। उसमे आचार्यश्री, तेरापथ तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रश्रय देने की नीति का विरोध किया गया था। परन्तु उसका असर क्या होना था! उस पत्र के कुछ दिन बाद ही स्वय श्री भटनागरजी का एक लेख 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' मे प्रकाशित हुआ, जिसमे आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति एक गहरी श्रद्धा-भावना व्यक्त की गई थी।

ऐसी घटनाए अनेक है और होती ही रहती है, पर जो आचार्यश्री के कार्यो से प्रभावित होते है, उनकी सख्या के सामने ये नगण्य-सी है। जहाँ गति होती है, वहाँ का वायुमण्डल उसका विरोधी बनता ही आया है। गति मे जितनी त्वरा होती है, वायुमण्डल भी उतनी ही अधिक तीव्रता से विरोधी बनता है। पर क्या कभी गति की प्राणशक्ति क्षीण हुई है!

समय ही कहाँ है!

आचार्यश्री अपने विरुद्ध किये जाने वाले विरोध या आक्षेपो के प्रति कोई विशेष ध्यान नही देते। उनका उत्तर देने की तो तेरापथ मे प्राय पहले से ही परिपाटी नही रही है। यह ठीक भी है। कार्य करने वाले के पास विरोध और झगडा करने का समय ही कहाँ रह पाता है! वे इतने कार्य-व्यस्त रहते है कि कभी-कभी उन्हे समय की कमी खटकने लगती है। वे कहते है कि जो व्यक्ति निठल्ला रहकर या कलह आदि मे समय व्यतीत करता है, उसका वह समय मुझे मिल पाता तो कितना अच्छा होता! उनकी कर्मठता और अदम्य शक्ति मानव-जाति के लिए एक नव आशा का सचार करती है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी का निम्नोक्त कथन इसी बात की तो पुष्टि करता है—"तुलसीजी को देखकर ऐसा लगा कि यहाँ कुछ है। जीवन मूर्च्छित और परास्त नही है। उसकी आस्था है और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व मे सजीवता है और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता। यद्यपि हठवादिता नही, वातावरण के प्रति उनमे ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियो और सम्प्रदायो के प्रति सवेदनशीलता। एक अपराजेय वृत्ति उनमे पायी, जो परिस्थिति की ओर से अपने मे शैथिल्य लेने को तैयार नही है, बल्कि अपने आस्था-सकल्प के बल पर उन्हे बदल डालने को तत्पर है। धर्म के परिग्रहहीन आकिञ्चन्य के साथ इस पराक्रम सिंहवृत्ति का योग अधिक नही मिलता। साधुता निवृत्त और निष्क्रिय हो जाती है। वही जब प्रवृत्त और सक्रिय हो तो निश्चय ही मन मे आशा उत्पन्न होती है।"[1]

मेरी हार मान सकते है

कभी उन्हे धार्मिक वाद-विवादो तथा जय-पराजयो मे रस रहा हो तो रहा हो, पर अब तो वे इसे पसन्द नही करते। वाद-विवाद प्राय जय-पराजय के भाव उत्पन्न करता है और तत्त्व-चिन्तन के स्थान पर छल, जाति आदि के प्रयोगो की ओर ले जाता है। पुराने युग मे शास्त्रार्थों मे बडा रस लिया जाता था, पर अब उन्हे वैमनस्य बढाने का ही एक प्रकार माना जाने लगा है। इसीलिए वे उसे पसन्द नही करते। यथासम्भव ऐसे अवसरो से वे बचना ही चाहते हैं, जिनसे कि विवाद बढने की सम्भावना हो। एक बार कुछ भाई आचार्यश्री से बातचीत करने आये। धीरे-धीरे बातचीत ने विवाद का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया। आचार्यश्री ने उसका रुख बदलने के विचार से कहा कि इस विषय मे जो

---

१ आचार्य तुलसी, पृ० ग-घ

मेरा विचार है वह मैंने आपको बता दिया है। अब आपको उचित लगे तो उसे मानिये, अन्यथा मत मानिये। वे भाई बातचीत की दृष्टि से उतने नही आये थे, जितने कि वाद-विवाद की दृष्टि से। उन्होंने कहा—ऐसा कहकर बात समाप्त करने से तो आपके पक्ष की पराजय ही प्रकट होती है। आचार्यश्री ने सौम्य भाव रखते हुए कहा—आपको यदि ऐसा लगता हो तो आप निश्चितता से मेरी हार मान सकते हैं। मुझे इसमे कोई आपत्ति नही है। यह बात किसी ने मुझे सुनायी थी, तब मुझे गाधीजी के जीवन की एक ऐसी ही घटना का स्मरण हो आया। गाधीजी के हरिजन-आन्दोलन के विरुद्ध कुछ पण्डित उनमे शास्त्रार्थ करने आये। उनका कथन था कि वर्णाश्रम धर्म जब शास्त्रसम्मत है, तब हरिजनो को स्पृश्य कैसे माना जा सकता है ? गाधीजी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ मे कोई रस नही था। उन्होंने इस बात को वही समाप्त कर देने के भाव मे कहा—मैं शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। पर हरिजनो के विषय मे मेरे जो विचार हैं, वे ही मुझे सत्य लगते हैं। गाधीजी ने बडे सहज भाव से हार मान ली, तब उन लोगो के पास आगे कुछ कहने को शेष नही रह गया था। वे जब उठकर जाने लगे तो गाधीजी ने कहा—हरिजन-फण्ड मे कुछ चन्दा तो देते जाइये। उन्होंने चन्दा दिया और अपने काम मे लगे। विवाद से बचकर काम मे लगे रहने की मनोवृत्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

कार्य ही उत्तर है

तेरापथ की प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि निम्नस्तरीय आलोचनाओ तथा विरोधो का कोई उत्तर नही दिया जाना चाहिए। विरोध से विरोध का उपशमन नही हो सकता। उसमे तो उसमे और अधिक तेजी आती है। विरोधो का असली उत्तर है—कार्य। सब प्रश्न और सब तर्क-वितर्क कार्य मे आकर समाहित हो जाते है। आचार्यश्री इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब दूसरे आलोचना मे समय बरबाद करते होते है, तब आचार्यश्री कोई न-कोई कार्य-निष्पादन करते होते है। किसी के विरोध का उसी प्रकार के विरोध-भाव से उत्तर देने मे वे अपना तनिक भी समय लगाना नही चाहते।

बम्बई मे आचार्यश्री का चातुर्मास था। उस समय कुछ विरोधी लोग समाचार-पत्रो मे उनके विरुद्ध धुंआधार प्रचार कर रहे थे। पत्र उनके अपने थे। प्रेरणाए किनकी थी, यह कहने मे अधिक जानना ही अच्छा है। कहना ही हो तो उसका साधारणीकरण यो किया जा सकता है—दूसरो की भी हो सकती है और उनकी अपनी भी। सभी पत्र वैसे नही थे। फिर भी कुछ विशेष पत्रो मे जब लगातार किसी के विरुद्ध प्रचार होता रहे तो दूसरे पत्र भी उसमे प्रभावित हुए बिना नही रहते। या तो वे उसी राग मे अलापने लगते हैं या फिर उसकी सत्यता की गवेषणा मे लगते हैं। वही के एक पत्र 'बम्बई-समाचार' के प्रतिनिधि श्री त्रिवेदी प्रतिदिन के उन विरोधी समाचारो से प्रभावित हुए और आचार्यश्री के पास आये। बातचीत की तो पाया कि जो विरोधी प्रचार किया जा रहा है, वह विद्वेष-प्रेरित है। उन्होंने बडे आश्चर्य के साथ आचार्यश्री से पूछा कि जब इतना विरोधी प्रचार हो रहा है, तब आप उसका उत्तर क्यो नही देते ?

आचार्यश्री ने कहा—हम यहाँ जो काम कर रहे हैं, वही उसका उत्तर है। विरोध का उत्तर विरोध से देने मे हमे कोई विश्वास नही है। वस्तुत आचार्यश्री अपने सारे चैतन्य को—सामार्थ्य को, कार्य मे खपा देना चाहते है। उसका एक कण भी वे निरर्थक बातो म अपव्यय करना नही चाहते। विरोध है और रहेगा, कार्य भी है और रहेगा। परन्तु विरोध के जीवन से कार्य का जीवन बहुत बडा होता है। अन्त शेष मे विरोध मर जायेगा और कार्य रह जायेगा। तब उनके अपराजेय चैतन्य की विजय सबकी समझ मे आयेगी। उसमे पूर्व किसी के आयेगी और किसी के नही।

सर्वांगीण विकास

भगीरथ प्रयत्न

सघ के सर्वांगीण विकास के सम्बन्ध में भी आचार्यश्री ने बहुत बडा कार्य किया है। उनके शासन मे तेरापथ

ने नयी करवट ली है। युग-चेतना की गगा को सघ मे बहाने के लिए उन्होंने भगीरथ बनकर तपस्या की है। अब भी कर रहे हैं। उनका कार्य अवश्य ही बहुत बडा तथा श्रम-साध्य है, पर लाभ भी उतनी ही बडी मात्रा मे है। जिन्होंने प्रारम्भ मे उनकी इस तपस्या का मूल्य नही आंका था, वे आज आंकने लगे है। जो आज भी नही आंक पाये है, वे उसे कल अवश्य आंकेगे। आचार्यश्री के प्रयासो ने तेरापथ का ही नही, अपितु सारे जैन-समाज और सारे धर्म-समाज का मस्तक ऊँचा किया है।

तेरापंथ का व्याख्या-विकास

जैन धर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है। किसी समय मे इसका प्रभाव सारे भारत मे व्याप्त था, परन्तु अब वह ग्रीष्मकालीन नदी की तरह सिकुडता और सूखता चला जा रहा है। पता नही, कौन सा वर्षाकाल उसे फिर से वेग और पूर्णता प्रदान करेगा। इस समय तो वह अनेक शाखाओ मे विभक्त है। मुख्य शाखाए दो है—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर शाखा के तीन विभाग है—सवेगी, स्थानकवासी और तेरापथ। इन सब मे तेरापथ अपेक्षाकृत नया है। स० २०१७ की आषाढी पूर्णिमा को इसकी आयु दो सौ वर्ष की सम्पन्न हुई है। तीसरी शती का यह प्रथम वर्ष चल रहा है। एक धर्म-सघ के लिए दो सौ वर्ष कोई लम्बा समय नही होता। तेरापथ की प्रथम शती तो बहुलाश मे सघर्ष प्रधान ही रही। हर क्षेत्र मे उसे प्रबल सघर्षो मे से गुजरना पडा। प्रगति के हर कदम पर उसे बाधाओ का सामना करना पडा। द्वितीय शती के दो चतुर्थाशो मे साधारण गति ही होती रही। उसमे कोई विलक्षणता, प्रवाह या वेग नही था। तृतीय चतुर्थांश मे प्रविष्ट होते ही उसमे कुछ विलक्षणताए कुलबुलाने लगी। प्रवाह और वेग भी दृग-गोचर होने लगे, हालांकि वे उस समय बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था मे थे। अन्तिम चतुर्थांश वस्तुत प्रगति का काल कहा जा सकता है। यह पूरा-का-पूरा काल आचार्यश्री के नेतृत्व मे बीता है। वे उसका सर्वांगीण विकास करने मे जुटे हुए है।

आचार्यश्री ने तेरापथ की व्याख्या मे भी एक नया विकास किया है। स्वामीजी ने तेरापथ की व्याख्या की थी—हे प्रभो ! तेरा पथ। आचार्यश्री ने उसे विकसित करते हुए कहा—हे मनुष्य ! तेरा पथ। दोनो वाक्यो का सम्मिलित अर्थ यो किया जा सकता है कि जो प्रभु का पथ है, वही मनुष्य का भी पथ है। प्रभु को पथ की आवश्यकता नही है वह तो मनुष्य के लिए ही उपयोगी हो सकता है। मनुष्य और प्रभु मार्ग के दो छोरो पर है। एक छोर मजिल का प्रारम्भ है, तो दूसरा उसकी पूर्णता। प्रभु पूर्ण है, मनुष्य को पूर्ण होना है, मजिल तय करने के लिए चलना है। मार्ग चलने वाले के लिए ही उपयोगी है। पहुँच जाने वाले के लिए किसी समय उपयोगी रहा हो, पर अब उसके लिए उसकी आवश्यकता नही है। स्वामीजी की व्याख्या मे धर्म की स्थिति विश्लिष्ट हुई है और आचार्यश्री की व्याख्या मे गति। स्थिति और गति, दोनो ही परस्पर सापेक्ष भाव है। कोरी गति या कोरी स्थिति की कल्पना भी नही की जा सकती। आचार्यश्री ने अपने एक कविता पद मे उपर्युक्त दोनो अर्थों का समावेश इस तरह किया है

> **हे प्रभो ! यह तेरा पथ,**
> **मानव मानव का यह पंथ।**
> **जो बनें इसके पथिक,**
> **सच्चे पथिक कहलायेंगे।**

युग-धर्म के रूप में

बहुत वर्षों तक तेरापथ का परिचय प्राय राजस्थान से ही रहा था। इससे बाहर जाना एक विदेश-यात्रा के समान ही गिना जाता था। राजस्थान मे भी कुछ निश्चित तबके के लोगो तक ही इसका दायरा सीमित रहा था। उस समय जन-साधारण में तेरापथ को जानने वाले व्यक्ति नगण्य ही कहे जा सकते थे। आचार्यश्री के विचारो मे उसके प्रसार की योजनाए थी। उनका मन्तव्य है कि निस्सीम धर्म को किन्ही सीमाओ मे जकड कर रखना गलत है। वह हर व्यक्ति का है, जो करे उसी का है। उन्होंने 'भ्रमर गान' मे अपने इन विचारो को यो गूँथा है·

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
जाति-पाँति का भेद मिटाया।
निर्धन-धनिक न अन्तर पाया,
जिसने धारा जन्म सुधारा।

आचार्यश्री ने केवल यह कहा ही नहीं, किया भी है। वे ग्रामीण किसानों से लेकर शहरी व्यापारियों तक और हरिजनों से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक में धर्म के संस्कार भरने का काम करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। अहिंसा, सत्य आदि उसके भेद हैं। यही तेरापथ है। आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो सूक्ष्मतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया तथा हिंसा और अहिंसा की जिन सीमा-रेखाओं को निर्भीकता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया, उसका महत्त्व उस युग में उतना नहीं आँका जा सका, जितना कि आज आँका जा रहा है। स्वामीजी के वे विवेचित तथ्य आचार्यश्री की भाषा पाकर युग-धर्म के रूप में परिणत हो रहे हैं। हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मतापूर्ण विवेचना से प्रभावित होकर भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री भु० प्र० सिन्हा ने कहा, "उनका (आचार्य भिक्षु का) यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा में यदि धर्म हो तो जल-मन्थन से घृत निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना में और सिद्धान्त में अहिंसा को कहीं खण्डित नहीं होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड़-मरोड़कर परिस्थितियों के साथ उसकी संगति बिठाते हैं, पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नहीं पहुँच पा रहे हैं तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—पूर्व और पश्चिम की ओर जानेवाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नहीं सकती।"[1]

विरोध और उत्तर का स्तर

तेरापथ के मन्तव्यों को लेकर प्रारम्भ में ही काफी ऊहा-पोह रहा है। उनकी गहराई को बहुत छिछलेपन से लिया गया और मजाक उड़ाया गया। जैन धर्म के महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' को शंकराचार्य और धर्मकीर्ति-जैसे उद्भट विद्वानों ने जैसे अपने व्यंग्यों का विषय बनाया और कहा कि स्याद्वाद के सिद्धान्त को मान लिया जाये, तो यह सिद्ध होगा कि 'ऊँट ऊँट भी है और दही भी'। परन्तु भोजन के समय दही खाने की इच्छा होती है तब क्या कोई ऊँट को दही मानकर खाने लगता है? ऐसी ही कुछ बिना सिर-पैर के उल्टे-सीधे तर्कों के आधार पर तेरापथ के मन्तव्यों पर भी व्यंग किये जाते रहे हैं। विरोधियों को तेरापथ के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर तो उन्हें अबाध गति से मिलता रहा है, क्योंकि किसी भी प्रकार के विरोध का उत्तर देने की परम्परा तेरापथ में नहीं रही। फलस्वरूप तेरापथ के मन्तव्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करनेवाला साहित्य जनता और विद्वानों तक प्रचुर मात्रा में पहुँचता रहा, परन्तु उनके गलत तर्कों का समाधान करने वाला साहित्य बिल्कुल नहीं पहुँच पाया। इस वास्तविकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उत्तर देने की आवश्यकता न होने के कारण ऐसा कोई वर्तमान-योग्य साहित्य लिखा भी नहीं गया। फल यह हुआ कि उन मन्तव्यों के प्रति धारणा बनाने का साधन विरोधी साहित्य ही बनता रहा। यह स्थिति आचार्यश्री जैसे क्रान्तदर्शी मनीषी कैसे सहन कर सकते थे! उनके विचारों में मन्थन होने लगा कि विरोध का उत्तर दिये बिना किसी को सत्य का कैसे पता लग पायेगा! आलोचना को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखना क्या उचित है? इस विचार-मन्थन में से जो नवनीत के रूप में निर्णय उभरा, वह यह था कि उच्चस्तरीय आलोचनाओं का उत्तर उसी स्तर पर देना चाहिए। उसमें विवाद बढ़ने के बजाय तत्त्व-बोध होने की ही अधिक सम्भावना है। **"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"** यह बात इसी आशय को पुष्ट करने वाली है। इस निर्णय के पश्चात् उन अनेक आलोचनाओं के उत्तर दिये जाने लगे जो कि द्वेषमूलक न होकर तत्त्व-चिन्तामूलक होती थी। इसका जो फल आया, उसमें यही अनुभव किया गया कि यह सर्वथा लाभप्रद चरणन्यास था।

१ जैन भारती, २४ जुलाई '६० (तेरापंथ-द्विशताब्दी पर प्रदत्त वक्तव्य)।

निरूपण-शैली का विकास

आचार्यश्री ने तेरापंथ के मन्तव्यो को नवीन निरूपण-शैली के द्वारा विद्वज्जन-भोग्य बनाने का प्रयास किया। उन्होने साधु समाज को एतद्-विषयक लेखने की प्रेरणा और दिशा दी। साहित्य के माध्यम से जब उन मन्तव्यो की दार्शनिक पृष्ठभूमि जनता तक पहुँची, तो उसका स्वागत हुआ। फलत. आलोचनाओ का स्तर ऊँचा उठा।

निरूपण-शैली की नवीनता ने जहाँ अनेक व्यक्तियो को तत्त्व-लाभ दिया, वहाँ कुछ व्यक्ति उस दृष्टिकोण को यथार्थता से नही आँक सके। उन्होने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि वे आचार्यश्री भिक्षु के विचारो को बदल कर जनता के सामने रख रहे है। सिद्धान्तो का यथावत् प्रतिपादन करने मे उन्हे भय लगने लगा है। परन्तु ये सब निर्मूल बातें हैं। ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जहाँ आचार्यश्री ने विद्वत्-सभाओं मे तेरापथ के मन्तव्यो का बडी स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वे यह मानते हैं कि तत्त्व को किसी के भी सामने यथार्थ रूप मे ही निरूपित करना चाहिए, उमे छिपाना बहुत बडी कायरता है। परन्तु वे यह भी मानते है कि तत्त्व-निरूपण मे जितनी निर्भीकता की आवश्यकता है, उससे कही अधिक विवेक की आवश्यकता है।

संस्कृत-साधना

जैनाचार्य भाषा के विषय मे बडे उदार रहे हैं। वे जब जिस स्थान पर रहे, तब वही की भाषा को उन्होने अपनी भाषा बनाया और उसके साहित्य-भण्डार को भरा। जनता तक पहुँचने तथा उस तक अपने विचार पहुँचाने का इससे अधिक और कोई उत्तम प्रकार नही हो सकता। उन्होने भारत के प्राय हर प्रान्त के साहित्यार्जन मे अपना योग-दान दिया है। अर्ध-मागधी, अपभ्रश, गुजराती, महाराष्ट्री, तेलगू, तमिल, कन्नड आदि भाषाओ मे तो उन्होने इतना लिखा है कि वे भाषाए जैनाचार्यों के उपकार से ऋण-मुक्त नही हो सकती। क्षेत्रीय भाषाओ मे तो उन्होने लिखा ही, परन्तु जब सस्कृत का प्रभाव बढा तब उसमे भी वे पीछे नही रहे। प्राय हर विषय पर उन्होने अधिकारी ग्रन्थ लिखे। वह एक प्रवाह था। खूब बहा, बहता रहा, पर पीछे धीरे-धीरे मन्द होने लगा। कई सम्प्रदायो मे तो उसके रुकने की-सी स्थिति आ गई। प्रान्तीय भाषाओ का पल्लवन अवश्य सुचारु रूप से होता रहा।

तेरापथ का प्रवर्तन ऐसे समय मे हुआ, जबकि सस्कृत का कोई वातावरण नही था। आगमो का अध्ययन सूत्र चलता था, पर सस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा एक प्रकार से विच्छिन्न थी। इसीलिए तेरापथ की प्रथम शती केवल राज स्थानी-साहित्य को ही माध्यम बनाकर चलती रही थी। यह उचित भी था, क्योकि स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान था। यहाँ की जनता को प्रतिबोध देना उसका लक्ष्य था। दूसरी भाषा यहाँ इतनी सफलता नही पा सकती थी।

लगभग सौ वर्ष पश्चात् जयाचार्य ने तेरापथ मे सस्कृत का बीज-वपन किया। एक सस्कृत-विद्यार्थी को उन्होने अपना मार्ग-दर्शक बनाया। ब्राह्मण विद्वान् जैनो को विद्या देना नही चाहते थे। उनकी दृष्टि मे वह साँप को दूध पिलाने जसा था। उनके शिष्य श्री मघवागणी ने उस अध्ययन-परम्परा को जरा आगे बढाया, परन्तु वह पनप नही सकी और उनके साथ ही विलीन हो गई।

सप्तमाचार्य श्री डालगणी के समय बीदासर के जागीरदार ठाकुर हुकमसिहजी ने उनके पास एक श्लोक भेजा और अर्थ पूछा। परन्तु उनकी जिज्ञासा को कोई भी साधु तृप्ति नही दे सका। यह स्थिति भावी आचार्यश्री कालूगणी को बहुत चुभी। उन्होने अपने मन-ही-मन व्याकरण पढने का सकल्प किया। चाह को भी राह मिली, पण्डित घनश्याम-दासजी ने सहयोग दिया। आचार्यपद का उत्तरदायित्व सँभालने के बाद भी एक बालक की तरह अहर्निशि रटते रहकर उन्होने सस्कृत का अध्ययन किया। एक सकल्प पूरा हुआ, पर उनके सामने शिष्यवर्ग के अध्ययन की समस्या खडी थी। पण्डित घनश्यामदासजी रूप-पण्डित थे, प्रयोग का कोई अभ्यास नही था। आचार्यश्री कालूगणी का प्रयोग-पाण्डित्य उनकी अपनी सकल्प-शक्ति का परिणाम ही अधिक था।

दूसरे पण्डित मिले रघुनन्दनजी शर्मा। वे आयुर्वेदाचार्य और आशुकविरत्न थे। उनके विनीत और सरल सहयोग

ने कई साधुओं को व्याकरण में पारंगत बना दिया। फलस्वरूप मुनिश्री चौथमलजी द्वारा महाव्याकरण का निर्माण हुआ। उसकी बृहद्वृत्ति स्वयं प० रघुनन्दनजी ने लिखी। धीरे-धीरे उसके अन्य अगोपांग भी बना लिये गए। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से आत्म-निर्भर तो अवश्य बन गए, पर विषय-विस्तार नही हो सका। साहित्य-निर्माण की शक्ति कुछ स्तोत्र बनाने तक ही सीमित रही।

आचार्यश्री तुलसी के मुनि-जीवन के ग्यारह वर्ष व्याकरण-ज्ञान की गलियो में घूमते ही बीते थे। आज जो कुछ उनके पास है, वह तो सब बाद का ही अर्जन है। यह अवश्य है कि क्रमिक विकास चालू था। आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थी-काल मे दर्शनशास्त्र के अध्ययन का बीज-वपन कर दिया था, पर वह पल्लवित तो आचार्य बनने के बाद ही हो सका।

आचार्यश्री के पास पढने वाले हम विद्यार्थी मुमुक्षुओ को व्याकरण-अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाओ का विशेष सामना नही करना पडा। उसमे आत्म-निर्भरता तो आ ही गई थी, साथ ही क्रम-निर्धारण भी हो गया था; परन्तु हम लोगो को दर्शन के जगल मे बिल्कुल बिना मार्ग के चलना पड़ा था। सयोग ही कहना चाहिए कि उसमे भटकते-भटकते जब सहज ही बाहर आये तो अपने को मजिल के पास ही पाया। हम लोगो के बाद के विद्यार्थियो को अन्य अनेक असुविधाएं या बाधाए भले ही देखनी पडी हो, परन्तु अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाए प्राय समाप्त ही हो गई थी।

तेरापथ मे सस्कृत भाषा के विकास की यह सक्षिप्त-सी रूपरेखा है। इसकी गति को त्वरा प्रदान करने मे आचार्यश्री का ही श्रेयोभाग अधिक रहा है। आपकी दीक्षा से पूर्व वह गति बहुत मन्द थी। दीक्षा के बाद कुछ त्वरा आयी। उसमे आपका प्रयास भी साथ था। आचार्य बनने के बाद उसमे पूर्ण त्वरा भरने का श्रेय तो पूर्णत आपको ही दिया जा सकता है। आपने अपने बुद्धि कौशल से न केवल अपने शिष्यवर्ग को सस्कृत भाषा का ही अधिकारी विद्वान् बनाया है, अपितु उसके प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् बनाने मे प्रयत्न चालू रखा है। इसमे दर्शन तथा साहित्य-विषयक निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वय आचार्यश्री ने तथा उनके शिष्य-वर्ग ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थो का निर्माण कर सस्कृत-वाङ्मय की अर्चना की है और कर रहे हैं।

हिन्दी में प्रवेश

भारत गणतन्त्र की राजभाषा हिन्दी स्वीकृत की गई है। इसमे इस भाषा के महत्त्व मे किसी को आशका नही हो सकती। स्वतन्त्रता से पूर्व भी भारत में हिन्दी का बहुत महत्त्व रहा है। यह भाषा सारे राष्ट्र को एक कडी मे जोडने वाली रही है। विदेशी सरकार ने यद्यपि इसके विकास मे अनेक बाधाए उत्पन्न कर दी, जो कि अब तक भी बाधक बनी हुई हैं, फिर भी उसका अपना सामर्थ्य इतना है कि वह पराजित नही हो सकती। हिन्दी का अपना साहित्य है। उसका बहुत लम्बा-चौडा विस्तार है। पर तेरापथ मे हिन्दी भाषा का प्रवेश कोई अधिक पुरानी घटना नही है।

तेरापथ का विहार-क्षेत्र इतने वर्षो तक मुख्यत राजस्थान ही रहता रहा है। पहले यहाँ प्राय देशी रियासतो का ही बोलबाला था। लोगो की अपनी-अपनी अच्छी-बुरी अनेक धारणाए थी। प्राय सर्वत्र राजस्थानी (मारवाडी) भाषा का ही प्रचलन था। अत हिन्दी बोलना अह का सूचक समझा जाता था।

एक बार सुजानगढ मे हिन्दी भाषा के विषय मे कोई प्रकरण चल पडा। शुभकरणजी दशाणी भी वही थे। उन्होने आचार्यश्री से पूछा कि सन्तों मे क्या कोई हिन्दी-निबन्धादि लिख सकते हैं? आचार्यश्री ने हम तीनो सहपाठियो (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मैं) की ओर देखकर कहा—क्या उत्तर देते हो? हम तीनो ने उत्तर मे जब स्वीकृतिमूलक सिर हिलाया तो आचार्यश्री को आश्चर्य ही हुआ। शुभकरणजी ने वहाँ यह बात खोलने के लिए ही चलाई थी; अन्यथा उन्हे पता था कि हम लिखते हैं। वस्तुत. हम तीनो उन दिनो हिन्दी मे कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे, पर यह सब गुप्त ही था। उस दिन की उस स्वीकृति ने ही उस रहस्य को प्रकट किया था। आचार्यश्री से कुछ प्रेरणामूलक विचार पाकर हमें भी सुखद आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वह लेखन-कार्य प्रच्छन्नता से हट कर प्रकट रूप मे आ गया। हम लोगो ने कोई हिन्दी की अलग शिक्षा ग्रहण नही की थी, सीधे सस्कृत से ही उसमें आये थे, परन्तु हिन्दी की पुस्तकें पढते रहने के कारण वह अपने-आप ही हृदयगम हो गई थी।

धीरे-धीरे अनेक साधु हिन्दी के अच्छे विद्वान् तथा लेखक बन गए। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थो का प्रणयन हिन्दी मे किया गया। स्वय आचार्यश्री ने हिन्दी मे अनेक रचनाए की हैं। तेरापथ मे हिन्दी को बडी त्वरता से अपनाया गया और विकसित किया गया। जैनागमो के हिन्दी-अनुवाद की घोषणा भी आचार्यश्री कर चुके है। कार्य बडे वेग से आगे बढ रहा है। अनेक साधु अनुवाद के कार्य मे लगे हुए है। कई आगमो का अनुवाद हो भी चुका है।

भाषण-शक्ति का विकास

स० १९९४ मे आचार्यश्री अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर करने के पश्चात् शीतकाल मे भीनासर पधारे। उन दिनो हम लोग स्तोत्र-रचना कर रहे थे। पडित रघुनन्दनजी वहाँ आये हुए थे। हमने उनको अपने-अपने श्लोक सुनाये। उन्होने सायकालीन प्रतिक्रमण के बाद आचार्यश्री के सम्मुख स्तोत्र-रचना की बात रख दी। आचार्यश्री ने हम सबसे श्लोक सुने और प्रोत्साहन दिया। साथ ही एक दूसरी दिशा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—मैंने अनुभव किया है कि अब तक सस्कृत-पठन के बाद श्लोक-रचना की ओर तो सन्तो की सहज प्रवृत्ति होती रही है, पर भाषण-शक्ति के विकास की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया। तुम लोग इस तरफ भी अपनी शक्ति लगाओ। हम सबको आचार्यश्री के इस दिशा निर्देश से बडी प्रेरणा मिली। बात आगे बढी और अभ्यास-वृद्धि के मार्गों का निश्चय किया गया। पडितजी भी उस विचार-विमर्श मे सहायक थे। समय-समय पर वाद-विवाद प्रतियोगिता तथा भाषण-प्रतियोगिता करते रहने का सुझाव आया। सस्कृतज्ञ सन्तो को बुलाकर आचार्यश्री ने प्रतियोगिता मे भाग लेने की प्रेरणा दी और अगले दिन से उसे प्रारम्भ करने की घोषणा की। योजनापूर्वक भाषण-पद्धति को विकसित करने का यह प्रथम प्रयास था। इससे पूर्व कोई अपनी प्रेरणा से अभ्यास करता तो कर लेता, पर उसमे बोलने की झिझक नही मिटती। सामुदायिक रूप से सबके सम्मुख भाषण करने से जो अभ्यास होता है, उसकी अपनी विशेषता ही अलग होती है।

शीतकाल का समय था। बाहर से साधु-वर्ग आया हुआ था। सस्कृत-भाषण का नवीन कार्य प्रारम्भ होने जा रहा था। सभी की आँखो से उल्लास झाँक रहा था। किसी के मन मे बोलने की उत्सुकता थी, तो किसी के मन मे सुनने की। आचार्यश्री ने समवयस्कता और समयोग्यता के आधार पर दो-दो व्यक्तियो के कई समूह बना दिये और उन्हे एक-एक विषय दे दिया। इस क्रम से वह प्रथम वाद-विवाद प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। आचार्यश्री को सन्तो के सामर्थ्य को तौलने का अवसर तो प्राय मिलता ही रहता है, पर इसमे जन-साधारण को भी सबके सामर्थ्य मे परिचित होने का मौका मिला।

भाषण-शक्ति के विकास के लिए वह प्रकार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। उसमे विद्यार्थी-वर्ग मे आत्म-विश्वास का जागरण हुआ। उसके बाद हम लोग स्वत अभ्यास मे भी अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हुए। प्रभात-काल मे गाँव-बाहर जाते, वहाँ अकेले ही खडे-खडे वक्तव्य दिया करते। समय-समय पर आचार्यश्री के समक्ष प्रतियोगिताए होती रहती। उनसे हमारी गति मे अधिक त्वरा आती रहती।

शीतकाल मे सस्कृतज्ञ साधुओ की जितनी सख्या होती, उतनी बाद मे नही रह सकती थी, अत. बडे पैमाने पर ऐसी प्रतियोगिताए प्राय शीतकाल मे ही हुआ करती। कई बार ऐसी प्रतियोगिताए अनेक दिनो तक चलती रहती। एक बार छापर मे वाद-विवाद प्रतियोगिता हुई थी तथा एक बार आडसर मे भाषण-प्रतियोगिता। वे दोनो ही काफी लम्बे समय तक चलती रही थी। धीरे-धीरे वक्तव्य कला मे अनेक नवोन्मेष होते रहे। अनेक व्यक्तियो ने धाराप्रवाह भाषण देने की योग्यता प्राप्त की। आडसर से प्रारम्भ हुई प्रतियोगिता मे मुनिश्री नथमलजी पुरस्कार-भाग् रहे।

एक बार आचार्यश्री सरसा मे थे। सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् सन्तो को बुलाया और सस्कृत-भाषण के लिए कहा। यह घोषणा भी की कि 'त्रिवेणी' (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी तथा मैं) के अतिरिक्त अन्य कोई साधु यदि भाषण मे कोई विशेष योग्यता दिखायेगा तो उसे पुरस्कार दिया जायेगा। अनेक सन्तो के भाषण हुए। उसमे मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा मुनि बच्छराजजी ने वह उद्घोषित पुरस्कार प्राप्त किया। वे दोनो ही एकाक्षर-प्रधान सस्कृत बोले थे।

संस्कृत के समान ही हिन्दी में भी भाषण-कला के विकास की आवश्यकता थी, अत कभी-कभी हिन्दी-भाषणो का कार्यक्रम भी रखा जाता रहा है। कभी-कभी ये भाषण भाषा की दृष्टि के स्थान पर विषय की दृष्टि को प्रधानता देकर भी होते रहे हैं। कभी-कभी विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। उसमें किसी एक विद्वान् साधु का साहित्य, दर्शन आदि किसी भी निर्णीत विषय पर वक्तव्य रखा जाता और भाषण के पश्चात् उसी विषय पर प्रश्नोत्तर चलते। एक बार सं० २००८ के मर्यादा-महोत्सव पर उस वर्ष की विचारगोष्ठियो के भाषण तथा प्रश्नोतर 'विचारोदय' नाम से हस्तलिखित पुस्तक के रूप मे सकलित भी किये गए थे। वक्तव्य-कला के विकासार्थ इस प्रकार के अनेक उपक्रम होते रहे हैं। हर नवीन उपक्रम एक नवीन शक्ति का वरदान लेकर आता रहा है और आचार्यश्री की प्रेरणाओ के बल पर सघ ने हर बार उसे प्राप्त किया है।

कहानियाँ और निबन्ध

वक्तव्य-कला के साथ-साथ लेखन-कला की वृद्धि करना भी आवश्यक था। आचार्यश्री का चिन्तन हर क्षेत्र मे विकास करने के सकल्प को लेकर चल रहा था। हम सब उस चिन्तन के प्रयोग-क्षेत्र बने हुए थे। आचार्यश्री ने हम सब को मार्ग-दर्शन देते हुए कहा—तुम लोगों को प्रतिमास सस्कृत मे एक कहानी लिखनी चाहिए। प्रत्येक महीने की सुदी ६ का दिन निश्चित कर दिया गया। इस बार कौन-सी कहानी लिखनी है, यह उस दिन बता दिया जाता और हम सम्भवत चार दिन के अन्दर-अन्दर लिखकर वह आचार्यश्री को भेट कर देते। अनेक महीनो तक यह क्रम चलता रहा। इससे हमारा अभ्यास बढा, चिन्तन बढ़ा और शब्द-प्रयोग का सामर्थ्य बढा।

कथा लिखने का सामर्थ्य हो जाने पर हमारे लिए प्रतिमास एक निबन्ध लिखना अनिवार्य कर दिया गया। यह क्रम भी अनेक महीनो तक चलता रहा। कई बार निबन्ध-प्रतियोगिताए भी की गई। अशुद्धियाँ निकालने के लिए पहले तो हम एक-दूसरे की कथाओं तथा निबन्धो का निरीक्षण करते, पर बाद मे कई बार गोष्ठी के रूप मे सब सम्मिलित बैठकर भी बारी-बारी से अपना निबन्ध पढकर सुनाते और एक-दूसरे की अशुद्धियाँ निकालते। सस्कृत भाषा के अभ्यास मे यह क्रम हमारे लिए बहुत ही परिणामकारी सिद्ध हुआ।

समस्या-पूर्ति

समस्या-पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के युग मे ही चालू हो चुका था। अनेक सन्तों ने कल्याण-मन्दिर तथा भक्तामर स्तोत्रो के विभिन्न पदो को लेकर समस्या-पूर्ति की थी। स्वय आचार्यश्री ने भी आचार्यश्री कालूगणी की स्तुति-रूप मे कल्याण-मदिर की समस्या-पूर्ति की थी। हम लोगो के लिए आचार्यश्री ने उस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु वह उसी रूप मे न होकर अन्य रूप मे था। किसी काव्य आदि मे से लेकर तथा नवीन बना कर कुछ पद दिये जाते और एक निश्चित अवधि में उनकी पूर्ति करायी जाती। शीतकाल मे बाहर मे भी मुनिजन आ जाते, तब यह कार्यक्रम रखा जाता। फिर वे श्लोक सभा मे सुनाये जाते। बडा उत्साह रहा करता।

इस प्रकार सस्कृत में भाषण, लेखन और कविता-निर्माण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती थी। अनेक बार ऐसे सप्ताह मनाये जाते थे, जिनमे यह प्रतिज्ञा रहती थी कि संस्कृतज्ञो के साथ साधारणतया सस्कृत मे ही बोला जाये। उस समय का सारा वातावरण सस्कृतमय ही रहा करता था।

'जयज्योति'

सं० २००५ के फाल्गुन मे 'जयज्योति' नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकाली गई। इसका नामकरण जयाचार्य की स्मृति में किया गया था। इसमे सस्कृत और हिन्दी, दोनों भाषाओं के ही लेख आदि निकलते थे। इसका सम्पादन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किया करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ समय तक 'प्रयास' नामक पत्र भी निकाला गया था। वह प्राय. नवीन विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से निकलता था।

एकाह्निक शतक

पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा जब पहले-पहल आचार्यश्री कालूगणी के सम्पर्क मे आये थे, तब उन्हे जैन साधुओ का आचार-व्यवहार बतलाया गया था। जो कुछ उन्होने वहाँ सुना, उसे घर जाकर कुछ ही घण्टो मे संस्कृत के सौ श्लोको में आबद्ध कर दिया। उनकी वह कृति 'साधु-शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। हम लोगो के विचारो मे वह शतक घूमने लगा। हम भी एक दिन में शतक बनाने की सोचने लगे। पाँख खुलते ही पक्षी उड़ने को आतुर हो जाता है। वही स्थिति हमारी कल्पनाओ की थी।

स० २००० के फाल्गुन मे आचार्यश्री भीनासर मे थे। वहाँ मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री नगराजजी ने एकाह्निक शतक बनाये। मै आचार्यश्री कालूगणी के दिवगत होने की मूल तिथि के दिन ही उनकी स्तुति मे शतक बनाना चाहता था, अत भाद्रपद शुक्ला ६ तक मुझे रुकना पड़ा। जब वह तिथि आयी, तब मैंने भी एकाह्निक शतक बनाया। आचार्यश्री ने हम सबको पुरस्कृत किया। फिर और भी अनेक सन्तो ने शतक लिखे।

हम से अगली पीढ़ी के विद्यार्थियो ने उस कार्य को और भी बढाया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने एक दिन मे पचशती (पाँच सौ श्लोको) की रचना की। कई वर्ष बाद मुनि राकेशकुमारजी ने एक हजार श्लोक बनाये और उनके बाद मुनि गुलाबचन्दजी ने ग्यारह सौ।

आशुकवित्व

स० २००४ के मिगसर महीने मे आचार्यश्री राजलदेसर मे थे। वहाँ मुनिश्री नथमलजी और मैने आचार्यश्री के सान्निध्य मे जनता के सम्मुख आशुकविता की। इस क्षेत्र मे भी पडित रघुनन्दनजी का आशुकवित्व ही हमारी प्रेरणा का सूत्र बना था। मुनिश्री नगराजजी तृतीय और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' चतुर्थ आशुकवि हुए। उसके बाद अनेक सन्तो ने भी आशुकवित्व का अभ्यास किया। आचार्यश्री के शुभ आशीर्वादो और प्रेरणाओ ने इस क्षेत्र मे मुनिजनो को जो सफलता प्रदान की है, वह विद्वत्-समाज मे सघ के गौरव को बहुत ऊँचा करने वाली सिद्ध हुई है।

अवधान

अवधान-विद्या स्मरण-शक्ति और मन की एकाग्रता का एक चामत्कारिक रूप है। जैनो मे यह विद्या दीर्घ-काल से प्रचलित रही है। नन्द के महामन्त्री शकडाल की सातो पुत्रियो की चामत्कारिक स्मरण-शक्ति का वर्णन ग्रन्थो मे मिलता है। उपाध्याय यशोविजयजी सहस्रावधानी थे। श्रीमद् रायचन्द भी अवधान-विद्या मे निपुण थे। इस प्रकार के अनेक व्यक्तियो के नाम तो प्राय बहुत समय से सुनते आये थे, परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप स० १९९६ मे बीदासर मे देखने को मिला। गुजराती भाई धीरजलाल टोकरसीशाह वहाँ आचार्यश्री के दर्शन करने आये थे। वे शतावधानी थे। उन्होने आचार्यश्री के सामने अवधान प्रस्तुत किये। आचार्यश्री उनकी इस शक्ति से प्रभावित हुए। तेरापथ सघ मे भी इस शक्ति का प्रवेश हो, ऐसा उनके मन मे सकल्प हुआ। कालान्तर मे मुनिश्री धनराजजी (सरसा) का चातुर्मास बम्बई मे हुआ। वही धीरजलाल भाई ने उनको यह विद्या सिखायी। उन्होने वहाँ विधिवत् सौ अवधानो का प्रयोग कर इस क्षेत्र मे पहल की। आचार्यश्री का सकल्प मूर्त बन गया।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अवधान-विद्या को भारत-विश्रुत ही नही, परन्तु उससे भी अधिक प्रसिद्ध कर दिया। दिल्ली मे किये गए उनके प्रयोग अत्यन्त प्रभावक रहे। पत्रो मे उनकी बहुत चर्चाएं हुई। स्वय राष्ट्रपति इस विषय मे जिज्ञासु हुए और राष्ट्रपति-भवन मे यह प्रयोग करने के लिए उन्हे आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति-भवन की ओर से ही यह कार्य-क्रम रखा गया था। राजधानी के अनेकानेक उच्चतम व्यक्तियो को आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्, प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू आदि उसमे प्रश्नकर्त्ता के रूप मे उपस्थित थे। अवधानकार ने आसन जमाया और प्रश्न सुनने के लिए बैठ गए। निर्धारित प्रश्नों

की समाप्ति के बाद जब उन्होंने एक-से-एक क्लिष्ट उन सभी प्रश्नों को यथावत् दुहरा दिया और उनका उत्तर भी दे दिया तो उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गए। एक अन्य समारोह में गृहमंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने तो यहाँ तक कहा था कि यह तो कोई दैवी चमत्कार ही हो सकता है। मुनिश्री नगराजजी ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्हें बतलाया कि दैवी चमत्कार नाम की इसमें कोई वस्तु नहीं है, यह केवल साधना और एकाग्रता का ही चमत्कार है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी के प्रयोगों और उस विषय में हुई हलचलों ने अवधान की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कर दिया। अनेक मुनियों ने इसका अभ्यास किया। अनेक नवोन्मेष भी हुए। मुनि राजकर्णजी ने पाँच सौ, मुनि चम्पालालजी (सरदार शहर) और मुनि धर्मचन्दजी ने एक हजार तथा मुनि श्रीचन्दजी ने डेढ़ हजार अवधान किये।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में आचार्यश्री ने विकास के बीज बोये हैं। कुछ अंकुरित हुए हैं, कुछ पुष्पित, तो कुछ फलित भी। वे प्रेरणा के अखण्ड स्रोत हैं। उन्होंने अपने शिष्य-वर्ग को सत्-प्रेरणाओं से अनुप्राणित कर सदैव आगे बढ़ने का साहस प्रदान किया है। उन्होंने न केवल अपना ही, अपितु सारे संघ का सर्वांगीण विकास किया है। हतोत्साह को उत्साहित करने और निराश को आशान्वित करने का उन्हें अद्वितीय कौशल प्राप्त है।

अध्यापन-कौशल

कार्य-भार और कार्य-वेग

अध्ययन-कार्य से अध्यापन-कार्य कहीं अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने में स्वयं के लिए स्वयं को खपाना पड़ता है, जब कि अध्यापन में पर के लिए अपने को खपाना होता है। अध्यापक को अपनी शक्ति पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। उसमें रबड़-जैसी सक्षेप-विस्तार की योग्यता होनी आवश्यक है। अपने ज्ञान और अपनी व्याख्या-शक्ति को हर क्षण विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत करना पड़ता है। इन जैसी और भी अनगिनत कठिनाइयाँ इस मार्ग में रहा करती हैं। फिर भी किसी-किसी की उदात्त भावनाएं इस कठिन कार्य को भी सहज बनाने तथा सहज मानकर चलने के लिए आगे आती हैं। आचार्यश्री उन्हीं उदात्त भावनाओं वाले व्यक्ति हैं।

आप में क्रिया-जन्य अध्यापन-कुशलता से कहीं अधिक वह संस्कार-जन्य प्रतीत होती है। बहुत से लोग तो अध्यापक बनते हैं, पर वे अध्यापक हैं। बनने की बात तो तब आती है जबकि होने की बात गौण रह जाती है। वे तेरापंथ के एकमात्र शास्ता हैं। संघ की व्यवस्था, सुरक्षा और विकास का सारा उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। अपने अनुयायियों के धार्मिक संस्कारों का पल्लवन और परिष्करण उनका अपना कार्य है। इन सब कार्यों के साथ-साथ वे जन-साधारण में आध्यात्मिक जागृति और नैतिक उच्चता की स्थापना करना चाहते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन उनके इन्हीं विचारों का मूर्त रूप है। जनता के नैतिक अधोगमन को रोकने का दुर्वह भार जब से उन्होंने अपने ऊपर लिया है, तब से उनकी व्यस्तता और बढ़ गई है। परन्तु साथ ही कार्य-सम्पादन का वेग भी बढ़ गया है, अतः वह व्यस्तता उन्हें अस्त-व्यस्त नहीं कर पाती। उनके कार्य-भार को उनका कार्य-वेग सँभाले रहता है। तभी तो वे अपने अनेक कार्यों का सम्यक् सम्पादन करते हुए भी कुछ समय अध्यापन-कार्य के लिए निकाल ही लेते हैं। इस कार्य को वे परोपकार की दृष्टि से नहीं, अपितु कर्तव्य की दृष्टि से करते रहे हैं।

जब वे स्वयं छात्र थे और निरन्तर अध्ययन-रत रहा करते थे, तब भी अनेक शैक्ष साधु उनकी देख-रेख में अध्ययन किया करते थे। छात्रों पर अनुशासन करना उन्हें उस समय भी खूब आता था। पर उनका वह अनुशासन कठोर नहीं, मृदु होता था। वे अपने छात्रों को कभी विशेष उलाहना नहीं दिया करते थे, डाँट-डपट करने पर तो उन्हें विश्वास ही नहीं था। फिर भी शैक्ष साधुओं को वे इतना नियन्त्रण में रख लेते थे कि कोई भी कार्य बिना पूछे नहीं हो पाता था। यह सब इसलिए था कि उनमें आत्मीयता की एक ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि उससे बाहर जाने का किसी छात्र को साहस ही नहीं होता था। उन दिनों आप अपने विद्यार्थी-साधुओं के खान-पान, सोने-बैठने से लेकर छोटे-से-छोटे कार्य को

भी सुव्यवस्थित रखा पाने की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी-साधु भी उन्हे केवल अपना अध्यापक ही नही, किन्तु सरक्षक तथा माता-पिता, सब कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओ को कही इधर-उधर भटकने न देना, परस्पर बातो मे समय-व्यय न करने देना, एक के बाद एक काम मे उनका मन लगाये रखना, अपनी सयत वृत्तियो के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियो को सयतता की ओर प्रेरित करते रहना, इन सबको आप अध्यापन-कार्य का ही अग मानते रहे है।

अपना ही काम है

अपने अध्ययन-कार्य मे जैसी उनकी तत्परता थी, वैसी ही शैक्ष साधुओ के अध्यापन-कार्य मे भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरो को अपनाने की और दूसरो को अपना स्वत्व सौपने की उनमे भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी आपको अपना मानते और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौप दिया करते थे। साधु-समुदाय मे विद्या का अधिक-से-अधिक प्रसार हो, यह आचार्यश्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलने लगे थे। मुनिश्री चम्पालालजी (आपके ससारपक्षीय बडे भाई) कई बार आपको टोकते हुए कहते—तू दूसरो ही दूसरो पर इतना समय लगाता है, अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?

इसके उत्तर मे आप कहते—दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है। उस समय के इस उदारतापूर्ण उत्तर के प्रकाश मे जब हम वर्तमान को देखते है तो लगता है कि सचमुच मे वे उस समय अपना ही काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नीव उन्होने डाली थी, वही तो आज प्रतिफलित होकर सामने आ रही है। समस्त सघ की सामूहिक प्रगति आज उनकी व्यक्तिगत प्रगति बन गई है।

तुलसी डरै सो ऊबरै

जिन विद्यार्थियो को उनके सान्निध्य मे रह कर विद्यार्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनमे से एक मैं भी हूँ। हम छात्रो मे उनके प्रति जितना स्नेह था, उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितने कोमल रहा करते थे, उतने ही कठोर भी। उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारी बाल-कल्पनाओ का कोई अन्त नही था। एक बार मै और मेरे सहपाठी मुनिश्री नथमलजी आचार्यश्री कालूगणी की सेवा मे बैठे थे। उन्होने हमे एक दोहा कण्ठस्थ कराया—

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी मे सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥

इसके तीसरे पद का अर्थ हमने अपनी बाल-सुलभ कल्पना के अनुसार उस समय यही समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रिया के प्रति भय रखना आवश्यक है, उतना ही 'तुलसी' से डरना भी आवश्यक है। उस समय हमारी कल्पना मे यह 'तुलसी' नाम किसी कवि का नही, किन्तु अपने अध्यापक का ही नाम था, जिनमे कि हम डरते थे। हम समझे थे कि आचार्यदेव हमे बता रहे है तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए ठीक है।

उस समय तो यह तर्क नही उठ सका कि उनसे भय खाना क्यो ठीक है, पर आज उसी स्थिति का स्मरण करते हुए जब उस बाल-सुलभ अर्थ पर ध्यान देने लगता हूँ, तब मन कहता है कि वह अर्थ ठीक था। जिस विद्यार्थी मे अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासन हीन बन जाता है। इसी तरह जिसमे स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धा-हीन बन जाता है। सफलता उन दोनो के सम्मिलन मे है। हम लोगो मे उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था। हमारे लिए उनकी कमान-जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौंहो का भय कितना सुरक्षा का हेतु था, यह उन दिनो नही समझते थे, उतना आज समझ रहे है।

उत्साह-दान

विद्यार्थियो का अध्ययन मे उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए

उचित अवसर पर दिया गया उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक-अवस्था मे आचार्यश्री ने अनेकों मे उत्साह जागृत किया था तथा अनेको के उत्साह को बढाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूँगा। जब हमने नाममाला कठस्थ करनी प्रारम्भ की, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदों ने हमको उबा दिया था। उन्होने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भाँप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घटा तक हमे अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पडने वाले उच्चारण सहज हो गए, नीरसता मे भी कमी लगने लगी। थोड़े दिनो बाद हम उसी नाममाला के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गए। मैं मानता हूँ कि यह उनकी कुशलता मे ही सम्भव हो सका था, अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियो की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है, वह अवश्य ही अपने शिष्यों की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ यह सबसे अधिक बडा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति मे यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियो की अध्ययन-गत असुविधाओ को मिटाने मे आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ ही छात्रो तक सीमित था, पर आज वह समूचे सघ मे व्याप्त हो गया है।

अनुशासन-क्षमता

अनुशासन करना एक बात है और उसे कर जानना दूसरी। छात्रो पर अनुशासन करना तो कठिन है ही; पर कर जानना उसमे भी कठिन। वह एक कला है, हर कोई उसे नही जान सकता। विद्यार्थी अवस्था से बालक होता है, स्वभाव मे चलबुला तो प्रकृति मे स्वच्छन्द। अन्य-अन्य जीवन व्यवहारो के समान अनुशासन भी उसे सिखाना ही होता है। जो चीज सीखने मे आती है, उसमे बहुधा स्खलनाए भी होती हैं। स्खलनाओ को असह्य मानने वाले अध्यापक छात्रो मे अनुशासन के प्रति श्रद्धा नही, अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। अनुशासन का भाव छात्र मे उत्पन्न न हो जाये, तब तक अनुशासक को अधिक उदार, सावधान और सहानुभूतियुक्त रहना आवश्यक होता है। आचार्यश्री की अध्यापन-कुशलता इसलिए प्रसिद्ध नही है कि उनके पास अनेक छात्र पढा करते थे, अपितु इसलिए है कि वे अनुशासन करना जानते थे। विद्यार्थियो को कब कहना और कब सहना—इसकी सीमा उनको ज्ञात थी।

मै और मुनिश्री नथमलजी छोटी अवस्था के ही थे। आपके कठोर अनुशासन की शिकायत लेकर एक बार हम दोनों पूज्य कालूगणी के पास गये। रात्रि का समय था। आचार्यदेव सोने की तैयारी मे थे। हम दोनो ने पास मे जाकर वन्दन किया तो आचार्यदेव ने पूछा—बोलो, किसलिए आए हो? हमने सकुचाते-सकुचाते साहस बाँधकर कहा, तुलसीरामजी स्वामी हम पर बहुत कडाई करते है। हमे परस्पर बात करने नही देते। आचार्यश्री कालूगणी ने पूछा—यह सब तुम्हारी पढाई के लिए ही करता है या और किसी कारण से? हमने कहा—करते तो पढाई के लिए ही हैं। आचार्यदेव बोले—तब फिर क्या शिकायत रह जाती है? इसमे तो वह चाहेगा, वैसा ही करेगा। तुम्हारी कोई बात नही चलेगी। हम दोनो ही स्तब्ध थे। आचार्यदेव ने एक कहानी सुनायी। एक राजा का पुत्र गुरुकुल मे पढा करता था। पढाई समाप्त होने पर आचार्य उसे राज-सभा में ले जा रहे थे। बाजार मे एक दूकान से उन्होने गेहूँ खरीदे और पोटली बाँधकर राजकुमार को उठाने के लिए कहा। वह अस्वीकार तो नही कर सका, पर मन-ही-मन बहुत खिन्न हुआ। मार्ग मे थोड़ी दूर जाकर पोटली उतरवा दी गई। वे राज-सभा मे पहुँचे। राजा ने कुमार के ज्ञान की परीक्षा ली। वह सब विषयो में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर अध्यापक से पूछा—राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा?

अध्यापक—बहुत अच्छा, बहुत विनय-युक्त।

राजकुमार से पूछा—आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?

राजकुमार—इतने वर्ष तो बहुत अच्छा व्यवहार किया, पर आज का व्यवहार उससे भिन्न था।

राजा—कैसे?

राजकुमार ने पोटली की बात कह सुनायी। राजा उसे सुनकर बहुत खिन्न हुआ। आचार्य से कारण पूछा, तो उत्तर मिला कि वह भी एक पाठ ही था। उसकी आवश्यकता अन्य छात्रों को उतनी नही थी, जितनी कि राजकुमार को। मैं भावी राजा को यह बतला देना चाहता था कि भार उठाने मे कितना कष्ट होता है। इस बात को जान लेने पर यह अत्यन्त गरीबी से रहने वाले और परिश्रम से पेट भरने वाले अभावग्रस्तो के श्रम का मूल्य आंक सकेगा और किसी पर अन्याय नही कर सकेगा।

आचार्यदेव ने कहा—अध्यापक तो राजकुमार से भी पोटली उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है ? उसने तो तुम्हे केवल बाते करने से ही रोका है। जाओ, पढ़ा करो और वह कहे वैसे ही किया करो !

हम आशा लेकर गए थे और निराशा लेकर चले आये। दूसरे दिन पढने के लिए गये तो यह भय सता रहा था कि हमारी बात का पता लग गया तो क्या होगा ? हम कई दिनो तक कतराते-कतराते से रहे, पर उन्होने यह कभी मालूम तक नही होने दिया कि शिकायत करने की बात का उन्हे पता है।

दूसरो को अनुशासन दिखाने वाले को अपने पर कही अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रो के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रो पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रो पर पडने वाले रौब से कही अधिक, उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले, सयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

विकास का बीज-मन्त्र

अध्यापन के कार्य मे आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते है। उनकी दृष्टि मे अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि सघ-सचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों मे लगाते है, उसी प्रकार इसमे भी लगाते है। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बडा बन जाता है। वस्तुत कोई पाठ छोटा होता ही नही, उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से भले ही उसे छोटा कह दिया जाये, परन्तु सारा जीवन-व्यवहार तो उन्ही छोटे-छोटे पाठो की भित्ति पर खड़ा हुआ है।

वे जब पढ़ाते है तो अध्यापन-रस मे सराबोर होकर पढाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णत स्पष्ट करते ही है, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बाते भी इस प्रकार से जोड देते है कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव-शिक्षार्थियो को शब्द-रूप और धातु-रूप पढाते समय वे जितनी प्रसन्न मुद्रा मे देखे जाते है, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन मे भी देखे जा सकते है। सामान्यत उनकी वह प्रसन्नता ग्रन्थ की असाधारणता को लेकर नही होती, अपितु इसलिए होती है कि वे किसी के विकास मे सहयोग दे रहे है। वे अपने नि शेष आवश्यक कार्यों मे इसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते है। सघ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते है।

महात्मा गाधी एक बार किसी प्रौढ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम मे देश के अनेक उच्च कोटि के नेता आये हुए थे। उन्हे गाधीजी से देश की विभिन्न समस्याओ पर विमर्शन करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बडी व्याकुलता लिये वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भांति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे। एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर गाधीजी से कहा, "बहुत लोग प्रतीक्षा मे बैठे है। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारो ओर ढेर लगा है। ऐसे समय मे यह आप क्या कर रहे हैं ?" गाधीजी ने स्मित भाव से उत्तर देते हुए कहा, "मै सर्वोदय ला रहा हूँ।" प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते ! चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मन्त्र मानते हैं।

कहीं मैं ही गलत न होऊँ !

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनो यात्राओ से छोटी थी, पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनो से बहुत बडी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियो के आगमन का प्रवाह प्राय निरन्तर चालू रहा, प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहे। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनो दिन का प्राय समस्त समय अन्यान्य कार्यों मे विभक्त हो जाता था, पर आचार्यश्री तो अध्यापन व्यसनी ठहरे! दिन मे समय न मिला तो पश्चिम-रात्रि मे ही सही। 'शान्त-सुधारस' का अर्थ छात्रों को बताया जाने लगा। अर्थ के साथ-साथ शब्दो की व्युत्पत्ति, समास और कारक आदि का विश्लेषण भी चलता रहता।

एक बार आचार्यश्री ने शान्तसुधारस मे प्रयुक्त किसी समास के विषय मे छात्रो से पूछा। उन्हे नही आया। तब उनसे अग्रिम श्रेणी वालो को बुलाया और उसी समास के विषय मे पूछा। उन्हे भी नही आया। तब आचार्यश्री ने हम लोगो को (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मुझे) बुलाया। हमने कुछ निवेदन किया और उसे सिद्ध करने वाला सूत्र भी कहा। आचार्यश्री के ध्यान से वह सूत्र वहाँ के लिए उपयोगी नही था। पर वे बोले, "तो कही मैं ही गलत न होऊँ!" अपनी धारणावाला सूत्र बतलाते हुए कहा,"क्या यह इस सूत्र से सिद्ध होने वाला समास नही है?" हम सबको अपनी त्रुटि ध्यान मे आ गई और हम बोल पडे—सचमुच मे यही सूत्र समास करने वाला है।

यद्यपि आचार्यश्री का ज्ञान बहुत परिपक्व और अस्खलित है, परन्तु वे उसका कभी अभिमान नही करते। वे हर क्षण अपने शोधन के लिए उद्यत रहते है। परन्तु कठिनता यह है कि जहाँ शोधन की तत्परता होती है, वहाँ बहुधा उसकी आवश्यकता नही होती, और जहाँ शोधन की तत्परता नही होती, बहुधा वही उसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

उदार व्यवहार

शिष्यो की विकासोन्मुखता मे आचार्यश्री असीम उदारता बरतते है। विकास के क्षितिज सघ के साधु-साध्वियो के लिए खुल नही पाये थे, उनको खोलने और सर्व-सुलभ बनाने की प्रक्रिया से उन्होने विकास मे एक नया अध्याय जोडा है। शिष्यो के विकास को वे अपना विकास मानते है और उनकी श्लाघा को अपनी श्लाघा। अपनी प्रवृत्तियो से तो उन्होने इस बात को बहुधा पुष्ट किया ही है, पर अपनी काव्य-कल्पनाओ मे भी इस भावना का अकन किया है। 'कालू-यशोविलास' मे वे एक जगह कहते हैं

> बढ़ शिष्यनी साहिबी, जिम हिम रितुनी रात।
> तिम तिमही गुरुनी हुवै, विश्वव्यापिनी ख्यात॥

आचार्यश्री का यह उदार व्यवहार उनके शिष्यवर्ग को जहाँ आगे बढ़ाने का प्रोत्साहन देता है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की उदात्तता का परिचय भी देता है। 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' अर्थात् पुत्र को अपने से बढकर योग्य देखने की इच्छा रखना प्रत्येक पिता का कर्तव्य है। आचार्यश्री इस भारतीय भावना के मूर्त्त रूप कहे जा सकते है।

साध्वी-समाज में शिक्षा

साधुओं का प्रशिक्षण आचार्यश्री कालूगणी ने बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था। साधु उनके जीवन-काल मे ही निपुण बन चुके थे; लेकिन साध्वी-समुदाय मे ऐसी स्थिति नही थी। कोई एक भी साध्वी इतनी निपुण नही थी कि उस पर साध्वियो की शिक्षा का भार छोड़ा जा सके। आचार्यश्री कालूगणी स्वय अधिक समय नही दे पाते थे; फिर

भी उन्होने विद्या का बीज-वपन तो कर ही दिया था। कार्य को अधिक तीव्रता से आगे बढाने की आवश्यकता थी। आचार्यश्री कालूगणी ने जब आपको भावी आचार्य के रूप मे चुना, तब सघ-विकास के जिन कार्यक्रमो का आदेश-निर्देश किया था, उनमे साध्वी-शिक्षा भी एक था। उसी आदेश को ध्यान मे रखते हुए आपने आचार्य-पद पर आसीन होते ही इस विषय पर विशेष ध्यान दिया।

एक नवीन आचार्य के लिए अपने पद के उत्तरदायित्व की उलझने भी बहुत होती है, परन्तु आप उन सबको सुलझाने के साथ ही अध्यापन-कार्य भी चलाते रहे। प्रारम्भ मे कुछ साध्वियो को सस्कृत-व्याकरण कालूकौमुदी पढाकर इस कार्य की शुरुआत की गई और क्रमश अनेक विषयो के द्वार उनके लिए उन्मुक्त होते गए। स० १९९३ से यह कार्य प्रारम्भ किया गया था। इस कार्य मे अनेक कठिनाइयाँ थी। अध्ययन निरन्तरता चाहता है, पर यह अन्य कार्यो के बाहुल्य से अन्तरित होता रहा। जब-जब आचार्यश्री अन्य कार्यो मे अधिक व्यस्त होते, तब-तब अध्ययन को स्थगित करना पडता। फिर भी निरन्तरता की ओर विशेष सावधानी बरती गई और कार्य चलता रहा। उसी का यह फल है कि साधुओ के समान ही साध्वियाँ भी आज दर्शन-शास्त्र तक का अध्ययन करने मे लगी हुई है।

अध्ययन की एक समस्या

साध्वी-समाज मे अध्ययन की रुचि उत्पन्न कर आचार्यश्री ने जहाँ उनके मानस को जागरूक बना दिया है, वहाँ अध्यापन-विषयक एक समस्या भी खडी कर ली है। आचार्यश्री के साथ-साथ विहार करने वाली साध्वियो को तो अध्ययन का सुयोग मिल जाता है, परन्तु वे तो सख्या मे बहुत थोडी ही होती है। अधिकाश साध्वियाँ पृथक् विहार करती है, उनकी अध्ययन-पिपासा को शान्त करने की समस्या आज भी विचारणीय ही है।

साध्वियो को विदुषी बनाने का बहुत बडा कार्य अभी अवशिष्ट है। इस विषय मे आचार्यश्री बहुधा चिन्तन करते रहते हैं। तेरापथ-द्विशताब्दी के अवसर पर उन्होने यह घोषणा भी की है कि हर प्रशिक्षणार्थी को उचित अवसर प्रदान किया जायेगा, परन्तु उक्त घोषणा को कार्यरूप मे परिणत करने का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था मे ही कहा जा सकता है। साधुओ के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो सहजतया ही की जा सकती है, पर साध्वियो के लिए वैसा कर पाना सुगम नही है। किसी विदुषी साध्वी की देख-रेख मे प्रति वर्ष कोई विद्या-केन्द्र स्थापित करने का विचार एक परीक्षात्मक रूप मे सामने आया है, परन्तु अभी इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालना अवशिष्ट है। जो सीखना चाहता है, उसकी व्यवस्था करना आचार्यश्री अपना कर्तव्य मानते है। इसलिए वे इसका कोई-न-कोई समुचित समाधान निकालने के लिए समुत्सुक हैं। उनकी उत्सुकता का अर्थ है कि निकट भविष्य मे यह समस्या सुलझने वाली ही है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षो के अध्यापन-कार्य ने अध्ययन-विषयक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता अनुभव करायी। व्यवस्थित क्रमिकता के अभाव मे साधारण बुद्धि वाले विद्यार्थियो का प्रयास निष्फल ही चला जाता है। इस बात के अनेक उदाहरण उस समय सम्मुख उपस्थित थे। सम्पूर्ण चन्द्रिका अथवा कालूकौमुदी कण्ठस्थ कर लेने तथा उनकी साधनिका कर लेने पर भी कई व्यक्तियो का कोई विकास नही हो पाया था। इसकी जड मे एक कारण यह था कि उस समय प्राय सस्कृत इसलिए पढी जाती थी कि उससे आगमो की टीकाओ का अध्ययन सुलभ हो जाता है। स्वय टीका बनाने का सामर्थ्य तथा बोलने या लिखने की योग्यता अर्जित करने का लक्ष्य सामने नही था। इसीलिए व्याकरण कण्ठस्थ करने और उसकी साधनिका करने पर ही बल दिया जाता था। उसके व्यावहारिक प्रयोग की ओर कोई ध्यान नही दिया जाता था। उस समय तक सस्कृत समझ लेना ही अध्ययन की पर्याप्तता मानी जाती थी। धीरे-धीरे उस भावना मे परिवर्तन आया, कुछ छुट-पुट रचनाए होने लगी, पर यह सब अध्ययन के बाद की प्रक्रियाए थी। अध्ययन का क्रम क्या हो, यह निर्धारण बहुत बाद मे हुआ।

आचार्यश्री ने साध्वी-समाज को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया, तब उनके विकास की गति को त्वरता प्रदान

करने के उपाय सोचे जाने लगे। एक बार आचार्यश्री कोई पत्रिका देख रहे थे। उसमे किसी संस्था-विशेष का पाठ्यक्रम छपा हुआ था। उनकी ग्रहणशील बुद्धि ने तत्काल उस बात को पकडा और निश्चय किया कि अपने यहाँ भी एक पाठ्य-प्रणाली होनी चाहिए। उनके निश्चय और कार्य-परिणति मे लम्बी दूरी नहीं होती। आगम कहते हैं कि देवता के मन और भाषा की पर्याप्तियाँ साथ ही गिनी जाती हैं। आचार्यश्री के लिए मन, भाषा और कार्य का ऐक्य सहज माना जाये तो कोई अत्युक्ति नही होगी। वे सोचते हैं, बतलाते है और कर डालते है। उनके कार्य की प्राय. यही प्रक्रिया रही है। पाठ्यक्रम के निर्धारण का विचार उठा, शिष्यो मे चर्चा की गई, रूपरेखा बनायी गई और लागू कर दिया गया। यह स० २००५ के आसौज की बात है। अगले वर्ष स० २००६ के माघ मे लगभग तीस व्यक्तियो ने परीक्षाए दी।

इस पाठ्यक्रम ने शिक्षा को बहुमुखी बनाने की आवश्यकता को पूरा किया और विचारो के बहुमुखी विकास का मार्ग खोला। विचारो का विकास ही जीवन का विकास होता है। जहाँ उसके लिए मार्ग अवरुद्ध होता है, वहाँ जीवन-विकास की कल्पना ही नही की जा सकती। तेरापथ के शिक्षा-क्षेत्र मे आमूलचूल परिवर्तन करने वाली इस पाठ्य-प्रणाली का नाम दिया गया—'आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम'।

इस शिक्षा-क्रम के निर्धारण में उन विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान मे रखा गया जो कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा पाने की ओर उन्मुख हो। इस शिक्षा-क्रम के तीन विभाग हैं—योग्य, योग्यतर और योग्यतम। सघ मे इस शिक्षा-क्रम का सफलतापूर्वक प्रयोग चालू है। अनेक साधु-साध्वियो ने इस क्रम से परीक्षा देकर इसकी उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है।

एक दूसरी पाठ्य-प्रणाली 'सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम' के नाम से निर्धारित की गई। इसकी आवश्यकता उन व्यक्तियो के लिए थी, जो अनेक विषयों मे निष्णात बनने की क्षमता नही रखते हो, पर आगम-ज्ञान मे अपनी पूरी शक्ति लगाकर कम-से-कम उस एक विषय मे पारगत हो सके। इन शिक्षा-क्रमो मे अनेक परिवर्तन भी हुए है और शायद आगे भी होते रहे। परिमार्जन के लिए यह आवश्यक भी है, परन्तु यह निश्चित है कि हर परिवर्तन पिछले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बन सके, यह ध्यान रखा जाता है। आचार्यश्री कालूगणी ने शासन मे विद्या-विषयक जो कल्पना की थी, उसे मूर्त रूप देने का अवसर आचार्यश्री को मिला। उन्होने उस कार्य को इस प्रकार पूरा किया है कि आज तेरापथ युग-भावना को समझ सकता है और आवश्यकता होने पर उसे नया मोड देने का सामर्थ्य भी रखता है। एक अध्यापक के रूप मे आचार्यश्री के जीवन का यह कोई साधारण कौशल नही है।

: ५ :

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

समय की माँग

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जिन परिस्थितियों मे हुआ, उनके अनुशीलन मे ऐसा लगता है जैसे कि वह समय की एक माँग थी। यह वह समय था जब कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद क्षत-विक्षत मानवता के घावों से रक्तस्राव हो रहा था। उस महायुद्ध का सबसे अधिक भीषण अभिशाप था, अनैतिकता। हर महायुद्ध का दुष्परिणाम यही होता है। भारत महायुद्ध के अभिशापो से मुक्त होता, उससे पूर्व ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होने वाले जातीय सघर्षों ने उसे आ दबोचा। भीषण क्रूरता के साथ चारो ओर विनाश-लीला का अट्टहास सुनायी देने लगा। उसमे जनता की आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओ का बहुत भयकरता से पतन हुआ। ज्यो-त्यो करके जब वह वातावरण शान्त हुआ तब लोग अपनी-अपनी कठिनाइयो का हल खोजने मे जुटने लगे। देश के कर्णधारो ने आर्थिक और सामाजिक उन्नयन की अनेक योजनाए बनायी और देश को समृद्ध बनाने का सकल्प किया। कार्य चालू हुआ और देश अपनी मजिल की ओर बढने लगा।

उस समय देश मे अध्यात्म भाव और नैतिकता के ह्रास की जो एक ज्वलन्त समस्या थी, उस ओर प्राय न किसी जन-नेता का और न किसी अन्य व्यक्ति का ही ध्यान गया। आचार्यश्री तुलसी ही वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होने इस कमी को महसूस किया और इस ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया।

नि श्रेयस् को भूलकर केवल अभ्युदय मे लग जाना कभी खतरे से खाली नही होता। उससे मानवीय उन्नति का क्षेत्र सीमित तो होता ही है, साथ ही अस्वाभाविक भी। भौतिक उन्नति को अभ्युदय कहा जाता है। मनुष्य जड नही है, अत भौतिक उन्नति उसकी स्वय की उन्नति कैसे हो सकती है! मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो आत्म-गुणो की अभिवृद्धि से ही सम्भव है। आत्म-गुण, अर्थात् आत्मा के सहज भाव। आगम भाषा मे जिन्हे सत्य, अहिंसा आदि कहा जाता है।

मनुष्य, शरीर और आत्मा का एक सम्मिलन है। न वह केवल शरीर है और न केवल आत्मा, उसके शरीर को भी भूख लगती है और आत्मा को भी। अभ्युदय शारीरिक भूख को परितृप्ति देता है और नि श्रेयस् आत्मिक भूख को। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है, परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी, तब तो किसी भी प्रकार से नही निभा सकता। वहाँ पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। देश मे उस समय जो योजनाएं बनी, वे सब मनुष्य को केवल शारीरिक परितृप्ति देने वाली ही थीं। आत्म-परितृप्ति के लिए उनमे कोई स्थान नही था।

आचार्यश्री ने इस उपेक्षित क्षेत्र मे काम किया। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से उन्होने जनता को आत्म-तृप्ति देने का मार्ग चुना। देश के कर्णधारो का भी इस ओर ध्यान आकृष्ट करने मे वे सफल हुए। आपकी योजनाओ, कार्यक्रमो और विचारो का कही प्रत्यक्ष, तो कही अप्रत्यक्ष प्रभाव हुआ ही है। आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान की आवाज को बुलन्द करने मे आचार्यश्री के साथ उन सभी व्यक्तियो का स्वर भी समवेत हुआ है जो इस क्षेत्र मे अपना चिन्तन रखते हैं।

देश की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओ मे जहाँ नैतिकता या सदाचार-सम्बन्धी कोई चिन्ता नहीं की गई है, वहाँ तृतीय योजना उससे नितान्त रिक्त नही कही जा सकती। यह देश के कर्णधारो के बदले हुए विचारो का ही तो

परिचायक है। इन विचारों को बदलने में अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, पर उसमे कुछ-न-कुछ भाग अणुव्रत-आन्दोलन तथा उसके द्वारा देश में उत्पन्न किये गए वातावरण का भी कहा जा सकता है। आचार्यश्री ने जनता की इस भूख को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा पहले अनुभव किया, इसलिए वे किसी की प्रतीक्षा किये बिना इस कार्य मे जुट गए। अन्य जन अब अनुभव करने लगे हैं तो उन्हे अब इस ओर त्वरता से आगे आना चाहिए। पंडित नेहरू के विचार भी इन दिनो में बहुत परिवर्तित हो गए हैं। वे अब मनुष्य की इस अहिनीय भूख को पहचानने लगे हैं। ब्लिट्ज़ के सम्पादक श्री आर० के० करंजिया के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होने अपने मे यह परिवर्तन स्वीकार भी किया है। श्री करंजिया ने पूछा था, "आपके कुछ वक्तव्यों मे यह चर्चा है कि देश की समस्याओ के लिए नैतिक एव आध्यात्मिक समाधानो की भी सहायता लेनी चाहिए। क्या हम समझे कि जीवन के सांध्य में नेहरू बदल गया है?"

उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने कहा, "इस बात को यदि आप प्रश्न के रूप मे रखना चाहते हैं तो मैं 'हाँ' मे ही उत्तर दूँगा। मैं वस्तुत बदल गया हूँ। मेरे वक्तव्यो मे नैतिक एव आध्यात्मिक समाधानो की चर्चा अनर्गल या केवल औपचारिक नही होती। बहुत सोच-विचारकर ही मैं उन पर बल देता हूँ। बहुत चिन्तन के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि आज के मानव की आत्मा अशान्त और भूखी है। ससार का समस्त भौतिक वैभव भी उस भूख को नही मिटा सकेगा, यदि भौतिक उन्नति के साथ मनुष्य की आत्मा भूखी रहेगी।"[1]

रूपरेखा

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ एक बहुत ही साधारण-सी घटना से हुआ। बडी-से-बडी नदी का भी उत्स प्राय साधारण ही होता है। आचार्यश्री के पास बैठे हुए व्यक्ति नैतिकता के विषय मे परस्पर बात कर रहे थे। उनमे से एक ने निराशा व्यक्त करते हुए बडा जोर देकर कहा कि इस युग मे नैतिकता कोई रख ही नही सकता। यद्यपि आचार्यश्री उस बातचीत मे भाग नही ले रहे थ, किन्तु उस भाई के इन शब्दो ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया। वे कुछ भी नही बोले, किन्तु उनके मन मे एक उथल-पुथल अवश्य मच गई। नैतिकता के प्रति अभिव्यक्त उस निराशा से उनको एक प्रेरणा मिली। वहाँ से वे प्रभातकालीन प्रवचन करने के लिए सभा मे गये। जो बात उनके मस्तिष्क मे घूम रही थी, वही प्रवचन मे शत-शत धारा बनकर फूट पडी। उन्होने नैतिकता को पुष्ट करते हुए मेघ-मन्द्र स्वर मे पच्चीस ऐसे व्यक्तियो की माँग की जो अनैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सके और हर सम्भावित खतरे को झेल सके। इस माँग के साथ ही वातावरण मे एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति आचार्यश्री के आह्वान और अपने आत्म-बल को तौलने लगे। मनो-मन्थन का वह एक अद्भुत दृश्य था। सहसा सभा मे से कुछ व्यक्ति खडे हुए और उन्होने अपने नाम प्रस्तुत किये। वातावरण उल्लास से भर गया। एक-एक कर पच्चीस नाम आचार्यश्री के पास आ गए। सभा-समाप्ति के अनन्तर भी वह ध्वनि लोगो के मन मे गूँजती रही। राजस्थान के 'छापर' नामक उस छोटे-से कस्बे का घर-घर उस दिन चर्चा-स्थल बन गया। उस दिन की वह छोटी-सी घटना ही अणुव्रत आन्दोलन की नीव के लिए प्रथम ईंट बन गई।

उस समय यह कल्पना भी नही की गई थी कि यह घटना आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लेगी और जनता द्वारा उसका इतना स्वागत होगा। प्रारम्भ मे केवल यही भावना थी कि जो लोग प्रतिदिन सम्पर्क मे आते है, उनका नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व ही न माने, उसे जीवन-शोधक के रूप मे स्वीकार करे। जिन व्यक्तियो ने अपने नाम प्रस्तुत किये थे, उनके लिए नियम-सहिता बनाने के लिए सोचा गया। उसके

---

1 Q Isn't that unlike the Jawaharlal of yesterday, Mr Nehru, to talk in terms of ethical and spiritual solutions? What you say raises visions of Mr Nehru in search of God in the evening of his life?

Ans If you put it that way, my answer is yes, I have changed The emphasis on ethical and spiritual solutions is not unconscious It is delibertate, quite deliberate. There are good reasons for it First of all, apart from material development that is imperative, I believe that the human mind is hungry for something deeper in terms of moral and spiritual development, without which all the material advance may not be worth while.

—The Mind of Mr. Nehru, p. 31.

स्वरूप-निर्धारण के लिए परस्पर चर्चाएं चलने लगी। आचार्यश्री ने मुनिश्री नगराजजी को यह कार्य सौंपा। उन्होंने व्रतो की रूप-रेखा बनायी और आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत की। राजलदेसर-महोत्सव के अवसर पर 'आदर्श श्रावक-सघ' के रूप मे वह योजना जनता के सम्मुख रखी गई। चिन्तन फिर आगे बढा और कल्पना हुई कि अनैतिकता की समस्या केवल श्रावक-वर्ग मे ही नही है, वह तो हर धर्म के व्यक्तियो मे समायी हुई है। इस योजना के लक्ष्य को विस्तृत कर क्यो न सबके लिए एक सामान्य नियम-सहिता प्रस्तुत की जाये। आखिर इसी चिन्तन के आधार पर नियमावली को फिर विकसित किया गया। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए एक रूपरेखा निर्धारित हुई और स० २००५ मे फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर (राजस्थान) मे आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

पूर्व-भूमिका

आन्दोलन-प्रवर्तन से पूर्व भी आचार्यश्री नैतिकता के विषय मे प्रयोग कर रहे थे, परन्तु उस समय तक उनका लक्ष्य केवल श्रावक-वर्ग ही था। 'नवसूत्री[1] योजना' और 'तेरहसूत्री[2] योजना' के द्वारा लगभग तीस हजार व्यक्तियो को नैतिक उद्बोधन मिल चुका था। उन व्यक्तियो ने उन योजनाओ के व्रतो को स्वीकार कर अणुव्रत-आन्दोलन के लिए एक सुदृढ भूमिका तैयार कर दी थी।

नामकरण

प्रारम्भ में अणुव्रत-आन्दोलन का नाम 'अणुव्रती सघ' रखा गया था। 'अणुव्रत' शब्द जैन-परम्परा मे लिया गया है। मनुष्य के जागरित विवेक का निर्णय जब सकल्प का रूप ग्रहण करता है, तब वह व्रत कहलाता है। वह अपनी पूर्णता की सीमा मे महाव्रत कहलाता है और अपूर्णता की स्थिति मे अणुव्रत। एक सयम की उच्चतम स्थिति है, तो दूसरी न्यूनतम। पूर्ण सयम मे रहना कठिन साधना है, तो पूर्ण असयम मे रहना सर्वथा अहितकर। दोनो अतियो के मध्य का मार्ग है—अणुव्रत। अणुव्रत-नियमो का पालन करने वाले व्यक्तियो के सगठन का नाम रखा गया 'अणुव्रती सघ'।

जनता ने इस आन्दोलन का अच्छा स्वागत किया। हजारो व्यक्ति अणुव्रती बने, लाखो ने उसका समर्थन किया और उसकी आवाज तो करोडो तक पहुँची। बम्बई मे हुए पचम अधिवेशन तक अणुव्रतियो के नाम की सूची रखी जाती रही, परन्तु फिर क्रमश बढती हुई सख्या की सुव्यवस्था रखने मे शक्ति लगाने का विचार छोड दिया गया। सख्या का लोभ पहले भी नही रखा गया था, केवल भावना-प्रचार के रूप मे ही आन्दोलन की शक्ति लगे और खुले रूप मे ही जनता उसमे भाग ले, यही अभीष्ट माना गया। नियमो मे परिवर्तन किये गए। नाम के विषय मे भी सुझाव आया कि 'सघ' शब्द सीमा को सकुचित करता है, जब कि 'आन्दोलन' शब्द अपेक्षाकृत मुक्त भावना का द्योतक है। सुझाव ठीक ही था, अत. मान लिया गया और तभी से इसका नाम 'अणुव्रत-आन्दोलन' कर दिया गया।

---

१ (१) आत्म-हत्या करने का त्याग, (२) मद्य आदि मादक वस्तुओ के सेवन का त्याग, (३) मास और अण्डा खाने का त्याग, (४) बड़ी चोरी करने का त्याग, (५) जुआ खेलने का त्याग, (६) परस्त्री-गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग, (७) झूठा मामला और असत्य साक्षी का त्याग, (८) मिलावट का व नक़ली को असली बताकर बेचने का त्याग और (६) तौल-माप में कमी-बेशी करने का त्याग।

२ (१) निरपराध चलते फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना, (२) आत्म-हत्या न करना, (३) मद्य न पीना, (४) मांस न खाना, (५) चोरी न करना, (६) जुआ न खेलना, (७) झूठी साक्षी न देना, (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना, (६) परस्त्री-गमन न करना, अप्राकृतिक मैथुन न करना, (१०) वेश्या-गमन न करना (११) धूम्र-पान व नशा न करना, (१२) रात्रि-भोजन न करना, (१३) साधु के लिए भोजन न बनाना।

व्रतों का स्वरूप-निर्णय

आन्दोलन के प्रारम्भिक समय तक आचार्यश्री तथा मुनिजन बहुलाश मे राजस्थान के सम्पर्क मे ही रहे थे। नियमावलि बनाते समय वही के गुण-दोष स्पष्ट रूप से सामने आ सके। वहाँ की जीवन-यापन पद्धति को आधार मान कर ही व्रतो का स्वरूप-निर्धारण किया गया। पहले-पहल व्रतों की संख्या चौरासी थी। आन्दोलन की ज्यो-ज्यो व्यापकता होती गई, त्यो-त्यो देश तथा विदेश के व्यक्तियो की प्रतिक्रियाएं सामने आने लगी।

भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने आन्दोलन के प्रयास को प्रशसनीय बताते हुए कुछ बातो की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हे लगा कि अन्य व्रत तो असाम्प्रदायिक है, परन्तु अहिंसा-व्रत पर पथ की पूरी छाप है। उन्होने उदाहरण के रूप मे मासाहार और रेशमी वस्त्रों के विषय मे लिखा है कि जैनों और वैष्णवो की एक छोटी-सी सख्या के अतिरिक्त देश या विदेश के अधिकाश व्यक्ति मांसाहार के नियम निभाने की स्थिति मे नही होने। इसी प्रकार रेशम के लिए व्रत बना तो मोती के लिए क्यो नही बना ?[1] रेशम के समान उनमे भी छोटे जीवो की हिंसा होती है।

मासाहार यद्यपि मानव जाति मे व्यापक रूप मे प्रचलित है, जैनो और वैष्णवो ने इसका बहुत समय पूर्व से बहिष्कार कर रखा है, परन्तु आज वह केवल धार्मिक प्रश्न ही नही रह गया है। शरीर-शास्त्रियो की मान्यता भी यही बनती जा रही है कि मास मनुष्य के लिए खाद्य नही है। शाकाहार का समर्थन करने वाले व्यक्ति आज प्राय हर देश मे मिल जाते है, अत इसमे किसी पथ के दृष्टिकोण को महत्त्व देने या न देने का प्रश्न नही है। आचार्यश्री का चिन्तन रहा है कि निरामिषता का क्रमिक विकास होना चाहिए। साथ ही आमिषभोजियो को अणुव्रत मे स्थान न हो, यह भी अभीष्ट नही माना गया, अत प्रवेशक अणुव्रती के व्रतो मे वह व्रत न रखकर मूल अणुव्रतियो के व्रतो मे रखा गया। इससे उनकी साधना का क्रमिक विकास का अवसर मिलेगा।

सत्य-अणुव्रत के विषय मे आचार्य विनोबा का अभिमत था कि सत्य अखण्ड होता है, अहिंसा की तरह उसका अणुव्रत नही बनाया जा सकता। इस पर भी आचार्यश्री ने चिन्तन किया। लगा कि लक्ष्य की दृष्टि से सत्य जितना अखण्ड है, उतनी ही अहिंसा भी। परन्तु साधक की साधना मे जब तक पूर्णता का समावेश नही हो जाता, तब तक न अहिंसा की पूर्णता आ पाती है और न सत्य की। सत्य और अहिंसा अभिन्न है। जहाँ हिंसा है, वहाँ सत्य नही हो सकता। स्वरूप की दृष्टि से इनकी अखण्डता को मान्य करते हुए भी आचार-शक्यता के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके खण्ड भी आवश्यक माने गए है।

जापान के कुछ व्यक्तियो की प्रतिक्रिया थी कि इनमे से कुछ नियमो को छोडकर शेष नियमो का हमारे देश के लिए कोई उपयोग नही। वे सब भारतीय जीवन को दृष्टि मे रखकर ही बनाये गए प्रतीत होते है। उन लोगो की यह बात कुछ अशो मे ठीक ही थी, क्योकि स्थानीय परिस्थितियो का प्रभाव रहना स्वाभाविक ही है। पर आचार्यश्री को देशी और विदेशी का कोई भेद अभीप्सित नहीं रहा है।

इस प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओ तथा सुझावो के प्रकाश मे नियमावलि को फिर से संशोधित करने का निश्चय किया गया। इस बार के सशोधनो मे यह बात मुख्यता से रखी गई कि असयम की मूल प्रवृत्तियाँ सर्वत्र समान होती है, उपभेदो मे भले ही अन्तर आता रहे। इसलिए नियमावलि मूल प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए ही बनायी गई। शेष नियम देश-कालानुसार स्वय निर्धारित करने के लिए छोड दिये गए। इस क्रम मे नियमो की सख्या घटकर केवल बयालीस रह गई।

प्रथम रूप-रेखा मे अणुव्रतियों की कोई श्रेणियाँ नही थी। इस बार उनकी तीन श्रेणियाँ निश्चित की गई—१. प्रवेशक अणुव्रती, २ अणुव्रती और ३ विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणियाँ किसी पद की प्रतीक नहीं हैं, अपितु क्रमिक अभ्यास की प्रगति सूचक सीढ़ियाँ हैं। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह, अणुव्रती के लिए बयालीस और विशिष्ट अणुव्रती के लिए छः नियम है। इस प्रकार व्रतों के स्वरूप का जो निर्णय किया गया, वह कई परिवर्तनो के बाद की स्थिति है।

१ 'हरिजनसेवक', २० मार्च '५०

असाम्प्रदायिक रूप

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है। यह विशुद्ध रूप से चरित्र-विकास की दृष्टि लेकर चला है और इसी उद्देश्य की पूर्ति मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना चाहता है। सब धर्मों की समान्य भूमिका पर रहकर कार्य करते रहना ही इसने अपना श्रेयोमार्ग चुना है। परन्तु प्रारम्भ मे लोगो को यह विश्वास ही नही हो पा रहा था कि एक सम्प्रदाय का आचार्य इतना उदार बनकर सब धर्मों की समन्वयात्मकता के आधार पर कोई आन्दोलन चला सकता है। उस समय यह प्रश्न बार-बार सामने आता रहता था कि अणुव्रती बनने पर क्या हमे आपको धर्म-गुरु मानना होगा ? दिल्ली मे एक भाई ने यही प्रश्न सभा मे खडे होकर पूछा था। आचार्यश्री ने कहा—यह कोई आवश्यक नही है। आपके लिए केवल आन्दोलन के व्रतो का पालन करना ही आवश्यक है। कौन-से धर्म को मानते है, किसको धर्म-गुरु मानते है, अथवा किसी धर्म को मानते भी है या नही—इन सब बातो मे अपने विचार और प्रवृत्ति को यथा-रुचि रखने मे आप स्वतन्त्र है। आन्दोलन उसमे बाधक नही बनता।

जनता ज्यो-ज्यो सम्पर्क मे आती गई, त्यो-त्यो साम्प्रदायिकता का भय अपने-आप दूर होता गया। धीरे-धीरे उसमे सभी तबको के मनुष्य सम्मिलित होने लगे। हिन्दू, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि सभी धर्मों को इसमे अपने ही सिद्धान्त प्रतिबिम्बित हुए लगने लगे।

आचार्यश्री ने इस आन्दोलन मे राजनैतिक सम्प्रदायो का भी समन्वय किया है। वे इसे किसी भी राजनैतिक पार्टी की कठपुतली नही बना देना चाहते। समय-समय पर प्राय अनेक राजनैतिक दलो के लोग आन्दोलन के कार्यक्रमो मे सम्मिलित होते रहे है। उनके पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यो न रहते रहे हो, किन्तु चरित्र-विशुद्धि की आवश्यकता वे सभी समान रूप से ही समझते रहे है। सन् १९५६ मे चुनावो की तैयारियाँ हो रही थी, तब आचार्यश्री भी दिल्ली मे ही थे। आम चुनावो मे अनैतिक और अनुचित प्रवृत्तियो का समावेश न हो, इस लक्ष्य मे आचार्यश्री के सान्निध्य मे एक सभा का आयोजन किया गया। उसमे चुनाव-मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस-अध्यक्ष उ० न० ढेबर, साम्यवादी नेता अ० क० गोपालन, प्रजासमाजवादी नेता जी० भ० कृपलानी आदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे। सभी ने आन्दोलन के व्रतो को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया।

सहयोगी भाव

इस असम्प्रदाय-भावना ने अणुव्रत-आन्दोलन को सबके साथ मिलकर तथा सबका सहयोग लेकर सामूहिक रूप से कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान किया है। व्यक्ति अकेला किसी ऐसी बुराई का, जो सर्व-साधारण मे अव्याहत रूप से फैल चुकी हो, सामना करने मे अपने-आप को असमर्थ पाता है। परन्तु जब समान उद्देश्य के अनेक व्यक्ति उस बुराई के विरुद्ध खडे होते है तो उसमे भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने मे एक विशेष सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। जब बुराई अनेक व्यक्तियो का सामूहिक सहयोग पाकर प्रबल बन जाती है तो अच्छाई को भी अनेक व्यक्तियो के सामूहिक सहयोग से प्रबल बनाना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति अनेक बुरे व्यक्तियो मे श्रेष्ठ अवश्य होता है, पर जीवन-व्यवहार मे निभ तभी सकता है, जब कि अनेक अच्छे व्यक्ति उसकी जीवन-यापन पद्धति के पोषक तथा सहायक हो।

आचार्यश्री सभी दलो तथा व्यक्तियो का सहयोग इसीलिए अभीष्ट मानते है कि उससे धार्मिक तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले व्यक्तियो को एकरूपता प्रदान की जा सके और उसमे अधार्मिकता और अनैतिकता के वर्तमान प्रभाव को नष्ट किया जा सके। आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि जब चोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति सम्मिलित होकर काम कर सकते है, तो अच्छा उद्देश्य रखने वाले दल सम्मिलित होकर काम क्यो नही कर सकते ? इस कथन से सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण बहुत प्रभावित हुए। उन्होने कहा—"मैं सर्वोदय कार्यकर्ताओ के सम्मुख चर्चा करूँगा कि ऐसे समान उद्देश्यो के कार्यों मे परस्पर सहयोगी बने।"

प्रथम अधिवेशन

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी दिल्ली मे हुआ था। यद्यपि इसके प्रसार की दिशाए जयपुर से ही उन्मुक्त होने लगी थी, पर सार्वजनिक रूप इसे दिल्ली में मिला। यह आचार्यश्री का दिल्ली मे प्रथम बार पदार्पण था। आन्दोलन नया-नया ही था। परिस्थितियाँ कोई अधिक अनुकूल नही थी। अविश्वास, सन्देह और विरोध की मिली-जुली भावनाओ का सामना करना पड रहा था। फिर भी आचार्यश्री ने अपनी बात पूरे बल के साथ जनता मे रखी। पहले-पहल शिक्षित-वर्ग ने उनकी बातो को उपेक्षा व उपहास की दृष्टि से देखा, पर उनकी आवाज समय की आवाज थी। उसकी उपेक्षा की नही जा सकती थी। उनकी बातो ने धीरे-धीरे जनता के मन को छुआ और आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढने लगा।

कुछ दिन बाद वार्षिक अधिवेशन का आयोजन हुआ। दिल्ली नगरपालिका-भवन के पीछे के मैदान मे हजारों व्यक्ति एकत्रित हुए। वातावरण मे एक उल्लास था। दिल्ली के नागरिको ने एक आशा-भरे दृष्टिकोण से अधिवेशन की कार्रवाही को देखा। नगर के सार्वजनिक कार्यकर्ता, साहित्यकार तथा पत्रकार आदि भी अच्छी सख्या मे उपस्थित थे।

कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ भाषण हुए। प्रथम वर्ष की रिपोर्ट सुनायी गई। उसके पश्चात् व्रत स्वीकार कराये गए। आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनो मे जहाँ पिचहत्तर व्यक्ति थे, वहाँ इस अधिवेशन के समय छ सौ पच्चीस व्यक्तियो ने व्रत ग्रहण किये। उपस्थित जनता के लिए यह एक अपूर्व बात थी। अधिवेशन का यह सबसे बडा आकर्षण था। इससे देश मे नैतिक क्रान्ति के बीज अकुरित होने का स्वप्न आकार ग्रहण करता हुआ दिखायी देने लगा। चारो ओर चलने-वाली अनैतिकता मे खडे होकर कुछ व्यक्ति यह सकल्प करे कि वे किसी प्रकार का अनैतिक कार्य नही करेंगे, तो यह एक अघटनीय घटना लगने लगी। नैतिक वातावरण मे मनुष्य जहाँ स्वार्थ को ही प्रमुख मानकर चलता है, परमार्थ को भूल-कर भी याद नही करता, वहाँ कुछ व्यक्तियो का अणुव्रती बनना एक नया उन्मेष ही था।

पत्रों की प्रतिक्रिया

पत्रकारो पर इस घटना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव हुआ। देश के प्राय सभी दैनिक पत्रो ने बडे-बडे शीर्षको मे इन समाचारो को प्रकाशित किया। अनेक दैनिक पत्रो मे एतद्-विषयक सम्पादकीय लेख भी लिखे गए। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (नई दिल्ली) ने अपने साध्य सस्करण मे लिखा—"चमत्कार का युग अभी समाप्त नही हुआ है। दिल्ली मे भी हमे चारो ओर फैले हुए अन्धकार मे प्रकाश की एक किरण दीख पडी है। · जब अनुचित रूप से कमाये गए पैसे पर फूलने-फलने वाले व्यापारी एकत्रित होकर सच्चाई से जीवन बिताने का आन्दोलन शुरू करते है, तब कौन उनसे प्रभा-वित नही होगा! उन्होने यह सत्-प्रतिज्ञा आचार्यश्री तुलसी के सामने अणुव्रती सघ के पहले वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ग्रहण की है। "आचार्य तुलसी, जो कि इस सगठन या आन्दोलन के दिमाग है, राजपूताना के रेतीले मैदानो को पार कर दिल्ली की पक्की सडको पर आये है।"

'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' (कलकत्ता) ने २ मई, ५० को अणुव्रती-सघ का स्वागत करते हुए लिखा था, " · इस देश मे व्यापार-व्यवसाय मे मिथ्या जोरो पर है। यह भय है कि कही उससे समाज के जीवन का सारा नैतिक ढाँचा ही नष्ट न हो जाये इसलिए कुछ व्यापारियो का यह आन्दोलन कि वे व्यापार-व्यवसाय में मिथ्या आचार न करेंगे, देश मे स्वस्थ व्यापार-व्यवसाय को जन्म दे सकेगा। इस दिशा मे अणुव्रती-सघ के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी ने जो पहल की है, उसके लिए वे बधाई के अधिकारी हैं।"

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बगला-दैनिक 'आनन्द बाजार पत्रिका' ने 'नूतन सतयुग' शीर्षक से लिखा था, "तो क्या कलियुग का अवसान हो गया है? क्या सतयुग प्रकट होने को है? नई दिल्ली, ३० अप्रैल का एक समाचार है कि मारवाडी समाज के कितने ही लखपति और करोडपति लोगो ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे कभी चोर-बाजारी नही करेंगे। इसके प्रेरक हैं आचार्यश्री तुलसी, जिन्होने मानव-जाति की समस्त बुराइयो को दूर करने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ

किया है। उसी के समर्थन मे ये प्रतिज्ञाए की गई है। हम आचार्यश्री तुलसी से सविनय अनुरोध करना चाहते हैं कि वे कलकत्ता नगरी मे पधारने की कृपा करे।"

'हरिजन-सेवक' के हिन्दी, अग्रेजी व गुजराती-सस्करणो मे श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने संघ के व्रतो की विवेचना करते हुए सम्पादकीय मे लिखा, "अणुव्रत का अर्थ है—प्रत्येक व्रत का अणु से लेकर क्रमश बढता हुआ पालन। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जो अहिंसा और अपरिग्रह मे विश्वास तो रखता है, लेकिन उसके अनुसार चलने की ताकत अपने मे नही पाता, वह इस पद्धति का आश्रय लेकर किसी विशेष हिंसा से दूर रहने या एक हद के बाहर और किसी खास ढग मे सग्रह न करने का सकल्प करेगा और धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढेगा। ऐसे व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।"

इस प्रकार आन्दोलन की प्रतिध्वनि समस्त देश मे हुई। क्वचित् विदेशी पत्रो मे भी इस विषय मे लिखा गया। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' (१५ मई, १६५०) मे यह सवाद प्रकाशित हुआ, "अन्य अनेक स्थानो के कुछ व्यक्तियो की तरह एक दुबला, पतला, ठिगना, चमकती आँखो वाला भारतीय ससार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। चौतीस वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है, जो जैन तेरापथ-समाज का आचार्य है। वह अहिंसा मे विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने १६४६ मे अणुव्रती-सघ की स्थापना की थी। जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे, तब शेष ससार को भी व्रती बनाने की उनकी योजना है।"

देशी और विदेशी पत्रो मे होने वाली इस प्रतिक्रिया से ऐसा लगता है कि मानो ऐसे किसी आन्दोलन के लिए मानव-समाज भूखा और प्यासा बैठा था। प्रथम अधिवेशन पर उसका यह स्वागत आशातीत और कल्पनातीत था।

आशावादी दृष्टियाँ

आन्दोलन का लक्ष्य पवित्र है, कार्य निष्काम है, अत उसमे हरएक व्यक्ति की सहमति ही हो सकती है। जब देश के नागरिको की सकल्प-शक्ति जागृत होती है, तब मन मे मधुर आशा का एक अकुर प्रस्फुटित होता है। आन्दोलन के सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो के उद्गार इस बात के साक्षी है। उनमे से कुछ ऐसे व्यक्तियो के उद्गार यहाँ दिये जा रहे है, जिनका राष्ट्रव्यापी प्रभाव है तथा जो किसी भी प्रकार के दबाव मे अप्रभावित रहकर चिन्तन करने की क्षमता रखते हैं।

राष्ट्रपति-भवन मे एक विशेष समारोह पर बोलते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा, "पिछले कई वर्षों से अणुव्रत आन्दोलन के साथ मेरा परिचय रहा है। शुरुआत मे जब कार्य थोडा आगे बढा था, मैंने इसका स्वागत किया और अपने विचार बतलाये। जो काम आज तक हुआ है, वह सराहनीय है। मैं चाहूँगा इसका काम देश के सभी वर्गों मे फैले, जिसमे सब इससे लाभान्वित हो सकें। इस आन्दोलन से हम दूसरो की भलाई करते हैं, इतना ही नही, अपने जीवन को भी शुद्ध करते है, अपने जीवन को बनाते है। सयम का जीवन सबसे अच्छा जीवन है। इसीलिए हम चाहते है कि सब वर्गों मे इसका प्रचार हो। सबको इसके लिए प्रोत्साहित किया जाये।"[1]

उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे लिखा है, "हम ऐसे युग मे रह रहे है, जब हमारा जीवात्मा सोया हुआ है। आत्म-बल का अकाल है और प्रमाद का राज्य है। हमारे युवक तेजी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे है। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है, जो आत्म-बल की ओर ले जाने वाला हो। इस समय हमारे देश मे अणुव्रत-आन्दोलन ही एक ऐसा आन्दोलन है जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढावा मिलना चाहिए।"[2]

प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "हमे अपने देश का मकान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो ज्यो ही रेत ढह जायेगी, मकान भी ढह जायेगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश मे जो काम हमे करने हैं, वे बहुत लम्बे-चौडे हैं। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। इसे लेकर बहुत अच्छा

---

१ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ४१

२ अणुव्रत-आन्दोलन

काम अणुव्रत-आन्दोलन में हो रहा है। मैं मानता हूँ, इस काम की जितनी उन्नति हो, उतना ही अच्छा है। इसलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी उन्नति चाहता हूँ।"[1]

अणुव्रत-सेमिनार में उद्घाटन-भाषण करते हुए यूनेस्को के डायरेक्टर-जनरल डा० लूथर इवान्स ने कहा, "हम लोग यूनेस्को के द्वारा शान्ति के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत-आन्दोलन भी प्रशसनीय काम कर रहा है। यह बडी खुशी की बात है। मैं उसकी सफलता चाहता हूँ। आपका यह सत्कार्य ससार मे फले और शान्ति का मार्ग-दर्शन करे।"[2]

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने कहा है, "श्रमण और भिक्षु शान्ति-सेना के सैनिक हैं। नैतिक प्रचार और प्रसार के लिए उन्होने जीवन को जगाया है, यह उचित है। अणुव्रत-आन्दोलन मे नैतिक विचार-क्रान्ति के साथ साथ बौद्धिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है। यह इसकी अपनी विशेषता है।"[3]

श्री राजगोपालाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, "मेरी राय मे यह जनता के नैतिक एवं सांस्कृतिक उद्धार की दिशा मे पहला कदम है।"

आचार्य जी० भ० कृपलानी ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे अपने भाव यो व्यक्त किये हैं, " मैं मानता हूँ कि व्रतो के बिना दुनिया चल नही सकती। व्रतो को त्यागने मे सर्वनाश हो जाता है। मैं व्यक्ति-सुधार मे विश्वास नही रखता। सामूहिक सुधार को सत्य मान कर चलता हूं। व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया मे वह वेग और उत्साह नही रहता, जितना सामूहिक सुधार मे रहता है। इसके तात्कालिक परिणाम भी लोगो को आकृष्ट कर लेते है। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा मे मार्ग-सूचक बने, ऐसी मेरी भावना है।"[4]

हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार इस प्रकार हैं, "सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है, जो व्यवहार पर खरा सिद्ध नही होता, वह सिद्धान्त कैसा ! मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि महाव्रत का मार्ग जगत् से एकदम निरपेक्ष नही है, अणुव्रत उसका उदाहरण है। व्रत जीवन मे किनारे जैसे है। यदि नदी के किनारे न हो, तो उसका पानी रेगिस्तान मे सूख जाये। किनारे नदी को बाँधने वाले नही होने चाहिए, वे उसको मर्यादा मे रखने वाले होने चाहिए। ऐसे ही वे किनारे जीवन-चैतन्य को विकास देने वाले और दिशा देने वाले हो सकते है।"[5]

अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के भूतपूर्व महामन्त्री श्री श्रीमन्नारायण ने अपनी भावना यो व्यक्त की है, "अणुव्रत-आन्दोलन की जब से मुझे जानकारी हुई है, तभी से मै इसका प्रशसक रहा हूँ। इसके सम्बन्ध मे मेरा आकर्षण इसलिए हुआ कि यह आन्दोलन जीवन की छोटी-छोटी बातो पर भी विशेष ध्यान देता है। बडी बाते करने वाले बहुत है, किन्तु छोटी बातो को महत्त्व देने वाले कम होते है।

यह आन्दोलन क्रमिक विकास को महत्त्व देता है, यह इसकी विशेषता है। एक साथ लक्ष्य पर नही पहुँचा जा सकता, एक-एक कदम आगे बढा जा सकता है।"[6]

ससद्-सदस्या श्रीमती सुचेता कृपलानी ने कहा, "अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। जब कार्य और कारण दोनो शुद्ध होते हैं, तब परिणाम भी शुद्ध होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक का व उनके साथी साधुओ का जीवन शुद्ध है। अणुव्रतो का कार्यक्रम भी पवित्र है, इसलिए इनके कहने का असर पडता है।

अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत सार्वजनीन है। प्रत्येक वर्ग के लिए इसमे व्रत रखे गए है। यह इसकी अपनी विशेषता

---

१ अणुव्रत जीवन-दर्शन
२ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ३४
३ नव निर्माण की पुकार, पृ० ५०
४ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ४५
५ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ५२
६ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ५१

है। व्रतो की भाषा सरल व स्वाभाविक है। अहिंसा आदि व्रतो का विवेचन सामयिक व युगानुकूल है। अहिंसा की व्याख्या व व्रतो मे शब्दों का सकलन मुझे बहुत ही भावोत्पादक लगा। कहा गया है—जीव को मारना या पीड़ा पहुँचाना तो हिंसा है ही, किन्तु मानसिक असहिष्णुता भी हिंसा है। अधिकारो का दुरुपयोग भी हिंसा है। कम पैसो से अधिक श्रम लेना भी हिंसा है, आदि-आदि। इसी प्रकार सभी व्रत जीवन को छूते है। अणुव्रतियो का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुझ पर आन्दोलन का काफी असर है। आचार्यजी का सत्-प्रयास सफल हो, यह मेरी कामना है।"[1]

उपर्युक्त व्यक्तियो के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे व्यक्ति है जो अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे बहुत श्रद्धाशील और आशावादी हैं। उन सबके उद्गारो का सकलन एक पृथक् पुस्तक का विषय हो सकता है। यहाँ उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है।

सन्देह और समाधान

आन्दोलन के विषय मे जहाँ अनेक व्यक्ति आशावादी है, वहाँ कुछ व्यक्तियो को एतद्-विषयक नाना सन्देह भी है। किसी भी विषय मे सन्देहो का होना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता, वस्तुत वे बात को अधिक गहराई से सोचने की प्रेरणा ही देते है। सावधान भी करते है। यहाँ आन्दोलन के विषय मे किये जाने वाले कुछ सन्देहो का सक्षेप में समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध और महात्मा गाधी जैसे व्यक्ति भी जब विश्व को नैतिकता के ढाँचे मे नही ढाल सके, तो आचार्यश्री वह कार्य कैसे कर सकेगे ?

इस सन्देह का समाधान यही हो सकता है कि समूचे विश्व को नैतिक बना देना किसी के लिए सम्भव नही है। नैतिकता का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही अनैतिकता का भी। हर युग मे इन दोनो का परस्पर सघर्ष चलता रहा है। ससार के रगमच पर कभी एक की प्रमुखता होती रही है तो कभी दूसरे की, पर सम्पूर्ण रूप से न कभी नैति-तिकता मिटी है और न ही अनैतिकता। जब-जब मानव-समाज मे नैतिकता की प्रबलता रही है, तब-तब उसका उत्थान हुआ है और जब-जब अनैतिकता की प्रबलता हुई है, तब-तब पतन। एक न्याय, मैत्री और साम्य की सवाहक बनकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती है तो दूसरी अन्याय, विद्वेष और विषमता की सवाहक बनकर अशान्ति का दावानल प्रज्वलित करती है। सभी महापुरुषो का विचार रहा है कि विश्व नैतिक और आध्यात्मिक बने; किन्तु वे सब यह भी जानते रहे है कि यह सम्भव नही है। इसलिए वे फल की ओर से निश्चिन्त होकर केवल कार्य पर लगे। उससे समाज मे आध्यात्मिकता और नैतिकता का प्रामुख्य स्थापित हुआ। आचार्यश्री भी अपना पुरुषार्थ इसी दिशा मे लगा रहे है। कितना क्या कुछ बनेगा, इसकी चिन्ता न वे करते है और न उन्हे करनी ही चाहिए।

२ सारा ससार ही जब भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनो मे फँसा है, तब चन्द मनुष्य अणुव्रती बनकर अपना सत्य कैसे निभा सकते है ?

इसका सक्षिप्त समाधान हो सकता है कि सत्य आत्मा का धर्म है। उसके लिए दूसरे का सहारा नितान्त अपेक्षित नही है। सफलता सख्या पर नही, भावना पर निर्भर है। ससार के प्राय सभी सुधार थोड़े व्यक्तियो से ही प्रारम्भ हुए है। अधिक व्यक्ति तो उसके विरोध मे रहे है, क्योकि विचारशील और स्वार्थ-त्यागी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वल्प ही मिलते है। इसका यह तात्पर्य नही है कि अणुव्रतियो की सख्या स्वल्प ही रहनी चाहिए, किन्तु यह है कि सख्या को सफलता का मापक यन्त्र नही मानना चाहिए। अधिक व्यक्ति जिस मार्ग को चुनते हैं, वह सच्चा ही हो, यह आवश्यक नही है। अत. सत्य-सेवी के लिए बहुमत का महत्त्व अधिक नही रह जाता। उसे अपने आत्म-बल पर विश्वास रखते हुए बहु-जन मान्य अनैतिक विषयो का सामना ही नही, अपितु उन पर प्रहार करने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने सत्य को तो निभा ही लेता है, साथ-साथ उन अनेक व्यक्तियो को सत्य मार्ग के लिए प्रेरित भी कर देता है, जो साथी के अभाव

१ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ५३-५४

में अपने बल पर आगे बढ़ने से घबराते है।

३ जिस गति से लोग अणुव्रती बन रहे है, वह बहुत धीमी है। इस गति से यहाँ का नैतिक दुर्भिक्ष मिट नही सकता। प्रतिवर्ष एक सहस्र व्यक्ति अणुव्रती बनते रहें तो भी अकेले भारत की चालीस करोड जनता को नैतिक बनाते लाखो वर्ष लग जायेगे। तब आन्दोलन के पास इस समस्या का क्या हल है ?

यह स्वीकार किया जा सकता है कि गति बहुत धीमी है। उसे तेज करना चाहिए, किन्तु आन्दोलन गुण की निष्ठा लेकर चलता है। सख्या का महत्त्व उसमे गौण है। यदि गुण का आधिक्य हो तो औषधि की अल्प मात्रा भी प्रभूत परिणाम ला सकती है। उसी तरह अल्पसख्यक गुणी व्यक्ति भी सारे समाज को प्रभावित कर सकते है। यह मानवीय भावना का प्रश्न है। इसे साधारण गणित के आधार पर समाहित नही किया जा सकता। मानवीय भावना गणित के फारमूलो से बँधकर नही चला करती। हजारो व्यक्तियो की सम्मिलित भावना का जब कही एक स्थान पर तीव्र विस्फोट होता है, तब वह हमारी गणित की प्रक्रिया मे एक के रूप मे सम्मिलित किया जाता है। अवशिष्ट व्यक्ति गणना-क्षेत्र से बाहर रह जाते है। अणुव्रत-भावना को भी इसी आधार पर यो समझा जा सकता है कि जब हजारो व्यक्तियो के मन पर अनीति के विरुद्ध नीति का प्रभाव होता है, तब उनमे से तीव्रतर या तीव्रतम प्रभाव वाला व्यक्ति जो कि उन सहस्रो की भावना का एक प्रतीक समझा जा सकता है, प्रतिज्ञाबद्ध होता है। अणुव्रत-भावना से प्रभावित होते हुए भी अवशिष्ट व्यक्ति उस सख्या से बाहर रह जाते है। सख्या-समाविष्ट व्यक्ति तो उन हजारो व्यक्तियो का एक प्रतीक-मात्र होता है। इसलिए अणुव्रतियो की सख्या को ही अणुव्रत-भावना का विकास-क्षेत्र नही मान लेना चाहिए। भारत के स्वातन्त्र्य सग्राम के अहिसक सैनिक इस बात की सत्यता के लिए प्रमाणभूत माने जा सकते है। सारे भारतवासी तो क्या, पर शताश भी उस सस्था के सदस्य नही थे। पर क्या इससे यह माना जा सकता है कि जितने उस सस्था के सदस्य थे, केवल उतने ही स्वतन्त्रता के पुजारी थे। अवशिष्ट व्यक्तियो का स्वतन्त्रता-सग्राम से कोई सम्बन्ध नही था ?

इसके अतिरिक्त सारे भारत की बात सोचने से पहले यह तो हरएक व्यक्ति को मान्य होगा ही कि अभाव से तो स्वल्प भाव अच्छा ही होता है। स्वल्प भाव को सर्व भाव की ओर बढने मे अपनी गति तीव्र करनी चाहिए। इसमे स्वय अणुव्रत-आन्दोलन सहमत है। परन्तु सर्व भाव न हो, तब तक के लिए अभाव ही रहना चाहिए, स्वल्प भाव की कोई आवश्यकता नही है, इस बात से वह सहमत नही हो सकता।

४ अणुव्रतो की रचना मे मुख्यत निषेधात्मक दृष्टि ही क्यो अपनायी गई है ? जबकि जीवन-निर्माण मे विधि-प्रधान पद्धति की आवश्यकता होती है।

यो तो विधि मे निषेध और निषेध मे विधि स्वत गर्भित रहती है, फिर भी मनुष्य की आचार-सहिता मे विधेय अधिक होते हैं और हेय कम। इसीलिए अपनी मर्यादा मे रहकर मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिये, इसकी लम्बी सूची बनाने से अधिक सुगम यह होता है कि उसे क्या-क्या नही करना चाहिए, यह बतलाया जाए। सीमा या मर्यादा का भावात्मक अर्थ निषेध ही तो होता है। माता-पिता या गुरु अपने बालक को निषिद्ध वस्तु की मर्यादा ही बतलाते है। 'बिजली को मत छुआ करो'—यह कह वे उसकी जो सुरक्षा कर सकते है क्या वही 'कमरे की ये-ये वस्तुएँ छुआ करो' कहकर कर सकते हैं ? सरकार भी विदेश से जिन-जिन व्यापारो का निषेध करना चाहती है, उन्ही का नाम-निर्देश करती है, न कि जो-जो मँगाया जा सकता है, उसका सूची-पत्र। सरलता भी इसी मे है।

५ हर कार्य की उपलब्धि सामने आने पर ही उस पर विश्वास जमता है। अणुव्रत-आन्दोलन की कोई उपलब्धि दृष्टिगत क्यो नहीं हो रही है ?

भौतिक समृद्धि के लिए किये जाने वाले कार्यों से जो स्थूल उपलब्धियाँ होती है, वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। परन्तु यह आन्दोलन उन कार्यों से सर्वथा भिन्न है। इसकी उपलब्धि किसी स्थूल पदार्थ के रूप मे प्रत्यक्ष नही देखी जा सकती। अन्न, वस्त्र या फलो के ढेर की तरह आध्यात्मिकता, नैतिकता या हृदय-परिवर्तन का ढेर नही लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओ को एक तुला पर तौलने की तो बात ही क्या की जा सकती है, जबकि भौतिक वस्तुओ मे भी परस्पर अतुलनीय अन्तर होता है। पत्थर और हीरे को क्या कभी एक तराजू पर तौला जा सकता है ? अणुव्रत-

आन्दोलन की उपलब्धि प्रत्यक्ष नही हो सकती, फिर भी उसने क्या कुछ किया है, इस बात का पता लगाने के लिए कुछ कार्य प्रस्तुत किये जा सकते है। आन्दोलन का ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का रहा है। अत उसने भ्रष्टाचार, मिलावट, झूठा तोल-माप, दहेज और रिश्वत आदि के विरुद्ध अनेक अभियान चलाये हैं। मद्य-पान और धूम्र-पान के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। हजारों व्यक्तियों को उपर्युक्त दुर्गुणो से दूर कर देना आत्म-शुद्धि के क्षेत्र मे जहाँ एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, वहाँ जन-सामान्य की दृष्टि मे आने वाली आन्दोलन की एक महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि भी है। परन्तु आन्दोलन इस उपलब्धि की अपेक्षा उस सूक्ष्म उपलब्धि को अधिक महत्त्व देता है जिससे कि जन-मानस मे अध्यात्म का बीज-वपन होता है।

आन्दोलन की आवाज

अणुव्रत-आन्दोलन की आवाज तालाब मे उठने वाली उस लहर की तरह है जोकि धीरे-धीरे आगे बढती और फैलती जाती है। आज जितने व्यक्ति इससे परिचित है, वे सब धीरे धीरे ही इसके सम्पर्क मे आये है। प्रारम्भकाल मे बहुत से लोग इसे एक साम्प्रदायिक आन्दोलन मानते रहे थे। आचार्यश्री को अनेक बार एतद्-विषयक स्पष्टीकरण करना पडता था। फिर भी सबके मस्तिष्क मे यह बात कठिनता से ही बैठ पा रही थी। आचार्यश्री यथाशीघ्र इस अविश्वसनीय स्थिति को मिटा देना चाहते थे। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक यह स्थिति मिट नही जाती, तब तक आन्दोलन गति नही पकड सकता। वे इस विषय मे दूसरो के सुझाव लेने मे भी उदार रहे है। जयपुर मे डा० राजेन्द्र-प्रसाद आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। वे उन दिनो भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री ने उनके सामने अणुव्रत-आन्दोलन की रूपरेखा और कार्यक्रम रखा, तो उन्होने कहा कि देश को ऐसे आन्दोलन की इस समय बहुत आव-श्यकता है। इसका प्रसार तीव्र गति से होना चाहिए। आचार्यश्री ने तब निस्सकोच भाव से अपनी समस्या रखते हुए कहा था कि हम भी यही चाहते है, परन्तु इसमे बाधा यह है कि लोग अभी तक इसको साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते है। इससे प्रसार होने मे बहुत बाधाए आती है।

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि आन्दोलन यदि असाम्प्रदायिक भाव से कार्य करता रहेगा तो ज्यो-ज्यो लोग सम्पर्क मे आयेंगे, त्यो-त्यो यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जायेगा। बात भी यही हुई। आज प्राय सभी व्यक्ति यह जानने लगे हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का कार्य सम्प्रदाय-भाव से प्रभावित नही है। राष्ट्रपति बनने के बाद डा० राजेन्द्र-प्रसाद ने आन्दोलन की इस सफलता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखा था, "मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता तो इस बात से है कि देश मे इस आन्दोलन ने सार्वजनिक रूप ले लिया है। मैं समझता हूँ कि अब लोगो मे ये भावनाए नही रह गई हैं कि यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन का सार्वजनिक रूप ही उसके सुनहरे भविष्य का सूचक है।"[1]

इतना होने पर भी क्वचित् कुछ व्यक्ति आन्दोलन को किसी पक्ष या विपक्ष का मानने की भूल कर जाते है। डा० राममनोहर लोहिया तथा श्री नि०च० चटर्जी आदि कुछ व्यक्तियो ने ऐसा अनुभव किया है कि आचार्यश्री द्वारा काग्रेस की नींव गहरी की जा रही है। इस प्रकार के कई आक्षेप सम्मुख आये। आचार्यश्री का इस विषय मे यही स्पष्टीकरण रहा कि आन्दोलन किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नही है, पर साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह किसी भी दल से असम्बद्ध रहना भी नही चाहता। मानव-मात्र के लिए किये जाने वाले आन्दोलन को न किसी पक्ष विशेष मे बंधना ही चाहिए और न किसी पक्ष-विशेष को उपेक्षित ही करना चाहिए। दो विरोधी पक्षो मे भी उसे समन्वय की खोज करना आवश्यक होता है। इसी धारणा पर चलते रहने के कारण आज अणुव्रत-आन्दोलन को सभी दलो का स्नेह प्राप्त है। वह भी अपनी आवाज सभी दलो तक पहुंचाना चाहता है। समन्वय के क्षेत्र मे दल, जाति, धर्म आदि का भेद स्वय ही अभेद मे परिणत हो जाता है। आन्दोलन का कार्य किसी की दुर्बलता को समर्थन देना नही है, वह तो हरएक को सबल बनाना चाहता है।

---

१ अणुव्रत-आन्दोलन

आन्दोलन का मुख्य बल जनता है। उसी के आधार पर इसकी प्रगति निर्भर है। यों सभी दलों तथा सरकारों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। सबकी शुभकामनाएं तथा सहानुभूति उसने चाही है और वह उसे हर क्षेत्र में पर्याप्त मात्रा में मिलती रही है। जन-मानस की सहानुभूति ही उसकी आवाज को गाँवों से लेकर शहरों तक तथा किसान से लेकर राष्ट्रपति तक पहुँचाने में सहायक हुई है। आन्दोलन ने न कभी राज्याश्रय प्राप्त करने की कामना की है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है।

भारत की राज्य-सभा में सन् ५७ में जब अणुव्रत-आन्दोलन विषयक प्रश्नोत्तर चले थे, तब उसका उत्तर देते हुए गृहमन्त्रालय के मन्त्री श्री ब० ना० दातार ने कहा था, "इस आन्दोलन को राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री नेहरू की शुभकामनाएं प्राप्त हैं। आन्दोलन के अन्तर्गत चल रहे भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था कि यह कार्य सिर्फ भाषणों तक ही सीमित नहीं रहेगा, अपितु ये साधु-जन घर-घर जाकर स्वतन्त्र रूप से उच्चाधिकारियों को भ्रष्टाचार से बचने की प्रेरणा देंगे।" यह कथन सरकार की ओर से उसके संचालकों की शुभकामना का सूचक ही है। आन्दोलन के कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नहीं झुके हैं। यही आन्दोलन की शक्ति है और इसी के आधार पर वह सबका मुक्त सहयोग पा सका है।

इसी प्रकार सन् ५९ की फरवरी में उत्तरप्रदेश की विधान-परिषद् में विधायक श्री मुगनचन्द द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया। जिस पर अन्य सत्ताईस विधायकों के भी हस्ताक्षर थे। उसमें कहा गया था—"यह सदन निश्चय करता है कि उत्तर प्रदेशीय सरकार देश में आचार्य तुलसी द्वारा चलाये गए आन्दोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दे।"[1]

इस प्रस्ताव में कुछ विधायकों को अवश्य ऐसा सन्देह हुआ था कि अणुव्रत-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता माँगी जा रही है। किन्तु बहस के अवसर पर जब यह प्रश्न उठा, तब अनेक विधायकों ने उसका समुचित खण्डन कर दिया। चर्चा काफी लम्बी चली थी, पर यहाँ कुछ व्यक्तियों के ही कथनों को उद्धृत किया जा रहा है। विधायक श्री ललिताप्रसाद सोनकर ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—"यह प्रस्ताव सरकार से धन की माँग नहीं करता है और न किसी अन्य वस्तु की माँग करता है। लेकिन यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में रहने वाले लोगों की नैतिक और अध्यात्म-सम्बन्धी या चरित्र-सम्बन्धी बातों में सुधार हो।"[2]

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—"सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति प्राप्त हो। आज हरएक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जाएं। पैसे की कमी नहीं मान्यवर! पैसा कौन माँगता है?"[3]

सामाजिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण राज्य-मन्त्री श्री लक्ष्मीरमण आचार्य ने कहा—"जहाँ तक सहायता का सम्बन्ध है और सहयोग तथा सहायता के शब्द प्रयोग किये गए हैं, शायद उसके माने यह है कि सरकार यह कह दे कि अणुव्रत-आन्दोलन एक ठीक आन्दोलन है। लेकिन वह सहायता रुपये-पैसे की नहीं है, मैं ऐसा समझता हूँ। जहाँ तक इन चीजों का सम्बन्ध है, श्रीमन्, मुझे सरकार की तरफ से यह कहने में संकोच नहीं है कि अणुव्रत-आन्दोलन को सरकार गलत नहीं समझती है और ऐसा भी ख्याल करती है कि अणुव्रत-आन्दोलन कोई रिट्रोग्रेटिव स्टेप नहीं है और न कोई प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जंजीर है या धर्म की स्थापना का नया तरीका है।"[4]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थकों ने जो सहयोग चाहा, वह आर्थिक न होकर वैचारिक तथा चारित्रिक है। इसी सहयोग के आधार पर आन्दोलन की आवाज व्यापक प्रसार पा सकती है। ऐसे आन्दोलनों में वैचारिक तथा आचारिक सहयोग से बढ़कर अन्य कोई सहयोग नहीं हो सकता। आर्थिक प्रधानता तो

१ जैन-भारती, १५ नवम्बर '५९
२ जैन-भारती, २७ दिसम्बर '५९
३ जैन-भारती, २७ दिसम्बर '५९
४ जैन-भारती, २४ जनवरी '६०

ऐसे आन्दोलनो को नष्ट करने वाली ही हो सकती है। आन्दोलन की आवाज को आगे बढाने मे सरकार से लेकर किसान तक का सहयोग इसलिए उन्मुक्त है कि वह आर्थिक या राजनैतिक सहायता की अपेक्षा को कभी मुख्यता प्रदान नही करता।

इस आवाज को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आचार्यश्री ने इन बारह वर्षों मे अनेक लम्बी-लम्बी यात्राए की और भारत के अनेक प्रान्तो मे पहुँचे। लाखो व्यक्तियो से साक्षात्कार हुआ। शहरो और गावो के व्यक्तियो से आन्दोलन-विषयक चर्चा करने मे ही उनका बहुत सा समय खपता रहा है। पैदल चलना, रास्ते के गाँवो मे थोडा-थोडा ठहरकर जनता को उद्बोध देना और फिर आगे चल पडना, यह एक ऐसी थका देनेवाली प्रक्रिया है कि दृढ निश्चय के बिना लगातार ऐसा सम्भव नही हो सकता। अपनी बात को शिक्षितो मे किस तरह रखना चाहिए और अशिक्षितो मे किस तरह रखना चाहिए, इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते है। वे जितना विद्वानो को प्रभावित करते है, उतना ही अशिक्षित ग्रामीणो को भी प्रभावित कर लेते हैं।

उनके शिष्य-वर्ग ने भी इस कार्य मे बहुत परिश्रम किया है। अनेक क्षेत्रो मे उनके श्रम ने ही आन्दोलन के मूल को सुदृढ किया है। दिल्ली-जैसे व्यस्त तथा राजनैतिक हलचल से भरे शहर मे आन्दोलन की आवाज को घर-घर मे पहुँचाने का काम, यद्यपि बहुत कठिन है, फिर भी मुनि श्रीनगराजजी के निर्देश मे रहते हुए मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने इस दुस्साध्य कार्य को सहज बना दिया। मुनि श्री नगराजजी की सूझ-बूझ तथा विद्वत्ता और मुनि महेन्द्रकुमार-जी की श्रमशीलता का योग आन्दोलन के लिए बडा ही गुणकारी हुआ है। दिल्ली मे रहने का अवसर मुझे भी अनेक बार मिला है। उस समय मेरे सहयोगी मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने भी वहाँ इस कार्य के लिए अपने शरीर से ऊपर होकर परिश्रम किया है। मेरा विश्वास है कि आन्दोलन की आवाज़ का भारत की राजधानी ने जैसा स्वागत किया है, वह प्रथम ही है। अन्य विभिन्न क्षेत्रो मे मुनि श्री गणेशमलजी, मुनि श्री जसकरणजी, मुनि मगनमलजी, मुनि पुष्पराज जी, मुनि राकेशजी आदि साधुओ तथा कस्तूरांजी आदि साध्वियो का परिश्रम भी इस दिशा मे उल्लेखनीय रहा है।

नये उन्मेष

बीज जब तक धरती मे उप्त नही किया जाता, तब तक वह अपनी सुषुप्त-अवस्था मे रहता है, किन्तु जब उसे अनुकूल परिस्थितियो मे उप्त कर दिया जाता है, तो वह अकुरित होकर नये-नये उन्मेष करता हुआ फल तक विकसित हो जाता है। विचारो का भी कुछ ऐसा ही क्रम होता है, वे या तो सुषुप्त रहते है या जागृत होकर नये-नये उन्मेष प्राप्त करते हुए फल-निष्पत्ति की ओर अग्रसर होते है। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, तब साधारण आचार-सहिता के रूप मे उसका बीज विचार-क्षेत्र से निकल कर कार्य-क्षेत्र मे उप्त हुआ। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, त्यो-त्यो उसमे अनेक नये-नये उन्मेष होते गए।

हर उत्थान अनेक उत्थानो को साथ लेकर आता है, हर पतन अनेक पतनो को। भारतीय जीवन मे जब पुरा-काल मे आचरणो के प्रति सावधानी हुई, तब उसका विकास यहाँ तक हुआ कि माल से भरी दूकानो मे भी ताला लगाने की आवश्यकता नही रही। लिखी हुई बात का तो कहना ही क्या, किन्तु कही हुई या यो ही सहज-भाव मे मुँह मे निकली बात को निभाने के लिए प्राणोत्सर्ग तक भी कोई बडी बात नही रही, परन्तु जब उसी भारत मे दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ तो नैतिकता या सदाचार से जैसे विश्वास ही उठ गया। जेब मे पडी चीजे गायब होने लगी। लिखी हुई बात भी विश्वस-नीय नही रही। परमार्थ की वृत्ति मे अग्रणी भारतीय आकण्ठ स्वार्थ मे निमग्न हो गए। ऐसी ही स्थिति मे आचार्यश्री ने पुन: आचरण-परिशोध की बात प्रारम्भ की, तो उसके साथ अनेक प्रकार के परिशोधो की ओर सहज ही दृष्टि जाने लगी। विचार-क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए अणुव्रत साहित्य का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन का प्रथम नवोन्मेष था। जो बाते शत-शत बार के कथन से हृदयगम नही हो पाती, वे साहित्य के द्वारा सहज ही हृदयगम हो जाती हैं। अणुव्रत-साहित्य ने जीवन-परिशोध की जो प्रेरणाए दी, वे अन्यथा सुलभ नही हो सकती थी।

विचार-प्रसार के लिए समय-समय पर विचार-परिषदो, गोष्ठियो, प्रवचनो तथा सार्वजनिक भाषणो का क्रम

प्रचलित किया गया। यह भी आन्दोलन की प्रवृत्तियो मे एक नवोन्मेष ही था।

कार्य-क्षेत्र में भी विविध उन्मेष हुए। दहेज-विरोधी अभियान, व्यापारी-सप्ताह, मद्य-विरोधी तथा रिश्वत-विरोधी कार्यक्रम; ये सब आन्दोलन के कार्य-क्षेत्र को और अधिक विकसित करने मे सहायक हुए। यही क्रम कुछ विकसित होकर वर्गीय नियमो के आधार पर विचार-प्रसार का माध्यम बना।

विचारो की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए विद्यार्थियो को विशेष रूप मे उचित पात्र समझा गया। आन्दोलन ने उन पर विशेष ध्यान दिया। अध्यापको और विद्यार्थियो के द्वारा वहाँ अणुव्रत विद्यार्थी-परिषदो की स्थापना हुई। दिल्ली मे यह कार्य विशेष रूप से सगठित हुआ। लगभग पचास हायर सैकण्डरी स्कूलो में अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् स्थापित हुई। उन सबको एक सूत्र मे ग्रथित करने के लिए प्रत्येक स्कूल के प्रतिनिधियो के आधार पर केन्द्रीय अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् बनी। इस परिषद् ने दिल्ली मे अनेक बार दहेज-विरोधी कार्यक्रम सम्पन्न किये। भाषण-प्रतियोगिता, वाद-विवाद प्रतियोगिता आदि आयोजनो द्वारा छात्रो की सुरुचि को जागृत करने का प्रयास किया। दिल्ली के विद्यार्थियो मे मुनि हर्षचन्द्रजी ने विशेष रूप मे कार्य किया। मुनि मॉगीलालजी ने भी इस कार्य को आगे बढाया। कुछ अन्य शहरो तथा गाँवो मे भी अणुव्रत विद्यार्थी-परिषदो का गठन हुआ, किन्तु उनमे प्राय स्थायित्व नही आ सका।

मुनि श्री नगराजजी के साथ रहते हुए मुनि मानमलजी ने राज्य-कर्मचारियो में कार्य करने की नई दिशा खोली। राजकीय विभागो को आन्दोलन के प्रति सक्रिय किया।

केन्द्रीय अणुव्रत-समिति की स्थापना भी आन्दोलन के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसकी स्थापना आन्दोलन के कार्यों को व्यवस्थित गति देने के लिए हुई थी। साहित्य-प्रकाशन तथा 'अणुव्रत' नामक पत्र का प्रकाशन भी समिति ने किया। अणुव्रत-अधिवेशन के रूप मे प्रतिवर्ष विचारों का आदान-प्रदान तथा एकसूत्रता का वातावरण बनाये रखने के लिए वह सदा प्रयत्न करती रही है। अब तक समिति के द्वारा विभिन्न स्थानो पर आचार्यश्री के सान्निध्य मे ग्यारह अधिवेशन किये जा चुके है।

आन्दोलन के प्रसारार्थ आचार्यश्री तथा मुनिजनो का विहार-क्षेत्र ज्यो-ज्यो विकसित हुआ, त्यो-त्यो स्थानीय अणुव्रत-समितियो की भी काफी सख्या मे स्थापना हुई। उन्होने अपने स्थानीय आधार पर बहुत-कुछ काम किया है। उनमे कुछ का स्थायित्व तो काफी प्रशसनीय रहा है, परन्तु कुछ बहुत ही स्वल्पकालिक निकली।

अणुव्रत-आन्दोलन का यह एक बहुत कमजोर पक्ष भी रहा है कि आचार्यश्री तथा मुनिजन कार्य को जहाँ आगे बढाते रहे हैं, वहाँ पीछे से उसकी सार-सँभाल बहुत ही कम हो सकी है। इस शिथिलता के कारण बिहार तथा उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानो मे स्थापित अणुव्रत-समितियो से आज कोई विशेष सम्पर्क नही रह पाया है। यदि केन्द्रीय समिति इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे सकती तो आन्दोलन की प्रगति को अधिक स्थायित्व मिलता और तब 'परिश्रम अधिक और फल कम' की बात कहने का किसी को अवसर नही मिलता।

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से कार्य करता रहा है, किन्तु वह सामूहिक सुधार मे भी दिलचस्पी रखता है। आचार्यश्री ने एक बार आन्दोलन का अगला कदम परिवार-सुधार को बतलाते हुए कहा था,"अब हमें व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर होना है। परिवार-सुधार सामूहिक सुधार की दिशा मे ही एक कदम है।" आचार्यश्री की इस घोषणा को मैने राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के सम्मुख बातचीत के सिलसिले मे रखा तो उन्होने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था—"अब समय आ गया है जबकि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा मे काम करना चाहिए।" यह १८ जुलाई, १९५९ की बात है। आचार्यश्री उसके बाद अपनी घोषणा के अनुसार क्रमश उस ओर आन्दोलन को प्रगति देते रहे हैं।

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर उन्होने नये मोड के रूप में समाज के सम्मुख कुछ बाते रखी है। इसमें प्राचीन रूढियो तथा अन्ध-विश्वासो के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया है। समाज के ऐसे बहुत-से कार्य हैं जो कि चालू परम्परा से किये जाते है; परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी-मानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते है,किन्तु सहसा प्राचीन कार्यों को छोड़ नहीं पाते। मध्यम

वर्ग के लोग उन्हे छोडना चाहते हुए भी इज्जत का प्रश्न बना लेते है और छोडने के बजाय उनसे चिमटकर रह जाते है। उनकी गति साँप-छुछूँदर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक लम्बे समय से सामाजिक अभिशापो की बाते सुनते रहे है। उनके विषय मे कुछ कहते भी रहे हैं। समाज मे जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विचित्र और इतने अधिक है कि उन सब को यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है। परन्तु प्राय हर व्यक्ति कुछ-कुछ पुराने संस्कार छोड देता है तो कुछ नये अपना लेता है, यो वह बराबर उतना ही भार ढोये चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मंत्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' ग्रन्थ मे तथा उसी समय के काशी के पण्डित नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थो मे हिन्दुओ के क्रियाकाण्डो का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रतिवर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते है अर्थात् प्रतिदिन पाच-छ अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानो मे से बहुत से तो केवल पुस्तको मे ही रह गए है। फिर भी जो अवशिष्ट है तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे है, वे भी इतने है कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे है कि जब तक सामाजिक जीवन मे सादगी को महत्त्व नही दिया जायेगा, तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसारार्थ क्षेत्र की अनुकूलता नही हो सकेगी। इसलिए वे नये मोड पर इतना जोर देते हैं और चाहते है कि हर गाँव मे सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जाये और उनमे सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानो पर इस भावना के अनुरूप नियम बने है। जहाँ अभी तक नही बने है वहाँ के लिए प्रयत्न चालू हैं। प्राय हर गाँव मे ऐसे व्यक्ति मिल जाते है जो सादगी को पसन्द करते है, परन्तु इस कार्य मे बाधाएं भी बहुत है। पुराने विश्वासो के स्थान पर नये विश्वासो को जमाना प्राय सहज नही होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है तो वह अपने लक्ष्य मे से एक बहुत बडे कार्य की पूर्ति कर लेता है।

प्रकाश-स्तम्भ

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो कार्य हुआ है, वह परिणाम मे भले ही बहुत कम हो, किन्तु मात्रा मे काफी महत्त्वपूर्ण हुआ है। हृदय-परिवर्तन के ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये है जो कि विरल ही मिल सकते है। एक बार दिल्ली सेंट्रल जेल मे आचार्यश्री का भाषण हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद एक सिपाही एक बन्दी को लिये हुए जा रहा था। एक अणुव्रती भाई भी उस तरफ ही जा रहा था। मार्ग मे उस भाई ने बन्दी से पूछा—क्या तुमने जेल मे आचार्यश्री का भाषण सुना था ? बन्दी ने कहा—हाँ, सुना तो था, लेकिन वही भाषण यदि कुछ पहले सुन पाता तो मुझे यहाँ आना ही न पडता।

इसी प्रकार उत्तरप्रदेश की यात्रा मे जब आचार्यश्री हाथरस पधारे, तब वहाँ मुनिश्री नगराजजी आदि ने व्यापारियो को प्रेरणा दी और अणुव्रत-आन्दोलन के वर्गीय नियमो की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप एक सौ नौ व्यापारियो ने मिलावट न करने आदि के नियम ग्रहण किये। उनमे छोटे-बडे सभी प्रकार के व्यापारी थे। इस घटना को दिल्ली मे जब मै पंडित नेहरू से मिला, तब बातचीत के सिलसिले मे उनके सामने रखा। वे हृदय-परिवर्तन की इस घटना से जहाँ आश्चर्याभिभूत हुए, वहाँ कुछ जिज्ञासु भी हुए। उन्होने पूछा कि क्या उन सबके नाम पत्रो मे प्रकाशित किये गए है ? यदि नही तो शीघ्र ही वे नाम प्रकाशित होने चाहिए, ताकि अन्य व्यक्ति भी उनसे प्रेरणा ले सके। वस्तुत वे नाम उत्तरप्रदेश के पत्रो मे उसी समय प्रकाशित हो चुके थे।

हृदय-परिवर्तन के ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र उपलब्ध तो होते रहते है, परन्तु वे सकलित कठिनता मे ही किये जाते है। अणुव्रत-समिति के वार्षिक अधिवेशनों के समय ऐसे उदाहरणो का सकलन सहज होता है। उस समय अधिवेशनो से पूर्व आचार्यश्री के सान्निध्य मे एक अन्तरग सम्मेलन किया जाता है। उसमे समागत अणुव्रती भाई-बहिन सम्मिलित होते है और अपनी-अपनी कठिनाइयाँ सामने रखते है। जिसने उन कठिनाइयो का सामना करने मे किसी विशेष पद्धति का अनुसरण किया हो तो वह भी दूसरो की सुविधा के लिए सामने रखा जाता है। अणुव्रतियो के उन

अनुभवों से पता लगता है कि वे अनैतिकता के सामने डटे है। अपने उस कर्तव्य में मानवीय स्वभाव के अनुसार क्वचित् किसी की भूल हो जाना भी स्वाभाविक है, परन्तु वहाँ सबके सामने अनेक व्यक्तियों ने अपनी उन भूलों को भी स्वीकार किया है तथा उसका प्रायश्चित्त किया है। भूल करना बुरा होता है, परन्तु उसे छिपाना उससे भी अधिक बुरा होता है। जहाँ अधिकाश व्यक्ति अपनी भूल को छिपाना चाहते है, वहाँ अनेक व्यक्तियो के सम्मुख अपने ही द्वारा उसे स्वीकार कर लेना बड़े साहस का कार्य कहा जा सकता है।

एक ओर अर्थ-लाभ हो, तथा दूसरी ओर नैतिकता हो, वहाँ अर्थ-लाभ को ठुकरा देना बहुत कठिन होता है। किन्तु अनेक सदस्यो ने ऐसा किया है। उनके कुछ प्रेरणाप्रद उदाहरण अवश्य ही यहाँ प्रासगिक होगे।

क्या पूजें ?

एक व्यक्ति जब अणुव्रती बनकर अपने मालिक के यहाँ गया और उसने बहीखाते में गडबडी न करने की अपनी प्रतिज्ञा जाहिर की तो मालिक ने कहा—यदि ऐसा नही कर सकता तो क्या हम तुझे यहाँ बैठा कर पूजे ? और उसने उसे अपने यहाँ से हटा दिया। काफी समय तक उसे आर्थिक विपत्तियो का सामना करना पडा, किन्तु अब उसका कथन है कि वह विपत्ति ही उसके लिए वरदान बन गई। अब बाजार में उसकी साख बहुत ऊँची है और इस समय वह पहले से कही अधिक कमा लेता है।

नदी मे

इसी प्रकार एक औषधि-विक्रेता के यहाँ दस हजार रुपयो का मिलावटी पिपरमेंट आ गया। एक अणुव्रती होने के नाते उसने उसे नदी मे बहा दिया। यदि वह चाहता तो जैसे आया था, वैसे खपा भी सकता था। पर हजारों रुपयो का नुकसान उठाकर भी उसने ऐसा नही किया।

यह मुझे मंजूर नहीं

एक अन्य अणुव्रती ने दो सौ रुपये का अधिक इन्कमटैक्स लगा देने पर मुकदमा लडा। लोगो ने कहा—मुकदमा लडने पर तो दो सौ की जगह कही दो हजार खर्च होने की सम्भावना होती है, तब फिर ये दो सौ ही क्यो नही दे देते ? उसने कहा—दो सौ रुपये भी दूँ और चोर भी बनूँ, यह मुझे मजूर नही।

रिश्वत या जेल

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक उदाहरण सामने आये हैं जिनसे अनैतिकता का सामना करने की भावना को बढाने मे आन्दोलन की सतत जागरूकता का परिचय मिलता है। उदाहरण स्वरूप उड़ीसा प्रान्तीय काग्रेस कमेटी के सदस्य तथा ग्राम-पचायत के सदस्य एक अणुव्रती की घटना दी जा सकती है। एक बार उसके गाँव मे सवर्ण तथा असवर्ण हिन्दुओ का परस्पर झगडा हो गया था और उसमे एक ब्राह्मण-दम्पती की हत्या कर दी गई। पुलिस-अफसर ने पचायत वालो द्वारा जोर डालने पर भी, न जाने क्यो, उस मामले पर विशेष ध्यान नही दिया। उन्ही दिनों सम्बलपुर में नेहरूजी आने वाले थे। उस अवसर पर टिटलागढ सब-डिवीजन के प्रतिनिधि के रूप मे उपर्युक्त अणुव्रती भाई वहाँ काग्रेस कमेटी मे भाग लेने वाले थे। सयोगवश उन्होने पुलिस-अफसर से कह दिया कि मै यहाँ की सारी घटना सम्बलपुर कांग्रेस कमेटी मे कहूँगा। बस, फिर क्या था, पुलिस ने झूठा गवाह तैयार करके उन्हे फाँसा और हत्या मे उनका भी हाथ होने के अभियोग मे गिरफ्तार कर लिया। जब वे हिरासत मे थे, पुलिसवालो ने अपने ढग से उन्हे यह जतला दिया कि कुछ देकर वे इस झझट से बच सकते हैं। किन्तु उन्होने रिश्वत देकर छूटने से साफ इन्कार कर दिया। आखिर मुकदमा चला और सोलह महीने के बाद वे निर्दोष होकर छूटे। उनका कहना है कि राज्य की न्याय-व्यवस्था तथा पुलिस पर आक्रोश के भाव तो मन मे अवश्य उभरे; पर इस बात का सन्तोष है कि कष्ट सहकर भी रिश्वत देने की भ्रष्ट पद्धति का अवलम्बन नही लिया।

ब्लैक स्वीकार नहीं

एक व्यापारी को अपने साथी दूसरे व्यापारी के साथ प्लास्टिक-चूर्ण का एक बडा कोटा मिला हुआ था। उस समय की ब्लैक-दर से उसमे लगभग तीन लाख का मुनाफा होता था, किन्तु उस भाई को अणुव्रती होने के नाते ब्लैक करना स्वीकार नही था, अत उसे वह व्यापार ही छोड देना पडा।

गुड़ की चाय

आसाम के एक व्यवसायी अणुव्रती होने के बाद कोई भी वस्तु ब्लैक से नही खरीदते थे। ब्लैक से खरीदे बिना उस समय चीनी प्राप्त कर लेना कठिन ही नही, असम्भव-प्राय ही था, परन्तु वे अपने नियम मे पक्के रहे और गुड की चाय पीने लगे। एक बार उनके किसी सम्बन्धी के यहाँ कुछ अतिथि आये। उन अतिथियों मे एक टैक्सटाइल सुपरिण्टेण्डेण्ट भी थे। चाय-पार्टी में वह अणुव्रती भाई भी सम्मिलित हुआ। किन्तु औरो के लिए जहाँ चीनी की चाय आयी, वहाँ उसके लिए गुड की चाय मँगायी गई। अतिथि-वर्ग इस विचित्र व्यवहार से चकित हुआ। जब उन्हे कारण से अवगत किया गया तो वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होने तभी से ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उन्हे प्रति सप्ताह ढाई सेर चीनी नियन्त्रित भावो से मिलती रहे।

सत्य की शक्ति

एक सप्लाई-क्लर्क को उसके अफसर ने बुलाकर कहा—स्टाक मे सीमेण्ट कम है और माँग अधिक है। जान-पहचान के कुछ व्यक्तियो को सीमेण्ट दिलाना है, अत आप अपनी रिपोर्ट मे अन्य व्यक्तियो की दरख्वास्त पर स्टाक मे सीमेण्ट न होना लिख देना। क्लर्क ने कहा—श्रीमन्, माफ करे! मै तो गलत रिपोर्ट नही दे सकता। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न मांगे। जिन्हे दिलाना चाहे, उनकी दरख्वास्त पर आर्डर लिख दे, मैं परमिट बना दूंगा। उस अफसर पर इस बात का इतना प्रभाव पडा कि उसके द्वारा पेश किये गए कागजो पर उसके बाद बिना किसी सशय के हस्ताक्षर कर देने लगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागो के कागजात भी उसके पास भेजकर कह देते थे कि इन पर आर्डर लिख देना, मैं हस्ताक्षर कर दूंगा। इन्ही सब बातो को देखते हुए उस भाई का विश्वास है कि सत्य मे काफी शक्ति होती है। पर उसकी परीक्षा मे डटे रहना ही सबसे अधिक कठिन है।

दूकानों की पगड़ी

दिल्ली मे एक भाई ने नया मकान बनवाया। उसमे आठ दूकाने किराये पर देने को थी। शहर मे दूकानो की प्राय कमी होती है, अत लोग किराये के अतिरिक्त पगडी के रूप मे भी हजारो रुपये पहले देने को तैयार रहते है। उस भाई की दूकानो के लिए भी पाँच-पाँच हजार रुपये की पगडी देने वाले कई व्यक्ति आये। इस प्रकार अनायास ही आठ दूकानो का चालीस हजार रुपया पगडी के रूप मे मुफ्त ही मिल रहा था। परन्तु अणुव्रती होने के नाते उसने वह पैसा स्वीकार नही किया और अपनी सारी दूकाने केवल उचित किराये पर ही दे दी।

एक चुभन

एक अणुव्रती भाई की दूकान पर सेल्स-टैक्स इन्स्पेक्टर आया। उसने कुछ कपडा खरीदना चाहा। जो कपडा वह चाहता था, वह पहले ही स्टेशन मास्टर द्वारा खरीदा जा चुका था। वैसा और कपडा दूकान मे था नही। दूकानदार ने कहा—आप दूसरा जो चाहे, कपडा खरीद ले, पर यह खरीदा हुआ कपडा मै आपको कैसे दे सकता हूँ? इन्स्पेक्टर कुछ गर्म हुआ और चला गया। परन्तु उसके मन मे चुभन हो गई। एक बार सेल्स-टैक्स ऑफिसर को उस दूकानदार ने हर वर्ष की तरह अपने बहीखाते दिखाये। वह उस पर फैसला लिखने ही वाला था कि इतने मे वह इन्स्पेक्टर वहाँ आ

गया और बोला—मैं इस फर्म की इन्क्वायरी करूँगा। ऑफिसर ने कह दिया, कर लो। अब उस दूकानदार का मामला सेल्स-टैक्स ऑफिसर से हटकर इन्स्पेक्टर के हाथ मे आ गया। वह उसे आये-दिन तंग करने लगा। समय-असमय बुला लेता और तरह-तरह के प्रश्न करता रहता। वह एक प्रकार से वैर लेने की वृत्ति से काम कर रहा था। उसे फँसाने के लिए उसने उन सब तारीखो को गुप्त रूप से सगृहीत कर रखा था, जिनमे कि विभिन्न स्थानो से उसकी दूकान पर माल आया था। उसके पास इसका भी पूरा-पूरा ब्यौरा था कि म्युनिसिपल कमेटी का टरमिनल टैक्स कब दिया और कितना दिया। बहुत दिनो तक वह उसके बहीखाते भी देखता रहा। आखिर कही भी कोई पकड वाली बात हाथ न लगी। तब वह स्वय ही अपने कार्य के प्रति लज्जित हुआ। दूकानदार के प्रति उसका हृदय भी बदला। आखिर उसने अपनी इन्क्वायरी की समाप्ति इन शब्दों मे लिखकर की—"मैंने फर्म के बहीखाते बडी सावधानी से देखे हैं। इन मे कही भी गोलमाल नही मिला।"

इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण[1] हैं जो कि आन्दोलन के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के प्रति मन मे निष्ठा उत्पन्न करते है और दूसरो को यह प्रेरणा भी देते हैं कि सकल्प करने पर हर कोई वैसा बन सकता है। वस्तुत शुभ सकल्प करना इतना कठिन नही होता, जितना कि बाद मे प्रतिक्षण उस पर डटे रहना। किन्तु ऐसा किये बिना समाज मे न आध्यात्मिकता पनप सकती है और न नैतिकता। उपर्युक्त उदाहरण हरएक व्यक्ति के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं। कठिनाइयाँ पृथक्-पृथक् हो सकती है, परन्तु उन सबको हल करने का एकमात्र यही तरीका हो सकता है कि वह अपने-आपको इतना दृढ बनाये कि उस पर असत्य का नाग फन मार-मारकर भले ही मर जाये, पर उस पर उसके विष का कोई प्रभाव न हो सके।

१ इस प्रकार के अन्य बहुत से प्रेरणाप्रद सस्मरण मुनि श्री नगराजजी द्वारा 'प्रेरणा-दीप' नामक पुस्तक में संकलित किये गए हैं।

: ६ :

विहार-चर्या और जन-सम्पर्क

विहार चर्या

कार्य-कारण भाव

'विहार चरिया इसिण पसत्था' इस आगम-वाक्य मे ऋषियो की विहार-चर्या को ही प्रशस्त बताया गया है। भारतवर्ष मे प्राय हर सन्यासी के लिए यायावरता को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जीवन की गतिशीलता के साथ पैरो की गतिशीलता का अवश्य ही कोई अदृश्य सम्बन्ध रहा है। यहाँ के नीतिकारो ने देशाटन को चातुर्य का एक कारण माना है। उपनिषद्कारो ने 'चरैवेति-चरैवेति' सूत्र मे केवल भावात्मक गतिशीलता को ही नही, अपितु देशाटन—यायावरता को विभिन्न उपलब्धियो का हेतु माना है। जैन मुनियो के लिए तो यह चर्या मुनि-जीवन के साथ ही सहज स्वीकृत होती है। आज जब कि वाहनो के विकास ने क्षेत्र की दूरी को सकुचित कर दिया है, जल, स्थल और आकाश की अगम्यता धीरे-धीरे गम्यता मे परिणत हो गई है, तब भी जैनमुनि उसी प्राचीन परिपाटी के अनुसार पादचार से ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए देखे जा सकते है।

विहार-चर्या जनसम्पर्क की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गाँवो और शहरो मे हर प्रकार के व्यक्तियो तक पहुँचने के लिए एकमात्र सफल उपाय यही हो सकता है। तेज वाहनो पर चलने से वह सम्पर्क सम्भव नही हो सकता। मुनि जीवन के लिए जिस साधारणीकरण की आवश्यकता होती है वह इस चर्या के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकृत यह आदर्श अपने-आप मे जन-सम्पर्क की अद्वितीय क्षमता संजोये हुए है। विहार-चर्या और जन-सम्पर्क मे परस्पर कार्य कारण भाव का सम्बन्ध है। राजघाट पर आचार्यश्री तुलसी और विनोबाजी का मिलन हुआ। विनोबाजी ने कहा मैने भी जैन मुनियो की तरह पैदल चलने का निश्चय किया है। उनके इस कथन मे मुझे लगा कि जन-सम्पर्क के लिए विनोबाजी ने भी इसे सर्वोत्तम साधन माना है। किन्तु दोनो की स्थितियो मे अन्तर है। विनोबाजी की पद-यात्रा उनका व्रत नही है जब कि आचार्यश्री की पद-यात्रा उनका व्रत है।

प्रचण्ड जिगमिषा

यो तो प्रत्येक जैन-मुनि दीक्षा-ग्रहण के साथ ही आजीवन के लिए पद-यात्री बन जाता है, परन्तु आचार्यश्री की पद-यात्राए अपने साथ एक विशेष कार्यक्रम लिये हुए है। वे आज तक जितना घूम चुके है, उससे कही अधिक घूमना उनके लिए अवशिष्ट है। उनकी गति की त्वरता यही बतलाती है कि अभी उनके लिए बहुत काम अवशिष्ट है, शिथिल गति मे उसकी पूर्ति नही की जा सकती। वे लगभग सोलह-सत्रह हजार मील चल चुके हैं, परन्तु आज भी उनका चलने का उत्साह बिलकुल नया बना हुआ है। एक यात्रा समाप्त करते है उससे पहले ही वे अन्य यात्राओ की भूमिका बाँध लेते है। वे गुजरात मे 'बाव' गये थे, परन्तु उससे बहुत पहले वहाँ जाने की स्वीकृति दे चुके थे। मेवाड से थली मे आने से पूर्व ही वापस मेवाड और उदयपुर पहुँचने की अन्तिम तिथि का निर्धारण उन्होने कर दिया। दक्षिण-यात्रा का विचार उनके मन में एक अधूरे स्वप्न की तरह सदैव अपनी पूर्ति की माँग करता रहता है। वस्तुत यात्रा मे वे अपने-आपको अपेक्षाकृत अधिक ताजा और प्रसन्न अनुभव करते हैं। नवीनता से वे चिर-बन्धन करके आये है। एक स्थिति में या एक क्षेत्र मे

ठहरना उनके मन ने कभी स्वीकार नहीं किया है। वे गति चाहते है, अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। एक प्रचण्ड जिगमिषा उन्हें अज्ञात रूप से सतत प्रेरित करती रहती है।

शाश्वत यात्री

आठ-दस मील चलने को अब वे बहुत साधारण गिनते हैं। चौदह-पन्द्रह मील चलने पर उन्हे कही विहार करने का सन्तोष मिल पाता है। आवश्यकता होने पर बीस-बाईस मील चल लेना भी उन्हें कोई अधिक कठिन कार्य नही लगता। स० २०१३ मे सरदार शहर से दिल्ली पहुँचे तो प्राय प्रतिदिन बीस मील के लगभग चले। कलकत्ता से थली मे आये तो प्राय प्रतिदिन पन्द्रह-सोलह मील चले। बीच-बीच मे, क्वचित् उससे अधिक भी चले। उन्हे मानो गति मे थकान नही आती, स्थिति मे आती है। इस समय उनके आचार्य-काल को पच्चीस वर्ष समाप्त हो रहे हैं। उसके पूर्वार्द्ध मे वे बहुत कम घूमे। उस समय की उनकी गतिविधि केवल थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित रही। परन्तु उत्तरार्द्ध मे वे इतने घूमे कि पूर्वार्द्ध मे कम घूमने की बात अविश्वसनीय-सी बन गई।

अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना और सुदूर यात्राए प्राय साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई। राजस्थान, दिल्ली, पजाब उत्तरप्रदेश, बिहार, बगाल, मध्यभारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्त उनके चरण-स्पर्श का लाभ प्राप्त कर चुके है। भारत के अवशिष्ट प्रान्त सम्भवत उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा मे है। आगामी यात्राओं का उनका क्या कार्यक्रम है, यह तो वे ही जानें, परन्तु पिछली यात्राओ को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जन-मानस को प्रेरित करने के लिए ऐसी यात्राए बहुत ही उपयोगी होती है। उनकी यात्राओ को काल-क्रम के हिसाब से चार भागो मे बाँटा जा सकता है—दिल्ली-पजाब यात्रा, गुजरात-महाराष्ट्र-मध्यभारत यात्रा, उत्तरप्रदेश-बिहार-बगाल-यात्रा और राजस्थान-यात्रा। यद्यपि उनके इस भ्रमण के लिए 'यात्रा' शब्द उतना अनुकूल नही बैठता, क्योकि यात्री किसी एक निर्णीत स्थान से चलता है और जब पुन अपने स्थान पर पहुँच जाता है, तब उसकी एक यात्रा समाप्त मानी जाती है। परन्तु आचार्य-श्री के लिए अपना कोई स्थान नही है। यो सभी स्थानो को वे अपना ही मानते हैं, पराया उनके लिए कोई नही है। तब फिर कहाँ से यात्रा का प्रारम्भ हो और कहाँ अन्त? वे शाश्वत यात्री है और उनकी यात्रा भी शाश्वत है। वह उनके जीवन की एक अभिन्न चर्या है। इसीलिए आगम उसे 'विहार-चर्या' के नाम से पुकारते है। केवल जन-प्रचलित भाषा-प्रयोग की निकटता के लिए ही यहाँ मैंने 'यात्रा' शब्द का प्रयोग कर लिया है।

प्रथम यात्रा

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व, जब कि अध्यात्म-प्राण भारत-भूमि मे हिसा, जातीयता, कामुकता, शोषण और संग्रह आदि की प्रवृत्तियाँ जोर पकड रही थी, तब गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यो को बुलाकर कहा था—

"चरत भिक्खवे चारिकं, चरत भिक्खवे चारिकं,
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।"

अर्थात्, हे भिक्षुओ! बहुत जनो के हित और सुख के लिए लिए तुम पाद-विहार करो, पाद-विहार करो! भिक्षुओ ने पूछा—भदन्त! अज्ञात प्रदेश मे जाकर हम लोगो से क्या कहे? बुद्ध ने कहा—

पाणो न हंतब्बो,
अदिन्नं न दातव्वं,
कामेसु मुच्छा न चरितब्बा,
मूसा न भासितब्बा,
मज्जं न पातव्वं।"

अर्थात्—"प्राणियों की हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामासक्त मत बनो, मृषा मत बोलो और मद्य मत पीओ!" उन्हे इस पंचशील का सन्देश दो। अपने शास्ता की आज्ञा को शिरोधार्य कर भिक्षु चल पड़े। उस छोटी-सी

घटना ने वह विस्तार पाया कि एक दिन समस्त एशिया भू-खण्ड मे पचशील का घोष फैल गया।

अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ भी उसी प्रकार की स्थितियो मे हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत मे हिसा, जातीयता, गरीबी और शोषण आदि का दुश्चक्र बहुत तेजी से घूमने लगा। लम्बी पराधीनता के कारण जनता का चरित्र-बल शून्यता के आस-पास ही पहुंच चुका था। देश को सर्वाधिक तात्कालिक आवश्यकता चरित्र-निर्माण की थी। उस समय आचार्यश्री ने अपने शिष्यो से कहा,"साधुओ ! स्व-पर-कल्याण के लिए विहार करो और गाँवो तथा नगरो मे पहुँचकर चरित्र-उत्थान का सन्देश दो।" उन्होने उन सबको पचशील के स्थान पर पच-अणुव्रतो की व्यवस्थित रूप-रेखा दी। वे पाँच अणुव्रत ये हैं—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

उन्होने कहा—"अहिसा आदि की पूर्णता तक पहुँचना जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए और उनको अणु-रूप से प्रारम्भ कर अधिकाधिक जीवन-व्यवहार मे उतारते जाना प्रतिदिन का काम होना चाहिए। अत तुम ससार को अणु से पूर्ण की ओर बढने का सन्देश दो।" मुनिजन अपने नियामक के निर्देश को घर-घर पहुँचाने मे जुट गए। उत्तर मे शिमला से लेकर दक्षिण मे मद्रास तक तथा पूर्व बगाल से लेकर पश्चिम मे बम्बई-महाराष्ट्र तक पद यात्राओ का एक सिलसिला प्रारम्भ हो गया। अणुव्रतो के घोष से वायुमण्डल मुखरित हो उठा। जनता के सुप्त मानस मे पुन एक हलचल प्रारम्भ हुई।

आचार्यश्री स्वय भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी ऐतिहासिक पद-यात्राओ के लिए चल पडे। सरदारशहर (राजस्थान) मे अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात कर वे राजस्थान के छोटे ग्रामो मे वह सन्देश देते हुए वहाँ की राजधानी जयपुर मे आये। वहाँ अणुव्रत-आन्दोलन को प्राथमिक बल मिला। पत्र-पत्रिकाओ मे उसकी चर्चा हुई। प्रारम्भ काल था, अतः विविध सन्देहो के बादल भी घिरे। प्रकाश-किरण को सर्वथा अस्तित्वहीन कर देने का सामर्थ्य बादलो मे नही होता। वे कुछ समय के लिए उसको धूमिल या मन्थर कर सकते है,परन्तु आखिर उन्हे हटना ही पडता है। विरोधो और अवरोधो के बावजूद आन्दोलन का प्रकाश फैला। जनता आकृष्ट हुई, चारो ओर से ऐसे कार्यक्रम की आवश्यकता का महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा। आचार्यश्री को अपने कार्य की उपयोगिता पर और अधिक दृढता से विश्वास करने का अवसर मिला। वहाँ से वे आगे बढे और अलवर, भरतपुर,आगरा व मथुरा जैसे देश के प्रसिद्ध नगरो तथा मार्ग के देहातो की पद-यात्रा करते हुए भारत की राजधानी दिल्ली मे पधारे। दिल्ली मे तेरापथ के आचार्यो का यह सर्वप्रथम पदार्पण था। वहाँ उन्होने अपने प्रथम भाषण मे ही यह घोषणा की—मैं अपने सघ की शक्ति को राष्ट्र की नैतिक सेवा व नैतिक उत्थान के लिए अर्पित करने राजधानी मे आया हूं। तब उस घोषणा को कुछ ने आश्चर्य की दृष्टि से व कुछ ने उपहास और उपेक्षा की दृष्टि से देखा। दिल्ली-जैसे हलचल मे भरे और आधुनिकता मे पगे शहर के नागरिको को उस समय यह विश्वास होना भी कठिन हो रहा था कि आधुनिक साधन-सामग्री से सर्वथा विहीन यह पैदल चलने वाला व्यक्ति विश्व-हित की भावना लेकर देश को कोई सन्देश दे सकेगा ? किन्तु धीरे-धीरे उनका वह भ्रम दूर हो गया। आचार्यश्री की आवाज को वहाँ वह बल मिला जिसकी कि सारे देश तथा विदेशो मे प्रतिक्रिया हुई।

वहाँ से हरियाणा तथा पजाब के विभिन्न स्थानो पर अपना सन्देश देते हुए आचार्यश्री वर्षावास करने के लिए पुन दिल्ली आये। यह उनकी देश के चारित्रिक उत्थान के लिए की गई प्रथम यात्रा कही जा सकती है। इसमे जन-साधारण से लेकर राष्ट्र के कर्णधारो तक आपने अणुव्रत-आन्दोलन की विचार-धारा को पहुँचाया। इसी यात्रा मे उनका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य विनोबा भावे के साथ आन्दोलन तथा राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक स्थितियो के विषय मे प्रथम विचार-विमर्श हुआ। आचार्यश्री की उस प्रथम यात्रा का महत्त्व यदि अति सक्षिप्त शब्दो मे कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि उनकी उस यात्रा ने भारतीय जन-मानस को यह विश्वास करा दिया कि आध्यात्मिक दुर्भिक्षता के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे एक जीवनदायी वर-दान लेकर आये हैं।

इस यात्रा के लगभग पाँच वर्ष बाद आचार्यश्री तीसरी बार दिल्ली मे फिर गये। प्रथम यात्रा की तुलना मे उस समय बहुत बड़ा अन्तर आ गया था। पहले-पहल जहाँ आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रचण्ड विरोध सहना पड़ा

था, तरह-तरह की आशंकाओं का सामना करना पड़ा था, साम्प्रदायिक संकीर्णता, धार्मिक गुटबन्दी तथा पूंजीपतियों का राजनैतिक स्टण्ट होने के आरोप झेलने पड़े थे; वहां तीसरी बार की यात्रा में उनका आशातीत स्वागत और कल्पनातीत समर्थन किया गया। प्रथम बार ही आचार्यश्री की वाणी ने राजधानी के आध्यात्मिक व नैतिक वातावरण में एक प्रचण्ड हलचल पैदा कर दी थी। इस बार उसकी लहरें और भी अधिक प्रभावक रूप में सामने आयी। यद्यपि यह प्रवास केवल चालीस दिन का ही था, फिर भी इस थोड़े-से समय में अणुव्रतों के दिव्य रूप की जो छाप राजधानी के माध्यम से देश तथा विदेश के विचारकों पर पड़ी, वह इस यात्रा की सबसे बड़ी सफलता थी।

आचार्यश्री के उस पदार्पण का अवसर ही कुछ ऐसा था कि उस समय यूनेस्को-कान्फ्रेंस, बौद्ध गोष्ठी तथा जैन गोष्ठी आदि के सांस्कृतिक समारोहों के कारण देश-विदेश के कुछ विशिष्ट विचारक पहले से ही राजधानी में उपस्थित थे। इस स्थिति से आचार्यश्री के सन्देश को उन लोगों तक पहुंचाने के लिए अनायास ही अनुकूलता हो गई थी। लगता है, इस प्रवास के पीछे कोई सुदृढ़ आन्तरिक प्रेरणा काम कर रही थी। बाहरी प्रेरणा भी कोई कम नहीं थी। राष्ट्र की आध्यात्मिक और नैतिक स्थिति को देखते हुए देश के सभी विचारक यह अनुभव करते थे कि राष्ट्रोत्थान की अन्य योजनाओं के साथ नैतिक उत्थान का कार्य भी बहुत आवश्यक है। इसी अनुभूति ने उन सबका ध्यान आचार्यश्री और उनके आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। आचार्यश्री द्वारा अनुष्ठित नैतिक निर्माण की गूंज राजधानी में निरन्तर सुनी जाती रही। उससे उच्च राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। सम्भवतः इसीलिए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुनिश्री नगराजजी से हुई एक मुलाकात में आचार्यश्री के दिल्ली-आगमन विषयक निवेदन किया था। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्य समर्थकों और कार्यकर्ताओं की भी यह प्रबल इच्छा थी कि इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर आचार्यश्री अवश्य राजधानी आयें, क्योंकि वे वहां आयोजित होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों का लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखते थे। राजधानी के अनेक विशिष्ट नेता तथा कार्यकर्ता आचार्यश्री के सम्मुख यह अनुरोध करते रहे थे कि सं० २०१३ का वर्षाकाल वे दिल्ली में ही बितायें। किन्तु अनेक कारणों से आचार्यश्री उस अनुरोध को स्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने वह वर्षाकाल सरदारशहर में बिताया। वहां उन लोगों का यह निवेदन रहा कि वर्षाकाल-समाप्ति के तत्काल बाद यदि आचार्यश्री दिल्ली पहुंच जायें तो उन सभी सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा जन-सम्पर्क का सहज प्राप्य लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।

आचार्यश्री को उन लोगों का सुझाव उपयुक्त लगा। वे दिल्ली की तीसरी यात्रा का वातावरण बनाने लगे। उन्होंने इस विषय में मुनिजनों से आवश्यक विचार-विनिमय किया और दिल्ली-यात्रा की घोषणा कर दी। चातुर्मास समाप्त होते ही उन्होंने वहां से प्रस्थान कर दिया। आचार्यश्री ने अपने एक प्रवचन में दिल्ली-यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था—"मेरा वहां जाने का उद्देश्य देश-विदेश से आये लोगों से सम्पर्क करना और दिल्लीवासियों की प्रार्थना पूरी करना है। वहां के नेताओं का भी ख्याल है कि मेरा वहाँ जाना उपकारक हो सकता है।"[1]

आचार्यश्री को वहां जिन कार्यक्रमों में भाग लेना था, उनकी तिथियां काफी पहले से निश्चित हो चुकी थीं। उनमें परिवर्तन की गुंजायश नहीं थी। समय बहुत कम था और मार्ग बहुत लम्बा था। सरदारशहर से दिल्ली लगभग दो सौ मील है। आचार्यश्री लम्बे विहार करते हुए सिर्फ ग्यारह दिन में वहां पहुँच गए। जिस उद्देश्य को लेकर वे दिल्ली गये थे, वह आशातीत रूप से परिपूर्ण हुआ। वहां यूनेस्को के प्रतिनिधि, बौद्ध भिक्षु, देश-विदेश के विद्वान्, नैतिक व सांस्कृतिक आन्दोलनों में लगे हुए अनेक प्रचारक, राष्ट्र के धुरीण राजनीतिज्ञ आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनमें अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रांसीसी, जर्मन, जापानी, श्रीलंकावासी लोगों का सम्पर्क अपेक्षाकृत अधिक रहा। उनकी मुलाकात, जिज्ञासाएं तथा विचार-मन्थन बहुत ही रोचक रूप से चला करते थे। उनमें से कई व्यक्ति तो वहां ऐसे भी मिले जो अनन्तर रूप से परिचित तो नहीं थे, किन्तु परम्पर रूप से परिचित थे। उनमें जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जैकोबी के दो शिष्य—प्रो० ग्लासनाप और प्रो० हॉफमैन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे दिल्ली-प्रवेश के प्रथम दिन ही, जब कि आचार्यश्री वाई०

१ नव-निर्माण की पुकार, पृ० १०

एम० सी० ए० हॉल मे 'बौद्ध गोष्ठी' मे सम्मिलित होने गये, बहुत देर से बडी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते हुए मिले। उनके गुरु प्रो० हरमन जैकोबी जैनागमो के ख्यातनामा विद्वान् थे। वे जब भारत-यात्रा पर आये थे,तब लाडनूँ (राजस्थान) मे अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से मिले थे और जैनागमो की अनेक उलझी हुई समस्याओ पर विचार-विनिमय किया था। उन दोनों जर्मन प्रोफेसरो को इस बात की विशेष प्रसन्नता थी कि आचार्यश्री के गुरु और उनके गुरु का जो धार्मिक सम्पर्क हुआ था, वह आज दोनो ही ओर की अगली पीढी मे पुन नवीन हो रहा था।

वह यात्रा न केवल जन-सम्पर्क की दृष्टि से ही सम्पन्न थी, अपितु नाना आयोजनो ने भी उसके महत्त्व को बढा दिया था। अणुव्रत-सेमिनार, राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण सप्ताह, मैत्री-दिवस, चुनाव-शुद्धि प्रेरणा, सस्कृत-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी तथा विविध सस्थाओ और स्थानो पर हुए आचार्यश्री के प्रवचन मुख्यत अणुव्रत विचार-प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। अणुव्रत-सेमिनार का उद्घाटन अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातनामा विद्वान् डा० लूथर इवान्स ने, मैत्री-दिवस का उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा चरित्र-निर्माण सप्ताह का उद्घाटन प० जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

दिल्ली के वे चालीस दिन आचार्यश्री ने इतनी व्यस्तता मे बिताये थे कि उनके पास प्राय अतिरिक्त समय बच ही नही पाता था, फिर भी वे वहाँ के नागरिको की आध्यात्मिक और नैतिक भूख को पूरा नही कर सके। उन्होने मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति सरदारशहर के लिए पहले ही दे दी थी, अत उससे अधिक ठहरना वहाँ सम्भव नही था। वह स्वल्पकालीन प्रवास सभी दृष्टियो से इतना प्रभावक रहा कि सुप्रसिद्ध पत्रकार सत्यदेव विद्यालकार ने उसकी तुलना रोम-सम्राट् जूलियस सीजर की मिश्र-विजय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के शब्दो से की है। जूलियस सीजर ने अपनी बात को अति सक्षेप मे यो कहा था—"मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया।" सत्यदेवजी कहते है—"जूलियस सीजर के शब्दो को कुछ बदलकर हम आचार्यश्री की धर्म-यात्राओ का विवरण इन शब्दो मे देने का साहस कर रहे है—"वे आये, उन्होने देखा और जीत लिया।"[1]

इस यात्रा के बाद आचार्यश्री चौथी बार दिल्ली मे तब गये जब कि वे कलकत्ता से राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उस समय वे वहाँ केवल चार दिन ही ठहरे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नही था, फिर भी पत्रकार-सम्मेलन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री आदि से हुई मुलाकातो से वह अति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्त्व का हो गया। दिल्ली की वे सभी यात्राएँ अपने-अपने प्रकार का पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती हैं। इन सबमे अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

द्वितीय यात्रा

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा स० २०१० के राणावास मर्यादा-महोत्सव के बाद प्रारम्भ हुई। कुछ दिन कांठे के गाँवो मे विचरने के बाद आबू के मार्ग से वे गुजरात मे प्रविष्ट हुए। आबू मे वे रघुनाथजी के मन्दिर मे ठहरे थे। वहा से दूसरे दिन देलवाडा के प्रसिद्ध जैन मन्दिरो मे गये। प्राचीन काल के गौरव मण्डित जैन-इतिहास के साक्षी बनकर खडे ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता से मन को आकृष्ट करते है। शान्त और स्निग्ध वातावरण मे प्रशान्त मुद्रासीन मूर्तियाँ भगवान् की साधना को अनायास ही स्मृति-पटल पर ला देती है। देलवाडा मार्ग मे नही था। टेढे मार्ग से जाना पडा था, अत वापस आबू ही आ गए। आबू राजस्थानियो की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियों की ओर से किये गए स्वागत का सधि स्थल बन गया।

गुजरात मे प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज पडने लगी थी। लूए झुलसाये डालती थी, तो सूर्य की किरणों का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मजिल पर मजिल कटती गई और आचार्यश्री बाव पहुँच गए। बाव अब थराद सब डिवीजन का प्रमुख शहर है, परन्तु पहले भूतपूर्व राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति बहुत श्रद्धा रखते रहे है। दूर दूर तक आकर दर्शन भी करते हैं। पाँच-छः वर्ष पूर्व बाव के

१ नव निर्माण की पुकार, पृ० ६

श्रावकों तथा राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे, तब बाव-पदार्पण के लिए काफी प्रार्थना की थी। वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि आचार्यश्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तब यथावसर बाव भी आने का विचार रखेंगे। इतने लम्बे समय के बाद अब वह वचन पूर्ण हुआ।

वहाँ से आचार्यश्री अहमदाबाद पधार गए। वह क्षेत्र कच्छ, सौराष्ट्र तथा गुजरात—तीनों के ही लिए अनुकूल पड सकता है। अत. वर्षाकाल वही व्यतीत करने की प्रार्थना की गई, पर वह स्वीकृत नहीं हुई। सौराष्ट्र के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री ढेबर भाई की सौराष्ट्र-पदार्पण के लिए काफी आग्रह-भरी प्रार्थना थी, पर वह भी स्वीकृत नही हुई। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने मन मे जो निर्णय कर रखा था, उसी के अनुसार उन्होने सूरत की ओर प्रस्थान कर दिया।

गुजरात मे तेरापथ के प्रतिष्ठापन मे सूरत प्रमुख रूप से कार्य करने वाला क्षेत्र रहा है। धर्म-प्रसार मे जी-जान लगाने वाले सुप्रसिद्ध श्रावक मगनभाई वही के थे। वहाँ केवल तीन दिन ठहरना हुआ। शायद वहाँ और अधिक विराजते, किन्तु उस क्षेत्र की वर्षा ऋतु के क्रम को देखते हुए शीघ्र ही बम्बई पहुँच जाना आवश्यक समझा गया था। बम्बई की ओर विहार करते हुए आचार्यश्री प्रतिदिन प्राय पन्द्रह-सोलह मील चला करते, फिर भी मार्ग मे वर्षा शुरू हो गई। उससे तीव्र गर्मी से तो कुछ छुटकारा मिला, पर दूसरी अनेक दुविधाएं पैदा हो गई। वर्षा के कारण विहार का समय बिल्कुल अनिश्चित हो गया। कभी समय पर विहार हो जाता और कभी नही। मार्ग काटना था, अत कभी फिर मध्याह्न मे और कभी साय लम्बा चलना पडता। नदी-नालो से बचने के लिए रेल की पटरी का मार्ग लिया गया, किन्तु वहाँ ककरो के मारे पैर छलनी हो जाते। नीचे चलते तो वर्षा से भीगी हुई चिकनी मिट्टी पैरो मे इतनी मात्रा मे चिपट जाती कि उसका भार महसूस होने लगता। इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयो को पार करते हुए आचार्यश्री बम्बई के एक उपनगर 'बोरीवली' पहुँच गए। तब तक वे लगभग हजार मील चल चुके थे। उनकी उद्दिष्ट यात्रा का वहाँ एक भाग सम्पन्न हो गया था। इससे उनके मन मे एक सहज निश्चिन्तता का भाव उदित हुआ।

चातुर्मासिक काल से पूर्व तथा पश्चात् बम्बई के विभिन्न उपनगरो मे रहना हुआ। वर्षाकाल सिक्कानगर मे बिताया। मर्यादा-महोत्सव के लिए भी पुन सिक्कानगर आये। लगभग नौ महीने का वह प्रवास हुआ। इस प्रवास-काल के प्रारम्भिक महीनो में ज्यों-ज्यो कार्य बढा, त्यो-त्यो एक ओर तो जनता आकृष्ट हुई, पर दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों द्वारा विरोध भी हुआ। वहाँ के कुछ दैनिक पत्र ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे थे जो आचार्यश्री तथा उनके मिशन मे विरोध रखते थे। धीरे-धीरे उन लोगो को यह पता लग गया कि आचार्यश्री का विरोध कर वे जन-दृष्टि मे अपने पत्र के महत्त्व को गिरा ही रहे हैं। पिछले महीनो मे विरोध की यह तीव्रता मन्द हो गई।

मर्यादा-महोत्सव के बाद आचार्यश्री ने इस यात्रा का दूसरा चरण प्रारम्भ किया। उस समय उन्हे चौपाटी पर बिदाई दी गई। एक ओर चौपाटी का विशाल समुद्र था तथा दूसरी ओर जन-समुद्र था। उस समय दोनों ही उद्वेलित थे। एक वायु से तो दूसरा बिदाई के वातावरण से। लोकमान्य तिलक की मानवाकार पाषाण-मूर्ति उन दोनों की ही समस्याओ को समझने का प्रयत्न करती हुई-सी पास मे खडी थी। लोगो के मन मे उस समय एक ओर कृतज्ञता के भाव तथा दूसरी ओर विरह के भाव उमड रहे थे, किन्तु आचार्यश्री उन दोनो मे अलिप्त रह कर अपने पथ पर आगे बढते हुए पूना पधार गए।

पूना को दक्षिण भारत की काशी कहा जा सकता है। वहाँ सस्कृत के धुरीण विद्वान् काफी सख्या मे है। वहाँ के विद्या-व्यसनी कुछ व्यक्तियों ने तो अपना जीवन ही इस कार्य मे झोंक दिया है। आचार्यश्री के पदार्पण से वहाँ का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र मानो एक सुगन्ध से महक उठा। यद्यपि वहाँ का प्रवास-काल अति सक्षिप्त था, फिर भी स्थानीय विद्वानो से परिचय की दृष्टि से वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा।

वहाँ से महाराष्ट्र के विभिन्न गाँवों मे विहार करते हुए आचार्यश्री एलौरा तथा अजन्ता की सुप्रसिद्ध गुफाओ में भी पधारे। ये दोनों ही स्थल प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय हैं। ये गुफाए वहाँ उस पहाड को उत्कीर्ण करके ही बनायी गई हैं। वहाँ की उत्कीर्ण मूर्तियाँ बहुत ही कलापूर्ण हैं। उन्हें प्राचीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। एलौरा में जहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों ही सस्कृतियों की गुफाएं तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वहाँ अजन्ता मे केवल

बौद्ध मूर्तियाँ ही हैं। वहाँ बुद्ध की जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाए तथा जातक-कथाए आलिखित तथा उत्कीर्ण है। आलिखित चित्रो का रग बहुत प्राचीन होने पर भी नवीन-सा लगता है। कई मूर्तियाँ इस प्रकार के कौशल से उत्कीर्ण की गई हैं कि उन्हे विभिन्न तीन कोणो से देखने पर तीन विभिन्न आकृतियाँ दिखलाई पडती है। वहाँ के कई स्तम्भ ऐसे हैं कि उन्हे हाथ से बजाने पर तबले की सी ध्वनि उठती है। वहाँ मनुष्यो तथा पशुओ की तो अनेक भावपूर्ण मुद्राए अकित की ही गई है, किन्तु बेल-बूटो के भी मनोहारी दृश्य चित्रित है। अजन्ता मे जाने से पूर्व दिन की रात्रि उन्होने 'व्यू पोइण्ट' पर बिताई थी। 'व्यू पोइण्ट' उस स्थान को कहते है, जहाँ से एक अग्रेज शिकारी को अजन्ता की उन विस्मृत गुफाओ का पहले-पहल आभास मिला था।

इस प्रकार आचार्यश्री महाराष्ट्र के प्राकृतिक दृश्यो तथा जालना, भुसावल, जलगाँव, धूलिया, डोडायचा, शाहदा आदि विभिन्न शहरो मे समान आनन्द लेते हुए विचरते रहे। लोगो का अनुमान था कि वे इस यात्रा के तीसरे चरण मे बेगलौर तक पहुँच जायेगे। सम्भवत आचार्यश्री का भी कुछ-कुछ ऐसा विचार रहा हो, किन्तु परिस्थितिवशात् वैसा नही हो सका। वहाँ से वे मध्यभारत की ओर मुड गए। मालवा के विभिन्न क्षेत्रो मे विचरते हुए उन्होने अपनी यात्रा का तीसरा चरण उज्जैन मे वर्षाकालीन प्रवास के द्वारा सम्पन्न किया। उस यात्रा का अन्तिम चरण उज्जैन से गगापुर-पदार्पण था। लगभग आठ महीने तक मालवा मे विहरण हुआ। राजस्थान-प्रवेश के साथ आचार्यश्री की यह द्वितीय यात्रा सम्पन्न हुई।

तृतीय यात्रा

आचार्यश्री की तृतीय यात्रा बहुत लम्बी होने के साथ-साथ बहुत महत्त्वपूर्ण भी रही। उस यात्रा मे आचार्यश्री ने अपने कार्य-क्षेत्र के लिए नया क्षितिज खोला और नये प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण किया। भारत के सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्रान्त उत्तरप्रदेश, बिहार और बगाल—इस यात्रा के लक्ष्य थे। किसी युग मे इन प्रदेशो मे जैन श्रमणो का बडा महत्त्व रहा था। बिहार तो भगवान् महावीर का मुख्य कार्य-क्षेत्र था ही। राजगृह और वैशाली का महत्त्व उस समय केवल बिहार के लिए ही नही, अपितु सारे भारत के लिए था। आचार्यश्री ने उस यात्रा का निश्चय किया और राजस्थान की राजधानी जयपुर से विहार करते हुए उधर पधारे। पहले उत्तरप्रदेश ही मार्ग मे आया। समाचार-पत्रो द्वारा आचार्यश्री के पदार्पण का समाचार पाकर वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों की जनता अति उत्सुकता के साथ उनकी प्रतीक्षा करने लगी। जहाँ-जहाँ पदार्पण होता, वहाँ की जनता मे चेतना की एक लहर-सी दौड जाती। आचार्यश्री के पदार्पण से पूर्व मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अनेक क्षेत्रो मे रहकर एक भूमिका तैयार कर दी थी। आचार्यश्री वहाँ चरित्र-निर्माण के बीज बिखेरते जा रहे थे। जनता आचार्यश्री के चरित्रोत्थानमूलक कार्यक्रमो मे बडा रस लेती थी। अनेक स्थानो पर स्थानीय अणुव्रत समितियो का गठन हुआ। आचार्यश्री के मिशन को आगे बढाने के लिए तथा नैतिकता के पक्ष मे उत्पन्न हुए वातावरण को स्थायित्व देने के लिए प्राय सभी लोग उत्सुक थे। आचार्यश्री ग्रीष्म ऋतु मे वहाँ खूब विचरे। राजस्थान की लूओ मे पले हुए व्यक्तियो के लिए वहाँ की गरमी यद्यपि अधिक कठोर नही थी, परन्तु वहाँ की लूओ ने राजस्थान को भी पीछे छोड दिया। राजस्थान मे सम्भवत लूओ से उतने व्यक्ति नही मरते होगे जितने कि उत्तरप्रदेश और बिहार मे। वहाँ की लूओ ने एक साध्वी की बलि तो ले ही ली, पर दो-तीन साधुओ को भी एक बार तो उस किनारे के निकट तक पहुँचा ही दिया। यह दूसरी बात है कि वे बच गए। उस गरमी मे जन-कल्याण के उद्देश्य से विहार करते हुए आचार्यश्री ने अपना वर्षा-काल कानपुर मे बिताया।

उत्तरप्रदेश की राजधानी लखनऊ, विद्वत्ता और पवित्रता के लिए प्रख्यात वाराणसी तथा उद्योग-नगरी कानपुर आदि मे जहाँ महत्त्वपूर्ण जन-सम्पर्क हुआ, वहाँ छोटे-छोटे गाँवो मे भी वह कम नही हुआ। पर मानस सम्पर्क की जहाँ तक बात है, वहाँ शहरो की अपेक्षा गाँव सदैव आगे रहे है। शहरो की जनता जहाँ सभ्यता, शिष्टता और भारी-भरकम शब्दो के क्रमिक विधि-विधानो के माध्यम से बात करती है, वहाँ ग्रामीण जनता सीधे मन से ही सरल आडम्बरहीन बात करना पसन्द करती है। उनका व्यवहार यद्यपि असभ्य और अशिष्ट नही होता, परन्तु वह सभ्यता और शिष्टता की

भाषा में बँधता भी नहीं। वह कुछ अपने ही प्रकार का विलक्षण भाव होता है। उसे नजदीक से पहचानने के लिए यदि कोई शब्द प्रस्तुत करना ही हो तो उसे सहज भक्ति कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण जन अवश्य ही गरीब होते है; परन्तु सहजता और नम्रता के तो इतने धनी होते है कि उन जसा धनी शहरो मे चिराग लेकर खोजने पर भी मिलना कठिन है। आचार्यश्री के सम्पर्क में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति आते रहे है। वे उनकी प्रकृति-भिन्नता से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। दोनो की विभिन्न समस्याओ का भी उन्हे पता है। वे उन दोनो के लिए मार्ग दर्शन देते है, अत दोनो के लिए ही समान रूप से श्रद्धा-भाजन बन गए है।

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री कानपुर से चले। बगाल पहुँचने का लक्ष्य सामने था। बिहार मार्ग मे पडता था। चरण बढ चले। बिहार-भूमि में प्रविष्ट हुए। वह भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और निर्वाण-भूमि होने के साथ उनकी मुख्य तपोभूमि भी रही है। पटना, पावा, नालन्दा, राजगृह आदि ऐतिहासिक क्षेत्रो मे आचार्यश्री गये। नालन्दा मे सरकार द्वारा स्थापित 'नव नालन्दा महाविहार' एक महत्त्वपूर्ण विद्या-सस्थान है। पाली भाषा के अध्ययनार्थ यह एक तीर्थ का रूप लेता जा रहा है। नालन्दा मे बौद्ध तथा जैन विद्वानो द्वारा आचार्यश्री का बडा भावभीना स्वागत किया गया। राजगृह मे जैन सस्कृति-सम्मेलन रखा गया। उसमे अनेक विद्वानो ने भाग लिया। दोनो श्रमण-परम्पराओ के ये दोनो विभिन्न तीर्थ-स्थान परस्पर बहुत समीप है।

शहरो की स्थिति से वहाँ गाँवो की स्थिति भिन्न थी। गावो मे जैन साधुओ को बहुत कम लोग जानते हैं, प्राय नही हो जानते, अत ठहरने के लिए स्थान आदि की बडी दिक्कते रहती। डाकुओ का आतक होने के कारण कही-कही आचार्यश्री के साथ चलने वाले काफिले को भी उसी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। कही-कही पर यह भय भी स्थान देने मे बाधक बनता कि इतने व्यक्तियो को कहो भोजन कराना न पड जाये? परन्तु उन लोगो का वह भय तब निर्मूल सिद्ध हो जाता, जब कि आचार्यश्री के साथ चलने वाले गृहस्थ अपना भोजन स्वय पकाते। उन लोगो का गाँव पर किसी प्रकार का कोई भार नही होता। रात को आचार्यश्री उपदेश देते, भजन सुनाते, सत्य की प्रेरणा देते और दुर्व्यसन छोडने को उत्साहित करते। लोगो का तब सारा भ्रम दूर हो जाता। बाद मे उन्हे अपने व्यवहार पर पछतावा होता। जो लोग पहले दिन स्थान देना तक नही चाहते, वे ही दूसरे दिन अधिक ठहरने का आग्रह करने लगते।

बिहार को पार कर आचार्यश्री बगाल मे प्रविष्ट हुए। सैंथिया मे मर्यादा-महोत्सव मनाया। वहाँ से कलकत्ता पधार गए। वहाँ राजस्थान के जैन बहुत बडी सख्या मे रहते हैं। उनमे अधिकाश आचार्यश्री को बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। वहाँ के काफी लोग ठेठ कानपुर से ही आचार्यश्री के साथ थे। कलकत्ता पहुँचने पर कुछ दिनो तक विभिन्न उपनगरो मे रहे और बाद मे वर्षा-काल व्यतीत करने के लिए बडाबाजार एरिया मे आ गए। तेरापथी महासभा-भवन म ठहरे। प्रवचन वहाँ से कुछ ही दूर बनाये गए विशाल अणुव्रत-पण्डाल मे हुआ करता था। प्रति दिन के प्रवचन मे उपस्थिति प्राय सात-आठ हजार व्यक्तियो की हो जाया करती थी। रविवार को इससे भी अधिक होती थी। कलकत्ता जैसे व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र में आर्थिक विषय के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय मे अधिक उत्साह कम ही देखने को मिलता है। वहाँ वह पर्याप्त देखा जा सकता था। जन-जागृतिमूलक कार्य भी वहाँ बडे उत्साह से सम्पन्न किये जाते रहे। वहाँ के निम्न वर्ग से लेकर आभिजात्य वर्ग तक के लोग आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। जन-सम्पर्क तथा उससे मिलने वाले श्रेयोभाग ने अनेक व्यक्तियो को ईर्ष्यालु भी बनाया। ऐसे व्यक्तियों ने अपनी शक्ति का उपयोग आचार्यश्री के विरुद्ध वातावरण बनाने मे किया। परन्तु इससे आचार्यश्री क्यों घबराते! वे अपना काम करते रहे और आचार्यश्री अपना।

चातुर्मास-समाप्ति के बाद वहाँ से वापस चले, तो बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली होते हुए हाँसी मे आकर उन्होंने मर्यादा-महोत्सव किया। वही उस प्रलम्ब यात्रा की समाप्ति समझी जा सकती है।

चतुर्थ यात्रा

इन विशिष्ट यात्राओ के अतिरिक्त आचार्यश्री ने जो परिव्रजन किया है, उसे मैने चतुर्थ यात्रा के रूप मे मान लिया है। उपर्युक्त तीनों यात्राओं से पूर्व आचार्यश्री लगभग बारह वर्ष तक राजस्थान के बीकानेर डिवीजन मे विचरते

रहे। वह समय उन्होंने मुख्यत संघ के विद्या-विकास पर ही लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी हर एक यात्रा राजस्थान से ही प्रारम्भ की है, अत एक यात्रा से दूसरी यात्रा का अन्तर्-काल राजस्थान के विहार का ही काल रहा है। काल-व्यवधान को गौण रखकर यहाँ उनकी इस यात्रा को एक रूप मे ही देखा गया है।

राजस्थान को प्रकृति ने विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। कही वह बालुका-प्रधान है, कही पर्वत-प्रधान और कही समतल। कही ऐसा रेगिस्तान है कि हरियाली देखने को भी कठिनता से ही मिलती है, तो कही खूब हरा-भरा भी है। आचार्यश्री का पाद-विहार वहाँ के बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर और जयपुर डिवीजनो मे ही बहुधा होता रहा है। इस प्रकार उनकी यात्रा का स्रोत अजस्र चालू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त मे वे उसी सहज भाव से जाते-आते रहते है, जैसे कि कोई व्यक्ति अपने मकान के एक कमरे से दूसरे कमरे मे जाना-आता रहता है। कोई दिक्कत, अनभावन या परायापन नही। कोई थकान नही, तो कोई समाप्ति भी नही।

जन-सम्पर्क

आचार्यश्री का जनसम्पर्क बहुत व्यापक है। 'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ'—अर्थात् "किसी बड़े आदमी को जो मार्ग बतलाये वही एक गरीब आदमी को भी।" इस आगम वाक्य को वे अपना प्रकाश-स्तम्भ बनाकर चलते है। आध्यात्मिकता और नैतिकता के मार्ग का लक्ष्य सभी के लिए एक है। कौन कितना अपना सकता है या किसको कितनी साधना की आवश्यकता है, यह अवश्य व्यक्तिगत स्थितियो पर निर्भर कर सकता है। आचार्यश्री के सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो की विभिन्न स्थितियो के आधार पर मैने उनके जन-सम्पर्क को तीन भागो मे बाट दिया है—१. साधारण जन-सम्पर्क, २. विशिष्ट जन-सम्पर्क और ३ प्रश्नोत्तर। 'साधारण जन-सम्पर्क' से मेरा तात्पर्य रहा है—बहुधा सम्पर्क मे आते रहने वाले जन-समुदाय का सम्पर्क। इसी प्रकार 'विशिष्ट जन-सम्पर्क' से तात्पर्य रहा है—जिनका समाज मे विशिष्ट स्थान है और जो क्वचित् ही सम्पर्क मे आ सकते है। 'प्रश्नोत्तरो' मे देशी-विदेशी जिज्ञासुओ के प्रत्यक्ष या पत्रादि के माध्यम से किये गए प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर है।

साधारण जन-सम्पर्क

आदिवासी से लेकर राजनेता तक उनके सम्पर्क मे आते है, अपनी बात कहते है और मार्ग-दर्शन भी पाते है। पारिवारिक कलह से लेकर सामाजिक कलह तक की बाते उनके सामने आती है। न्यायालयो मे वर्षों तक जो कलह नही निपटते वे कुछ ही समय मे आचार्यश्री के मार्ग दर्शन से निपटते देखे गए है। कही न भी निपटे, तो आचार्यश्री को उसका कोई क्षोभ नही होता; कलह-निवारण का प्रयास करना वे अपना कर्तव्य मानते है। फैसला हो जाये तो उन्हे उन लोगो से कोई पारिश्रमिक या भेट लेनी नही है और न हो तो उनके पास से कुछ जाता नही है। निष्काम वृत्ति से जितना होता है या किया जा सकता है, उसी मे वे आत्म-तुष्टि का अनुभव करते है। यहाँ उनके साधारण जन-सम्पर्क की कुछ घटनाए उद्धृत की जाती है।

एक पुकार

मेवाड मे भील जाति के लोग काफी बडी सख्या मे रहते है। वे अपने-आपको भील के स्थान पर 'गमेती' कहना अधिक पसन्द करते है। मेवाड के महाजनो ने उन गरीब तथा भोले लोगो को कर्ज आदि से काफी दबा रखा है। तरह-तरह से वे लोग उन पर अन्याय भी करते रहते है। आचार्यश्री जब स० २०१७ मे मेवाड गये, तब 'रावलिया' के आस-पास के गमेतियो ने अपनी दशा को आचार्यश्री के सम्मुख रखा था। वे अपनी दशा और महाजनो के अत्याचारो के विषय मे चार पृष्ठ का एक पत्र भी लिखकर लाये थे। उसे उन्होने प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उस विषय मे महाजनो को कहा भी तथा कुछ सन्तो को एतद्विषयक दोनो पक्षो की पूरी जानकारी के लिए वहाँ छोडा भी। उस पत्र के कुछ अश

इस प्रकार हैं —"श्री श्री १००८ श्री श्री श्री माराज धरमीराजजी श्री पुजनीक माराज, थना री धरती वाला माराजजी पुजजी माराज से दुका (दुखियो) की पुकार—

तरत फैसला, अदल नाव माराज पुजनीकजी कर सकेगा, गरीब जाति रो हेलो जरूर सुणेगा, यचाव (हिसाब) नो लेगा। धरमराज से भरोसो है। गमेती जनता री हाथ जोड कर के अरज है के मारी गरीब जानी बोत दुखी है कुछ महाजनो के नाम देकर आगे लिखा है —फरजी जुटा-जुटा खत मांड कर गरीबां रे पास से जमी ने लीदी है और गायां, भेंसा बकरयां बी ले लीदी हैं। बडा भारी जुलम कीदा है, जुटा-जुटा दावा करके कुरकी करावे ने जोर-जबरदस्ती करने वसूली करे है। गरीबां ने ५ रुपया देने ५०० रुपया रा खत मांडे। सो मारा सब पसा (पचो) री राय है, के जलदी सूं जलदी पद मँगाकर देकाया जावे, जलदी सूं जलदी फैसला दिया जावे।

द० दलीग, सब जन्ता (जनता) रा केवा सूं
(२०१७ जेठ सुद सातम)।"[1]

इस पत्र का भावार्थ है—आचार्यश्री से दुखियो की पुकार—"हमे विश्वास है कि आप हम गरीबो की पुकार अवश्य सुनेगे, शीघ्र फैसला कर हमे उचित न्याय दे सकेंगे। गमेती जनता बहुत दुखी है। अमुक-अमुक व्यक्तियों ने झूठे खत लिखकर हमारे खेत ले लिये है, पशु भी ले लिये है, झूठे दावे करके कुर्की करायी जाती है और फिर बलात्कार से उसको वसूला जाता है। पाँच रुपये देकर पाँच सौ लिखा लिये जाते है, अत हमारे पचो की राय है कि आप हमारा फैसला कर।"

हस्ताक्षर 'दलीग', सब जनता के कहने से
(स० २०१७, ज्येष्ठ शुक्ला ७)"

हरिजनों का पत्र

मारवाड के काणाना नामक गाँव मे मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र आचार्यश्री के चरणो मे प्रस्तुत किया गया। उसमे कुछ महाजनो के व्यक्तिगत नाम लिख कर अपनी पुकार की थी। उस पत्र के कुछ अश इस प्रकार है—"हम मेघवश सूत्रकार जाति जन्म से यही के निवासी है। यहां के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादती करते है। अत उन्हे समझाया जाये। वे लोग बेईमानी कर हमे हर समय दुःख देते है। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकने है।

साथ ही इतनी छुआछूत रखते है कि हमे दूकानो पर चढने तक का अधिकार नहीं। क्या हम मानव-पुत्र नही है ?

आपके उपदेश बडे हितकार व मानव-कल्याणमूलक है। हम आपके उपदेशो पर चलेंगे और आपके अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों की कभी भी अवहेलना नही करेंगे।

हम है आपके विश्वास-पात्र
मेघवशी समाज (काणाना)"[2]

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान मे जिक्र किया और यह प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन मे धोखा, अधिक व्याज और झूठे मुकदमे भी तुम लोगों के लिए अशोभनीय है। उस व्याख्यान का लोगो पर अच्छा असर रहा। अनेक व्यक्तियो ने अपने-आपको उन दुर्गुणो से बचाने का सकल्प किया।

छात्रों का अनशन

काणाना के महाजनों मे भी परस्पर झगडा था। वर्षों से वे दो गुटो मे विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ, तब स्थानीय छात्रो ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गाँव की इस दलबन्दी को तोडना चाहते थे। लगभग

१ जैन भारती, ९ अक्टूबर '६०
२ जैन भारती, २३ अप्रैल '६१

सवा सौ छात्र एकत्रित होकर एकता-सम्बन्धी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास आये। उन्होने आचार्यश्री से निवेदन किया कि जब तक पच मिलकर फैसला नही कर लेंगे, तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि तब तक के लिए अपना व्याख्यान स्थगित रखें। उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नही किया। अनेक वर्षों बाद आचार्यश्री आये और वे प्रवचन भी न करें, यह बात सभी को अखरी। आखिर दोनो पक्षों के व्यक्ति मिले और शीघ्र ही समझौता हो गया। गाव मे पड़े दो तड मिट गए।

नाना का दोष

रावलिया मे शोभालाल नामक एक चौदह वर्षीय बालक ने आचार्यश्री के हाथ मे एक चिट्ठी दी।

आचार्यश्री ने पूछा—क्या है इसमे ?

उसने कहा—गुरुदेव! मेरे नाना और गाँव वालो मे परस्पर कलह चलता है। इस पत्र मे उसे मिटाने की आपसे प्रार्थना की गई है।

आचार्यश्री ने चिट्ठी पढी और उस बालक से ही पूछा—तुझे इसमे किसका दोष मालूम देता है ?

बालक ने कहा—अधिक दोष तो मेरे नाना का ही लगता है।

आचार्यश्री ने उसके नाना से कुछ बातचीत की और उसे समझाया। फलस्वरूप उसी रात्रि को वह झगडा मिट गया। प्रात आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना कर ली गई। जो व्यक्ति समूचे गाँव और पचो की बात ठुकरा चुका था, आचार्यश्री की कुछ प्रेरणा पाकर सरल बन गया।

एक सामाजिक विग्रह

कुछ समय पूर्व थली के ओसवालो मे 'देशी-विलायती' का एक समाज-व्यापी विग्रह उत्पन्न हो गया। वह अनेक वर्षों तक चलता रहा। उसमे समाज को अनेक हानियाँ उठानी पडी। एक प्रकार से उस समय समाज की सारी शृखला ही टूट गई थी। धीरे-धीरे वर्षों बाद उसका उपरितन रोष और विवाद तो ठडा पड गया किन्तु उसकी जड नही गई। सामूहिक भोज आदि के अवसर पर उसमे अनेक बार नये अकुर फूटते रहते थे। आखिर स० १९९९ के चूरू-चातुर्मास मे आचार्यश्री ने लोगो को एतद्विषयक प्रेरणा दी। दोनो ही दलो के व्यक्तियो को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से समझाया। आखिर अनेक दिनो के प्रयास के बाद उन लोगो ने समझौता किया और आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमायाचना की। यह विग्रह चूरू से ही प्रारम्भ होकर समग्र थली मे फैला था और सयोगवशात् चूरू मे ही उसकी अन्त्येष्टि भी हुई।

ऐसे उदाहरण यह बतलाते है कि विभिन्न समाजो के व्यक्तियो पर आचार्यश्री का कितना प्रभाव है और वे सब उनके वचनो का कितना आदर करते है। अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कलह को इस प्रकार उपदेश-मात्र मे मिटा लेना आचार्यश्री के प्रति रही हुई श्रद्धा और विश्वास उनके नैरन्तरिक सम्पर्क मे ही उद्भूत हुआ मानना चाहिए।

विशिष्ट जन-सम्पर्क

आचार्यश्री का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियो मे भी। वे धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक दलबन्दी को प्रश्रय नही देते, पर परिचित सभी से रहना अभीष्ट समझते है। समाज तथा राष्ट्र के वर्तमान नेतृ-वर्ग से भी उनका प्रगाढ परिचय है। साहित्यकारो तथा पत्रकारो से भी बहुधा मानवीय समस्याओ पर विचार-विमर्श करते रहते है। वे चिन्तन के आदान-प्रदान मे विश्वास करते है, अत अनुकूल-प्रतिकूल बातो को सामरस्य से सुन लेने के अभ्यस्त है। दूसरो के सुझावो मे से ग्राह्य तत्त्व को वे बहुत शीघ्रता से पकडते है। वे जिस रसानुभूति के साथ राजनीतिज्ञो से बाते करते है, उतनी ही तीव्र रसानुभूति के साथ किसी साधारण गृहस्थ से। उनको जितना सहयोग मिला है, उससे कही अधिक उनकी आलोचनाए हुई है, फिर भी उनके सामर्थ्य ने कभी धैर्य नही खोया। तभी तो आलोचको की सख्या घटती गई है और समर्थको की बढती गई है। जो व्यक्ति प्रथम सम्पर्क मे उनसे बहुत दूरी का अनुभव करते थे,

वे ही धीरे-धीरे अति निकट आ गए। सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी अपनी प्रथम भेंट के विषय में लिखते है, "पहली भेंट मैं व्यक्ति से नही पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए।" किन्तु वे ही अपनी दूसरी भेंट के विषय मे लिखते है, "उस दिन से मै तुलसीजी के प्रति अपने मे आकर्षण अनुभव करता हूँ और उनके प्रति सराहना के भाव रखता हूँ। ' उस परिचय को मैं अपना सद्भाग्य गिनता हूँ।" इसी प्रकार आचार्य कृपलानी मे भी प्रथम परिचय अत्यन्त नीरस रहा था। स० २००४ मे, जब वे काग्रेस के अध्यक्ष थे, किसी कार्यवश फतहपुर आये थे। कुछ व्यक्तियो की इच्छा रही कि आचार्यश्री से कृपलानीजी का सम्पर्क हो सके तो अच्छा रहे। वे लोग फतहपुर गये और उन्हे रतनगढ़ ले आये। वे आचार्यश्री के पास आये तो सही, पर न आचार्यश्री उनकी प्रकृति से परिचित थे और न वे आचार्यश्री की प्रकृति से। जब उन्हे सघ का परिचय दिया जाने लगा तो वे बोले, "मैने तो अपना गुरु गाधी को मान लिया है, अब आप मुझे क्या समझायेगे ?" और दूसरी बात चले, उससे पूर्व ही उन्होंने यह भी कह दिया कि मैं तो सुनने के लिए नही, किन्तु सुनाने के लिए आया हूँ। वे लगभग दस मिनट ठहरे होगे, किन्तु किसी पूर्व-आग्रह से भरे होने के कारण बातचीत के क्रम मे कोई सरसता नही आ सकी। वे ही कृपलानीजी जब स० २०१३ मे दिल्ली मे दुबारा मिले, तब वह तनाव तो था ही नही, अपितु अत्यन्त सौजन्य ने उसका स्थान ले लिया था। अणुव्रत-गोष्ठी मे भी उन्होंने भाग लिया और बहुत सुन्दर बोले। उसके बाद सुचेताजी के साथ जब वे आचार्यश्री से मिले तो ऐसा लगा, "मानो प्रथम भेंट वाले कृपलानी कोई दूसरे थे। आचार्यश्री ने जब प्रथम भेट की याद दिलायी तो वे हँस पडे।

दूरी व्यक्ति से पीछे होती है, पहले मन से होती है। अविश्वास या घृणा उसका माध्यम बनती है। जो न घृणा करता हो और न अविश्वास, वही उस खाई की दूरी को पाट सकता है। आचार्यश्री ने उसे पाटा है। वे किसी को अपने मे दूर नही मानते, किसी से घृणा नही करते और सभी का विश्वास खुलकर लेते है तथा देते है। विचार और विश्वास के आदान-प्रदान की कृपणता उन्हे प्रिय नही। इसीलिए उनके सम्पर्क का दायरा तथा उसकी गहराई निरन्तर बढती ही जा रही है। जितने व्यक्तियो से उनका सम्पर्क हुआ है, उसका विवरण बहुत बडा है। उन सब का नामोल्लेख कर पाना सम्भव नही है, फिर भी दिग्दर्शन के रूप मे कुछ व्यक्तियो का सम्पर्क-प्रसग यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्यश्री और राष्ट्रपति

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति है। उनकी विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा जितनी महान् है, वे उतने ही नम्र हैं। आचार्यश्री के प्रति उनके मन मे बहुत आदरभाव है। वे पहले-पहल जयपुर मे आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये थे। उस समय वे भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। उसके बाद वह सिलसिला चालू रहा और अनेक बार सम्पर्क तथा विचार-विमर्श करने का अवसर प्राप्त होता रहा। वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रबल प्रशसक रहे है। वे इसे एक समयोपयुक्त योजना मानते हैं और इसका प्रसार चाहते हैं। आचार्यश्री के सान्निध्य मे मनाये गए प्रथम मैत्री-दिवस का उद्घाटन करते हुए उन्होने कहा था कि आप यदि अणुव्रत-आन्दोलन मे मुझे कोई पद देना चाहे तो मैं समर्थक का पद लेना चाहूँगा।

राष्ट्रपतिजी का आचार्यश्री से अनेक बार और अनेक विषयो पर वार्तालाप होता रहा है। उसमे से कुछ वार्ता-प्रसग यहाँ दिये जाते हैं :

"राजेन्द्रबाबू—इस समय देश को नैतिकता की सबसे बडी आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के बाद भी यदि नैतिक स्तर नहीं उठ पाया तो यह देश के लिए बड़े खतरे की बात है।

आचार्यश्री—इस क्षेत्र मे सबको सहयोगी बनकर काम करने की आवश्यकता है। यदि सब एक होकर जुट जाये तो यह कोई कठिन काम नही है।

राजेन्द्रबाबू—राजनैतिक नेताओं की बात आप छोड़िये। उनमे परस्पर बहुत विचार-भेद तथा बुद्धि-भेद है। इस वस्तु-स्थिति के अन्दर रहकर इसे किस तरह संभाला जाये, यह विचारणीय है।

आचार्यश्री—जो नेता-जन आध्यात्मिकता मे विश्वास करते हैं, वे सब सहयोग-भाव से इस कार्य मे लग सकते हैं।

राजेन्द्रबाबू—सर्वोदय समाज की भी इन कार्यों मे रुचि है, अत आपका उससे सम्पर्क हो सके, तो ठीक रहे।

आचार्यश्री—सबके उदय के लिए सब के सहयोग की आवश्यकता है। मै ऐसे किसी भी सम्पर्क का प्रशसक हूँ।"[1]

आचार्यश्री और उपराष्ट्रपति राधाकृष्णन्

उपराष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आचार्यश्री तथा उनके कार्यक्रमो मे अच्छी रुचि रखते है। स० २०१३ मे जब आचार्यश्री दिल्ली पधारे, तब उनसे मिले थे। वे अणुव्रत-गोष्ठी मे भाग लेने वाले थे, किन्तु पत्नी का देहावसान हो जाने से नही आ सके थे। जब आचार्यश्री उनकी कोठी पर पधारे, तब वार्ताक्रम मे उन्होने कहा भी था कि मै किसी भी कार्यक्रम मे सम्मिलित नही हो सका।

उसके बाद आचार्यश्री के साथ उनका अनेक विषयो पर महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हुआ। उसके कुछ अश इस प्रकार है:

"डा० राधाकृष्णन्—जैन-मन्दिर मे हरिजन-प्रवेश के विषय मे आपका क्या अभिमत है?

आचार्यश्री—जहाँ धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके, वह क्या मन्दिर है? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोकना, मैं धर्म मे बाधा डालना मानता हूँ। वैसे हम तो अमूर्तिपूजक है। जैनो मे मुख्य दो परम्पराएं है—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनो ही परम्पराओ मे दो प्रकार के सम्प्रदाय है—एक अमूर्तिपूजक और दूसरा मूर्ति-पूजक। जैन सम्प्रदायों मे मूर्तिपूजा के विषय मे मौलिक दृष्टि से प्राय सभी एकमत है। कुछ एक प्रसगो को लेकर थोड़ा पार्थक्य है, जो अधिकाश बाह्य व्यवहारो का है, और क्रमश कम होता जा रहा है। अभी जैन-सेमिनार मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो के साधुओ ने भाग लिया। वहाँ मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप मे निमत्रित किया गया था और अच्छा सहिष्णुता का वातावरण वहाँ था।

डा० राधाकृष्णन्—समन्वय का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। आज के समय की यह सबसे बड़ी मांग है और इसी के सहारे बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं।

आचार्यश्री—आपका पहले राजदूत के रूप मे और अब उपराष्ट्रपति के रूप म राजनीति मे प्रवेश हमे कुछ अटपटा-सा लगा था कि एक दार्शनिक किधर जा रहे है, पर अब आपकी सास्कृतिक रुचियो और अन्य कामो को देखकर लगा कि यह तो एक प्राचीन प्रणाली का निर्वाह हो रहा है। वर्तमान की जो राजनीति है, उसमे कोई विचारक ही सुधार कर सकता है और उसे एक नया मोड दे सकता है, क्योंकि उसके पास सोचने का नया तरीका होता है और नया चिन्तन होता है। वह जहाँ भी जाता है, सुधार का काम शुरू कर देता है।

डा० राधाकृष्णन्—आज द्रव्य-हिसा का तो फिर भी कुछ अशो मे निषेध हो रहा है, पर भाव-हिसा का प्रभाव तो और भी जोरो से चल रहा है। इसके निषेध के लिए कुछ अवश्य होना चाहिए।

आचार्यश्री—हाँ, अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा मे सक्रिय है।

डा० राधाकृष्णन्—मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो असर होता है, वह उपदेश या बोध से नहीं होता। इसलिए आप जो काम करते है, उसका जनता पर स्वत सुन्दर प्रभाव होता है। क्योंकि आपका जीवन उसके अनुरूप है।"[2]

आचार्यश्री और प्रधानमन्त्री नेहरू

आचार्यश्री का पडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक बार विचार-विमर्षण हुआ है। प्रथम बार का मिलन स० २००८ मे हुआ था। उसमे आचार्यश्री ने उन्हें अणुव्रत-आन्दोलन से परिचित कराया था। उस समय वे प्राय सुनते

१ वार्तालाप-विवरण
२ नव-निर्माण की पुकार

ही अधिक रहे, परन्तु दूसरी बार जब सं० २०१३ में मिलना हुआ तो काफी खुलकर बातें हुईं। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था, "मैं चाहता हूँ आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।" वस्तुतः वह बातचीत खुले दिमाग से हुई और परिणामदायक हुई।

आचार्यश्री ने बात का सिलसिला प्रारम्भ करते हुए कहा, "हम जानते हैं कि गांधीजी व आप लोगों के प्रयत्नों से भारत को आजादी मिली; पर आज देश की क्या स्थिति है! चरित्र गिरता जा रहा है। कुछेक व्यक्तियों को छोड़कर देश का चित्र खींचा जाये तो वह स्वस्थ नहीं होगा। यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा? बात ठीक है, पर किया क्या जाये! कोरी बातों से चरित्र उन्नत नहीं होगा। लोगों को कुछ काम दिया जाए, तब वह होगा। काम से मेरा मतलब बेकारी मिटाने का नहीं है। काम से मेरा मतलब है, चरित्र-सम्बन्धी कोई काम दिया जाये। यही मैं चाहता हूँ। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। हम छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं। पाँच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि बतायी थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नहीं दिया। सहयोग से मतलब हमें पैसा नहीं लेना है। यह आर्थिक आन्दोलन नहीं है।

पं० नेहरू—मैं जानता हूँ, आपको पैसा नहीं चाहिए।

आचार्यश्री—इस आन्दोलन को मैं राजनीति से भी जोड़ना नहीं चाहता।

पं० नेहरू—मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से ओत-प्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा?

आचार्यश्री—जैसे आप राजनैतिक हैं, वैसे स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं। हम आपके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का उपयोग चाहते हैं, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नहीं। पहली मुलाकात में आपने कहा था कि मैं उसे पढ़ूँगा, पता नहीं, आपने पढ़ा या नहीं।

पं० नेहरू—मैंने यह पुस्तक (अणुव्रत-आन्दोलन) पढ़ी है, पर मैं बहुत व्यस्त हूँ। आन्दोलन के बारे में मैं कह सकता हूँ।

आचार्यश्री—आपने कभी कहा तो नहीं, क्या आप इस आन्दोलन की उपयोगिता नहीं समझते?

पं० नेहरू—यह कैसे हो सकता है!

आचार्यश्री—हमारे सैकड़ों साधु-साध्वियाँ चरित्र-विकास के कार्य में संलग्न हैं। उनका आध्यात्मिक क्षेत्र में यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

पं० नेहरू—क्या 'भारत साधु समाज' से आप परिचित हैं?

आचार्यश्री—जिस भारत सेवक समाज के आप अध्यक्ष हैं, उसमें जो सम्बन्धित है, वही तो?

पं० नेहरू—हाँ, भारत सेवक समाज का मैं अध्यक्ष हूँ। यह राजनैतिक संस्था नहीं है। उसी से सम्बन्धित यह 'भारत साधु समाज' है। आप श्री गुलजारीलाल नन्दा से मिले हैं?

आचार्यश्री—पाँच वर्ष पहले मिलना हुआ था। भारत साधु समाज से मेरा सम्बन्ध नहीं है। जब तक साधु लोग मठों और पैसों का मोह नहीं छोड़ते, तब तक वे सफल नहीं हो सकते।

पं० नेहरू—साधुओं ने धन का मोह तो नहीं छोड़ा है। मैंने नन्दाजी से कहा भी था, तुम यह बना तो रहे हो, पर इसमें खतरा है।

आचार्यश्री—जो मैं सोच रहा हूँ, वही आप सोच रहे हैं। अब आप ही कहिये, उनसे हमारा सम्बन्ध कैसे हो?

पं० नेहरू—उनसे आपको सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता भी नहीं है। साधु-समाज अगर काम करे तो अच्छा हो सकता है, ऐसी मेरी धारणा है। पर काम होना कठिन हो रहा है।

वार्तालाप की समाप्ति पर पंडितजी ने कहा—आन्दोलन की गतिविधियों को मैं जानता रहूँ, ऐसा हो तो बहुत अच्छा रहे। आप नन्दाजी से चर्चा करते रहिये। मुझे उनके द्वारा जानकारी मिलती रहेगी। उसमें मेरी पूरी दिलचस्पी है?"[1]

---

1 नव-निर्माण की पुकार

आचार्यश्री और अशोक मेहता

समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ६ दिसम्बर, १९५६ को प्रात कालीन व्याख्यान के बाद आये। आचार्यश्री से विचार-विनिमय के प्रसग मे जो बाते चली, उनमे से कुछ इस प्रकार है

"श्री मेहता —अणुव्रती व्रत लेते है, वे उनका पालन करते है या नही, इसका आपको क्या पता रहता है ?

आचार्यश्री—प्रति वर्ष होने वाले अणुव्रत-अधिवेशन मे परिषद् के बीच अणुव्रती अपनी छोटी-छोटी गलतियो का भी प्रायश्चित्त करते है। इससे पता चलता है, वे व्रत-पालन की दिशा मे कितने सावधान है। कई लोग वापस हट भी जाते है। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते है, वे उन्हे दृढता से पालते है। अणुव्रतियो मे अधिकाश जो हमारे सम्पर्क मे आते रहते है, उनकी सार-सम्हाल तो मै और सौ-सवा सौ जगह घूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते है। कठिनाइयों के कारण अगर कोई व्रत नही निभा सकता, तो उसे अलग कर दिया जाता है। और ऐसा हुआ भी है। इस पर से खरे उतरने वाले अणुव्रतियो का भाग नब्बे प्रतिशत रहता है।

हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे है, उसमे हमे सभी लोगो के सहयोग की अपेक्षा है। स्वयं-धर्म के सहयोग की हमे अपेक्षा नही है। हम चाहते है कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने आयोजनो मे इसकी चर्चा करते रहे, तो इससे आन्दोलन गति पकड सकता है। अत हम आप से भी चाहेगे कि आप हमे इस प्रकार का सहयोग दे।

श्री मेहता—उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नही, क्योकि हम लोग राजनैतिक व्यक्ति है। राजनीति मे जिस प्रकार हम ने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमे उसके सम्बन्ध मे कहने का अधिकार है। पर धर्म या यह उपदेश नही कर सकते और करना भी नही चाहिए। वैसे तो मै कभी-कभी इसकी चर्चा करता हू और आगे भी करता रहूँगा।

चुनाव के सम्बन्ध मे किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हे उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा—मै तो अभी यहा रहने वाला हूँ नही। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्यक्रम मे जरूर भाग लेगे। पर काम केवल घोषणा से नही होने वाला है। इसके लिए तो खडे होने वाले उम्मीदवारो और विशेषत जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अत आप जनता मे भी कार्य करे।

आचार्यश्री—जनता मे हमारा प्रयास चालू है। इसको हम उम्मीदवारो मे भी शुरू करना चाहते है।"[1]

आचार्यश्री और सन्त विनोबा भावे

आचार्यश्री ने स० २००८ का वर्षाकाल दिल्ली मे बिताया था। उसके पूर्ण होने ही उन्हे वहा से अन्यत्र विहार करना था। कुछ दिन पूर्व राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसग मे आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन मे ही दिल्ली पहुँचने वाले है। राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से अवश्य मिले। आचार्यश्री स्वय भी उनसे विचार-विनिमय करना चाहते थे। विनोबाजी आये, उधर चातुर्मास समाप्त हुआ। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ। आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए। गाधी-समाधि के पास बैठकर बातचीत प्रारम्भ हुई। उसके कुछ अश यहाँ दिये जाते है

"सन्त विनोबा—श्रमण-परम्परा मे तो पद-यात्रा सदा से चलती ही है, अब मैने भी आपकी उस वृत्ति को ले लिया है।

आचार्यश्री—लोग मुझसे पूछा करते है कि आज के युग मे आप पैदल यात्रा क्यों अपनाये हुए है ? वायुयान या मोटर से जितना शीघ्र अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचा जा सकता है, वहाँ पैदल चलकर पहुँचने मे समय का बहुत अपव्यय होता है। मैं उन्हे कहा करता हूँ कि भारत की जनता ग्रामो मे बसती है और उससे सम्पर्क करने के लिए पद-यात्रा बहुत

१ नव-निर्माण की पुकार

उपयोगी है। आपका ध्यान भी इधर गया है, यह प्रसन्नता की बात है। अब यदि किसी कांग्रेसी ने मेरे सामने यह प्रश्न रखा, तो मैं कहूँगा कि वह उसका उत्तर विनोबाजी से ले ले।

और फिर वातावरण हँसी से गूँज उठा।

सन्त विनोबा—आप प्रतिदिन कितना चल लेते हैं ?

आचार्यश्री—साधारणतया लगभग दस-बारह मील।

सन्त विनोबा—इतना ही लगभग मैं चलता हूँ।

आचार्यश्री—जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि से अणुव्रती-संघ के रूप मे एक आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। क्या आपने उसके नियमोपनियम देखे हैं ?

सन्त विनोबा—हाँ ! मैंने उसे पढा है। आपने अच्छा किया है। अणुव्रत का तात्पर्य यही तो है कि कम-से-कम इतना व्रत तो होना ही चाहिए।

आचार्यश्री—हाँ ! आप ठीक कह रहे है। पूर्णव्रत की अशक्यता मे ये अणु व्रत हैं। नैतिक जीवन की यह एक साधारण सीमा है।

सन्त विनोबा—अहिंसा और सत्य का मेल नही हो पा रहा है; इसीलिए अहिंसा का पक्ष दुर्बल हो रहा है। अहिंसा पर जितना बल दिया गया है, उतना बल सत्य पर नहीं दिया गया। यही कारण है कि जैन गृहस्थो मे अहिंसा-विषयक जितनी सावधानी देखी जाती है, उतनी सत्य विषयक नही।

आचार्यश्री—अहिंसा और सत्य की पूर्णता परस्परापेक्ष है। एक के अभाव मे दूसरे की भी गौरवपूर्ण पालना नही हो सकती। अणुव्रत-कार्यक्रम व्यवहार मे चलने वाले असत्य का एक प्रबल प्रतिकार है। अहिंसक दृष्टिकोण के साथ जब सत्यमूलक व्यवहार की स्थापना होगी, तभी आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उन्नत बन सकेगा।

अणुव्रत-नियमो मे निषेध परक नियम ही अधिक है। हमारे विचार मे किसी भी मर्यादा के विषय मे निषेध जितना पूर्ण होता है उतना विधान नहीं। आपके इस विषय मे क्या विचार है ?

विनोबा—मैं नकारात्मक दृष्टि को पसन्द करता हूं। इसका मैंने कई बार समर्थन किया है।"[1]

आचार्यश्री और श्री मुरारजी देसाई

आचार्यश्री बम्बई मे थे। उस समय श्री मुरारजी देसाई वहाँ के मुख्य मन्त्री थे। वे बम्बई के कार्यक्रमो मे दो बार सम्मिलित हो चुके थे, परन्तु बातचीत करने का अवसर प्राप्त नही हुआ था। अत वे चाहते थे कि आचार्यश्री से व्यक्तिगत बातचीत हो। आचार्यश्री भी उसके लिए उत्सुक थे। समय की कमी और विभिन्न व्यवधानो के कारण ऐसा नही हो सका। जब बम्बई से विहार करने का अवसर आया, तब अन्तिम दिन आचार्यश्री मुरारजी भाई की कोठी पर गये। एक तरफ विदाई का कार्यक्रम था तो दूसरी तरफ मुरारजी भाई से वार्तालाप। बीच मे बहुत थोडा ही समय था। फिर भी आचार्यश्री वहाँ पधारे। मुरारजी भाई ने बडा सत्कार किया और बहुत प्रसन्न हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् जो बाते हुई, उनमे से कुछ ये हैं—

"आचार्यश्री—आप दो बार सभा में आये, पर वैयक्तिक बातचीत नही हो सकी।

श्री देसाई—मैं भी ऐसा चाहता था, परन्तु मुझे यह कठिन लगा। इधर कुछ दिनो से मैंने धार्मिक उत्सवो मे जाना कम कर दिया है और आपको अपने यहाँ बुला कैसे सकता था !

आचार्यश्री—धार्मिक कार्यों मे कम भाग लेने का क्या कारण है ?

श्री देसाई—मेरे नाम का वहाँ उपयोग किया जाता है। यह सम्प्रदाय बढाने का तरीका है। मैं सम्प्रदायो से दूर भागने वाला व्यक्ति इसे कतई पसन्द नही करता।

---

१ वार्तालाप-विवरण

आचार्यश्री—जहाँ सम्प्रदाय बढाने की बात हो, वहाँ के लिए तो मैं नही कहता, पर जहाँ असाम्प्रदायिक रूप से काम किया जाता हो और उसमे यदि आध्यात्मिकता और नैतिकता को बल मिलता हो, तो उसमे किसी के नाम का उपयोग होना मेरी दृष्टि मे कोई बुरा नही है।

श्री देसाई—आप लोग प्रचार-कार्य मे क्यो पडते है ? सन्तो को तो प्रचार से दूर रहना चाहिए।

आचार्यश्री—साधुत्व की अपनी मर्यादा मे रहते हुए जनता मे सत्य और अहिंसा-विषयक भावना को जागृत करने का प्रयास मेरे विचार से उत्तम कार्य है।

श्री देसाई—बुराई न करने की प्रतिज्ञा दिलाना मुझे उपयुक्त नही लगता। इस विषय मे गाधीजी से भी मेरा विचार-भेद था। मैंने उनसे कहा था, 'आप प्रतिज्ञा लिवाकर लोगो को आश्रम मे रखते हैं। लोग आपको खुश करने के लिए यहाँ आ जाते हैं। यहाँ की प्रतिज्ञाए न निभा पाने पर वे उसे छिपकर तोडते है।' गाधीजी से मेरा यह मतभेद अन्त तक चलता ही रहा। आपके सामने भी वही बात रखना चाहूँगा कि आपको खुश करने के लिए लोग अणुव्रती बन तो जाते है; परन्तु वे इसे ठीक ढग से निभाते है, इसका क्या पता ?

आचार्यश्री—प्रतिज्ञा के बिना सकल्प मे दृढता नही आती, इसलिए उसमे मेरा दृढ विश्वास है। कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा आत्मा से ली जाती है और आत्मा मे ही पाली जाती है। बलात् न वह ग्रहण करायी जा सकती है और न पालन करायी जा सकती है। कौन प्रतिज्ञाओ को पालता है और कौन नही, इस विषय मे मै उसके आत्म-साक्ष्य को ही महत्त्व देता हूँ।

अणुव्रतो के विषय मे आपके कोई सुझाव हो तो बतलाइये।

श्री देसाई—इस दृष्टि से मैने अभी तक पढा नही है। अब आपने कहा है, इसलिए इस दृष्टि से पढूंगा और आपके शिष्य मिलेगे, उन्हे बतला दूंगा।"[1]

प्रश्नोत्तर

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क इतने विविध रूपो मे है कि उन सबकी गणना करना एक प्रयास-साध्य कार्य है। कुछ व्यक्ति उनके पास धर्मोपदेश सुनने के लिए आते है, तो कुछ धर्मचर्चा के लिए। कुछ उन्हे सुझाव देने के लिए आते हैं, तो कुछ मार्ग-दर्शन लेने के लिए। कुछ की बातो मे केवल व्यावहारिक रूप होता है, तो कुछ की बातो मे तत्त्व की गहरी जिज्ञासा। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपो मे अपनी जिज्ञासाए उनके सामने रखते है। आचार्यश्री उन सबकी जिज्ञासाओ को शान्त करने का प्रयत्न करते रहे है। प्राय जिज्ञासुओ को आचार्यश्री के उत्तर तथा व्यवहार से तृप्त होकर जाते देखा गया है। यह बात मैं अपनी ओर से नही कह रहा, किन्तु उन व्यक्तियो के द्वारा आचार्यश्री के प्रति लिखे गए या व्यक्त किये गए उद्गार इस बात के साक्षी है। आचार्यश्री के पास हर किसी को तृप्त करने का एक ऐसा अमृत रस है जो कि बहुत कम व्यक्तियो के पास मिलता है। यहाँ हम देशी तथा विदेशी विद्वानो द्वारा किये गए कतिपय प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर दे रहे है।

डा० के० जी० रामाराव

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव, एम० ए०, पी-एच० डी० आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री के साथ उनके जो तात्त्विक प्रश्नोत्तर चले, उनमे से कुछ यो है :

"श्री रामाराव—जीवन सक्रियता का प्रतीक है (Life is activity), क्रमश वैराग्य का होना कर्म-विमुखता है, अतः वैराग्य तथा जीवन का सामजस्य कैसे हो सकता है ?

आचार्यश्री—जिस रूप मे आप जीवन को सक्रिय बतलाते हैं, जीवन की वे क्रियाएं सोपाधिक हैं। जैसे, भोजन

---

१ वार्तालाप विवरण

करना तब तक आवश्यक है जब तक भूख का अस्तित्व हो। जिन कारणों से ये सोपाधिक सक्रियताएं रहती है, वे कारण यदि नष्ट हो जायें तो फिर उनकी (सक्रियताओं की) आवश्यकता नहीं रहेगी। आत्मा की स्वाभाविक सक्रियता है— ज्ञान मे, निजस्वरूप मे रमण करना, जो हर क्षण रह सकती है। इस रूप मे सक्रिय रहती हुई आत्मा अन्यो मे (आत्म-रमण-व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओ मे) अक्रिय रहती है। सोपाधिक सक्रियता वैकारिक या वैभाविक है। उसे मिटाने के लिए त्याग-तपस्या आदि की आवश्यकता होती है।

श्री रामाराव—समाज-प्रवृत्ति का हेतु है, दूसरों के लिए जीना। यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य अगीकार कर ले तो वह एक प्रकार का स्वार्थ होगा। स्वार्थपरता दो प्रकार की है एक तो यह कि अपने लिए धन आदि सासारिक सुख-साधनो के सचय का प्रयत्न करना। दूसरी यह कि दूसरो की चिन्ता न करते हुए केवल अपनी मुक्ति की लालसा करना। इस स्थिति मे केवल अपनी मुक्ति की लालसा रखने से, क्या जीवन का ध्येय पूर्ण हो सकता है ?

आचार्यश्री—दूसरे प्रकार की स्वार्थपरता जो आपने बतायी, वस्तुत वह स्वार्थपरता नही है। यदि सभी व्यक्ति उस पर आ जाये तो मेरे खयाल मे उसमे दूसरों को हानि की कोई सम्भावना नही होगी। सभी विकासोन्मुख होगे। वह स्वार्थ नही, परमार्थ होगा। जब कि हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-विकास करने का जन्म-सिद्ध अधिकारी है, जब कि वह अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, तब यदि अकेला अपने-आपको उठाने की—आत्म-विकास करने की चेष्टा करता है तो उसका ऐसा करना स्वार्थ कैसे माना जायेगा !

श्री रामाराव—क्या पुण्य-कर्म मोक्ष का रास्ता—मोक्ष की ओर ले जाने वाला, नही है ?

आचार्यश्री—पुण्य शुभ कर्म है। कर्म बन्धन है, अत पुण्य भी मोक्ष मे बाधक है। 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं . १ क्रिया, २ क्रिया के द्वारा जो दूसरे विजातीय पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं—चिपक जाते हैं, वे भी कर्म कहे जाते है। अच्छे कर्म पुण्य और बुरे कर्म पाप कहलाते है। बुरे कर्म तो स्पष्टत मोक्ष मे बाधक है ही। अच्छे कर्मों का फल दो प्रकार का है उनसे पुराने बन्धन टूटते है, किन्तु साथ-साथ मे शुभ पुद्गलो का बन्धन भी होता रहता है। बन्ध मोक्ष में बाधक है।

श्री रामाराव—अच्छे कर्मों से बन्धनों के टूटने के साथ-साथ पुन बन्धन कैसा ?

आचार्यश्री—उदाहरण-स्वरूप बगीचे मे आप घूमने जायेगे, वहाँ उसमे अस्वस्थता के पुद्गल दूर होगे और स्वस्थता के अच्छे पुद्गल समाविष्ट होगे। अच्छी क्रिया मे मुख्य फल आत्म-शुद्धि है, किन्तु जब तक उस क्रिया मे मुख्य राग-द्वेष का अश समाविष्ट रहता है, उसमे बन्धन भी है। गेहूँ की खेती की जाती है, गेहूँओ के साथ चारा या भूसा भी पैदा होता है। बादाम के साथ छिलके भी पैदा होते हैं। जब तक वीतरागता नही आयेगी, तब तक की अच्छी प्रवृत्ति यत्-किंचित् अश मे राग-द्वेष से सर्वथा विरहित नहीं होगी, अत बन्धन होता रहेगा।

श्री रामाराव—बन्धन से छुटकारा कैसे हो ?

आचार्यश्री—ज्यो-ज्यो कषायावस्था का शमन होता रहेगा, त्यो-त्यों जो क्रियाए होगी, उनमें बन्धन कम होगा; हल्का होगा, आत्मा ऊँची उठती जायेगी। एक अवस्था ऐसी आयेगी, जिसमे सर्वथा बन्धन नही होगा, क्योंकि उसमे बन्धन के कारणों का अभाव होगा।

श्री रामाराव—क्या निष्काम भाव से कर्म करने पर बन्धन कम होगा ?

आचार्यश्री—निष्काम भावना के साथ आत्म-अवस्था भी शुद्ध होनी चाहिए। बहुत-से लोग कहने को कह देते हैं कि वे निष्काम कर्म करते हैं, किन्तु जब तक आत्म-अवस्था विशुद्ध नही होती, वह निष्कामता नही कही जा सकती।

श्री रामाराव—साइकोलोजी (मनोविज्ञान शास्त्र) का विचार-क्षेत्र मानसिक क्रिया से ऊपर नही जाता। आपके विचार इस विषय में क्या हैं ?

आचार्यश्री—आत्मा की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया तो हैं ही, इनके अतिरिक्त 'अध्यवसाय' या 'परिणाम' नाम की एक सूक्ष्म क्रिया भी है। स्थावर जीवों के मन नहीं होता, किन्तु उनके भी वह सूक्ष्म क्रिया होती है, उसे 'योग', 'लेश्या' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

श्री रामाराव—जिनके मन नही होता, क्या उनके आत्मा नही होती है ?

आचार्यश्री—आत्मा के आलोचनात्मक ज्ञान के साधन का नाम ही मन है। जिस प्रकार पाँचो इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं, उसी प्रकार मन भी। यदि दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो आत्मा की बौद्धिक क्रिया का नाम मन है। जिनकी बौद्धिक क्रिया अविकसित होती है, उन्हे अमनस्क कहा जाता है, अर्थात् उनके मन नही होता।

श्री रामाराव—क्या इन्द्रियो की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से आत्मा मुक्ति पाती है ?

आचार्यश्री—प्रवृत्ति दो प्रकार की हैं : सत्प्रवृत्ति तथा असत्प्रवृत्ति। सत्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनो आत्म-मुक्ति की साधनभूत है।

श्री रामाराव—मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि विचार-शक्ति मे मनुष्य कार्य-प्रवृत्ति से (सतत चेष्टा से) विकास कर सकता है; किन्तु कुछ बाते ऐसी होती है जो सस्कारलभ्य हैं। मनोविज्ञान मे विचारधारा के तीन प्रकार माने गए है १ माता-पिता की अपनी सन्तति के प्रति जैसी रक्षात्मक भावना होती है, वैसी भावना रखना और दूसरो से वैसी ही रक्षात्मक भावना की माँग करना, २ घृणित भावनाओ से घृणा करना व उन्हे छोडने की प्रवृत्ति करना, ३ उत्तेजक काम-क्रोध वासना आदि। ये तीनो भावनाए स्वाभाविक शक्तियाँ (Energies) है, इनको सरलतया मिटाया नही जा सकता। इनको दूसरी ओर लगाया जा सकता है, अर्थात् दूसरे मार्ग पर ले जाने की कोशिश की जा सकती है। स्कूलो मे चरित्र-गठन की शिक्षा के लिए यह विधि प्रयुक्त की जाती है कि पहली को प्रोत्साहन दिया जाये और तीसरी को रोकने की चेष्टा की जाये, क्या यह ठीक है ?

आचार्यश्री—तीसरी को रोकने का प्रयास करना बहुत ठीक है। पहली मे प्रवृत्ति करने की या प्रोत्साहन देने की प्रेरणा एक सामाजिक भावना है। जो दूसरी विचारधारा है, उसको आश्रय देना—प्रोत्साहन देना उत्तम है।"[1]

डॉ० हर्बर्ट टिसि

डॉ० हर्बर्ट टिसि एम० ए०, डी० फिल्० आस्ट्रिया के यशस्वी पत्रकार तथा लेखक है। ये डॉ० रामाराव के साथ ही हांसी मे आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये थे। आचार्यश्री के साथ हुए उनके कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार है

"डॉ० हर्बर्ट—लगभग पचास वर्ष पूर्व रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालो मे ऐसी भाव-धारा उत्पन्न हुई कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सर्वथा मान्य, विश्वसनीय व सत्य है। उसमे अविश्वास या भूल की कोई गुजायश नही। किन्तु इस पर लोगो ने यह शका की कि मनुष्य से भूल का होना सम्भव है। क्या आप भी आचार्य के विषय मे ऐसा मानते है ? अर्थात् वे जो कुछ कहते है, वह एकान्तत स्खलन-शून्य ही होना है ?

आचार्यश्री—यद्यपि सघ के लिए, अनुयायियो के लिए आचार्य ही एकमात्र प्रमाण है। उनका कथन—आदेश, सर्वथा मान्य व स्वीकार्य होता है; किन्तु हम ऐसा नही मानते कि आचार्यों से कभी भूल होती ही नही। जब तक सर्वज्ञ नही होते, तब तक भूल की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा प्रसग हो तो आचार्य को वह बात निवेदन की जा सकती है। वे उस पर उचित ध्यान देते है।

डॉ० हर्बर्ट—क्या कभी ऐसा काम पड सकता है जब कि एक पूर्वतन आचार्य के बनाये नियमो मे परिवर्तन किया जा सके ?

आचार्यश्री—ऐसा सम्भव है। पूर्वतन आचार्य उत्तरवर्ती आचार्य के लिए ऐसा विधान करते है कि देश, काल, भाव, परिस्थिति आदि को देखते हुए व्यवस्थामूलक नियमो मे परिवर्तन करना चाहे तो कर सकते है। किन्तु साथ-साथ मे यह ध्यान रहे कि धर्म के मौलिक नियमो मे परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नही है। वे सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनशील है।

डॉ० हर्बर्ट—क्या जीव पुद्गल पर कुछ असर कर सकता है ?

---

१ तत्त्व-चर्चा से

आचार्यश्री—हाँ, जीव पुद्गलों को अनुकूल-प्रतिकूल अनुवर्तित या परिणत करने का सामर्थ्य रखता है। जैसे—कर्म पुद्गल हैं। जीव कर्म-बन्धन भी करता है और कर्म-निर्जरण भी। इससे स्पष्ट है कि जीव पुद्गलों पर अपना प्रभाव डाल सकता है।

डा० हर्बर्ट—जीव मनुष्य के शरीर में कहाँ है ?

आचार्यश्री—शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। कहीं एकत्र—एक स्थान-विशेष पर नहीं। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है; जब शरीर के किसी भी अंग-प्रत्यंग पर चोट लगती है, तत्क्षण पीडा अनुभव होती है।

डा० हर्बर्ट—जब सब जीव संसार-भ्रमण शेष कर लेंगे, तब क्या होगा ?

आचार्यश्री—बिना योग्यता व साधनों के सब जीव कर्म-मुक्त नही हो सकते। जीव सख्या में इतने हैं कि उनका कोई अन्त नही है। उनमे से बहुत कम जीवों को वह सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे वे मुक्त हो सकें। जब कि ससार की स्थिति यह है कि करोड़ो लोगों में लाखों शिक्षित हैं, लाखों मे हजारों विद्वान् या कवि हैं, हजारो मे भी ऐसे बहुत कम हैं, जो स्वानुभूत बात कहने वाले तत्त्वज्ञानी हो। तब अध्यात्मरत योगी ससार मे कितने मिलेगे, जो ससार-भ्रमण शेष कर लेते हैं ?[1]

डा० फेलिक्स वेल्यि

प्राच्य सस्कृति-विषयक उच्चतर अध्ययन के लिए एक विद्या-सस्थान के प्रतिष्ठापक तथा सचालक डा० फेलिक्स वेल्यि द्वारा किये गए प्रश्न और उनके उत्तर इस प्रकार है .

डा० वेल्यि—योग की उपयोगिता क्या है ?

आचार्यश्री—मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियो के विकास के लिए व इन्द्रिय-विजय के लिए उसका व्यवहार होता है।

डा० वेल्यि—इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर क्या है ?

आचार्यश्री—आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान होना एवं आत्मा के निर्माण-स्वरूप तक पहुँचने की भावना होना, इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर है।

डा० वेल्यि—ज्ञान व चरित्र, इन दोनो में जैनो ने किसको अधिक महत्त्व दिया है ?

आचार्यश्री—जैन दृष्टि मे, ज्ञान और चरित्र-निर्माण, दोनो समान महत्त्व रखते है।

डा० वेल्यि—जैन योग का अन्तिम ध्येय क्या है ?

आचार्यश्री—जैन योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

डा० वेल्यि—काम-विजय के सक्रिय उपाय कौनसे हैं ?

आचार्यश्री—मोहजनक कथा न करना, चक्षु-सयम रखना, मादक व उत्तेजक वस्तुएं न खाना, अधिक न खाना, विकारोत्पादक वातावरण में न रहना, मन को स्वाध्याय, ध्यान या अन्य सत्प्रवृत्तियों मे लगाये रहना आदि काम-विजय के सक्रिय उपाय हैं।

डा० वेल्यि—क्या जैन विवाह को एक धर्म-संस्कार मानते हैं ? विवाह-विच्छेद प्रथा के प्रति जैनो का दृष्टि-कोण क्या है।

आचार्यश्री—जैन विवाह को धर्म-सस्कार नही मानते। विवाह-विच्छेद की प्रथा जैन समाज मे नहीं है। जैन लोग उक्त प्रथाओ को धर्म में सम्मिलित नही करते।

डा० वेल्यि—जैन साधुओ मे परस्पर प्रतिस्पर्धा है या नहीं ?

आचार्यश्री—आत्म-साधन एवं अध्ययन के क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा होती है। यश प्राप्ति की स्पर्धा वैध नही है।

---

१ तत्त्व-चर्चा से

यश की अभिलाषा रखना दोष समझा जाता है।

डा० वेल्यि—क्या धर्मगुरु से कभी कोई गलती नही होती ? क्या वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं ? क्या वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं ? क्या औषधोपचार भी विहित है ? क्या उन्हे स्वास्थ्यकर भोजन हमेशा मिलता रहता है ?

आचार्यश्री—गुरु भी अपने को साधक मानता है। साधना मे कोई भूल हो जाये तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। हमारी दृष्टि मे सर्वश्रेष्ठ सुख आत्म-सन्तोष है, इसकी गुरु मे कमी नही होती। शारीरिक स्थिति के बारे मे कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता, क्योकि वह भिन्न-भिन्न क्षेत्र और परिस्थितियो पर निर्भर है। साधु भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं, इसलिए भोजन सदा स्वास्थ्यकर ही मिले, यह बात आवश्यक नही।

साधु को शारीरिक व्यथाए होता है और मर्यादा के अनुकूल उनका उपचार करना भी वैध है। औषधि-सेवन करना या अपनी आत्म-शक्ति से ही उसका प्रतिकार करना, यह वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर है।

डा० वेल्यि—ससार के प्रति साधुओ का क्या कर्तव्य है ?

आचार्यश्री—हमे विश्व के दुख के जो मूलभूत कारण है, उन्हे नष्ट करना चाहिए। अपने आत्म-विकास और साधना के साथ-साथ जन-कल्याण करना, अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का प्रचार करना साधुओ का लक्ष्य है।

श्री जे० आर० बर्टन

आचार्यश्री बम्बई के उपनगरो मे थे, तब दो अमेरिकन सज्जन श्री जे० आर० बर्टन और श्री डब्ल्यू० डी० वेल्स दर्शनार्थ आये। ये विभिन्न धर्मों की अन्तर्-भावना का परिशीलन करने के लिए एशियाई देशो मे भ्रमण करते हुए यहाँ आये थे। आचार्यश्री के साथ उनका वार्तालाप-प्रसग इस प्रकार हुआ

"श्री बर्टन—मैंने बौद्ध दर्शन मे यह पढ़ा है कि तृष्णा या आकाक्षा को मिटाना जीवन-विकास का साधन है। जैन-दर्शन की इस विषय में क्या मान्यता है ?

आचार्यश्री—जैन-धर्म मे भी वासना, तृष्णा, लिप्सा आदि का वर्जन करने के उपदेश है। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप तक पहुँचने मे ये दोष बडे बाधक है।

श्री बर्टन—ईसा के उपदेशो के सम्बन्ध मे आपका क्या खयाल है ?

आचार्यश्री—अपरिग्रह और अहिंसा आदि अध्यात्म-तत्त्वो के सम्बन्ध मे जो कुछ उन्होने कहा है, वह हृदय-स्पर्शी है।

श्री बर्टन—क्या आप धर्म-परिवर्तन भी करते है ?

आचार्यश्री—हमारा कार्य तो धर्म के सत्य तत्त्वो के प्रति व्यक्ति के मन मे श्रद्धा और निष्ठा पैदा करना है। हृदय-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ का सच्चा पथिक बनाना है। कही भी रहता हुआ व्यक्ति ऐसा करने का अधिकारी है। एक मात्र बाहरी रग ढग को बदलने मे मुझे श्रेयस् प्रतीत नही होता, क्योकि धर्म का सीधा सम्बन्ध आत्म-स्वरूप के परिमार्जन और परिष्कार मे है।

श्री बर्टन—श्रद्धा का क्या तात्पर्य है ?

आचार्यश्री—सत्य विश्वास को श्रद्धा कहते है।

श्री बर्टन—सत्य विश्वास किसके प्रति ?

आचार्यश्री—आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति और आध्यात्मिक तत्त्वो के प्रति।

श्री बर्टन—क्या कर्तव्य ही धर्म है ?

आचार्यश्री—धर्म अवश्य कर्तव्य है, पर सब कर्तव्य धर्म नही। सामाजिक जीवन में रहते हुए व्यक्ति को पारिवारिक, सामाजिक आदि कई कर्तव्य ऐसे भी करने पडते हैं, जो धर्मानुमोदित नहीं होते। समाज की दृष्टि से तो वे कर्तव्य हैं, अध्यात्म-धर्म नही। आत्म-विकास उनसे नही सधता।"[1]

[1] जैन भारती, २८ नवम्बर '५४

श्री वुडलैंड केलर

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मण्डल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री वुडलेंड केलर, जो शाकाहारी एवं अहिंसावादी लोगो से मिलने व विचार-विमर्श करने सपत्नीक भारत मे आये थे, बम्बई में आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। श्री केलर ने कहा कि भारतवर्ष एक शाकाहार-प्रधान देश है और जैन-धर्म में विशेष रूप से आमिष-वर्जन का विधान है। अतः भारतवर्ष से, तथा मुख्यत जैनों से, हमारा एक सहज सम्बन्ध एव आत्मीय भाव जुड़ जाता है।

आचार्यप्रवर के साथ श्री केलर का जो वार्तालाप हुआ, उसका सारांश यो है ·

"श्री केलर—रूस विश्व की उलझनो अथवा समस्याओ के लिए साम्यवाद के रूप मे जो समाधान प्रस्तुत करता है, उसके सम्बन्ध मे आपका क्या विचार है ?

आचार्यश्री—साम्यवाद समस्याओं का स्थायी और शुद्ध हल नही है; वह अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं का एक सामयिक हल है। आर्थिक समस्याओ का सामयिक हल जीवन की समस्याओ को सुलझा सके, यह सम्भव नही।

श्री केलर—क्या राजनैतिक विधि-विधानों से लोक-जीवन की बुराइयो और विकृतियो का विच्छेद हो सकता है ?

आचार्यश्री—विकारो अथवा बुराइयों के मूलोच्छेद का सही साधन है—हृदय-परिवर्तन। विकारो के प्रति व्यक्ति के मन मे घृणा और परिहेयता के भाव पैदा होने से उसमे स्वत परिवर्तन आता है। हृदय बदलने पर जो बुराइयाँ छूटती है, वे स्थायी रूप से छूटती है और कानून या दण्ड के बल पर जो बुराइयां छुडायी जाती है, वे तब तक छूटी रहती हैं, जब तक विकारो मे फंसे व्यक्ति के सामने दण्ड का भय रहे।

श्री केलर—ससार मे जो कुछ दृश्यमान है, वह क्षणभगुर है, नाशवान् है, फिर व्यक्ति क्यो क्रियाशील रहे, किस लिए प्रयास करे ?

आचार्यश्री—दृश्यमान-अदृश्यमान भौतिक पदार्थ नाशवान् हैं, भौतिक सुख क्षण-विध्वंसी है, पर आत्म-सुख तो शाश्वत, चिरन्तन और अविनश्वर है। उसी के लिए व्यक्ति को सत्कर्मनिष्ठ और प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। भौतिक दृश्यमान जगत् या सुख सामग्री जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। चरम लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार, आत्म-विशोधन।

श्री केलर—दूसरे लोगो मे जो बुराइयाँ हैं, उनके विषय मे आप टीका करते हैं या मौन रहते हैं ?

आचार्यश्री—वैयक्तिक आक्षेप या टीका करने की हमारी नीति नही है। पर सामुदायिक रूप मे बुराइयो पर तो आघात करना ही होता है, जो आवश्यक है।

श्री केलर—मनुष्य जो कर्म करता है, क्या उसका फल-परिपाक ईश्वराधीन है ?

आचार्यश्री—ईश्वर या परमात्मा केवल द्रष्टा है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसका फल स्वय उसे मिलता है। सत् या असत् जैसा कर्म वह करेगा, वैसा ही फल उसे मिलेगा। फल-परिपाक कर्म का सहज गुण है। ईश्वर या परमात्मा विगत-बन्धन है, निर्विकार है। स्व-स्वरूप मे अधिष्ठित है। कर्म-फल प्रदातृत्व मे उसका क्या लगाव ?"[1]

डानेल्ड-दम्पती

कैनेडियन पादरी श्री डानेल्ड कैंप अपनी पत्नी तथा चर्च के अन्य कार्यकर्ताओं के साथ जलगांव में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनका वार्तालाप-प्रसंग निम्नांकित है ·

"श्रीमती कैंप—बाइबिल के अनुसार हम ऐसा मानते है कि न्यायी व्यक्ति श्रद्धा से जीवन बिताता है।

आचार्यश्री—हमारी भी मान्यता है कि सच्चा श्रद्धावान् वही है, जो अपने जीवन मे अन्याय को प्रश्रय नही देता।

श्रीमती कैंप—प्रभु यीशू ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि तू जिस को मारना चाहता है, वह तू ही है।

---

१ जैन भारती, २० फरवरी '५५

आचार्यश्री—भगवान् महावीर का कथन है कि जिस तरह तुझे अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह वह सबको प्रिय है। सब जीव जीना चाहते हैं, इसलिए तुम्हे क्या अधिकार है कि तुम दूसरो के प्राण हरो। इस प्रकार बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो विभिन्न धर्मों मे समन्वय बताती हैं।

श्री कैंप—संसार में व्याप्त अशान्ति और दु ख का कारण क्या है?

आचार्यश्री—आज का ससार भौतिकवाद मे बुरी तरह फँसा है, परिणामस्वरूप उसकी लालसाएं असीमित बन गई हैं। स्वार्थ के अतिरिक्त उसे कुछ नजर नही आता। अध्यात्म, जो शान्ति का सही तत्त्व है, वह दिन-पर-दिन भुलाया जा रहा है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, आज के संघर्ष और अशान्ति का यही कारण है।

श्री कैंप—हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य जब पैदा होता है तो पापमय, पापो को लिये हुए, पैदा होता है।

आचार्यश्री—हमारी मान्यतानुसार जब मनुष्य पैदा होता है तो पाप और पुण्य दोनो लिये हुए पैदा होता है। यदि पुण्य साथ नही लाता तो उसे अनुकूल सुख-सुविधाए कैसे मिलती?

श्री कैंप—जो प्रभु यीशू की शरण मे आ जाते है, उनकी मान्यता रखते है, उनके पापो के लिए वे पेनैल्टी (दण्ड) चुका देते है।

आचार्यश्री—तब मनुष्य का अपना कर्तव्य क्या रहा? हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य को पैदा करने वाली ईश्वर-जैसी कोई शक्ति नही है। मनुष्य-जाति अनादिकालीन है। सत्-असत, शुभ-अशुभ मनुष्य के स्वकृत कर्मों पर आधारित है। उनके लिए मनुष्य स्वय उत्तरदायी है। अपने भले-बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति का अपना उत्तरदायित्व न हो तब मनुष्य का क्या दोष? वह तो ईश्वर के चलाये चलता है।

श्री कैंप—मेरी ऐसी मान्यता है कि हम लोग स्वय कुछ नही कर सकते, सब ईश्वरीय प्रेरणा से करते है।

आचार्यश्री—इसमे हमारा विचार-भेद है। हमारे विचारानुसार हम अपने सत् असत् के स्वय उत्तरदायी है, और हमारी मान्यता यह है कि व्यक्ति आत्म-शक्ति से ही कार्य करता है, किसी दूसरी शक्ति से नही ?"[1]

१ जैन भारती, २६ मई '५५

: ७ :

महान् साहित्य-स्रष्टा

आचार्यश्री जहां तक सफल आध्यात्मिक नेता तथा कुशल संघ-संचालक हैं, वहां महान् साहित्य-स्रष्टा भी हैं। साहित्य-सर्जन की उनकी प्रक्रिया मे एक अतुलनीय विशेषता पायी जाती है। साहित्यकार को बहुधा एकान्त तथा शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है, किन्तु इस प्रकृति के विपरीत वे जन-संकुल और कोलाहलपूर्ण वातावरण मे बैठकर भी एकाग्र हो जाते है और साहित्य-रचना करते रहते हैं। यह स्वभाव सम्भवतः उनको इसलिए बना लेना पड़ता है कि एकान्त चाहने पर भी जनता उनका पीछा नही छोड़ती। कुछ उनके स्वभाव की मृदुता भी इसमे बाधक होती रही है। इतने पर भी साहित्य-स्रोतस्विनी अपनी अव्याहत गति से बहती ही रहती है।

उनका साहित्य, पद्य और गद्य, दोनो ही रूपो में है। भाषा की दृष्टि से वे राजस्थानी हिन्दी तथा संस्कृत मे लिखते है। राजस्थानी तो उनकी मातृ-भाषा है ही, किन्तु हिन्दी और संस्कृत को भी उन्होंने मातृ-भाषावत् ही बना लिया है। विषय की दृष्टि से उनका साहित्य काव्य, दर्शन, उपदेश, भजन तथा स्तवन आदि अगो मे विभक्त किया जा सकता है। इस-के अतिरिक्त उनके धर्म-सन्देश तथा दैनन्दिन प्रवचनो के सग्रह भी स्वतन्त्र कृतियो के समान ही अपना महत्त्व रखते हैं।

काव्य-साहित्य में उन्होने राजस्थानी तथा हिन्दी मे अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। राजस्थानी मे 'श्रीकालू यशोविलास', 'माणकमहिमा', 'श्रीकालू उपदेश वाटिका', 'उदाई', 'गजसुकुमाल' तथा 'सुकुमालिका' आदि प्रमुख हैं। हिन्दी-ग्रन्थो मे 'आषाढभूति', 'भरत-मुक्ति' तथा 'अग्नि-परीक्षा' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'श्रीकालू उपदेश वाटिका', 'श्रद्धेय के प्रति' तथा 'अणुव्रत गीत' आदि उपदेशात्मक, भक्त्यात्मक तथा प्रेरणात्मक गीतो के विभिन्न सकलन हैं। यहां कुछ उद्धरणो द्वारा उनके काव्य-साहित्य का रसास्वादन करा देना अप्रासगिक नही होगा।

श्रीकालू यशोविलास

'श्रीकालू यशोविलास' मे तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसकी भाषा राज-स्थानी है, किन्तु कही-कहीं गुजराती से भावित है। इसका कारण सम्भवत यह है कि प्राचीन काल मे दोनो प्रदेशों का तथा उनकी भाषाओ का निकट सम्बन्ध रहा है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुजराती भाषा के जैन-ग्रन्थ राजस्थान में विहार करने वाले साधु-साध्वियों द्वारा भी बहुधा पढ़े जाते रहे है और उससे उनकी अपनी कृतियों मे भी भाषा का मिश्रण होता रहा है। तेरापंथ के आद्य आचार्य स्वामी भीखणजी तथा चतुर्थ आचार्य श्री जयाचार्य के साहित्य मे एटले, माटे, शु, छे, एम, केटला आदि गुजराती भाषा के अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे है। आचार्यश्री ने 'श्रीकालू यशो-विलास' में उसी प्राचीन परम्परा को प्रयुक्त किया है। इसमें उन्होंने हिन्दी का भी प्रयोग किया है। वस्तुत वे पहले-पहले भाषा के विषय में काफी मुक्त होकर चले हैं। इसमे विभिन्न भाषाओ के शब्द तो प्रयुक्त हुए ही है, किन्तु पद्य की सुविधा के लिए शब्दों का अपभ्रश भी किया गया है। उनके राजस्थानी तथा हिन्दी के कुछ प्रथम ग्रन्थों मे यह क्रम रहा है; परन्तु 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' की प्रशस्ति से यह बात सिद्ध होती है कि बाद मे स्वयं उनको यह मिश्रण खटकने लगा। वे कहते हैं :

> **पर प्राचीन पद्धती रै अनुसार जो,**
> **भाषा बणी मूंग चावल री खीचड़ी।**

वापिस वेश्या एक-एक कर द्वार जो,
तो अखरी बोली मिश्रित बैठी खड़ी ॥"

यहाँ हिन्दी को 'खडी बोली' कहा जाता रहा है, अत. 'बैठी बोली' से आचार्यश्री का तात्पर्य राजस्थानी से है। इस अखरन ने आचार्यश्री की आगे की कृतियो पर काफी प्रभाव डाला है। उनमे भाषा का मिश्रण न होकर विशुद्ध किसी एक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

'श्रीकालू यशोविलास' विभिन्न मधुर लयो मे निबद्ध है। उसमे प्रसगानुसार ऋतुओं, स्थानो तथा मनोभावो का अत्यन्त कुशलता से वर्णन किया गया है। घटनाओ का तथा उस समय तक स्वय लेखक का भी राजस्थान से ही अधिक सम्पर्क रहा था, अत उसमे राजस्थान के अनेक स्थलो का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। राजस्थान की भयकर गर्मी और उसमे होनेवाली हैरानियों का लेखा-जोखा तथा गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन का भेद उपस्थित करते हुए उन्होने ग्रीष्म-ऋतु की सजीव अभिव्यक्ति इस प्रकार की है

ज्येष्ठ महीनो हो ऋतु गरमी नो, मध्यम सीनो हो हिवे हठ भीनो।
लूहर झालां हो अति विकरालां, वह्नि ज्वाला हो जिम चोफालां ॥
भू थई भट्टी हो तरणी, तापे, रेणू कट्ठी हो तनु सतापे।
अजिन 'र अठ्ठी हो भट्टी व्यापे, अति दुरघट्टी हो घट्टी मापे ॥
स्वेद निझरणा हो रूं-रूं झारं, चीवर कर नां हो लूह-लूह हारं।
तनु पे उघडं हो फुणसी-फोड़ा, भू पे उघड़े हो जिम भूंफोड़ा ॥
जैन-मुनी नो हो मारग झीणो, भक्ष्य प्रवीणो हो धोवण पीणो।
न्हावण-धोवण हो अंश न करणो, आत्म तपावण हो दिल संवरणो ॥
मलिन दुकूला हो कड़-कड़ बोलं, जथा चूला हो छड़-छड़ छोलं।
अति प्रतिकूला हो पवन झकोलं, जिम कोई शूलां हो अंग खबोलं ॥
कोमल काया हो पाले माया, जननी जाया हो बाहर नाया।
भूंहरं घर कं ही पोढं खाटां, जलस्यूं छिडकं हो खस खस टाटा ॥
मंदिर मूंदी हो खोलं पंखा, कर-धर तुंबी हो सोत निशंका।
विद्युत योगे हो जल सीतलियो, बरफ प्रयोगे हो बा सो गलियो ॥
हृदय उमावं हो बलि-बलि न्हावे, पान करावं हो दिल सुख पावं।
जी घबरावं हो सेट छिटावं, ज्यादा चावं हो सिमलं जावं ॥

—श्रीकालू यशोविलास, तृतीय उल्लास, गीतिका १७, २४ से ३१

यहाँ कवि ने ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म ऋतु का हृदय कहा है। वे कहते हैं—"उस समय लू अग्नि-ज्वाला की तरह होती है और सूर्य के ताप से वह भूमि भट्टी के समान उत्तप्त हो उठती है। रज कण शरीर को सन्तप्त ही नहीं करते, अपितु त्वचा और यहाँ तक कि अस्थियो तक पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। वैसे समय की घडियाँ घडी के माप से कुछ बडी ही लगती है। स्वेद रोम-रोम से फूटकर झरनो की तरह बहता है जिन्हे पोछते हुए हाथ के वस्त्र—रूमाल बेचारे थक जाते है। भूमि पर वर्षा के समय भूंफोडे उत्पन्न होते है, उसी प्रकार ग्रीष्म मे शरीर पर फुसी और फोड़े उठ आते हैं। ऐसी स्थिति मे जैन मुनियो का कठिन मार्ग और भी कठिन हो जाता है। अचित जल की स्तोकता, अस्नान व्रत तथा दुकूलो की प्रतिकूलता इस प्रकार से दु खद हो जाती है कि मानो कोई शरीर मे शूल चुभो रहा है। दूसरी ओर धनिक व्यक्तियो का दूसरा ही चित्रण सामने आता है। वे उस ऋतु मे बाहर तो निकलते ही नहीं, भूमिगृहों में लू से छिपकर सो जाते है। खस की टट्टियाँ छिडकी जाती है, पखे चलते है, विद्युत पर बर्फ के प्रयोग से शीतल किया गया जल पीते हैं, अनेक बार स्नान करते हैं, सुवासित रहते हैं। इतने पर भी यदि गर्मी का कष्ट प्रतीत होता है तो शिमला आदि पहाड़ी स्थानो मे चले जाते है।" ग्रीष्मकाल के समय परस्पर विरोधी इन दो जीवन चित्रो को उपस्थित कर कवि ने एक ही ऋतु

में भोगियों और त्यागियों की प्रवृत्तियो का अन्तर अत्यन्त सहजता से स्पष्ट कर दिया है।

एक अन्य स्थान पर वे मारवाड प्रदेश के 'कांठा' (सीमान्त) का वर्णन इस कुशलता से करते है कि वहाँ के वातावरण का समग्र दृश्य एक साथ आँखों के सामने नाचने लग जाता है। वे कहते हैं :

हुती बिछायत ठाम-ठाम बाँवल कांटां री,
रात-बिरात खटाखट उठती ध्वनि रांठां री।
मेवपाट पड़ोस ठोस रचना घाटां री,
ठोर-ठोर धव, खदिर, पलास, रास भाटां री।
अलप ऊँडिया कूप सूँडिया कानी-कानी,
जास प्रसाव निभाली विषमी गति बृषभां री।
समीं जमीं जल कोरा धोरा सींचे पानी,
तेहथी निपजं नाज, साज नहि बीजो जानी।

—श्रीकालू यशोविलास, चतुर्थ उल्लास, गीतिका १०, १ से ४

अर्थात्—"हर गाँव मे बबूल के कांटों की बहुलता है। रात्रि की घनीभूत शून्यता मे भी अरहट की ध्वनि अपनी खटाखट सुनाती रहती है, पड़ोसी प्रदेश मेवाड़ के अरावली पर्वत की घाटियाँ ऊँची दीवार-सी खडी दिखाई देती है। उनकी उपत्यकाओ मे स्थान-स्थान पर धव, खदिर और पलाश वृक्षो की पंक्तियाँ खडी है तथा पत्थरो के ढेर लगे है। हर गाँव के चारो ओर ऊँचे पानी वाले कुएँ, उनमे से पानी निकालने के लिए शूंडनुमा चडस, उन्हे खीचने के बाद उल्टी गति से चलते हुए बैल एक विचित्र ही दृश्य उपस्थित करते है। वहाँ की सीधी सपाट भूमि को सीचने के लिए अपनायी गई इस व्यवस्था से वहाँ की जल-प्रणालियाँ पानी से भरी बहती है। वहाँ के व्यक्ति केवल उसी के आधार पर अन्न पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई यान्त्रिक अथवा प्राकृतिक सहयोग उन्हे प्राप्त नही है।" यह सारा वर्णन मारवाड के सीमान्त का तथा वहाँ के निवासियो के जीवन-क्रम का सक्षेप मे परिपूर्ण तथा रोचक दृश्य उपस्थित कर देता है।

एक जगह राजस्थान के सुप्रसिद्ध अरावली तथा वहाँ के वन्य वातावरण को इस प्रकार से अभिव्यक्ति देते हैं·

चहूं ओर चंगी जुड़ी झंगी भारी, जहूं जगि जंगी वटा री जटां री।
कहीं निंब कादंब जबांब झारी, खरी शूल बबूल जोहीं जमां री॥
कहीं खक्खराटी हुवं खक्खरी, कहीं घग्घराटी हुवं बग्घरां री।
चहूड़ा लहूड़ा महूड़ा मरारी, कहीं डंड थूरां बकूरा बरां री॥
किते फेतकारां फरक्कत फेरू, किते फुंकणारा अरक्कत एरू।
किते घूक संघाट घुग्घाट घेरू, किते बुक्क बुक्काट केरू अनेरू॥

—श्रीकालू यशोविलास, चतुर्थ उल्लास, गीतिका १२, १४ से १६

इस वर्णन मे भाषा का राजस्थानी रूप डिंगल से प्रभावित है। जंगल की गहनता और भाषा की गहनता एक साथ हो गई है। अनुप्रासों का बाहुल्य उस गहनता को और भी बढ़ा देता है। वे कहते है—"चारों ओर एक-दूसरे से सटकर खड़े हुए वृक्षो से जहाँ वह अरण्य गहन बना हुआ है, वहाँ उसे बड़े-बड़े वट-वृक्षो की जटाओ ने और भी गहन बना दिया है। उस अटवी मे जहाँ क्वचित् निम्ब, कदम्ब और जम्बू जैसे वृक्ष भी दिखाई देते हैं, वहाँ अधिकांश कँटीली झाडियाँ-ही-झाड़ियाँ तथा यम की जिह्वा-जैसे अपने शूलों को लिये बबूल-ही-बबूल खड़े हैं। धावडे, खाखरे, महुडे और थूहर आदि वृक्षों से तथा वन्य पशुओ के विभिन्न प्रकार के शब्दो से वह घाटी अत्यन्त विकट प्रतीत होती है।" इस प्रकार उपर्युक्त कुछ उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीकालू यशोविलास' आचार्यश्री की एक विशिष्ट कृति है। उसमे प्रकृति तथा मानव-स्वभाव के विविध पहलुओं के सजीव वर्णन के साथ-साथ जीवनी का प्रवाह चलता है। कहीं-कही उस प्रवाह में पाठक को तब रुकावट भी प्रतीत होती है जब कि बीचो-बीच में दीक्षाओं तथा अन्तर्-घटनाओ का वर्णन आने लगता है। आचार्यश्री की यह कृति सं० २००० में पूर्ण हुई थी।

माणक-महिमा

माणक-महिमा मे तेरापंथ के षष्ठ आचार्यश्री माणकगणी का जीवन वर्णित है। यह 'श्रीकालू यशोविलास' के काफी बाद की रचना है। स० २०१३ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को इसकी पूर्ति हुई थी। अपेक्षाकृत यह काफी छोटी रचना है। इसमे तेरापथ के श्रमण-समुदाय की गतिविधियो का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। श्रमण-सस्कृति वस्तुत शान्ति, समानता और श्रम के आधार पर चलने वाली सस्कृति है। प्राकृत के 'समण' शब्द से शम, सम और श्रम ये तीनो एकरूप हो जाते हैं। इसलिए साधुओ की दिनचर्या मे भी इन तीनो की व्याप्ति हो जाना आवश्यक है। इसी बात को व्यक्त करने के लिए एक जगह साधुओ की दिनचर्या का वर्णन वे इस प्रकार करते है

शम, सम श्रममय श्रमण संस्कृति, निरख साधना भारी।
शान्त रसाश्रित जीवन जोयो, होयो दिल अविकारी ॥
निर्धन धनिक पुण्य परितोषित, शोषित नर हो नारी।
सदा 'सव्वभूयप्पभूय' बहै, समता रस की क्यारी ॥
है जिहां श्रम की बड़ी प्रतिष्ठा, जीवन चर्या सारी।
श्रम परिपूर्ण सबेरं सध्या, निरखो नयन उघारी ॥
अपनो-अपनो कार्य करो सब, प्रतिदिन ऊठ सवारी।
अपठित पठित अमीर गरीब, हुए जब महाव्रतधारी ॥
पडिलेहण और काजो-पूंजो, पात्र-प्रमार्जन बारी।
महाजन हरिजन काम सामलो, चलो श्रमण-पथ-चारी ॥
भारी भोलप अपनं क्रम मं, लाज करं लघुनारी।
सो अपग परमुखापेक्ष बण, दुविधा बहै वृथारी ॥
प्राप्त परिश्रम से जो भिक्षा, सम-विभाग स्वीकारी।
अपनी पांती में सुख मानो, नहितर जीवन ख्वारी ॥
वृद्ध बाल गुरु ग्लान म्लान, परिचर्या उचित प्रकारी।
हो जिम सब की चित्त समाधी, रहै सदा सुविचारी ॥
विनय विवेक नेक अनुशासन, आसन दृढता धारी।
हिलं न एक पान भी गणपति, आज्ञा बिन अविचारी ॥

— माणक महिमा, गीतिका २, २ से १०

जब कि माणकगणी अपना उत्तराधिकारी स्थापित किये बिना ही दिवगत हो गए, तब सारे संघ पर आचार्य के चुनाव का भार आ गया। उस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए मुनिजनो की मानसिक उथल-पुथल का विश्लेषण करते हुए जो कहा गया है, वह न केवल तेरापथ के श्रमणो की चिन्तन-पद्धति को ही व्यक्त करता है, अपितु उनकी विचार-गरिमा का भी द्योतक है। वह वर्णन इस प्रकार है

विचारो सन्तां ! सब मिल बात क नाथ कठा स्यं ल्यावांला ?
सरं नहि बिना नाथ इक स्यात, वर्ष सम रात बितावांला ॥
आपांरो गण गोकुल सन्ता ! गउवां लखां विशाल।
बड़ो विदारू और बुघारू, पिण नहि रह्यो गोवाल।
सन्तां ! बिना गवाल गउवां की सी गति आपां पावांलां ॥
सेना कड़ाबूड़ है सारी, पहरण पक्की वेश।
पर सेनापति रह्यो न कोई, कुण दं अब आदेश।

सन्तां ! बिन सेनानी सेना की कांइ उपमा पावांला ॥
ग्रह नक्षत्र चमकता तारा, तारां की झमझोल ।
पिण अम्बरियो सूनो लागे, बिना चांद चमकोल ।
सन्तां ! बिना चांद की रजनी स्यूं आपां तुल जावांला ॥
जातिवान द्रुम पेड़ 'र पौधा, विटपी लता वितान ।
फल फूलां स्यूं लड़ा-लुंब है, माली बिना बगान ।
सन्तां ! बिन माली के उपवन की उपमा बन जावांला ॥
खेती खड़ी नाज स्यूं नमती, दीखं सुन्दर डोल ।
पिण बिण बाड़ सतावं राही, मन स्यूं करं मखोल ।
सन्तां ! बिना बाड़ की खेती गण ने नहीं बणावांला ॥

—माणक-महिमा, गीतिका १८, २ से ६

श्रीकालू उपदेशवाटिका

'श्रीकालू उपदेशवाटिका' आचार्यश्री द्वारा समय-समय पर बनायी गई भक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक गीतिकाओं का संग्रह है। यह ग्रन्थ सं० २००१ से २०१५ तक बनता रहा। इस कथन से यह अधिक सगत होगा कि इस लम्बी अवधि में बनायी गई गीतिकाओं को बाद मे इस नाम से संगृहीत कर लिया गया। यह राजस्थानी भाषा का ग्रन्थ है। इसकी भक्त्यात्मक गीतिकाएं जहां व्यक्ति को भक्ति-विभोर कर देने वाली हैं, वहां आचार्यश्री के भक्ति-प्रवण हृदय का भी दिग्दर्शन कराने वाली हैं। यद्यपि जैन तथा जैनेतर भक्तिवाद की भूमिका मे काफी भेद रहा है; फिर भी आचार्यश्री भक्ति-धारा में बहते हुए दूसरी धारा को भी मानो अपने में समा लेना चाहते हैं। वे जानते हैं कि उनका आराध्य जैनेतर भक्तिवादियों के आराध्य के समान दृश्य या अदृश्य रूप से अपने आराध्य के पास नहीं आता। उसे तो केवल भाव-विशुद्धि का साधन ही बनाया जा सकता है, फिर भी वे उसे अपने मन-मन्दिर मे बुलाने का आग्रह करने से नही चूकते। वे कहते है

प्रभु म्हारं मन-मन्दिर में पधारो !
करूं स्वागत गान गुणां रो,
करूं पल-पल पूजन थारो।
चिन्मय नं पाषाण बनाऊं, नहीं मं जड़ पूजारो,
अगर-तगर-चन्दन क्यूं चरचूं, कण-कण सुरभित थारो।

स्थान की अनुपयुक्तता में कही आराध्य उस मन्दिर मे आने से इन्कार न कर दे, इसलिए वे स्वय ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए वहीं आगे कहते हैं :

म्हारं स्थान चंचलता निरखी, न करो भाव नाकारो,
तुम थिर वासे थिरमलता पा, होसी थिरता थारो।

बड़े-से-बड़े दार्शनिक तथ्य को भी वे छोटे-से किसी रूपक के सहारे इस सहजता से कह जाते हैं कि आश्चर्य होता है। राग और द्वेष दोनों ही, आत्म विरोधी भाव हैं, परन्तु जन-मानस मे एक के प्रति आदरमूलक भाव हैं तो दूसरे के प्रति निरादरमूलक। वे उन दोनों की एकरूपता तथा भावनात्मक भेद के कारण उन पर होने वाली मानव-प्रतिक्रिया की विभिन्नता को यों समझाते हैं :

द्वेष दाव; हिमपात राग है,
पण दोनां री एक लाग है,
है दोनां री काम कमल रो खोज गमाणो।
काठ काट अलि बाहर आवं,

कमल पांखड़ी छेद न पावै,
द्वेष राग रो रूपक जाण सको तो जाणो ॥

कुछ गीतिकाओ मे भक्ति और उपदेश का अत्यन्त मनोहर मिश्रण हुआ है। इसी प्रकार की एक गीतिका मे अविनाशी प्रभु की भक्ति के लिए प्रेरणा देते हुए वे कहते है

"भज मन प्रभु अविनाशी रे !
बीच भंवर में पड़ी नावड़ी कांठे आसी रे ॥
थांरो म्हांरो कर कर सारो जनम गमासी रे।
कोड्यां साटे हीरो खोकर तूं पिछतासी रे ॥

इस सग्रह की उपदेशात्मक गीतिकाए बहुत सरसता के साथ जहाँ व्यक्तियो को दुष्प्रवृत्तियो से हटने की प्रेरणा देती हैं, वहाँ स्थान-स्थान पर रूपको के रूप मे काव्य-रस का भी आस्वादन कराती है। उदाहरण स्वरूप एक गीतिका के निम्नोक्त पदो को पढ़ लेना पर्याप्त होगा

अम्बर मे कड़कै बिजली कड़ी,
होके रहिज्यो रे राही हुंशीयार !
घुमड़ घोर है गगन मण्डल में अजब अंधेरी छाई।
पथ नहीं सूझे हुवय अमूंझै, डाफर स्यूं काया कुम्हलाई ॥
तरुण तूफान अरुण हो अन्धड़, आंख मींचता आवे।
भारी बिरखा बाढ़ नदयां में, जीवड़ो जोखम स्यूं घबड़ावे ॥
पापी मोर पपीहा बोलै, हंसा हुया प्रवासी।
कांठे खड्या रूंखड़ा डोलै, मिटा में कुटिया लुट जासी ॥
खिण-खिण में जो खयांत राखता, चढ़ता मोटै माले।
'जाए जाती खोजा खाती' बहग्या बै पिण पाणी रे बाले ॥

इसमें ससारी प्राणी को रूपक की भाषा मे राही कहा गया है। राही के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो का भी उसी प्रकार की भाषा से वर्णन करते हुए उसे सावधान किया गया है—"आकाश में कड़कती हुई बिजलियाँ, घुमड़ते हुए बादलों में चारों ओर छाने वाला अन्धकार, शरीर को विच्छाय कर देने वाली डाँफर—शीत वायु, आँख मींचकर चलने वाले तूफान और अन्धड़, टूटकर गिरने वाली भारी वर्षा तथा चढ़ी हुई नदियों ने तुम्हारे लिए घबरा जाने का वातावरण तैयार कर देने के साथ-साथ खतरा भी पैदा कर दिया है। ऐसा न हो कि तुम तट पर खड़े वृक्ष की तरह यों ही उखड़ जाओ तथा तट पर बँधी कुटिया की तरह क्षण-भर मे डुबो दिये जाओ। यहाँ प्रतिक्षण सावधान रहने वाले तथा ऊँचाई पर रहने वाले व्यक्ति भी बहुधा बहाव के साथ बह जाते हैं।"

श्रद्धेय के प्रति

यह भी 'श्रीकालू उपदेशवाटिका' की तरह गीतिकाओं का सग्रह ही है। इसमे विभिन्न पर्व-दिवसो पर देव, गुरु और धर्म के विषय मे बनायी गई गीतिकाए है। इसके दो विभाग कर दिये गए हैं। प्रथम मे हिन्दी और दूसरी में राजस्थानी की गीतिकाए है। वे प्राय. महावीर-जयन्ती, भिक्षु-चरमोत्सव तथा मर्यादा-महोत्सव आदि पर्व-दिवसों पर बनायी गई है। स्तुत्यात्मक होते हुए भी अनेक स्थानो पर काफी गहरा निरूपण किया गया है। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट एक आचार्य, एक आचार और एक विचार की त्रिपदी को लक्ष्य कर उसे एक नूतन अद्वैत बतलाते हुए कहा गया है :

एकाचार एक समाचारी एक प्ररूपणा पन्थ।
ओ नूतन अद्वैत निकाल्यो वाह-वाह भीखणजी सन्त।

चातुर्मासिक प्रवास से सन्त-सतियों के दूर-दूर तक फैल जाने और फिर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर एकत्रित

होने की इस विकोचन और संकोचन की प्रक्रिया को नदी के रूपक में अत्यन्त सूक्ष्मता और गौरवशीलता के साथ यों अभिव्यक्ति दी गई है :

पावस में पसरै करै अपनो शीतकाल संकोच ।
निर्झरणी सम शासन सरणी अन्तर्मन आलोच ।।

प्रबन्ध-काव्य

इधर लगभग तीन वर्षों से आचार्यश्री का रुझान प्रबन्ध-काव्य लिखने की तरफ हुआ है। इन वर्षों में उन्होंने 'आषाढभूति,' 'भरतमुक्ति' तथा 'अग्नि-परीक्षा' नाम से तीन काव्य लिखे हैं। हिन्दी में प्राय. छन्दोबद्ध प्रबन्ध-काव्यों का ही प्रचलन है; किन्तु इस परिपाटी के विपरीत ये तीनों गीतिका-निबद्ध हैं। बीच-बीच में दोहो, सोरठो तथा गीतक छन्द आदि का भी प्रयोग किया गया है। जैन-साहित्य-परम्परा में यह शैली काफी प्रचलित रही है। राजस्थानी तथा गुजराती में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इस शैली का प्रयोग बीजारोपण के रूप में आचार्यश्री द्वारा किया गया है। इसकी संगीतात्मकता श्रव्य-काव्य के भावनात्मक ध्येय की पूर्ति करने वाली है। रोचक कथानक, प्रवाहमयी भाषा संगीतात्मकता के साथ मिलकर श्रोता को एक अद्वितीय आनन्द की अनुभूति करा देने वाली होती है।

आषाढ़भूति

'आषाढभूति' की कथा जैन समाज में अति प्रसिद्ध है। एक महान् आचार्य का परिस्थितियों के आवर्त्त-विवर्त्तों में फंसकर नास्तिकता की ओर झुकने और फिर उस भावना पर विजय पाकर आस्तिकता में स्थिर होने तक की घटनावलि में मानस के अनेक उतार-चढ़ावों का वर्णन है। अन्य पारिपार्श्विक वर्णन भी हृदय को छूने वाले हैं। शहर में फैली हुई महामारी के अवसर पर नगरवासियों की दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है :

प्रायः पड़े बीमार; न कोई सेवा करने वाला।
त्राहि-त्राहि कर रहे, न घर में पानी भरने वाला।।
अच्छे-अच्छे भिषग्वरों की औषधि काम न करती।
उग्र व्याधि के प्रबल घात से धड़क रही है धरती।।
छोड़ पितामह प्रपितामह को पौत्र प्रपौत्र सिधारे।
माता मरी, रो रहे बच्चे बिलख-बिलख कर सारे।।
अन्ध-यष्टि से निराधार-आधार नन्द इकलौते।
पैर पसारे, कौन उबारे, रहे स्वजन सब रोते।।
कहीं-कहीं पर तो मृतकों को नहीं जलाने वाले।
घर-घर में शव पड़े सड़ रहे, कौन किसे सँभाले?
एक चिता पर, एक बीच में, एक पड़ा है धरती।
वर्ग-भेद के बिना, शहर में घूम रहा समवर्ती।।

—आषाढ़भूति, १-४८ से ५३

महामारी के प्रचण्ड प्रहार ने आचार्य आषाढ़भूति के अनेक योग्य तथा विद्वान् शिष्यों की आहुति ले ली। शेष शिष्यों के बचने की आशा भी कुपित काल के आघातों से धूमिल हो उठी। उस स्थिति ने आचार्य के धार्मिक मन को झकझोर डाला। वे सोचने लगे, क्या आजीवन की गई धर्म-साधना का यही प्रतिफल है! जन-साधारण की मृत्यु तथा अपने विद्वान् शिष्यों की मृत्यु के अभेद ने उनके मन में नास्तिकता का बीज वपन कर दिया। एक ओर उनके मानस की यह डगमग करती हुई स्थिति थी, तो दूसरी ओर गण की स्थिति उस उद्यान के समान हो रही थी जो कि पतझड़ के समय बिल्कुल शोभाविहीन होकर डरावना-सा लगने लगता है। आचार्य अपने मन की इस परेशानी को जब बचे हुए शिष्यों

के सामने रखते है, तब उनका मन इतना खिन्न और निराशा से भरा होता है कि उन्हे किसी के बचने की सम्भावना ही नही रहती। उन्हे लगता है कि काल कुपित होकर उनकी हरएक आशा को घात लगा-लगाकर तोड डाल रहा है। तभी तो वे अपने अवशिष्ट शिष्यो को सानन्द बिदा देने की बात कह डालते है और साथ ही अपनी आँखो मे घिर आने वाली नास्तिकता की सम्भावित काली रात का भी उल्लेख कर देते हैं। वे कहते है :

फलित ललित आषाढ़भूति-गण
पतझड़ हुआ आज देखो
किसने सोचा यों आयेगा, भीषण झंझावात !
शेष रहे भी बच पायेंगे
यह भी सम्भव नहीं अहो !
रह-रह आशा तोड़ रही है, कुपित काल की घात।
ले लो सभी बिदा मेरे से,
मैं सानन्द तुम्हे देता
पर घिरने वाली है, इन आँखों में काली रात।"

—आषाढ़भूति, १-७२ से ७४

एक स्थान पर बालको का वर्णन सहज और सरल शब्दो मे इतने आकर्षक ढग मे किया गया है कि मानो बालको की आकृति, प्रकृति और क्रिया-कलाप स्वय ही मुखरित हो उठे हो

तप्त स्वर्ण से उनके चेहरे, कोमल प्यारे-प्यारे,
झलक रही थी सहज सरलता, हसित बदन थे सारे।
तुतली-तुतली प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी बोली
बड़ी सुहानी हृदय लुभानी, सूरत भोली-भाली।

—आषाढ़भूति, २-६६, ७२

महाकवि कालिदास ने कहा है—नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण। अर्थात् मनुष्य की दशा रथ के चक्र की तरह क्रमश नाचे से ऊपर और ऊपर से नीचे होती रहती है। आचार्यश्री इस बात को 'प्रति' से जोड कर यो कहते है

आता पतन चरम सीमा पर, तब चाहता उत्थान,
प्राय मानव-मानस का यह, सरल मनोविज्ञान।
है सम्भावित अत्युत्कर्षण में होना अपकर्ष,
अत्यपकर्षण में ही होता, निहित सदा उत्कर्ष।

—आषाढ़भूति, ३-१२७, १२८

भरत-मुक्ति

'भरत-मुक्ति' भगवान् ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र भरत के जीवन से सम्बद्ध प्रबन्ध-काव्य है। मानव-संस्कृति के प्रथम स्फोट के अवसर पर मार्ग-दर्शन करने वाले तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ को, जैनो ने ही नही, किन्तु वैदिको ने भी अपने अवतारो मे से एक गिना है। इस काव्य मे उस समय के मानव-स्वभाव और उसमे क्रमिक विकास का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। महाराज भरत ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र होने के साथ यहाँ के प्रथम सम्राट् भी थे। जैनो के विचारानुसार उन्हीं के नाम पर इस क्षेत्र को 'भरत' या 'भारत' कहा जाने लगा है। भरत के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव है। राज्य-लिप्सा, भाइयों से कलह, युद्ध, साम्राज्य-स्थापन तथा अनन्य सुख-भोग आदि की घाटियों से तुमुल नाद के साथ बहती हुई उनकी जीवन-सरिता अन्त शमरस की समभूमि पर आ जाती है। यहीं से उनके जीवन की उस उच्च भूमिका का निर्माण होता है जिसे प्राप्त करने के लिए योगिजन योग-साधना करते

हैं। दृश्य और अदृश्य सभी बन्धनों से पूर्ण मुक्ति की ओर अभियान का प्रारम्भ इसी अवस्था से होता है।

सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने वाले प्रभु ऋषभनाथ के द्वारा सरयू के तट पर 'वनिता' नगरी की स्थापना हुई। उस समय की प्रारम्भिक स्थितियों मे उसका अपना वैभव प्राकृतिक वैभव ही हो सकता था। नगर के सन्निकट के विपिन-कुञ्ज पादप और लताओं से भरे हुए थे। उनका वर्णन करते हुए कहा गया है

छोटे-छोटे सन्निकट विपिन,
तरु वल्लरियों से घिरे सघन,
कुञ्जों की वह कमनीय प्रभा,
किसका न रही हो चित्त लुभा;
शाखाओं के मिष हाथ हिला,
पथिकों को पादप रहे बुला;
आओ मीठे फल खा जाओ,
अपनी पथ-श्रान्ति मिटा जाओ।

—भरत-मुक्ति, सर्ग ३

विपिन के तरु, वल्लरियों और कुंजो के द्वारा पथिक को जहाँ चित्त-प्रसत्ति होती है, वहाँ उसे प्रकृति का अतिथि-सत्कार भी प्राप्त होता है। भारतीय मानव ही अतिथि-सत्कार मे निपुण नही है, अपितु वृक्ष भी उसमे कम नही उतरना चाहता। वे अपनी शाखाओ के हाथ हिला-हिलाकर पथिकों को बुलाते है और अपने मीठे फलो तथा छाया से उनकी श्रान्ति दूर करते हैं। यहाँ पादपो द्वारा पथिको को बुलाना तथा मीठे फल खाने का आग्रह करना आदि क्रियाओं का बडी सुन्दरता से मानवीकरण किया गया है।

स्त्रियाँ वस्त्राभूषणों से सज्जित होती हैं, अपने रूप-गौरव पर अपने-आप ही लज्जित होती हुई वे झुकी-झुकी सी रहती हैं। पति के आस-पास रहने को वे अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट सुख मानती हैं। उनकी हर गतिविधि पुरुष के मन को उन्मत्त कर देने वाली है। परन्तु वे सारी गतिविधियाँ मानवीय सस्कारो मे ही बँधकर नही रह जाती हैं। कवि के संस्कार मे वे वनस्पतिलोक में भी उसी प्रकार से चलती रहती है। मानवीय भावों को वनस्पति-जगत् पर कवि ने कितने सुन्दर ढग से आरोपित किया है

शाखाओं से नत लज्जित हो,
पत्तों पुष्पों से सज्जित हो,
मानसोन्मादिनी लतिकायें,
पादप गण के दायें बाएं।

—भरत-मुक्ति, सर्ग ३

एक-स्थान पर हिंसा और अहिंसा के विषय मे बडी स्पष्टता के साथ कहा गया है

है हिंसा आक्रामकता, भय खाना भी हिंसा है,
उसमें बर्बरता, इससे जग में निन्दा-लिप्सा है।
दोनों से आत्म-पतन है, दोनों हैं दुर्बलताएं,
क्यों लड़ें किसी से अड़के ? क्यों मरने से घबरायें ?
होते आक्रमण, पलायन, भयभीतों के दो लक्षण,
बचते जो इन दोनों से, वे ही गम्भीर विचक्षण।
वर अभय अहिंसा वेली, जहाँ भय का काम नहीं है,
संत्रस्त भयाकुल प्राणी लेते विश्राम वहीं हैं।

—भरत-मुक्ति, सर्ग ४

आक्रमण करना हिंसा है, पर आक्रमण से भयभीत होना भी हिंसा है। एक मानवीय बर्बरता का प्रदर्शन है तो दूसरी कायरता का; दोनों ही वृत्तियां निन्दनीय है। भयभीत पशु या तो आक्रमण कर बैठता है या भाग जाता है। मनुष्य की भी वृत्तियां अभी तक वैसी ही चल रहा है। वह भी तो यही करता है। आचार्यश्री ने अहिंसा के समर्थन मे भरत के भाइयों के मुख से ये उद्गार व्यक्त कराये हैं कि अहिंसा ही अभयदायिनी है, ससार के प्राणियों के लिए इसमे अतिरिक्त विश्राम का कोई स्थान नही हो सकता।

अग्नि-परीक्षा

अग्नि-परीक्षा आचार्यश्री के प्रबन्ध-काव्यो मे नवीनतम रचना है। इसमे जनक-तनया सीता के माध्यम से भारतीय नारी का जहाँ शील-सौजन्य अकित किया गया है, वहाँ राम तथा तत्कालीन जनता के माध्यम से नारी जाति के प्रति पुरुष जाति का युग-युगान्तरों से चला आ रहा सन्देह भी वर्णित तथा आलोचित हुआ है। लका-विजय के बाद राम के सपरिवार अयोध्या आने की भूमिका से इस काव्य का प्रारम्भ हुआ है, तो सीता के अग्नि-परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के साथ परिपूर्ण। इसमे घटनावलि इस क्रम से चलती रही है कि न कही राम भुलाये गए है और न कही सीता, फिर भी पाठक के सम्मुख स्वय ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे मूल पात्र राम न होकर सीता है। 'अग्नि-परीक्षा' नाम भी इसी वास्तविकता का द्योतक है।

यद्यपि आज की परिस्थिति मे किसी नारी को अग्नि मे डालकर उसके शील की परीक्षा करना न व्यवहार्य है और न सम्भव, फिर भी पुरुष के मन मे जब-जब नारी के शील मे सन्देह उत्पन्न होता है, तब-तब उस बेचारी को, प्रतीकात्मक भाषा मे कहे तो आज भी, 'अग्नि-परीक्षा' में से ही गुज़रना पडता है। नारी के लिए यह एक शाश्वत समस्या है। इस समस्या का हल सीता ने अपनी मानसिक पवित्रता, आत्म-बल और सहिष्णुता मे ही खोजा था। प्रत्येक नारी के लिए उनके इन आदरणीय गुणों की आवश्यकता है। आचार्यश्री ने निष्कासन के अपमान से दुःखाभिभूत सीता के मुख से राम को नाना उपालम्भ दिलाकर उनके सहज नारीत्व को उभारा है। उन्हे पुरुष की दासी-मात्र नही बनाकर, स्वाभिमान-युक्त नारी के रूप मे चित्रित किया गया है जो कि सर्वथा स्वाभाविक है। यह काव्य मानस-भूमि मे सात्त्विक गुणो के अकुरित होने के लिए एक सहज वातावरण उत्पन्न करता है। इस काव्य की ललित पदावलि, धारा की तरह प्रवहमान भाषा तथा सरस वर्णन पाठक को मुग्ध किये बिना नही रहते। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

राम जब रात्रि के समय अयोध्या में घूमकर सीता के अपवाद की बाते सुनकर वापस आते है, तब एक ओर तो शान्त रात्रि तथा दूसरी ओर अशान्त मन का वातावरण उनके लिए असह्य हो गया उसका चित्रण यो किया गया है

विश्व वातावरण सारा तम-निमज्जित हो रहा,
जन-समूह अनूह निशि के व्यूह में था सो रहा।
टिमटिमाते तारकों की कान्ति ज्योति-विहीन थी,
प्रकृति ध्वान्तावरण में तल्लीन सर्वांगीण थी।
अभ्र-अवनी-सर-सरोरुह श्रान्त शान्त नितान्त थे,
सरित-सागर-शब्द रह-रह हो रहे उद्भ्रान्त थे।
विहग पन्नग द्वय-चतुष्पद सर्वतः निस्तब्ध थे,
हुई परिणत गति स्थिति में, शब्द भी निःशब्द थे।
किन्तु राघव का हृदय आन्दोलनों से था भरा,
घूमता आकाश ऊपर, घूमती नीचे धरा।
तल्प कोमल निशित शायक तुल्य दुःखद लग रही,
स्वयं उनको हा स्वयं की भावनाएं ठग रहीं।

—अग्नि-परीक्षा, ३-१ से ३

नारी-जाति के विषय में आचार्यश्री के अतिशय कोमल विचार हैं। वे उनकी उत्थान-विषयक योजनाओं को कार्यान्वित करने पर बहुधा बल देते रहते हैं। नारी-जाति की पीड़ा और विवशता उनसे छिपी नहीं है। राम द्वारा निष्कासित होने पर सीता का चिन्तन वस्तुतः आचार्यश्री के चिन्तन को ही व्यक्त करने वाला है, जो कि इस प्रकार है :

है पुरुषों के लिए खुली यह वसुधा सारी,
पर, नारी के लिए सदन की चार-दीवारी।
सूर्य देखना भी होता महाभारत भारी,
किसे कहें अपनी लाचारी यह बेचारी।
मार-मार कर अपने मन को वह सब कुछ सहती,
जैसा होता, नहीं किसी से कुछ भी कहती।
चिन्ता सदा चिता बन, उसको दहती रहती,
व्यथा हृदय की छल-छल कर पलकों से बहती।

—अग्नि-परीक्षा, ४–१४, १५

जैन रामायण के अनुसार परित्याग के लिए सीता को लक्ष्मण नहीं, किन्तु 'कृतान्तमुख' सेनापति ले गए थे। जब वे वापस आकर राम को सीता के उपालम्भों आदि से अवगत कराते है, तब उनसे श्रोतागण का मन करुणार्द्र हो उठता है, परन्तु अन्तत जब सीता इस काण्ड में भी सदा से निर्दोष रहने वाले राम के मति-विभ्रम को अपने ही किन्हीं अज्ञात कृतकर्मों का परिणाम स्वीकारती है, तब भारतीय नारी की इस शालीनता और सात्त्विकता पर मस्तक झुक जाता है। कृतान्तमुख उनके शब्दों को यों दुहराता है

कैसे प्रतिकूल प्रवाह बहा, कुछ भी जा सकता नहीं कहा,
नस-नस में उनकी आन रही, अति भावुक भद्र स्वभाव रहा।
जो हुआ, दोष सब मेरा है, निर्दोष निरन्तर रहे राम,
कृतकर्मों का ही कुपरिणाम, जिससे उनकी मति हुई वाम।
झूठा कलंक यह आया है, रवि के रहते तम छाया है,
माताजी ने कहलाया है।।"

—अग्नि-परीक्षा, ४-७४

इसके साथ ही जब वे इस परित्याग से उत्पन्न हुई स्थिति से अपने और राम के सम्बन्धो का जिक्र करती है, तब रूपको के माध्यम से कवि उनके भावो की अभिव्यक्ति इतनी गहराई और मार्मिकता के साथ करते है कि हर रूपक सीता के अन्तस्तल की पीड़ा का प्रतिबिम्ब बनकर 'श्रव्य' के साथ-साथ 'दृश्य' होने का आभास देने लगता है। वहां कहा गया है

ममता की गांठ शिथिल हुई, भावों की गगरी फूट गई,
निर्यामक का मुंह फिरते ही, पतवार हाथ से छूट गई।
सीता की सरिता सूख गई, सपनों की रजनी रूठ गई,
अब क्या जीने में जीना है, जब आकांक्षाएं टूट गईं।
सब गत-रस किया कराया है, प्यारी काया से छाया है।

—अग्नि-परीक्षा, ४-७५

एक स्थान पर शरद् ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है

शरद् ऋतु की सुखद शीतल पव-मलहरी बह रही,
विगत-घन अति शुभ्र अम्बर पंक-विरहित भू मही।
आ रहा विस्तार वर्षा का सहज संक्षेप में,

ज्यों समाहित तत्त्व सारे, चतुर्विध निक्षेप में।
नाति शीत, न चाति ऊष्मा, सम अवस्थित भाव में,
सर्वदा ज्यों लीन रहते, सन्त सहज स्वभाव में।
निशा-वासर हैं बराबर, तुल्यता कफ-वात में,
वेदनी आयुर्यथा सम समुद्घात-विघात में।
पूर्णतः अनुकूल ऋतु यह स्वास्थ्य-शोधन के लिए,
ज्यों अणुव्रत आज जन-मानस प्रबोधन के लिए।
स्वच्छ सलिल सरोवरों का मुकुर-सदृश सुहावना,
धर्म शुक्ल ध्यान में जैसे समुज्ज्वल भावना।
जैन मुनि भी कर रहे अब प्रतीक्षा प्रस्थान की,
योग-रोधक प्राप्त-शैलेशी यथा निर्वाण की।
स्वल्प-सी भी वृष्टि होती सिद्ध अत्ययपयोगिनी,
सजग मुनि की क्रिया संवर-निर्जरा-सयोगिनी।
हो रहीं कृशकाय नदियाँ, क्षीण निर्झर-पीनता,
क्षपक श्रेण्यारूढ मुनि की ज्यों कषाय-प्रहीणता।
वर्ष भर का कृषिक श्रम अब हो रहा साकार है,
खींचता तन-सार अनशन में यथा अनगार है।"

—अग्नि-परीक्षा, ५-१ से ५

यहाँ शीतल पवन, घनरहित आकाश, पंकरहित धरती, वृष्टि-विस्तार से हुए हर उपक्रम का पुन सक्षेप, शीतोष्ण भावना की समस्थिति, दिन-रात की समानता, स्वास्थ्य की अनुकूलता, जल की स्वच्छता, नदियों और निर्झरों के उफान का शमन तथा कृषिक के श्रम का धान्य के रूप मे साकार होना आदि कार्य शरद् ऋतु का इतना सहज चित्र खीचते हैं कि जिसे हर कोई दृश्य जगत् मे प्रतिवर्ष साक्षात् अनुभव करता है। इस वर्णन मे प्रयुक्त उपमाए जहाँ एक ओर विषय को सरल बनाती हैं, वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भी बना देती हैं। जैन तत्त्व-ज्ञान के बिना उन्हे समझना कुछ कठिन है। इन उपमाओ से आचार्यश्री ने एक नवीन प्रयोग किया मालूम होता है। अवश्य ही इससे जैन सस्कृति के विचारों तथा पारिभाषिक शब्दो से जन-साधारण को परिचित होने की प्रेरणा मिलेगी।

संस्कृत-साहित्य

आचार्यश्री के सस्कृत-साहित्य मे 'जैन सिद्धान्तदीपिका' तथा 'भिक्षुन्यायकर्णिका' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ हैं। ये प्राचीन परिपाटी के अनुसार सूत्र तथा वृत्ति के रूप मे सदृब्ध हैं। 'जैन सिद्धान्तदीपिका' मे जैन मान्यतानुसार तत्त्व-निरूपण किया गया है। इसके नौ प्रकाश हैं। नवे प्रकाश मे जैन न्याय-सम्बन्धी सक्षिप्त परिभाषाए दी गई हैं, जबकि अन्य आठ प्रकाशो मे द्रव्य, आत्मा, कर्म, अहिंसा तथा गुणस्थान आदि का विवेचन है। 'न्यायकर्णिका' मे आठ विभाग हैं जिनमे जैन मान्यतानुसार प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ न्याय के विद्यार्थियों के लिए प्रवेश-द्वार का कार्य करता है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' आदि ग्रन्थो के समान इसमे इतर न्याय-शास्त्रियो के मन्तव्यो का खण्डन करने का लक्ष्य नही रखा गया है। यह ग्रन्थ जैन पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा जैन न्याय के प्रमुख अग नय-निक्षेप आदि को भी सरलता से हृदयगम कराने मे सहायक होता है। वस्तुवृत्त्या यह अत्यन्त उपयोगी एक लाक्षणिक ग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सस्कृत-गद्य मे आचार्यश्री के कई निबन्ध भी हैं। सस्कृत पद्य-ग्रन्थों मे 'कालू कल्याण मंदिर-स्तोत्रम्', 'कर्तव्यषट्त्रिंशिका', 'शिक्षाषण्णवति' आदि हैं।

धर्म-सन्देश

आचार्यश्री की साहित्य-सृष्टि में धर्म-सन्देशों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सन्देश बहुधा विश्व के विभिन्न भागों में होने वाले विभिन्न सम्मेलनों के अवसर पर दिये गए। अनेक स्थानों पर उनका अच्छा प्रभाव भी देखने में आया। 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' नामक एक सन्देश लन्दन में आयोजित 'विश्व धर्म सम्मेलन' के अवसर पर दिया गया था। वह दूर-दूर तक पहुँचा था। न्यूयार्क के 'साइरेक्यूज विश्वविद्यालय' के डा० रेमंड एफ० पीयर ने एक पत्र में लिखा था कि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रों के पाठ्यक्रम में २६ जून, १६४५ को दिये गए प्रवचन 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' के महत्त्वपूर्ण अंशों को सम्मिलित कर लिया है।[1]

इस सन्देश की एक प्रति महात्मा गांधी के पास भी पहुँची थी। उन्होंने उसे पढ़ा और उस पर कई जगह टिप्पणियाँ भी लिखीं। इस सन्देश का प्रकाशन काफी लम्बे समय के पश्चात् हुआ था। अतः भूमिका में जहाँ एतद्-विषयक खेद प्रकाशित किया गया था, महात्मा गांधीजी ने वहीं पर लिखा—"ऐसे सन्देश निकालने में देरी क्यों ?" पुस्तिका के पृष्ठ ११ पर 'सम्यक्त्व' का विवेचन किया गया है; महात्मा गांधी ने वहाँ लिखा है—"क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया ?" उसके आगे पृष्ठ ११-१२ पर विश्व शान्ति के सार्वभौम उपायों का कथन करते हुए नौ बातें बतायी गई हैं। उस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "क्या ही इच्छा होता कि दुनिया इस महापुरुष के इन नियमों को मान कर चलती।"[2]

यह आचार्यश्री का प्रथम सन्देश था। इसके बाद 'धर्म-रहस्य', 'आदर्श राज्य,' 'धर्म-सन्देश', 'पूर्व और पश्चिम की एकता', 'विश्व-शान्ति और उसका मार्ग', 'धर्म सब कुछ है, कुछ भी नहीं', 'धर्म और भारतीय दर्शन' आदि अनेक सन्देश तथा वक्तव्य दिये गए। उनका प्रायः सर्वत्र यथोचित आदर हुआ है।

मधु-संचय

आचार्यश्री के दैनन्दिन प्रवचनों को अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक रूपों में संकलित किया गया है। वे सभी संकलन उनके साहित्य के ही अंग हैं। 'नैतिक सञ्जीवन', 'शान्ति के पथ पर', 'पथ और पाथेय', 'प्रवचन-डायरी' आदि पुस्तकें इसी क्रम में समाविष्ट हैं। वस्तुतः वे जो कुछ बोलते हैं, वह सब ऋषि-वाणी के रूप में स्वयंसिद्ध साहित्य बन जाता है। उन प्रवचनों में कुछ अंश तो इतने भावपूर्ण होते हैं कि हृदय को छू-छू जाते हैं। वे आचार्यश्री के मानस-मन्थन से उद्भूत विचार नवनीत के रूप में जितने सुकोमल और पवित्र होते हैं, उतने ही शक्तिदायक भी। उनके भावों की गहराई मन को मुग्ध कर लेने वाली होती है। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्यश्री के एक वाक्य पर लिखा था—"अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त तुलसी ने दो शब्दों में इस विकृति-प्राप्त सुख को न लेना और अप्राप्त की सतत चाह रखने का जो चित्र दिया है, उसे हज़ार विद्वान् हज़ार-हज़ार पृष्ठों की हज़ार पुस्तकों में भी नहीं दे सकते। वे शब्द हैं—भूख और व्याधि। सन्त की वाणी है—"आज के मनुष्य को पद, यश और स्वार्थ की भूख नहीं ; व्याधि लग गई है, जो बहुत कुछ बटोर लेने के बाद भी शान्त नहीं होती।"[3] इस प्रकार के छोटे तथा गहरे वाक्यों से आचार्यश्री के प्रवचन भरे रहते हैं। यहाँ उनके इसी प्रकार के भाववाही सुभाषितों के मधु-संचय का कुछ आस्वादन अप्रासंगिक नहीं होगा।

जो सब कुछ जानकर भी अपने-आप को नहीं जानता, वह अविद्वान् है। विद्वान् वही है, जो दूसरों को जानने से पूर्व अपने-आप को भली भाँति जान ले।

... ...

हम अपने से ही अपना उद्धार चाहते हैं। बाह्य नियन्त्रण कम से-कम आयें। हम स्वयं ही नियन्त्रित होकर चलें,

---

१ जैन भारती, मार्च, '४६

२ जैन भारती, जुलाई '४७

३ आलोक, फरवरी '५६

तभी हम अपना उद्धार कर सकते हैं।

.. ..

सिद्धान्तवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है और अनुभूति से मौलिकता। सिद्धान्त से मौलिकता नहीं आती, मौलिकता के आधार पर सिद्धान्त स्थिर होते हैं।

... .. .

जो जितना अधिक नियन्त्रणहीन होता है, वह उतना ही अधिक अपने आस-पास मर्यादा का जाल बुनता है।

... .

हमारा घर साफ-सुथरा होगा तो पड़ोसी को उससे दुर्गन्ध नहीं मिलेगी।
हम अहिंसक रहेंगे तो पड़ोसी को हमारी ओर से क्लेश नहीं होगा।
पड़ोसी को दुर्गन्ध न आये, इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाये रखें, यह सही बात नहीं है।
दूसरों को कष्ट न हो इसलिए हम अहिंसक रहें, अहिंसा का यह सही मार्ग नहीं है।
आत्मा का पतन न हो इसलिए हिंसा न करें, यह है अहिंसा का सही मार्ग। कष्ट का बचाव तो स्वयं हो जाता है।

. .

अहिंसा के दो पहलू हैं—विचार और आचार। पहले विचार बनते हैं, फिर तदनुसार आचरण होता है।

आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानना चिन्तन का दोष है। हिंसा आखिर हिंसा है। यह दूसरी बात है कि आवश्यक हिंसा से बचना कठिन है।

.. .

धर्म एक प्रवाह है। सम्प्रदाय उसका बाँध है। बाँध का पानी सिंचाई और अन्य कार्यों के लिए उपयोगी होता है। वैसे ही सम्प्रदाय से धर्म सर्वत्र प्रवाहित होता है। इसके विपरीत सम्प्रदायों में कट्टरता, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता आ जाये, तो वह केवल स्वार्थ-सिद्धि का अंग बनकर कल्याण के स्थान पर हानिकारक और आपसी संघर्ष पैदा करने वाला हो जाता है।

... ...

शोषण का द्वार खुला रखकर दान करने वाले की अपेक्षा अदानी बहुत श्रेष्ठ है, चाहे वह एक कौड़ी भी न दे।

...

मनुष्य अपनी गलती को नहीं देखता, दूसरे की गलती को देखने के लिए सहस्राक्ष बन जाता है। अपनी गलती देखने के लिए जो दो आँखें हैं, उनको भी मूंद लेता है।

. ...

आत्म-तोष का एकमात्र मार्ग आत्म-संयम है। दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। लोग संयम को निषधात्मक मानते हैं, पर वह जीवन का सर्वोपरि क्रियात्मक पक्ष है।

.. ...

जिसकी चाह नहीं है, उसकी राह सामने हैं और जिसकी चाह है, उसकी राह नहीं है। आज का मनुष्य विपर्यय की दुनिया में जी रहा है। चाह सुख की है, कार्य दुःख के हो रहे हैं।

. .. ...

सुख का हेतु अभाव भी नहीं है और अति भाव भी नहीं है। सुख का हेतु स्वभाव है।

. ...

व्रती समाज की कल्पना जितनी दुरूह है, उतनी ही सुखद है। व्रत लेने वाला कोरा व्रत ही नहीं लेता, पहले वह विवेक को जगाता है। श्रद्धा और संकल्प को दृढ़ करता है। कठिनाइयाँ झेलने की क्षमता पैदा करता है। प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस लाता है, फिर वह व्रत लेता है।

पहले-पहल बुराई करते घृणा होती है, दूसरी बार संकोच, तीसरी बार निःसंकोचता आ जाती है और चौथी बार में साहस बढ़ जाता है।

... .

विचार के अनुरूप ही आचार बनता है अथवा विचार ही स्वयं आचार का रूप लेता है।

... ...

आचार-शुद्धि की आवश्यकता है, उसके लिए विचार-क्रान्ति चाहिए। उसके लिए सही दिशा में गति, और गति के लिए जागरण अपेक्षित है।

... .

जीवन सरस भी है, नीरस भी है। सुख भी है, दुःख भी है। सुख कुछ भी है, कुछ भी नहीं है। नीरस को सरस, दुःख को सुख, कुछ भी नहीं को सब बनाने वाला कलाकार है।

... .

पदार्थ प्राप्ति पर जो आनन्द मिलता है, वह तो क्षणिक होता है।'''किन्तु वस्तु-निरपेक्ष आनन्द ही स्थायी होता है।

.. ..

धर्म जो कि पुस्तकों, मन्दिरों और मठों में बन्द है, उसे जीवन में लाना होगा। बिना जीवन में उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने मात्र से क्या होने वाला है!

.. ..

विश्व शान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो, वस्तुएं नहीं हैं। अशान्ति का मूल कारण अनियन्त्रित लालसा है। लालसा से संग्रह, संग्रह से शोषण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

... .

मुझे तो अणुबम और उद्जनबम जितने प्रलयंकारी नहीं लगते, उतनी प्रलयंकारी लगती है—चरित्रहीनता, विचारों की संकीर्णता। बम तो उन अपवित्र विचारों का फलितार्थ-मात्र है।

... ...

छोटे भिखारियों के लिए तो सरकार भिखारी-बिल बना देगी; पर मैं पूछता हूँ कि इन बड़े भिखारियों का सरकार क्या करेगी? जब चुनाव आते हैं, तब ये बड़े भिखारी घर-घर डोलते हैं—"लाओ वोट और लो नोट!"

... .

लोगों में जितना भाव उपासना का है, उतना आचरण-शुद्धि का नहीं। पर आचरण-शुद्धि के बिना उपसना का महत्त्व कितना होगा!

... ...

मैं चाहता हूँ, प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के सद्विचारों का समादर करे। समस्त धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखे। उदार बनेंगे तो पायेंगे, संकुचित बनेंगे तो खोयेंगे।

... ...

श्रद्धा और तर्क, जीवन के दो पहलू हैं। जीवन में दोनों की अपेक्षा है। व्यावहारिक जीवन में भी न केवल श्रद्धा काम देती है और न केवल तर्क। दोनों का समन्वित रूप ही जीवन को समुन्नत बनाने में सहायक होता है। अतः तर्क के साथ श्रद्धा की भूमिका होनी चाहिए और श्रद्धा भी तर्क की कसौटी पर कसी होनी चाहिए।

... ...

विद्या वरदान है; पर आचार-शून्य होने से वह अभिशाप भी बन जाती है।

... ...

तुम पथिक बनकर पथ पर चलो, लेकिन पथ पर क़ब्ज़ा मत करो ! पंथ पर चलो, पर पंथ के नाम पर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं और महल खड़े मत करो।

.. ..

लोग कहते हैं कि सांप-बिच्छू जहरीले हैं, इसलिए उन्हें मारते हैं। मैं पूछता हूं—जहरीला कौन नहीं है ? क्या आदमी सांप से कम जहरीला है ? सांप कब काटता है ? जब वह दब जाता है, उसे भय होता है, पर आदमी बिना दबे ही ऐसा काटता है कि उसका जहर पीढ़ियों तक भी नहीं उतरता।

.. . ...

खाने के तीन उद्देश्य हैं—स्वाद के लिए खाना, जीने के लिए खाना और संयम-निर्वाह के लिए खाना। स्वाद के लिए खाना अनैतिक है। जीने के लिए खाना आवश्यक है और संयम के लिए खाना साधना है।

.. .

विद्या जीवन की दिशा है, जिसे पाकर मनुष्य अपने इष्ट स्थान पर पहुंच सकता है। चरित्र जीवन की गति है। सही दिशा मिल जाने पर भी गति-हीन व्यक्ति इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच पाता। सही दिशा और सही गति दोनों मिलें, तब काम बनता है।

..

सेवा का सबसे पहला क़दम अपनी जीवन-शुद्धि है। यह आत्म-सेवा है, जिसके बिना जन-सेवा बन नहीं सकती।

...

विद्या का फल मस्तिष्क-विकास है, किन्तु है प्राथमिक। उसका चरम फल आत्म-विकास है। मस्तिष्क-विकास चरित्र-विकास के मध्य से ही आत्म-विकास तक पहुंच पाता है, इसलिए चरित्र-विकास दोनों के बीच में कड़ी है।

. .

न्याय और दलबन्दी, ये दो विरोधी दिशाएं हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओं में चलना चाहे, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है !

. .. ..

मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नहीं जो अगले जीवन को सुधारने के लिए इस जीवन को संक्लिष्ट बनाये बिगाड़े। वस्तुतः धर्म की कसौटी अगला जीवन नहीं, यही जीवन है।

: ८ :

संघर्षों के सम्मुख

आचार्यश्री का जीवन सघर्षमय जीवन की एक कहानी है। ज्यों-ज्यों उनका जीवन विकास करता रहा है, त्यो-त्यो सघर्ष भी बढ़ता रहा है । उनके विकासशील व्यक्तित्व ने जहाँ अनेको भक्त तैयार किये हैं, वहाँ विरोधी भी। भक्ति श्रद्धा या गुणज्ञता से उत्पन्न हुई, तो विरोध अश्रद्धा या ईर्ष्या से। विरोध चट्टान बनकर बार-बार उनके मार्ग मे अवरोधक बनकर आता रहा है, किन्तु उन्होने हर बार उसे अपनी सफलता की सीढ़ी बनाया है। वे जहाँ जाते है, वहाँ हजारो स्वागत करने वाले मिलते हैं तो पाँच दस आलोचना करने वाले भी निकल आते हैं। "विकास विरोधियो के साथ सघर्ष का नाम है"—लेनिन का यह वाक्य अपने पूरे रहस्य के साथ आचार्यश्री पर लागू होता है। विरोध और अनुरोध, इन दोनों ही परिस्थितियो में अपने-आप को सन्तुलित रखने की शक्ति उनमें है। अवरोधजन्य अह-भाव और विरोधजन्य हीन भाव उन्हे प्रभावित नही करते। अपनी स्थितप्रज्ञता के बल पर वे इन सब भावों से ऊपर उठे हुए हैं।

सघर्ष प्राय. हर जीवन मे रहते है, सफल जीवन मे तो और भी अधिक। आचार्यश्री के जीवन मे वे काफी मात्रा में रहे है, कुछ साधारण, तो कुछ असाधारण। कुछ स्वल्पकालिक प्रभाव छोड़ने वाले, तो कुछ चिरकालिक। वर्तमान वातावरण को ता सभी सघर्ष झकझोरते ही है, आचार्यश्री के सम्मुख आने वाले संघर्षों मे कुछ आन्तरिक हैं, तथा कुछ बाह्य।

आन्तरिक संघर्ष

आन्तरिक सघर्ष से तात्पर्य यह है—तेरापथियो द्वारा किया हुआ सघर्ष। क्योकि आचार्यश्री तेरापथी के आचार्य हैं। तेरापथ के विधानानुसार उनकी आज्ञा सभी अनुयायियो को समान रूप से शिरोधार्य होनी चाहिए, परन्तु कुछ प्राचीनतावादियों के मन मे उनके प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए है। उनके विचारानुसार उनकी अनेक बातें तेरापथ की परम्परा के विरुद्ध होती जा रही हैं। वे सोचते है कि आचार्यश्री द्वारा युग की आवश्यकता के नाम पर जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, वे सब अन्तत. अहितकर ही होगे।

आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि धर्म के मूल नियम अपरिवर्तनीय भले ही हों, किन्तु किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना जीवन की गति का ही विरोध करना है। मूल गुणो को सुरक्षित रखते हुए उत्तर गुणो से सम्बद्ध अनेक परम्पराओ का जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है, उसी प्रकार आज भी आवश्यकतानुसार उसमे परिवर्तन की गुजाइश हो सकती है।

प्राचीनता और नवीनता का यह सघर्ष कोई नया नही है। हर प्राचीनता नवीनता को इसी आशंका-भरी दृष्टि से देखती है कि यह कहीं सारे ढाँचे को ही न ढहा दे। परन्तु जो दूर-द्रष्टा होते है, वे जानते हैं कि नवीन प्राण-शक्ति के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता। इसी आधार पर वे प्राचीनता के इन तर्कों से भयभीत नही होते और आवश्यक परिवर्तन करते हैं। आचार्यश्री ने अनेक परिवर्तन किये है और उनके मार्ग में आने वाले विरोधो को उन्होंने विचार-मन्थन का ही एक साधन माना है। जिस क्रिया मे विरोध या रुकावट नही आती, वह कार्य उतना प्रभावकारी भी नहीं होता। जिस काम में चेतना लाने वाली शक्ति होती है, वही हरएक के मस्तिष्क में हलचल पैदा कर सकता है। कुछ लोगों के लिए यह हलचल भय का कारण बन जाती है। वही भय फिर संघर्ष के लिए अनेक निमित्त उपस्थित कर देता है। उन निमित्तो में से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराना अनुचित नहीं होगा।

दृष्टिकोण की व्यापकता

आन्तरिक संघर्ष का बीज-वपन अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के पारिपार्श्विक वातावरण से हुआ । उससे पूर्व सभी मे आचार्यश्री के प्रति अटूट निष्ठा थी । तब तक आचार्यश्री का विहार-क्षेत्र प्राय थली (बीकानेर डिवीज़न) तक ही सीमित था । उनके समय और शक्ति का बहुलाश प्राय उसी समाज के बँधे हुए दायरे मे लगता था । आन्दोलन की प्रवृत्तियो के साथ-साथ ज्यो-ज्यो दायरा विशाल बनता गया, दृष्टिकोण व्यापक होता गया, त्यो-त्यो उस वर्ग पर लगने वाला समय और सामर्थ्य का प्रवाह जन-साधारण की ओर मुडता चला गया । इससे कतिपय व्यक्तियों को लगने लगा कि आचार्यश्री तेरापथ से दूर हटने लगे हैं । वे गैर-तेरापथियो से घिरते चले जा रहे है ।

अणुव्रत-आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति भी अनेक शंकाए उठायी जाने लगी । उनमे मुख्य ये थी

१. जो व्यक्ति सम्यक्त्वी नही है, क्या उसे अणुव्रती कहा जा सकता है ?

२ गृही जीवन के विषय मे नियम बनाना क्या साधुचर्या के अनुकूल है ?

३ श्रावक के बारह व्रतो को छोडकर नया प्रचार करना क्या आगमो के प्रति अन्याय नही है ? आदि-आदि ।

आचार्यश्री ने यथासमय उपर्युक्त तथा इन जैसी अन्य सभी शकाओ का अनेक बार समाधान किया । जो व्यक्ति 'अणुव्रती' शब्द की उलझन मे थे, वे स्वय श्रावक-व्रत धारण न करने वाले को भी श्रावक ही कहा करते थे । श्रावक और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की तुलना पर ध्यान देने से वह शका स्वय ही निरस्त हो जाने वाली थी । परन्तु यहाँ भी श्रावक शब्द के प्रयोग की प्राचीनता और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की नवीनता ही समझने मे बाधक बना रही । गृही जीवन के विषय मे नियम बनाने की बात भी श्रावक के बारह व्रतो की नियमावलि के आधार पर समझ मे आ सकती थी । भगवान् ने श्रावको की तात्कालिक जीवन-व्यवस्था के आधार पर जो नियम बनाये थे, उसी प्रकार के ये नियम थे जो कि वर्तमान जीवन-व्यवस्था को ध्यान मे रखकर बनाये गए थे । अणुव्रत और बारह व्रतो मे तो कोई सघर्ष ही नही था । उस समय भी अनेक व्यक्ति बारह व्रत धारण करते थे तथा अनेक द्वादश-व्रती अणुव्रत के नियमो को भी स्वीकार करते थे । इतना स्पष्ट होते हुए भी ये शकाए दोहरायी जाती रही ।

अणुव्रत-आन्दोलन खुद ही जब चर्चा का विषय बना हुआ था, तब अणुव्रत-प्रार्थना मे भी दो मत होना कोई आश्चर्य की बात नही थी । उसके विरोध मे यह प्रचारित किया गया कि प्रात भगवान् का नाम लेना चाहिए, वह तो इसमें है नही; इसमे तो झूठ-फरेब आदि के नाम भर दिये गए हैं, जिनको कि उस समय याद ही नहीं करना चाहिए । बहुत-से लोग इसीलिए प्रात कालीन प्रार्थना मे सम्मिलित नही होते ।

इसी ग्रीष्म की बात है—एक व्यक्ति को मैंने प्रार्थना मे सम्मिलित होने के लिए कहा, तो उत्तर मिला कि वह तो मेरी समझ में ही नही बैठती ।

मैंने कहा—क्यो; ऐसी कौनसी उलझन की बात है उसमे ?

उसने कहा—नित्य सबेरे ही यह ढिंढोरा पीटना कि हम अणुव्रती बन चुके हैं, अत हमारे भाग्य बड़े तेज हैं—मुझे तो बिल्कुल पसन्द नही है, और मैं तो अभी तक अणुव्रती बना भी नही, अत. मेरे लिए तो ऐसा कहना भी असत्य ही होगा ।

अणुव्रत-प्रार्थना की प्रथम कडी का जो अर्थ उसने लगाया था, उसे सुनकर मैं दग रह गया । इस विरोध के प्रवाह मे बहकर और भी अनेक व्यक्ति न जाने किन-किन बातो का क्या-क्या मनमाना अर्थ लगाते रहते होंगे । मुझे उस भाई की बुद्धि पर तरस भी आया । मैंने समझाते हुए उससे कहा —तुमने प्रार्थना की कडी का गलत अर्थ लगाया है, इसी-लिए तुम्हें उसके विषय मे भ्रम हुआ है । उस कडी का अर्थ तो यह है कि यदि हम अणुव्रती बन सके, तो यह हमारे लिए बडे भाग्य की बात होगी । जिस प्रकार श्रावक के लिए तीन मनोरथों का उल्लेख आगमों में आता है और उनके द्वारा भाव-विशुद्धि होती है; उसी प्रकार इस प्रार्थना मे जीवन-विशुद्धि के लिए जो संकल्प हैं, उनसे भाव-विशुद्धि होती है ।

अणुव्रती बन सकने का सामर्थ्य न होने पर भी वैसा बनने की भावना करना बुरा नही है। इन सब बातो को समझ लेने के बाद वह व्यक्ति प्रार्थना मे सम्मिलित होने लगा।

अस्पृश्यता-निवारण

जैन परम्परा जातीयता के आधार पर किसी को छोटा या बडा मानने की नही रही है। तब इस आधार पर किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानने का तो प्रश्न ही नही उठता, फिर भी पिछली कुछ शताब्दियो में बाह्य प्रभाववश अस्पृश्यता की भावनाए बनीं और फिर धीरे-धीरे रूढ हो गई। अब उन्हे फिर से मूल परम्परा तक ले जाना कठिन हो गया है। उनके सामने उन रूढ सस्कारो का महत्त्व भगवान् महावीर के क्रान्त दर्शन से भी अधिक हो गया है। आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अवास्तविक कहा और तथाकथित अस्पृश्य व्यक्तियो को भी अपने सम्पर्क मे लेना प्रारम्भ किया, तब बहुत-से व्यक्तियो के मन मे एक मूक किन्तु प्रबल हलचल होने लगी। उस हलचल के प्रथम दर्शन छापुर मे हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक हरिजन-बस्ती मे व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा कि उन्हे समझा कर मद्य-मास आदि का परित्याग कराओ। हरिजन-बस्ती मे किसी साधु को भेजे जाने का यह प्रथम अवसर ही था। उन्हे जाना तो पडा, किन्तु उनका मन समस्या-सकुल बना हुआ था। व्याख्यान हुआ, अनेक व्यक्तियों ने मद्य-मास आदि छोडा। व्याख्यान-समाप्ति पर सैकडो लोग उनके साथ आचार्यश्री तक आये। सवर्ण व्यक्तियो ने उनको बडे कुतूहल की दृष्टि से देखा। उस दृष्टि मे स्वय उपदेष्टा भी अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे। उसी समय सकुचाते-से दूर खडे हरिजनो से किसी ने कहा—"देखते क्या हो, आचार्यश्री का चरणस्पर्श करो!" कहने वाले की भावना मे क्या था, पता नहीं; परन्तु देखने वाले स्तब्ध खडे थे कि देखे, अब क्या होना है! आचार्यश्री अपने-आप मे स्पष्ट थे। हरिजन भाइयो ने आगे आकर चरणस्पर्श किया। आचार्यश्री ने उलटे उन्हे प्रोत्साहित ही किया, रोका तनिक भी नही। यह घटना काफी चर्चा का विषय बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबको एक कर देना चाहते है। साधुओ मे भी इसकी हलचल कम नही थी।

पारमार्थिक शिक्षण-संस्था

पारमार्थिक शिक्षण-सस्था की स्थापना भी अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के एक पक्ष बाद ही (स० २००५ की चैत्र कृष्णा तृतीया को) हुई थी। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता की ओर से दीक्षार्थियो को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस सस्था का निर्माण हुआ। यह काफी दिनो तक आलोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय मे आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। आलोचको ने उसी बात को पकडा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियो के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि साधना के विषय मे मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है। वह मैं करता हूँ। संस्था में चलने वाली बाकी प्रवृत्तियो से मेरा सम्बन्ध नही है। यहाँ तक कि सस्था मे किसे लिया जाये और किसे नही, यह निर्णय भी स्वयं सस्था के पदाधिकारी करते हैं। 'प्रत्येक दीक्षार्थी को संस्था मे रहना ही पड़ेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नहीं करूँगा'—ऐसा मेरा कोई निर्णय नही है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस संस्था में रहे तो मैं कोई बाधा नही देखता, और न रहे तो भी मेरे सामने कोई बाधा नहीं है।

इस स्पष्टीकरण के बाद भी सस्था के प्रति तथा साथ-साथ आचार्यश्री के प्रति भी आलोचनात्मक भावनाए बनती रहीं।

बाह्य संघर्ष

आचार्यश्री को आन्तरिक संघर्षों की तरह ही बाह्य संघर्षों का भी सामना करना पड़ा है। तेरापंथ के लिए

ऐसे संघर्ष नवीन नही हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही चले आ रहे है। समय-समय पर उन सघर्षों का रूप अवश्य बदलता रहा है, परन्तु विरोधी जनो की भावना की तीव्रता सम्भवत कम नही हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने सघ की सारी शक्ति को निर्माण मे लगा देना चाहते है। पारस्परिक सघर्षों मे शक्ति खपाना उन्हें बिल्कुल अभीष्ट नही है। इसीलिए यथासम्भव वे सघर्षों को टालना चाहते है। विरोधी स्थितियो मे भी वे सामजस्य का सूत्र खोजते रहते है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वे विरोधो का सामना कर नही सकते। उनके सामने अनेक विराध आये हैं और उन्होने उनका बडे सामर्थ्य के साथ सामना किया है।

वे सत्य के भक्त है, अत जहाँ उसकी प्राप्ति होती है वहाँ कट्टर विरोधी की बात मानने मे भी वे कभी हिच-किचाहट नही करते। जहाँ सत्य की अवहेलना होती है, वहाँ वे किसी की भी बात नही मानते। सत्याश की अवज्ञा और असत्याश को प्रश्रय उन्हे किसी भी परिस्थिति मे इष्ट नही है।

विरोध के दो स्तर

तेरापंथ की मान्यताओ को लेकर अनेक आलोचनाए होती रहती है। उनमे बहुत-सी निम्नस्तरीय होती है, आचार्यश्री उनकी उपेक्षा करते है, किन्तु कुछ उच्चस्तरीय भी होती है, उनका वे आदर करते है। अपनी आलोचना मे लिखी गई बातो को वे बडे ध्यान से पढ़ते है, उन पर मनन करते है। आवश्यकता होने पर उसी औचित्यपूर्ण ढग से उसका प्रतिवाद भी करते है। इस पद्धति को वे विरोध-पूर्ण न मानकर सौहार्द-पूर्ण ही मानते है।

निम्न कोटि की आलोचना मे बहुधा इतर सम्प्रदायो के कुछ असहिष्णु व्यक्ति रस लेते है। उनमे कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो अपने-आप को किसी भी सम्प्रदाय का न कहे, तथा कुछ ऐसे भी हो सकते है जो स्वय को तेरापंथी कहे, पर उन सबका ध्येय प्राय विरोध के लिए विरोध होता है। वे आचार्यश्री की उन प्रवृत्तियो का भी उप-हास करते हैं, जिनको कि वे ठीक समझते होते हैं। आचार्यश्री जब हरिजनो मे व्याख्यान आदि के लिए जाने लगे तथा अस्पृश्यता का खण्डन करने लगे, तब इसी प्रकार के कुछ लोगो ने उस प्रवृत्ति का मज़ाक—'कौआ चले हस की चाल' कहकर किया था। जब अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने नैतिक जागरण का उद्घोष किया तो उन लोगो ने उसे 'नयी बोतल मे पुरानी शराब' बतलाया। ऐसे व्यक्ति अँधेरा-ही-अँधेरा देखते रहने के आदी हो जाते है। ज्योत्स्ना की धवलिमा या तो उनके बाँट ही नही पडती, या फिर अपने स्वभावानुसार वे उसे स्वीकार ही नही करते।

दीक्षा-विरोध

जो व्यक्ति गृही जीवन से विरक्त हो जाते है, वे मुनि-जीवन मे दीक्षित होते है। दीक्षा की पद्धति प्राय. सभी भारतीय सम्प्रदायो मे है, तेरापथ मे भी है। तेरापथ इन दीक्षाओ मे विशेष सावधानी बरतता है। इसमे केवल आचार्य को ही दीक्षा देने का अधिकार है। दीक्षार्थी के अभिभावको की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षित नही किया जाता। दीक्षार्थी के लिए एक निर्धारित सीमा तक का तात्त्विक ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। वर्षों तक दीक्षार्थी के कष्ट-सहिष्णुता आदि गुणो की परीक्षा की जाती है। जब वह इन सब परीक्षाओं मे उत्तीर्ण हो जाता है, तब उसको जन-समूह मे दीक्षित किया जाता है। तेरापथ की यह प्रणाली हर प्रकार से सन्तोषप्रद परिणाम लाने वाली रही है।

विरोध हर बात का हो सकता है, परन्तु जब विरोध करने का ही दृष्टिकोण बना लिया जाता है, तब तो वह और भी सहज हो जाता है। दीक्षा का भी विरोध किया जाता रहा है, कही 'बालदीक्षा' के नाम पर, तो कही साधु-संस्था को ही अनावश्यक बता कर। तेरापथ के सामने ऐसे अनेक विरोध आते रहे है। कही-कही ये विरोध ऊपर से तो दीक्षा-विरोध ही लगते है, पर अन्तरग मे ये तेरापथ के विरोध होते हैं। जयपुर का दीक्षा-विरोध इसी कोटि का था।

वि० सं० २००६ के जयपुर-चातुर्मास मे आचार्यश्री ने कुछ व्यक्तियो को दीक्षित करने की घोषणा की। विरोधी व्यक्ति शायद विरोध करने का अवसर खोज ही रहे थे। उन्हे यह अवसर मिल गया। उन लोगो ने 'बालदीक्षा-विरोधी समिति' का गठन किया। हालांकि उन दीक्षार्थियो मे एक भी ऐसा बालक नही था जिसके लिए उन्हे विरोध करने को

बाध्य होना पड़े, फिर भी विरोधी वातावरण बनाया गया। वस्तुतः वह दीक्षा का विरोध न होकर आचार्यश्री के बढ़ते हुए व्यक्तित्व और प्रभाव का विरोध था। दीक्षा को तो विरोध करने के लिए माध्यम बनाया गया था।

वह अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ-काल था, आचार्यश्री उसके प्रचार-प्रसार मे पूरी तन्मयता से लगे हुए थे। जनता पर उन व्रतों का अच्छा प्रभाव हो रहा था। उसके माध्यम से साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क मे आ रहे थे। देश के चोटी के व्यक्तियो ने भी उनके कार्यक्रमों को सराहा और देश के लिए उन्हें उपयोगी माना। यह कुछ व्यक्तियों को अखरा। उसी अखरन का फलित रूप यह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विज्ञप्तियो आदि द्वारा कार्य मे परिणत की जाने लगी। समाचार-पत्रो मे भी एतद्-विषयक विरोधी लेख-टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की गईं। जनता को बड़े पैमाने पर भ्रान्त करने का यह एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।

आचार्यश्री को इस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगो मे फैलायी जाने वाली भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना आवश्यक था, अत उन्हीं दिनो मे जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमे आचार्यश्री ने तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय मे उठाये जाने वाले तर्कों का समाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होने कहा कि मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते है और न सारे युवक या वृद्ध ही। कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते हैं और कुछ युवक तथा वृद्ध भी। दीक्षा मे अवस्था की परिपक्वता का उतना महत्त्व नही होता, जितना कि सस्कारो की परिपक्वता का होना है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए, यह मेरा मन्तव्य नही है। इस विषय मे मेरा कोई आग्रह भी नही है। मेरा आग्रह तो यह है कि अयोग्य की दीक्षा नही होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यो न हो।

विरोधी समिति के सदस्यों को भी आह्वान करते हुए आपने कहा कि वे दूर-दूर से ही विरोध क्यो करते है? उन्हे चाहिए कि वे मेरे विचार समझे तथा अपने विचार समझाये। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन मे विश्वास न करने वालो मे नही हूँ। देश-काल की परिस्थितियो से भी अनभिज्ञ नही हूं, पर साथ मे यह भी कह दूँ कि किसी भी प्रकार के वातावरण के प्रवाह मे बह जाने वाला भी मैं नही हूं।

उस भाषण से लोग काफी प्रभावित हुए। उस सभा मे विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रतिक्रिया हुई। वे इस विषय पर विचार-विमर्श के लिए आचार्यश्री के पास आये। बातचीत हुई, परन्तु उसका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप मे ही सामने आया। उन लोगो द्वारा दीक्षा का विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानो को बुलाया गया। विरोधी सभाए आयोजित की गई। धुआँधार भाषण किये गए। पैम्फलेटों, समाचार-पत्रो तथा पुस्तिकाओं द्वारा भी काफी विष-वमन किया गया। तेरापंथ से या तेरापंथ की प्रगति से विरोध रखने वाले प्रायः सभी व्यक्तियो का उन्हे समर्थन और सहयोग प्राप्त था। उन सबने मिल-कर एक ऐसा मोर्चा बना लिया था कि जिससे दीक्षाओं को रोककर तेरापथ को पराजित किया जा सके।

विरोध मे से गुजरते समय विशृखलित समाज भी संगठित बन जाता है। तेरापथ तो फिर एक सुसगठित धर्म-सम्प्रदाय है। ज्यों-ज्यों लोगो को इस विरोध का पता लगता गया, त्यो-त्यो वे जयपुर पहुँचने लगे। उन सबका निर्णय था कि दीक्षा किसी भी स्थिति में नही रुकेगी। दीक्षा की घोषित तिथि ज्यो-ज्यो समीप आती गई, त्यों-त्यों जनता बढ़ती गई। वातावरण में गरमी भी बढ़ती गई। जनता को शान्त रखना कठिन अवश्य हो रहा था, पर वह आवश्यक था। इस लिए आचार्यश्री ने सबको सावधान करते हुए कहा—हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नही होती। हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते है, अतः पंथ की समस्त बाधाओं को स्नेह और सौहार्द से ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाड़ा ही जा सकता है, सुधारा नही जा सकता। मैं यह नही कहता कि आप विरोध के सामने झुक जायें; मैं तो यह कहता हूँ कि विरोध का सामना अवश्य करें; परन्तु अहिंसक ढंग से करें। विरोधी लोग उत्तेजना बढ़ाना चाहें और आप उत्तेजित हो जायें तो यह उनकी सफलता मानी जायेगी, यदि आप उस समय भी शान्त रहें तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूँ कि कोई भी तेरापंथी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढ़े, वैसा कार्य करेगा। दूसरा क्या कुछ करता है, यह उसके सोचने की बात है; पर हमारा मार्ग सदैव

शान्ति का रहा है, और इसी मे हमारी सफलता के बीज निहित है।

दीक्षा के विषय में भी जनता को आचार्यश्री ने बताया कि यदि दीक्षार्थी दृढ-सकल्प होगे, तो उनकी दीक्षा किसी भी प्रकार से नही रोकी जा सकेगी। विरोधी जन अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकते है कि वे दीक्षार्थियो को निर्णीत समय तक मेरे पास न पहुँचने दे। उस स्थिति मे दीक्षार्थियो को स्वय ही दीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। दीक्षा एक आत्म-भाव है। वह दीक्षार्थी की आत्मा से उद्भूत होता है, गुरु तो उसमे केवल साधन-मात्र या साक्षी-मात्र होते हैं। दीक्षा के अवसर पर किये जाने वाले आयोजन आदि भी केवल व्यवहार-मात्र ही होते है। उसे न कोई हिंसक पशु-बल रोक सकता है और न तथाकथित सत्याग्रह आदि।

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त इस प्रबोध-सूत्र ने दूर-दूर से समागत उत्तेजित बन्धुओ को शान्ति प्रदान की तथा दीक्षार्थियां को मार्ग-दर्शन दिया। विरोधियो के समस्त शस्त्र इस पर टकरा कर व्यर्थ हो गए।

दूसरे दिन प्रात ठीक समय पर पूर्व-निर्धारित स्थान पर ही दीक्षाए हुई। किसी भी प्रकार की अशान्ति नही हुई। तेरापथ के लिए वह एक कसाटी का अवसर था। विरोधी जनो के इतने सुव्यवस्थित तथा सुसगठित विरोध को परास्त कर देना सामान्य बात नही थी। यह अपने प्रकार का प्रथम विरोध ही था और सम्भवत. अन्तिम भी।

इस विरोध मे कई समाचार-पत्रो के सचालक और सम्पादक भी थे। विरोधी पक्ष को सामने रखने तथा दीक्षा के विरुद्ध प्रचार करने मे उनका खुलकर उपयोग हुआ था। एक ओर जहाँ बाहर के पत्रो मे अणुव्रत-आन्दोलन के विषय मे अनुकूल विचार जाते थे, वहाँ दूसरी ओर बाल-दीक्षा को लेकर प्रतिकूल विचार भी। फल यह हुआ कि आचार्यश्री बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक माने जाने लगे। पर वे न तो बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक हैं और न युवा-दीक्षा या वृद्ध-दीक्षा के ही। वे तो अपने-आप को केवल योग्य दीक्षा का समर्थक मानते है। यह योग्यता क्वचित् बालक मे भी हो सकती है और क्वचित् युवा और वृद्ध मे भी। बालक में वैसी योग्यता हो ही नही सकती—इस मान्यता के वे कट्टर विरोधी अवश्य हैं।

जो व्यक्ति दीक्षा-मात्र के विरोधी है, उन्हे वे कुछ नही कहना चाहते, परन्तु जो किसी एक ही अवस्था मे, चाहे वह युवावस्था हो या वृद्धावस्था, दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते है, उनसे वे पूछना चाहते है कि ऐसा करके क्या व जन्मान्तर को नही मान लेते हैं? जन्मान्तर मानने वाले के लिए क्या कभी पूर्व-सस्कार अमान्य हो सकते है? यदि पूर्व-सकार नामक कोई तत्त्व है तो फिर वह बालक मे भी उद्बुद्ध होता है। दीक्षा और क्या है! पूर्व-सस्कारो के उद्बोध की फलपरिणति का नाम ही तो है। उसमे अवस्था का प्रश्न मुख्य नही, गौण रह जाता है।

यद्यपि आचार्यश्री युग-भावना से सगति बिठाकर ही चलते है, परन्तु जहाँ तत्त्व-विवेक का प्रश्न है, वहाँ उससे आँखें मीचना भी तो उचित नही होता। वे इसी आधार पर, जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण उठते हैं, वहाँ-वहाँ दीक्षा के साथ आयु का अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ने का विरोध करते है। उनकी दृष्टि मे यह भी उचित नहीं है कि कानून द्वारा बाल-दीक्षा को रोका जाये। विभिन्न राज्यो की विधान-परिषदो मे इस विषय के विधेयक प्रस्तुत होते रहे हैं। आचार्यश्री ने उनका विरोध किया है।

बम्बई विधान-परिषद् मे 'बाल सन्यास-दीक्षा प्रतिबन्धक बिल' आया। तब वहाँ मुरारजी देसाई मुख्य मन्त्री थे। उस बिल के सिलसिले मे मुनिश्री नगराजजी उनसे मिले थे। विचारो का आदान-प्रदान हुआ तो पता लगा कि वे भी आचार्यश्री के समान ही क़ानून के द्वारा उसे रोकने के विरोधी है। उनकी इस नीति के कारण ही वह प्रस्ताव वहाँ पारित नही हो सका था। उन्होने उस अवसर पर विधान-परिषद् के सदस्यों के सम्मुख जो भाषण[1] दिया था, वह विचारो की दृष्टि से बहुत ही मननीय था। उसे पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो आचार्यश्री के ही उद्गार भाषान्तर से उन्होंने कहे थे। उनके भाषण का कुछ अश यहाँ दिया जा रहा है

"....पहले हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्या हर हालत में यह गलत है कि बालक सासारिक

१ दिनाङ्क ६ सितम्बर '५५ और १२ सितम्बर '५५ को यह भाषण दिया गया था।

जीवन का परित्याग करें ? अगर हम कर्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास रखते है, तो जो बालक बाल-दीक्षा के पूर्व सस्कारों के सहित जन्म लेता है उसे संसार-परित्याग में कोई बाधा नही हो सकती। उन व्यक्तियों के हमारे पास गौरवपूर्ण उदाहरण है जिन्होने बचपन में संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। मेरे बन्धु महाशय का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम होते हैं, लेकिन मैं उन्हें यह बतलाना चाहता हूं कि संसार का भला करने वाले व्यक्ति भी बहुत कम ही है।

"इसी प्रकार ससार का भला बहुत थोड़े ग्रादमियों से ही हुग्रा है, बहुतों से नही, ग्रौर ससार को छोडने वाले ग्रादमी भी बहुत नही हो सकते। "नाबालिग का ग्रर्थ सदा उस व्यक्ति से नही होता जो किसी चीज़ को न समझे। नाबालिग वह है जो इक्कीस वर्ष से नीचे का हो ग्रौर ग्रौर ग्रगर वह ससार को छोडना चाहे तथा उसके लिए कटिबद्ध रहे, तो सरकार के लिए यह उचित है कि वह उसे रोके।" नाबालिग भी हम से ज्यादा बुद्धिमान् हो सकता है। हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि यह एक पूर्व कर्मों की भी बात है। संसार में ग्रद्भुत बालक हुए हैं। वे सारे उदाहरण हमारे सामने हैं। हमें यह भी नही सोचना चाहिए कि चूंकि हम वयस्क हो चुके है, ग्रत ग्रधिक बुद्धिमान् है।"' मैं यह नही कहता कि हरएक बालक बुद्धिमान् होता है। हरएक बालक यह समझता है, ऐसा भी कभी नही होता। मेरे विचार से बहुत थोड़े बालक ऐसे होते हैं। फिर भी यह कानून उनकी उन्नति में रुकावट डालेगा; ग्रगर वे ग्रपनी इच्छानुसार ऐसा नही कर सकेंगे, जब कि उनकी ग्रात्मा ऐसा करने के लिए तड़पती हो। " भारतीय सस्कृति एव सभ्यता के विकास में साधु-सघ की बहुत बडी देन है। मुझे यह कहने मे भी हिचकिचाहट नही है कि साधु-सस्था मे बहुत-से दोष भी ग्रा गए है। लेकिन सिर्फ एक वस्तु का उपयोग या दुरुपयोग हो सकना उस चीज़ को बिल्कुल मिटा देने का कारण या ग्राधार नही हो सकता।"' हम यहाँ तमाम लोग सोच रहे है कि सिर्फ वयस्क ही ऐसे हैं जो बुद्धिमान् है ग्रौर बच्चे नही। यह भूल जाते है कि ज्ञानेश्वर ने सोलह वर्ष की ग्रायु मे 'ज्ञानेश्वरी' को लिखा था ग्रौर बहुत-से बालिग पुरुष शताब्दियो के बाद भी ग्राज उसकी पूजा कर रहे हैं। ऐसा एक ही उदाहरण नही है, ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते है। महामुनि रायचन्द्र ने, जिनमे महात्मा गांधी श्रद्धा रखते थे, बारह मे सोलह वर्ष की ग्रायु मे लिखना प्रारम्भ कर दिया था ग्रौर उनकी पुस्तकें ग्राज भी पढ़ी जाती है। वे सन्यासी नही थे; लेकिन निरन्तर जीवन ग्रपनी पसन्द के ग्रनुसार बिताते थे। इससे कोई मतलब नही कि ऐसे ग्रादमी सन्यास लेते है या नही। मान लीजिये, कोई ऐसा बच्चा दीक्षा लेना चाहता है तो क्या मुझे रोकना चाहिए ?"'' यह सच है कि इस बिल को प्रस्तुत करने वाले सज्जन ने जो उदाहरण दिये हैं, वे प्राय. जैनो के है ग्रौर किसी के नही। इस-लिए ग्रगर जैनी यह सोचे कि यह बिल सर्वसाधारण के लिए न होकर केवल उनके द्वारा जो दीक्षाए दी जाती है उन्ही को रोकने के लिए है, तो वे गलत कहे जायेंगे। मेरे पास सैकडों विरोध-पत्र व तार पहुँचे हैं ग्रौर वे तमाम जैनो के हैं। लेकिन एक दूसरी बात ग्रौर है जिसे मैं स्पष्ट करना चाहूँगा। साधु या सन्यासियो के तमाम सघों मे, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे कहना चाहिए कि त्याग ग्रौर तपस्या के ग्रादर्श को जितना जैन साधुग्रो ने सुरक्षित रखा है, उतना ग्रौर किसी संघ के साधुग्रों ने नही। यह जैनियों के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायों पर, जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एकमत नही, ग्राक्रमण करने से कोई फायदा नही। मुझे किसी व्यक्ति को सन्यास-जीवन ग्रपनाने से नही रोकना चाहिए—इस कारण से कि मैं खुद संन्यास-जीवन को नही ग्रपना सकता। इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से, कि मैं सांसारिक जीवन को ग्रच्छा समझता हूँ, मुझे हरएक व्यक्ति को सासारिक जीवन की ग्रोर जाने के लिए नही कहना चाहिए। ग्रगर संन्यासी लोग कहे भी कि सांसरिक जीवन ग्रच्छा नही है, तो भी मैं सन्यासी होने के लिए तैयार नही हूं। तब मुझे क्यो ज़ोर देकर कहना चाहिए कि मैं सासारिक जीवन को ग्रच्छा समझता हूँ, ग्रत किसी को भी सन्यासी नहीं होना चाहिए। जिस तरह मैं ग्रपने जीवन में उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसन्द करते हों।"''' मैं यह नहीं चाहता कि शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य ग्रौर ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियो के रास्ते में रोड़ा ग्रटकाना हमारे लिए उचित होगा; क्योकि जैसा हम करते है उसका तो ग्रभिप्राय होगा कि हम केवल ग्रपने देश को ही नहीं, बल्कि संसार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वचित करते है। मैं नही सोचता कि हमे सामाजिक सुधार के नाम पर चेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगों को ऐसा करना कितना ही ग्रभीष्ट क्यो न हो।" "धर्म मानव

: ६ :

जीवन-शतदल

आचार्यश्री का जीवन शतदल कमल के समान है। कमल की प्रत्येक पखडी अपनी विशिष्ट महत्ता लिये होती है। उन पखडियों की समवायात्मक एकता ही तो कमल की आत्मा होती है। जीवन का शतदल विभिन्न घटनाओ की पंखडियों से बना होता है। प्रत्येक घटना अपने-आप मे परिपूर्ण होती है, फिर भी अपने मे उच्च पूर्णता का एक अग बन कर वह जीवन को आकृति प्रदान करती है। मधुकोश की सुरक्षा मे खडी पखडियाँ अधिक सुव्यवस्थित लगती है, जब कि उसके बाहरी घेरे की बिखरी बिखरी सी। फिर भी मूल से बँधी हुई वे उसमे अभिन्न होती है। जीवन-घटनाओ मे भी यही क्रम होता है। कुछ घटनाएं किसी एक ही क्रम मे ढनकर जीवन के विशेष क्षेत्र को घेरती है, पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो जीवन का अभिन्न अग होने पर भी अलग-अलग सी लगती है। अपेक्षाकृत कुछ अधिक खुलापन उन्हे ऐसा बना देता है। फिर भी पखडियो के सौरभ की तरह प्रेरणात्मकता की अतिशयता तो उनका अपना जन्म-जात स्वभाव होता ही है। इस अध्याय मे आचार्यश्री के जीवन-शतदल की उन अलग-अलग दिखायी देने वाली स्फुट घटनाओ का दिग्दर्शन कराया गया है। आचार्यश्री का जीवन किसी एक बँधी-बँधायी परिपाटी का जीवन नहीं है, वह तो एक बहते हुए प्रवाह का जीवन है। उसमे घुमाव है, कटाव है तथा नव-निर्माण की उच्च अभिलाषा है, बहाव तो उन सब मे व्याप्त है ही। इसीलिए उनका जीवन घटना-सकुल है। उन घटनाओ के प्रकाश मे हम आचार्यश्री के जीवन को नये-नये कोणो से देख सकते हैं। जिस तरह हीरे को उसका छोटे-से-छोटा पहलू भी एक नयी चमक और आकृति प्रदान करता है, उसी तरह छोटी-छोटी स्फुट घटनाओ की प्रत्येक स्फुरणा आचार्यश्री के जीवन का एक-एक नया कक्ष खोलने वाली है। यहाँ कुछ घटनाए संकलित की गई हैं।

शारीरिक सौन्दर्य

पूर्ण दर्शन

आचार्यश्री के पास जहाँ आन्तरिक सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है, वहाँ बाह्य सौन्दर्य भी कुछ कम नही। प्रकृति ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण मे रूप-सम्पदा को खुले हाथ मे लुटाया है, इसीलिए उनके शारीरिक अवयवो की रचना किसी कलाकार की अद्वितीय कलाकृति के समान है। साधारण व्यक्तियो की आँखे उनकी आकृति पर टिके, यह कोई आश्चर्य की बात नही है; किन्तु दार्शनिक और विद्वानो को भी उनकी आकृति लुब्ध कर लेती है। दक्षिण से दो दार्शनिक राजस्थान मे आचार्यश्री के पास आये। कई दिनो तक नाना दार्शनिक विषयों पर विमर्षण होता रहा। जब वे बिदा होने लगे तो बोले—"सभी तृप्तियो के साथ हम एक अतृप्ति भी लिये जा रहे हैं।"

साश्चर्य आचार्यश्री ने पूछा—कौन-सी अतृप्ति ?

उन्होने कहा—मुख-वस्त्रिका के कारण हम आपके पूर्ण मुख का दर्शन नही कर पाये। आपके मुख का अर्ध-दर्शन हमे प्रतिदिन पूर्ण दर्शन के लिए उत्सुक करता रहा है। हमे आज सकोच छोडकर यह कहने को विवश होना पड़ रहा है कि यदि कोई शास्त्रीय बाधा न हो, तो क्षण-भर के लिए भी अपने अनावृत मुख के दर्शन का अवसर अवश्य दें!

नेत्रों का सौन्दर्य

यूनेस्को के प्रतिनिधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी-मण्डल के उपाध्यक्ष श्री वुडलैण्ड केलर बम्बई में सपत्नीक आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केलर जब आचार्यश्री से बातचीत कर रहे थे, तब श्रीमती केलर आचार्यश्री के नेत्रो की ओर बडी उत्सुकता से देख रही थीं। बातचीत की समाप्ति पर श्रीमती केलर ने कहा—मुझे बहुत लोगो से मिलने का अवसर मिला है, किन्तु जो ओज, आभा और आत्म-तेज आपके नेत्रो में है, वैसा अन्यत्र कही देखने में नही आया। निस्सन्देह आपके नेत्रो का सौन्दर्य और तेजस्विता मनुष्य को लुभा लेने वाले हैं।

तात्कालिक प्रतिक्रिया

यूरोप की ख्यातिलब्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर दिल्ली मे जब मेरे सम्पर्क मे आयी, तब उन्होने मुझे आचार्यश्री का एक स्वनिर्मित चित्र दिखलाया तथा उसका इतिहास भी बतलाया। एक दिन 'शान्ति-निकेतन' मे अचानक ही आचार्यश्री से उनकी भेंट हो गई थी। आचार्यश्री अपनी बगाल-यात्रा के समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सास्कृतिक व ऐतिहासिक संग्रहालय तथा शान्ति निकेतन के समृद्ध पुस्तकालय का अवलोकन कर बाहर आ रहे थे और उधर से ही कुमारी एलिज़ाबेथ अन्दर जा रही थी। एक क्षण के लिए उनका आकस्मिक साक्षात्कार हुआ। इतने मात्र मे ही वे इतनी प्रभावित हुई कि पुन कलकत्ता आकर आचार्यश्री से मिली और एक महीने तक वहाँ ठहरकर आचार्यश्री का जो एक भव्य चित्र बनाया, वही यह था। वे ऐसा करने के लिए क्यो प्रेरित हुईं, उन्होने इस विषय पर एक लेख भी लिखा, जो कि कलकत्ता के पत्रो मे प्रकाशित हुआ था। उस लेख मे उन्होंने बतलाया है—"शान्ति निकेतन मे जब मैं उत्तरायण के द्वार पर पहुँची तो उधर से आते व्यक्तियों के एक समूह ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने देखा कि वे नंगे पाँव श्वेत वस्त्रधारी साधु थे, जो कवि-गृह से आ रहे थे। वे जैन थे और उनके मुँह पर श्वेत वस्त्र बँधा हुआ था। मैं आदरपूर्वक एक ओर खड़ी हो गई। वे निकट पहुँचे। मुझे शान्ति अनुभव हुई, उन्होने मेरे नाम व देश के विषय में प्रश्न पूछे। उनके प्रश्न गहरे थे और मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया थी कि उनकी आँखें बडी तेज़ है।"

एक विदेशी कलाकार महिला की यह प्रतिक्रिया आचार्यश्री के व्यक्तित्व की जहाँ असाधारणता की द्योतक है, वहाँ उनके रूप-सौन्दर्य का एक ज्वलन्त उदाहरण भी।

ठीक बुद्ध की तरह

एक बार आचार्यश्री सरदारशहर पधार रहे थे। उन्ही दिनो सरदारशहर मे एक वैद्य-सम्मेलन हो रहा था। अनेक लब्धप्रतिष्ठ वैद्यो ने उसमें भाग लिया था। उनमे से कई व्यक्तियो ने सरदारशहर से आकर मार्ग-स्थित ग्रामो मे आचार्यश्री के दर्शन किये। उनमे जयपुर के सुप्रसिद्ध राजवैद्य नन्दकिशोरजी भी थे। आचार्यश्री से उन लोगो ने विविध विषयों पर वार्तालाप किया और पूर्ण तृप्ति के साथ जब वापस जाने के लिए खडे हुए, तब नन्दकिशोरजी ने कहा—"आचार्यश्री के कानो की बनावट ठीक भगवान् बुद्ध के कानो की तरह है। मैंने कानों की ऐसी सुषमा अन्यत्र कही नहीं देखी।"

आत्म-सौन्दर्य

आचार्यश्री ने जन-निर्माण मे लगकर भी आत्म-निर्माण को गौण नहीं बनाया है। वे अपने जीवन को आगे बढ़-कर जीते रहे हैं, और सिंहावलोकन-पद्धति से अपने भूतकाल का अवलोकन करते हुए उसे समझते रहे हैं। ध्यान, योगा-सन आदि क्रियाएं उनके आत्म-निर्माण की ही अग हैं। इनसे उनका आत्म-सौन्दर्य निरन्तर निखार पाता रहा है।

वे सात्त्विक तथा मित आहार के समर्थक रहे हैं। अपने आहार पर उनका बहुत अधिक नियन्त्रण है। यथासम्भव वे बहुत स्वल्प द्रव्यों से तृप्त हो जाते हैं। अपने आचार-व्यवहार की कुशलता पर भी वे कडाई से ध्यान देते रहे हैं। जब

कोई कांटा या कंकर उनके पैरो मे लग जाता है, तब वे बहुधा यह कहते सुने जाते है कि यह तो ईर्या समिति की क्षति का दण्ड है। अपनी हर प्रकार की स्खलनाओं को वे आत्म-नियन्ता बनकर दूर करते है। निन्दा और प्रशसा से अक्षुब्ध रहते हुए वे अपनी गति को बनाये रखने मे सर्वथा समर्थ हैं। यह उनका आन्तरिक सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य से भी अधिक प्रभावक है।

प्रेम की भाषा

जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, वह बहुधा उनका ही हो जाता है। वह उनकी आत्मीयता और अकारण वात्सल्य मे खो-सा जाता है। शायद स्नेह की भाषा समझने वाला ही उसका पूरा रसास्वादन कर पाता है। कलकत्ता से राजस्थान आते हुए आचार्यश्री दिल्ली पहुँचे। वहाँ दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी-हॉल मे उनका सार्वजनिक स्वागत किया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर उस कार्यक्रम मे आदि से अन्त तक उपस्थित रही। कार्यक्रम समाप्त होने पर आचार्यश्री ने उससे कहा—तुम हिन्दी नही समझती, फिर इतनी देर चुपचाप कैसे बैठी रहती हो ? उसने उत्तर देते हुए कहा—प्रेम की भाषा अलग ही होती है, मैं उसे समझती हूँ। हर कोई उसे नही समझ पाता, इसीलिए ऊब जाता है।

प्रखर तेज

ब्यावर मे 'अणुव्रत प्रेरणा-दिवस' पर बोलते हुए अजमेर के तपे हुए कार्यकर्ता श्री रामनारायण चौधरी ने कहा—मेरे दिमाग मे कल्पना थी कि आचार्यश्री तुलसी कोई वृद्ध मनुष्य होंगे, पर आज ज्यो ही मैंने उनके दर्शन किये तो पाया कि आचार्यश्री में प्रखर आध्यात्मिक तेज के साथ-साथ आयु और शरीर का भी तेज है।

शक्ति का अपव्यय क्यों ?

राजस्थान विधान-सभा में आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम था। उसके बारे मे एक स्थानीय पत्रिका के सम्पादक ने कुछ अनर्गल बातें लिखी थीं। विधान-सभा के उपाध्यक्ष निरंजननाथजी को यह बहुत बुरा लगा। उन्होने उस कार्य को अपमान समझा और आचार्यश्री के सम्मुख कहने लगे—यह हमारा और विधान-सभा का अपमान है। हम इस पर कानूनी कार्रवाई करेंगे।

आचार्यश्री ने कहा—हमारे लिए किसी व्यक्ति का अहित हो, यह मैं नही चाहता। किसी की इस प्रकार आलोचना करना अज्ञान है। अज्ञान को मिटाना है तो उसके दोष को क्षमा कर देना होगा। दूसरी यह बात भी है कि इन तुच्छ घटनाओं में हमें अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो करना चाहिए ?

प्रशंसा का क्या करें ?

एक पुरोहित ने आचार्यश्री से कहा—मैंने आपके दर्शन तो आज पहली बार ही किये हैं, किन्तु मैं लोगो के बीच आपकी बहुत प्रशसा करता रहा हूँ। अनेकों व्यक्तियो को मैने आपके सम्पर्क मे आने की प्रेरणा दी है।

आचार्यश्री ने कहा—पुरोहितजी ! हमे अपनी प्रशसा नही चाहिए। हम उसका क्या करें ! हम तो चाहते हैं कि हर कोई अपने जीवन की सत्यता को पहचाने। इसी मे उसके जीवन का उत्कर्ष निहित है।

क्या पैरों में पीड़ा है ?

आचार्यश्री ने पिलानी से विहार किया तो सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला भी विदा देने के लिए दूर तक साथ-साथ आये। मार्ग मे वे आचार्यश्री से बातें करते चल रहे थे। आचार्यश्री जब-जब बोलते, तब पैर रोक लेते। बिड़लाजी ने समझा, सम्भवत: पैरों में पीड़ा है जिससे वे ऐसा कर रहे हैं। जब कई बार ऐसा हुआ तो उन्होंने पूछ लिया—क्या पैरो

में पीड़ा-विशेष है ? आचार्यश्री ने कहा—नहीं तो, कोई भी पीडा नहीं है। बिड़लाजी ने तब साश्चर्य पूछा—तो आप रुक-रुक कर क्यों चल रहे हैं ? आचार्यश्री ने प्रश्न का भाव अब समझा। उन्होंने समझाते हुए कहा—चलते समय बातें न करने का हमारा नियम है; अतः जब-जब बोलने का अवसर आता है, तब-तब मैं रुक जाता हूँ। बिडलाजी ने क्षमा माँगते हुए कहा—तब तो मुझे भी नही बोलना चाहिए था।

शान्तिवादिता

आचार्यश्री की नीति सदा से ही शान्ति-प्रधान रही है। अशान्ति को न वे स्वयं चाहते हैं और न दूसरों के लिए पैदा करते हैं। जहाँ अशान्ति की सम्भावना होती है, वहाँ वे अपने को तत्काल अलग कर लेते हैं। इसी शान्तिवादी नीति का परिणाम है कि आज उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

प्रथम झलक

आचार्य-काल के प्रारम्भ मे ही उनकी शान्तिप्रियता की एक झलक सबको मिल गई थी। उन्होने अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर मे किया था। उसकी समाप्ति पर जब वहाँ से विहार किया, तब कई हजार व्यक्ति उनके साथ थे। वहाँ के सुप्रसिद्ध राँगड़ी चाक की सडक जन-सकुल हो रही थी। उसी समय सामने से एक अन्य सम्प्रदाय के आचार्य आ गए। उनकी नीति सदा से ही तेरापंथ के विरुद्ध रही थी। उस समय भी वे किसी अच्छे इरादे से नही आये थे। उनके साथ के आगे चलने वाले कुछ भाई अपमानजनक ढग से 'हटो-हटो' कहते हुए आगे बढे। आचार्यश्री ने स्थिति को तत्काल भाँप लिया। सबको चीर कर आगे बढने के इरादे से इधर वाले भाइयो में बड़ी उत्तेजना फैली, परन्तु आचार्यश्री ने स्थिति को परोटा और सडक छोड़कर एक ओर हो गए। साथ के जन-समुदाय के लिए इधर-उधर हटने को कोई स्थान नही था। फिर भी आचार्यश्री ने उन्हे शान्त रहने तथा उनका मार्ग न रोकने का निर्देश किया। सडक पर के सभी व्यक्तियो ने एक-दूसरे से सटते हुए उनके लिए मार्ग खाली किया। दूर तक केवल दो आदमी गुजर सकें, इतनी-सी पट्टी मे से वे लोग 'विजय' का गर्व करते हुए गुजरे। यदि आचार्यश्री उस समय शान्ति न रख पाते, तो झगडा अवश्यम्भावी था। उस कार्य की जन-प्रतिक्रिया यह रही कि आचार्यश्री ने बडी समझदारी और शान्ति से काम लिया। स्वय दूसरे पक्ष के समझदार व्यक्तियों ने आचार्यश्री के कार्य की प्रशसा की और अपने पक्ष की नीति की आलोचना की। यह उनकी शान्तिवादिता की जन-साधारण के लिए प्रथम झलक थी।

स्वाध्याय ही सही

नवलगढ़ में रात्रिकालीन व्याख्यान बाजार में हुआ, और शयन पास के दिगम्बर मन्दिर मे। जनता ने अगले दिन फिर वहीं व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया, आचार्यश्री ने स्वीकृति दे दी। जब दूसरे दिन साय बाजार मे पहुँचे तो सुना कि वहाँ किसी वैष्णव साधु का व्याख्यान होने वाला है। आचार्यश्री कुछ असमजस मे पडे, पर तत्काल ही निर्णय कर लिया कि चलो, आज रात को मन्दिर मे स्वाध्याय ही करेंगे। कुछ लोगो ने आकर कहा—आप भी यहीं ठहर जाइये। हम दोनो का ही व्याख्यान सुन लेंगे। आचार्यश्री ने कहा—यद्यपि एक सभा में दो धर्मावलम्बियों के व्याख्यान आजकल कोई आश्चर्य का विषय नहीं रहा है, फिर भी यहाँ जिस ढग से यह कार्यक्रम रखा गया है, उससे मुझे लगता है कि उसके पीछे कोई विद्वेष-बुद्धि काम कर रही है। ऐसी स्थिति में यहाँ व्याख्यान देने से शान्ति रहना कठिन है। आचार्यश्री वहाँ नहीं ठहरे और मन्दिर मे चले गए।

जब उस वैष्णव साधु को इस घटना-क्रम का पता लगा तो आदमी भेजकर कहलाया कि मुझे यह पता नही था कि वहाँ पहले किसी जैनाचार्य का व्याख्यान होना निश्चित हो चुका है। मुझसे आग्रह करने वालो ने मुझे इस स्थिति से अनजान रखा। यद्यपि मैंने उसस्थान पर व्याख्यानदेना स्वीकार कर लिया, पर अब प्रसन्नता से कहता हूँ कि मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। पूर्व-निर्णयानुसार वहाँ जैनाचार्य का ही व्याख्यान हो। मुझे सुनने की इच्छा रखने वाले मेरी कुटिया पर आ सकते हैं।

आचार्यश्री ने उस भाई से कहा—हमें उनके व्याख्यान देने पर कोई आपत्ति नहीं है। हमारा व्याख्यान कल वहाँ हो ही चुका है; आज यदि लोग उनको सुने तो यह हमारे लिए कोई बाधा की बात नही है। इस पर भी उस सन्देश-वाहक ने स्पष्ट कर दिया कि वे नही आयेंगे। आचार्यश्री फिर भी वहाँ नही गये, तब बाज़ार के अनेक प्रमुख व्यक्तियो ने आकर पुन. निवेदन किया और दबाव दिया कि अब तो किसी प्रकार की अशान्ति का भी भय नही रहा है। इस पर आचार्यश्री ने व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया और वहाँ गये।

शान्ति का मार्ग

सौराष्ट्र में जिन दिनो विरोधी वातावरण चल रहा था, तब मास्टर रतिलाल भाई आचार्यश्री के दर्शन करने आये। सौराष्ट्र मे धर्म-प्रचार के लिए अपना समय और शक्ति लगाने वालो मे वे एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे जब आये तो उनके मन मे यह भय था कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेगे ! मुनिजनो को वहाँ भेजने की प्रार्थना करते समय उन्हे यह पता नही था कि विरोधी लोग वातावरण को इतना कलुषित कर देगे। किन्तु अब उसका सामना करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नही था।

आचार्यश्री ने पूछा—कहिये, सौराष्ट्र में कैसी स्थिति है ? प्रचार-कार्य ठीक चल रहा है ? इस प्रश्न ने रतिलाल भाई को असमजस मे डाल दिया। वे कुछ सोच नही पा रहे थे कि इसका उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता है, फिर भी उन्होने कुछ साहस करके कहा—एक प्रकार से ठीक ही चल रहा है, किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उसकी गति में पूर्ववत् तीव्रता नही रह सकी है।

आचार्यश्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—यह कोई चिन्ता की बात नही है। हमे अपनी ओर से वातावरण को पूर्ण शान्त बनाये रखना है। विरोधी लोग क्या करते हैं, इस ओर ध्यान न देकर, हमे क्या करना चाहिए—यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमे विरोध का शमन विरोध से नही, अपितु शान्ति से करना है। भगवान् का तो मार्ग ही शान्ति का है।

आचार्यश्री के इस कथन से रतिलाल भाई आश्चर्यान्वित हो गए। उन्होने कहा—गुरुदेव ! मुझे तो यह भय था कि आप कड़ा उलाहना देगे। मैंने सोचा था कि सौराष्ट्र में साधु-साध्वियो के प्रति किये जा रहे व्यवहार मे अवश्य ही आप क्रुद्ध हुए होंगे, किन्तु आपने तो मुझे उलटा शान्ति का ही उपदेश दिया।

गहराई में

आचार्यश्री अनेक बार साधारण-सी बात को भी इतनी गहराई तक ले जाते हैं कि उसमे दार्शनिक तत्त्व नवनीत की तरह ऊपर उभर आता है। साधारण-से-साधारण घटना भी आचार्यश्री के चिन्तन का स्पर्श पाकर गम्भीर बन जाती है। साधारण व्यक्ति बहुधा घटना के बहिस्तल को ही देखता है जब कि आचार्यश्री उसके अन्तस्तल को देखते हैं।

पीछे से भी

एक बार कुहासा छाया हुआ था। उसके कारण विहार रुका हुआ था। मुनिजन अपना-अपना सामान समेटे विहार के लिए तैयार बैठे थे। कुछ प्रतीक्षा के बाद एक बार थोड़ा-सा उजाला हुआ। सामने से ऐसा लगने लगा कि अब कुहासा समाप्त होने वाला ही है। एक साधु ने खड़े होकर सामने दूर तक नजर फैलाते हुए कहा—अब कुहासा मिटने में अधिक देरी नहीं है। यह बात चल ही रही थी कि इतने मे पीछे से रुई के फाहे-जैसे कुहासे के बादल उमड आये और फिर पहले जैसा ही वातावरण हो गया।

आचार्यश्री ने इस बात को गहराई तक ले जाते हुए कहा—आगे सब देखते हैं, पर पीछे कोई नहीं देखता। विपत्ति पीछे से भी तो आ सकती है। सच तो यह है कि वह प्राय. सामने से कम और पीछे से ही अधिक आया करती है।

पैड़ी का दोष

आचार्यश्री जिस मकान में ठहरे थे, उसकी एक पैड़ी बहुत खराब थी। अपनी असावधानी के कारण उस दिन अनेक व्यक्तियों ने उससे चोट खायी। चोट खाकर अन्दर आने वाले प्रायः हर व्यक्ति ने उस पैड़ी को तथा उसके निर्माता और स्वामी को कोसा।

पैड़ी के प्रति व्यक्त किये जाने वाले उन विविध उद्गारों को सुनकर आचार्यश्री ने उस बात की गहराई तक पहुँचते हुए कहा—पर-दोष-दर्शन कितना सहज होता है और आत्म-दोष-दर्शन कितना कठिन, यह इस पैड़ी की बात ने सिद्ध कर दिया है। हर कोई चोट खाने वाला पैड़ी को दोष देता है, जब कि वस्तुतः दोष अपनी असावधानी का है। पैड़ी की बनावट में कुछ कमी हो सकती है, फिर भी कुछ दोष अपनी ईर्या का भी तो है।

टोपी का रंग

समाजवादी नेता श्री जयप्रकाशनारायण पहले-पहल जब जयपुर में आचार्यश्री से मिले थे, तब सफेद टोपी पहने हुए थे; किन्तु जब दूसरी बार दिल्ली में मिले, तब लाल टोपी पहने हुए थे। वार्तालाप के मध्य आचार्यश्री ने टोपी के लिए पूछ लिया कि सफेद के स्थान पर यह लाल टोपी कैसे लगायी हुई है? जयप्रकाशजी ने कहा—हमारी पार्टी वालों ने यही निर्णय किया है। सफेद टोपी अब बदनाम भी हो चुकी है।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा—टोपी बदनाम हो गई इसलिए आपकी पार्टी ने उसका रंग बदल दिया, परन्तु बदनामी के काम तो टोपी नहीं, मनुष्य करता है, उसको बदलने की आपकी पार्टी ने क्या योजना बनायी है?

सम्प्रदाय : धर्म की शोभा

आचार्यश्री विहार करते हुए जा रहे थे, मार्ग में एक विशाल आम्र-वृक्ष आ गया। सन्तों ने उनका ध्यान उधर आकृष्ट करते हुए कहा—यह वृक्ष बहुत बड़ा है।

आचार्यश्री ने भी उसे देखा और गम्भीरता से कहने लगे—एक मूल में ही कितनी शाखाएं-प्रशाखाएं निकल जाती हैं। धर्म-सम्प्रदाय भी इसी प्रकार एक मूल में से निकली हुई शाखाएं होती हैं। परन्तु इनकी यह विशेषता है कि इनमें परस्पर कोई झगड़ा नहीं है, जबकि सम्प्रदायों में नाना प्रकार के झगड़े चलते रहते हैं। शाखाएं वृक्ष की शोभा हैं। उसी प्रकार सम्प्रदायों को भी धर्म-वृक्ष की शोभा बनना चाहिए।

नास्तिकता पर नया प्रकाश

प्रसिद्ध कीर्तनकार डा० रामनारायण खन्ना आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उन्होंने अपनी कुछ चौपाइयाँ आदि भी सुनायीं। बातचीत के क्रम में वे थोड़ी-थोड़ी देर के बाद 'रामकृपा' को दुहराते रहे। सम्भवतः उन्होंने इस शब्द का प्रारम्भ तो भक्ति की दृष्टि से ही किया होगा; पर अब वह उनके लिए एक मुहावरा बन चुका था। आचार्यश्री ने जब इस बात की ओर लक्ष्य किया तो कहने लगे—डाक्टर साहब! आप मनुष्य के पुरुषार्थ को भी कुछ मानियेगा? 'रामकृपा'-'प्रभुकृपा' आदि शब्दों को भक्ति-संभृत हृदय के उद्गारों से अधिक महत्त्व देने पर स्वयं प्रभु को भी राग-द्वेष-लिप्त मान लेना होगा। अहं-भाव को रोकने के लिए 'रामकृपा' जैसी भावनाएं आवश्यक हैं, तो क्या अकर्मण्यता और हीन भाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहिए? मैं मानता हूँ कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है; पर क्या अपने-आप को न मानना उतनी ही बड़ी नास्तिकता नहीं है?

डाक्टर साहब मानो सोते से जाग पड़े। आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था, वह उनके लिए एक बिल्कुल ही नया तत्त्व था।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिखलाया। उसमें आचार्यश्री के विषय मे बहुत-सी अनर्गल बातें लिखी हुई थीं। उसी समय एक वकील आचार्यश्री से बातचीत करने के लिए आये। उन्होने भी पत्र देखा। वे बड़े खिन्न हुए। कहने लगे—यह क्या पत्रकारिता है ? ऐसे सम्पादको पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा—कीचड़ मे पत्थर फेकने मे कोई लाभ नही। मैं कार्य को आलोचना का उत्तर मानता हूँ, अत मुकदमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है। मौखिक समाधानो से कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

फोटो चाहिए

आचार्यश्री राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास-मन्त्री अमृतलाल यादव की कोठी पर पधारे। यादवजी तथा उनकी पत्नी ने श्रद्धा-विभोर होकर उनका स्वागत किया। कुछ देर वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत के दौरान मे यादवजी की पत्नी ने कहा—मुझे नैतिक कार्यों मे बडी अभिरुचि है। मैंने अपने घर मे उन्ही लोगो के फोटो विशेष रूप से लगा रखे है, जिनकी सेवाए ससार को उच्च चारित्रिक आधार पर प्राप्त हुई हैं। मुझे अपने कमरे मे लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—फोटो का आप क्या करेंगी जब कि मैं स्वयं ही आपके घर मे बैठा हुआ हूँ। मेरी दृष्टि मे वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य-आकृति को न पूज कर उसके गुणो का या कथन का अनुसरण किया जाना चाहिए।

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ

आचार्यश्री विद्यार्थियों मे प्रवचन कर बाहर आये। कई विद्यार्थी उनका ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। फाउण्टेन पेन और डायरी आचार्यश्री की तरफ बढाते हुए विद्यार्थियो ने कहा—आप इसमे हस्ताक्षर कर दीजिये।

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—देखो बालको ! मैंने अभी जो बाते कही है, उन्हे जीवन मे उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा ऑटोग्राफ होगा।

गरम का बिगाड़

एक प्याले मे दूध पडा था और उसके पास मे ही अचित्त किया हुआ नीबू। आचार्यश्री को जिज्ञासा हुई—क्या नीबू के रस मे दूध तत्काल फट जाता है ?

पास खड़े एक साधु ने कहा—फट तो जाता है।

आचार्यश्री ने नीबू लिया और थोडा-सा दूध लेकर उसमे पाँच-चार बूँदे डाली। दो-एक मिनट के बाद देखा, तब तक वह नही फटा।

एक साधु ने कहा—गरम दूध जल्दी फट जाता है। यह ठडा है, शायद इसीलिए नहीं फटा।

आचार्यश्री ने इस बात को जीवन पर लागू करते हुए कहा—ठीक ही है। ठडी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा कुछ नही बिगाड सकता। गरम प्रकृति वाले का ही शीघ्रता से बिगाड हुआ करता है।

परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम मे विश्वास करते है। वे एक क्षण के लिए भी किसी कार्य को भाग्य पर छोड कर निश्चिन्त बैठना नही चाहते। वे भाग्य को बिल्कुल ही नही मानते हो, ऐसी बात नहीं है; परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ-जन्य मानते हैं। इसीलिए वे रात-दिन अपने काम मे जुटे रहते हैं। दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते हैं। अनेक बार तो वे

कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

भूख नहीं सताती

एक बार आगरा सेण्ट्रल जेल में उनका प्रवचन रखा गया। वापस स्थान पर शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना थी, अत भिक्षाचरी आदि की व्यवस्था के लिए उन्होने किसी को कुछ निर्देश नही दिया। सयोगवशात् देरी हो गई। उधर मुनिजन इसलिए प्रतीक्षा करते रहे कि अभी आने वाले ही होगे। इतनी देरी का अनुमान उनका भी नही था।

जेल दूर थी। गरमी काफी बढ गई थी। सडक पर पैर जलने लगे थे। इन सभी कठिनाइयों को झेलते हुए वे आये। अपने विश्राम से भी पहले उन्हे सबकी चिन्ता थी। अत. आते ही उनका पहला प्रश्न था—क्या अभी तक भिक्षा-चरी के लिए तुम लोग नही गये ? सन्तो ने कहा—कुछ निर्देश नही था, अत हमने सोचा, अभी आ ही रहे होगे; प्रतीक्षा-ही-प्रतीक्षा मे समय निकल गया। आचार्यश्री ने थोडी सी आत्म-ग्लानि के साथ कहा—तब तो मैं तुम लोगों के लिए बहुत अन्तराय का कारण बना। सन्तो ने कहा—आप भी तो अभी निराहार ही हैं। आचार्यश्री बोले—हाँ, निराहार तो हूँ, पर काम के सामने कभी भूख नहीं सताती।

अधिक बीमार न हो जाऊँ !

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यों से विश्राम नहीं ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि वैद्य की राय है—आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए। आचार्यश्री ने कहा—मैं इस विषय मे कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है। मुझसे यो सर्वथा निष्क्रिय होकर नही बैठा जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम से तो मैं कही अधिक बीमार न हो जाऊँ !

श्रम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्रा ने आचार्यश्री से पूछा—आप तो बहुत ज्ञानी हैं; मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नही !

आचार्यश्री ने कहा—तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नही ?

छात्रा—अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।

आचार्यश्री—तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय मे शकाशील क्यों बन रहा है ? अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए। अपना श्रम ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नही करा सकती।

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। मध्याह्न मे एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढ़ाते हुए कहा—आप तो सर्वज्ञ है, कृपया मेरा भविष्य भी तो देख दें, कुछ उन्नति भी लिखी है या नहीं ?

आचार्यश्री ने कहा—मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूँ जो तुम्हारा भविष्य बतला दूँ। मैं तो पुरुषार्थवादी हूँ। मनुष्य को सदा सम्यक् पुरुषार्थ मे लगे रहना चाहिए। जो ऐसा करेगा, उसका भविष्य बुरा हो ही नही सकता।

दयालुता

आचार्यश्री की प्रकृति बहुत दयालुता की है। वे बहुत शीघ्र द्रवित हो जाते हैं। संघ-संचालक के लिए यह आव-श्यक भी है कि वह विशिष्ट स्थितियों में अपनी दयार्द्रता का परिचय दे। नाना प्रकार की प्रार्थनाए उनके सम्मुख आती रहती हैं। कुछ समय का ध्यान रखकर की गई होती हैं, तो कुछ ऐसे ही। कुछ मानने-योग्य होती हैं, तो कुछ नही। जिसकी प्रार्थना नहीं मानी जाती, उसके मन में खिन्नता होती है। यह आवश्यक भले ही न हो, पर स्वाभाविक है। इन

सब स्थितियो मे से गुजरते हुए भी सबका सन्तुलन बनाये रखना, उनका कर्तव्य होता है। अपना सन्तुलन रखना तो सहज होता है, पर उन्हे दूसरा का सन्तुलन भी बनाये रखना होता है। स्वभाव मे दयार्द्रता हुए बिना ऐसा हो नहा सकता।

कैसे जा सकते हैं ?

मेवाड-यात्रा में आचार्यश्री को उस दिन 'लम्बोडी' पहुँचना था। मार्ग के एक 'सोन्याणा' नामक ग्राम मे प्रवचन देकर जब वे चलने लगे, तब एक वृद्धा ने आगे बढ़कर आचार्यश्री को कुछ रुकने का सकेत करते हुए कहा—मेरा 'मोभी बेटा' (प्रथम पुत्र) बीमार है। वह आ ही रहा है, आप थोडी देर ठहर कर उसे दर्शन दे दें!

लोगो ने उसे टोकते हुए कहा—आचार्यश्री को आगे जाना है। पहले ही काफी देर हो चुकी है। धूप भी प्रखर है, अत. वे अब नही ठहर सकते।

वृद्धा ने तुनकते हुए कहा—तुम कौन होते हो कहने वाले ? मैं भी तो सुबह से बैठी बाट देख रही हूँ। महाराज दर्शन दिये बिना जा ही कैसे सकते हैं ?

वृद्धा सचमुच ही रास्ता रोक कर खडी हो गई। आचार्यश्री ने उसकी भक्ति-विह्वलता को देखा तो द्रवित हो गए। उन्होने कहा—माँजी! तुम्हारा घर किधर है ? उधर ही चले तो दर्शन हो जायेंगे।

वृद्धा तो एक प्रकार से नाच उठी और आगे हो ली। आचार्यश्री उसके घर की ओर बढे, तो कुछ ही दूर पर वह लड़का आता हुआ मिल गया। उसने अच्छी तरह से दर्शन कर लिये, तब आचार्यश्री ने वृद्धा से पूछा—क्यों माँजी! अब तो हम चलें ?

वृद्धा गद्गद हो गई और बाष्पार्द्र नेत्रो से उसने बिदाई दी।

बिना भक्ति तारो ता पं तारवो तिहारो है !

सुजानगढ़ मे चाँदमलजी सेठिया अपनी युवावस्था मे धर्म-विरोधी प्रकृति के थे। यो बडे समझदार तथा दृढ़-संकल्प व्यक्ति थे। वे कालान्तर में राजयक्ष्मा से पीडित हो गए। उस स्थिति मे उनके विचारो मे भी परिवर्तन आया। उन्होने आचार्यश्री से दर्शन देने की विनती करायी। आचार्यश्री वहाँ गये, तब उन्होने अपनी धर्म-विमुखता का पश्चात्ताप किया और एक राजस्थानी भाषा का 'कवित्त' सुनाया। उसकी अन्तिम कडी थी—'बिना भक्ति तारो ता पं तारवो तिहारो है,' अर्थात् भक्तो को तो भगवान् तारते ही हैं, पर मुझ जैसे अभक्त को भी तारे, तभी आपकी विशेषता है।

आचार्यश्री उनकी इस भावना पर मुग्ध हो गए। उसके बाद स्वय वे वहाँ जाते रहे और धर्मोपदेश सुनाते रहे। अनेक बार सन्तो को भी वहाँ भेजते रहे।

द्वेष को विस्मृत करो !

लाडनूं के सूरजमलजी बोरड़ पहले धार्मिक प्रकृति के थे, किन्तु बाद मे किसी कारण से धर्म-विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक लोगों को भ्रान्त किया। परन्तु जब बीमार हुए तब उनके विचार बदल गए। उन्होने आचार्यश्री को दर्शन देने की विनती करायी। आचार्यश्री वहाँ पधारे, तब आत्म-निन्दा करते हुए उन्होने अपने कृत्यो की क्षमा माँगी।

आचार्यश्री काफी देर वहाँ ठहरे और उनसे बातें की। प्रसगवशात् यह भी पूछा कि स्वामीजी के सिद्धान्तों मे कोई भ्रान्ति हो गई थी या कोई मानसिक द्वेष ही था। यदि भ्रान्ति थी तो अब उसका निराकरण कर लो और यदि द्वेष था तो अब उसे विस्मृत कर दो। तुम्हारे कारण से जिन लोगों मे धर्म के प्रति भ्रान्तियाँ पैदा हुई हैं, उन्हे भी फिर से सत्-प्रेरणा देना तुम्हारा कर्तव्य है।

उन्होंने आचार्यश्री को बतलाया कि मेरी श्रद्धा ठीक रही है, किन्तु मानसिक द्वेष-वश ही यह इतनी दूरी हो गई थी। मैंने जिनको भ्रान्त किया है, उनसे भी कहूँगा।

उसके बाद आचार्यश्री प्राय. प्रतिदिन उन्हे दर्शन देते रहे। वे आचार्यश्री का इस दयालुता से बहुत ही तृप्त

हुए। वे बहुधा अपने साथियों के सामने अपनी पिछली भूलों का स्पष्टीकरण करते रहे थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक वैसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विशुद्धि के निमित्त एक बहिन ने आजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुज़र गए। तभी उस शहर मे आचार्यश्री का पदार्पण हो गया। उस बहन को अनशन में आचार्यश्री के दर्शन पा लेने की बड़ी उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारते ही विनती करायी। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रवचन कर चुकने के बाद ही सन्तों से कहा—चलो ! उस बहन को दर्शन दे आयें।

देर हो गई थी और धूप भी काफी थी, अतः सन्तों ने कहा—रेत में पैर जलेंगे, सन्ध्या-समय उधर पधारें तो ठीक रहेगा।

आचार्यश्री ने कहा—नहीं ! हमें अभी चलना चाहिए। यद्यपि उसका घर दूर था, फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये। बहिन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोड़ी देर वहाँ ठहर कर वापस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर बाद ही उस बहिन के दिगंवत होने के समाचार भी आ गए। आचार्यश्री ने सन्तों से कहा—अगर हम उस समय नही जाते तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती ? ऐसे कार्यों में हमें देर नही करनी चाहिए।

झोंपड़े का चुनाव

आचार्यश्री बीदासर से विहार कर ढाणी में पधारे। बस्ती छोटी थी। स्थान बहुत कम था। कुछ झोपड़े बहुत अच्छे थे, पर कई शीतकाल के लिए बिल्कुल उपयुक्त नही थे। आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोपड़े को पसन्द किया जहाँ कि शीतागमन की अधिक सम्भावना थी। सन्तों ने दूसरे झोपड़े का सुझाव दिया तो कहने लगे—हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते हैं अत: पर्दे आदि का प्रबन्ध ठीक हो सकता है। अन्य साधुओं के पास प्राय वस्त्र कम ही रहते हैं, अत उनके लिए सर्दी का बचाव अधिक आवश्यक होता है।

वज्रादपि कठोराणि

आचार्यश्री मे जितनी दयालुता अथवा मृदुता है, उतनी ही दृढ़ता भी। आचार्यश्री की मृदुता, शिष्य-वर्ग मे जहाँ आत्मीयता और श्रद्धा के भाव जगाती है, वहाँ दृढ़ता अनुशासन और आदर के भाव। न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढ़ता से। दोनों का सामंजस्य बिठाकर ही वे अपने कार्य मे सफल हो सकते हैं। आचार्यश्री ने इन कामों का अपने में अच्छा सामंजस्य बिठाया है। वे एक ओर बहुत शीघ्र द्रवित होते देखे जाते हैं, तो दूसरी ओर अपनी बात पर कठोरता से अमल करते हुए भी देखे जा सकते हैं।

कोई भी धर्म-श्रवण के लिए आ सकता है

एक बार आचार्यश्री लाडनूं में थे। वहाँ कुछ भाइयों ने स्थानीय हरिजनों को व्याख्यान-श्रवण की प्रेरणा दी। वे आये तो उसमें कुछ लोगों ने आपत्ति की। कुछ इस कार्य के पक्ष में थे तो कुछ विपक्ष मे। वातावरण में गरमी आयी और कुछ पारस्परिक वाद-विवाद बढ़ने लगा। तब यह बात आचार्यश्री तक पहुँची। उन्होंने अत्यन्त स्पष्टता के साथ चेतावनी देते हुए कहा—इस समय यह स्थान साधुओं की नेश्राय में है। यहाँ धर्म-श्रवण के लिए कोई भी व्यक्ति आ सकता है। यदि कोई आगन्तुकों को रोकता है तो वह वस्तुतः मुझे ही रोकता है।

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण घोषणा ने सारा विरोध शान्त कर दिया। यह उस समय की घटना है जब कि आचार्यश्री ने इस ओर अपने प्राथमिक चरण बढ़ाये थे। अब तो यह प्रश्न प्रायः समाप्त हो चुका है कि व्याख्यान में कौन आता है और कहाँ बैठता है।

इस मन्दिर में भगवान् नहीं है

एक गाँव मे आचार्यश्री को एक मन्दिर में ठहराने का निश्चय हुआ। वे जब वहाँ आये तो उनके साथ कुछ हरिजन भी थे। उनके साथ-साथ वे भी मन्दिर मे आ गए। पुजारिन ने यह देखा तो क्रोधवश गालियाँ बकने लगी। कुछ देर तो आचार्यश्री का उधर ध्यान ही नही गया। पर जब पता लगा तो साधुओ से कहने लगे—चलो भाई, अपने उपकरण वापस समेट लो। यहाँ मन्दिर मे तो भगवान् नही,क्रोध चाण्डाल रहता है। हम इस अपवित्रता मे ठहर कर क्या करेंगे ?

पुजारिन ने जब आचार्यश्री के ये शब्द सुने तो कुछ ठण्डी पड़ गई। कहने लगी—आप क्यो जा रहे हैं ? मैं आप को थोड़े ही कह रही हूँ। मैं तो इन लोगो से कह रही हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—तुम जब हम को ठहरा रही हो तो हमारे पास आने वाले लोगो को कैसे रोक सकती हो ?

पुजारिन ने आचार्यश्री का जब यह दृढ विश्वास देखा तो चुपचाप एक ओर चला गई।

सिद्धान्तपरक आलोचना : तत्त्व-बोध का मार्ग

आचार्य-पद पर आसीन होने के कुछ महीने बाद ही आचार्यश्री ब्यावर मे पधारे थे। वहाँ अपने प्रथम व्याख्यान मे उन्होने मुनि-चर्या का वर्णन करते हुए कहा था कि अपने निमित्त बने स्थान मे रहने से साधु को दोष लगता है। सेठ-साहूकारो के निवासार्थ हवेलियाँ बनती हैं, उसी प्रकार यदि साधुओ के लिए स्थान बनाये जाते हो तो फिर उनमे नाम के अतिरिक्त क्या अन्तर हो सकता है ?

आचार्यश्री की इस बात पर कुछ स्थानीय भाई बहुत चिढे। मध्याह्न मे एकत्रित होकर वे आचार्यश्री के पास आये और प्रातःकालीन व्याख्यान मे कही गई उपर्युक्त बात को अपने पर किया गया आक्षेप बतलाने लगे। उन्होंने आचार्यश्री पर दबाव डाला कि वे अपने इस कथन को वापस ले और आगे के लिए ऐसी आक्षेपपूर्ण बात न कहे।

आचार्यश्री ने कहा—हम किसी की व्यक्तिपरक आलोचना नही करते। सिद्धान्तपरक आलोचना अवश्य करते हैं। ऐसा होना भी चाहिए, अन्यथा तत्त्व-बोध का कोई मार्ग ही खुला न रह जाये। मेरे कथन को किसी पर आक्षेप नही कहा जा सकता, क्योंकि वह किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष के लिए नही कहा गया है। वह तो समुच्चय सिद्धान्त का प्रतिपादन-मात्र है। यदि हम वैसा करते हो तो स्वय हमारे पर भी वह उतना ही लागू होगा जितना कि दूसरो पर होता है। अपने कथन को वापस लेने तथा आगे के लिए न दुहराने की तो बात ही कैसे उठ सकती है ? यह प्रश्न मुनि-चर्या से सम्बद्ध है, अत. इस पर सूक्ष्मतापूर्वक मीमासा करते रहना नितान्त आवश्यक है।

वे लोग आचार्यश्री को लघु-वय तथा नवीन समझकर दबाने की दृष्टि मे आये थे, परन्तु आचार्यश्री के दृढता-मूलक उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत आलोचना जहाँ मनुष्य की हीन वृत्ति की द्योतक होती है, वहाँ सैद्धान्तिक आलोचना ज्ञान-वृद्धि और आचार-शुद्धि का हेतु होती है। उन्हे रोकने की नहीं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। सत्य को आग्रही नही, अनाग्रही ही पा सकता है।

कुप्रथा को प्रश्रय नहीं

मेवाड़ के एक गाँव मे आचार्यश्री पधारे। वहाँ एक बहिन ने दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने कारण पूछा। अनुरोध करने वाले भाई ने कहा—उसका पति दिवगत हो गया है। यहाँ की प्रथा के अनुसार वह ग्यारह महीने तक अपने घर से बाहर नही निकल सकती।

आचार्यश्री ने कहा—तुम्हीं कहते हो या उससे भी पूछा है ? ऐसा कौन होगा जो इतने महीनों तक एक ही मकान मे बैठा रहना चाहे ? इस पर वह भाई उस बहिन को समझा कर यही स्थान पर ले आने के लिए गया। पर रूढ़ियों में पली हुई वह वहाँ न आ सकी। आचार्यश्री ने तब कहा—कोई रोगी या अशक्त होता तो मैं अवश्य वहाँ जाकर दर्शन देता; पर वहाँ जाने का अर्थ है—इस कुप्रथा को प्रश्रय देना, अतः मैं नही जा सकता।

उस बहिन ने जब यह बात सुनी तो बहुत चिन्तित हुई। लोग हजारों मील जाकर दर्शन करते हैं और वह गांव में पधारे हुए गुरुदेव के दर्शनो से भी वंचित रह जायेगी, इस चिन्तन ने उसको झकझोर डाला। अन्तत वह अपने को नही रोक सकी। कुछ बहिनों की ओट लिये भीत मृगी-सी वह आयी और दर्शन कर जाने लगी। आचार्यश्री ने उसे आगे के लिए इस प्रथा को छोड देने का बहुत उपदेश दिया, पर वह सामाजिक भय के कारण उसे नहीं मान सकी।

आचार्यश्री ने कहा—एक ही कोठरी मे बैठे रहना और वही मल-मूत्र करना तथा दूसरों से फेकवाना क्या तुम्हे बुरा नहीं लगता ?

उसने कहा—बेटे की बहू विनीत है, अत' वह सहज भाव से यह सब कुछ कर लेती है।

आचार्यश्री सन्तो की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—अब इस घोर अज्ञान को कैसे मिटाया जाये ?

श्मशान में भी

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र मे साधु-साध्वियो को भेजा। वहां उन्हे घोर विरोध का सामना करना पड़ा। चूडा आदि मे कुछ लोग तेरापथी बने, उन्हे जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। तेरापथी साधुओं के विरुद्ध ऐसा वातावरण बना दिया कि उन्हे सौराष्ट्र मे चातुर्मास करने के लिए कही स्थान नहीं मिला। ऐसी स्थिति मे यह एक चिन्ता का विषय था कि चातुर्मास कहां किया जाये। सौराष्ट्र से अन्यत्र जाकर कही चातुर्मास कर सके, इतने दिन नही थे। अन्त मे वहां से कुछ भाई थला मे आचार्यश्री के दर्शन करने आये और वहां की सारी स्थिति बतलायी।

आचार्यश्री ने क्षण-भर के लिए कुछ सोचा और कहा—यद्यपि वहां आहार-पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयां है, फिर भी उन्हे साहस से काम लेना है। घबराने की कोई आवश्यकता नही है। जैन-अजैन कोई भी व्यक्ति स्थान दे, उन्हे वही रह जाना चाहिए। कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति मे श्मशान मे रह जाना चाहिए। भिक्षुस्वामी के आदर्श को सामने रखकर दृढ़तापूर्वक उन्हें कठिनाइयो का सामना करना है।

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण स्फूर्त वाणी से श्रावकों को बडा सम्बल मिला। तत्रस्थ साधु-साध्वियो को भी एक मार्ग-दर्शन मिला। वे अपने निश्चय पर और भी दृढ़ता के साथ जमे रहे।

एकात्मकता

सौराष्ट्र-स्थित साधु-साध्वियो को स्थान न मिलने के कारण आचार्यश्री चिन्तित थे। उन्होंने अपने मन-ही-मन एक निर्णय किया और ऊनोदरी करने लगे। पार्श्वस्थित सभी व्यक्तियो को धीरे-धीरे यह तो पता हो गया कि आचार्य-श्री ऊनोदरी कर रहे हैं, पर क्यो कर रहे है, इसका पता किसी को नही लग सका। बार-बार पूछने पर भी उन्होने अपने रहस्य को नहीं खोला। आखिर यह रहस्य तब खुला जब सौराष्ट्र से साधु-साध्वियों की कुशलता के तथा चातुर्मास के लिए उपयुक्त स्थान मिल जाने के समाचार आ गए। सघ के साधु-साध्वियो के प्रति आचार्यश्री की यह आत्मीयता उन सबको एक-सूत्रता का भान कराती है तथा इस शासन के लिए सर्वभावेन समर्पण की बुद्धि उत्पन्न करती है। इस एकात्मकता के समक्ष कोई परीषह परीषह के रूप मे टिक नही पाता। वह कर्तव्य की वेदी पर बलिदान की भूमिका बन जाता है।

प्रत्युत्पन्न मति

आचार्यश्री मे अपनी बात को समझाने का अपूर्व योग्यता है। वे किसी भी प्रकार के तर्क से घबराते नही। अपनी तर्क-सम्पन्न वाक्यावलि से वे एक ही क्षण मे पांसा पलट देते हैं। उनको सुनने वाले उनकी इस क्षमता से जहां चकित हो जाते हैं वहां, तर्क करने वाले निरुत्तर। उनकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि बहुत ही समर्थ है।

पादरी का गर्व

एक पादरी ने ईसाई धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए आचार्यश्री से कहा—ईसा ने शत्रुओं से भी प्यार करने का उपदेश दिया है। ऐसा उदार सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलेगा।

आचार्यश्री ने तत्काल कहा—महात्मा ईसा ने यह बहुत अच्छा कहा है, परन्तु इससे शत्रु का अस्तित्व तो प्रकट होता ही है। भगवान् महावीर ने इससे भी आगे बढ़कर किसी को भी अपना शत्रु न मानने को कहा है।

पादरी का अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता का गर्व चूर-चूर हो गया।

आप लोग क्या छोड़ेंगे ?

रूपनगढ़ मे गोविन्दसिंह नामक एक सेवानिवृत्त सैन्य अधिकारी आचार्यश्री के पास आये। वे कुछ बात कह ही रहे थे कि इतने में कुछ वणिक्-जन भी आ गए। उस अधिकारी से आचार्यश्री को बात करते देखा तो किसी वणिक् ने अवसर देखकर आचार्यश्री से कान मे कहा—यह तो शराबी है। आप इससे क्या बात करते है ? आचार्यश्री ने उसकी बात सुन ली और फिर काफी देर तक उस अधिकारी से बात करते रहे। बातचीत के प्रसग मे उससे पूछ भी लिया—क्या आप शराब पीते हैं ?

अधिकारी—हाँ महाराज ! पहले तो बहुत पीता था, पर अब प्राय नही पीता।

आचार्यश्री—तो क्या अब इसे पूर्णत. छोड़ने का सकल्प कर सकोगे ?

अधिकारी—इतना तो विचार नही किया है, पर अब पीना नही चाहता।

आचार्यश्री—जब पीना नही चाहते तो मानसिक दृढता के लिए सकल्प कर लेना चाहिए।

अधिकारी ने एक क्षण के लिए कुछ सोचा और फिर खड़ा होकर कहने लगा—अच्छा महाराज ! आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन शराब नही पीऊँगा।

आचार्यश्री ने उनके मानसिक निर्णय को टटोलते हुए पूछा—मेरे कहने के कारण तथा प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए तो आप ऐसा नहीं कर रहे हैं ?

अधिकारी ने दृढता के साथ कहा—नही महाराज ! मैं अपनी आत्म-प्रेरणा मे ही व्रत ले रहा हूँ। इतने दिन भी मेरा प्रयास इस ओर था, पर आज तक संकल्प-बल जागृत नही हुआ था। आज आपके सम्पर्क मे आने से मेरे मे वह बल जागृत हुआ है। उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है।

आचार्यश्री ने उसके बाद उन समागत व्यापारियो से पूछा—अब आप लोग क्या छोड़ेंगे ? व्यापार मे मिलावट आदि तो नही करते ?

व्यापारियों ने बगलें झाँकना शुरू कर दिया। किसी तरह साहस बटोर कर कहने लगे—आजकल इसके बिना व्यापार चल ही नही सकता।

आचार्यश्री के बार-बार समझाने पर भी वे लोग उस अनैतिकता को छोड़ने के लिए तैयार नही हो सके।

आचार्यश्री ने कहा—जिसको तुम लोग बात करने योग्य नही बतलाते थे, उसने तो अपनी बुराई को छोड़ दिया, पर तुम लोग जो अपने को उससे श्रेष्ठ मानते हो, अपनी बुराई नही छोड पा रहे हो। तुम लोगो से उसकी सकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही।

वास्तविक प्रोफेसर

पिलानी-विद्यापीठ में प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—"जो अनुभव स्वय पढ़ते समय नही हो पाता, वह विद्यार्थियों को पढ़ाते समय होता है, अत वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।" आचार्यश्री भाषण देकर आये, तब एक परिचित विद्यार्थी ने उनसे पूछा—अब आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?

आचार्यश्री—चार बजे के लगभग प्रोफेसरों की सभा में भाषण है।

छात्र ने हँसते हुए कहा—तब तो हम भी सम्मिलित हो सकेंगे ? क्योंकि आपने हमें भी प्रोफेसर बना दिया है।

आचार्यश्री—पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरों की न होकर छात्रों की ही तो होगी। तब तुम्हारे सम्मिलित न होने का प्रश्न ही कहां उठता है ?

कोई तो चाहिए

आचार्यश्री नबीगज जा रहे थे। मार्ग मे रघुबीरसिंहजी त्यागी का आश्रम आया। त्यागीजी ने आचार्यश्री को वहाँ ठहराने का बहुत प्रयास किया। आचार्यश्री का कार्यक्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो चुका था, अत. वहाँ ठहर पाना सम्भव नही था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तर्क काम में लेते हुए कहा—यहाँ तो अमुक-अमुक आचार्य ठहर चुके हैं। अच्छा स्थान है, आपको किसी प्रकार का कष्ट नही होगा। सभी तरह की सुविधाएं यहाँ उपलब्ध हैं।

आचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती है, वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं। जहाँ सुविधाएं न हों, वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिए।

त्यागीजी के पास इसका कोई उत्तर नही था। आचार्यश्री ने अपने पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम की अनिवार्यता बतलाते हुए उनके आग्रह को प्रेमपूर्वक शान्त किया।

नींद उड़ाने की कला

प्रातःकालीन प्रवचन मे कुछ साधु झपकियाँ ले रहे थे। आचार्यश्री ने उनकी ओर देखा और अपने चालू प्रकरण मे कष्ट-सहिष्णुता का विवेचन करते हुए कहने लगे—साधना करने वाले को कष्ट-सहिष्णु बनना अत्यन्त आवश्यक है। यह उनकी साधना का ही एक अग है। मुनि-जन कितना कष्ट सहते हैं, यह देखने या सुनने से उतना नही जाना जा सकता, जितना कि स्वयं अनुभव करने से। गर्मी का समय है। रात को खुले आकाश मे सो नही सकते। प्यास लगने पर भी पानी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति में नींद कम आये, यह सहज है। आप समझ रहे होंगे, झपकियाँ लेने वाले साधु प्रवचन सुनने के रसिक नही हैं, किन्तु वास्तविकता यह नही है; प्रवचन सुनने के लिए आने पर भी रात की नींद प्रात.-काल के ठण्डे समय में सताने लगती है। इन झपकियों का मुख्य कारण यही तो है।

आचार्यश्री के इस विवेचन ने ऐसा चमत्कार का काम किया कि सबकी नींद उड़ गई। कुछ व्यक्तियो ने सोचा कि यह प्रवचन के प्रसंग मे ही फरमाया गया है। कुछ ने सोचा कि यह नींद उड़ाने की एक नई कला है। नींद लेने वालो ने अपनी स्थिति को संभालते हुए सोचा कि अब नींद नहीं लेनी है।

यह तो सुविधा है

गर्मी के दिन थे, फिर भी फतहगढ़ से साढे तीन बजे विहार हुआ। सूर्य तप रहा था। धूप बहुत तेज़ थी। सड़क के उत्ताप से पैर झुलसे जा रहे थे। कुछ दूर तो वृक्षों की छाया आती रही, किन्तु बाद में वह भी नही रही। एक साधु ने कहा—धूप इतनी तेज़ है और वृक्ष कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। बड़ी मुसीबत है।

आचार्यश्री ने इस निराशावादी स्थिति को उलटते हुए कहा—आज इतनी तो सुविधा है कि सूर्य पीठ की ओर है। यदि यह सम्मुख होता तो कार्य और भी कठिन होता।

विचार-प्रेरणा

आचार्यश्री की कार्य-प्रेरणा जितनी तीव्र है, उतनी ही विचार-प्रेरणा भी। वे ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं कि जिससे व्यक्ति को उनके विचारों को जानने की उत्सुकता हो। यद्यपि वे बहुत सरल-सुबोध भाषा में बोलते हैं, फिर भी उस

सुबोधता में एक ऐसा तत्त्व भी रहता है जो प्रयासगम्य होता है। उनकी सहज बात दूसरों के लिए मार्ग दर्शक बन जाती है।

आशा से भर दिया

एक बार दिल्ली अणुव्रत समिति के अध्यक्ष श्री गोपीनाथ 'अमन' अणुव्रत-अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए गये, तब किसी कारणवश काफी निराश थे, किन्तु जब लौटकर दिल्ली आये, तब आशा से भरे हुए थे। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया—अभी दिल्ली नगर-निगम के चुनावों मे मेरे अपने ही मुहल्ले मे वोट खरीदे गए थे। यह कार्य मेरी पार्टी वालों ने ही मुझसे छिपा कर किया था। इस प्रकार की प्रच्छन्न अनैतिकताओं से मुझे बडी ग्लानि है। अत. निराश होना स्वाभाविक ही था। इसी निराशा की स्थिति मे मैं अधिवेशन मे भाग लेने गया था। मैंने जब इस घटना को आचार्यश्री के सम्मुख रखा और कहा कि जब देश में इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त है, तब कुछ व्यक्तियो के अणुव्रती होने का कोई अधिक प्रभाव नही हो सकता। मुझे अपनी प्रभावहीनता पर बडा दु ख है कि मेरी पार्टी वालो पर भी मेरा कोई प्रभाव नही है। अधिक व्यक्तियो द्वारा की जाने वाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नही चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियो से अलग-थलग रहना पडता है। उसका जीवन जाति-बहिष्कृत-जैसा बन जाता है। मेरे साथी जब यह जान गए कि मैं उनकी इन बातो में सहयोग नही दूंगा, तो वे उन बातो के विषय मे मुझसे विमर्षण किये बिना ही अपना निर्णय कर लेते है।

आचार्यश्री ने मुझसे कहा—क्या यह कम महत्त्वपूर्ण बात है कि अनेक व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की सचाई का भी सामना नहीं कर सकते। उन्हे छिपकर काम करना पडता है।

बस, आचार्यश्री की इसी एक बात ने मुझे आशा से भर दिया।

मेरा मद उतर गया

सुरेन्द्रनाथ जैन आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री ने उनसे पूछा—धर्म-शास्त्रों का नैरन्तरिक अभ्यास चालू रहता होगा?

उन्होंने कहा—मैंने दस वर्ष तक दिगम्बर धर्म-शास्त्रों का अभ्यास किया है।

आचार्यश्री—तब तो मोक्षशास्त्र, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, परीक्षा-मुख आदि ग्रन्थ पढे ही होगे?

सुरेन्द्रनाथजी—हाँ, मैंने इन सबका अच्छी तरह से पारायण किया है।

आचार्यश्री—आत्म-तत्त्व का विश्वास हुआ कि नही?

सुरेन्द्रनाथजी—जितना निर्विकल्प होना चाहिए, उतना नही हूँ।

आचार्यश्री—हो भी कैसे सकते हो? पुस्तके आत्म-तत्त्व का विश्वास थोडे ही कराती हैं? वे तो केवल उसका ज्ञान देती हैं।

सुरेन्द्रनाथजी—तो विश्वास कैसे होता है?

आचार्यश्री—साधना से। भले ही कोई ग्रन्थ न पढ़े, पर आत्म-साधना करने वाले को आत्म-दर्शन अवश्य होगा। केवलज्ञान की प्राप्ति पुस्तकों से नहीं, किन्तु साधना से ही होती है। केवलज्ञान के लिए कही कालेज मे भर्ती नहीं होना पड़ता, उसके लिए तो एकान्त मे बैठकर अपनी आत्मा को पढाना होता है। उसी से अलभ्य आत्म-बोधि की प्राप्ति हो जाती है।

आचार्यश्री की उपर्युक्त बातो का श्री सुरेन्द्रनाथजी पर जो प्रभाव पड़ा, उसको उन्होंने इस प्रकार भाषा दी है—"इतनी बडी बात और इतने सरल ढग से! मेरा ज्ञानी होने का मद क्षण-भर में उतर गया। तभी मुझे लगा कि हजार शास्त्रघोटू पण्डितों से एक साधक सहस्रों गुना अधिक ज्ञानवान् है।"[1]

---

[1] जैन भारती, १६ दिसम्बर '५४

हिन्दू या मुसलमान ?

बिहार प्रदेश मे किसी ने आचार्यश्री से पूछा—आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?

आचार्यश्री ने कहा—मेरे चोटी नहीं है, अत: मैं हिन्दू नहीं हूँ। मैं इस्लाम-परम्परा मे नहीं जन्मा, अत: मुसलमान भी नहीं हूँ। मैं तो केवल मानव हूँ।

भोजन का अधिकार

'गोडता' गाँव मे आचार्यश्री के पास मृत्यु-भोज के त्याग का प्रकरण चल पडा। अनेक व्यक्तियों ने मृत्यु-भोज करने तथा उसमे सम्मिलित होने का परित्याग किया। आचार्यश्री ने वहाँ के सरपंच से भी त्याग करने के लिए कहा।

सरपच ने कहा—मैंने अभी कुछ दिन पहले मृत्यु-भोज किया है। चार हजार रुपये लगाकर मैंने सब लोगो को भोजन कराया है तो अब उनके यहाँ का मृत्यु-भोज कैसे छोड दूँ ? कम-से-कम एक-एक बार तो सब के घर भोजन करने का अधिकार है। हाँ, यह हो सकता है कि मैं अब मृत्यु-भोज नहीं करूँगा।

आचार्यश्री ने अपने तर्क को नया मोड़ देते हुए कहा—परन्तु जब तुम मृत्यु-भोज नही करोगे तो तुम्हें फिर क्यो कोई अपने यहाँ बुलायेगा ? सब सोचेंगे—यह हमे नहीं बुलायेगा, तब फिर हम ही क्यो बुलायें ? और फिर यह भी सोचो कि जब सब लोग इसका परित्याग करते हैं तब तुम्हे भोजन करने के लिए बुलायेगा ही कौन ?

सरपच के पास इसका कोई उत्तर नही था। आचार्यश्री के तर्कों ने उसे अपने मन्तव्यो पर पुन: विचार करने को प्रेरित किया। एक क्षण उसने सोचा और फिर गाँव वालों के साथ खडा होकर प्रतिज्ञा मे सम्मिलित हो गया।

हमारा अनुभव भिन्न है

एक सन्यासी को आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय दिया। उसने पूछा—क्या लोग आपकी बाते मान लेते हैं ? हमने तो देखा है कि प्राय लोग व्रत के नाम से ही भागते हैं।

आचार्यश्री ने कहा—हमारा अनुभव आप से भिन्न है। व्रतों का उद्देश्य और उनकी भावना को ठीक ढग से समझाने पर अधिकाश लोग व्रतों के प्रति निष्ठाशील होते पाये गए हैं। भागते तो वे तब है, जब कि स्वय प्रेरक उन व्रतो को अपने जीवन मे न उतार कर केवल उपदेश बघारने लगता है।

शंकर-प्रिया

श्री बी० डी० नागर को आचार्यश्री ने अणुव्रतों की प्रेरणा दी, तो वे बोले—मैं शकर का उपासक हूँ। शकर को भाँग बहुत प्रिय थी, अत: मैं उन्हे भाँग चढाता हूँ। जो वस्तु अपने इष्टदेव को चढ़ाता हूँ, उसे प्रसाद के रूप मे स्वय भी स्वीकार करता हूँ। अणुव्रती बनने मे उसमें बाधा आती है।

आचार्यश्री—आप तो एक बौद्धिक व्यक्ति हैं। थोडा सोचिये, क्या बिना भाँग के शंकर की पूजा नही हो सकती ?

श्री नागर—हो तो सकती है, किन्तु अन्य वस्तुए उनकी सर्वाधिक प्रिय वस्तु का स्थान तो नहीं ले सकती।

आचार्यश्री—ईश्वर को भक्त अपना ही रूप देना चाहता है। वह स्वय जिन वस्तुओं को प्रिय मानता है, उन्ही पर भगवान् की प्रियता का आरोपण कर लेता है। गाँजा आदि पीने वाले भी शकर के नाम की आड लेते है। इस क्रम से तो भगवान् के निर्मल स्वरूप में बाधा ही पहुँचती है। आप इस विषय पर गम्भीरता से सोचियेगा।

श्री नागर—हाँ, यह बात सोचने की अवश्य है। नशे के रूप में भाँग छोड़ देने में मुझे कोई आपत्ति नही है। अन्य बातों पर जब तक पूर्ण मनन न कर लूँ, तब तक के लिए इतना संकल्प भी काम देगा।

शुद्ध : गंगाजल से भी पवित्र

अकराबाद मे एक ब्राह्मण गंगाजल लेकर आया और आचार्यश्री से उसे स्वीकार करने की हठ करने लगा। आचार्यश्री ने उसे समझाया कि कच्चा जल हमारे उपयोग में नहीं आता।

पडितजी बोले—यह तो गंगाजल है। यह कभी कच्चा होता ही नही। मैं इसे अभी-अभी लेकर आया हूँ।

अन्तत आचार्यश्री ने उसके बढ़ते हुए आग्रह को देखा तो अपनी बात का रुख बदलते हुए कहने लगे—पंडितजी! श्रद्धा पानी मे बड़ी होती है, मैं आपकी श्रद्धा को सादर ग्रहण करता हूँ। वह इस गंगाजल से भी पवित्र वस्तु है।

सब से समान सम्बन्ध

उत्तरप्रदेशीय विधान सभा के सदस्य श्री ललिताप्रसादजी सोनकर की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने दलित वर्ग संघ के वार्षिक अधिवेशन में जाना स्वीकार कर लिया। उनके कुछ विरोधियो ने आचार्यश्री से कहा—सब दलित-वर्गीय लोगो का इसमे सहयोग नहीं है, अत आपका जाना उचित नही लगता।

आचार्यश्री ने कहा—सबका सहयोग होना अच्छा है, फिर भी वह न हो, तब तक के लिए मैं अपनी बात न कहूँ, यह उचित नहीं। सत्यान्वेषण या सत्य-प्रापण में यदि सबके सहयोग की शर्त रहे, तो शायद सत्य के पनपने का कभी अवसर ही न आये। जो इस संगठन मे हैं, वे मेरे विचार आज सुन ले और जो इस सगठन मे नही है, वे आज वहाँ भी सुन सकते हैं, तथा अन्यत्र कही भी। मेरा इस या उस किसी भी सगठन से कोई सम्बन्ध नही है, और जो सम्बन्ध है वह सभी संगठनों से एक समान है।

चरण-स्पर्श कर सकते हैं ?

रेल से उतर कर आये हुए कुछ व्यक्तियो ने आचार्यश्री का चरण स्पर्श करना चाहा। परन्तु उन्हे रेल के धुंए से मलिन हुए अपने वस्त्रो के कारण कुछ सकोच हुआ। यह विचार भी शायद मन मे उठा हो कि एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क मे आते समय तन और वसन की पवित्रता अनिवार्यतया होनी चाहिए। दूसरे ही क्षण मन ने एक दूसरा तर्क प्रस्तुत किया कि उनसे सम्पर्क करने मे तन और वसन से कही अधिक श्रद्धा माध्यम बनती है। वह तो सदा पवित्र ही है। आखिर उन्होने पूछ लेना ही उचित समझा। वे आचार्यश्री के पास आये और बोले—क्या हम इस अस्नात स्थिति मे आपका चरण-स्पर्श कर सकते है!

आचार्यश्री ने कहा—क्यो नही ? वस्त्रो की मलिनता अपेक्षणीय न होते हुए भी गौण वस्तु है। मन की मलिनता नही होनी चाहिए।

विनोद

कभी-कभी अवसर आने पर आचार्यश्री विनोद की भाषा मे बोलते सुने जा सकते हैं। उनका विनोद केवल परिहास के रूप मे नही होता, अपितु अपने मे एक गहरा अर्थ लिये हुए होता है। उनके विनोदो का व्यंग्यार्थ बाण की तरह वस्तुस्थिति के हार्द को विद्ध करने वाला होता है।

एक घड़ी

लाडनूं मे युवक-सम्मेलन की समाप्ति पर एक स्वयं-सेवक ने सूचना देते हुए कहा—एक घड़ी मिली है; जिन सज्जन की हो, वे चिह्न बताकर कार्यालय से ले लें।

वह बैठ भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—मैंने भी आप लोगो मे एक घडी (समय-विशेष) खोई है। देखें, कौन-कौन उसे वापस ला देते हैं!

हँसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर संगीत की सी झंकार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। अर्थात् निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहाँ एक वृक्ष पर मधुमक्खियों का एक छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धुआँ संयोगवशात् वहाँ तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत-से भाई-बहिनों को काट लिया। उस काण्ड में पर्दे वाली बहनें साफ बच गईं।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने लगे—चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उसकी एक उपयोगिता तो अब निर्विवाद बता सकेंगे।

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार में मील-पर-मील कटते जा रहे थे। मील का एक पत्थर आया, वहाँ से कानपुर चौरासी मील शेष था। एक भाई ने कहा—अभी तो कानपुर चौरासी मील दूर है।

आचार्यश्री ने इस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—"यह चौरासी भी कट जायेगी।" इस छोटे-से वाक्य के साथ ही सारा वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया।

कुँआ—प्यासे के घर

आचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियों मे जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। तब आलोचक प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुएँ के पास जाता है, पर कुआँ प्यासे के पास क्यों जाये?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—अरे भाई, क्या किया जाये! युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुआँ भी तो प्यासे के घर जाने लगा है।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातो के साथ उसने यह भी बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है!

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नही गयीं?

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है!

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—बस, यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी!

अँधेरे से प्रकाश में

रात्रि के समय खुली छत पर दुग्ध-धवल चन्द्रिका मे अणुव्रत-गोष्ठी का कार्यक्रम प्रारम्भ होने वाला था। वहाँ पास में एक पाल बँधा हुआ था। लगभग आधी छत पर उसकी छाया पड़ रही थी। कुछ अणुव्रती चन्द्र के प्रकाश मे बैठे थे, तो कुछ उस छाया मे। प्रकाश वाला कुछ भाग यों ही खाली पड़ा था। कुछ व्यक्तियों ने पीछे छाया मे बैठे भाइयों से आगे आ जाने का अनुरोध किया। पर वहाँ से कोई उठा नहीं।

आचार्यश्री ने इसी स्थिति को विनोद की भाषा मे यो अभिव्यक्ति दी—"प्रकाश में आने के बाद हर बात में जितनी सावधानी बरतनी पड़ती है, अँधेरे में उतनी नहीं। सम्भवतः यही सुविधा अँधेरे के प्रति आकर्षण का कारण हो सकती है। अन्यथा प्रकाश को छोड़ अँधेरे को कौन पसन्द करेगा?" वातावरण मे चारों ओर स्मित भाव छलक उठा। पीछे बैठे हुए भाई किसी के अनुरोध के बिना स्वयं ही उठ-उठकर आगे आ गए।

जो आज्ञा

प्रवचन चल रहा था। एक छोटा बालक घूमता-फिरता उधर आया और आचार्यश्री के पैरों की तरफ हाथ बढ़ाते हुए बोला—'पैर दो!' आचार्यश्री अपने प्रवाह में बोल रहे थे। जनता विमुग्ध भाव से सुन रही थी। बालक को इसकी कोई परवाह नही थी। आचार्यश्री का प्रवाह रुका। लोगो की दृष्टि बालक की ओर गयी, आचार्यश्री ने अपने पैर को उसकी ओर आगे बढाते हुए हँसकर कहा—'जो आज्ञा!' बालक अपनी मस्ती से चरण-स्पर्श कर चलता बना।

अच्छाई-बुराई की समझ

अलीगढ़ के एक वृद्ध एडवोकेट निधीशजी आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। बातचीत के प्रसग मे उन्होने कहा—मैं यदि बुराई भी करता हूँ तो उसे अच्छी समझ कर ही करता हूँ।

आचार्यश्री ने छूटते ही कहा—और जब अच्छाई करते हैं तो शायद बुरी समझ कर करते होगे!

प्रामाणिकता

आचार्यश्री अपने कार्य में परिपूर्ण प्रामाणिकता का ध्यान रखते है। अपनी तथा अपने साधुओं की कार्य-वृत्ति से किसी को दुविधा न हो तथा किसी की वस्तु का दुरुपयोग न हो, इसमे भी वे पूर्णत जागरूक रहते है। किसी पूर्वाग्रह तथा न्यूनता लगने के भय से भी वे अपनी प्रामाणिकता को आंच आने देना नही चाहते।

हीनता की बात

एक विद्वान् ने आचार्यश्री से कहा—आचार्यजी! भविष्य मे इतिहास का विद्यार्थी जब यह पढेगा कि भारत मे छोटी-छोटी बुराइयो को मिटाने के लिए व्रत बनाने पडे और आन्दोलन चलाना पडा, तो क्या यह बात भारत की हीनता प्रकट करने वाली नही होगी?

आचार्यश्री—हो सकती है, किन्तु वस्तुस्थिति को छिपाना भी तो अच्छा नही है। भारत शताब्दियो तक परतन्त्र रहा, यह घटना भी तो हीनता की द्योतक है, पर क्या इस वस्तु-स्थिति को बदला जा सकता है? इतिहास मे उत्कर्ष और अपकर्ष आते ही रहते हैं, उनके कारण से हमे वस्तु-स्थिति छिपाने का प्रयास कर, अप्रामाणिक नही बनना चाहिए।

श्रद्धा का सदुपयोग करें!

आचार्यश्री आहार कर रहे थे। उसी कमरे मे एक पेटी पर पानी से भरा पात्र रखा था। आचार्यश्री ने देखा तो पूछने लगे—यहाँ पानी किसने रखा है? यदि थोडा-सा भी पानी नीचे गिरा तो वह पेटी के अन्दर चला जायेगा। इसके अन्दर कपड़े भी हो सकते हैं तथा आवश्यक कागज़-पत्र भी। हमारी असावधानी से वे खराब हो, यह लज्जा की बात है। लोग हमे जिस श्रद्धा से स्थान देते है, हमे उनकी वस्तुओ का उतनी ही प्रामाणिकता से ध्यान रखना चाहिए। उन्होने उस पानी को तत्काल उठा लेने का निर्देश किया।

पाँच मिनट पहले

उत्तरप्रदेश की यात्रा के पहले दिन में साय आचार्यश्री अछनेरा पधारे। इण्टर कालेज में ठहरना हुआ। परीक्षाए चल रही थीं, अत प्रिंसिपल ने प्रार्थना की—रात को तो आप आनन्द से यहाँ ठहरिये, परन्तु प्रातः यदि सूर्योदय मे पाँच मिनट पहले ही खाली कर सकें तो ठीक रहेगा, अन्यथा परीक्षार्थी लडको के लिए थोड़ी दिक्कत रहेगी।

आचार्यश्री ने उस बात को स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रात. वैसा ही किया। सूर्योदय से पाँच मिनट

पूर्व ही सब सन्त सडक पर आ गए और सूर्योदय होने पर वहाँ से विहार कर दिया। इस प्रामाणिकता पर कालेज के अधिकारी गद्गद हो गए।

वक्तृत्व

आचार्यश्री की अन्य अनेक प्रबल शक्तियो मे से एक है उनकी वक्तृत्व-शक्ति। किस व्यक्ति को कौन-सी बात किस प्रकार से कही जानी चाहिए, यह वे बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। विद्वानो की सभा में जहाँ वे अपनी प्रखर विद्वत्ता की छाप छोडते हैं, वहाँ ग्रामीणो पर उनके उपयुक्त सहज और सुबोध बातों की। आपके उपदेशों से सहस्रो जन मद्य, मांस, भाँग, तम्बाकू तथा अपमिश्रण आदि अनैतिकताओ से विमुक्त हुए हैं। अनेक बार ग्रामों मे ऐसे दृश्य भी उपस्थित होते रहते हैं जब कि वर्षों तक मद्य तथा तम्बाकू पीने वाले व्यक्ति आचार्यश्री के सामने अपनी चिलमे फोड देते हैं तथा अपने पास की बीडियो का चूरा करके फेंक देते हैं।

वाणी का प्रभाव

डा० राजेन्द्रप्रसाद जब २१ अक्तूबर '४६ में आचार्यश्री से मिले थे, तब उनकी वाणी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होने अपने एक पत्र मे उसका उल्लेख करते हुए लिखा है

"उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देश मे ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक ही दिया करते हैं। जो विद्याध्ययन कर सकते है, वे तो ग्रन्थो का सहारा ले सकते हैं, पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है। इसलिए जिस सहज-सुलभ रीति से आप गूढ तत्त्वो का प्रचार करते है, उन्हे सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूँ कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।"

उनकी आत्मा बोल रही है

आचार्यश्री साधारण जीवनोपयोगी बातो पर ही प्रभावशाली ढग से बोलते हो, सो बात नहीं। वे जिस विषय पर भी बोलते है, उसी मे इतनी सजीवता ला देते है कि उन विषयो से विशेष सम्बद्ध न होने वाले व्यक्ति भी प्रभावित होते देखे जाते हैं। स० २००८ दिल्ली में भिक्षु-चरमोत्सव के अवसर पर अजमेर के भूतपूर्व मुख्य मत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय उसमे सम्मिलित हुए। आचार्यश्री ने स्वामी भीखणजी के विषय मे जो भाषण दिया, उससे वे इतने प्रभावित हुए कि अपने स्थान पर जाकर उन्होने एक पत्र[1] भेजा। आचार्यश्री की वक्तृत्व-शक्ति पर प्रकाश डालने वाला वह पत्र इस प्रकार है.

महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम! इधर तीन दिनो से आपके दर्शन और सत्सग का जो अवसर मिला, वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बडा खेद है कि आज कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर भी मैं वहाँ कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन मे ही लोगो को अधिक देना चाहिए, जिससे हमे अपने जीवन को माँजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी के चरित्र और आपका आज का तद्विषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप मे बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युगपुरुष' है। जैन-धर्म को मैं मानव-धर्म मानता हूँ; उसके आप प्रतीक बनेंगे, ऐसा विश्वास है। मैं दिल्ली फिर आऊँगा, तब अवश्य मिलूँगा। आप अपने इस जीवन-कार्य मे मुझे अपना सहयोगी समझ सकते है। इति।

विनीत
हरिभाऊ उपाध्याय

---

१ विशेष विवरण

विविध

आचार्यश्री का जीवन विविधता के ताने-बाने से बना है। उसकी महत्ता घटनाओ मे बिखरी पडी है। घटनाए भी इतनी कि समेटे नही सिमटती। आदि से ही विविधता उनके जीवन का प्रमुख सूत्र बनकर रही है, इसीलिए उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओ के सकलन में भी अपनी अभिव्यक्ति हुई है।

मैं अवस्था में छोटा हूँ

मध्याह्न में एक किसान आया और आचार्यश्री के पास बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे बातचीत की तो उसने बतलाया—मैं खेत पर काम कर रहा था तब सुना कि गाँव मे एक बडे महात्मा आये है। मैने सोचा—चलूँ, कुछ सेवा-बन्दगी कर आऊँ। किसान ने आचार्यश्री की ओर हाथ बढाते हुए कहा—लाइये, थोडा-सा चरण दबा दूँ।

आचार्यश्री ने अपनी पलथी को अधिक समेटते हुए कहा—नही भाई, हम किसी से शारीरिक सेवा नही लेते।

किसान ने कहा—आप क्यो नही दबवाते ! मैंने तो अनेक सन्तो के पैर दबाये है।

आचार्यश्री ने कहा—यह हमारा नियम है। दूसरी बात यह भी है कि मेरी अवस्था तुम्हारे से छोटी है। मैं तुम्हारे से पैर कैसे दबवा सकता हूँ ! पैर मेरे दुखते भी नही। युवा हूँ, तब पैर दबवाऊँ ही क्यो ?

भेंट क्या चढ़ाओगे ?

आचार्यश्री एक छोटे-से गाँव मे ठहरे। ग्रामीण उनको चारो ओर से घेर कर खडे हो गए। आचार्यश्री ने विनोद मे उनसे कहा—खडे तो हो; भेट में क्या-क्या चढाओगे ?

बेचारे किसान सकुचाये और कहने लगे—महाराज ! भेट के लिए तो हम कुछ नही लाये।

आचार्यश्री—तो क्या तुम लोग नही जानते कि दर्शन करने के बाद कुछ चढाना भी आवश्यक होता है ?

किसानो ने बडे सकोच के साथ कहा—हम तो सब गरीब है, आपके योग्य भेट ला भी क्या सकते है !

आचार्यश्री ने उन्हे और भी विस्मय मे डालते हुए कहा—तुम सबके पास चढावे के उपयुक्त सामग्री है तो सही; परन्तु उसे चढाने का साहस करना होगा।

वे लोग विस्मत हो एक-दूसरे की ओर ताकने लगे। आचार्यश्री ने उनकी दुविधा को ताडते हुए कहा—डरो मत, मैं तुम्हारे से रुपया-पैसा माँगने वाला नही हूँ। मुझे तो तुम्हारी बुराइयो की भेट चाहिए। तम्बाकू, मद्यपान, चोरी आदि की, जिसमे जो बुराई हो, वह मुझे भेट चढा दो।

यह सुनकर उनमे प्रसन्नता की लहर दौड गई। उन लोगो ने सचमुच ही आचार्यश्री के चरणो मे काफी सारी भेंट चढ़ायी।

फ़ीस भी लेता हूँ और पद भी देता हूँ

एक भाई ने आचार्यश्री से कहा—ऐसे तो मेरी सन्तो मे कोई विशेष श्रद्धा नही रहती, किन्तु इस बार कुछ ऐसी भावना जगी कि प्रतिदिन तीनो समय आता रहा हूँ। मुझे आपके सघ की दो बातो ने विशेष आकृष्ट किया है एक तो सदस्यता की कोई फीस नही है, दूसरे, पदों का झगडा नही है।

आचार्यश्री ने उनकी आशा के विपरीत कहा—तुमने सम्भवत गहराई से ध्यान नही दिया। यहाँ तो फ़ीस भी लगती है और पद भी दिया जाता है।

वह भाई कुछ असमजस में पडा और पूछने लगा—कहाँ ? मेरे देखने मे तो कोई ऐसी बात नही आयी।

आचार्यश्री—अब तक नही आयी होगी, पर लो, अब लाये देता हूँ कि हम अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति से संयम की फ़ीस लेना चाहते हैं और अणुव्रती का पद देना चाहते हैं। क्यो, है न स्वीकार ?

और तब उस भाई को न फीस की शिकायत हुई, न पद की। उसने सहर्ष फीस भी दी और पद भी लिया।

आपका चरणामृत मिले तो…

एक व्यक्ति अपने भानजे को साथ लेकर आया। वह अपने साथ गरम जल का पात्र तथा चाँदी की कटोरी भी लाया था। आचार्यश्री को वन्दन कर वह बोला—महाराज! यह मेरा भानजा है। इसका दिमाग कुछ अस्वस्थ है। कुछ समय पूर्व एक मुनि आये थे। मैंने उनका अगुष्ठ धोकर इसे चरणामृत पिलाया था। तब से यह कुछ-कुछ स्वस्थ हुआ है, परन्तु रोग पूर्ण रूप से गया नही। मैंने सोचा, इस बार यदि आपका चरणामृत पिला दूँ तो यह अवश्य ही पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा।

आचार्यश्री ने कहा—मैं अपना अगुष्ठ नही धुलवाऊँगा। अगुष्ठ-धोये पानी से रोग में कुछ लाभ होता है, इसका मुझे तनिक भी विश्वास नही। मै इसे एक अन्ध-विश्वास मानता हूँ। आप इसे चरणस्पर्श करा सकते हैं, उसमे मुझे कोई आपत्ति नही। उससे अधिक कुछ नही।

उस भाई ने अपने भानजे को आचार्यश्री का चरणस्पर्श कराया और बडी प्रसन्नता से अपने घर लौट गया।

छोटे का बड़ा काम

आचार्यश्री की सेवा मे आये हुए एक परिवार की मोटर के पीछे बँधी हुई कपडो की गठरी मार्ग मे गिर गई, उसमे लगभग पाँच सौ रुपये का कपडा था। पीछे मे एक ताँगे वाले ने उसे गिरते देखा तो मोटर के नम्बर ले लिये। गठरी लेकर खोजता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ आचार्यश्री की सेवा मे आये हुए अनेक परिवार ठहरे हुए थे। उसने वहाँ लोगों को बतलाया कि अमुक नम्बर की मोटर वाले की यह गठरी है। पूछताछ के बाद पता चलते ही गठरी यथास्थान पहुँचा दी गई।

कोई भाई उसे आचार्यश्री के पास ले आया। आचार्यश्री ने सारी घटना सुनकर परिचय के रूप मे उससे उसका नाम पूछा—उसने अपना नाम 'छोटा' बतलाया। इस पर आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठा के प्रति उसका उत्साह बढाते हुए कहा—छोटे ने बडा काम किया है। जनता की ओर उन्मुख होते हुए उन्होने कहा—इस घटना से पता चलता है कि भारतीय मानस की पवित्रता मरी नही है।

उपसंहार

आचार्यश्री विश्व की एक विभूति है। उनका जीवन व्यक्तिगत मे बढकर समष्टिगत है। उन्होने अपने व्यक्तित्व से समष्टि को प्रभावित किया है। जो केवल अपने मे ही समाकर रह जाता है, वह विद्वान् तो हो सकता है, पर महान् नही। महत्ता को इयत्ता के किसी भी वलय मे घेरा नही जा सकता। उन्मुक्त परिव्याप्ति ही उसकी सार्थकता है। यद्यपि महत्ता के मार्ग मे इयत्ताए आती है, परन्तु उनका घेरा हर बार टूटता है। कौन कितना महान् है—यह परिमाण इयत्ताओ की ही अपेक्षा से होता है। निरपेक्ष महत्ता सदा अतुलनीय ही रही है। ससार के हर महापुरुष की गति उसी निरपेक्ष महत्ता की ओर रही है। इसीलिए हर इयत्ता के साथ उनका सदैव सघर्ष चालू रहा है।

आचार्यश्री ने इयत्ताओ के अनेक वलय तोडे हैं। वर्तमान इयत्ता से भी उनका संघर्ष चालू है। आज नही तो कल—यह वलय अवश्य ही टूटने वाला है। चरमरा तो वह अभी से रहा है। भविष्य के गर्भ मे न जाने कितने वलय और हैं तथा उनके साथ होने वाला भावी सघर्ष समय की कितनी अवधि घेरेगा, कहा नही जा सकता। आज उसकी आवश्यकता भी नही है, वह 'कल' की बात है। 'कल' ही उसे अधिक स्पष्टता से बतलायेगा। यहाँ केवल आचार्यश्री के वर्तमान का दिग्-दर्शन कराया गया है। वर्तमान की जड भूतकाल की भूमि मे गहराई तक धँसी रहती है। कोरा वर्तमान-टिक नही पाता, इसीलिए उससे सम्बन्धित भूतकाल की भूमिका पर ही उसे देखा जा सकता है। आचार्यश्री का वर्तमान काल अवस्था की दृष्टि से सैंतालीस और आचार्यत्व की दृष्टि से पच्चीस वर्ष-प्रमाण भूतकाल को अवगाहित किये खडा है। इसी परिप्रेक्ष्य में यहाँ उसका अकन किया गया है।

लगभग तीस वर्ष के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे मैंने आचार्यश्री के जीवन मे जो विविधताए देखी है, उन्हे इस जीवनी में यथास्थान दिखाने का प्रयास किया है। यदि उन विशेषताओ को किसी एक ही शब्द मे अभिव्यक्ति देने के लिए मुझे कहा जाये तो मैं उसे 'जीवन का स्याद्वाद' कहना चाहूँगा। आचार्यश्री के इस स्याद्वादी जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन उनके साथ रहने वाला हर कोई कर सकता है। जैन-दर्शन का प्राण स्याद्वाद जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखायी देने वाले धर्मों मे भी अविरोध पा लेता है, उसी प्रकार आचार्यश्री भी हर परिस्थिति मे से समन्वय के सूत्र को पकडने के अभ्यासी रहे है। उनकी इस प्रवृत्ति ने अनेक व्यक्तियो को अतिशयता से प्रभावित किया है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी के निम्नोक्त उद्गार इसी बात के साक्षी है। वे कहते है—" " 'मैंने बहुत नजदीक से अध्ययन करके पाया है कि आचार्यश्री मे बहुत-से अपूर्व गुण हैं। वे विरोधी-से-विरोधी वातावरण मे भी क्षुब्ध नही होते और न विरोध का प्रतिकार विरोध मे ही करते हैं। वे अपनी आत्म-श्रद्धा से विरोध-शमन का कोई-न-कोई रास्ता निकाल ही लेते है।"[1]

आचार्यश्री के जीवन-व्यवहार तथा प्ररूपण मे कुछ ऐसी सहज व्यावहारिकता आ गई है कि उससे प्रभावित हुए बिना रह सकना कठिन है। कोई अध्यात्म मे विश्वास करे या न करे, परन्तु आचार्यश्री जिस पद्धति से आध्यात्मिकता को जीवन-व्यवहार मे उतारने की प्रेरणा देते हैं, उससे कोई इन्कार नही कर सकता। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कामरेड यशपाल का अनुभव इस बात को अधिक स्पष्ट करने वाला होगा। वे कहते है—"मै साधु-सन्तो और अध्यात्म से दूर रहता हूँ। इसमे भी एक कारण है—मैंने देखा है वे समाज से दूर है। जो हमसे दूर है, हम भी उनसे दूर है। आचार्यश्री जैसे जो सन्त-महात्मा समाज के नजदीक है, मैं उनसे उतना ही नजदीक हूँ। हम ससारी है, ससार मे रहते है, ससार से हमे काम है। साधना चमत्कार के लिए नही, कार्यों के लिए है। जहाँ तक मैं समझ पाया हू और आचार्यश्री के निकट आया हूँ, उसका श्रेय अणुव्रत-आन्दोलन को है। अणुव्रत मेरी दृष्टि मे व्यक्ति को परोक्षवादी नही, प्रत्यक्षवादी बनाता है। वह स्वार्थमुखी नही, व्यक्ति को समाजमुखी बनाता है।"[2]

वे जीवन को जड देखना नही चाहते। जीवन मे परिष्कार और सस्कार को वे नितान्त आवश्यक मानते है। उनकी यही भावना कार्य-रूप मे परिणत होकर सस्कृति का उन्नयन करने वाली बन गई है। भारतीय सस्कृति के अन्यान्य प्रहरियो के समान आचार्यश्री भी उसको पल्लवित, पुष्पित व फलित करने मे दत्तावधान रहे है। उनकी इसी कार्य-पद्धति से प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविता-पुस्तक 'क्वासि' की भूमिका मे आचार्यश्री को सस्कृति का उन्नयनकर्त्ता या परिष्कर्त्ता ही नही, अपितु अभेदोपचार से स्वय सस्कृति ही कहा है। वे लिखते है—"तब सस्कृति क्या है ? मेरी मति के अनुसार सस्कृति गाधी है, सस्कृति विनोबा है, सस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, समर्थ तुकाराम है, सस्कृति अणुव्रत-प्रचारक जैन मुनि आचार्य तुलसी है। सस्कृति रमण महर्षि है। आप हँसेंगे, पर हँसने की बात नही है। सस्कृति है आत्म-विजय, सस्कृति है रागवशीकरण, सस्कृति है भाव-उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाये, वही सत्साहित्य है।"[3]

इस प्रकार मैंने देखा है कि आचार्यश्री के स्याद्वादी जीवन ने विविध व्यक्तियो तथा विविध विचारधाराओ को अपनी ओर आकृष्ट किया है। वे उनकी पारस्परिक असमानताओ मे भी समानता के आधार बने है। उन्होने जन-जन को विश्वास दिया है, अत वे उनसे विश्वास पाने के भी अधिकारी बने है। वस्तुत जो जितने व्यक्तियो को विश्वास दे सकता है, वह उतने ही व्यक्तियो का विश्वास पा भी लेता है। उन्होने निश्चित ही वह विश्वास पाया है। यह जीवनी उसी विश्वास का एक सक्षिप्त परिचय है।

१ नवभारत टाइम्स, ३१ अक्तूबर '५४
२ जैन भारती वर्ष ६, अंक ४१
३ 'क्वासि' की भूमिका, पृष्ठ २५

अणुव्रत

नैतिकता का आधार

मुनिश्री नथमलजी

मनुष्य और मानस दोनो भिन्न, साथ ही अभिन्न भी है। मनुष्य इसीलिए महिमाशाली है कि उसका मानस विकासशील है। उसमे चिन्तन है, तर्कणा है, ऊहापोह और गवेषणा है। मन ने जो उपलब्ध किया है, उसमे अनुपलब्ध अनन्त है, फिर भी उसका रहस्योद्घाटन मन ने बडी पटुता मे किया है। वह केवल पौद्गलिक जगत् की शल्य-चिकित्सा मे ही कुशल नही है, आन्तरिक मर्मोद्घाटन भी उसने बहुत प्रभावक पद्धति से किये है। अध्यात्म उन्ही मे मे एक है। नैतिकता उसी का प्रतिबिम्ब है।

हमे जो ज्ञात है, वह सत् है। जो सत् है, वह अनादि-अनन्त है। जो है, वह था भी और होगा भी। जो नही था, वह होगा भी नही और है भी नही। इस तर्क-दृष्टि से हम किसी भी सत् को शाश्वत मान लेते है। पर जो है, वह इसी रूप मे था और इसी रूप मे होगा, यह आवश्यक नही। इस रूप-परिवर्तन की दृष्टि से हम किसी भी सत् को सादि-सान्त मान लेते है। निष्कर्ष की भाषा मे इतना होता है कि सत् शाश्वत है, रूप अशाश्वत। शाश्वत सत् अभिव्यक्त नही होता। शाश्वत और अशाश्वत दोनो अविभक्त होते है, तब सत् व्यक्त होता है। इसी दार्शनिक भित्ति पर हम अध्यात्म और नैतिकता का विमर्श करना चाहते है। अध्यात्म सत् है और शाश्वत है; नैतिकता उसका रूप है और अशाश्वत है। अध्यात्म स्वयभू है, नैतिकता परस्पराश्रित है। कैम्ब्रिज प्लेटोनिज्म का नेता कडवर्थ नैतिकता के अस्तित्व को वस्तुगत मानता था। उसके अभिमत मे नैतिक विभक्तियाँ पदार्थ के आन्तरिक गुणो की सूचक है। इस मान्यता मे कुछ तथ्य भी है और कुछ चिन्त्य भी। चिन्त्य इसलिए कि कुछ नैतिक विभक्तियाँ मान्यता-निर्भर भी होती है। अध्यात्म से प्रतिफलित नैतिकता निश्चित ही सहज होती है। पर नैतिकता का विचार, जो बौद्धिक होता है, वह असहज भी होता है। बुद्धिवाद के क्षेत्र मे निर्णायक ज्ञान प्रमाण होता है, किन्तु अन्तर्-जगत् मे सम्यग्-ज्ञान प्रमाण होता है। निर्णायक शक्ति ज्ञान मे होती है, पर सम्यग्-शक्ति नही भी होती। प्रभावित दशा मे जितना निर्णय होता है, वह सम्यक् ही नही होता. अप्रभावित दशा मे जो ज्ञान होता है, वह सम्यक् ही होता है। हमारा अन्तर-जगत मोहाणुओ से प्रभावित है। इसलिए नैतिकता का मूल स्रोत, यद्यपि वह एक है, विभक्त हो जाता है। एक व्यक्ति का निर्णय दूसरे व्यक्ति के निर्णय से भिन्न हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न देश और काल के निर्णय भी भिन्न होते है। इस विभाजन का हेतु नैतिकता का मूल स्रोत नही, किन्तु निर्णायक बुद्धि का तारतम्य है। अज्ञान, ज्ञान, मोह और निर्मोह—ये चार रेखाए है। ज्ञान का आवरण ही अज्ञान होता है। वह टूटता है, ज्ञान व्यक्त हो जाता है। वीतराग या समभाव का बाधक परमाणु-वलय ही मोह होता है। वह विलीन होता है, चैतन्य मे वीतरागता व्यक्त हो जाती है। मनुष्य का चेतन सहज मे ज्ञानी है और वीतराग है। जहाँ ज्ञान भी है और वीतरागता भी है, वहाँ अनैतिकता होती ही नही। मनुष्य मे अनैतिकता होती है, इसका अर्थ यह है कि उसका ज्ञान आवृत है और दृष्टि मूढ है। नैतिकता अध्यात्म का सहज प्रति-बिम्ब है और अनैतिकता उसका अस्वाभाविक रूप है। जो सहज है, वह असहज लग रहा है, शिक्षण-सापेक्ष हो रहा है, और जो असहज है वह सहज लग रहा है, यही है सम्यग्-ज्ञान का अभाव।

अध्यात्म एक सचाई है, पर जब तक हमारा शरीर आत्मा से प्रधान है, तब तक व्यवहार प्रमुख होता है और सचाई गौण। और इसी परिस्थिति मे हमारे सामने नैतिकता का प्रश्न ज्वलन्त होता है। मनुष्य मे अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो के बीज सचित रहते है। वे सामग्री का योग पाये बिना अकुरित नही होते। अध्यात्म-दर्शन यही तो

है कि मनुष्य अन्तर्-दर्शन ले, तो वह उस तत्त्व को पा सकता है,जिसकी उसे कल्पना तक नही है। आनन्द और सुख, गुरुत्व और प्रतिष्ठा, तृप्ति और परितोष, जो भी प्राप्य है, वह सब अपने अन्तर् मे है। किन्तु वह सब अन्तर् मे है, यह दृष्टि की स्पष्टता ही सर्वाधिक निगूढ है। इसीलिए मनुष्य का विश्वास नैतिकता की अपेक्षा अनैतिकता मे अधिक है। अध्यात्म की आस्था पुष्ट हुए बिना नैतिकता साधार नही होती। पौद्गलिक आकर्षण से दूर रहने की वृत्ति अध्यात्म है और पारस्परिक सम्बन्धो मे पवित्र रहने की वृत्ति नैतिकता। पौद्गलिक आकर्षण का सयम किये बिना कोई भी व्यक्ति पारम्परिक व्यवहारो को पवित्र रख नही सकता। सकोच, भय, लज्जा और कानून—ये सब अनैतिकता के प्रतिषेध है, और इन सबका प्रतिषेध है—परोक्ष। उसका प्रतिषेध केवल अध्यात्म ही हो सकता है। मै अध्यात्म को इसलिए जीवन का सर्वोच्च प्रहरी मानता हूँ कि वह सब प्रतिषेधो का प्रतिषेध है। उसमे से जो विधि फलित होती है, वही हमारे जीवन का विशुद्ध नैतिक पक्ष होता है। भौगोलिक और जातीय विभक्तियाँ भी नैतिकता के अकुरण मे निमित्त बनती है, पर वे असीम और स्थायी नही होती। परिस्थित-जनित सारी फल-परिणतियाँ स्वय मे निर्मूल्य होती है। मूल्य वही स्थिर होता है, जहाँ स्वरूप व्यक्ति पाता है। मान्यता-निर्भर नैतिकता भी अपने-आप मे निर्मूल्य है। साम्राज्यवाद भी नैतिक आचरण माना जाता था। शक्ति की भाँति उसका प्रयोग भी सम्मत था। किन्तु परीक्षा करने पर उसकी नैतिकता निर्ममता से नष्ट हो जाती है। सचाई यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप मे पूर्ण है। पूर्ण अर्थात् स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र और पूर्ण मे कोई अर्थ-भेद नही है। अपूर्ण होकर कोई स्वतन्त्र नही हो सकता और स्वतन्त्र होकर कोई अपूर्ण नही होता। उन व्यक्तियो को पराधीन करने का जो यन्त्र है, वह मूल मे अनैतिक है। अर्थात् सत्ता और उसे केन्द्र मानकर चलने वाली राज्य-सस्थाए विशुद्ध अर्थ मे नैतिक नही हो सकते। अपहारकता मे नैतिकता नही समाती। सत्ता-केन्द्रित शासन सदा अपहारी होते है, इसलिए वे नैतिक नही होते। किन्तु हमने मान लिया कि अकेले मे काम नही चलता, इसलिए व्यक्ति को समाज बाँध कर चलना होगा। नियन्त्रण के बिना बहुत लोग एक साथ नही रह सकते, इसलिए राज्य को मान कर चलना होगा। जहा पूर्णता समाप्त हुई, वहाँ मान्यता का उद्भव हुआ। फिर हमारी सारी व्याख्याए भी उस पर निभर हो गई। नैतिकता के शुद्ध रूप मे व्यक्ति ही है। वह अध्यात्म है, स्वतन्त्र है, इसीलिए उसके चरित्र मे कोई विकार नही होता। समाज मे मान्यतापरक नैतिकता का उदय होता है, इसीलिए वहाँ अपूर्णता है, पारतन्त्र्य है और चरित्र-विकार है। पहले परिस्पर्श मे कोई भी व्यक्ति अकेला नही होता—पूर्ण आध्यात्मिक नही हो सकता। इसलिए वह अध्यात्म-परिशोधित नैतिकता को स्वीकार करता है। दूसरे, व्यक्ति समाज, जाति, राज्य या राष्ट्र के लिए नही, अपितु अपने हित के लिए यह नैतिक बनता है। नैतिकता जब स्वहित के साथ जुडती है, तभी वह प्रत्यक्ष बन पाती है। फिर व्यक्ति के लिए नैतिकता का अर्थ स्वहित और स्वहित का अर्थ नैतिकता हो जाता है। दोनो अभिन्न बन जाते है। यही अध्यात्म का पहला परिस्पर्श है।

नैतिकता जब मुझसे भिन्न वस्तु है, तो वह मुझसे परोक्ष होगी। परोक्ष के प्रति मेरा उतना लगाव नही होगा, जितने की उसे अपेक्षा होनी है। वह मुझमे अभिन्न होकर ही मेरे 'स्व' म घुल सकती है। मात्म्य हुए बिना कोई औषध भी परिणामजनक नही होता। तब नैतिकता की परिणति कैसे होगी? इस भाषा मे जब सोचता हूँ तो लगता है नैतिकता उपदेश्य नही है, वह स्वय-प्रसूत है। अध्यात्म की दृष्टि स्पष्ट होते ही वह व्यक्त हो जाती है। जैन-दर्शन का सर्वोपरि आधार आत्मवाद है। इसीलिए उसकी रेखा का पहला बिन्दु सयम, चरित्र या नीति है। उसकी भाषा मे जो अनात्म है, वह मोह है, और जो मोह है, वह अनात्म है। आत्मा की जितनी दूरी, उतना मोह, आत्मा का जितना सामीप्य, उतना निर्मोह। जितना मोह, उतनी अनैतिकता, और जितना निर्मोह, उतनी नैतिकता। तो उपदेश्य है, अध्यात्म। पूर्ण या स्वतन्त्र, प्रेरकता इसी मे है। जो अकेले मे, अँधेरे मे और नीद मे अन्याय नही करता, यानी जिसकी प्रवृत्ति पर दिन और रात, परिषद् और अकेलेपन तथा नीद और जागरण का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव नही होता, वह आध्यात्मिक है। विवशता मे जो प्रेरकता है, वह दूसरो के प्रत्यक्ष होती है और स्वय के परोक्ष। इस स्व-परोक्षता का नाम ही अन्-आध्यात्मिकता है। इसकी परिधि मे व्यक्ति पूर्ण नैतिक बन ही नही पाता। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—"जितना आत्म-रमण है, वह अहिसा है, और जितना बाह्य रमण है, वह हिसा है।" इसी सत्य की इन शब्दो मे पुनरावृत्ति की जा सकती है—"जितनी आत्म-प्रत्यक्षता है, वह नैतिकता है, और जितनी आत्म-परोक्षता है, वह अनैतिकता है।" विशुद्ध नैतिकता

देश-काल से खण्डित नहीं है। एक धर्म की गौणता व दूसरे की प्रमुखता, दूसरे की गौणता व पहले की प्रमुखता—यह एक क्रम है, जिसे सापेक्षवाद या नय के नाम से अभिहित किया जाता है। यह वस्तु-सत्य है। हमारे ज्ञान का क्रम यही है। इसी समन्वय मे से जो बोध उद्भूत होता है, वह अपूर्ण होने पर भी सत्य होता है। लोकतन्त्र का आधार यही दृष्टि है। पर, सापेक्षता जैसे वस्तुगत है, वैसे लोकतन्त्र वस्तुगत नही है, इसीलिए उसमे असमन्वय भी फलित हो जाता है। पर्याय की भाषा भी एक नही है। जिस समय जो उपयोगिता रहती है, वही भाषा बन जाती है। न्याय, वस्तु का अन्तस्तल है, सविधान मानवीय मस्तिष्क की उपज और परिस्थिति-जन्य परिणति। सत्ता के जगत् में संविधान में न्याय होता है, न्याय मे सविधान नही। समाज मे उपद्रवी अधिक होते है, तो दण्ड-नीति प्रबल हो जाती है। दण्ड नीति भी है, न्याय भी है और मान्यता-निर्भर नैतिकता भी है। और इसीलिए है कि वह सविधान-सम्मत है। सच्चाई यह नही है। किसी व्यक्ति को कोई दण्ड दे, यह न्याय नही है, व्यक्ति अपने पाप का स्वय प्रायश्चित्त करे, न्याय यही है। हम व्यक्ति को पूर्ण और एक इकाई मानकर चलते हैं, तो हमारी सारी व्यवस्था आत्म-निर्भर हो जाती है। उसमे से जो समाज फलित होता है वही स्वस्थ और नैतिक सम्पदा मे सम्पन्न होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री तुलसी ने यही सन्देश दिया है। मनुष्य-जाति उनकी सदा ऋणी रहेगी।

अणुव्रत-आन्दोलन और चरित्र-निर्माण

श्री सुरजित लाहिड़ी
मुख्य न्यायाधीश, कलकत्ता उच्च न्यायालय

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जैन श्वेताम्बर तेरापथ के अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने किया है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे अपने देश के एक आध्यात्मिक नेता के व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। तेरापथ जनो के तीन सम्प्रदायो मे से एक है। दूसरे दो सम्प्रदायो मे एक मूर्तिपूजक सम्प्रदाय है और दूसरा स्थानकवासी सम्प्रदाय। तेरापथ सम्प्रदाय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था और पूज्य आचार्यश्री तुलसी इस सम्प्रदाय के वर्तमान नव आध्यात्मिक गुरु है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र

जैन दर्शन का मेरा ज्ञान अत्यन्त सीमित है, फिर भी मैं अपनी कल्पना के अनुसार अणुव्रत-आन्दोलन के महत्त्व की चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा। जैन धर्माचार्यों के अनुसार योग का आचरण करने से आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकती है और योग मे ज्ञान (वास्तविकता का ज्ञान), श्रद्धा (आध्यात्मिक नेताओ की शिक्षाओ पर श्रद्धा) और चारित्र (समस्त बुराइयो से दूर रहना) इन तीन बातों का समावेश होता है।

चारित्र आध्यात्मिक अनुशासन के पालन का नाम है। उसके पांच अग है

१ मन, वचन और काय मे अहिसा।

२ सत्य।

३ अस्तेय—चोरी न करना।

४. ब्रह्मचर्य—इन्द्रिय-भोग की वासनाओं से मुक्ति।

५ अपरिग्रह अर्थात् पार्थिव वस्तुओ मे निरासक्ति।

यद्यपि चरित्र के ये पाँच अग है, किन्तु उनमे अहिसा प्रधान है और दूसरे चारो अगो का उसी से उद्भव हुआ है।

इन पाँच सद्गुणो का दो रूपो मे पालन किया जा सकता है—एक महाव्रतो के रूप मे और दूसरे अणुव्रतो के रूप मे। महाव्रतो के पालन के लिए अधिक कडा अनुशासन आवश्यक होता है और उनका साधुओ के लिए निर्देश किया जाता है, जो ससार को त्याग देते है और मोक्ष की साधना करते है। इसके विपरीत अणुव्रत मे कम कडा अनुशासन है और वह गृहस्थो और साधारण व्यक्तियो के लिए निर्धारित किया गया है। 'अणु' विशेषण का अर्थ 'छोटा' और 'व्रत' शब्द का अर्थ 'प्रतिज्ञा' होता है। अणुव्रतो का शाब्दिक अर्थ हुआ, छोटी प्रतिज्ञाए। चरित्र के पाँच अगो के रूप मे अणुव्रत का अर्थ होता है—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अणु से प्रारम्भ कर क्रमश पूर्ण की ओर बढना। महाव्रत के रूप मे अहिसा-पालन के लिए यह आवश्यक होगा कि किसी भी जीवित प्राणी को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाने की सतत जागरूक चेष्टा की जाये, और अणुव्रत की दृष्टि से किसी भी प्राणी की हिसा न करना ही पर्याप्त होगा। महाव्रती यदि किसी मानव प्राणी को मन, वचन और कर्म मे हानि पहुँचाता है, तो वह व्रत-भग का दोषी होगा। किन्तु अणुव्रती किसी प्राणी को मारने पर ही अहिसा के व्रत को तोडने का अपराधी होगा। इसी प्रकार महाव्रत के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ जीवन-भर ब्रह्मचर्य का पालन करना और काम-वासना पर पूर्ण विजय प्राप्त करना होगा। अणुव्रत के अनुसार

ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि मनुष्य परस्त्री-गमन न करे और एक पत्नी-व्रत का पालन करते हुए सयम से रहे।

नैतिक प्रकृति का रूपान्तर

अतः अणुव्रत-आन्दोलन का उद्देश्य गृहस्थो का नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान करना है और इसके लिए वह उन्हे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की एक निर्धारित सीमा तक प्रतिज्ञाए लेने की प्रेरणा देता है। यह इस ठोस सिद्धान्त पर आधारित है कि केवल बौद्धिक प्रतिभा से कोई लाभ नही हो सकता, जब तक मनुष्य अपनी प्रकृति का नैतिक रूपान्तर नही कर लेता। महान् सन्तो ने बहुधा यह कहा है कि हम कल्पनाए कैसी भी कर सकते है, किन्तु असली महत्त्व की बात यह है कि हम वास्तव मे है कैसे। और वह धर्म धर्म नही, जो मनुष्य की नैतिक प्रकृति का रूपान्तर नही करता। अणुव्रत-आन्दोलन का उद्देश्य नैतिक उत्थान है, इसलिए वह सब के मानस को छूता है। वह असाम्प्रदायिक, अजातीय और अराजनीतिक है। कोई किसी जाति या सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, किसी भी धर्म को मानता हो और किसी भी राजनीतिक दल के प्रति निष्ठा रखता हो, अणुव्रती बन सकता है। उसमे हिन्दू और मुसलमान, ईसाई और बौद्ध, सिख और जैन सभी का समावेश होता है। अणुव्रत-आन्दोलन, जो मानव-प्रकृति के सर्वव्यापी तत्त्वो पर आधारित है और जिसका उद्देश्य नैतिक मूल्यो की पुनःस्थापना है, राष्ट्रीय एकता मे सहायक ही हो सकता है।

सबमे उल्लेखनीय बात यह है कि अणुव्रत-आन्दोलन के सूत्रधार आचार्यश्री तुलसी स्वय एक महाव्रती है। वे और उनके निकटस्थ शिष्य चरित्र-नियमो का अधिक कडाई के साथ पालन करते है। वे अपने पास कोई पैसा नही रखते और न किसी प्रकार के वाहन का ही उपयोग करते है, रेलगाडी का भी नही। वे और उनके शिष्य सदा पैदल यात्रा करते है। इसी प्रकार आचार्य और उनके शिष्य किसी डॉक्टर-वैद्य की सहायता भी नही लेते। उनकी फीस नही दे सकते और बिना फीस दिये सहायता भी नही ले सकते। आचार्यश्री और उनके निकटस्थ शिष्य जिन आदर्शों का पालन करते है उनका हम जैसे साधारण गृहस्थो के लिए पालन करना कठिन है और इसीलिए वह साधारण व्यक्तियो से अणुव्रत की प्रतिज्ञाए लेने का अनुरोध करते हैं।

भारत का शाश्वत आदर्श

वर्तमान नास्तिकता के युग मे, जब कि धन कमाना ही मनुष्य का एकमात्र गुण समझा जाता है, इस विचार-धारा का अस्तित्व वास्तव मे स्फूर्तिदायक है, जो भारत के इस शाश्वत आदर्श को प्रकट करती है कि रुपये का मूल्य ही एक-मात्र मूल्य नही है और रुपये के मूल्य को अन्य आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यो के आधीन करना होगा। वे मूल्य पार्थिव लाभालाभ से ऊपर है तथा उनकी अपनी श्रेणी है।

आचार्यश्री जिस जैन-सम्प्रदाय के आचार्य है, वह श्वेताम्बर तेरापथी सम्प्रदाय कहलाता है। तेरापथ का अर्थ होता है, भगवान् के पथ का अनुसरण करने वाला समुदाय। इस सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता सिद्धान्त गीता मे भगवान् कृष्ण ने इस प्रसिद्ध श्लोक मे प्रतिपादित किया है

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥

अर्थात्, सब धर्मों का त्याग कर केवल मेरी शरण मे आ, मैं तुझे सभी पापो से मुक्त रखूँगा।

❍ ❍ ❍

अणुव्रत : विश्व-धर्म

श्री चपलाकान्त भट्टाचार्य, एम० पी०

अध्यक्ष, अ० भा० समाचारपत्र सम्पादक सम्मेलन, नई दिल्ली

सामान्यतया किसी भी धर्म मे तीन तत्त्व होते है—एक सिद्धान्त, दूसरा कर्मकाण्ड और तीसरी उसके अनुयायियो की आचार-सहिता। यदि हम विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करे, तो हमे पता चलेगा कि उनके सिद्धान्तो और कर्म-काण्ड मे परस्पर अन्तर हो सकता है, किन्तु जहाँ तक आचार-सहिता का सम्बन्ध है, सभी धर्मों के सामान्य और बुनियादी तत्त्वो मे काफी समानता होती है। इसका कारण यह है कि आचार-सहिता नैतिकता के उन नियमो पर आधारित होती है, जो सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से आचरणीय होते है और प्राय सभी समाज उनको स्वीकार करते है।

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक है—आचार्यश्री तुलसी। ये जैन श्वेताम्बर तेरापथ-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। अणुव्रत-आन्दोलन जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित सहिता पर आधारित है। इस आचार-सहिता मे मुख्यत पाँच सिद्धान्त है—यथा—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनके अनुसार हिसा न करने, असत्य न बोलने, चोरी न करने, सयम रखने और सग्रह न करने की प्रतिज्ञाए लेनी होती है। आचार्यश्री तुलसी इन सिद्धान्तो का उपदेश केवल जैन धर्म के अनुयायियो को ही नही देते है, परन्तु विभिन्न धर्मानुयायियों को भी इनकी शिक्षा देते रहे है। वस्तुत तो यह सिद्ध हो चुका है कि यह आन्दोलन केवल इस देश मे ही नही, अपितु दूसरे देशो मे भी समाज के सभी वर्गों के नैतिक पुनरुत्थान का आन्दोलन है।

प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा किसलिए हो सकता है और कैसे हो सकता है कि एक धर्म-विशेष के अनुयायियो की आचार-सहिता के सिद्धान्त अन्य व्यक्तियो के लिए भी मान्य और आचरणीय हो? इसका उत्तर सरल है। यह सम्भव हो सकता है और सम्भव है भी। कारण, स्वतन्त्र रूप मे ये सिद्धान्त नैतिक आचरण के सिद्धान्त है, जिनको सारी मानव-जाति स्वीकार करती है। वस्तुत तो ये सिद्धान्त मनुष्य की सहज नैतिक वृत्तियो का ही व्यक्त रूप है। यदि विश्व मे प्रचलित वर्तमानकालीन विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि वे सभी धर्म एक या दूसरे रूप मे इन्ही सिद्धान्तो को स्वीकार करते हैं। इतना ही नही, सब धर्मों के महान् सन्तो और मानव जाति के सुप्रसिद्ध पथ-प्रदर्शको ने इन सिद्धान्तो को मान्य किया है, स्वय उनका पालन किया है और दूसरो को पालन करने की शिक्षा दी है। ऐसा उन्होने इस विशेष उद्देश्य से किया है कि इससे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता है और इस प्रकार अन्ततोगत्वा सारे समाज का भी उत्थान हो सकता है। प्रत्येक धर्म और उसके सस्थापको और आचार्यों ने कर्म-काण्ड और परम्पराओ की अपेक्षा इन आचार-नियमो पर विशेष बल दिया है। इसलिए अणुव्रत-आन्दोलन को सब धर्मों का नवनीत कहा जा सकता है।

दूसरे शब्दो मे, एक प्रकार से ये सिद्धान्त विश्व-धर्म के साकार रूप है। मुझे आशा है कि मेरे इस कथन का उचित अर्थ ग्रहण किया जायेगा। यदि हम विभिन्न धर्म-शास्त्रो का समीक्षात्मक अध्ययन करे और उनके उपदेशो और शिक्षाओ के समान तत्त्वो को खोज निकालने का प्रयत्न करे, तो हमे वे ही सिद्धान्त प्राप्त होगे जिनका अणुव्रत-आन्दोलन प्रतिपादन करता है।

यद्यपि ये सिद्धान्त हमारे धार्मिक जीवन की पूर्ति और आध्यात्मिक मुक्ति के लिए निर्धारित और प्रचारित हुए है, फिर भी वे हमारे दैनिक जीवन के लिए भी उपयोगी और अनुकरणीय है। इन सिद्धान्तो को स्वीकार करके और उन-

का पालन करके साधारण मनुष्य अधिक भला मनुष्य और अधिक अच्छा सामाजिक प्राणी बन सकेगा। उनसे जीवन के उतार-चढावो मे खडा रहने की वास्तविक शक्ति उसे प्राप्त होगी और इस शक्ति के सहारे वह जीवन की परीक्षाओ मे अपने नैतिक व्यक्तित्व को कायम रखते हुए उत्तीर्ण हो सकेगा। इन नैतिक नियमो का पालन करने वाला व्यक्ति, इन्हे नही पालन करने वाले की अपेक्षा मे जीवन के सामान्य और अनिवार्य उतार-चढावो मे अधिक अच्छा उदाहरण रख सकेगा।

प्रस्तुत लेख मे मेरा प्रयत्न अणुव्रत-आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि की चर्चा करने का नही है, जिसके भीतर से इन सिद्धान्तो की निष्पत्ति हुई है, अपितु आन्दोलन के व्यावहारिक परिणामो और दैनन्दिन के जीवन मे उसके सिद्धान्तो के आचरण का महत्त्व प्रकट करने का है, क्योकि सामान्य जनो के सामने आन्दोलन के व्यावहारिक पहलू को प्रमाणित करने की आवश्यकता है। विशिष्ट गुणो के रूप मे इन सिद्धान्तो का प्रचार करने मे सर्वसाधारण उनकी ओर इतने आकर्षित नही होगे, जितने कि उनको यह विश्वास कराने मे होगे कि अपनी दुर्बलताओ और मर्यादाओ के होते हुए भी वे इन नियमो का स्वीकार और पालन कर सकते है और ये उनके दैनिक कार्यों मे उपयोगी व सहायक सिद्ध होगे। मैं तो यह सच्चाई के साथ मानता हूँ कि अणुव्रत-आन्दोलन के सिद्धान्त हमारे नैतिक जीवन मे भी वस्तुत ही प्रभावकारी है।

वर्तमानयुगीन भारतीय राजनीति मे गाधीवादी आन्दोलन के रूप मे हुए इन सिद्धान्तो के सफल प्रयोग ने इन की प्रभावकता को प्रत्यक्षतया प्रमाणित कर दिया है। गाधीजी ने भी अपने राजनैतिक आन्दोलन को चलाने और उसमे भाग लेने वालो के आचार को सयमित करने के लिए ये ही सिद्धान्त निर्धारित किये थे। उस आन्दोलन के प्रारम्भ मे शकाशील व्यक्तियो ने सन्देह प्रकट किया था कि क्या इस प्रकार का आन्दोलन चल पायेगा और सफल होगा तथा साधारण मनुष्य, जो दुर्बलताओ का पुतला है, इन सिद्धान्तो की कसौटी पर खरा उतर सकेगा ? किन्तु बाद मे यह सिद्ध हो गया कि गाधीजी का विचार सही था और शकाशील व्यक्तियो का सन्देह निराधार था। इन्ही मूलभूत सिद्धान्तो के कारण गाधीजी ने अपने आन्दोलन को राजनैतिक आन्दोलन नही बनाकर, आत्म-शुद्धि का आन्दोलन बताया था। इसी प्रकार उन्होने यह भी कहा था कि वह राजनीति को आध्यात्मिक रूप देना चाहते है।

केवल मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन मे ही नही, अपितु समष्टिगत जीवन मे भी इन सिद्धान्तो के सफल प्रयोग को देखने के बाद मेरा यह दृढ विश्वास हो गया है कि इन सिद्धान्तो का प्रचार व्यक्ति एव समाज के लिए अत्यन्त कल्याणकारी होगा। इस आन्दोलन के द्वारा हम वर्तमान प्रशासनिक क्षेत्र की अनेक कष्ट-साध्य कठिनाइयों और समस्याओ को हल कर सकेंगे। मानव को अपनी नैतिक प्रकृति का ज्ञान कराना होगा। यदि यह सम्भव हो गया, तो निश्चय ही नैतिक स्तर पर कार्य करने वाली शक्तियाँ राजनैतिक क्षेत्र मे कार्य करने वाली शक्तियो मे किसी प्रकार कम प्रभावशाली नही रहेगी। गाधीजी ने हमे सिखाया कि यदि नैतिकता के नियम सम्यक्तया आचार मे उतारे जायं, तो उतना ही सुनिश्चित परिणाम आ सकता है, जितना कि न्यूटन के गति-नियमो के अनुसार निकाला जाता है। उन्होने यह भी घोषित किया था कि उनका आन्दोलन सारे विश्व के लिए है। मैं गाधीजी का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि उन्होने नैतिक सिद्धान्तो का व्यावहारिक जीवन मे व्यापक प्रयोग करने का साहसिक कदम उठाया था। मेरी यह धारणा है कि गाधीजी के प्रयोग ने सारे विश्व मे मनुष्य के नैतिक अन्त करण को जागृत किया है।

अणुव्रत-आन्दोलन के सिद्धान्त मानव के आचरण को मार्ग दिखाने वाले सिद्धान्त है, चाहे वह किसी भी धर्म अथवा राष्ट्र से सम्बन्धित क्यो न हो। इस रूप मे अणुव्रत-आन्दोलन को विश्व-धर्म का प्रतीक माना जा सकता है। मै आशा करता हूँ कि इस आन्दोलन को इसी व्यापक दृष्टि से चलाया जायेगा और यह समस्त मानवता का उत्थान करेगा।

नैतिकता और समाज

डा० ए० के० मजूमदार एम० ए०, पी-एच० डी०
निर्देशक, भारतीय विद्या-भवन, नई दिल्ली

क़ानून और नैतिकता

राज्य का आधार कानून की सत्ता पर होता है जब कि समाज नैतिक सिद्धान्तों पर अपना आधार रखता है। ये ही सिद्धान्त कभी-कभी कानून का रूप भी ले लेते है, किन्तु किसी भी जीवित समाज मे ऐसे सिद्धान्तों की व्यापक संहिता का होना आवश्यक है, जिनका अधिकाश लोग बिना किसी दण्डनीय कार्रवाई के स्वेच्छा से या स्वभावत पालन करे। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जघन्य-से-जघन्य अपराध करने पर भी कानून द्वारा प्रदत्त उसका दण्ड भुगत लेने के बाद कानूनी तौर पर सामान्य नागरिक बन जाता है, किन्तु समाज मे तो उसकी प्रतिष्ठा सदैव के लिए ही समाप्त हो जाती है।

कानून तब तक ही कार्यान्वित होता है, जब तक समाज की सहमति उसे प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, बहुपत्नीत्व-विरोधी कानून पर आज आसानी से अमल हो रहा है, क्योकि समूचा भारतीय समाज बहुपत्नीत्व के विरुद्ध है। हम लोग नैतिक रूप मे इस बात को अनुचित समझते है कि एक आदमी के एक से अधिक पत्नियाँ हो। किन्तु मद्य-निषेध सम्बन्धी कानून उतना कार्यान्वित नही है, क्योकि अल्पसख्यक होते हुए भी एक ऐसा शक्तिशाली लोकमत है जो उसे अपराध तो क्या, अनैतिकता भी नहीं मानता।

बहुपत्नीत्व और मद्यपान, दोनो भारत मे प्राचीन काल मे प्रचलित रहे है। वर्तमान मे बहुपत्नीत्व के विरुद्ध उतना प्रचार-कार्य नही हुआ, जितना मद्यपान या शराबखोरी के विरुद्ध किया गया है। इतना होते हुए भी मद्यनिषेध-सम्बन्धी कानून को समाप्त करने की माँग बराबर बढ रही है। बहुत-कुछ इसका ही यह परिणाम है कि मद्यनिषेध अभि-यान को पूरी सफलता नही मिल रही है और लुक-छिपकर शराब बनायी जाने तथा पीने की बुराई फैल रही है। मद्यपान और बहुपत्नीत्व-सम्बन्धी अभिप्राय मे यह जो विरोध है, उसका वैज्ञानिक अनुसन्धान किया जाना चाहिए।

परिवर्तनशील नियमन

कभी-कभी कहा जाता है कि सामाजिक नियम एक पीढी से दूसरी पीढी मे नही, तो कम-से-कम एक युग के अनन्तर दूसरे युग मे अवश्य बदल जाते है। वास्तव मे इसका अर्थ यही है कि लोगो के बात-व्यवहार बदल रहे है, क्योकि सभ्य समाज का मूल आधार, जो सत्य और अहिसा है, उसमे परिवर्तन के लिए कोई अवकाश नही है। प्रत्येक समाज का आधार अति प्राचीन काल से चले आ रहे इन सिद्धान्तो पर ही अवलम्बित है। एक नागरिक का अधिकार वही समाप्त हो जाता है जहाँ कि दूसरे नागरिक का प्रारम्भ होता है। अत जब दो नागरिक अपने-अपने अधिकारो की सीमा-विभाजक रेखा को न खोज सके तो उन्हे उसका कोई शान्तिपूर्ण समाधान खोजना चाहिए। अगर समाज उन्हे कानून अपने हाथ मे लेकर लडाई द्वारा इसका फैसला करने की छूट दे दे, तो उसका अर्थ सभ्य समाज के अस्तित्व का अन्त ही समझना चाहिए। दूरदर्शी राजनीतिज्ञ विविध राज्यो के बीच विद्यमान मतभेदो के निपटाने के लिए आज इसी सामाजिक सिद्धान्त को लागू करने का प्रयत्न कर रहे है।

लेकिन अहिसा से भी महत्त्वपूर्ण सत्य है; क्योंकि सचाई के बिना किसी भी समाज का अस्तित्व सम्भव नही है।

सभी सामाजिक मान्यताओं का स्रोत सत्य है, जो कभी नही बदलता। जब किसी समाज का अध पतन प्रारम्भ हो, तो अनुसन्धान मे यह ज्ञात होगा कि उस समाज के सदस्य पूरी तरह सच्चे नही रहे। उदाहरण के लिए, किसी भी पतनोन्मुख समाज मे दुराचार या लैंगिक सम्बन्धो की शिथिलता एक सामान्य बात है। इसका अर्थ है पति-पत्नी के बीच सचाई का अभाव, क्योकि विवाह-बन्धन मे बँधते समय ली गई प्रतिज्ञाओ के अनुसार उनका एक-दूसरे के प्रति निष्ठाशील होना आवश्यक है।

दुराचार या लैंगिक शिथिलता पतनोन्मुख समाज का एक स्पष्ट चिह्न है, किन्तु एकमात्र यही ऐसा चिह्न नही है, अपितु सत्य का अभाव और भी विविध रूपों मे लक्षित होता है। यह अवश्य है कि भारतीय लोकमत दुराचार या लैंगिक शिथिलता को जितनी तत्परता और तीव्रता से भर्त्सना करता है, उतनी और किसी अनियमितता की नही, किन्तु इसका यह मतलब नही कि ऐसी अनियमितताए समाज के लिए कम खतरनाक या कम निन्दनीय हैं।

शिक्षकों का नैतिक दायित्व

उदाहरण के लिए भारत का भविष्य बहुत-कुछ शिक्षा के विस्तार पर निर्भर है और शिक्षा का आधार विद्यार्थियो तथा शिक्षको पर है। विद्यालयो व महाविद्यालयो की जो स्थिति भारतवर्ष मे आजादी के पहले थी उससे अब कही अच्छी है, लेकिन विद्यार्थियो मे अनुशासनहीनता और उच्छृ खलता बढ रही है। जहाँ तक विद्यार्थियो का सम्बन्ध है, इसका कारण यह है कि उनमे से बहुत कम वस्तुत विद्याध्ययन या पढाई के लिए आते हैं, उनका तो प्रयोजन केवल डिग्री प्राप्त करने से होता है, जिससे उन्हे अच्छा काम-धन्धा मिल सके। परिणाम यह होता है कि पहले तो वे अधिकारियो को पढाई का स्तर नीचा करने के लिए विवश करने का प्रयत्न करते है; फिर वे या उनमे से निश्चित ही कुछ विद्यार्थी क्रमश बढती हुई सख्या मे परीक्षा पास करने के लिए अनुचित मार्गों का उपयोग करते है। इस तरह अपना मार्ग निश्चित कर लेने के बाद वे शिक्षा-सस्था मे अध्ययन का समय व्यर्थ ही उथली बातो मे तथा शिक्षा-सस्था को कारखाने का रूप देने के प्रयत्न मे बिताते है और अपने शिक्षको से श्रमिको की तरह अधिकारो की माँग करते है।

शिक्षको की स्थिति भी सन्तोषजनक नही है। शिक्षक का व्यवसाय प्रत्येक देश मे तुलनात्मक रूप मे दूसरे व्यवसायो मे कम आय का है और यह ऐसी स्थिति आज की नही, बल्कि अतिप्राचीन काल से ही चली आ रही है। लेकिन कुछ समय मे, खास तौर से भारत मे, शिक्षको ने न केवल यह शिकायत ही आरम्भ कर दी है कि उन्हे वेतन बहुत कम मिलता है, बल्कि कह सकते है कि इसी आधार पर जान-बूझकर पढाने का स्तर भी घटा दिया है। इस तरह इस प्रश्न के नैतिक पहलू को भुला दिया गया है। शिक्षक के ध्यान मे यह बात नही आती कि अमुक वेतन पर यह कर्तव्य पालन करने का दायित्व उसने स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किया है। जो वेतन मिल रहा है,वह पर्याप्त न हो,तो वह पद-त्याग करके किसी अच्छे व्यवसाय मे लग सकता है। वह अधिकारियो अथवा समाज से वेतन-वृद्धि का अनरोध कर सकता है, किन्तु जब तक वह उस पद पर बना हुआ है, तब तक यदि वह अनैतिक और झूठा नही है तो वह अपनी योग्यतानुसार पूरी तरह अपना काम करने के लिए बाध्य है। शिक्षा का स्तर घटाने की बनिस्पत तो वेतन-वृद्धि के लिए हडताल करना अच्छा है, क्योकि ऐसा करना कितना ही खतरनाक क्यो न हो, किन्तु उसमे सचाई होगी। शिक्षको के वर्तमान आचरण का तो कोई औचित्य नही है। जो कुछ हो रहा है, उसमे तो उच्छृ खल विद्यार्थियो तथा अयोग्य शिक्षको की बुराई मे फँसकर हमारी समूची शिक्षा-पद्धति बुरी तरह विकृत बन रही है और देश का भविष्य खतरे मे पड रहा है।

नैतिकता बनाम धनार्जन

शिक्षक का व्यवसाय कम आय का होते हुए भी भारतवर्ष मे प्राचीन काल से समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति इसकी ओर आकर्षित होते रहे हैं। कारण यह है कि हमारे समाज मे गरीबी के कारण नैतिक व्यक्ति की प्रतिष्ठा को कभी आँच नही आयी। इसके विपरीत शिक्षक के लिए, जो अधिकांशत. ब्राह्मण ही थे, गरीबी और कठोर जीवन उसके व्यवसाय के स्पष्ट चिह्न थे—ऐसे स्पष्ट चिह्न, जिनके कारण उनका सम्मान किया जाता था। गरीबी मे स्वाभिमान, हिन्दू-समाज की

एक खास विशेषता है, जिसकी स्वतन्त्रता मिलने तक बराबर प्रतिष्ठा रही। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद मे भारतीय धन की उपासना करने लगे हैं। उसी से सन्तोष, सुविधा, विलासिता, भोग, प्रसिद्धि और अन्ततोगत्वा सत्ता की प्राप्ति होती है। धन कमाना ही आज मुख्य लक्ष्य हो गया है, फिर उसके लिए कैसे ही उपाय क्यो न करने पडे। अधिकाधिक धनोपार्जन ही जब तक लक्ष्य है, तब तक करो की चोरी, रिश्वत के द्वारा सुविधाए प्राप्त करना, माल का प्रकार घटिया करके कमाई करना या कोई भी ऐसा उपाय वर्जित नही है। इसी स्थिति का यह परिणाम है कि दुनिया मे भारत ही अकेला ऐसा देश है, जिसमें खाद्य पदार्थों मे मिलावट व्यापार का एक मान्य सिद्धान्त है। खाद्य पदार्थों मे मिलावट से राष्ट्र का स्वास्थ्य नष्ट होता है, इसकी व्यापारियो को कोई चिन्ता नहीं है, उनका तो एकमात्र मतलब अपनी आय बढाने से है।

यही सामाजिक नैतिकता की आवश्यकता है। कारण कि ऐसी भारी अनैतिकता के विरुद्ध कोई कानून तब तक कार्यक्षम नही हो सकता जब तक कि समाज स्वय ही समझपूर्वक उन समाज-विरोधी तत्त्वो मे अपनी रक्षा के लिए तैयार न हो, जो अपने लाभ के लिए समाज का गला घोटने को तैयार है। ऐतिहासिक रूप मे भारतीय समाज ने सभी विदेशी आक्रमणकारियो के आक्रमणो का सामना करके भी अपने अस्तित्व को सुस्थिर रखा है, लेकिन आज खतरा बाहर से नही, बल्कि अन्दर से है और इस चुनौती को हमे स्वीकार करना चाहिए।

भारतवर्ष सौभाग्यशाली है कि यहाँ समय-समय पर कोई युगपुरुष हमारी सुप्त चेतना को उद्बुद्ध करने के लिए समाज मे आता रहा है। जब सामाजिक मान बदलने को होते है या उनकी धूरी हिलने लगती है, तब उनमे एक नया वर्चस्व उत्पन्न किया जाता है और उन जर्जरित तथा मृतप्राय मूल्यो मे नयी प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। ऐसा ही अनुष्ठान वर्तमान मे आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे है। वे अनैतिकता के विरुद्ध लोक मत तैयार करते है। उनकी यह प्रेरणा कितनी सामयिक और हितावह है कि बुराई को बुराई समझो ! बुराई को जब तक बुराई समझा जाता है, तब तक वह समाज पर छा नही सकती। बुराई को भलाई मान लिया जाता है, तब उसकी सर्वत्र प्रतिष्ठा हो जाती है। समाज बुराई को बुराई समझकर कभी स्वीकार नही करता। उसके सस्कारो मे तो सर्वप्रथम वह अच्छाई की तरह आती है और तब तक अपना आसन जमाये रहती है, जब तक उसके विरुद्ध कोई ठोस कदम नही उठा दिया जाता।

आचार्यश्री तुलसी चैतन्य को जागृत करना चाहते हैं। यह कार्य होने के अनन्तर समाज की बद्धमूल अनैतिकताए चाहे वे ब्यालमुखी क्यो न हो, स्वत ही निरसन की ओर हो जाती हैं।

नैतिकता : मानवता

डॉ० हरिशंकर शर्मा एम० ए०, डी० लिट्०

मनुष्य के मन में जब काम, क्रोध, और लोभ मोहजन्य दुर्गुणो का प्रवेश होता है, तब न वह 'मानव' कहा जा सकता है और न मानवता से उसका कुछ सम्पर्क या सम्बन्ध रहता है। 'मानवता' से नाता तोडकर वह 'विद्वान्', 'वीर' 'धनी' और उच्च पद-प्राप्त तो कहा जा सकता है, परन्तु 'मानव' नही। आज मानवता का बडा ह्रास हो रहा है। भ्रष्टाचार, अपराध-प्रवृत्ति, दु:ख, सकट, अशान्ति आदि की वृद्धि इसीलिए हो रही है कि मानव, मानव नही रहा। उर्दू के महाकवि 'मीर' ने अब से सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व कहा था—**"मीर साहब, गरफरिश्ता हो तो हो; आदमी होना मगर दुश्वार है।"** एक आदमी 'फरिश्ता' तो हो सकता है, परन्तु आदमी नही। इसी प्रकार आज की मानवता मे यह खोज करने की आवश्यकता है कि उसमे मानव-तत्त्व कितना शेष है। आज का मानव कहाँ तक 'मानव कहा जा सकता है। मानव या मनुष्य कौन है, इसकी स्थूल परिभाषा निम्नलिखित पक्तियो मे बडी स्पष्टता से की गई है —

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः,
सत्यव्रताः रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

इसी भाव को राष्ट्रभाषा हिन्दी मे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :—

विद्या के विलास में निमग्न रहता है मन,
शिक्षा और शील का महत्त्व अपनाया है।
धारण किया है सत्यव्रत बड़ी दृढ़ता से,
मान, मद, मल जिसको न कभी भाया है।
लोक-दुःख दूर करने में सुख पाता सदा,
पर-उपकारी बन संकट मिटाया है।
करके सुकर्म पुण्य सुयश कमाता रहा,
ऐसा धीर-वीर धन्य 'मानव' कहाया है॥

उर्दू के महाकवियो ने भी 'आदमीयत' (मानवता) की इस प्रकार परिभाषा की है —

दर्दे-दिल पासे-वफ़ा जज्बए-ईमाँ होना,
आदमीयत है यही और यही इन्साँ होना।
यही है इबादत यही दीनो ईमाँ;
कि काम आये दुनिया में इन्साँ के इन्साँ।
काम आ ख़ल्के-ख़ुदा के, कि ख़ुदा के नज़दीक;
इससे बढ़कर न हुई है, न इबादत होगी।

अर्थ स्पष्ट है; संवेदनाशील हृदय, प्रतिज्ञा-पालन, सद्भावना, मनुष्य और प्राणि-मात्र (खल्के-खुदा) की सेवा-सहायता ही वास्तविक मानवता है। इसी भाव को अंग्रेजी में एक प्राचीन अंग्रेज महाकवि ने, निम्नलिखित पंक्तियों मे

बडी सुन्दरता मे अभिव्यक्त किया है —

The man upright of life
Whose quiltless heart is free
From all dishonest deeds
Or thoughts of vanity
The man whose silent days
In harmless joys are spent
Whom hopes cannot delude
Nor sorrows discontent
Good thoughts his only friends
His wealth a well spent age
The earth his sober inn
And quiet pilgrimage

भाव यह है कि कुविचारो और कुकर्मों से जिसका जीवन शुद्ध हो गया है, जो किसी को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाने का विचार सर्वथा त्याग चुका है, जो सदा शान्त जीवन व्यतीत करता है, जिसे न तो आशाए भ्रम मे डालती हैं और न दुःख दुःखी करते हैं, सुविचार ही जिसके मित्र एव सखा—साथी हैं, और सद्भावना-सम्पन्न जीवन ही जिसकी सम्पत्ति है, पृथ्वी जिसका गम्भीर और शान्त प्रवास-स्थान है और शान्ति ही जिसकी तीर्थयात्रा है, वही व्यक्ति वस्तुत मानव है, मनुष्य या आदमी है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जब मनुष्य कर्मनिष्ठ होता है, तभी 'मानव' बनता है। विचारों—सद्विचारो का, मस्तिष्क मे भरा रहना मात्र 'मानवता' नही है। जब विचार क्रिया मे आते हैं, तब ही वे आचार कहलाते है और इस 'आचार' का जब दूसरो के साथ प्रयोग होता है तो वह व्यवहार बन जाता है। 'आ-चार' का अर्थ ही है, पूरी तरह से अमल मे लाना। 'आचार' का ही दूसरा नाम नैतिकता है। 'नीति' शब्द से नैतिक बना है। 'नीति' के जहाँ अन्य अनेक अर्थ हैं, वहाँ 'अनुष्ठान' अथवा 'अमल करना' भी एक अर्थ है। बिना 'आचार' या 'नैतिकता' के कोई मनुष्य या मानव नही बन सकता। ससार मे जितने महापुरुष हुए हैं वे 'आचार' या 'नैतिकता' के कारण ही इतने महान् बन पाये है। 'अनैतिक' अर्थात् आचारविहीन बडे-बडे दिग्गज पोथापथी विद्वानो को किसी ने कभी नही पूछा, परन्तु जो व्यक्ति आचारयुक्त, नैतिकता-सम्पन्न साधारण पढे-लिखे भी थे, वे देश, समाज और विश्व की विभूति बन गए।

चरित्र, आचार और नैतिकता तीनो समानार्थक हैं। इन्ही को अरबी म 'अखलाक' और अग्रेजी मे 'मोरेलिटी' (Morality) कहते हैं। मोरेलिटी का अर्थ भी कल्याणकारी विचारो को क्रिया मे लाना है। विद्वद्वर रस्किन ने भी कहा है—'Cha-actor is thi traescription of knonledge into action' अर्थात् ज्ञान को क्रिया मे परिणत करना ही 'चरित्र' या 'आचार' है। एक उर्दू-शायर भी यही कहता है :—

खुदा का नाम जो अक्सर, जबानों पर है आ जाता,
मगर काम उससे जब चलता कि वो दिल में समा जाता।

इसी सम्बन्ध मे महाकवि शेक्सपीयर ने भी एक बहुत सुन्दर बात कही है —

Religion without morality is a tree without fruit,

Morality without religion is a tree without roof अर्थात्, "धार्मिक सिद्धान्त बिना अनुष्ठान (अमल) के निष्फल हैं। साथ ही अनुष्ठान या अमल भी बिना धर्म-भावना के निर्मूल है।"

अभिप्राय यह कि 'मानवता' का निर्माण नैतिकता से होता है। नैतिकता ही 'आचार' या चरित्र का नाम है और आचार का अर्थ है, विचारो को क्रियात्मक बनाना अथवा कार्यान्वित करना। अब आवश्यकता है—विचारों के विशुद्ध,

विमल या पवित्र होने की। यदि मनुष्य के मस्तिष्क मे दूषित विचार भरे हुए है, तो उसके क्रिया-कलाप पर भी उनका बुरा प्रभाव पडेगा। अतएव यह बात अनिवार्य है कि हमारे मन—मस्तिष्क शिवसकल्प-युक्त हो, उनमे मलिनता न रहने पाये। एक रिश्वतखोर या चोर अपने कुविचारों को अमल मे लाता है तो वह आचार नही, दुराचार है। चरित्र नही, दुश्चरित्र है। नैतिकता नहीं, अनैतिकता है। 'शिवसंकल्प' या सद्विचार वे ही है, जो अपने और दूसरो के लिए भी श्रेयस्कर अर्थात् हितकर हो। कुविचार या अशुभ चिन्तन तो 'मानवता' के लिए सदैव ही कलंक-रूप है।

प्राय: सांसारिक लोगो के मन काम-क्रोध-लोभ और मोह-जन्य दोषों से भरे होते है। जितने 'पाप' और 'अपराध' होते है, वे इन्ही दुर्भाव-जन्य दोषो के कुपरिणाम है। अतएव आवश्यकता है कि हमारे मन-मन्दिर मे कभी दुर्भावना-भरे कुत्सित कुविचारो की झलक भी न आने पाये। सर्वदा सत्य का समावेश और अहिंसा का ही प्रवेश हो। अर्थात् मन, वचन, कर्म—तीनो मे न तो हम कभी असत्य को प्रविष्ट होने दे और न भूलकर भी मन-वचन-कर्म से किसी का अहित करे। धर्म के इन दो तत्त्वो के अपनाने से मानसिक पवित्रता के लिए बडी सहायता प्राप्त होगी। जब मन मे शुद्ध भावना, वचन मे मृदुतापूर्ण सचाई और कर्म मे पवित्रता होगी, तो पापो एव अपराधो के लिए स्थान ही कहाँ रह जायेगा!

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोष, सयम, तप, त्याग, ऋजुता, मृदुता, क्षमा, दया इत्यादि विचारधाराए मन की विशुद्धता, चरित्र की पवित्रता या नैतिकता की ही आधारभूत हैं। इन्ही के सहयोग या अनुष्ठान से वास्तविक मानवता का उदय होता है। ये ऐसे सर्वमान्य मौलिक सिद्धान्त है कि विश्व मे इनकी कोई व्यक्ति आवर्जना या अवमानना नही कर सकता। कभी-कभी कहा जाता है कि 'अहिंसा' सर्वमान्य सिद्धान्त नही है, क्योकि हिंसक लोग उसे नही मानते। ऐसे हिंसक व्यक्तियो से हमे यही कहना है कि यदि 'हिंसा' बुरी बात नही है, तो वे अपने परिवार, अपने मित्र-मिलापी और अपने सगे-सम्बन्धियो को कोई कष्ट या आघात पहुँचने पर क्यो दुःखी होते है? हिंसा यदि अच्छी चीज है तो उन्हे स्वय अपने ऊपर किसी प्रकार का कष्ट या आघात आने से हर्ष क्यो नही होता? अपना और अपने परिवार का आघात तो दूर रहा, ये हिसक तो अपने पालतू कुत्तो या उनके पिल्लो तक पर किसी प्रकार का प्रहार होने से चीख उठते है। ऐसी दशा मे वे हिंसा के समर्थक और अहिंसा के विरोधी कैसे माने जा सकते है! इसी प्रकार चोर, डाकू, व्यभिचारी अपने यहाँ चोरी होने, डाका पडने या व्यभिचार करने से क्यो चीख पडते है? स्पष्ट है कि हिंसा, चोरी, डकैती या व्यभिचार आदि को उचित समझने वालों की बुद्धि पर जब भयकर स्वार्थवाद का पापपूर्ण पर्दा पड जाता है, तभी वे ऐसी कुत्सित क्रियाओ को करने का दुस्साहस करते हैं। वस्तुत मौलिक सिद्धान्त मौलिक ही रहेगे। उनमे किसी स्वार्थ-वृत्ति के कारण किसी प्रकार की भेद-भावना नही आ सकती।

आज सबसे अधिक आवश्यकता नैतिकता अर्थात् चरित्र-निर्माण की है। यानी जीवन को उठाने वाले सिद्धान्त विचारो मे ही न रहे, बल्कि क्रिया मे परिणत हो। बाह्य स्वच्छता की जितनी आवश्यकता है, उससे कही बढ-चढकर आन्तरिक शुद्धता अपेक्षित है। जब तक मन शिव-सकल्प से युक्त और आत्मा विशुद्ध न होगा, तब तक जीवन मे पवित्रता नही आ सकती और मानवता का उदय भी नही हो सकता। महाकवि अकबर ने ठीक कहा है

सफाइयाँ हो रही हैं बाहर और दिल हो रहे हैं मैले;
अँधेरा छा जायगा जहाँ में अगर यही रौशनी रहेगी।

सचमुच केवल बाहरी सफाई का नाम तो पाखण्ड है। गगाजली कितनी ही शुद्ध, सुन्दर और सुहावनी क्यो न हो, यदि उसमे मदिरा भरी है तो वह गगाजली अपना प्रकृतार्थ नष्ट कर देती है। वस्तुत मानवता के लिए विमल विचार, पवित्र आचार और विशुद्ध व्यवहार तीनो की अत्यन्त आवश्यकता है। कोई डाक्टर या वैद्य कितना ही विद्वान्, विशेषज्ञ, अनुभवी और पीयूषपाणि क्यो न हो, यदि वह रोगियो का उपचार नही करता तो उससे लोगो को क्या लाभ? उपचार करना ही उसका व्यवहार है। इसी प्रकार कैसा ही विद्वान्, पण्डित, मानव, महा-मानव, महात्मा क्यो न हो, यदि वह जनता की सेवा में सलग्न नही होता तो वह किस काम का! सर्वसाधारण की सेवा और उसका सत्पथ-प्रदर्शन ही तो उसका वास्तविक व्यवहार अथवा अपनी योग्यता तथा व्यक्तित्व का उचित उपयोग है।

अपराध और नैतिकता

श्री गुलाबराय एम० ए०

पाप और अपराध

दिन-रात के युग्म की भाँति यह संसार भी पाप-पुण्य और गुण-दोषमय है। जिसको धार्मिक दृष्टि से पाप कहते हैं, उसे लौकिक और सामाजिक दृष्टि से अपराध कहते हैं। किन्तु उन दोनों का पूरा एकीकरण नहीं हो सकता, उनमे दृष्टिकोण का भेद भी है। पुण्य-पाप मे ईश्वराज्ञा की भावना को, जो धर्म-ग्रन्थो मे निहित रहती है, प्रधानता मिलती है। अपराधो मे राजाज्ञा का प्राबल्य रहता है। भेद होते हुए भी दोनो मे 'मानवहिताय' की भावना परिलक्षित होती है। अपराधो की रोकथाम और सामाजिक सुव्यवस्था के अर्थ ही राज्य और राज्य-दण्ड की आवश्यकता पडती है। किन्तु आदर्श समाज मे दण्ड की आवश्यकता न्यूनातिन्यून रहती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामराज्य मे दण्ड को 'जतिन कर' अर्थात् सन्यासियों के हाथ मे सीमित कह दिया था। 'दण्ड जतिन कर' यह आदर्श तो बहुत कठिन है, किन्तु समाज की दण्ड-व्यवस्था के आदर्शों और विचारों मे बहुत परिवर्तन होता आ रहा है।

दण्ड की आवश्यकता

पहले व्यक्ति, व्यक्ति से अपना बदला ले लेता था। इसमे अपराध की परम्परा पीढी-दर-पीढी चलती थी और सामाजिक अव्यवस्था बढती ही जाती थी। व्यक्ति द्वारा बदला लिये जाने के स्थान मे समाज अपराधी का बदला लेने की भावना से दण्ड देने लगी। बदले की भावना फिर भी एक दूषित भावना है। दण्ड तो रहा, किन्तु तत्सम्बन्धी भावनाओ मे अन्तर आता रहा। एक भावना यह भी रही कि दूसरो मे दण्ड का भय उत्पन्न करने के लिए और उसकी रोकथाम के लिए दण्ड की आवश्यकता है। दण्ड का एक उद्देश्य यह भी माना गया कि अपराधी को कारागृह में बन्द करके उसको अपराध करने से रोका जा सके। प्राण-दण्ड देकर उसको हमेशा के लिए रोका जा सकता है। इसमे 'न मर्ज रहे न मरीज रहे' की लोकोक्ति चरितार्थ होती है, इसलिए लोग इसके विरुद्ध होते जाते हैं।

अपराध और नैतिक उपदेश

पहले तो साधारण अपराधो के लिए भी प्राण-दण्ड की व्यवस्था थी। अब अधिकांश सभ्य देशो में यह दण्ड सकल्पित हत्या के लिए ही सीमित कर दिया गया है। कुछ विचारक प्राण-दण्ड को बिल्कुल हटा देने के भी पक्ष मे हैं। अब दण्ड में अपराधी के सुधार की भावना का प्राधान्य होता जा रहा है। इसलिए अब कारावासों मे नैतिक उपदेश की भी व्यवस्था हो चली है। अब कारावास एक प्रकार से स्वस्थ नागरिक जीवन के प्रशिक्षण-केन्द्र बनते जा रहे हैं। अब अपराधियो को वैध उपायो से जीवन-निर्वाह करने की शिक्षा दी जाती है। यह तो रोग उत्पन्न हो जाने पर उसके उपचार हैं। दण्ड मे भी रोकथाम होती है, किन्तु दण्ड भयमूलक है। भयवश धर्मात्मा बनना धर्म की महत्ता को कम करना है। अपराध को एक रोग समझ कर उसके कारणों को दूर करने और उसके रोकथाम की प्रवृत्ति बढती जा रही है।

अपराध के कारण

यद्यपि प्राचीन काल मे दण्ड की सुव्यवस्था के लिए राज्य की आवश्यकता मानी जाती थी, फिर भी ऐसी बात

न थी कि अपराध के कारणो पर न विचार किया गया हो। नीति में कहा गया है. बुभुक्षतः किं न करोति पापम्, क्षीणा नराः निष्करुणा भवन्ति शृंगारी कवि बिहारी ने भी कहा है—तीन बलावत निसक्त ही राजा पातक रोग पातक को रोग के समकक्ष रखने की भावना पहले भी थी। "बुभुक्षित किं न करोति पापम्" के सिद्धान्त में अब बुभुक्षित के बोध में कुछ विस्तार हो गया है। 'बुभुक्षा' मे पेट की भूख ही नहीं है, वरन् सभी तरह की भूख शामिल है। धन की भूख, यश की भूख, इन्द्रिय-भोग की भूख, ये सब भूख के ही रूप हैं। ये अपराध के कारण बनती हैं। भूख का वैध मार्गों से मिटाना कोई पाप या अपराध नहीं है। समाज ने सभी भूखों के शमन के वैध मार्ग बना दिये हैं। धन की भूख के लिए मेहनत-मजदूरी, व्यापार आदि है। इन्द्रियों की भूख के लिए कला-कौशल का अनुशीलन तथा विवाह है। श्रीमद्भगवद्गीता मे धर्माविरुद्ध काम को भी ईश्वर का रूप कहा गया है।

अपराध भूख की तृप्ति न होने से होता है; किन्तु उसकी तृप्ति वैध मार्गों से भी होती है और अवैध मार्गों से भी। श्रेय का मार्ग कठिन अवश्य है, किन्तु अन्त मे व्यक्ति और समाज के लिए सुखदायक है। इसके अनुसरण के लिए उचित नैतिक शिक्षा चाहिए। इस नैतिक शिक्षा का अभाव होता आ रहा है। अपराधो में कमी होने के लिए, व्यक्ति और समाज दोनो मे, सुधार की आवश्यकता है। व्यक्ति को यह शिक्षा दी जाये कि वह वैध उपायो से उपार्जित धन से यथा-काम सन्तुष्ट रहे और धनवानों को यह शिक्षा दी जाये कि वे तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः की, अर्थात् योग के साथ भोग की ईशावास्यवृत्ति को अपनायें। एक ओर धन का असमान वितरण है, दूसरी ओर उससे असन्तोष और समाज से बदला लेने की भावना और साथ ही सुलभ उपायो से बिना परिश्रम के धन वैभव और सुख उपलब्ध करने की उत्कट अभिलाषा—यही अपराध का कारण बनती है।

अपराध और साधन-शुद्धि

गाधीजी ने इसीलिए श्रम की महत्ता और आवश्यकताओ की कमी पर बल दिया था कि दुनिया में पाप का मूल कारण नष्ट हो। यह जहाँ तक हो कम सघर्ष के साथ हो। गाधीवाद मे जो साधनो की शुद्धता पर बल दिया गया है, वह अपराधो की कमी के लिए ही दिया गया है। लोगो की यह भ्रान्त धारणा है कि साध्य अच्छा हो तो बुरे साधनो के अपनाने मे कोई हानि नही। बुरे साधनो के अपनाने से अपराधो की परम्परा बढती है, घटती नही है।

अपराधो की रोकथाम के लिए नैतिक प्रचार और उसके उदाहरण उपस्थित करने के साथ, अपराधी के साथ सहृदयता का व्यवहार आवश्यक है। धार्मिक शिक्षा के प्रचार के अभाव के साथ नैतिक शिक्षा का भी ह्रास होता जा रहा है। इसके लिए शिक्षा संस्थाओ मे नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक ही न हो, वरन् बडे आदमी और सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति ईमानदारी के अच्छे नैतिक उदाहरण उपस्थित करें। जो सेंध लगाता है वही चोर नही है, वरन् वे लोग भी चोर और डाकू हैं जो धर्म और सामाजिक प्रतिष्ठा की ओट मे दूसरो का माल हडपते रहते है या सरकार से और जनता से अनधिकारपूर्ण लाभ उठाते हैं। 'पर-उपदेश कुशल' तो बहुत-से लोग हैं, आचरण करने वाले थोड़े है। उप-देश से आचरण की शिक्षा श्रेष्ठतर है।

सामाजिक रोग

अपराधी को एक सामाजिक रोगी समझ कर उसके साथ सहानुभूति का बर्ताव होना चाहिए। दण्ड भी दिया जाये तो सुधार के लिए और उसमे बदले और क्रोध की भावना न आने देना चाहिए। अपराध से घृणा करना चाहिए अपराधी से नहीं। अपराधी को दण्ड भुगतने के पश्चात् सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने मे सहायता दी जाये। इस कार्य मे सरकार और जनता का सहयोग होना चाहिए। जनमत ही नही, वरन् जन-व्यवहार भी ऐसा होना चाहिए कि अप-राधी को सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिले। जनता स्वय अवैध साधनो को छोडे, जिससे पर उपदेश कुशल बहुतेरे की बात न चरितार्थ हो।

साहित्य और धर्म

डा० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०
अध्यक्ष–हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

इस देश मे 'साहित्य' और धर्म का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध रहा है कि आधुनिक साहित्य-स्रष्टा और आलोचक को इन दोनो को पृथक् करने के लिए परिश्रम करना पडा। पाश्चात्य समीक्षकों ने जब यह कहकर भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह शुद्ध साहित्य की ऐहिक विभूतियो से हीन प्राय धर्म का ही अग है, तो भारत की प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना के लिए अपने साहित्य की धर्म-निरपेक्ष सत्ता की स्थापना अनिवार्य हो गई। परिवर्तन-काल मे मूल्यो मे कुछ ऐसी अस्थिरता आ गई कि साहित्य और धर्म मे एक प्रकार से विरोध का आभास होने लगा। इस धारणा का अभी अन्त नही हुआ है और इसका कारण यह है कि साहित्य और धर्म दोनो ही शब्दो के अर्थ अत्यन्त अनिश्चित है। आज भी शब्दार्थ की यह अगम्यता भ्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, अत 'साहित्य' और 'धर्म' शब्दो के अर्थ का निश्चय हमारी पहली आवश्यकता है।

साहित्य

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत प्रसग मे दो शब्दो का प्रयोग होता है—१ वाङ्मय और साहित्य। पारिभाषिक दृष्टि से वाङ्मय का अर्थ अधिक व्यापक है, उसकी परिधि मे वाणी का सम्पूर्ण आलेख आ जाता है। वाङ्मय के दो प्रमुख भेद है **इह वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यञ्च (राजशेखर)**। आधुनिक शब्दावली मे शास्त्र का अर्थ है, ज्ञान का साहित्य और काव्य का अर्थ है, रस का साहित्य। प्रस्तुत सदर्भ मे साहित्य का अभीष्ट अर्थ है, रस का साहित्य। वस्तुत सस्कृत मे 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'रस के साहित्य' के अर्थ मे ही होता है। उसका वर्तमान व्यापक रूप और तज्जन्य अस्थिरता उसे अग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' का पर्याय मान लेने का परिणाम है। सस्कृत मे इसका स्वरूप और प्रयोग सर्वथा परिनिष्ठित है। काव्य साहित्य=रस का साहित्य (क्रिएटिव लिटरेचर—अग्रेजी)। साहित्य का शाब्दिक अर्थ है—सहित का भाव अर्थात् सहभाव। कुछ विद्वानो ने सहित का अर्थ हितसहित या कल्याणमय करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह वर्तमान वाग्विलास है, काव्य-शास्त्र मे उसके लिए कोई प्रमाण नही मिलता। इसी प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी आधुनिक विचारधारा के सन्दर्भ मे उसका अर्थ-विस्तार किया है. "सहित शब्द से साहित्य मे मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का मिलन नही है, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का—अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है। किन्तु यह भी कवि के अपने वैदग्ध्य का चमत्कार है। शास्त्र मे उसका एक ही निर्भ्रान्त अर्थ है—शब्द अर्थ का सहभाव **शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या (राजशेखर)**। सहभाव का यहाँ विशिष्ट अर्थ है—पूर्ण सामजस्य, ऐसा समभाव, जिसमे दोनो मे से कोई न न्यून हो और न अतिरिक्त, यही साहित्य का तात्त्विक अर्थ है। अत साहित्य से अभिप्रेत है वाङ्मय का वह रूप, जिसमे शब्द और अर्थ का पूर्ण सामजस्य हो। यह एक ओर शास्त्र से भिन्न है, क्योकि उसमे अर्थ की गुरुता शब्द को भाराक्रान्त कर देती है और दूसरी ओर सगीत आदि से भी, जिसमे शब्द की तरलता मे अर्थ का क्षय हो जाता है।

दूसरा शब्द है—धर्म। धर्म का व्युत्पत्त्यर्थ है—**ध्रियते अनेन यः सः धर्मः**, जो धारणा करे वह धर्म है, वे मूल विशेषताए या गुण, जो किसी पदार्थ के अस्तित्व को धारण करते है (एसेंशल्स)—संक्षेप मे प्राण-तत्त्व, मूल प्रवृत्ति

प्रकृति या स्वभाव। धर्म का एक दूसरा अर्थ भी है कर्तव्य-कर्म, जो मूल अर्थ का ही विकास है, क्योंकि प्रवृत्ति ही अनुशासित होकर कर्तव्य का रूप धारण कर लेती है। अतएव धर्म का समन्वित अर्थ होता है, प्रकृति और कर्तव्य-कर्म।

इस प्रकार साहित्य के धर्म के अन्तर्गत हमारा विवेच्य विषय है— आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावलि मे 'काव्य की आत्मा एव प्रयोजन'।

जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया, साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है, शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य। अर्थ का शब्द के साथ पूर्ण तादात्म्य वाणी की चरम सिद्धि है। तत्त्व-रूप मे अर्थ आत्मा की अनुभवज्ञानमयी स्थिति का ही नाम है और शब्द का अर्थ है प्राकट्य, अत अर्थ का शब्द-रूप मे प्राकट्य आत्म-साक्षात्कार की ही एक प्रमुख प्रक्रिया है। भारतीय काव्य-दर्शन मे इसी तर्क के आधार पर अर्थ को 'शम्भु' और शब्द को 'शिवा' या 'शक्ति' कहा गया है—**रुद्रोऽर्थः अक्षरस्सोमा**—और उन दोनो के अर्धनारीश्वर रूप मे साहित्य की कल्पना की गई है। आत्म-साक्षात्कार का ही नाम आनन्द है। प्रकृति के विविध उपादानो के द्वारा आत्मा अपना साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता रहता है। यह प्रयत्न या साधना ही जीवन है। साधना की सफलता-विफलता ही जीवनगत सुख-दु ख और उसकी सिद्धि ही 'आनन्द' है, जो सुख और दु ख से अतीत पूर्ण आत्म-लाभ या सामरस्य की स्थिति है। आनन्द का मूल रूप एक और अखण्ड है। माध्यम भेद से उसके नामो मे भेद हो जाता है। वाणी के माध्यम से जो आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है, उसका शास्त्रीय नाम रस है। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ और शब्द का साहित्य सहज रसमय होता है। रस उसका अन्तरग लक्षण है, बहिरग विशेषणमात्र नही है। एक शब्द मे, साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है रस, और यही उसका प्रयोजन है। भारतीय काव्यशास्त्र का विवेचन इतना मार्मिक और आप्त है कि उसमे लक्षण और प्रयोजन, साधन और सिद्धि, शरीर और आत्मा का भेद मिट जाता है।

धर्म और नैतिक जागरण

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती
संस्थापक–दिव्य जीवन संघ, ऋषिकेश

जिस प्रकार वायु के बिना जीवित नही रहा जा सकता उसी प्रकार धर्म के बिना भी जीवित नहीं रहा जा सकता। ईश्वरार्पित दैनिक जीवन ही धर्म है, या यों कहिये कि धर्म ही सच्चा जीवन है। तात्पर्य यह कि सत्य के अनुरूप जीवन होना चाहिए।

नैतिकता का आधार

धर्म को जीवन की समस्याओ से पृथक् नही किया जा सकता। सुख या नियमित प्रगति के लिए धर्म आवश्यक है। धर्म नैतिकता का आधार है। उसमे समाज को सगठित रखने की प्रचण्ड शक्ति है। व्यक्ति और समाज के धार्मिक रुख पर ही नैतिक प्रगति का दारोमदार है। धर्म मनुष्य को सामाजिक जीवन मे आत्म-नियन्त्रण करने के लिए योग-दान करता है। धर्म मे भारी आकर्षण और नियन्त्रण की शक्ति है। वह मनुष्य को सदाचार की प्रेरणा करता है और अच्छे मार्ग पर ले जाता है। वह मानव-जीवन मे ताने-बाने की तरह है। शासन के सभी तरह के रूपो और धर्म को विभ्रष्ट करने की विविध योजनाओ के बाद भी वह कायम रहेगा, क्योकि शाश्वत जीवन का निचोड ही धर्म है।

धर्म मनुष्य के पाशविक रूप को बदल कर उसे दैवी रूप प्रदान करता है। धर्म और जीवन एक ही है। धर्म जीवन है और जीवन धर्म है। किसी भी धार्मिक के लिए जीवन और धर्म मे कोई भेद नही है। एक को दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। जीवन मे धर्म महत्त्वपूर्ण, उत्कर्षकारक और ज्वलन्त योगदाता है। मानवता को उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचाना उसका उद्देश्य है।

नैतिक सिद्धान्तों की विश्व-व्यापकता

प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धान्त मनुष्य को अच्छा बनने, सबके साथ भलाई करने, सबके प्रति कृपा-भाव रखने, ईमानदार बनने, सब प्राणियो के प्रति क्षमा-भाव रखने, मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद न करने तथा आध्यात्मिक एकरूपता की समान रूप से शिक्षा देते है। वे मनुष्य को बताते हैं कि कण-कण मे भगवान् विद्यमान है। प्रेमपूर्वक, निःस्वार्थ भाव से हर प्राणी की सेवा करो और यह समझो कि यह सेवा ही भगवान् की आराधना है। कारण कि भगवान् का निवास प्रत्येक की आत्मा मे है और वही उसकी सब प्रक्रियाओ का सचालन करता है।

सच्चा धर्म न तो कोई बँधी-बँधाई आचार-विधि है, न रूढिवादिता। सच्चा धर्म तो वह है जिसके प्रति हर व्यक्ति आकर्षित हो, जिसे हर व्यक्ति अमल मे ला सके, जो सबके लिए एक समान ग्राह्य हो तथा सार्वभौम और एक ही उद्देश्य की ओर ले जाने वाला हो।

आध्यात्मिक जीवन में नैतिकता की अपेक्षा

नैतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन की बुनियाद है। नैतिक जीवन के बिना आध्यात्मिक जीवन सम्भव नही।

दया, आत्म-नियन्त्रण, सत्य, ईमानदारी, पवित्रता तथा तपस्या ही नैतिकता है।

अनेक श्रद्धालु व्यक्ति पूजा-पाठ करते हैं और कण्ठी-तिलक धारण करते हैं, किन्तु ईमानदार नही होते। एक ओर पूजा करते हैं, दूसरी ओर घूस भी लेते हैं। भगवान् की पूजा तो करते हैं, लेकिन गरीब लोगो के दुःखो का उन्हे कभी खयाल नहीं आता। धार्मिक जीवन की पहली कसौटी आचरण है। आध्यात्मिक जीवन के लिए ऐसी नैतिकता जरूरी है जिसकी बुनियाद धर्म में हो।

धर्म व्यावहारिक हो

लोग धर्म के बारे मे केवल बातें ही करते हैं। उसको जीवन मे ढालने यानी उसके अनुसार आचरण करने की उन्हें चिन्ता नहीं होती। यदि ईसाई अपने धर्मोपदेशों के अनुसार जीवन-यापन करे, बौद्ध भगवान् बुद्ध के श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करें, मुसलमान अपने पैगम्बर के उपदेशो पर सचाई से अमल करे, जैन महावीर स्वामी के उपदेशो को आत्मसात् करे और हिन्दू भगवान्, सन्तो और ऋषि-मुनियो की शिक्षाओ के अनुसार अपना जीवन बनायें तो सर्वत्र शान्ति रहेगी।

धर्म जन्म-मरण के चक्र की नौका को धीरे-धीरे खेकर पार लगाने वाला है। वाद-विवाद और तर्क-वितर्क के लिए वह नही है। वह तो ग्रहण करने और अमल मे लाने के लिए है। उसका व्यावहारिक होना आवश्यक है, क्योकि गोष्ठी-चर्चा का वह विषय नहीं है।

स्वधर्म का पालन करो!

सभी धर्मों का मूलभूत सिद्धान्त नि.स्वार्थ-भाव है। यही दैवी आलोक का प्रारम्भ है। प्रत्येक धर्म का स्वर्ण-सिद्धान्त यही है—"दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसे व्यवहार की आप अपने लिए दूसरो से अपेक्षा रखते हैं।"

क्या ईसा के धर्मोपदेश, क्या भगवद्गीता की शिक्षा, यम-नियम, मैत्री, करुणा, पतंजलि की, जैनो के पच महाव्रत और बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग सभी समान रूप से नैतिक तथ्यो पर जोर देते हैं। सदाचार, पवित्रता और सचाई का व्यवहार, नैतिक परिपूर्णता और दैवी गुणो की प्राप्ति ही ससार के सभी धर्मों का मूल मत्र है।

धार्मिक जीवन मनुष्य के लिए सर्वोच्च वरदान है। यह मनुष्य को सासारिक दलदल, अपवित्रता और नास्तिकता से ऊपर उठाता है। वह बुद्धि निरर्थक है जो धर्म की ज्योति से प्रज्वलित न हो। धर्म मे वह सब करने की शक्ति है, जिसकी दर्शन से कदापि अपेक्षा नही की जा सकती।

नैतिक जागरण

हमारे पूर्वजों को आधुनिक कुरीतियो एव दोषो, जैसे चोरबाजारी, घूसखोरी को देख कर बड़ा आश्चर्य होता होगा। ये सारी राक्षसी वृत्तियाँ हमारी ही सृष्टि हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से च्युत होने के कारण ही इन दोषो का सृजन हुआ है। भौतिकवादी दृष्टिकोण, विलासमय जीवन के प्रति प्रेम ही इन सारी बुराइयो का मूल है। लोगो मे विलासिता के प्रति होड लगी है। अर्थ-सकट, परमाणु बम का निर्माण तथा विनाश के अन्य साधन—ये सभी मानवीय अभिमान, लोभ, ईर्ष्या, सन्देह तथा घृणा के परिणाम हैं। एक राष्ट्र दूसरे को नष्ट करना चाहता है, अधिकाधिक विध्वंसकारी शक्ति प्राप्त करने के लिए होड़ लगी हुई है। सबो के मुख पर यही चिन्ता छायी हुई है कि इन बुराइयो के लिए कोई उपचार है अथवा नही। परन्तु किसी में भी इन बुराइयों को रोकने के लिए साहस तथा श्रद्धा नही है। हर राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की ओर देखता है, हर मनुष्य दूसरे मनुष्यों से अपेक्षा रखता है। इस प्रकार बुराइयाँ बनी रहती हैं। मनुष्य को स्वयं इन बुराइयो को दूर करने के लिए कटिबद्ध होना होगा। हर व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार इस ओर संलग्न होना होगा।

सरल जीवन तथा उच्च विचार

जीवन के दृष्टिकोण को परिवर्तित करना इस ओर प्रथम कदम है। सारे भौतिकवादी विचार तथा दृष्टिकोण को बदल देना होगा। सारे देशो एव समाजो मे जीवन के आध्यात्मिक मूल्यो के प्रति श्रद्धा का सचार करना होगा। सरल जीवन तथा विचार द्वारा इसका अधिकाधिक प्रसार करना होगा। हमारे पूर्वज इसी आदर्श पर चलते थे। वे ससार की सारी बुराइयो की जड लोभ तथा भय को सन्यास द्वारा ही विनष्ट करते थे।

इसके साथ ही बाल्यावस्था से ही हर व्यक्ति के भीतर निष्काम्य सेवा की भावना भरनी होगी। इस स्थल पर धर्म नीति तथा समाजशास्त्र से आ मिलता है, क्योकि धर्म यह बतलाता है कि सारे जगत् मे एक आत्मा ही परिव्याप्त है। अत दूसरो के लिए जो भी सेवा की जाये, उससे स्वय को ही लाभ प्राप्त होगा। जितना ही अधिक हम मानवीय कर्मों के उन्नत आधार को पहचानेंगे तथा उनका साक्षात्कार करेगे, उतना ही अधिक हम पूर्णता तथा ईश्वरत्व की ओर द्रुत गति से अग्रसर होगे।

सार्वभौमवाद

अधिकार पर बल न देकर कर्तव्य पर बल देना होगा। जातिवाद, राष्ट्रवाद, आदि सारे वाद स्वार्थ-रूपी राक्षस के ही विभिन्न सिर है। इनकी जगह व्यापक सार्वभौमवाद को स्थापित करना होगा। राष्ट्रीय सीमाए शनै -शनै विलीन हो जायेगी। धर्म तथा भाषा, समाज तथा आचारशास्त्र, सस्कृति तथा राजनीति—इन सबो के विभेद विनष्ट हो जाने चाहिए तथा सबो में एकता एव समरसता का प्रसार होना चाहिए।

दूसरे राष्ट्र भले ही इस अभीष्ट की प्रतीक्षा करते रहे। हमे साहसपूर्वक इस कार्य को आरम्भ कर देना चाहिए। सर्वप्रथम अपनी ही बुराइयो को स्वत दूर करना चाहिए। सकीर्ण सीमारेखाओ को नष्ट कर हम अपने हृदय को विश्वात्म एव व्यापक बनाये रखे। अपने कर्मों तथा उनके परिणामो द्वारा यह प्रमाणित करना होगा कि हम ऋषियो की सन्तान है। हमारी पुण्य-भूमि हमे अधिकाधिक प्रकाश, स्वतन्त्रता एव पूर्णता की ओर मार्ग प्रदर्शित करे।

सब के मन एव हृदयो मे सच्चाई, सदाचार, तथा नीति की भावनाओ को भर कर प्राचीन सस्कृति का पुन-र्जागरण.करना ही कर्तव्य है। इस महान् समस्या को दूर करने के लिए स्तूपो के शिलालेखो मे कुछ अधिक प्रयास करना पड़ेगा। आधुनिक साधनो द्वारा आधुनिक मन पर प्रभाव डालना होगा। स्तूप प्राचीन समृद्धि के स्मारक है, परन्तु वे आधुनिक समस्याओ के निवारक नही।

पुस्तको तथा परिपत्रो द्वारा सदाचारमय जीवन की महिमा एव आवश्यकता के ज्ञान का प्रसार करना समाज मे नैतिक चेतना को जागृत करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। परन्तु इसके साथ ही अन्य साधनो को भी काम मे लाना होगा। तभी इस उद्देश्य मे शीघ्र सफलता प्राप्त की जा सकेगी।

नैतिक प्रशिक्षण

विद्यालयो मे नैतिक शिक्षण अनिवार्य होना चाहिए। इस ओर शिक्षको को भी विशेष प्रशिक्षा मिलनी चाहिए। उन्हे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि विद्यार्थी, उनके दैनिक जीवन मे सदाचार की अपेक्षा रखेंगे तथा कक्षा के प्रवचन पर ही निर्भर नही रहेगे। तात्पर्य यह है कि शिक्षको को विद्यार्थियो के लिए आदर्श बनना होगा। हर विद्यालय को प्रात. तथा दोपहर के उपरान्त नैतिक शिक्षा के लिए आध घटा देना होगा। विद्यार्थियो के ऊपर ही समस्त विश्व का भाग्य निर्भर है, अत नैतिक शिक्षा के महत्त्व को वैयक्तिक जीवन एव सामूहिक जीवन के लिए अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। स्कूल के प्रारम्भ तथा अन्त मे विशेष प्रकार की प्रार्थना हो, तो और भी अच्छा है।

स्कूलो में सुधार लाना सुधार-कार्य का आवश्यक अंग है। इससे सुधार-कार्य का तिहाई भाग सम्पादित हो जाता है। विद्यार्थियों के लिए गृह का वातावरण, बाह्य जगत् की वस्तुस्थिति तथा विद्यालय की शिक्षा का एक समान

ही महत्त्व रखती है। यदि पुस्तक की दुकान मे अश्लील साहित्य न रखा जाये, तो विद्यार्थियो को मन की शुद्धि बनाये रखने में बडी सहायता मिलेगी। अश्लील चित्रो, साहित्य तथा चित्रपटो को बहिष्कृत कर देना चाहिए। चलचित्रो मे विशेष सुधार की आवश्यकता है। अश्लील चलचित्र युवको के मन में गहरी छाप डालते हैं। चलचित्र-निर्माताओ को नैतिकता तथा धार्मिकता की ओर ध्यान देना चाहिए। शनै.-शनै: तम्बाकू, चाय, कॉफी आदि उत्तेजक पेय पदार्थों के सेवन को समाप्त करने का प्रयास होना चाहिए। शराबखोरी को भी सबसे पहले बन्द करना होगा।

गृह की व्यवस्था अनुकूल होनी चाहिए। सयाने व्यक्तियो मे सुधार लाने की विधि मे सर्वाधिक सावधानी लाने की आवश्यकता है। नियमित प्रचार, साय सत्सग, प्रातः सत्सग आदि के द्वारा उनको बुराई से दूर किया जा सकता है।

सुधार-कार्य की ओर साधु तथा सन्यासी गण सामान्य रूप से तथा सामाजिक नेतागण विशेष रूप से सरकार को सहायता देते हुए कार्य कर सकते हैं। दूसरे को प्रशिक्षित करने से पहले स्वय को प्रशिक्षित कर लेना होगा। वैयक्तिक उदाहरण के आधार पर ही दूसरो मे सुधार लाना सम्भव है।

आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन बारह वर्षों से देश मे ऐसा ही वातावरण बना रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। भारतवर्ष मे यह कार्य हमेशा ही ऋषि-मुनियो का रहा है। ऋषि-मुनि समाज के श्रद्धेय होते है और भारतीय सस्कृति के वाहक भी। उनका जीवन त्यागमय होता है, अत. जनता पर भी उसका प्रभाव पडता है। आचार्यश्री तुलसी ने इस ओर कदम बढ़ाकर जनता को सत्य, शिव, सुन्दरम् की ओर प्रेरित किया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र है। ईश्वर उनके इस प्रयत्न को सफल बनाये, यही कामना है।

इसमे मुझे सन्देह नही कि नैतिक जागरण की समस्या कितनी ही जटिल क्यो न हो, देश मे चलने वाले विविध प्रयत्न अवश्य ही सफल होगे, क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक है। भारतीय मूलत: आध्यात्मिक व्यक्ति होता है। ये सारे दोष अज्ञानमूलक है, ये सद्प्रयासो द्वारा अवश्य ही दूर हो जायंगे।

अणुव्रत-आन्दोलन का रचनात्मक रूप

श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर
सभापति, उ० प्र० विधान-परिषद

आचार्यश्री तुलसी द्वारा चलाये हुए अणुव्रत-आन्दोलन ने इन बारह वर्षों मे भारत के विचारको पर काफी प्रभाव डाला है। इतना ही नही, अन्य देशो के प्रमुख विचारको की भी दृष्टि इस आन्दोलन की ओर गई है। अनेक रीति से इस आन्दोलन की चर्चा की जा रही है।

वास्तव मे यह आन्दोलन अपने ढग का अनूठा है। चरित्र-गठन, आध्यात्मिक उन्नति, आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, सामाजिक सुधार तथा मगल-व्यवस्था आदि-आदि सब प्रकार के आन्दोलन इस देश मे स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद प्रारम्भ हुए हैं; और ऐसा नही है कि उनका उपयोग नही है, अथवा जनता ने उन्हे नहीं अपनाया है। देश-देश की जनता ने परतंत्रता-रूपी निद्रा से जाग कर अपनी उन्नति के लिए अनेक मार्ग अपनाये हैं और उनसे पर्याप्त लाभ हुआ है। भारत सेवक समाज ने तथा सन्त विनोबा के भूदान-आन्दोलन ने भारतीय जन-समाज पर प्रभाव डाला है और "अपने स्वार्थ से परे भी कुछ दायित्व है" ऐसा प्रकाश भारतीय जनता के मस्तिष्क पर पड़ा है। राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्न भी भुलाये नहीं जा सकते, विशेषकर शिक्षा का प्रसार।

किन्तु यह मानना ही होगा कि आचार्यश्री तुलसी ने भारतीय जनता का दृष्टिकोण इस ओर किया है कि मनुष्य चाहे एक छोटा-सा व्रत, जो उसकी दैनिक चर्या मे ठीक बैठता है, यदि ग्रहण करे तो वह स्वय अपनी उन्नति और समाज की उन्नति कर सकता है। आन्दोलनो मे व्याख्यानो की भरमार इतनी अधिक होती है और उन व्याख्यानो मे इतनी अन-गिनत अच्छी और उपयोगी बाते बतायी जाती है कि साधारण मनुष्य बालक, स्त्री, पुरुष—जो उन्हे सुनता है, समझ नही पाता कि वास्तव मे किस उपयोगी बात को अपनाये। अपनाने योग्य बातो की लम्बी-चौडी सूची को सुन कर ही मनुष्य घबरा जाता है और मतिभ्रम होकर उसे ठीक रास्ता दिखायी नही देता।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि आदरणीय आचार्यश्री तुलसी ने इसी मर्म पर काफी समय तक गहराई से विचार किया और गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए इसी तत्त्व पर पहुँचे कि अल्प-बुद्धि, असमर्थ मनुष्य को कोई ऐसा सरल व व्यावहारिक मार्ग बताया जाये जो उसकी समझ मे आ जाये। उसकी समझ मे यह बात सरलता से आ जाये कि उसके दैनिक व्यवहार मे अमुक स्थान पर कुछ न्यूनता है, और यदि उसी छोटी-सी न्यूनता को वह हटा दे तो मन मे कुछ शान्ति भी हो सकती है और मन मे कुछ शुद्धता भी आ सकती है। उदाहरणार्थ, छोटे व्यापारियो को लालचवश ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्राहक की सामग्री मे कुछ नगण्य मात्रा मे तोलते समय कमी कर दी जाये तो बहुत-से ग्राहको से, थोडा थोडा एकत्र होकर काफी लाभ हो सकता है। आचार्यश्री तुलसी की तीक्ष्ण बुद्धि ने (या कहिये दूरबीन ने) व्यापारी की गहरी मनोवृत्ति को देखा और उस अल्प-बुद्धि मानव को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए यही उचित समझा कि उसे समझाया जाए कि अपनी अल्पज्ञता तथा असमर्थता पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नही है। एक छोटा-सा व्रत अणुव्रत ले ले कि मैं कम नही तोलूंगा; जब पूरे दाम लिये है तो पूरा माल दे दूंगा। मेरा उसमे त्याग तो कुछ है नहीं। जिसका जितना माल है, उतना ही दे रहा हूँ। कोई अपना माल तो ग्राहक को अधिक नही दे रहा हूँ।

महात्माओ का हृदय दया और प्रेम का सागर है। वे इस जगत् मे अल्प-बुद्धि, मूढ, असमर्थ, मन के कच्चे, सर्व-साधारण जन के लिए ही आते हैं। शास्त्रियो और पण्डितो के लिए, जिनमें आढ्यता भरी होती है, नहीं आते। जिन्होंने

इस आन्दोलन के सम्बन्ध से थोड़ा भी साहित्य पढा होगा, उन्हें यह ज्ञात होगा कि अणुव्रतो की सूची में इस प्रकार के छोटे-छोटे व्रत बालक-बालिकाओ के लिए, स्त्रियों के लिए, विद्यार्थियों आदि-आदि के लिए हैं, जो व्रत सरलता से प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार ले सकता है।

जिस प्रकार शिशु को प्रारम्भ मे ककहरा और पहाडे ही बताये जाते हैं, और वह उन्हे ही सीखकर आगे पण्डित बन जाता है, उसी प्रकार आचार्यश्री तुलसी का जगत् आभारी है और रहेगा, जिन्होंने इस मानव-जाति को, अणुव्रत-आन्दोलन चलाकर उन्नति के पथ पर खड़ा कर दिया है। यदि मानव जाति इस पथ पर चले, तो मेरा विश्वास है कि इस समय वह जैसी भ्रमित और दु.खी है, तब सुख प्राप्त कर सकती है।

इसी को मैं इस आन्दोलन का रचनात्मक रूप समझता हूँ। मन की विशेषता है कि जब वह भूल को सुधार लेता है, तो वह दूसरी भूलों को भी सुधारने का प्रयत्न करता है। बहुत-सी भूलें इकट्ठी नही सुधारी जा सकती। जगत् के साधु व सन्त, पहले अल्पज्ञ जीव को उँगली पकड कर आगे चलाते है, फिर वे जीव स्वयं दौडने लगते हैं।

आचार्यश्री तुलसी के हम आभारी हैं कि इस जनोपयोगी आन्दोलन को उन्होंने जन्म दिया और वे इसके लिए सतत अथक परिश्रम कर रहे हैं।
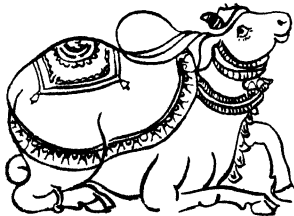
अणुव्रत से : सच्चे निःश्रेयस् की ओर

नरेन्द्र विद्यावाचस्पति
सहसम्पादक, साप्ताहिक हिन्दुस्तान

हम इस समय प्रगति के पथ पर अग्रसर हैं या विनाश के पथ पर ?—यह प्रश्न सामान्यतया सर्वत्र पूछा जाता है। यहाँ 'हम' शब्द से अभिप्राय हम तथाकथित मानवो से है। प्रागैतिहासिक काल से आज तक मानवीय विकास के दो पहलू रहे हैं—एक ओर वह पशु से मानव बनने और देवत्व की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहा है तो दूसरी ओर अभी भी उसमे इस तरह के चिह्न विद्यमान हैं जिनसे मालूम पडता है कि अभी भी उसमे पशुता के सभी लक्षण है। इन्हे देखकर आशका होती है कि वह किसी दिन मनुष्य से प्रागैतिहासिक काल का पशु या उससे विकृत होकर कही दानव का ही रूप धारण न कर ले।

सृष्टि के आदि से ही एक देवासुर-संग्राम प्रचलित है। एक ओर मानव की वे प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हे दैवी या दिव्य कहा जाता है, दूसरी ओर उसकी आसुरी वृत्तियाँ हैं। ससार मे एक ओर बडे-बडे विजेता, आक्रमणकारी सम्राट् और निरकुश स्वेच्छाचारी हुए जिन्होने सुख या आनन्द-वैभव, की प्राप्ति के लिए 'स्व' के लिए इस ससार को जीतने का प्रयत्न किया, परन्तु वे कभी सच्ची शान्ति प्राप्त नही कर सके और न अपने पार्थिव साम्राज्य को अनन्त काल तक भोग सके। दूसरी ओर सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक ऐसे भी मानव हुए जिन्होने अन्तर्-जगत् मे रमने का प्रयत्न किया। उन्होने भली प्रकार समझ लिया था कि **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**—अपनी आत्मा के लिए जो प्रतिकूल है, वह दूसरो के लिए भी नही करना चाहिए। हम समस्त विश्व को मित्र की आँखो से देखें—**मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'**। इस प्रकार का अतिमानव प्रण करता रहा है—**अहमनृतात् सत्यमुपैमि**, अर्थात् मैं अनृत से सत्य की ओर बढूँगा।—**'सत्यमेव जयते नानृतम्'**, अर्थात् सत्य ही विजयी होगा, असत्य नही। इस प्रकार मानव सत्य का अणु लेकर विराट् सत्य की खोज मे आगे बढता रहा है।

मुक्ति का मार्ग

सच्चे सत्य का आग्रही व्यक्ति इसलिए अपनी आत्मा द्वारा 'आत्मा' को देखने के लिए प्रयत्नशील रहा है। वह ससार की कोटि-कोटि सम्पदाओ, भोग, सत्ता, काम, लोभ, मोह को ठुकराकर उस निःश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त रहा है, जिसे जान कर और प्राप्त कर अन्य कुछ प्राप्त करने के लिए अवशिष्ट नही रह जाता। यह निःश्रेयस् या मोक्ष का मार्ग शारीरिक तप, कष्ट या गिरिगुहाओ, पर्वत-उपत्यकाओ मे समाधि से ही केवल नही मिल सकता, इसके लिए मुमुक्षु यदि कर्मयोगी बने तभी उसे भी लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। उसे तो **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा न करते हुए अपने कर्तव्य-कर्मों मे सलग्न रहना चाहिए।

सच्चा अणुव्रती ही कर्मयोगी

जीवन मे सच्चे कर्मयोगी बनने के लिए व्यक्ति को सच्चा अणुव्रती बनना होगा। उसे सही अर्थों मे बाहरी लक्ष्यो मे न उलझते हुए अन्तर्मुखी बनना होगा। सच्चे अन्तर्मुखी बनने के लिए व्यक्ति को अपने जीवन की छोटी-से-छोटी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। उसे अपने दैनिक जीवन को शुद्ध, पवित्र और निष्कलंक बनाना होगा। उसे अपने

जीवन में सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के पालन का व्रत लेना होगा। जीवन के इन पचशीलों को अपनाकर ही व्यक्ति सच्चा महाव्रती हो सकता है।

योग-दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है :

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
जातिदेश कालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौम महाव्रतम्॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि पाँच यम या तथ्य हैं। ये देश-काल, जाति आदि की किसी मर्यादा में नही बाँधे जा सकते। जैन परम्परा में इन्हे पञ्च महाव्रत व यथासाध्य की स्थिति में अणुव्रत कहा है और बौद्ध परम्परा में इन्हे 'पचशील' कहा गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के पाच यम, जैन-परम्परा के महाव्रत या अणुव्रत और बौद्ध-परम्परा के पचशील वास्तव में मानवीय नि श्रेयस् के पाँच सोपान है। इन पच महाव्रतों को यदि हम जीवन मे अपनाने का निश्चय करे और इन्हे सच्चाई से अपनाये तो सच्चे पंचशीलव्रती और अणुव्रती हो जायेंगे।

प्रसन्नता का विषय है कि देश में पिछले कुछ वर्षों में बढते हुए भ्रष्टाचार, अनैतिकता, घूँसखोरी आदि का अन्त करने के लिए नैतिक पुनरुत्थान और चरित्र-निर्माण के कार्यों पर बल दिया जा रहा है। **आचाराल्लभते आयुः** —आचार या सदाचार मे आयु की प्राप्ति होती है, सदाचार का जीवन व्यतीत करने वाला ही सच्चा साधु कहलाता है। सदाचार और सद्विचारो से स्वास्थ्य और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है और सच्चे नि श्रेयस की ओर व्यक्ति का उत्थान होता है। पिछले दस-बारह वर्षों में देश मे अणुव्रत एव चरित्र-निर्माण के जो आन्दोलन प्रचलित हैं, उनके मूल मे वस्तुत मनुष्य को दिव्य गुणो मे विभूषित सच्चा मानव बनाने का ही लक्ष्य है। वह अपने विचारो और कार्यों मे पशु या दानव न बने, वह मनुष्य और देव बन सके, इसी के लिए ये आन्दोलन प्रचलित हैं।

अमरता का मार्ग

अन्धकार मे काली रात मे एक दीपक की जोत ही सर्वत्र प्रकाश छा देती है। ठीक इसी प्रकार इस समय विश्व मे जो आसुरी वातावरण व्याप्त है, उसे नष्ट करने के लिए पच महाव्रतो, पचशील एव पच अणुव्रतो से दीक्षित सच्चे कर्मयोगियो के सकल्प, साधना और निष्ठा से पूर्ण जीवन की जोत जगमगानी चाहिए, जो विश्व मे व्याप्त अनैतिकता को दूर कर दे।

जब सूर्य अस्त हो जाता है और रात अँधेरी होती है, तब नन्हा दीया ही प्रकाश का सन्देश देता है। आज के अनैतिकता, भ्रष्टाचार एव स्वार्थों से पूर्ण ससार मे सच्चा चरित्रवान् व्यक्ति ही

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृत गमय

असत् से सत् की ओर, अन्धकार से ज्योति की ओर और मरण से अमरता की ओर जनता को प्रवृत्त कर सकता है।

अणु-युग में अणुव्रत

प्रो० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव

अणु-युग मे अणुव्रत का नारा सचमुच चौंकाने वाला है। हिसा, द्वेष, घृणा और रक्तपात के कर्दम मे अणुव्रत एक पङ्कज ही है। विश्व को अणुव्रत की परिकल्पना भले ही आश्चर्यजनक प्रतीत हो, पर भारत-भूमि मे ही उसका उदय हुआ, यह विशेष चौंकाने वाला सत्य नही है। जब सम्पूर्ण ससार अणु-बमों के निर्माण के लिए आकुल-व्याकुल हो, तब भारत अणुव्रत ले रहा है, यह उसकी भूयसी, महिमामयी परम्परा के अनुरूप ही है। हमारी सस्कृति ने सदा ही भौतिक के ऊपर आधिभौतिक की विजय मे आस्था रखी है। अणु-बम विनाश का अस्त्र है, अणुव्रत जीवन का मगलमय दर्शन। अणु-बम विष है, अणुव्रत अमृत। अणु-बम प्रलय का वाहक है, अणुव्रत नव-जीवन का गायक।

अनुकरण या नेतृत्व ?

भारतवर्ष अणु-बम नही बना[1] सका है, यह हमारी कमजोरी है, ऐसा कुछ लोगो का विचार है, पर मैं इसे इस देश की सबलता मानता हूँ। यदि हम अणु-बम के निर्माण मे सफल हो गए, तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि पश्चिम का अधानुकरण कर सकते हैं। और यदि अणुव्रत का आन्दोलन सफल हो गया तो यह प्रमाणित करेगा कि पश्चिम हमारा अनुकरण कर सकता है और हम उसका नेतृत्व कर सकते हैं। मूल प्रश्न है कि हमारी इच्छा क्या है—अनुकरण या नेतृत्व? एक जीवित-जागृत सप्राण और गतिशाल राष्ट्र की श्रेष्ठता किससे प्रतिपादित होगी—अनुकरण मे या नेतृत्व मे? निश्चय ही, वैचारिक क्रान्ति द्वारा हम विश्व का नेतृत्व कर सकते है। सहस्रो वर्षों से हमारे ऋषियो और ऋषिकल्प साधको और चिन्तको ने यह कार्य किया है, और आज आचार्यश्री तुलसी भी यही कार्य कर रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी मानवता की उन विभूतियो मे से हैं, जो संक्रान्ति और दिग्भ्रम की वेला मे दिङ्निर्देश किया करते हैं। अणव्रत-आन्दोलन भारतीय साधना और सस्कृति के मूल तत्त्वो का युगानुरूप समुच्चय है। युग बदलता है, पर सस्कृति और जीवन के कुछ मूल्य व मूलभूत तत्त्व होते हैं, जो सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं, जो अन्धकाराच्छन्न और तमसाविष्ट मानव-मानस को प्रकाशित और उद्भासित करने मे समर्थ होते हैं। अणुव्रत उन्ही तत्त्वो और मूल्यो का एक व्यवस्थित सङ्कलन है। आचार्यप्रवर की महानता इसमे है कि उन्होने प्राचीनता पर लिपटी गर्द को झाड़कर नवीन बनाकर समुपस्थित किया है, मात्र पूज्य को ग्राह्य बनाया है।

आज जब हम हर ऐसी चीज को, जो प्रत्यक्ष नही है, सामान्य लोकपंथी जीवन से जिसका समीप का सम्बन्ध नही है, उसे त्याज्य समझते हैं, और हर अराजनैतिक आन्दोलन को 'साम्प्रदायिक' या 'धार्मिक' मान कर घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, तब अणुव्रत को भी सन्देह की दृष्टि से देखना स्वाभाविक है। पर अणुव्रत-आन्दोलन किसी भी अर्थ मे 'साम्प्रदायिक' नही है। अणुव्रत का विश्वास है कि राष्ट्र की उन्नति केवल राजनैतिक प्रगति से ही सम्भाव्य नही है, उसके लिए नैतिक अभ्युत्थान भी आवश्यक है। इस देश मे 'राजनीति' (Politics) नही है जिसे एक पश्चिमी विचारक ने 'The last refuge of the scoundrels' कहा, बल्कि वह 'नीति' पर ही आश्रित है, 'नीति' का ही एक विशिष्ट रूप

---

१ अभी हमारे प्रधानमंत्री ने घोषणा की है कि अगले दो वर्षों में भारत अणु-बम के निर्माण में सक्षम हो जायेगा, पर वह बनायेगा नहीं।

है। नीति-तत्त्व का प्रभाव ही प्राणियों के अन्य वर्गों से मनुष्य को पृथक् करता है। उसका अभाव तो हमें 'बृहत्तर साम्य' की ओर पहुँचा देगा। यदि जीवन से नैतिक तत्त्वों का ह्रास और लोप हो गया, तो हमारी राजनीति भी टूट कर बिखर जाएगी। अणुव्रत हमें जीवन और समाज से अलग हो जाने का आदेश नहीं देता, बल्कि उसके अंग-रूप में अपने को रखते हुए भी हमें उदात्त और महत् की ओर अभिमुख होने के लिए प्रेरित करता है।

अणु : अविभाज्य इकाई

अणु-युग के वैज्ञानिक कहते हैं कि अणु की पहले वाली परिभाषा—'अणु अविभाज्य है'—अशुद्ध है। अणु तोड़ा जा सकता है उसे खण्डित करके शक्ति प्राप्त की जा सकती है। अणुव्रत कहता है कि व्यक्ति—अणु समाज की अविभाज्य इकाई है, उसे खण्डित करने पर हमारी वे सारी आस्थाएं और मान्यताएं भी खण्डित हो जायेंगी, जिनके द्वारा नव-निर्माण सम्भव है। शक्ति की उपलब्धि अणुओं के संयोजन से ही हो सकती है, उनके विघटन और विस्फोट से नहीं। प्रत्येक अणु जैसे 'एलेक्ट्रोन' और 'प्रोटोन' से परिपूर्ण है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर भी ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत् वर्तमान है। अणुव्रत 'धनात्मक' विद्युत् की अभिवृद्धि चाहता है। वैज्ञानिक और वैचारिक अणु का यह मूल प्रभेद ही अणुव्रत-आन्दोलन की अनिवार्यता और सार्थकता का प्रमाण है।

अणुव्रत जीवन का एक पूर्ण और निर्दोष दर्शन है। अणुव्रत का पालन चौबीस घण्टे में से कुछ मिनट पूजा-पाठ के लिए निकाल कर नहीं किया जा सकता, अपितु उसे अपनी प्रत्येक साँस में बसाना होगा। वह दर्शन हमारी प्रत्येक क्रिया का नियन्ता होगा। उसकी सुरभि का प्रभाव हमारे घ्राण पर ही नहीं, मन-प्राण पर भी पड़ना आवश्यक है। अणुव्रत किसी सङ्कीर्णता या लघुता को प्रश्रय नहीं देता, वह हमारी उदारता और विशालता का ही बृहत् और विशद रूप है। वह एक विशाल स्निग्धच्छाया तरु है, जिसकी ठंडी छाँह में हमारी उष्णता, लघुता, और क्षुद्रता शीतल हो सकती है। अणुव्रत मानव-मात्र के लिए एक सग्रथन-सूत्र है। वह हमें जाति, सम्प्रदाय या राष्ट्र के विभेदों में बँधे रह कर भी उनसे ऊपर उठने का पाठ पढ़ाता है। वह ऐसे मनुष्य का आत्मिक ऊर्ध्व-सञ्चरण है, जिसके पैर यथार्थ की धरती पर है। वह कल्पना और आदर्शों द्वारा निर्मित शीश-महल नहीं, अत्यन्त दृढ़ और कठोर भावना-स्फटिकों का उत्तुंग-शृंग है। अणुव्रत सन्यास का मार्ग नहीं, लौकिक जीवन का अलौकिक की दिशा में आरोहण का प्रयास है।

स्वतन्त्रता के पन्द्रह वर्षों के पश्चात् आज हमारी स्थिति क्या है? एक ओर राउरकेला और भिलाई की भीमकाय मशीनें लोहा उगलती हैं, दूसरी ओर खड़गपुर का बाँध टूट कर अर्द्धरात्रि में सैंकड़ों गाँवों के सोए प्राणियों को बहा-कर ले जाता है। एक ओर सिन्दरी का कारखाना लाखों टन अमोनियम सल्फेट पैदा करता है, दूसरी ओर विदेशों से गेहूँ और चावल का आयात बढ़ाया जाता है। भावात्मक एकता की बात की जा रही है और जातियों के आधार पर चुनाव के टिकट बाँटे जा रहे हैं। पुल बनते जा रहे हैं और आदमी टूटते जा रहे हैं। कथनी और करनी के उसी अन्तर के कारण ही हमारी सारी प्रगति सतही और बनावटी बन कर रह गई है। हम मशीन बना रहे हैं, सड़कें बना रहे हैं, पर भला आदमी नहीं बना पा रहे हैं। भला आदमी किसी कारखाने या मशीन में नहीं बनेगा, वह अणुव्रत जैसे आन्दोलनों से ही बन सकता है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

अणुव्रत एक साथ ही सामाजिक, नैतिक और मानसिक क्रान्ति का सन्देश देता है। पर यह क्रान्ति उस उत्पात और रक्तपात का पर्याय नहीं है, जिसे हम अब तक क्रान्ति समझते आए हैं। अणुव्रत उन्हीं अर्थों में एक क्रान्ति है, जिन अर्थों में भूदान-आन्दोलन। अणुव्रत या भूदान से किसी रोग का निदान, किसी समस्या का समाधान हुआ या नहीं, यह विवादास्पद है, किन्तु इन दोनों आन्दोलनों ने हमारे मानस को झकझोरा है, हमें नए ढंग से सोचने के लिए अभिप्रेरित किया है, यह क्या इनकी थोड़ी सफलता है?

अणु-युग के प्राणी अणुव्रत को अधिकाधिक अपनाएं तो सचमुच हमारी बहुतेरी आशंकाएं गल सकती हैं, हम निर्विघ्न और सुखमय जीवन की ओर अग्रसर हो सकते हैं। अणुव्रत तो जीवन के महाव्रत का एक अणु ही तो है।

★ ★ ★

शिक्षा की आत्मा

श्री स्वामी कृष्णानन्द,
दिव्य जीवन संघ, ऋषिकेश

दैवी शक्तियों की अभिव्यक्ति

शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की आन्तरिक दैवी शक्तियो की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को विदेशी शासको ने इस देश मे प्रारम्भ किया था। उन्होने यह प्रणाली इसलिए जारी की थी कि भोले-भाले भारतीय अपने शासको की सेवा करने की योग्यता प्राप्त कर सकें। इस प्रकार यह शिक्षा-प्रणाली शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य का विपर्यास बन गई। शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य के भीतर छिपी हुई श्रेष्ठतम, उदात्त और महान् शक्तियो का विकास करना है। अब वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोषो को जान लेने और उसके दृष्टिकोण मे आवश्यक परिवर्तन करने का समय आ गया है। देश के प्रशासको का वास्तविक और सच्चा उद्देश्य आने वाली पीढी को ऐसी शिक्षा देना होना चाहिए, जिससे वह धीरे-धीरे हमारी अत्यन्त मूल्यवान् संस्कृति के गौरव की व्यवस्थित प्रतीक बन सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए, जो नवयुवको के मस्तिष्क मे केवल तथ्य और आंकडे ही भरने का काम न करे, प्रत्युत तरुण भारत के हृदय मे हमारी प्राचीन परम्परा के सुप्त आदर्शवाद को जागृत करने का सजीव साधन बन जाए। यह आदर्शवाद उसके हृदय मे आज भी सुप्त और उपेक्षित दशा मे पडा हुआ है।

सत्य की खोज

सही शिक्षा सत्य की खोज करने की प्रक्रिया है। यह सत्य धीरे-धीरे उद्घाटित होता है। शिक्षा मनुष्य को भौतिक स्तर पर शिक्षा देने मे लगा कर सामान्यत जीवन के अन्तिम लक्ष्य को सिद्ध करने तक का शिक्षण देती है। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य उस देवत्व का ज्ञान प्राप्त करना है, जो सब प्राणियो मे आलोकित हो रहा है। इस प्रक्रिया मे अज्ञान रूपी कूडा-कर्कट को आत्मानुशासन और आत्म-शुद्धि की अग्नि मे जलाना होता है। बाधाओ को भीतर से दूर हटाना होता है। सुप्त विवेक को जागृत करने के मार्ग की रुकावटो को दूर करने का नाम ही शिक्षा है। शिक्षा का अर्थ उन वृत्तियो पर अंकुश स्थापित करना है, जो शुद्ध ज्ञान और जागृति के रास्ते मे रुकावट पैदा करती है। शिक्षा केवल बौद्धिक अनुशासन ही नही है, नैतिक सिद्धि उसका अन्तरग है। सत्याचरण और नैतिक गुणो का वास्तविक शिक्षा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह शिक्षा व्यर्थ है जिसमे आध्यात्मिक विकास अथवा देवत्व प्राप्ति की भावना का समावेश नही होता। भले ही शिक्षा की प्रारम्भिक श्रेणियो मे सर्वोच्च लक्ष्य की भावना स्पष्ट न हो, किन्तु किसी भी श्रेणी मे उसकी पूर्णतया उपेक्षा नही की जा सकती। जिस प्रकार यदि प्रारम्भ मे कोई अक न हो तो अनेक शून्यो का कोई मूल्य नही होता, उसी प्रकार इस जगत् मे किसी भी सफलता का तब तक कोई वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि उसमे कम-से-कम बीज रूप मे ही सही आध्यात्मिक भावना का समावेश न हो।

विद्यालयो और महाविद्यालयो को इसी प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। अवश्य ही इसका यह अर्थ नही है कि सभी विद्यार्थियो को एकदम उच्चतर जीवन का पूरा महत्त्व समझाया जा सकता है। किन्तु यह आवश्यक है कि छोटे बालको का भी इस प्रकार लालन-पालन किया जाये कि वे पूर्ण सदाचारी और नीतिवान्, सज्जन और पाप-भीरु बन सकें।

प्रत्येक को प्राचीन संस्कृति का ज्ञान कराया जाए। उस संस्कृति और संस्कारों की शिक्षा दी जाए, जो दैवी पुरुषों की प्रकृति में प्रकट होते है। शिक्षा की कसौटी आत्म-ज्योति को प्रकाशित करना है।

अन्तर्मुखता

सच्ची शिक्षा की आत्मा प्राचीन गुरुकुलवास में मिलेगी, जहाँ शिष्य पूर्ण मनुष्य की देख-रेख मे शिक्षा प्राप्त करता था। विद्यार्थी की बौद्धिक योग्यता कैसी भी हो, शिक्षण कला इस बात मे है कि ज्ञान की शक्ति को अन्तर की ओर मोड दिया जाये। अन्तर्मुख होने का अनिवार्य अर्थ कोई रहस्यपूर्ण साधना नहीं होता। सामान्यत: उसका अर्थ होता है—अन्तर्दृष्टि से विचार करना। सब वस्तुओं में अन्ततः एकत्व है, इस कल्पना के अनुसार जीवन को नियन्त्रित करना। वह वास्तविक अन्तरंग पुरुष की खोज है। उन कार्य क्षमताओं और शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना है, जो एक वैज्ञानिक की तटस्थ खोज के लिए भी आवश्यक होती हैं। भौतिक विज्ञान की विधि अन्त मे विफल हो सकती है, यदि वह ज्ञाता की गहराई को नापे बिना ही कुछ जानने का प्रयत्न करती है। चेतन पुरुष के अनुभवों और शक्तियो के फलितार्थों को जाने बिना कुछ भी जानने का प्रयास करना व्यर्थ होगा। आधुनिक शिक्षा प्रणाली सन्तोषकारक नही हो सकती, कारण शिक्षा का जो सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व अन्तर सस्कार है, उस पर उसमें ध्यान नहीं दिया जाता। आगे हम क्या देख रहे हैं ? नवयुवक कई वर्षों मे अपना अध्ययन-क्रम समाप्त करते हैं और बडी अवस्था मे कालेजो से निकलते हैं, फिर भी उन्हे जीवन के मौलिक सिद्धान्तो अथवा उनके आशय का ज्ञान नही होता। किसी विद्यार्थी से, यहाँ तक कि तथाकथित पढे-लिखे नव-युवक से पूछ देखिए, वह जीवन के मुख्य तथ्यो के प्रति अपना अज्ञान प्रकट करेगा। केवल यही नही, विद्यार्थियो मे वास्तविक सज्जनता और सद्‌गुणो का भी अभाव दिखाई देता है। उनमे नैतिक बल, आन्तरिक दृढ़ता का अभाव है, जो सुनियमित और अनुशासित जीवन मे उत्पन्न होती है। प्राचीनकाल मे शिष्यो को अपने गुरु के कठोर अनुशासन मे रखा जाता था। उनको ऐसे नियमो का पालन करना होता था, जिनसे इन्द्रियो की कामनाओ पर विजय प्राप्त की जा सके और उनकी मानसिक और बौद्धिक शक्ति का विकास हो सके। प्राचीन ब्रह्मचारियो मे ओजस शक्ति होती थी। वे अग्नि मानव होते थे और आत्म-शासन के फलस्वरूप उनके मुख पर ब्रह्मचर्य का तेज चमकता था। शिष्य का गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण उन स्वाभाविक वृत्तियो पर अकुश लगाता था, जो शिष्य की उच्च आकाक्षाओं के रास्ते मे रोडा बनती है। गुरु के आधीन जीवन का उद्देश्य हा यह होना है कि स्वाभाविक प्रकृति से ऊपर उठा जाये और ज्ञानमय आध्यात्मिक प्रकृति का जो बृहत्तर जीवन है, उसके आन्तरिक गुप्त साधनो के प्रकाश मे जीवन बिताया जाये।

विद्यार्थी का कर्तव्य

धर्म निरपेक्ष शिक्षा सच्चे मानव का निर्माण नही कर सकती। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुचिता, बौद्धिक प्रखरता, नैतिक बल और जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ-साथ लक्ष्य की दिशा मे सही प्रयास मे पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। विद्यार्थियो को पूर्ण ब्रह्मचारी होना चाहिए—शारीरिक और मानसिक दोनो दृष्टियो मे और सत्य तथा अहिंसा का पालन करना चाहिए। वस्तुत: यह अच्छी बात नही है कि आज के विद्यार्थी अपने शिक्षा क्रम से बाहर की प्रवृत्तियों मे, राजनीति और सामाजिक आन्दोलनों में आवश्यकता से अधिक भाग लेते है। यद्यपि ये सभी प्रवृत्तियाँ मूल्यवान् हैं, किन्तु वे वास्तविक शिक्षा की भावना और उसके मूल आशय को ही कुण्ठित करती हैं। विद्यार्थी जब तक विद्यार्थी रहता है, उसे ऐसे कामों में भाग नहीं लेना चाहिए जिनसे उसका ध्यान बट जाये और उसका विद्यार्थी जीवन बिगड़ जाए। इसके अतिरिक्त शिक्षा का ध्येय केवल भौतिक सुख प्राप्त करना नहीं है, प्रत्युत आन्तरिक विकास और सस्कारिता प्राप्त करना है, जिसे हमारे आज के विद्यार्थियों ने भुला दिया प्रतीत होता है। विद्यार्थी को विनय, आत्म-सयम, आज्ञा-पालन, आत्म-समर्पण और प्रखर बुद्धि का धनी होना चाहिए। उसका आचरण आदर्श और चरित्र निर्मल होना चाहिए। विद्यार्थी न केवल अपने देश का प्रत्युत समस्त विश्व का भावी नागरिक होता है। वह विश्व नागरिक तभी बन सकेगा, जब वह नि:स्वार्थ और आत्म-त्यागी, नीतिवान् और पवित्र होगा।

विद्यालय और आध्यात्मिक शिक्षा

यह समझना ठीक नही है कि आध्यात्मिक भावना का विद्यालयो और महाविद्यालयों की शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नही है। यदि शिक्षा अन्तरात्मा के आदेशो के प्रति सजग नही है तो वह एक कोरा छिलका ही होगी। यह आवश्यक है कि प्रतिदिन नही तो कम-से-कम सप्ताह मे एक बार नैतिकता और आध्यात्मिकता पर एक पाठ अवश्य पढाया जाये। आध्यात्मिक भावना से शून्य लम्बे-चौडे पाठ्यक्रम पढाना, बालू रेत पर महल खडे करने सदृश होगा। परम आत्मा सब मे विद्यमान है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को उसके अस्तित्व का ज्ञान होना चाहिए और यह भी मालूम होना चाहिए कि वह क्या चाहता है। शिक्षको, प्राध्यापको, अभिभावको और विद्यार्थियो—सभी को सांस्कृतिक नव-जागरण, मानव उत्थान और विश्व-बन्धुत्व की यह पुकार सुननी चाहिए और सच्ची शिक्षा के ध्येय को अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

दर्शन और विज्ञान में अहिंसा की प्रतिष्ठा

पं० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ
प्रिंसिपल—जैन संस्कृत कालेज, जयपुर

दर्शन एक चिन्तनात्मक शास्त्र है। वह सृष्टि-स्थिति एवं प्रलय का विचार करता है। ईश्वर और अनीश्वर, आत्मा एवं अनात्मा तथा परलोक आदि विषयों पर अपना मत बतलाता है। अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सम्पूर्ण विश्व इसका विषय है।

दर्शन का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय दर्शनों का अध्ययन हमें यही बतलाता है। सचाई यह है कि दर्शन धर्म के लिए ही पैदा होता है। दर्शन का अब तक प्राय यही काम रहा है कि वह अपने स्वीकृत धर्म की मान्यताओं को सिद्ध करे। यही कारण है कि कोई भी दर्शन बिना खींचातानी के नहीं होता। इसमें अपवाद हो सकते हैं, पर यह सही है कि अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अनेक बार उसमें आग्रह आ जाता है। यद्यपि उसका आधार ऊहापोह एवं तर्क-वितर्क है। उसके सम्पूर्ण शरीर का निर्माण ही युक्तियों से होता है। उसका कोई अंग-प्रत्यंग ऐसा नहीं होता जो तर्क निर्मित न हो।

दर्शन का एक विभाग है—तर्क पद्धति। इसमें हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान एवं वितण्डा आदि का आश्रय लिया जाता है। ये प्रकरण दर्शन की उक्त कमजोरी की ओर स्पष्ट इंगित करते हैं। अपनी मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए इन प्रकरणों को आधार बना कर उसे खण्डन-मण्डन का आश्रय लेना पड़ता है। अन्यथा उसके अस्तित्व का कोई उपयोग नहीं है। षड् दर्शन, वैदिक दर्शन, अवैदिक दर्शन, आस्तिक दर्शन, नास्तिक दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि उसके नाम ही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उसका क्षेत्र अपना-अपना धर्म है, चाहे वह (दर्शन) कितना ही उदार क्यों न हो।

दर्शन मस्तिष्क की उपज है और धर्म हृदय की, यही कारण है कि धर्म कोमल होता है और दर्शन कठोर। किन्तु दर्शन श्रद्धा को उतना महत्त्व नहीं देता। वह यद्यपि श्रद्धा की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है। विश्वास और तर्क का अन्तर ही धर्म और दर्शन का अन्तर है।

दुनिया में सबसे पहले धर्म, फिर दर्शन और इसके बाद विज्ञान आया होगा। विज्ञान भी यद्यपि विचारात्मक है, फिर भी उसकी मुख्यता एवं विशेषता उसके प्रयोगात्मक होने में है। वह प्राय प्रयोगात्मक ही होता है। उसकी अपनी अनेक विशेषताएं हैं। वह दर्शन की तरह अपरिवर्तनीय भी नहीं होता। वैज्ञानिको की मान्यताएं परीक्षणों के आधार पर बदलती रहती हैं। वह दर्शन के समान अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक का विचार करता है, किन्तु उसका विषय जड़ (भौतिक) पदार्थ है। उसके सामने किसी धर्म तत्त्व को सिद्ध करने की समस्या नहीं होती। वह स्वतन्त्र है—दर्शन की तरह परतन्त्र नहीं। दर्शन की सीमा जहाँ खत्म होती है, वहीं से विज्ञान का प्रारम्भ होता है। इसका अर्थ है—दर्शन चिन्तनात्मक है और विज्ञान प्रयोगात्मक।

अहिंसा को आधार बना कर दर्शन ने जो जगत की सेवा की है, वह चिर स्मरणीय है; पर विज्ञान ने अब तक जगत को जो अपरिसीम जीवन-सुविधाएं दी हैं, उनका भी महत्त्व सर्वोपरि है। हिंसा के लिए किये जाने वाले आविष्कारों के अतिरिक्त विज्ञान ने जो कुछ किया है, वह इतना उपादेय, प्रशस्त और आदरणीय है कि उसमें कभी दो मत नहीं हो सकते; किन्तु कुछ दशकों से विज्ञान की समालोचना होने लगी है और अणुबम एवं हाइड्रोजन आदि बमों के निर्माण और उनके प्रयोगों के बाद तो वह गम्भीर एवं कटु समालोचनाओं का शिकार बन गया है। इनके द्वारा जो असीम हिंसा

हुई है एव और भी होने की सम्भावना है, उसका आभास मात्र ही मनुष्य को कपा देने के लिए पर्याप्त है। इस दृष्टि से बहुत से विचारकों का यह मत हो गया है कि विज्ञान की प्रगति का अब अवरोध होना चाहिए।

दर्शन कभी इतने अनादृत भाव से आज तक नही देखा गया, जितना इस समय विज्ञान देखा जा रहा है। इसका कारण यह है कि मानव-समाज को दर्शन के कारण ऐसे विनाश कभी नही देखने पड़े, जैसे विज्ञान के कारण हिरोशिमा और नागासाकी ने देखे है।

यद्यपि दर्शन और विज्ञान सहोदर हे। चिन्तन की ऊहापोहात्मक प्रणाली दोनो का आधार है, अत इन दोनो का स्वरूप भी भिन्न नही है। इन दोनो का प्रयोजन भी एक ही है—अन्वेषण। किन्तु दर्शन का सम्पर्क हिसा मे उतना नही होता, जितना विज्ञान का आज हो रहा है। दर्शन एक शुद्ध चिन्तन है, इसलिए उसका रूप अहिसक है। किन्तु विज्ञान का हिसक रूप आज इतना भीषण एव बीभत्स हो गया है कि इससे लोगो को घृणा होने लगी है।

अगर दर्शन की तरह विज्ञान मे भी अहिसा की प्रतिष्ठा होती तो उसके प्रति लोगो की इस प्रकार अनास्था न होती। आज ससार के चोटी के राष्ट्र विज्ञान की ओर जगत कल्याण की पवित्र भावना से प्रेरित होकर नही, अपितु प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रो को दबाने के हेतु प्रलयकारी अस्त्रो का निर्माण करने के लिए अग्रसर होना चाहते है। यद्यपि विज्ञान स्वत बुरा नही है, क्योकि पदार्थ की शक्ति का परिज्ञान एव उसका परीक्षण कभी बुरा नही होता, तो भी उसका प्रयोग हिसा के लिए किये जाने की अधिक सम्भावना है, इसलिए विज्ञान के शस्त्रास्त्रो से अभिभूत एव त्रस्त मानव अब इसको जगत कल्याणकारी नही समझता। जब तक विज्ञान को अहिसा का अभय नही मिले, तब तक मानव समाज के लिए उसकी स्थिति भयावह ही बनी रहेगी। आज तो विज्ञान के बढ़ते हुए चरण जगत के लिए अभिशाप ही बन रहे है। विज्ञान बढ रहा है, इसका अर्थ आज यह लगाया जा रहा है कि दुनिया विनाश की ओर जा रही है। अगर विज्ञान ऐसा बम तैयार कर सकता है जो सारे जगत के प्रलय के लिए समर्थ हो तो इसका यही अर्थ है कि महाप्रलय का सामान जमा हो रहा है और जिस विज्ञान ने दुनिया को अब तक अगणित सुविधाए दी है, वही विज्ञान अब क्षण-भर मे मानव एव इसके साथी पशु-पक्षी तथा कीट-पतग, भृ ग और वृक्ष लताओ तक का विनाश कर डालेगा। इसमे कोई शक नही है कि विज्ञान ने जगत को अधिकाधिक समीप लाने के लिए यातायात एव सवाद-वहन के आश्चर्यकारी साधन आविष्कृत किये है जिससे कि सारा जगत् एक परिवार बन जाये, पर जब से उसका मुँह विनाश की ओर मुड गया है, तब से यह सम्भावना हो रही है कि उसका सारा किया कराया चौपट हो जायेगा। आज मनुष्य बडा सत्रस्त है। उसके मन का भय कभी दूर नही होता। प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रो की प्रजा सदा भयभीत ही सोती है और भयभीत ही उठती है। जिन राष्ट्रो के पास जीवन की सारी सुविधाए हैं, उनकी यह स्थिति है आज। यह सब विज्ञान की देन है। यह एक ऐसी समस्या है जिसका हल ढूंढना है। इस हल मे ही जगत का कल्याण है। पर इस समस्या का समाधान दूर नही है और इसका रूप है—अहिसा। अहिसा ने ही अब तक दर्शन को प्रतिष्ठा दी है। विज्ञान को भी यदि यह प्रतिष्ठा एव आदर-सत्कार दिलाना है तो वैज्ञानिको का कर्तव्य है कि वे एक मत होकर अहिसा को महत्त्व दे और ऐसा कोई शस्त्रास्त्र अविष्कृत न करे, जो किसी भी प्रकार की हिसा को प्रेरणा देता हो एव जिसमे जन-कल्याण की भावना न हो।

इस समय जगत-कल्याण न विज्ञान मे है, न दर्शन मे और न हिसा मे। उसका कल्याण तो केवल भगवती अहिसा में ही है। कभी हिसा अहिसा पर विजय पाकर साधारण जन-मानस मे आदरणीय बन जाती है। कभी अहिसा हिसा पर विजयी होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। पुराणों एव इतिहासों मे सब के उदाहरण मौजूद हैं, किन्तु इस वैज्ञानिक युग का भला इसी में है कि वह अपने प्रत्येक प्रयोग में अहिसा को सामने रखे और मनुष्य के हाथ मे कोई ऐसी चीज कभी न दे, जिसके भीतर प्रलय अथवा सहार छिपा हो। प्राय मनुष्य के भीतर पशुत्व छिपा रहता है और वह किसी भी समय निमित्त पाकर उस पशुत्व का प्रदर्शन कर सकता है। उसे रोकने का एक ही उपाय है और वह है जन-मानस मे अहिसा की प्रतिष्ठा।

जब तक वैज्ञानिक अहिसा के प्रकाश मे अपने आविष्कारो को न देखेंगे तब तक उनके आविष्कार जगत-कल्याण के कारण न बन सकेंगे। नये-नये सहारक बम निर्माण करने वाले वैज्ञानिको को यह समझना चाहिए कि वे बम उनकी

कभी रक्षा नहीं कर सकेंगे; क्योंकि उनका उद्देश्य किसी की रक्षा करना नहीं, अपितु विनाश करना है। वे यदि दूसरे का विनाश करेंगे तो उन्हें भी अपने विनाश के लिए तैयार रहना चाहिए। क्योंकि ऐसे बम दूसरों के पास भी हो सकते है।

अभी न्यूयार्क टाइम्स ने रूस द्वारा १०० मेगाटन बम विस्फोट करने के निश्चय पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है कि "कुछ आश्चर्य नहीं कि इस तरह बम विस्फोट से रूस अपनी ही खिड़कियाँ न तोड़ बैठे। इस पत्र ने यह भी लिखा है कि १०० मेगाटन से रूस को पहुँचने वाले नुकसान का ख्याल कर आदमी उससे अपना हाथ खींच लेने की समझदारी बरतेगा। वह अणुबमों के युद्ध में बर्बाद होने की सम्भावना को देखकर अपने देश को उनसे बचाने के लिए अक्ल से सोचेगा।"

कहना यह है कि यदि विश्व को भीषण परमाणु विस्फोटों के तात्कालिक एवं भावी पीढ़ियों को क्षति पहुँचाने वाले महान खतरों से बचाना है तो न केवल विज्ञान, दर्शन एवं धर्म में अपितु जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में भगवती अहिंसा का समन्वय करना होगा।
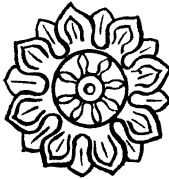
प्राचीन व अर्वाचीन मूल्य

श्री सादिकअली, एम० पी०
महामंत्री—अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

भारत के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे मे इस समय बहुत गम्भीर और दूरगामी परिवर्तन हो रहे है। इन परिवर्तनो का जहाँ बहुत से लोग स्वागत करते है, वहाँ कुछ इनको बुरा भी समझते है। जब प्राचीन व्यवस्था बदल कर नई स्थापित होती है तो कुछ लोगो पर उसका विपरीत प्रभाव पडना स्वाभाविक है। लेकिन नई व्यवस्था के लिए हमेशा और हर परिस्थिति मे यही दावा किया जाता है कि पुरानी व्यवस्था की अपेक्षा यह अधिक न्यायपूर्ण है तथा मानव-समानता का उद्देश्य उससे अधिक अच्छी तरह सिद्ध होगा।

भारतीय अपनी पचवर्षीय योजनाओं तथा दूसरे उपायो से इस समय जो कुछ कर रहे है, उसका भी निश्चय ही यही दावा है। अक्सर यह पूछा जाता है कि लोकतत्र, समाजवाद, नया वैज्ञानिक और बौद्धिक युग क्या भारत की उन नैतिक एव आध्यात्मिक मान्यताओ के अनुरूप है, जिन पर कि हमारा देश ज्ञात इतिहास के कोई तीन हजार वर्षों से स्थिर है? यह ऐसा प्रश्न नही है जिसका सरलता से और निश्चयात्मक उत्तर दिया जा सके। इन नैतिक मान्यताओं की परिभाषा कौन किस तरह करता है, इस पर बहुत कुछ निर्भर है। भारत ने जो नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताए बनाई, वे ऐसे दार्शनिक तथ्य नही है, जिनका जनसाधारण के जीवन से कोई सम्बन्ध न हो। बल्कि जो उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करते है, उनके लिए तो वे प्रचण्ड सत्य है। प्रश्न यह है कि देश मे लोकतत्र और समाजवाद की स्थापना तथा वैज्ञानिक युग का आरम्भ करते हुए क्या हम उनका परित्याग कर रहे है? विनम्रता के साथ कहूँगा कि ऐसी बात नही है। हमारी सभी दर्शन शास्त्रीय व्यवस्थाओ मे तमाम भौतिक और मानसिक अवस्थाओं की परिवर्तनशीलता पर बहुत जोर दिया गया है। इन सब अवस्थाओ के पीछे वास्तविकता कभी नष्ट न होने वाला अश चाहे हो, किन्तु वस्तुत उनमे परिवर्तन और परिशोधन होता ही रहता है। न केवल सामाजिक जीवन मे बल्कि राजनीतिक और आर्थिक सस्थाओं के बारे मे भी यही बात है। जिस ससार मे आज हम रह रहे है, वह बिलकुल वही नही है, जिसमे दो या तीन हजार वर्ष पहले हम लोग रहते थे। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि प्रारम्भिक कालो की अपेक्षा हमारी दुनिया आज कही बडी और पेचीदा है। इस सारे समय मे हमने जो ऊँची मान्यताए स्थापित की है, उन्हे इस नये ससार पर लागू करना होगा। इसके भारी विचार और बहुत-सी नई बाते ग्रहण करने की आवश्यकता है।

सभी महान् धर्मों का मुख्य सन्देश यही रहा है कि जीवन मे, खासकर मानव-जीवन मे, एकता स्थापित हो। लेकिन हमारे सामाजिक और आर्थिक सगठनो मे बहुत अपर्याप्त रूप के अतिरिक्त यह एकता स्पष्ट नही हुई है। लगभग प्रत्येक देश मे सुविधा-प्राप्त एव सुविधा-हीन, शासक और शासित, अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित तथा ज्ञानी और अज्ञानी के वर्ग-भेद रहे है। मनुष्यो के बीच इस विभाजन से उत्पन्न कठिनाई को धर्मों द्वारा प्रतिपादित दान-पुण्य और नैतिक मान्यताओ के द्वारा कुछ कम अवश्य किया गया, लेकिन फिर भी बहुत कुछ अन्तर बाकी है। इसका बहुत कुछ कारण यह है कि दरिद्रता, रोग और निरक्षरता को दूर करने के कोई यांत्रिक साधन हमारे पास नही थे। यहाँ तक कि आवागमन के साधन भी हमारे पास इतने कम थे कि उनसे भी सबके एक होने मे रुकावट पड़ती थी। अब वे रुकावटे नही है। आज की दुनिया मे ज्ञान या मन की सीमा केवल कुछ लोगों तक सीमित नहीं रही है, बल्कि जनता के सभी वर्गों मे उसे फैलाया जा रहा है। लोकतन्त्र मे सत्ता का विस्तार हो रहा है। यह सब देखते हुए मुझे तो ऐसा लगता है कि

हमारी नैतिक मान्यताओं के लिए पहले के युग के बजाय आज का युग अधिक उपयुक्त है ।

संघर्ष के लिए, मगर, एक दूसरा क्षेत्र भी है। वह है—व्यक्तिगत आचरण का क्षेत्र। इसमे मान्यताए बदल गई है। पुरानी मान्यताओ की दृष्टि से आत्म-अनुशासन, यहाँ तक कि इन्द्रिय-दमन भी, उचित था, स्वभावत उसका परिणाम जरूरतें कम करना होता था। इन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण ही जीवन का सर्वोपरि रूप था। आवश्यकताओ को कम-से-कम करके मनुष्य मुक्ति का लक्ष्य साधता था। पर आधुनिक युग की बौद्धिक हवा जीवन के इस मूलभूत दृष्टिकोण के अनुकूल नहीं है। आधुनिक दृष्टिकोण दमन के विरुद्ध और आवश्यकताए बढाने का है। इसका पहलू यह है कि इसमे ज्ञान-वृद्धि और मानव जाति के कल्याण के लिए तरह-तरह के विज्ञान की वृद्धि करने की प्रवृत्ति होती है। लेकिन यह भी सही है कि मनुष्य में सही दृष्टि और सही भावना न हो तो इस ज्ञान और शक्ति के द्वारा वह अपना ही नाश कर लेगा। इस बुरी सभावना ने मनुष्य को कुछ गम्भीर नये विचार के लिए प्रेरित किया। फलत आन्तरिक जीवन की शक्तियो का नये सिरे से अध्ययन शुरू हुआ है। वैयक्तिक और सामाजिक आधार पर ऐसे समन्वय की खोज की जा रही है जिससे मनुष्य के जीवन मे एकता अधिक हो तथा वह वास्तविकता एव स्थायी आत्म-सतोष प्राप्त करे। मेरे विचार मे जो ऊँची मान्यताए हमारी पुरानी सस्कृति की विरासत है, उन्हे इस नये और व्यापक समन्वय मे बहुत कारगर रूप मे लागू किया जा सकता है।

एकता की दिशा में

श्री हरिभाऊ उपाध्याय
वित्तमंत्री—राजस्थान

फिर से इस बात ने जोर पकडा है कि देश मे—भारत मे—एकता पैदा की जाये। राष्ट्रीयस्तर पर एक आयोजन भी किया गया, जिसमे इस भावनात्मक एकता की ओर सबका ध्यान दिलाया गया है। नये सिरे से इस आवाज के उठने का कारण यह है कि पिछले दिनो भारत मे जगह-जगह जातिगत झगडे हुए। झगडे आये दिन होते रहते है। कभी यहाँ, कभी वहाँ—कभी भाषा के सवाल को लेकर, कभी प्रान्त के सवाल को लेकर, कभी अधिकारो और अन्यायो की शिकायत लेकर। इन झगडो के मूल मे आखिर बात क्या है? क्या ये लोग, जो झगडा खडा करते है, जीवन के सिद्धान्तो, आदर्शों, नियमो, परम्पराओ, रीति-नीतियों को नही जानते है? या जानते तो है लेकिन उनकी परवाह नही करते, पालन नही करते, न दूसरो से करवाते है? या कोई और बात मन मे होती है और बताते दूसरी है। यदि ऐसा ही है तो ये ऐसा क्यो करते है? क्या जिन बातो का सहारा या बहाना लेकर ये झगडे उठाये जाते है, वे वास्तव मे इतनी बडी होती है कि जिनके लिए लडाई आदि उपद्रव, मार-काट करना आवश्यक है? फिर एक सवाल यह भी पैदा होता है कि ये उपद्रवकारी होते कौन है? ऊपर के नेता लोग या नीचे के आम लोग—जनता।

अभी इस राष्ट्र की भावनात्मक एकता को लेकर प्रो० हुमायूं कबीर ने एक जगह कहा था—इसका मूल कारण यह है कि हम एकता का बौद्धिक आधार तय नही करते या नही कर पाते। एक व्यक्ति जब यह देखता है कि मुझे न्याय नही मिल रहा है, मेरे अधिकार छिने जा रहे है, मैं दबाया जा रहा हूँ, सताया जा रहा हूँ, तब उसके मन मे विद्रोह उठता है और वे झगडो के कारण बन जाते है। अत इन झगडों को मिटाने या राष्ट्रीय एकता को कायम करने और निपटाने का उपाय यह है कि हम किसी के साथ अन्याय न करे और समानाधिकार के सिद्धान्त पर चले। जब लोगो को, जो उनके लिए उचित होगा, मिलता रहेगा, तो क्यो अशान्ति और उपद्रव होगे? विचार के क्षेत्र मे इस बात को मान लेने मे कोई दिक्कत नही है, पर आखिर इस पर अमल कैसे किया जाये? इसे व्यवहार में कैसे लाया जाये। यह मान लेने मे किसी को क्या दिक्कत होगी कि भाई-भाई एक है, पति-पत्नी मे कोई भेद नही है, पर यदि किसी के मन मे यह एकता स्थिर नही रही तो कोरा न्याय या समता का उपदेश उस स्थिति को कैसे सुधार सकता है? सुधार सका है? सुधार सकेगा? इसके लिए कोई व्यावहारिक योजना बनानी ही पडेगी, कुछ नियम—शर्ते तय करनी ही होगी। किसी-न-किसी रूप मे बटवारे की कोई तजवीज करनी पड़ेगी। केवल भावना को आघात पहुँचने से इतने बडे दंगे और मार-काट नही हो सकती। जब तक कि स्वार्थों मे टक्कर नही होती। फिर वह पद-सत्ता-सम्बन्धी हो, मान-सम्मान-सम्बन्धी हो, साम्पत्तिक या आर्थिक अथवा सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखती हो, धार्मिक प्रवृत्तियाँ या अधिकार उसके मूल में हो, तब तक बड़े उपद्रव, मार-काट नही होते। यह हो सकता है और अक्सर होता भी है कि थोडे लोगों के स्वार्थों मे टक्कर होती है और वे उसे बहुतो का—आम लोगों का सवाल बना देते है और उन्हे भडका कर सगठित कर लेते है। वे अज्ञान, भावुकता मे बहकर उनके फुसलावे में आ जाते हैं और पीछे जाकर पछताते भी है।

अत. एकता के इस प्रश्न के दो पहलू हो जाते हैं—भावनात्मक एकता और स्वार्थगत एकता। ये दोनों एक-दूसरे के पोषक है। यह कहना बहुत ही कठिन है, इनमे पहले कौन? पहले बाप या बेटा? बीज या फल, उत्पत्ति या प्रलय? जैसा ही जटिल यह प्रश्न है।

मेरी राय में मानव-जीवन मे प्रेरणा दायिनी शक्ति तो भावना ही है; बुद्धि उसका नियन्त्रण करती है, सतुलन रखती है। स्वार्थों की एकता के आधार पर योजना बनाने से समाज और राष्ट्र का जीवन शान्ति के साथ चलता है। अत. भावना के क्षेत्र मे हम यह मानना होगा कि हम वैसे अलग-अलग हो, पर भीतर मे एक हैं—एक आत्मा या एक मानवता से बँधे या गुँथे हुए हैं, बुद्धि के क्षेत्र मे हमे यह सावधानी और जागरूकता रखनी होगी कि हम इस भावुकता मे इतने तो नही बह गये है कि दूसरे की भावना या आत्मा को ठेस पहुँचाने के भागी बन गये हो या बन रहे हो। साथ ही व्यवहार के क्षेत्र मे हमे ऐसी योजना, कार्यक्रम, विधि-विधान बनाने होगे, जिनसे जन्म-सिद्ध अधिकारों या उचित स्वार्थों का किसी तरह अपहरण न हो, उल्लघन न हो। साथ ही एक ऐसा वर्ग या दल बनाना होगा, जो इन सब बातो पर निगाह रखे और इनके भग होने की अवस्था मे उचित नियन्त्रण रखे।

मगर इन सब बातो को नये सिरे से करने की आवश्यकता नही है। हमारे भारतीय जीवन की स्थिति, रक्षा और विकास के लिए 'भारतीय सविधान' बना हुआ है। उसके अनुकूल और पोषक कई विधियाँ कानून-नियम आदि बने हुए है। स्वस्थ परम्पराए भी मौजूद है। भारतीय सघ और राज्य सरकारो के रूप मे ऐसा प्रशासक वर्ग भी है, जिसपर देश की शान्ति और एकता की जिम्मेदारी है। ये सब बाते बनी-बनाई मौजूद है। आध्यात्मिक, धार्मिक या नैतिक ज्ञान, उपदेश, परम्परा की भी कमी नही है। सिर्फ दो ही बातो का अभाव या कमी नजर आती है—एक तो सुयोग्य और क्रियाशील तथा प्रभावशाली नेतृत्व और दूसरे व्यक्तियो मे जागरूकता। प्रभावशाली नेतृत्व वही हो सकता है, जो स्वय इस एकता की प्रतिमूर्ति हो, इसी के लिए जीता और मरता हो। इसमे कोई शक नही कि हमारे पूज्य आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत आन्दोलन के रूप मे एक सगठित नेतृत्व हमे दे रहे हैं। उनके क्षेत्र का दायरा भी बढ़ता ही जा रहा है। अतएव हमे उनसे और भी अधिक आशा होती है। अन्यान्य क्षेत्रो मे भी ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है। वैसे तो बापू के रूप में एक आदर्श नेतृत्व हमे मिला था। अब पूज्य विनोबा और पूज्य जवाहरलालजी के रूप मे हमे जीवन की मूलभूत एकता पर अच्छा नेतृत्व मिल ही रहा है। इससे हमे आशा होती है कि भारत मे जो अनेकता या फूट या भावनात्मक एकता का अभाव जगह-जगह दिखाई देता है, वह थोडे समय मे समाप्त हो सकेगा।

सम्यक् कृति

डा० कन्हैयालाल सहल एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रिंसिपल–बिरला आर्टस् कालेज, पिलानी

'संस्कृति' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'सम्यक् कृति' किन्तु सम्यक् कृति किसे कहा जाये, यह अवश्य जटिल प्रश्न है, जिसका समाधान करने में बड़े-बड़े तत्त्वचिन्तक भी उलझन में पड़ जाते हैं। 'सम्यक् कृति' के महत्त्व को बौद्ध धर्म में भी स्वीकार किया गया है और यदि यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो समस्त गीता भी उसी सम्यक् कृति का आख्यान है।

संस्कृति और सभ्यता की परिभाषा

व्युत्पत्ति को छोड़ कर यदि प्रयोग पर दृष्टि डालें तो धर्म, कला, साहित्य आदि का 'संस्कृति' शब्द में अन्तर्भाव किया जाता है। इसके विरुद्ध सभ्यता शब्द के अन्तर्गत रेल, तार, जहाज, विशाल भवन आदि भौतिक उपकरणों का समावेश होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सभा में बैठने योग्य व्यक्ति को सभ्य कहा जाता है और आजकल सभा में बैठने की योग्यता साज-सज्जा, वेश-भूषा आदि के बल पर उपलभ्य समझी जाती है। इससे स्पष्ट है कि सभ्यता जहाँ बाह्य वस्तुओं पर निर्भर करती है, वहाँ संस्कृति आन्तरिक उपकरणों पर आश्रित है।

आजकल के बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग में धर्म शब्द का अपकर्ष दिखलाई पड़ रहा है। उसके स्थान में संस्कृति शब्द अधिक मान्य हो रहा है। किन्तु शब्द जो भी हो, सम्यक् ज्ञान होने पर वह 'कामधुक्' होता है। शब्दों के जंजाल से मुक्त होकर यदि हम 'संस्कृति' का ही सच्चा स्वरूप समझ लें तो यह हमारे लिए बहुत कुछ श्रेयस्कर हो सकता है।

मैक आइवर ने कहा था कि जिन भौतिक उपकरणों का हम प्रयोग करते हैं, वे तो हमारी 'सभ्यता' के अन्तर्गत हैं और जो कुछ हम वस्तुतः हैं, वह संस्कृति का क्षेत्र है। इस विश्लेषण से हमारा ध्यान श्रेष्ठ संस्कारों की ओर अनायास चला जाता है। संस्कृति यदि संस्कारों की समष्टि है तो निश्चित है उसकी उपलब्धि अनायास नहीं, सायास और साधना जन्य है। अर्थ का हस्तान्तरण आसानी से किया जा सकता है, किन्तु संस्कारों का नहीं। अच्छे संस्कार न क्रेय हैं, न विक्रेय। उनकी प्राप्ति के लिए साधक को साधना करनी पड़ती है। हमारे हृदय में सत् और असत् का द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। संस्कार सम्पन्न व्यक्ति असत् से लोहा लेने में निरन्तर जागरूक रहता है, इसीलिए कबीर ने कहा है **'साध संग्राम है रैन-दिन जूझना।'** रैन-दिन जूझने से ही अच्छे संस्कारों की प्राप्ति होती है। इसीलिए गीताकार ने भी मनोनिग्रह के प्रसंग में वैराग्य के साथ-साथ अभ्यास का भी उल्लेख किया है अथवा यह कहा जाये तो और भी उचित होगा कि वैराग्य की अपेक्षा भी अभ्यास को प्रथम स्थान दिया है। इस अभ्यास की महत्ता के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक, शिक्षा-शास्त्री और दार्शनिक सभी एकमत हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी विनयपत्रिका में यथार्थ ही कहा था

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
जिमि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।

केवल वाक्य ज्ञान में निपुण होने से काम नहीं चल सकता। केवल दीपक की बातें करने से क्या कभी घर का अन्धकार दूर किया जा सकता है? सम्यक् क्रिया की अपेक्षा यदि तर्क हमारे स्वभाव का अंग बन गया तो वह केवल कतर-ब्योंत में लग जाता है, संस्कार-साधना में प्रवृत्त नहीं होने देता। इसीलिए महाकवि प्रसाद ने तो निरे तर्क को साधना में

बाधक माना है। उन्हीं के शब्दों में :

> और सत्य यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है।
> मेधा के क्रीड़ा पंजर का पाला हुआ सुआ है।
> सब बातों में खोज तुम्हारी रट-सी लगी हुई है।
> किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के होता छुई मुई है।

एक अन्य प्रसंग में इसी महाकवि ने कहा है कि तर्क के छिद्र हृदय रूपी कलश को अमृत से भरा नहीं रहने देते—

> बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे,
> हृदय हमारा भर न सका।

अत शास्त्रीय शब्दावलि का आश्रय लेकर कहे तो कह सकते है कि संस्कृति और साधना में परस्पर समवाय-सम्बन्ध है।

एक विरोधाभास

इस प्रसंग में एक विरोधाभास का उल्लेख भी आवश्यक है। यह संभव है कि कोई देश सभ्य हो और संस्कृत न हो, इसी प्रकार कोई देश संस्कृत हो और सभ्य न हो। कोई देश ऐसा भी हो सकता है, जहाँ सभ्यता और संस्कृति उचित अनुपात में घुल-मिल गई हो। यह तथ्य जैसे किसी राष्ट्र के लिए लागू है, वैसे ही व्यक्ति के लिए भी।

इसके अतिरिक्त एक-दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान गए बिना नहीं रहता। सभ्यता का रथ यदि एक बार चल पड़ता है तो वह निरन्तर गतिशील रहता है। रेल, तार, जहाज एक बार आविष्कृत हो गए तो इनकी गति अब रुकने की नहीं। किन्तु संस्कृति का रथ मन्द गति से चलता है, रेल, जहाज अथवा राकेट की गति उसमें नहीं आ सकती और कभी-कभी तो उसमें गति-रोध भी आ जाता है। महावीर, बुद्ध, शंकर, गाधी जैसे महापुरुष युगों के बाद पैदा होते है। अब कितने काल खण्डों का अतिक्रमण गाधी जैसे महापुरुष को जन्म दे सकेगा, कौन जाने? करोड़ो रामा-श्यामाओं को मिलाकर भी राम और कृष्ण गढ़े नहीं जा सकते।

रावण की लंका में क्या नहीं था? सभ्यता के सभी उपकरण उस स्वर्णपुरी में मौजूद थे, किन्तु संस्कारों का अभाव था, जिसकी ओर लक्ष्य करके वाल्मीकि रामायण की सीता ने रावण से कहा था—

> नूनं न ते जनः कश्चिदस्मिन्निःश्रेयसि स्थितः।
> निवारयति यो न त्वां कर्मणोऽस्माद्विगर्हितात्॥
> इह संतो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
> यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता॥

—सुन्दर काण्ड

अर्थात् तुम्हारे कल्याण की कामना करने वाला यहाँ कोई दिखलाई नहीं पड़ता। यदि होता तो वह क्या तुम्हें इस घृणित कर्म करने से रोकता नहीं? अरे, यहाँ संत क्या हैं ही नहीं अथवा संतों के मार्ग का तुम अनुसरण ही नहीं करते? तभी तो तुम्हारी विपरीत बुद्धि आचार विहीन हो गई है।

वैज्ञानिक प्रगति और मानवता

आज के इस बौद्धिक युग में विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच रहा है। रूस और अमरीका समय पाकर चन्द्र-लोक की यात्रा भी करेंगे। इसमें सन्देह नहीं, यह मानव की बौद्धिक गरिमा का ज्वलन्त उद्घोष है, किन्तु यदि मानव ने अपनी मानवता छोड़ दी, स्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थ के भावों से आक्रान्त होकर उसने युद्ध की विभीषिकाओं की आग सुलगा दी तो कहाँ रहेगी मानवता और कहाँ रहेंगे सभ्यता के आश्चर्यजनक उपकरण।

रूस और अमरीका परस्पर विरोधी विचारधाराओं से आक्रान्त होकर एक-दूसरे को नीचा दिखाने में लगे

है। पता नही, इस भयंकर स्पर्धा का परिणाम क्या हो ?

आज मानवता विकट स्थिति में है, उसे आश्रय-स्थल चाहिए। सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि विज्ञान भले ही अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाये, मानवता की रक्षा मानवता के उदार नियमो द्वारा ही हो सकती है।

'भूमा वै सुखं, नाल्पे सुखमस्ति' द्वारा औपनिषदिक ऋषियो ने जिस सत्य का उद्घाटन किया था, वही सत्य आज आचार्यश्री तुलसी जैसे संत भी उद्घाटित कर रहे है। रस्किन, टाल्स्टाय और गांधी जैसे तत्त्वान्वेषी मनीषियो ने यह प्रतिपादित किया था कि मनुष्य मूलत· अच्छा है, किन्तु जैसा वेदान्त मे प्रसिद्ध है, उपाधि के कारण वह अपने स्वरूप को भूल गया है। उसे आज वैज्ञानिक उत्कर्ष से भी अधिक आत्मोपलब्धि चाहिए, भूमाविशिष्ट अपने उदार सत् स्वरूप को खोकर वह चन्द्र लोक भी पहुँच जाये तो किस काम का ?
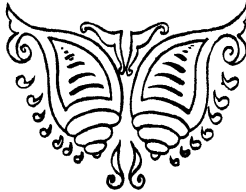
नैतिकता और देशकाल-परिवर्तन

डा० प्रभाकर माचवे
संयुक्तमंत्री—साहित्य एकादेमी, नई दिल्ली

पूर्व और पश्चिम के नैतिकता-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे क्या अन्तर है ? यदि विश्व मे मानवमात्र समान है तो वह चाहे पूर्व मे बसता हो या पश्चिम में, उत्तर में या दक्षिण मे, कुछ ऐसे मूलाधार तो होने ही चाहिए, जिनसे साम्य खोजा जा सकता है, या कि सब-कुछ सापेक्ष है ? ऐसे कई प्रश्न सहसा मन मे उठते हैं। पूर्व और पश्चिम के विषय मे तीन विचारधाराएं हैं, इन दो दिशाओं में बसने वाले मनुष्यों में कोई समानता न थी, न है, न हो सकेगी, "पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम और ये दोनो कभी मिल नही सकते।" दूसरा दृष्टिकोण, इससे उलटे पूर्व और पश्चिम मे सम्पूर्ण अभेद मानने वालो का है। दिशा-भेद से मनुष्य के मनुष्यत्व मे कोई मौलिक भेद नही हो जाता। इतिहास उठते-गिरते, बदलते-बदलते है, सामूहिक सभ्यताओं का उद्भावन-विलयन होता रहता है। इन सब परिवर्तनो के भीतर भी मनुष्य की अखड सत्ता कायम रहती है। वह स्थायी है। तीसरी तर्क-स्थिति यह है कि उपर्युक्त दोनो विचार सही हैं कुछ बातो मे पूर्व और पश्चिम के मानवो मे सदा अन्तर रहेगा, जैसे त्वचा का रग या शरीर-रचना आदि, गुणो मे पूर्व-पश्चिम के मानवो मे सदा साम्य रहेगा, जैसे हिंसा के प्रति जुगुप्सा।

पाश्चात्य नीतिशास्त्रियो ने इस पर विचार किया है और पूर्व और पश्चिम की मूलभूत असमानताओ को वे इस प्रकार से परिभाषित करते हैं :

१ पूर्व मे परमोच्च सत्ता (ईश्वर, ब्रह्म, अर्हत्-पद आदि) और आत्म-तत्त्व को एक मानते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, कनफ्यूशियन आदि पूर्व के धर्मों मे इस अभेद और अखण्डता पर जोर है, जब कि ईसाई, यहूदी, मुस्लिम, पारसी धर्मों मे द्वित्व पर जोर है। वहाँ 'नर' 'नारायण' नही बन सकता। दोनो स्थितियो मे सदा अन्तर बना ही रहेगा, वह कम-ज्यादा हो सकता है।

२ पूर्व मे 'अस्ति' (और 'नास्ति') पर जोर है, जबकि पश्चिम का सारा ध्यान 'कर्म' पर है। यानी पश्चिम वाले जब मिलेंगे तो पूछेंगे 'हाउ डु यू डु' (आप क्या करते है ?); पूर्व का व्यक्ति 'करने' से ज्यादा 'होने' पर जोर देता है। जैन-बौद्ध धर्मों में तो इस तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र का तथा ईसाई-इस्लाम आदि धर्मों का सारा लक्ष्य पाप-पुण्य की बारीक छानबीन में लग गया है। पूर्व मे अपेक्षा भेद मे गीता-जैसे ग्रन्थों मे युद्ध को भी धर्म मान लिया जाता है। यहाँ कर्म का योग बन जाता है, वहाँ योग-क्षेम कर्मानुसारी और कर्मावलम्बी होने से मार्क्स की सृष्टि होती है।

३. पूर्व की वृत्ति सर्वधर्म-समभावी या सह-अस्तित्व-विश्वासी है। उसके लिए सश्लेषण, समन्वय, समवाय, समाहार जैसी बातें और क्रियाएं नीति-सम्मत है। पश्चिम के लिए, चूंकि वहाँ के धर्म एक-दूसरे से एकदम भिन्न और मत-परिवर्तन द्वारा एक-दूसरे पर छा जाने का अहंकार, और 'केवल मैं ही हूँ अन्य सभी है जबकि वे मेरे जैसे हों' ऐसी 'ऐक्सक्ल्यूजिव' वृत्ति रखते हैं, इसलिए 'यह भी सही, वह भी सही' उनके लेखे 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' जैसी अनैतिक वृत्ति है। पश्चिम वालों के हिसाब से पूर्व के लोग 'सुनना सबकी, करना मन की' वाली 'सिक्रेटिक' यानी 'आधी-सुनी आधी गुनी', दिखावटी नम्रता और केवल ऊपरी-ऊपरी तौर से 'हाँ में हाँ' मिलाने वाली वृत्ति रखते हैं।

लोकतन्त्र और कल्याण-राज्य के युग मे इन तीन असमानताओं को और भी धार मिल गई है। अल्पसंख्यको के साथ क्या सलूक हो ? जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, भाषा-भेद, लिपि-भेद वाले देश मे यह 'एकता', 'अखण्डता', 'समानता' का नारा कहाँ तक अर्थ रखता है ? क्या यह केवल अपने मन को धोखे में रखने के बराबर नहीं है ? काशी के मन्दिरों पर

स्वर्ण-कलश हो; वृन्दावन मे सोने के खम्भे हों और त्रिचनापल्ली मे देवताओ पर सोने के जेवरात पहनाये जाते हो, पर बाहर गलियो मे जो भिखारी और कोढी, पगु और अन्धे याचको को दान-दया से पाला-पोसा जाता है, विदेशी की नजर मे इन दोनों स्थितियो में कोई नैतिक ताल-मेल नही दिखाई देता। जब-जब हमने विदेश मे बुद्ध, महावीर और गांधी के देश मे अहिंसा की प्रतिष्ठा की बात जोरों से कही, विदेशियो की ओर से आवाज उठाई गई, आर्यों का आक्रमण, महाभारत, अशोक की कलिंग-विजय, कुरुक्षेत्र और पानीपत की लड़ाइयाँ, १८५७, ठगों के अत्याचार, १९४७ के हिन्दू-मुस्लिम दगे और कालीमाई के मन्दिरो में अब भी पशु-बलि—यह सब भारतीयो की अहिंसा के प्रमाण हैं क्या? और ये सब ऐतिहासिक तथ्य है। क्या हम कहीं अपने ही मन की निर्माण की हुई झूठी, ख्याली, आदर्शात्मक शब्दावलि की खोखली स्वप्निल दुनिया मे तो नही रहते? विदेशी प्रत्यक्ष प्रमाण चाहता है, हमारे देश मे परोक्ष का पूजन है। विदेशी बात नही काम मे जांचता है; हमारे यहाँ हर काम को बात मे परिवर्तित करने की कला हमने विकसित की है, 'कर्म' का भी 'दर्शन' बना डाला है।

यो नीति या नैतिकता के दूसरे परिणाम भी है व्यक्ति इकाई है, पर वह परिवार, सम्बन्धी जाति, ज्ञाति, समाज ग्राम, नगर, देश, जगत् आदि घेरो मे बँधा है। 'जयहिन्द' मे 'जय जगत्' अभिनन्दन-पद्धति मे अन्तर कर देने मे समस्या नही सुलझती। क्या सच व्यक्तिवाद पूर्व मे ही अधिक है? क्या पश्चिम के लोग अत्यन्त व्यक्ति-केन्द्रित नहीं हैं, यत्र-सभ्यता के विकास के साथ-साथ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच ऐसे निर्वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित हो रहे हैं कि व्यक्ति शब्द की परिभाषा बदल रही है। जिस प्रकार से व्यक्तिवाद शब्द की नैतिकता का अर्थ-बोध बदल रहा है, समाजवाद शब्द का भी वही अर्थ नही रहा जो उसके आरम्भिक रूप मे था। फेबियम, रूसो, मार्क्स, क्रोपाटकिन के जमाने से आज के युग तक उसकी व्याख्या बराबर बदलती-बदलती जा रही है और यदि शब्दों या विचारो के अर्थ इतने इतिहास-सापेक्ष और भूगोल सापेक्ष हो तो उन्हे अर्थ कैसे माना जा सकता है। वे विचार न होकर केवल भावाभास, केवल कल्पना-बुद्बुद है। क्या ऐसी सिकता पर सभ्यता के प्रासाद खडे किये जा सकते है? बालू की भीत कब तक टिकेगी? 'शाखे-नाजुक मे आशियाना बनेगा, नापायेदार होगा'—इकबाल ने कहा था कि 'तुम्हारी (यानी पश्चिम की) तहजीब खुदकशी करेगी'। क्या पश्चिम की सभ्यता आत्म-हत्या के किनारे पर पहुँच गई है? पर पूर्व के पास भी देने के लिए कौनसी नवीन विचार प्रेरणा है? आर्थर क्वेस्लर महोदय भारत और जापान के दौरे के बाद किस निर्णय पर पहुँचे है? क्या हमारे मठ-मन्दिर, हमारी तथाकथित 'योग' की दूकान और सन्तो जैसी शब्दावली का प्रयोग करने वाले बहुत-से लोग केवल नाम-मात्रके ढकोसले नही है? कई बार पूर्व के बारे मे हम बोलते है, तब उसमे हमारी आत्म-निष्ठ भाव-सबलता भी तो मिश्रित रहती है। क्या हम अपने बारे मे पूर्णतया वस्तु-निष्ठ हो सकते हैं?

इस सारी विचार-प्रहेलिका मे विज्ञान ने और एक नया आयाम उपस्थित किया है दिगन्त और अवकाश को भेद कर रूसी गगारिन और तीतोव और अमरीकी शेपर्ड आदि एक नई गतिमत्ता की पराकाष्ठा उपस्थित कर रहे हैं। अब दिशा या दिक् की परिभाषा बदल जायेगी, ऐसा लगता है, पुराना यान्त्रिक गणित, न्यूटन और दकार्त का पदार्थ-विज्ञान और तर्क अब आइन्स्टाइन के युग में पुराना पड रहा है। मनुष्य और उसके परिवेश प्रकृति और भौतिक सत्ताओ के बीच के सम्बन्ध तेजी से बदल रहे है। क्या इनका प्रभाव, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, नीतिशास्त्रीय चिन्तन पर बिलकुल नही पडता? क्या मानवीय-नीति, जीवमात्र की नीति से भिन्न है? पुद्गल की नीति कोई भिन्न नीति है? आधुनिक आणविक-शास्त्रवेत्ता तो ऐसा नही मानते; उनके हिसाब मे जीव-अजीव, सप्राण-अप्राण के बीच मे सीमा-रेखा खीचना बहुत ही कठिन है। जैन तत्त्व-ज्ञान में इसी प्रकार का विचार बहुत वर्षों पूर्व स्याद्वादियो और अनेकान्त-विश्वासियो ने प्रस्तुत किया था।

सक्षेप मे, मैंने ऊपर कई प्रश्न उठाये हैं, जिनके पूरे उत्तर मेरे पास भी नही है, न मैं समझता हूँ कि किसी एक विचारक-चिन्तक या एक सम्प्रदाय के पास ही वे हैं। देश और काल की परिवर्तन की गति बढ़ती जाती है, त्यो-त्यो नीति-सम्बन्धी विचारो का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। परन्तु पुनर्मूल्यांकन का अर्थ यह नहीं है कि हम उच्छिन्न हो जाए। गांधीजी ने लिखा था कि "मैं अपने घर की खिड़कियाँ प्रकाश और हवा के लिए खुली रखूँगा, लेकिन उसकी नींव मजबूत

चट्टान पर होगी। मैं पराये घर में याचक, मालिक या दूसरे का स्थान हड़पने वाले की तरह नहीं रह सकता।" स्व-धर्म और पर-धर्म के बीच जब हम श्रेय और भय की चर्चा उठाते है, तब 'स्व-पर' भेद को काट कर जो सच्ची और मौलिक नैतिकता सबको व्यापे हुए है, उसे भुलाकर हम कैसे चल सकते हैं ? उदाहरणार्थ, और सब बातों मे सब राष्ट्र, समाज, धर्म-समूह अलग-अलग विचार रखते हों, पर 'युद्ध बुरा है', 'हिंसा अनैतिक है', इस बात पर तो सब सहमत है। अन्यथा 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' की उपयुक्तता ही क्या होती ? मनुष्य का मनुष्यत्व इस बात पर आग्रह करता है कि अपना हनन न करे, औरों का हनन न करे। यद्यपि कुछ धर्मों मे आत्म-बलि, हाराकिरी या राष्ट्र के लिए मर-मिटने वाले नाज़ी या फासिस्ट नारो की इस युग मे भी कमी नहीं। मनुष्य की नैतिकता प्रथमतः और अन्तत मनुष्य के लिए है, इस कथन मे तो शायद पूर्व-पश्चिम और विभिन्न धर्मानुयायी सभी सहमत होंगे। यदि यह सही है तो शान्ति एक ऐसा मूल्य बन जाता है, जो देश-काल के परिवर्तन के बावजूद अपरिवर्तनीय रहता है।

दूसरा मूल्य हम प्रामाणिकता कह सकते हैं। विचार-उच्चार-आचार की संगति, कथनी और करनी मे अभेद, एक दूसरा ऐसा मूल्य है जो देशकाल परिवर्तन से अप्रभावित रहता है। राजनीति मे कई बार 'अश्वथामा हतो, नरो वा कुंजरो वा' या 'एक का अन्न, दूसरे का विष' वाली बाते सुनने को मिलती है। परस्पर सन्देह पर कूटनीतिज्ञों का सारा अस्तित्व निर्भर है। परन्तु समाज की सारी अवधारणा, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विश्वास (जो कि प्रामाणिकता मे उपजता है) पर ही है। यदि हम प्रत्येक क्षण पर दूसरे से कतराते, डरते, सकपकाते, भय खाते, शक करते चलें, तो शायद मानव-सम्बन्ध असम्भव हो जाए। सारे उद्योग और व्यापार शपथ और प्रतिज्ञाए, अपेक्षा और सफलता आदि शब्द बेमानी हो जाए। तो पूर्व और पश्चिम के बीच नीति का दूसरा मूलाधार स्व-संगति अथवा प्रामाणिकता है।

देश-काल के परिवर्तन के बावजूद नैतिकता की नींव जिस आधार पर बार-बार आकर रुकती है, वह यम-संयम का कोई-न-कोई रूप है। आदिम समाज से अराजक समाज तक सामाजिक आचार-संहिता का आधार ऐसे अपने-आप बोलते हुए अनुशासन या नियम है (जो चाहे अलिखित हो), जो अपने स्वातन्त्र्य के साथ दूसरे के स्वातन्त्र्य मे बाधा नहीं डालते। इस प्रकार से सारे मानव-व्यापार अन्तत स्वाधीनता से सम्बद्ध हैं। मै दूसरे को बदल नहीं सकता, इसलिए उपदेश और नसीहतें देना कोई मानी नहीं रखता। यह सब ऊपरी-ऊपरी हवाएं है—जडो के भीतर कोई और चीज है जो काम करती है। व्यक्ति व्यक्ति को नैतिक बल से बदल सकता है, यह हमारी पुरानी धारणा हमे बदलनी होगी। व्यक्ति केवल अपने को बदल सकता है। दूसरे पर उसका प्रभाव पड़े या न पडे। 'अन्य' या 'पर' का हम कुछ भी नहीं कर सकते, ऐसा आधुनिकतम पश्चिमी अस्तित्ववादी मानते है। अत नीति की चर्चा हमेशा अपनी चर्चा होनी चाहिए, औरो की चर्चा हमे अटकाती है। कभी-कभी वह अपनी चर्चा न करने का बहाना बन जाती है। आत्म-संयम या आत्म-नियमन ही नीति का मूलाधार हो सकता है। उसी मे सच्ची स्वतन्त्रता है। अणुव्रत-आन्दोलन का केन्द्र भी यही है।

मेरे मन मे शान्ति (अहिंसा), प्रामाणिकता और स्वातन्त्र्य नये मानवतावाद के मौलिक तत्त्व है, जिन पर देश-काल-परिवर्तन के बावजूद नीति का निर्माण होता चला आया है और आगे भी होगा।

नैतिकता का मूल्यांकन

श्री मुकुटबिहारी वर्मा
सम्पादक—हिन्दुस्तान

अनैतिकता या भ्रष्टाचार की बात आज जितनी फैली हुई है, उतनी इससे पहले भी फैली है, यह कहना मुश्किल है। हर मुँह दूसरो की बुराई और भ्रष्टाचार के अजगर की तरह फैलते जाने की चर्चा सुनी जा सकती है। इसमे कोई सार नही है, ऐसा कहना सच्चाई से इन्कार करना होगा। लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि सब-कुछ दूसरो से ही चाहा जाता है, अपनी ओर देखने और अपना सुधार करने की कोई चिन्ता नही करता। हमारी सम्मति मे नैतिकता के मूल्यांकन का यह तरीका सही नही है, न इस तरह स्थिति को सुधारा ही जा सकता है।

अनैतिकता या भ्रष्टाचार का इस समय बोलबाला है, इससे इन्कार न करते हुए भी हम कहेगे कि 'खुदरा फजीहत दीगरां नसीहत' के बजाय 'हकीमजी, पहले अपना इलाज कीजिए' का रास्ता अपनाया जाये, तभी अनैतिकता की बाढ को रोका जा सकता है। सोचने की बात यह है कि भ्रष्टाचार या अनैतिकता को सहारा कहाँ से मिलता है? भौतिकता की चकाचौध,जीवन-स्तर ऊँचा करने की आकाक्षा, दूसरो की नजर मे ऊँचा बढने की हविस जब साध्य का रूप ले ले और लक्ष्य-सिद्धि के लिए साधनो की अच्छाई-बुराई व्यावहारिक रूप मे गौण बन जाये तो अपना काम बनाने के लिए हर कोई यह नही देखता कि वह ठीक तरह ही बढ रहा है या नही।

जब हम भ्रष्टाचार के बढने की बात करते है और हर उस व्यक्ति या दूसरो की उसके लिए नुक्ताचीनी करते है, तब इस बात का ख्याल नही करते कि स्वय हम अपना काम सुगमता से कराने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करते हैं या नही? 'प्रभाव' शब्द सामान्य रूप मे है, जो अपने पद या समाज मे अपनी स्थिति के अनुरूप काम करता है अथवा पैसे के सहारे। पैसा देकर जो काम अनियमित रूप से कराया जाता है, उसे स्पष्ट रूप मे हम भ्रष्टाचार कह कर उसकी निन्दा करते हैं, पर अपने पद या सामाजिक स्थिति के प्रभाव से अनियमित रूप मे जो काम कराया जाये, वह भी क्या भ्रष्टाचार या अनैतिकता ही नही है? और, रात-दिन भ्रष्टाचार की आलोचना करने वाले तथा दूसरो को बुरा कहने वाले ऐसे कितने आदमी हैं जो अपना काम सुविधा से दूसरो से पहले करा लेने के लिए अपने पद या प्रभाव का उपयोग नही करते? जब हम लम्बी लाइन की अपनी बारी को बचाने की इच्छा करते हैं, या कोई काम सामान्य रूप मे होने वाले समय से कम समय मे अथवा कठिनाई से बच कर करा लेना चाहते है, तब ऐसा असामान्य रूप मे ही किया जा सकता है। वह 'असामान्य रूप' अपनी स्थिति या शक्ति का प्रभाव ही हो सकता है। अत समाज से भ्रष्टाचार या अनैतिकता को दूर रखना है तो दूसरो की बुराई करने के बजाय अपनी ऐसी इच्छा या प्रवृत्ति को पहले रोकना होगा।

मतलब यह कि भ्रष्टाचार के लिए दूसरो की आलोचना करने के बजाय उसके मूल कारण कठिनाई या असुविधा से बचने के लिए सामाजिक स्थिति पर या धन के प्रभाव को काम मे न लाने का निश्चय और अभ्यास करना होगा। यह दूसरो से चाहने के बजाय खुद करने की बात है, क्योकि दूसरो से सिर्फ चाहा जा सकता है, लेकिन खुद करने मे कोई रुकावट नहीं। और इस तरह शुद्ध या भ्रष्टाचार-रहित बनने का क्रम अपने से चले तो समाज मे भी उसकी सुगन्ध फैले बगैर नही रहेगी तथा समाज मे ऐसे लोगों का विस्तार होकर नैतिकता या भ्रष्टाचार-हीनता को प्रोत्साहन मिलेगा। आज तो स्थिति यह है कि सब-कुछ दूसरो से चाहा जाता है और खुद वैसा करने की चिन्ता नही की जाती। मानो हर-एक यह चाहता है कि दूसरे सब तालाब मे दूध डालें और मैं अगर पानी डाल दूँगा तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा। ऐसा

सोचना किसी एक का ही अधिकार नही होता, जिसका परिणाम यह होता है कि तालब मे ज्यादातर लोग पानी ही डालते हैं और दूध या तो कोई नही डालता या फिर ऐसे लोगो के अपवाद-रूप होने से दूध की जगह पानी ही ज्यादा होता है। फलत: आलोचना के बावजूद अनैतिकता और भ्रष्टाचार घटने के बजाय बढते ही जा रहे हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन मनुष्य मे नैतिकता लाने का आन्दोलन है। क्या अच्छा हो कि परोपदेश या पर-निन्दा के बजाय यह हम लोगो मे स्व-कर्तव्य-पालन की भावनाओ को प्रोत्साहन दे और ऐसे आदर्श उपस्थित करे जो दूसरो से चाहने या दूसरो की आलोचना करने के बजाय खुद कोई अनैतिकता न करें, यानी कष्ट और असुविधा बचाने के लिए किसी तरह के प्रभाव का उपयोग करने के लोभ से मुक्त हों। ऐसा हो, तभी भ्रष्टाचार की समस्या का कोई समाधान सम्भव होगा, ऐसा हमारा नम्र अभिप्राय है। अत नैतिकता का हमारा मूल्यांकन बदलना चाहिए और उसकी कसौटी यह होनी चाहिए कि दूसरो से चाहने के बजाय खुद करने का प्रयत्न किया जाये।
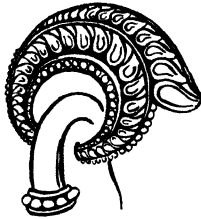
अनैतिकता : अस्वस्थता का मूल कारण

डा० द्वारिकाप्रसाद

जीव, मन, ज्ञान, विचार, इच्छा, चेतना और जीवनी-शक्ति से युक्त पंच महाभूत (क्षिति, अप्, तेज, व्योम और मरुत) से सर्जित अनुपम यन्त्रवत् मानव-शरीर सृष्टि की सबसे बड़ी देन है। यद्यपि जीव, मन, ज्ञान आदि की क्रियाओं को हम सभी शरीर की बाह्य प्रतिक्रियाओं द्वारा देखते और अनुभव करते है, पर यह नही समझ पाते कि जीव, मन, शरीर आदि आपस मे मिल कर किस प्रकार सम्मिलित रूप मे कार्य करते रहते हैं तथा किस प्रकार जीवनी-शक्ति, जो एक अभौतिक तत्व है, शरीर के सभी कोषो और तन्तुओं को प्रभावित कर अकेले ही सरलता-पूर्वक भौतिक व्यवस्था की विधियो का पालन करती हुई शरीर के सभी अगो को जीवन के निमित्त जीवन-सम्बन्धी सभी कार्यों के सम्पादनार्थ उत्प्रेरित करती है।

भारतीय दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म मे एव मन जीव मे उद्विकसित हुआ है। जीव, मन और शरीर परम अस्तित्व, परम चेतना एव परम आनन्द (सच्चिदानन्द) की मूलभूत सामग्रियो की त्रिगुण व्यवस्थापनाए है। यह मूलभूत वास्तविकता शरीर मे अन्तर्भूत है और सृष्टि उद्विकासी प्रक्रिया-मात्र। मानव-जीवन-विज्ञान का सृजन विचार, इच्छा और कर्म से हुआ है। मनुष्य सोचता है, इच्छा करता है और उसके बाद वह कोई कर्म करता है। उसके सभी ऐच्छिक कर्मों मे पूर्व उसमे लक्ष्य-विचार, साधन-विचार सकल्प, इच्छा आदि मानसिक क्रियाए और बाद मे शारीरिक प्रक्रियाए होती है। इस प्रकार उसका प्रत्येक ऐच्छिक कर्म उसकी आन्तरिक क्रियाओ का फल-मात्र होता है।

सृष्टि मे मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो तर्क-प्रदत्त है और यही कारण है कि उसको अपने शुभ-अशुभ और उचित-अनुचित समझने का ज्ञान प्राप्त है। उसके इस ज्ञान के कारण ही उसे नैतिक प्राणी भी कहा जाता है। वह केवल आत्म-चेतना से ही सम्पन्न नही है, बल्कि वह नैतिक चेतना अर्थात् उचित, अनुचित, दायित्व और उत्तरदायित्व की चेतनाओ से भी सम्पन्न है। उसकी नैतिकता उसके विवेकपूर्ण कर्मों का सुव्यवस्थित सग्रह होता है। उसके सभी नैतिक कर्तव्य उसकी नैतिक प्रकृति की माँग पर निर्भर करते हैं। नैतिकतापूर्ण आचरण के लिए बहुत सारे आदेश हैं। इन आदेशो मे शारीरिक अथवा प्राकृतिक नियमो के पालनार्थ भी एक आदेश है, जिसे आचार-शास्त्र मे शारीरिक या प्राकृतिक आदेश कहते है। मानव के शुभ-अशुभ आचरणो के फलस्वरूप ही उसकी आयु, उसके बल एव उसके मानसिक या शारीरिक स्वास्थ्य पर हितकर या अहितकर प्रभाव पडते है। स्वास्थ्य के नियमो का उल्लघन करने से स्वास्थ्य खराब होगा और उसके दण्ड के रूप मे मानव को रोगी होना पडेगा—यही है उसके स्वास्थ्य-सम्बन्धी नैतिक आदेश।

मनुष्य की जीवन-व्यवस्था मे समाविष्ट उसके जीवन-सम्बन्धी शुभ-अशुभ एव उचित-अनुचित कर्मों पर विचार करने के ज्ञान के कारण ही उसे अपने जीवन की वास्तविकताओ और उसके अस्तित्व के अभिप्रायो को समझने की क्षमता प्राप्त है। जीवन की वास्तविकताओ को समझने, उसके अस्तित्व के अभिप्रायो की पूर्ति तथा उसके उचित उपभोग के लिए उसकी आन्तरिक क्षमताओं का सर्वांगीण विकास अत्यावश्यक होता है। पर आन्तरिक क्षमताओ का सर्वांगीण विकास तभी सम्भव होता है, जब उसके जीवन की वास्तविकताओ के सम्बन्ध के उसके ज्ञान के साथ अभिप्रायो की पूर्ति तथा उसके अस्तित्व के उचित उपभोग की उसकी ऐच्छिक शक्ति के विकास के लिए मन और शरीर सुव्यवस्थित हो। सुव्यवस्थित मानसिक एव शारीरिक अवस्था को ही हम स्वस्थ अवस्था कहते हैं।

मानसिक एव शारीरिक व्यवस्था के लिए उसमे एक अदृश्य शक्ति होती है, जिसे जीवनी-शक्ति कहते हैं। इस

शक्ति का बोध केवल उसके शरीर की अनुभवगम्य चेतनाओं और क्रियाओं द्वारा ही होता है। इसका काम है शरीर और उसके प्रत्येक अंश का मस्तिष्क के साथ जुड़ा रखना। जीवनी-शक्ति एक सरल अभौतिक तत्त्व है और वह एक अन्य सरल अभौतिक तत्त्व द्वारा, जिसे आत्मा कहते हैं, शासित होती है। सुविख्यात होमियोपैथिक चिकित्सक एवं दार्शनिक डाक्टर जे० टी० केण्ट ने जीवनी-शक्ति को आत्मा का उप-राज प्रतिनिधि माना है। स्वस्थ अवस्था में यह अभौतिक जीवनी-शक्ति मनुष्य के भौतिक शरीर को अनुप्राप्त करती है, सीमाहीन चक्रवत् गति के साथ शासित करती है एवं उसकी शारीरिक व्यवस्था के सभी अंशों की चेतनाओं और क्रियाओं की जीव सम्बन्धी क्रियाशीलता में प्रशंसनीय सामंजस्य रखती है, ताकि उसके अस्तित्व के उच्चतर अभिप्रायों की पूर्ति के निमित्त उसका तर्क-प्रदत्त मस्तिष्क उसके स्वस्थ उपकरणवत शरीर को स्वतन्त्रतापूर्वक काम में ला सके।

डाक्टर केण्ट के मतानुसार शरीर के शासन का केन्द्र मस्तिष्क का मुख्य भाग होता है, जहाँ से शरीर का प्रत्येक स्नायुकोष्ठ, जो उसके अन्तरतम मध्यम एवं बहिर्तम का प्रतिनिधित्व करता है, शासित होता है। शरीर की सुव्यवस्था या कुव्यवस्था के लिए सभी कार्रवाइयाँ यहीं से आरम्भ होती हैं। अतः स्वस्थ अवस्था में उसका जीवन, एक इकाई की सामान्य सक्रियताएँ और उसकी सभी शक्तियाँ केन्द्र की क्रिया के फल मात्र होती हैं। प्रत्येक वस्तु, जो केन्द्र से प्रभावित एवं नियन्त्रित होती है, उसे केन्द्र से सम्बद्ध माना जाता है। जिस प्रकार केन्द्र की शासन-प्रणाली में किसी प्रकार की गड़बड़ी होते ही उससे सम्बद्ध सभी राज्यों की शासन-प्रणालियाँ प्रभावित हो पड़ती हैं, उसी प्रकार मानसिक क्रियाओं में दोष आ जाने पर मनुष्य के विचार और उसकी इच्छा की प्रणालियाँ कुव्यवस्थित हो जाती हैं, जिसके कारण वह शुभ-अशुभ का ज्ञान खो बैठता है और उसके कार्य अनुचित होने लगते हैं। मानसिक व्यवस्था में कुव्यवस्था के फलस्वरूप परिवर्तित चेतनाओं एवं क्रियाओं की उत्पत्ति के साथ परिवर्तित जीवन ही रोग होता है। अतः मनुष्य के रोग की अवस्था में ऐसा सोचना ठीक नहीं होता कि उसकी दैहिक क्रियाओं में उससे दूषित क्रियाएं उत्पन्न होती हैं, बल्कि ऐसा सोचना चाहिए कि दूषित आन्तरिक क्रियाओं द्वारा पूर्णरूपेण प्रभावित हो जाने के कारण ही वह एक दूषित अवस्था बन जाता है। रोग कोई पृथक् तत्त्व नहीं होता, जो उसके शरीर के भीतरी भाग में कहीं छिप कर रहता है, बल्कि उसके अनियमित तथा अनैतिक जीवन के फलस्वरूप ही वह उसकी परिवर्तित मानसिक अथवा शारीरिक कुव्यवस्था की एक गुणात्मक अवस्था-मात्र है।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य की सुव्यवस्थित मानसिक एवं शारीरिक अवस्था ही उसकी स्वस्थ अवस्था होती है। उसकी यह स्वस्थ अवस्था उसके रहन-सहन, आचार-विचार एवं आहार-विहार आदि के नियमों पर निर्भर करती है। ये नियम प्राकृतिक नियमों पर आधारित है तथा उसी प्रकृति द्वारा स्थिर भी किये गए हैं, जिसमें वह जन्म लेता, पलता, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध होता तथा मर जाता है और जन्म से लेकर मृत्यु तक की अवधि में अपने जीवन-सम्बन्धी सभी कार्यों को करते हुए जीवित रहता है। प्राकृतिक नियमों के अनुकूल अपने आचरणों द्वारा रोगोत्पादक शक्तियों पर विजय पाते हुए स्वस्थ जीवन व्यतीत करना ही तो मानव-धर्म है। चिकित्सा-जगत् भी इस बात को सहर्ष स्वीकार करता है कि मानव-स्वास्थ्य का वास्तविक प्रभाव औषधि-चिकित्सा के बाहर की वस्तु है। प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करते हुए औषधि के बल पर मानव स्वस्थ नहीं रह सकता। वह पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द तभी ले सकता है, जब वह अपने विवेक की अन्तर्वाणी के आदेशों का पालन करते हुए अपना कर्म करता है, अर्थात् न्यायपरायण, धर्मपरायण, कर्तव्यपरायण, विवेकी तथा नैतिक उत्तरदायित्व के ज्ञान से सम्पन्न और सत्यवादी, दयालु, ईमानदार, निष्कपट और उद्योगी होता है। वह सर्वदा स्वयं को शृंखलाबद्ध व्यवस्था में रखने की आकांक्षा रखता है ताकि उसके विचार विवेक-पूर्ण हों और वह स्वस्थ जीवन व्यतीत करे। अतः मनुष्य के स्वस्थ जीवन से उसके ज्ञान एवं नैतिक आचरण का प्रदर्शन होता है और उसके अस्वस्थ जीवन से उसके अज्ञान एवं अनैतिक आचरण के संकेत मिलते हैं।

मनुष्य जब तक अपना आचरण आहार, विहार आदि प्राकृतिक नियमों के अनुकूल रखता गया, तब तक वह स्वस्थ था। रोग और औषधियाँ नाम-मात्र की थीं। पर ज्यों-ज्यों उसकी आधुनिक सभ्यता के विकास में प्रगति होती गई, त्यों-त्यों उसके जीवन की जटिलताएं और उसमें उत्पन्न समस्याओं के साथ-साथ उसमें धन, सुख, प्रभुत्व आदि का

लोभ बढ़ता गया और वह अपने जीवन की वास्तविकताओं और अभिप्रायों को भूलता गया। उसके रहन-सहन, आचार-विचार, आहार-विहार आदि प्राकृतिक नियमो के प्रतिकूल होते गए तथा उसका नैतिक स्तर गिरता गया। आडम्बर और कृत्रिमताए बढती गई। फलत आज के अधिकाश मानव-समाज के लिए आधुनिक सभ्यता की जटिलताओ से उत्पन्न कारणो द्वारा शारीरिक या प्राकृतिक नियमो मे अन्तर्विष्ट आदेशो का पालन तथा सयमपूर्ण जीवन, असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो गया है और साथ-साथ उन नियमो के उल्लघन के फलस्वरूप दण्ड के रूप मे नाना प्रकार के रोगो से बहुधा ग्रस्त होते रहना उसके जीवन की सामान्य घटना-सी बन गई है। मानव आज मिथ्यावादी, व्यसनी, स्वार्थी, लोभी और अवसरवादी बनकर मानवता से दूर और पशुता के निकट होता जा रहा है। सत्य, अहिसा, त्याग, क्षमा आदि मे उसकी निष्ठा दिनो-दिन कम होती जा रही है तथा उसकी अपनी समस्याओ से उत्पन्न उसके जीवन के प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ बढती जा रही है और उनसे भी अधिक बढ रही है उसके रोगो की सख्या, प्रकार तथा प्रचण्डता। यही कारण है कि विश्व के प्राय सभी तथाकथित सभ्य मानव नैतिकता के पथ से भ्रष्ट होकर आज किसी-न-किसी रूप मे अस्वस्थ है।

हिन्दू विचारको ने हजारो वर्ष पूर्व ही इस बात की घोषणा कर दी थी कि मनुष्य की मानसिक एव शारीरिक प्रकृति के विरूपीकरण के फलस्वरूप ही उसमे राग-द्वेष, जो उसकी अस्वस्थता के प्रभव होते है, उदय होते है। पर जो मनुष्य अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के नियमो के अनुसार आचरण करता है, वह राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करते हुए रोग-मुक्त जीवन व्यतीत करता है।

महात्मा चरक ने भी कहा था, "वह मनुष्य, जिसके भोजन और आचरण उसके अपने हित के लिए होते है, जो इन्द्रिय-सुखो से अलग रहता है, जो दानी, सत्यवादी, समदर्शी एव क्षमाशील होता है तथा जो ऋषियो के उपदेशानुकूल अपना जीवन व्यतीत करता है, रोग-मुक्त रहता है। वह मनुष्य, जिसका विचार, वचन और कर्म आनन्द-मिश्रित, मन सुनियन्त्रित और बुद्धि परिष्कृत है तथा जो ज्ञानी, आत्म-सयमी और योग मे लीन है, रोग-ग्रस्त नही होता।"

डॉक्टर जे० टी० केण्ट ने अपने 'लेक्चर्स ऑन होमियोपैथिक फिलॉस्फी' मे लिखा है, "रोग मनुष्य की मानसिक अवस्थाओ के अनुरूप होते है और आज मानव-जाति के जो भी रोग है, वे सभी केवल उसके अन्त करण की बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र है। यह सत्य है कि रोग मनुष्य की आन्तरिक शक्ति-व्यक्ति का लेखा होता है। आज के मनुष्य की मनोदशा इस प्रकार की हो गई है कि वह अपने पडौसी से घृणा करता है और ईश्वर के समादेशो के उल्लघनार्थ भावना कर रहा है। मनुष्य के रोग मे उसकी मनोदशा प्रतिबिम्बित रहती है। ससार के सभी नये या पुराने रोग मनुष्य के अन्त-करण के द्योतक होते हैं। अन्यथा वह उन भावो को, जो उसके अन्त स्थल मे रहते है, रोगाक्रान्त होने पर विकसित नही कर पाता। उसके अन्त करण की प्रतिमूर्ति रोग के रूप मे बाहर आती है। अन्यथा मनुष्य रोगी नही होता। जीवधारी प्रकृति मे उसे पूर्ण जीवधारी होना चाहिए था। सृष्टि के सभी पदार्थों की पूर्णता की ओर देखे। पौधो को ही देखे, अपने में वे किस प्रकार पूर्ण हैं! पर मनुष्य अपने बुरे विचारो तथा मिथ्या भावनाओ द्वारा उस अवस्था मे पहुँच चुका है, जहाँ उसने अपनी स्वतन्त्रता तथा व्यवस्था खो दी है और वह बहुत सारे परिवर्तनो से गुजर रहा है।"

प्रगतिवाद में नैतिकता की परिभाषा और व्याख्या

श्री मन्मथनाथ गुप्त
सम्पादक–योजना, नई दिल्ली

साधारण रूप मे हम उसी को नीति या सदाचार मानते है, जिसे हम बाप-दादो के जमाने से मानते चले आ रहे है। यह सुनने मे बहुत अजीब मालूम देता है, पर है यही वास्तविकता।

हम लोग जिस कबीला, जाति, धर्म मे पैदा होते हैं उसी को निर्भ्रान्ति समझते है और शायद ही कोई व्यक्ति उस पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करता हो। हद तो यह है कि हम जिस वातावरण या परिवेश मे पलते है, उसी के अनुसार हमारे शरीर के गठन मे भी फर्क आ जाता है। सुनने मे यह बात और भी चौंका देने वाली है, पर है यह भी सत्य।

एक हिन्दू यदि अपने सामने मास थाली म रखा हुआ देखे तो उसे उल्टी आ जायेगी, जबकि दूसरे लोगो के मुंह मे शायद पानी आ जाय। इसी प्रकार एक जैनी मास-मात्र से परहेज करेगा और तदनुरूप उसके शरीर और स्नायु की प्रतिक्रियाए भी होगी। उसके मुँह मे लार आना या उल्टी आना उसी रूप मे चलेगा, जैसे उसके बाप-दादे का हुआ था।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम जिसे नैतिक या सदाचार युक्त समझते है, वह एक विशेष अर्थ मे ही सदाचार है। मानव-मात्र के लिए, जाति, धर्म, कबीले से उठ कर जो सदाचार हो सकता है, हम उसकी तरफ जा रहे है, पर अभी हममे से प्रत्येक का मन इस महान् खोज के लिए उपयुक्त नही है। हम अपनी खोल के बाहर निकल कर सोचने मे असमर्थ है। इसीलिए सारे रगडे-झगडे, मत-मतान्तर, मार-पीट, युद्ध और महायुद्ध है।

ऐसी नीति या सदाचार ढूँढ निकालना है, जो मनुष्य-मात्र के लिए मान्य हो। हमे इस प्रकार के यौन आचार, सामाजिक व्यवहार तथा पारस्परिक सम्बन्धो की पद्धति ढूँढ निकालनी है, जो ठीक इस प्रकार से हो, जैसे सडक का नियम होता है, जिसमे जाति, धर्म, कबीला आदि का फर्क नही किया जाता और जिसके लिए ईश्वर को बीच मे डालने की जरूरत नही पडती।

हम भारतीय अक्सर यह डीग मारते है कि प्राचीन काल मे हमने सदाचार का बडा सुन्दर रूप प्राप्त कर लिया था, पर जिन लोगो ने स्मृतियों का अध्ययन किया है, वे जानते है कि किस प्रकार एक ही अपराध, जैसे बलात्कार, के लिए ब्राह्मण के लिए कुछ सजा थी, क्षत्रिय के लिए कुछ और, वैश्य के लिए कुछ और, और शूद्र के लिए कुछ और। हम यहाँ इसके ब्यौरे मे नही जायेगे, पर इतना बता देगे कि हमारी प्राचीन न्याय पद्धति मे ब्राह्मण यदि शूद्रा से व्यभिचार करे तो वह स्नान कर ही शुद्ध हो सकता है, पर यदि शूद्र ब्राह्मणी से व्यभिचार करे तो उसके लिए जीवित-अवस्था मे ही चिता-प्रवेश का विधान है। ऐसी पद्धति के विरुद्ध बौद्ध, जैन विद्रोह हुए; पर वे कुछ विशेष सफल नही हो सके।

यौन आचार को ही सदाचार मे सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है, इसलिए यहाँ उस पर कुछ विस्तार के साथ विचार किया है।

यौन आचार के सम्बन्ध मे प्रगतिवाद का क्या दृष्टिकोण है, इस सम्बन्ध मे कई प्रगतिवाद के दावेदार भी अँधेरे में ज्ञात होते हैं। मैंने एक प्रगतिवादी लेखक को भरी सभा मे यह दावा करते सुना कि पातिव्रत और पत्नीव्रत की कोई जरूरत नही, यह सब तो ढोंग और ढकोसला है। दु:ख के साथ कहना पडता है कि मेरे मित्र ने प्रगतिवाद को समझा नही। ऐसे लोग प्रगतिवाद के सबसे बड़े दुश्मन हैं, क्योंकि एक तो ये स्वय प्रगतिवाद को समझे नही, दूसरे, इनकी बहकी-बहकी बातो को सुनकर जो प्रगतिवाद के सम्भव रिक्रूट है, वे बिदकते है, और तीसरे, इनकी बातो मे

प्रगतिवाद की तरफ ऐसे लोग खिच आते है जिनका किसी भी वाद मे आना उस वाद के लिए परम दुर्भाग्य है।

प्रगतिवाद के दुश्मनो ने इस परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाया है, और चूंकि प्रगतिवाद एक वामपथी आन्दोलन है, इसलिए उसे वाममार्गी प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है, जिसमे उन्हे कुछ सफलता भी मिली है। इसलिए इस विषय पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

प्रत्येक समाज-पद्धति का अपना यौन आचार होता है। अति प्राचीन समाज मे मातृ-गमन और भगिनी-गमन और इस कारण पितृ-गमन और भ्रातृ-गमन सामाजिक था। यम और यमी की सुपरिचित वैदिक अनुश्रुति के अतिरिक्त हमारे वेदो मे उस प्राचीनतर समाज-पद्धति को बहुत-सी गूंजे सुनाई पडती है, जब उल्लिखित प्रकार के यौन आचार अथवा आचारहीनता प्रचलित थी। स्मरण रहे, उन दिनो मनुष्य-समाज मे राज्य या राष्ट्र का उदय नही हुआ था और न वर्गों का ही अस्तित्व था। अभी वैयक्तिक सम्पत्ति का भी उदय नही हुआ था।

इसके बाद उत्पादन के साधनो के विस्तार के साथ-साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, मातृसत्ताक समाज का अन्त होकर पितृसत्ताक समाज का उदय हुआ, वर्गों की उत्पत्ति हुई और वर्ग-शासन के हथियार के रूप मे राज्य का उदय हुआ। स्त्री का सम्मान घटा। विवाह-प्रथा चली। स्त्री अब एक पुरुष की सम्पत्ति हो गई। पातिव्रत का जन्म हुआ और पातिव्रत्य धर्म की महिमा गाई जाने लगी। स्मरण रहे, यह धर्म केवल एकतरफा था। पति देवता जितनी चाहे उतनी शादियाँ कर सकते थे, इसके अलावा दासियां थी, जो मालिक की सम्पत्ति थी।

पहिये का एक और घूर्णन हुआ, सामन्तवाद का युग आया। किसी-किसी देश मे पूर्व-वर्णित दास और मालिक का समाज उतना स्पष्ट नही रहा और सामन्तवाद का सूत्रपात हो गया। जो कुछ भी हो, इस युग मे यौन आचार उसी प्रकार रहा, जैसे पहले बताया गया है। पातिव्रत्य का जोर रहा और एक पुरुष कई स्त्रियो से शादी कर सकता था।

बुर्जुआ युग या पूंजीवादी युग के प्रारम्भ मे बल्कि बहुत पहले से ही, ईसाई देशो मे कानूनन एक-पत्नीत्व का प्रवर्तन हुआ, पर कानून और बात है, व्यवहार और। स्त्री के लिए पातिव्रत्य रहा, पर पुरुष चाहे जितनी उप-पत्नियां रखता रहा। सामन्तवाद के युग मे यह धारणा यहां तक पहुँची कि परकीया-गमन या अनुशीलन सारे साहित्य का केन्द्र-बिन्दु समझा गया और इसी को आधार मान कर साहित्य-शास्त्र तैयार किया गया। देवताओ की गाथाए भी इसी रूप मे परोसी गई।

कहना न होगा कि यौन-व्यवस्था न्याय पर आधारित न होने के कारण तथा उसमे पुरुष और स्त्री की समानता स्वीकृत न होने के कारण किसी भी क्रान्तिकारी विचार-पद्धति के लिए स्वीकार्य नही हो सकती थी। इसी कारण १८४८ मे साम्यवादी घोषणा-पत्र मे जहाँ आर्थिक व्यवस्था को केन्द्र बना कर ही सारी बात कही गई, वहाँ यौन-व्यवस्था पर भी सूत्र-रूप मे दो बाते कह दी गई। उसमे लिखा गया, "पूंजीवादी अपनी स्त्री को महज एक उत्पादन के साधन के रूप मे देखता है। उसने सुन लिया है कि उत्पादन के साधनो का सार्वजनिक उपयोग होगा। बस, उसके दिमाग मे यह धारणा घर कर गई कि स्त्रियो का भी इसी प्रकार सार्वजनिक उपयोग होगा।"

एक बात, जो इस घोषणा-पत्र मे नही कही गई, पर अब प्रगतिवाद के विपक्षियो के द्वारा कही जाती है, वह यह है कि आदिम समाज मे आर्थिक शोषण नही था, पर उसमे यौन आचारहीनता थी, तो भविष्य के शोषणहीन समाज मे भी ऐसा ही होगा। सुनने मे तो यह तर्क बडा सच्चा मालूम देता है, पर यह तर्क थोथा इस कारण है कि भविष्य का शोषण-सम्भावनाहीन समाज आदिम समाज का प्रतिरूप नही होगा, बल्कि उसका अत्यन्त विकसित रूप होगा। बन्दर और अति आधुनिक मानव मे जो फर्क है, वही इन दो समाजो मे है, यद्यपि ऐसे मानव को बन्दर का विकसित रूप कहा जाएगा। इन दोनो समाजो मे केवल एक ही समता है, याने दोनो समाजो मे शोषण नही है। इसके अलावा बाकी जो समताएं है, जैसे दोनो पद्धतियो मे राज्य या राष्ट्र का न होना, सो वे इसी शोषण-सम्भावनाहीनता से ही उद्भूत हैं। आदिम समाज मे, जहाँ यौन आचारहीनता ही यौन सदाचार था, भविष्य के शोषण-सम्भावनाहीन समाज मे जो यौन सदाचार होगा, वह पहले-पहल सर्वसाधारण को यह बतलाएगा कि यौन सम्बन्धो की सम्भावनाए क्या हो सकती हैं। अस्तु !

१८४८ के उल्लिखित घोषणा-पत्र मे यह बताया गया कि "पूँजीवादी विवाह-पद्धति वस्तुत सार्वजनिक पत्नी बनने की प्रथा है, इस कारण साम्यवादियो के विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है, यदि वह सत्य भी हो, तो उसका अर्थ यह है कि जहाँ पूँजीवादी ढोंगी तरीके से, छिपे हुए सार्वजनिक पत्नी-मूलक समाज को लेकर चल रहे है, वहा हम लोग खुले तौर पर वैधकृत इसी प्रकार का समाज चाहते है। यह तो साफ है कि उत्पादन की वर्तमान पद्धति का उच्छेद होते ही इस सार्वजनिक पत्नीत्व वाली पद्धति, याने सार्वजनिक रूप से या छिपे-छिपे वेश्या-वृत्ति का अन्त हो जायेगा।"

दूसरे शब्दो मे, इस घोषणा-पत्र मे यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया था कि जो लोग शोषण-मुक्त समाज-पद्धति की बाते करते है, या ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते है, जिसमे उत्पादन के सारे साधन स्वय काम करने वालो के हाथ मे आ गए है, वे यह नही समझते कि उस समाज की प्रत्येक स्त्री वेश्या होगी और प्रत्येक पुरुष वेश्यागामी।

फिर भी, जैसा कि मै बता चुका हूँ,जो भी प्रगतिवादी आन्दोलन या विचारधारा आई, उसने उस समय मौजूद यौन आचार पर आघात किये, इस कारण प्रगतिवादियो को हमेशा से व्यभिचार और उच्छृखलता के प्रतिपादक करके दिखाने की चेष्टा की गई है। किसी ने जोश मे कोई बात कह दी, या नही भी कही तो उसके कथन को अतिरजित करके तथा तोड-मरोड कर प्रगतिवाद के दुश्मनो ने बार-बार यह हौआ खडा करना चाहा कि देखो, इनकी सुनो, कहते है कि तुम्हारी बहू-बेटी तुम्हारी नही रहेगी।

मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के बहुत पहले से ही समाजवाद का किसी-न-किसी रूप मे विकास हो रहा था। विकास की ऐसी ही कडियो मे फ्रेंच समाजवाद के प्रवर्तक फुरियेर (१७७२-१८३७) बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वे यह समझते थे कि कभी समुद्र खारेपन से मुक्त होकर लेमनेड का सागर हो जायेगा और मनुष्यो की उम्र एकसौ चौवालीस साल होगी, जिसमे से एकसौ बीस साल स्वतन्त्र प्रेम के उपभोग मे व्यतीत हुआ करेंगे। कहना न होगा कि फुरियेर ने यदि ऐसा सोचा कि समुद्र अपना खारापन छोडकर मीठा हो जायेगा, तो इसमे उन्होने कोई बहुत बडा अपराध नही किया। परमाणु-शक्ति ने अब यह सम्भव किया है कि ऐसी बाते हो सके। समुद्र मीठा हो या न हो, समुद्र से इतना खाद्य द्रव्य निकालने पर ही मानवता का भविष्य निर्भर है जिससे कि बढती हुई जनसख्या को खिलाया जा सके। मरुभूमियो को उपजाऊ बनाने की बात हम बहुत गम्भीरता के साथ कर ही रहे है और कोई हमे पागल नही समझता।

रहा यह कि मनुष्य की आयु बढेगी, यह फुरियेर के समय मे भले ही कुछ हद तक कल्पना-विलासी रहा हो, पर गत सौ वर्षों मे यह बहुत कुछ व्यावहारिक हो गया है। सभ्य तथा उन्नत देशो मे लोगो की आयु बढी है और यह एक तथ्य है। इसी प्रकार मनुष्य की सब तरह की उपभोग-शक्ति भी बढती चली जा रही है। स्वतन्त्र प्रेम के सम्बन्ध मे हम बाद को आलोचना करेंगे।

फुरियेर तो माने हुए समाजवादी नेता रहे है, यद्यपि उनके समाजवाद के कारण उन्हे स्वप्नवादी बताया जाता है। उन्होने कुछ कहा, उसे इस सम्बन्ध मे उद्धृत करना प्रगतिवाद के दुश्मनो के लिए क्षन्तव्य कहा जा सकता है, पर दुश्मन को नीचा दिखाने के जोश में इस सम्बन्ध मे इल्लुमिनाटी-सम्प्रदाय के सस्थापक वाइसहाउप्ट का नाम लिया जाता है, जिन्होने शायद यह कहा था कि एरोटेरियन नामक एक मदनोत्सव का प्रवर्तन किया जाये, जो प्रेम की देवी के सन्मान मे मनाया जाये। भला बताइये, वाइसहाउप्ट कौन-से क्रान्तिकारी थे कि उनके मत को इस सम्बन्ध मे उद्धृत किया जाता है? ऐसे कितने ही व्यक्तियो ने कितनी ही बाते ओ३म्-मण्डली के ढग पर कही होगी, पर उनके साथ क्रान्तिवाद या प्रगतिवाद का क्या सम्बन्ध है?

उन्नीसवीं सदी मे स्त्री-स्वाधीनता-आन्दोलन ने बहुत ज़ोर पकड़ा और उस सिलसिले मे उस समय की समाज-पद्धति से उकत कर कई स्त्री-स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेताओ तथा नेत्रियों ने कुछ इस प्रकार के नारे दिये कि सारे खुराफात की जड़ मे विवाह-प्रथा है, इसलिए इसको खतम करो। जार्ज सेण्ड ने यह कह दिया कि व्यभिचार बुरा न समझा जाये। सेण्ड के इस कथन को हम बिलकुल मूर्खतापूर्ण समझते है, पर जिस प्रकार की भावना से अनुप्रेरित होकर उस व्यक्ति ने यह नारा दिया था, उसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि यह उक्ति उतनी मूर्खतापूर्ण नही है, जितनी

प्रथम दृष्टि में ज्ञात होती है। यदि हम इस बात को याद रखें कि उस समय के मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग में पुरुष व्यभिचारी होते थे, तो हमारी समझ में आ जायेगा कि सेण्ड ने क्या बात कही। जहाँ एकतरफा व्यभिचार जारी था, वहाँ सेण्ड ने निराश होकर दोतरफा व्यभिचार का समर्थन किया। इसी प्रकार कुछ अन्य लोगों ने यह नारा दिया कि बच्चों का नाम माँ के नाम पर हो। इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी बातें कही गईं। ये सारी बातें निराशा या प्रतिशोध की भावना से कही गईं, पर इनमें क्रान्तिवाद कहाँ है? क्योंकि क्रान्तिवाद का सार यह है कि विद्रोह हो पर पहले से अच्छा पुनर्निर्माण हो। यह उत्पादन इस प्रकार की उक्तियों में कहाँ है? इनमें विद्रोह तो था, पर पुनर्निर्माण नहीं। ऐसी अवस्था में इन्हें क्रान्ति या प्रगति के मत्थे थोपना अन्यायपूर्ण है।

फ्रांस के प्रसिद्ध समाजवादी राजनीतिज्ञ मौशिये ब्लूम ने विवाह पर एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक उन्होंने अपनी नौजवानी में लिखी थी, पर १६३६ में एक नई भूमिका के साथ उन्होंने इसको प्रकाशित किया। यह पुस्तक स्वतन्त्र प्रेम का प्रतिपादन करती है। उसमें उन्होंने कहा कि भला कोई अपने को पवित्र कुमारी क्यों रखे, क्यों न मनुष्य आकर्षण के सामने आत्मसमर्पण करे? उन्होंने कहा कि आज जो हम किसी की तरफ आकृष्ट होकर भी संयम किये पड़े रहते हैं, इसका क्या कारण है? उन्होंने कह दिया कि लड़कियाँ अपने प्रेमियों के यहाँ से उसी प्रकार लौट आएँगी जिस प्रकार से स्कूल से लौटती हैं। उन्होंने यहाँ तक लिख मारा कि अगम्यगमन में क्या दोष है, इसे वे समझ नहीं पाते, और यदि इस बात को छोड़ भी दिया जाए कि कुछ समाजों में अगम्यगमन उचित माना गया है, तो भी यह स्वाभाविक ही मालूम होता है कि भाई से बहिन का प्यार हो और बहिन का भाई से।

कहना न होगा कि मौशिये ब्लूम ने जिस प्रकार की बातों का समर्थन किया है, वे बिलकुल ही क्रान्तिवाद के नाम के योग्य नहीं है। शरत्बाबू ने 'शेष प्रश्न' में कुछ इसी ढंग की बातों का प्रतिपादन किया है, अवश्य वे बातें इस प्रकार खुले रूप में नहीं कही गई हैं। फिर भी उनका वक्तव्य स्पष्ट है। श्री मा० ना० राय ने इस पुस्तक की बड़ी तारीफ की है और इसे 'गीताञ्जलि' से बढ़कर माना है। सड़े-गले समाज पर, विशेषकर उसके यौन आचार पर चाबुक लगाना और बात है और बन्धन-मुक्ति के नाम पर व्यभिचार को अपनाना और बात है।

शरत्बाबू ने कमल के हाथ में जो झण्डा दिया है, वह क्रान्ति का नहीं है, वह उच्छृंखलता का है। मैंने अपनी शरच्चन्द्र नामक पुस्तक में इसकी ब्यौरेवार आलोचना की है। उसमें से कुछ अंश यों है—"क्रान्ति का अर्थ असंगतिग्रस्त, सड़े कठरोधकारी बन्धनों की जगह पर स्वास्थ्यकर नवीन बन्धनों का प्रवर्तन है। ये बन्धन ऊपर से नहीं लदते, बल्कि क्रान्तिकारी इन्हें अपने ऊपर लादता है। क्रान्ति एक युक्तवाद है। वह युक्तवाद पहले के वाद और प्रतिवाद से सम्पूर्ण रूप से अलग होते हुए भी, पहले के मुकाबले में एक छलाँग होते हुए भी, इसकी उत्पत्ति हवा से या दिमाग से नहीं होती, आधारगत रूप से ही पहले के वाद प्रतिवाद से संयुक्त है। कहीं यह समालोचना अधिक गूढ़ न हो जाये, इसलिए हम इतना ही कहेंगे कि कमल की यह धारणा कि सभी कर्तव्य आत्मपीडन है, एक अजीब धारणा है। फिर एक बार, दूसरे शब्दों में, वही बात साबित होती है जो मैं पहले कह चुका हूँ कि कमल अधिकारों के लिए खूब लड़ती है, सोलहों आने सजग है, किन्तु कर्तव्य को आत्मपीडन बताती है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उसके हाथ में जो झण्डा है, वह क्रान्ति का नहीं है, वह सर्व-बन्धन-विमुक्ति तथा मात्रा-ज्ञान-हीन विद्रोह है। विद्रोह ज्यों ही मात्रा ज्ञान खो बैठता है, त्यों ही वह विद्रोह नहीं रहता, कुछ और हो जाता है, मात्रागत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन हो जाता है।"

स्वतन्त्र प्रेम का यदि कोई अर्थ है तो यही कि प्रेम पर अन्य सामाजिक तथा आर्थिक रोक न हो, जैसा कि हमारे विषमतामूलक समाजों में है। पर स्वतन्त्रता के नाम पर, व्यभिचार का प्रचार करना, बहुत ही दुर्भाग्य की बात है। जैसा कि मैं पहले ही इंगित कर चुका हूँ, क्रान्ति पुरानी मान्यताओं को तोड़ कर नई मान्यताओं को स्थापित करती है। यह नहीं कि सारी मान्यताएं समाप्त हो जायं। यहाँ तक कि भविष्य के राष्ट्रहीन समाज में भी मान्यताएं होंगी। सच तो यह है कि इन्हीं मान्यताओं के आधार पर वह समाज खड़ा होगा। उस समय तो राष्ट्र भी नहीं होगा, और ये ही मान्यताएं सब कुछ होंगी, और इन्हीं के बल पर समाज चलेगा। जैसे हमारे समय की एक सर्वमान्य मान्यता को लीजिये। भले ही कोई राहगीर किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि डाले, पर वह उसका मर्दन नहीं कर सकता। फौरन सब लोग एकत्र हो जायेंगे

और उस व्यक्ति को बुरे काम से रोकेंगे। इस प्रकार की सैकड़ो मान्यताएं होगी, तभी न, बिना राष्ट्र के सैनिक और पुलिस का समाज चलेगा। अस्तु।

प्रत्येक नया समाज एक नये यौन आचार को लेकर आता है, इस प्रकार और इस हद तक क्रान्तिवाद पुराने यौन आचार को हटाकर उसके स्थान पर नया यौन आचार स्थापित करना चाहता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सर्वकाल के लिए किसी आचार का फतवा न देकर प्रगति की प्रगतिशील तथा क्रान्ति की क्रान्तिवादी परिभाषा करता है। किसी प्रकार के शाश्वत यौन आचार का प्रतिपादन हम नही करते। एल्डस हक्सले ने अपनी 'एण्ड्स एण्ड मीन्स' नामक पुस्तक मे यह कहा कि "जिस मुक्ति की हम कामना करते है, वह केवल एक आर्थिक तथा राजनैतिक पद्धति से ही मुक्ति नही है, अपितु हम प्रचलित सदाचार मे भी मुक्ति चाहते है।" स्वाभाविक रूप से समाज के किसी भी ढाँचे मे उसकी सारी विचारधारा, चाहे वह धर्म हो, चाहे साहित्य या सदाचार हो, उस समाज को कायम रखने की चेष्टा करती है। उससे मुक्त होकर नये ढाँचे मे नई विचारधारा, नया सदाचार होगा, यह तो स्पष्ट है।

इसमें जब नये समाजवादी समाज की स्थापना हुई, तो अच्छे-अच्छे लोगो ने पुराने सदाचार को दूर करने के पागलपन मे बिलकुल उच्छृ खलता को अपनाया, जिस पर गोर्की को कहना पडा—"मैं प्रेम की बात पर कुछ न कहूँगा फिर भी मैं इतना कहूँगा कि नई पीढ़ी ने यौन सम्बन्धो मे एक अतिदूषित सरलता का अवलम्बन किया है, जिसके लिए इन अपराधियों को बहुत भारी दाम चुकाना पडेगा। मेरी यह आन्तरिक इच्छा है कि इस प्रकार की लज्जाजनक गड-बडियो के लिए इन्हे जल्दी सजा मिले।" यह स्मरण रहे कि ये वचन प्रगतिवाद के अनन्यतम महान् प्रतिपादक गोर्की के है।

रूस मे इस उच्छृ खलता को दबाने के लिए लेनिन को आवाज़ उठानी पडी। उन्होने इस सम्बन्ध मे जो कुछ कहा, वह क्लारा जेटकिन के साथ बातचीत के रूप मे हमारे लिए उपलब्ध है। उन्होने मौशिये ब्लूम के ढग पर यौन आचार के सम्बन्ध मे गिलास वाले सिद्धान्त का जोरो से खण्डन किया। वे बोले—"मै ऐसा समझता हूँ कि यह गिलास वाला सिद्धान्त, जिसके अनुसार प्यास लगने पर किसी भी गिलास से पानी पिया जा सकता है, बिलकुल समाज-विरोधी है। यौन जीवन मे केवल एक ही बात नही देखनी है कि आपकी तबीयत क्या कहती है; इसमें यह भी देखना है कि सास्कृतिक विशेषताएं तथा आवश्यकताएं क्या है। एगेल्स ने 'परिवार की उत्पत्ति' नामक पुस्तक मे यह दिखलाया है कि सामूहिक यौन-जीवनचर्या से किस प्रकार वैयक्तिक यौन-जीवनचर्या उन्नत अवस्था है। इसके अलावा केवल बात इतनी ही नही है कि यह केवल दो व्यक्तियो का सम्बन्ध है। इसमे और भी बहुत-सी बातें आ जाती है। इन सारे सम्बन्धो को अच्छी तरह समझना पड़ेगा, और उन्हें समाज की आर्थिक नीव से मिलाते हुए देखना पड़ेगा। अवश्य ही प्यास बुझाई जानी चाहिए; पर क्या कोई सही दिमाग वाला आदमी झुक कर नाली से पानी पियेगा? या ऐसे गिलास से पानी पियेगा, जिसका ऊपर वाला हिस्सा बहुत लोगो के व्यवहार मे आने के कारण गन्दा हो चुका है। सामाजिक पहलू सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पानी पीना तो एक व्यक्ति का निजी कार्य है, पर प्रेम मे दो व्यक्तियो का सम्बन्ध आ जाता है और एक नये व्यक्ति का जन्म होता है। इस प्रकार यह एक वैयक्तिक बात न रह कर सामाजिक बात हो जाती है।"

लेनिन ने इस सम्बन्ध मे बोलते हुए कहा—"यह जो प्रेम की बन्धन-मुक्ति की बात कही जाती है, यह न तो कोई नई बात है और न साम्यवादियो का इससे कोई सम्बन्ध है। तुम्हे याद होगा कि गत शताब्दी के मध्य भाग के करीब 'हृदय की मुक्ति' नाम से यह आन्दोलन रोमाटिक साहित्य मे चल निकला था। पर पूँजीवादियो के हाथों मे पड कर यह आन्दोलन 'कामुकता की मुक्ति' बन कर रह गया। उन दिनो इसका जिस प्रकार प्रचार-कार्य होता था, वह कुछ प्रतिभा-पूर्ण था। रहा व्यवहार, सो मैं उसकी तुलना करने में असमर्थ हूँ। मैं यह नही कहता कि लोग लगोट लगा कर सन्यासी बन जायें। कभी नहीं। समाजवाद यतिवाद मे विश्वास नही करता, पर जीवन का आनन्द, जीवन की शक्ति तथा पूर्ण सन्तुष्ट जीवन समाजवाद का ध्येय है। मेरा यह विचार है कि इस समय प्रचलित यौन-उच्छृ खलता मे जीवन को आनन्द तथा शक्ति प्राप्त न होकर, उससे वे छिन जाते है। क्रान्ति के युग मे यह बुरा, बहुत ही बुरा है।"

उन्होने कहा कि न तो वे सन्यासी ही चाहते हैं न डानजुआन चाहते हैं और न इनके बीच के जर्मन पिलि-

स्टिनो को ही चाहते है। इस प्रकार गोर्की और लेनिन प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद के दो महान प्रतिपादकों का क्या कहना है, यह सामने आ गया। रहा यह कि सभी युगों में लोग धोखा खाते रहे है, यह भी स्पष्ट हो गया। इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि प्रगतिवादी साहित्य क्या है, इस सम्बन्ध में भी बड़ी गलतफहमियाँ उत्पन्न हुई है। सभी विद्रोह प्रगति नही है। हम वर्तमान युग के सबसे बड़े अश्लील लेखक पाल सार्त्र की बात लें। कुछ लोग उनके साहित्य को क्रान्तिकारी समझते है, पर असल में उसमें क्रान्ति का कहीं नाम भी नही है। वह तो बुर्जुआ-सभ्यता की पतनशील अवस्था का प्रति-फलक एक कलाकार है। फिर कही गलत न समझा जाऊं, इसलिए यह स्पष्ट कर दूं कि सभी क्षेत्रो में जिसे अश्लीलता कहा जाता है, वह वर्जनीय न तो है और न हो सकता है। जहाँ विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक थोड़े ब्यौरे में जाता है, वहाँ तो थोड़ी अश्लीलता क्षम्य कही जा सकती है, पर जिस साहित्य का उपजीव्य ही अश्लीलता हो, जिसका स्वयं ध्येय ही अश्लीलता हो, वह साहित्य किसी भी हालत में प्रगतिशील नही कहला सकता।

इस सम्बन्ध में छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत है। कुप्रिन का 'गाड़ीवानों का कटरा' नामक पुस्तक आदि से अन्त तक वेश्यालय के सम्बन्ध में होने हुए भी तथा उसमें बराबर अश्लील प्रसग आने पर भी वह एक प्रगतिवादी रचना कही जा सकती है। बात यह है कि उसका उद्देश्य वेश्यावृत्ति की जघन्यता का उद्घाटन करना है। इसके विपरीत सार्त्र बिना कारण सर्वत्र अश्लील-प्रसग लाया है। सार्त्र को आधुनिक युग का लंडन-रहस्य लेखक रेनल्ड्स माना जा सकता है, पर उसमें प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद कहीं नही है। अवश्य उसके तथा रेनल्ड के साहित्य को भी सामाजिक कसौटी पर कसा जा सकता है, और वे, जैसा कि पहले ही इंगित कर चुका हूं, रेनल्ड्स के क्षेत्र में सामन्तवादी वर्ग तथा सार्त्र के क्षेत्र में पूँजी-वादी वर्ग के ह्रास तथा पतन की खबर हमें देते है। इस हद तक यह मानना पड़ेगा कि वे प्रगतिशील है, पर जहाँ तक कि इस ह्रास तथा पतनशीलता को एक गौरवमय रूप देने की चेष्टा करते है तथा भ्रम उत्पन्न करते है कि यही अवस्था शाश्वत तथा स्वाभाविक है, वे निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी है।

जैसे जीवन में यौन वृत्तियों को कुछ भी महत्त्व देने में इन्कार करना गलत है, उसी प्रकार से यह आशा करना भी कि साहित्य में यौन आचारों पर अधिक जोर न देना या उन्हें कोई महत्त्व न देना गलत है। प्रगतिवाद जैसे सभी क्षेत्रों में एक उन्नत विचारधारा को लेकर चलता है, वैसे ही वह यौन आचार के क्षेत्र में भी नये यौन-आचार का प्रतिपादक होकर साहित्य में आयेगा। पर वह किसी भी हालत में पानी के गिलास वाले सर्वबन्धन-मुक्ति का नारा लेकर पूँजीवादी ढग से स्वतन्त्र प्रेम का प्रचार नही करेगा। जैसा कि इंगित किया जा चुका है, प्रगतिवादी के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र प्रेम केवल वही है जो आर्थिक शोषण तथा दबावों से मुक्त हो। पर प्रेम भी एक सामाजिक गुण है, इसलिए स्वतन्त्रता के नाम पर उसे इतना अधिकार नही दिया जा सकता कि वह समाज की दूसरी उदात्त भावनाओं को चोट पहुँचा कर उसके सग-ठन को नष्ट-भ्रष्ट कर दे।"

यौन आचार के सम्बन्ध में हमने जो विश्लेषण किया, वही सब तरह के सामूहिक जीवन तथा वैयक्तिक जीवन पर लागू होता है। वास्तविक सदाचार में एक उपादान बहुत जबरदस्त होगा, बल्कि उसके बिना कोई भी आचार दुरा-चार ही कहलायेगा। वह उपादान यह है कि मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण किसी भी तरह नही होना चाहिए। इस उपा-दान को प्राप्त कर लेने के बाद बाकी बातें उठती है। सदाचार में धनी द्वारा मजदूर का, ब्राह्मण द्वारा शूद्र का, सैयद द्वारा शेख का, पुरुष द्वारा स्त्री का शोषण बिलकुल वर्जित होगा, दूसरे शब्दों में, समाजवादी समाज में ही, उसको आप चाहे किसी अन्य नाम से ही पुकार सदाचार का राज्य हो सकता है।

☾ ☽ ☽

राष्ट्रीय प्रगति और नैतिकता

प्रो० हरिवंश कोच्छड़
अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल

भौतिक प्रगति

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद से भारतवर्ष उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। देश में नाना प्रकार की औद्योगिक प्रगति हो रही है। स्थान-स्थान पर कारखाने खड़े हो गए हैं। समुचित स्थानों पर नदियों पर बाँध बना कर कृषि के लिए सिंचाई का प्रबन्ध किया जा चुका है और भूमि अपेक्षाकृत अधिकाधिक उपजाऊ बनाई जा रही है। विविध उद्योगों द्वारा अन्न, वस्त्रादि की पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है, देशवासियों की दरिद्रता को दूर करने का प्रयत्न हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति की आय में भी, कहते हैं कि वृद्धि हो गई है। सारांश यह कि देश को आर्थिक एवं भौतिक दृष्टि से समुन्नत करने का हर पहलू से प्रयत्न किया जा रहा है। यद्यपि यह विचारणीय है कि इन साधनों से देशवासियों को भोजन और वस्त्रादि की सुविधा अधिक हो सकी है या नहीं।

शैक्षणिक प्रगति

शिक्षा के विस्तार के लिए भी स्थान-स्थान पर नये-नये विद्यालय खोल दिये गए हैं। विद्यालय स्तर तक शिक्षा सर्व-जन सुलभ हो सके, इसके लिए नये-नये कदम उठाये जा रहे हैं। तकनीकी और इंजिनीयरिंग की शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अनेक नवीन महाविद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं। विज्ञान की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, छात्रवृत्तियाँ देकर दक्षता प्राप्ति के लिए बाहर विदेशों में भेजा जा रहा है। दूसरी ओर यह भी सुनने में आ रहा है कि शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना घटती जा रही है। अनेक शिक्षा संस्थाओं में हड़ताल होने के और विद्यार्थियों द्वारा अपने अध्यापकों के प्रति दुर्व्यवहार के उदाहरण भी सुनाई दे जाते हैं। सारांश यह है कि देश में मानव के शारीरिक सुख और भौतिक विकास के विविध प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों का फल यदि अभी नहीं तो निकट भविष्य में उपलब्ध हो सकेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

किन्तु मानव केवल शरीर मात्र ही नहीं। शरीर बिना शरीरधारी आत्मा के व्यर्थ और बेकार ही समझा जाता है। आजकल हम अपने शरीर की सुख-सुविधा की ओर तो दत्तचित्त है, आत्मा की उन्नति की ओर से पूर्ण निरपेक्ष है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि हम शरीर की उपेक्षा करें। **शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्** शरीर ही समग्र सिद्धियों का प्रथम साधन है। किन्तु शरीर को ही सब कुछ समझ बैठना, आत्म-तत्त्व की अपेक्षा उसे प्रधानता देना, उचित नहीं।

धर्म: संस्कृति का मूल मंत्र

हमारी संस्कृति का मूल मन्त्र धर्म रहा है, किन्तु यहाँ धर्म शब्द को संकीर्ण अर्थ में न लेकर व्यापक अर्थ में लिया गया है। धर्म शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। धर्म का आधुनिक अर्थ वही है जिस अर्थ में अंग्रेजी का 'रिलिजन' शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म इत्यादि। प्राचीन समय में इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए मत या मतवाद शब्द का प्रयोग होता था। कभी-कभी धर्म शब्द धार्मिक क्रियाओं अथवा नाना संस्कारों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु इस भाव के लिए प्राचीन शब्द आचार है। कहीं-कहीं धर्म शब्द कानून अर्थात् मानव शिष्टा-

चार सम्बन्धी नियमो के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे मानव धर्म शास्त्र। धर्म शब्द कभी-कभी व्यक्ति के कर्त्तव्य के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है, उदाहरणार्थ—विद्यार्थी का धर्म है गुरु का आदर करना, राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना इत्यादि। इस शब्द का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है—सत्य और न्याय-सम्बन्धी ऐसे सार्वकालिक तथा सार्वभौम नियम जिनका पालन करना सभी को अभीष्ट है।

इस प्रकार जब कहा जाता है कि भारतीय सस्कृति का मूलमन्त्र धर्म है तो वहाँ धर्म शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ मे किया जाता है। वस्तुत धर्म ही मनुष्य और पशु का भेदक है—

आहार निद्रा भय मैथुन च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

यही कारण है कि हमारे जीवनद्रष्टा मनीषियों ने पुरुषार्थत्रय मे धर्म को ही प्रथम स्थान दिया था।

विभिन्न अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ-धारणात्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। धर्म प्रजा को, जनता को एक सूत्र मे धारण करता है। '**धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।**' धार्मिक भावना भारतीय साहित्य मे पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है। व्याकरण, दर्शन, गणित, आयुर्वेद किसी भी विषय का ग्रन्थ हो, सबका आरम्भ मगलाचरण से होगा। नाटको की समाप्ति किसी भरत-वाक्य मे होगी, जिसमे सभी की मगलकामना की जाती है।

राजनीति मे भी धर्म का स्थान है। धर्म को वहाँ से बहिष्कृत नही किया गया। यदि रामचन्द्र ने सीता का परित्याग किया तो लोकधर्म भावना के लिए स्वार्थ-भावना का बलिदान किया। युद्ध मे नि शस्त्र को शस्त्र से जीतना अधर्म समझा जाता था। राजा को इस बात का गर्व नही होता था कि उसके राज्य मे बडे-बडे आलीशान मकान है, अत्यधिक समुन्नत व्यापार है, नाना समृद्ध उद्योग हैं। कैकय अश्वपति को इस बात का अभिमान था कि—

न मे स्तेनो जनपदे न चौर्यो न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्नि र्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

धर्म को जिस व्यापक अर्थ मे लिया गया है, उसमे धर्म के अन्तर्गत जीवन की पवित्रता, नैतिकता और सदाचार का भी समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा क्षेत्र मे भी धर्म का स्थान था। प्राचीन समय मे गुरुकुलो मे विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए जाते थे। वहाँ आचार्य उन्हे उपनीत करता था। आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—**आचारं ग्राहयति, आचिनोति बुद्धि, आचिनोत्यर्थान् वा** अर्थात् आचार्य उसे कहते थे जो विद्यार्थी को वस्तु-ज्ञान कराता था, उसकी बुद्धि का विकास करता था और उसमे सदाचार की प्रतिष्ठा कराता था। शिष्य को प्राचीन समय मे अन्तेवासी कहा जाता था। वह गुरु के समीप—उसके हृदय मे बसता था। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अन्तेवासी या ब्रह्मचारी को, आचार्य इन्द्रिय-निग्रह और तपस्या का आदेश देता था।

अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में धर्म का लक्षण किया है कि **यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः** अर्थात् जिससे इहलोक और परलोक दोनो लोको का कल्याण हो, उसे धर्म कहते हैं। दोनो लोको का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इहलोक की ही साधना मे लीन रहना और परलोक की उपेक्षा करना अनुचित है। इसी प्रकार परलोक की ही चिन्ता करना और इहलोक का तिरस्कार करना भी अनुचित है। दोनो का समन्वय होना चाहिए और दोनों के समन्वय का साधक धर्म है।

धर्म के इस लक्षण से भारतीय और पाश्चात्य विचार धाराओं का भेद स्पष्ट हो जाता है। भारतीय विचारधारा इहलोक और परलोक दोनो का कल्याण चाहती है अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार की उन्नति चाहती है। किन्तु पाश्चात्य विचारधारा केवल भौतिक उन्नति की ओर ही दृष्टिपात करती है। इस दृष्टिकोण से पाश्चात्य मानव ने मानव की शारीरिक सुख-सुविधा के लिए नाना प्रयत्न किये। विज्ञान की सहायता से उसने मानव के शारीरिक सुखोप-

भोग के समग्र साधन जुटाने का प्रयत्न किया। भारतीय विचारक भी इस शारीरिक सुख की उपेक्षा नहीं करना चाहता, किन्तु इसके साथ ही वह परलोक के कल्याण की भी कामना करता है। सारांश भारतीय विचारक भौतिक विकास की अवहेलना नहीं करता। भौतिक समृद्धि के अभाव में राष्ट्र की पूर्ण उन्नति नहीं हो सकती। अत भौतिक विकास के साथ-साथ वह आध्यात्मिक विकास भी चाहता है—दोनो का समन्वय चाहता है।

पशु-सुधार बनाम मानव-सुधार

हमारे वर्तमान शासन मे धर्म का कोई महत्त्व नही। शिक्षा मे भी आचार और नैतिक आदर्शों की शिक्षा का कोई प्रयत्न नही किया जा रहा है। नयी-नयी योजनाए बन रही है। मानव-शरीर के सुखोपयोग के नये-नये साधन जुटाये जा रहे हैं, किन्तु जिस मानव के लिए ये योजनाएं हैं, उस मानव के निर्माण के लिए कोई योजना नही। किसी भी योजना के लिए दो तत्त्वो की आवश्यकता हुआ करती है—अर्थ तत्त्व (धन) और जन तत्त्व। इन दोनो के सदुपयोग से ही कोई योजना सफल हो सकती है। किसी भी योजना मे केवल धन के व्यय के ऊपर ही ध्यान न देकर उसके सदुपयोग पर भी विचार करना चाहिए। इसी प्रकार जनसख्या पर ही विचार न कर जन-विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। हमारी विविध योजनाओ मे मानव के विकास का कोई स्थान नही। यदि ये सब योजनाए जिस मानव के लिए हैं, उस मानव को हम सच्चा मानव न बना सके तो सब व्यर्थ हैं। चूहो और खरगोशो पर परीक्षण हो रहे है। घोडो, बैलो की नस्ल सुधारने के प्रयत्न हो रहे है। किन्तु मानव को सुधारने का कोई प्रयत्न नही दिखाई देता।

कल्पना कीजिये कि भारत ने विज्ञान की सहायता से अपनी आर्थिक समस्या को सुलझा लिया। जैसे अमेरिका और इगलैड-जैसे देश भौतिक उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचे हुए हैं। उनका अन्धानुकरण कर भारत भी भौतिक दृष्टि से समृद्ध हो जाता है। किन्तु इससे क्या हम सुखी हो सकेंगे ? क्या वे देश सुखी हैं ? सन्तुष्ट है ? आर्थिक समस्या मनुष्य की अन्तिम समस्या नही। आर्थिक समस्या के साथ-साथ यदि मनुष्य की आवश्यकताए भी बढती जायेंगी तो समस्या कैसे सुलझेगी ? हमे यह कौन बतायेगा कि सच्चा सुख तो आवश्यकताओ को कम करने मे है। जब तक मन मे सन्तोष पैदा नही होता, हम निरन्तर लालसाओ की ओर दौडते रहते है, तब तक सुख सम्भव नही। इधर नित्यप्रति भोग्य-सामग्री बढ रही है, उधर धोखे से झूठी भोग्य-सामग्री तैय्यार करने वाले भी बढते जा रहे है। नैतिक स्तर गिरता जा रहा है। क्या इसी से भारत सुखी हो सकेगा ?

हमे हर्ष है कि सब धर्मों मे प्रतिपादित आचार मार्ग द्वारा आज भी हमारे बीच आचार्यश्री तुलसी उसी प्राचीन विचारधारा की प्रकाशमयी मशाल लेकर हमे मार्ग-प्रदर्शन कर रहे है। वे भारत की वर्तमान अवस्था को देखकर उसके राष्ट्रीय चरित्र के पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे है। उन्होने अपने अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा नैतिक जागरण पर बल दिया है। वे हमारा ध्यान हमारे प्राचीन भारतीय मनीषियो की विचारधारा की ओर आकृष्ट कर रहे है, जिन्होने घोषणा की थी कि आर्थिक समस्या के हल हो जाने पर भी मानव की वास्तविक समस्या हल नही होगी। शरीर को ही सब कुछ न समझो। शरीर के पीछे आत्मा है। शारीरिक भूख से ऊँची भी कोई अन्य वस्तु है। भौतिक उन्नति को मानव के विकास-मार्ग का साधनमात्र समझो, साध्य नही। जिस आचार्यप्रवर ने हमारा ध्यान उसी प्राचीन पवित्र मार्ग की ओर आकृष्ट किया है, हम उनके चरणों मे सादर अपनी विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

भारतीय स्वाधीनता और संत-परम्परा

मुनिश्री कान्तिसागरजी

शान्ति का स्रोत

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारतीय नागरिकों का उत्तरदायित्व बहुत बढ गया है। आज देश के समक्ष प्रादेशिकता साम्प्रदायिकता और भाषा आदि कई विषम समस्याएं है। पर सबसे बडा प्रश्न है राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से रक्षा का। चरित्र, नैतिकता और व्यवहार-शुद्धि राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। नागरिको का सामूहिक विकास इसी आदर्शोन्मुखी उत्कर्ष पर निर्भर है। सुरक्षा का आधार ही राष्ट्र का सर्वोत्कृष्ट चरित्र है, जिसका निर्माण नीतिमत्ता-पूर्ण दैनिक जीवन और आचरण पर अवलम्बित है। सैनिको द्वारा रक्षा की अपेक्षा आत्मिक स्वावलम्बन मूलक संरक्षण अधिक स्थायी व प्रेरणाप्रद होता है। भौतिक रक्षा की अपेक्षा आध्यात्मिक परम्परा की रक्षा का सार्वकालिक महत्त्व है। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत राष्ट्र या व्यक्ति वास्तविक सुख-शान्ति का अनुभव नही कर पा रहे है। अर्थमूलक उन्नति भले ही वैयक्तिक जीवन को भौतिक दृष्टि से समाज मे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर सके, पर जब तक स्वार्थ-मूलक संघर्षों की परम्परा समाप्त नही होती, शोषकवृत्ति जीवन से सदा के लिए समाप्त नही होती और प्रतिहिंसा व प्रतिशोध की भावना का निर्मूलन नही हो जाता, तब तक जन-जीवन सामूहिक शान्ति का सुखानुभव नही कर सकता। समत्व ही शान्ति का स्रोत है।

भारत मे मानवता का शाश्वत मूल्य सदा से रहा है। समाजमूलक आध्यात्मिक परम्परा के तत्त्वदर्शी और प्रबुद्ध चिन्तको ने दीर्घकाल-व्यापी साधना-जनित अनुभूति को वैराग्यमूलक त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने की महती प्रेरणा दी है ताकि मानवता की लता, विश्वमण्डप पर फैले और राष्ट्रीय चरित्र का सह-अस्तित्व के आधार पर दृढ सगठन हो तथा प्राणि-मात्र के प्रति व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमूलक समत्व की भावना जीवन मे साकार हो। व्यक्ति का प्रेरणाशील व्यक्तित्व व आदर्श-पोषक भाव एव सहिष्णुता, राष्ट्रीय चरित्र के पहलू है। ऐसे ही गुणो द्वारा नैतिकता-सम्पन्न उत्क्रान्ति पूर्ण विचारो को जन्म मिलता है। संघर्षों को समन्वय की दृष्टि मिलती है और अनुभव की अभिव्यक्ति स्वावलम्बन की ओर उत्प्रेरित करती है। तात्पर्य कि राजनैतिक श्रम द्वारा अर्जित स्वाधीनता की रक्षा नीति, सस्कृति और आत्मलक्षी सस्कारो को जीवन मे मूर्त्तरूप देने से हो सकती है। हमे केवल नव निर्माण के नाम पर विशाल बाँध, सरोवर, राजमार्ग और बृहत्तर व सर्वसुविधा-सम्पन्न भवनो का ही निर्माण नही करना है और न ही यत्रवाद को प्रोत्साहित कर अकिंचनो की उदर-पूर्ति का मार्गावरोध करना है, अपितु हमे तो साम्राज्यवाद-पोषक सस्कृति को समाप्त कर जनतन्त्रमूलक श्रमण—सत—सस्कृति को जनजीवन मे सम, शम और श्रम द्वारा प्रतिष्ठापित करना है ताकि वैयक्तिक स्वार्थ और सघर्ष समाप्त होकर मानव मानवके रूप मे, सम्मानपूर्वक जीवित रह सके। यद्यपि अपेक्षित भौतिक विकास की आवश्यकतानुसार उपयोगिता को ध्यान मे रख कर जीवन मे सयम की स्थापना करनी है और वह तभी सम्भव है जब कि भारतीय राजनीतिज्ञो की अपेक्षा श्रमण परम्परा से प्रेरणा ले। वासना-नाशक तत्त्वो की राष्ट्रीय अभिवृद्धि मे अन्य विकासो मे बाधा की सम्भावना नही रहती।

त्याग-वैराग्य बनाम पलायनवाद

यह सकेत इसलिए करना पड रहा है कि हमारे भाग्यविधाता यह सोचते हैं कि देश के नव निर्माण के समय यदि

युवकों को त्याग-वैराग्य की ओर मोड़ेंगे तो देश की नव सृष्टि कैसे सम्पन्न होगी ? इससे तो उनमें कर्मठता के स्थान पर पलायनवादी भावना प्रोत्साहित होगी। पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि आज हमे निस्पृह और अनाकांक्षी व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो सत्ता और संपत्ति के समान वितरण में आस्था रखते हों। आध्यात्मिक प्रेरणा-सम्पन्न व्यक्ति यदि जनोन्नयन के लिए अपना जीवन अर्पित करता है, तो वह सत्तालिप्सु नेताओं की अपेक्षा अधिक सफल होगा। हमें अपनी संस्कृति का सुदृढ़ सबल ले आगे बढ़ना है। हमारी राजनीति की पृष्ठ-भूमि भी संस्कृति-निष्ठ होनी चाहिए, ताकि ऐसी मानवता का नव-निर्माण हो सके, जिसमें जातिगत उच्चत्व, नीचत्व, साम्प्रदायिकता और भाषा आदि के क्षुद्र भावों को पनपने का अवसर ही न आये। जिन विगत कुप्रवृत्तियों से पराधीनता के बन्धन पोषित हुए हैं, जिन स्खलनाओं से हमारी नैतिक परम्परा धूमिल हुई थी, उनके प्रति आज प्रचुर सावधानी की अपेक्षा है।

अध्यात्म और राजनीति

राजनीति अचिरस्थायी तत्त्व होते हुए भी अद्यतन-युग मे धर्म, संस्कृति और समाज-व्यवस्था में इसका अत्यधिक प्रभाव है। कहना अनुचित न होगा कि आध्यात्मिक विकास की पृष्ठभूमि भी राजनीति बनती जा रही है। सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ अंशतः राजनैतिक सिद्धान्त उपेक्षित नहीं रखे जा सकते; पर जीवन के अन्य आदर्शोन्मुखी उत्कर्ष के लिए तो प्रेरणा का स्रोत संस्कृति को ही मानना होगा। संस्कृति, धर्म और नैतिकता यदि राजनीति के सहचरी होने लगे, तो केवल स्वार्थमूलक दर्पवृत्ति को ही प्रोत्साहन मिलेगा, जबकि मानव का काम्य है—प्राणीमात्र का सर्वोदय, जो अहिंसा, सयम और तपोमय जीवन की त्रिवेणी पर आश्रित है। इस संगम का जिसके जीवन में सामंजस्य है, वही उदारचेता व्यक्ति राष्ट्रीय चरित्र का सुदृढ़ निर्माण कर, स्वाधीनता की जड़ों का सिंचन कर, सुदीर्घ काल तक चरित्र द्वारा राष्ट्र-ज्योति को प्रज्ज्वलित कर देश की आध्यात्मिक प्रभा से विश्व को प्रभावित कर सकता है। स्वार्थ-रहित जीवन ही राष्ट्र को प्राणवान व सस्कारशील बना सकता है। वही राष्ट्र से कम-से-कम लेकर, उसे अधिक-से-अधिक दे सकता है।

अतीत का इतिहास व तात्कालिक राजनैतिक परिस्थितियाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं कि बहु-मुखी राष्ट्रीय विकास के लिए किस प्रकार के व्यक्ति अपेक्षित हैं। यद्यपि जनतन्त्र मे हाथ गिने जाते हैं, पर देखा यह जाना चाहिए कि व्यक्तित्व मे ऐसी कौन सी चरित्रमूलक सौरभ और साधना का सौन्दर्य परिव्याप्त है, जो सचमुच नैतिकता के उच्च धरातल पर राष्ट्र को प्रतिष्ठित कर सके। क्योंकि विकास का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना आत्मिक प्रकाश के और बिना स्व-विकास के राष्ट्र-विकास संभव ही नहीं है; और यह तो सर्व-विदित ही है कि त्रुटिपूर्ण व्यक्तित्व सर्वत्र हानिकर होता है।

आज चारों तरफ से विकास की ध्वनि कर्ण-गोचर होती है। हर समझदार व्यक्ति विकास के प्रति उद्यत है। वह सीमित समय में बहुत-कुछ करना चाहता है; पर बहुत कम व्यक्ति सोच पाते हैं कि राष्ट्र के चरित्र का भी ऐसा विकास हो कि एक ही व्यक्ति के सदाचरण से सम्पूर्ण राष्ट्र की अभिव्यक्ति का अनुभव हो सके। किन्तु प्रश्न यह है कि विकास और चरित्र-निर्माण हो कैसे ? अतीत की ज्योति से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय विकास के लिए, स्वस्थ, निर्दोष और बलिष्ठ समाज-निर्माण के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति का ही सर्वांगीण विकास अपेक्षित है, और वह ऐसा होना चाहिए कि आध्यात्मिक विकास के साथ जीवन के प्रत्येक पहलुओं के भौतिक विकास में भी अनुस्यूत रह सके। भौतिक विकास जीवन का अन्तिम साध्य न होते हुए भी जहाँ तक जागतिक सुख-समृद्धि का प्रश्न है, उसे उपेक्षित नहीं रखा जा सकता, क्योंकि भार-तीय आध्यात्मवाद व्यक्तिमूलक न होकर समाजमूलक रहा है। मनुष्य स्वयं सामाजिक प्राणी है, अतः समाज और राष्ट्र के प्रति उसके जो भी अनिवार्य कर्तव्य हैं, बिना उनका निर्वाह किये दैनिक जीवन सर्वथा निरापद नहीं रह सकता।

परिस्थिति और सफलता

साधना प्राणि-मात्र के विकास का सोपान है। लक्ष्य के प्रति दृष्टि-बिन्दु केन्द्रित कर लिये जाने वाले कार्यों की

सफलता असंदिग्ध है। एक व्यक्ति की साधना राष्ट्र मे सुख-शान्ति का अनुभव कराती है, तो ठीक इसके विपरीत एक ही प्रभाव-सम्पन्न व्यक्ति का दुराचरण सुख-शान्ति के लिए सकटापन्न स्थिति खडी कर देता है। यह सत्य है कि प्रत्येक युग की अपनी भिन्न-भिन्न समस्याए होती हैं। यह सब कुछ इसलिए लिखना पड रहा है कि साधक या कार्यकर्ता की सफलता, विफलता तात्कालिक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियो पर निर्भर है। जिस क्षेत्र की ओर हमारा संकेत है, उस क्षेत्र की सफलता का आधार परिस्थितियाँ होती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र की बात यहाँ नहीं की जा रही है। राष्ट्र में चेतना फूंकने और स्वाधीनता दिलाने मे महात्मा गांधी की निजी साधना और आत्मिक बल के साथ परिस्थितियो का भी बहुत बडा हाथ रहा है। जानतिक अनुकूल वातावरण से उन्होने देश की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि की। साथ ही ऐसी विचार-परम्परा वे छोड़ गए कि हिंसावादी राष्ट्र भी आज उस पर चलकर गर्व अनुभव करते हैं। इसके विपरीत ईसा और मोहम्मद साहब का उदाहरण है कि दोनो क्रान्तिकारी नर रत्नों ने अपने-अपने प्रदेशो मे कुसंस्कारों से गृहस्थ मानवों को सत्य-मार्ग पर लाने के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण वे सफल न हो सके। संसार में बहुत कम ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्हें जीवित अवस्था में सम्मान के साथ प्रेरणा का स्रोत भी माना गया हो। मानव की अपेक्षा अक्सर मनुष्य कब्रो पर पुष्प चढाता है।

परिस्थितियाँ विकास मे सहयोग देती हैं, यह अत्यन्त सुस्पष्ट है। अद्यतन युगीन वातावरण हमारे अनुकूल है। जब राजनैतिक साधना में परिस्थिति जन्य साफल्य सम्भव है, तो यदि अहिंसा, सयम और तपमूलक परम्परा का मूर्तरूप जन-जीवन मे साकार कर दिया जाये तो राष्ट्र की कई ज्वलन्त समस्याए स्वत शान्त हो जायेगी।

साथ ही अनुकूल परिस्थितियो का स्वतः निर्माण हो जायेगा। कभी-कभी यह भी देखने मे आता है कि प्रचण्ड व्यक्तित्व-सम्पन्न मानव अपनी आत्मनिष्ठ साधना द्वारा वातावरण को अपने इतना अनुकूल बना लेता है कि न केवल वहाँ वैपरीत्य ही समाप्त हो जाता है, बल्कि ऐसी अनुकूल स्थिति का शाश्वत सृजन हो जाता है, जिसकी परम्परा और प्रकाश से शताब्दियों तक मानवता अनुप्राणित होती है। भगवान् महावीर आदि लोक-संस्कृति व आध्यात्मिक चेतना के अग्रदूतों का जीवन इसकी सार्थकता का प्रमाण है।

प्रशासन का मानदण्ड

जब सामान्य शासकीय सेवा के लिए नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति की योग्यता जाँची जाती है एव उसका निश्चित मापदण्ड भी निर्धारित है, तो ऐसी स्थिति मे भाग्य-विधाता समझे जाने वाले व्यक्तियो के लिए भी इस प्रकार की व्यवस्था नितान्त वाञ्छनीय है। क्योंकि उसे जनोन्नयन, शासन-सूत्र-संचालन और अन्य महत्त्वपूर्ण कर्तव्य निभाने पडते हैं। कम-से-कम बौद्धिक प्रखरता, पाण्डित्य, क्रियाशीलता, अनाकाक्षा आदि के साथ उनका वैयक्तिक चरित्र निर्दोष व बलिष्ठ होना चाहिए, तभी जनता के हृदय पर अपना प्रभाव स्थापित कर वह जन-विश्वास सम्पादित कर सकता है। पर आज यह स्थिति दृष्टिगोचर होती है कि प्रथम पंक्ति के निरक्षर भट्टाचार्य भी विशिष्ट दल के प्रति प्रतिनिष्ठावान होने के कारण सभी क्षेत्रो मे उपयुक्त स्थान पाने के अधिकारी समझे जाते हैं। अशिक्षित सेना जिस प्रकार रण-कौशल-प्रदर्शन मे असफल प्रमाणित होती है, उसी प्रकार अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण तथाकथित भाग्य-विधाता को भी सफलता प्राप्त नही होती है। ऐसे लोग व्यर्थ ही योग्य व्यक्ति का स्थान रोक कर देश के विकास व उचित कार्य-सचालन मे बाधक बनते हैं।

आचरण मूलक ज्ञान

सच्चरित्रता के साथ उचित शिक्षा भी अनिवार्य है। चरित्रहीन व अयोग्य व्यक्तियों को प्रोत्साहन देने में भले ही दलगत स्वार्थ सिद्ध हाते हो या सत्तालिप्सुओं का सिंहासन सुरक्षित रहता हो, पर जन-कल्याण की दृष्टि से तो देश का अमंगल ही होता है। ऐसे व्यक्तियो मे सत्य, सदाचार और समत्वमूलक प्रेरणा की आशा ही व्यर्थ है। स्वार्थ-प्रेरित जीवन और कर्म जन-पोषक न होकर जन-शोषक का ही स्थान लेगा। दल में कतिपय चरित्र-सम्पन्न व्यक्तियों का समावेश

ही उसकी उच्चता का आधार नहीं होता। उच्चतम विचार भले ही बौद्धिक जगत् में उत्क्रान्ति कर सकें, पर आचरण-विहीन विचार की उपयोगिता संदिग्ध है। भारतीय ज्ञान-परम्परा आचार मूलक रही है। व्यक्ति के जीवन मे रहा हुआ श्रेष्ठ गुण ही उसकी समाज में प्रतिष्ठा करता है। उच्च गुणों का केवल धार्मिक क्षेत्र मे ही महत्त्व है, ऐसी बात नहीं हैं। सार्वजनिक व व्यावहारिक क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में भी इन सब गुणों का इसलिए रहना अनिवार्य है कि उसे जनजीवन को भौतिक प्रगति के साथ उच्चतम आध्यात्मिक मार्ग की ओर भी मोड़ना है। यह कार्य विश्व-विद्यालयों व अन्य शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा संभव है। बालकों के मस्तिष्क पर नीति और धर्म की सुकुमार रेखाएं खींचने से कच्चे घड़े पर अंकित रेखा के समान अमिट हो जायेंगी। वस्तुतः नवोदित युवकों के लिए जो राष्ट्र के भावी निर्माता होने वाले हैं, संस्कार शीलता व चरित्र की महती आवश्यकता है।

वैयक्तिक जीवन व सच्चरित्र

भारतीय संत-परम्परा का झुकाव सदा से गुणों के प्रति ही रहा है। व्यक्ति की बाह्य प्रतिष्ठा का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि वह सामाजिक वैषम्य का प्रतीक बन जाती है। उनकी प्रतिष्ठा साधना-गर्भित विश्व कल्याणकामी जीवन प्रणाली पर अवलम्बित है।

आज का राजनैतिक जीवन-यापन करने वाला मानव सच्चरित्रता जैसी राष्ट्र-यश-संवर्धक शक्ति को उपेक्षित रख कर दौर्बल्य को, *"यह तो हमारे व्यक्तिगत जीवन की वस्तु है"*, *"यह तो हमारे निजी जीवन का प्रश्न है,"*—कहकर टालना चाहता है। वह कहता है—राष्ट्र-उत्कर्ष के लिए जो कुछ वह कर रहा है, वही उसके चरित्र का मापदण्ड होना चाहिए। पाश्चात्य देशों में तो यह चल सकता है; पर भारत में कथनी और करनी का वैषम्य असह्य होता है। आचार और विचार का साम्य ही बाह्य जगत् को उद्दीप्त कर प्रशस्त पथ का प्रदर्शन कर सकता है। कार्यकर्ता का जीवन जितना शुद्ध और निर्दोष होगा, उतने ही वह अधिक उत्साह के साथ जनता को प्रेरणा दे सकता है। आत्मिक बल की शक्ति से प्रेरित प्रत्येक कार्य स्थायी व प्रेरणाशील होता है। वाणी, विचार और कर्म के साम्य के कारण जनता की दृष्टि मे नेता या कार्यकर्ता श्रद्धा का पात्र बन जाता है। जो नेता या धर्मगुरु मानवमात्र को आत्मशुद्धि, उच्च संस्कार और नैतिकता की ओर प्रवृत्त नहीं कर सकता, वह अभीष्ट प्राप्ति में कृत-कार्य नही हो सकेगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व व पश्चात्

विकास और सुरक्षा किस प्रकार संभव है?—यह एक प्रश्न है। वस्तु-प्राप्ति के सामूहिक प्रयत्न में और प्राप्त को संजो कर रखने व विकास की ओर गतिमान करने में अन्तर है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व राष्ट्र के सभी दलों की बलवती आकांक्षा थी कि विदेशी शासन से कैसे मुक्ति प्राप्त की जाये? उन दिनों मत भेद सीमित थे; पर अब वैषम्य बहुत बढ़ा हुआ है। साम्प्रदायिकता, भाषा और प्रादेशिकता के नाम पर जो नग्न ताण्डव हो रहा है, वह राष्ट्र के लिए बहुत ही घातक है। इससे राष्ट्र की सुरक्षा और विकास में बड़ी बाधाएं खड़ी होती हैं। इनको प्रोत्साहित करने वाले व्यक्तियों की राष्ट्र-भक्ति संदिग्ध है। इन तीनों के कारण भूतकाल में भी मानव समाज की जो क्षति हुई है, उसे अब नहीं दोहराना है। राष्ट्र की अखण्डता के लिए संतों की साधना इसका समाधान सरलता के साथ कर सकती है, बशर्ते कि वह शासना-श्रित न हो।

राष्ट्र-कल्याण और सन्त-परम्परा

राष्ट्र-कल्याण की उत्कृष्ट भावना से प्रेरित साधक सर्वप्रथम उच्च विचार को अपनी जीवन रूपी प्रयोगशाला में परीक्षण करने के बाद ही अनुभव के बल पर अपनी वाणी द्वारा समाज के समक्ष रखता है। वाणी विहीन साधना का काल भी आदर्श का प्रतीक बन जाता है। वाणी का मौन कर्म द्वारा अधिक प्रभावोत्पादक व प्रेरणाशील होता है। इसी से सुदृढ़ व्यक्तित्व का विकास होता है, जिससे राष्ट्रीय विकास का मार्ग सरल हो जाता है। आज विकास का संगीत प्रचलित है,

किन्तु जब तक उच्च विचारों की जीवन मे प्रतिष्ठा न हो तथा सहिष्णुतामूलक वृत्ति का जागरण न हो, तब तक केवल उच्च वक्तव्य या विचार प्रदर्शित करने मे कार्य मे सफलता नही मिलती। विकास की परम शर्त यह है कि जीवन को सरल और आडम्बरहीन बनाया जाए और ऐसी कोई क्रिया न होनी चाहिए,जिसमे किसी को भी मानसिक आघात का अनुभव हो। यद्यपि जीवन-निर्वाह के लिए एकान्त रूप से इसका परिपालन सम्भव नही, किन्तु दूसरो को पीड़ा पहुँचाने की विवेकमूलक अप्रमत्त परम्परा यदि जीवन मे प्रतिक्षण साकार हो, तो नि सन्देह अनुचित रूप मे अन्य को असावधानतावश जो यन्त्रणाए दी जाती हैं, उनसे तो अपने-आपको बचाया ही जा सकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि संयम की साधना का कार्य सरल नही है, जब कि सम्पूर्ण राष्ट्र मे विपरीत परिस्थिति का आधिपत्य हो, क्योंकि स्वैच्छिक नियन्त्रण तभी सम्भव है, जब व्यक्ति आत्म-निष्ठ भावना और सस्कार-शील प्रेरणाओ के प्रति पूर्णतया निष्ठावान् हो। ममत्व की भावना प्राणीमात्र के प्रति नि.स्वार्थ ममत्व प्रस्थापित करने मे सहायक होगी। ऐसी स्थिति मे हमारा प्रत्येक कार्य कर्तव्य के रूप मे होगा, न कि उपकारार्थ। व्यक्ति स्वानन्द मे अभिभूत होकर सेवा-भावना के मूल मन्त्र को ध्यान मे रख कर ही अनाकांक्षित रूप मे स्वकर्तव्य के प्रति उत्प्रेरित होगा। भारतीय सन्त-परम्परा ने हमे यही सिखाया है। राष्ट्र का वास्तविक विकास और सरक्षण सत-परम्परा से प्रभावित व्यक्तित्व द्वारा ही सम्भव है। जिसका जहाँ अपना निजी स्वार्थ होता है, वहाँ एकान्त रूप मे निष्कपटता के दर्शन असम्भव होने मे जनता का उन्नयन आकाश-कुसुम के समान है।

शासन-व्यवस्था में ऋषि-मुनियों का प्रभाव

भारत सस्कृतिनिष्ठ और अध्यात्ममूलक परम्परा मे विश्वास रखने वाला राष्ट्र रहा है। समस्त भारतीय जीवन ऋषि-मुनियो की विचारोत्तेजक आचारमूलक परम्परा से प्रभावित रहा है। सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था से लगाकर राष्ट्र-सचालन जैसे कार्यों मे भी ऋषि-मुनियो का योग आवश्यक समझा जाता रहा है, बल्कि उच्चतर शासको और सम्राटो पर उनका आधिपत्य भी था। विधान का निर्माण ऋषि-मुनियो द्वारा होता था और शासक-वर्ग उसे क्रियान्वित करता था। तपोवन मे पनपने वाली सस्कृति के उपासक ये ऋषि आत्म-साधना मे लीन रहने के बावजूद भी राजकीय महत्त्वपूर्ण कार्यों से अपरिचित नही थे, प्रत्युत आवश्यकता पड़ने पर जटिल-से-जटिल राजनैतिक उलझनों को सुलझाने की भी क्षमता रखते थे। उनका निर्णय अन्तिम था। वे समाज, धर्म और राजनैतिक क्षेत्र मे समन्वय के समर्थक थे।

भारतीय ऋषि-मुनियो की उज्ज्वल ऐतिहासिक परम्परा पर दृष्टि केन्द्रित करने से स्पष्ट अवगत होता है कि उसने राष्ट्रीय जनोन्नयन के विकास में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है वह न केवल उल्लेखनीय ही है, अपितु अनुकरणीय भी। भले ही उनका कार्य अतीत की सीमा मे आबद्ध हो, किन्तु उसके पीछे रहने वाली कल्याण-कामी निश्छल वृत्तियाँ त्रिकालाबाधित हैं।

सन्त-परम्परा-समर्थित सिद्धान्तो से जो लाभ उन दिनो की प्रतिकूल परिस्थिति मे हुआ, वह आज अनुकूल परिस्थिति मे क्यो नही मिल रहा है, यह विचारणीय प्रश्न है। यो तो ऋषि-मुनि, सत या साधक परिस्थितियों से प्रभावित होने की अपेक्षा स्वय परिस्थिति का निर्माण कर अनुकूलता को अपने आत्मिक बल के आधार पर उत्पन्न कर लेते हैं। उनकी वाणी विचारों का अनुगमन नही करती बल्कि विचार वाणी का अनुगमन करते हैं। साधना जनित वाणी का व्यवहार जनता को अद्भुत बल प्रदान करता है। वाणी और कर्म का साम्य किसी भी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र बना देता है। आज सन्त-परम्परा मे भी जो वैषम्य है, उसका एकमात्र कारण उपर्युक्त वैषम्य ही है।

प्रवाह में एक अवरोध

सामन्तवादी युग मे सन्त-परम्परा ने जनता के नैतिक स्तर को उच्च धरातल पर स्थापित करने के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये और तात्कालिक समस्याओं का जो समाधान किया, उसके मूल्यांकन का यह स्थान नहीं है। पर इस उल्लेख के लिए लोभ भी सवरण नहीं किया जा सकता कि उन्होने राजनैतिक और स्थितिपालक परम्परा के वैपरीत्य के कारण जो सफलता प्राप्त की, वह अभूतपूर्व थी। वे सच्चे अर्थों में सत् के प्रतीक थे। उनकी अपनी निजी समस्या कुछ

भी नहीं थी। वे शासकों को प्रसन्न कर अपने मत में दीक्षित करने को उत्साहित नही थे। वे तो आत्मिक साधना के बाद जो शेष समय बचता था, जन-सेवा में लगाते थे। अपने उन्नत विचारों द्वारा जनता को सत्य मार्ग पर लाने मे योग देते थे। उच्च सिद्धान्त और विचार सन्त-जीवन में ओत-प्रोत रहने के कारण ही उन्होंने सम्पूर्ण एशिया को संस्कृति के एक सूत्र में बाँध रखा था। पर उन दिनों सबसे बड़ी बाधा इनके सामने थी—जातिवाद की। वह राष्ट्र पर इस प्रकार छाया हुआ था कि गुणमूलक परम्परा के स्थान पर व्यक्तिमूलक परम्परा का आदर होता था। ग्यारहवीं शती के बाद का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इतःपूर्व यवन, शक, हूण, आभीर आदि अनेक विदेशी जातियाँ शासक के रूप मे आई, लेकिन वे भारतीय बन गई। इसका एकमात्र कारण यही था कि उन दिनो श्रमण या सन्त-परम्परा का व्यापक प्रभाव जन-जीवन पर था। बाद में भारतीय समाज के बहुसंख्यक वर्ग मे वह पावन शक्ति न रही या दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो श्रमण-परम्परा भी सीमित वर्ग की सम्पत्ति हो गई थी, एवं जातिवाद इतना प्रबल हो गया कि सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति भी उपेक्षा की दृष्टि से इसलिए देखे जाने लगे कि निर्धारित उच्च कुल मे उत्पन्न नही हुए थे। इसी सकीर्ण मनोवृत्ति के कारण मुसलमान भारतीय संस्कृति में न खप सके। उनके प्रति स्वार्थान्ध व्यक्तियो ने इतना भयंकर घृणा का भाव फैलाया कि भारतीय विद्या के अनन्य उपासक अलबेरूनी जैसे विद्यासाधक को भी उपेक्षित रखा गया। यहाँ तक कि संस्कृत भाषा के ज्ञान-संपादनार्थ जब वह विद्याशाला में जाते थे तो उन्हे द्वार पर बैठाया जाता था और चले जाने पर उस स्थान पर गोबर-मिश्रित जल छिटक दिया जाता था।

सन्तो ने जाति की अपेक्षा सदा से गुणों को महत्त्व देकर श्रमण-परम्परा-मान्य पद्धति को अपनाकर उदार और विशाल हृदय का परिचय देते हुए, **उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्** के आदर्श को जीवन मे मूर्त रूप दिया। सत्ताधीशो ने, जो स्वार्थी पुरोहितो के प्रपंचमय प्रभाव मे प्रभावित थे, उनके मानवतावादी आत्मलक्षी विचार-प्रवाह को उतना सफल नही होने दिया, जितनी अपेक्षा थी। राजनैतिक दृष्टि से सापेक्षतः साफल्य न मिलने के बावजूद भी साधको की साधना एकान्त विफल न हुई। उन दिनो जन-हृदय पर सन्तो ने अपने नैतिक गुणो द्वारा चरित्र का ऐसा प्रभाव डाला कि उसे निष्क्रिय नहीं होने दिया, बल्कि स्वावलम्बन की ओर प्रेरित किया। यही कारण था कि देश उन दिनो पराधीन होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से मानसिक दासत्व का अनुभव न कर सका था।

नया मोड़

विधान शरीर पर शासन करता है न कि हृदय पर। सन्तो का अधिकार जनता के हृदय पर था। क्या कारण है कि इतनी महान्, बलिष्ठ एव निर्दोष विरासत को पाकर भी स्वाधीनता मिलने के बाद भी जनता सुख और सन्तोष का अनुभव नहीं कर पा रही है? ठीक इसके विपरीत राष्ट्रीय चरित्र व नैतिकता का धरातल प्रतिदिन गिरता जा रहा है। इसे सुधारने के लिए राज्य के कर्मठ नेता विधान द्वारा प्रयत्नशील हैं। किन्तु परिणाम अनुकूल नही निकल पा रहा है। ज्यो-ज्यो वैधानिक नैतिकता बढ़ती जा रही है, त्यो-त्यो अनैतिकता वैधानिक रूप धारण करती जा रही है। नित नई समस्याए खड़ी होती जा रही हैं। भ्रष्टाचार-निवारण के लिए वक्तव्य देने वाले भी जीवन मे सदाचार को व्यावहारिक रूप से प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहे हैं, जो इसके उन्मूलन का सरल मार्ग है। सच्चे अर्थो मे राष्ट्रीयता की भावना का जीवन में सामजस्य नही हो पा रहा है। यदि यही परम्परा चलती रही, तो अहिंसा और सत्य से प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा व राष्ट्र का नैतिक दृष्टि से विकास कैसे हो सकेगा? एतदर्थ तो त्यागपूर्ण जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति ही प्रेरणा के स्रोत बन सकते हैं और उन्ही के द्वारा सूचित कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित किया जा सकता है।

सांसारिक जीवन में उलझा हुआ व्यक्ति कितना भी त्यागी व कर्मठ क्यों न हो, पर उसकी शक्ति, मर्यादा और प्रभाव सीमित ही रहते हैं। विशेषकर सत्ता के सिंहासन पर आरूढ़ व्यक्ति कितना भी तटस्थ व समन्वय-वृत्ति का क्यो न हो, पर परिस्थितिवश उसे अपने दल का समर्थन करना ही पड़ता है। कभी-कभी सत्य और नैतिकता तक को ताक में रख देना पड़ता है। स्वार्थ सिद्धि के लिए आदर्श व्यावहारिकता खो बैठता है। ऐसी स्थिति मे सन्त ही सफल हो सकते हैं। त्याग, तपश्चर्या, संयमशील वृत्ति और विश्व-कल्याण की भावनाओं मे परिपूर्ण उनका हृदय दूसरों के हृदय को परि-

वर्तित करने में समर्थ हो सकता है।

आज के प्रचारात्मक युग मे कभी-कभी बड़े-बड़े सन्देश भी विफल हो जाते है, किन्तु जिन दिनों प्रचार के किसी प्रकार के साधन नही थे, उन दिनो श्रमणो—सन्तो ने सम्पूर्ण एशिया को अपने सास्कृतिक प्रभाव से न केवल प्रभावित ही किया था, अपितु वहाँ के जन-जीवन पर जो प्रेरणा की छाप छोडी थी, वह आज भी शोधको को वहाँ की लोक-संस्कृति और स्थापत्यावशेषो मे परिलक्षित होती है। प्रचार वही सफल व स्थायी होता है जिसके पीछे साधना का बल और ओज हो। भारतीय सन्त-परम्परा के राजनैतिक सन्त महात्मा गांधी का जीवन इस बात की ओर संकेत करता है। जनता की सेवा या राष्ट्रीय विकास के पूर्व व्यक्ति को अपने-आप को माजना चाहिए या अपनी दूषित वृत्तियो को जीवन से पृथक् कर देना चाहिए। सशक्त व्यक्तित्व ही साधना द्वारा सेवा के क्षेत्र मे सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकता है। विधान द्वारा शासित मानव की सफलता संदिग्ध हो सकती है, पर आन्तरिक प्रेरणा व नीतिमत्तापूर्ण जीवन बिताने वाला किसी भी क्षेत्र मे अपनी परम्पराओं का बीजवपन कर सकता है।

साधु-समाज और शासन

भारत मे साधु नामधारी व्यक्तियो की सख्या बहुत बडी है। वे भी अपने को सत-परम्परा के वाहक ही मानते हैं। किन्तु अपने कर्म का दायित्व इनमे से कितने समझते हैं—यह एक प्रश्न है? सुख-शान्ति और वैभव के साथ वैयक्तिक जीवन को समृद्ध बना लेना कोई बडी बात नही है। अपने विशेष सम्प्रदाय के अनुयायियो को समझा-बुझाकर अपने प्रति आदर का भाव बनाय रखना भी कठिन नही है, पर त्याग, तपश्चर्या और शुद्ध व्यवहार द्वारा मानव मात्र को समत्व की श्रेणी मे गिन कर उनको चारित्रिक विकास व सदाचारमय जीवन की ओर प्रोत्साहित करना दूसरी बात है। साधु-समाज का सामूहिक रूप से इस बात की ओर जो प्रयास है, वह नगण्य है। कहने के लिए साधु-समाज की बिखरी हुई शक्ति को 'भारत साधु-समाज' नामक सगठन द्वारा एकत्र कर देश-कल्याण के काम में प्रयुक्त किया जाता है, सयम और सदाचार मूलक सेमिनार भी होते रहते है, पर क्या ये प्रयत्न जिस सीमा मे हो रहे हैं, इनमे राष्ट्रीय विकास और चरित्र के साथ सदाचार की ओर मानव को प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलेगी?

शासन के अधीन रहकर साधु-समाज या कोई भी सत विकासपूर्ण कार्यों मे गतिशील हो ही कैसे सकता है? शासन के द्वारा सभी प्रकार की सहूलियतें तथाकथित व्यक्तियो को भले ही सप्राप्त हो जाये, पर उन्हे सत्ता के सम्मुख विरक्त होते हुए भी नतमस्तक होना ही पडता है। शासक दल के स्वार्थों का समर्थन भी करना पडता है। वहाँ औचित्य का कोई प्रश्न नही है। एक समय था जबकि भारत मे विधान का निर्माण ऋषि-मुनियो द्वारा सम्पन्न होता था और शासको द्वारा इसे क्रियान्वित किया जाता था। इस विधान-निर्माण मे न दलगत स्वार्थ निहित था और न शासकों के प्रति पक्षपात ही। तात्पर्य सत-परम्परा का प्रभाव राजनीति पर इतना था कि शासक भी सन्तो से भयभीत रहते थे। इस विधान मे आवश्यकता पडने पर तथा यदि कोई शासक सत्य से पराङ्मुख होकर कैसा भी अपराध करता, तो वह दण्ड का पात्र बनता था। पर आज शासक ही विधान का निर्माता है और वही इसे अमल मे लाने वाला भी। अत यदि आज शासक भयकर अपराध भी कर बैठे तो उसे कोई दण्ड देने वाली शक्ति नही है। यही कारण है कि आज के विधान मे, शासक दल द्वारा निर्मित होने के कारण जहाँ कही भी प्रातिकूल्य दृष्टिगोचर हुआ, वहाँ तत्काल उसमे परिवर्तन या परिवर्द्धन कर दिया जाता है। ऋषि-मुनियो को न ससार से लगाव था, न उनका कोई निजी स्वार्थ ही था। वासना-रहित कृत्य ही स्थायी कोटि मे आता है।

चरित्र और जीवन का तादात्म्य

यदि भौतिकवाद के प्रभाव से प्रभावित राष्ट्र को चरित्र और संयम की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करना है तो शासक व सार्वजनिक कार्यकर्ताओ पर सत-परम्परा का अकुश नितान्त वाछनीय है। उनका भी चारित्रिक मापदण्ड निर्धारित किया जाना ही चाहिए। जब तक उनमे त्याग और सहिष्णुता की भावना जागृत न होगी, तब तक वे राष्ट्रीयता

को नहीं निभा सकेंगे। स्वयं कोई वैभवपूर्ण जीवन-यापन करे और जनता को त्याग-वैराग्य का संगीत सुनाए तो इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है ? यह कार्य तो उन संतों का है, जो सादा जीवन बिताते हुए, वासना पर विजय प्राप्त कर, जनता को अहिंसा द्वारा संयम की ओर उत्प्रेरित कर सकते हैं। आज की राजनीति यदि संत-परम्परा से प्रेरित हो, तो जो संघर्ष सत्तात्मक गुटों में हैं, वे समाप्त हो सकते हैं। देश की सुरक्षा चरित्र के वास्तविक विकास पर ही अवलम्बित है। चरित्र की केवल आध्यात्मिक जीवन में ही आवश्यकता है—ऐसा कभी-कभी सुनाई पड़ता है। पर वस्तुतः चरित्र और जीवन का ऐसा तादात्म्य है कि उसे किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं किया जा सकता।

अणुव्रत-आन्दोलन

भारतीय संत-परम्परा की अभिव्यक्ति स्पष्टतः अणुव्रत-आन्दोलन में परिलक्षित होती है। जनतन्त्रमूलक युग के लिए अणुव्रत एक ऐसी आचार-पद्धति है, जिसके परिपालन द्वारा गृहस्थ स्वयं सदाचारमय आत्मलक्षी जीवन-यापन करते हुए भी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय विकास-कार्यों में भी न केवल सक्रिय योग ही दे सकता है, अपितु दर्शन के प्रकाश में ज्ञान द्वारा चरित्र की सुदृढ़ परम्परा भी स्थापित कर सकता है। यद्यपि इसे कतिपय व्यक्तियों द्वारा साम्प्रदायिक आन्दोलन घोषित करते हुए यह कहा गया कि यह तो केवल जैन गृहस्थों की ही एक विशिष्ट आचार-पद्धति रही है, पर सत्य तो यह है कि जो प्राणि-मात्र के सर्वोदय में विश्वास उत्पन्न करने में अपना जीवन समर्पित करता है और जिससे विश्व मानव को महती प्रेरणा मिलती है, जिससे भय और आशंका समाप्त होती है और जो नागरिक जीवन की समृद्धि की ओर संकेत करता है—ऐसा अध्यात्ममूलक व्यावहारिक आन्दोलन साम्प्रदायिक सीमा में आ ही कैसे सकता है ? यह तो एक ऐसा संस्कृति-निष्ठ तत्त्व है जो मानव को नैतिकता की ओर प्रवृत्त करता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के युग में यही एक ऐसी आचार-शैली है जो अपनी निःस्वार्थ और कर्तव्य-भावना से प्रेरित वृत्ति से राष्ट्र में अनुपम बल और ओज का संचार करती है।

धर्म और नैतिकता

श्री शोभालाल गुप्त
सहसम्पादक—हिन्दुस्तान

धर्म और नैतिकता अन्योन्याश्रित हैं, उनको एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। नैतिकता का जन्म धर्म से होता है; बल्कि यो कहना चाहिए कि धर्म मे ही नैतिकता का समावेश होता है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि नैतिकता के प्रसार के लिए धर्म के सहारे की आवश्यकता नही है। वे लौकिक नैतिकता मे विश्वास करते है। मनुष्य को समाज मे रहना पडता है और इसलिए समाज के हित मे ही व्यक्ति का हित समाया हुआ है। समाज के हित मे व्यक्ति को अपने स्वार्थ का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। किन्तु जब मनुष्य को यह पता है कि उसका जीवन क्षण-भगुर है और उसका प्रत्यक्ष हित उसके अपने और परिवार के उत्कर्ष मे निहित है, तो वह समाज के हित के लिए काम करने को क्यो प्रेरित होगा? अवश्य ही समाज अपनी रक्षा के लिए नियम बनाता है और व्यक्ति को उन नियमो का पालन करने के लिए बाध्य करता है, किन्तु यह ऊपर से लादी हुई नैतिकता स्थायी नही हो सकती। अवसर मिलते ही वह इन सामाजिक नियमो की अवहेलना करने को उद्यत हो जाता है। समाज के नियमो का भग बडे परिमाण मे होता हुआ हम देख सकते है। कानून और दण्ड-भय भी सामाजिक नियमो की अवहेलना को रोकने मे असमर्थ सिद्ध हो रहा है।

नैतिकता के परिपालन के लिए, दूसरो के कल्याण के लिए, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करने के लिए एक मजबूत आधार की आवश्यकता होती है और वह आधार धर्म का ही हो सकता है। धर्म जीवन मे मनुष्य का मार्ग-दर्शन करता है। उसे बताता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए, क्या काम पहले करना चाहिए और क्या बाद मे करना चाहिए। मनुष्य को सोचने और समझने की शक्ति मिली है। जब वह इस शक्ति से काम लेने लगता है तो उसके सामने सबसे पहला प्रश्न यही उपस्थित होता है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है। इस प्रश्न का उत्तर सुलभ करने के लिए ही विभिन्न धर्मों का जन्म हुआ है। धर्मों के सम्बन्ध मे मनुष्यो की अलग-अलग कल्पनाए रही है। और उनके अनुसार ही नैतिकता का स्वरूप निर्धारित हुआ है।

एक मनुष्य है और उसके सामने फैला हुआ एक विस्तृत जगत है। मनुष्य का उस विस्तृत जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है और उसके साथ उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बताना धर्म का काम है। विभिन्न धर्मों के कर्मकाण्ड और विधि-विधान अलग-अलग हो सकते हैं, उनका स्वर्ग-नरक, देवी-देवताओ आदि की कल्पनाए भिन्न हो सकती है, किन्तु एक बात सभी धर्मों मे समान दिखाई देती है और वह यह है कि सारे जगत् मे एक सर्वोच्च शक्ति व्याप्त है। वह चेतन शक्ति है, ज्ञान-पुज है और उसे परमात्मा, ईश्वर, आत्मा आदि नामो से सम्बोधित किया जाता है। मनुष्य उसी शक्ति का एक अग है। धर्म यह बताता है कि उस शक्ति के साथ मनुष्य का क्या सम्बन्ध है। वह यह सिखाता है कि एक ही शक्ति के अग होने के कारण जगत् के सब प्राणियो के बीच आत्मीय सम्बन्ध है और इसलिए दूसरों की भलाई के लिए प्रयत्न करना उसका धर्म हो जाता है। दूसरो से प्रेम करके, उनकी सेवा करके मनुष्य अपने भीतर सद्गुणो का विकास कर सकता है और अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जब हम यह मानकर चलते है कि हम सब एक ईश्वर की सन्तान है तो हमारे मध्य एक समानता का नाता स्थापित हो जाता है। हम आपस में भाई-भाई हो जाते हैं। फिर भाइयों मे कौन छोटा और कौन बडा, कौन ऊंचा और कौन नीचा तथा कौन निर्धन और सम्पन्न होगा? मनुष्यों मे जो

विषमता दिखाई देती है, वह धर्म-सम्मत नहीं है। उसे मिटाने का प्रत्येक धर्मशील व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए।

जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध मे जैसी कल्पना होती है, उसके अनुसार ही मनुष्य का आचरण होता है। अगर किसी का यह लक्ष्य है कि उसे जीवन में एकमात्र अपना ही व्यक्तिगत हित सिद्ध करना है तो उसे जो भी साधन उपलब्ध होगे, उनका वह अधिक-से-अधिक अपने हित के लिए उपयोग करना पसन्द करेगा। उसे दूसरो के स्वत्वो का अपहरण करने में कोई झिझक नहीं होगी। वह उनके परिश्रम का बेखटके शोषण कर लेगा। इसके अलावा अगर उसने अपने जीवन का यह लक्ष्य निर्धारित किया है कि उसे अपने परिवार का, अपनी जाति का अथवा अपने राष्ट्र का हित सिद्ध करना है, तो वह अपने परिवार, जाति अथवा राष्ट्र की भलाई के लिए अपने व्यक्तिगत सुख दुःख की परवाह नहीं करेगा। किन्तु एक लक्ष्य इससे भी बडा हो सकता है कि मनुष्य परिवार, जाति और राष्ट्र की सीमाओं को लांघ जाए और मानव-मात्र की सेवा के लिए अपने को समर्पित कर दे। मानव मानव के बीच अभेद की कल्पना सर्वश्रेष्ठ धर्म और सर्वश्रेष्ठ नैतिकता है। यही मनुष्य का सर्वोपरि लक्ष्य हो सकता है।

इस जगत् मे जहाँ प्रेम और सहयोग की भावना है, वहाँ संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की भावना भी दिखाई देती है। उसी को लक्ष्य में रख कर कुछ दार्शनिको ने संघर्ष को विकास का नियम बताया है। वे कहते हैं कि इस सघर्ष मे जो शक्तिशाली होते हैं, वे ही जीवित रहते हैं और जो निर्बल होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं; इसलिए इस जगत् मे यदि किसी व्यक्ति अथवा समाज को जीवित रहना है तो उसे शक्ति-सचय करना चाहिए। किन्तु यदि हम इस नियम को मान कर चले तो नैतिकता के लिए कोई अवकाश नही हो सकता। शक्ति-सचय करने की प्रतियोगिता मे ही दुनिया के राष्ट्र दो गुटो मे विभक्त हो गए हैं और युद्ध की तैयारियों में बुरी तरह व्यस्त हैं। उन्होने अणुबम और उद्जनबम जैसे सर्व-सहारकारी अस्त्रो का निर्माण कर लिया है; जिनका प्रयोग यदि हुआ तो सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अत यह संघर्ष का नियम अधिक काम नही दे सकता। मनुष्य को सर्वनाश से बचने के लिए नैतिकता की ही शरण लेनी होगी। राष्ट्रो की सीमाओ को लाँघ कर एक विश्व-सघ की स्थापना करनी होगी। वर्तमान 'सयुक्त राष्ट्र-सघ' उसी विश्व-संघ की पूर्व-भूमिका है। वह राष्ट्रो के मतभेद शान्तिपूर्वक निपटाने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु जब तक राष्ट्रो का पृथक् अस्तित्व है और मनुष्य की निष्ठा अपने राष्ट्र तक सीमित है, विश्व-सकट हल नहीं हो सकता। मानव की निष्ठा मानव-मात्र के प्रति होगी और जगत् के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य काम करेगा, तभी सर्वनाश का जो भय सिर पर मँडरा रहा है, वह टल सकेगा।

हमारे अभिमतानुसार नैतिकता का पहला सूत्र यह होना चाहिए कि मनुष्य दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसे व्यवहार की वह दूसरो से अपने लिए अपेक्षा करता है। भारतीय नीतिकार ने ठीक ही कहा है **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत।** यदि कोई स्वयं हानि उठाना नहीं चाहता तो उसे दूसरों को भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। यदि कोई चाहता है कि दूसरा उसके स्वत्व का अपहरण न करे तो उसे भी दूसरो के स्वत्व का आदर करना चाहिए। ईर्ष्या, द्वेष, वैर-वैमनस्य, मत्सर, पर-निन्दा आदि जितने दुर्गुण हैं, उन सबका त्याग करने के बाद ही मनुष्य दूसरो के वैर-वैमनस्य और निन्दा से बचने की अपेक्षा रख सकता है। वैर का वैर से और क्रोध का क्रोध से शमन नही हो सकता। वैर और क्रोध पर प्रेम और शान्ति से विजय प्राप्त की जा सकती है। दुनिया मे बहुधा ऐसा भी देखने को मिलता है कि कोई किसी का अपकार नहीं भी करता, बल्कि भला ही करता है, फिर भी उसे बदले मे अपकार ही मिलता है। जब भी ऐसा अवसर उपस्थित हो तो मनुष्य को निराश नही होना चाहिए; हिम्मत नही हारनी चाहिए; बल्कि अपकार का बदला उपकार से ही देने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य केवल इसी प्रकार अपने आत्म-गुणों का विकास कर सकता है और वास्तविक सुख की उपलब्धि कर सकता है।

अनैतिक साधनों का उपयोग करके मनुष्य भौतिक सुख-सामग्री जुटा सकता है। इसके लिए उसे दूसरो के परिश्रम का लाभ उठाना होगा और उनके न्यायोचित स्वत्वों का अपहरण करना होगा। मनुष्य अपने लिए भव्य भवन का निर्माण कर सकता है, आरामदेह पलंग, गद्दों और बिजली के पंखों का प्रबन्ध कर सकता है, मोटर अथवा घोड़ा-गाडी रख सकता है; किन्तु यह सब साधन-सामग्री सुलभ होने के बाद भी वह मानसिक अशान्ति का शिकार हो सकता है। सच्चा सुख

और शान्ति भोग मे नही, त्याग मे है। दूसरो के लिए थोडा-सा भी त्याग करने वाले को अनुभव होगा कि उसे इससे कितनी आन्तरिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है। किन्तु दूसरो के लिए त्याग करते समय भी एक बात की सावधानी रखनी होगी। उसे अपने त्याग का प्रदर्शन करने से बचना होगा; कारण त्याग का प्रदर्शन अहंकार और दम्भ को जन्म देता है जो मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है।

व्यक्ति और समाज दोनो का कल्याण इसी मे है कि व्यक्ति जगत् के साथ एकात्मीयता अनुभव करे और अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता बाद मे और दूसरो की सुख-सुविधा की चिन्ता पहले करे। हिसा और असत्य से हमेशा दूर रहे। सयम और सादगी को जीवन मे स्थान दे। अपनी आवश्यकताओ से अधिक संग्रह न करे; क्योंकि जो ऐसा करता है, वह नैतिकता को भग करता है। नैतिकता जगत् के रक्षण, पोषण और विकास के लिए जरूरी है। हमारे वर्तमान अधिकाश सकटो का कारण यह है कि हमने नैतिक नियमो का परित्याग कर दिया है। धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो के प्रति हमारी आस्था जितनी गहरी होगी, उतना ही हमारा नैतिकता का मापदण्ड ऊँचा होगा, हमारी नैतिकता जगत्-स्पर्शी होनी चाहिए। सकुचित स्वार्थों की परिधि से बाहर निकल कर ही हम नैतिक जीवन बिता सकते हैं। नैतिक जीवन का ही दूसरा नाम सदाचारी जीवन है।
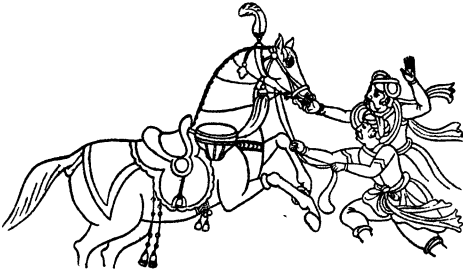
अणुव्रत-आन्दोलन : कुछ विचारणीय पहलू

श्री हरिदत्त शर्मा

पार्षद—दिल्ली नगर निगम, समाचार सम्पादक—नवभारत टाइम्स, दिल्ली

आज के युग की समस्या, विशेषकर भारत के सन्दर्भ में, ग़रीबी है, जिसके कारण भारत के करोड़ों नागरिक नारकीय जीवन बिता रहे हैं। देश का नेतृ-वर्ग और स्वयं ये दलित जन ग़रीबी के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। इस संघर्ष के साथ एक अच्छी बात यह भी है कि देश में यह विश्वास बनता जा रहा है कि ग़रीबी मिटकर रहेगी। इससे जनता का मनोबल बढ़ रहा है।

आत्मानुशासन

यह मनोबल जनता को सीधे-सीधे चलने की प्रेरणा दे रहा है, पर ऐसी भी बहुत-सी चीज़ें हैं, जो जनता के विश्वास और मनोबल को सीधे रास्ते से हटा कर विकट मार्ग की ओर भी अग्रसर होने के लिए विवश कर रही हैं। इन चीज़ों मे अनाचार, भ्रष्टाचार और प्रशासकीय अक्षमताओं एवं नयी उभरती सस्कृति, पश्चिमी संस्कृति की अनेक अनर्गल प्रवृत्तियों का विस्तार भी है। इसी स्थल पर ऐसे प्रयत्नों की आवश्यकता महसूस होती है जो जनता के इस विश्वास और मनोबल को कायम रख सके। इसके लिए देश में तरह-तरह के आन्दोलन चल रहे हैं। इनमे से कुछ आन्दोलन राजनीतिक दलों द्वारा संचालित हैं, कुछ सामाजिक संस्थाओ द्वारा और कुछ धार्मिक संस्थाओ द्वारा। इस क्षेत्र मे साधु-सत और मुनि भी आये हैं। इन संतों और मुनियो मे सत विनोबा और आचार्यश्री तुलसी भी है। विनोबा ने युग की समस्या को गम्भीर दृष्टि से देखते हुए राष्ट्रीय चरित्रोत्थान के अपने आन्दोलन के साथ भूदान, ग्रामदान और सम्पत्तिदान आदि यज्ञों की प्रतिष्ठा की है। आचार्यश्री तुलसी ने मानव-गुण विकास का क्षेत्र लिया है और इस क्षेत्र में वे पिछले एक दशक से जुटे हुए हैं। उनके इस आन्दोलन को उनके शिष्यों और अनुवर्तियों ने देश के कोने-कोने मे फैलाया है। इस आन्दोलन का सद्प्रभाव पड़ा है, जगह-जगह व्यापारियों, अधिकारियों, सरकारी कर्मचारियो, अध्यापको, युवकों एव छात्रों ने अपने जीवन को अधिक पवित्र बनाने की प्रतिज्ञा ली है। कह सकते हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आत्मानुशासन का कार्य बढ़ा है, जिसका कि जनतन्त्र में महत्त्व है। आत्मानुशासन से मनोबल और सघर्ष-शक्ति बढ़ती है। इस तरह अणुव्रत-आन्दोलन का एक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

छोटे और बड़ों का संघर्ष

अणुव्रत-आन्दोलन और इस तरह के अन्य प्रयत्नों के सामने आमतौर पर एक प्रश्न खड़ा होता है। ग़रीबी के विरुद्ध संघर्ष में बहुधा टक्कर बड़ों और छोटों में हो जाती है। जब छोटी जनता अपनी उन्नति के लिए आगे बढ़ती है तो उसके लिए बड़े लोगों को रास्ता देना अनिवार्य हो जाता है; पर इस अनिवार्य धर्म को वे निभा नहीं पाते, इसलिए संघर्ष की स्थिति आ जाती है। इस प्रकार के संघर्ष के अवसर पर अणुव्रत-आन्दोलन के होता क्या करे; किसका साथ दें? यदि वे मौन अथवा अकर्मण्य हो जायें तो संघर्षशील जनता की हानि होती है; और यदि वे बड़े लोगों का साथ दे तो उनके सुधार-प्रयत्नों की हानि होती है; क्योंकि इन सुधार-प्रयत्नों का आशय तो आत्म-उन्नति के लिए सचेष्ट जनता को लाभ

पहुँचाना ही है। बहुधा सुधारवादी आन्दोलन अपने को ऐसे अवसरो पर सीमित और तटस्थ कर लेते है और इस तटस्थता के कारण वे ओज-विहीन हो जाते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के सूत्रधार आचार्यश्री तुलसी का ऐसे अवसरो के लिए, जो कि सघर्षों मे प्राय. आते रहते हैं, स्पष्ट दिशा-निर्देश वांछनीय है।

युग-सत्य की कामना

आचार्यश्री तुलसी जैसे सत नेताओ का मार्ग प्रेम का सहज मार्ग होता है; इसे ईश्वरीय मार्ग भी कह सकते है। गाधीजी भी इसी राह के राही थे; पर जनता के सक्रिय सघर्षों से सम्बद्ध होने के नाते उन्होने इसके साथ सत्याग्रह भी जोड़ दिया था। जहाँ प्रेम अथवा सत्य के मार्ग मे रोडे होते थे, वे उसके लिए सत्याग्रह करते और कराते। इससे जनता का आशातीत मनोबल बढा और भारत की दमित जनता सिह के समान उठ खडी हुई। गाधीजी के परवर्ती सतो की निगाहो से यह तथ्य जैसे ओझल हो गया है। इसी से उनके कर्मों मे वह तेजस्विता नही आ पा रही है। भारतीय परम्पराओ के आधार पर जो आन्दोलन चल रहे है, इस तथ्य की ओर विशेष रूप मे ध्यान दिया जाना जरूरी है, अन्यथा युग-सत्य के अनुकूल वे नही हो पायेंगे। आचार्यश्री तुलसी जनता के अनेक वर्गों मे प्राचीन मुनियो की तरह आदरणीय हैं, प्राचीन सांस्कृतिक भाव-भूमि पर उनके कर्म विचरण करते हैं, पर युग-सत्य उनके कर्मों को अपने से सश्लिष्ट होने की कामना करते हैं। अधिकाश जनता आज आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहती है, पर कुछ थोडे से श्रीमन्त अपनी पूरी शक्ति से उसके मार्ग को रोके खडे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन या अन्य ऐसे ही आन्दोलन जनता की वाछाओ के फलीभूत होने मे क्या सहयोग देंगे ?

सास्कृतिक तथा सामाजिक आन्दोलनो और समाज के सम्बन्धों पर निगाह डालते समय एक बात और सामने आती है और वह यह कि समाज का मध्यवर्ग, जिसमे उच्च तथा निम्न मध्यवर्ग दोनो शामिल है, अन्य निषेधात्मक दृष्टिकोण से ग्रस्त है। उसकी श्रद्धा-भावना तिरोहित हो गई है। उसका विश्वास जैसे कही खो गया है। पुरातनता उसे भाती नहीं और नवीनता के प्रति वह पूरी तरह सजग नही। त्रिशकु जैसी स्थिति मे वह आ गया है। श्री नेहरू का इस मन -स्थिति को ठीक करने के लिए सुझाव है कि नवीनता को पुरानी श्रेष्ठ सास्कृतिक परम्पराओ से सम्बद्ध किया जाये। यह सुझाव उचित मालूम पडता है; पर यहाँ प्रश्न यह आता है कि क्या अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यकर्ता इस महत् कर्म को अपने कन्धो पर लेंगे ? क्या वे इतने सक्षम होगे ? इस दिशा मे निश्चित ही आचार्यश्री तुलसी का मार्ग-दर्शन मूल्यवान् होगा।

युगानुकूल आधार भूमि

इसी स्थल पर एक बात और मस्तिष्क मे आती है और वह यह कि आमतौर पर धार्मिक नेताओ द्वारा सचालित आन्दोलनों मे रूढिवादी और मताग्रही व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं और परिणामत आन्दोलन की परिधि सीमित हो जाती है। इससे हानियाँ होती हैं। ऐसे आन्दोलनो को व्यापक आधार देने के लिए धर्म की व्यापक व्याख्या हृदयगम करा दी जानी चाहिए। ऐसे आन्दोलनो के द्वितीय श्रेणी के धार्मिक नेताओ को भी ऊँच-नीच का भेद छोड कर अपने व्यवहार मे परिवर्तन करना जरूरी है। कई ऐसे गृहस्थ व्यक्ति हो सकते है, जो धार्मिक नेताओं को मात्र 'मुनित्व' या 'साधुत्व' के आधार पर सम्मान नही देना चाहते, वे मुनियो अथवा साधुओ के साथ ईमानदारी के साथ काम करना चाहते हैं, पर साधु अथवा मुनि अपने मुनित्व की गरिमा मे उनका तिरस्कार कर देते हैं। ऐसी भावना युग के अनुकूल न होने से आन्दोलन के लिए हानिप्रद हो जाती है। सत-नेताओ के लिए अपने आन्दोलन के गठन का समय-समय पर विश्लेषण कर उसका सुधार करते रहना चाहिए। इस बात के लिखते समय मेरा आशय कटाक्ष करने का नही और न ही सगठन-सम्बन्धी उपदेश का है। मैं सदा सत्यता और ईमानदारी से यह महसूस करता हूँ कि इन सामाजिक और सास्कृतिक आन्दोलनों की आधारभूमि युगानुकूल होनी चाहिए, अन्यथा वे जन-मानस मे जिस सौन्दर्य-विस्तार की भावना से सचालित हैं, उसके लुप्त हो जाने की सम्भावना है। इस बात की प्रसन्नता है कि अणुव्रत आन्दोलन मे इसके लिए काफी

सजगता रखी जा रही है।

इसी के साथ एक बात और उल्लेखनीय है। धार्मिक संतों की संस्थाओं मे अनेक बार मतमतान्तर का चक्कर फैल जाता है। यदि सस्था सनातनी साधुओं की हुई तो उसमें सनातन धर्मी विचारधारा के व्यक्ति ही आगे आते हैं और मताग्रह फैलाते हैं, यदि आर्य समाजी साधुओं की सस्था हुई तो उसमे आर्य समाजी विचारधारा के व्यक्ति आते हैं और मतवाद के चक्कर को बढ़ाते हैं, यही बात अन्य धर्मावलम्बियो के बारे मे है। यद्यपि अणुव्रत-आन्दोलन इन अन्य संस्थाओ से इस दिशा में अधिक प्रगतिशील है, फिर भी इस सम्बन्ध में उसे कुछ और यत्न करने होंगे।

अणुव्रत-आन्दोलन और नई पीढ़ी

अन्तिम बात आन्दोलन बनाम नयी पीढ़ी के सम्बन्ध में है। कोई भी सामाजिक आन्दोलन नवयुवको और नवयुवतियों के सहयोग के बिना ठीक ढग से नहीं चल सकता। अणुव्रत-आन्दोलन के सचालको ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया है और वे विद्यार्थियों एव युवकों मे चरित्र-विकास के भाव भरते हैं, किन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। युवको में आधुनिक विचारो के प्रति भी दिलचस्पी पैदा करनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि चरित्र-सौन्दर्य से मण्डित नवयुवा वर्ग आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा से प्रेरित होकर जन-सेवा का कार्य उन नवयुवको एव नवयुवतियों से अच्छा कर सकता है, जो मात्र वैज्ञानिक विचारधारा से प्रेरित होकर चलते हैं। श्री नेहरू ने कहा है कि नवयुवा वर्ग को प्राचीन सस्कृति के आधार पर पल्लवित चरित्र और आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा से युक्त करना ही इष्ट होगा। अणुव्रत-आन्दोलन आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में इस कार्य को ले और अन्य सामाजिक, धार्मिक सस्थाओ को भी इस दिशा मे प्रेरित करे।

हमारा विचार है कि जैसे अन्य सामाजिक संस्थाए अनेक बार किन्ही विशेष प्रश्नो को लेकर संयुक्त प्रयत्न करती हैं, इसी प्रकार धार्मिक नेताओ द्वारा संचालित सामाजिक सस्थाओ को भी परस्पर ताल-मेल रखना चाहिए। इससे उन्हे शक्ति प्राप्त होगी और इस शक्ति से समाज लाभान्वित होगा। इससे धार्मिक सौहार्द का-सा वातावरण फैलेगा, जो राष्ट्रीय एकता के लिए बड़ा पुण्यप्रद रहेगा। यह राह भी आचार्यश्री तुलसी के पदक्षेप की आकांक्षिणी है।
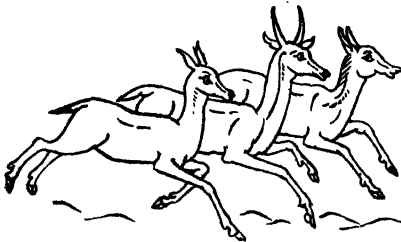
आदर्श समाज में बुद्धि और हृदय

श्री कन्हैयालाल शर्मा, एम० ए०

समाज मनुष्य द्वारा आत्म-रूप को प्रकाशित करने की संज्ञा है। एकाकी जन्म लेकर आया मनुष्य अपने आस-पास के सुख-दुःख मे सहानुभूति प्रदर्शित करता हुआ परिवार के सकुचित क्षेत्र से निकल कर विश्व-बन्धुत्व की सीमा तक का स्पर्श इसी आत्मरूप के प्रकाशन के फलस्वरूप करता है। इसके विपरीत वह स्वकेन्द्रित होकर समाज-विरोधी बन जाता है और अपनी असामाजिक प्रवृत्तियो से स्वय को समाज के शत्रु रूप मे प्रकट करता है। जिस व्यक्ति की आत्म-पाराध में जितनी विशाल मानव-समष्टि को अन्तर्भूत करके चलने की क्षमता होती है, वह मनुष्य उतना ही महान् कहलाता है और विपरीतावस्था मे वह अपनी तुच्छता अथवा सकीर्णता का प्रदर्शन करता है।

समस्त समाज-व्यवस्था के आधार, मनुष्य के बुद्धि और हृदय रहे हैं। उसके क्रिया-व्यापारो का परिचालन इन्ही के द्वारा होता है। परिष्कृत और नियन्त्रित भाव-विचार के प्रकाशन से समाज मे आदर्श व्यवस्था स्थापित होती है। जिस समाज के सामाजिक अपने भाव-विचार समाजोपयोगी नही बना पाते, उस समाज का क्रमश. ह्रास होता रहता है और अन्त में वह विनाश को प्राप्त होता है। इस प्रकार आदर्श समाज की स्थापना मे दोनो का ही समान महत्त्व है।

भाव और विचार एक ही मन के दो पहलू हैं, अत. वे सर्वथा पृथक् और स्वतत्र नही हैं, अपितु परस्पर सहयोगी हैं। उच्च विचारों का प्रतिफलन श्रेष्ठ समाजोपयोगी भावो के प्रकाशन मे होता है और भाव समाजोपयोगी बन कर उच्च विचारों को प्रेरणा देते हैं। कभी-कभी दोनो स्वतन्त्र रूप से बहुत दूर तक चलते भी दिखाई देते हैं।

असामाजिक कार्यों का नियन्त्रण भाव-पद्धति पर भी होता आया है और विचारो के आधार पर भी। साहित्य-कारों ने व्यक्ति को सामाजिक कार्यों की ओर भाव-पद्धति के द्वारा फुसलाया है और उपदेशको तथा शासन-व्यवस्थापकों ने विचारों को जागृत करके अन्तत. उन्हे भय या प्रलोभन का सकेत दिया है। विचार-पद्धति मे भय और प्रलोभन जहाँ तक बहुत स्पष्ट रहते हैं, वहाँ तक तो व्यक्ति अपने क्रिया-व्यापारो पर नियत्रण स्थापित करता चलता है, पर जहाँ ये प्रच्छन्न या परोक्ष हो जाते हैं, वहाँ इस पद्धति मे व्यक्ति के शील को सँभाल कर चलने की शक्ति का तिरोभाव-सा होता दिखाई देता है।

कानून की व्यवस्था होती तो भय के आधार पर है, पर भय की स्थापना का मार्ग सीधा व सरल न होने से व्यक्ति की दृष्टि से वह ओझल-सा रहता है। जहाँ कुछ अवस्थाओ मे वह प्रत्यक्ष भी है, वहाँ भी वकील के बुद्धि-कौशल, कानून की पुस्तकों की लचीली शब्दावली, गवाहों की जोड-तोड, न्यायाधीश के व्यक्तित्व आदि की आड मे परोक्ष बन जाता है। अत· भय या दण्ड की अनिश्चितता से केवल विचार-पद्धति की भी सूक्ष्मताओं पर ठहरा कानून व्यक्ति को अपराध न करने की प्रेरणा प्राय नहीं देता।

क़ानून स्थूल घटनाओं की चीर-फाड़ करके न्याय तक पहुँचता है। इस प्रक्रिया में वह अपराधी के संकल्प (intention) को भी ध्यान मे रखता है। स्थूल घटनाओं के मूल में निहित सूक्ष्म संकल्प को परखने के सीधे-टेढ़े मार्गों के अनुसन्धान मे न्याय प्राय असमर्थ ही सिद्ध होता है। अत· अनेक बार सत्पक्ष पराजित और असत्पक्ष विजयी होता है, जिससे वर्तमान न्याय-व्यवस्था के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है।

अत· कानून द्वारा सदैव सत्पक्ष को समर्थन न मिलने से समाज में सन्मार्ग के प्रति अनास्था तो उत्पन्न होती ही है, साथ ही न्याय व कानून की मान्यता के प्रति सामाजिक के मन मे विद्रोह-भावना जागृत होती है। इन प्रतिक्रियाओं का

प्रतिफलन समाज के वर्तमान विकासोन्मुख अपराधों में देखा जा सकता है। वर्तमान बौद्धिक युग ने व्यक्ति को धर्म के प्रति अनास्था प्रदान की है और इसके मूल स्वरूप असत्कार्यों से उसे रोकने की शक्ति का जो अभाव धर्म में मिलता है, उसका स्थान क़ानून भी लेने मे असमर्थ सिद्ध हो रहा है।

सामाजिकों की प्रकृति में सदसत् के विविध पारिभाषिक मिश्रणो से इसके अगणित रूप दिखाई देते हैं। इनमे से जिनमे सत्पक्ष का आग्रह अधिक मिलता है, उनके लिए परिस्थिति का एक झटका ही सन्मार्ग-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है, पर जो असत्पक्ष की दिशा मे बहुत दूर जा चुके हैं, उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए असाधारण व्यवस्था की आवश्यकता है। किसी महात्मा के चमत्कार से ऐसे व्यक्तियों का भले ही कल्याण हुआ हो, पर क़ानून के द्वारा दण्डित होकर तो जेल की काली कोठरियो मे उनके हृदयो की कालिमा बढ़ती है। जिन व्यक्तियो मे सदसत् का अधिक असन्तुलन नहीं है, उनको क़ानून-व्यवस्था भय दिखला कर कुमार्ग की ओर बढ़ने से रोकती रहती है और अनभ्यास से ऐसे व्यक्ति कभी-कभी साधु-स्वभाव के बनते देखे गए हैं।

आज का क़ानून अपने सही रूप में केवल कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को, वकीलो व न्यायाधीशों को ही बोधगम्य है। साधारण जनता की पहुँच उसकी बारीकियो तक होना असम्भव है। धारा ४२० की पहुँच लोक-जिह्वा तक हो जाने मे सामान्य जनता की क़ानून के प्रति अभिरुचि न प्रकट होकर, ऐसे कार्यों की वृद्धि की दिशा का सकेत मिलता है जो इस धारा के क्षेत्र में आते हैं। कानून की किसी अन्य धारा से आज के सामाजिको का कोई परिचय नही है। उनका किसी धारा-विशेष से तब परिचय होता है, जब वह तत्सम्बन्धी अपराध कर चुका होता है।

प्रतिद्वन्द्वियो मे, क़ानूनी बुद्धि के अविकास में, न्यायालयो मे उनकी स्थिति किसी अनुचारी पशु से अच्छी नही होती। इस प्रतिद्वन्द्विता के आवेश में धन का बल उनका सहायक बनता है। इस धन-बल के अभाव में सत्पक्ष विजयश्री को अपनी समझता हुआ भी अनेक अवस्थाओ मे मार्ग मे ही घुटने टेक देता है, वह प्रतिद्वन्द्विता का अन्त करने के लिए उतारू हो जाता है। तब उसके हृदय में प्रतिद्वन्द्वी के प्रति आत्मीयता का विकास होता हो, ऐसी कल्पना निराधार है। वह तो तब वर्तमान न्याय-व्यवस्था की ओर गोली-खाये हिंस्र पशु के समान देखता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी से जब कुछ खोकर वह मित्रता के लिए हाथ बढ़ाता है, तब उसके प्रति विद्वेष की जड़े और भी गहरी चली जाती हैं।

क़ानून बुद्धि की उपज होने के नाते व्यक्ति के मन मे अपने प्रति पूज्यता की भावना उत्पन्न नही कर सका है। अत: उसको समझने-समझाने की प्रक्रिया का आधार निरा बौद्धिक होता है। पूज्य भावना के अभाव में कानून भी स्थूल पकड़ से बच कर निकलने के अनेक स्थूल-सूक्ष्म मार्ग बुद्धिजीवी व्यक्ति खोज निकालते हैं। अत. एक कानून का निर्माण अपने साथ अनेक गुप्त छिद्रो को लेकर आता है जिनमे से अपराधी सहज ही बच निकल सकता है। इस प्रकार सरक्षित व्यक्ति अपने बुद्धि-बल के गर्व में झूम कर उस मानसिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है जो पशु-बल-युक्त डाकुओं में पाई जाती है। अतः वह मानव-सुलभ सद्-वृत्तियो के प्रति अनास्थावान् बन कर जीवन-यापन आरम्भ कर देता है।

जो व्यक्ति चतुर तथा व्यावहारिक बुद्धि के होते हैं, वे मानवता को तिलाजलि देकर कानून का लाभ उठाने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। मुझे ऐसे अनेक धन-लोलुप धनिको के उदाहरण स्मरण हैं जो किरायेदार एक्ट का सरक्षण पाकर विधवाओं और धन-हीनों की विशाल सम्पत्ति पर बीस वर्ष पूर्व के किराये पर अधिकार जमाये बैठे हैं और वे समय-समय पर अपने मकान-मालिकों को दुत्कारते रहते हैं। ऐसी अवस्था मे क़ानून एक अन्धे मदान्ध व्यक्ति के हाथ मे दी गई तलवार के समान भीषण दिखाई देने लगता है और अपने विकट रूप से सामाजिकों को सन्त्रस्त करता रहता है। जहाँ उससे दीन, धनहीन आदि को संरक्षण मिलना चाहिए, वहाँ वह अपनी मादकता का ही परिचय दे रहा है।

क़ानून की पहुँच हृदय-मन्दिर तक नहीं है। वह अछूत है। हृदय के कोमल तारों को झंकृत करके मानव-जीवन को नई दिशा देने में वह असमर्थ है। बुद्धि के आधार पर निर्मित उसका भव्य प्रासाद देखने मे तो चमत्कृत करने वाला है, पर भातर स वह जर्जर है। प्रेम, करुणा आदि द्वारा व्यक्ति परायों को जिस कुशलता के द्वारा अपना बना लेता है, वह क़ानून द्वारा स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। उसने तो मानव की निर्विकार आकृति को विकृत किया है। वह प्राय: अपने अस्तित्व की घोषणा अपराध के उपरान्त करता है, अतः वह मूलतः मनुष्य के असत्पक्ष पर दृष्टि डालता हुआ चलता है।

अणुव्रत और नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन

श्री रामकृष्ण 'भारती', एम० ए०, शास्त्री, विद्यावाचस्पति

गत बारह वर्षों में अणुव्रत-आन्दोलन भारत मे ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे भी एक नैतिक आन्दोलन के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व मे तथा उनके साधु-साध्वियो के सरक्षण मे यह आन्दोलन सारे देश में प्रगति कर रहा है। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् जहाँ हमारे राजनीतिक नेताओ को देश के पुनर्निर्माण के लिए पंचवर्षीय योजनाए बनाने मे प्रवृत्त होना पडा, वहाँ आचार्यश्री तुलसी का ध्यान देश के नैतिक पुनरुत्थान की ओर गया और उन्होंने भारतीय सस्कृति और दर्शन के अहिंसा, सत्य आदि सार्वभौम आधारो पर नैतिक व्रत की एक सर्वमान्य आचार-संहिता प्रस्तुत की। वेद के **चरैवेति-चरैवेति** सन्देश की ओर मानव-समाज का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने हमे अपने कर्तव्यो के प्रति जागरूक किया। अपने श्रावक-समाज की समाजिक कुरीतियो की ओर तो उन्होने ध्यान दिया ही, साथ-ही-साथ सरकारी कर्मचारियो में बढते हुए भ्रष्टाचार तथा विद्यार्थियो मे बढ़ती हुई अनुशासन-हीनता आदि की ओर भी उनका ध्यान गया तथा इस सम्बन्ध मे योजनाबद्ध कार्य हुए।

नैतिक पुनरुत्थान (M. R. A) आन्दोलन के प्रवर्तक डॉ० फ्रैंक बुकमैन हैं। उनका देहान्त ७ अगस्त, १९६१ सोमवार के दिन ८३ वर्ष की आयु मे हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण हो गया। उनका जीवन सघर्षमय था और वे अपने-आप मे एक सस्था थे। इसमे सन्देह नही कि निरन्तर साधना एवं परिश्रम से उन्होने 'नैतिक पुनरुत्थान' के महान् आन्दोलन को संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाया और इस सस्था को एक ऐसी धार्मिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक सस्था का रूप दिया, "जिसकी विजयिनी पताका की छत्र-छाया मे," साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाँकेबिहारी भटनागर के शब्दो मे—"विश्व के इतने देशों के व्यक्ति अपने रूप, ढग और पद के समस्त भेदभावो को भूल कर इस प्रकार शान्ति, श्रद्धा और लगन के साथ विश्व-कल्याण के चिन्तन में रत रहते हों।"[1]

श्री भटनागर ने अपने अग्रलेख में डॉ० बुकमैन की ८०वी वर्ष-गांठ के अवसर पर आयोजित, जिस विश्वव्यापी सम्मेलन का उल्लेख उक्त अंक मे किया है, वह तीन वर्ष पूर्व मैकनिक द्वीप मे हुआ था, जिसमे यूरोप, अफ्रीका, एशिया और अमेरिका—अनेक महाद्वीपों के निवासी अपनी रग-बिरंगी वेश-भूषा मे, अपनी विचित्र, विविध बोलियाँ बोलते हुए सैकड़ों और हजारो रुपये खर्च कर वहाँ केवल एक निमित्त के लिए एकत्र हुए थे और वह था—भौतिक चमक-दमक से चौंधियाई आँखो को नैतिक पुनरुत्थान की शान्त, शीतल प्रकाश-किरणो मे ले जाने वाले अपने सम्माननीय और प्यारे फ्रैंक की ८०वीं वर्ष-गाँठ मनाना। श्री भटनागर के ही शब्दों में, "विश्वास मानिये, इस समारोह मे ८०-८०, ९०-९० वर्ष के वृद्ध पुरुष और स्त्रियाँ सहस्रो मीलों की दूरी पार कर समुद्र और आकाश की छाती को चीर वहाँ ललकते हुए आये थे। वाणी उनकी काँपती थी, पैर उनके लड़खड़ाते थे, किन्तु दूसरो का सहारा ले वे अपने फ्रैंक के निकट जाते थे और प्रेम से विह्वल होकर उनका चुम्बन कर लेते थे।" पर यह सब क्यों? यह दृश्य बतलाता है कि आज के इस वैज्ञानिक युग मे भी नैतिकता अभी जीवित है। उसकी मशाल विश्व के कोने-कोने मे प्रज्वलित है। लोगों में प्यास है, जिज्ञासा है, श्रद्धा है और निर्माण की दिशा में निरन्तर कार्य हो रहा है। नैतिकता का यह वातावरण भी ससार के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि किसी देश का योजना-बद्ध भौतिक निर्माण।

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान अग्रलेख से, २७ अगस्त, १९६१

फ्रैंक बुकमैन स्विट्ज़रलैंड के एक ख्यातिप्राप्त वंश में उत्पन्न हुए और सन् १९४७ में उनका परिवार अमेरिका में आकर बस गया। उनके पूर्वजों में से एक ने कुरान का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। उनके बहुत से पूर्वजों ने महत्त्वपूर्ण नैतिक अभियानों में भाग लेकर प्रसिद्धि प्राप्त की। उन्होंने अपने जीवन-काल में अनेक देशों की यात्रा कर उन देशों के सम्बन्ध में व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त की। शिक्षा-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करते हुए भी उनका कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। वे प्राय: कहा करते थे, "आप कागज पर एक नये संसार की योजना बना सकते हैं, पर आपको इसका निर्माण व्यक्तियों में से उनके सहयोग से, करना चाहिए।

उन्होंने १९२९ की अपनी दक्षिणी-अफ्रीका-यात्रा में जातिगत तथा वर्णगत भेदभाव को दूर करने का महान् प्रयत्न किया। काले और गोरे, डच तथा ब्रिटिश आदि के भेदभाव को दूर करने में उनकी सेवाएं सदैव के लिए संस्मरणीय हैं। शीघ्र ही उनके कार्यों से उनकी प्रसिद्धि विश्व-व्यापी हो गई। राष्ट्र-संघ के एक भूतपूर्व अध्यक्ष के शब्दों में "जहाँ हम राजनीति को बदलने में असफल हुए, वहाँ आप (श्री बुकमैन) ने जीवनों को परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की है तथा पुरुषों और स्त्रियों को जीवन का नया मार्ग दिया है।" सन् १९३८ में उन्होंने नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन का श्रीगणेश एक कार्यक्रम के रूप में किया। उस कार्यक्रम में नैतिक शक्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया था, जिससे युद्ध में विजय प्राप्त की जाये तथा एक न्यायपूर्ण शान्ति का निर्माण किया जा सके। "भगवान् ने मुझे यह विचार दिया—नैतिक तथा आध्यात्मिक पुन: शस्त्रीकरण का एक प्रबल आन्दोलन होगा, जो संसार के कोने-कोने तक पहुँचेगा। नये व्यक्ति होंगे, नई जातियाँ होंगी और होगा एक नया संसार।" सन् १९४५ में उन्होंने एक मौलिक सत्य की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया—"आज हम तीन विचारधाराओं को अधिकार-प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हुए पाते हैं—१ नानाशाही, २ साम्यवाद तथा ३ नैतिक पुनरुत्थान।" द्वितीय महायुद्ध के वर्षों में उन्होंने अपने नैतिक पुनरुत्थान के सन्देश को दूर-दूर तक पहुँचाने का महान् प्रयत्न किया। नाज़ी जर्मनी भी इस प्रभाव से बचा न रह सका। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ही नाज़ियों ने नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन पर रोक लगा दी थी। नाज़ी सेनाओं को ऐसे निर्देश दिये गए थे कि वे जहाँ जायें, इस आन्दोलन को दबाएं तथा कुचलें। इस प्रकार यह आन्दोलन निरन्तर प्रगति करता रहा तथा आज स्थिति यह है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति को प्राप्त कर चुका है। समय-समय पर इस संस्था के अधिवेशन होते हैं और विभिन्न देशों से सहस्रों की संख्या में प्रतिनिधि इनमें सम्मिलित होते हैं। इसी प्रकार की एक राष्ट्रीय सभा सन् १९५१ के जनवरी मास में वाशिंगटन में हुई, जिसमें पच्चीस देशों के लगभग पन्द्रह सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

इस आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण साधनों में एक साधन है—इसका 'नाटकीय-अभिनय' या 'रंगमंच-अभिनय'। हमें इस प्रकार के अभिनय देखने का नई दिल्ली में सन् १९५५ में अवसर प्राप्त हो चुका है, जबकि इस आन्दोलन के अनुयायियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल तब राजधानी में आया हुआ था।

नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन के अनुयायी ईश्वर में तथा उसके दैवी संरक्षण में भाई-चारे से कार्य करने में विश्वास रखते हैं। आन्दोलन के संस्थापक के शब्दों में, "प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त सामग्री है, परन्तु लोगों के लोभ को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता।" इस आन्दोलन ने केवल शान्तिकाल में ही नहीं, अपितु युद्ध-काल में भी अपना कार्य जारी रखा। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में भी अमरिका, हालैण्ड, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में आन्दोलन के प्रशिक्षण-केन्द्रों में सैनिकों को नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन के विचारों से परिचित किया गया। उन्हें अस्त्रों के युद्ध के साथ विचारों की दृष्टि से भी प्रशिक्षित किया गया। इस आन्दोलन ने अनुशासन, बलिदान तथा देश प्रेम की भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। इस आन्दोलन के कुछ नेताओं को नाज़ी-अत्याचारों का शिकार भी बनना पड़ा। कुछ मारे गए तथा कुछ कारागार में डाल दिये गए। इस आन्दोलन के महत्त्व को इस समय प्राय प्रत्येक देश तथा उसके बड़े-बड़े नेता एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं।

इस प्रकार अपने ६०वें जन्म-दिवस के उपलक्ष में डा० बुकमैन ने जून, १९३८ में आन्दोलन का श्रीगणेश किया और संसार का ध्यान नैतिक पुनरुत्थान की ओर आकृष्ट किया। गत तेईस वर्षों में यह आन्दोलन विश्व-व्यापी बन चुका है।

अणुव्रत-आन्दोलन भी इसी प्रकार का एक नैतिक आन्दोलन है। मुनिश्री नगराजजी के शब्दों में, "यह आन्दो-

लन नैतिक मूल्यो के पुनरुत्थान का आन्दोलन है।" इसका आधार हमारी प्राचीन भारतीय आर्य-परम्परा मे है, जिसकी नीव यम और नियमो पर आधारित है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम हमारे यहाँ योगदर्शन[1] के अनसार माने गए है। इन्ही के आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने जैनागमो के अणुव्रतो को सर्व-साधारण श्रावकों तथा अन्य साधको के लिए प्रचारित तथा प्रसारित किया। एक-एक व्रत को लेकर उन्होने सर्वसाधारण के लाभ के लिए मध्यम-मार्ग का आश्रय लेकर उन्हे नैतिकता की ओर आकर्षित किया। गत बारह वर्षों मे यह आन्दोलन देश-विदेश में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। आज स्वतन्त्र होने के पश्चात् देश की सबसे बडी आवश्यकता नैतिक पुनरुत्थान की भावना है। डा० बुकमैन के नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन तथा आचार्य विनोबा भावे की सर्वोदय विचारधारा के समान आचार्यश्री तुलसी ने भी यथासम्भव स्वय अपने साधु-साध्वियो तथा अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओ के सहयोग से इस आन्दोलन को पर्याप्त प्रगतिशील बनाया है।

उक्त दोनो आन्दोलनो मे अहिंसा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी प्रकार सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (लोभ-हीनता) की भावनाओ को भी बल दिया गया है। निःशस्त्रीकरण की समस्या आज विश्व की महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस ओर भी दोनो आन्दोलनो के सस्थापको का ध्यान गया और दोनो की हार्दिक इच्छा यही रही है कि शस्त्रो की होड से जैसे भी सम्भव हो, विश्व को बचा लिया जाये।

१ तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा. यमा ।
—योगसूत्र साधन पाद सू० ३०

नैतिकता और महिलाएं

श्रीमती उर्मिला वार्ष्णेय, एम० ए०

संसार के प्रत्येक भाग में नारी एक समस्या के रूप में खड़ी है। इतनी शिक्षा-दीक्षा, इतने विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय और इतनी भौतिक उन्नति होने पर भी अब और तब में कितना भेद है। नारी को लेकर समाज में, साहित्य में महामारी-सी फैली हुई है।

विभिन्न युगों में नारी का स्थान

रामायण-काल में स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे अपने पति के साथ रण में भी जाती थीं। कैकेयी दशरथ के साथ युद्ध में गई थी। पति-निर्वाचन के लिए स्वयंवर का आयोजन किया जाता था। पर्दे की प्रथा न थी। लज्जा और संकोच नारी-जाति के आभूषण थे। स्त्रियों का उपहास करने वालों को दण्ड दिया जाता था। अनुसूया, सीता, कौशल्या, कैकेयी, तारा और मंदोदरी उस समय में नारीत्व के पूर्ण विकास का प्रतिनिधित्व करती हैं।

महाभारत के अनुसार स्त्री-पुरुष की अर्धांगिनी है, उसकी सबसे बड़ी मित्र है। धर्म, अर्थ, काम की मूल है। जो उसका अपमान करता है, उसका काल नाश कर देता है। महाभारत के युद्ध के मूल में नारी-अपमान ही था। द्रौपदी, उत्तरा, कुन्ती, सावित्री का व्यक्तित्व आज भी अजर-अमर है।

बौद्ध काल में भी स्त्रियों की ओर से उदासीनता नहीं बरती गई है। जम्बूनद के विवाह-भोज पर महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट कहा, "बौद्ध धर्म में स्त्री पुरुष, बालक-बालिका, सबल-निर्बल, ऊँच-नीच सब के लिए समान स्थान है।"

अम्बापाली का प्रेम इसका उदाहरण है। स्त्रियां भी धर्म-व्रत पालन करने के उद्देश्य से घर से बाहर आ-जा सकती हैं। उन्हें भिक्षुणी श्रमण कहते थे।

जैन धर्म में भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले स्त्री और शूद्र को मोक्ष का भागी मानते हैं।

शैव धर्म में अर्ध-नारीश्वर की कल्पना शिव और पार्वती को लेकर ही की गई है। नारी के बिना राम के रूप की कोई सार्थकता नहीं है। वैष्णवों में राधा और कृष्ण की पूजा का विधान है। यही नहीं, सृष्टि के विकास के लिए जहाँ ब्रह्म ने अपने अनेक अंशों के साथ अवतार लिया, वहाँ प्रकृति भी सावित्री, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती के रूप में अवतरित हुई। उनके अंश—कला क्रमशः गंगा, तुलसी, मानसा, देवसेना, काली देवियों के रूप में प्रगट हुए।

इतने पर भी आज नारी यह महसूस कर रही है कि उसका अपमान हो रहा है। उसे अधिकार चाहिए बराबरी का। मुस्लिम साम्राज्य में नारी की स्थिति पुरुष की केवल वासना-तृप्ति का साधन बन कर रह गई थी। उसे मूक और बधिर गाय के समान माना जाता था। पर्दे की आड़ में कभी भी उसकी रस्सी किसी भी खूँटे में बाँधी जा सकती थी। मुर्दे के नाम पर भी उसे सारा जीवन काटने को मजबूर किया जा सकता था। वहाँ आज समाज की हलचल के साथ नारी अपने अधिकारों के लिए क्रान्ति कर रही है।

आदर्श और यथार्थ

नारी-आन्दोलन के दो रूप स्पष्ट हैं—एक भारतीय, दूसरा पाश्चात्य। भारतीय नारी अपने सांस्कृतिक आदर्श को आज उतना प्रबल नहीं मानती, जितना यथार्थ को। प्राचीन आदर्शों की नींव उसके सामने खोखली और दकोसला-

मात्र है। यद्यपि नर और नारी दोनों पति-पत्नी हैं घर में, पर उन दोनों के दृष्टिकोण और व्यक्तित्व समाज में अलग-अलग है। पाश्चात्य प्रभाव से पति ही नहीं, पत्नी के भी विचारों की स्वतन्त्रता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह दाम्पत्य जीवन के कोमल तन्तु को, जो कभी जन्म-जन्मान्तरों में भी अटूट मान कर जोड़ा जाता था, एक झटके में तोड़ देती है। पुरुष की कमाई की वह मोहताज न रहे, इसलिए वह आर्थिक मामले में अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए नौकरी करती है। पति के सामने उसका स्वाभिमान चूर-चूर न हो, अतः वह अपने घमण्ड में अन्धी होकर घर से बाहर स्वतन्त्रता के नाम पर मित्र बनाती है। मित्रता का आधार नैतिकता तो है नहीं, बराबरी में हँसना, बोलना, बैठना और पता नहीं, क्या-क्या चलता है। तब नारी केवल एक के नहीं अनेक मित्रों के मनोरंजन का साधन क्लबों, होटलों में एक कॉफी के प्याले पर बन जाती है। नये फैशन की पूर्ति के लिए उसे धन चाहिए। पति तथा अपनी आय में पूरा नहीं पड़ता तो उस अर्थ-संग्रह के लिए वह जानते हुए भी अनजान बन कर अच्छे और बुरे, सही और गलत, सभी ढंगों को अपनाती है। आज यदि सलवार ढीली-ढाली और कमीज ढीली का फैशन है तो चार दिन बाद सलवार की तहरी चूड़ीदार पजामे से होड़ लेने लगती है। कमीज के फिटिंग का यह हाल है कि बहिनजी पानी इसलिए नहीं पीती कि पेट फूल जायेगा और कमीज की फिटिंग के साथ-साथ बॉडी की फोर्मेशन न बिगड़ जाये। अपनी तड़क-भड़क के शानदार प्रदर्शन के लिए वे अपने नैतिक स्तर को कहीं का भी नहीं रखती। विचारों की स्वतन्त्रता के साथ-साथ व्यक्ति को स्वतन्त्रता भी मिल जाती है। पर जहाँ तक प्रेम और सहानुभूति का प्रश्न है, न पुरुष को स्त्री का सच्चा प्रेम मिलता है और न स्त्री को पुरुष का।

यों तो भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के काल में भी मल्लवियों और लिच्छवियों के अठारह गणराज्य थे। वहाँ निर्वाचन-पद्धति से ही सारा कार्य होता था। आम्रपाली राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। हर क्षत्रिय-कुमार उससे विवाह करने का प्रयत्न कर रहा था। जो भी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, वह राज्य की है, इस विधान के अनुसार आम्रपाली को नगर-वधू बनना पड़ा। उस समय यह कानून नहीं, नैतिक विधान भी था।

प्रतिद्वन्द्विता

आज नैतिकता के अभाव में नारी नारी है। माँ, बहिन और पत्नी का रूप उससे दूर होता जा रहा है। यद्यपि वह माँ बनती है, पर सिर्फ बालक को जन्म देने के लिए ही। उसके दिल से पूछा जाये, क्या उसे वात्सल्य में मातृत्व नसीब होता है? लौकिक स्वतन्त्रता के आगे, सौन्दर्य और शारीरिक भद्दे प्रदर्शन के सामने उसे पति का प्यार और बालक की ममता हेय लगती है। तब गृहस्थी का सुख कहाँ है, जब नारी पुरुष की सहचरी न होकर प्रतिद्वन्द्विनी बन जाती है।

शिवाजी के अनुचर जब कल्याण के नवाब की बेगम को बन्दिनी करके लाये तो शिवाजी उसके रूप को देखकर बोले, "मेरी माँ जीजाबाई आपकी तरह सुन्दर होती तो मैं भी इतना ही खूबसूरत होता।"

पर आज का पुरुष सड़क पर चलती महिलाओं के पीछे 'मटके तेरी चाल के' कहने में नहीं हिचकिचाता। रेलवे प्लेटफार्म हो या बस का स्टैंड, शहर के मुख्य बाजार का चौराहा हो या सामाजिक समारोह, जहाँ रंगीन चार तित-लियाँ नजर आती हैं तो वहाँ सोलह भँवरे मँडराते दिखाई देंगे। आज के पुरुष को चाहिए, वह नारी के विकास और उन्नति में योगदान दे, न कि नैतिक पतन का अपने-आपको साध्य बनाये। नारी की आत्मा प्रेम में रहती है। पुरुष का प्रेम एक घटना-मात्र है। पर नारी का प्रेम उसके जीवन का इतिहास बन जाता है।

नारी की पूजा क्यों ?

कवीन्द्र-रवीन्द्र के शब्दों में, "नेक स्त्री परमात्मा का सर्वोत्तम प्रकाश है जिससे संसार की शोभा बढ़ती है।"

शिक्षित नारी में आन्तरिक विशिष्टता का विकास, आचार-संयमन का विधान प्रमुख होना चाहिए। कोरा आदर्श जहाँ विनाश का कारण बन सकता है, वहाँ नग्न यथार्थ उससे अधिक कटु है, इसे न भूल जाना चाहिए। नारी की स्वतन्त्रता, कोमलता, सौन्दर्य, प्रेम का उपयोग पुरुष को अपने घर, समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिए करना है, अवनति के लिए नहीं। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोण यदि आपस में समझौता करके चलें तो ऐसा सम्भव

हो सकता है। नारी को भी पुरुष की वासना का साधन उसकी आंखों का प्रेम बन कर जीवित नहीं रहना है। महर्षि दयानन्द ने एक बार कहा था, "भारत का धर्म उसके पुत्रों से नहीं, पुत्रियों के प्रताप से स्थिर है।" लौवेल ने तो यहां तक कहा, "विधाता ने स्त्रियों को सुन्दर बनाया है, इसी से हम उनको महत्त्व नहीं देते। वे प्रेम के लिए बनाई गई हैं, इसीलिए हम उनसे प्रेम नहीं करते। हम उन्हें पूजते हैं तो केवल इसलिए कि मनुष्य का मनुष्यत्व एकमात्र उन्हीं के कारण है।"

मामा, हर नई पीढ़ी अपनी पुरानी पीढ़ी से अधिक चतुर होती है। वह तेजी से आगे बढ़ती है, पर आंखें बन्द करके बढ़ना तो बुद्धिमानी नहीं है।

व्यापार और नैतिकता

श्री लल्लनप्रसाद व्यास

सम्पादक—स्वतन्त्र भारत, लखनऊ

आज प्राय: लोगो मे यह भ्रान्त धारणा पायी जाती है कि भारत की संस्कृति तो धर्म एव आध्यात्मिकता-प्रधान रही है, अतएव इसमे अर्थ अथवा अर्थोपार्जन को कोई विशेष महत्त्व नही। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। हमारे यहाँ तो चार पुरुषार्थ माने गए हैं, जिनमे धर्म और मोक्ष के साथ अर्थ तथा काम भी है। भारतीय अर्थ-शास्त्र के प्रमुख प्रणेता आचार्य चाणक्य ने तो **सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः** कह कर धर्म और अर्थ का समवायी रूप सामने रख दिया है।

सबसे बडी बात तो यह है कि धर्म की कल्पना वैराग्यमूलक होते हुए भी उसमें सासारिक पक्ष की उपेक्षा नही की गई है, बल्कि वहाँ तो आध्यात्मिक एव भौतिक पक्ष—दोनो को युगपत् गति दी गई है। उसकी व्याख्या इसी प्रकार की गई है, **यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्मः** अर्थात् जिससे लौकिक और पारलौकिक जीवन बने, वही धर्म है। स्पष्ट है कि भारतीय धर्म मे लौकिक और पारलौकिक या भौतिक और आध्यात्मिक पक्ष को अलग-अलग नही, बल्कि दोनो को एक-दूसरे का पूरक और अन्योन्याश्रित माना गया है।

त्यागमय भोग

भारतीय जीवन का आधार अथवा उसकी झाँकी ईशोपनिषद् के इस सर्वविदित श्लोक मे स्पष्ट हो जाती है

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

अर्थात् इस विशाल जगत् मे हम जो कुछ देखते हैं, वह सब ईश्वर मे व्याप्त है। इसलिए उसके द्वारा जो त्यक्त है, उसका भोग करो और दूसरे के धन का लोभ न करो।

इस श्लोक मे निहित भावना ही समाज के प्रति व्यक्ति के कर्तव्य को इंगित करती है। यह बताते हुए कि सम्पूर्ण जगत् (समाज) मे ईश्वर की व्याप्ति है और यह सब उसी की माया है, उससे परे कुछ नही, अतएव दूसरे के धन की ओर दृष्टिपात उचित नही।

साथ ही भारतीय जीवन-दर्शन के सार-तत्त्व उपनिषद् के इस मूलमन्त्र का यह भी अर्थ निकलता है कि जब जगत् की समस्त वस्तुओ मे ईश्वर की व्याप्ति है, तो मनुष्य, जो उसका एक अंग-मात्र है, का उन पर क्या अधिकार है? हाँ, सृष्टि का एकमात्र ज्ञानवान् प्राणी होने के कारण वह अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक किन्तु उत्तरदायित्व पूर्ण स्थिति मे अवश्य है। वह जगत् (समाज) की वस्तुओ (सम्पत्ति) का अधिकारी नही, वरन संरक्षक (ट्रस्टी) है। वस्तुतः वह तो निमित्त-मात्र है।

समाज के लिए संरक्षकता

समाज मे समता, समृद्धि और सद्भावना उत्पन्न करने के लिए उपनिषद् के उसी मूल मन्त्र को समय-समय पर विभिन्न महापुरुषो ने विभिन्न रूप या नाम से प्रस्तुत किया। वर्तमान युग मे महात्मा गाधी का ट्रस्टीशिप (संरक्षकता)

का सिद्धान्त इसी उदात्त भावना का प्रतिपादन करता है। वे कहते हैं—

"वास्तव मे समान वितरण के इस सिद्धान्त की जड़ में ट्रस्टीशिप या संरक्षकता का सिद्धान्त होना चाहिए। यानी अमीरों को अपने अतिरिक्त धन का ट्रस्टी या संरक्षक बनना स्वीकार करना चाहिए। समान वितरण का सिद्धान्त कहता है कि अमीरो को भी अपने पड़ोसियो से एक भी रुपया अधिक नहीं रखना चाहिए। यह सब कैसे किया जाये? धनवान् आदमी के पास उसका धन रहने दिया जायेगा, परन्तु उसका उतना ही भाग वह अपने काम मे लेगा, जितना उसे अपनी जरूरत के लिए उचित रूप में चाहिए, बाकी को वह समाज के उपयोग के लिए धरोहर-रूप समझेगा।"

व्यापार में अनैतिकता

इसी भावना के अभाव मे आज समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे अनैतिकता और भ्रष्टाचार व्याप्त हो चला है। यह अनुचित अवस्था व्यापार के क्षेत्र में अपनी चरम सीमा पर विद्यमान है, जहाँ अधिकाश व्यापारी-वर्ग ने येनकेन-प्रकारेण अधिकाधिक लाभ कमाना ही अपना परम उद्देश्य समझ लिया है। उन्हे न तो समाज की चिन्ता है और न ही उसके प्रति अपने कर्तव्यो का भान। बल्कि व्यापार के क्षेत्र मे अनैतिकता ने अपना ऐसा प्रभाव जमा लिया कि राजनीति की तरह इसमे भी प्राय. लोग यह समझने लगे हैं कि व्यापार और नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही और व्यापार मे सफलता के लिए नैतिकता और ईमानदारी का त्याग आवश्यक-सा है। निश्चय ही यह स्थिति हमारे समाज के एक बड़े वर्ग के नैतिक अधःपतन की द्योतक है जिसका कारण है नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यो का ह्रास तथा हमारे जीवन पर अर्थ का अत्यधिक प्रभाव। अर्थ का यह प्रभाव होने से जीवन के सभी गुण धन की तुला पर ही तौले जाते है—**सर्वे गुणा: कांचनमाश्रयन्ते।**

अनैतिकता के प्रकार

आज व्यापार मे अनैतिकता के जितने प्रकार हैं, उन सबका कारण अधिकाधिक लाभ कमाने की वृत्ति तो है ही; साथ ही यह वृत्ति इतनी प्रबल हो गई है कि कई बार व्यापारियों द्वारा समाज की हित-चिन्ता तो दूर रही, वे उल्टे समाज और देश के हितो को हानि पहुँचा कर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति करते है। निर्धारित मूल्य से अधिक लेने, कम और घटिया माल देने, अभाव के समय मनमाने दाम लेकर जन-जीवन के साथ खिलवाड़ करने तथा अन्य प्रकार से अनुचित लाभ कमाने की घटनाएं तो प्रायः देखी जाती है, किन्तु कभी-कभी ऐसी घटनाए भी देखी गई हैं, जब अधिक लाभ कमाने के लोभवश राष्ट्र की प्रतिष्ठा तक को हानि पहुँचाई गई तथा देश का गम्भीर अहित किया गया। रूस द्वारा भेजे गए जूतों के आर्डर की सप्लाई मे घटिया माल भेजने की घटना पुरानी न पडी थी कि अभी हाल मे कुछ समाचार-पत्रो मे प्रकाशित समाचार के अनुसार कुछ भारतीय व्यापारियो ने उत्तरी सीमा पर चीनी आक्रमणकारियो के हाथ ऊँचे दामो पर सीमेंट और जी० सी० शीटे बेचीं, जिनसे हवाई अड्डो का निर्माण किया गया।

निराकरण कैसे ?

प्रश्न है कि यह अनैतिकता दूर कैसे हो जो हमारे सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को विषाक्त बना रही है? इस समस्या का हल हमे समस्या का मूल समझ कर ही निकालना होगा; अर्थात् हमे समाज के प्रति व्यक्ति का कर्तव्य-भाव जागृत करना होगा और समाज में व्याप्त अर्थ के अत्यधिक प्रभाव को समाप्त करना होगा। तभी समाज में नैतिक मूल्यो की पुनःस्थापना हो सकती है।

वैसे जहाँ तक इसके व्यावहारिक पक्ष का सम्बन्ध है, समस्या का निराकरण तीन प्रकार से हो सकता है—सरकारी स्तर पर, सामाजिक स्तर पर और स्वयं के द्वारा। प्रथम उपाय के अन्तर्गत सरकार कानून बना कर अनैतिकता और भ्रष्टाचार को रोकती है। जैसे पाकिस्तान मे वर्तमान सरकार ने चोर-बाजारी करने वालो, खाद्य वस्तुओ मे मिलावट करने वालों आदि को कड़ी-से-कड़ी सजाएं दीं। कुछ देशों में लाभ कमाने की अधिकतम सीमा भी निश्चित कर दी गई

है। इन अनिवार्य उपायों के द्वारा व्यापारियों में भय और आतंक उत्पन्न कर कुछ समय के लिए उन्हें अनैतिक कार्यों से रोका जा सकता है, परन्तु उनमें स्थायी रूप से समाजोपयोगी भाव जागृत नहीं किये जा सकते। इस प्रकार सरकारी कानून और दण्ड-व्यवस्था अनैतिकता या भ्रष्टाचार पर कुछ नियन्त्रण स्थापित करने में सहायक तो जरूर हो सकती है, किन्तु वह समस्या का स्थायी हल नहीं है। इसके लिए अन्य उपायों का भी सहारा लेना आवश्यक है।

दूसरा उपाय है सामाजिक स्तर का, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की अनैतिकता पर समाज अंकुश लगाता है। आज प्रायः प्रत्येक व्यापारी किसी-न-किसी यूनियन अथवा अन्य संगठन से सम्बन्धित है। इन संगठनों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि ये न केवल उनकी उचित-अनुचित मांगों को ही संगठित-रूप में रखा करें, बल्कि यह भी देखें कि संगठन का प्रत्येक सदस्य अपने व्यापार में ईमानदारी और नैतिकता का पालन करते हुए समाज और राष्ट्र के हितों की रक्षा कर रहा है या नहीं। यदि वे संगठन अपने इस सहज अपेक्षित कर्तव्य का पालन नहीं करते तो उनकी कोई सामाजिक आवश्यकता नहीं।

इस कार्य के लिए उन संगठनों को पहले यह निश्चित करना होगा कि व्यापारियों अथवा व्यापारिक संस्थानों के कौन-कौन से कार्य नैतिकता और ईमानदारी के विरुद्ध हैं, जिनके करने पर उनका संगठन से बहिष्कार किया जा सकता है। साथ ही यह भी व्यवस्था होनी चाहिए कि बहिष्कृत व्यापारी या व्यापारिक संस्थान समस्त व्यापारिक सुविधाओं से भी वंचित किया जाये ताकि अन्य व्यापारीजन वैसे अनुचित कार्यों की ओर प्रवृत्त न हों। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो समाज चारित्रिक एवं अन्य गुणों की दृष्टि से बहुत उन्नत नहीं है, उसमें नैतिकता और ईमानदारी को सर्वव्यापक बनाने के लिए कुछ-न-कुछ नियमों की अनिवार्यता एवं अंकुश की आवश्यकता पड़ती है।

तीसरा उपाय, जो व्यक्ति के स्वयं के प्रयासों से सम्बन्ध रखता है, वही सर्वोपरि महत्त्व का है। बिना किसी जोर-दबाव या अंकुश-नियन्त्रण के नैतिकता और ईमानदारी का जो पालन किया जाता है, उससे एक प्रकार की आत्मिक प्रसन्नता और सन्तोष की प्राप्ति होती है। सम्भव है कि नैतिकतावादी व्यापारी को अपेक्षाकृत कम लाभांश प्राप्त हो, परन्तु उससे जो उसे आत्मिक सन्तोष प्राप्त होगा, उसका माप धन से नहीं किया जा सकता। साथ ही एक ईमानदार व्यापारी न केवल अपना कर्तव्य पालन ही करता है, बल्कि अपने आचरण से अन्य को प्रभावित और प्रेरित भी करता है। इस प्रकार वह नैतिकता के प्रसार में भी सहायक बनता है।

यह कितने हर्ष की बात है कि आचार्यश्री तुलसी ने व्यापार में अनैतिकता की समस्या के निराकरणार्थ इस तीसरे उपाय की ओर ध्यान दिया है। उनका अणुव्रत-आन्दोलन विद्यार्थी, मजदूर, राजकर्मचारी आदि वर्गों के लिए जिस प्रकार एक आचार-संहिता प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार व्यापारी-वर्ग के लिए भी। स्वयं आचार्यश्री तुलसी व उनके साधुजन देश के कोने-कोने में अलख जगाते हुए व्यक्ति-माध्यम से नैतिक प्रसार का भागीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। उनके अणुव्रत-आन्दोलन में सम्मिलित होने वालों में व्यापारी बड़ी संख्या में हैं। आन्दोलन की प्रेरणा से व्यापारियों ने, जिस समय देश में चोरबाजारी अपनी सीमा पर पहुँच गई थी, चोरबाजारी न करने, मिलावट न करने, तोल-माप में न्यूनाधिकता न करने आदि की प्रतिज्ञा ली थी। सचमुच ही यह प्रयत्न व्यापार में छाई हुई अनैतिकताओं के निराकरण में अपना अनूठा स्थान रखता है। आन्दोलन के प्रयास से सैकड़ों व्यापारियों ने आते हुए अपने अर्थ-लाभ का संवरण किया है और समाज के समक्ष एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है।

अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा प्रारम्भ किया गया यह उपक्रम व्यक्ति-माध्यम के अनन्तर सामाजिक स्तर पर भी चला है। दिल्ली, कलकत्ता, पटना, लखनऊ, कानपुर जैसे उद्योग-प्रधान व व्यवसाय-प्रधान नगरों में वहाँ के बड़े-बड़े व्यापारिक संगठनों में भी मुनियों के भाषणों से यह आवाज गूँजी है। उन संगठनों के समक्ष इस प्रकार के प्रस्ताव उपस्थित हुए हैं और उनके परिणाम भी सुन्दर आए हैं।

कुछ एक प्रसिद्ध मण्डियों में दुकान-दुकान पर जाकर मुनिजनों ने व्यापारियों को प्रेरणा दी है और सारे बाजार से मिलावट, झूठे तौल-माप आदि को दूर किया है। अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा वैयक्तिक व सामाजिक—दोनों स्तर पर व्यापारियों का जन-मानस बदला जा रहा है।

नैतिकता और ईमानदारी का भौतिक लाभ भी प्राप्त होता है, पर उसमें कुछ समय लगता है। ईमानदार व्यापारी की धीरे-धीरे एक साख या प्रतिष्ठा बनती है जो अन्ततः उसे लाभ प्रदान करती है। इस प्रकार व्यापार में नैतिकता न केवल सामाजिक, बल्कि निजी हित का सम्पादन भी करती है।

यदि किसी अवस्था में नैतिकता से व्यक्ति का कोई भौतिक लाभ न भी होता हो, तो भी वह समाज की सुव्यवस्था तथा राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। किसी समाज या राष्ट्र की वास्तविक उन्नति और उत्कृष्टता का अनुमान इसी से लगाया जाता है कि उसमें नैतिक परम्पराओं का कहाँ तक पालन और नैतिक मानदण्डों का कहाँ तक आदर किया जाता है।

अब हमारा देश स्वतन्त्र है और हमें केवल भौतिक उन्नति में ही सन्तोष न कर लेना होगा, बल्कि यह भी विचार करना होगा कि हमारा नैतिक स्तर भी ऊंचा उठ रहा है या नहीं। यदि नहीं तो उस पर विचार करना होगा और राष्ट्र की भौतिक उन्नति के साथ-साथ नैतिक उन्नति के कार्य को भी प्राथमिकता देनी होगी।

विद्यार्थी वर्ग और नैतिकता

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक—आजकल

विद्यार्थी जीवन पांच या छः वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर इक्कीस या बाईस वर्ष की आयु तक जारी रहता है। औसतन सत्रह या अठारह वर्ष की आयु मे विद्यार्थी विश्वविद्यालयो मे प्रविष्ट होते हैं, क्योंकि स्कूलों का पाठ्य-क्रम ग्यारह वर्ष कर दिया गया है। प्रस्तुत लेख मे विश्वविद्यालयो के विद्यार्थी-जीवन को ही विवेचन का मुख्य केन्द्र रखा गया है।

सत्रह वर्ष की आयु जीवन के नाजुक वर्षों मे इसलिए गिनी जाती है कि तब व्यक्ति न बालको मे गिना जा सकता है और न बडो मे। अधिकांशतः सत्रह वर्ष का किशोर अपने को परिपक्व युवक समझने लगता है, पर उसके बडे भाई, माता-पिता और शिक्षक उसे अभी तक मुख्यतः बालक मान रहे होते हैं। यह स्थिति स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास मे चाहे कितनी ही अधिक सहायक क्यो न हो, इस आयु को नाजुक जरूर बना देती है। परिणाम यह होता है कि किशोर मे चिड़चिड़ापन और खिज बढ जाते है, जो मानसिक अनिश्चय और दुविधा को जन्म देते है।

इस आयु के भी शक्तिशाली और कमजोर दोनो ही पहलू है। भौतिक दृष्टि से सत्रह-अठारह वर्ष की आयु मे व्यक्ति का विकास नव यौवन के निकट पहुँच रहा होता है। लडकियाँ तो प्रायः इस आयु मे काफी समझदार नवयुवतियाँ दिखाई देने लगती है, यद्यपि उनका मानसिक विकास अपनी आयु के लडको से कुछ ही अधिक होता है। व्यक्ति मे आत्म-विश्वास बढ जाता है, तो माँ-बाप और गुरुजनो के प्रति अवज्ञा की भावना उत्पन्न होने लगती है। आज का सामाजिक वातावरण इस भावना को और भी अधिक उकसाता है। स्फूर्ति, अदम्य कार्यशक्ति, खतरा उठाने का साहस, नई बातें जानने की उत्सुकता—ये सब इस आयु के सुनहले पहलू हैं। यही सब बातें खतरे की बाते भी सिद्ध हो सकती है। उदाहरण के लिए नई बाते जानने की उत्सुकता को ही लीजिए। यदि इस आयु का व्यक्ति लैंगिक जानकारी मे इतना लिप्त हो जाए कि वह वासना-पूर्ति के सभी स्वाभाविक या अस्वाभाविक साधनो को आजमाने लगे, तो वह व्यक्तित्व के ह्रास का कारण सिद्ध हो सकता है और इससे पराङ्मुख रह कर यदि किसी सत लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाता है तो जीवन को काफी प्रगति की ओर बढा सकता है।

सुप्रसिद्ध विचारक एच० जी० वैल्स की अन्तिम पुस्तक का नाम है 'ट्रैजेडी ऑफ होमोसेपियन्स'। इस पुस्तक मे उन्होने कहा है कि मानव-जाति की सबसे बडी ट्रैजेडी—दुःखान्तता यह है कि मनुष्य का पूर्ण शारीरिक विकास तो अठारह से तेईस वर्षों की आयु मे हो जाता है, पर उसका बौद्धिक और मानसिक विकास अड़तालीस से पचपन वर्ष की आयु के बाद हो पाता है, जब उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगती है। दूसरे शब्दो मे शारीरिक शक्ति मुख्यतः उन मानवो के पास है, जिनका पूर्ण बौद्धिक और मानसिक विकास नही हो पाया और मानव समाज के जिस भाग का मानसिक विकास हो चुका है, वह मुख्यतः न सिर्फ शारीरिक दृष्टि से कमज़ोर है, अपितु उसकी शारीरिक कमज़ोरी शीघ्रता से बढ़ती जा रही होती है।

स्पष्टतः कालेजो का विद्यार्थी-समाज उस श्रेणी मे है, जिनका शारीरिक विकास पूर्णता के निकट पहुँच रहा है, पर जिनका मानसिक विकास अभी निचली सीढियो पर ही पहुँच पाया है। यदि पचास वर्ष के व्यक्ति का मानसिक विकास पूर्ण माना जाये तो बीस वर्ष के व्यक्ति का मानसिक विकास पचास मे से बीस ही सीढियो पर पहुँच पाया है।

यह ठीक है कि विद्यार्थी अवस्था में पुस्तकों तथा गुरुजनों के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की मन.स्थिति बनाए रखी जा सकती है, पर व्यवहार में ऐसा कहां तक हो पाता है, यह चिन्तनीय है।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार विद्यार्थी जीवन को 'ब्रह्मचर्यावस्था' कहा गया है। 'ब्रह्मचर्य' के सम्बन्ध मे बहुत-सी भ्रान्त धारणाएं व्याप्त हैं। प्राय: ब्रह्मचर्य का अर्थ लैंगिक सयम ही से लिया जाता है। वास्तव मे यह अर्थ एकदम अपूर्ण और भ्रामक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी जो व्यक्ति ब्रह्म अर्थात् ज्ञान में विचरण करता है, वह ब्रह्मचारी है। सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। दूसरे शब्दों में ज्ञानार्जन ब्रह्मचर्यावस्था का मुख्य लक्षण है। जो व्यक्ति ब्रह्म अर्थात् ज्ञान मे विचरण करेगा, वह असंयमी और अनैतिक हो ही नही सकता। अर्थात् लैंगिक सयम ब्रह्मचर्य का परिणाम भले ही हो, यह उसकी व्याख्या नही है।

यदि विश्वविद्यालयों का वातावरण पूरी तरह ज्ञानमय बनाया जा सके, तो वहां नैतिकता की शिक्षा देने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होगा। ज्ञान में कला भी सम्मिलित है। वे सब बातें जो मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक विकास करने मे सहायक होती हैं, ज्ञान का अपरिहार्य अग हैं। इस तरह पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता तो विश्वविद्यालयो को वास्तविक ज्ञान का केन्द्र बनाने की है।

यदि विश्वविद्यालयों मे जीवन की विविध सम्पन्नता विद्यार्थियो को प्राप्त हो सके, तो वह बिना किसी विशेष श्रम के उन्हे नैतिकता के मार्ग पर ले जा सकेगी। उस आयु मे विद्यार्थी साहस के काम करना चाहता है। उसे यह अवसर होना चाहिए कि वह श्रेय-कार्यों के लिए खतरे उठाए। मेरी शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल मे हुई है। उन दिनो गुरुकुल कागड़ी गगा के दूसरे पार एक घने जंगल मे था, जहां शेर, चीते, रीछ, हाथी आदि वन्य पशु बहुतायत से थे। वहां वातावरण कुछ ऐसा था कि उस जमाने मे हम यह जानते ही न थे कि भय क्या चीज है। कालेज के छात्रावास से कुछ विद्यार्थी भारतीय सर्वे-विभाग द्वारा प्रकाशित उस क्षेत्र के जगलो के नक्शे लेकर अपरिचित जगलो मे जाते थे और शिवालक की पहाड़ियो पर बिना गाइड के चढ़ा करते थे। हम लोगो के व्यक्तित्व के निर्माण मे प्रकृति का बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ है। प्रकृति मे साहसपूर्ण विचरण नैतिकता की महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है।

जीवन की विविध सम्पन्नता से मेरा अभिप्राय यह है कि विश्वविद्यालयो मे ऐसा वातावरण रखा जाए कि विद्यार्थियो को खाली वक्त मिले ही नही। साथ ही उनका जीवन इतना तन्मयतापूर्ण बन जाए कि खाली रहने की इच्छा तक उनमे उत्पन्न न हो। केवल किताबी शिक्षा एकदम अधूरी है। विद्यार्थी स्वय अपने झगडो को निबटाएँ। वे सगीत, कविता, कहानी, साहित्य आदि मे क्रियात्मक रुचि प्रदर्शित करें, ज्ञान-विज्ञान की बातो पर परिचर्चाएं सगठित करें। इसी तरह और भी कितने ही साधन हैं, जिनसे विद्यार्थी जीवन को बहुत सम्पन्न तथा विविधतापूर्ण बनाया जा सकता है। इन्हीं उपायों से विद्यार्थियो को नैतिकता की क्रियात्मक शिक्षा दी जा सकती है और उन्हें उत्तरदायी श्रेष्ठ नागरिक के रूप में निर्मित किया जा सकता है।

विद्यार्थी, नैतिकता और व्यक्तित्व

मुनिश्री हर्षचन्द्रजी

नैतिकता और चरित्र मानवीय व्यक्तित्व की महत्ता का सौम्यतापूर्ण सौन्दर्य है। यह वही सौन्दर्य है जिससे मानव मृत्यु के बाद भी अमरता को प्राप्त करता है, कष्टों, दुविधाओं और निराशापूर्ण स्थितियों में भी चमकता है और असंख्य-असंख्य प्राणियों के लिए अनगिनत युगों तक प्रकाश-स्तम्भ, प्रेरणाकारी तथा शक्ति-स्रोत बनता है। मानवीय महत्ता का आधार चरित्र है, चरित्र मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति में निमित्त होने वाला यशस्वी गुण है और गुण गुणी का अविनाभावी सहचारी है। इसलिए नैतिकता और चरित्र की अखण्ड प्राप्ति के लिए विद्यार्थी-अवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवसर है।

विद्यार्थी भावी जगत् का प्रतिबिम्ब है। उसके नयन-पट पर बनने वाले संसार का चलचित्र उभरता रहता है, उसके कार्यों से भावी नागरिकों के आचरण प्रतिध्वनित होते हैं, उसका विकास भावी अस्तित्व की गहराई और ऊँचाई का मापयन्त्र है और संक्षेप में मानव जाति का समग्र भावी इतिहास ही विद्यार्थियों पर अवलम्बित है। बीस-तीस और पचास वर्ष के पश्चात् दिखायी देने वाली सुनहरी स्वप्नमयी झाकियाँ और उन्हीं को प्रत्यक्ष करने की महत्त्वपूर्ण योजनाएं आज के विद्यार्थियों के लिए है। वे स्वय ही उस समय के लिए कर्ता हैं, उपभोक्ता है और विधाता भी है।

राष्ट्र के कर्णधार और समाज के सूत्रधार एक महत्त्वपूर्ण सन्धि में से होकर गुजर रहे है। उन्हें विगत के अनुपयोगी अवशेषों को शेष करना पड रहा है और भावी के निर्माण का प्रारम्भ। संहार और सर्जन की सूक्ष्म-सी रेखा पर न केवल वे स्वय चल रहे है, अपितु अपने पीछे समग्र राष्ट्र और समाज को भी खींच रहे है। आदर्श क्या है—नूतन पुरातन या समन्वय ? इसका चुनाव विद्यार्थियों के लिए एक उलझन भरा प्रश्न है। विद्यार्थी नवीन राष्ट्र के भव्य भवन का निर्माण देखता है, परन्तु देखता है अस्त-व्यस्त-सी वस्तुओं का ढेर। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि निर्माण-कार्य चालू जो है। दूसरी ओर वह देखता है मान्यताओं, परम्पराओं और रूढियों के जर्जरित भवन का संहार। वहाँ पर भी उसे उसी प्रकार की अस्त-व्यस्तता दिखाई देती है, क्योंकि उस मकान को गिराने का कार्य न केवल अधूरा है, अपितु कुछ तत्त्व उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील है।

विद्यार्थी अपने-आपको चौराहे पर खडा पाता है। वह बढना चाहता है, गति का सामर्थ्य उसके चरणों का सहचारी है, परन्तु चलता हुआ भी बढ नहीं पा रहा है, कार्य करता हुआ भी विकास नहीं पा रहा है, सामर्थ्य और आकाक्षा होते हुए भी उन्हें सफलीभूत नहीं पा रहा है। क्योंकि उसके सम्मुख आदर्श है, परन्तु अनुकरणीय जीवन की प्रेरणा नहीं, शब्दों से सम्पुष्ट भीमकाय ग्रन्थ हैं, परन्तु आचरणों मे पुष्ट सशक्त समाज नहीं, जीविका की शिक्षा के पाठक है, परन्तु मानवीय भावनाओं के विकास को मूर्त रूप देने वाले तपे हुए मनस्वी नहीं। इसलिए विद्यार्थी भ्रमित है, अपने पथ पर अविश्वस्त है और चौराहे पर खडा चौकन्ना होकर किसी विश्वस्त पथ-प्रदर्शक की प्रतीक्षा कर रहा है।

आज का विद्यार्थी प्रतिभा-सम्पन्न है। उसने जिस क्षेत्र मे भी प्रवेश किया, उसकी उन्नत चोटी को छूकर और भी अधिक समुन्नत करने का सफल आयास किया। तरुण वैज्ञानिकों के शोधपूर्ण मस्तिष्क पर वैज्ञानिक अनुसंधान सत्रालय प्रसन्न है, नवोदित साहित्यकारों, कवियों और लेखकों की गणना बुजुर्गों की श्रेणी मे हो रही है और युवक राजनेताओं तथा मुख्य मन्त्रियों की सफलता पर वरिष्ठ नेताओं ने नये रक्त के लिए बलपूर्वक कुछ स्थान रिक्त कराने का

निर्णय किया है। ये कुछ बोलते हुए तथ्य है जो कि आज के विद्यार्थियो और युवकों के प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व को स्पष्ट कर रहे हैं।

देश के सम्मुख नैतिकता और चरित्र का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। समस्त नागरिक भ्रष्ट व अपनी मर्यादाओं से च्युत हो गए हैं—यह कथन सत्य से उतना ही दूर है जितना कि अहिंसा से हिंसा। परन्तु कोई भी वर्ग पूर्ण नैतिक और ईमानदार है, यह कहना भी आलोकित मध्याह्न को आँख मूंदकर तमोमयी अमावस्या बताना है। अनैतिकता हर वर्ग में है। अपने कार्य को अनुत्तरदायित्वपूर्ण पद्धति से करने का स्वभाव प्रत्येक वर्ग का बनता जा रहा है। दूसरे वर्गों को कोसना तथा भ्रष्टता का उन पर दोषारोपण करना भी लगभग सभी व्यक्तियों की मान्य परम्परा बन रही है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी-वर्ग के आचरण आज देश के सम्मुख एक समस्या बन रहे हैं, यह कुछ स्वाभाविक है तो कुछ वास्तविक भी। विद्यार्थियों की सामान्य सी त्रुटि भी देश के लिए गहरी चिन्ता का विषय है; क्योंकि उसमें राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण प्राणाण हैं और उसके जीवन को पूर्ण पवित्र तथा सात्त्विक देखने की आकांक्षा भी। एक पिता को अपने पुत्र का साधारण-सा दुःख भी भयंकर लगता है और किसी अपरिचित बालक की भयंकर चोट भी साधारण-सी। क्योंकि पहले में उसका अपनत्व तथा ममत्व है, तो दूसरे में दूरी तथा अलगाव की अनुभूति।

नैतिकता क्या है ? यह प्रश्न देखने में बड़ा स्पष्ट है, पर अपने अन्तर में गहरी उलझनों को छुपाये हुए है। नैतिकता व्यक्ति के खान-पान में नहीं है, वेश-भूषा की काट-छाँट में नहीं है, आजीविका के किसी विशेष प्रकार में नहीं है, वह तो उसके चिन्तन में, उसके प्रत्येक कार्य के छुपे हुए व्यक्तित्व में और स्वार्थ से ऊपर उठ कर किये जाने वाले परमार्थ के कार्यों में है। मानव नैतिकता को तराजू पर तोलता हुआ रख सकता है, खेतों में हल चलाता हुआ रख सकता है और रख सकता है मशीनों पर अपनी उँगलियों को नचाता हुआ भी। मानव अनैतिकता को सफेद कपड़ों में पाल सकता है, पत्रों पर लिखता हुआ तथा लिखे हुए को पढ़ता हुआ बढ़ा सकता है और अपने बन्द कमरे में मूक लेटा हुआ भी कर सकता है। अनैतिकता स्वच्छता में नहीं, अपितु दिखावेपन में है, धोती-कुर्ते अथवा पेंट-बुशर्ट में नहीं, अपितु बनावटीपन में है, और आजीविकाओं—घृत, तेल, वस्त्र, चर्म व मशीन आदि द्रव्यों में नहीं, अपितु उन-उन क्रियमाण आजीविकाओं के प्रति अपने मन के अनुत्तरदायित्वपूर्ण, स्वार्थपूर्ण तथा भ्रष्टाचार पूर्ण भावों में है। नैतिकता और चरित्र को इन त्रिसूत्रात्मक शब्दों में बाँधा जा सकता है :

१. कार्यों की स्वाभाविकता—व्यक्ति को अपना जीवन एकाकीपन में अथवा समूह में, परिवार में अथवा समाज में, व्यवहार में अथवा आदर्श में समरूप रखना चाहिए।

२. दूसरों के अस्तित्व का भान—व्यक्ति को अपने सीमित से स्वार्थों की रक्षा और पूर्ति के लिए अनगिनत व्यक्तियों की स्वार्थ-साधना में रुकावट तथा क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए।

३. उत्तरदायित्व की भावना—व्यक्ति को प्रत्येक कार्य करते हुए अपना उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिए।

विद्यार्थियों को नैतिक पथ पर अग्रसर देखने के लिए राष्ट्र को एक नीति स्पष्ट करनी है। निर्विवाद है कि आदर्श शिक्षक, शिक्षणालय और शिक्षाक्रम का अभाव है, इस अभाव को स्वीकार करके उसकी पूर्ति करने के लिए विद्यार्थी को स्वतन्त्रता व प्रेरणा देनी चाहिए। विद्यार्थी स्वयं में और समाज में नैतिकता और चरित्र की आत्यन्तिक अनिवार्यता अनुभव करें और करें उसकी पूर्ति करने के मार्गों का अन्वेषण।

हमने देखा, देश में शिक्षा का अत्यन्त अभाव था और अब भी है। विद्यार्थी के सम्मुख शिक्षित व्यक्तियों की संख्या सीमित थी, पर शिक्षा की अनिवार्यता उसने अत्यधिक अनुभव की। विद्यार्थी उस ओर बढ़ा, उसकी प्रगति में बड़ों ने और यहाँ तक कि उसी के अशिक्षित अभिभावकों ने सहयोग दिया और आज हम एक युग के बाद देखते हैं कि अपढ़ बच्चे समाज को अभिशाप अनुभव हो रहे हैं। यही कारण है एक युग पूर्व जहाँ ६० प्रतिशत बच्चे निरक्षर थे, वहाँ अब ६० प्रतिशत साक्षर होने वाले हैं; हालांकि उनके अभिभावक अब भी बहुत बड़ी संख्या में निरक्षर हैं।

आज अनैतिकता है। समाज के बहुसंख्यक व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त हैं। फिर भी वे मानवीय जीवन के लिए नैतिकता की अनिवार्यता अनुभव करते हैं। आज आवश्यकता है कि अनैतिक व्यक्ति को समाज अभिशाप समझे। प्रत्येक

विद्यार्थी को जो कि नागरिक जीवन मे प्रवेश पाना चाहता है, उसे प्रवेश करने का अधिकार उस समय तक न दिया जाये जब तक कि वह अपने-आपको नैतिक व चरित्रवान् प्रमाणित न कर दे। राष्ट्र यदि इस मान्यता को अपना आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार कर लेता है, तो यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि आने वाले युग मे इस धरती पर नैतिकता की सुरगंगा भरी हुई, छलकती हुई और लहराती हुई दिखायी देगी।

भारतीय जनता के नैतिक पुनरुत्थान के पवित्र उद्देश्य को लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। भाषा, प्रान्त, जाति, वर्ण, वर्ग और धर्म की समस्त रेखाए उस आन्दोलन ने पार की। उसका उद्घोष ग्रामो से उठ कर महानगरियो से, झोपडियो से उठ कर विचारको, मन्त्रियो तथा पूँजीपतियो की अट्टालिकाओ से, व्यापारियो मे उठ कर विद्यार्थियों, मज़दूरो व राज्य कर्मचारियों के कर्णकोटरो से टकराया। आन्दोलन से चेतना आयी, वातावरण बना और परिवर्तन भी। आन्दोलन की भूरि-भूरि प्रशसा मे वक्ताओं की वाणी मुखरित हुई, लेखको की लेखनियो मे प्रति-योगिता हुई, सम्पादको, समालोचको तथा समाज-सेवियो ने अपनी अकृपण उदारता प्रदर्शित की। आन्दोलन को बहुतो ने अपनाया, बहुतो से आन्दोलन को बल मिला और उस सब मे विद्यार्थी-वर्ग का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह आन्दोलन था—अणुव्रत-आन्दोलन और उसे प्रारम्भ करने वाले हैं यशस्वी, मनस्वी और तपस्वी आचार्यश्री तुलसी।

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर समाज के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण कदम रखा। उसमे विद्यार्थी-जगत् मे चेतना आयी, लाखों विद्यार्थियो ने नैतिक प्रेरणा ली और लगभग एक लाख विद्यार्थियो ने विद्यार्थियो के लिए निर्धारित 'पाँच प्रतिज्ञाए' ग्रहण की। ऐसा कहा जा सकता है, समुद्र मे एक लहर पैदा हुई। यद्यपि उस लहर मे समग्र सागर को तरगित करने का अनिवार्य बल है, तथापि सागर को प्रत्यक्ष रूप मे तरगित देखने के लिए उस वायु मे उठी हुई उस सूक्ष्म-सी लहर को सबल तूफान के रूप मे देखने की हमारी आकाक्षा है। अणुव्रतो के विद्यार्थी-सम्बन्धी कार्यक्रम से मेरा अपना निकटतम सम्पर्क रहा है। लगभग एक लाख विद्यार्थियो से मिलने का अवसर मिला है और बहुत-से विद्या-र्थियों के अणुव्रत ग्रहण करने के पश्चात् के अनुभवो को भी सुना है। इस समग्र अनुभव के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि अणुव्रत विद्यार्थियो मे नैतिक अभ्युदय को लाने के लिए सशक्त है। आज विद्यार्थी-जगत् इसी अनुभूति के आधार पर आचार्यश्री तुलसी का उनके धवल समारोह के उपलक्ष मे अभिनन्दन करता है और यह आशा करता है कि वे इस धवल कार्यक्रम को धवलतम करने का निर्णय लेगे।

सृष्टि का आधार चरित्र है और सृष्टि की इकाई व्यक्ति। व्यक्ति का मूल बाल्य-जीवन है और बालक के व्यक्तित्व का निर्माण चरित्र के विकास पर। नैतिकता के परम पुजारी आचार्यश्री तुलसी विद्यार्थियो के चरित्र-निर्माण के इस आधारभूत कार्य को कोटि-कोटि युगो तक करते रहे, इसी हार्दिक शुभ कामना के साथ मैं उनके कार्यशील व्यक्तित्व के प्रति अपनी कोटि-कोटि श्रद्धाजलियाँ समर्पित करता हूँ।

बाल-जीवन का विकास

श्रीमती सावित्रीदेवी वर्मा, एम० ए०
सम्पादिका—बालभारती

प्रत्येक माता-पिता की यह इच्छा होती है, उनकी सन्तान सदाचारी तथा सद्गुणी हो। वह सत्यप्रिय, दृढ़प्रतिज्ञ, दयालु, ब्रह्मचारी, आत्मविश्वासी, परोपकारी, स्नेहशील, परिश्रमी, सहनशील, ईमानदार तथा आत्मनिर्भर हो। परन्तु उनके चाहने-मात्र से तो बच्चे में वे गुण नहीं आ सकते। उसके लिए तो बचपन से ही बच्चे की नियमित और स्वस्थ दिन-चर्या, प्रसन्नतापूर्ण और प्रेरणात्मक वातावरण, बड़ों का अनुकरणीय उदाहरण तथा चेष्टाए होनी आवश्यक हैं। बड़े यह समझते हैं, हम बड़े हैं, घर की व्यवस्था और नियम बनाने का हमे अधिकार है, छोटे बच्चो को हमारे व्यवहार और दिनचर्या में बाधा उपस्थित करने तथा उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं। ठीक है, डर कर चाहे बच्चे प्रगट रूप से चुप रहेगे; परन्तु बड़ो के सभी कथनो और कर्मों की छाप उनके चरित्र पर धीरे-धीरे उतरती रहती है। बच्चा बड़ो के सद्-असद् कार्यों का आईना है। घर में बच्चे की उपस्थिति मे एक चेतावनी है कि सँभलकर व्यवहार करो, मुझे देखो, मैं कितना स्वच्छ, पवित्र और प्राकृतिक हूँ, मेरे मन मे विकार नही, मेरे कार्यों मे हिंसा नही, मुझसे तुम कुछ सीख लो।

कवियो ने कहा है—'बच्चा मनुष्य का पिता है, गुरु है, आदर्श है;' पर यह कहने-भर से काम नही चलेगा, उस पर अमल करना चाहिए। मनुष्य कितने विपरीत ढंग से व्यवहार करता है। वह अपनी मूर्खतावश, अहंकारवश, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से बच्चे के निर्मल हृदय मे भी झूठ, फरेब, स्वार्थ, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार उत्पन्न कर उसको गुमराह करता रहता है और अपने इस कार्य मे सफलता मिलती देख वह गौरव के साथ कहता है—'ओहो! अब मेरे बच्चे होशियार हो गए हैं, उन्हे दुनियादारी आ गई है, वे व्यवहार-कुशल बन चले हैं। अपनी बुराई-भलाई, हित-अहित परखना सीख गए हैं।' यह तो वह बात रही कि दम-कटे कुत्तो के समुदाय मे एक झब्बेदार दुम वाला कुत्ता यदि पहुँच जाये, तो वह बहुत बदसूरत गिना जाता है।

आज इस ससार में छल-प्रपच, धोखेबाजी का बाजार गर्म है, परन्तु मानव-समाज इस पाप के बोझ के नीचे कराह रहा है। सभी अनुभव करते हैं कि घरों में, स्कूलों मे, कालिजों मे, संस्थाओ मे, समाज, देश यहाँ तक कि ससार-भर में, लोग मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हैं। सभी ओर हाय-तोबा मची हुई है, पर भेड़चाल सदृश सभी उसी दिशा को चले जा रहे हैं। इस बीमारी का इलाज, इस बुराई का सुधार होना चाहिए। घरो मे अर्थात् बच्चो के प्रति अपने कर्तव्य तथा जिम्मेदारी को समझा जाना चाहिए। इस महान् धरोहर के प्रति अगर प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यशील रहे, तो बच्चो के सदाचारी होने में कोई सन्देह नहीं है।

बच्चे की महानता उसके बालरूप में छिपी है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दो में—बालक अमृत का सेतु और अजर प्राण का हेतु है। बालक के मन में मृत्यु की कल्पना नहीं होती। बालक के चैतन्य मे मृत्यु का अनुभव नहीं होता। प्राण और जीवन की ओजायमान ऊर्जस्वी धारा बालक में बहती है। बालक का मन अमृत का ऐसा उत्स है, जो कभी विषाक्त या विकृत नहीं होता। यही सृष्टि की बड़ी आशा है। प्रत्येक शती मे मानव-जाति पुन: बाल, पुन: युवा और पुन: वृद्ध बनती है। काल के जरा-जीर्ण अंश से मुक्त होने के लिए वह पुन:-पुन: बालभाव में आती रहेगी, यही जीवन का दुर्धर्षिम विधान है।

आत्म-विश्वास

डरे हुए, दबाये हुए बच्चे में आत्म-विश्वास नही रहता। वह हर समय दूसरो का सहारा ताकता रहता है। बडो को चाहिए कि बच्चे की योग्यता और सामर्थ्य को समझ कर उस पर जिम्मेदारी छोडे। 'हाय, अकेले मे उसे कुछ हो न जाये, कही वह गिर न पडे, अरे, कही वह कोई चीज उठा कर सिर मे न मार ले,' इत्यादि भयोत्पादक तथा अविश्वासपूर्ण उद्गारो द्वारा माताए अपने बच्चे के आत्म-विश्वास को हिला देती है। 'यह मत छू', 'वहाँ मत जा', 'सम्भल कर चीज उठा', 'गिर न पडना', 'वहाँ तुझे कही कुछ हो न जाये' आदि-आदि अभिभावको के कथन बच्चे को बहादुर और आत्म-विश्वासी नही बनने देते। बच्चा जब कभी खेल के मैदान से चोट लगा आता है तो माता-पिता उसे डॉटे-डपटे नही। खेल-कूद मे चोट लग ही जाती है। चोट खाकर ही बच्चे अपने बल का अनुमान लगा पाते हैं। आगे के लिए कितना साहस करना चाहिए या कितना जोखिम उठाना चाहिए, इसका उन्हे स्वय ही पता चल जाता है।

माता-पिता को हर समय अपने बच्चे को अपनी आँचल की ओट मे रख कर, सुरक्षित अनुभव करने की चेष्टा नही करनी चाहिए। परिजनो का प्रेम, प्रशसा और सहयोग ही उसे सुरक्षा का अनुभव कराने के लिए पर्याप्त है। उसे कार्य तथा निर्णय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। माता-पिता पथ-प्रदर्शक का काम करे। अगर बच्चे मे योग्यता होगी, उसकी ओर रुझान होगी, तो उसे दिया गया सुझाव रुचिकर लगेगा। बच्चा जो शिक्षा अनुभव से प्राप्त करता है, वह उपदेशो से अधिक प्रभावशाली होती है।

आत्म-निर्णय

जिन बच्चो को अपनी योग्यता को अजमाने का अवसर नही मिलता, वे डरपोक और आलसी बन जाते है। बच्चे को हरदम रोक-टोक और अधिक अनुशासन मे रखने मे उसका स्वाभाविक विकास कुण्ठित हो जाता है। इसका परि-णाम उसके अन्तर मन पर अच्छा नही पडता। वह बडा होकर किसी काम मे न तो स्वय निर्णय ही कर सकता है, न आत्म-विश्वास के साथ आगे बढ पाता है। जीवन मे कुछ कर सकने के योग्य बनने के लिए आत्म-निर्भरता भी उतनी ही अभीष्ट है जितना कि धीरज, सोच-विचार और कार्य-निपुणता। मन की दुविधा व्यक्ति को लगर की तरह पीछे को घसीटती है।

सत्य की निष्ठा

बच्चा जब उत्सुकता और जिज्ञासावश कोई प्रश्न करता है, तो उसकी समझ के अनुसार ठीक उत्तर देकर उसकी जिज्ञासावृत्ति को विकसित करना चाहिए। कई बार बच्चे को कौतूहलवश कुछ पूछने पर माता-पिता डॉट-डपट कर या झूठी बात कह कर, उसे चुप कराने की चेष्टा करते हैं। जिज्ञासावृत्ति के वशीभूत होकर ही बच्चा अन्वेषण और साहस के कार्यों मे दिलचस्पी लेता है। अपना कौतूहल मिटाने तथा जानकारी प्राप्त करने के लिए ही वह खिलौनो को तोडता-मरोडता है, उन्हे तोड कर फिर जोडने की चेष्टा करता है। परन्तु अधिकाश बच्चो को ऐसा करने पर मार पडती है और वे दण्ड के भय से झूठ भी बोल देते हैं।

यदि बडे बच्चे के शासक न होकर सच्चे स्नेही, हितैषी और मित्र के सदृश व्यवहार करे तो बच्चा भी अपनी अयोग्यता और असमर्थता स्वीकार कर, अपनी असफलता मे माता-पिता का सहयोग प्राप्त कर, यथाशक्ति उन्नति करने की चेष्टा करेगा। बच्चा नन्हा-मुन्ना है, उसके काम करने का ढग, रफ्तार और समझ सभी उसकी आयु के अनु-सार हैं, वह बडो के सदृश बडी हद तक सफलता नही प्राप्त कर सकता, अतएव आशाजनक सफलता न मिलने पर यदि बच्चे की भर्त्सना की जाती है, तो यह अन्याय होता है। यदि बड़ो का व्यवहार बच्चे के प्रति सच्चा होता है, उससे की हुई प्रतिज्ञाओ को निभाया जाता है, उसे भुलावे मे नहीं डाला जाता, दैनिक व्यवहार मे अपने वचन और कर्मों मे सामजस्य रख कर कार्य किया जाता है, तो बच्चा भी सत्यनिष्ठ होगा।

बच्चा अपनी रचनात्मक वृत्ति को तृप्त करने, अपने कौतूहल को मिटाने और अपनी कल्पना को साकार देखने के लिए अनेक चेष्टाएं करता है। यदि उसकी इन चेष्टाओं को प्रोत्साहन दिया जाये तो वह वैज्ञानिक, अन्वेषक, नृत्यकार, चित्रकार, कहानीकार, संगीतज्ञ आदि बन जाता है। 'ऐसा करने से क्या होगा ?' 'इसके आगे क्या है ?', 'ऐसा करूँ तो कैसा लगेगा ?' 'यह मिटा दूँ, यह जोड़ दूँ, तो फिर क्या रूप होगा ?' इस प्रकार के विचार बच्चे को कुछ करने की प्रेरणा देते हैं और वह कार्यशील बन जाता है। उसकी बुद्धि का विकास होता है, वह जिज्ञासावश बात की तह तक पहुँचने की सच्चाई को खोज निकालने की चेष्टा में लीन हो जाता है। यही सत्य की सच्ची उपासना है। परन्तु कितने बच्चो को ऐसी उपासना करने की प्रेरणा दी जाती है ? अधिकांश बच्चे रट्टू तोते के सदृश दूसरों के उपदेशों और कार्यों को दोहरा भर देते हैं। हमारे बड़ों ने ऐसा किया, उन्होंने ऐसा कहा, किताबों में ऐसा लिखा है, दुनिया इसी राह चल रही है, इसीलिए यह हमारे लिए भी आँख मूंद कर अनुकरणीय है। अधिकांश बच्चों को इसी प्रकार सोचना और करना सिखाया जाता है। बापू के सदृश सच का पुजारी युगो के बाद कोई निकलता है। उपदेशक तो ससार मे बहुत होते हैं, परन्तु पैगम्बर वही माने जाते हैं, जो सच्चाई की कसौटी पर अपने जीवन को भी कस कर खरा प्रमाणित कर दें।

माता-पिता का कठोर और अन्यायपूर्ण व्यवहार जब बच्चे को भयभीत कर देता है तो वह सच्चाई से विमुख होकर झूठ और बहानेबाजी की शरण लेता है।

ब्रह्मचर्य का विकास

बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, शरीर की वृद्धि के साथ-ही-साथ उसमे काम-वासना की भी उत्पत्ति होती है। अन्य शारीरिक शक्तियों के सदृश काम-शक्ति भी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है। इस विषय मे बच्चे की उत्सुकता को बहुत सुन्दरता के साथ शान्त करना चाहिए। उसके प्रश्नों को 'गन्दी बात' कह कर भुलाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। माँ का दुलार, पिता का प्यार, संगी-साथियों की प्रशंसा की चाहना तथा अपने से भिन्न सेक्स की संगति के प्रति आकर्षण, सजने-सँवरने का शौक, अपने रूप और गुणों की प्रशंसा सुन प्रसन्न होना आदि बातें इस बात का प्रमाण हैं कि बच्चे मे स्वस्थ काम-वृत्ति का विकास हो रहा है। अगर उसे दुत्कारा जायेगा तो वह विपथगामी हो जायेगा। बच्चे को ब्रह्मचारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी सौन्दर्य-प्रियता को सन्तुष्ट करने के लिए कला की सच्ची उपासना सिखाई जाये। उसमें वीर-पूजा की भावना पैदा करें, ताकि अपना ध्येय और आदर्श बनाने मे उसे सरलता हो। वह अपना प्रेम, आराधना तथा सम्मान और भक्ति, उस पूजनीय व्यक्ति पर उँडेल सके, जिससे उसे अपने जीवन को आदर्श बनाने की प्रेरणा मिलती है।

खाली दिमाग में ही बुरे ख्याल चक्कर मारते हैं। बच्चे के विचारों को पवित्र रखने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि उसे ऐसे ही कार्यों में व्यस्त रखा जाए। उसे स्वस्थ और सच्चरित्र बनने की प्रेरणा दी जाए। उसे भक्ति और त्यागपूर्ण प्रेम तथा वीर रस की कहानियाँ सुनाई जायें ताकि उसका प्रेम वासना से अछूता रहे, पर साथ ही उसे प्रकाशित करने का सही मार्ग प्राप्त हो जाए। बच्चा जब छोटा होता है, उसकी ममता के केन्द्र उसके माता-पिता तथा बहिन-भाई ही होते हैं। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, अपने संगी-साथी तथा गुरु को अपना आदर्श बना लेता है। बच्चे के चरित्र के विकास में इन सभी का बड़ा हाथ होता है। इनके व्यवहार और आदर्शों की बच्चे के चरित्र पर परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से छाप पड़ती रहती है। अतएव माता-पिता को इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि बच्चा किसी बुरे व्यक्ति के प्रभाव में न रहे। जिस बच्चे में आत्म-सम्मान की भावना होगी, जो आदर्श का पुजारी होगा, जो कुल और संस्था के सनाम को महत्त्व देता होगा, वह बालक अपने चरित्र को कभी भी नहीं गिरने देगा।

एक ओर माता-पिता जहाँ बच्चे के शारीरिक स्वास्थ्य की ओर सजग रहते हैं, वे उसके मानसिक स्वास्थ्य को परखने की चेष्टा नहीं करते। जिस प्रकार शारीरिक बल शारीरिक स्वास्थ्य की भित्ति पर खड़ा रहता है, उसी प्रकार चरित्रबल की आधारशिला मानसिक स्वास्थ्य है। वह जितनी दृढ़ होगी, बच्चे का चरित्र भी उतना ही दृढ़ होगा तथा उसमें सद्गुणों का स्वाभाविक विकास होगा। सन्तोषजनक विकास अनुकूल वातावरण पर ही निर्भर है और इस वाता-

वरण को पैदा करने का दायित्व माता-पिता पर है।

स्वभाव में लोच

बच्चे की योग्यता और सद्गुणो की कसौटी है, उसके स्वभाव की लोच। मनुष्य की जीवन-यात्रा सघर्ष-पूर्ण है, उसमें कर्मयोगी ही सफलता प्राप्त कर सकते है। दुर्बल मनुष्य परिस्थितियो का दास बन जाता है, परन्तु कर्मशील व्यक्ति परिस्थितियों से जूझ कर उन्हे गढ़ता और संवारता है। ऐसा मनुष्य अपने साथ दस अन्यो को भी तार देता है। बच्चों में इसी योग्यता को पैदा करना, सच्ची शिक्षा है। इसके लिए धीरता, सहनशीलता, दूरदर्शिता और व्यवहार-कुशलता चाहिए। दूसरो का सहयोग प्राप्त कर सफलता की ओर बढने की दृढता चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य मे लीडर-शिप हो, और वह निःस्वार्थ तथा चरित्रवान् हो। अपने मे पहले दूसरे का सोचे। जीवन को सुखी बनाना एक कला है। अगर कोई मनुष्य असन्तोषी है, वह हर समय अपने ही अभाव और असफलता का रोना रोकर सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो वह अपने सहयोगियो के लिए एक भार बन जाता है। जहां घर का वातावरण ऐसा हो कि बडो का व्यवहार बच्चो को परस्पर सहयोग से काम करने, वर्तमान को सुन्दर बनाने की चेष्टा तथा अनिवार्य विपत्तियों का धीरता के साथ सामना करने का पाठ पढाये, वहाँ बच्चो मे सद्गुणो का विकास होते देर नही लगती। वे सच्चे कर्मयोगी बनते हैं। उनके जीवन में 'हाय-हाय' कभी नही मचती।

समर्थ रहते हुए किसी को क्षमा कर देना, अभाव न होते हुए भी त्यागपूर्ण जीवन बिताने की चेष्टा करना, मानव-मात्र के प्रति दया, आदि यही तो यथार्थ धर्म शिक्षा है, ईश्वर की सच्ची उपासना है। धर्म के नाम पर व्रत-उपवास, दान आदि का असली महत्त्व यही है कि मनुष्य पवित्रता, त्याग और सेवा का पाठ पढे। अपने बच्चे को इसी मानवधर्म की शिक्षा दी जाये ताकि वे ऊँच-नीच गरीब-अमीर, छूत-अछूत आदि भेदभाव को भूल कर स्कूलो मे सहपाठियो के सग मानवमात्र के प्रति प्रेम करना सीखे।
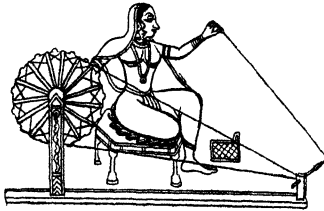
अणुव्रत: जीवन की न्यूनतम मर्यादा

मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुमन'

ज्ञान और विज्ञान में अन्तर है। ज्ञान जानकारी का परिचायक है और विज्ञान विशिष्ट जानकारी का। दूसरे शब्दों में प्रयोगात्मक होने वाला ज्ञान, विज्ञान है। प्रत्येक तत्त्व अपने आपमें यथार्थता लिए हुए चलता है। उसकी प्राप्ति वही कर सकता है जो अन्वेषक बनकर खोजता है—'जिन खोजा तिन पाईया।' मर्यादा भी अन्वेषण का विषय बन सकती है। जैन-दर्शन के अनुसार मर्यादा का इतिवृत्त कुलकर काल से प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व मर्यादा का उल्लेख नही मिलता। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यौगलिक काल सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र काल माना जाता है। पर ज्यो ही उसका विघटन हुआ, त्यो ही व्यवस्था की आवाज बुलन्द होने लगी। बस यहीं से शासन-सूर्य का उदय होता है।

शासन व्यक्ति को शासित करता है। व्यक्ति समष्टि से बँधा हुआ होता है। इसलिए समष्टि-शासन सापेक्ष है। जो शासन चलाने में और मर्यादित करने में असमर्थ है वह शासन, शासन नही कोरा कलेवर है। समष्टि से आने वाला शासन स्व-शासन नहीं होता। स्व-शासन आत्मा से उद्भूत होता है। वह सुखकर, हितकर और समाधान देने वाला होता है।

शासन के द्वारा सब शक्तियो का एकीकरण और संचालन होता है। उसका अपने आपमे पूर्ण महत्त्व है। वह बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करता है। एकीकरण करने से सामान्य शक्ति भी फलदायक बन जाती है। कहा जाता है कि एक एकड़ भूमि के घास की शक्ति यदि एक भाप के इंजन के 'पिस्टन-राड' पर केन्द्रित कर दी जाए तो उसके द्वारा सारे संसार की मोटरें और चक्कियाँ चल सकती हैं।

साधना के दो मार्ग हैं—महाव्रत और अणुव्रत। व्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनकी पूर्ण साधना महाव्रत कहलाती है और आंशिक साधना को अणुव्रत कहा जाता है। महाव्रत गृहत्यागी मुनियो के लिए है और अणुव्रत गृहस्थों के लिए।

साधना शक्ति की तरतमता सदा से रही है। सभी मनुष्य पूर्ण साधना मे समर्थ नही होते, अत प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार साधना के मार्ग को चुनता है। भगवान् महावीर ने कहा—बलं थामं च पेहाए—अपनी शक्ति को तौलकर साधना के मार्ग को चुनो। अणुव्रत यथाशक्ति साधना का उपक्रम है। यह मध्यम मार्ग है—दो अतियो के बीच का रास्ता है। भोग की अति व्यक्ति की सम्पदा को जीर्ण-शीर्ण कर उसे वेदना के चक्कर में धकेल देती है और त्याग की अति से व्यक्ति गार्हस्थिक जीवन जी नहीं सकता। उसमें इतना सामर्थ्य नहीं कि वह मुनि बन जाए और न उसकी आन्तरिक दैवी-सम्पदा उसे भोग के असह्य दारुण दुःखों को ही सहन करने के लिए छोड़ती है। अत वह कुछ भोग और कुछ त्याग को अपना कर चलता है। वह कुछेक व्रतों को स्वीकार करता है ताकि उसकी प्रतिरोधात्मक शक्ति जीवन शक्ति को धारण किये रखे और कौटुम्बिक जीवन भी नीरस न बन सके।

इन व्रतो का स्वीकरण ही अणुव्रत-आन्दोलन की आत्मा है। यह आन्दोलन चरित्र का आन्दोलन है। व्यक्ति की चिर-सुप्त शक्ति को जागृत कर उसे आत्मौपम्य बनाने का उपक्रम है। प्रधानत यह आर्थिक सुधार का आन्दोलन नहीं है। इससे आर्थिक सुधार होता है, पर गौण रूप से। आज जीवन-निर्वाह और विलास के साधन सुलभ होने पर भी लोक-जीवन अशान्त है। इससे यह स्पष्ट है कि शान्ति का साधन पदार्थ की प्राप्ति नहीं कुछ और है। वह 'और' है चरित्र का विकास। चरित्र-विकास से आनन्द का द्वार खुल जाता है और वह बाहरी सुविधाओं के मायाजाल में न फँस कर, उनकी उपेक्षा कर, शान्ति के स्रोत में घुल-मिल जाता है—जैसे दूध में मिश्री।

अणुव्रत जीवन की न्यूनतम मर्यादा है। यह सबके लिए आवश्यक है। चाहे अमीर हो या गरीब, नेता हो या नागरिक, स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, देशवासी हो या विदेशवासी, धार्मिक हो या अधार्मिक, आत्मवादी हो या अनात्मवादी, सबके सुखी जीवन के लिए यह मर्यादा प्रकाश-स्तम्भ है। इसके अभाव मे नर-जीवन पशु-जीवन के समकक्ष आ जाता है। कोई भी व्यक्ति अपने प्रति बुरा बर्ताव नही चाहता तो वह दूसरो के प्रति बुरा व्यवहार करे, इससे ज्यादा असगति क्या हो सकेगी? अणुव्रत-आन्दोलन इस असगति का प्रतिकार है।

व्रत क्यों ?

आज इस विज्ञान-प्रभावित बौद्धिक-युग मे व्रत-ग्रहण की प्राचीनतम परम्परा की अवहेलना की जाती है। यह बौद्धिक अपकर्ष है।

व्रत-ग्रहण से आत्म-सयमन बढता है। सयम से जीवन का सन्तुलन बना रहता है। सन्तुलित जीवन सदा सुखी रहता है। व्रत-ग्रहण से प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास होता है। मनुष्य में जब सकल्प शक्ति का उत्कर्ष होता है, तब असंभाव्य कार्य भी सहज सम्भाव्य हो जाते हैं। जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र मे सकल्प शक्ति नही होती उसको जीवन के प्रत्येक विराम पर हार खानी पडती है। सकल्प ही जीवन है—यह व्रत की आत्मा है। व्रत थोपे नहीं जाते आत्म-साक्षी से स्वीकार किये जाते है। इस स्वीकृत नियमन से कष्ट सहने की शक्ति पनपती है और जब यह शक्ति पूर्ण रूप से विकसित होती है तब कष्ट स्वयं अकष्ट बन जाता है।

अणुव्रत-आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

श्री सत्यदेव शर्मा 'विरूपाक्ष'
सम्पादक—नवजीवन, लखनऊ

भारतीय दर्शन और पश्चिमी दर्शन में उद्देश्य विषयक पार्थक्य है। पश्चिमी दर्शन का एकमात्र उद्देश्य सृष्टि के रहस्यों की छानबीन है, किन्तु भारतीय दर्शन को केवल इससे सन्तोष नहीं होता। दुःखों का आमूल उच्छेद किस प्रकार हो सकता है और सांसारिक बन्धनों से आत्मा को किस भाँति मुक्ति मिल सकती है, यह भारत की दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसन्धान का मुख्य विषय है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सृष्टि विषयक ज्ञान आवश्यक है, केवल इस दृष्टि से ही भारतीय दर्शन में तत्त्वमीमांसा, प्रमाण-शास्त्र आदि को स्थान दिया गया है। शुष्क ज्ञान की उपलब्धि मात्र से भारतीय दार्शनिकों को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने तात्त्विक समीक्षा एवं तार्किक निष्पत्तियों को साधन मात्र मान कर मोक्ष-प्राप्ति के उपायों की गवेषणा की है। यही कारण है कि तत्त्वमीमांसा (metaphysics), प्रमाण-शास्त्र (epistemology), तर्क-शास्त्र (logic) तथा मनोविज्ञान (psychology) के साथ-साथ आचार-मीमांसा या कर्तव्य-शास्त्र (ethics) और सौन्दर्य मीमांसा (aesthetics) भी भारतीय दर्शन के अभिन्न अंग माने जाते हैं और इन सब शास्त्रों का पर्यवसान मोक्ष-प्राप्ति के हेतु वरण की गई साधना में होता है। पश्चिम में दर्शन-शास्त्र (philosophy) और धर्म-शास्त्र (theology) में अन्तर माना जाता है। पर भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में अविच्छेद्य सम्बन्ध है; दोनों एक ही मुद्रा के दो पार्श्व हैं।

मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है और इस कारण उसमें स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि मैं क्या हूँ, यह सृष्टि क्या है, जड़ और चेतन में क्या सम्बन्ध है, ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हुई, यथार्थ और अयथार्थ के बोध के लिए किन प्रमाणों की आवश्यकता है आदि-आदि। जीवन-दर्शन की अपनी धारणाओं के अनुरूप ही मनुष्य अपनी गतिविधि का नियमन करता है और उक्त जिज्ञासा की शान्ति के लिए दार्शनिक ज्ञान की आवश्यकता उसे होती है। सांसारिक दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए सत्य की खोज अर्थात् तत्त्व-दर्शन प्रत्येक भारतीय दार्शनिक विचारधारा का मुख्य ध्येय है। भारतीय दर्शन में तत्त्व-मीमांसा, आचार-मीमांसा, तर्क-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया गया है; अपितु इन सब शास्त्रों के समन्वित अध्ययन द्वारा परम सत्य की खोज का प्रयास हुआ है। समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही भारतीय दर्शन की विशिष्टता है, जो इसे पश्चिमी दर्शन से पृथक् करती है। यही कारण है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त—में तत्त्व-मीमांसा, प्रमाण-शास्त्र, तर्क-शास्त्र आदि का सम्यग् विवेचन हुआ है। प्रत्येक भारतीय दर्शन उक्त समस्त शास्त्रों का विश्व कोष कहा जा सकता है।

जैन दर्शन अति प्राचीन है, यह तथ्य संसार के प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। उसमें अध्यात्म, धर्म-साधना और शुद्धाचरण का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन की ही यह विशेषता है कि इसकी कई धाराओं—बौद्ध, जैन, मीमांसा तथा सांख्य में सृष्टिकर्ता ईश्वर की मान्यता के बिना ही उच्चतम कोटि के धर्म, आध्यात्मिकता और आचार-संहिता का प्रतिपादन किया गया है।

बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त को छोड़ कर भारतीय दर्शन की अन्य प्रणालियों में जगत् को यथार्थ माना गया है। अद्वैत वेदान्त के मत में जगत् मिथ्या है और बौद्ध दर्शन तो आत्मा को भी अनित्य मानता है। जैन-दर्शन जगत् के अस्तित्व को वास्तविक मानता है और इस बात में उसके विचार न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि से मिलते-जुलते हैं। पर

जैन दर्शन का कहना है कि वास्तविकता का स्वरूप एकान्त नहीं है, बल्कि अनेकान्त है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधार शिला है। अनेकान्तवाद ने ही जैन दर्शन को सर्वाधिक उदारतापूर्ण दृष्टिकोण प्रदान किया है। अनेकान्तवाद का आशय यह है कि जिन पदार्थों का हमें परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से ज्ञान होता है, वे पदार्थ अनेक धर्मों और गुणो से युक्त है और इसका कारण सीमित दृष्टि वाले सामान्य लोगो के लिए किसी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। हम हर चीज के सब पहलुओ को नही देख पाते और इस कारण हमे हठधर्मी से काम लेकर ऐसा न मानना चाहिए कि हमें जो चीज जैसी दिखाई देती है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है और दूसरे लोग उस चीज को जिस ढग से देखते हैं, वह गलत है। विरोध-पक्ष के विचारो मे भी जैनेतर धर्मों मे भी, सत्य का अश है, इस महती मान्यता ने जैन दर्शन को उदार चित्त-वृत्ति, विशाल हृदयता तथा विचार-सहिष्णुता प्रदान की है। यही कारण है कि जैन दर्शन का किसी भी दर्शन से विरोध नही है। जैन दर्शन के अनुसार नाना रूपिणी सत्ता के आशिक विवेचन तक ही सामान्य मनुष्य की बौद्धिक क्षमता सीमित है। और इस कारण सैद्धान्तिक प्रश्नो को लेकर आपस मे किसी प्रकार के वैर-भाव के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। हमे दूसरो के विचारो को सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए और सब धर्मों का आदर करना चाहिए। इस भारतीय मान्यता पर जैन दर्शन की अमिट छाप है।

जैन दर्शन सामान्य बुद्धिपरक यथार्थवाद और अनेकान्तवाद बहुत्ववाद के मौलिक सिद्धान्तो पर आधारित है। जैन दर्शन की यह मूलभूत मान्यता है कि हमे दूसरे के विचारो का आदर करना चाहिए। इस मान्यता का तात्विक (meta-physical) आधार अनेकान्तवादी यथार्थवाद का सिद्धान्त है। अनेकान्तवादी यथार्थवाद की तार्किक निष्पत्ति स्याद्वाद के रूप मे हुई है। स्याद्वाद से आशय यह है कि हम किसी पदार्थ को देख कर जिस निष्कर्ष पर पहुँचते है, वह निरपेक्ष नही, बल्कि सापेक्ष होता है अर्थात् हमारे निष्कर्ष और निर्णयो पर अनेक वस्तु-स्थितियो का देश-काल के अनेकानेक प्रभावो का तथा वाह्य जगत् की सीमाओ का प्रतिबन्ध रहता है। किसी भी यथार्थ वस्तु के बारे मे विभिन्न व्यक्ति विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते है। हर व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से वस्तु के किसी पार्श्व विशेष को देख पाता है। प्रत्येक वस्तु के अनेक पार्श्व होते है और देश-काल की विभिन्न परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोण भी होते है। पदार्थो की यथार्थता अनेकानेक अशो मे प्रस्फुटित होती है। कोई किसी अश को देख पाता है तो कोई किसी और को। इसलिए किसी को यह नही कहना चाहिए कि हमारा ही मत ठीक है और दूसरे सब गलत है।

पदार्थ के असख्य पार्श्वों मे से किसी एक पार्श्व का जो आशिक ज्ञान हमे होता है, उसे जैन दर्शन मे नय की सज्ञा दी गई है। दैनन्दिन जीवन मे किसी वस्तु को देख कर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते है, वह केवल एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक परिचित विशेष की ही यथार्थता का प्रतिपादन करता है, सम्पूर्ण यथार्थता का नही। हम अपने निष्कर्षों को सम्पूर्णतया यथार्थ और अकाट्य मानकर दूसरे के विचारो का अनादर करते है और यही वैमनस्य, वितडावाद और लडाई-झगडे का प्रमुख कारण है। एक प्राचीन आख्यायिका है कि कुछ अन्धे व्यक्तियो ने हाथी के विभिन्न अगो का स्पर्श किया। एक ने कहा कि हाथी की शक्ल पूँछ की तरह होती है, तो दूसरे ने उसे छाज की तरह बताया। किसी के लिए हाथी खम्भे की तरह का, तो किसी के लिए सूँड की तरह का। सब अन्धे इस विषय पर आपस मे लड रहे थे। पर जब उन्हे सारी बात समझा दी गई तो वे शान्त हो गये। इस दृष्टान्त से जैन दर्शन के अनेकान्तवाद को समझने मे बहुत सहायता मिलती है। जैन दर्शन ने विचार-सहिष्णुता के इस महान् मानवतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भारतीय सस्कृति की गरिमा मे वृद्धि की है। अतीत की भाँति वर्तमान और भविष्य के लिए भी यह मानव कल्याण का मूल मन्त्र है।

जैन दर्शन का कहना है कि विभिन्न दार्शनिक प्रणालियाँ विश्व का जो विभिन्न व्याख्याए प्रस्तुत करती हैं, उनमे से प्रत्येक आशिक रूप से यथार्थ है। विवाद इसलिए होता है कि लोग भूल जाते हैं कि सत्य ज्ञान का ठेका केवल हमी ने नही लिया है, दूसरे लोग भी अपने दृष्टिकोण से पदार्थ के किसी पार्श्व विशेष को पहचानते हैं।

अनेकान्तवादी मान्यता के आधार पर जैन दर्शन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक तार्किक निष्पत्ति के पहले हमे 'स्यात्' अर्थात् 'एक प्रकार से' लगा देना चाहिए ताकि हमारे मस्तिष्क मे यह तथ्य स्पष्ट बना रहे कि हमारी विवेचन-शक्ति सीमित है। इसलिए, हमारे निष्कर्ष आशिक रूप मे ही यथार्थ हो सकते हैं और अन्य दृष्टिकोणों से अन्य

निष्कर्षों के भी यथार्थ होने की सम्भावना है। उदाहरणस्वरूप यह न कह कर कि हाथी खम्भे के समान है, यह कहना युक्ति सगत है कि 'स्यात्' 'एक प्रकार से' जहाँ तक इसके पैरो का सम्बन्ध है, हाथी खम्भे के समान है। कमरे मे घडे को देख कर केवल यह कहना पर्याप्त नही है कि यही घडे का अस्तित्व है, बल्कि यह कहना तार्किक दृष्टि से अधिक समुचित होगा कि अमुक समय और अमुक स्थान पर घडे का अस्तित्व है। घट की त्रैकालिक और सार्वदेशिक सत्ता सत्य नही है। घडे का अस्तित्व निरपेक्ष नही है, बल्कि देश काल की सीमाओं से बँधा हुआ सापेक्ष है। स्यात् शब्द के प्रयोग के कारण ही जैन न्याय के इस प्रख्यात सिद्धान्त का नाम स्याद्वाद पडा है। जैन दर्शन का यह प्रधान सिद्धान्त वस्तुओ की अनन्त धर्मात्मकता पर आश्रित है। विषय के सापेक्ष निरूपण को नयवाद की सज्ञा दी गई है। न्याय शास्त्र की परिभाषा मे किसी उद्देश्य के विषय मे विधेय का विधान अथवा निषेध 'परामर्श' है। जैन दर्शन में सत्ता के सापेक्ष रूप को स्वीकार कर परामर्श का रूप सात प्रकार का बताया गया है जो कि सप्तभगी के नाम से विख्यात है।

जैन दर्शन न केवल विचार-सहिष्णुता का ही पक्षपाती है, अपितु आचार-सहिता के पालन पर भी वह बहुत बल देता है। अहिंसा का जितना महत्त्व जैन धर्म में है, उतना और किसी धर्म मे नही। विचार-सहिष्णुता का सिद्धान्त अहिंसा के मानसिक रूप का ही प्रतिपादन करता है। मनसा, वाचा और कर्मणा अहिंसक होना चाहिए। अपने मत को सम्पूर्णतया यथार्थ मान कर दूसरे के मत को गलत मानना, दूसरे के दृष्टिकोण को अनादर की दृष्टि से देखना जैन धर्म के अनुसार एक प्रकार की मानसिक हिंसा है।

जैन दर्शन मे मोक्ष के तीन साधन माने गये है—१ सम्यक् दर्शन, २ सम्यक् ज्ञान तथा ३ सम्यक् चारित्र। जैन दार्शनिको ने कहा है कि सम्यक् चारित्र मे ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की चरितार्थता सम्पन्न होती है। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म मे भी पूजा-पाठ की अपेक्षा सच्चरित्रता और नैतिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है। दोषो से विरत होना, कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के बारे मे विवेक से काम लेकर सावधान रहना, समभाव की मर्यादा न तोडना और मानसिक, कायिक तथा वाचिक प्रवृत्तियो पर अनुशासन रखना जैन धर्म की विशिष्टता है। सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिए जैन धर्म मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय—किसी की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना न लेना, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—आसक्ति के परित्याग को नितान्त आवश्यक बताया गया है। ये जैन धर्म के महाव्रत है। जिनका पूर्ण पालन साधारण ससारी मनुष्यों के लिए बहुत कठिन है। इसलिए जैन धर्म ने गृहस्थो के लिए अणुव्रतो की व्यवस्था की है, जो महाव्रतो की स्थिति में पहुँचने के लिए सोपान के सदृश है। आचार्यश्री तुलसी के अणुव्रत-आन्दोलन की यही पृष्ठभूमि है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे जनसाधारण को कैसा आचरण करना चाहिए, इसका सुन्दर विधान अणुव्रत-आन्दोलन ने किया है। आचार्यश्री तुलसी इस बात पर जोर देते हैं कि अगर हम छोटी-छोटी बातो मे अपने चरित्र को शुद्ध नही रखेंगे तो हम बडे लक्ष्यो की ओर—केवलज्ञान तथा मोक्ष की ओर कदापि नही बढ सकते। आज हमारे राष्ट्रीय जीवन मे जो अनुशासन हीनता, भ्रष्टाचार, स्वार्थसाधन, नियम-भग आदि कुवृत्तियाँ प्रवेश कर गई है। उनके मूलोच्छेद की दिशा मे अणुव्रत-आन्दोलन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। जैन दर्शन की इस देन से सारा राष्ट्र लाभान्वित हो सकता है।

कानून और हृदय-परिवर्तन

श्री बी० डी० सिंह
अधिवक्ता—सर्वोच्च न्यायालय

अब वह युग नही रहा, जिसमे कि कानून किसी वर्ग विशेष की पैतृक या निजी सम्पत्ति हो, अथवा कानून के क्रियान्वयन या शासन प्रबन्ध मे किसी वर्ग विशेष को ही अधिकार हो जैसा कि कभी रोमन-साम्राज्य एव ग्रीक नगर के राज्यो मे था और कानून बनाने मे लेकर उसका पालन कराने तक मे कुछ इने गिने नागरिको का हाथ रहता था।

कठोर अथवा नियन्त्रित राजतन्त्र, उपनिवेश एव साम्राज्यवाद के युग मे कानून को वह व्यापकता नही मिल सकती जो कि जनतन्त्रवाद मे मिलती या मिल सकती है। इसका कारण यह नही कि जनतन्त्रवाद के अतिरिक्त किसी वाद मे कानून ही नही होते या उनमे उतनी शक्ति नही होती, बल्कि उसका एकमात्र कारण यह है कि उनमे कानूनो को जनता का वह समर्थन प्राप्त नही होता जो कि जनतान्त्रिक समाज मे प्राप्त होता है।

मनुष्य की बाह्य प्रक्रियाओ एव आचरणो के सम्बन्ध मे बनाये गये सामान्य नियमो को, जिनको राज्य पालन करा सकने की क्षमता रखता हो, कानून की सज्ञा दी गई है। राज्य की क्षमता या शक्ति जनता मे भय उत्पन्न कर सकती है या प्रतिकारात्मक सिद्धान्त के अनुसार कानून की अवहेलना करने वाले को दण्डित कर उसमे भय की उत्पत्ति कर सकती है जैसा कि दण्ड-शास्त्र-विशेषज्ञो एव अपराध मनोविज्ञानवेत्ताओ का मत है, किन्तु वास्तविक रूप मे कानून उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकता।

यद्यपि प्रत्येक नैतिकता कानून नही होती, फिर भी प्रत्येक कानून नैतिक होता है और उसका उद्देश्य मानव समाज को सही एव सुगम रास्ते पर लाना तथा निर्बाध रूप मे स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन व्यतीत कराने मे सहयोग देना है, किन्तु विचार इस बात का करना है कि क्या एक मात्र राज्य के सहयोग एव कानून के गठन मे ही समाज-कल्याण हो सकता है ? प्रश्न तो सीधा है, किन्तु उत्तर कुछ भिन्न है।

कानून की सफलता के लिए मात्र राज्य की शक्ति ही नही, वरन जनता की सहमति एव सहयोग भी अपेक्षित है। किन्तु जनता का सहयोग किस रूप मे हो, यह भी निश्चित करना आवश्यक है। यह तो प्राय सिद्ध है ही कि यदि कानून मानने वाला स्वय कानून की उपयोगिता समझ कर उसके अनुकूल आचरण न करे तो कानून की कठोरता या राज्य का भय अथवा उसकी अन्य उपयोगिता उसे बाध्य नही कर सकती है।

कानून की सफलता तभी सम्भव है जबकि जनता मे आत्म-चेतना हो तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जिनके द्वारा जनता का हृदय परिवर्तित हो जाये और वास्तविक अर्थ मे समाज का कल्याण हो और कानून की सफलता। जब तक जनता का हृदय परिवर्तित न हो जाये, कानून ताक मे ही रखा रह जायेगा। उदाहरण के लिए 'शारदा एक्ट' हमारे सामने है जिसके अनुसार नाबालिग शादियो पर कानूनी नियन्त्रण लगा दिया था, किन्तु उसके बावजूद एक भी शादी रुकी नही और कालान्तर मे वर्ग विशेष मे चली आती विवाह सम्बन्धी वह प्रथा चलती ही रही और आज भी बहुत कुछ हद तक चल रही है।

भारतीय सविधान मे जाति-भेद वर्जित है। अस्पृश्यता अपराध व दण्डनीय घोषित हो चुकी है, किन्तु जब तक जनता जाति एव वर्ण-भेद को अपने हृदय से न निकाल देगी, क्या यह किसी कानून के लिए सम्भव है कि वह उसका पालन करा सके। यदि जनता का हृदय परिवर्तित हो गया तो कानून न भी हो, तब भी समाज की कोई हानि नही

होगी और अभीप्सित कार्य सुलभता से हो सकेगा।

पशुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार अपराध है, किन्तु क्या कोई भी कानून किसी को दयावान् बना सकता है ? उत्तर है, नहीं। जब ऐसी बात नहीं है, तब प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सी ऐसी शक्ति है जो ऐसा कर सकती है। सूक्ष्म रूप से यदि विचार किया जाये तो पता चलेगा कि वह जनता का हृदयप-रिवर्तन ही है जो कि वास्तविक रूप मे कानून के लिए आवश्यक है।

सबसे विचित्र बात तो यह है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ क़ानून का विकास एवं उनके कार्य क्षेत्र मे वृद्धि होती जाती है, क्योंकि मनुष्य का आचरण एवं उसका कार्य-व्यवहार अथवा समाज के साथ उसका सम्बन्ध अधिक दृढ़ होता जाता है और मानव की बाह्य प्रतिक्रियाओं मे सम्बन्धित होने के कारण कानून का भी क्षेत्र बढ़ता जाता है। किन्तु कानून के क्षेत्र में विस्तार होने मात्र से न तो समाज का कल्याण हो पाता है और न वास्तविक रूप में क़ानून का व्यवहार। यद्यपि कानून विहीन समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और यदि की भी जाये तो उसे एक पिछड़े, आदि कालीन, असभ्य या जंगली समाज की संज्ञा दी जा सकेगी, जिसमे केवल प्राकृतिक कानून ही स्वत लागू होते हैं। ऐसी स्थिति मे जब तक कानून का पालन करने वाले समाज के व्यक्तियों के हृदय में यह विचारधारा न आ जाये कि अमुक कानून से उनका या उनके द्वारा दूसरे का हित है, तब तक कानून सफल नहीं हो सकता।

हृदय-परिवर्तन का कार्य कानून का विषय नहीं। हृदय परिवर्तन एक-मात्र धर्म का विषय है, जिसमे आचार एवं नैतिकता का विशेष महत्त्व है। बहुधा देखा जाता है कि जो काम कानून से नहीं होता या जिसका होना कानून द्वारा सम्भव नहीं, वह नैतिकता के बल पर हो जाता है। जैसे यदि किसी ने कर्ज दिया हो या किसी के यहाँ कोई पावना शेष हो और तीन वर्ष के अन्दर उसे वसूल न करने या वसूल करने सम्बन्धी कार्रवाई न करे तो कानून के अन्दर फिर वह उस धन की वसूली नहीं कर सकता, किन्तु नैतिकता ऐसा नहीं कहती। नैतिकता के अनुसार तो चाहे तीस वर्ष ही क्यों न हो जाय, कर्ज लेने वाला सदा उसे वापस करना चाहता है और कर ही देता है, जो कि कानून द्वारा उससे नहीं कराया जा सकता।

कानून किसी के साथ न तो रियायत करता है और न सहानुभूति ही रखता है। कानून को अन्धा कहा गया है जो देखता नहीं, मात्र सुनता है और साक्षी के तथा तथ्य के आधार पर निर्णय करता है, किन्तु इससे समाज का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता। समाज के कल्याण के लिए तो समाज के व्यक्तियो का हृदय परिवर्तित होना नितान्त आवश्यक है, जो कि कानून के न होते हुए भी नैतिकता के नाम पर किसी का अहित न होने दे।

यदि हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता न होती तो अनैतिक व्यापार-उन्मूलन या भ्रष्टाचार-उन्मूलन कानून अब तक सफल हो गये होते। किन्तु केवल क़ानून की किताबों में ही उनका स्थान रह गया है और उनके पालन कराने मे कार्यकारी भूमि सघन न हो सकी। समाज की किसी कुरीति को क़ानून के सहारे तो कभी भी दूर नहीं किया जा सकता। कानून किसी कार्य को अपराध घोषित कर सकता है। उसके करने पर दण्ड की व्यवस्था कर सकता है, किन्तु वह कार्य किया ही न जाये, ऐसी कोई व्यवस्था क़ानून में सम्भव नहीं। क़ानून एक व्यक्ति को चोरी करने, बेईमानी करने या धोखा देने पर अपराध सिद्ध होने पर दण्डित तो कर सकता है, किन्तु किसी को सच्चा या ईमानदार नहीं बना सकता। सच्चाई और ईमानदारी तो उस व्यक्ति विशेष की निजी चीज है, जिसे वह स्वयं ही कर सकता है, कराया नहीं जा सकता। कानून एक व्यक्ति मे भय उत्पन्न कर सकता है; दया, श्रद्धा, भक्ति अथवा सहानुभूति नहीं।

घोर-से-घोर अपराध के लिए कानून में दण्ड की व्यवस्था है और बराबर दण्ड दिया ही जाता है, किन्तु क्या आज तक किसी भी अपराध में कमी हुई या उसका उन्मूलन हुआ। आखिर युग ने दण्ड की व्यवस्था से उसकी रोक-थाम क्यों नहीं की ? हत्या, डकैती, बलात्कार आदि जैसे जघन्य अपराध कम क्यों नहीं हुए ? सबका एकमात्र उत्तर यही है कि उस दण्ड या उस दण्ड की व्यवस्था करने वाले कानून ने जनता के हृदय मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जो कि उन अपराधों को रोकने के लिए सहायक होता। यही कारण है कि हृदय-परिवर्तन के बिना उनमें किसी भी प्रकार का सुधार आज तक नहीं हुआ।

अब तो प्रायः यह सिद्ध हो चुका है कि बिना जनता का हृदय परिवर्तित हुए केवल क़ानून के बल पर समाज-

कल्याण नही हो सकता। प्रश्न यह उठता है कि हृदय-परिवर्तन का माध्यम क्या हो और दूसरा क्या तरीका अपनाया जाये जिससे समाज मे हृदय-परिवर्तन को उसके कल्याणार्थ उपयोग मे लाया जाये।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, यह एक मात्र धर्म का विषय है और धर्म सदाचार एव नैतिकता का क्षेत्र है। कानून-निर्माताओ से अधिक आवश्यकता है समाज सुधारको की या समाज के सच्चे नेताओ की जो कि समाज को उचित मार्ग दिखला सके और उनमे उन भावनाओ को जागृत कर सके, जिनके द्वारा समाज का कल्याण सम्भव हो सके।

अभी हाल ही मे अमेरिका की एक विदुषी महिला मिस पर्ल एस० बक का जिन्हे साहित्य पर नोबेल पुरस्कार मिल चुका है, 'नेतागिरी के सिद्धान्त' (Principles of Leadership) पर एक भाषण अमेरिकी पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था, जिसमे वास्तविक अर्थ मे समाज के नेताओ के गुणो का विवेचन करते हुए महात्मा गाधी के विचारो का समर्थन किया गया था। लेखिका ने स्पष्ट रूप से समाज के सृजन एव उसके विकास का पूर्ण दायित्व समाज के नेताओ पर ही डाला है तथा समाज को अन्धा बताया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि समाज-कल्याण किसी भी सूरत मे कानून से उस सीमा तक सम्भव नही जिस सीमा तक जनता के हृदय-परिवर्तन हो जाने पर सम्भव है।

प्राचीन मिस्र और अणुव्रत

श्री रामचन्द्र जैन, बी० ए० (ऑनर्स)
संस्थापक—भारतविद्या शोध संस्थान, गंगानगर

विश्व के विद्वानों ने मूल सभ्यता के तीन प्राचीनतम केन्द्र घोषित किये हैं—भारत, सुमेर और मिस्र।[१] पुरातत्त्व की खुदाईयों द्वारा मिस्र के प्रकाश में आने से पूर्व आर्य यूनान को सभ्यता का अधिक प्राचीन केन्द्र घोषित किया जाता था। उन्नीसवीं शती के मध्य मिस्र की कीर्ति अपने उच्चतम शिखर पर थी। बीसवीं शती के आरम्भ में सुमेर की महान् सभ्यता प्रकाश में आई और तब यह भी ज्ञात हुआ कि सुमेर सभ्यता मिस्र की सभ्यता से अधिक प्राचीन है। सुमेर सभ्यता ने मिस्र की सभ्यता को अनेक रूपों में प्रभावित किया था। ईस्वी सन् से ३,००० वर्ष पूर्व सुमेर सभ्यता के जामदत—नस्र-युग और उससे पूर्व की चौकियों और चाकू के हत्थों पर जो मिस्री सजावट पाई जाती है, उसमें पशु-मानव के मिश्रित रूपों और फन फैलाये सांपों की आकृतियों का प्रमुख स्थान है।[२] ईसा से लगभग ४,००० वर्ष पूर्व के उत्तरार्द्ध में इस सभ्यता के पहले उरुक (Uruk) युग था। प्रसिद्ध सुमेर काल की बाढ़ का युग इस काल से कुछ ही पूर्व रहा होगा। इस बाढ़ से पहले ईसा से ४,००० वर्ष पूर्व के आरम्भ में सुमेर में उल-उबेद (ul-ubaid) सभ्यता फल-फूल रही थी।[३]

सुमेर को उपनिवेश के रूपों में आबाद करने वाले लोग पूर्व से आये थे। यह अर्द्ध-मानव, अर्द्ध-मत्स्य जाति ओन्नीस (Oannes) के नेतृत्व में उल-उबेद के काल में सुमेर में आई थी। उर में बाढ़ की मिट्टी के नीचे दबे एक घर में से एमेजोनाइट पत्थर के बने दो दाने मिले हैं। यह पत्थर मध्य भारत की नीलगिरि पहाड़ियों में मिलने वाले पत्थर के सदृश है। यहाँ से उपलब्ध पकाई हुई मिट्टी की तीन मूर्तियां,[४] जिनमें ध्यानस्थ मुद्रा में नग्न महिलाएं हैं, यहाँ आये हुए लोगों के धर्म का संकेत करती है। पानी से सिर बाहर निकाले और मछली की भांति तैरने वाले तैराक मानव चतुर नाविक जाति के विद्यमान होने का संकेत करते हैं। ये वे साहसिक, कार्य पटु और दुर्घर्ष लोग थे जो कि या तो मोहन-जोदड़ो, चान्हुदड़ो जैसे निकटतम अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह से आये थे, अथवा किसी अज्ञात सिन्धु सागर या नदी बन्दरगाह से। यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि ये शान्तिप्रिय लोग, जो कि बाहर से आये और सुमेरियनों को जिन्होंने अपना नाम, लेखन, कृषि और उद्योग प्रदान किये और जिनके बाद कोई नई खोज नहीं की गई, चार हजार वर्ष ईस्वी पूर्व के प्रथम भाग में समुद्री रास्ते से भारत से आये थे।

प्रारम्भिक मिस्री लोग किसी काली जाति के एशियायी लोग थे।[५] हेरोडोटस (Herodotus 4th Cent. B. C.) का कहना है कि फोनिशियन लोग, जो कि मूलतः भारत महासागर के तटवर्ती प्रदेशों से आये थे। दो हजार वर्ष ईस्वी पूर्व के पूर्वार्द्ध में मिस्री और असीरियायी माल[६] लाद कर भूमध्यसागर के सुदूरवर्ती तटीय प्रदेशों में व्यवसाय करते

१ V. Gordon Childe, New Light on the Most Ancient East, 1958, p. 14.

२ H. Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East, 1954, p. 90.

३ Sir Leonard Woolley, Excavations at Ur, 1956, p. 31.

४ Ibid pp. 31, 33, 50.

५ George Rawlinson, History of Ancient Egypt: 1881, Volume I, pp. 97, 99.

६ Herodotus; This Histories, 1955, p. 13.

थे। सम्भवत. वे प्राग् आर्य भारतीय 'पाणि' लोग थे। पुन्त लोग जो कि मूलत मिस्र को उपनिवेश बना कर वहाँ बसे थे; उनका देश या तो अरब का दक्षिणी तट या अथवा भारत। उस युग मे अरब एक शामी (Semitic) क्षेत्र था और वहाँ किसी प्रकार का आध्यात्मिक धर्म नही था। प्राचीन मिस्रियो का आध्यात्मिक धर्म जैसे कि हम लोग अभी देखेंगे, स्पष्ट रूप से भारतीय विश्वासो से साम्य रखता है। भारत स्थित सिन्धु क्षेत्र के पुरातत्वीय प्रतिनिधि नगर मोहनजोदडो की खुदाई कराने वाले सुप्रसिद्ध विद्वान् सर जॉन मार्शल थे। उन्होंने मोहनजोदडो से प्राप्त अवशेषों की सुमेर से प्राप्त अवशेषो से तुलना कर यह निष्कर्ष निकाला कि यह अब तक ज्ञात सभी सभ्यताओं से प्राचीनतम है। इस निष्कर्ष मे विल ड्यूराँ भी सहमत है।[1]

आर्य और ब्राह्मण धर्म के भारत मे आगमन से पूर्व भारत मे श्रमण जीवन पद्धति का प्रचलन था। अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड अध्याय १५ मे सर्वोच्च आध्यात्मिक नेता **एक-व्रात्य** का उल्लेख है। यह पवित्रतम और उच्चतम आध्यात्मिक नेता **एक-व्रात्य** ऋग्वेद मे निर्दिष्ट मुनियो और शिश्न-देवों के अग्रणी थे। वे सब उस प्राक्कालीन महान् आध्यात्मिक नेता वृषभ के अनुयायी थे, जिन्होंने आत्मा और पुद्गल के दर्शन का प्रतिपादन किया था।[2] एक मुनि या श्रमण वह है जो कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतो का पूर्ण रूप से पालन करता है। यही 'व्रत जीवन पद्धति' है।

आर्य-ब्रह्म व्रत शब्द का अर्थ 'क्रिया' करते थे और विशेषत याज्ञिक क्रिया।[3] ऋग्वेद के अनुसार अनु व्रत शब्द का अर्थ अनुकूल क्रिया हो सकता है।[4] यह मत भाष्यकार सायण[5] और अनुवादक एच० एच० विल्सन[6] का है। आर्य-ब्रह्मो के विरोधी, जो कि यज्ञ विरोधी लोग थे, अव्रती अथवा अन्यव्रती थे।[7] ऋग्वेद मे अणुव्रत शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, यद्यपि वहाँ अणु शब्द का प्रयोग सूक्ष्म अर्थ मे मिलता है।[8]

व्रात्य-लोग **एक-व्रात्य** के अनुयायी थे। प्रधान आध्यात्मिक नेता और गृहस्थ अनुयायियों के बीच मुनियों और शिश्नदेवों का तपस्वी वर्ग था। 'व्रत जीवन-पद्धति' दो भागों मे बटी थी, प्रथम भाग मे वे लोग थे जो कि व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करते थे और दूसरे भाग मे वे लोग थे जो कि छोटे-छोटे व्रतों का पालन करते थे।

महावीर स्वामी ऐसे महान् आध्यात्मिक नेता थे, जिन्होंने पार्श्व के चातुर्याम धर्म मे पाचवा व्रत जोड़ा। महावीर स्वामी ने एक आत्मा की सत्ता, उसके जन्म-पुनर्जन्म द्वारा आवागमन और अन्त मे उसके पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की बात बताई। उनकी आध्यात्मिक पद्धति का मूल आधार है—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। कोई भी व्यक्ति पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह का पालन कर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ये महाव्रत है। यही मुनि की जीवन-पद्धति है। सामान्य नागरिक इस आध्यात्मिक मार्ग का पूर्ण रूप से अनुसरण नही कर पाता, इसलिए वह इन्ही पाँच व्रतों को अल्पांश मे जिन्हे अणुव्रत कहा गया है, अपनाता है। उनका उद्देश्य सदा इन व्रतों के पूर्ण परिपालन

१ Will Durant, Our Oriental heritage, 1954. p 396.

२ ऋग्वेद ७।४।१।८, ८।३।५।१४; ७।२।४।५; ७।६।१२।६, **यहाँ मैंने ऋग्वेद के 'मंडल', अनुवाक्, सूक्त और ऋक् पद्धति के वर्गीकरण का अनुसरण किया है।**

३ ऋग्वेद, २।१।८।३, २।३।२।१२, २।४।६।३; ३।१।४।७, ३।१।७।८, ३।५।६।३, ३।५।८।१, ४।२।३।२; ५।५।१३।१; ७।१।५।४, ८।५।१०।४, ९।४।६।३ **तथा अन्य अनेक।**

४ ऋग्वेद, १।७।४।४, १।१०।१।६, ८।३।१।१६, १०।३।५।२।

५ ऋग्वेद संहिता, वैदिक संशोधन मंडल पूना, भाग १, पृ० २५५, ३५८, भाग ३, पृ० ६१२, भाग ४, पृ० ३६१।

६ एच० एच० विल्सन, ऋग्वेद, भाग १, पृ० ५०, ७७, भाग २, पृ० ४३

७ ऋग्वेद १।१४।५।१०; २।१।११।८; ३।५।६।८, ५।३।२।६।७; ४।२।७।७, १।७।२।११, ७।१।६।३; ७।६।१५।६; ७।५।१३।७, ८।८।१।११, ८।९।१३।२।

८ ऋग्वेद ९।१।१०।५, ९।५।६।३।

की ओर बढ़ने का होता है, जिससे कि अन्ततोगत्वा पूर्ण रूप से आत्म-सिद्धि प्राप्त हो सके। महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित पाँच व्रतों को भगवान् श्री पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह के अन्तर्गत रखा था।[१] भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व अर्थात् लगभग ७७७ ईस्वी पूर्व में हुआ था।[२] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पार्श्वनाथ लगभग ८७७ ईस्वी पूर्व में जन्मे थे। उनकी परम्परा हमारे स्वर्णिम अतीत में बहुत पुरानी है और निश्चित रूप से यह प्राग्-आर्य युग में विद्यमान थी। वे वृषभ (ऋषभ) की मुनि और श्रमण-परम्परा के उत्तराधिकारी थे। भारत की यह मुनि और श्रमण संस्कृति प्राग्-वैदिक और प्राग्-आर्य है।[३]

क्या इस आध्यात्मिक संस्कृति का प्रभाव हमें मिस्र के लोगों पर भी दिखाई देता है? मेरा उत्तर हाँ में है।

मिस्री लोग आत्मा, उसके आवागमन, पुनर्जन्म और अन्तत: मोक्ष में विश्वास रखते थे। जब कोई मिस्री मरता था, तो वह अपने 'का' में चला जाता था। मृत्यु के बाद यह उसका मौलिक शरीर था। जीवन काल में व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व दृश्य शरीर और अदृश्य चेतना से निर्मित था। इस दृश्य और अदृश्य तत्व को मानवी भुजाओं और मानवी सिर वाले पक्षी की संज्ञा दी गई थी। इस संज्ञा का अभिप्राय यह था कि व्यक्ति की भौतिक सत्ता यथार्थतया निर्यञ्चों के द्वारा और आध्यात्मिक सत्ता नैसर्गिक चेतना द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। इस पक्षी-मानव को 'बा' कहा जाता है। 'बा' का सामान्य रूप से अनुवाद आत्मा किया जाता है। पक्षी-मानव की यह प्रतीकात्मकता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मिस्री लोग इस प्राणी को अत्यधिक पवित्र मानते थे। आगन्तुक एशियायी लोगों की उस मान्यता में अग्रणी थे। उनका यह विश्वास था कि जन्तुओं—पशुओं में भी दिव्यता के कुछ अंश होते हैं। उनमें भी मनुष्यों की भाँति आत्मा होती है। इस प्रतीकात्मकता से निश्चित रूप से पशु और मानव में आत्मा की एकता का प्रतिपादन होता है। यह लगभग निश्चित है कि मिस्री लोग देह और चेतना पुद्गल और आत्मा में विश्वास रखते थे।[४]

प्राचीन मिस्रियों के जीवनादर्श सर्वोत्तम प्रकार से 'ज्योति का आविर्भाव' (The Menifestation of Light) नामक पुस्तक के १२५वें प्रकरण में दिये हैं। इस पुस्तक को गलती से 'मृतकों की पुस्तक' (Book of the Dead) कह दिया जाता है। 'सत्य-कक्ष' (Hall of truth) नामक यह प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। 'ज्योति का आविर्भाव' पुस्तक में मन्दिरों, पुरोहितों, देवताओं का प्रवेश बाद में हुआ है। इसके महत्त्वपूर्ण भागों का उद्भव बहुत प्राचीन काल में हुआ था। सम्भवत: एशियायी आगन्तुक इन सत्यों को अपने साथ लाये थे। इसके मौलिकरूप में मृत्यु के बाद आत्मा के सातत्य की धारणाएं विद्यमान थी।[५] उनकी मान्यता के अनुसार जन्म और पुनर्जन्म की परम्परा तब तक चलती रहती है, जब तक कि कुछ रहस्यमय काल चक्र पूरे नहीं हो जाते, और तब किसी महाभाग्यवान् पुण्यात्मा को 'भगवान्' के साथ एक हो जाने का महान् आनन्द उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में 'भगवान्' से अभिप्राय एक विशुद्ध आत्मा से है, जो सभी दृष्टियों और सभी प्रकार से पूर्ण है, सर्वशक्तिमान् है व परम आदर्श है। वह स्वप्रकाशमान् नहीं है। वह अपने-आपको विभिन्न रूपों में प्रकाशित नहीं करता। वह न तो ईसाइयों का प्रभु था, न वह आर्य ब्रह्मों का ब्रह्म। वह व्यक्ति की पवित्रतम आत्म-अवस्था थी, जिसे काल के अज्ञात चक्रों के बाद महाभाग्यवान् पुण्यात्मा जन ही प्राप्त कर सकते थे। पवित्रतम आत्मा स्वयंभू देव थी।[६] इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन हजार ईस्वी पूर्व के प्रारम्भ में और उसके बाद प्राचीन मिस्रियों का अन्तिम उद्देश्य था—पूर्ण अविकल, पवित्रतम और शाश्वत व्यक्तित्व की प्राप्ति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व में भौतिकवादी आर्य जीवन-पद्धति के उदय से पूर्व भारतीय और मिस्री लोग

१ Uttaradhyayana Sutra 23—26; Sacred Books of the East Series, Volume 45, 1895; p 122.

२ H. C. Roychowdhary, Political History of Ancient India, 1950; p. 97.

३ Dr. G. C. Pande, Studies in the Origins of Buddhism; 1957; p. 261.

४ J. H. Breasted; Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959, pp. 52, 55, 56, 418.

५ G. Rawlinson, History of Ancient Egypt 1881 Vol. I, pp. 39-40.

६ Ibid. pp. 314, 314 Note No. 3, 319.

मौलिक आध्यात्मिक जीवन-पद्धति का अनुसरण करते थे। सौभाग्यवश इस पद्धति के विवरण मिस्री स्मारक चिह्नों मे सुरक्षित हैं। आज के युग में आचार्यश्री तुलसी वृषभ (ऋषभ) नेमि, पार्श्व और महावीर का पदानुगमन करते हुए अणुव्रत आन्दोलन के रूप मे मूल आध्यात्मिक मार्ग के सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर रहे हैं। मिस्री लोगो के मूल मार्ग के विवरण हमे 'ज्योति का आविर्भाव' पुस्तक मे प्राप्त हो जाते है। इन दोनो की तुलना इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है।

'जब दिवगत आत्मा दूसरे लोक मे गई तो उसका जीवन उसके पूर्वकृत कार्यों से जाँचा गया। वह 'ओसिरिस' के सम्मुख सत्य या न्यायकक्ष मे प्रस्तुत हुई, जहाँ बयालीस देवता ओसिरिस की सहायता कर रहे थे। वहाँ उससे पापाचरण के बारे मे पूछा गया तो उसने स्पष्ट कहा—मैंने कभी पापाचरण नही किया। उसने अपने जीवन-कृत्यो के वे विवरण प्रस्तुत किये, जिनके आधार पर उसके भावी जीवन का निर्णय किया जाना था। ये प्राचीन मिस्र के ओसिरियन धर्म के मूल तत्त्व है। उनमे से कुछेक मुनि के पूर्ण व्रत प्रतीत होते है। पर अधिकाश ऐसे नही हैं और वे मिले-जुले प्रतीत होते है। वस्तुत वे उस मार्ग का निदर्शन करते है, जिसका सामान्यतया मिस्रवासी अनुसरण किया करते थे। इनकी तुलना अणुव्रत-आन्दोलन[1] के व्रतो से की जाती है।

अहिंसा व्रत

मिस्री—१ मैंने हत्या नही की है।

२ मैंने हत्या करने का आदेश नही दिया है।

अणुव्रत—१ १ चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी की सकल्पपूर्वक घात नही करूँगा।

दोनो ही जीवन को पवित्र मानते हैं। जीवन के प्रति सम्मान की भावना दोनो की दृष्टि मे मुख्य सिद्धान्त है। क्योकि दोनो ही जीवित प्राणियों मे आत्मा के अस्तित्व के होने मे विश्वास रखते हैं। वे पूरे ज्ञान के साथ शरीर और आत्मा मे भेद करते हैं। इस छोटे व्रत की अपेक्षा मिस्री के सिद्धान्त बहुत आगे हैं, यद्यपि मुनि के पूर्ण अहिसा-व्रत से निश्चित रूप से पीछे हैं। यह उसके बहुत पास पहुँच जाती है।

मिस्री—३ मैंने पशुओ से दुर्व्यवहार नही किया है।

४ मैंने पशुओ को उनके चारागाहो से हाँक कर दूर नही भगाया है।

५ मैंने देवताओ के पक्षियो का शिकार नही किया है।

६ मैंने जलीय स्थानो से मछली नहीं पकडी है।

७ मैंने किसी के सामने से उसका खाना नहीं हटाया है।

अणुव्रत—१ ६ (ग) पशुओ पर अति भार नही लादूँगा।

१ ६ (ख) अपने आश्रित प्राणी के खान-पान व आजीविका का कलुष-भाव से विच्छेद नही करूँगा।

दोनो ही पद्धतियो मे पशु-जगत मे आत्मा की सत्ता स्वीकार करना सर्वाधिक महत्त्व की बात है। क्या प्राचीन मिस्री माँस-भक्षण से बचते थे? यह एक यहाँ प्रसगानुकूल प्रश्न होगा। हम एक महान् यूनानी नागरिक क्रीट के ऑर्फियस

---

१ मिस्री उद्धरणो के लिए मैंने चुना है—

(1) J. H. Breasted, Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959 p 302-304

(2) S Moscati, The Face of the Ancient Orient, 1960, p. 120-127.

अणुव्रत के लिए—

(१) अणुव्रत आन्दोलन, १९६१, पृ० १३-२०

अणुव्रत आन्दोलन में व्रतों को पांच भागों में बाँटा है। प्रत्येक व्रतवर्ग में विशिष्ट प्रतिज्ञाओं, व्यवहारों, नियमों और आदेशों की संख्या दी गई है। प्रथम अंक वर्ग के शीर्षक की सख्या है और दूसरी संख्या विशिष्ट प्रतिज्ञा का संकेत करती है।

से परिचित हैं,जिसने मिस्र की आध्यात्मिक जीवन पद्धति से प्रभावित होकर यूनानी धर्म को तपस्यात्मक अंश प्रदान किये थे। ऑरफियस आत्मा और उसके आवागमन में विश्वास रखता था। ऑरफियस के अनुयायी पशु-भोजन से बचते थे। वे आत्मा, पुद्गल और आत्म-साक्षात्कार मे विश्वास रखते थे।[१] यदि यह आध्यात्मिक धर्म मिस्र से क्रीट होता हुआ यूनान पहुँचा तो यह लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि मिस्रियों के ये विश्वास पशुओ मे दुर्व्यवहार न करना, पक्षियो का शिकार न करना, मछलियो को न पकड़ना, अवश्य ही मांस-भक्षण से बचने मे परिणत हुए होंगे। यदि मिस्रियो से प्रभावित होकर ऑरफियस के अनुयायी मांस खाने से बचते थे, तो व्यापक रूप मे प्रभाव डालने मे सफल होने के कारण मिस्र के लोग अतिमात्रा में इसका अनुसरण करते रहे होंगे।

मिस्री—८ मैंने किसी को रुलाया नही।

९ मैंने निर्धनों के साथ अनाचार नही किया।

१० मैंने किसी को रोगी नही किया।

११. मैंने किसी को कष्ट नहीं दिया।

अणुव्रत—अणुव्रतियों को दिए जाने वाले सात उपदेशो मे से दो है —

शि० ४ : प्रत्येक कार्य करते हुए जागरूक रहे कि वह कोई अनुचित या निद्य कार्य तो नहीं कर रहा है।

शि० ३ तर्क दृष्टि से बचकर अवांछनीय कार्य न करे।

१ २. आत्म-हत्या नही करूँगा।

१ ४. जातीयता के कारण किसी को अस्पृश्य या घृणित नही मानूँगा।

१.६ (क) किसी कर्मचारी, नौकर या मजदूर से अतिश्रम नहीं लूँगा।

ये अहिंसक मार्ग के विस्तार की बातें हैं, जिनकी दोनो पद्धतियाँ उपासना करती है। दूसरो को पीडा देना अथवा आत्म-हत्या, दोनो ही हिंसा हैं। आत्म-हत्या की निन्दा करके अणुव्रत एक कदम और आगे बढ गया है। मनुष्य मनुष्य मे भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। इसमे कष्ट,क्लेश, दुःख और पीडा का जन्म होना है। जो मनुष्यो को रुलाता है, निर्धनों का शोषण करता है, दूसरो को भौतिक यातनाएं देता है, वह निश्चित रूप मे पापी है। प्राचीन मिस्रियों ने इन बुराइयों का परित्याग कर दिया था।

मिस्री—१२. मैंने किसी कलह को जन्म नहीं दिया।

१३ मेरी आवाज बहुत ऊँची नहीं थी।

१४ मैं किसी की बात छिप कर नही सुनता था।

अणुव्रत—१ ३ हत्या व तोड़-फोड़ का उद्देश्य रखने वाले दल या संस्था का सदस्य नही बनूँगा और न ऐसे कार्यों मे भाग लूँगा।

दोनों ही पद्धतियों में हिंसा को एक बुराई माना गया है। युग-प्रवाह के साथ उसका बाह्य रूप अवश्य बदला होगा। उपर्युक्त अणुव्रत नियम आधुनिक प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु उनका उद्देश्य उग्र सामाजिक कलहों को रोकना है, जिससे मिस्र के लोग भी घृणा करते थे। इसका कारण यह भी हो सकता है कि दोनों ही हृदय-परिवर्तन की कला मे विश्वास रखते थे। पूर्ण अहिंसा की उपलब्धि दोनो का ही अन्तिम उद्देश्य है।

मिस्री—१५ पानी को उसके मौसम से मैंने नहीं रोका।

१६. चलते पानी को मैंने नहीं बाँधा।

१७. जिस आग को प्रज्वलित रहना चाहिए था उसे मैंने नही बुझाया।

आग और पानी के प्रति भी हिंसा भाव से बचने की प्रवृत्ति से मिस्र की गहरी निष्ठा का पता चलता है कि

---

१ Bertrand Russell; History of Western Philosophy, 1954; p. 35.

प्राचीन मिस्रियों का विश्वास था कि मानव प्राणियो, जन्तु और पौधों की भाँति अग्नि और जल में भी जीवन है। उनके स्वतंत्र जीवन में हस्तक्षेप करना भी वे हिंसा मानते थे। यह जैन-धर्म से बहुत मिलता-जुलता है। जैन विश्वास अविच्छिन्न रूप से चले आ रहे व्रत और निर्ग्रन्थ मार्ग का एकमात्र उत्तराधिकारी है, जिसकी मान्यता के अनुसार अग्नि और जल में जीवित प्राणियो की भाँति जीवन है।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि प्रचीन मिस्रियो की दृष्टि मे हिंसा एक पाप थी। वे यथासम्भव अहिंसात्मक क्रिया-कलापों में प्रवृत्त होते थे। इसी प्रकार का अणुव्रत का विश्वास है जो कि दैनिक व्यवहार मे यथासम्भव अहिंसा को स्थान देने के लिए प्रयत्नशील है। दोनों ही पद्धतियो मे पूर्ण अहिंसा की उपलब्धि अन्तिम लक्ष्य है।

सत्यव्रत

मिस्री—१८ मैंने झूठ नही बोला।

१६ मैंने सत्य के स्थान पर झूठ को स्थान नही दिया।

२० सत्य वचनो के प्रति मैं बहरा नही था।

२१ मैं शब्दों को बढा-चढाकर नही बोलता था।

२२ मैं परिहास नही करता था।

२३ मैंने मिस्र देश मे सदा सदाचरण ही किया।

अणुव्रत—२ १ क्रय-विक्रय मे माप-तौल, सख्या, प्रकार आदि के विषय मे असत्य नही बोलूंगा।

२ २. जान-बूझकर असत्य निर्णय नही दूँगा।

२ ३ असत्य मामला नही करूँगा और न असत्य साक्षी दूंगा।

२ ४ सौंपी या धरी (बन्धक) वस्तु के लिए इन्कार नही करूँगा।

२ ५. मैं जालसाजी नही करूँगा।

(क) जाली हस्ताक्षर नही करूँगा।

(ख) झूठा खत या दस्तावेज नही लिखाऊँगा।

(ग) जाली सिक्का या नोट नही बनाऊंगा।

२ ६ वचनापूर्ण व्यवहार नही करूँगा।

(क) मिथ्या प्रमाण-पत्र नही दूंगा।

(ख) मिथ्या विज्ञापन नही करूँगा।

(ग) अवैध तरीकों से परीक्षा मे उत्तीर्ण होने की चेष्टा नही करूंगा।

(घ) अवैध तरीको से विद्यार्थियो के परीक्षा मे उत्तीर्ण होने मे सहायक नही बनूंगा।

२.७ स्वार्थ, लोभ या द्वेषवश भ्रमोत्पादक और मिथ्या सवाद लेख या टिप्पणी प्रकाशित नही करूँगा।

यहाँ भी हमे केवल बाह्य रूपो मे अन्तर दिखाई देता है। परन्तु दोनो स्थितियो मे मूल भावना एक ही है। अर्थात् हमारे क्रिया-कलापो में असत्य को कोई स्थान न रहे और प्रत्येक व्यवहार सत्यानुकूल हो। असत्य को एक बुराई माना गया है और पूर्ण सत्य को अन्तिम लक्ष्य।

अस्तेय व्रत

मिस्री—२४ मैंने चोरी नही की।

२५. मैंने मन्दिर की स्थायी निधि अथवा सम्पत्ति मे से चोरी नही की।

२६. मैंने देवताओं के पशुओ की चोरी नहीं की।

अणुव्रत—३ १ दूसरो की वस्तु को चोर-वृत्ति से नहीं लूँगा

३.२. जान-बूझकर चोरी की वस्तु को नहीं खरीदूंगा और न चोर को चोरी करने में सहायता दूंगा।

मन्दिर ईश्वर का घर है। इसलिए मिस्र में ईश्वर शब्द का जो महत्त्व था, उसे हमें समझना होगा। जब पवित्र मिस्री जन्म व पुनर्जन्म के रहस्यपूर्ण चक्रों में घूमने के बाद उच्चतम परम आनन्द की स्थिति प्राप्त करता था तो वह देवताओं में अद्वितीय और देवताओं का स्वामी हो जाता था। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर मानव प्राणी था। मानव उपलब्धि की यह उच्चतम स्थिति नहीं थी, परन्तु ईश्वर वह व्यक्ति था जो कि सामान्य नागरिक की अपेक्षा अधिक पवित्र और श्रेष्ठ था। प्राचीन मिस्र की चित्रलिपि वाली भाषा में तीन महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। 'अरि' शब्द का प्रयोग शत्रु के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'अर्सी' शब्द ईश्वर अथवा देव अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'अरिहन्' शब्द पुरोहित नायक[१] और साथ ही सिद्ध साधु के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस 'अरिहन्' की स्थिति भारतीय मुनि के समकक्ष होनी होगी। यह भी पता चलता है कि प्राचीन मिस्र में ऐहिक आदर्श राजपुरुष मौनी व्यक्ति होता था। विनीत कष्ट भोगी राजपुरुष नहीं, अपितु एक बुद्धिमान् स्थिर चित्त सम्यक् सुशिक्षित, निरभिमानी और अपने आप को खपा देने वाला विचारशील और दृढ़।[२] वह अद्भुत रूप से निष्कपट और विनयशील था।[३] जब सांसारिक नेताओं में ये गुण थे तो हम आध्यात्मिक नेताओं के गुणों की सहज कल्पना कर सकते हैं जो कि अपने आपको अधिक तपाने वाले थे और आत्म-त्यागी थे। पवित्रतम व्यक्ति— जो कि साधु वर्ग में श्रेष्ठतम होता है—पूर्ण उपलब्धि पर सभी देवताओं का प्रधान, देवताओं का पिता, देवताओं का निर्माता, देवताओं का स्वामी, अस्तित्व का एक निर्माता, अप्रतिम देव, देवताओं में वास्तविक सम्राट् हो जाता था।[४] इसलिए देवगण और उनमें श्रेष्ठतम पवित्रतम, आध्यात्मिक प्राणी होते थे, न कि क्षणिक या दिव्य देवगण।

मिस्री मन्दिरों के बारे में भी हमें जानकारी है। मन्दिरों के अनुष्ठान अपनी एकता के लिए उल्लेखनीय हैं। ये बहुत अधिक और अत्यधिक संगठित पौरोहित्य के पीठ थे। ये सांस्कृतिक जीवन के भी केन्द्र थे। पुरोहितों और विद्वद्वर्ग ने मन्दिरों को धार्मिक और बौद्धिक कार्य-कलापों का केन्द्र बना रखा था।[५] 'सत्य-कक्ष' में दिवगत व्यक्ति द्वारा निषेधात्मक दोष-स्वीकार में हमें कहीं भी मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मन्दिर सार्वजनिक मंडप या कक्ष के रूप में जातिगत, आध्यात्मिक और बौद्धिक क्रिया-कलापों के केन्द्र थे।

मिस्रियों के चोरी से सम्बन्ध रखने वाले आचरण के मौलिक सिद्धान्त का आधार वही है जो अणुव्रत का है। अर्थात् जो किसी का अपना नहीं है अथवा समाज द्वारा उसका नहीं माना गया, उसे किसी व्यक्ति को आत्मसात् नहीं करना चाहिए। व्यक्तिगत और जातिगत सम्पत्तियों के बारे में अव्यवस्थित ढंग से आचरण नहीं करना चाहिए, अन्यथा उससे सामाजिक हिंसा को प्रोत्साहन मिलेगा।

मिस्री— २७ मैंने मन्दिरों की खाद्य वस्तुओं में कमी नहीं की।

२८ देवताओं के भोजन में मैंने मिलावट नहीं की।

२९. अनाज तौलते समय मैं कभी गलत तौल काम में नहीं लाता।

३०. तौलते समय मैंने कभी डंडी नहीं मारी।

३१. बच्चों के मुँह का दूध मैंने कभी नहीं छीना।

अणुव्रत—३.४ (क) किसी चीज में मिलावट नहीं करूँगा। जैसे दूध में पानी, घी में वेजीटेबल, आटे में सिघराज औषधि आदि में अन्य वस्तु का मिश्रण।

(ख) नकली को असली बताकर नहीं बेचूंगा। जैसे कलचर मोती को खरे मोती बताना, अशुद्ध

---

१ S. Sankaranada, The Indus People Speak, 1955, pp. 15, 16.

२ H. Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East, 1945, p. 90.

३ G. Rawlinson, History of Ancient Egypt. Vol. II, p. 42.

४ G. Rawlinson, History of Ancient Egypt Vol. I, p. 314, Note 3.

५ S. Moscati, The Face of the Ancient Orient, 1960, p. 118.

घी को शुद्ध घी बताना आदि।

(ग) एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की वस्तु नही दूँगा।

(घ) सौदे के बीच मे कुछ नही खाऊँगा।

(ङ) तौल-माप मे कमी-बेसी नही करूँगा।

(च) अच्छे माल को बट्टा काटने की नीयत मे खराब या दागी नही ठहराऊँगा।

(छ) व्यापारार्थ चोर-बाजार नही करूँगा।

३ ५ किसी ट्रस्ट या सस्था का अधिकारी होकर उसकी धन-सम्पत्ति का अपहरण या अपव्यय नहीं करूँगा।

मन्दिरो मे से आवश्यकता से अधिक खाद्य वस्तुए ले लेना, उसे कम करना है और यह एक प्रकार की चोरी है। महात्मा गाधी का भी यही दृष्टिकोण था। यदि जाति के सामूहिक भोजन मे मिलावट की जाती है अथवा किसी व्यक्ति की उपेक्षा के कारण हानि होती है तो यह चोरी का पाप है। व्यापार-व्यवसाय मे बेईमानी सामाजिक अथवा सार्वजनिक अपराध होने के अतिरिक्त आध्यात्मिक अपराध भी है। दोनो ही पद्धतियो मे चोरी को घृणा की दृष्टि से देखा गया है।

ब्रह्मचर्य-व्रत

मिस्री—३२ मैने पर-स्त्रियो के साथ मैथुन-सेवन नही किया।

३३ मैने स्त्री या पुरुष किसी को भ्रष्ट नही किया।

अणुव्रत—४ ५ वेश्या व पर-स्त्री-गमन नही करूँगा।

४ ४ किसी प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन नही करूँगा।

४ ३ महीने मे कम-से-कम बीस दिन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।

४ १ कुमार-अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।

४ २ पैतालीस वर्ष की आयु के बाद विवाह नही करूँगा।

ब्रह्मचर्य एक आध्यात्मिक गुण है। दोनो ही पद्धतियाँ ब्रह्मचर्य को एक सद्गुण मानती है और काम-वासना मे लिप्त होना एक बुराई।

अपरिग्रह व्रत

मिस्री— ३४ मैने लूटा नही।

३५ अपने अधिकार के लिए चिल्लाते को मैने नही लूटा।

३६ मेरा ऐश्वर्य मेरी सम्पत्ति मे बढ कर नही था।

३७ मै अर्थपिशाच नही था।

३८ मेरा मन लालची नही था।

अणुव्रत—५ १ अपने मर्यादित परिमाण (   ) से अधिक परिग्रह नही रखूँगा।

५ २ घूँस नही लूँगा।

५ ३ मत (वोट) के लिए रुपया न लूँगा और न दूँगा।

५ ४ लोभवश रोगी की चिकित्सा मे अनुचित समय नही लगाऊँगा।

५ ५ सगाई-विवाह के प्रसग मे किसी प्रकार लेने का ठहराव नही करूँगा।

धन-लिप्सा, स्वामित्व या सम्पत्ति-हरण और शोषण से बचना अध्यात्मवाद के मूल सिद्धान्त हैं। दोनों ही पद्धतियाँ इस बारे मे बहुत सावधान है।

प्राचीन मिस्री लोग भय-मुक्ति, स्वभाव में सतुलन, देव-निन्दा और परनिन्दा की निरर्थकता, आत्म-श्लाघा और दर्वचन से हानि, साथी नागरिको की सहायता, वचन-कर्म मे पवित्रता और मान-हानि के दुष्प्रभावो मे विश्वास रखते

थे। वे देवताओं अर्थात् साधुओं को दिव्य भेंट प्रदान करते थे। ये सत्य निम्न स्वीकृति वाचक उक्तियों मे निहित हैं—

३९. मैंने भय-स्थिति पैदा नहीं की।

४०. मैंने गुस्सा नहीं किया।

४१. मैंने निन्दा नहीं की।

४२ मैं फूल कर कुप्पा नहीं हुआ अर्थात् घमण्ड नहीं किया।

४३. मैंने देव-निन्दा नहीं की।

४४ मैंने देवता के लिए गर्हणीय कार्य नहीं किया।

४५. देवता ने जो कुछ चाहा, उससे मैंने उसे सन्तुष्ट किया।

४६ मैंने भूखो को रोटी दी, प्यासो को पानी दिया, नगो को वस्त्र दिया, नाव हीन लोगों का पार उतारा।

४७ मैंने देवताओं को दिव्य भेंटें अर्पित की।

४८ मैं निष्कलंक मुँह और अकलुष हाथो वाला हूँ।

इन सिद्धान्तो की सामाजिक और आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु पर किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नही है और न ही इनकी तुलना मे भारतीय आध्यात्मिक पद्धति के उदाहरण देने की आवश्यकता। वे स्वय स्पष्ट है।

वह मूल आध्यात्मिक विचारधारा क्या थी, जिससे ये व्यवहार निकले। सौभाग्यवश, इन स्वीकारोक्तियो में मूल आधार का स्पष्ट उल्लेख मिल जाता है। मूल सैद्धान्तिक विचारधारा थी:

४९ जो नहीं है उसे मैंने नहीं जाना।

प्राचीन मिस्री ने केवल सही ज्ञान ही प्राप्त किया अर्थात् उसने वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त किया। जिस वस्तु की सत्ता नही है अथवा जो वस्तु नही है, उसका ज्ञान प्राप्त करने मे उसका विश्वास नही था। उसने सत्य का ज्ञान ग्रहण किया। सत्य ज्ञान जिसे हम सम्यक् ज्ञान कहते हैं। सम्यक् ज्ञान के अनुसार ही वह व्यवहार करता था। उसकी व्यावहारिक विचारधारा थी:

५० मैं सदाचरण से जीवित हूँ, मैं अपनी अन्त. चेतना की सदाचार वृत्ति से पालित-पोषित होता हूँ।

वह सदाचार पूर्ण ढंग से रहता था। सद् व्यवहार उसके जीवन का मुख्य आधार था। बिल्कुल यही व्रत-विचारधारा, निर्ग्रन्थ-विचारधारा और जैन विचारधारा है, जिसका प्रतिपादन ऋषभ, नेमि, पार्श्व, और महावीर ने किया था। और जिसका अनुसरण आचार्य भिक्षु और आचार्यश्री तुलसी ने किया है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र आध्यात्मिक विचारधारा के मूलाधार हैं। आध्यात्मिक मार्ग का अन्तिम लक्ष्य है—आत्मा की पूर्णता अथवा सिद्धि। प्राचीन मिस्रियो का अन्तिम लक्ष्य था:

५१. मैं निर्दोष हूँ।

वह पाप-रहित होने के लिए उपर्युक्त प्रकार से आचरण करता था। आत्मा की पूर्णता उसका आदर्श था।

संक्षेप में प्राचीन मिस्री आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करता था। उसका आत्मा की सत्ता मे विश्वास था। उसके आवागमन और उसके पूर्ण साक्षात्कार में उसका विश्वास था। उसके सदाचरण का आधार सम्यक् ज्ञान था। उसने अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक कार्य-कलापों का इस प्रकार निर्धारण किया था कि वे मूल आध्यात्मिक मार्ग के अनुकूल हों। उसका अन्तिम लक्ष्य था—ज्ञान और शक्ति से परिपूर्ण शाश्वत और आत्म-व्यक्तित्व की प्राप्ति।

यहाँ मैंने स्थूल रूप-रेखा द्वारा प्राचीन मिस्री विश्वासो और निष्ठाओं का उल्लेख किया है और भारतीय पद्धति से उसकी तुलना की है। दोनों में असाधारण रूप से समानता है और दोनों का आधार आध्यात्मिक है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भारत, सुमेर, मिस्र और क्रीट की प्राचीन संस्कृतियाँ मूलतः आध्यात्मिक थीं। यद्यपि कुछ स्थलों पर वे बहुत सुदृढ़ थीं तो अन्य स्थलों पर शिथिल। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इन प्राचीन संस्कृतियों का यदि अनुसंधान किया जाये और निःस्वार्थ भाव से इस कार्य को उठा लिया जाये तो इससे अद्भुत परिणाम निकलेंगे।

आध्यात्मिक जागृति का आन्दोलन

न्यायमूर्ति श्री सुधिरंजनदास
भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय

अणुव्रत-आन्दोलन जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, हमको व्रती बनने को कहता है अर्थात् हम पवित्र बनने और वर्ण अथवा सम्प्रदाय का कोई भेद न करते हुए अपने को मानवता की सेवा के लिए समर्पित कर दें। वह हमें ऐसा जीवन बिताने की प्रेरणा देता है, जिससे हमारा नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान हो और उसीसे हमारा सामान्य कल्याण हो सकता है। हमको किसी धार्मिक परम्परा का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं और न ही किसी बाह्य कर्मकाण्ड का पालन करना होगा। आन्दोलन का उद्देश्य हमारे हृदयों में आध्यात्मिक जागृति की भावना उत्पन्न करना है। वह उच्च और शाश्वत नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना करना चाहता है जिन्हें स्वार्थपूर्ण भौतिक लाभों की निरर्थक खोज में दुर्भाग्य-वश हम थोड़े समय के लिए खो बैठे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन हमको वह सर्वनाशक मार्ग छोड़ने का आदेश देता है, जो केवल पतन और पाप की ओर ले जाता है और हमारे सामने वह त्याग और मानवता की निस्स्वार्थ सेवा का उच्च और भव्य आदर्श उपस्थित करता है। वह हमारे जीवन के अशान्त दैनिक कार्यक्रम में सौन्दर्य और सौष्ठव लाता है जो दैवी भवन की शान्ति में ही सम्भव है। वह हमको करुणा और पवित्रता से परिपूर्ण जीवन बिताने को कहता है। यह पवित्रता केवल हमारे बाह्य कर्मों में ही नहीं होनी चाहिए, प्रत्युत हमारे मन के अन्तरतम विचारों में भी होनी चाहिए। वह हमारे हृदयों में विनम्रता और अपने मानव बन्धुओं के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना उत्पन्न करना चाहता है। वह हमको सात्विक सरल जीवन अपनाने व सदाचार के सरल नियमों का पालन करने की प्रेरणा देता है। संक्षेप में मेरे विचार में अणुव्रत-आन्दोलन का यही आन्तरिक अर्थ, आशय और उद्देश्य है।

अणुव्रत-आन्दोलन हमको आत्म-चिन्तन और आत्म निरीक्षण का अपूर्व अवसर देता है। इस आन्दोलन के अनुष्ठान से हमारे हृदय में सर्वोपरि ये प्रश्न उठने चाहिए—मैंने अपने जीवन में बन्धुता के ध्येय को आगे बढ़ाने के लिए क्या किया? क्या मैंने अपने उन मानव बन्धुओं के आगे मित्रता का हाथ बढ़ाया, जिनको मेरी सहानुभूति और मैत्री पूर्ण सहायता की आवश्यकता थी और जो मेरे से उसकी अपेक्षा रखते थे? क्या मैंने सच्चाई से और गम्भीरतापूर्वक अपने कथित आदर्श के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न किया है? क्या अपने समस्त कार्यों में उस आदर्श की पवित्रता प्रतिबिम्बित हुई है? क्या मैं शाश्वत नैतिक मूल्यों पर दृढ़तापूर्वक जमा रहा हूँ जिनको मैंने स्वेच्छा से अपने जीवन के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया था? संक्षेप में, क्या मैंने अपने जीवन में उन बातों पर आचरण किया है, जिनका मैंने सभाओं और समारोहों में उपदेश दिया था? हमें इन गहरे प्रश्नों को टालना नहीं चाहिए और न यह दिखावा करना चाहिए कि हम बिल्कुल ठीक तरह से चल रहे हैं। हमें अपने को धोखा नहीं देना चाहिए। यदि हम अपने आदर्श के अनुसार जीवन न बिता सकने की विफलता के प्रति अपनी आँखें बन्द कर लेंगे तो हमारा किसी भी नैतिक आदर्श की ओर बढ़ना बिल्कुल ही व्यर्थ होगा। बहुधा ऐसा होता है कि दैनिक जीवन की दौड़धूप में हमारी दृष्टि धुँधली पड़ जाती है और हमारा आदर्श मन्द और शिथिल हो जाता है। हम क्रोध को छोड़ कर प्रेम के पीछे भागने लगते हैं। यह हो सकता है कि हममें से कुछ, अथवा अनेक या अधिकांश व्यक्ति मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों का पालन करने में असमर्थ रहते हों, किन्तु इससे हमको निराश नहीं होना चाहिए। हमको खुले हृदय से अपनी विफलता स्वीकार करनी चाहिए, कारण तभी हम अपना सुधार कर सकेंगे। यह आन्दोलन हमको ठहरने और अपने जीवन का सिंहावलोकन करने

और यह मालूम करने का अवसर देता है कि हम अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर कितना आगे बढ़े है। यदि हम करुणा और पवित्रता के राज-मार्ग से इधर-उधर भटके है और प्रलोभन और पाप के जंगल में अपना पथ भूल गये हैं तो हमको पीछे लौटना चाहिए और सीधा मार्ग—सही मार्ग पकड़ना चाहिए और अपने चिर अभिलषित ध्येय की ओर अपनी अनन्त यात्रा पर चल पड़ना चाहिए। यह आन्दोलन हमें सही-सही लेखा-जोखा करने की प्रेरणा देता है और यह अवसर देता है कि हम अपने आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा पुष्ट करें और पूर्णता प्राप्त करने की अपनी शाश्वत खोज को पुन. अग्रसर करने का प्रयत्न करें। एक जैसे विचार रखने वाले बहु सख्यक लोगों का एक स्थान पर एकत्र होना हमारे विश्वासो को सुदृढ़ करेगा और हमारे सकल्प को शक्ति प्रदान करेगा। मेरे विचार मे आन्दोलन का यही गूढ आशय और महत्त्व है।

अणुव्रत-आन्दोलन का सन्देश केवल इस उप-महाद्वीप के निवासियो के लिए ही नही है, प्रत्युत दुनिया के हर हिस्से मे रहने वाले सभी स्त्री-पुरुषो के लिए है। अपने इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल मे इस प्राचीन देश ने सैनिक शक्ति के मुकाबले आध्यात्मिक सत्यो का अपने जीवन के मार्ग-दर्शक सिद्धान्त स्वीकार किया है। अपने आध्यात्मिक साधनो की शक्ति मे ही उसने आक्रमणो और उथल-पुथल का सामना किया है। अपने गहरे पतन के काल मे भी उसने अपनी आत्मा को नष्ट नही होने दिया। जब मानव सभ्यता का उदय हो रहा था; जब दुनिया अज्ञान, अन्ध-विश्वास और कट्टरता के दलदल मे फँसी हुई थी, तब दुनिया के इस प्राचीन देश ने ससार को सद्भावना और बन्धुता का सन्देश दिया। प्राचीन ऋषि-मुनि अपनी अरण्य कुटियो के शान्त वातावरण मे रहते थे और ध्यान और चिन्तन मे अपना समय बिताते थे। इस प्रकार उन्होने जीवन के शाश्वत सत्यो का पता लगाया। हिमालय के उच्च शिखरो से उन्होने बन्धुता का सन्देश प्रेषित किया और मानव जाति का अभिनन्दन किया। इस सन्देश मे उनके विश्वासो की सच्चाई गूँजती थी। बाद के समय मे भी जब शास्त्रों की खनखनाहट हो रही थी, भगवद्गीता का अमर सन्देश प्रतिध्वनित हुआ। उसके साथ यह गम्भीर आश्वासन भी प्राप्त हुआ कि सकट के समय भगवान् हमारी सहायता करते है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानमधर्मस्य सम्भवामि युगे युगे॥

"जब-जब धर्म की हानि होती है, और अधर्म का उदय होता है, तब-तब भारत मे धर्म का उत्थान करने के लिए अवतार लेता हूँ।" महापुरुषो ने विभिन्न युगो मे हमारी सहायता करने के लिए जन्म लिया है। भगवान् महावीर अपना अहिंसा और करुणा का सन्देश लेकर आये। भगवान् बुद्ध ने दुनिया को विश्वव्यापी प्रेम और क्षमा का सन्देश दिया। गुरु-नानक, शकराचार्य, रामानुजम्, श्री चैतन्य, राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहस और अन्य महापुरुषो ने मानव बन्धुता का उपदेश दिया। अत: यह उपयुक्त ही है कि पीड़ित विश्व को इस प्राचीन देश से मित्रता का सन्देश प्रेषित किया जाये।

दुनिया की वर्तमान अवस्था को देखते हुए अणुव्रतो का पालन विशेष महत्त्व रखता है। हम चाहे जिस ओर देखें, हमको दुनिया में अव्यवस्था, अराजकता और अन्धकार ही घिरता हुआ दिखाई देता है। अविश्वास और स्वार्थ-परता, घृणा और द्वेष राष्ट्रो पर छा गया है और उसी से वे प्रेरित होते है। दुनिया के हर भाग मे सत्ता की उन्मत्त छीना-झपटी चल रही है। सहार के भयंकर शस्त्रास्त्रो से सारे राष्ट्र आकठ सज्जित हो रहे हैं और एक मिनट के नोटिस पर एक-दूसरे का गला काटने के लिए उद्यत हो रहे हैं। हम विनाश और मृत्यु के कगार पर चल रहे है। पाप और सत्ता-लोभ के इस उन्मत्त प्रवाह से कौन बच सकता है?

हमारी दृष्टि धुंधली हो गई है और हमारे मन भ्रमित हैं। सतत भय ने हमको घेरा हुआ है। वास्तविक मूल्यो को हम बिल्कुल भूल गए हैं। प्रत्येक स्त्री और पुरुष के हृदय शोक और कष्ट से पीड़ित हैं। मित्रता और बन्धुता की सच्ची आवश्यकता जितनी आज है, उतनी पहले कभी नही थी। नैतिक पतन और मृत्यु की उस अन्धकार पूर्ण घड़ी मे हमको समस्त मानव जाति के आगे मैत्री का हाथ बढ़ाना चाहिए जैसा कि ऋषि और कवि ठाकुर ने अपनी कविता के अन्तिम चरण में कहा है:

मानव हृदय अशान्ति के ज्वर से पीड़ित है,
स्वार्थपरता का विष व्याप्त हो रहा है,
तृष्णा का कोई अन्त नहीं है
देशों ने अपने मस्तक पर घृणा का रक्त-टीका लगा लिया है।
उनको अपने दाए हाथ से स्पर्श करो
उन्हें एकात्मभाव प्रदान करो
उन्हें जीवन में शान्ति प्रदान करो
सौन्दर्य की लहरें उत्पन्न करो
ओ ! शान्त, ओ ! मुक्त,
तेरी असीम दया और कृपा
विश्व के हृदय से अन्धकार की कालिमा को धो डाले।

मेरे विचार से अणुव्रत का भी यही सन्देश है। तो आइये, हम अपने मानव बन्धुओ के प्रति बन्धुता का हाथ आगे बढाए, चाहे वे दुनिया के किसी भी भाग मे क्यो न रहते हो। पृथ्वी पर मानव बन्धुता का प्यार फूले, फले और शाश्वत शान्ति का राज्य स्थापित हो।

सुधार और क्रान्ति का मूल : विचार

मुनिश्री मनोहरलालजी

जीवन का प्रत्येक क्षेत्र भले ही वह एक व्यक्ति की क्षणिक क्रिया हो अथवा समष्टि की सम्पूर्ण गतिमयता, सब मे विचारो का महत्तम स्थान है। विचार तरग से सम्बल पाकर ही हर प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्रिया-कलाप, फिर चाहे वे अणुमात्र भी क्यो न हो, सम्पन्न होते हैं। विचारों का आहार किये बिना मनुष्य किसी भी प्रकार की गति और स्थिति करने मे अपने-आपको पूर्णत. असमर्थ पाता है। उसका हर क्षण विचारो की भूमि पर ही खडा होता है। विचारो की महत्ता को स्वीकार न करना उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो का अनुभव करने मे अपनी न्यूनता का परिचय देना है। सूक्ष्म भावना की अनुभूति करने के पश्चात् उसके विराट् व्यक्तित्व को समझने-परखने मे किसी भी प्रकार की स्वल्पता सम्मुख नही आ पाती। जहाँ सुधार और क्रान्ति का प्रश्न है, वहाँ उनके मूल मे विचारो का होना स्वीकार करने मे किसी भी प्रकर की अड़चन उपस्थित नही होती। सुधार और क्रान्ति का मूल विचारो मे इसलिए भी मानना आवश्यक है कि इनकी मजबूती और प्रौढता के बिना उसमें असफलता का आ टपकना अत्यन्त अनिवार्य जैसा लगता है। विश्व के सुप्रसिद्ध विचारक शेक्सपियर ने एक स्थान पर लिखा है, "यदि आपके विचार मजबूत हैं तो आपके प्रयत्न कभी असफल नही हो सकते।" प्रयत्न मात्र के लिए विचारो की दृढता का स्वीकरण कर असफलता के निरसन का पथ प्रशस्त करना लाभदायक कहा जा सकता है, पर इसमे विचारो की अनिवार्यता का समाप्तीकरण नही, अपितु दूसरे शब्दो मे इनकी प्रमुखता ही प्रस्तुत की गई है।

विचारों की सूक्ष्मता

प्रौढ़ता तथा दृढता का प्रश्न बाद मे आता है और विचार सर्वप्रथम। विचारो की क्रमिक वृद्धि के साथ उनमे मजबूती और प्रौढता का आना कोई अनहोनी बात नही है। भूगर्भ शास्त्री और आज के प्रगतिशील अन्वेषक इस बात का उद्घाटन कर चुके हैं कि धरती की सतह मे जो बडे-बडे परिवर्तन होते हैं, उनकी गति अत्यन्त मन्थर हुआ करती है। दृश्य ससार मे भूकम्पो के द्वारा होने वाले भयकर परिवर्तनो को वैज्ञानिक सूक्ष्म परिवर्तनो की तुलना मे अत्यन्त अमहत्त्वपूर्ण समझते हैं। इसी प्रकार विचार मनुष्य के मस्तिष्क रूपी धरातल मे प्रथमत तथा सूक्ष्मता से कम्पन करते रहते हैं। उनका महत्त्व बड़ी-बडी क्रान्तियो और सुधार के रूप मे प्रकट होने वाले महत् कम्पनो की अपेक्षा अधिक हुआ करता है। परन्तु इस सत्य को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि जन-साधारण उन्ही परिवर्तनो और कम्पनों को अधिक महत्त्व देता है जो अहिंसक क्रान्तियों और भूकम्पो के रूप मे अचानक फूट पडते हैं। सूक्ष्मता दृश्य रूप में सबके सामने बहुत स्वल्प ही आती है, पर मूल का जहाँ विश्लेषण है, वहाँ तो हमे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सुधार, क्रान्तियाँ और बडे-बड़े भूकम्प भी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तनो एव सूक्ष्म रूपान्तरण की ही विशद और विराट प्रक्रिया मात्र है।

अणुयुग मे जहाँ आज जन-मानस अपने को पहुँचा पाता है, वहाँ हर स्थान पर सूक्ष्मता तथा मौलिकता की ओर क्रमश: अधिकाधिक रूप में उन्मुखता प्रकट हो रही है। हर पदार्थ के मूल तक पहुँच कर उसकी व्याख्या करने का सत्प्रयास आज सर्वत्र दृष्टिगत हो रहा है। उस स्थिति मे सुधार और क्रान्ति के मूल मे पहुँचने का प्रयास भी हुआ है और यह पाया गया है कि उसके मूल मे प्रमुखत: विचार ही रहा है। जन-साधारण भी उसकी सूक्ष्मता तक पहुँच कर यह अनुभूति कर सकेगा। इसमें अत्युक्ति जैसा कुछ नहीं है।

विश्व की सर्वोत्कृष्ट सस्था सयुक्त राष्ट्रसघ के घोषणा पत्र मे यह लिखा गया है कि "तमाम सघर्षों का जन्म मनुष्यो के मस्तिष्क मे होता है, इसलिए शान्ति का दुर्ग भी मनुष्यो के मस्तिष्क मे ही निर्मित करना होगा ।" इस विधान से यह प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है कि तलवार और अस्त्र-शस्त्र विश्व के सर्वनाश मे यद्यपि साधन बन सकते हैं; पर यह भावना भी उद्बुद्ध मनुष्य के मस्तिष्क स्थित विचारो मे ही होती है । इस माने मे यह कहा जाना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि "लडाई मनुष्य के मस्तिष्क मे है ।" मस्तिष्क शब्द के उल्लेख मे भी विचारो को ही प्रकट करने की भावना विद्यमान रही है ।

सुधार और क्रान्ति

विचारो की पृष्ठभूमि के अन्तराल मे जब हम सुधार और क्रान्ति के विषय मे चिन्तन करते हैं, तब यह स्पष्ट आभासित होता है कि सुधार की अपेक्षा क्रान्ति मे विचारो का विस्तार अधिक परिलक्षित होता है । स्पन्दन मात्र और स्फुट हलचल की दृष्टि से विचारो की अनिवार्यता तो दोनो मे समान ही है, पर विस्तीर्णता की दृष्टि से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सुधार स्वल्प वैचारिक हलचल मे ही सम्भव हो सकता है, पर क्रान्ति वैचारिक हलचल का विराट और विशद रूप है । दृढता के साथ-साथ अनेकानेक व्यक्तियो को एक साथ सयुक्त करने की आवश्यकता दोनो मे ही होती है, परन्तु परिवर्तन की मात्रा मे दोनों एक-दूसरे से भिन्न हो जाते है । सास्कृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक परिपाटी तथा तौर-तरीके मे मामूली फेर-बदल करना सुधार के क्षेत्र मे आता है, जब कि क्रान्ति उन परिपाटियो और तौर-तरीको मे आमूलचूल परिवर्तन कर डालती है । प्रारम्भिक अवस्था मे तो सुधार मात्र करने का प्रयत्न ही होता है । पर उन-उन क्षेत्रो की बद्धमूल धारणाओ का सवाहक व्यक्ति-समूह यह सब होने देना ही नही चाहता, तब फिर क्रान्ति का ऐसा प्रवाह आता है जो मार्ग मे आने वाली प्रत्येक बाधा को बहा ले जाता है । नये विचारों के अनुरूप नई व्यवस्थाए बनती है । इस प्रकार की पुन स्थापना को सद्यस्क तथा अग्रिम काल क्रान्ति के नाम से अभिहित करता है । इस धारणा के आधार पर सुधार की बनिस्पत क्रान्ति का महत्त्व अधिक प्रकट होता है ।

प्रथम कौन ?

अब यदि विचार-क्रान्ति के मूल मे जाकर यह अन्वेषण किया जाये कि सर्वप्रथम कौन-सी क्रान्ति प्रस्फुटित हुई तो इस विषय मे कोई एक निश्चित उत्तर निकाल लेना असम्भव जैसा है । विश्व और ईश्वर की आदि बतलाना जितना श्रम साध्य है, उतना ही प्रस्तुत विषय का समाधान दुरूह कहा जा सकता है । तब यही कहना अधिक उपयुक्त और युक्ति सगत होगा कि विश्व की तरह ही क्रान्तियाँ भी अनादि काल से होती रही है और अनन्त काल तक होती रहेंगी । उन सबके विषय मे जन-साधारण का ज्ञान बहुत सामान्य है । बहुत सारी ऐसी विचार-क्रान्तियाँ हो चुकी हैं, जिनका कालातिक्रमण की दृष्टि से हमारा जानना अत्यन्त कठिन है, परन्तु ज्ञेय समय की भी अनेकानेक क्रान्तियो को हम इसलिए नहीं जानते, क्योकि उनका महत्त्व हमारे लिए बहुत स्वल्पतम है ।

प्रारम्भ से अब तक

सामाजिकता का प्रारम्भ और विस्तार विचारो तथा मौलिक धारणाओ को केन्द्रबिन्दु मान कर हुआ है । कोई भी समय मानव जाति का ऐसा नही रहा जिसमे वह सामाजिकता को आधार मान कर नही चला हो । हर युग के महापुरुषों ने चालू व्यवस्था को नया जीवन दिया, गति दी और उसे युगानुकूल ढालने का विराट प्रयास किया ।

आदिम समाज व्यवस्था कैसी थी ? मनोविश्लेषको ने इसका समाधान पितृसत्तात्मक रूप में प्रस्तुत किया है । उसका अनुशासन और प्रबन्ध परिवार के सर्वाधिक वृद्ध पुरुषो के हाथो से होता था, जो आज की परिपाटी से बहुत भिन्न था । मध्य युग मे वह स्थिति अत्यन्त शिथिल हुई और उसमे कुटुम्ब का भरण-पोषण करने वाला व्यक्ति योग्यता के आधार पर सामने आने लगा । आधुनिक काल मे प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पूँजीवादी, साम्यवादी आदि नवीन रूपों में

सामाजिक मूल्यों को आत्यन्तिक परिवर्तन प्रदान कर रही है। मार्क्स, लेनिन, फ्रायड के विचारानुसार आज का समाज है, यह भी कह सकना कठिन है। चिन्तन-प्रकार इन सब शृंखलाओं से भी आगे बढ़ रहा है, उसमे कुछ वैशिष्ट्य भी दृष्टि-गोचर हो रहा है। सामाजिक व्यवस्थाएं युगो के थपेडे खा-खाकर परिवर्तित हुई हैं तथा होती जा रही हैं। उसके मुख्य स्तम्भो में से एक विवाह को ही लीजिये। वह सामूहिक बहु पतित्व, बहु पत्नित्व, एक पतित्व और एक पत्नित्व आदि विविध रूपों में से गुजरता है। जीवन की अनिवार्यता के साथ समाज मे चाहे उसका नामांकन कुछ भी रहा हो और रहे, पर उपयोगिता समाप्त नहीं होती। निर्बलता से भीने विचार मनुष्य को हर क्षण समूह मे रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। वह सम्पूर्णत इसी आधार पर टिका है कि वह स्व-कृत और अधिक मजबूत इकाईयो मे बँधता जाये। उसी के अग्रिम रूप हैं—छोटे-बड़े राज्य।

राजनैतिक विचार-क्रान्ति

मनुष्य की सामाजिक धारणा ने ही विकास करते-करते राज्य-संस्था का प्रभूतीकरण किया है। आर्थिक और धार्मिक आवश्यकताओ को ग्रहण कर मनुष्य के चिन्तनशील मस्तिष्क ने परिवार, सम्प्रदाय तथा सामूहिक उत्पादन जैसी अनेक संस्थाओ को जन्म दिया है। सुरक्षा और नियमबद्धता की भावना ने ही सामाजिक भावना का सहारा लेकर राज्य का रूप ग्रहण कर लिया। इसमे तथा अन्य संस्थाओ मे भेद-रेखा मात्र इतनी ही है कि राज्य एक सर्वोत्कृष्ट और सार्वभौम प्रभुता-सम्पन्न संस्था है जिसके सामने अन्य संस्थाओ का महत्त्व बहुत स्वल्प है। पर राजनीति का जहाँ प्रश्न है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि इसका अंश हर संस्था में विद्यमान रहता है। वहाँ होने वाली हर उथल-पुथल और परिवर्तन के मूल में जो विचार रहते हैं, उनको कठोर भाषा मे राजनीति या कूटनीति के नामो मे अभिहित किया जाता है। किसी भी प्रकार का सचालन या शासनतन्त्र, वह फिर स्वल्प मात्रा मे भी क्यों न हो, नीतिमूलक ही होता है। उसमे भेद नीति तक का समावेश हो जाता है। पर इनका महत्त्व तब गौण हो जाता है जब उससे अधिक सत्तात्मक संस्था या राष्ट्र का प्रश्न आ उपस्थित हो जाता है। राजनैतिक विचार क्रान्ति के नाम से ही अभिहित किया जाता है जो बहुत विराट रूप में प्रकट होता है। हर काम मे राजनैतिक क्रान्तियाँ होती रही हैं जो आकार मे कभी बडी रही हैं, कभी छोटी भी। आज की स्थिति मे पुरातन राज्य क्रान्तियाँ बहुत छोटी-छोटी रही हैं, पर उनके मूल मे विचारो का माहात्म्य स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। उसमे राज्य-प्राप्ति तथा अन्य अनेक कारणों के साथ अपने अनुकूल और बद्धमूल विचारों के आधार पर उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करने का लक्ष्य रहा है। अनेक सहस्राब्दियो पूर्व राम-रावण युद्ध, कंस-कृष्ण युद्ध अथवा पाण्डव-कौरव युद्ध, विराट राजनैतिक उथल-पुथल के कारण बने थे, उसी प्रकार शताब्दियो पूर्व मुसलमानी और अंग्रेजी राज्य संस्थापन के लिए किये गए युद्ध भी बड़े पैमाने पर राजनैतिक उथल-पुथल करने वाले सिद्ध हुए। निकट भूत मे हुए दो विश्व युद्धों के बाद भी बड़े-बडे राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान में भी विश्व की राजनीति मे एकतन्त्र या प्रजातन्त्र के नाम से अथवा साम्यवाद के नाम से कशमकश चल रही है। इन सबमे एक निश्चित विचारो का आधार रहा है।

प्रस्तुत प्रकरण में इन सबका विशद विवेचन करने से अधिक लक्ष्य एक ऐसी उदात्तता का दिग्दर्शन कराना है, जिससे यह स्वीकार किया जा सके कि विचारों को लक्षित किये बिना कुछ भी नही किया गया। यह निर्विवाद सत्य है कि बड़े-बड़े युद्ध और राजनैतिक क्रान्तियों का दृढ़ आधार विचारों की भूमिका पर ही रखा गया। एक ओर भयंकर नर-संहार जहाँ साधारण मनुष्य के हृदय को आन्दोलित कर देता है, वहाँ दूसरी ओर इस रौरवता में भी एक वैचारिकता का आनन्द अनुभव किया जाता रहा है। यद्यपि इतनी बीभत्सता मे विचार-क्रान्ति का होना अनहोना जैसा लगता है, पर फिर भी यह सब इतिहास का सत्य है।

आध्यात्मिक विचार-क्रान्ति

अध्यात्म जीवन में शान्त वातावरण की उपलब्धि कराने का लक्ष्य लेकर चलता है, पर उसमे विशिष्टता और

अविशिष्टता की दृष्टि से भिन्नत्व भी है। प्रारम्भ काल के धार्मिक क्रिया-कलाप आज की स्थिति मे पहुँचकर अनेक सम्प्रदायो को उद्भूत कर चुके है। सामाजिक वातावरण की तरह अध्यात्म भी बहुत पूर्व से मानव को एकत्व मे बाँधता आया है। यद्यपि आज उसके अनेक भेद-प्रभेद हो गये है, फिर भी मौलिकता की दृष्टि से शाश्वत तत्त्व सबके एक है। व्याख्या-भिन्नता ने अध्यात्म मे समय-समय पर नई रोशनी प्रस्फुटित की है, विभिन्न धार्मिक क्रान्तियों का आधार भी यही रहा है। जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, यहूदी, ईसाई आदि न जाने कितने छोटे-बडे धर्म सघो का अस्तित्व हमारे सामने है, जो विचारो की प्रौढता लेकर चले और उन्होने आगे के लिए भी सामूहिक रूप मे विचार-परिवर्तन का मार्ग प्रस्तुत किया।

संकल्प और विचार

इस तरह हम पाते है कि हर क्षेत्र मे सुधार अथवा क्रान्ति का मूल विचार ही रहा है। यद्यपि कुछ शक्तियाँ ऐसी भी है जो विचारो से पूर्व जन्म लेती हैं और मनुष्य को कार्य प्रवृत्त करती हैं। पर उनमे जब तक वैचारिकता का योग नहीं हो जाता, तब तक वे अपने रूप को निर्णीत अथवा सुव्यवस्थित नही कर पाती। मान लीजिये किसी बालक ने मिठाई देखी और उसे सहज भाव से मुँह मे रख लिया। उसे वह मीठी लगी, अत उस वस्तु के विषय मे उसके मन मे एक सकल्प ने जन्म लिया। अब वह जब कभी वैसी वस्तु देखता है, तब उसी सकल्प के बल पर उसे खाने को ललचाने लगता है। आगे चल कर वह सकल्प दृढ से दृढतर होता जाता है। इस उदाहरण मे जहाँ यह ज्ञात होता है कि पहले-पहल सहज भाव से किये गए कार्य द्वारा सकल्प उत्पन्न होता है, वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस सकल्प को सुव्यवस्थित करने के लिए विचार की नितान्त अपेक्षा है। बालक जब सकल्प—सस्कारो से प्रेरित होकर मिठाई खाने को ललचाता है, तब प्रत्येक बार उसके मन मे उस वस्तु के प्रति कुछ-न-कुछ अव्यक्त विचार भी जमते रहते हैं। जब वह अधिक स्पष्ट विचार करने मे समर्थ होता है, तब उस सस्कारजन्य प्रक्रिया मे अनेक परिवर्तन करने लगता है। कौन-सी मिठाई खानी चाहिए, कितनी खानी चाहिए, कब खानी चाहिए ? इन सबका निर्णय वह अपनी विचार शक्ति के आधार पर ही करता है। सकल्प-सस्कार मनुष्य के लिए उस जगल के समान उगते है, जो किसी व्यवस्था के अभाव मे हर किसी प्रकार की आकृति ग्रहण कर लेते है। विचार उन्हे सुन्दर उद्यान का रूप देता है जो कि काट-छाँट कर सुव्यवस्थित रूप से लगाया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि यहाँ सुधार और क्रान्ति के मूल की बात प्रस्तुत है न कि सस्कारो के उद्भव सम्बन्धी प्रक्रिया की। इस स्थिति मे विचारो की मौलिकता स्वय सिद्ध है। कोई भी सुधार अथवा क्रान्ति उनके अभाव मे असम्भव है। मूल के बिना वृक्ष की कल्पना ही कैसे की जा सकती है!
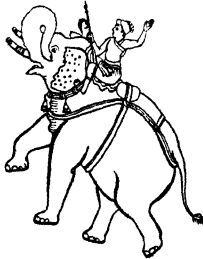
नैतिक संकट

श्रीकुमार स्वामीजी
नव कल्याण मठ, धारवाड़ (मैसूर राज्य)

बकल ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन' में एक पूरा अध्याय इस बात की वकालत में लिखा है कि प्रगति का मुख्य कारण बौद्धिक है न कि नैतिक। वह नैतिक कारणो के प्रभावो को इस आधार पर न्यूनतम बताता है कि नैतिकता के महान् सत्य स्पष्ट रूप से पहचान लिये गए है और दीर्घ काल से अपरिवर्तित रूप मे विद्यमान हैं। पृ० १३७ पर वह लिखता है, "जिन महान् मतों और सिद्धान्तो से नैतिक प्रणालियो का गठन हुआ है, उन प्रणालियो से ससार मे न्यूनतम परिवर्तन हुआ है और यह एक निर्विवाद तथ्य है। दूसरो की भलाई करो, उनके हित मे अपनी कामनाओ-इच्छाओ का बलिदान कर दो, अपने पड़ोसी से अपनी भाँति प्रेम करो, शत्रुओ को क्षमा कर दो, वासनाओ पर नियन्त्रण रखो, माता-पिता का आदर करो, जो तुम्हारे ऊपर है उनका सम्मान करो, ये तथा अन्य कुछ नैतिकता के एकमात्र सार हैं, परन्तु ये हजारों वर्षों से ज्ञात हैं और नैतिकतावादियों और धर्मतत्त्वज्ञो ने जितने प्रवचन, धर्मोपदेश और ग्रन्थ तैयार किये हैं उन्होने इसमे लेशमात्र भी वृद्धि नही की।" बकल ने जिस उद्देश्य से यह टीका-टिप्पणी की है, वह कितनी अपर्याप्त है, यह स्वय स्पष्ट है। नैतिक सत्य चाहे हजारो वर्षों से ज्ञात हो, फिर भी क्या उनका पालन भी उतने ही उत्साह से किया गया है। यदि सदियो मे सामान्य सिद्धान्त स्वीकार किये जाते रहे हैं तो क्या उनके विशिष्ट प्रयोग को लेकर किसी प्रकार के विवेक का विकास नही हुआ? नैतिकता के विवरण के बारे मे बकल का यह उद्धरण नितान्त अपूर्ण है।

नैतिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन का मुख्य कारण विकासवाद का सिद्धान्त है। डार्विनवाद की आचारशास्त्र पर मुख्य रूप से दो प्रकार से प्रतिक्रिया हुई है और यद्यपि इन दोनो विचार-शैलियो की प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के विरोधी हैं, फिर भी प्राय. एक ही लेखक नैतिक अविश्वास उत्पन्न करने के लिए दोनो का उल्लेख करता है और दुहाई देता है। प्रथम है—परार्थवादी आचारशास्त्र और अस्तित्व के लिए सिद्धान्तो मे सुपरिचित विरोध। टैनिसन के अनुसार प्रकृति उन नैतिक नियमो के विरुद्ध आक्रोश प्रकट करती है, जिन्हे बकल ने न केवल स्थिर माना है, निश्चल भी माना है। हक्सले ने हमारे सामाजिक आदर्शों और सगठनो को ब्रह्माण्ड सम्बन्धी प्रक्रिया की एक प्रकार की अवज्ञा माना है। मानव उन आचार-सम्बन्धी उद्देश्यो का अनुसरण करता है, जिनकी प्रकृति पुष्टि नही करती। इसलिए नैतिकता अप्राकृतिक है, विश्व में एक छोटा-सा मानव-प्रदर्शन है और विश्व इसकी रत्ती भर भी चिन्ता नही करता। दूसरी विचारधारा ब्रह्माण्ड-संघर्ष में परार्थवादी नैतिक सिद्धान्तों को भी मान्यता प्रदान करती है। हेनरी ड्रमंड अस्तित्व के सघर्ष मे मातृ-प्रेम के महत्त्व को एक तथ्य रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोपाटकिन ने उसी संघर्ष में सहयोग की नीति पर जोर दिया है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि विकासवाद में सदाचार आदि अन्य गुणो को भी स्थान है। परन्तु इस प्रकार मातृ-प्रेम और पड़ौसी-भाव को जो मान्यता प्रदान की जाती है, आखिर वह समूल विनाश के बाद प्राप्त विजय है। क्योंकि वे चरम धर्म नहीं है। वे अब भी आत्म-रक्षण की भावना की अधीनस्थ भावनाएं हैं। वे अपने-आप में भली वस्तुएं नही हैं, अपितु इसलिए ठीक हैं, क्योंकि वे व्यक्ति या वर्ग के जीवन-धारण में सहायक होते हैं। इस दृष्टिकोण से सभी नैतिक नियम और व्यवस्थाएं सापेक्षित हो जाती हैं। विकासवाद को पहले यह सिद्ध करना है कि हमारी आचार व्यवस्थाए और आदर्श अप्राकृतिक हैं और इस प्रकार केवलमात्र आत्म-निष्ठ हैं अथवा केवलमात्र हमारे अपने हैं; और दूसरी बात यह है कि वे नितान्त स्वाभाविक हैं और अस्तित्व के संघर्ष का परिणाम हैं, इस प्रकार विशुद्ध सापेक्ष है। इनमें से किसी भी स्थिति में हम

नैतिक अविश्वास के क्षेत्र मे पहुँच जाते है।

बर्ट्रेण्ड रसेल श्रेयस् के मानवी आदर्शों को प्रकृति की उपेक्षा या विरोध भाव की स्पष्ट आशका के साथ प्रकटन आरम्भ करता है। 'मिस्टिसिज्म एण्ड लाजिक' की भूमिका मे वे लिखते है कि वे हिताहित की वास्तविकता के बहुत अधिक कायल नही है। इसी ग्रन्थ मे वे इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस प्रकार की भावनाए मानव वर्गों के अस्तित्व और सत्ता के सघर्ष से उत्पन्न होती है। वे विशुद्ध रूप से मानव इतिहास का अग है और बाह्य वास्तविकता की प्रकृति पर कोई प्रकाश नही डालती। वे बहुत गहरी सहज-प्रवृत्तियो और चलायमान अस्थायी इच्छाओ का परिणाम है। रसेल के विचार से जीव-विज्ञान-सम्बन्धी उद्देश्यो की पूर्ति के लिए समाज आचार शास्त्रीय धारणाए बनाता है और उन्हे लागू करता है। वे अस्थायी है, इसलिए उनका सशोधन किया जा सकता है। उसका यह भी कहना है कि यूथचारी पशु अपने यूथ के हितो को न्याय के सामान्य सिद्धान्तो के साथ समझता है। अर्थात् सामान्य सिद्धान्त यूथ-वृत्ति की नैतिकता से स्वतन्त्र रूप मे विद्यमान रहते हैं और परिणामत उन्हे यूथ-वृत्ति की नैतिकता मे न तो ढूंढा जा सकता है और न उनकी इससे व्याख्या की जा सकती है। यूथ-वृत्ति की प्रेरणाओ और आचार-सम्बन्धी सही भावनाओ के बीच जो बडी दरार है, वह स्पष्ट है और दोनो परस्पर असबद्ध है। यदि आचार-नीति केवल हमारी वर्तमान इच्छाओ और भावनाओ का ही परिणाम है तो श्रेयस और काव्य मे अन्तर करने मे हम कैसे समर्थ हो सकते है ? यदि आचार-नीति अपनी प्रकृति और अपने स्रोत की दृष्टि से हमारी नैसर्गिक कामनाओ से पृथक् नही है तो विवेकपूर्वक भावनाओ और वासनाओ पर आवरण डालना असम्भव हो जायेगा। यह स्पष्ट है कि आचार नीति केवल नैसर्गिक प्रवृत्ति का परिणाम नही है।

परन्तु बर्ट्रेण्ड रसेल का सम्पूर्ण सामाजिक दर्शन एक ऐसी निष्ठा की वकालत करता है, जिसमे अलौकिकत्व का पुट है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन' का एक अन्तिम उत्कृष्ट उद्धरण देखिये—'ससार को एक ऐसे दर्शनशास्त्र अथवा धर्म की आवश्यकता है जो कि जीवन को आगे बढा सके। पर इस जीवन-प्रवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि केवल जीवन के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का महत्त्व भी समझा जाये। केवल जीवन के लिए जीवन पशु-जीवन है, जिसका कोई वास्तविक मानवी मूल्य नही है, जो कि मनुष्य को दुख और असारता की भावना से सदा के लिए मुक्त रखने मे असमर्थ है। यदि जीवन को पूर्ण मानवी बनना है तो इसे किसी उद्देश्य मे कार्य करना चाहिए, ऐसा उद्देश्य जो कि कुछ अर्थों मे मानवी-जीवन से बाहर का हो, जो कि अवैयक्तिक हो और मानवता से ऊपर हो। उदाहरणार्थ—भगवान् अथवा सत्य अथवा सौन्दर्य। जो लोग जीवन को सर्वोत्तम ढग से आगे बढाते है, उनका जीवन अपने प्रयोजन के लिए नही होता। इसकी बजाय उनका उद्देश्य होता है जो कि क्रमिक अवतरण प्रतीत होता है, हमारी मानवी सत्ता मे कुछ ऐसी वस्तु उतरती है जो कि शाश्वत है, कुछ ऐसी वस्तु जो कि स्वर्ग मे वास करती प्रतीत होती है और वह सघर्ष, असफलता और काल के सर्वभक्षी जबडो से बहुत दूर है। इस शाश्वत विश्व के साथ यह सम्पर्क शक्ति प्रदान करता है और मौलिक शान्ति प्रदान करता है, ये शक्ति और शान्ति हमारे ऐहिक जीवन के सघर्षो और प्रकट असफलताओ मे भी नष्ट नही हो सकती।'

मनुष्य जब समुदाय मे रहता है तो उसे सबके हित मे बहुत से स्वार्थपूर्ण मनोवेगो को दबाना पडता है। युद्ध के समय अपने कैम्प की रक्षा के लिए नियत सतरी को रात के समय सबके हित को ध्यान मे रखते हुए अपनी सोने की इच्छा का बलिदान करना पडता है। इस प्रकार कर्तव्य का उदय होता है, यह कार्य प्राय रुचि के विपरीत होता है, परन्तु समुदाय या वर्ग के हित मे उस कार्य की पूर्ति की आशा की जाती है। व्यक्तिगत जीवन मे इस कर्तव्य भावना का अनुभव करना पडता है, यह भावना लोकमत की पसन्दगी अथवा नापसन्दगी से पैदा होती है, जिसमे या तो समाज से अथवा भगवान् से मिलने वाले दण्ड का भय रहता है अथवा पुरस्कार प्राप्त होने की भावना रहती है। कानून और शासन सत्ता के दण्ड के भय से मनुष्य कहता है, 'यह करना ही है', परन्तु जब इस बाह्य दण्ड विधान और लोकरुचि अथवा अरुचि की चेतनता के साथ मानव की मूल प्रकृति के अन्तर्गत नैसर्गिक सहानुभूति और प्रेम भावना भी जुड जाती है तो 'यह करना ही है' 'करना चाहिए' मे बदल जाता है। अन्तत एक चरित्र उभरता है, जिसका अभिप्राय होता है कर्तव्य के अनुकूल आचरण के लिए किसी व्यक्ति पर निर्भर किया जा सकता है, अर्थात् वे ही कार्य किये जाते है, जिन्हे ठीक समझा जाता है और उनसे बचा जाता है, जिन्हे ठीक नही माना जाता। इसी मार्ग मे ही मनुष्य स्वतन्त्र नैतिक कर्त्ता बन पाता है;

जब यह नैतिक व्यवहार सामाजिक नैसर्गिक प्रवृत्तियों का स्थान ले लेता है तो यह विकास की दिशा मे एक जोरदार कदम का आगे बढ़ना है। इस प्रकार जब तर्कशील प्राणी क्रियाकलापों की उपयुक्तता के बारे में सोचना शुरू करता है और उच्च मूल्यों की वस्तुओं को चुनना शुरू करता है तो माता पृथ्वी पर चारित्रिक मूल्यो के नये वर्ग का अवतरण होता है। तब स्वतन्त्र व्यक्तित्वो का जन्म होता है, जिन्हें अधिकार और कर्तव्य दोनो का पूर्ण बोध होता है, जो जीवन के मूल्यो मे भेद कर सकते हैं और स्वतन्त्र रूप से चुनाव कर सकते हैं। प्रथम बार यह चरित्र बनना सम्भव हो पाता है, जिस पर भारतीय दार्शनिक बहुत बल देते हैं और कहते हैं विश्व में चरित्र अथवा सद्भाव से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।

भारतीय दर्शन की सभी पद्धतियाँ आध्यात्मिक उपलब्धियो के उपक्रम के लिए आचार की तैयारी पर जोर देती हैं। योगशास्त्र यम-नियम के पालन का आदेश देता है। यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आते हैं, इन्हें महाव्रत कहा जाता है। इन सबमे मुख्य है—अहिंसा और सभी गुण इसमें समा जाते हैं, ऐसा कहा जाता है। नियम हैं—बाह्य और अन्त: शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान। मूल सहज वृत्तियाँ नियन्त्रित करने के लिए योग तीन मार्ग बनाता है और वे हैं : निराकरण, स्थानापत्ति और उन्नयन। प्रथम के अनुसार जब कभी अवाछनीय मनोवेगों से मन आक्रान्त होता है तो यह उन्हें बाहर निकालने का अथवा उनके निराकरण का प्रयत्न करना है। बाद मे जब कभी किसी विशिष्ट आवेग की प्रबल धारा प्रवाहित होती है तो उसके प्रभाव को समाप्त करने के लिए मन एक अन्य विरोधी आवेग से उसे स्थानान्तरित करता है। योग का चरम लक्ष्य है—हमारी प्रकृति के तत्त्व का पूर्ण रूपान्तर कर देना।

सभी नैतिक व्यवहारो का उद्देश्य है, ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमे प्रत्येक वर्ग के सदस्य को अपने कार्यों के लिए समुचित क्षेत्र उपलब्ध हो और वर्तमान तथा भावी पीढ़ी के किसी भी वर्ग के अन्य सदस्य के इसी प्रकार के अधिकार का बिना उल्लंघन किये आत्म-प्रत्यक्षीकरण का पूर्ण अवसर प्राप्त हो। इस स्थापना से समाज की सुव्यवस्थित एकता, चारित्रिक मूल्यो की सर्वोच्चता और समाज मे व्यक्ति के आत्म-प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्त की स्थापना मे बहुत अधिक सहायता मिलती है। इस बात की सम्भावना है कि हम कुछ समय बाद चारित्रिक मूल्यो पर अधिकाधिक जोर दे, इसका कारण यह है कि संसार मे लोगो की भीड़ बढ़ती जा रही है, भौगोलिक विस्तार अब सम्भव नहीं है, प्रत्येक महाद्वीप में राष्ट्रो की भीड़-भाड़ हो गई है और एक-दूसरे के साथ शान्ति और मेल-मिलापपूर्वक एक साथ रहना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। राष्ट्र एक-दूसरे के साथ धक्का-मुक्की कर रहे हैं और राष्ट्रों के अपने अन्दर विभिन्न दल एक-दूसरे के साथ उलझ रहे हैं। युद्ध के समय अथवा गृह-संघर्ष अथवा राजनीतिक उथल-पुथल के समय उन मूल्यों के विकास का लगभग अवसर नहीं होता, जिनकी आत्म-प्रत्यक्षीकरण के लिए आवश्यकता होती है—वे मूल्य बौद्धिक, सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न (सुरुचिपूर्ण) और विनोदात्मक होते हैं। लोगों और राष्ट्रो का मेल-मिलाप के साथ रहने का एकमात्र रास्ता है—चारित्रिक मूल्यों को अपना लेना, अर्थात् सहयोग, न्याय, कानून के प्रति आदर भावना, आत्म-संयम और आत्म-निग्रह को ग्रहण कर लेना। हमारे आधुनिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे अनेक परिस्थितियाँ इस प्रकार मिल-जुल गई हैं कि उत्तरदायित्व की भावना ढीली पड़ गई है और व्यक्ति की अपने ऊपर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पूरी तरह अनुभव नहीं की जाती।

अब प्रश्न उठ खड़ा होता है जबकि अपराधी कानून की पकड़ से बच निकलते हैं, जबकि लोकमत उपेक्षाभाव बरतने लगा है, जबकि भावी जीवन में विश्वास की भावना शिथिल हो गई है तो समाज का क्या बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। उन यूथचारी पशुओं का क्या होगा यदि उनकी सहज वृत्तियाँ काम करना बन्द कर दें? यह वर्ग अथवा सम्पूर्ण वर्ग का वर्ग समाप्त हो जायेगा। जिन आदिम लोगों मे सामाजिक नैतिकता खत्म हो गई, उनका क्या हुआ? वह वर्ग या तो बिल्कुल समाप्त हो गया अथवा उन पड़ौसी वर्गों मे लीन हो गया जिनकी नैतिकता समाप्त नहीं हुई थी। यदि आचार सम्बन्धी कानूनो का, जिन्हें अनुभव से सामाजिक कल्याण के उपयुक्त पाया गया है, पालन बन्द हो जाये तो हमारे आधुनिक सामाजिक वर्गों का क्या बनेगा? परिणाम सामाजिक विघटन होगा। जब तक समाज का हृदय अदूषित और स्वस्थ है, अपराधियों की उपयुक्त व्यवस्था की जा सकती है; परन्तु जब सम्पूर्ण समाज ही भ्रष्ट हो जाये तो सामाजिक संगठन का असफल हो जाना अनिवार्य है। यह हमारी अपनी सभ्यता के सम्भावित भविष्य को भी सीधा प्रभावित करेगा।

हमारे अत्यधिक जनाकीर्ण आधुनिक राज्यों जैसी स्थिति इतिहास मे हमे उपलब्ध नही है। पुराने जमानो मे जब सामाजिक नैतिकता का पतन होता था, तो सुदृढ और शक्तिशाली पुरुष उस समय नये रक्त का सचार करते थे और कठोर अनुशासन स्थापित करते थे। यदि अब सामाजिक नैतिकता का पतन हो जाये, यदि स्वस्थ जीवन बिताने के नियमो की उपेक्षा का सामान्य चलन हो जाये, तो भावी अन्धकारपूर्ण युगो को नये और अच्छे युग मे परिवर्तित करने के लिए बीज विद्यमान हैं? मुझे भय है कि यह पुनरुज्जीवन बहुत मन्द होगा।

परन्तु सामाजिक नैतिकता के पतन की सम्भावना नही है। क्योकि समाज को पुनरुज्जीवन प्रदान करनेवाली ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जो कि पहले जमानो मे अज्ञात थी। दो महायुद्धो के बाद से निस्सन्देह सामाजिक नैतिकता का स्तर बहुत नीचे आ गया है। यह ससार अपव्ययियो और घूँसखोरो, स्त्रियो के लुटेरो, कानून तोडने वालो, घरो को नष्ट करने वालों, शान्ति और न्याय के विरोधियो से भरा पडा है। परन्तु एक नई सामाजिक चेतना का उदय हो रहा है। व्यक्तियो मे, वर्गों मे और राज्यो मे, पारस्परिक सम्बन्धो के बारे मे नये मूल्यो और दृष्टियो का आविर्भाव हो रहा है। इस बात मे कोई इन्कार नही कर सकता कि ससार की नैतिक प्रगति मे सकट उत्पन्न हो गया है। परन्तु यह सकट अनिवार्य है, ऐसा निश्चितता से नही कहा जा सकता। राष्ट्रो की प्रतिद्वन्द्विता और वर्ग सघर्ष से ऊपर, युद्ध मे उत्पन्न घृणा सन्देह और भय से ऊपर एक चिन्तनप्रधान विचारणा है जो कि मन्द परन्तु असदिग्ध रूप से जीने के अधिक प्रशस्त मार्ग का दर्शन करा रही है। ऐसे हजारो सच्चे स्त्री-पुरुष है जो कि स्पष्ट रूप से यह समझते हैं और ऐसे कुछ महान् नेता हैं जो कि यह देख रहे है कि प्रगति का मार्ग धार्मिकता, न्याय और सहयोग मे निहित है।

एक साधन है जोकि नैतिक कानूनो की कठोरता को कुछ कम करने के लिए उपयुक्त पाया गया है और वह है धर्म। सभी युगो मे धर्म ने कुछ अशो मे इस बोझ को कम किया है, अनाचरण के परिणामो को मिटाकर नही बल्कि सदाचरण को सोद्देश्य बना कर। कर्तव्य का कठोर मार्ग प्रेम और निष्ठा से नरम पड जाता है। परिणाम से बचा नही जा सकता, परन्तु कठोर कर्तव्य के कारण जो कठिनाई होती है और बोझ प्रतीत होता है वही स्वेच्छापूर्वक अपनाई गई निष्ठा से आनन्द का कार्य बन जाता है। धर्म सिखाता है कि विश्व मे बन्धुत्व विद्यमान है, भगवान् प्रेम है, प्रतियोगिता के नियम से सहयोग का नियम अधिक आन्तरिक और गहरा है, परार्थवाद उतना ही मौलिक है, जितना स्वार्थवाद। यह हमे सिखाता है कि सदाचार के लिए हमारे सघर्ष मे विश्व अपनी आध्यात्मिक आन्तरिकता के साथ हमारे पक्ष मे है, इस प्रकार सघर्ष व्यर्थ नही है। जब ये आध्यात्मिक शक्तियाँ हमारी आँखो के सामने विचरने वाले किसी नेता मे अवतरित होती हैं अथवा उसके व्यक्तित्व का अग बन जाती हैं तो निष्ठा अपनी परिपूर्णता प्राप्त कर लेती है और तब बडे-बडे कार्य किये जा सकते हैं। जब इस प्रकार का नेता प्रकट नही होता तो इस बारे मे शिक्षण देना अनिवार्य है, क्योकि जन-सामान्य को या तो प्रकाश मिलना चाहिए अथवा नेता।

आचार्यश्री तुलसी के इस धवल समारोह के अवसर पर मुझे न केवल प्रसन्नता हो रही है, अपितु नैतिकता के पुन प्रवर्तक, अणुव्रत के नेता और उच्च-स्थिति के इस सत को श्रद्धाजलि अर्पित करने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ है। भगवान् आचार्यश्री तुलसी को अपना मगलमय आशीर्वाद दे।

समाज का आधार : नैतिकता

श्रीमती सुधा जैन, एम० ए०

नैतिकता के अभाव मे मनुष्य पशु ही है। नैतिकता से हीन समाज की यदि हम कल्पना करे, तो वह अफ्रीका के हब्शियों और संसार की असभ्य जंगली जातियो जैसी ही होगी। हमारे पूर्वजो ने समाज के लिए, मनुष्य के सभ्य होने के लिए नैतिकता को आवश्यक समझा, इसीलिए नीति और नियमो का विधान किया। विश्व का इतिहास खोलकर हम देखे, तो जब-जब भी मानव ने नैतिकता की उपेक्षा की, वह बर्बर और पशु बन गया, उस समाज की जडे खोखली हो गई तथा वह देश दुःख-दर्द का साम्राज्य बन गया।

हमारे देश मे भी आज अनैतिकता का बोलबाला है। स्वतन्त्र भारत मे भौतिक रूप से चाहे कितनी भी उन्नति हो रही हो, नित नवीन कलों और बाँधो का निर्माण हो रहा हो, पर नैतिकता का भी कोई मूल्य है, इसको तो भारतवासी भूलते ही जा रहे हैं। क्या व्यापार मे, क्या राजनीति मे, शिक्षा-सस्थाओं मे या सामाजिक सस्थाओ मे, कही ईमानदारी का नाम नहीं सब ओर बेईमानी, झूठ, धोखे का बोलबाला है।

अनैतिकता के कारण

समाज में फैली इस अनैतिकता के आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, कितने ही कारण हैं। देश मे दरिद्रता है। विशेषकर मध्यम श्रेणी के परिवारो का बुरा हाल है। आय कम है और खर्च अधिक। रोजमर्रा की जरूरतें भी वे पूरा नहीं कर सकते। बेकारी की अलग बड़ी समस्या है। भूखा और परेशान मनुष्य बेईमानी करने के लिए मजबूर हो जाता है। समाज के अमीर और शान-शौकत मे रहने वालो को देख-देखकर उसकी नैतिकता डोल जाती है और जिनके पास बहुत धन है, तथा करने को कुछ काम नही वे धन का दुरुपयोग करते हैं बुरे-बुरे व्यसनो मे। दफ्तरो के क्लर्क ज़रा-ज़रा से काम के लिए रिश्वत माँगते हैं। यह भी उनकी आमदनी का एक जरिया है। समाज मे ऊपरी टीपटाप और दिखावे को इतना महत्त्व दिया जाने लगा है कि मनुष्य इस ऊपरी टीपटाप पर ही सबसे अधिक खर्च करना चाहता है। यह दिखावे की भावना मनुष्य की बेईमानी से और अधिक-से-अधिक पैसा कमाने के लिए मजबूर करती है। व्यापारी, हर वस्तु में मिलावट करते हैं लोगों को धोखा देते हैं, उनकी आँखो मे धूल झोकते हैं और ग्राहक है कि दुकानदार की आँख बची और माल गायब कर लेते हैं, कितनी चरित्रहीनता है।

योग्यता की तो आज कहीं पूछ नहीं रह गई। इज्जत उसकी है, जिसके पास जितना अधिक धन है। बड़े-बड़े पदो पर वे रखे जाते हैं, जिनकी बड़े आदमियों तक पहुँच है, चाहे वे उस पद के योग्य हो या न हों।

इन आर्थिक, सामाजिक, कारणो के अतिरिक्त अनैतिकता का एक बडा कारण भौतिकवाद की उन्नति और अध्यात्मवाद की उपेक्षा है। भौतिक विज्ञान ने मनुष्य से आस्था और श्रद्धा छीनकर बदले में उसे तर्क दिया है, नैतिकता की उपेक्षा कर भोगवाद का पाठ पढ़ाया है। आस्था नहीं तो धर्म नहीं। धर्म तो तर्क से दूर आस्था और श्रद्धा की चीज है। और धर्म गया तो नैतिकता कहाँ से रह सकती है? धर्म कहता है—वासनाओं पर—इच्छाओ पर सयम करो, और विज्ञान कहता है, भोगो और भोगो, वासनाओं और इच्छाओं को पूरा करो और यह वासनाओं को भोगने की मनोधारा ही मनुष्य को अनैतिक होने के लिए प्रेरित करती है।

राजनैतिक वातावरण इतना गन्दा है कि एक नहीं बीसियों पार्टियाँ—उनका आपस मे इतना झगड़ा कि

जनता में राष्ट्र-प्रेम की भावना तो बिल्कुल ही समाप्त हो गई। जनता को सरकार से कोई लगाव नहीं। कोई भी सरकारी चीज हो जनता की भावना रहती है कि होने दो इसे व्यर्थ व्यय—लूटो खूब लूटो—यह तो मुफ्त का माल है। पर वे ये भूल जाते हैं कि सरकार का पैसा तो जनता का पैसा है, जो कि जनता से ही टैक्सो आदि के रूप मे प्राप्त किया जाता है।

अनैतिकता कैसे दूर हो !

विद्या-केन्द्रो में धर्म सम्बन्धी शिक्षा अनिवार्य कर दी जावे। विद्यार्थियो को अन्य विषयो की शिक्षा के साथ-साथ नैतिकता का भी पाठ पढ़ाया जाये। उन्हे जीवन मे नैतिक मूल्यो की उपयोगिता समझा दी जाये। विद्यालयो मे ही देश के भावी कर्णधार गढे जाते हैं, वहीं उनके मस्तिष्क का निर्माण-कार्य होता है, अत जो कुछ वे वहाँ सीखेंगे, उसकी छाप जीवन-भर उनके साथ रहेगी।

इसके अतिरिक्त नैतिकता का प्रचार होना चाहिए। ऐसी सस्थाए हो और उनमे ऐसे प्रचारक हो जो बडे प्रेम से लोगों के मन में घर की हुई अनैतिक भावनाओ को निकालकर नैतिक मूल्यो को बसाए। मनुष्यो के मन से अनैतिकता दूर हुई कि वह समाज से, राष्ट्र से सब जगह से दूर हो जायेगी।

अणुव्रत का नैतिकता में योग

अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही धार्मिक सस्था या अहिसक क्रान्ति है, जिसने देश मे फैली अनैतिकता को बहुत कुछ दूर किया है और कर रही है। आचार्य विनोबा के भूदान-यज्ञ की तरह यह भी प्रेम और सहिष्णुता का आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत यज्ञ है, जो कहता है, 'आओ ! आओ ! अणुव्रत की इस पावन अग्नि मे अपने मन के मैल—अनैतिकता को भस्म कर दो। यहाँ कोई कठोरता नही, जोर जबर्दस्ती नही।' देश के कोने-कोने मे फैले हुए साधु-साध्वी गृहस्थो को नैतिकता का पाठ दे रहे हैं। वे यह नही कहते कि तुम घर-द्वार छोडकर हमारी तरह सन्यासी बन जाओ, वरन गृहस्थ मे रहते हुए सत्य, अहिसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का यथासाध्य पालन करो। लगभग बारह वर्ष से आचार्यश्री तुलसी और उनका देश व्यापी सघ जागरण के इस महान् यज्ञ को प्रज्वलित किए है। आशा है आचार्यश्री तुलसी की यह भावना सफल होगी और देश मे फैली अनैतिकता दिन-प्रतिदिन दूर होगी।

भगवान् करे आचार्यश्री शतायु हो और उनका सघ चिरजीवी।

दर्शन और परम्परा

जैन धर्म के कुछ पहलू

डा० लुई रेनु, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, भारतीय विद्याध्ययन-विभाग; संस्कृत-प्राध्यापक, पेरिस-विश्वविद्यालय

भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों में बहुत अधिक विभिन्नता है। इस क्षेत्र में जैन धर्म का मौलिक स्थान है। उसके महत्त्व और सामाजिक आशय को भारत की सीमाओं के बाहर भी समझने की अधिक आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख मे जैन धर्म के कुछ मौलिक पहलुओं की चर्चा की गई है।

जैन साहित्य

जैन साहित्य जितना विशाल है, उतना ही विविध है। वह केवल कर्मकाण्ड और सिद्धान्तो की ही चर्चा नहीं करता, अपितु उसमे सभी दृष्टिकोणो का समावेश है। जैन साहित्यकारो की कल्पना-शक्ति असाधारण है। उन्होने ऐसी उद्बोधक कथाओं की रचना की है, जो भारतीय विद्वानो की रचनाओ मे सर्वोत्तम है। भारतीय साहित्य सामान्य रूप से अत्यन्त समृद्ध है और इस क्षेत्र में तो अत्यधिक ही कल्पनाशील है।

जैन दर्शन

साहित्यिक क्षेत्र की विस्तृत चर्चा न करते हुए, यहाँ धार्मिक व दार्शनिक क्षेत्र को मुख्य रूप से परखा गया है। विश्व-विज्ञान और विश्व-रचना के क्षेत्र मे जैन दर्शन का विस्तृत वर्णन विशेषत: हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उन्होने आकाश को अनन्ततया विस्तृत माना है। विश्व के आकार-प्रकार का जो विस्तृत और व्यापक चित्र उन्होने खींचा है, वह अत्यन्त ही रोचक है, जैन कर्मकाण्ड, नर्क-शास्त्र और नीति-शास्त्र की भाँति यहाँ पर भी हमे वर्गीकरण और उप-वर्गीकरण की सूक्ष्म वृत्ति दिखायी देती है।

जैन धर्म के अनुसार जो अनादि काल व्यतीत हो चुका है, उसमे चौबीस तीर्थंकर प्रत्येक काल मे हुए है। ये तीर्थंकर सर्वज्ञ थे और मनुष्यों को सही मार्ग दिखलाने वाले थे। इन धार्मिक महापुरुषो और तीर्थ-स्थापकों का जीवन एकान्तमय नहीं था, अपितु इनका जीवन-चरित्र भी महान् सम्राटो और वीरो की जीवन-गाथाओ से सम्बन्धित था। अन्य धर्मों और परम्पराओं मे प्राग्-ऐतिहासिक वर्णनों का जो अभाव मिलता है, जैन परम्परा मे उस काल का अत्यन्त विस्तृत इतिहास उपलब्ध होता है। वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। इन तीर्थंकरो की जीवन-परम्परा में उत्तरोत्तर असाधारण उदाहरण प्राप्त होते हैं।

विश्व-मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार विश्व का आकार एक दीर्घकाय पुरुष-जैसा है, जो अपने पैरों को विस्तृत कर तथा हाथो को कटि पर रखकर खड़ा हो; अर्थात्—विश्व नीचे से विस्तीर्ण, मध्य में सकीर्ण, पुन: विस्तीर्ण और ऊर्ध्वान्त मे सकीर्ण आकार वाला है। इस पुरुषाकार विश्व में पैर से लेकर कटि तक का भाग अधस्तन विश्व है, कटि का भाग मध्य विश्व है और कटि से ऊपर का भाग ऊर्ध्व विश्व है। इस वर्णन में जैन दार्शनिकों की विचार-शक्ति का अनुपम उदाहरण हमें उपलब्ध होता है।

अणु और ब्रह्माण्ड के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे जहाँ अन्य दर्शनो मे केवल स्थूल चित्रण मिलता है, वहाँ जैन दर्शन के इस विश्व-चित्रण मे यह सम्बन्ध सूक्ष्मतया वर्णित किया गया है। जैन दर्शन मे काल के बृहत् मानो—कल्पो के विषय मे मौलिक प्रतिपादन उपलब्ध होता है। चक्र के समान काल की गति मानी गई है, जिसमे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम के दो विभाग होते हैं। इस विषय मे भी साकार कल्पना प्रस्तुत की गई है।

ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा

इस क्षेत्र मे जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद तथा इसकी दो सहायक प्रणालियाँ—नयवाद और स्यादवाद आधुनिक बुद्धिवादियो को भी पूर्णतया सन्तुष्ट करने की क्षमता रखती हैं। स्याद्वाद का अर्थ सन्देहवाद नही, जैसा कि पहले कुछ लोग समझा करते थे, यह तो तत्त्व या वास्तविकता के विधेयात्मक और निषेधात्मक स्वरूप का तार्किक शब्दावलि मे प्रतिपादन है। 'ऑक्सफार्ड' नामक आधुनिक विचारधारा के साथ, तर्क और सिद्धान्त के क्षेत्र मे, स्याद्वाद कुछ अश तक अद्भुत साम्य रखता है।

अन्य भारतीय दर्शनो मे जो एकान्तवाद दृष्टिगोचर होता है, उससे जैन दर्शन सर्वथा मुक्त है। बौद्ध दर्शन ने नित्य द्रव्य का निषेध करके तत्त्व या वास्तविकता को ही क्षणिक बना दिया है, जबकि हिन्दू दर्शन ने ब्रह्म अथवा विश्व-व्यापी एक द्रव्य के साथ तत्त्व को जोड़कर, उसे कूटस्थ नित्य बना दिया है। जैन दर्शन तत्त्व को 'कथचित् नित्य व कथचित् अनित्य' मानता है।

कर्मवाद

जैन दर्शन के कर्मवाद मे भी विचारधारा की सुनिश्चितता उसी प्रकार की रही है, जिस प्रकार वर्णित विषयो मे हम देख चुके है। जब कि सामान्यतया लोग 'कर्म' को एक ऐसा काल्पनिक सिद्धान्त मानते है, जो रहस्यपूर्ण प्रकार से व्यक्ति के भविष्य को निर्धारित करता है, वहाँ जैन दर्शन 'कर्म' को पुद्गल, अर्थात् भौतिक पदार्थ, मानता है। ये कर्म ही अवस्था-विशेष को प्राप्त करके आत्मा को विष की तरह फल देने वाले होते है और तपस्या-विशेष के द्वारा इन कर्मों को उसी तरह दूर किया जा सकता है, जिस तरह औषधि-प्रयोग से विष को, अन्तत एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है, जब ये कर्म सम्पूर्णत आत्मा से विलग हो जाते हैं और आत्मा भी निरोगी अवस्था के समान शक्ति को प्राप्त कर लेती है।

कर्मों के प्रभाव के कारण आत्मा विविध प्रकार के रग-रूपो को धारण-करती है और कर्मों की जितनी विशुद्धि होती है, उसके अनुसार ही आत्मा को उपलब्धि होती है। यह सिद्धान्त मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से भी पुष्ट हो चुका है। मुक्त आत्मा मानो एक प्रकार के समाज को बनाती है, जिसका मुख्य लक्षण पवित्रता है। इस समाज के सभी सदस्य एक समान हैं और तत्वत विशुद्ध हैं, जैसा कि श्री (मासूर) आलिवर लेकोम्बे ने कहा है—"सिद्ध आत्माए सभी पूर्णताओं से युक्त होती हैं, जो औपनिषदिक 'परम ब्रह्म' मे पायी जाती है। ऐसा लगता है, दार्शनिकों ने इन अनन्त स्वतन्त्र इकाइयों (सिद्धात्माओ) मे पूर्णत्व को मानकर, इस विचार को बहुत ही रोचक बना दिया है।

जैन साधना

अपने मन्तव्यो के स्थैर्य के कारण जैन दर्शन शक्तिशाली बना है। इसके साथ-साथ जैन-धर्म के अनुयायियों मे सिद्धान्तो के सक्रिय पालन के द्वारा भी उसको शक्तिशाली बनाने मे प्रमुख सहयोग दिया है। बौद्ध धर्म में केवल साधु-समाज को ही स्थान दिया गया है, जब कि जैन धर्म मे गृहस्थ अनुयायियों को भी समुचित स्थान दिया गया है। वे निश्चित नियमो का पालन करते हैं और आध्यात्मिक उन्नति की विभिन्न अवस्थाओ को अपनाने का उनको साधुओं के समान ही अधिकार दिया गया है। तात्पर्य यही है कि जैन धर्म मे अन्य धर्मों की तरह इस भावना को स्थान नहीं दिया गया है कि धर्म केवल कुछ-एक व्यक्तियो की साधना का मार्ग है। इस दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि धार्मिक साधना के लिए जैन परम्परा मे सयम और ध्यान के सम्बन्ध से विशद विवरण उपलब्ध होता है। तपस्या, जो कि धार्मिक

भारतीय धर्मों में एक प्रकार से निष्क्रिय शक्ति रही है, जैन धर्म में एक सक्रिय और वास्तविक सिद्धान्त के रूप में मानी गई है। जैन दर्शन ने 'तपस्या' के सिद्धान्त में प्राण भर दिये हैं। आचार की दृष्टि से तपस्या का सिद्धान्त इतना कठोर होते हुए भी, जैन धर्म की अहिंसा की विचारधारा उसे असाधारण सौम्यता से अलंकृत करती है। अहिंसा का सिद्धान्त जैन आचार-शास्त्र का मूलभूत नियम है। निस्सन्देह सभी भारतीय विचारकों ने अहिंसा को मान्यता दी है और उसे आचरण में उतारने का प्रयत्न किया है; किन्तु अहिंसा की व्याख्या और साधना जितनी सूक्ष्मता और दृढ़ता के साथ जैनों ने की है, उतनी किसी ने भी नहीं की।

तेरापंथ : जैन धर्म का मूल स्वरूप

जैन धर्म का दर्शन और सिद्धान्त-पक्ष यद्यपि अत्यन्त दृढ़ है, फिर भी काल के बीतने के साथ, जैसा कि अनिवार्यतया होता ही है, उसमें भी विकार और न्यूनताएं आती रही हैं। और यह आवश्यक था कि इनको दूर करने के लिए तथा मूलभूत परम्परा को पुनर्जीवित करने के लिए समय-समय पर प्रयत्न हो। तेरापंथ का आन्दोलन भी ऐसा ही एक उपक्रम था। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि तेरापंथ एक ऐसे समाज का प्रतीक है, जो आज भी तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित आचार-नियमों का दृढ़ निष्ठा के साथ पालन करता है तथा विचारों के प्रति दृढ़ आस्थावान् है। तेरापंथ पूर्णतः मौलिक जैन धर्म है जो आज हमारी आंखों के समक्ष जीवित है और जिसे बिना किसी साधन की सहायता से आज के पूर्णतया आधुनिक युग में पुनर्जीवित किया गया है।

जैन-समाधि और समाधिमरण

डॉ० प्रेमसागर जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत

'समाधि' शब्द की व्युत्पत्ति

समाधीयते इति समाधिः। समाधीयते का अर्थ है—**सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र सः समाधिः**।[1] अर्थात् विक्षेपो को छोड कर मन जहाँ एकाग्र होता है, वह समाधि कहलाती है। 'विसुद्धिमग्ग' मे 'समाधान' को ही समाधि माना है, और 'समाधान' का अर्थ किया है, **एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानम्**[2]—अर्थात् एक आलम्बन मे चित्त और चित्त की वृत्तियो का समान और सम्यक् आधान करना ही समाधान है। जैनो के 'अनेकार्थ-निघण्टु' मे भी **चेतसश्च समाधानं समाधिरिति गद्यते**[3] कहकर चित्त के समाधान को ही समाधि कहा है। 'सम्यक् आधीयते' और 'सम्यक् आधान' मे प्रयोग की भिन्नता के अतिरिक्त कोई भेद नही है। दोनो एक ही धातु मे बने हैं और दोनों का एक ही अर्थ है। चित्त का आलम्बन अथवा ध्येय मे सम्यक् प्रकार से स्थित होना—दोनो ही व्युत्पत्तियो मे अभीष्ट है।

ध्येय मे चित्त की सुदृढ़ स्थिति निरन्तर अभ्यास और वैराग्य पर निर्भर करती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "हे महाबाहो! सच है कि चञ्चल मन को वश मे करना कठिन काम है। पर हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से वह वश मे किया जा सकता है।"[4] योगसूत्र के **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**[5] के द्वारा भी यह तथ्य कि, 'चञ्चल मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य से ही हो सकता है', सिद्ध होता है। जहाँ तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है, वह अभ्यास पर ही निर्भर है।[6] जैन धर्म मे ध्यान के पाँच कारणो मे 'वैराग्य' को प्राथमिकता दी गई है।[7] वहाँ चित्त को वश मे करने के लिए यद्यपि वायु-निरोध की बात को थोथा प्रमाणित किया गया है, तथापि प्राणायाम का अभ्यास कर, मन को रोक कर, चिद्रूप मे लगाने की बात तो कही ही गई है, फिर भले ही मन और पवन स्वयमेव स्थिर हो जाते हो। जैन

---

१ मिलाइये, पातञ्जल योगसूत्र, व्यासभाष्य १।३२, मेजर बी० डी० बसु-सम्पादित, इलाहाबाद, १९२४ ई०

२ आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, कोसाम्बीजी की दीपिका के साथ, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ ५७, बनारस

३ देखिये, धनञ्जयनाममाला, सभाष्य अनेकार्थनिघण्टु तथा एकाक्षरीकोश, १२४वाँ श्लोक, पृ० १०५, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी-सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२

४ असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
—महात्मा गांधी, अनासक्तियोग, श्रीमद्भगवद्गीता भाषा-टीका, ६।३५, पृ० ९२, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली, १९४९ ई०

५ पातञ्जल योगसूत्र, १।१२

६ भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ९०९, बंगाल हिन्दी मंडल, वि० सं० २०११

७ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, १९२वें दोहे की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका, पृ० ३३१, डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३७ ई०

शास्त्रों के अनुसार शुभोपयोगी का मन जब तक एकदम आनन्दघन में अडोल अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता, तब तक मन को वश मे करने के लिए पच परमेष्ठी और ओंकारादि मन्त्रो का ध्यान करना होता है, फिर शनैः-शनैः मन शुद्ध आत्म-स्वरूप पर टिकने लगता है। चौदह गुणस्थानो पर क्रमश: चढ़ने की बात भी अभ्यास की ही कहानी है। शुद्ध अहिंसा तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई है। इस भाँति समूचा जैन सिद्धान्त अभ्यास और वीतरागता की भावना पर ही निर्भर है।[1]

समाधि की तुलनात्मक व्याख्या

ध्यान और समाधि

जैन शास्त्रो मे अनेक स्थानो पर उत्कृष्ट ध्यान के अर्थ मे ही 'समाधि' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'भावप्राभृत' की बहत्तरवी गाथा में 'समाधि' शब्द उत्तम ध्यान का ही द्योतक है।[2] आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सतहत्तरवें, तिरासीवें और एकसौदसवें श्लोको मे समाधि, सातिशयध्यान और शुक्ल ध्यान को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने 'धर्म्य ध्यान' और 'शुक्ल ध्यान' को मोक्ष का हेतु कहकर उनके समाधि-रूप की घोषणा की है।[3] श्री योगीन्दु ने भी 'ध्यान' शब्द का प्रयोग 'समाधि' अर्थ मे ही किया है।[4] पण्डितप्रवर आशाधर ने 'जिनसहस्रनाम' की स्वोपज्ञवृत्ति मे 'समाधिराट्' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—**समाधिना शुक्लध्यानेन केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते**।[5] अर्थात् केवलज्ञान है लक्षण जिसका, ऐसी शुक्ल ध्यान रूप समाधि से जो सुशोभित है, वे ही 'समाधिराट्' कहलाते है। पातञ्जल योगसूत्र मे **ध्यानमेव ध्येयाकारं निर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमेव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते**[6] के द्वारा ध्येयाकार निर्भास ध्यान को ही 'समाधि' कहा गया है। यहां ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम ही समाधि है। समाधि, चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। भगवान् बुद्ध ने 'सम्बोधि-लाभ' करते समय चार ध्यानो की प्राप्ति की थी, 'मज्झिमनिकाय' में इनको समाधि सज्ञा से अभिहित किया गया है।[7] बौद्ध साधना-पद्धति मे 'ध्यान' का केन्द्रीय स्थान है। शील के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति होती है। शास्ता की यह वाणी—"भिक्षुओ, ध्यान करो! प्रमाद मत करो!" सहस्रो वर्षों तक ध्वनित होती रही है। यद्यपि बौद्धो मे ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण नही मिलते; परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के समय से ही अवश्य चली आ रही थी, ऐसा चीनी परम्परा के आधार पर कहा जा सकता है। आचार्य बोधिधर्म ने चीन मे बताया कि ध्यान के गूढ़ रहस्यो का उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्य महाकाश्यप को दिया था, जिन्होने उसे आनन्द को बताया।[8] उपनिषदों मे भी 'उत्कृष्ट ध्यान' को समाधि कहा है। साधारण ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों का पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता रहता है; किन्तु उत्कृष्ट ध्यान मे ध्येय-मात्र ही अवभासित होता है और उसे ही समाधि कहते हैं।

---

१ परमात्म-प्रकाश, पं० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० १०६
२ आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ७२
३ उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ९।२९
४ योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, दूहा १७२, १८७
५ पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति, ६।७४, पृ० ९१ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
६ पातञ्जल योगसूत्र, व्यासभाष्य, ३।३ मेजर बी० डी० बसु-सम्पादित, इलाहाबाद, १९२४ ई०,
७ देखिये, मज्झिमनिकाय, चूलहत्थि, पदोपमसुत्त
८ हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, भाग ४१, संख्या १, पृ० ३८

ध्यान और मन की एकाग्रता

ध्यान मे मन की एकाग्रता को प्रमुख स्थान है। मन के एकाग्र हुए बिना ध्यान हो ही नही सकता। जैनाचार्यों ने **एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्**[1] के द्वारा एकाग्र मे चिन्ता के निरोध को ध्यान कहा है। "अग्र पद का अर्थ है 'मुख', अर्थात् आलम्बन-भूत द्रव्य या पर्याय। जिसके एक अग्र होता है, उसे एकाग्र-प्रधान वस्तु या ध्येय कहते है। 'चिन्ता-निरोध' का अर्थ है—अन्य अर्थों की चिन्ता छोडकर एक ही वस्तु मे मन को केन्द्रित करना। ध्यान का विषय एक ही अर्थ होता है। जब तक चित्त मे नाना प्रकार के पदार्थों के विचार आते रहेगे, तब तक वह ध्यान नही कहला सकता।"[2] अत चित्त का एकाग्र होना ही ध्यान है। योगसूत्र मे भी **तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्**[3] कहकर ध्येय-विषयक प्रत्यय की एकतानता को ध्यान माना है। 'एकतानता' एकाग्रता ही है। बौद्धो के 'मज्झिमनिकाय' मे चार ध्यानो का निरूपण हुआ है और उनमे एकाग्रता को ही प्रमुख स्थान है। गीता के ध्यान-योग मे आत्म-शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता को अनिवार्य स्वीकार किया गया है। चचल मन को एकाग्र किये बिना मनुष्य योगी नही कहला सकता।[4] स्थिरचित्त योगी ही आत्मा को परमात्मा के साथ जोड सकता है अन्य नही।[5] श्री अरविन्द ने 'मन की एकाग्रता' मे उस मन को लिया है जो निश्चय करने वाला और व्यवसायी है, उस मन को नही लिया, जो केवल बाध करने वाला है। निश्चय करने वाले मन की एकाग्रता ही एकनिष्ठ बुद्धि है, जिसका महत्त्व गीता मे स्थान-स्थान पर उद्घोषित किया गया है।[6]

समाधि में ग्राह्य और त्याज्य तत्त्व

जैन शास्त्रो मे ध्यान को चार प्रकार का कहा गया है—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल।[7] यह जीव आर्त्त और रौद्र ही के कारण इस ससार मे घूमता रहा है, अत वे त्याज्य है। भावलिङ्गी मुनि धर्म्य और शुक्ल ध्यान-रूपी कुठार से ससार-रूपी वृक्ष का छेदने मे समर्थ होता है, अत वे उपादेय है।[8] आचार्य उमास्वाति ने भी **परे मोक्षहेतू** कहकर उपर्युक्त कथन का ही समर्थन किया है। योगीन्द्र ने '**ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कानि दग्ध्वा**'[9] मे ध्यान का अर्थ शुक्ल ध्यान ही लिया है। 'एकाग्रता' ध्यान अवश्य है, किन्तु शुभ और शुद्ध मे एकाग्र होने वाला ध्यान ही आगे चलकर समाधि का रूप धारण करता है। योगसूत्र मे चित्त की पॉच भूमिकाए स्वीकार की है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमे से प्रथम तीन का समाधि के लिए अनुपादेय और अन्तिम दो को उपादेय माना है।[10] योगसूत्र मे ही स्वरूप-दृष्टि से

१ उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ६।२७

२ अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्रः। नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्र नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यानं स्वरूपमुक्तं भवति।

—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ६।२७ पृ० ४४४ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वि० सं० २०१२

३ पातञ्जल योगसूत्र, बी० डी० बसु-सम्पादित, ३।२ का व्यासभाष्य, पृ० १६०

४ महात्मा गांधी, अनासक्तियोग श्रीमद्भगवद्गीता भाषा-टीका, ६।१८, पृ० ८७

५ देखिये वही, ६।१६, पृ० ८८

६ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, प्रथम भाग, पृ० १७८; सातवीं पंक्ति से चौदहवीं पंक्ति तक का भाव

७ आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ६।२८

८ आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा १२१-१२२

९ योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, पहला दूहा, संस्कृत-छाया

१० पातञ्जल योगसूत्र, १।१ का व्यास-भाष्य

चित्तवृत्तियों के दो भेद माने गए हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट क्लेश की और अक्लिष्ट ज्ञान की कारण है।[1] बौद्धों ने इन्हीं को कुशल और अकुशल के नाम से पुकारा है। इनमे कुशल मे होने वाला ध्यान ही 'समाधि' हो सकेगा, अकुशल वाला नहीं।

समाधि के भेद और उनका स्वरूप

जैन शास्त्रों में समाधि के दो भेद किये गए है— सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक समाधि सालम्ब होती है और निर्विकल्पक निरवलम्ब। सालम्ब मे मन को टिकने के लिए सहारा मिलता है, जब कि निरवलम्ब मे उसे अनाधार मे ही लटकना होता है। चचल मन पहले तो किसी सहारे से ही टिकना सीखेगा, तब कही निराधार मे भी ठहर सकने योग्य हो सकेगा। श्री योगीन्दु के मतानुसार जिस चिन्ता का समूचा त्याग मोक्ष को देने वाला है, उसकी प्रथम अवस्था विकल्प-सहित होती है। उसमे विषय-कषायादि अशुभ ध्यान के निवारण के लिए और मोक्ष-मार्ग मे परिणाम दृढ करने के लिए ज्ञानी जन जो भावना भाते हैं, वह इस प्रकार है—"चतुर्गति के दु खों का क्षय हो, अष्टकर्मों का क्षय हो, ज्ञान का लाभ हो, पञ्चम गति मे गमन हो, समाधि मे मरण हो और जिनराज के गुणो की सम्पत्ति मुझको प्राप्त हो!" यह भावना चौथे, पाँचवे और छठे गुणस्थान मे ही की जाती है, आगे नही।[2] सालम्ब समाधि मे मन को टिकाने के लिए तीन रूपो की कल्पना की गई है—पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ। शरीर-युक्त आत्मा पिण्डस्थ, पञ्च परमेष्ठी और ओंकारादि मत्र पदस्थ तथा अर्हन्त रूपस्थ कहे जाते हैं।[3] आचार्य देवसेन ने स्पष्ट कहा है कि सर्वसाधारण के लिए निरवलम्ब ध्यान सम्भव नहीं, अत उसे सालम्ब ध्यान करना चाहिए।[4]

सालम्ब समाधि का प्रारम्भिक रूप सामायिक है। सामायिक का अर्थ अरिहतादि का नाम लेना और किसी मन्त्र का जाप जपना-मात्र ही नहीं है, अपितु वह एक ध्यान है, जिसमे यह सोचना होता है कि यह ससार चतुर्गतियो मे भ्रमण करने वाला है, अशरण, अशुभ, अनित्य और दु ख-रूप है। मुझे इससे मुक्त होना चाहिए।[5] सामायिक का लक्षण बताते हुए एक आचार्य ने कहा है :

> समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना।
> आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

अर्थात्, जिस व्रत मे सब प्राणियो मे समता-भाव, इन्द्रिय-सयम, शुभ भावना का विकास तथा आर्त्त और रौद्र ध्यानो का त्याग किया जाता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है। सामायिक के पाँच अतिचार है—मन-वचन-काय का असत्-प्रयोग, अनुत्साह और अनैकाग्रता।[6] इनसे सामायिक मे दोष उत्पन्न हो जाते है। इस भाँति एकाग्रता सामायिक का गुण और अनैकाग्रता दोष है। इसी एकाग्रता का विकसित रूप समाधि का मूलाधार है। वास्तव मे सामायिक गृहस्थ श्रावको का एक व्रत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे शिक्षा-व्रतो मे गिना है।[7] स्वामी कार्त्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे गृहस्थ के बारह धर्मों में सामायिक को चौथा स्थान दिया है। आचार्य उमास्वति, समन्तभद्र, जिनसेन, सोमदेव, देवसेन, अमितगति, अमृतचन्द्र, आचार्य वसुनन्दि और पण्डितप्रवर आशाधर ने भी सामायिक के महत्त्व को स्वीकार किया है।

---

१ देखिये वही, १।५ का व्यास-भाष्य

२ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, पं० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३२७-२८

३ आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि-श्रावकाचार, गाथा ४५६, ४६४, ४७२-७५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००९

४ आचार्य देवसेन, भावसंग्रह, गाथा ३८२,३८८; माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२१ ई०।

५ आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ५।१४, पृ० १४१; वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०

६ देखिये वही, ५।१५, पृ० १४२

७ आचार्य कुन्दकुन्द, चरित्तपाहुड, गाथा २६

उन्होंने यहाँ तक कहा है कि सामायिक मे स्थित गृहस्थ सचेलक मुनि के समान होता है।[1] सामायिक कम-से-कम दो घडी या एक मुहूर्त (अडतालीस मिनट) तक करनी चाहिए।[2]

निर्विकल्पक समाधि मे मन को टिकाने के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता नही होती। यहाँ तो 'रूपातीत' का ध्यान करना होता है। शरीर के जाल से पृथक् शुद्धात्मा अथवा भगवान् सिद्ध ही 'रूपातीत' कहलाते है।[3] उन पर जब मन ठहर उठता है, तभी निर्विकल्पक समाधि का प्रारम्भ समझना चाहिए। आचार्य योगीन्दु ने निर्विकल्पक समाधि की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—**सयलवियप्पहं जो विलउ परम समाहि भणंति। तेण सुहासुह भावडा मुणि सयलवि मेल्लंति।**[4] अर्थात्, सकल विकल्पो का विलीन होना ही परम समाधि है, इसमे मुनिजन शुभ और अशुभ भावो का परित्याग कर देते है। अपने इसी मत की पुष्टि करते हुए आचार्य ने एक-दूसरे स्थान पर कहा कि "जब तक समस्त शुभाशुभ परिणाम दूर न हो, मिटे नही, तब तक रागादि विकल्प-रहित शुद्ध चित्त मे सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परम समाधि इस जीव के नहीं हो सकती।"[5] उन्होंने यहाँ तक कहा कि "केवल विषय-कषायो को जीतने से क्या होता है, मन के विकल्प मिटने ही चाहिए, तभी वह परमात्मा का सच्चा आराधक कहा जायेगा।"[6] आचार्य कुन्दकुन्द ने 'षट्पाहुड' मे लिखा है कि "जो रागादिक अन्तरग परिग्रह से सहित है और जिन भावना-रहित द्रव्य-लिंग को धार कर निर्ग्रन्थ बनते है, वे इस निर्मल जिन-शासन मे समाधि और बोधि को नही पाते।"[7] इस भाँति आचार्य कुन्दकुन्द ने रागादिक अन्तरग परिग्रह के त्याग को समाधि के लिए आवश्यक बतलाया। बाह्य ज्ञान से शून्य निर्विकल्पक समाधि मे विकल्पो का आधारभूत जो मन है वह अस्त हो जाता है, अर्थात् निज स्वभाव मे मन की चचलता नही रहती। जिन मुनीश्वरो का परम समाधि मे निवास है, उनका मोह नाश को प्राप्त हो जाता है, मन मर जाता है, श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[8] आचार्य समन्तभद्र ने यह स्वीकार किया है

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः॥[9]

अर्थात्, समाधि-तेज से अपने आत्म-दोषो के मूल कारण को निर्दयतापूर्वक भस्म कर यह जीव ब्रह्म-पदरूपी अमृत का स्वामी हो सकता है।

योगसूत्र मे समाधि की परिभाषा लिखते हुए कहा गया है—**तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**[10] अर्थात्, ध्येयाकार निर्भास ध्यान ही जब ध्येय स्वभावावेश मे अपने ज्ञानात्मक स्वभाव शून्य के समान होता है, तब उसे समाधि कहते है।[11] ध्यान करते-करते जब हम आत्म-विस्मृत हो जाय, जब केवल ध्येय-विषयक सत्ता की ही उपलब्धि

---

१ आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ५।१२, पृ० १३६, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०
२ वसुनन्दिश्रावकाचार की प्रस्तावना, पं० हीरालाल-कृत, पृ० ५५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
३ वण्णरस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसण सरूवो।
झाइज्जइ एवं तं झाणं रूव रहियं ति ॥४७६॥
—वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, पं० हीरालाल सम्पादित, पृ० २८०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
४ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १९०, पृ० ३२८, प० श्रु०प्र० मंडल, बम्बई
५ देखिये वही, दोहा १९४, पृ० ३३२
६ देखिये वही, दोहा १९२, पृ० ३३१
७ आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड, भावपाहुड, ७२वीं गाथा, पृ० ७८, प्रकाशक बाबू सूरजभान वकील, देवबन्द,
८ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १६२, पृ० ३०६, बम्बई
९ आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू-स्तोत्र, १।३, वीर-सेवा मन्दिर, सरसावा
१० देखिये योगसूत्र, ३।३
११ योगसूत्र ३।३का व्यास-भाष्य

होती रहे तथा अपनी सत्ता विस्मृत हो जाये, और ध्येय से अपना पृथक्त्व ज्ञानगोचर न हो, तब ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि है।[1] इसमे ध्येय की सत्ता प्रतिभासित होती है। अत वह सालम्ब, सबीज और सविकल्पक समाधि कहलाती है। विषय-भेद से यह समाधि—रूपरसादिग्राह्य विषयक, अहङ्कारादिग्रहण विषयक, अहमस्त्वमात्र-गृहीतृपदस्थविषयक तीन प्रकार की कही जाती है, जो जैनो के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ से मिलती-जुलती है। सब वृत्तियो के निरुद्ध होने पर संस्कार-शेष रूप-समाधि असम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है।[2] इसका साधन परवैराग्य है, क्योकि सालम्ब अभ्यास इसका साधन नही हो सकता। विराम का कारण परवैराग्य, वस्तुहीन आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है। उसमें कुछ भी चिन्त्य पदार्थ नही रहता। वह अर्थ-शून्य है और उसका अभ्यासी चित्त निरालम्ब और अभावापन्न-सा होता है। इस प्रकार की निर्बीज समाधि ही असम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है।[3] इसे ही जैन लोग निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। समाधि का यह द्विविध वर्गीकरण बौद्धो मे 'उपचार' और 'अर्पणा' के नाम से स्वीकार किया गया है। 'विसुद्धि-मग्ग' में उपचार-समाधि की परिभाषा लिखी है—**कुसलचित्तेकग्गता समाधिः**[4]; —कुशलचित्त मे, अर्थात् शुद्ध आत्मा में, मन के एकाग्र होने को समाधि कहते है। इस सूत्र की व्याख्या मे स्पष्ट है कि यह सालम्ब समाधि है। व्याख्या इस प्रकार है—**एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं समाधानम्**[5], अर्थात्, एक आलम्बन मे चित्त और चित्त की वृत्तियो का समान और सम्यक् स्थित होना समाधान है।—**समाधानट्ठेन समाधिः**; अर्थात् समाधानार्थ ही समाधि है। यहाँ 'एकारम्मणे' के द्वारा आलम्बन की बात स्पष्ट ही झलकती है। अर्पणा-समाधि वह है, जिसमे आलम्बन के भान की आवश्यकता नही होती और मन निरवलम्ब मे ही टिकता है।

जैन आचार्यों ने योगसूत्र की भाँति, निर्विकल्पक समाधि मे आत्मविस्मृत हो जाने की बात स्वीकार नही की। वहाँ तो योगी सोता नही, अपितु जागरूक होता है। वह मोक्ष तक की इच्छा-कामनाओ को छोड़कर अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्म-विस्मृति गीता की 'समाधि' मे भी नही होती। श्री अरविन्द ने लिखा है, "समाधिस्थ मनुष्य का लक्षण यह नही है कि उसको विषयो, परिस्थितियो, मनोमय और अन्नमय पुरुष का होश ही नही रहता और शरीर को जलाने तथा पीड़ित करने पर भी इस चेतना मे लौटाया नही जा सकता, जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं; इस प्रकार की समाधि तो चेतना की एक विशिष्ट प्रकार की प्रगाढ़ता है, यह समाधि का मूल लक्षण नही। समाधि की कसौटी है—सब कामनाओ का बहिष्कार, किसी भी कामना का मन पर चढाई न कर सकना; और यह वह आन्तरिक अवस्था है जिससे स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है। आत्मा का आनन्द अपने ही अन्दर जमा रहता है और मन सम, स्थिर तथा ऊपर की भूमिका में ही अवस्थित रहना हुआ आकर्षणो और विकर्षणो से तथा बाह्य जीवन के घड़ी-घड़ी बदलने वाले आलोक, अन्धकार, तूफानो तथा झंझटो से निर्लिप्त रहता है।[6] यौगिक समाधि से गीता की समाधि सर्वथा भिन्न है। गीता मे कर्म सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचने का साधन है और मोक्ष-लाभ कर चुकने के बाद भी वह बना रहता है; जब कि राजयोग मे सिद्धि के प्राप्त होते ही कर्म की कोई आवश्यकता नही रह जाती।[7]

पातञ्जल समाधि में पवन को वाञ्छापूर्वक अवरुद्ध करना पड़ता है; किन्तु जैनो के ध्यानी मुनियो को पवन रोकने का यत्न नहीं करना पड़ता। बिना ही यत्न के पवन रुक जाता है और मन अचल हो जाता है—ऐसा समाधि का प्रभाव है। पातञ्जल योग में समाधि को शून्य-रूप कहा है, किन्तु जैन ऐसा नहीं मानते; क्योकि जब विभावो की शून्यता

१ पातञ्जल योगदर्शन, भगीरथ मिश्र-सम्पादित, श्रीमद्हरिहरानन्द-कृत हिन्दी-व्याख्या, पृ० २१४, लखनऊ वि० वि०
२ देखिये योगसूत्र, १।१८
३ देखिये, योगसूत्र, १।१८ का व्यास-भाष्य
४ आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, कौसाम्बीजी की दीपिका के साथ, तृतीय परिच्छेद, पृ० ५७
५ आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, तृतीय परिच्छेद, पृ० ५७
६ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, प्रथम भाग, पृ० १८७-१८८
७ देखिये, वही, पृ० १३३

हो जायेगी, तब वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। योगसूत्र मे अम्बर का अर्थ आकाश लिया गया है, तब जैनो ने आत्म-स्वरूप को अम्बर, अर्थात् शून्य, कहा है। "जैसे आकाश द्रव्य सब द्रव्यो से भरा हुआ है, परन्तु सबसे शून्य अपने स्वरूप मे है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियो से रहित है, शून्य-रूप है, इसलिए आकाश शब्द का अर्थ शुद्ध आत्म-स्वरूप लेना चाहिए।"[1]

समाधि और भक्ति

योगसूत्र मे ईश्वर-प्रणिधान को ही समाधि का कारण माना है।[2] ईश्वर का अर्थ है 'पुरुष-विशेष', जो पूर्वजो का भी गुरु है और जिसमे निरतिशय सर्वज्ञ के बीज सदैव प्रस्तुत रहते है। प्रणिधान का अर्थ है—भक्ति। ईश्वर की भक्ति से समाधि के मार्ग मे आने वाली सभी बाधाए शान्त हो जाती है। प्रणव का जाप, मन्त्रोच्चारण और अर्थ-भावन इसी ईश्वर-भक्ति के द्योतक है।[3] गीता मे भी भक्ति को योग की प्रेरणा-शक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है। गीता की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "यह योग उस सत्य की साधना है, जिसका ज्ञान दर्शन कराता है और इस साधना की प्रेरक शक्ति है—एक प्रकाशमान भक्ति, एक शान्त या उग्र आत्मसमर्पण का भाव—उन परमात्मा के प्रति, जिन्हे ज्ञान पुरुषोत्तम के रूप मे देखता है।"[4] जैन शास्त्रो मे धर्म्य ध्यान के चार भेद किये गए है जिनमे सबसे पहला है 'आज्ञा-विचय'।[5] 'विवेक' और 'विचारणा' विचय के पर्यायवाची नाम है। आज्ञा-विचय का अर्थ है—भगवान् जिन की आज्ञा मे अटूट श्रद्धा करना। आज्ञा सर्वज्ञ-प्रणीत आगम को कहते है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है, **नान्यथावादिनो जिनाः इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः।**[6] अर्थात् भगवान् जिन अन्यथावादी नही होते, इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञा-विचय धर्म्य ध्यान है। आज्ञा-विचय के दूसरे अर्थ का उद्भावन करते हुए आचार्य ने कहा है, "भगवान् जिन के तत्त्व का समर्थन करने के लिए जो तर्क, नय और प्रमाण की योजना-रूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा-विचय कहलाता है।"[7] प्रत्येक दशा मे भगवान् जिन और उनकी आज्ञा पर पूर्ण श्रद्धा की बात है। इस भाति धर्म्य ध्यान, जिसे मोक्ष-मार्ग का साक्षात् हेतु कहा गया है, भगवान् जिन मे श्रद्धा करने की बात कहता है। यह बात गीता के आत्म-समर्पण तथा पातञ्जल योग के ईश्वर-प्रणिधान से किसी दशा मे कम नही है। तीनो ही भक्ति और समाधि के स्थायी सम्बन्ध की घोषणा करते है।

सालम्ब समाधि के प्रकरण मे रूपस्थ ध्यान की बात कही जा चुकी है। समवशरण मे विराजित भगवान् अर्हन्त ही रूपस्थ है। रूपस्थ इसलिए है कि उनके रूप है और आकार है। रूपस्थ ध्यान मे, ऐसे 'रूपस्थ' पर मन को टिकाना होता है। किन्तु इसके पूर्व मन का उधर झुकना अनिवार्य है, और मन श्रद्धा के बिना नही झुक सकता, अतः मन की एकाग्रता के पूर्व श्रद्धा का होना अनिवार्य है। अर्हन्त की पूजा, स्तुति और प्रार्थना आदि मे लगी हुई एकाग्रता और इस ध्यान वाली एकाग्रता मे बाह्य रूप से कुछ भी अन्तर हो, किन्तु दोनो ही के मूल मे अगाध श्रद्धा की भूमिका है। श्रद्धा भक्ति-रस का स्थायी भाव है। पदस्थ ध्यान मे एक अक्षर को आदि लेकर अनेक मन्त्रो का उच्चारण करते हुए 'पच परमेष्ठी' का ध्यान किया जाता है। मन्त्रों के उच्चारण की एकतानता मे आराध्य के प्रति मन की जो एकाग्रता पुष्ट

१ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, १६४वें दोहे का हिन्दी-भावार्थ, पृ० ३०८, बम्बई
२ पातञ्जल योगदर्शन, १।२३, पृ० ४६
३ पातञ्जल योगदर्शन, १।२४-२८, पृ० ५०-६०
४ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, भाग १, पृ० १३४
५ आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्। —तत्त्वार्थसूत्र, ९।३६
६ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पं० फूलचन्द शास्त्रि-सम्पादित, पृ० ४४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
७ 'तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः इत्युच्यते।'
—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ९।३६ का भाष्य, पृ० ४४६

होती है, वह ध्यान वाली एकाग्रता से कम नही है। मन्त्रोच्चारण, स्तुति-स्तवन, पूजा-अर्चा और ध्यान आदि सभी भक्ति की विभिन्न शैलियाँ हैं, जो श्रद्धा के प्रेरणा-स्रोत से ही सदैव सञ्चालित होती हैं।

सामायिक भी एक प्रकार का ध्यान है, जिसका निर्देशन उन गृहस्थ श्रावकों के लिए हुआ है, जो साधु नही हो सके हैं। श्रावक के शिक्षाव्रतों में इसका प्रथम स्थान है। सामायिक के स्वरूप में स्पष्ट है कि वह भक्ति का ही एक अंग-मात्र है। सामायिक में भी, गृहस्थ श्रावक को अपना मन 'पंच परमेष्ठी' पर केन्द्रित करना पड़ता है। 'चरित्तपाहुड' की छब्बीसवी गाथा का हिन्दी-अनुवाद करते हुए प० जयचन्द छावड़ा ने लिखा है, "सामायिक अर्थात् राग-द्वेष को त्याग कर, गृहारम्भ-सम्बन्धी सर्व प्रकार की पाप-क्रिया से निवृत्त होकर, एकान्त स्थान में बैठकर अपने आत्मिक स्वरूप का चिन्तवन करना व 'पंच परमेष्ठी' का भक्ति-पाठ पढ़ना, उनकी वन्दना करना, यह प्रथम शिक्षा-व्रत है।"[1] इस प्रकार आचार्य वसुनन्दि ने जिन-धर्म और जिन-वन्दना[2] को सामायिक कहा है और आचार्य श्रुतसागर ने समता के चिन्तवन को सामायिक कहा है।[3]आचार्य अमितगति सूरि के 'सामायिक-पाठ' में निबद्ध श्लोक भक्ति के ही निदर्शक हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "जैसे अन्धकार-समूह सूर्य को छू भी नही पाते, वैसे ही कर्म-कलंक जिसके पास फटक भी नही सकते, ऐसे नित्य और निरञ्जन भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ।"[4] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने भगवान् को हृदय में स्थापित करने की भावना भाते हुए लिखा है, "बड़े-बड़े मुनियों के समूह जिसका स्मरण करते हैं, सब नर और देवताओं के इन्द्र जिसकी स्तुति करते हैं तथा वेद और पुराण शास्त्र जिसके गीतों को गाते हुए नही थकते, ऐसे देवों के देव भगवान् हमारे हृदय में विराजमान हों।"[5]

समाधिमरण और उसके भेद

समाधिमरण दो शब्दों, समाधि और मरण, से मिलकर बना है। इसका अर्थ है—समाधिपूर्वक मरना। शुद्ध आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते हुए प्राणों का विसर्जन समाधिमरण कहलाता है। सभी धर्मों के आचार्यों ने जीवन के अन्त-काल को अत्यधिक महत्त्व दिया है। जैन आचार्यों ने तो यहाँ तक लिखा है कि जीवन-भर की तपस्या व्यर्थ हो जाती है, यदि अन्त समय में राग-द्वेष को छोड़कर समाधि धारण न की। आचार्य समन्तभद्र का कथन है—**अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।**[6] अर्थात् तप का फल अन्तक्रिया के आधार पर अवलम्बित है, ऐसा सर्वदर्शी सर्वज्ञ देव ने कहा है। इसलिए यथासामर्थ्य समाधिमरण में प्रयत्नशील होना चाहिए। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' में लिखा है—**सुचिरमवि निरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते। मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो।**[7] अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चरित्र-रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है, तो वह संसार में अनन्त काल तक

१ आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड में चरित्तपाहुड, २६वीं गाथा का हिन्दी-अनुवाद, प्रकाशक सूरजभान वकील, देवबंद

२ आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा २७४-७५, पृ० १०७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३ देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिन्तनं सामायिकमित्यर्थः।

—आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२१ का भाष्य, पृ० २४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

४ न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैः, यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनम् नित्यमनेकमेकम्, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥
—अमितगतिसूरि, सामायिक पाठ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन-सम्पादित, १८वां श्लोक, पृ० १७, धर्मपुरा, देहली

५ यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः, यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥

—देखिये वही, १२वां, श्लोक, पृ० १४

६ आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ६।२, पृ० १६३, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली

७ शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा १५, मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई

घूम सकता है। समाधिमरण का विधान सभी के लिए है।

समाधिमरण के पाँच भेद हैं—पण्डितपण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल और बाल-बाल। इनमे से प्रथम तीन अच्छे और अवशिष्ट दो बुरे हैं। बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि जीवो के, बाल-मरण अविरत सम्यग्दृष्टियो के, बाल-पण्डित मरण देशव्रतियो (श्रावको) के, पण्डित-मरण सकल सयमी साधुओ के और पण्डितपण्डित-मरण क्षीणकषाय केवलियो के होता है। पण्डितमरण के भी तीन भेद हैं—पहला 'भक्त-प्रत्याख्यान' कहलाता है। भक्त नाम भोजन का है, उसे शनैः-शनैः छोड कर जो शरीर का त्याग किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। भक्त-प्रत्याख्यान करने वाला साधु अपने शरीर की सेवा-टहल या वैय्यावृत्य स्वय अपने हाथ से भी करता है, और यदि दूसरा करे, तो उसे भी स्वीकार कर लेता है। दूसरा 'इगिनीमरण' है, जिसमे और तो सब 'भक्त-प्रत्याख्यान' के समान ही होता है, किन्तु दूसरे के द्वारा वैय्यावृत्य स्वीकार नही की जाती। तीसरा 'पादोपगमन मरण' है। इसे धारण करने वाले के लिए किसी प्रकार की वैय्यावृत्य का प्रश्न ही नही उठता। इसमे तो मरण-पर्यन्त प्रतिमा के समान किसी शिला पर तदवस्थ रहना होता है।[1]

सल्लेखना की व्याख्या

'समाधि-मरण' के अर्थ मे ही 'सल्लेखना' का प्रयोग होता है। सल्लेखना पद 'सत्' और 'लेखना' दो शब्दो से मिल कर बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना, अर्थात् सम्यक् प्रकार से कृश करना। बुरे को ही क्षीण करने का प्रयास किया जाता है, अच्छे को नही। जैन सिद्धान्त मे काय और कषाय को अत्यधिक बुरा कहा गया है, अत उन्हे कृश करना ही सल्लेखना है। आचार्य पूज्यपाद ने **'सम्यक्कायकषायलेखना'**[2] को और आचार्य श्रुतसागर ने **सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरण तनूकरण**[3] को सल्लेखना कहा है।

मरण-काल के उपस्थित होने पर ही सल्लेखना धारण की जाती है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है—**मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता**"[4] अर्थात् मरण-काल आने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करनी चाहिए। श्री उमास्वाति के इस सूत्र पर आचार्य पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि', भट्टाकलक की 'राजवार्तिक' और श्रुतसागर सूरि की 'तत्त्वार्थवृत्ति' भाष्य-रूप मे देखी जा सकती हैं। वहाँ इस सूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है। सभी ने 'जोषिता' का प्रतिपादन प्रीतिपूर्वक धारण करने के अर्थ मे ही किया है। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' मे लिखा है—**उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।**[5] अर्थात्, प्रतिकार-रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा तथा रोग की दशा मे और ऐसे दूसरे किसी कारण के उपस्थित होने पर जो धर्मार्थ देह का सत्याग है, उसे सल्लेखना कहते है।

काय और कषाय को क्षीण करने के कारण सल्लेखना दो प्रकार की होती है—काय-सल्लेखना, जिसे बाह्य सल्लेखना भी कहते है, और कषाय-सल्लेखना, जिसे आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' मे लिखा है—**एव कदपरिकम्मो अब्भंतर बाहिरम्मि सल्लिहणे। संसार मोक्खबुद्धी, सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि।।** अर्थात् "ऐसे आभ्यन्तर सल्लेखना और बाह्य सल्लेखना ताके विषय बध्या है परिकर जाके, अर ससार ते छूटने की है बुद्धि जाकी, ऐसा साधु सो सर्वोत्कृष्ट तप कूं करै है।"[6] इन्ही दो भेदो का निरूपण करते हुए आचार्य पूज्यपाद का कथन

१ समाधिमरण के भेदों के लिए देखिये, वट्टकेरि-कृत मूलाचार और शिवार्यकोटि कृत भगवती-आराधना

२ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२ का भाष्य, पृ० ३६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३ आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२२ की भाष्य, पृ० २४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

४ आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, पं० कैलाशचन्द्र सम्पादित, ७।२२, पृ० १६८, चौरासी, मथुरा

५ आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ६।१, पृ० १६०

६ शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, हिन्दी-अनुवाद सहित, गाथा ७५, पृ० ४०, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई

है—**कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापन क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना**[1] अर्थात्, बाहरी शरीर और भीतरी कषायो को पुष्ट करने वाले कारणो को शनैः-शनै घटाते हुए, उनको भले प्रकार कृश करना सल्लेखना है। आचार्य श्रुतसागर ने तो स्पष्ट ही कहा है—**कायस्य लेखना बाह्यसल्लेखना। कषायाणां सल्लेखना अभ्यन्तरा सल्लेखना**[2] अर्थात् काय की सल्लेखना बाह्य सल्लेखना और कषायो की सल्लेखना आभ्यन्तर सल्लेखना कही जाती है। काय बाह्य है और कषाय आन्तरिक।

आचार्य कुन्दकुन्द ने शिक्षाव्रतो के चार भेद माने है, जिनमे चौथी सल्लेखना है।[3] श्री शिवार्य कोटि, देवसेनाचार्य, जिनसेनाचार्य और वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने भी सल्लेखना को शिक्षाव्रतो में ही शामिल किया है। दूसरी ओर, आचार्य उमास्वाति ने सल्लेखना को शिक्षाव्रतो में तो क्या, श्रावक के बारह व्रतो मे भी नही गिना और एक पृथक् धर्म के रूप मे ही उसका प्रतिपादन किया। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलकदेव, विद्यानन्दी सोमदेवसूरि, अमितगति और स्वामी कार्तिकेय आदि ने आचार्य उमास्वाति के शासन को स्वीकार किया है। इन आचार्यों का कथन है कि 'शिक्षा' अभ्यास को कहते हैं और सल्लेखना मरण-समय उपस्थित होने पर धारण की जाती है, अत उसमे अभ्यास का समय ही नही रहता, फिर शिक्षा-व्रतो में उसकी गणना क्योकर सम्भव हो सकती है? इसके अतिरिक्त, यदि सल्लेखना को श्रावक के बारह व्रतो मे गिना जाय तो श्रावक को आगे की प्रतिमाएं धारण करने के लिए जीवनावकाश ही न मिल सकेगा। सम्भवत इसी कारण श्री उमास्वाति आदि आचार्यों ने सल्लेखना को श्रावक-व्रतो से पृथक् धर्म के रूप मे प्रतिपादित किया है।[4]

सल्लेखना और समाधिमरण

जैन शास्त्रो के अनुसार सल्लेखना और समाधिमरण पर्यायवाची शब्द है। दोनो की क्रिया-प्रक्रिया और नियम-उपनियम एक-से हैं। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के छठे अध्याय की पहली कारिका मे सल्लेखना का लक्षण लिखा, और दूसरी कारिका मे उसी के लिए समाधिमरण का प्रयोग किया। श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-आराधना' मे, अनेक स्थानो पर सल्लेखना और समाधिमरण का प्राय: एक ही अर्थ मे प्रयोग किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और मुनि, दोनो ही के लिए सल्लेखना का प्रतिपादन कर, मानो सल्लेखना और समाधिरण का भेद ही मिटा दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण साधु के लिए और सल्लेखना गृहस्थ के लिए मानते थे। यह सच है कि 'मृत्यु' समय एक साधु, शुद्ध आत्मस्वरूप पर, अपने मन को जितना एकाग्र कर सकता है, उतना गृहस्थ नही। इस समय तक साधु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधि धारण करने मे निपुण हो चुकता है। समाधि मे एकाग्रता अधिक है, सल्लेखना मे नही।

समाधिमरण और आत्म-वध

भारत के कुछ विद्वान्, जैन मुनि के समाधिमरण को आत्म-घात मानते है। आत्म-घात का शाब्दिक अर्थ है आत्मा का घात; किन्तु जैन दर्शन ने आत्मा को शाश्वत सिद्ध किया है। "आत्मा एक रूप से त्रिकाल मे रह सकने वाला नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति किसी भी संयोग मे न हो सकती हो, वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी

१ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२, पृ० ३६३
२ आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२२ का भाष्य, पृ० २४४
३ सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं।
 तइयं अतिहि पुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते॥
 —चरित्तपाहुड, गाथा २६, पृ० २८
४ पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैनाचार्यों का शासन-भेद, पृ० ४३ से ५७ तक

भी सयोग से उत्पन्न हो सकती हो, ऐसा मालूम नही होता, क्योकि जड के चाहे कितने भी सयोग क्यो न करो, तो भी उसमे चेतन की उत्पत्ति नही हो सकती।"[1] भावलिङ्गी मुनि सदैव विचार करता है, "मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है है और ज्ञान-दर्शन ही उसका लक्षण है। अन्य समस्त भाव बाह्य है।"[2] इस भाँति नित्य आत्मा का घात किसी भी दशा मे सम्भव नहीं है।

आत्मघात का प्रचलित अर्थ है—राग, द्वेष या मोह के कारण, विष, शस्त्र या अन्य किसी उपाय से, अपने इस जीवन को समाप्त कर लेना।[3] किन्तु जैन मुनि की समाधि न तो राग-द्वेष का परिणाम है, और न मोह का भावावेश। जैन आचार्यों ने समाधिमरण धारण करने वाले से स्पष्ट कहा है—यदि रोगादि कष्टो मे घबरा कर शीघ्र ही समाप्त होने की इच्छा करोगे अथवा समाधि के द्वारा इन्द्रादि पदो की अभिवाञ्छा करोगे, तो तुम्हारी समाधि विकृत है।[4] इससे लक्ष्य तक न पहुँच सकोगे। मृत्यु-समय समाधि धारण करने वाले जीव का भाव अपने को समाप्त करना नही, अपितु शुद्ध आत्म-चैतन्य को उपलब्ध करना होता है। वह मृत्यु को बुलाने का प्रयास नही करता, अपितु वह स्वय आती है। उसका समाधिमरण' आने वाले के स्वागत की तैयारी-मात्र है।

समाधिमरण मे चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर के मोह को छोडना होता है। किन्तु शरीर का मोह-त्याग और आत्मघात, दोनो एक ही बात नही है। पहले मे ससार की वास्तविकता को समझ कर शरीर से ममत्व हटाने की बात है, और दूसरे मे ससार से घबरा कर शरीर को समाप्त करने का प्रयास है। पहले मे सात्त्विकता है, तो दूसरे मे तामसिकता। एक मे ज्ञान का प्रकाश है, तो दूसरे मे अज्ञान का अन्धकार। मोह-त्याग मे सयम है, तो आत्मघात मे असयम। समाधिमरण का उद्देश्य मोह-त्याग भी नही, अपितु आत्मानन्द प्राप्त करना है। आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते ही मोह तो स्वय ही दूर हो जाता है।[5] उसे नष्ट करने का प्रयास नही करना पडता। परम समाधि मे तो सभी इच्छाए विलीन हो जाती है, यहाँ तक कि आत्मा के साक्षात्कार की अभिलाषा भी नही रहती।

इसके अतिरिक्त जैन आगमो मे आयु-कर्म को बहुत प्रबल माना गया है। चार घातिया कर्मों को जीतने वाले अर्हन्त को भी आयु-कर्म के बिल्कुल क्षीण होने तक इस ससार मे रुकना पडता है। इस तथ्य को जानने वाला जैन मुनि आत्म-घात का प्रयत्न नही कर सकता। तीर्थंकर का स्पष्ट निर्देश है कि आत्मघात करने वाला नरकगामी होता है।

जैन शास्त्रों में समाधिमरण का उल्लेख

प्राकृत भाषा के 'दिगम्बर प्रतिक्रमण-सूत्र' मे 'पण्डितमरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ उसके तीन भेदो का भी विशद वर्णन है। यह प्रतिक्रमण सूत्र गौतम गणधर द्वारा रचित माना जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी सभी प्राकृत भक्तियो के अन्त मे भगवान् जिनेन्द्र से—**दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुण सम्पत्ति होउ मज्झं** के द्वारा समाधिमरण की याञ्चा की है। अनगारो की वन्दना करते हुए उन्होने लिखा है, **एवं मएऽभित्थुया अणयारा रागदोसपरिसुद्धा। संघस्स वरसमाहिं मज्झवि-दुक्ख-**

---

१ श्रीमद् राजचन्द्र, डा० जगदीशचन्द्र जैन-सम्पादित, पृ० ३०७

२ एगो मे सास्सदो अप्पा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

—आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ५९।

३ रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति।

—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पृ० ३६३

४ जीवितमरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध निदानानि।

—तत्त्वार्थ-सूत्र ७।३७

५ परमात्मप्रकाश, दोहा, पृ० ३२८

कलयं दिंतु।[1] वट्टकेरस्वामी-कृत 'मूलाचार' में भी अनेक स्थानों पर समाधिमरण का प्रयोग हुआ है।

श्री यतिवृषभाचार्य ने 'तिलोयपण्णत्ति' के 'चउत्थमहाधिकार' में **कत्तिय बहुलस्संते सादीसुं विणयरम्मि उग्गमिए। किंयसण्णा सा सव्वे पावंति समाहिमरणं हि**[2] गाथा की रचना की है, इसमे समाधिमरण प्राप्त करने की अभिलाषा स्पष्ट है।

श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-आराधना' समाधिमरण का ही ग्रन्थ है। इसमें समाधिमरण-सम्बन्धी नियम-उपनियमों और भेद-प्रभेदों का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। इस विषय का ऐसा असाधारण ग्रन्थ दूसरा नहीं है। इसमे शौरसेनी प्राकृत की इक्कीस सौ सत्तर गाथाएं हैं। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है, "भक्ति से वर्णन की गई यह भगवती-आराधना संघ को तथा मुझको उत्तम समाधि का वर प्रदान करे। अर्थात्, इस के प्रसाद से मेरा तथा संघ के सभी प्राणियों का समाधिपूर्वक मरण होवे।"[3]

'चेइयवंदणमहाभास' में '**दुक्खक्खओ**......' की कई गाथाओ की व्याख्या की गई है। 'समाहिमरण' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—**भण्णइ समाहिमरणं, रागद्दोसेहिं विप्पमुक्काणं। देहस्सपरिच्चाओ भवंतकारी चरित्तीणं**[4] अर्थात् राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चरित्रधारियो का भवान्तकारी देह का परित्याग समाधिमरण कहा जाता है। 'चेइयवंदणमहाभास' प्राचीन प्राकृत गाथाओ का एक सकलन-ग्रन्थ है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' मे **तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्**[5] के द्वारा समाधि-मरण का प्रतिपादन किया है। आचार्य पूज्यपाद ने स्व-रचित सस्कृत-भक्तियो में समाधि-भक्ति पर भी लिखा है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदि-पुराण मे लिखा है, "स्वयप्रभा नामक देवी सौमनस वन की पूर्व दिशा के जिन-मन्दिर मे चैत्य वृक्ष के नीचे पंच परमेष्ठी का भले प्रकार स्मरण करते हुए, समाधिमरण-पूर्वक प्राण-त्याग कर स्वर्ग से च्युत हो गई।"[6] उन्होने ही एक दूसरे स्थान पर लिखा है, "जीवन के अन्त समय में परिग्रह-रहित दिगम्बर-दीक्षा को प्राप्त हुए सुविधि महाराज ने विधि-पूर्वक उत्कृष्ट मोक्ष-मार्ग की आराधना कर समाधिमरणपूर्वक शरीर छोडा, जिससे अच्युत स्वर्ग मे इन्द्र हुए।"[7]

श्री हरिषेणाचार्य-कृत बृहत्कथाकोश मे 'जयसेननृपतिकथानकम्' के

जिनेन्द्रदीक्षया शुद्धः सर्वत्यागं विधाय च। स्मरन् पंचनमस्कारं धर्मध्यानपरायण ॥
स्वोदरं हृत्वा करवाल्याऽतितीक्ष्णया। समाधिमरणं प्राप्य सूरिरेष दिवं ययौ ॥[8]

---

१ देखिये आचार्य कुन्दकुन्द-कृत योगिभक्ति, गाथा २३, दश-भक्तिः, आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत-टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी-अनुवाद सहित, पृ० १८६, शोलापुर, १९२१ ई०

२ आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, चउत्थ महाधिकार, १५३१वीं गाथा, पृ० २४५, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९४३ ई०

३ आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती।
संघस्स सिवज्जस्स य समाहिवरमुत्तमं देउ॥
—शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा २१६८।

४ चेइयवंदणमहाभास, श्री शांतिसूरिसंकलित, मुनिश्री चतुरविजय और पं० बेचरदास-सम्पादित, गाथा ८६३, पृ० १५३, श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वि० सं० १९७७

५ आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार ६।२, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

६ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, प्रथम भाग, पं० पन्नालाल साहित्याचार्य-सम्पादित और अनूदित, ६।५६-५७, पृ० १२४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

७ देखिये वही, १०।१६९-१७०, पृ० २२२,

८ हरिषेणाचार्य, बृहत्कथाकोश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित १५६।३९-४०, पृ० ३४१, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

के द्वारा और 'शकटालमुनिकथानकम्' के

तद्वृत्तान्तमिदं ज्ञात्वा कृत्वा स्वालोचनाविधिम्। शरीरादिकमुज्झित्वा जपन् पञ्च नमस्कृतिम् ॥
आदाय क्षुरिकां शास्त्रीं पाटयित्वा निजोदर। समाधिमरणं प्राप्य शकटालो दिवं ययौ ॥[1]

द्वारा, प्रमाणित है कि नृपति जयसेन और मुनि शकटाल, दोनों ही ने अन्त समय में समाधिमरण धारण किया था।

श्री योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है कि मोक्ष-मार्ग में परिणाम दृढ़ करने के लिए ज्ञानी जन समाधिमरण की भावना भाते हैं।[2] इस प्रकार महाकवि पुष्पदन्त के 'णायकुमारचरिउ' में, **इसी मोक्खगामी, तुमं मज्झ सामी। कुड देहि बोही विसुद्धा समाही।**[3] तथा 'त्रिभुवनतिलक' में **णं समाहि ण सरसइ णं दय, णं खम पुरिसवेस विहिणा कय।**[4] आदि उल्लेख मिलते हैं।

जैन पुरातत्त्व में समाधिमरण के चिह्न

श्रवण वेल्गोल के शिलालेख क्र० १ से प्रमाणित हो गया है कि श्री भद्रबाहु स्वामी संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा देकर आप प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य-सहित कटवप्र पर ठहर गए और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया।[5] प्रभाचन्द्र चन्द्रगुप्त का ही नामान्तर या दीक्षा-नाम था। श्रवण बेल्गोल के ही शिलालेख क्र० १७-१८, ४०, ५४ तथा १०८ से भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों का चन्द्रगिरि से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।[6] राजगिरि पर सप्तपर्ण और सोनभद्र नाम की दो गुफाएं हैं, जो वैभारगिरि के उत्तर में एक जैन मन्दिर के नीचे हैं। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने वैभारगिरि पर निर्ग्रन्थ साधुओं को देखा था। इनमें से एक गुफा पर अङ्कित शिलालेख में स्पष्ट है कि मुनि वैरदेव के समय में वहाँ साधु समाधिमरणपूर्वक निर्वाण प्राप्त करते थे।[7] सित्तन्नवासल्ल पदुक्कोटा से वायव्यकोण में नव मील पर अवस्थित है। यहाँ पर पाषाण के टीलों की गहराई में जैन गुफाएं उत्कीर्णित हैं। ईसा-पूर्व तीसरी शती का एक ब्राह्मी-लेख भी उपलब्ध है। उनमें जैन मुनियों की सात समाधि-शिलाएं हैं। प्रत्येक की लम्बाई ६-४ फुट है। गुफा का क्षेत्रफल १०० × ५० फुट है।[8] समाधि-शिलाएं वे स्थान हैं, जिन पर बैठ कर मुनियों ने समाधिमरण-पूर्वक मृत्यु को वरण किया था। महा नवमी-मण्डप के लेख क्र० ४२ (६६) में आचार्य नयकीर्ति के समाधि-मरण का सम्वाद है, जो सन् ११७६ में हुआ था।[9]

समाधिमरणपूर्वक मरने वाले साधु के अन्तिम संस्कार-स्थान को 'नसियाजी' कहते हैं। यह जैन परम्परा का अपना शब्द है, जो अन्य किसी परम्परा में सुनने को नहीं मिलता। प्राकृत 'णिसीहिया' का अपभ्रंश 'निसीहिया' हुआ, और वह कालान्तर में नसिया होकर आजकल नशियाँ के रूप में व्यवहृत होने लगा है। संस्कृत में उसके 'निषीधिका', 'निषिद्धिका' आदि अनेक रूप प्रचलित हैं। 'बृहत्कल्पसूत्रनिर्युक्ति' की गाथा क्र० ५५४१-४२ में 'निसीहिया' शब्द का

१ देखिये वही, १५७।१३६-४०, पृ० ३५४
२ देखिये परमात्मप्रकाश, पृ० ३२८
३ आचार्य पुष्पदन्त, णायकुमारचरिउ, डा० हीरालाल जैन-सम्पादित, द्वितीय परिच्छेद, ३।२०, पृ० १६, जैन पब्लिशिंग सोसाइटी, कारंजा, १९३३ ई०
४ देखिये वही, ९वां परिच्छेद, ४।५, पृ० ६५
५ जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, डा० हीरालाल जैन सम्पादित, पृ० १-२, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई।
६ देखिये वही, पृ० क्रमश: ६, २४, १०१, २१०
७ प्राचीन जैन स्मारक, पृ० ११
८ मुनि कान्तिसागर, खंडहरों का वैभव, पृ० ६५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
९ डा० हीरालाल जैन, श्रवणबेल्गोलस्मारक, जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग में निबद्ध, पृ० १३।

प्रयोग हुआ है, तात्पर्य उस स्थान से है, जहाँ क्षपक साधु का समाधिमरणपूर्वक दाह-संस्कार किया जाता है। 'भगवती-आराधना' की टीका में बतलाया गया है, "जिस स्थान पर समाधिमरण करने वाले क्षपक के शरीर का विसर्जन या अन्तिम संस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते हैं।"[1]

निसीदिया का सबसे पुराना उल्लेख सम्राट् खारवेल के हाथी-गुफा वाले शिलालेख में हुआ है। इस शिलालेख की १४वीं पंक्ति में '...**कुमारी पवते अरहते परवीण-संसतेहिकाय-निसीदयाय**...' और १५वीं पंक्ति में '...**अरहत निसीदिया समीपे पाभारे**...' पाठ आया है।[2] इससे निषीधिका की प्राचीनता सिद्ध होती है। उससे समाधिमरण की प्राचीनता तो स्वयमेव प्रमाणित है। वास्तव में ये निषीधिकाएं जैन मुनियों और साधुओं की स्मारक हैं। वे स्तूप भी इसके पर्याय-वाची हैं, जो समाधिमरण करने वाले किसी महापुरुष की स्मृति में निर्मित हुए थे। आचार्य स्थूलभद्र ने वी० नि० सं० २१९ और ईसा-पूर्व ३११ में शरीर-त्याग किया। आज भी उनका समाधि-स्थान एक स्तूप के रूप में पटना में गुलजार-बाग स्टेशन के पिछले भाग में स्थित है। प्रसिद्ध यात्री ह्युएनत्सांग ने इसे देखा था।[3] श्रवण बेल्गोल के जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ समाधिमरण से सम्बन्ध रखने वाले मुनि, आर्यिकाओं व श्रावक-श्राविकाओं के लेख-युक्त कई स्मारक हैं, जिनमें सर्वप्राचीन समाधिमरण का लेख शक० सं० ५७२ का है।

समाधिमरण की भावना

जैन परम्परा में आज भी **दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो वि। मम होउ तिजगबन्धव तव जिणवर चरण सरणेण** की भावना भाई जाती है। समाधिमरण धारण करने वाले का यह आकुल भाव भिन्न-भिन्न युगों, स्थानों और भाषा-उपभाषाओं में व्यक्त होता रहा है। यहाँ आचार्य पूज्यपाद की समाधि-भक्ति[4] के कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया जा रहा है। संस्कृत-साहित्य के सभी भक्त-कवियों ने कुछ कम-बढ़ रूप में इसी भाव को स्पष्ट किया है :

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रिय-हितवचो भावना चात्मतत्त्वे
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥२॥

हे भगवन्! मैं भव-भव में शास्त्राभ्यास, भगवान् जिनेन्द्र की विनती, सदा आर्यों के साथ संगति, अच्छे चरित्र वालों के गुणों का कथन, दूसरों के दोषों के विषय में मौन, सबके लिए प्रिय और हितकारी वचन और शुद्धात्म-तत्त्व में मन लगाता रहूँ, ऐसी प्रार्थना है।

आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्रीपादयोः सेवया,
सेवासक्त विनेय-कल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नाम प्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम ॥६॥

हे भगवन् जिनदेव! मेरा बचपन से लेकर आज तक का समय आपके चरणों की सेवा और विनय करते-करते ही व्यतीत हुआ है। इसके उपलक्ष में आपसे मैं यही वर चाहता हूँ कि आज इस समय, जबकि हमारे प्राणों के प्रयाण की

---

१ यथा निषीधिका-आराधक शरीर-स्थापनास्थानम्।
—मूलाराधना टीका, गाथा १९६७

२ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण २, पृ १३५-३६

३ मुनि कान्तिसागर, खोज की पगडण्डियाँ, पृ० २४४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

४ आचार्य पूज्यपाद, समाधि-भक्ति, संस्कृत भाषा में है, यह शोलापुर से मुद्रित दश-भक्ति में प्रकाशित हो चुकी है।

वेला आ उपस्थित हुई है, आपके नाम से जटित स्तुति के उच्चारण में मेरा कण्ठ अकुण्ठित न हो।

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्ति. ॥७॥

हे जिनेन्द्र! जब तक मैं निर्वाण प्राप्त करूँ, तब तक आपके चरण-युगल मेरे हृदय मे और मेरा हृदय आपके दोनों चरणों में लीन बना रहे।

अनन्तानन्त-संसार-संततिच्छेदकारणम्। जिनराज-पदाम्भोज-स्मरणं शरणं मम ॥१४॥
अन्यथाशरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम। तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥१५॥

भगवान् जिनेन्द्र के चरणकमलो का वह स्मरण, जो अनन्तानन्त ससार-परम्पराओ को काटने मे समर्थ है, मुझ दु खी को शरण देने वाला है। मुझे आपके सिवा और कोई शरण देने वाला नही है, इसलिए हे भगवन्! कारुण्य भाव से मेरी रक्षा करो।

न हि त्राता न हि त्राता न हि त्राता जगत्त्रये। वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥१६॥
जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने। सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥१७॥
याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम्। याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव ॥१८॥

तीनो लोको मे भगवान् वीतराग के अतिरिक्त कोई रक्षा करने वाला नही है। ऐसा देव न कभी भूत मे हुआ और न भविष्यत् मे होगा। भक्त का भगवान् से निवेदन है कि, प्रतिदिन भव-भव मे मुझे भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति उपलब्ध हो। हे जिनेन्द्र! मैं बारम्बार यही प्रार्थना करता हूँ कि आपके चरणारविन्द की भक्ति मुझे सदैव प्राप्त होती रहे। मैं पुन-पुन उसी की याचना करता हूँ।

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगाः। विषो निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥१९॥

भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करने मे विघ्नो के समूह-रूप शाकिनी, भूत और पन्नग सभी विलीन हो जाते है और विष निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।
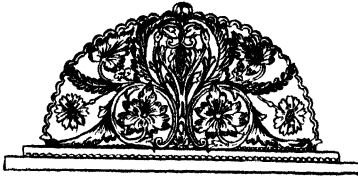
भारतीय दर्शन में स्याद्वाद

प्रो० विमलदास कोंदिया जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०
दर्शन-विभाग, हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी

दर्शन और विषय-प्रवेश

भारत धर्म-प्राण देश है। धर्म का उद्देश्य, ऐहिक सुख-दुःखो का तारतम्य अनुभव करते हुए चरम लक्ष्य—आत्यन्तिक सुख या मोक्ष की प्राप्ति है। धार्मिक तत्त्वो का साक्षात्कार करना दर्शन है। दर्शन की उत्पत्ति तत्त्व-साक्षात्कार के लिए हुई है। यही कारण है कि धर्म और दर्शन परम्परानुबद्ध हैं। 'धर्म' शब्द के मुख्य अर्थ हैं—धारण करने से धर्म,[1] या उत्तम सुख मे धरने से धर्म,[2] अथवा वस्तु-स्वभावरूप धर्म।[3] धर्म वह है, जो धारण किया जाय या धर्म वह है जो मनुष्य को उत्तम सुख की प्राप्ति करा दे, या धर्म वह है जो वस्तु का स्वभावरूप हो। तीनो ही अर्थ प्रायः एक ही लक्ष्य को सूचित करते है। दर्शन शब्द का अर्थ है, जिसके द्वारा देखा जाये,[4] अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व (reality) का साक्षात्कार हो जाये।[5] तत्त्व इन्द्रिय-ज्ञानातीत है।[6] उसको देखने की प्रवृत्ति या आकांक्षा प्रत्येक मानव मे है। मानव ऐहिक सुख की अस्थिरता का अनुभव करता है और सासारिक वस्तुओ की क्षणभंगुरता देखकर किसी शाश्वत वस्तु की प्राप्ति के लिए जिज्ञासा करता है। जन्म-दुःख, जरा-दुःख, रोग-दुःख, मरण-दुःख आदि को अनुभव करते हुए किसके चित्त मे उद्वेग उत्पन्न नही होता है? जब प्रत्येक प्राणी का अनुभव एक समान ही है तो धर्म या दर्शन की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अतः ऐसा कहने मे कोई आपत्ति नही कि दुःखानुभूति मानव को धर्म या दर्शन की खोज मे प्रवृत्त कराती है।[7] भारतवर्ष मे संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ-साथ धर्म और दर्शन दोनो का लक्ष्य मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस्, कैवल्य, निर्वाण, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति, ब्रह्म-प्राप्ति, विज्ञान, शून्य, स्वर्ग आदि की प्राप्ति रहा है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तक धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् न कर सके। आधुनिक युग मे हमे कुछ-कुछ पार्थक्य पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव मे दीखने लगा है। पाश्चात्य दर्शन मे हम दर्शन के लिए फिलॉसॉफी (Philosophy) शब्द का प्रयोग पाते हैं, जिसका अर्थ होता है बुद्धि का प्रेम (Love of wisdom)। पाश्चात्य देशो में दर्शन बुद्धि का चमत्कार रहा है। वहां लोग ज्ञान को मात्र ज्ञान के लिए ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते थे और अब भी अनेक चिन्तकों का यही मत है।[8]

पाश्चात्य विचारो के अनुसार दार्शनिक वह है, जो जीव, जगत्, परमात्मा, परलोक आदि तत्त्वो का निरपेक्ष विद्यानुरागी हो। किन्तु इसके विपरीत भारतवर्ष में दार्शनिक वह है, जो तत्त्व का साक्षात्कार करते हुए मोक्ष-मार्ग मे

---

१ धारणात् धर्ममित्याहु।—मनु।

२ यो धरत्युत्तमे सुखे। —रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र

३ वत्थुसहावो धम्मो। —कुन्दकुन्दाचार्य

४ दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्।—सर्वदर्शनसंग्रह टीका

५ The aim of philosophy is to see reality directly.

६ Reality is transcendental.

७ अणुभवमूलो धम्मो।

८ Knowledge for sake of knowledge.

संलग्न रहता है। यही कारण है कि जैन दर्शन मे धर्म का मूल दर्शन या सम्यक् दर्शन को बतलाया है।[१] सम्यक् दर्शन का अर्थ स्वानुभूति या आत्म-साक्षात्कार है, जो आत्म-विकास की प्रथम सोपान या सीढी है। इसके बिना ज्ञान और चरित्र आत्म-विकास के हेतु नही होते।[२] यही कारण है कि भारतीय दर्शनशास्त्र कल्पना-कुशल कोविदो के मनोविनोद का साधन-मात्र नही है और न विश्व की अपूर्व, आश्चर्यमय वस्तुओ को देखकर उनके रहस्यो को जानने के लिए या तत्सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए प्रयास-मात्र है। भारत मे दर्शन की उत्पत्ति चरम मूल्याकन के लिए हुई है और यहाँ के दर्शनकार अपनी सूक्ष्म और तलस्पर्शी विवेचना-शक्ति के द्वारा चरम लक्ष्य को निर्धारित कर, उसके साधन मार्ग की व्याख्या मे प्रवृत्त होते रहे है और उसके लिए ही दार्शनिक तत्त्वो का पर्यालोचन करते रहे है। अत दर्शन को दृष्टि कहना अधिक उपयुक्त है। भारतवर्ष मे अनेक दृष्टियाँ उत्पन्न हुई और प्राय. सभी दर्शनकारो ने अपनी-अपनी दृष्टियो द्वारा जीवन और जगत् की गुत्थियो को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ये दृष्टियाँ दो प्रकार की है—१ एकान्त, और २ अनेकान्त। प्रथम वस्तु-तत्त्व का एकान्त-दृष्टि से विचार करती है और द्वितीय अनेकान्त-दृष्टि से। एकान्त-दृष्टि मे आग्रह होता है और वह राग-द्वेषादि को जन्म देने वाली होती है। इससे चित्त की साम्यावस्था पैदा नही होती है। इसके विपरीत अनेकान्त-दृष्टि चित्त मे स्थिरता पैदा करके राग-द्वेषादि विकारो या उद्वेगो को दूर करती है और मानव को साम्य-योग मे अवस्थित कर स्थितप्रज्ञ बनाती है। एकान्त-दृष्टि के मुख्य भेद है—१ एकान्त, २ विपरीत, ३ सशय, ४ अज्ञान, ५ वैनयिक और ६ कुनय। उक्त दृष्टियाँ वस्तु-तत्त्व का एकान्त-दृष्टि से विचार करती है। अनेकान्त-दृष्टि इनके विरुद्ध वस्तु-तत्त्व को समग्र रूप से विवेचन करती हुई वस्तु के अशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराती है। इसी हेतु से आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि तत्त्व एकान्त-दृष्टि का प्रतिबिम्ब करता है।[३] तत्त्व एकान्त नहीं है, उसका स्वरूप अनेकान्तात्मक है।[४] जब इसी तत्त्व को हम भाषा द्वारा प्रकट करते है, तब यह स्याद्वाद कहलाता है।

भारतीय दर्शन की दो विचारधाराएं

भारतीय दर्शन दो विचारधाराओं मे विभक्त है—१ श्रमण, और २ ब्राह्मण। इन दोनों धाराओं का परस्पर विचार-सम्बन्धी विरोध वैदिक काल से ही चला आ रहा है। इसके प्रतिपादक अनेक उल्लेख मिलते है। जैसे—"उस समय न सत् था और न असत् था।[५]" "जो व्यक्ति यहाँ नाना या अनेकता को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है।[६]" "जिनका शाश्वतिक विरोध है, वे है श्रमण और ब्राह्मण, साँप और नेवला।[७]" इत्यादि विरोध-सूचक वाक्य इस को सिद्ध करते हैं कि भारतीय चिन्तन के क्षेत्र मे इन परम्पराओ मे बहुत काल तक सघर्ष चलता रहा है, फिर भी दोनो परम्पराए यहाँ पर पनपती और फलती-फूलती रही है। उत्तर काल मे दोनो परम्पराओ का आपस मे आदान-प्रदान भी

१ दंसणमूलो धम्मो। —कुन्दकुन्दाचार्य

२ मोक्ष महल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा ॥
—पं० दौलतराम, छहढाला

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥
—समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार।

३ एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वम्। —समन्तभद्र

४ तत्त्वमनेकान्तमशेषरूपम्। —समन्तभद्र

५ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। —ऋग्वेद, नासदीय सूक्त १०।२।८

६ मृत्यो. स मृत्युमाप्नोति इह नानेव पश्यति।

७ येषां च शाश्वतिको विरोधः। श्रमणब्राह्मणम्, अहिनंकुलम्। —पातञ्जल महाभाष्यम्, पृ० ५३६

होता रहा है और दोनों ने एक-दूसरी को प्रभावित भी किया है; जैसे, सन्यास ब्राह्मण-परम्परा मे स्थान पा गया, वर्ण और आश्रम-व्यवस्था कुछ सीमा तक श्रमण-परम्परा मे प्रवेश कर गई, इत्यादि। इन दोनो परम्पराओ के पार्थक्य की मुख्य विशेषताए निम्नलिखित है .

१ श्रमण-धारा की आधारशिला अहिंसा और अनेकान्त रहे है। ब्राह्मण-धारा इसके विपरीत हिंसा और एकान्त मे विश्वास करती रही है। इसके प्रमाण यज्ञयागादि-जन्य हिंसा और अनेक दर्शनो की उत्पत्तियाँ हैं।

२ प्रथम परम्परा के लोग संयम और तप को प्रधान मानते रहे है और दूसरी परम्परा के लोग ऐहिक अभ्युदय या भोग और वर्णाश्रम-व्यवस्था को समाज का आधार मानते रहे है।

३ प्रथम विचारधारा का लक्ष्य मोक्ष रहा है,जो क्षत्रिय जाति की देन है। इसके विपरीत द्वितीय धारा के लोग ऐहिक सामजस्य,दान-दक्षिणा और स्वर्ग-प्राप्ति को अपना ध्येय मानते रहे हैं। ब्राह्मणो मे सर्वदा इसकी प्रधानता रही है।

४ श्रमण-परम्परा ईश्वर या ब्रह्म मे विश्वास नही करती, अतः उनके दर्शन का आधार आत्मानुभव के साक्षात्कार मे रहा है। ब्राह्मण-परम्परा ब्रह्म या ईश्वर मे विश्वास करती हुई वेदो को अनादि, नित्य और ईश्वरोक्त मानती रही है, अत उनके दर्शनो का मूलाधार आविर्भाव (Revelation) रहा है।

५ श्रमण लोग स्त्री और शूद्रो को उचित स्थान देते रहे है। ब्राह्मण लोगो ने उन्हे धर्म और वेदाध्ययन के अधिकारों से वचित रखा है। स्त्री का वेदाध्ययन-निषेध इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

६ श्रमणो में सन्यास या त्याग का विशेष महत्त्व रहा है। ब्राह्मणो मे पहले सन्यास को कोई महत्त्व नही दिया जाता था; अपितु सन्यासी को अशुभ समझते थे। बोधायन आपस्तम्ब और गौतम गृह्यसूत्रो मे इसका उल्लेख नही है। बाद मे सन्यास को भी प्रश्रय मिला।

७ श्रमण-दर्शन आत्मा की खोज और उसके स्वरूप की प्राप्ति मे सदा सलग्न रहता था। ब्राह्मण-दर्शन ईश्वर या ब्रह्म-प्राप्ति को अपना लक्ष्य समझता था और आत्मा को उससे भिन्न नही मानता था। इसीलिए ब्राह्मण-दर्शन अभेद-मूलक है और श्रमण-दर्शन भेद या भेदाभेद-मूलक है।

इस प्रकार दोनो परम्पराओ मे भेद होते हुए भी दोनो के सघर्ष के परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष मे दर्शन-शास्त्र का अच्छा विकास हुआ है। भारत अब भी अपने दार्शनिक चिन्तन के लिए सुप्रसिद्ध है और विदेशो मे इसका मान है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

सब ज्ञानो की विषयभूत वस्तु अनेकान्तात्मक होती है।[1] इसी कारण से वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा है। जिसमे अनेक अर्थ, भाव, सामान्य-विशेष गुण पर्यायरूप मे पाये जाये, वह अनेकान्त है।[2] केवलज्ञान मे वस्तु-तत्त्व अनेकधर्मात्मक ही प्रतीत होता है। इस अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्व को भाषा द्वारा प्रतिपादन करने का नाम स्याद्वाद है।[3] अत. अनेकान्त और स्याद्वाद मे महान् अन्तर है। जिन आचार्यों ने स्याद्वाद को अनेकान्त कहा है, उन्होने स्थूल दृष्टि से कह दिया है। तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से दोनों में भेद है। स्याद्वाद श्रुत है, अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है। आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट रूप से कहा है; "स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही वस्तु-तत्त्व के प्रकाशक हैं। दोनो मे भेद इतना ही है कि एक वस्तु का साक्षात ज्ञान कराता है और दूसरा असाक्षात् ज्ञान कराता है; अर्थात् एक प्रत्यक्ष है, तो दूसरा परोक्ष है। एक के बिना दूसरा अवस्तु हो जाता है।[4] कहा भी है—'स्याद्वाद श्रुत कहलाता है।'[5] स्याद्वाद परोक्ष होने से श्रुत है। स्याद्वाद मे 'स्यात्'

१ अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचरं सर्वसंविदाम्।—सिद्धसेन, न्यायावतार

२ अर्थोऽनेकान्तः। अनेके अन्ता, भावा, अर्थाः सामान्यविशेषगुणपर्यायाः यस्य सोऽनेकान्तः।

३ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।—अकलंक, लघीयस्त्रयी।

४ स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्ववस्तुप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।—समन्तभद्र, आप्तमीमांसा १०५

५ स्याद्वादः श्रुतमुच्यते।

शब्द का विशेष स्थान है। यह निपात है और अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादक है। अर्थ का प्रतिपादक होने से श्रुतकेवली द्वादशांगी की रचना मे सर्वत्र इसका उपयोग करते है।[1] स्याद्वाद क्रमभावी ज्ञान है।[2] केवलज्ञान मे क्रम नहीं होता। एकान्त का सर्वथा त्याग करने के कारण इसका दूसरा नाम कथंचित्वाद भी है।[3] अत स्याद्वाद-सिद्धान्त के अनुसार कथचित् वस्तु सद्रूप है, कथचिन् असद्रूप है, कथचित् नित्य है, कथचित् अनित्य है, कथचित् एक है, कथंचित् अनेक है; कथचित् भेद-रूप है, कथचित् अभेद-रूप है, कथचित् सामान्य-रूप है, कथचित् विशेष-रूप है। इस प्रकार के परस्पर-विरोधी धर्मों का सामजस्य स्याद्वाद द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि वस्तु-तत्त्व की सिद्धि अर्पणा या अनर्पणा[4] अथवा गौण या मुख्य भाव से हो सकती है। यह कार्य अपेक्षा (Relativity) द्वारा ही सम्भव है। एकान्ताग्रह से वस्तु-तत्त्व की सिद्धि नही हो सकती और न दृष्टि मे निर्मलता ही आ सकती है।

जैन दर्शन का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। स्याद्वाद उसी का विकास-मात्र है। अनेकान्त केवलज्ञानजन्य अनुभूति है। जब उसी अनुभूति का वचन द्वारा प्रकाशन किया जाता है तो उसे स्याद्वाद कहते है। यही कारण है कि भगवद्वाणी स्याद्वादमयी होती है।[5] अतः स्याद्वाद का जन्म भगवान् अर्हन्त देव की दिव्य भाषा के साथ है। इस युग के आदि तीर्थंकर ऋषभ है; इसलिए उनको ही स्याद्वाद का आदि-प्रवर्तक कहा जा सकता है। भगवान् ऋषभ के अनन्तर बाईस तीर्थंकर उसी प्रकार का उपदेश अपनी स्याद्वादमयी वाणी द्वारा करते रहे हैं।[6] वर्तमान समय के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं, जिनका अस्तित्व और सिद्धान्त बौद्ध त्रिपिटकादि ग्रन्थों द्वारा सिद्ध है। इस समय वे ही स्याद्वाद-सिद्धान्त के पुरस्कर्ता कहे जाते है। कहा जाता है कि उनके ही समकालीन सजयवेलट्ठिपुत्त ने इस सिद्धान्त का अज्ञानवाद के रूप मे प्रतिपादन किया था।[7] उसी को भगवान् महावीर ने परिवर्धित और परिष्कृत किया, अथवा उत्तरकाल मे जिस वस्तु को माध्यमिकों ने चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त[8] कहा, उसी को महावीर स्वामी ने विधि-रूप देकर परिपुष्ट किया। ऐतिहासिक पण्डितो की ये कल्पनाए इसीलिए निराधार है कि जैन तीर्थंकरो ने अनेकान्त-तत्त्व का साक्षात्कार किया और श्रुत-केवलियों ने उनके अर्थ को अनुश्रुत करके स्याद्वाद श्रुत के रूप मे वर्णन किया। इसके अतिरिक्त निषेध सर्वदा विधिपूर्वक[9] होता है, अत इसके प्रतिष्ठापक अर्हन्त-केवली, श्रुत-केवली आदि ही है, साधारण व्यक्ति नही। अन्य आरातीयादिकों ने उन्ही का अनुसरण किया है। इस तत्त्व का बीज-रूप मे धवलादि दिगम्बर आगम, आचाराग, भगवती आदि श्वेताम्बर आगमो म उल्लेख पाया जाता है,[10] किन्तु यह आश्चर्य है कि वहां स्याद्वाद शब्द का स्पष्ट उल्लेख नही है। इस तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख समन्तभद्र सिद्धसेन, अकलक[11] आदि के ग्रन्थो मे ही है। उत्तरकालीन साहित्य मे तो इसका अत्यन्त विस्तृत रूप पाया जाता है। अत. स्याद्वाद का विकास उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा है, इसमे कोई सशय नही। स्याद्वाद की मुख्य प्रतिष्ठा का श्रेय समन्तभद्र

१ वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषक.।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥—समन्तभद्र, आप्तमीमांसा १०३

२ क्रमभावी च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।— वही

३ स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः। — वही

४ अर्पितानर्पित सिद्धे:।—तत्त्वार्थसूत्र

५ स्याद्वादः भगवत्प्रवचनम्।—न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ३६४

६ सव्वे तित्थयरा एवमेव अत्थम् भासयन्ति।—आचारांगसूत्र; कल्पसूत्र

७ अत्थीति न भणामि नत्थीति न भणामि, इत्यादि

८ चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदु.।—माध्यमिक कारिका, नागार्जुन

९ विधिपूर्वकस्तान्निषेधस्य।

१० जीवाणं भन्ते! किं सासया, असासया?
गोयमा! जीवा सिय सासया, सिय असासया।—भगवती सूत्र ७।२।२७३; सूत्रकृतांगसूत्र २।५।२५

११ स्याद्वाद. सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः। स्याद्वादिभ्यो नमो नमः, इत्यादि

को है। सिद्धसेन ने भी इसकी परिपुष्टि में अच्छा भाग लिया है। अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि ने तो इसके विकास में चार चाँद लगा दिये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो केवल सप्तभंगी का उल्लेख किया है,[1] स्याद्वाद का नहीं, जो कुछ भी हो, स्याद्वाद जैन दर्शन के तत्वों का वर्णन करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।

स्यात् शब्द का प्रयोग

स्याद्वाद मे 'स्यात्' शब्द का अत्यन्त महत्त्व है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है 'स्यात्' शब्द सत्य का प्रतीक है।[2] पर्याय मे सत्य (truth) का प्रतिपादन स्यात् शब्द के प्रयोग के बिना हो ही नहीं सकता। इस हेतु से ही आचार्यों ने 'स्यात्' शब्द का प्रयोग न करने पर भी सर्वत्र इसकी अनुस्यूतता की आवश्यकता बतलायी है।[3] सत्य का प्रवचन स्याद्वाद द्वारा होता है। इसी कारण स्याद्वाद को श्रुत या श्रुति कहा गया है। स्याद्वाद-दृष्टि द्वारा वस्तु अनित्य, नित्य, सदृश, विरूप आदि धर्मों द्वारा प्रवर्तित की जाती है।[4] इसकी व्यापकता और सार्वभौमता इसी से सिद्ध है कि यह सिद्धान्त वस्तु के सम्पूर्ण अर्थ का विनिश्चय करने वाला है। जो परस्पर-निरपेक्ष अर्थ है, वह मिथ्या है। जब वही सापेक्ष हो जाता है, तब नयश्रुत का विषय बन जाता है और वह सापेक्ष वस्त्वंशो का प्रतिपादक होने के नाते सम्यक् नयों के रूप को धारण करता है।[5] इसलिए कहीं-कहीं पर नयो के प्रतिपादन मे भी स्यात् शब्द की उपयोगिता बतलायी है। इसी के आधार पर सप्तभंगी के दो भेद कर दिये गए हैं: १ प्रमाण-सप्तभंगी और २ नय-सप्तभंगी। सप्तभंगी के सातों भंगों मे स्यात् शब्द का प्रयोग है।

स्व-चतुष्टय और पर-चतुष्टय

जब हमने यह मान लिया कि वस्तु-तत्त्व सापेक्ष है और उसका प्रतिपादन स्याद्वाद द्वारा होता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह अपेक्षा चार सन्दर्भों में प्रकट की जा सकती है १ द्रव्य, २ क्षेत्र, ३ काल और ४ भाव। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत् है—इसकी आवश्यकता आचार्य समन्तभद्र ने इसी अर्थ मे बतलायी है।[6] जब वस्तु का स्वरूप सत् है और सत् द्रव्य का लक्षण है,[7] और वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक[8] है, तो हमे कहना पड़ेगा कि ये तीनों आपेक्षिक है। क्योंकि उत्पाद ही भंग है, भंग ही उत्पाद है, ध्रौव्य ही उत्पादव्ययात्मक है, उत्पादव्यय ही ध्रौव्य है।[9] यह वर्णन देखने मे विरोधात्मक प्रतीत होता है, किन्तु अपेक्षा-दृष्टि से विरुद्ध दीखता हुआ भी अविरोध-रूप और निर्दोष है। इसी हेतु जब द्रव्य-सम्बन्ध, क्षेत्र-सम्बन्ध, काल-सम्बन्ध और भाव-सम्बन्ध आदि सापेक्ष सम्बन्धों को लेते है तो विरोध स्वत. समाप्त हो जाता है और वस्तु का यथार्थ और सत्य-तत्त्व अनेकान्तात्मक प्रतीत होता है, जिसका वर्णन स्याद्वाद करता है।

१ सिय अत्थि णत्थि उहयं।—पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य

२ स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात्-शब्दो निपातः।

—पंचास्तिकायटीका, अमृतचन्द्र

३ सोऽप्रयुक्तोपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।—लघीयस्त्रयी, श्लोक २२

४ स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपम्।—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक २५, आचार्य हेमचन्द्र

५ निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।—आप्तमीमांसा

६ सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥—आप्तमीमांसा, श्लोक १५

७ सद् द्रव्यलक्षणम्।—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५

८ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५; उपन्नेइ वा विगमेई वा धुवेइ वा।—स्थानांग, सूत्र, ठा० १०

९ स्थितेरनोत्पत्तौ विनाशमेव तिष्ठति उत्पत्तिरेव नश्यति।—अष्टशती, पृ० ११२

सत्य का स्वरूप जटिल (complex) है। इसका प्रतिपादन सरलता से नही हो सकता है। जिन दार्शनिको ने सत्य को सरल समझा है, उन्होने या तो इसको एकत्व मे परिसमाप्त कर दिया है, या शून्यता के गर्त मे डाल दिया है, या साधारण वर्णन करके छोड दिया है, या ऐहिक सुख के प्रलोभन मे पडकर भूत-चतुष्टय-मात्र कहकर टाल दिया है, या अज्ञेयता को परिपुष्ट किया है, या संशयवाद मे पडकर चुप हो गए है, या अनेक कुनयो के चक्कर मे पडकर भिन्न-भिन्न सिद्धान्त बनाये है,जो परस्पर-विरोधी होने के कारण त्याज्य और हेय है। इसकी जटिलता को समझ कर ही जैन दार्शनिको ने स्याद्वाद-सदृश विलक्षण सिद्धान्त की खोज की है, जो सत्य को सत्यार्थ-रूप मे प्रकट करके वस्तु-तत्त्व को सुबोध्य और सुगम्य बनाता है। इस कारण मे ही आप्त-मीमासा मे आचार्य ने तीर्थंकर प्रभु को निर्दोष,[1] यथार्थ वक्ता और सत्य का प्रतिपादक कहा है। क्योकि स्याद्वाद मानसिक तुष्टि और वचन-शुद्धि का साक्षात् कारण है। स्याद्वाद ही अहिंसा का आचरण करने के लिए मानव को बाध्य कराता है। मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा इसी मे उत्पन्न होती है। जब विरोध ही नही तो हिंसा के लिए कहाँ स्थान है? हिंसा विरोध मे उत्पन्न होती है। स्याद्वाद के मानने पर इसके प्रचार से हम शान्ति स्थापित कर सकते है और विरोध तथा युद्ध की विभीषिका को, विचार और कार्य के क्षेत्र मे, सदा के लिए समाप्त कर सकते है। हेमचन्द्र ने ठीक कहा है कि निष्कटक स्याद्वाद के शासन मे ही सर्वत्र शान्ति और सुख की प्रतिष्ठा हो सकती है।

स्याद्वाद और वैदिक दर्शन

अन्य दर्शनो मे स्याद्वाद का क्या स्थान है, यह विषय भी अपना एक मौलिक स्थान रखता है। वैदिक दर्शन का अध्ययन करने मे प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि स्याद्वादादिक चिन्तन की प्रक्रिया मे परिचित थे। अन्यथा वे नासदीय सूक्त मे सत् और असत् दोनो का विरोध न करते।[2] एक ही स्वर मे दोनो का विरोध इस बात को सिद्ध करता है कि यह केवल स्याद्वाद का निषेध है। उपनिषद्-काल मे तो इसका स्पष्ट निषेध मालूम होता है। श्रमणो तथा तपस्वियो के उल्लेख के साथ-साथ वहाँ स्याद्वाद की झलक भी स्पष्ट रूप मे प्रतीत होती है। एक जगह कहा गया है वह नही हिलता है और वह हिलता भी है।[3] अन्यत्र एक ऋषि कहता है सत् एक है, किन्तु विप्र उसे अनेक रूप मे वर्णन करते है।[4] दूसरी जगह कहा है सृष्टि के आरम्भ मे सत् ही था, असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो गई?[5] गीता मे एक जगह कहा गया है,'**न स सत्तन्नासदुच्यते**', अर्थात् वह न सत् है और न असत्। इन उल्लेखो से इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि सत् और असत् दोनो से परिचित थे। कही एक-एक का समर्थन है, कही दोनो की विधि है और कही दोनो का निषेध है। यथार्थ मे देखा जाये तो प्रतीत होगा कि यही तीनो विकल्प—सत्, असत्, अवक्तव्य अनेकान्त या स्याद्वाद के मूल हैं। अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी के दार्शनिक सिद्धान्त इनकी ही सुव्यवस्था करते है। इससे अनेकान्त-तत्त्व और स्याद्वाद की काफी प्राचीनता सिद्ध होती है। वैदिक ऋषियो द्वारा 'नाना' आदि का खण्डन इसी तथ्य का सूचक है।

स्याद्वाद और बृहस्पति या चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन भौतिक दर्शन है।[6] इसका प्रतिपादन सृष्टि-कर्तृत्व तथा सृष्टि-अभिव्यक्ति द्वारा हुआ है। कुछ लोग भूत-चतुष्टय को विश्व का कर्ता मानते थे और कुछ लोग एक तत्त्व से सृष्टि की अभिव्यक्ति मानते थे। वहाँ केवल प्रत्यक्ष

१ स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। —आप्तमीमांसा

२ नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्, इत्यादि। —ऋग्वेद, १०।१२९।४, शतपथब्राह्मण १०।५।१

३ यन्नेजति तद्वेजति।—उपनिषद्

४ एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। —उपनिषद्

५ सदेवेदमग्र आसीत् कथं त्वसतः सञ्जायेति।—ताण्ड्यब्राह्मण, प० ६।२

६ यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।—चार्वाक दर्शन

ही प्रमाण था। अतः जीवन को सुखमय बनाना या ऐहिक सुखवाद ही उनके जीवन का लक्ष्य था। इस प्रकार के भूत-चतुष्टयवाद की सभी दर्शनकारों ने आलोचना की है। यद्यपि जैन दर्शन का इससे साक्षात् सम्बन्ध तो कोई नही है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि चार्वाक लोग जड़ पदार्थ से ही निर्जीव तत्त्व और जीव-तत्त्व की व्याख्या करते हैं, जो बिना स्याद्वाद-दृष्टि को अपनाये नही बनती। अतः चार्वाकों का यह चिन्तन स्याद्वाद का आधार लिये हुए प्रतीत होता है। भौतिक क्षेत्र मे स्याद्वाद को अपनाना सर्वथा स्याद्वाद का निषेध नही कहा जा सकता।[1] यहाँ एक बात शोचनीय है कि यहाँ के लोगों ने भूत-चतुष्टयवाद को पनपने नही दिया, अन्यथा इसके सिद्धान्त के विषय मे हमारा इतना अज्ञान न होता।

स्याद्वाद और बौद्ध दर्शन

भारतीय दर्शनो मे बौद्ध दर्शन अत्यन्त प्रौढ और बलिष्ठ है। यह वैदिक दर्शनो के सर्वथा विपरीत है। यदि वे नित्यत्व के प्रतिष्ठापक है तो यह अनित्यत्व का। दोनो मे आत्यन्तिक विरोध है। सब क्षणिक है, सब अनित्य है, निर्वाण शान्त है[2], चार आर्य-सत्य, अष्टाग मार्ग, प्रतीत्य-समुत्पाद आदि इसके मुख्य सिद्धान्त है। निर्वाण प्रदीप की शान्ति के समान है। यद्यपि इनके सिद्धान्त एकान्त को लिये हुए है, फिर भी इन्होने अनेकान्त या स्याद्वाद का विभज्यवाद के रूप मे अवश्य उपयोग किया है। यही कारण है कि बुद्ध ने अनेक प्रश्नो का उत्तर नही दिया और आनन्द के ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया।[3] इनके मुख्य भेद चार है १ वैभाषिक, २. सौत्रान्तिक, ३. विज्ञानवाद और ४ माध्यमिक। इनमे वैभाषिक और सौत्रान्तिकों का चिन्तन जैन दर्शन की प्रक्रिया के साथ कुछ साम्य रखता है। विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन प्रत्ययवादी दर्शन होने के कारण जैन दर्शन से सर्वथा विपरीत है, जिनमे माध्यमिक दर्शन शून्यवादी होने के कारण स्याद्वाद का अत्यन्त विरोधी है।[4] शान्तरक्षित विज्ञानवादी ने तो इसको विप्र, निर्ग्रन्थ और कापिलो का अज्ञान कहा है।[5] त्रिपिटको मे भी 'सीहनाद सुत्त' आदि मे महावीर स्वामी का खण्डन किया गया है। फिर भी इतना अवश्य है कि निश्चय, व्यवहार, सवृत्ति सत्य, पारमार्थिक सत्य, सन्तान, विज्ञान आदि के सिद्धान्त स्याद्वाद-दृष्टि के बिना समझ मे नही आ सकते।

न्याय, वैशेषिक और स्याद्वाद

न्याय और वैशेषिक, चिन्तन और प्रक्रिया मे लगभग समान होने के कारण एक गिने जाते है। सप्त पदार्थ[6] या सोलह[7] पदार्थ लगभग समान है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव आदि का वर्णन नित्यानित्यत्व दोनो को लिये हुए है; किन्तु ये दर्शन सर्वथा भेद के प्रतिपादक होने के कारण एकान्ती कहलाते हैं। इनका चिन्तन नैगम नय के समान है। गुण-गुणी आदि का सर्वथा भेद जैन-दर्शन से विरुद्ध पड़ता है। ईश्वर की मान्यता जैन दर्शन से सर्वथा विपरीत है। दोनो दर्शन पर्यायवादी होने के कारण कुछ समानता रखते हैं। पृथ्वी आदि तत्त्वो को नित्यानित्य[8] मानकर स्याद्वाद का आश्रय लेना प्रतीत होता है। अतः न्याय और वैशेषिक जैन दर्शन से विपरीत नही कहे जा सकते।

१ अध्यात्मसार।—यशोविजय।
२ सर्वं क्षणिकम्। सर्वमनित्यम्। शान्तं निर्वाणम्।
३ दश अव्याकृत प्रश्न—शाश्वतो वाऽयं लोकः अशाश्वतो वा, इत्यादि।
४ चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका: विदुः।— माध्यमिक कारिका
५ कल्पनारचितस्यैव वैचित्र्यस्योपवर्णने।
को नामातिशयः प्रोक्तः विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः॥ —तत्त्वसंग्रह
६ द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः।—वैशेषिक दर्शन
७ प्रमाणप्रमेय...निःश्रेयसम्।—गौतम, न्यायसूत्र १
८ पृथ्वी नित्याऽनित्या च।—तर्कसंग्रह

इनका प्रमाण-विषयक चिन्तन अपूर्ण है। अकलंक आदि ने इनके चिन्तन से प्रभावित होकर प्रत्यक्ष के मुख्य और सांव्यवहारिक दो भेद किये हैं और जैन ज्ञान-सिद्धान्त को मध्य युग में तत्कालीन चिन्तकों के अनुरूप बनाया है। यह इनकी विशेषता है।

सांख्य, योग और स्याद्वाद

सांख्य अत्यन्त प्राचीन होने के कारण विशेष विचारणीय है। ये दो तत्त्वों को मानते हैं १ पुरुष और २ प्रकृति। पुरुष इनके यहाँ पुष्कर-पलाश के समान निर्लेप है।[1] वह भोक्ता है। पुरुष जैन दर्शन के समान अनेक है। वह निरपेक्ष द्रष्टा है। बुद्धि से अध्यवसित अर्थ में पुरुष चेतना पैदा करता है। इनका लक्ष्य कैवल्य है। प्रकृति-तत्त्व, जैन पुद्गल-तत्त्व में समानता रखता है। किन्तु इनके यहाँ यह एक है, जड़ है और प्रसवधर्मी है। सत्त्व, रज, तमस् की समता प्रकृति है। इनके अन्दर क्षोभ होने से सृष्टि का आरम्भ होता है और प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, उससे षोडश गण पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच भूत और उनसे पाँच तन्मात्राएं और मन की उत्पत्ति या विकास होता है।[2] कर्तृत्व धर्म इसमें पाया जाता है। यह विकार को भी स्थान देती है। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति।[3] योग-सिद्धान्त भी प्रायः इसी प्रक्रिया को मानता है। पतञ्जलि ने ईश्वर को[4] तथा योग (अष्टांग) को इसके साथ मिलाकर नवीन दर्शन का निर्माण किया। जैन योग और पतञ्जलि-योग बहुत-कुछ समानता रखते हैं। इन दोनों दर्शनों ने प्रकृति को एक और अनेक मानकर स्याद्वाद की महत्ता का परिचय दिया है और प्रतीत होता है कि ये दर्शन इसके प्रभाव से सर्वथा वंचित नहीं रहे हैं।

मीमांसा-दर्शन और स्याद्वाद

मीमांसा-दर्शन की उत्पत्ति वैदिक क्रियाकाण्ड को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए हुई थी। शब्द-नित्यत्व आदि के सिद्धान्त इनके अपूर्व हैं। भावना, विधि, नियोग आदि के द्वारा ये वैदिक सूक्तों के अर्थों का निर्णय करते थे। जहाँ तक दार्शनिक तत्त्वों का सम्बन्ध है, ये जैन दर्शन के समान ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक तत्त्व को ही मानते थे। इनके दो भेद हैं १ भाट्ट मत और २ प्रभाकर मत। दोनों में बहुत थोड़ा अन्तर है। उत्पादादि त्रय का तत्त्व का स्वरूप मानने में इनकी आस्था स्याद्वाद में प्रतीत होती है। तत्त्वसंग्रहकार इनको स्याद्वाद का पोषक मानता था। इसलिए ही, निर्ग्रन्थों के साथ-साथ ही इनका भी खण्डन किया है। ये वेदों को अपने चिन्तन का आधार मानते हैं। वेद-प्रामाण्य तथा शब्द के नित्यत्व के सिद्धान्तों का आलोचन करके जैन दर्शनकार तीर्थंकर-प्रणीत आगम और शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि करते हैं। फिर भी दार्शनिक क्षेत्र में इनका चिन्तन सामान्यविशेषात्मक है।[5] मीमांसा-दर्शन पदार्थ के निर्णय में अपनी अपूर्व देन समझता है, किन्तु तत्त्वचिन्तन में जैन दर्शनाधीन है और स्याद्वाद-शैली का उपयोग करता है। इनका लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति[6] है न कि मोक्ष, जो जैन तत्त्वज्ञानियों का चरम ध्येय है।

वेदान्त और स्याद्वाद

भारतीय दर्शन में वेदान्त का विकास अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह ब्रह्म-तत्त्व को मानता है। वह सत्,

---

१ प्रकृतिस्तु कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः।
२ प्रकृतेः महान् ततोऽहंकारः···पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।—सांख्यतत्त्वकौमुदी
३ न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः।—सांख्यकारिका
४ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।—योगदर्शन
५ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि॥—कुमारिल मीमांसा श्लोकवार्तिक
६ स्वर्गकामो यजेत्।—यजुर्वेद

चित्, आनन्दमय है।[1] ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं।[2] इन्होंने बाह्य जगत् की व्याख्या के लिए माया के सिद्धान्त का निर्माण किया है। माया अनिर्वचनीय है। वह है भी और नहीं भी है। इसके लिए ये निश्चय और व्यवहार का आश्रय लेते हैं। इनके यहाँ जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति-रूप तीन अवस्थाओं का वर्णन है। जब ब्रह्म माया से अविच्छिन्न होता है, तब ईश्वर का रूप निर्माण कर जगत् के सर्जन में प्रवृत्त होता है।[3] इनके अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं, उसी प्रकार जगत् ब्रह्म का बाह्य रूप है।[4] संसार से निवृत्ति के लिए माया से ब्रह्म का पार्थक्य आवश्यक है। आचार्य बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में इसका अच्छा वर्णन किया है। शंकर ने भाष्य लिखकर इस सिद्धान्त की अच्छी तरह परिपुष्टि कर अद्वैत-तत्त्व की स्थापना की है। रामानुज ने इसी पर भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत की स्थापना की है। माध्वाचार्य, निम्बार्क आदि आचार्यों ने भेदाभेद आदि सिद्धान्तों को प्रतिपादित कर, अद्वैत-तत्त्व ही सर्वप्रधान है, यह स्थापित किया है। माया के क्षेत्र में तथा निश्चय-व्यवहार के क्षेत्र में इन्होंने स्याद्वाद का आश्रय अवश्य लिया है। बिना स्याद्वाद के इनकी व्याख्या समुचित रूप से नहीं हो सकती। वेदान्तोत्तर दर्शनों ने कोई खास सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की है, अतः उनका पर्यालोचन करने पर स्याद्वाद-शैली का उनके ऊपर स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है।

स्याद्वाद और उसकी आलोचनाएं

बादरायण और शान्तरक्षित के बाद स्याद्वाद पर आलोचनाओं की काफी बौछारें पड़ी हैं। बादरायण ने विरोध को न्याय का मूल सूत्र मानकर कहा कि एक वस्तु में परस्पर-विरोधी धर्म नहीं रह सकते।[5] शान्तरक्षित ने लगभग ऐसा ही कहा है, अर्थात् अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, व्यापि-अव्यापि इत्यादि परस्पर-विरोधी अर्थ हैं। ये एक ही वस्तु में, एक ही क्षेत्र में, एक ही काल में तथा एक ही भाव में एकत्रित नहीं रह सकते हैं, अतः स्याद्वाद परस्पर-विरोधी भावों को समावेश करने के कारण सन्न्याय नहीं कहा जा सकता।[6] विरोध के रहने पर वैयधिकरण, संशय, संकर, उभय, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, अभाव आदि दोष आपाततः आ जाते हैं।[7] इस कारण ही शान्तरक्षित ने कह डाला कि स्याद्वाद अज्ञानियों की परिकल्पना है। पश्चात् स्याद्वाद को संशयवाद, छल, अज्ञानवाद आदि दोषों से भी सम्बोधित किया जाने लगा। आलोचक लोग आज भी स्यात् शब्द का शायद (may be, perhaps) आदि शब्दों से अनुवाद करके इसको संशयवाद आदि शब्दों से उद्बोधित करने में नहीं चूकते। डा० एस०राधाकृष्णन्, दासगुप्ता, हरियन्ना आदि विद्वानों ने शंकर की आलोचना के आधार पर इसकी आलोचना की है।

जैन तत्त्वज्ञानियों ने इन आलोचनाओं का समुचित उत्तर दिया है। अष्टसहस्री, लघीयस्त्रयी, प्रमेयकमलमार्तण्ड, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चयविवरण आदि ग्रन्थों में इसका अच्छा विवेचन किया

---

१ सत् चित् आनन्दमयं ब्रह्म।

२ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।

३ जन्माद्यस्य यतः।—ब्रह्मसूत्र १

४ सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन॥

५ नैकस्मिन्नासम्भवात्।—ब्रह्मसूत्र २, २-३३

६ सोऽयमज्ञैः परिकल्पितः।—शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, श्लोक १७७६

७ संशयविरोधवैयधिकरणसंकरमुभयम् दोषाः।
अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्तदोषाः स्युः॥
—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ७३८ सप्तभंगीतरंगिणी

है। इस विषयक आलोचना का स्पष्ट उत्तर उन्होने दिया है कि स्याद्वाद एक ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नित्यानित्यादि विकल्पो को नही मानता है। आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट-रूप में कहा है कि वस्तु-स्थिति[1] अर्पित और अनर्पित अपेक्षाओ को लेकर होती है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—"नाना भाव को न छोडते हुए वस्तु एक है और उसी प्रकार एक भाव को न छोडती हुई वस्तु नाना है। दोनो मे अङ्गाङ्गी-भाव है और इसीलिए वस्तु अनन्तरूप है और वह वस्तु-क्रम से वाणी की वाच्य बनती है।'[2] अनन्त-रूप वस्तु मे जब हम वाणी द्वारा विवेचन करेंगे तो वह अवश्य स्याद्वाद रूप होगी। अत विरोध के लिए कोई स्थान नही। जब विरोध न हो तो वैयधिकरण अर्थात् नित्य का अन्य अधिकरण, अनित्य का अन्य अधिकरण-रूप दोष भी नही। उसके अभाव में परस्पर विरोधरूप अनेक कोटियो में स्पर्श करने वाला सशय भी नही रह सकता। इसके अभाव मे परस्पर नित्यानित्य के मिश्रण-रूप लेकर भी दोष नहीं आ सकता। सकर के अभाव मे नित्यानित्य, फिर उसमे भी नित्यानित्यरूप अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पनारूप अनवस्था का भी दोष नही आ सकता। दोनो के अभाव मे उभय दोष की तो कल्पना भी नही हो सकती। परस्पर विषयगमन-रूप व्यतिकर दोष भी स्थान नही पा सकता। जब परस्पर-विरोधी धर्म अपेक्षा-भेद मे समाविष्ट हो सकते हैं तो अप्रतिरूप दोष के लिए कोई स्थान नही रह जाता। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार वस्तु-स्वरूप ही ऐसा है[3], जो परस्पर-विरुद्ध होता हुआ अविरुद्ध है। यह स्याद्वाद की महिमा है। जब वस्तु का रूप ही ऐसा है तो उसे अभाव का विषय नहीं बनाया जा सकता। यथार्थ मे वस्तु सत्स्वरूप है और वह भावाभावात्मक है। भाव के समान अभाव भी वस्तु का धर्म है और इन सब का वर्णन स्याद्वाद-वाणी द्वारा किया जा सकता है। कुछ दार्शनिक लोक स्याद्वाद को छल-रूप[4] कहते है। उनका कहना है कि अर्थ के विकल्पो को उठाकर जो वचन का विधान करना है—वह छल है। स्याद्वाद मे नित्यानित्यादि विकल्पो को उठाकर वस्तु की सिद्धि की जाती है, अत वह छल-रूप है। उनकी यह आपत्ति सर्वथा निराधार है। स्याद्वाद मे स्पष्ट रूप मे नवकम्बल के नवीन कम्बल और नौ कम्बल के रूप मे विकल्प उठाकर वचन का विधान नही किया गया है। इसमें तो अपेक्षा-भेद से वस्तु-तत्त्व का निर्दोष वाणी द्वारा वर्णन किया जाता है। इसी हेतु से आचार्य हेमचन्द्र ने स्याद्वाद को निष्कटक राज्य कहा है। इसके साम्राज्य मे विरोध कदापि नहीं रह सकता। प्रजा इसको अपनाने पर विरोधादि भावो को त्याग कर शान्ति और प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकती है। यथार्थ मे एकान्त से आग्रह और आग्रह से राग-द्वेषादि दोष और इनके होने मे अहकार आदि उत्पन्न होते हैं, जो मानव के चित्त में क्षोभ आदि भावो को पैदा करके अनेक प्रकार से असद्वृत्ति के कारण बनते हैं और आत्मा मे समत्व को कभी पैदा नही होने देते।[5]

मूल्यांकन

उपसंहार रूप मे हमे कहना पडता है कि स्याद्वाद का मूल्य अपूर्व है। भारतीय दर्शन-क्षेत्र मे उसका योगदान वैसा ही है जैसा कि राजनीतिक क्षेत्र मे यू० एन० ओ० का है। स्याद्वाद सत्य, शान्ति और सामजस्य का प्रतीक है। विचार के क्षेत्र में अनेकान्त, वाणी के क्षेत्र मे स्याद्वाद और आचरण के क्षेत्र में अहिसा, ये सब भिन्न-भिन्न दृष्टियों को लेकर एकरूप ही है। क्योकि जो दोष नित्यवाद मे है, वे समस्त दोषअनित्यवाद मे उसी प्रकार मे है। अर्थ-क्रिया न नित्यवाद में बनती है न अनित्यवाद मे, अत दोनो वाद परस्पर-विध्वसक है। इसी कारण स्याद्वाद की विजय अवश्यम्भाविनी है। जैन तत्त्वज्ञानियो को चाहिए कि इसका आचरण और प्रचार करें। इसका प्रचार हमारे अणुव्रत-आन्दोलन आदि मे अत्यन्त

१ अर्पितानर्पित सिद्धेः।—तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५।

२ नानात्मतामप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना।
अङ्गाङ्गिभावात्तव वस्तु तद्यत् क्रमेण वाक् वाच्यमनेकरूपम्॥ —युक्त्यनुशासनम् श्लोक ५

३ अण्णोण्ण विरुद्धमविरुद्धम्। —पंचास्तिकाय

४ अर्थविकल्पोत्पत्त्या वचनविघातः छलम्। —गौतमसूत्र

५ एकान्तधर्माभिनिवेशमूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम्। —समन्तभद्र

सहायक होगा। हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य आदि का निर्णय इसके द्वारा बड़ी सुगमता से हो सकता है। पाँच अणुव्रत यथार्थ में अहिंसा के ही अल्परूप है। इनको महान् बनाकर आचरण की शुद्धि करके नैतिक स्तर को उठाया जा सकता है। मानव आचरण को शुद्ध करके, स्याद्वादरूप वाणी द्वारा सत्य की प्रस्थापना करके, अनेकान्तरूप वस्तु-तत्त्व को प्राप्त कर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। अनन्तचतुष्टय और सिद्धत्व की प्राप्ति इसी के द्वारा सम्भव हो सकती है। इसी हेतु आचार्य समन्तभद्र ने ठीक कहा है :

सर्वान्तवत्तद्गुण मुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

जैन दर्शन सर्वोदय-रूप तीर्थ है। इसकी छत्र-छाया मे सब का उदय सम्भव है। इसमे विरोध-विद्वेष आदि के लिए कोई स्थान नहीं। यह शान्ति, सुख और सामजस्य का मूल है। इस दृष्टि को लेकर चलने से ही भारत का अभ्युदय हो सकता है और हम समग्र भू-मण्डल की संस्कृति और सभ्यता के पुनः पुरस्कर्ता बन सकते है।
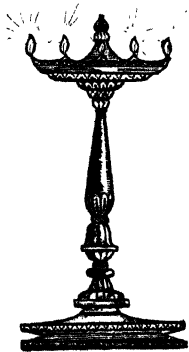
स्याद्वाद और जगत्

मुनिश्री नथमलजी

यह विश्व भेदाभेद, नित्यानित्य, अस्तित्व-नास्तित्व और वाच्यावाच्य के नियमो मे शृंखलित है। कोई भी द्रव्य सर्वथा भिन्न नही है और कोई भी सर्वथा अभिन्न नही है। कोई भी द्रव्य सर्वथा नित्य नही है और कोई भी सर्वथा अनित्य नही है। कोई भी द्रव्य सर्वथा अस्ति नही है और कोई भी सर्वथा नास्ति नही है। कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य नही है कोई भी सर्वथा अवाच्य नही है। जो द्रव्य है, वह सत्य है। वह भिन्न भी है—अभिन्न भी है, नित्य भी है—अनित्य भी है, अस्ति भी है—नास्ति भी है, वाच्य भी है—अवाच्य भी है। इन सहज-सम्भूत नियमो को समझने का जो दृष्टिकोण है, वह अनेकान्त है। इन नियमो की जो व्याख्या-पद्धति है वह स्याद्वाद है। विश्व मे इतना विरोध और इतना असामञ्जस्य है कि अनेकान्त के बिना उसमे अविरोध और सामञ्जस्य समझा ही नही जा सकता तथा स्याद्वाद के बिना उसकी सम्यक् व्याख्या की ही नही जा सकती।

अभेद और भेद का नियम

यह विश्व आकाशमय है। आकाश व्यापक है, शेष सब व्याप्य हैं। आकाश वहाँ भी है, जहाँ आकाशेतर कुछ नही है, पर अन्य ऐसे नही है, जहाँ आकाश न हो। जहाँ अन्य भी है और आकाश भी है वहाँ गति है, स्थिति है और दृश्य-परिवर्तन है, इसलिए उसे 'लोक' कहा जाता है। जहाँ अन्य नही है, केवल आकाश है, वहाँ गति नही है, स्थिति नही है और दृश्य-परिवर्तन भी नही है, इसलिए उसे 'अलोक' कहा जाता है। सत्ता की दृष्टि से लोक और अलोक दोनो एक है, अविभक्त हैं। गति, स्थिति और दृश्य-परिवर्तन सर्वत्र नही है, इस दृष्टि से लोक और अलोक दो है—विभक्त है। गति और स्थिति की दृष्टि से लोक एक है—अविभक्त है, पर कार्य की दृष्टि से वह एक नही है। गति का हेतु जो है, वह स्थिति का नही है और स्थिति का जो हेतु है वह गति का नही है। गतिशील द्रव्य दो हैं—पुद्गली (जीव) और पुद्गल। ये ही दो स्थिति-शील हैं। दृश्य-परिवर्तन भी इन्ही के योग से होता है, इन्ही मे होता है। अभेद-दृष्टि से सत्ता ही पूर्ण सत्य है। भेद-दृष्टि के ६ प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाश, ४ काल, ५ पुद्गल, ६ जीव। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश—ये तीनो लोक मे परिपूर्ण व्याप्त है। इन्हे कथमपि पृथक् नही किया जा सकता। इनका पृथक्करण कार्य से ही होता है। गति हेतुक जो है वह धर्मास्तिकाय[1] है। यह गति का अन्तिम हेतु है। स्थितिहेतुक जो है, वह अधर्मास्तिकाय[2] है। यह स्थिति का अन्तिम हेतु है। जहाँ वायु भी नहीहै वहाँ भी गति होती है, और वह इसीलिए होती है कि धर्मास्तिकाय वहाँ है। अवगाहहेतु जो है, वह आकाश है[3]। परिवर्तन का हेतु काल है। जो सयुक्त होता है और वियुक्त होता है, वह पुद्गल है[4]। जो चैतन्यमय है, वह जीव है[5]। आकाश और काल को छोडकर किसी भी द्रव्य की

---

१ गुणतो गमण गुणे। —स्थानांग, ५।४४१
२ गुणतो ठाण गुणे। —वही, ५।४४१
३ गुणतो अवगाहणा गुणे। —वही, ५।४४१
४ गुणतो गहण गुणे। —वही, ५।४४१
५ गुणतो उवओग गुणे। —वही, ५।४४१

व्याख्या नहीं की जा सकती; इस दृष्टि से शेष सब द्रव्य आकाश और काल से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। आकाश और काल गति-स्थिति के हेतु नहीं हैं और गति-स्थितिशील भी नहीं हैं, इसलिए वे शेष सब द्रव्यो मे सर्वथा अभिन्न भी नही है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को छोड़कर गति और स्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती; इस दृष्टि से जीव और पुद्गल धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय गति-स्थितिशील नही हैं, संयुक्त-वियुक्तधर्मा भी नहीं हैं, इसलिए वे जीव और पुद्गल से सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। जीव के बिना पुद्गल की और पुद्गल के बिना जीव की व्याख्या नहीं की जा सकती। पुद्गल के बिना जीव की कोई प्रवृत्ति नहीं होती और जीव के बिना पुद्गल की स्थूल परिणति नहीं होती; इस दृष्टि से जीव और पुद्गल सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जीव सयोग-वियोगधर्मा नहीं है, रूपी नहीं है और पुद्गल चैतन्यमय नही है, इसलिए वे सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। तात्पर्य की भाषा मे ऐसा कुछ भी नही है, जो सर्वथा अभिन्न ही है और ऐसा भी कुछ भी नही है, जो सर्वथा भिन्न ही है। अभिन्नता की दृष्टि मे सारा विश्व एक है। भिन्नता की दृष्टि से सारा विश्व दो भागों मे विभक्त है—चैतन्यमय और अचैतन्यमय।

चेतन और अचेतन की उत्पत्ति के विषय मे अनेक दार्शनिक अभिमत हैं। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—पहले असत् था; असत् से सत् उत्पन्न हुआ।[1] कुछ ऋषि कहते हैं—असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सबसे पहले सत् ही था। उसने सोचा, मैं अनेक होऊँ। इस सकल्प मे से सृष्टि उत्पन्न हुई।[2] जो है, वह सब आत्मा ही है।[3] जो कुछ हुआ है, वह आत्मा से ही हुआ है।[4] आत्मा ब्रह्म ही है।[5] यह आत्माद्वैतवाद है। इसके अनुसार अचेतन चेतन से उत्पन्न होता है। चेतन और अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

अनात्मवाद के अनुसार पहले अचेतन ही था। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, ये चार भूत थे। इनमे चेतन उत्पन्न हुआ। यदि यह पता लगाना है कि मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुई, तो ससार के विकास मे ही उसकी खोज करनी होगी। मनुष्य का विकास जीवन के पहले रूपो मे से होता है। उस विकास के दौरान में ही विचार और सचेतन व्यवहार ने जन्म लिया है। इसका अर्थ यह है कि वस्तु अर्थात् वह वास्तविकता, जो अचेतन है, पहले से थी। मन अर्थात् वह वास्तविकता, जो सचेतन है, बाद मे आयी। साथ ही इसका अर्थ यह भी है कि वस्तु या बाह्य वास्तविकता की सत्ता मन से स्वतन्त्र है। प्रकृति की इस समझ को भौतिकवाद कहते हैं।[6] यह भूताद्वैतवाद है। इसके अनुसार अचेतन मे चेतन उत्पन्न होता है। अचेतन और चेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

अनेकान्त दृष्टि के अनुसार चेतन अचेतन से और अचेतन चेतन से उत्पन्न नही है। दोनो अनादि हैं, दोनो स्वतन्त्र और दोनों सापेक्ष। चेतन का एक अविभाग भी मिश्रित नहीं है। वह शुद्ध द्रव्य है। उसका प्रत्येक परमाणु (प्रदेश) अन्त तक चेतन ही रहता है। अचेतन का प्रत्येक परमाणु (प्रदेश) अन्त तक अचेतन ही रहता है। चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन के रूप मे परिणत नही किया जा सकता। द्रव्य गुणो का सयुक्त रूप होता है। सब द्रव्यो की यही व्याख्या है। जो द्रव्य है, उन सबमें अनन्त गुण हैं और अनन्त गुणों के जितने समवाय हैं, वे सब द्रव्य है। इस भाषा मे या तो द्रव्य अनन्त होंगे या एक। सचाई यह है कि वे अनन्त भी नही हैं और एक भी नही हैं। सर्वसाधारण गुणो की दृष्टि से द्रव्य एक ही है; किन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो सर्वसाधारण नहीं हैं। उन्हीं की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं। गति और स्थिति विश्व-व्यवस्था के असाधारण गुण हैं। स्थूल पदार्थों की गति दृश्य-निमित्तो से होती है, किन्तु सूक्ष्म स्कन्धों और परमाणुओं

१ असतः सदजायत।—छान्दोग्य ६।२।१

२ कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति।—छान्दोग्य ६।२।२

३ आत्मैवेदं सर्वम्।—छान्दोग्य, ७।२५।२

४ आत्मत एवेदं सर्वम्।—छान्दोग्य ७।२६।१

५ सर्वं हि एतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।—माण्डूक्य २

६ मार्क्सवाद क्या है ? लेखक—एमिल बर्न्स, पृ० ६८

की गति में वायु या विद्युत् आदि सहायक नही होते। वे उन्हे छू भी नही पाते। परमाणु की अप्रेरित गति बहुत तीव्र होती है। वह एक क्षण में भी लोक के निम्न भाग से ऊर्ध्व भाग तक चला जाता है। वहाँ उसकी गति का माध्यम गतितत्त्व (धर्मास्तिकाय) ही होता है। गतितत्त्व गतिमात्र मे माध्यम बनता है, किन्तु जहाँ दृश्य माध्यम होते है वहाँ उसकी अनिवार्यता ज्ञात नही होती; जहाँ दृश्य माध्यम कार्य नही करते, वहाँ उसका अस्तित्व स्वय व्यक्त होता है।

१८ वीं एव १९ वी शताब्दी के भौतिक विज्ञानवेत्ताओ के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि यदि प्रकाश की तरगे होती हैं, तो उनका कुछ आधार भी होगा। जैसे पानी सागर की तरगो को पैदा करता है और हवा उन कम्पनो को जन्म देती है, जिन्हे हम ध्वनि कहते हैं। अत· जब परीक्षणो से यह व्यक्त हुआ कि प्रकाश शून्य से भी होकर विचर सकता है, तब वैज्ञानिकों ने 'ईथर' (Ether) नामक एक काल्पनिक तत्त्व को जन्म दिया, जो उनके विचार मे, समस्त आकाश और पदार्थ मे व्याप्त है। बाद मे, फैरेडे ने एक अन्य प्रकार के ईथर का प्रतिपादन किया, जिसे विद्युत् एव चुम्बकीय शक्तियो के वाहक के रूप मे माना गया। अन्तत· जब मैक्सवेल ने प्रकाश को एक 'विद्युत्-चुम्बकीय विक्षोभ' (Electromagnetic Disturbance) के रूप मे मान्यता प्रदान की, तब ईथर का अस्तित्व निश्चित-सा हो गया।[1]

स्थिरता का माध्यम स्थिति-तत्त्व है। एक परमाणु आकाश-प्रदेश मे स्थित होता है, वहाँ उसका माध्यम स्थिति-तत्त्व ही होता है।

आकाश स्थिति का माध्यम नही है। वह चर और स्थिर, दोनो तत्त्वो का माध्यम है। आधार-शून्य कुछ भी नही है। स्थूल पदार्थ के लिए स्थूल आधार होते है। सूक्ष्म या चतु स्पर्शी स्कन्धो के लिए स्थूल आधार की अपेक्षा नही होती। उनका जो आधार है, वह आकाश ही है। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से जो दूरी है, उसका माध्यम आकाश ही है। इसके बिना सब पदार्थ स्वावगाही नही होते।

ये तीन अस्तिकाय अरूपी है, इन्द्रियातीत हैं। ये विश्व-व्यवस्था की अनिवार्य अपेक्षा से स्वीकृत है। गति, स्थिति और अवगाह (=या विभाग) इन असाधारण गुणो से गतितत्त्व (धर्मास्तिकाय), स्थिति-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) और अवगाह-तत्त्व (आकाशास्तिकाय) का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

संघात और भेद भी असाधारण गुण है। चार अस्तिकायो मे केवल सघात है, भेद नही है। भेद के पश्चात् सघात और सघात के पश्चात् भेद—यह शक्ति केवल पुद्गलास्तिकाय मे है। दो परमाणु मिलकर द्विप्रदेशी, यावत् अनन्त परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बन जाते हैं। वे वियुक्त होकर पुन दो परमाणु यावत् अनन्त परमाणु हो जाते है। यदि सयोग-वियोग गुण नही होता तो यह विश्व या तो एक पिण्ड ही होता या केवल परमाणु ही होते। उन दोनो रूपो मे वर्तमान विश्व-व्यवस्था फलित नही होती। पुद्गल द्रव्य रूपी है, इन्द्रियगम्य है, इसलिए इसका अस्तित्व बहुत स्पष्ट है, पर इसकी स्वतन्त्र सत्ता का आधार यह सघात-भेदात्मक गुण है।

चैतन्य भी असाधारण गुण है। अचेतन से चेतन की प्रक्रिया भिन्न होती है। ग्रहण, परिणमन, व्युत्सर्जन, स्वीकरण, सजातीय प्रजनन, वृद्धि, अनुभूति, ज्ञान आदि ऐसे धर्म हैं, जो चेतन मे ही प्राप्त होते हैं। चेतन अरूपी है, इन्द्रियातीत है, उसका अस्तित्व चैतन्य गुण से गम्य है।

जीव और पुद्गल—इन दोनो अस्तिकायो के योग मे विश्व की विविध परिणतियाँ होती है। तीन अस्तिकाय अपनी स्वरूप-मर्यादा तक ही परिवर्तित होते हैं। वे बाह्य निमित्तो से प्रभावित नही होते और न वे दूसरे द्रव्यो को प्रभावित करते हैं। उनका अस्तित्व और क्रिया सब दिशाओ मे समान रूप से है। इसीलिए अमेरिकन भौतिक विज्ञान-वेत्ता ए० ए० माईकेलसन और ई० डब्ल्यू० मोरले ईथर-सम्बन्धी परीक्षणो मे सफल नही हुए। उन्होंने क्लीवलैण्ड मे सन् १८८१ मे एक भव्य परीक्षण किया।

"उनके परीक्षण के पीछे निहित सिद्धान्त काफी सीधा था। उनका तर्क था कि यदि सम्पूर्ण आकाश केवल ईथर का एक गतिहीन सागर है, तो ईथर के बीच पृथ्वी की गति का ठीक उसी तरह पता लगना चाहिए और पैमाइश होनी

---

१ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, लिंकन बारनेट, पृष्ठ ४२

चाहिए, जिस तरह नाविक सागर में जहाज के वेग को मापते हैं। जैसा कि न्यूटन ने इंगित किया था, जहाज के अन्दर के किसी यांत्रिक परीक्षण द्वारा शान्त जल मे चलने वाले जहाज की गति मापना असम्भव है। नाविक जहाज की गति का अनुमान सागर में एक लट्टा फेंककर और उससे बँधी रस्सी की गाँठों के खुलने पर नज़र रखकर लगाते हैं। अत ईथर के सागर में पृथ्वी की गति का अनुमान लगाने के लिए, माईकेलसन और मोरले ने लट्टा फेंकने की क्रिया सम्पन्न की। अवश्य ही, यह लट्टा प्रकाश की किरण के रूप मे था। यदि प्रकाश सचमुच ईथर मे फैलता है, तो इसकी गति पर, पृथ्वी की गति के कारण उत्पन्न ईथर की धारा का प्रभाव पड़ना चाहिए। विशेष तौर पर, पृथ्वी की गति की दिशा मे फेंकी गई प्रकाश-किरण मे ईथर की धारा से उसी तरह हल्की बाधा पहुँचनी चाहिए, जैसी बाधा का सामना एक तैराक को धारा के विपरीत तैरते समय करना पड़ता है, इसमें अन्तर बहुत थोड़ा होगा, क्योंकि प्रकाश का वेग (जिसका ठीक-ठीक निश्चय सन् १८८६ में हुआ) एक सैकण्ड मे १,८६,२८४ मील है, जबकि सूर्य के चारो ओर अपनी धुरी पर पृथ्वी का वेग केवल बीस मील प्रति सैकण्ड होता है। अतएव ईथर-धारा की विपरीत दिशा मे फेंके जाने पर प्रकाश-किरण की गति १,८६,२६४ मील होनी चाहिए, और यदि सीधी दिशा मे फेंकी जाये, तो १,८६,३०४ मील। इन विचारो को मस्तिष्क मे रखकर माईकेलसन और मोरले ने एक यत्र का निर्माण किया, जिसकी सूक्ष्मदर्शिता इस हद तक पहुँची हुई थी कि वह प्रकाश के तीव्र वेग मे प्रति सैकण्ड एक मील के अन्तर को भी अकित कर लेता था। इस यत्र मे, जिसे उन्होने 'व्यतिकरणमापक' (interferometer) नाम दिया, कुछ दर्पण इस तरह लगाये हुए थे कि एक प्रकाश-किरण को दो भागो मे बाँटा जा सकता था और एक-साथ ही दो दिशाओ मे उन्हे फेंका जा सकता था। यह सारा परीक्षण इतनी सावधानी से आयोजित और पूरा किया गया कि इसके परिणामो मे किसी तरह के सदेह की गुजायश नही रह गई। इसका परिणाम सीधे-सादे शब्दो मे यह निकला—प्रकाश-किरणो के वेग मे, चाहे वे किसी भी दिशा मे फेंकी गई हो, कोई अन्तर नही पड़ता।

"माईकेलसन और मोरले के परीक्षण के कारण वैज्ञानिको के सामने एक व्याकुल कर देने वाला विकल्प आया। उनके सामने यह समस्या थी कि वे ईथर-सिद्धान्त को—जिसने विद्युत्-चुम्बकत्व और प्रकाश के बारे मे बहुत-सी बाते बतलाई थी—छोड़े या उससे भी अधिक मान्य कोपरनिकन-सिद्धान्त को, जिसके अनुसार पृथ्वी स्थिर नहीं, गतिशील है। बहुत-से भौतिक विज्ञानवेत्ताओ को ऐसा लगा कि यह विश्वास करना अधिक आसान है कि पृथ्वी स्थिर है, बनिस्बत इसके कि तरगे—प्रकाश-तरगे, विद्युत् चुम्बकीय-तरगें, बिना किसी सहारे के अस्तित्व मे रह सकती है। यह एक बडी विकट समस्या थी—इतनी विकट कि, इसके कारण वैज्ञानिक विचारधारा पच्चीस वर्षों तक भिन्न-भिन्न रही, एकमत न हो सकी। कई नयी कल्पनाए सामने प्रस्तुत की गईं और रद्द भी कर दी गई। उस परीक्षण को मोरले और दूसरे लोगो ने फिर शुरू किया, पर परिणाम वही निकला—ईथर मे पृथ्वी का प्रत्यक्ष वेग शून्य है।"[1]

ईथर प्रकाश की गति को प्रभावित नहीं करता इसलिए आईन्स्टीन ने उसके अस्तित्व का निरसन किया। किन्तु गति-नियामक तत्त्व के अभाव में पदार्थ अनन्त मे कही भटक जाते और वर्तमान विश्व एक दिन प्रकाश-शून्य हो जाता।

जीव और पुद्‌गल बाह्य निमित्तों से भी प्रभावित होते हैं, परिवर्तित होते है। जीव पुद्‌गल को प्रभावित करता है और पुद्‌गल जीव को प्रभावित करता है। इसलिए इनमें स्वाभाविक और वैभाविक (बाह्य निमित्तज) दोनो प्रकार के परिवर्तन होते हैं। पुद्‌गली जीव का अस्तित्व ही हमारे प्रत्यक्ष है। पुद्‌गल-मुक्त जीव हमारी ज्ञान-धारा से परे है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—छहो पर्याप्तियाँ पौद्‌गलिक हैं। इन्ही के द्वारा जीव व्यक्त या ज्ञेय बनता है। दृश्य जगत् जो है, वह पौद्‌गलिक है, किन्तु इसका निमित्त जीव ही है। सूक्ष्म स्कन्ध हमारी दृष्टि के विषय नही बनते। हमारी दृष्टि में आ सकें, इतनी स्थूलता उन्हें जीव के द्वारा ही प्राप्त होती है। जितने पुद्‌गल-द्रव्य हैं, वे तो या जीव के शरीर-रूप में परिणत हैं या हो चुके हैं।[2]

---

१ डा० आईन्सटीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ४३-४६

२ आचाराङ्गवृत्ति, १।१

ज्ञान, दर्शन, सुख-दुःख की अनुभूति, वीर्य ये जीव के गुण या कार्य है।[1] शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्‌गल के गुण या कार्य है।[2] शब्द, आतप, उद्योत आदि सहनि-रहित पदार्थ (Massless matter) अथवा ऊर्जारूप (energy) हैं।

दृश्य पदार्थ का मूल (ultimate constituent) परमाणु है। उनकी अनेक वर्गणाए (सजातीय परमाणु समूह) हैं। वे मौलिक कण (elementry particles) समुदित होकर पदार्थ का निर्माण करते है। बाह्य निमित्तो से अथवा निश्चित काल-मर्यादा के अनुसार एक पदार्थ दूसरे पदार्थ मे परिवर्तित भी हो जाता है। पुद्‌गल की विचित्र परिणति के कारण विश्व की व्यवस्था अनन्तरूपी है।

महान् जर्मन गणितज्ञ लिबनिज ने लिखा है—"मैं यह प्रमाणित कर सकता हूँ कि न केवल प्रकाश, रंग, ताप और इस तरह की अन्य चीजें, अपितु गति, आकार और विस्तार भी वस्तु के ऊपरी गुण है।" उदाहरणस्वरूप, जैसे हमारी दृश्य शक्ति यह बतला देती है कि गोल्फ की गेद सफेद है, उसी तरह हमारी स्पर्शानुभूति की मदद से वह यह भी बता देती है कि वह गोल, चिकनी और छोटी है। ये ऐसे गुण है, जो हमारी इन्द्रियो से पृथक् होने पर उस गुण से अधिक यथार्थता नही रखते, जिसे हम परम्परानुसार सफेद की सज्ञा देते है।[3]

बर्कले ने कहा है—"वे सभी तत्त्व, जिनसे इस ससार का ढाँचा तैयार हुआ है, मानस को छोड़ देने के बाद कोई तथ्य नही रखते। जब तक हम उन्हे इन्द्रियो से ग्रहण नही करते या जब तक वे हमारे या अन्य किसी प्राणी के मानस मे अपना अस्तित्व नही रखते, तबतक या तो उनका सर्वथा अस्तित्व ही नही होता, या फिर वे किसी सनातन शक्ति के मानस मे अपना अस्तित्व रखते हैं।" आईन्स्टीन यह प्रकट करके कि आकाश-काल (space time) केवल अन्तर्ज्ञान के रूप हैं—जिनको रग, रूप और आकार की धारणाओ की भाँति चेतना से विलग नही किया जा सकता—इस तर्क की गाडी को अपनी अन्तिम सीमा तक ले गए। आकाश का अस्तित्व केवल पदार्थों के क्रम या उनकी व्यवस्था मे है—इसके अतिरिक्त वह कुछ नही है। इसी प्रकार काल, घटनाओ के एक क्रम के अतिरिक्त, जिससे हम उसे मापते है, और कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखता।[4]

स्याद्‌वाद के अनुसार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व मानसिक नहीं है। ये पुद्‌गल के पर्याय (विवर्त) है। इन्ही की अपेक्षा वे अशाश्वत है।[5]

वर्णादि चतुष्टय की विविधता चेतना या बाह्य वस्तु-सापेक्ष है, किन्तु उसका अस्तित्व चेतना या बाह्य वस्तु-सापेक्ष नही है। एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, आकार, सयोग और विभाग ये पुद्‌गल की अवस्थाए है।[6] परमाणुओ का एकत्व और पृथक्त्व, सहज भी होता है, वैसे ही उनकी वर्णादि-चतुष्टयी की परिणति भी सहज होती है। छोटा-बडा, लघु-गुरु, ऋजु-वक्र, ये जैसे सापेक्ष धर्म है—दो वस्तुओ की तुलना मे उत्पन्न धर्म है, वैसे वर्णादिचतुष्टयी सापेक्ष धर्म नही है। यह वस्तुवाद है। स्पर्श मूल शक्ति है। रूखा, चिकना ये उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार है। इनकी कोई स्थायी सत्ता नहीं है। सौन्दर्य-असौन्दर्य, उपयोगी-अनुपयोगी आदि की कल्पना चेतना का रूप है। पर किसी वस्तु की अस्तिता चेतना का रूप नही है। दिक् और काल उपयोगितावाद के तत्त्व हैं। उनकी वास्तविक सत्ता नही है। स्याद्‌वाद के अनुसार

१ उत्तराध्ययन, अध्ययन २८

२ उत्तराध्ययन, अध्ययन २८

३ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० १७

४ वही, पृ० १८

५ 'परमाणुपोग्गलेण भन्ते ! किं सासए असासए ?' 'गोयमा सिय सासए, सिय असासए।'
'से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—'सिय सासए, सिय असासए ?'
'गोयमा दव्वट्ठयाए सासए, वन्नपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं, असासए।'

६ उत्तराध्ययन, अध्ययन २८

विश्व की अखण्डता चतुरूपात्मक है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारो के बिना उसकी व्याख्या नही हो सकती। द्रव्य अनन्त गुणो का पिण्ड है। भाव उसकी अवस्थाए है। वे भी अनन्त होती हैं। अवस्था से वियुक्त कोई द्रव्य नहीं होता और द्रव्य से वियुक्त कोई अवस्था नही होती। जितने परिवर्तन होते हैं वे सब द्रव्य मे ही होते है, और जितने द्रव्य होते है वे सब परिवर्तन के कारण ही अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। परिवर्तन कहाँ होता है, इसकी व्याख्या क्षेत्र के बिना नही की जा सकती। इसके दो रूप है. आकाश और दिक्। आकाश वास्तविक है। दिक् निरपेक्ष तत्त्व नही है, वह आकाश का ही कल्पित रूप है। ऊर्ध्व, निम्न आदि सापेक्ष है। उनका अस्तित्व हमारी चेतनाए है। परिवर्तन कब होता है, इसकी व्याख्या काल के बिना नही की जा सकती; या सापेक्ष काल का भी निरपेक्ष अस्तित्व नही है। वह द्रव्य का ही एक पर्याय है। उसका तिर्यक् प्रचय नही है—स्कन्ध नही है। वह केवल ऊर्ध्व प्रचय है—पौर्वापर्य या क्रम है। जो जीव और अजीव के परिवर्तन का क्रम है, वह नैश्चयिक काल है। ज्योतिश्चक्र पर आधारित जो घटना-चक्र है, वह व्यावहारिक या सापेक्ष काल है। आईन्स्टीन की चतुर्विस्तारात्मक अखण्डता मे द्रव्य के आकाश और काल मे परिवर्तित भावो—पर्यायो का विचार है। उनके सापेक्षवाद के अनुसार "एक रेलमार्ग एकविस्तारात्मक आकाशीय अखण्डता है और उस पर चल रही गाड़ी का चालक किसी भी समय किसी एक समन्वयात्मक बिन्दु—एक स्टेशन या मील के पत्थर को देखकर अपनी अवस्थिति को मालूम कर सकता है, परन्तु एक जहाज के कप्तान को दो विस्तारो की चिन्ता करनी पड़ती है। समुद्र की सतह एक द्विविस्तारात्मक अखण्डता है और वे समन्वयात्मक बिन्दु, जिनसे नाविक द्विविस्तारात्मक अखण्डता मे अपनी अवस्थिति का निश्चय करता है, अक्षांश और देशान्तर है। एक विमान-चालक को अपना विमान एक त्रिविस्तारात्मक अखण्डता के बीच मे ले जाना पड़ता है, अत उसे न केवल अक्षाश और देशान्तर की, बल्कि पृथ्वी से अपनी ऊँचाई का भी ध्यान रखना पड़ता है। एक विमान-चालक की अखण्डता जिस रूप मे हम आकाश को देखते है, उसी से बनती है। दूसरे शब्दो मे, हमारे ससार का आकाश एक त्रिविस्तारात्मक अखण्डता है।

"लेकिन गति मे सम्बन्धित किसी प्राकृतिक घटना की चर्चा करते समय आकाश मे उसकी अवस्थिति को ही व्यक्त करना पर्याप्त नही है। यह भी बतलाना आवश्यक है कि काल मे स्थिति का परिवर्तन कैसे होता है। अतएव, न्यूयार्क से शिकागो जाने वाली ऐक्सप्रेस गाड़ी का एक सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए इतना कह देना ही काफी नही है कि वह न्यूयार्क मे चलती, वहाँ से सिराक्यूस, फिर वहाँ से टोलेडो तथा उसके बाद शिकागो जाती है, बल्कि यह बतलाना भी जरूरी है कि उन स्थानो पर वह किस समय पहुँचती है। यह कार्य या तो समय-सारिणी से पूरा हो सकता
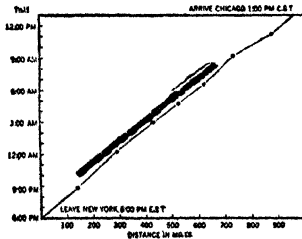
एक द्विविस्तारात्मक आकाश-काल-अखण्डता के रूप में चित्रित पश्चिम की ओर जाने वाली न्यूयार्क-शिकागो ऐक्सप्रेस

है यथा दृश्य चित्र से। यदि न्यूयार्क और शिकागो के बीच के मील, एक लकीर खिचे हुए कागज पर नीचे की ओर निश्चित किये जाये, घण्टे तथा मिनट लम्बित रूप मे दिखाये जाये और पृष्ठ के एक कोने से सामने के दूसरे कोने तक एक रेखा खीचकर मार्ग-आलेख प्रदर्शित किया जाये तो द्विविस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता मे गाडी की प्रगति प्रदर्शित होगी। इस तरह के नक्शो से अधिकाश समाचारपत्र-पाठक परिचित है। उदाहरणस्वरूप, स्टॉक-मार्केट का नक्शा द्विविस्तारात्मक डालर-काल अखण्डता मे आर्थिक घटनाओ को प्रकट करता है। इसी तरह न्यूयार्क से लास एजिलस जाने वाले एक विमान की उडान को एक चतुर्विस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता मे चित्रित किया जा सकता है। यह तथ्य कि विमान क्ष अक्षाश, य देशान्तर और ऊ ऊंचाई पर है, विमान-कम्पनी के यातायात-व्यवस्थापक के लिए कोई महत्त्व नही रखता, यदि सम्बन्धित काल की जानकारी न हो। अतएव काल चौथा विस्तार है। और, यदि कोई उडान को उसके सम्पूर्ण रूप मे एक प्राकृतिक यथार्थता के रूप मे देखना चाहता है, तो इसे पृथक्-पृथक् उडान, चढाई, सरकाव और उतार के रूप मे नही बाँटा जा सकता। इसे तो एक चतुर्विस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता के रूप मे ही सोचना पडेगा।"[1]

दिक् और काल इन दो सापेक्ष सत्यो को न ले तो निरपेक्ष सत्य पाँच अस्तिकाय है। इनका अस्तित्व न तो हमारी चेतना मे है और न एक-दूसरे की तुलना मे उद्भूत है, किन्तु स्वतन्त्र है। इन भिन्न-भिन्न रूपो मे अवस्थित अस्तिकायो और उनके कार्यों का जो समवाय है, वही विश्व है।[2]

कुछ समालोचकों ने लिखा है कि स्याद्वाद हमे पूर्ण या निरपेक्ष सत्य तक नही ले जाता, वह पूर्ण सत्य की यात्रा का मध्यवर्ती विश्रामगृह है। किन्तु इस समालोचना मे तथ्य नही है। स्याद्वाद हमे पूर्ण या निरपेक्ष सत्य तक ले जाता है। उसके अनुसार पञ्चास्तिकायमय जगत् पूर्ण या निरपेक्ष सत्य है। पाँचो अस्तिकायो के अपने-अपने असाधारण गुण हैं और उन्ही के कारण उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। इनके अस्तित्व, गुण और कार्य की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि के बिना नही की जा सकती। चेतन मे केवल चैतन्य ही नही है, उसके अतिरिक्त अनन्त धर्म और है, किन्तु चेतन चैतन्य धर्म की अपेक्षा से ही है, शेष धर्मों की अपेक्षा से वह चेतन नही है।[3]

एक धर्म से कोई द्रव्य नही बनता। सामान्य और असामान्य सम्भूत होकर द्रव्य का रूप लेते है। वे सब सर्वथा अविरोधी ही नही होते, कथचित् विरोधी भी होते है। वे सर्वथा विरोधी ही नही होते, कथचित् अविरोधी भी होते है। यदि सर्वथा अविरोधी ही हो तो वे अनेक नही हो सकते और यदि वे सर्वथा विरोधी ही हो तो एक नही हो सकते। यह अविरोधी और विरोधी भावो का जो सामञ्जस्य या सह-अस्तित्व है, वह द्रव्य की सहज सापेक्षता है और द्रव्यगत सापेक्षता की सामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या हमारी बौद्धिक सापेक्षता है।

हम किसी भी निरपेक्ष सत्य को ऐसा नही पाते, जो अपने स्वरूप की व्याख्या मे सापेक्ष न हो। वेदान्ती ब्रह्म को पूर्ण या निरपेक्ष सत्य मानते हैं, पर वह भी स्वभावगत सापेक्षता से मुक्त नही है। उपनिषद् की भाषा मे "ब्रह्म सकम्प भी है, निष्कम्प भी है, दूर भी है और समीप भी है, सबके अन्तर मे भी है और सबके बाहर भी है।"[4] वह अणु-से-अणु और महान्-से-महान् है।[5] भगवान् महावीर की भाषा मे जीव सकम्प भी है और निष्कम्प भी है[6], सवीर्य भी है और निर्वीर्य

१ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ७२-७४

२ किमियं भंते ! लोएत्ति पवुच्चइ ?
गोयमा ! पंचत्थिकाया, एसणं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ। —भगवती सूत्र, १३-४

३ प्रमेयत्वादिभिर्धर्मै रचिदात्मा चिदात्मक।
ज्ञानदर्शनतस्तस्मात् चेतनाचेतनात्मकः॥ —स्वरूपसम्बोधन, श्लोक ३

४ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।
—ईशावास्योपनिषद्, ५

५ अणोरणीयान् महतो महीयान्। —कठोपनिषद्।

६ भगवती सूत्र, २५।४

भी है।[1] इन विरोधी रूपो में ही जगत् पूर्णता अर्जित करता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ण वही हो सकता है, जिसमे विरोधी धर्मों का सामञ्जस्यपूर्ण सह-अस्तित्व हो।

अस्तित्व और नास्तित्व का नियम

सामान्य धर्मों की दृष्टि से जगत् एक है। द्रव्यत्व एक सामान्य धर्म है। वह परमाणु मे भी है और चेतन मे भी है। उसकी दृष्टि से परमाणु और चेतन भिन्न नहीं हैं। चैतन्य विशेष धर्म है, वह चेतन मे है, परमाणु मे नही है। उसकी दृष्टि से चेतन परमाणु से भिन्न है। सामान्य धर्मों की दोनो मे अस्तिता है। एक-दूसरे के विशेष धर्मों की एक-दूसरे मे नास्तिता है। सामान्य धर्मों की अस्तिता से द्रव्य बनते तो वे अनेक नही होते। विशेष धर्म की नास्तिता से द्रव्य बनते तो विश्व की व्यवस्था सर्वथा वियुक्त होती, उसमे कोई सामञ्जस्य या सह-अस्तित्व नही होता। अस्तिता और नास्तिता इन दोनो के योग से द्रव्य बनते है, इसीलिए विश्व की व्यवस्था सयुक्त है और उसमे विशेष धर्मों या विरोधी धर्मों का सामञ्जस्यपूर्ण सह-अस्तित्व है। प्रत्येक द्रव्य मे दो प्रकार के पर्याय होते है—अस्तित्व-पर्याय और नास्तित्व-पर्याय। अस्तित्व-पर्याय जैसे द्रव्य के घटक होते है, वैसे ही नास्तित्व-पर्याय भी उसके घटक होते है। दोनो मिलकर ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना करते हैं। स्वर्ण और जल, ये दो द्रव्य हैं। स्वर्ण के घटक परमाणु जल के घटक परमाणुओ से भिन्न है। स्वर्ण विशुद्ध है और जल दो वायुओ के मिश्रण से उत्पन्न है। अपने-अपने घटक परमाणु उनसे अस्ति-पर्याय के रूप मे सम्बद्ध हैं। वैसे ही एक-दूसरे के घटक परमाणु उनसे नास्ति-पर्याय के रूप मे सम्बद्ध है। दोनो पर्याय एक साथ सम्बद्ध रहकर ही द्रव्य को स्वरूप प्रदान करते है।[2] केवल-अस्ति रूप मे कोई द्रव्य नही है, केवल नास्ति-रूपमे भी कोई द्रव्य नही है, जितने द्रव्य है, सब अस्ति-नास्ति रूप मे है :

	द्रव्य
केवल अस्ति ··········	०
केवल नास्ति ··········	०
अस्ति-नास्ति ··········	है

वस्तु-सत्य की दृष्टि मे तीसरा विकल्प ही सत्य है। केवल अस्ति और केवल नास्ति का निरूपण सापेक्ष दृष्टि से ही हो सकता है :

स्यात्-अस्ति एव—किसी दृष्टि से है।

स्यात् नास्ति एव—किसी दृष्टि से नही है।

स्वर्ण के परमाणु स्वर्ण के साथ अस्तित्व-रूप मे सम्बद्ध है और जल के परमाणु उसके साथ नास्तित्व रूप मे सम्बद्ध है।

ooooo
ooooo } जल है

ooooo—जल नही है

ooooo—है
ooooo
ooooo } नहीं है } स्वर्ण है

---

१ भगवती सूत्र, १।८

२ द्विविधाः पर्यायिणः पर्यायाश्चिन्त्यन्ते—सम्बद्धाश्चासम्बद्धाश्च

—विशेषावश्यक भाष्य, ४८१-४८२ वृत्ति, पृ० १७८-१८०

ooooo } है } जल है।
ooooo
ooooo—नही है

ooooo—स्वर्ण है

ooooo } स्वर्ण नही है
ooooo

जल के परमाणु जल के साथ अस्तित्व-रूप मे सम्बद्ध है और स्वर्ण के परमाणु उसके साथ नास्तित्व-रूप मे सम्बद्ध है।

स्वर्ण के परमाणु जैसे स्वर्ण के साथ अस्तित्व-रूप मे सम्बद्ध हैं, वैसे ही यदि जल के साथ भी अस्तित्व-रूप मे सम्बद्ध हो, तो स्वर्ण और जल दो नही हो सकते।

स्वर्ण के परमाणु जैसे जल के साथ नास्तित्व-रूप मे सम्बद्ध है, वैसे ही यदि स्वर्ण के साथ भी नास्तित्व रूप मे सम्बद्ध हो, तो स्वर्ण होता ही नही।

जल के परमाणु स्वर्ण के साथ यदि नास्तित्व रूप मे सम्बद्ध न हो, तो जल और स्वर्ण दो नहीं हो सकते।

इस प्रकार अस्ति और नास्ति दोनो पर्याय समन्वित या सापेक्ष होकर ही द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करते है। इस सापेक्षता को समझकर ही हम भेद मे अभेद की स्थापना कर सकते हैं

द्रव्य

केवल भेद.................. ०
केवल अभेद.................. ०
भेद-अभेद.................. है

केवल भेद और केवल अभेद का निरूपण सापेक्ष दृष्टि मे ही हो सकता है

स्यात् भेद एव—किसी दृष्टि से भेद ही है
स्यात् अभेद एव—किसी दृष्टि से अभेद ही है।
ooooo—स्वर्ण—भेद (विशेष)

ooooo } जल—भेद (विशेष)
ooooo

ooooo—पुद्गल } अभेद (सामान्य)
ooooo } पुद्गल
ooooo

वस्तु-सत्य पुद्गल है। स्वर्ण और जल सापेक्ष द्रव्य है।

स्थायित्व और परिवर्तन का नियम

कोई पूर्व-परिचित व्यक्ति हमारे सामने आता है, तब हम कहते है—"यह वही है।" बरसात होते ही भूमि अकुरित हो उठती है, तब हम कहते हैं—"हरियाली उत्पन्न हो गई।" कपूर हमारे हाथ मे रहते-रहते उड जाता है, तब हम कहते है—"वह नष्ट हो गया।" "यह वही है"—यह नित्यता का सिद्धान्त है। "हरियाली उत्पन्न हो गई"—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है। "वह नष्ट हो गया"—यह विनाश का सिद्धान्त है।

द्रव्य की उत्पत्ति के विषय मे परिणामवाद, आरम्भवाद, समूहवाद आदि अनेक अभिमत है। उसके विनाश के विषय मे भी अनेक विचार है—रूपान्तरवाद, विच्छेदवाद आदि। परिणामवादी सांख्य दर्शन कार्य को अपने कारण में सत् मानता है। सत्कार्यवाद के अनुसार जो असत् है वह उत्पन्न नही होता और जो सत् है वह नष्ट नही होता; केवल रूपान्तर

होता है। उत्पत्ति का अर्थ है सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का अर्थ है सत् की अव्यक्ति। आरम्भवादी न्यायवैशेषिक कार्य को अपने कारण में सत् नहीं मानते। असत् कार्यवाद के अनुसार असत् उत्पन्न होता है और सत् विनष्ट होता है। इसीलिए नैयायिक ईश्वर को कूटस्थ नित्य और प्रदीप को सर्वथा अनित्य मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक स्थूल द्रव्य को सूक्ष्म अवयवों का समूह मानते हैं, तथा द्रव्यमात्र को क्षण-विनश्वर मानते हैं। उनके अभिमत में स्थिति कुछ भी नहीं है। जो एकान्त नित्यवादी हैं, वे भी परिवर्तन की उपेक्षा नहीं कर सकते, जो हमारे प्रत्यक्ष है। जो एकान्त अनित्यवादी हैं, वे भी स्थिति की उपेक्षा नहीं करते, जो हमारे प्रत्यक्ष है। इसीलिए नैयायिकों ने दृश्य वस्तुओं को अनित्य मानकर उनके परिवर्तन की व्याख्या की और बौद्धों ने सन्तति मानकर उनके प्रवाह की व्याख्या की।

वैज्ञानिक जगत् में रूपान्तर का सिद्धान्त सर्व-सम्मत है। उदाहरणस्वरूप, एक मोमबत्ती को ले लीजिये। जलाये जाने पर कुछ ही समय में उसका सम्पूर्ण नाश हो जायेगा। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि मोमबत्ती के नाश होने से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति हुई।[१]

इसी तरह जल को एक प्याले में रखा जाये और प्याले में दो छिद्र कर तथा उनमें कार्क लगा कर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ जल में खड़ी कर दी जायें और प्रत्येक पत्ती के ऊपर एक कांच का ट्यूब लगा दिया जाये तथा प्लेटिनम की पत्तियों का सम्बन्ध तार द्वारा बिजली की बैटरी के साथ कर दिया जाये तो कुछ ही समय में पानी गायब हो जायेगा। साथ ही यदि उन प्लेटिनम की पत्तियों पर रखे गए ट्यूबों पर ध्यान दिया जायेगा तो दोनों में एक-एक तरह की गैस मिलेगी, जो ऑक्सीजन और हाइड्रोजन होगी।[२]

आधुनिक वैज्ञानिक शोधों से यह प्रमाणित हुआ है कि पुद्गल शक्ति में और शक्ति पुद्गल में परिवर्तित हो सकती है।[३] सापेक्षवाद के अनुसार पुद्गल के स्थायित्व के नियम व शक्ति के स्थायित्व के नियम को एक ही नियम में समा देना चाहिए। उसका नाम 'पुद्गल और शक्ति के स्थायित्व' का नियम कर देना चाहिए।[४]

स्याद्वाद के अनुसार सत् का कभी नाश नाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता।[५] ऐसी कोई स्थिति नहीं होती, जिसके साथ उत्पाद और विनाश की अविच्छिन्न धारा न हो; और ऐसे उत्पाद-विनाश नहीं होते, जिनकी पृष्ठ-भूमि में स्थिति का हाथ न हो?

सब द्रव्य उभय-स्वभावी है। उनके स्वभाव की व्याख्या एक ही नियम से नहीं हो सकती। असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता। इस द्रव्यनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा द्रव्यों (ध्रौव्यांशों या मूलभूत तत्त्वों) की ही व्याख्या हो सकती है। इसके द्वारा रूपान्तरों (पर्यायों) की व्याख्या नहीं हो सकती। उनकी व्याख्या—असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है—इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही की जा सकती है। इन दोनों को एक भाषा में परिणामी-नित्यवाद या नित्यानित्यवाद कहा जा सकता है। इसमें स्थायित्व और परिवर्तन के सापेक्ष रूप की व्याख्या है। इस जगत् में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा स्थायी ही है, और ऐसा भी कोई द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा परिवर्तनशील ही है। मोमबत्ती, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है; और जीव, जो स्थायी माना जाता है, वह भी परिवर्तनशील है; स्थायित्व और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से जीव और मोमबत्ती में कोई अन्तर नहीं है।[६]

कोरी स्थिति ही होती, तो सब द्रव्य सदा एक-रूप रहते, कहीं कोई परिवर्तन नहीं होता—न कुछ बनता और

१ A Text Book of Inorganic Chemistry by J. R. Partington, p. 15

२ A Text-Book of Inorganic Chemistry by G. S. Neuth, p. 237

३ General Chemistry by Linus Pauling, pp. 4-5

४ General and Inorganic Chemistry by P. J. Durrant, p. 18

५ भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो।—पञ्चास्तिकाय, १५

६ आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक ५

न कुछ मिटता। न कोई घटना होती न कोई क्रम होता, और न कोई व्याख्या होती।

कोरे उत्पाद और व्यय होते तो उनका कोरा क्रम होता, पर स्थायी आधार के बिना वे कुछ रूप नहीं ले पाते। कर्तृत्व, कर्म और परिणामी की कोई व्याख्या नहीं होती। स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार परिवर्तन भी है और उसका आधार भी है, परिवर्तन-रहित कोई स्थायित्व नहीं है, और स्थायित्व-रहित कोई परिवर्तन नहीं है। दोनों अपृथक्भूत है। परिवर्तन स्थायी में ही हो सकता है, और स्थायी वही हो सकता है, जिसमें परिवर्तन हो। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—निष्क्रियता और सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने केन्द्र में ध्रुव, स्थिर और निष्क्रिय है। उसके चारों ओर परिवर्तन की अटूट शृंखला है। इसे हम परमाणु (या व्यावहारिक परमाणु) की रचना के द्वारा समझ सकते हैं। अणु की रचना तीन प्रकार के कणों से मानी जाती है १ प्रोटोन, २ इलेक्ट्रोन, ३ न्यूट्रोन। प्रोटोन धनात्मक कण है। वह परमाणु का मध्य-बिन्दु होता है। इलेक्ट्रोन ऋणात्मक कण है। यह धनाणु के चारों ओर परिक्रमा करता है। न्यूट्रोन उदासीन कण होते हैं।

जीव के प्रयत्न से जो परिवर्तन होता है, वह प्रत्यक्ष है। किन्तु जीव में भी जो प्रतिक्षण परिवर्तन होता है—अस्तित्व की सुरक्षा के लिए जो सहज सक्रियता होती है अथवा निषेध की सुरक्षा के लिए जो विधि का प्रयत्न होता है—वह प्रत्यक्ष नहीं है। इसीलिए हमारी दृष्टि में किसी भी वस्तु का अस्तित्व व्यक्त (व्यञ्जन) पर्याय से होता है। अर्थ-पर्याय (सूक्ष्म सक्रियता) से हम किसी वस्तु का अस्तित्व मानने में सफल नहीं होते।

बहुत सारा परिवर्तन जीवों के प्रयत्न के बिना होता है—पदार्थ की स्वाभाविक गति से होता है। अनेक परमाणु मिलकर परिवर्तन करते हैं। तब वह समुदायकृत कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में ऐकत्विक परिवर्तन होता है। उत्पाद और विनाश दोनों का यही क्रम है।[१] परमाणु स्वतन्त्र परमाणु के रूप में रहता है तो कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक असंख्य काल तक रह सकता है। द्व्यणुक स्कन्ध से लेकर अनन्ताणुक स्कन्ध के लिए भी यही नियम है।[२]

एक परमाणु परमाणु-रूप को छोड़कर स्कन्ध-रूप में परिणत होता है, वह जघन्यतः एक समय के पश्चात् और उत्कर्षतः असंख्य काल के पश्चात् फिर परमाणु-रूप में आ जाता है। उससे आगे वह स्कन्ध-रूप में नहीं रह सकता।[३] स्कन्ध में उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का हो सकता है।[४]

यह समूचा जगत् अणुओं या प्रदेशों से निष्पन्न है। पुद्गल के अणु विश्लिष्ट हैं। शेष चारों अस्तिकायों के अणु श्लिष्ट हैं—परस्पर एक-दूसरे से अविच्छिन्न हैं। वे अनादि विस्रसा (स्वाभाविक) बन्ध में बँधे हुए हैं।[५] वह बन्ध अनन्तकालीन या सर्वकालीन है।

सादि-विस्रसा बन्ध का काल-मान इस प्रकार होता है[६]—

		जघन्य	उत्कृष्ट
१ बन्धन प्रत्ययिक	—	एक समय	असंख्य काल
२ भाजन प्रत्ययिक	—	अन्तर-मुहूर्त	संख्येय काल
३. परिणाम प्रत्ययिक	—	एक समय	छह मास

जीव और पुद्गल अनादि प्रायोगिक बन्ध से बँधे हुए हैं। १ आलापन, २ आलीन, ३ शरीर, ४ शरीर-प्रयोग,

१ सम्मतिप्रकरण, ३।३२-३४
२ भगवतीसूत्र ५।७
३ वही, ५।७
४ वही, ५।७
५ वही, ८।९
६ वही, ८।९

—ये सादि प्रायोगिक बन्ध हैं।[1] इनका काल-मान इस प्रकार होता है :

		जघन्य	उत्कृष्ट
१ आलापन	—	अन्तर-मुहूर्त्त	संख्येय काल
२ आलीन	—	,,	,,
३ शरीर	—	एक समय	अनन्त काल
४ शरीर-प्रयोग	—	,,	,,

सूक्ष्म परिवर्तन (अगुरु-लघु पर्याय) प्रतिक्षण होता है और सब द्रव्यों मे होता है। स्थूल परिवर्तन (व्यञ्जन पर्याय) जीव और पुद्गल; इन दो ही द्रव्यो मे होता है। वह पर-निमित्त से ही होता है और सहज भी होता है। असंख्य काल के पश्चात् व्यञ्जन-पर्याय का निश्चित परिवर्तन होता है। सोने का परमाणु असंख्य काल के पश्चात् सोने का नही रहता, वह दूसरे द्रव्य का प्रायोग्य बन जाता है।[2] यह परिवर्तन ही विश्व-संचालन का बहुत बडा रहस्य है। सृष्टि के आरम्भ, विनाश और संचालन की व्यवस्था इसी स्वाभाविक परिवर्तन के सिद्धान्त पर आधारित है। अगुरु-लघु पर्याय (—या अस्तित्व की क्षमता) की दृष्टि से विश्व अनादि-अनन्त है। व्यञ्जन-पर्याय की दृष्टि से विश्व सादि-सान्त है। स्वाभाविक परिवर्तन की दृष्टि से विश्व स्वयं सञ्चालित है। प्रत्येक द्रव्य की सञ्चालन-व्यवस्था उसके सहज स्वरूप मे सन्निहित है। वैभाविक परिवर्तन की दृष्टि से विश्व जीव और पुद्गल के संयोग-वियोग से प्रजनित विविध परिणतियो द्वारा सञ्चालित है। विश्व के परिवर्तन और स्थायित्व की व्याख्या सापेक्षवाद इस प्रकार करता है[3]—"वैज्ञानिक निष्कर्षों को आन्तरिक और बाह्य सीमाओ पर जो भी सूत्र प्राप्त हुए है, वे यह व्यक्त करते हैं कि ब्रह्माण्ड का निर्माण किसी निश्चित काल मे हुआ होगा। जिस अभिन्न हिसाब से यूरेनियम अपनी परमाणु-केन्द्रीय शक्ति को बिखेरता है (और चूँकि उसके निर्माण की किसी प्राकृतिक प्रणाली का पता नही चलता), उससे प्रगट होता है कि इस पृथ्वी पर जितना भी यूरेनियम है, सबका निर्माण एक निश्चित काल मे हुआ होगा। भू-विज्ञानवेत्ताओ की गणना के अनुसार यह काल करीब बीस अरब वर्ष पूर्व रहा होगा। तारो के आन्तरिक भागो मे दुर्धर्ष रूप से चलने वाली तापकेन्द्रीय प्रणालियाँ जिस तीव्रता से पदार्थ को प्रकाश-किरण मे परिणत करती है, उससे अन्तरिक्ष-विज्ञानवेत्ता नक्षत्रीय जीवन का विश्वास-पूर्वक हिसाब लगाने मे समर्थ हैं। उनके हिसाब से अधिकांश दृश्य तारो की औसत आयु बीस अरब वर्ष है। इस प्रकार भू-विज्ञानवेत्ताओ और अन्तरिक्ष-विज्ञानवेत्ताओं के हिसाब ब्रह्माण्डवेत्ताओ के हिसाब के बहुत अनुकूल ठहरते है, क्योंकि दौड़ती हुई ज्योतिर्मालाओं के प्रत्यक्ष वेग के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्माण्ड का विस्तार-कार्य बीस अरब वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ होगा। विज्ञान के अन्य क्षेत्रो में भी कुछ ऐसे लक्षण उपलब्ध है, जो इसी तथ्य को प्रगट करते है। अतएव ब्रह्माण्ड के अन्ततः विनाश की ओर इंगित करने वाले सारे प्रमाण काल पर आधारित उसके आरम्भ को भी निश्चयपूर्वक व्यक्त करते है।

"यदि कोई एक अमर स्फुरणशील ब्रह्माण्ड (जिसमें सूरज, पृथ्वी और विशालकाय लाल तारे अपेक्षाकृत नवागन्तुक हैं) की कल्पना से सहमत हो जाये, तो भी आरम्भिक उद्भव की समस्या शेष रह ही जाती है। इससे केवल उद्भव-काल असीम अतीत के गर्भ मे चलता जाता है, क्योंकि वैज्ञानिको ने ज्योतिर्मालाओ, तारो, तारा-सम्बन्धी रजकणो, परमाणुओं और यहाँ तक कि परमाणु मे निहित तत्त्वो के बारे में गणित की सहायता से जो भी लेखा-जोखा तैयार किया है, उसके हर सिद्धान्त की आधारभूत धारणा यह रही है कि कोई चीज पहले से विद्यमान अवश्य थी—चाहे वह उन्मुक्त 'न्यूट्रोन' हो, या शक्ति की राशि, या केवल अगाध 'ब्रह्माण्डीय तत्त्व', जिससे आगे चलकर ब्रह्माण्ड ने यह रूप प्राप्त किया।"

---

१ भगवती सूत्र, ८।९

२ वही, ८।९

३ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ११३-११४

स्याद्वाद की भाषा मे विश्व के स्थायित्व और परिवर्तन (आरम्भ और विनाश, रूपान्तर या अर्थान्तर) को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है

१ स्यात् नित्य एव—एक दृष्टि से नित्य ही है।
२ स्यात् अनित्य एव— " " " अनित्य ही है।
३ स्यात् नित्य स्यात् अनित्य एव—युगपत् वस्तु नित्यानित्य ही है।

	द्रव्य
केवल नित्य	०
" अनित्य	०
नित्यानित्य	है

एक परमाणु विभिन्न अवस्थाओं से सक्रान्त होते हुए भी अन्तत परमाणु ही है। वह अनन्त अवस्थाओं को और प्राप्त करके भी अन्तत परमाणु ही रहेगा। यह नियम सभी द्रव्यों के लिए समान है।

वाच्य और अवाच्य का नियम

उपनिषद् का ब्रह्म न सत् है,न असत् है,[1]किन्तु अवक्तव्य है। उसका स्वरूपबोधक वाक्य है—नेति-नेति।[2]वह वाणी के व्यवहार से परे है।[3] उपनिषदों मे सकम्प-निष्कम्प, क्षर-अक्षर, सत्-असत्, अणु महान् आदि अनेक विरोधी युगल ब्रह्म मे स्वीकृत है।[4] इसलिए वह अवक्तव्य बन गया। वेदान्त का वाच्य है—नामरूपात्मक जगत्।

महात्मा बुद्ध ने—

१ लोक शाश्वत है ?
२ ,, अशाश्वत है ?
३ ,, सान्त है ?
४ ,, अनन्त है ?
५ जीव और शरीर एक है ?
६ ,, ,, ,, भिन्न है ?

इन प्रश्नो को अव्याकृत कहा है।[5]

ऐकान्तिक शाश्वतवाद और ऐकान्तिक उच्छेदवाद उन्हे निर्दोष नहीं लगा, इसलिए वे नित्यानित्य की चर्चा म नहीं गये। उन्होंने इन प्रश्नो को अव्याकृत कहकर टाल दिया। उन्होंने जन्म-मरण आदि प्रत्यक्ष धर्मों को व्याकृत कहा।[6]

भगवान् महावीर ने विरोधी धर्मों की अवहेलना भी नहीं की और उनकी सहस्थिति से विचलित भी नहीं हुए। वे विरोधी धर्मों की सहस्थिति से परिचित हुए, अत उन्होंने किसी एक को वाच्य और किसी दूसरे को अवाच्य नहीं माना। उनकी नय-दृष्टि के अनुसार विश्व का कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य नहीं है, और कोई भी द्रव्य सर्वथा अवाच्य नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त विरोधी युगलों का पिण्ड है। उसके सब धर्मों को कभी नहीं कहा जा सकता। एक काल मे एक ही शब्द एक ही धर्म को व्यक्त करता है, इसलिए एक साथ अनन्त धर्मों का निरूपण नहीं किया जा सकता। इस

१ नसन्न चासत्। —श्वेताश्वतर, ४।१८
२ स एष नेति नेति। —बृहदारण्यक, ४।५।१५
३ यतो वाचो निवर्तन्ते। —तैत्तिरीय, २।४
४ ईशा० ५; श्वेताश्वतर, १।८; मुण्डक, २।२।१; कठो० १।१२।२०
५ मज्झिमनिकाय, चूल मालुक्यसुत्त, ६३
६ वही, चूल मालुक्यसुत्त, ६३

नय-दृष्टि से द्रव्य अवाच्य भी है। प्रयोजनवश हम द्रव्य के किसी एक धर्म का निरूपण करते है, इस दृष्टि से वे वाच्य भी है। जब हम एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक द्रव्य का निरूपण करते हैं, तब हमारी दृष्टि और हमारा वचन सापेक्ष बन जाते है। हम उस विवक्षित धर्म को अनन्तधर्मात्मक द्रव्य का प्रतीक मानकर एक के द्वारा सकल का निरूपण करते है। इस नियम को 'सकलादेश' कहा जाता है। 'स्यात्' शब्द इसी सकलादेश का सूचक है। जहाँ हमे एक धर्म के द्वारा समग्र धर्मी का निरूपण करना हो, वहाँ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कर देना चाहिए। जैसे :

१. स्यात् अस्ति—यहाँ अस्ति धर्म के द्वारा समग्र धर्मी वाच्य है।

२ „ नास्ति— „ नास्ति „ „ „ „ „ वाच्य है।

द्रव्य में जिस क्षेत्र और जिस काल मे अस्ति-धर्म होता है, उसी क्षेत्र और उसी काल मे नास्ति धर्म-होता है; एक साथ वे दोनो कहे नही जा सकते, इसलिए हम कहते हैं :

३ स्यात् अवक्तव्य—यहाँ अवक्तव्य पर्याय के द्वारा समग्र धर्मी वाच्य है। इनका तात्पर्यार्थ है कि द्रव्य मे अस्ति-नास्ति जैसे विरोधी धर्म युगपत् है, पर उन्हे कहने के लिए हमारे पास कोई शब्द नही है। वे जिस रूप मे है, उस रूप को युगपत् वाणी के द्वारा प्रगट करना शक्य नही है, इसलिए वे अवाच्य हैं।

तीनो विकल्पों का निष्कर्ष यह है कि एक धर्म को समग्र धर्मी का प्रतीक मानकर हम द्रव्य का वर्णन करे तो वह वाच्य भी है, और अनेक या समग्र धर्मों को हम एक साथ कहना चाहे तो वह अवाच्य भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनी विभिन्न परिस्थिति के कारण वाच्य और अवाच्य दोनो है। स्याद्वाद धर्मिग्राही है, इसलिए उसमे अवाच्य का पक्ष प्रधान है और वाच्य पक्ष गौण है। नयवाद धर्मग्राही है, इसीलिए उसमे वाच्य पक्ष प्रधान है और अवाच्य पक्ष गौण। हमारा ज्ञेय सत्य अनन्त है और वाच्य सत्य उसका अनन्तवाँ भाग है।[1] हमारा इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है और हमारी भाषा की भी निश्चित सीमा है। प्रत्येक वस्तु अपने-आप मे असीम है। ससीम के द्वारा असीम का दर्शन और निरूपण जो होता है वह सापेक्ष ही होता है। धर्मी के एक धर्म के द्वारा जो आकलन व निरूपण होता है, वह अभेद-वृत्ति या अभेदोपचार से होता है। एक धर्म का आकलन या निरूपण स्वाभाविक सहज शक्ति से होता है। हमारी इन्द्रियाँ एकधर्मग्राही है। हमारा जो दृश्य जगत् है, वह पौद्गलिक है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप, ये पुद्गल के गुण है और शब्द उसका कार्य है। हमारी पाँचो इन्द्रियाँ क्रमश इन्हे ग्रहण करती है

स्पर्शन—स्पर्श
रसन—रस
घ्राण—गन्ध
चक्षु—रूप
श्रोत्र—शब्द

आम मे स्पर्श आदि चारो गुण होते है। चारो इन्द्रियाँ उसे पृथक्-पृथक् चार रूपो मे ग्रहण करती है। स्पर्शन-इन्द्रिय के लिए वह एक स्पर्श है, रसन-इन्द्रिय के लिए वह एक रस है, घ्राण-इन्द्रिय के लिए वह एक गन्ध है, चक्षु-इन्द्रिय के लिए वह एक रूप है। इन्द्रियाँ ऋजु हैं, वर्तमान को जानती हैं, अतीत का चिन्तन और भविष्य की कल्पना उनमे नही होती। वे अपने-अपने विषय को जान लेती हैं, पर सब विषयो को मिला कर जो एक वस्तु बनती है, उसे नही जान पाती। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप मे भी अनन्त तारतम्य होता है

स्पर्श	एकगुण	संख्यात गुण	असंख्य गुण	अनन्त गुण
रस	„	„	„	„
गन्ध	„	„	„	„
रूप	„	„	„	„

१ पण्णवणिज्जा भावा, अणंत भागो उ अणभिलप्पाणं —विशेषावश्यक भाष्य, १४१

इन्द्रियाँ नही जान पाती कि साम्नभ्य के आधार पर किस वस्तु को क्या कहना चाहिए ? इसकी व्यवस्था मन करता है। वह इन्द्रियो के द्वारा गृहीत धर्मों को धर्मी के साथ सयुक्त कर देता है। चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा केवल रूप-धर्म का ग्रहण होता है। मन उस रूप-धर्म के द्वारा रूपी धर्मी का भी ग्रहण कर लेता है। हमारे ज्ञान का प्रथम द्वार है इन्द्रिय, और दूसरा द्वार है मन। हम पहले-पहल धर्म को जानते हैं, फिर धर्मी को। धर्म धर्मी मे वियुक्त नही है, इसलिए हमारी इन्द्रियाँ जब धर्म को जानती हैं, तब भी हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। क्योंकि धर्मी से पृथक् स्वतन्त्र धर्म का कोई अस्तित्व नही है। धर्मी किसी एक धर्म के माध्यम से ही अपने को व्यक्त करता है, इसलिए हमारा धर्मी का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। इन्द्रिय और मन मे निरपेक्ष ज्ञान करने की क्षमता नही है, अर्थात् धर्मी से वियुक्त धर्म को तथा धर्म के माध्यम के बिना धर्मी को जानने की क्षमता नही है। धर्म-धर्मी के इस सापेक्ष ज्ञान को 'नयवाद' या 'विकलादेश' कहा जाता है। जितने धर्म है, उतने ही वचन प्रकार है। जितने वचन-प्रकार हैं, उतने ही नयवाद है।[1]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

द्रव्य की दो प्रधान अवस्थाए हैं—अन्वय और परिवर्तन। परिवर्तन क्रमिक होता है और अन्वय उन क्रमिक अवस्थाओ की अटूट कडी होता है। तरग एक क्रम है, जल उसमे सर्वत्र व्याप्त है। जल मे तरग को और तरग मे जल को पृथक् नही किया जा सकता। जल और तरग दोनो भिन्न अवस्थाए हैं, उन्हे एक भी नही माना जा सकता। फिर भी हम कही-कही अन्वयी की उपेक्षा कर केवल अन्वय का प्रतिपादन करते है और कही-कही अन्वय की उपेक्षा कर अन्वयी का प्रतिपादन करते है। यह एकान्तवाद है। पर यहाँ उपेक्षा का अर्थ निराकरण नही है, इसलिए यह निरपेक्ष एकान्तवाद नही है। अन्वयी के प्रतिपादन मे अन्वय और अन्वय के प्रतिपादन मे अन्वयी स्वय-गम्य है। कभी हमारा दृष्टिकोण अन्वय-प्रधान (द्रव्यार्थिक) होता है और कभी परिवर्तन-प्रधान (पर्यायार्थिक) होता है। सच तो यह है कि हमारे जितने एकागी दृष्टिकोण हैं, वे सब परिवर्तन-प्रधान है। फिर भी जब हम अन्वय का स्पर्श करते हुए परिवर्तन की व्याख्या करते है, तब हमारा दृष्टिकोण अन्वय-प्रधान बन जाता है, और जब हम अन्वय का स्पर्श किये बिना केवल परिवर्तन की व्याख्या करते है, तब हमारा दृष्टिकोण परिवर्तन-प्रधान बन जाता है।

नैगम

अन्वय सब कालो व स्थितियो मे सामान्य होता है, इसलिए वह अभेद है। परिवर्तन विलक्षण होता है, इसलिए वह भेद है। केवल अभेदात्मक या केवल भेदात्मक दृष्टिकोण से विश्व की व्याख्या नही की जा सकती। उसकी व्याख्या अभेद को गौण व भेद को प्रधान अथवा भेद को गौण व अभेद को प्रधान मान कर की जा सकती है। इस प्रणाली को 'नैगम नय' कहा जाता है।

संग्रह

विश्व मे अनेक धर्म ऐसे हैं, जो विलक्षण है, पर विलक्षणता मे भी अस्तित्व या सत्ता ऐसा धर्म है, जो सबको एक साथ टिकाये और स्वरूप प्रदान किये हुए है। जब हम अस्तित्व-धर्म की दृष्टि से विश्व की व्याख्या करते हैं, तब समूचा विश्व हमारे लिए एक हो जाता है। विश्व के केन्द्र मे सत्ता है। वह एक और अखण्ड है।

वेदान्त चेतन को केन्द्र मे मानकर विश्व को एक मानता है और सग्रह-दृष्टि सत्ता को केन्द्र मे मानकर विश्व को एक मानती है। वह भी सापेक्ष दृष्टि है, अर्थात् चेतन की अपेक्षा विश्व एक है, और यह भी सापेक्ष दृष्टि है अर्थात् सत्ता की अपेक्षा विश्व एक है। सब धर्मों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म भी नहीं है, और सब धर्मों की अपेक्षा अद्वैत स्याद्-

---

१ जावइया वयण वहा, तावइया चेव होंति नयवाया।
—सम्मति-प्रकरण, ३।४७

वाद का विश्व भी नहीं है। परम संग्रह या परम एकत्व की दृष्टि में अस्तित्व के अतिरिक्त और कोई प्रश्न ही नहीं होता। वहाँ एक ही तत्त्व होता है—जो सत् है, वह सत्य है, और जो सत्य है, वह सत् है। इस अद्वैत-प्रणाली को 'संग्रह-नय' कहा जाता है।

व्यवहार

आकाश सर्वत्र व्याप्त है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय असंख्य योजन तक आकाश के सहवर्ती हैं। आकाश, धर्म, अधर्म और जीव—ये चारों अमूर्त है, इसलिए वे अन्योन्य-प्रविष्ट रह सकते हैं। पुद्गल मूर्त है। अमूर्त और मूर्त में एकावगाह का विरोध नहीं है, इसलिए वे सभी एक साथ रह सकते है। सहज ही जिज्ञासा होती है—पाँचो एकावगाह हो सकते हैं, तब उन्हें पृथक् क्यों माना जाय ? इसका समाधान उनके विलक्षण स्वभाव के आधार पर ही किया जा सकता है। वे एक साथ रहते हुए भी अपने विलक्षण स्वभाव का परित्याग नहीं करते,[1] इसलिए सत्ता व एकावगाह की दृष्टि से अपृथक् होते हुए भी वे विलक्षण स्वभाव व परिणाम की दृष्टि से पृथक हो जाते है। विश्व के इस पृथक्त्व की व्याख्या-पद्धति को 'व्यवहार-नय' कहा जाता है।

जब विश्व की व्याख्या समस्यमान दृष्टि से की जाती है, तब वह अद्वैत का रूप लेता है और जब उसकी व्याख्या विविच्यमान दृष्टि से की जाती है, तब वह द्वैत का रूप लेता है। अद्वैत और द्वैत, दोनो एक ही विश्व के दो पहलू है।[2] अद्वैत की सर्वथा अवहेलना कर द्वैत तथा द्वैत की सर्वथा अवहेलना कर अद्वैत की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब हम केन्द्रोन्मुखी दृष्टि से देखते हैं, तब हम द्वैत से अद्वैत की ओर बढते हैं। जब हम परिणामोन्मुखी व विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से देखते है तब हम अद्वैत से द्वैत की ओर बढते है। हमारा विकेन्द्रित दशा का चरम बिन्दु केन्द्र-लक्षी है और केन्द्रित दशा का चरम बिन्दु विकेन्द्र-लक्षी है
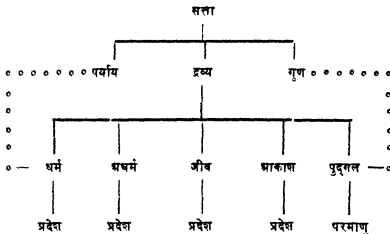
१ अण्णोण्णं पविसंता, दिता ओगास मण्ण मण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं, सगं सभावं ण विजहंति॥
—पञ्चास्तिकाय, ७५

२ जैनसिद्धान्तदीपिका, प्रकाश १, सूत्र ४१-४२

ऋजुसूत्र

अद्वैत या द्रव्यात्मक जगत् हमारे लिए प्रत्यक्ष नही है, परिणाम हमारे प्रत्यक्ष होते हैं। हमारा अधिकांश समय परिणामात्मक जगत् मे बीतता है। इस जगत् की रचना बहुत ऋजु है। इसमे सब-कुछ वर्तमान है। भूत और भावी के लिए कोई स्थान नही है, भूत बीत जाता है, भावी अनागत होता है, इसलिए वे कार्य कर नही होते। वर्तमान अर्थ-क्रिया-सम्पन्न है, इसलिए वह वस्तु-स्थिति है। यह परिवर्तन का सिद्धान्त है। यह अन्वय की व्याख्या नही दे सकता। इस पद्धति को 'ऋजुसूत्र-नय' कहा जाता है।
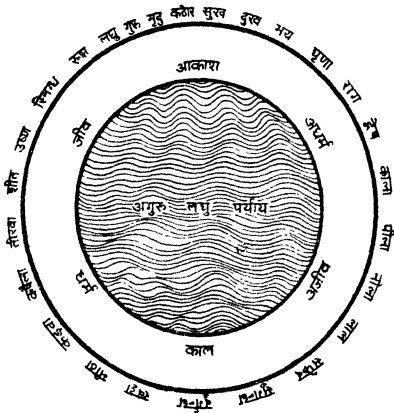
पूर्ववर्ती तीन दृष्टिकोण द्रव्याश्रित परिणामों की व्याख्या देते हैं और प्रस्तुत दृष्टिकोण केवल परिणामो की व्याख्या देता है। द्रव्य दृष्टिगामी होता है और पर्याय दृष्टिद्वैतगामी। द्रव्य अद्वैत—अविच्छिन्न होता है और पर्याय विच्छिन्न होता है। विच्छेद के हेतु तीन हैं· वस्तु, देश और काल। अविच्छेद और विच्छेदनय की अपेक्षा मे तीन-तीन रूप बनते हैं

द्रव्य-दृष्टि से विश्व एक है, अभिन्न है और नित्य है।

पर्याय-दृष्टि मे विश्व अनेक है, भिन्न है और अनित्य है। निरपेक्ष रहकर दोनो दृष्टियाँ सत्य नही है। ये सापेक्ष रहकर ही पूर्ण सत्य की व्याख्या कर सकती हैं।

सत्य की मीमांसा

सत्य की शोध अनादि काल से चल रही है; किन्तु सत्य अनन्तरूपी है। मनुष्य अपनी दो आँखो मे देख उसके एक रूप की व्याख्या करता है, इतने मे वह अपना रूप-परिवर्तन कर लेता है। वह उसके दूसरे रूप की व्याख्या का यत्न करता है, इतने मे उसका तीसरा रूप प्रगट हो जाता है। इस दौड मे मनुष्य थक जाता है, उसका रूप-परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। इस प्रक्रिया मे सापेक्षता ही मनुष्य को आलम्बन दे सकती है। जो एक रूप को पकड शेष सब रूपो मे निरपेक्ष होकर उसकी व्याख्या करता है, वह उसका अग-भग कर डालता है।

चार्वाक के अभिमत मे इन्द्रिय-गम्य ही सत्य है, उपनिषदो के अनुसार अतीन्द्रिय (या प्रज्ञागम्य) ही सत्य है। जो दृश्य-मान है, वह शब्द-मात्र, विकार-मात्र या नाम-मात्र है।[1] शंकराचार्य के अनुसार जो जिस रूप मे निश्चित है, यदि वह उस रूप का व्यभिचारी न हो, तो वह सत्य है। जो जिस रूप मे निश्चित है, यदि वह उस रूप का व्यभिचारी बनता है, तो वह अनृत है। विकार इसीलिए अनृत है कि वह निश्चित रूप का व्यभिचारी है।[2] बौद्धो के अनुसार भेद ही सत्य है। वे वेदान्त की भाँति अभेद को सत्य नही मानते और चार्वाक की भाँति इन्द्रिय-गम्य को भी सत्य नही मानते। अतीन्द्रिय भी उनकी दृष्टि में सत्य है। महात्मा बुद्ध की यह एक शिक्षा थी—"जीवन-प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित न मानना—अन्यथा जीवन और उसकी विचित्रताए कार्य-कारण से उत्पन्न न होकर, केवल आकस्मिक घटनाए रह जायेगी।"[3]

वैज्ञानिक जगत् में सत्य की व्याख्या व्यवहाराश्रित है। उसके अनुसार—"एक यत्र प्रकाश को कणो से निर्मित रूप मे व्यक्त करता है और दूसरा उसके तरगो से निर्मित होने की बात बतलाता है, तो उसे उन दोनो का परस्पर-विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर-पूरक स्वीकार करना चाहिए। अलग-अलग इन दोनो में से कोई भी प्रकाश की व्याख्या करने में असमर्थ है; पर साथ मिलकर वे ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं। सत्य की व्याख्या करने के लिए दोनों ही महत्त्व-

---

१ वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।—छान्दोग्य उपनिषद्, ६।१।४

२ तैत्तिरीय उपनिषद् २।१; शांकर भाष्य, पृ० १०३

३ मज्झिम निकाय, भूमिका

पूर्ण है और यह प्रश्न निरर्थक है कि इन दोनो मे से कौन वस्तुत सत्य है। प्रमाता भौतिक विज्ञान के भाववाचक कोश मे 'वस्तुत' नामक कोई शब्द नही है।[१]

आचार्य शकर के शब्दो मे—यह लोक-व्यवहार सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है। ब्रह्म सत्य है, प्रपञ्च मिथ्या है। **सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयलोक व्यवहारः**।—स्याद्वाद की भाषा मे लोक-व्यवहार दो सत्यो का मिथुनीकरण है। उसके अनुसार केन्द्र और प्रपञ्च (द्रव्य और परिणाम या विस्तार) दोनो सत्य हैं। एक वस्तु-सत्य या निश्चय-सत्य है, दूसरा व्यवहार-सत्य या पर्याय-सत्य है। निश्चयनय पारमार्थिक, भूतार्थ, अलौकिक, शुद्ध और सूक्ष्म है। व्यवहार-नय अपारमार्थिक, अभूतार्थ, लौकिक, अशुद्ध और स्थूल है। निश्चयनय तत्त्वार्थ की व्याख्या करता है और व्यवहारनय लौकिक सत्य या स्थूल पर्याय की व्याख्या करता है।[२] आचार्य कुन्दकुन्द के अभिमत मे निश्चयनय की दृष्टि से परमाणु ही पुद्गल है, व्यवहारनय की दृष्टि मे स्कन्ध भी पुद्गल है।[३] परमाणु के गुण स्वाभाविक और स्कन्ध के गुण वैभाविक होते है। परमाणु मे स्वभाव-पर्याय (अन्य-निरपेक्ष परिणमन) और स्कन्ध मे विभाव-पर्याय (पर-सापेक्ष परिणमन) होते है।[४]

यति भोज के शब्दो मे—द्रव्य के आन्तरिक रूप, बहुत व्यक्तियो के अभेद तथा द्रव्य-नैर्मल्य (पर-निरपेक्ष परिणमन)—द्रव्य के इस पारमार्थिक रूप की व्याख्या का दृष्टिकोण निश्चयनय है। यह मूल-स्पर्शी है, वस्तु-सत्य को प्रगट करने वाला है।[५] व्यक्तियो के भेद, व्यक्त पर्याय और कार्य-कारण के एकत्व—द्रव्य के इस अपारमार्थिक रूप की व्याख्या का दृष्टिकोण व्यवहारनय है। यह परिणाम-स्पर्शी है, स्थूल सत्य को प्रगट करने वाला है।[६]

भगवान् से पूछा—भगवन्! प्रवाही गुड मे वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श कितने होते है?

भगवान् ने कहा—गौतम! इसकी व्याख्या मैं दो दृष्टिकोणो से करता हूँ

१ व्यवहार-दृष्टि से वह मधुर है,

२ निश्चय-दृष्टि से वह सब रसो से उपेत है।

इसी प्रकार भ्रमर के बारे मे पूछा गया, तो भगवान् ने कहा

१ व्यवहार-दृष्टि से वह काला है,

२ निश्चय-दृष्टि से वह सब वर्णों से उपेत है।[७]

व्यवहार-दृष्टि से सत्-पर्याय सत्य होता है और निश्चय-दृष्टि से सत्-पर्याय व अनन्त असत्-पर्यायो से युक्त द्रव्य सत्य होता है। निश्चय-दृष्टिकोण का प्रतिपाद्य सत्य निरपेक्ष और व्यवहार-दृष्टि का प्रतिपाद्य सत्य सापेक्ष होता है, किन्तु निरपेक्ष दृष्टिकोण के बिना विश्व के केन्द्र तथा सापेक्ष दृष्टिकोण के बिना उसके विस्तार की व्याख्या नही की जा सकती, इसलिए निरपेक्ष और सापेक्ष सत्य जैसे परस्पर-सापेक्ष है, वैसे ही उनके प्रतिपादक निरपेक्ष और सापेक्ष दृष्टिकोण भी परस्पर-सापेक्ष है। स्याद्वाद की यही मर्यादा है।

---

१ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ३२-३३
२ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ८।२३
३ नियमसार, २६
४ नियमसार, २७—२८
५ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ८।२४
६ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ८।२५
७ भगवती, सूत्र १८।६

स्याद्वाद-सिद्धान्त की मौलिकता और उपयोगिता

डॉ० कामताप्रसाद जैन
सम्पादक, 'अहिंसावाणी'

आज का युग अनात्मवादी है, इसीलिए उसका मानव बहिर्द्रष्टा है। वह परवस्तु का सहारा लेकर ऊपर उठना चाहता है, भौतिक आविष्कारों के द्वारा वह आनन्द पाना चाहता है, स्पूतनिक-यात्री बनकर स्वर्ग के नन्दन-कानन में अथवा चन्द्र-लोक में पहुँचने के स्वप्न देख रहा है। किन्तु आज का मानव भूल रहा है कि परावलम्बी जीवन कभी सुख-सम्पन्न नहीं होता। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं', यह त्रिकाल सत्य है। बहिर्द्रष्टा परावलम्बी है, इन्द्रियजन्य वासनाओं का दास है और इच्छा का गुलाम है। यही कारण है कि इतने वैज्ञानिक चमत्कार और आविष्कार होने पर भी लोक में सुख और शान्ति का नाम नहीं है। अत वर्तमान लोकस्थिति की यह माँग है कि मानव अन्तर्द्रष्टा बने—वह अपने अन्तर में स्थित आत्मा को पहिचाने, क्योंकि उसके बारे में ऋषियों ने बताया है कि 'विश्व को प्रकाशित करने वाला वह आत्मा अनन्त शक्तिशाली है और ध्यान-शक्ति के प्रभाव में वह तीन लोक को चला सकता है।'[1] ऐसे शक्तिशाली महात्मा पलक मारते ही चन्द्र-लोक तो क्या, उससे भी परे के क्षेत्र का पर्यालोचन कर लेते थे—ध्यान के बल से चारण बनकर आकाश-गमन करते थे, उनको स्पूतनिक की भी आवश्यकता नहीं थी। वह अन्तर् की अणु-शक्ति को जगा लेते थे। अत लोक में सुख और शान्ति की स्थापना तभी हो सकती है, जबकि मानव आत्मदर्शी अन्तर्द्रष्टा बने।

वर्तमान युग में स्याद्वाद की उपयोगिता

विगत काल में धार्मिक मान्यताओं के निमित्त से जो रक्तरंजित हिंसक घटनाएं घटित हुई हैं, उनके फल-स्वरूप आज का बुद्धिवादी वर्ग धर्म का नाम सुनने के लिए भी तैयार नहीं है, किन्तु इसमें दोष धर्म का नहीं है। धर्म तो वस्तु का स्वभाव है। उसका उपयोग अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। आज विज्ञान को ही लीजिये—उसके आविष्कारों से जहाँ एक ओर मानव-जाति का महान हित हुआ है, वहाँ दूसरी ओर अणुबम-जैसे घातक अस्त्र भी उसी के फलस्वरूप मिले हैं। हिरोशिमा की घोर नृशंसता का अभिशाप विज्ञान के बल पर ही घटित हुआ है, किन्तु इसमें दोष विज्ञान का नहीं, अपितु उसका उपयोग करने वालों का है। अतएव यह मानना पड़ता है कि न धर्म बुरा है और न विज्ञान, अपितु उनकी अच्छी या बुरी उपयोगिता उनके व्यवहार पर निर्भर है और व्यवहार, व्यक्ति की आन्तरिक कर्मठता पर निर्भर है। अच्छा आदमी उसका अच्छा व्यवहार करेगा और बुरा उसका बुरा व्यवहार करेगा।

निस्सन्देह मानव-समाज की मौलिक इकाई व्यक्ति है—व्यक्ति ही मिलकर समाज का निर्माण करता है। अत व्यक्ति का विचक्षण होना परमावश्यक है, और विचक्षणता आती है आत्मा और शरीर के स्वरूप को पहचानने से—सही दृष्टिकोण को पा लेने से। जरा गहरा विचार कीजिये तो पता चलेगा कि संघर्ष की जड़ बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा ही अच्छे और बुरे संकल्पों को मूर्तिमान् बनाने की योजनाएं बनती हैं। अच्छा विचार अच्छी वाणी और अच्छे कार्यों का सृजन करता है। इसके विपरीत असद् विचार विषमता पैदा करता है। यही कारण है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने स्याद्वाद-सिद्धान्त का सहारा लेकर लोक-व्यवहार को चलाने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा :

---

1 अहोऽनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः॥

"यदि व्यक्ति द्रव्य के अनेक गुणो को भुला कर केवल उसके एक गुण को ही पकड कर उसी मे अटक जाता है,तो वह कभी भी सत्य को नही पाता है। अत अनेकान्त-शैली को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है, जैसे कि 'स्याद्' प्रत्यय मे वह व्यक्त होता है।"[1]

और यह स्याद्वाद-सिद्धान्त जैन तीर्थंकरो की मौलिक देन है, क्योकि यह ज्ञान का एक अग है, जो तीर्थंकरो के केवलज्ञान मे स्वत ही प्रतिबिम्बित होता है। इस स्याद्वाद-सिद्धान्त के द्वारा मानसिक मतभेद समाप्त हो जाते हैं और वस्तु का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसको पाकर मानव अन्तर्द्रष्टा बनता है। 'स्याद्वाद' पद के दो भाग होते हैं—(१) स्यात् और (२) वाद। 'स्यात्' का अर्थ है 'कथचित्'—किसी एक दृष्टिविशेषसे, अत वह सशयात्मक नही है, प्रत्युत वह दृढता से इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि वस्तु मे यद्यपि अनेक गुण है, फिर भी शब्दो द्वारा उनका कथन या विधान एक साथ नही हो सकता, इसलिए वस्तु-स्वरूप को जानना है तो उसका पर्यालोचन विविध अपेक्षाओ और दृष्टिकोणो से करना उपादेय है। सापेक्षवाद कहिये, चाहे स्याद्वाद, है वह 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' ही। चूँकि इस सिद्धान्त का आधार 'ही' न होकर 'भी' होता है—इसलिए इसका प्रयोग जीवन-व्यवहार मे समन्वयपरक है—वह समता और शान्ति को सर्जता है—बुद्धि के वैषम्य को मिटाता है। स्कूल के दो छात्र अपनी पेंसिलो के बडप्पन को लेकर झगड रहे थे। एक कहता था कि उसकी पेंसिल बडी है और दूसरा कहता था उसकी पेंसिल बडी है। छोटे-बडे के थोडे-से अन्तर को वे दृष्टि मे ले ही नही रहे थे। उनके अध्यापकजी ने देखा तो अपने पास बुला कर उनके झगडे को निबटाया। उन दोनो छात्रो की पेंसिलो को लेकर टेबिल पर रखा और उनके बीच मे एक उनसे भी बडी पेंसिल रखकर पूछा—'बताओ, अब कौन-सी पेंसिल बडी है?' और उनको कहना पडा कि अध्यापकजी की पेंसिल बडी है। फिर अध्यापकजी ने उससे भी बडी पेंसिल उन पेंसिलो मे रख दी और तब पूछा कि 'अब कौन-सी पेंसिल बडी है?' छात्रो ने नई पेंसिल को बडी बताया—जिसे पहले बडी बताया था, वह अब छोटी लगने लगी। इस प्रकार लोक मे वस्तु-व्यवहार अपेक्षाकृत ही प्रयोग मे आता है। जो लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते है वे उन छात्रो की तरह बेकार ही आपस मे लडते-झगडते है। प्रत्येक वस्तु मे एक नही, अनेक गुण होते है। भाषा द्वारा उन सबको एक साथ नही कहा जा सकता; एक समय मे एक गुण-विशेष को लक्ष्य कर कथन किया जा सकता है। अत यह भी मानना पडता है कि स्याद्वाद-सिद्धान्त तात्त्विक पृष्ठभूमि पर आधारित है—वह केवल भाषा के सुविधाजन्य व्यवहार तक ही सीमित नही है। यह सुविधा तो उसे ब्याज मे मिल जाती है।

स्याद्वाद को समझने के व्यावहारिक उदाहरण

एक बार भगवान् महावीर विपुलाचल पर्वत पर विराजमान् थे। उनके समवशरण मे जातिविरोधी जीव, जैसे साँप और नेवला भी, पास-पास बैठे हुए, प्रेम और समता का रस पी रहे थे। अशोक वृक्ष की शीतल छाया और सुगन्ध व्याप्त हो रही थी। प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने एक भौंरे को अशोक वृक्ष पर मँडराते देखा। उन्होने सोचा, लोगो के मन मे एकान्तपक्ष का प्रश्न मिटे तभी इनका कल्याण हो सकता है। अत एकान्त के पक्षपात का निरसन करने के लिए श्री गौतम गणधर ने भगवान् से पूछा—प्रभो! यह भ्रमर उड रहा है इसके शरीर मे कितने रग है? सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—'व्यावहारिक दृष्टि मे भ्रमर काला है।' उसका एक ही वर्ण है; परन्तु वस्तुस्वरूप-ज्ञापक निश्चय दृष्टि (Realistic View-point) से उसका शरीर पुद्गल (matter) है, जिसमे कृष्णादि पाँचो ही वर्ण होते हैं।' वस्तु अनन्तगुणात्मक है, उसमे एक नही, अनेक गुण हैं। अत उसके प्रगट गुण को ग्रहण करते हुए अप्रगट गुणो को भुला नहीं देना चाहिए।

प्रत्येक घर मे बिजली का तार लगा हुआ है। पखे, बल्ब और स्टोव, सभी में बिजली दौड रही है,

---

१ एयन्ते निवेसंतो सो सिज्झइ विविहभावगं दव्वं।
तं तहा वा अनेयं वा इदि बुज्झहा सिया अनेयन्तं॥

परन्तु उसका व्यवहार भिन्न है पखे में उसकी चालक शक्ति काम कर रही है, बल्ब मे प्रकाश चमक रहा है और स्टोव मे दाहक गुण काम कर रहा है। वस्तुत व्यवहार मे वस्तु के गुणो की एक अपेक्षा ही सामने आती है। भौरा काला दीखता है, परन्तु निर्जीव होने पर उसका शरीर दूसरे रग का हो जाता है। अत लोक-व्यवहार मे यदि इस सिद्धान्त का प्रयोग करना मानव सीखे, तो न तो धर्म के नाम पर वह लड-झगड सकता है और न ही अन्य कारणो से सघर्ष को मोल ले सकता है। शब्दो के प्रयोग मे सापेक्ष सत्य का ध्यान रखना उपादेय है।

कहा गया है—'शब्द से पद की सिद्धि होती है, पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ-निर्णय से तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेक की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान से परम कल्याण होता है।'[1]

अत स्याद्वाद मानव के लिए आत्म-कल्याण का अमोघ साधन है। उससे ज्ञान का विस्तार होता है और श्रद्धा निर्मल बनती है। उसके अभाव मे मानव एकान्त पक्ष को ग्रहण करके अन्धश्रद्धा का शिकार हो जाता है और सकुचित मनोवृत्ति को अपना कर ज़रा-ज़रा-सी बात पर लड़ने झगड़ने लगता है। आज के सघर्ष के युग मे स्याद्वादी ही वह सूझ-बूझ का मानव हो सकता है, जो सत्य और अहिंसा के बल पर सब मे मेल-मिलाप उत्पन्न कर सकता है। वह दलबन्दी से ऊपर उठकर समन्वयी बनने मे गौरव अनुभव करता है।

सप्तभंगी

यहाँ स्याद्वाद के सप्तभगो पर विचार किया गया है। वे भग निम्न प्रकार है :

१. **स्याद्-अस्ति**—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु है। (यह सकारात्मक कथन-शैली है।)

२. **स्याद्-नास्ति**—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु नही है। (यह नकारात्मक शैली है।)

३. **स्याद्-अस्ति-नास्ति**—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु है भी और नही भी है। (यह समन्वयपरक दृष्टि है।)

४ **स्याद्-अवक्तव्य**—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु अनिर्वचनीय है। (अर्थात् किसी दृष्टि-विशेष के बिना सर्वांग रूप मे वस्तु का विवेचन नही हो सकता। यह वस्तुस्वरूप का द्योतक है।)

५. **स्याद्-अस्ति-अवक्तव्य**—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु है, परन्तु अवक्तव्य है। (कथन मे उसकी व्यक्तता का अभाव उसके अभाव का सूचक नही है—यह भग एकान्त अवक्तव्यता के दोष को मिटाता है।)

६. **स्याद्-नास्ति-अवक्तव्य**—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु नही है और अवक्तव्य भी है। (कथन मे एक वस्तु पर वस्तु मे भिन्न होते हुए भी वह अवक्तव्य है। इसमे कथचित् भिन्नता का मौलिक स्पष्टीकरण अभीष्ट है।)

७. **स्याद्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य**—किसी अपेक्षा से वस्तु है और किसी अपेक्षा से नही भी है तथा अवक्तव्य भी है। (कथन मे वस्तु के अस्तित्व को पर वस्तु से भिन्न कहने और अवक्तव्य बताने का अर्थ यह नही कि वस्तु-स्वरूप कुछ नहीं है।)

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि स्याद्वाद-सिद्धान्त मे वस्तु-स्वरूप की विवेचना अपेक्षाकृत की गई है और सातो ही भङ्गो का तात्त्विक आधार वस्तु का विविध स्वरूप है, साथ ही यह सिद्धान्त हमे एक अन्य सत्य का बोध कराता है और वह यह है कि लोक का व्यवहार भी सापेक्षता पर निर्भर है—मानव-जीवन पर की अपेक्षा अथवा सहयोग के बिना चल ही नहीं सकता है; अतः स्याद्वाद-सिद्धान्त हमें उस विशाल समाजवाद की ओर ले जाता है, जो अपने-अपने राष्ट्र के मानवो तक सीमित नहीं है, अपितु जीव-मात्र जिसका क्षेत्र है। स्याद्वादी का समताभाव अन्तर् और बाह्य जगत् मे एक समान होता है। अत. वह एक सार्वभौम अहिंसा-प्रधान समाजवाद का सृजन करने की क्षमता रखता है। चाहे दर्शन-शास्त्र का क्षेत्र हो और चाहे लोक-व्यवहार का—स्याद्वाद-सिद्धान्त सर्वत्र समन्वय और समता को सिरजता है। उसका स्थान हृदय है और उसका चालक विवेक है। उसे हम बुद्धिवादी अहिंसा कह कर भी पुकार सकते हैं।

---

१ शब्दात् पदप्रसिद्धिः, पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं, तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः॥

स्याद्वाद-सिद्धान्त की चमत्कारी शक्ति और सार्वभौम प्रभाव को हृदयगम करके डॉ० हर्मन जैकोबी ने कहा था कि **स्याद्वाद से सब सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।** और हाल मे ही अमेरिका के दार्शनिक विद्वान् प्रो० आर्चि० जे० बह्न ने इस सिद्धान्त का अध्ययन करके जैनो को ये प्रेरणा-भरे शब्द कहे है कि **विश्वशान्ति की स्थापना के लिए जैनों को अहिंसा की अपेक्षा स्याद्वाद सिद्धान्त का अत्यधिक प्रचार करना उचित है।** म० गाधी को भी यह सिद्धान्त बडा प्रिय था और आज श्री विनोबा भावे भी इसके महत्त्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते है।

प्रो. बह्न के तर्क का निराकरण

अमेरिकन विद्वान् प्रो० आर्चि० जे० बह्न ने इस सिद्धान्त के अध्ययन मे गहरी दिलचस्पी दिखायी है, किन्तु उनकी शोध की शैली ऐतिहासिक है, जबकि इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि तात्त्विक है। अत इसका विकास काल क्रम का ऋणी नही हो सकता। तत्त्वरूपेण उसका उद्गम सर्वज्ञ के ज्ञान मे एक साथ एक समय मे होता है। इस अवसर्पिणी काल मे सब से पहले तीर्थंकर ऋषभ ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पूर्ण पुरुष हुए और उनके ज्ञान मे यह सिद्धान्त भलक कर द्वादशाङ्ग श्रुत मे अवतरित हुआ। उपरान्त समयानुसार जब-जब आवश्यकता हुई तब-तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार इसका बाह्य प्रयोग किया गया। अत इतिहास इसके प्रयोग-मात्र को शोध कर प्रगट कर सकता है। किन्तु प्रो० बह्न इस सिद्धान्त के क्रमिक विकास का अनुमान करके कहते है कि यह भगवान् महावीर के पश्चात् पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ और इसके लिए वह बौद्धो की मान्यता का सहारा लेते है। उनकी यह मान्यता इतिहास से बाधित है, क्योकि बौद्ध धर्म से जैन धर्म प्राचीन है। भगवान् महावीर के पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ जैन धर्म का उपदेश दे चुके थे, जिसमे उन्होने स्याद्वाद-सिद्धान्त का निरूपण किया था। सजयवेलट्ठिपुत्त-सदृश प्राग्बौद्धकालीन आचार्य ने इस स्याद्वाद-सिद्धान्त को सम्यक्तया न समझने के कारण एक प्रकार के सशयवाद को जन्म दिया। यह घटना इस बात को स्पष्ट करती है कि स्याद्वाद-सिद्धान्त सजय-वेलट्ठिपुत्त के समय से बहुत पहले ही प्रचलित हो चुका था।

फिर भी प्रो० बह्न ने जो अनुमान उपस्थित किया है, वह जैन मान्यता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। इसीलिए उसका मार्मिक उत्तर और समाधान डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य ने प्रगट किया है।[1] सक्षेप मे उसका अवलोकन इस प्रकार है

प्रो० बह्न को स्याद्वाद के सप्तभङ्ग अटपटे लगे है—वह कहते है कि सात से अधिक भी भङ्ग बन सकते है, परन्तु उनकी तात्त्विक भित्ति क्या होगी—यह उन्होने नही बताया। प्रत्युत उन्होने यह अनुमान लगाया है कि भगवान महावीर के बाद हुए जैनाचार्यों ने बौद्धो के 'चतुष्कोण निषेध या निरोध शैली के सिद्धान्त' (Principle of Four-cornered Negation) को ही पल्लवित करके सप्तभङ्गो की रचना की है। किन्तु उनका यह अनुमान नितान्त ही आधाररहित है। डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि बौद्धो के उक्त चतुर्भङ्गी-सिद्धान्त को प्रतिलोम (Reversal) कर देने से सप्तभङ्गी की उपलब्धि नही हो सकती और न ही यह अनुमान किया जा सकता है कि स्याद्वाद-सिद्धान्त बौद्ध धर्म के बाद का है। प्रत्युत सम्भव तो यह है कि बौद्धो ने स्याद्वाद-सिद्धान्त के चार भङ्गो को पलट कर अपने सिद्धान्त का निर्माण किया है। जैन पुराणो के उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध एक समय तीर्थंकर पार्श्व की परम्परा के जैन साधु थे और उन्होने जैन सिद्धान्त मे बहुत-कुछ लिया था। स्वय बौद्ध ग्रन्थो से इसकी पुष्टि होती है और यह प्रगट होता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है।[2] निस्सदेह जैन सिद्धान्त का प्ररूपण भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर के बहुत पहले ही हो चुका था।

जो विद्वान् यह मानते है कि सप्तभङ्गो मे पहले के चार भङ्ग ही मौलिक हैं और शेष तीन उनको सशोधित कर बनाये गए है, उनके लिए यही कहा जा सकता है कि उन्होंने स्याद्वाद-सिद्धान्त का स्वरूप ही नही समझा है। वास्तव

---

१ वॉयस ऑव अहिंसा, भा० ८, पृ० ३७४-३७६

२ देखें, डा० जैकोबी द्वारा सम्पादित 'जैन सूत्राज' की भूमिका (एस० बी० ई० सीरीज)

मे स्याद्वाद वह सिद्धान्त है जो वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराता है।[1] उसका पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भङ्ग— प्रत्येक अपनी भिन्न शैली मे विवक्षित पदार्थ के एक विशिष्ट पक्ष को उपस्थित करता है। दृष्टान्त के रूप में देखे तो उनकी महत्ता स्वत स्पष्ट हो जायेगी। स्याद् अस्ति और स्याद् नास्ति भङ्गो का प्रयोग ईथर (Ether) मे किया जाये तो—अपेक्षा-विशेष मे ईथर अवक्तव्य भासता है, किन्तु अवक्तव्य कह देने से ईथर-विषयक शोध सर्वाङ्ग-रूपेण परिपूर्ण नही होती, क्योंकि उसकी शोध को आगे बढ़ाने पर हम पाते है कि यद्यपि ईथर अपेक्षाकृत अवक्तव्य है, किन्तु किसी एक रूप मे वह अस्तित्व मे है, क्योंकि वह भौतिक शक्ति (Material Energy) का मूलाधार है। अत. यह तथ्य-पूर्ण निष्पत्ति ही स्याद्वाद का पाँचवाँ भङ्ग—'**स्याद् अस्ति च स्याद् अवक्तव्य च**' सिद्ध हो जाती है, जिससे ईथर की एक यथार्थ स्थिति की उपलब्धि होती है। इसके विपरीत केवल अवक्तव्य कह देने मात्र से कोई अर्थ सिद्ध नही होता। इससे हम आगे पाते है कि जितने भी भौतिक पदार्थ (Material substances) है, वे सब विचारगम्य (Ponderable) है, परन्तु इस प्रसग मे ईथर जब विचारगम्य भौतिक द्रव्य नही है, तो वह इस अपेक्षा-विशेष से कथचित् अस्तित्व-रहित कहा जायेगा। इस स्थिति मे स्याद्वाद का छठा भङ्ग स्वत सिद्ध होता है, जो **स्याद् नास्ति च स्याद् अवक्तव्य च** होने मे ईथर की एक नयी स्थिति को व्यक्त करता है। अब सातवें भङ्ग '**स्याद् अस्ति च, स्याद् नास्ति च, स्याद् अवक्तव्य च**' को लीजिये—यह निस्सदेह तीन भङ्गो के जोड से बना है, परन्तु उसके द्वारा ईथर का विशाल रूप सामने आता है। इसलिए उसकी अपनी विशिष्टता है।

यदि हम इस सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परस्थिति पर लागू करके देखे तो डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य सोवियत रूस के उदाहरण को लेकर बताते है कि रूस कुछेक परिस्थितियो मे हिसक भी रहा और कुछेक मे अहिसक भी। चौथे भङ्ग की अपेक्षा, इस परस्थिति मे, रूस का यह व्यवहार अपेक्षाकृत अवक्तव्य ठहरता है। यह नही कहा जा सकता कि रूस हिसक ही है या अहिसक ही, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय लोक-मत रूस की नीति के विषय मे और अधिक स्पष्टीकरण चाहेगा, तो फिर चौथे भङ्ग की अपेक्षाकृत अवक्तव्यता को ध्यान मे रखते हुए हमे आगे विचार करना होगा। उस स्थिति मे हम पायेगे कि चूँकि रूस ने हगरी की राष्ट्रीयता के विरुद्ध बल-प्रयोग किया था, इसलिए वह स्पष्टत हिसक रहा। इस अपेक्षाकृत स्थिति मे पाँचवे भङ्ग का प्रयोग अर्थपूर्ण हो जाता है, जिससे रूस की नीति का एक स्पष्ट रूप सामने आता है, अर्थात् यद्यपि रूस की नीति हिसक और अहिसक-सी होने के कारण अवक्तव्य थी, परन्तु हगरी की घटना की अपेक्षा से वह स्पष्टत हिसक सिद्ध हो जाती है। अब और आगे ज़रा विचारिये—रूस का मिस्र के प्रति जो मैत्री-पूर्ण व्यवहार रहा, जबकि अन्यथा बर्ताव करने का अवसर भी उपस्थित हुआ था, उससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि रूस की नीति अवक्तव्य थी, फिर भी वह मिस्र के प्रसग मे पूर्ण अहिसक रहा। रूस की यह स्थिति छठे भङ्ग की विशिष्टता को स्थापित करती है; अर्थात् रूस की नीति कथचित् अवक्तव्य होते हुए भी निस्सदेह मिस्र की अपेक्षा अहिसक भी थी, और यह नितान्त नया दृष्टिकोण होता है, जिसने सयुक्त अरब जन-सघ को यह विश्वास दिलाया कि वह रूस को मित्र समझ सके। यद्यपि उसकी दृष्टि से रूस की नीति की अवक्तव्यता ओझल न थी। सातवाँ भङ्ग बताता है कि रूस की नीति कथचित् अवक्तव्य रही, क्योंकि उसकी हिसा व अहिसा के बारे में कुछ भी निश्चित न था, फिर भी यह स्पष्ट है कि वह एक अपेक्षाकृत हिसक थी और अन्य अपेक्षाकृत अहिसक थी। बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ रूस की नीति की विशालता को दृष्टिगत रखकर उससे लाभ उठा सकता है। भारत ने रूस के इस रूप को समझा, इसीलिए भारत का रुख रूस के प्रति मैत्रीपूर्ण रहा है। इस प्रकार स्याद्वाद-सिद्धान्त के पाँचवे, छठे व सातवे भङ्ग अपने पूर्व भङ्गो के गणित अथवा अनुमान-शैली के जोड-तोड से नहीं बने हैं, अपितु उनका अस्तित्व स्वतन्त्र, मौलिक और विचाराधीन वस्तु के नये रूप को प्रगट करने वाला है। अत इन तीन भङ्गों को बौद्धों के चतुष्कोण-निषेध शैली के उलट-पलट से उपलब्ध होने का प्रश्न

[1] The Syadvada is a theory presenting things as they really are! It is not a set of formal propositions, divorced from and unconnected with matters of actual experience.

ही उपस्थित नही होता ।[1]

स्याद्वाद के पहले तीन भगो के सम्बन्ध मे विद्वानो को कोई कठिनाई अनुभव नही होती और कुछ विद्वान् इसीलिए उनको बौद्धो की चतुष्कोण-निरोध (Negation) शैली के पहले तीन दृष्टिकोणो का उलट-पलट रूप मानने की भ्रान्ति करते है। वह 'स्यात्' प्रत्यय की विशेषता को भूल जाते है। वास्तव मे बौद्धो की चतुष्कोण-निरोध शैली का सिद्धान्त एक तरह से एकान्तवाद (Absolutism) ही है। क्योकि उसके अनुसार 'अ नही है', कहने का अर्थ यह होता है कि 'अ' के अस्तित्व का सर्वथा अभाव है। अब इसका उलटा रूप भी एकान्त परिणामी (Absolute) ही होगा। अत यह नितान्त असम्भव है कि बौद्धो की निरोध-शैली को पलट कर स्याद्वाद का सिरजा जा सकता है।

इसके विपरीत स्याद्वाद वस्तु-स्वरूप के निरूपण मे हमारे यथार्थ अनुभव को विचार-कोटि मे लेकर चलता है, इसलिए वह एकान्तवाद से बहुत दूर जा पडता है। सर्वथा अभाव सर्वथा सद्भाव की तरह ही अनुभवगम्य नही है। हमारा अनुभव सदा ही अपेक्षाकृत तथ्यो पर निर्भर होता है और ये अपेक्षाकृत तथ्य स्याद्वाद की विचार-कोटि मे आते है। यही 'स्यात्' पद की विशेषता है, जिसका प्रयोग प्रत्येक भग के साथ होता है। अतएव वह बौद्धो के एकान्ती निरोधवाद के तद्रूप दृष्टिकोण का विकृत रूप नही है। बौद्धो की निरोध या निषेध-शैली के चारो ही कोण, अर्थात् :

अ क नही है;
अ क-इतर नही है;
न अ क नही है,
न अ क-इतर नही है—

एक-दूसरे सम्बन्धित न होकर स्वाधीन है और वस्तु-स्थिति के अनुभूतिजन्य तथ्य से रहित है। इसके विपरीत स्याद्वाद के सप्तभगो मे :

एक विशेष अपेक्षा से 'अ' है,
एक विशेष अपेक्षा से 'अ' नही है।

इत्यादि ऐसे पद है, जिनका आधार मानव की वस्तुस्वरूपजन्य अनुभूति है। इस प्रकार हम देखते है कि स्याद्वाद-सिद्धान्त बौद्धो के चतुष्कोण-निषेध या निरोध शैली के सिद्धान्त से नितान्त भिन्न और निराला है। स्याद्वाद वस्तु-स्वरूपकी अनुभूति को विचार मे लेता है, इसलिए उसके सात भगो से अधिक भग हो ही नही सकते है। वह वैज्ञानिक आधार को लिये हुए चलने वाला सिद्धान्त है, जो बुद्धि के वैषम्य को मिटाकर सत्य का दर्शन कराता है, इसीलिए वह समन्वयपरक मैत्री स्थापित करने का प्रबल साधन है।
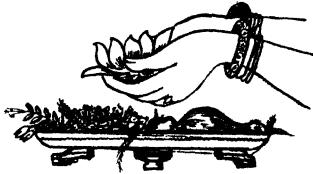
[1] The question of these three Bhangas arising out of a reversal of the Four Cornered Negation does not arise at all.

मानवीय व्यवहार और अनेकान्तवाद

डा० बी० एल० आत्रेय

भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान-विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है मानवीय व्यवहार की। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में इसके स्वरूप को समझने के लिए हमें कुछ उपाय और साधन खोजने हैं।

मानवीय व्यवहार का आधार क्या हो ?

आज के वैज्ञानिक युग में हमारे साधन वैज्ञानिक, तर्क-संगत और विश्व-भर में स्वीकार्य होने चाहिए। आज हम किसी पैगम्बर, धर्म-ग्रन्थ और परम्परा के नाम पर अपील नहीं कर सकते। क्योंकि न तो उन्हें सम्पूर्ण विश्व स्वीकार करता है और न उनका आदर करता है। दर्शन-शास्त्र का इतिहास भी दार्शनिक मतवादों से भरा पड़ा है और प्रत्येक दार्शनिक पद्धति के बारे में शंकाएं प्रकट की गई हैं। यदि आज किसी वस्तु के बारे में सारा विश्व एकमत है, तो वह है विज्ञान द्वारा विज्ञात और प्रस्थापित तथ्य। परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आधुनिक विज्ञान अभी तक मानव-प्रकृति, उसकी आकांक्षाओं, उसका सामर्थ्य और उसकी सम्भाव्यताओं से उतना परिचित नहीं है, जितना कि प्रकृति और भौतिक पदार्थों के गुणों से। विज्ञान के क्षेत्र में मानव, उसकी शक्ति और उसके आदर्शों के विषय में आनुमानिक सम्भावनाओं के लिए बहुत स्थान रह जाता है। मनोविज्ञान, जिसका उद्देश्य मानव-प्रकृति और व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन करना है, अभी शैशवावस्था में है और जीवन के बारे में उपयुक्त पथप्रदर्शन कर सकने की अपेक्षा इसे अभी स्वयं ऐसे मनीषियों के पथप्रदर्शन और मन्त्रणा की आवश्यकता है, जो कि मानव-प्रकृति का सूक्ष्मता से निरीक्षण कर सकते हैं। फ्रायड सी० जी० जुग, एफ० डब्ल्यू एच० मायर्स जैसे कुछ विचारकों ने अचेतन, सामूहिक अचेतन और उच्च चेतना के क्षेत्रों में अनुसंधान करके जो कुछ प्रगति की है, जिन्हें अभी परम्परानिष्ठ वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक स्वीकार करने से हिचकिचा रहे हैं, मानव-प्रकृति क्या हो सकती है—इस विषय में अत्यल्प और हल्की सी झांकी देती है। प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान, जो अभी प्रकाश में आ रहा है और जिस पर मानव-प्रकृति के आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं को अधिकाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है, मानव-प्रकृति, उसकी शक्ति, उसका सामर्थ्य और सम्भावना के क्षेत्रों के बारे में आधुनिक मनोवैज्ञानिक—वैज्ञानिक और अर्धवैज्ञानिक—प्रणालियों की अपेक्षा अधिक जानकारी प्रदान करता है। ऐसा समय आ सकता है, जबकि वैज्ञानिक मनोविज्ञान मानव-प्रकृति के ज्ञान की गहराई में पहुंच जाये और मनुष्य का उसके आचरण आदि के विषय में पथप्रदर्शन कर सके। तब तक केवल आन्तरिक अनुभूतियों और आकांक्षाओं के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों की सहायता से हमें तर्क-वितर्क करना होगा।

आधार-भूमि

मनुष्य की प्रकृति, आकांक्षाएं और अभिव्यक्ति चाहे जो हो, एक बात असन्दिग्ध रूप से सत्य है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है और समाज से बहुत-कुछ प्राप्त करता है। वस्तुतः मानव से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सामाजिक है, और समाज में प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी व्यक्ति के प्रतिदान-स्वरूप है। समाज से हमारा अभिप्राय केवल मानव प्राणियों के समाज से नहीं है; समाज, जिसका एक अंग मानव है, सभी जीवित प्राणियों से बना हुआ है।

इसमे पशु और पौधे भी सम्मिलित है। विश्व-समाज, जैसा कि इसे नाम दिया जा सकता है, एक वास्तविकता है, और विचार करते समय हमे इस पर ध्यान देना ही होगा। तो भी यहाँ हम अपना विचार-क्षेत्र केवल मानव प्राणियो के समाज तक सीमित रखेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि वह अपने साथी मानवो के साथ कैसा व्यवहार करे।

मानव-समाज मे सभी प्रकार के मनुष्य है, इसलिए उसे अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप और आचरण के बारे मे सोचना होगा कि उसके चारो ओर एव आस-पास रहने वाले लोगो पर तथा सम्पूर्ण समाज पर उसका क्या प्रभाव होगा। यह उसके लिए एक अनिवार्यता है, क्योकि उसके आचरण की दूसरो पर जो प्रतिक्रिया होगी, उसी पर उसका अपना अस्तित्व और कल्याण निर्भर रहता है। उसके अपने अस्तित्व, कल्याण और सुख के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भावनाओ, इच्छाओ, विचारो और आचरणो पर नियत्रण रखे तथा दूसरो पर तथा सम्पूर्ण समाज पर पडने वाले सम्भावित प्रभावो को ध्यान मे रखकर ही वह कोई निर्णय करे। केवल इसी कारण से उसे अपनी भावनाओ, विचारो और आचरणो के बारे मे सावधान रहने की आवश्यकता नही है, अपितु इसलिए भी कि प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का अनुकरण उसके आस-पास के रहने वाले लोग, विशेष रूप से बच्चे और निम्नवर्गीय व्यक्ति, जानते-बूझते अथवा अनजाने भी कर सकते है। इसलिए पदासीन और सामर्थ्यवान् लोगो का, माता-पिता और अध्यापको का, प्रशासको का और न्यायाधीशो का आचरण विशुद्ध, सन्देह-रहित और यथासम्भव आदर्श होना चाहिए। भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ठीक ही कहा है कि समाज मे उच्च स्थिति के लोग जो कुछ करते है, अन्य लोग उसका अनुकरण करने की ओर प्रवृत्त हो जाते है।

धर्म की उपयोगिता

प्राचीन भारतीय विचारकों ने एक शब्द तैयार किया था, जिसे धर्म की सज्ञा दी गई। यह उन आचरणो के लिए प्रयुक्त किया गया, जो कि समाज मे सतुलन बना रखने मे समर्थ हो, न केवल मानव प्राणियो मे, अपितु सम्पूर्ण जीव-जगत् मे मैत्री-भाव स्थापित करने के लिए समर्थ हो, वैयक्तिक जीवन मे सफलता और सुख तथा समाज मे शान्ति स्थापित करने के लिए समर्थ हो। धर्म शब्द सस्कृत की धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है बन्धन मे रखना, सभाल कर रखना, सरक्षण करना, सुस्थिर करना आदि। भारत के प्राचीन स्मृतिकार मनु का कहना है कि धर्म इस प्रकार का आचरण या व्यवहार है, जो कि समाज को अक्षुण्ण रखता है। एक और प्राचीन भारतीय तत्त्वचिन्तक कणाद ने कहा है कि वह व्यवहार धर्म है, जो कि शान्ति और सफलता प्रदान करता है—वैयक्तिक जीवन मे भी और सामाजिक जीवन मे भी। प्राचीन भारतीय तत्त्वचिन्तको के अनुसार—अर्थ, काम और भोग के पुरुषार्थ भी धर्म द्वारा नियन्त्रित होने चाहिए। अनैतिक प्रकार से अर्थार्जन और असयत रूप मे काम-सेवन को वहाँ हेय बताया गया है। उन्होने मानव के लिए यह परामर्श दिया कि वह अपने जीवन-भर धर्म की सीमाओ के भीतर बना रहे, फिर उसका चाहे जो व्यवसाय हो और चाहे जो आवश्यकता। महाभारत के महान् लेखक व्यास के अनुसार तो—अपने जीवन की रक्षा के लिए भी धर्म के सिद्धान्तो को नही छोडना चाहिए, सुख, समृद्धि अथवा सुरक्षा के लिए तो कुछ कहना ही नही। भगवान् महावीर ने बताया कि धर्म अहिसा, सयम और तप-रूप है तथा सर्वोत्कृष्ट मगल है।[1]

इसलिए भारत मे धर्म के उन सिद्धान्तो की खोज का एक गम्भीर और अविच्छिन्न प्रयत्न किया गया, जिनसे मनुष्य के आचरण का नियमन किया जा सके और परिणामस्वरूप वह समृद्ध और सुखी हो सके, एक स्थायी और सतुलित समाज की स्थापना की जा सके, उसे अक्षुण्ण रखा जा सके तथा उसमे सभी व्यक्ति अपने आदर्शो को प्राप्त कर सकें। मनु ने ऐसे दस सिद्धान्त खोज निकाले है—धृति, क्षमा, दम (स्वनियन्त्रण), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, धी (विवेक), विद्या, सत्य और अक्रोध। पतजलि के योग-सूत्रो मे यम और नियम शीर्षको से दस और सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए है; वे ये हैं—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और

1 दशवैकालिक सूत्र, १।१

ईश्वर-प्रणिधान । पुराण-लेखकों ने इन्हें न्यून करके केवल एक सिद्धान्त तक सीमित कर दिया और वह था कि परोपकार पुण्य का हेतु है और दूसरों को हानि पहुँचाना पाप है।[1] महाभारतकार ने धर्म को स्वर्णिम आचार-नियम में परिवर्तित कर दिया है—वह व्यवहार दूसरों से करने की मत सोचो, जो व्यवहार तुम अपने लिए नहीं चाहते। उसका कहना है कि सम्पूर्ण धर्म का यही सार है और प्रत्येक मानव प्राणी को उसका अनुसरण करना चाहिए। भगवान् महावीर ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच व्रतों को महाव्रत और अणुव्रत-रूप में प्रतिपादित कर मानवीय व्यवहार की आचार-संहिता प्रदान की। बुद्ध ने इसी प्रकार के पञ्चशीलों का उपदेश दिया।

धर्म के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय धारणा का उल्लेख हमारे विचार से इसलिए आवश्यक था कि आधुनिक युग के मानव को यह बात हृदयगम हो जाये कि प्रत्येक व्यक्ति का वैयक्तिक आचार-व्यवहार नैतिक और सामाजिक दृष्टि से नियन्त्रित और शासित होना चाहिए। इस बात का महत्त्व नहीं है कि इस विचार को क्या नाम दिया जाये। इसे धर्म, औचित्य, नैतिकता, सामाजिक आचार, सदाचार—कुछ भी नाम दिया जा सकता है।

आज की आवश्यकताओं के अनुसार आज के युग में हमें धर्म को फिर से खोजना होगा। ऐसे सिद्धान्तों का अनुसरण करना होगा जिससे हम मानवीय व्यवहार की समस्या को हल कर सकें तथा विश्व-मैत्री स्थापित कर सकें, जो कि आज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है और जिससे मानवता को उसके स्पष्ट प्रत्यासन्न विनाश से बचाया जा सके।

मानवीय व्यवहार को सचारु रूप से सचालित करने के लिए स्वार्थ, चोरी, शोषण, बलात्कार, हिंसा आदि का त्याग जितना आवश्यक है, उतना ही नैतिक नियमों का पालन और प्रामाणिकता, सत्यवादिता, न्यायप्रियता, आदरभाव, निष्पक्ष चिन्तन आदि विधेयात्मक सिद्धान्तों का आचरण भी।

अनेकान्तवाद

इन आचार-नियमों के पालन का परिणाम तभी आ सकता है जबकि मनुष्य का मस्तिष्क पूर्वग्रह, पक्षपात, आदि से रहित हो। मानवीय व्यवहार के सचारु सचालन में बाधक बनने वाला एक तत्त्व और भी है। एक ऐसी भ्रान्ति मनुष्यों के मस्तिष्क में घर कर गई है कि जिसके अधिकांश लोग शिकार हो जाते हैं। हम इसे 'केवल भ्रान्ति' या 'एकान्तवाद' कह सकते हैं। लोग इस भ्रान्ति के जाने-अनजाने दोनों प्रकार से शिकार हो जाते हैं। केवल चिन्तन में ही नहीं, अपितु अनुभूति और व्यवहार के क्षेत्र में भी यह भ्रान्ति प्राय सभी वर्गों में, सभी नर-नारियों में पायी जाती है। यह धर्म, आचार-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र और विज्ञान सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। इस भ्रान्ति के कारण सभी प्रकार के सघर्षों का जन्म होता है।

दो शब्द है—ही और भी। ये विरुद्धार्थक हैं और उनके प्रयोग से अर्थों में बहुत भिन्नता आ जाती है। वे दोनों नितान्त भिन्न अभिव्यक्तियाँ है और वस्तुत दो विरोधी मानसिक प्रवृत्तियों की सूचक है। उनमें से एक मनुष्य को सघर्ष, विरोध, युद्ध और दुःख की ओर प्रवृत्त करती है, जब कि दूसरी सहयोग, सद्भाव, शान्ति और सुख की ओर। बौद्धिक और व्यावहारिक दृष्टि से प्रथम को हम 'केवल भ्रान्ति' या एकान्तवाद कह सकते हैं। जो व्यक्ति केवल कुछ ही लोगों, दलों, पक्षों, जातियों, सम्प्रदायों, वंशों अथवा देशों में रुचि रखता है तथा दूसरों की उपेक्षा करता है और उन्हें नापसन्द करता है, वह इस भ्रान्ति का शिकार है।

जिस विश्व में हम रहते हैं, गति करते हैं और सत्ता धारण करते है, वह अपने गठन, रूप और सामर्थ्य की दृष्टि से अनन्त रूप से बँटा हुआ है। इससे हम अस्तित्व और अस्तित्व में आने की प्रक्रिया, परिवर्तन और परिवर्तन-शून्यता, उत्पत्ति-विनाश-ध्रुवता, एकत्व और बाहुल्य, जन्म-वृद्धि-मृत्यु, स्वयं और अन्य, प्रेम और घृणा, कष्ट और सुख, धन-वैभव और गरीबी तथा युद्ध और शान्ति आदि की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया देखते हैं। प्राचीन भारतीय चिन्तकों की भाषा में यह 'अनेकान्त'—अनन्तधर्मात्मकता है। इसे केवल एक अथवा दूसरे पहलू से समझना और इस एकांगी

---

१ परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।

आधार पर और गलत धारणा के कारण इसके बारे मे दृष्टिकोण बनाना तथा उसी के आधार पर जीवन-यापन करना बहुत बडी गलती करना है। वस्तुत हमारे सभी दृष्टिकोण, विचारधाराए, विश्वास, वाद, आदर्श, अनुभूतियाँ और व्यवहार सामान्य रूप से एकपक्षीय है। उनका वास्तविकता के कुछ ही पहलुओ मे सम्बन्ध होता है और हमे इस तथ्य से सचेत हो जाना चाहिए। स्याद्वाद, जो कि जैन तत्त्वदर्शियो की एक अमूल्य देन है, के विचार से अपनी इस सचेतता को 'स्यात्' शब्द मे प्रकट करना चाहिए, जिसका अर्थ है, एक अपेक्षा मे या कथचित्। स्यात् शब्द के साथ हमारी घोषणाए अथवा वक्तव्य यह प्रकट करेगे कि वे एकपक्षीय अथवा आपेक्षिक है। किसी निर्णय या कथन को अन्तिम निरपेक्ष अथवा अधिकृत नही मान लेना चाहिए, क्योकि प्रत्येक निर्णय किसी व्यक्ति द्वारा किसी विशेष दृष्टिकोण से, कुछ विशिष्ट पहलुओ, तथ्यो और व्यक्तियो को ध्यान मे रखकर, कुछ परिस्थिति और अवस्थाओ मे, उन्हे वहाँ प्रस्तुत अन्य वस्तुओ से पृथक् कर के दिया जाता है। विभिन्न समयो और स्थानो पर समान वस्तुओ और परिस्थितियो के विद्यमान होने पर भी भिन्न-भिन्न निर्णय सम्भव हो सकते है। इस तथ्य के प्रति सचेत होने पर इसकी अभिव्यक्ति 'भी' शब्द द्वारा की जा सकती है, जिसका अभिप्राय होगा कि और भी निर्णय एव कथन सम्भव हो सकते है और वे समान रूप से न्याय्य होगे, अथवा जितने प्रकार के कथन सम्भव हो सकते है, यह उनके अतिरिक्त एक और है। इस दृष्टिकोण का स्याद्वादी चिन्तको ने भारत मे शक्तिशाली प्रकार से सवर्द्धन किया और उनके अनुयायी सदा दूसरो के साथ शान्ति-पूर्वक रहे।

एक व्यावहारिक सिद्धान्त

'केवल-भ्रान्ति' को अथवा एकान्तवाद को सर्वोत्तम प्रकार से उस सर्व-विदित दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा सकता है, जिसके अनुसार छ अन्धे व्यक्तियो ने एक हाथी का केवल स्पर्श करके चित्रण किया था। पहले अन्धे व्यक्ति ने, जिसने केवल हाथी का पेट छुआ था, कहा—'हाथी दीवार की भाँति होता है।' दूसरे ने, जिसने केवल हाथी के दाँत को छुआ था, पहले की स्थापना को चुनौती देते हुए कहा—'हाथी तो बिलकुल भाले जैसा होता है। तीसरे ने, जिसने हाथी की सूँड को छुआ था, दोनो के कथनों पर आपत्ति करते हुए कहा—'हाथी तो बिलकुल साँप की तरह होता है।' चौथे ने, जिसने हाथी के पैर को छुआ था, तीनो को मूर्ख बताते हुए एक समझदार व्यक्ति की भाँति कहा—'हाथी तो बिलकुल एक वृक्ष की तरह होता है।' पाँचवे ने, जिसने केवल हाथी के कान का ही स्पर्श किया था, कहा—'तुम सब गलत हो, हाथी बिलकुल एक पखे की तरह होता है।' और अन्त मे छठे ने, जिसने हाथी की पूँछ ही टटोली थी, सबकी आलोचना करते हुए सगर्व कहा—'हाथी बिलकुल रस्सी की तरह होता है।' जहाँ तक हमारे चारो ओर के विश्व की जानकारी का सम्बन्ध है, हम सब इन अन्धे मनुष्यो की तरह है। हम विश्व के बारे मे बहुत कम जानते हैं और उसी जानकारी को हम एकमात्र वास्तविकता समझते हैं। हम अपने आशिक, इस कारण गलत, ज्ञान के आधार पर दूसरो से विवाद करते हैं और झगडते है। छोटी चाप के सम्पर्क मे होने पर भी हम सम्पूर्ण वृत्त के सम्बन्ध मे चर्चा करते है। विश्व और अपने सम्बन्ध मे भी हमारा ज्ञान जो कुछ है, वह अनुमानाश्रित है। वह कितना ही यथार्थ क्यो न हो, वह सदा आशिक, सीमित और आपेक्षिक होता है। हमे सदा सावधान रहना चाहिए कि एक वस्तु के दूसरे पहलू भी है, एक प्रश्न के दूसरे पक्ष भी हैं, जिनसे हम अपरिचित है। मध्यकालीन यूरोप के दो योद्धाओ के बारे मे एक बहुत ही शिक्षाप्रद कहानी है—एक ढाल पर खुदे लेख को लेकर दो सैनिक झगड पडे और उस कलह मे एक-दूसरे की लगभग हत्या भी कर दी, बात यह थी कि ढाल के दोनो ओर दो भिन्न-भिन्न विषयो के लेख खुदे थे। दोनो सैनिक विपरीत दिशाओ से ढाल की ओर आये और दोनो ने दूसरी ओर के लेख के बारे मे कुछ भी नही सोचा। हम सब उन मूर्ख योद्धाओ की भाँति है, जिन्होंने लडने से पहले ढाल की दूसरी ओर के खुदाई के बारे मे जानने का प्रयत्न ही नही किया। सभी विवाद, कलह या सघर्ष, समस्या के दूसरे पक्ष की जानकारी के अभाव मे पैदा होते है और इस कारण होते हैं कि जिस पक्ष को हम जानते हैं, उसी को सम्पूर्ण सत्य समझ लेते हैं।

धार्मिक सम्प्रदायों की असहिष्णुता

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि भिन्न-भिन्न युगो मे, जिन समाजो में लोगो का मुख्य ध्यान धर्म मे केन्द्रित रहा है और धर्म का लोगों के जीवन में आधिपत्य रहा है, उनके सभी प्रकार के सघर्षों, नृशंसताओं और यन्त्रणाओं का कारण 'केवल-भ्रान्ति' रही है। बलशाली और शक्तिशाली लोगों और धार्मिक जनों के सुसगठित दलो के मस्तिष्क मे यह घुस गया कि केवल उन्हीं का धर्म, विश्वास और उपासना-पद्धति एकमात्र सत्य है और दूसरे सब गलत हैं, कि केवल वे ही ईमानदार अथवा ईश्वर के कृपापात्र लोग हैं, शेष सब विधर्मी और काफिर हैं, कि केवल उन्ही की जीवन-पद्धति स्वर्ग या मोक्षदायिनी है, कि ईश्वर केवल उन्ही की पूजा-पद्धति और प्रार्थनाओं से प्रसन्न होता है, कि केवल उन्ही का ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का ईश्वर और परमेश्वर है, कि अन्य लोगो के देवगण मिथ्या हैं अथवा उनके देवता के अधीन हैं, कि केवल उन्ही के धर्म-ग्रन्थ प्रामाणिक और ज्ञान के भण्डार हैं। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था दूसरो को अपने विश्वासो मे दीक्षित करना। इस प्रकार की बातो के कारण मानव-समाज का समग्र इतिहास भयानक कलहो से भरा पड़ा है और अनेको अमूल्य जाने गई, रक्त की नदियाँ बहायी गईं तथा मानव-जीवन को कष्टप्रद और दुःखी बना दिया गया।

दार्शनिक वादविवाद

दार्शनिक लोग भी, जो विवेक-प्रेमी और सत्यानुसन्धानी होने का दावा करते हैं, इस एकान्तवाद से मुक्त नही रहे हैं। बहुत से दृष्टिकोणों, सिद्धान्तों और दार्शनिक पद्धतियो का मूल इस भ्रान्ति मे है। प्रायः देखा जाता है कि दार्शनिक अथवा दर्शन-प्रणालियाँ जगत् के या वास्तविकता के किसी विशिष्ट पहलू को छाँट लेती हैं और उसमे ही वास्तविकता का एकमात्र आवश्यक अथवा अनिवार्य अग मान लेती हैं तथा यदि कोई अन्य पहलू दृष्टिगोचर हो जाता है तो उसे गलत मानती है। इस प्रकार अद्वैतवादी समझते हैं कि विश्व अथवा सृष्टि का वास्तविक रूप केवल अभेद, अस्तित्व, अद्वैत या सारूप्य ही है, अनेकता, भेद या परिवर्तन केवल आभास, कल्पना, प्रपच, अस्थायी दर्शन अथवा भ्रान्त प्रतीति है। दूसरी ओर एकान्त अनेकतावादी, परिवर्तन के पक्षपाती होकर अनेकता, बहुत्व, विभिन्नता, परिवर्तन और सृष्टि को ही सत्य रूप मे ग्रहण करते हैं और एकत्व, अभेद, सारूप्य और समता को केवल विचार, मानसिक कल्पना अथवा धारणा-मात्र बताते है। एकान्त आत्मवादी केवल आत्मा को नित्य और वास्तविक वस्तु के रूप मे ग्रहण करते है और पदार्थ तथा मन को आत्मा से उद्भूत, प्रकल्पित, निष्पन्न अथवा उसकी अस्थायी और कल्पित प्रतीतियो के रूप मे ही ग्रहण करते हैं; दूसरी ओर एकान्त भौतिकतावादियों का कहना है कि पदार्थ ही एकमात्र वास्तविकता है और जो कुछ मानसिक और आध्यात्मिक प्रतीत होता है, वह केवल पदार्थ के व्यापार व प्रभाव के कारण अथवा उससे उपजात हैं। विज्ञानवादी 'विचार' को ही विश्व मे एकमात्र वास्तविक और नियन्त्रक हेतु मानते है और विश्व की अन्य सभी वस्तुओ को केवलमात्र उसका एक प्रकार, रूप और विस्तार मानते हैं। एक ओर नव-विचार-आन्दोलन, जो कि प्राचीन भारतीय विज्ञानवाद से मिलता-जुलता है और जो कि एकान्त आदर्शवाद है, विचार को एकमात्र उत्पादक शक्ति मानता है तथा भौतिक शरीर और उसकी अवस्थाओं को केवल विचार से उद्भूत और उसके प्रभाव-रूप ही मानता है, तो दूसरी ओर प्रवृत्तिवाद शरीर और उसकी क्रियाओ को ही सम्पूर्ण व्यक्ति-रूप मानता है तथा विचार, अनुभूति और चेतना को केवल शारीरिक व्यापार मानता है। कुछ मनोवैज्ञानिक चेतना को ही मन का एकमात्र विशिष्ट गुण मानते हैं, जब कि दूसरे अचेतन क्रिया-कलापों पर बल देते हैं और मनोजीवन में उन्हें ही प्रेरक तत्त्व मानते हैं। अधिकांश तथाकथित वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि मन का केवल चेतन और अचेतन व्यापार ही मानव-व्यक्तित्व का निर्माण करता है, इनके अतिरिक्त मनुष्य में उच्च चेतना जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसका अस्तित्व मनोक्षेत्र के (Psychical) अनुसन्धान और परामनोविज्ञान (parapsychology) द्वारा स्थापित किया जा चुका है। कुछ विचारक अपरिवर्तनशील ज्ञाता अथवा आत्मा की पूर्णतः उपेक्षा करके, केवल सदा परिवर्तनशील मानसिक स्थितियों को ही मानव-व्यक्तित्व की रचयित्री मानते हैं। कुछ दार्शनिक केवल भगवान् अथवा परम सत्ता को ही एकमात्र सत् या वास्तविकता मानते हैं तथा

जगत् और व्यक्तियो को आभास-रूप मानते है और उनका कोई वास्तविक मूल्य अथवा महत्त्व स्वीकार नही करते। विश्व के अधिकाश विचारको ने केवल जागृतावस्था की अनुभूति को ही वास्तविक अनुभूति माना है और स्वप्न, निद्रा तथा रहस्यपूर्ण अनुभूतियो की नितान्त उपेक्षा कर दी है, जब कि कुछ विचारको ने केवल रहस्यपूर्ण अनुभूतियो को ही एकमात्र प्रामाणिक अनुभूति माना है और आत्मा का अस्तित्व इसी के आधार पर खडा किया है। कुछ आधुनिक दार्शनिक केवल जीवन के कष्टो, तनावो और दबावो को ही मानव-जीवन का एकमात्र रूप मानते हैं, जब कि प्राचीन काल के कुछ दार्शनिक जीवन की वास्तविक प्रकृति परम आनन्द और सुख मे समझते थे। कुछ विचारक केवल अनुभूति को ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानते है, जब कि दूसरे वास्तविक और निश्चित ज्ञान का एकमात्र स्रोत बुद्धि अथवा तर्क को ही मानते हैं।

आचार-शास्त्र की विभिन्न पद्धतियो के विचारक भी एकान्तवाद से मुक्त नही है। कुछ लोग इस जीवन और इस लोक को ही केवल विद्यमान और वास्तविक वस्तु मानते है, जबकि दूसरे परलोक तथा मरणोत्तर जीवन को ही चिन्तनीय वस्तु मानते है। कुछ सामाजिक विचारक, व्यक्ति और उसकी पूर्णता, समृद्धि और सुख को ही सामाजिक सगठन का उद्देश्य मानते हैं, जब कि दूसरे चिन्तक व्यक्तिगत हितो का बलिदान करके भी पूर्ण सामाजिक सस्थाओ के निर्माण को ही लक्ष्य मानते हैं।

राजनैतिक एकान्तवाद

यह एकान्तवाद विश्व की राजनीति मे व्यापक और खुले रूप मे जान-बूझ कर चलाया जाता है। प्रत्येक देश, राष्ट्र, दल व गुट केवल अपनी और अपने हितो की रक्षा और सुरक्षा के बारे मे चिन्तित है, फिर चाहे उसके लिए दूसरो की बलि क्यो न दे दी जाये। प्रत्येक यह समझता है कि केवल उसकी प्रशासन-प्रणाली और सामाजिक सगठन ही ऐसा है, जो कि मानव जाति का उद्धार कर सकता है और उसे बचा सकता है। वह उसे सम्भावित आक्रमणो से बचाने का प्रयत्न करता है और उसमे शेष ससार को ढाल देना चाहता है। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, लोकतन्त्रवाद अथवा सर्वोदयवाद इसी ढग से अपने बारे मे सोचता है और अपने को मानव-जाति का एकमात्र परित्राता समझता है। प्रत्येक देश का प्रत्येक दल केवल अपने को व अपनी नीति और कार्यक्रम को सर्वोत्तम मानता है और एकमात्र उसे ही देश मे नव जीवन का सचार करने वाला मानता है। उसमे इतना धैर्य नही है कि वह दूसरे दलो के सुझावो मे गुण या अच्छाई देख सके। प्रत्येक दल या गुट समझता है कि केवल उसके अनुयायी और सदस्य ही देश मे एकमात्र उपयुक्त और योग्य व्यक्ति हैं, जो कि देश के प्रशासनिक पदो के योग्य है। प्रत्येक शक्तिशाली दल चाहता है कि केवल अपने ही लोगो के हाथ मे देश के सम्पूर्ण साधनो के अधिकार रहे।

यह एकान्तवाद की घातक प्रवृत्ति है और शक्तिशाली लोगो और दलो मे यह इतनी अधिक व्याप्त है कि प्रत्येक व्यक्ति या दल ससार-भर मे केवल अपने-आपको ही एकमात्र बुद्धिमान्, एकमात्र सही, एकमात्र न्याय्य, एकमात्र समर्थ और एकमात्र उपयुक्त समझता है तथा चाहता है कि शेष ससार एकमात्र उसी के प्रति निष्ठा रखे और उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर दे। प्रत्येक यह सोचता-समझता है और अनुभव करता है कि वही एकमात्र व्यक्ति है जिसके लिए सम्पूर्ण विश्व की सत्ता है और जिसके प्रति अन्य सभी को दयालु, सहानुभूतिपूर्ण, स्नेहशील और श्रद्धालु होना चाहिए, परन्तु कठिनाई यह है कि इस विश्व मे ऐसे अनगिनत दूसरे लोग है, जिनके उसी प्रकार विश्वास, दावे और इच्छाए हैं। इसीलिए सघर्ष, कलह और युद्ध होते हैं।

यदि हम सब इस एकान्तवाद के दुष्परिणाम का अनुभव कर सके और 'भी' का प्रयोग कर सके तथा यह समझ सके कि प्रत्येक को दूसरो की इच्छाओ, आशाओ और आकाक्षाओ की उपेक्षा नही करनी चाहिए, दूसरो के गुणो को खोजना, पहचानना और सराहना चाहिए तथा उनके साथ मित्रतापूर्वक और शान्तिपूर्वक रहना चाहिए, तो विश्व, जिस रूप मे आज दिखायी देता है, उससे बिल्कुल भिन्न हो जायेगा। अनेकान्तवाद पर आधारित यह अस्तित्व, सद्-भावना और पारस्परिक मैत्री इस विश्व के वासियो को सुखी और समृद्ध बना सकते हैं। इन्हे प्राप्त करने के लिए हमे 'केवल-भ्रान्ति' से मुक्ति पा लेनी चाहिए और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे 'भी' का प्रयोग सीख लेना चाहिए।

भेद में अभेद का सर्जक स्याद्वाद

—मुनिश्री कन्हैयालालजी

भारतीय संस्कृति में दर्शनों का अविरल गति से स्रोत बहा, विविध दार्शनिकों ने स्वकीय बौद्धिक विकास द्वारा विविध विचारधाराओं का विश्लेषण किया। अनेकान्तवादी दार्शनिकों ने भी अनेकान्त दर्शन का सार्वभौम प्रसार किया। जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। अनन्त-धर्मात्मक पदार्थों की विवक्षा करते समय एक धर्म को मुख्य मान कर उसका वर्णन किया जाता है और अन्य सभी धर्म गौणता की श्रेणी में गिन लिये जाते हैं। जीवन के समस्त पहलुओं में अनेकान्त का दृष्टिकोण निहित है। हर एक स्थल पर दो दृष्टियाँ लागू होती हैं। एक रोगी है, उसके लिए मिठाई बहुत हानिकारक है, किन्तु स्वस्थ व्यक्ति के लिए नहीं। जो विष किसी के लिए विष है, वही किसी दूसरे के लिए अमृत हो सकता है—यही वस्तुतः अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त दृष्टिकोण

प्राक्तन दार्शनिकों की विचारधाराओं में पारस्परिक विचार-गुत्थियाँ उलझी हुई थीं। आत्मादि तत्त्वों के विषय में भी विभिन्न धाराएँ थीं। सांख्य दर्शन ने आत्मा को कूटस्थ[1] नित्य, अनादि, अनन्त एवं अविकारी कहा। नैयायिक वैशेषिकों ने परिवर्तन तो माना, पर वह तो गुणों तक ही सीमित रहा। मीमांसक ने आत्मा में अवस्था-भेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी द्रव्य नित्य माना है। योगदर्शन का भी यही अभिप्राय है। बुद्ध के समक्ष जब ये प्रश्न आये कि आत्मा नित्य है या अनित्य? लोक शाश्वत है या अशाश्वत? आदि-आदि, तब बुद्ध ने तो समस्त प्रश्नों को अव्याकृत की कोटि में धकेल दिया। भगवान् महावीर ने बुद्ध की तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप-निरूपण में मौन नहीं किया, किन्तु उस समय के प्रचलित वादों का समन्वय करने वाला वस्तुतः तत्त्वस्पर्शी उत्तर दिया। ईसा के बाद होने वाले जैन दार्शनिकों ने जैन-तत्त्व विचार को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिपादित किया।

आत्मा की नित्यानित्यता

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के अनुसार—आत्मा[2] कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य, अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य। इस दृष्टि के मूल में एक गम्भीर एवं मननीय तत्त्व है। इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों का समन्वय हो जाता है। चेतन जीव-द्रव्य का विच्छेद कभी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से जीव को नित्य मान करके शाश्वतवाद को प्रश्रय दिया। दूसरी ओर जीव की नाना अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से विच्छिन्न होती हुई देखी जाती हैं। उनकी अपेक्षा से उच्छेदवाद को भी प्रश्रय मिलता है।

लोक की शाश्वतता-अशाश्वतता

शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में भी कुवादों की चट्टानें खड़ी हुई थीं। किसी ने लोक को शाश्वत कहा और

१ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपमित्यम्।

२ 'जीवाणं भन्ते ! किं सासया, असासया?' 'गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।'

—भगवती सूत्र, ७।२।७७३

किसी ने अशाश्वत। बुद्ध ने तो अव्याकृत कहकर मौन ही धारण कर लिया। भगवान् महावीर के सामने जब यह प्रश्न आया, तब भगवान् ने अनेकान्त दृष्टि से यह समस्या सुलझायी—'लोक[1] कथंचित् शाश्वत है; क्योंकि ऐसा समय न तो आया और न आयेगा कि जिस समय लोक न हो, अतः यह लोक ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है। कथंचित् लोक अशाश्वत भी है; चूँकि अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी आती है, इस कालचक्र की अपेक्षा से लोक का अशाश्वत होना भी सिद्ध है।'

आत्मा और शरीर की भिन्नता-अभिन्नता

इस अनेकान्तवाद की सुरभि से समस्त समस्या-रूपी दुर्गन्ध दूर हो सकती है। जीव और शरीर की भिन्नता के विषय में भी भारतीय संस्कृति में विविध विचारधाराएं प्रचलित हैं। जैसे—चार्वाक्-दर्शन ने आत्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार नहीं किया, अर्थात् आत्मा और शरीर एक है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का विलय हो जाता है,[2] अतः पुनरागमन भी नहीं है। कुछ-एक दार्शनिकों ने आत्मा और शरीर का एकान्त भिन्नत्व स्वीकार किया है, और दूसरों ने एकान्त अभिन्नत्व। इस समस्या को सुलझाते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—'आत्मा[3] कथंचित् शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है।' आत्मा को यदि शरीर से कथंचित् भिन्न न माना जाये तो एक बहुत बड़े दोष का समागम असम्भव नहीं है, अर्थात् यदि शरीर के नाश के साथ-साथ आत्मा का नाश भी मान लिया जाये तो फिर स्वर्ग, नरक, मोक्ष व पुनर्जन्म आदि मान्यताएं निरर्थक हो जायगी। परन्तु आगम आदि प्रमाणों से स्वर्गादि का निरूपण सिद्ध है, अतः आत्मा को जड़ से कथंचित् पृथक् मानना निर्विवाद सिद्ध है। दूसरी विचारधारा है कि आत्मा शरीर से एकान्त भिन्न है। यह भी न्यायसंगत नहीं, चूँकि आत्मकृत कर्मों का सुख-दुःखादि फल शरीर के द्वारा ही भोगा जाता है। आत्मा शरीर से यदि एकान्त भिन्न हो तो शरीर पर प्रहार आदि लगने पर आत्मा को कष्ट नहीं होना चाहिए। अतः कथंचित् भिन्नत्व स्वीकार कर लेना असंगत नहीं होगा। आत्मा को रूपी-अरूपी बताने का भी तात्पर्य यह है कि कर्म-संश्लिष्ट आत्मा मूर्त है, अन्यथा अमूर्त।

विश्व की सान्तता-अनन्तता

एक प्रश्न यह भी खड़ा हुआ कि लोक सान्त है या अनन्त? तब किसी दर्शन ने उसे केवल सान्त माना, तो किसी ने केवल अनन्त। लोक की सान्तता और अनन्तता के विषय में भगवान् बुद्ध का सिद्धान्त तो अव्याकृत रहा, परन्तु भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर अपना अपूर्व मार्ग जनता के सामने प्रस्थापित किया। 'लोक[4] द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है और भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा से अनन्त है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है, अर्थात् शाश्वत

१ सासए लोए जमाली ! जन्न कयावि णासी णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए लोए जमाली ! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उसप्पिणी भवइ, उसप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।

—वही, ९।६।३८७

२ भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

३ 'आया भन्ते ! काये, अन्ने काये?' 'गोयमा ! आयावि काये अन्नेवि काये।' 'रूवि भन्ते ! काये, अरूवि काये?' 'गोयमा ! रूविवि काये अरूविवि काये।'

४ एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते तंजहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओणं एगे लोए सअन्ते ... भावओण लोए अणन्ता। खंदया ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।

—भगवती सूत्र, २।१।९०

है, क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जिसमें लोक का अस्तित्व न हो; किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है।' इस तरह, 'जीव' सान्त भी है और अनन्त भी। द्रव्य तथा क्षेत्र की अपेक्षा से तो जीव सान्त है और काल की अपेक्षा से अनन्त है; अर्थात् भूतकाल में जीव था, वर्तमान में जीव है और भविष्य में जीव रहेगा। भाव अर्थात् पर्यायों की दृष्टि से भी जीव अनन्त है।'[1]

तत्त्वों की एकता-अनेकता

भगवान् महावीर अपनी बहुमुखी अनेकान्त दृष्टि से हरएक दर्शन का समन्वय करने के लिए सजग थे। इसके विपरीत अद्वैतवादियों ने एक ब्रह्मा[2] अर्थात् आत्मा को ही स्वीकार किया—सर्वत्र एक ही आत्मा का प्रतिबिम्ब है; जैसे जल में एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होता है।[3] इस विषय में भगवान् महावीर ने अनेकान्त-दृष्टि से सत्य का प्रतिपादन किया है—'आत्मा एक है,[4] चूँकि सभी जीवों का मूल स्वरूप सदृश है। इस दृष्टिकोण से जीव एक है और स्वरूप-पर्याय की अपेक्षा से अनेक। दूसरे दार्शनिकों ने परमाणु को भी एकान्त अनित्य अथवा एकान्त नित्य माना, परन्तु भगवान् महावीर ने कहा—परमाणु पुद्गल कथञ्चित् नित्य है और कथंचित् अनित्य। द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और वर्ण-गन्धादि पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य।[5] ऐसे ही धर्मास्तिकाय को द्रव्य-दृष्टि से एक होने के कारण सर्व-स्तोक कहा और उसी एक धर्मास्तिकाय को अपने में ही असंख्यात गुण भी कहा, क्योंकि द्रव्य-दृष्टि के प्राधान्य में एक होते हुए भी प्रदेश के प्राधान्य में धर्मास्तिकाय असंख्यात भी है।[6]

स्याद्वाद संशयवाद नहीं

जैन दर्शन की यह मान्यता रही है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त[7] धर्मों का पिण्ड है। अनन्त धर्मों का एक ही साथ निर्वाचन नहीं हो सकता। दूसरे धर्मों में उपेक्षा-भाव रहते हुए एक धर्म का निश्चित रूप से निरूपण करना स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। अमुक निश्चित अपेक्षा से घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षा से घट-नास्ति ही है। 'स्यात्' का अर्थ न तो 'शायद' है, न 'सम्भवतः' और न 'कदाचित्' ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोण का प्रतीक है। इस शब्द के अर्थ को प्राचीन मतवादी दार्शनिकों ने प्रामाणिकता से समझने का प्रयास तो नहीं किया, किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टि की दुहाई देने वाले दर्शन-लेखक उसी भ्रान्त परम्परा का पोषण करते आते हैं।

---

१ जे विय खंदया ! जीवे सअंते, जीवे अणंते, जीवे तस्सवियणं एयमट्ठे। एवं खलु जाव दव्वओणं एगे जीवे सअन्ते, खेत्तओणं जीवे असंखेज्ज पएसिए असंखेज्ज पएसो गाढ़े अत्थि पुण से अंते, कालओणं जीवे न कयावि न आसी जाव निच्चे, नत्थि पुण से अंते, भावओणं जीवे अणंता नाण पज्जवा, अणंता दंसण पज्जवा, अणंता चरित्त पज्जवा, अणंता अगुरु लहुय पज्जवा, नत्थि पुण से अंते।

—वही, ३।१।६०

२ एको ब्रह्मा द्वितीयो नास्ति।

३ एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

४ एगे आया।

५ 'परमाणु पोग्गलेणं भन्ते ! किं सासए, असासए ?' 'गोयमा ! सिय सासए, सिय असासए।' 'असासए केणट्ठेण ?' 'गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं असासए।'

—भगवती सूत्र, १४-४-५१२

६ एगे धम्मत्थि काए, गोयमा। सव्वत्था वे दव्वट्ठयाए, से चेव पएसट्ठयाए असंखेज्ज गुणे।

—प्रज्ञापनासूत्र, पद ३, सू० ५६

७ अनन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह।

—षड्दर्शनसमुच्चय

डा० देवराज[1] द्वारा किया गया स्यात् शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद भी भ्रामक है। प्रो० बलदेव उपाध्याय[2] ने लिखा है—"यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है। आप उसे सम्भववाद कहना चाहते हैं, परन्तु 'स्यात्' का अर्थ 'सम्भवतः' करना भी न्यायसंगत नहीं है। **'स्यादस्ति घटः'** अर्थात् स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से घट है ही, **'स्यान्नास्ति घटः'** पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से घट नहीं है। जब स्याद्वाद स्पष्ट रूप से यह कह रहा है कि **'स्यादस्ति'** यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इस स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से है ही, तो यह निश्चित अवधारण है। अत यह न सम्भववाद है और न अनिश्चयवाद ही, किन्तु खरी अपेक्षायुक्त निश्चयवाद है।"

वैदिक आचार्य शंकराचार्य ने 'शांकर-भाष्य' में स्याद्वाद को संशय-रूप लिखा है, जिसके संस्कार आज भी कुछ विद्वानों के मस्तिष्कों में निहित हैं। प्रो० फणिभूषण अधिकारी ने स्पष्ट लिखा है—"जैन धर्म के स्याद्वाद-सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना अन्य किसी भी सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी दोष से मुक्त नहीं है। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की।" जिन्होंने इस स्याद्वाद का गम्भीरता से अध्ययन कर लिया है, उन्होंने तो स्याद्वाद को संशयवाद का रूप न देकर संशय-विच्छेदवाद का रूप दिया है। जैनाचार्यों ने तो बार-बार इस बात की घोषणा की है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है और ऐसा कोई दर्शन ही नहीं, जो किसी न किसी रूप में स्याद्वाद को स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से स्याद्वाद को स्वीकार तो किया है, किन्तु[3] उसका नाम लेने पर दोष बताने लग जाते हैं।

पाश्चात्य विद्वान् डा० थामस का कहना है—"स्याद्वाद-सिद्धान्त बड़ा गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। वस्तुतः स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद को सम्राट् का रूप दिया गया है। स्यात्-शब्द को एक प्रहरी के रूप में स्वीकार करना चाहिए, जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता है। यह अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है, संशयादि शत्रुओं का संरोधक व भिन्न दार्शनिकों का संपोषक है।"

जिन दार्शनिक व्यक्तियों की भाषा स्याद्वादात्मक है, उन व्यक्तियों को कोई भी दर्शन भ्रमजाल के चक्र में नहीं फँसा सकता। एक स्थान में भगवान् महावीर के समक्ष यह प्रश्न आया था कि भिक्षु-साधु कैसी भाषा का प्रयोग करे? प्रश्न का प्रत्युत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—'साधु को विभज्यवाद[4]—स्याद्वादात्मक भाषा का प्रयोग करना चाहिए।' टीकाकारों ने भी विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद—स्याद्वाद ही किया है। यदि आग्रह—पक्षपात-रूपी नैसर्गिक पोष से परिवेष्टित होकर स्याद्वाद के सिद्धान्त का निरीक्षण किया जायेगा, तो निश्चित ही उसको सत्यासत्य पदार्थों का प्राभास न होगा।

समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग

प्रत्येक दार्शनिक, धार्मिक व सामाजिक समस्या का समाधान इसी अनेकान्तवाद से हम कर सकते हैं। पिता को पुत्र, पुत्र को पिता, छोटे को बड़ा, बड़े को छोटा, यदि कहने का अधिकार है तो केवल अनेकान्त-दृष्टि से ही। यदि अनेकान्त-दृष्टि को न्यायाधीश के पद पर बैठा दिया जाये, तो विरोधी वाद मुद्दई-मुद्दायलों का फैसला बहुत सुन्दर ढंग से हो सकता है और समझौता भी उचित रूप से सम्भव है। पूर्वकालीन युग में समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि

१ पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ६५
२ भारतीय दर्शन, पृ० १७३
३ अनेकान्त व्यवस्था की अन्तिम प्रशस्ति, पृ० ८७
४ भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा।

—सूत्रकृतांग, १।१४।२२

के अनुपात से ही सत्-असत्, नित्यानित्य, भेदाभेद, द्वैताद्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विविध द्वंद्वों मे पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया और मध्य-कालीन युग मे अकलक, हरिभद्र आदि अनेक तार्किको ने अशत पर-पक्ष का खण्डन करके भी उसी अनेकान्त दृष्टि का प्रसार किया।

भारतीय दर्शनशास्त्रो मे अनेकान्त दृष्टि के आधार मे ही वस्तु-स्वरूप के प्ररूपक जैन दर्शन को हम विचार-विकास की चरम रेखा कह सकते है। तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तु-स्थिति स्पष्ट होती नही, तब तक विवाद बढता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्त दृष्टि से अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है, तब वादो का स्रोत अपने-आप सूख जाता है। जैन तत्त्व ज्ञान का विशाल भवन अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जैन दर्शन का जीवन ही नही, अपितु इसे समस्त दर्शनो का जीवन कहे तो भी कोई अत्युक्ति नही होगी। पूर्ववर्ती जैन आचार्यों ने अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावना का परिचय देते हुए लिखा है—"एकान्त वस्तुगत धर्म नही है किन्तु बुद्धिगत है, अत बुद्धि के शुद्ध होते ही एकान्त का नामो-निशान भी नही रहेगा। जैनेतरो की सर्व दृष्टियाँ अनेकान्त-दृष्टि मे वैसे ही मिलती हैं जैसे भिन्न-भिन्न दिशाओ मे आने वाली विभिन्न नदियाँ समुद्र मे।"[1] प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दो मे—"एक सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नही कर सकता। वह सम्पूर्ण नयरूप-दर्शनो को इस प्रकार वात्सल्य की दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रो को देखता है। क्योकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नही हो सकती। वास्तव मे सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है, जो स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनो मे समान भाव रखता है। वास्तव मे मध्यस्थ भाव ही शास्त्रो का गूढ रहस्य है। यही धर्मवाद है। मध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्रो के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोडो शास्त्रो के पढ जाने से भी कोई लाभ नही है।"[2] हरिभद्र सूरी ने लिखा है[3]—"आग्रही व्यक्ति अपने मत-पोषण के लिए युक्तियाँ ढूँढता है, युक्तियो को अपने मन की ओर ले जाता है, पर पक्षपात-रहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्ति-सिद्ध वस्तु-स्वरूप को स्वीकार करने मे अपने ज्ञान की सफलता मानता है।" अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तु-स्वरूप की ओर अपने मन को लगाओ, न कि अयुक्ति-सिद्ध वस्तुस्वरूप मे। अत आग्रह-बुद्धि का निराकरण करके सत्य पर पहुँचना ही एक निर्णीत फल है। किन्तु जो खींचातानी करता है, अपने ही को सच्चा मानता है, उसके लिए तत्त्वरूपी नवनीत का रसास्वादन कहाँ!

एक[4] को ढीला छोडेगा और दूसरे को तानेगा, तब ही नवनीत निकलेगा और यदि एक ही को खींचकर बैठ जाये

---

१ उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

२ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिक शेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोद्देशा विशेषेण यः पश्यति स शास्त्रज्ञः॥
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद् बालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥
—अध्यात्म-संग्रह

३ आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

४ एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

तो क्या नवनीत सम्भव है ? वैसे ही यदि कोई एक ही दृष्टि का अवलम्बन ले करके बैठ जाये तो वह सत्य के शिखर पर नही पहुँच सकता। अत हर एक को एकान्त-दृष्टि का परिहार करके अनेकान्तरूपी मानसरोवर मे क्रीड़ा करनी चाहिए।

स्याद्वाद के इस उदार सिद्धान्त से समस्त दर्शनो का समन्वय सहज ही हो सकता है। इस तरह अनेकान्त-दृष्टि-कोणो से जैनाचार्यों ने देखा कि प्रत्येक वाद सुयुक्तिक होने के कारण अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक-अमुक सीमा तक यथार्थ है। दार्शनिक जगत् के लिए जैन दर्शन की यह देन सर्वथा अनुपम व अद्वितीय है। अनेकान्तवाद व स्याद्वाद-सिद्धान्त के द्वारा विविधता मे एकता व एकता मे विविधता का दर्शन करा कर जैन दर्शन ने विश्व को नवीन दृष्टि प्रदान की है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अद्वितीय सत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता।

दक्षिण भारत में जैन धर्म

श्री० के० एस० धरणेन्द्रैया, एम० ए०, बी० टी०
निर्देशक, साहित्य एवं संस्कृति-विकास संस्थान, मैसूर राज्य, बंगलोर

बाहुबली (गोम्मटेश्वर)

जब हम दक्षिण भारत मे जैन धर्म के विषय में चिन्तन करते है तो सहसा हमे स्मरण हो आता है कि जैन धर्म तीर्थंकरो के देश से भगवान् गोम्मटेश्वर (बाहुबली) के देश मे आया। जब प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ ने अपना राज्य अपने पुत्रों को बाँटा, तब सम्भवत दक्षिण भारत का राज्य बाहुबली (श्री गोम्मटेश्वर) को दिया गया। दक्षिण भारत मे एक स्थान है, जिसे **बोधान** कहते हैं। यह हैदराबाद कर्णाटक मे है। यह समझा जाता है कि यही **पोदानपुर** है जो बाहुबली की राजधानी थी। दक्षिण भारत मे बाहुबली की अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध होती है। उनमे से उल्लेखनीय मूर्तियाँ श्रवण बेलगोला, कारकाला, वेनूर और गोम्मटगिरि (मैसूर नगर के निकट) मे है।

भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त मौर्य

उपलब्ध ऐतिहासिक विवरणो से यह ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी मे उत्तर भारत से दक्षिण भारत आये, जब कि उनकी भविष्यवाणी के अनुसार उत्तर भारत मे बारह वर्ष का दुष्काल पड़ने वाला था। दक्षिण भारत उस समय शान्ति और समृद्धि का देश था, इसलिए उन्होने अपने अनुयायियो को अपने साथ दक्षिण चले आने का परामर्श दिया। जहाँ वे तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित आचार-नियमो का भग न करते हुए धर्म के सिद्धान्तो का अनुसरण कर सकें। दक्षिण का प्रवास करने वाले उनके अनुयायियो मे सबसे प्रमुख मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त थे, जिन्होने अपने राज्य और समस्त पार्थिव सम्पदा का परित्याग करके सन्यास ले लिया और जैन श्रमण (साधु) बन गए। वे अपने १२,००० अनुयायियो को साथ लेकर, जिनमे साधु और गृहस्थ दोनो ही थे, अपने आध्यात्मिक गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी के साथ दक्षिण की ओर चल पड़े। चलते-चलते वे अन्त में उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ आज भी श्रवण बेलगोला का ऐतिहासिक स्थल अवस्थित है।

उस समय श्रवण बेलगोला मे श्री गोम्मटेश्वर की मूर्ति नही थी। आज वहाँ दो पहाड़ियाँ दृष्टिगोचर होती है—एक बड़ी और दूसरी छोटी। छोटी पहाड़ी का नाम चन्द्रगिरि है और उसका नामकरण महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त के नाम पर हुआ था। इसी पहाड़ी पर श्री भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त आये थे और कुछ समय के लिए उन्होने वहाँ निवास किया था। इस भाग को उस समय सस्कृत में '**कटवप्र**' और कन्नड मे '**कलबोप्पु**' कहते थे। वहाँ श्री भद्रबाहु स्वामी एक बड़ी चट्टान के नीचे गुफा में तपस्या करते थे। इसी गुफा मे उन्होने देहत्याग किया था। कहा जाता है—राजवंशी शिष्य चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु के पद-चिह्न उस चट्टान के नीचे खुदवा दिये थे। आज भी सहस्रो भक्त प्रतिवर्ष श्रवण बेलगोला की यात्रा करने आते हैं। चन्द्रगिरि पर, चन्द्रगुप्त के नाम पर एक अत्यन्त प्राचीन जैन मन्दिर भी है जिसे 'चन्द्रगुप्त बसदि' कहते है।

श्रमण चन्द्रगुप्त अपने गुरु के देहावसान के पश्चात् लगभग बारह वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार करते रहे। मैसूर राज्य में ऐसे शिलालेख प्राप्त हुए है, जिनसे यह ज्ञात हुआ है कि भद्रबाहु स्वामी और श्रमण चन्द्रगुप्त कन्नड प्रदेश मे आये थे और उन्होंने जैन सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का प्रचार किया था।

भगवान् महावीर और राजा जीवन्धर

एक परम्परा के अनुसार यह भी माना जाता है कि भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त के दक्षिण-आगमन के पूर्व भी वहाँ जैन धर्म विद्यमान था। वर्तमान कन्नड प्रदेश को उस समय हुमांगद प्रदेश कहते थे और उस प्रदेश मे भगवान् महावीर के समकालीन जीवन्धर नामक राजा राज्य करते थे। यह भी ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समवसरण की रचना जीवन्धर के राज्य मे दक्षिण भारत मे हुई थी और राजा जीवन्धर भगवान् महावीर के दर्शन करने के पश्चात् राज्य त्याग कर जैन साधु बन गए थे। उन्होने उत्कट तपस्या की और अन्त मे मोक्ष प्राप्त किया।

तमिल प्रदेश और तमिल भाषा

विशाखाचार्य

श्री भद्रबाहु स्वामी ने अपने जिन शिष्यो को दक्षिण मे भेजा था, उनमे सबसे प्रमुख विशाखाचार्य थे। व तमिल प्रदेश मे गये और उन्होने वहाँ जैन धर्म का प्रचार किया। इतिहास बताता है कि जैन धर्म सारे तमिल प्रदेश मे फैल गया था और वहाँ के अनेक राजाओ ने जैन धर्म को अगीकार किया था। अनेक शताब्दियो तक जैन धर्म राज्य-धर्म के रूप मे रहा। जैनो ने तमिल भाषा मे समृद्ध साहित्य की रचना की और उस भाषा को व्याकरण, गद्य और पद्य की अनेक रचनाए प्रदान की।

कुन्दकुन्दाचार्य और कुरल

तमिल-साहित्य के सब से महान् ग्रन्थ '**कुरल**' की रचना जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने ही की है, जो ईसा की प्रथम शताब्दी मे मद्रास नगर के निकट पोन्नूर की पहाडियो पर रहते थे।[1] यद्यपि यह कहा जाता है कि कुरल की रचना श्री तिरुवल्लुवर ने की है, किन्तु दिवगत प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती ने आन्तरिक और बाह्य प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि यह ग्रन्थ जैन आचार्य ने ही लिखा है। कुछ विवरणो मे, जिनमे अधिकाश मौखिक है, ज्ञात होता है कि श्री तिरुवल्लुवर एक निम्नजातीय हिन्दू थे, किन्तु अपने समय के एक आध्यात्मिक शक्ति और बुद्धि-सम्पन्न अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे श्री कुन्दकुन्दाचार्य के महान् व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए और कुन्दकुन्दाचार्य ने उनको अपना शिष्य बना लिया। अपनी रचना '**कुरल**' अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौपते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने उनको आदेश दिया—"देश मे भ्रमण करो और इस ग्रन्थ के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तो का प्रचार करो।" साथ-साथ आचार्य ने अपने शिष्य को चेतावनी भी दी—"देखो! ग्रन्थ के रचयिता का नाम प्रकट मत करना। क्योकि यह ग्रन्थ मानवता के उत्थान के लिए लिखा गया है, आत्म-प्रशसा के लिए नही।" श्री तिरुवल्लुवर ने अपने गुरु के इस आदेश का पालन किया और इस महान् ग्रन्थ के रचयिता का नाम कभी प्रकट नही किया। '**कुरल**' मे चार मे से तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम की चर्चा की गई है। उसमे चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की चर्चा नही है।

'कुरल' का प्रारम्भ वर्षा की दानशीलता के वर्णन मे होता है। उसमे बताया गया है कि विश्व मे वर्षा ही सब रसो का मूलकारण है। उस ग्रन्थ मे दाम्पत्य जीवन के सुख का वर्णन भी किया गया है। उसी ग्रन्थ मे सर्वोच्च प्रेम का वर्णन भी किया गया है और बताया गया है कि वह किस प्रकार मानव-समाज के सभी पहलुओ को प्रभावित करता है। उसमे

१. एक किंवदन्ती के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य जिन्होंने 'समयसार' और 'प्रवचनसार' नामक ग्रन्थों की रचना की है, जिन शासन देवों की सहायता से विदेह-क्षेत्र गये थे और तत्र विद्यमान भगवान् श्री सीमन्धर स्वामी से जैन सिद्धान्तों के विषय में अपनी शंकाओं का निवारण किया था। उसके पश्चात् ही उन्होंने जैन सिद्धान्त विषयक अपनी रचनाओं को पूर्ण किया था।

न केवल मनुष्यों को, अपितु पशुओं और निम्न श्रेणी के जीवों को भी मनुष्यों के तुल्य माना गया है और ग्रन्थ में सर्वत्र अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की शिक्षाएं भरी पड़ी हैं। ये आचार के पाँच मूलभूत सिद्धान्त हैं, जिनकी इस महान् ग्रन्थ में शिक्षा दी गई है और जो सर्वव्यापी नैतिकता का पाठ पढ़ाते हैं। उसमें राजा के कर्तव्यों और शासन-कला की भी शिक्षा दी गई है। विश्व के साहित्य में शैली और विषय की दृष्टि से यह अपूर्व ग्रन्थ है।

तमिल-साहित्य

तमिल-साहित्य में जैनाचार्यों के लिखे हुए अनेक ग्रन्थ हैं। **तोलकप्पियम्** एक तमिल-व्याकरण है। **शिल्पाधिकरण** तमिल-साहित्य की एक और महान् रचना है, जिसे चेर राजसन्यासी इलगो ने लिखा है। **मणिमेखलई** की रचना सत्तन ने की है। उसमें देवताओं के समक्ष किये जाने वाले पशु-बलि के आयोजनों का परिहास किया गया है। एक और ग्रन्थ **'नालडियर'** में आठ सौ जैन साधुओं द्वारा रचित दार्शनिक श्लोक हैं। उन साधुओं को उस समय के एक राजा ने रात-भर में तमिल-प्रदेश छोड़कर चले जाने का आदेश दिया था, तब प्रत्येक साधु ने एक-एक श्लोक की रचना की और सब साधु अपने निवास-स्थान पर उन पद्य-संग्रहों को छोड़कर उसी रात को देश से बाहर चले गए। कुछ विद्वानों ने उन पद्यों को संग्रहीत करके प्रकाशित किया और इसी संग्रह को **'नालडियर'** कहते हैं। इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है और उन पर विस्तृत टीकाएं और विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएं लिखी गई हैं। जैनाचार्यों द्वारा लिखे हुए तमिल के सैकड़ों ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों ने तमिलवासियों के जीवन और भाषा पर गहरा प्रभाव डाला है।

कन्नड़ प्रदेश और कन्नड़ भाषा

अब हम कन्नड़ प्रदेश और उसकी भाषा की चर्चा करेंगे, जिसे जैनाचार्यों, राजाओं, सामन्तों, मन्त्रियों, कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों ने समृद्ध बनाया है। जैन कन्नड़ ग्रन्थों में हमारी दृष्टि जिन तीन प्रसिद्ध जैन सन्तों की ओर जाती है, वे हैं—समन्तभद्र, पूज्यपाद और कवि परमेष्ठी। यद्यपि इन सन्तों द्वारा कन्नड़ भाषा में रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, किन्तु प्रत्येक जैन कन्नड़ कवि ने अपनी रचना में इन तीनों जैन सन्तों के नामों का उल्लेख अवश्य किया है।

शिवकोट्याचार्य

कन्नड़ भाषा का एक गद्य ग्रन्थ **'वड्डाराधने'** (वृद्धराधना) है। उसमें महान् पूर्वजों को श्रद्धांजलि भेंट की गई है। इस ग्रन्थ में उन्नीस जैन सन्तों की गुणगाथाएं हैं और यह अत्यन्त प्राचीन कन्नड़-गद्य में लिखा गया है। यह ईसा की पाँचवीं शताब्दी का माना जाता है, यद्यपि उसकी रचना-तिथि के विषय में अब भी विवाद है। उसे शिवकोट्याचार्य नामक जैन सन्त ने लिखा है।

नृपतुंग, जिनसेनाचार्य और वीरसेनाचार्य

कन्नड़ भाषा का पहला काव्य-ग्रन्थ जहाँ तक पता चला है **'कवि राजमार्ग'** है। इस ग्रन्थ के रचयिता नृपतुंग हैं। वह राष्ट्रकूट वंश के प्रथम सम्राट् थे। वह अमोघवर्ष और अतिशयधवल के नाम से भी विख्यात थे। श्री जिनसेनाचार्य और वीरसेनाचार्य उनके आध्यात्मिक गुरु थे। जिनसेनाचार्य ने **'महापुराण'** की रचना की है, जो संस्कृत का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभनाथ) की जीवन-गाथा सुन्दर और सरल शैली में लिखी गई है। **धवल, जयधवल और महाधवल** नामक ग्रन्थ वीरसेनाचार्य द्वारा लिखे गए हैं। वे **षट्खण्डागम** की टीकाएं हैं। इन ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद अब प्रकाशित हो चुका है। ये ग्रन्थ जैन दर्शन के सिद्धान्तों के विशाल संकलन हैं।

कन्नड़ भाषा के पद्य-ग्रन्थ **'कविराजमार्ग'** के रचयिता नृपतुंग ने अपने ग्रन्थ में कन्नड़ प्रदेश के विस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है कि कावेरी नदी उसकी दक्षिण सीमा और गोदावरी नदी उसकी उत्तरी सीमा बनाती है। उन्होंने कन्नड़वासियों की बौद्धिक प्रतिभा और अन्य विशिष्टताओं की सराहना की है। इस ग्रन्थ में ईसा की ९वीं शताब्दी के

पूर्ववर्ती कन्नड कवियो का परिचय दिया गया है। उनमे से कुछ ने पद्य और कुछ ने गद्य मे रचना की है। उनके ग्रन्थो का अभी तक पता नही लग पाया है।

आदि पम्पा (ई० ९०१-९४१)

आदि पम्पा कन्नड-साहित्य का पिता माना जाता है। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाए **'आदिपुराण'** और **'पम्पा भारत'** है। प्रथम रचना मे आदिनाथ (ऋषभ स्वामी) और उनके महान् पुत्र भरत और बाहुबली (गोम्मटेश्वर) की जीवन-गाथा प्रस्तुत की गई है और दूसरी रचना मे व्यास भारत का वर्णन है। व्यास महर्षि ने पाण्डवो की जो कथा लिखी है, उसी को आधार माना गया है। पम्पा ने दुर्योधन और कर्ण का पात्रालेखन महाभारत के सर्वोत्तम वीरो के रूप मे किया है। पम्पा राष्ट्रकूटो के सामन्त अरिकेसरी के प्रधान मन्त्री, प्रधान सेनापति और राजकवि थे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व मे राजनीतिज्ञता, साहस, विद्वत्ता और काव्य-प्रतिभा के अभूतपूर्व गुणो का सुन्दर समन्वय हुआ था। पम्पा के पूर्वज ब्राह्मण थे और उनके महाप्रपिता माधव सोमयाजी ने अनेक यज्ञ किये थे। पम्पा के पिता अभिराम देवराया ने वैदिक धर्म छोडकर जैन धर्म अगीकार किया। पम्पा ने अपने ग्रन्थ 'भारत' मे यह अर्थसूचक बात लिखी है कि मेरे पिता ने अपना धर्म-परिवर्तन करके बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, कारण, भारत की जातियो मे अग्रणी ब्राह्मण जाति के व्यक्ति के लिए जैन धर्म ही सबसे अधिक मान्य और अनुकरणीय हो सकता है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि उस समय लोगो को धर्म की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ई० ९४१ मे जब उनकी अवस्था ३९ वर्ष थी, उन्होने अपनी सर्वश्रेष्ट रचनाए लिखी। आज भी कन्नड-साहित्य मे उनकी इन रचनाओ का अभूतपूर्व स्थान है। उनके बाद के प्रत्येक कवि ने चाहे वह जैन हो या अजैन, इस महाकवि के प्रति भव्य श्रद्धाजलियाँ भेट की है और उनको अपना गुरु स्वीकार किया है। कन्नड-साहित्य के अनेक समालोचको ने उनको कन्नड-साहित्य का पिता घोषित किया है।

१०वीं से १६वीं शताब्दी के कवि

कर्णाटक के जैन और अजैन सम्राटो की सरक्षकता मे ईसा की १०वी से १६वी शताब्दी के मध्य जैन कवि फले-फले। राष्ट्रकूटो, चालुक्यो, होयशालो, गगो आदि के राजदरबारो मे वे सम्मानित हुए। इन जैन कवियो ने कन्नड भाषा मे अनेकानेक महान् ग्रन्थो की रचना कर कन्नड-साहित्य को समृद्ध किया है। उनमे पून्ना (ई० ९५०), रण्णा, जन्ना, केशीराज, नेमिचन्द्र, अगाल, मधुर, न्यायसेन, गुणवर्मा, मल्लिकार्जुन, नगराज, रत्नाकर आदि के नाम लिये जा सकते है। पून्ना (९५० ई०) ने राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण (कान्नडा) के राजदरबार को सुशोभित किया और **'शान्तिपुराण'** की रचना की, जिसमे १६वे तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन है। उन्होने एक ग्रन्थ **भुवनैकरामाभ्युदय** की रचना भी की, जिसका अभी पता नही चला है।

रण्णा (ई० ९९९) को चालुक्य सम्राट् तैलप ने 'कवि-चक्रवर्ती' की उपाधि प्रदान की थी। रण्णा बीजापुर जिले के मुधोल नामक स्थान से दक्षिण मे आये और चामुण्डराय का सरक्षण प्राप्त किया, जो गग राजाओं के प्रधान मन्त्री और प्रधान सेनापति थे। चामुण्डराय ने ही ई० ९८३ मे श्रवण बेलगोला मे गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति की स्थापना की थी। रण्णा चामुण्डराय के मित्र थे। वह श्रवण बेलगोला मे गोम्मटेश्वर की मूर्ति की स्थापना के समय उनके साथ थे। श्रवण बेलगोला की छोटी पहाडी चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय और रण्णा दोनो ने अपने नाम खुदवाये हैं। रण्णा ने **'परशुरामचरित्र'** नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। इसे चामुण्डराय का जीवन-चरित्र माना जाता है, जिनको 'समर-परशुराम' की उपाधि मिली थी। इस ग्रन्थ का अभी पता नही चला है। चामुण्डराय स्वय एक विद्वान् और विद्वानों के सरक्षक थे। उन्होने कन्नड गद्य मे एक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की है, जिसमे तिरसठ महापुरुषो के जीवन-चरित्र हैं। उसका नाम है **'त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण'**। **'वड्डाराधने'** नामक गद्य-रचना के बाद कन्नड गद्य-साहित्य के इतिहास मे इस पुराण का विशिष्ट स्थान है। रण्णा ने कन्नड मे दो महान् ग्रन्थ लिखे हैं—**'अजितनाथ पुराण'** और **'गदायुद्ध'**। प्रथम मे द्वितीय तीर्थंकर का जीवन-चरित्र है और दूसरे मे महाभारत की महत्त्वपूर्ण घटनाओ का संक्षिप्त वर्णन है। इस

रचना की विशिष्टता यह है कि रण्णा ने दुर्योधन को अभागा नायक चित्रित किया है, जिसमें अनेक गुण थे, किन्तु आत्म-प्रशंसा और स्वाग्रह की एक दुर्बलता भी थी। रण्णा महाकवि की एक और संरक्षिका थी। इस राजमहिला का नाम अत्तिम्बे था, जिसके निर्देश पर कवि ने **'अजितनाथ पुराण'** लिखा। अत्तिम्बे अपने लोकोपकारी कार्यों के कारण **'दान चिन्तामणि'** कहलाती थी। व्याकरणाचार्य नागवर्मा, केसिराज और भट्टाकलंक किसी भी भाषा के व्याकरणाचार्यों से कम नहीं हैं। जन्ना कन्नड के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए हैं। वह होयशाला सम्राट् नृसिंहवल्लभ के प्रधान मन्त्री, प्रधान सेनापति और राजकवि थे। उन्होंने दो श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की है **अनन्तनाथ पुराण** (चौदहवें तीर्थंकर का जीवन-चरित्र) और **यशोधरा-चरित्र**। दूसरा ग्रन्थ वास्तव में जैन धर्म का दर्पण है। उसमें अहिंसा के सिद्धान्त को अन्य किसी भी धर्म के सिद्धान्तों से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।

अभिनवपम्पा और पम्पा रामायण

ई० १११५ में नागचन्द्र हुए। वह बीजापुर में रहते थे, जिसे उस समय विजयपुर कहा जाता था। उन्होंने इस नगर के नाम का अपने ग्रन्थ **'मल्लिनाथपुराण'** में उल्लेख किया है। उनकी महानता उनकी श्रेष्ठ रचना **पम्पा रामायण** में निहित है। नागचन्द्र अपने को **अभिनवपम्पा** कहते थे, अर्थात् वे अपने को आदिपम्पा के समान ही महान मानते थे। उनकी विशिष्टता इसमें है कि उन्होंने रावण का महान् वीर और करुणापात्र नायक के रूप में चित्रण किया है। उनके कथनानुसार रावण अहिंसा के सिद्धान्त का कट्टर अनुयायी था। उसके 'अनन्तकेवली' नामक एक जैन गुरु थे, जिनके चरणों में उसने 'परदारा-विरत' रहने की प्रतिज्ञा ली थी। दक्षिण से उत्तर भारत के अपने विस्तृत अभियानों में वह अनेक अति सुन्दर स्त्रियों के समागम में आया था, किन्तु अपने व्रत में दृढ़ रहा। उसके आत्म-संयम का एक उल्लेखनीय उदाहरण है कि जब वह दुर्लंघ्यपुर के राजा नलकुबेर की अति सुन्दर पत्नी उपरम्भा के सम्पर्क में आया और नलकुबेर को पराजित करके उसके अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ तो रानी उपरम्भा उस पर प्रेमासक्त हो गई। उस समय रावण ने उसे पावन चरित्र की महानता बताते हुए अपने पति के पास जाने और निष्कलंक जीवन बिताने का परामर्श दिया था। रावण की एकमात्र दुर्बलता यही थी कि वह सीता के प्रति प्रेमासक्त हो गया था और लेखक के अनुसार यह घटना ऐसी परिस्थितियों में हुई, जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं था। वह कर्म का भोग बन गया। कोई भी मानवीय शक्ति विधाता के लिखे को नहीं मिटा सकती। लेखक रावण के प्रति सदय होकर उसकी अवस्था पर सहानुभूति प्रकट करता है। निस्सन्देह रावण सीता को अपनी राजधानी में ले आता है और उसके हृदय को प्रेम से जीतने की चेष्टा करता है, किन्तु उसे सफलता नहीं मिलती। सीता अपने पतिव्रत धर्म पर दृढ़ रहती है। वह राम के अतिरिक्त अन्य पुरुष का विचार ही नहीं कर सकती थी। जब रावण सीता को कहता है कि मैं राम को मार डालूँगा, तो सीता मूर्छित हो जाती है और दीर्घ-काल तक उसे चेतना नहीं आती। परिचारिकाएं, जो रावण ने सीता की देख-भाल करने के लिए छोड़ी थी, थक कर हार जाती है। यह दुःखद दृश्य देख कर रावण का हृदय द्रवित हो जाता है। वह सीता के गुणों की सराहना करता है। जिस पर अपनी धमकियों और प्रलोभनों का कोई प्रभाव नहीं होता, ऐसी सीता को पवित्र और शीलवती सती नारी के रूप में वह देखता है और अपने चरित्र की रक्षा करने के उसके प्रयत्नों की सराहना करता है। अपने पति राम के प्रति सीता के अगाध प्रेम और भक्ति की वह सराहना करता है, अपने को सबसे बड़ा पापी कहकर आत्म-निन्दा करता है और अपने आस-पास के लोगों से कहता है—'मैंने एक पतिव्रता और शीलवती नारी सीता के प्रति जो बुरा व्यवहार किया है, उसके लिए मुझे हार्दिक पश्चात्ताप है।' वह घोषणा करता है—'मेरा विचार बदल गया है और मैं सीता को अपनी बहिन अथवा पुत्री समझूंगा और उसकी ओर कुदृष्टि नहीं डालूंगा।' इस प्रसंग में रावण की पत्नी मन्दोदरी हस्तक्षेप करती है और अपने पति से कहती है कि मुझे सीता को राम के पास पहुँचा आने दीजिये, जो सीता को प्राप्त करने के लिए युद्ध कर रहे है। किन्तु रावण ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। कारण—वह इस पृथ्वी पर किसी व्यक्ति के सामने कदापि झुक नहीं सकता था। वह राम से युद्ध करने का निश्चय करता है और घोषणा करता है कि राम और लक्ष्मण को युद्ध-भूमि में परास्त करने के बाद मैं सीता को उन्हें लौटा दूंगा। पम्पा रामायण में हमें रावण का यह अद्भुत चित्र देखने को मिलता है।

महाकवि रत्नाकर

रत्नाकर महाकवि जैन कन्नड-साहित्य-क्षितिज के अन्तिम जाज्वल्यमान नक्षत्र है। वह दक्षिण कनाडा जिले के मुडबिद्री नामक तीर्थस्थान में ईसा की १६वी शताब्दी में हुए है। उन्होंने दो ग्रन्थ लिखे हैं—**भरतेशवैभव और शतकत्रयी।** प्रथम ग्रन्थ कन्नड-साहित्य का महान् ग्रन्थ है। यद्यपि वह आधुनिक कन्नड छन्द 'सगत्या' में लिखा गया है, फिर भी शैली और विषय की दृष्टि से अद्वितीय है। कन्नड प्रदेश के घर-घर में उसका नाम पहुँचा हुआ है। **भरतेशवैभव में** प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत का एक आदर्श राजा के रूप में जीवन-चित्रण किया गया है। भरत में सम्राटों के ऐश्वर्य और सन्त के विनय एवं त्याग का संगम हुआ था। उनके व्यक्तित्व में भोग और योग का, राजसी वैभव और आध्यात्मिक तेज का समन्वय दिखायी देता है।

शतकत्रयी में लेखक ने कर्म और आत्मा के सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने नैतिकता-सम्बन्धी सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन किया है।

उपसंहार

दक्षिण में जैन धर्म ने भारत की सांस्कृतिक सम्पदा, कला, साहित्य और दर्शन के विकास में भारी योग दिया है। गोम्मटेश्वर की मूर्ति भारतीय कला की श्रेष्ठता संसार के सामने प्रकट करती है और अहिंसा का आदर्श भी प्रस्तुत करती है, जो कि संसार के समस्त रोगों की रामबाण औषधि है।

ऐसे अनेक उत्साही विद्वानों की आवश्यकता है, जो जैन स्थापत्य कला (एल्लोरा और बदामी आदि) की और प्राकृत, संस्कृत, कन्नड और तमिल भाषाओं में जैन साहित्य की गहरी शोध करें तथा वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के लाभ के लिए उनमें छिपी गुप्त सम्पदा को प्रकाश में लायें। तेलगु भाषा में ऐसा जैन साहित्य अधिक नहीं है, जो प्रकाश में आया हो।

इस निबन्ध के अन्त में, मैं भारत के एक महानतम इतिहासकार श्री विसेण्ट स्मिथ का यह कथन उद्धृत करूँगा—'जैन इतिहास में हमें धार्मिक उत्पीड़न का एक भी उदाहरण नहीं मिलता।'[1] जैन संस्कृति की यह प्रशंसनीय उपलब्धि है।
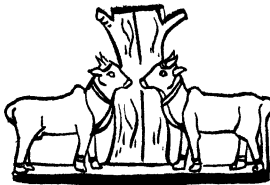
१ There is not a single instance of religious persecution in the annals of Jaina history.

निशीथ और विनयपिटक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

मुनिश्री नगराजजी

भारतीय इतिहास का व्यवस्थित रूप भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल से बनता है। दोनो ही युग-पुरुषो की वाणी के सकलन गणिपिटक (जैनागम) और त्रिपिटक (बौद्धागम) जहाँ धर्म-साधना के प्रेरक ग्रन्थ है, वहाँ वे पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्थितियो का ब्यौरा देने वाले इतिहास-ग्रन्थ भी है। जैनागमो और बौद्धागमो का सयुक्त-अध्ययन तो दोनो परम्पराओ के ऐतिहासिक सम्बन्धो पर व उनके सम और विषम स्वरूपो पर अनोखा प्रकाश डालता है। गवेषक उससे बहुत सारे नये तथ्य आसानी से पा सकते है। निशीथ और विनयपिटक जैन और बौद्ध परम्पराओ के समकक्ष ग्रन्थ है। दोनो का ही विषय प्रायश्चित्त-विधान है। उनका तुलनात्मक अध्ययन रोचक ही नही, अपितु ज्ञानवर्धक भी होगा, ऐसी आशा है।

निशीथ

जैन आगम प्रचलित विभाग-क्रम के अनुसार चार प्रकार के है—अंग, उपाग, मूल और छेद। छेद-विभाग मे निशीथ एक प्रमुख आगम है। इसकी अपनी कुछ स्वतन्त्र विशेषताए है। इसका अध्ययन वही साधु कर सकता है, जो तीन वर्ष से दीक्षित हो और गाम्भीर्य गुणोपेत हो। प्रोढता की दृष्टि से कक्षा मे बाल वाला १६ वर्ष का साधु ही निशीथ का वाचक हो सकता है।[1] निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई साधु अपने सम्बन्धियो के घर भिक्षार्थ नही जा सकता[2] और न वह उपाध्यायादि पद के उपयुक्त भी माना जा सकता है।[3] साधु-मण्डली का अगुआ होने मे और स्वतन्त्र विहार करने मे भी निशीथ का ज्ञान आवश्यक माना गया है।[4] क्योकि निशीथज्ञ हुए बिना कोई साधु प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नही हो सकता। इन सारे विधि-विधानो से निशीथ की महत्ता भली-भाँति व्यक्त हो जाती है।

रचनाकाल और रचयिता

परम्परागत धारणाओ के अनुसार सभी आगम भगवान् श्री महावीर की वाणीरूप है। अग आगमो का सकलन पंचम गणधर व भगवान् श्री महावीर के उत्तराधिकारी श्री सुधर्मास्वामी के द्वारा हुआ। अगेतर आगमो का सकलन बहुश्रुत व ज्ञान-स्थविर मुनियो द्वारा हुआ। निशीथ भी अगेतर आगम है, अत. वह स्थविरकृत है, ऐसा कहा जा सकता है। पर इसका तात्पर्य यह नही कि वह भगवान महावीर की वाणी से कही दूर चला गया है। अर्थागम रूप से सभी आगम भगवत्प्रणीत है। सूत्रागम रूप मे वे गणधरकृत या स्थविरकृत है। आगम-प्रणेता स्थविर भी पूर्वधर होते हैं। उनका प्रणयन उतना ही मान्य है, जितना गणधरो का। अब प्रश्न रहता है, रचयिता के नाम और रचनाकाल का। भाष्य, चूर्णि व निर्युक्ति से रचयिता के सम्बन्ध मे अनेक अभिमत निकलते है। निशीथ का अन्य नाम **'आचार प्रकल्प'** व **'आचा-**

---

१ निशीथ चूर्णि गा० ६२६५; व्यवहार भाष्य, उद्देशक ७, गा० २०२-३; व्यवहार सूत्र, उद्देशक १०, गा० २०-२१
२ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ६, सू० २, ३
३ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सू० ३
४ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सू० १

राग' है। आचाराग चूर्णि के रचयिता ने इस सम्बन्ध से चर्चा करते हुए 'स्थविर' शब्द का अर्थ गणधर किया है।[1] आचाराग निर्युक्ति की थेरेहिं (गा० २८७) के 'स्थविर' शब्द की व्याख्या शिलाक ने इस प्रकार की है—'**स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः**। यहाँ श्रुतवृद्ध, चतुर्दशपूर्वधर मुनि को स्थविर कहा है। पचकल्प भाष्य की चूर्णि मे बताया गया है—इस 'आचार-प्रकल्प' का प्रणयन भद्रबाहु स्वामि ने किया है। निशीथसूत्र की कतिपय प्रशस्ति-गाथाओ के अनुसार इसके रचयिता विशाखाचार्य प्रमाणित होते है।[2] इस प्रकार निशीथ के सम्बन्ध मे किसी एक ही कर्ता-विशेष को पकड पाना कठिन है। तत्सम्बन्धी मतभेदो का कारण निशीथ की अपनी अर्वास्थिति भी हो सकती है। ऐतिहासिक गवेषणाओ मे यह स्पष्ट होता है कि निशीथसूत्र प्रारम्भ मे आचाराग सूत्र की चूला-रूप था। ऐतिहासिक आधारो से यह भी स्पष्ट होता है कि आचाराग स्वय प्रथम नव अध्ययनो तक ही गणधर-रचित द्वादशागी का प्रथम अग था, क्रमश. स्थविरो ने इसके आचार-सम्बन्धी विधि-विधानो का पल्लवन किया और प्रथम, द्वितीय, तृतीय चूलिकाओ के रूप मे उन्हे इस अग के साथ सलग्न किया। साधुजन आचार-सम्बन्धी नियमो का उल्लघन करे तो उनके लिए प्रायश्चित्त-विधान का एक स्वतन्त्र प्रकरण स्थविरो ने बनाया और चूला के रूप में आचाराग के साथ जोड दिया। यह प्रकरण नवे पूर्व के 'आचारवस्तु' नाम के विभाग मे निकाला गया था। इसका विषय आचाराग से सम्बन्धित था, अत वही वह एक चूला के रूप मे सयुक्त किया गया। निशीथ का एक नाम 'आचार' भी है, हो सकता है, वह इसी बात का प्रतीक हो। आगे चल कर स्थविरों द्वारा गोप्यता आदि कारणो से वह चूला आचाराग से पुन पृथक हो गई। उसका नाम निशीथ रखा गया और वह निशीथ एक स्वतन्त्र आगम के रूप मे छेद-सूत्र का एक प्रमुख अग बन गया। कर्ता के सम्बन्ध मे नाना धारणाए चूर्णि और भाष्य मे मिल रही हैं। विभिन्न अपेक्षाओ से हो सकता है, वे सभी सही हो। इस घटनात्मक इतिहास मे किसी अपेक्षा से उसके कर्ता भद्रबाहु मान लिये गए हो और किसी अपेक्षा से विशाखाचार्य मान लिये गए हो।

ऐतिहासिक दृष्टिपात से निशीथसूत्र का रचनाकाल बहुत प्राक्तन प्रमाणित होता है। विद्वद्वर श्री दलसुख मालवणिया के मतानुसार[3]—यह भद्रबाहुकृत हो या विशाखाचार्य-कृत, वीर-निर्वाण से १५० व १७५ वर्षों के अन्तर्गत ही रचा जा चुका था। अस्तु, यह माना जा सकता है, यह ग्रन्थ अर्थागम रूप से २५०० वर्ष तथा सूत्रागम रूप से २३०० वर्ष प्राचीन है।

'निशीथ' शब्द का अभिप्राय

निशीथ शब्द का मूल आधार '**निसीह**' शब्द है। कुछेक ग्रन्थकारो ने '**णिसिहिय**,' '**णिसीहिय**' और '**णिसेहिय**' नाम से इस आगम को अभिव्यक्त किया है तथा इसका सम्बन्ध सस्कृत के 'निषीधिका' शब्द से जोड़ा है। इसका अभिप्राय होता है, निषेधक शास्त्र। यह व्याख्या मुख्यत दिगम्बरीय धवला, जय धवला, गोम्मटसारटीका आदि ग्रन्थो की है।

१ एयाणि पुण आयारग्गाणि आयारा चेव निज्जूढाणि।
केण निज्जूढाणि ? थेरेहिं (२८७) थेरा—गणधरा:।
—आचारांग चूर्णि, पृ० ३३६

२ दंसणचरित्तजुत्तो, जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसु।
नामेण विसाहगणी, महत्तरओ गुणाण मंजूसा ॥१॥
कित्तीकंतिपिणद्धो, जसपत्तो (थो) पडहो तिसागरनिरुद्धो।
पुणरुत्तं भमई महिं, ससिव्व गगणं गुणं तस्स ॥२॥
तस्स लिहियं निसीहं, धम्मधुराधरणपवरपुज्जस्स।
आरोग्ग धारणिज्जं, सिस्सपसिस्सोवभोज्जं च ॥३॥
—निशीथसूत्रम्, चतुर्थ विभाग, पृ० ३९५

३ निशीथ सूत्रम्, चतुर्थ भाग में, 'निशीथ: एक अध्ययन', पृ० २५

पश्चिमी विद्वान् वेबर ने भी इसी अर्थ को मान्यता दी है।[1]

तत्त्वार्थ भाष्य मे 'निसीह' शब्द का सस्कृत-रूप 'निशीथ' माना है। निर्युक्तिकार ने भी यही अर्थ अभिप्रेत माना है। चूर्णिकार के मतानुसार निशीथ शब्द का अर्थ है—अप्रकाश।[2] आचार्य हेमचन्द्र कहते है, 'निशीथस्तवर्धरात्रो'[3] अर्थात् निशीथ शब्द का अर्थ है—अर्ध रात्रि। सारांश यह हुआ, एक परम्परा के अनुसार इस आगम का नाम है 'निषेधक,' तो एक मान्यता के अनुसार इसका नाम है, 'अप्रकाश्य'। निशीथसूत्र के अन्तर्गत जो विषय है उसके साथ दोनो ही नामो की सगति बैठ सकती है। सभा मे इसका वाचन न किया जाये, इस चिरमान्यता के अनुसार वह अप्रकाश्य ही है। और इसमे अकरणीय कार्यों की तालिका है, अतः यह निषेधक भी है। फिर भी यथार्थ रूप मे निषेधक आगम आचारांग को ही मानना चाहिए, जिसकी भाषा है—साधु ऐसा न करे।

निशीथसूत्र की भाषा आदि से अन्त तक एकरूप है और वह यह कि साधु अमुक कार्य करे तो अमुक प्रकार का प्रायश्चित्त। इस दृष्टि से 'निषेधक' की अपेक्षा 'अप्रकाश्य' अर्थ यथार्थता के कुछ अधिक निकट हो जाता है। निशीथ मे कामभावना-सम्बन्धी कुछेक प्रकरण ऐसे हैं जो सचमुच ही गोप्य हैं। इस दृष्टि से भी उसका 'अप्रकाश्य' अर्थ सगत ही है।

मूल और विस्तार

निशीथसूत्र मूलत: न अतिविस्तृत है, न अति सक्षिप्त। इसमे बीस उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक का विषय कुछ सम्बद्ध है, कुछ प्रकीर्णक है। अन्तिम उद्देशक मे प्रायश्चित्त करने के प्रकारो पर प्रकाश डाला गया है। भाषा अन्य जैन आगमो की तरह अर्धमागधी है। बहुत स्थलो पर भाव अति सक्षिप्त है। उनकी यथार्थता को समझने के लिए अपेक्षाए खोजनी पड़ती है। उदाहरणार्थ—'जो साधु अपने आँखो के मैल को, कानो के मैल को, दाँतो के मैल को व नाखूनो के मैल को निकालता है, विशुद्ध करता है, निकालते व विशुद्ध करते किसी अन्य को अच्छा समझता है, तो उसे लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है। जो साधु अपने शरीर का स्वेद, विशेष स्वेद, मैल, जमा हुआ मैल निकाले, शुद्ध करे, निकालते हुए को, विशुद्ध करते हुए को अच्छा जाने, तो वह मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।[4] जो साधु दिन का लाया हुआ आहार दिन को भोगवे, तो वह गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।'[5] यहाँ शोभा, आसक्ति, 'प्रथम प्रहर का चतुर्थ प्रहर मे' आदि निमित्त ऊपर से न जोडे जायें तो भाव बुद्धि-गम्य नही बनते। बीस उद्देशको मे कुछ मिलाकर १६५२ बोल हैं, अर्थात् इतने कार्यों पर प्रायश्चित्त-विधान है।

भाव-भाषा सक्षिप्त है, इसलिए आगे चलकर आचार्यों द्वारा इस पर चूर्णि, निर्युक्ति, भाष्य आदि लिखे गए। इस प्रकार कुछ मिलाकर यह एक महाग्रन्थ बन जाता है। तथापि आगम रूप से मूल निशीथ ही माना जाता है। व्याख्याए कहीं-कहीं तो मूल आगम की भावना से बहुत ही दूर चली गई हैं। अत वे जैन परम्परा मे सर्वमान्य नही हैं। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध मे मूल आगम ही विवेचन और समीक्षा का विषय है।

१ This name (निसीह) is explained strangely enough by Nishitha though the character of the contents would lead us to expect Nisheda (निषेध)

—इण्डियन एण्टीक्वेरी, भा० २१, पृ० ९७

२ निसीहमप्रकाशम्।

—निशीथ चूर्णि, गाथा ६८, १४८३

३ अभिधानचिन्तामणिनाममाला, द्वितीय काण्ड, श्लोक ५९

४ निशीथसूत्र, उद्देशक ३, बोल ६९-७०

५ वही, उद्देशक ११, बोल १७९

विनयपिटक

बौद्ध धर्म के आधारभूत तीन पिटकों में एक विनयपिटक है। पारम्परिक धारणाओं के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के अनन्तर ही महाकाश्यप के तत्त्वावधान में प्रथम बौद्ध संगीति हुई और वहीं त्रिपिटक साहित्य का प्रथम प्रणयन हुआ। विनयपिटक के अन्तिम प्रकरण 'चुल्लवग्ग' में विनयपिटक की रचना का ब्यौरा निम्न प्रकार से दिया है[1]

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'आवुसो ! एक समय मैं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ पावा और कुसीनारा के बीच रास्ते में था। तब आवुसो ! मार्ग से हटकर मैं एक वृक्ष के नीचे बैठा। उस समय एक आजीवक कुसीनारा से मन्दार का पुष्प लेकर पावा के रास्ते में जा रहा था। आवुसो ! मैंने दूर से ही आजीवक को आते देखा। देखकर उस आजीवक से यह कहा—"आवुस ! हमारे शास्ता को जानते हो ?"

"हाँ आवुसो ! जानता हूँ, आज सप्ताह हुआ, श्रमण गौतम परिनिर्वाण को प्राप्त हुआ। मैंने यह मन्दारपुष्प वहीं से लिया है।" आवुसो ! वहाँ जो भिक्षु अवीतराग (=वैराग्य वाले नहीं) थे, (उनमें) कोई-कोई बाँह पकड कर रोते थे। कटे पेड के सदृश गिरते थे, लोटते थे—भगवान् बहुत जल्दी परिनिर्वाण को प्राप्त हो गए। किन्तु जो वीतराग भिक्षु थे, वे स्मृति सम्प्रजन्य के साथ स्वीकार (=सहन) करते थे—संस्कार (=कृत वस्तुएं) अनित्य है, वह कहाँ मिलेगा !"

"उस समय आवुसो ! सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित उस परिषद् में बैठा था। तब वृद्ध प्रव्रजित सुभद्र ने उन भिक्षुओं को यह कहा—'आवुसो ! मत शोक करो, मत रोओ। हम सुयुक्त हो गए। उस महाश्रमण से पीडित रहा करते थे। यह तुम्हें विहित नहीं है। अब हम जो चाहेंगे सो करेंगे, जो नहीं चाहेंगे उसे न करेंगे।" अच्छा हो आवुसो ! हम धर्म और विनय का संगान (=साथ पाठ) करें, सामने अधर्म प्रकट हो रहा है, धर्म हटाया जा रहा है, अविनय प्रकट हो रहा है, विनय हटाया जा रहा है। अधर्मवादी बलवान् हो रहे है, धर्मवादी दुर्बल हो रहे है, विनयवादी हीन हो रहे है।"

"तो भन्ते ! (आप) स्थविर भिक्षुओं को चुनें।" तब आयुष्यमान महाकाश्यप ने एक कम पाँच सौ अर्हत् चुने। भिक्षुओं ने आयुष्यमान् महाकाश्यप से कहा :

"भन्ते ! यह आनन्द यद्यपि शैक्ष्य (अन्-अर्हत्) है, (तो भी) छन्द (=राग) द्वेष, मोह, भय, अगति (=बुरे मार्ग) पर जाने के अयोग्य है। इन्होंने भगवान् के पास बहुत धर्म (=सूत्र) और विनय प्राप्त किया है, इसलिए भन्ते ! स्थविर आयुष्मान् को भी चुन लें।"

तब आयुष्मान महाकाश्यप ने आयुष्यमान् आनन्द को भी चुन लिया। तब स्थविर भिक्षुओं को यह हुआ—'कहाँ हम धर्म और विनय का संगायन करें ?' तब स्थविर भिक्षुओं को यह हुआ—

"राजगृह महागोचर (=समीप में बहुत बस्ती वाला) बहुत शयनासन (वास-स्थान) वाला है, क्यों न राजगृह में वर्षावास करते हम धर्म और विनय का संगायन करें। (किन्तु) दूसरे भिक्षु राजगृह मत जावें। तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया

ज्ञप्ति—"आवुसो ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है, तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास करते धर्म और विनय का संगायन करने की सम्मति दे। और दूसरे भिक्षुओं को राजगृह में नहीं बसने की।" यह ज्ञप्ति (=सूचना) है।

अनुश्रावण—"भन्ते ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है। जिस आयुष्मान् को इन पाँच सौ भिक्षुओं का संगायन करना, और दूसरे भिक्षुओं का राजगृह में वर्षावास न करना पसन्द हो, वह चुप रहे, जिसको नहीं पसन्द हो, वह बोले।

"दूसरी बार भी०।

"तीसरी बार भी०।

---

१ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पञ्चशतिका-स्कन्धक

धारणा—'संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं के तथा दूसरे भिक्षुओं के राजगृह में वास न करने मे सहमत है, संघ को पसन्द है, इसलिए चुप है—यह धारणा करता हूँ।"

तब स्थविर भिक्षु धर्म और विनय के संगायन करने के लिये राजगृह गए। तब स्थविर भिक्षुओं को हुआ—

"आवुसो ! भगवान् ने टूटे-फूटे की मरम्मत करने को कहा है। अच्छा आवुसो ! हम प्रथम मास मे टूटे-फूटे की मरम्मत करें, दूसरे मास मे एकत्रित हो धर्म और विनय का संगायन करें।"

तब स्थविर भिक्षुओं ने प्रथम मास में टूटे-फूटे की मरम्मत की।

आयुष्मान् आनन्द ने—बैठक (=सन्निपात) होगी, यह मेरे लिए उचित नहीं कि मैं शैक्ष्य रहते ही बैठक मे जाऊँ। (सोच) बहुत रात तक काय-स्मृति मे बिताकर, रात के भिनसार को लेटने की इच्छा से शरीर को फैलाया, भूमि से पैर उठ गए, और सिर तकिया पर न पहुँच सका। इसी बीच मे चित्त आस्रवों (=चित्तमलो) मे अलग हो, मुक्त हो गया। तब आयुष्मान् आनन्द अर्हत् होकर ही बैठक मे गये।

आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया—

"आवुसो ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है तो मैं उपालि से विनय पूछूं ?"

आयुष्मान् उपालि ने भी संघ को ज्ञापित किया—

"भन्ते ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है, तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप से पूछे गए विनय का उत्तर दूं ?"

अब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् उपालि को कहा—

"आवुस उपालि ! प्रथम-पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गई ?"—"राजगृह मे भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"सुदिन्न कलन्द-पुत्त को लेकर।"

"किस बात मे ?"—"मैथुन-धर्म मे।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान उपालि को प्रथम पाराजिका की वस्तु (=कथा) भी पूछी, निदान (=कारण) भी पूछा, पुद्गल (=व्यक्ति) भी पूछा, प्रज्ञप्ति (=विधान) भी पूछी, अनुप्रज्ञप्ति (=संशोधन) भी पूछी, आपत्ति (=दोष-दण्ड) भी पूछी, अन्-आपत्ति भी पूछी।

"आवुस उपालि ! द्वितीय पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?"—"राजगृह मे, भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"धनिय कुम्भकार-पुत्र को।"

"किस वस्तु मे ?" "अदत्तादान (=चोरी) मे।"

तब आयुष्मान् महाकश्यप ने आयुष्मान उपालि को द्वितीय पाराजिका की वस्तु (=कथा) भी पूछी, निदान भी० अनापत्ति भी पूछी।"आवुस उपाली ! तृतीय पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?"—"वैशालि मे, भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"बहुत से भिक्षुओं को लेकर।"

"किस वस्तु मे ?"—"मनुष्य-विग्रह (=नर-हत्या) के विषय मे।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने०।—

"आवुस उपालि ! चतुर्थ पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?" | "वैशाली मे, भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"वग्गु-मुदा-तीरवासी भिक्षुओं को लेकर।"

"किस वस्तु मे ?"—"उत्तर-मनुष्य-धर्म (=दिव्य-शक्ति) मे।"

तब आयुष्मान् काश्यप ने०। इसी प्रकार मे दोनों। भिक्षु, भिक्षुणी के विनय को पूछा। आयुष्मान् उपालि पूछे का उत्तर देते थे।"

ऐतिहासिक दृष्टि से

प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के रचना-सम्बन्ध से पारम्परिक कथन और गवेषणात्मक ऐतिहासिक कथन बहुधा भिन्न-

भिन्न ही तथ्य प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ विनयपिटक की भी, यही स्थिति है। कुछ-एक विद्वानों की राय मे तो प्रथम संगीति की बात ही निर्मूल है। श्रोल्डनबर्ग का कथन है कि 'महापरिनिब्बाणसुत्त' मे उक्त संगीति के विषय में कोई उल्लेख नही है। अतः इसकी बात एक कल्पना-मात्र ही रह जाती है।[१] फ्रेंक भी इसी बात का समर्थन करते हैं—'प्रथम संगीति को मानने का आधार केवल चुल्लवग्ग ग्यारहवाँ, बारहवाँ प्रकरण है। यह आधार नितान्त पारम्परिक है और इसका महत्त्व मनगढन्त कथा से अधिक नही है।'[२] परन्तु डा० हर्मन जेकोबी उक्त कथन मे सहमत नही हैं। उनका कहना है, महापरिनिब्बाणसुत्त मे इस प्रसग का उल्लेख करना कोई आवश्यक ही नही था।[३] कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि चुल्लवग्ग के उक्त दो प्रकरण वस्तुत महापरिनिब्बाणसुत्त के ही अग थे और किसी समय चुल्लवग्ग के प्रकरण बना दिये गए हैं।[४] वस्तुस्थिति यह है कि चुल्लवग्ग के उक्त दो प्रकरण भाव-भाषा की दृष्टि से उसके साथ नितान्त असम्बद्ध से है। महापरिनिब्बाणसुत्त के साथ भाव-भाषा की दृष्टि से उनका मेल अवश्य बैठता है। 'सयुक्तवस्तु' नामक ग्रन्थ मे परिनिर्वाण और सगीति का वर्णन एक साथ मिलता है। इससे यह यथार्थ माना जा सकता है कि उक्त दो प्रकरण 'महापरिनिब्बाणसुत्त' के ही अग रूप थे। इन आधारो से संगीति की वास्तविकता सदिग्ध नही मानी जा सकती, पर उस सगीति के कार्यक्रम के विषय मे अवश्य कुछ चिन्तनीय रह जाता है। उस सगीति मे क्या-क्या सगृहीत हुआ इस सम्बन्ध मे विद्वत्-समाज मे अनेक धारणाए हैं। प्रो० जी० सी० पाण्डे के कथनानुसार विनयपिटक व सुत्तपिटक का समग्र प्रणयन उस सीमित समय मे हो सका, यह असम्भव है।[५] निष्कर्ष-रूप मे यह कहा जा सकता है कि विनयपिटक मे दो सगीतियो का उल्लेख है, पर तीसरी सगीति का नही, जिसका समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी का माना जाता है। सम्राट् अशोक का भी इसमें कोई वर्णन नही है, जो कि ईस्वी-पूर्व २६६ मे राजगद्दी पर बैठे थे।[६] अत इससे पूर्व ही विनयपिटक का निर्माण हो चुका था, यह असदिग्ध-सा रह जाता है। विनयपिटक का वर्तमान विस्तृत स्वरूप प्रो० जी० सी० पाण्डे के मतानुसार कम-से-कम पाँच बार अभिवर्धित होकर ही बना है।[७]

निशीथसूत्र का रचनाकाल भगवान् महावीर के निर्वाण-काल से १५० या १७५ वर्ष के लगभग प्रमाणित होता है, जो कि ईस्वी-पूर्व ३७५ या ३५० का समय था। विनयपिटक का समय ई०-पू० ३०० के लगभग का प्रमाणित होता है। तात्पर्य हुआ, दोनो ही ग्रन्थ ई०-पू० चौथी शताब्दी के है।

भाषा-विचार

जैन आगमो की भाषा अर्धमागधी और बौद्ध त्रिपिटको की भाषा पालि कही जाती है। दोनो ही भाषाओ का मूल मागधी है। किसी युग में यह प्रदेश-विशेष की लोकभाषा थी। आज भी बिहार की बोलियो मे एक का नाम मगही है। भगवान् श्री महावीर का जन्म-स्थान वैशाली (उत्तर-क्षेत्रीय कुण्डपुर) और भगवान् बुद्ध का जन्म-स्थान लुम्बिनी था। दोनो स्थानो मे सीधा अन्तर दो सौ पचास मील का माना जाता है। आज भी दोनो स्थानो की बोली लगभग एक है। वैशाली की बोली पर कुछ मैथिली भाषा का और लुम्बिनी (नेपाल की तराई मे रूम्मिनदेई नाम का गाँव) की बोली पर अवधी भाषा का प्रभाव है। दोनो स्थानो की भाषा मुख्यत. भोजपुरी कही जाती है। आज की मगही और भोजपुरी को विद्वान् प्राचीन मागधी की सन्तान मानते है। हो सकता है भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनो की मातृभाषा

१ Introduction to the Vinya Pitaka XXV—XXIX Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellshaft, 1898, pp 613-94

२ Journal of the Pali Text Society, 1908, pp 1-80.

३ Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, 1880, p. 184ff

४ Finst & Obermiler, Indian Historical Quarterly, 1923, S K. Dutt, Early Buddhist Monachism, p 337

५ Studies in the Origins of Buddhism, p 10

६ History of Buddhist Thought by Edward J. Thomas, p. 10

७ Studies in the Origins of Buddhism by, G. C. Pande, p. 16.

एक मागधी ही रही हो। शास्त्रकारों ने इसे अर्धमागधी कहा है।[1]

अर्धमागधी कहलाने के अनेक कारण माने जाते है, प्रदेश-विशेष मे बोला जाना, अन्य भाषाओं मे मिश्रित होना[2], आगमधरो का विभिन्न भाषा-भाषी होना आदि।

जैन और बौद्ध दोनो ही परम्पराओं के आगम शताब्दियो तक मौखिक परम्परा मे चलते रहे। बौद्धागम २४ और जैनागम २६ पीढियाँ बीत जाने के पश्चात् लिखे गए हैं। तब तक आगमधरो की मातृभाषा का प्रभाव उन पर पडता ही रहा है। आगमो की लेखबद्धता मे भाषाओं के जो निश्चित रूप बने हैं,वे एक-दूसरे मे कुछ भिन्न है। एक रूप का नाम पालि है और दूसरे रूप का नाम अर्धमागधी। दोनो विभिन्न कालो मे लिखे गए, इसलिए भी भाषा-सम्बन्धी अन्तर पड जाना सम्भव था। भगवान् बुद्ध के वचनो को पालि[3] कहा गया है। इसलिए जिस भाषा मे वे लिखे गए, उस भाषा का नाम भी पालि हो गया। समग्र आगम साहित्य के साथ निशीथ और विनयपिटक का भी यही भाषा-विचार है। निम्न दो उदाहरणो से दोनो शास्त्रो की भाषा और शैली और अधिक समझी जा सकती है कि वे परस्पर कितनी निकट है

"जे भिक्खू णवे इमे पडिग्गहं लद्धे त्तिकट्टु, तेलेण वा, घएण वा, णवणीएण वा,
वसाएज्ज वा, मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मक्खंतं वा, भिलिंगंतं वा, साइज्जइ ॥
जे भिक्खू णमे इवे पडिग्गहं लद्धे त्तिकट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा, चुण्णेण वा,
ण्हाणेण वा, जाव साइज्जइ ॥
जे भिक्खू णमे इवे पडिग्गहं लद्धे त्तिकट्टु, सीउदग वियडेण वा, उसिणोदग वियडेण
वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा, पधोवंतं वा, साइज्जइ ॥"[4]

'जो साधु मुझे नया पात्र मिला है,ऐसा विचार कर उस पर तेल, घृत, मक्खन, चरबी एक बार लगावे, बारम्बार लगावे, लगाने को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त। जो साधु नया पात्र मिला है, ऐसा विचार कर उसे लोद्रक, कल्कक एवं-वर्ण, आदि द्रव्यो मे रंगे, रंगने को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त। जो साधु मुझे नया पात्र मिला है ऐसा विचार कर उसे अचित्त (धोवण) ठडे पानी कर, अचित्त गरम पानी कर धोवे, बारम्बार धोवे, धोने को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।'

"यो पन भिक्खु जातरूपरजतं उग्गण्हेय्य वा उग्गण्हापेय्य वा
उपनिक्खित्तं वा सादियेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति।
यो पन भिक्खु नानप्पकारकं रूपियसंवोहारं समापज्जेय्य, निस्सग्गियं पचित्तियं ति।"[5]

'जो कोई भिक्षु सोना या रजत (चाँदी आदि के सिक्के) को ग्रहण करे या ग्रहण करावे या रखे हुए का उपयोग करे, तो उसे 'निस्सग्गिय पाचित्तिय है।

जो कोई भिक्षु नाना प्रकार के रुपयो (=रूपिय=सिक्का) का व्यवहार करे, उसको 'निस्सग्गिय पाचित्तिय है।'

१ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवायांग सूत्र, पृ० ६०

तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स ····अद्धमागहाए भासाए भासइ······सावि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ

—औपपातिक सूत्र

२ मगदद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारसदेसी भासाणिमयं वा अद्धमागहं।

—निशीथ चूर्णि

३ Studies in the Origins of Buddhism by G. C. Pande, p. 573

४ निशीथ सूत्र, उद्देशक १४, बोल १२, १३, १४

५ विनयपिटक, पाराजिक पालि, ४-१८, १२५, १३०

विषय-समीक्षा

'निशीथ' के विषय मे आगमिक विधान है—कम-से-कम तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला भिक्षु उसका अध्ययन कर सकता है। निशीथ व अन्य छेद-सूत्र गोप्य है। अत उनका परिषद् मे वाचन नही होता और न कोई गृहस्थ विशेष सूत्रागम रूप से उसे पढने का अधिकारी होता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार विनयपिटक के विषय मे भी यह मान्यता है कि वह सघ मे दीक्षित भिक्षु को ही पढाया जाना चाहिए।[1]

साधारणतया इस प्रतिबन्ध विधान को अनावश्यक और सकीर्णता का द्योतक माना जा सकता है, किन्तु वास्तव मे इसके पीछे एक अर्थपूर्ण उद्देश्य सन्निहित है। इन ग्रन्थो मे मुख्यतया भिक्षु-भिक्षुणियो के प्रायश्चित्त-विधान की चर्चा है। सघ है, वहाँ नाना व्यक्ति है। नाना व्यक्ति है, वहाँ नाना स्थितियाँ भी होती है। भगवान श्री महावीर ने कहा—आचार-दृष्टि से एक साधु पूर्णिमा का चाँद है तो एक प्रतिपदा का। तात्पर्य हुआ—भिक्षु-सघ का अभियान साधना की उच्चतम मजिल की ओर बढने वाला है। पर उस अभियान के सभी सदस्य अपनी गति मे कुछ भी न्यूनाधिक न हो, यह स्वाभाविक नही है। एक साथ चलने वालो मे कोई पीछे भी रह सकता है, कोई लडखडा भी सकता है और कोई गिर भी सकता है, गिरा हुआ पुन उठ कर चल भी सकता है। इन सारी स्थितियो को ध्यान मे रखते हुए सघ प्रवर्तको और सघ-नायको को अनुभूत और आशकित विधि-विधान सभी घड देने पडते है। अपरिपक्व व्यक्ति के लिए उन सबका अध्ययन नाना विचिकित्साएँ पैदा करने वाला बन सकता है। वह उसे सघ के नैतिक पतन का ऐतिहासिक ब्यौरा मान सकता है। इत्यादि कारणो से शास्त्र-प्रणेताओ ने यदि इस प्रकार के शास्त्रो को पढने की आज्ञा सर्वसाधारण को नही दी, तो वह किसी असगति का प्रभाव नही है। उनका ध्येय पाप को छिपाने का नही, पाप के विस्तार को रोकने का है।

निशीथ और विनयपिटक दोनो ही शास्त्रो मे अब्रह्मचर्य के नियमन पर खुल कर लिखा गया है। साधारण दृष्टि मे वह असामाजिक जैसा भले ही लगता हो, पर शोध के क्षेत्र मे गवेषक विद्वानो के लिए विधि-विधान व चिन्तन के नाना द्वार खोलने वाले है।

निशीथसूत्र के ब्रह्मचर्य सम्बन्धी कुछेक विधान इस प्रकार है

१ जो साधु हस्तकर्म करता है, करने को अच्छा समझता है, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[2]

२ जो साधु अगुलि आदि से शिश्न को सचालित करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[3]

३ जो साधु शिश्न का मर्दन करे, बारम्बार मर्दन करे, मर्दन करने को अच्छा जाने, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[4]

४ जो साधु शिश्न का तेल आदि से मर्दन करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[5]

५ जो साधु शिश्न पर पीठी करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[6]

६ जो साधु शिश्न का शीत या उष्ण पानी से प्रक्षालन करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[7]

७ जो साधु शिश्न के अग्रभाग को उद्घाटित करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[8]

१ विनयपिटक, पाराजिक पालि. आमुख, ले०—भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ६
२ निशीथसूत्र, उद्देशक १, बोल १
३ वही, उद्देशक १, बोल २
४ वही, उद्देशक १, बोल ३
५ वही, उद्देशक १, बोल ४
६ वही, उद्देशक १, बोल ५
७ वही, उद्देशक १, बोल ६
८ वही, उद्देशक १, बोल ७

८ जो साधु शिश्न को सूंघता है, सूंघते को अच्छा समझता है, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[1]

९ जो साधु शिश्न को अचित्त छिद्र-विशेष में प्रक्षिप्त कर शुक्रपात करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[2]

स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ एक विधान इस प्रकार किये गए हैं :

१ जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की प्रार्थना करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[3]

२ जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री के जननेन्द्रिय में अंगुलि आदि डाले, डालने को अच्छा समझे, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[4]

३ जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से शिश्न का मर्दन कराये, कराने को अच्छा समझे, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[5]

४ जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की इच्छा कर लेख लिखे या लिखने को अच्छा जाने, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[6]

५ जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की इच्छा कर अठारहसरा, नौसरा, मुक्तावलि, कनकावलि आदि हार व कुण्डल आदि आभूषण धारण करे करने को अच्छा समझे, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[7]

६ जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री की सम्भोग की इच्छा से शास्त्र पढ़ावे तथा पढ़ाने को अच्छा समझे, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[8]

७ जो साधु अपनी गच्छ की साध्वी तथा अन्य गच्छ की साध्वी के साथ विहार करता हुआ कभी आगे-पीछे रहे, तब साध्वी के वियोग से दुःखित होकर हथेली पर मुंह रखकर आर्त ध्यान करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[9]

इस प्रकार निशीथ उद्देशक छः, सात व आठ में अनेकानेक विधान अब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखे गए हैं ।

विनयपिटक में अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विधान

निशीथसूत्र की शैली के ही विनयपिटक में अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी मुक्त विधान मिलते हैं

१ जो भिक्षु भिक्षु-नियमों से युक्त होते हुए भी अन्ततः पशु से भी मैथुन धर्म का सेवन करे, वह 'पाराजिक' होता है तथा भिक्षुओं के साथ न रहने लायक होता है ।[10]

२ स्वप्न के अतिरिक्त जान-बूझकर शुक्र-(वीर्य) मोचन करना 'संघादिसेस' है ।[11]

---

१ निशीथसूत्र, उद्देशक १, बोल ८
२ वही, उद्देशक १, बोल ९
३ वही, उद्देशक ६, बोल १
४ वही, उद्देशक ६, बोल २
५ वही, उद्देशक ६, बोल ४
६ वही, उद्देशक ६, बोल १३
७ वही, उद्देशक ७, बोल ८-९
८ वही, उद्देशक ७, बोल ८८
९ वही, उद्देशक ८, बोल ११
१० विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाराजिक, १-१-२१
११ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, संघादिसेस, २-१-३

३ किसी भिक्षु का विकारयुक्त चित्त से किसी स्त्री के हाथ या वेणी को पकड़ कर या किसी अंग को छूकर शरीर का स्पर्श करना संघादिसेस है।[1]

४ किसी भिक्षु का विकारयुक्त चित्त से किसी स्त्री से ऐसे अनुचित वाक्यों का कहना, जिनको कि कोई युवती से मैथुन के सम्बन्ध से कहता है, संघादिसेस है।[2]

५ किसी भिक्षु का वैकारिक चित्त से किसी स्त्री को यह कहना कि सभी सेवाओं में सर्वश्रेष्ठ सेवा यह है कि तू मेरे जैसे सदाचारी, ब्रह्मचारी को सम्भोगिक सेवा दे, संघादिसेस है।[3]

संघादिसेस का तात्पर्य है कुछ दिनों के लिए संघ द्वारा संघ से बहिष्कृत कर देना।

६ जो कोई साधु संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणियों को उपदेश दे, उसे 'पाचित्तिय' है।[4]

७ सम्मति होने पर भी जो भिक्षु सूर्यास्त के बाद भिक्षुणियों को उपदेश दे, उसे पाचित्तिय है।[5]

८ जो कोई भिक्षु अतिरिक्त विशेष अवस्था के भिक्षुणी-आश्रम में जाकर भिक्षुणियों को उपदेश करे, तो उसे पाचित्तिय है, विशेष अवस्था से तात्पर्य है—भिक्षुणी का रुग्ण होना।[6]

९ जो कोई भिक्षु भिक्षुणी के साथ अकेले एकान्त में बैठे, उसे पाचित्तिय है।[7]

निशीथसूत्र में भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी पृथक्-पृथक् प्रकरण नहीं है। भिक्षुओं के लिए जो विधान है, वे ही उलटकर भिक्षुणियों के लिए भी समझ लिये जाते है।

विनयपिटक में सभी प्रकार के दोषों के लिए 'भिक्खु पातिमोक्ख' और 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' नाम से दो पृथक्-पृथक् प्रकरण है। 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' के कुछ विधान इस प्रकार है

१ कोई भिक्षुणी कामासक्त हो, अन्तत पशु से भी यौन धर्म का सेवन कर लेती है, वह 'पाराजिका' होती है, अर्थात् संघ से निकाल देने योग्य होती है।[8]

२ जो कोई भिक्षुणी किसी पाराजिक दोष वाली भिक्खुणी को जानती हुई भी संघ को नहीं बताती, वह 'पाराजिका' है।[9]

३ जो कोई भिक्षुणी आसक्ति भाव से कामातुर पुरुष के हाथ पकड़ने व चद्दर का कोना पकड़ने का आनन्द ले, उसके साथ खड़ी रहे, भाषण करे या अपने शरीर को उस पर छोड़े, तो वह 'पाराजिका' होती है।[10]

भिक्षुणियाँ यदि दुराचारिणी, बदनाम, निन्दित बन भिक्षुणी-संघ के प्रति द्रोह करती और एक-दूसरे के दोषों को ढाँकती (बुरे) संसर्ग में रहती हो, तो (दूसरी) भिक्षुणियाँ उन भिक्षुणियों को ऐसा कहे—"भगिनियो! तुम सब दुराचारिणी, बदनाम, निन्दित बन, भिक्षुणी-संघ के प्रति द्रोह करती हो और एक-दूसरे के दोषों को छिपाती (बुरे) संसर्ग में रहती हो। भगिनियो का संघ तो एकान्त शील और विवेक का प्रशंसक है।" यदि उनके ऐसे कहने पर वे भिक्षुणियाँ अपने दोषों को छोड़ देने के लिए न तैयार हो, तो वे तीन बार तक उनसे उन्हें छोड़ देने के लिए कहे। यदि तीन बार तक

१ विनयपिटक भिक्खु पातिमोक्ख, संघादिसेस, २-२-३७
२ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, संघादिसेस, २-३-५१
३ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, संघादिसेस, २-४-५८
४ वही, पाचित्तिय, २१
५ वही, पाचित्तिय, २२
६ वही, पाचित्तिय, २३
७ वही, पाचित्तिय, ३०
८ वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाराजिक, १
९ वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाराजिक, ६
१० वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाराजिक, ८

कहने पर वे उन्हें छोड़ दें, तो यह उनके लिए अच्छा है, नहीं तो वे भिक्षुणियाँ भी संघादिसेस हैं।[1]

१. जो भिक्षुणी प्रदीपरहित रात्रि के अन्धकार में अकेले पुरुष के साथ अकेली खड़ी रहे या बातचीत करे, उसे पाचित्तिय है।[2]

२. जो भिक्षुणी गुह्य स्थान के रोम बनवाए, उसे पाचित्तिय है।[3]

३. जो भिक्षुणी अप्राकृतिक कर्म करे, उसे पाचित्तिय है।[4]

४. जो भिक्षुणी यौन-शुद्धि में दो अंगुलियों के दो पोर से अधिक काम में ले तो, उसे पाचित्तिय है।[5]

प्रश्न हो सकता है, शास्त्र-निर्माताओं ने यह असामाजिक-सी आचार-संहिता इस स्पष्ट भाव-भाषा में क्यों लिख दी। यह निर्विवाद है कि लिखने वाले संकोचमुक्त थे। इस विषय में संकोचमुक्त दो ही प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वे, जो अधम होते हैं, दूसरे वे, जो परम उत्तम होते हैं, जिनकी वृत्तियाँ इस विषय के आकर्षण-विकर्षण से रहित हो चुकी हैं। शास्त्र-निर्माता दूसरी कोटि के लोगों में से हैं। संकोच भी कभी-कभी अपूर्णता का द्योतक होता है। समवृत्ति वाले लोगों में मुक्तता स्वाभाविक होती है। कहा जाता है—तीन ऋषि एक बार किसी प्रयोजन से देव-सभा में इन्द्र के दाहिनी ओर सम्मान बैठे हुए थे और सभा का सारा दृश्य उनके सामने था। देखते-देखते अप्सराओं का नृत्य शुरू हुआ। अप्सराओं की रूप-राशि को देखते ही कनिष्ठ ऋषि ने अपनी आँखें मूंद ली और ध्यानस्थ हो गए। नृत्य करते-करते अप्सराएं मद-विह्वल हो गई और उनके देवदूष्य इधर-उधर बिखर गए। इस अशिष्टता को देख मध्यम ऋषि आँखें मूंद कर ध्यानस्थ हो गए। अप्सराओं का नृत्य चालू था। देखते-देखते वे सर्वथा वस्त्रविहीन होकर नाचने लगी। ज्येष्ठ ऋषि ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। इन्द्र ने पूछा—'इस नृत्य को देखने में आपको तनिक भी संकोच नहीं हुआ, क्या कारण है?' ऋषि ने कहा—'मुझे तो इस नृत्य के उतार-चढ़ाव में कुछ अन्तर लगा ही नहीं। मैं तो आदि क्षण से लेकर अब तक अपनी सम स्थिति में हूँ।' इन्द्र ने कहा—'इन दो ऋषियों ने क्रमशः आँखें क्यों मूंद ली?' ज्येष्ठ ऋषि ने कहा—'वे अभी साधना की सीढ़ियों पर हैं। मंजिल तक पहुंचने के बाद इनका भी संकोच मिट जायेगा।' ठीक यही स्थिति प्रस्तुत प्रकरण के सम्बन्ध में सोची जा सकती है। साधारण पाठकों को लगता है, ज्ञानियों ने विषय को इतना खोल कर क्यों लिखा, परन्तु ज्ञानियों के अपने मन में संकोच करने का कोई कारण भी तो शेष नहीं था। दूसरी बात संघ-व्यवस्था के लिए यह आवश्यकता का प्रश्न भी था। देश के अधिकांश लोग भले होते हैं, पर कुछ एक चोर-लुटेरे और व्यभिचारी आदि असामाजिक तत्त्व भी रहते हैं। राजकीय आचार-संहिता में यही तो मिलेगा न—अमुक प्रकार की चोरी करने वाले को यह दण्ड, अमुक प्रकार का व्यभिचार करने वाले को यह दण्ड। साधुओं का भी एक समाज होता है। सहस्रों के समाज में अनुपात से असाधुता के उदाहरण भी घटित होते हैं। उस चारित्रशील साधु-समाज की संघीय आचार-संहिता में उक्त प्रकार के नियम अनावश्यक और अस्वाभाविक नहीं माने जा सकते।

प्रायश्चित्त-विधि

प्रायश्चित्त और प्रायश्चित्त करने के प्रकार, दोनों परम्पराओं में बहुत ही मनोवैज्ञानिक हैं। जैन परम्परा में प्रायश्चित्त के मुख्यतया निम्नोक्त दस भेद हैं[6] :

१. आलोयणा (आलोचना) निवेदना तल्लक्षणं शुद्धिं यदर्हत्यतिचारजातं तदालोचना—लगे दोष का गुरु के

---

१ विनयपिटक भिक्खुनी पातिमोक्ख, संघादिसेस, १२

२ वही, भिक्खुनी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ११

३ वही, भिक्खुनी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, २

४ वही, भिक्खुनी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ३

५ वही, भिक्खुनी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ५

६ ठाणांग सूत्र, ठा० १०

पास यथावत् निवेदन करना आलोचना-प्रायश्चित्त है, उसमे मानसिक मलिनता का परिष्कार माना गया है।

२. **पडिक्कमण (प्रतिक्रमण) मिथ्या दुष्कृत**—यह प्रायश्चित्त साधक स्वयं कर सकता है। इसका अभिप्राय है—मेरा पाप मिथ्या हो।

३ **तदुभय**—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो मिलकर **तदुभय** प्रायश्चित्त है।

४. **विवेग (विवेक) अशुद्धभक्तादि त्याग**—आधाकर्म आदि अशुद्ध आहार का त्याग।

५. **विउसग्ग (व्युत्सर्ग) कायोत्सर्ग**—यह प्रायश्चित्त ध्यानादि से सम्पन्न होता है।

६ **तव (तपस्) निर्विकृतिकादि**—दूध, दही आदि विगय वस्तु का त्याग तथा अन्य प्रकार के तप।

७. **छेय (छेद) प्रव्रज्यापर्याय ह्रस्वीकरणम्**—दीक्षा-पर्याय को कुछ कम कर देना। इस प्रायश्चित्त से जितना समय कम किया गया है, उस अवधि मे बने हुए छोटे साधु दीक्षा-पर्याय मे उस दोषी साधु से बड़े हो जाते है।

८. **मूल—महाव्रतारोपणम्**—अर्थात् पुनर्दीक्षा।

९ **अणवट्ठप्पा (अनवस्थाप्य) कृततपसो व्रतारोपणम्**—तप-विशेष के पश्चात् पुनर्दीक्षा।

१० **पाराञ्चिय (पाराञ्चिक) लिङ्गादिभेदम्**—इस प्रायश्चित्त मे संघ-बहिष्कृत साधु एक अवधि-विशेष तक साधु-वेश परिवर्तित कर जन-जन के बीच अपनी आत्म-निन्दा करता है, उसके बाद ही उसकी पुनर्दीक्षा होती है।

व्याख्या-ग्रन्थो मे उन दसो प्रायश्चित्तो के विषय मे भेद प्रभेदात्मक विस्तृत व्याख्याए है। निशीथ सूत्र मे मासिक और चातुर्मासिक प्रायश्चित्तो का ही विधान है। उनका सम्बन्ध ऊपर बताये गए सातवे प्रायश्चित्त **छेद** से है। मासिक प्रायश्चित्त अर्थात् एक मास की संयम-पर्याय का छेद। '**छेद**' प्रायश्चित्त छठे भेद '**तप**' मे भी बदल जाता है। इसमे दोषी साधु संयम-पर्याय का छेद न कर तप-विशेष से अपनी शुद्धि करता है। दोष की तरतमता से मासिक प्रायश्चित्तो मे गुरु और लघु दो-दो भेद हो जाते है।

विनयपिटक मे समग्र दोषो को आठ भागो मे बाटा गया है, जिनका ब्योरा निम्न प्रकार से है:

भिक्षु के लिए ४ दोष, भिक्षुणी के लिए ८ दोष '**पाराजिक**' है।

भिक्षु के लिए १३ दोष, भिक्षुणी के लिए १७ दोष '**सघादिसेस**' है।

भिक्षु के लिए २ दोष '**अनियत**' है।

भिक्षु के लिए ३० दोष, भिक्षुणी के लिए ३० दोष '**निसग्गिय पाचित्तिय**' है।

भिक्षु के लिए ९२ दोष, भिक्षुणी के लिए १६६ दोष '**पाचित्तिय**' है।

भिक्षु के लिए ४ दोष, भिक्षुणी के लिए ८ दोष '**पाटिदेसनिय**' है।

भिक्षु के लिए ७५ बाते, भिक्षुणी के लिए ७५ बाते '**सेखिय**' है।

भिक्षु के लिए ७ बाते, भिक्षुणी के लिए ७ बाते '**अधिकरण-समथ**' है।

दोष की तरतमता के अनुसार प्रायश्चित्तो का स्वरूप मृदु और कठोर है।

'**पाराजिक**' मे भिक्षु सदा के लिए संघ से निकाल दिया जाता है।

'**सघाविसेस**' मे कुछ अवधि के लिए दोषी भिक्षु संघ से पृथक् कर दिया जाता है।

'**अनियत**' मे संघ विश्वस्त प्रमाण से दोष-निर्णय करता है और दोषी को प्रायश्चित्त कराता है।

'**निस्सग्गिय पाचित्तिय**' मे दोषी भिक्षु-संघ या भिक्षु विशेष के समक्ष दोष स्वीकार करता है और उसे छोड़ने को तत्पर होता है।

'**पाचित्तिय**' मे भिक्षु आत्मालोचनपूर्वक प्रायश्चित्त करता है।

'**पाटिदेसनीय**' मे दोषी भिक्षु-संघ के समक्ष दोष स्वीकार करता है और क्षमा-याचना भी करता है।

'**सेखिय**' मे शिक्षा-पद है। उन व्यवहारिक शिक्षा-पदो का लंघन भी दोष है।

'**अधिकरण-समथ**' मे उत्पन्न कलह की शान्ति के आचार बतलाये गए है। उनका लंघन करना भी दोष है।

दोषी साधु प्रायश्चित्त कैसे करे, इस विषय में दोनों परम्पराओं के अपने-अपने प्रकार हैं। जैन परम्परा के अनुसार प्रायश्चित्त कराने के अधिकारी आचार्य व गुरु हैं। वे बहुश्रुत व गाम्भीर्यादि अनेक गुणों के धारक होने चाहिए। एक साधु की आलोचना वे दूसरे साधु को बताने के अधिकारी नहीं होते। व्यवहार-सूत्र में बताया गया है—दोषी साधु अपने आचार्य व उपाध्याय के पास शल्यरहित होकर आलोचना करे। आचार्य या उपाध्याय निकट न हों, तो अपने गण के प्रायश्चित्तवेत्ता साधु के पास वह आलोचना करे। यदि ऐसा भी सम्भव न हो तो अन्य गण के शास्त्रज्ञ साधु के पास वह आलोचना करे। ऐसा भी सम्भव न हो तो किसी बहुश्रुत पार्श्वस्थ के पास वह आलोचना करे। पार्श्वस्थ साधु का तात्पर्य है—जो साधु का वेष तो धारण किये रहता है पर आचार का यथावत् पालन नहीं करता। ऐसा भी संयोग न हो तो ऐसे श्रावक के पास आलोचना करनी चाहिए, जो पहले साधु-जीवन में रह चुका हो और प्रायश्चित्त-विधि का ज्ञाता हो। ऐसा भी संयोग न हो तो किसी समभावी देवता के पास आलोचना करे। यह भी सम्भव न हो तो वह साधु शून्य अरण्य में चला जाये और पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर अरिहन्त व सिद्धों को नमस्कार करे, उनकी साक्षी ग्रहण कर तीन बार अपने दोष का उच्चारण करे और आत्म-निन्दा करता हुआ अपनी धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करे।[1]

जैन विधि में व्यक्तिपरता और गोप्यता को जहाँ प्रधानता दी गई है, वहाँ बौद्ध परम्परा में साधु-समुदाय के सामने प्रायश्चित्तग्रहण का विधान किया गया है। वहाँ प्रायश्चित्त-विधि का व्यवस्थित रूप निम्न प्रकार से है :

प्रत्येक मास की कृष्णा चतुर्दशी और पूर्णमासी को तत्रस्थ सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित होते हैं। भगवान् बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को बताया, अतः कोई निश्चित आचार्य नहीं होता। किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त किया जाता है। तदनन्तर 'पातिमोक्ख' का वाचन होता है। प्रत्येक प्रकरण की पूर्ति में पूछा जाता है— 'उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं ?' कोई भिक्षु खड़ा होकर तत्सम्बन्धी अपने किसी दोष की आलोचना करना चाहता है, तो संघ उस पर विचार करता है और उसकी शुद्धि कराता है। दूसरी बार फिर पूछा जाता है, 'उपस्थित सभी भिक्षु इन सब बातों में शुद्ध हैं ?' इस प्रकार तीन बार पूछकर मान लिया जाता है, सब शुद्ध हैं। तदनन्तर इसी क्रम से एक-एक कर आगे के प्रकरण पढ़े जाते हैं। इसी प्रकार भिक्षुणियाँ 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' का वाचन करती हैं।[2] जैन और बौद्ध, दोनों परम्पराओं की प्रायश्चित्त-विधियाँ पृथक्-पृथक् प्रकार की हैं, पर दोनों में ही मनोवैज्ञानिकता अवश्य है। प्रायश्चित्त करने वाले के लिए हृदय की पवित्रता और सरलता दोनों ही विधियों में अपेक्षित मानी गई है।

आचार-पक्ष

निशीथ और विनयपिटक के संविधानों से दोनों ही परम्पराओं की आचार-संहिता भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। दोनों के संयुक्त अध्ययन से ऐसा लगता है, आचार की ये दोनों सरिताएं कहीं-कहीं एक-दूसरे के बहुत निकट हो जाती हैं तो कहीं एक-दूसरे से बहुत दूर। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह दोनों ही शास्त्रों में कठोरता से वर्जित किये गए हैं। इनके न्यूनाधिक सेवन पर प्रायश्चित्त भी न्यूनाधिक रूप से बताया गया है। कुल मिला कर निशीथ के विधान अहिंसा, सत्य आदि के पालन की सूक्ष्मता तक पहुँचते हैं, विनयपिटक के विधान कुछ अर्थों में बहुत ही स्थूल और व्यावहारिक मात्र रह जाते हैं। दोनों परम्पराओं की आचार-संहिता में यह मौलिक अन्तर है ही। जैन भिक्षु की अहिंसा पृथ्वी, पानी, वनस्पति, वायु और अग्नि तक भी अनिवार्य होकर पहुँचती है। निशीथ में पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा के सम्बन्ध से अनेकों मासिक तथा चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के विधान मिलते हैं। निशीथ के विधि-विधानों में व्यावहारिक पक्ष गौण और अहिंसा, सत्य आदि रूप सैद्धान्तिक पक्ष प्रमुख है। विनयपिटक में सैद्धान्तिक पक्ष से भी अधिक संघ-व्यवस्था-रूप व्यावहारिक पक्ष प्रमुख है।

---

१ व्यवहार सूत्र, उद्देशक १, बोल ३४ से ३९,

२ विनयपिटक, निदान

जैन-परम्परा के अनुसार पानी-मात्र जीव है। साधु नदी, तालाब, वर्षा, कुएँ आदि के पानी का उपयोग नहीं करता। पानी मात्र शस्त्रोपहत अर्थात् अचित (अजीव) होकर ही साधु के लिए व्यवहार्य बनता है। विनयपिटक में अहिंसा की दृष्टि केवल अनछाने पानी तक पहुँची है। वहाँ जान-बूझकर प्राण युक्त (अनछाने) पानी पीने वाले भिक्षु को पाचित्तिय दोष बताया है।[1] जैन भिक्षु के लिए स्नानमात्र वर्जित है।[2] वह अचित पानी से भी सर्वस्नान और देहस्नान नहीं करता। विनयपिटक में पन्द्रह दिनों से पूर्व स्नान करने को 'पाचित्तिय' कहा है। उसमें भी ग्रीष्म ऋतु आदि अपवाद-रूप है।[3] बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए नदी आदि में स्नान करने की भी व्यवस्थित आचार-संहिता है। तात्पर्य पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के सम्बन्ध से जैनाचार और बौद्धाचार एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न रह जाते हैं।

वस्त्र के सम्बन्ध में निशीथ सूत्र में अपने लिए बनाए गए या अपने लिए खरीदे गये वस्त्र को कोई ग्रहण करे तो उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित बताया गया है।[4] विनयपिटक की व्यवस्था है—कोई राजा, राजकर्मचारी या गृहस्थ धन देकर अपने दूत को भिक्षु के पास भेजे, वह दूत भिक्षु से जाकर कहे—'भन्ते! आपके लिए यह चीवर का धन है, आप इसे ग्रहण करें।' तब उस भिक्षु को दूत से कहना चाहिए—'आवुस! हम चीवर के धन को नहीं लेते, समयानुसार चीवर ही लेते हैं।' वह दूत किसी उपासक को चीवर लाकर देने के लिए वह धन दे दे, तो भिक्षु को अधिक-से-अधिक तीन बार उसे चीवर की बात याद दिलानी चाहिए और कहना चाहिए—'उपासक! मुझे चीवर की आवश्यकता है।' इतने पर भी वह चीवर प्रदान न करे तो अधिक-से-अधिक और तीन बार और उसके पास जाकर उसे याद दिलाने को दृष्टि से खड़ा रहना चाहिए। इतने तक वह उपासक चीवर प्रदान करे तो ठीक, इससे अधिक प्रयत्न कर यदि भिक्षु चीवर को प्राप्त करे तो उसे निस्सग्गिय पाचित्तिय है। उस भिक्षु का कर्त्तव्य है, वह उस अर्थदाता के पास जाकर कहे—'आयुष्मान्! तुम्हारा धन मेरे काम का नहीं हुआ। अपने धन को देखो, वह नष्ट न हो जाये।'[5]

निशीथ का विधान है—कोई साधु आहार, पानी, औषधि आदि रात भर भी संगृहीत रखता है तो उस गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[6] विनयपिटक का विधान है—'भिक्षुओ! घी, मक्खन, तेल, मधु, खाड आदि रोगी भिक्षुओं को सेवन करने लायक पथ्य-भेषज्य को ग्रहण कर अधिक-से-अधिक सप्ताह भर रखकर, भोग कर लेना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने पर उसे निस्सग्गिय-पाचित्तिय है।[7] निशीथ में भिक्षु के लिए रात्रि-भोजन वर्जित है। विनयपिटक के अनुसार जो कोई भिक्षु विकाल (मध्याह्न के बाद) में खाद्य भोजन खाये, उसे पाचित्तिय है।[8]

विशेष भोज्य पदार्थों को माँग कर लेना जैन परम्परा में निषिद्ध है। विनयपिटक में भी घी, मक्खन, तेल, दूध, दही आदि विशेष पदार्थों को भिक्षु माँग कर ले तो उसे पाचित्तिय बताया है।[9]

जैन परम्परा के अनुसार साधु भोजन को भिक्षा-रूप से अपने पात्र में ग्रहण करता है और अपने उपाश्रय में आकर या किसी उपयुक्त एकान्त स्थान में भोजन करता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार बौद्ध भिक्षु आमन्त्रण पाकर गृहस्थ के घर भोजन के लिए जाता है। विनयपिटक के सेखिय प्रकरण में भिक्षु-भिक्षुणी को गृहस्थ के घर में किस संयत गति-विधि से जाना व बैठना चाहिए, इस विषय में बहुत ही व्यवस्थित शिक्षा-विधान है। भोजन करने सम्बन्धी शिक्षा-पद

१ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ६२
२ दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ६, गाथा ६१–६४
३ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ५७
४ निशीथ सूत्र, उद्देशक १८, बोल ३५
५ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, निस्सग्गिय पाचित्तिय, १०
६ निशीथ सूत्र, उद्देशक ११, बोल १७६ से १८३
७ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, निस्सग्गिय पाचित्तिय, २३
८ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ३७
९ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ३९

रोचक और समुचित सभ्यता सिखलाने वाले हैं। इस सम्बन्ध में भिक्षुणी की प्रतिज्ञाएं हैं :

१ ग्रास को बिना मुंह तक लाये मुख के द्वार को न खोलूंगी।
२ भोजन करते समय सारे हाथ को मुंह में न डालूंगी।
३ ग्रास पड़े हुए मुख से बात नहीं करूंगी।
४ ग्रास उछाल-उछाल कर नहीं खाऊंगी।
५ ग्रास को काट-काटकर नहीं खाऊँगी।
६ न गाल फुला-फुला कर खाऊँगी।
७ न हाथ झाड़-झाड़ कर खाऊँगी।
८ न जूठन बिखेर-बिखेर कर खाऊँगी।
९ न जीभ चटकार-चटकार कर खाऊँगी।
१० न चप-चप करके खाऊँगी।[1]

ये प्रतिज्ञाएं 'भिक्खुपातिमोक्ख' में भिक्षुओं के लिए भी है। भिक्षुणियों के लिए लहसुन की वर्जना भी की गई है।[2]

दीक्षा-प्रसंग

दीक्षा किस वयोमान में दी जा सकती है, इस विषय में दोनों परम्पराओं के विधान बहुत ही भिन्न हैं। जैन परम्परा में जन्म से आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र वाले की दीक्षा का विधान किया गया है।[3] इससे पूर्व दीक्षा देने वाले को प्रायश्चित्त कहा है। विनयपिटक का कथन है—यदि भिक्षु जानते हुए बीस वर्ष से कम उम्र वाले व्यक्ति को उपसम्पन्न (दीक्षित) करे, तो वह दीक्षित अदीक्षित है।[4] भगवान् श्री महावीर और बुद्ध लगभग एक ही युग व एक ही क्षेत्र में थे। दोनों ही श्रमण-संस्कृति की दो धाराओं के नायक थे। दीक्षा-वयोमान का यह मौलिक भेद अवश्य ही आश्चर्योत्पादक है। वयस्क दीक्षा और दीक्षा का प्रश्न उस समय भी समाज में रहा होगा। यदि ऐसा ही था तो एक संघ ने उसे मान्यता दी और एक संघ ने उसे मान्यता नहीं दी, इसका क्या कारण ?

अल्पवयस्क की दीक्षा का विधान ही भगवान् श्री महावीर ने किया, यही नहीं, उन्होंने अतिमुक्तक कुमार को अल्पावस्था में दीक्षित भी किया। वह घटना इस प्रकार है—प्रथम गणधर गौतम गोचरी करते पोलासपुर नगर में घूम रहे थे। अचानक अतिमुक्तक नामक एक बालक ने आकर उनकी अंगुली पकड़ी और कहा—मेरे यहां भिक्षा के लिए चलिए। बालहठ कैसे टलता ! गणधर गौतम ने उसके घर जाकर भिक्षा ली। भिक्षा लेकर मुड़े, तो बालक भी उनके साथ-साथ चल पड़ा। मार्ग में अतिमुक्तक ने पूछा—'आप कहाँ जा रहे हो ?' गणधर गौतम ने कहा—'परम शान्ति के उद्भावक भगवान् श्री महावीर के पास।' अतिमुक्तक ने कहा—'मुझे भी शान्ति चाहिए, मैं भी वहीं जाऊंगा।' इस प्रकार वह उद्यान में आया और यथाविधि भगवान् श्री महावीर के पास दीक्षित हुआ। उसी अतिमुक्तक भिक्षु ने एक बार प्रमादवश अपने पात्र से नदी में जल-क्रीड़ा की। स्थविर भिक्षुओं ने उसे डाँटा। भगवान् महावीर ने उसे प्रायश्चित्त दे कर शुद्ध किया और कहा—'अतिमुक्तक अभी अज्ञ-जैसा लगता है, किन्तु यह इसी जीवन में यथाक्रम कैवल्य व निर्वाण प्राप्त करेगा।'[5]

भगवान् श्री महावीर ने यह भी निरूपण किया है कि आठ वर्षों से कुछ अधिक वय वाला बालक उसी वय में

---

१ विनयपिटक, भिक्खुनी पातिमोक्ख, सेखिय, ४१-५०
२ वही, भिक्खुनी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, १
३ व्यवहार सूत्र, उद्देशक १०, बोल २४
४ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ६५
५ भगवती सूत्र

कैवल्य और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इससे पूर्व साधुत्व, कैवल्य और मोक्ष तीनों ही अप्राप्य है।[1] दीक्षा-ग्रहण में माता, पिता आदि की आज्ञा भी आवश्यक होती है।

बौद्ध परम्परा के दीक्षा-सम्बन्धी विधानों का इतिहास और अभिप्राय विनयपिटक में भी मिल जाता है। राजगृह नगर में सत्रह बालक परस्पर मित्र थे। उपालि उन सबमें मुखिया था। एक दिन उपालि के माता-पिता सोचने लगे—उपालि को किस मार्ग पर लगाना चाहिए, जिसमें हमारी मृत्यु के बाद भी वह सुखी बना रहे। पहले इन्होंने सोचा—यदि लेखा सीख जाये तो वह सदा सुखी रह सकेगा। फिर उनके मन में आया—लेखा सीखने में तो उसकी उँगुलियाँ दुखेंगी। इस प्रकार अनेकों विकल्प सोचे, पर कोई भी विकल्प निरापद नहीं लगा। अन्त में सोचा—ये शाक्यपुत्रीय श्रमण सुख-ही-सुख में रहते हैं। ये अच्छा भोजन करते हैं व अच्छे निवासों में रहते हैं। क्यों न उपालि भिक्षु बनकर इनके साथ रहे? हम मर भी जायेंगे, तो यह तो सदा सुखी ही रहेगा।

उपालि भी एक ओर बैठा इस वार्तालाप को सुन रहा था। वह तत्काल अपनी मित्र-मण्डली में गया और बोला—'आओ आर्यो! हम सब शाक्यपुत्रीय श्रमणों के पास प्रव्रजित हो सदा के लिए सुखी हो जायें। सब सहमत हो गये। अन्त में माता-पिताओं ने भी सबकी समरुचि देखकर सहर्ष उन्हें दीक्षित होने की आज्ञा दी। वे भिक्षुओं के पास आये और दीक्षित हो गए। दिन में वे सुख से रहते। रात को सवेरा होने से पूर्व ही भूख से व्याकुल होकर वे रोने और कहते—'खिचड़ी दो! भात दो!! खाना दो!!!' तब भिक्षु ऐसा कहते थे—'ठहरो आवुसो! सवेरा होने दो यवागू (पतली खिचड़ी या दलिया) हो तो पीना, भात हो तो खाना, रोटी हो तो भोजन करना। यह सब न हो, तो भिक्षा करके खाना।' इस प्रकार भिक्षु उन्हें समझाते पर भूख की क्या दवा! वे तिलमिलाते और बिस्तरों पर इधर-उधर लुढ़कते।

एक दिन भगवान् बुद्ध को इस बात का पता लगा। उन्होंने भिक्षुओं को एकत्रित किया और कहा—'भिक्षुओ! बीस वर्ष से कम उम्र का पुरुष सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, साँप-बिच्छू आदि के कष्टों को सहने में असमर्थ होता है। कठोर दुरागत के वचनों और दुःखमय, तीव्र, खरी, कटु, प्रतिकूल, अप्रिय, प्राण हरने वाली उत्पन्न हुई शारीरिक पीड़ाओं का सहन न करने वाला होता है। भिक्षुओ! इन्हीं सब कारणों से मैं नियम करता हूँ कि बीस वर्ष से कम के व्यक्तियों को उपसम्पदा नहीं देनी चाहिए।[2]

तब से भिक्षु बनाने का नियम बीस वर्ष का हो गया। पर समय-समय पर ऐसे प्रसंग आने लगे कि अन्त में बालकों को भी संघ-सम्बद्ध करने का अन्य मार्ग भगवान् बुद्ध को निकालना पड़ा। वह था—श्रामणेर बनाना। एक बार घटना-विशेष पर नियम बना दिया गया—पन्द्रह वर्ष से कम आयु वाले बच्चे को श्रामणेर नहीं बनाना चाहिए। जो बनायेगा, उसे दुक्कट का दोष होगा।[3] पुनः एक प्रसंग ऐसा आया जिसमें पन्द्रह वर्ष से कम आयु वाले बच्चे को भी श्रामणेर बनाने का विधान करना पड़ा।

आयुष्मान् आनन्द का एक श्रद्धालु परिवार महामारी में मर गया। केवल दो बच्चे बच गए। आनन्द को उनकी अनाथ अवस्था पर दया आई। उसने सारी स्थिति भगवान् बुद्ध के पास रखी। भगवान् बुद्ध ने कहा—'आनन्द! क्या वे बालक कौवा उड़ाने लायक हैं?' आनन्द ने कहा—'हाँ, हैं भगवान्!' तब भगवान् बुद्ध ने एकत्रित भिक्षुओं से कहा—भिक्षुओ! कौवा उड़ाने में समर्थ पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के बच्चे को श्रामणेर बनाने की अनुमति देता हूँ।[4]

राहुल को श्रामणेर प्रव्रज्या देने की बात बहुत ही रोचक है। उसी घटना से माता-पिता की आज्ञा का नियम निष्पन्न हुआ। एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह में विहार कर कपिलवस्तु में आये। वह उनकी जन्मभूमि थी। भगवान् के पिता

१ भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक १०
२ विनयपिटक, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-६
३ वही, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-७
४ वही, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-८

शुद्धोदन व उनकी पत्नी व राहुल आदि पारिवारिक जन वहाँ रहते थे। भगवान् बुद्ध नगर के बाहर न्यग्रोधाराम में ठहरे।

एक दिन प्रातःकाल पात्र, चीवर लेकर शुद्धोदन के घर भी आये और बिछाये गए आसन पर बैठे। तब राहुल-माता देवी ने राहुलकुमार को कहा—'पुत्र ! यह तेरे पिता है। तू इनसे अपनी दायज (विरासत) मांग !' राहुल बुद्ध के निकट गया और बोला—'श्रमण, तेरी छाया सुखमय है'। बुद्ध आसन से उठकर चले। राहुल भी उनके पीछे-पीछे चला। मार्ग में वह रह-रहकर कहता— 'श्रमण ! मुझे दायज दे ! श्रमण मुझे दायज दे !!' बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहा—'सारिपुत्र ! राहुल कुमार को श्रामणेर प्रव्रज्या दो।' सारिपुत्र ने वैसा ही किया। इतने में शुद्धोदन स्वयं वहाँ आ गए और बोले —'भगवन् ! मैं एक वर चाहता हूँ, वह यह है कि भगवान् के प्रव्रजित होने पर मुझे बहुत दुःख हुआ था। राहुल के प्रव्रजित होने से उसी दुःख की पुनरावृत्ति हुई है। भन्ते ! पुत्र-प्रेम मेरी चमड़ी छेद रहा है, मांस छेद रहा है, नस छेद रहा है, अस्थि छेद रहा है, मैं घायल हो रहा हूँ। अच्छा हो भन्ते ! भिक्षु लोग माता-पिता की अनुमति के बिना किसी को भी प्रव्रजित न करें।'

भगवान् बुद्ध ने शुद्धोदन को धर्म-कथा कही। वे भगवान् का अभिवादन कर चले गए। भिक्षुओं को एकत्रित कर भगवान् ने कहा—'भिक्षुओ ! माता-पिता की अनुमति के बिना पुत्र को प्रव्रजित नहीं करना चाहिए। जो प्रव्रजित करेगा, उसे दुक्कट का दोष होगा।'[1]

उक्त प्रकरणों से जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं के दीक्षा-सम्बन्धी अभिमत प्रकट हो जाते हैं। भगवान् श्री महावीर ने आठ वर्ष से कुछ अधिक की अवस्था वाले बालक को दीक्षित करने का विधान किया है। भगवान् बुद्ध ने काक उड़ाने में समर्थ बालक को श्रामणेर बनाने का विधान किया है। श्रामणेरता भिक्षुत्व की ही एक पूर्वावस्था है। कुल मिला कर यह माना जा सकता है, धर्माचरण में बाल्यावस्था को दोनों ने ही सर्वथा बाधक नहीं माना है।

धर्म-संघ में स्त्रियों का स्थान

भगवान् श्री महावीर ने एक साथ साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। विनय-पिटक के अनुसार बौद्ध धर्म संघ में पहले-पहल भिक्षुणियों का स्थान नहीं था। वह स्थान कैसे बना इसका विनयपिटक में रोचक वर्णन है—

एक बार भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में रह रहे थे। भगवान् की मौसी, प्रजापति गौतमी, उनके पास आयी और बोली—'भगवन् ! अपने भिक्षु संघ में स्त्रियों को भी स्थान दें !' भगवान् बुद्ध ने कहा—'यह मुझे अच्छा नहीं लगता।' गौतमी ने दूसरी बार और तीसरी बात दोहरायी, पर उसका परिणाम कुछ नहीं निकला।

कुछ दिनों बाद जब भगवान् बुद्ध वैशाली में विहार कर रहे थे, गौतमी भिक्खुणी का वेष बनाकर अनेकों शाक्य स्त्रियों के साथ आराम में पहुँची। आनन्द ने उसका यह हाल देखा। दीक्षा-ग्रहण की आतुरता उसके हर अवयव से टपक रही थी। आनन्द को दया आयी। वह भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा और निवेदन किया—'भगवन् ! स्त्रियों को भिक्षु-संघ में स्थान दें।' क्रमशः तीन बार कहा, पर कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में कहा—'यह महाप्रजापति गौतमी है, जिसने मातृ-वियोग में भगवान् को दूध पिलाया है। अतः अवश्य इसे प्रव्रज्या मिले !'

अन्त में भगवान् बुद्ध ने आनन्द के अनुरोध को माना और कुछ शर्तों के साथ उसे उपसम्पदा देने की आज्ञा दी। उनमें एक शर्त थी—सौ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी को भी उसी दिन के उपसम्पन्न भिक्षु को वन्दन करना होगा।[2]

उपसम्पन्न गौतमी ने आनन्द के पास प्रश्न उठाया—भिक्षु और भिक्षुणी दीक्षा-पर्याय के अनुसार एक-दूसरे को वन्दन करें, यह सुन्दर होगा। आनन्द ने भगवान् बुद्ध के पास जाकर गौतमी की बात कही। भगवान् बुद्ध ने कहा—'आनन्द ! यह सम्भव नहीं है कि तथागत (बुद्ध) स्त्रियों को अभिवादन करने की आज्ञा दें। दूसरे असम्यग् प्ररूपित धर्मों

---

१ विनयपिटक, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-११

२ वही, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी स्कन्धक, १०-१-२

में भी स्त्रियों को अभिवादन करने का विधान नहीं है। मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ ?"[1]

इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को एकत्रित करके कहा—"भिक्षुओ ! भिक्षुणियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ना आदि नहीं करना चाहिए। जो करेगा, उसे दुक्कट्ट का दोष होगा।"[2]

इस प्रकरण से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व नारी जाति के सम्बन्ध में समाज की जो बद्धमूल धारणा थी, उसका भली-भाँति पता लग जाता है। साध्वियाँ साधु-वर्ग को वन्दन करें, यह रीति जैन परम्परा में भी ज्यों-की-त्यों है। जैन परम्परा में साध्वी को आचार्यपद की अधिकारिणी माना है, परन्तु वह इस स्थिति में कि साधु संघ में कोई साधु इसके योग्य न हो और साध्वी योग्य होने के साथ साठ वर्ष की प्रव्रजिता भी हो। ये सब विधि-विधान इस बात के द्योतक है कि पुरुष-समाज नारी-समाज को अपने ही समान योग्य समझने में सदा ही हिचकता रहा है। आश्चर्य की बात यह है—प्रजापति गौतमी ने भिक्षु और भिक्षुणियों के पारम्परिक वन्दन का प्रश्न भगवान् बुद्ध के सामने आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व ही उठा लिया था। कम आश्चर्य यह भी नहीं है कि आज अढ़ाई हजार वर्षों के बाद भी यह प्रश्न धर्म-संघों के सामने ज्यों-का-त्यों खड़ा है।

सिंह सेनापति जैन से बौद्ध

आचार और प्रायश्चित्त-सम्बन्धी ग्रन्थ होने के कारण निशीथ और विनयपिटक दोनों ही शास्त्रों में परमत की चर्चा विशेषतः नहीं है। विनयपिटक में सिंह सेनापति का वर्णन स्वमत-प्रशंसा और परमत-कुत्सा का द्योतक है। जैन शास्त्रों में सिंह सेनापति का कहीं नामोल्लेख नहीं है। विनयपिटक के अनुसार सिंह सेनापति भगवान् श्री महावीर का दृढ़ उपासक था। यत्र-तत्र गौतम बुद्ध की प्रशंसा सुनकर वह भगवान महावीर के निषेध करने हुए भी गौतम बुद्ध के पास चला गया। प्रभावित होकर बौद्ध हो गया। भगवान् बुद्ध और भिक्षु-समुदाय को अपने घर भोजन के लिए ले गया। विविध प्रकार के भोजन में मांस की भी व्यवस्था थी। जैन श्रमणों ने नगर में आते-जाते इस बात की आलोचना की कि श्रमण गौतम अपने लिए पकाये मांस को भी जान-बूझ कर भोजन करता है। यह चर्चा सिंह सेनापति के कानों में भी पहुँची। उसने कहा—"ये निर्ग्रन्थ सदा ही श्रमण गौतम की निन्दा करते रहते हैं। इस घटना-प्रसंग से भगवान् बुद्ध ने यह नियम बनाया—"जान-बूझकर अपने उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खायगा, उसे दुक्कट्ट का दोष होगा।"[3] यह विवरण भाव-भाषा की दृष्टि से साम्प्रदायिक रंग में रंगा है, फिर भी अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के साम्प्रदायिक मनोभावों का एकांगी चित्र तो हमारे सामने प्रस्तुत हो ही जाता है। बौद्ध भिक्षु-संघ की मांसाहार-परम्परा का भी यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।

संयुक्त अध्ययन

प्रस्तुत निबन्ध निशीथ और विनयपिटक के संयुक्त अध्ययन का एक प्रकरण-मात्र ही माना जा सकता है। दोनों ही शास्त्रों में अनेकानेक स्थल हैं, जो हरेक पाठक के चिन्तन को उत्प्रेरित करते हैं। निशीथ की तरह व्यवहार सूत्र आदि अन्य छेद-सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन विनयपिटक के साथ हो तो इतिहास और संस्कृति के अन्वेषण में एक नया राजमार्ग खुल सकता है। आशा है, तटस्थ गवेषक इस ओर ध्यान देंगे।

★ ★ ★

---

१ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी स्कन्धक, १०-१-४

२ वही, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी स्कन्धक, १०-१-४

३ वही, महावग्ग, भेषज्य स्कन्धक, १-४-८, ६

बौद्ध धर्म में आय सत्य और अष्टांग मार्ग

श्री केशवचन्द्र गुप्त, एम०, ए०, एल-एल० बी०
उपाध्यक्ष, महाबोधि सोसाइटी

बौद्ध साहित्य का सामान्य अनुशीलन करने वाला पाठक भी वहाँ प्रयुक्त शिक्षाओं के वर्गीकरण और श्रेणी के विभाजनकी प्रणाली से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। निर्वाण के पथ पर सफलतापूर्वक आगे बढने की प्रक्रिया की आश्चर्यजनक व्याख्याए वहाँ दी गई है। उनको सम्यक्तया समझने के लिए राजकुमार गौतम सिद्धार्थ द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक भूमिका को स्मरण रखना आवश्यक होगा। उनकी पवित्र आत्मा ने दुःख और शोक से परिपूर्ण जीवन की कठोर वास्तविकताओ के सामने विद्रोह किया। वे प्रयोजनहीन क्रियाकाण्ड के विरुद्ध थे। उनकी धारणा थी कि धनिको और शक्तिशालियो का ऐश्वर्य उन्हे उस क्षेत्र के निकट नही पहुँचा सकता, जहाँ वास्तविक सुख-शान्ति का राज्य है। गौतम को ऐसे साधनो और उपायो का आविष्कार करने की तीव्र उत्कण्ठा थी, जिनके द्वारा मनुष्य शोक, कष्ट और दुःखो के जीवन-चक्र से मुक्त हो सके। इस सकल्प में जिज्ञासु राजकुमार के हृदय की आत्यन्तिक उदारता प्रकट होती है, जिन्होने अपने बन्धु-प्राणियो की मुक्ति के लिए सासारिक ऐश्वर्य और राज-पाट का त्याग कर दिया।

बुद्ध के ऐतिहासिक अभिनिष्क्रमण की मनोवैज्ञानिक भूमिका थी—सर्वव्यापी मैत्री और करुणा। अहिंसा उसका मूल स्रोत था—जिसका अर्थ होता है, किसी भी परिस्थिति मे किसी के प्रति शत्रुता न रखने की सतत भावना।

बुद्ध की करुणा पारमार्थिक है—देश-काल मे बाधित नही है। एक बौद्ध को जिन तीन शरण-स्थलो की खोज रहती है, उनमे से एक शरण-स्थल सघ है। इस अनुशासित धर्म-प्रचारको के सघ का कार्य धर्म (दूसरे शरण-स्थल) के सत्यो का प्रचार करना होता है।

चार आर्य सत्य

दुःखो को देखकर प्रारम्भ मे राजकुमार सिद्धार्थ का हृदय द्रवित होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर वे दुःख को जीवन का मौलिक सत्य स्वीकार करते हैं। दुःख को उन्होने प्रथम आर्य सत्य कहा है। आर्य सत्य का तात्पर्य है—मौलिक अनिवार्य सत्य। यदि बौद्ध धर्म इस अनुभूति तक ही सीमित रह जाता तो वह निराशावाद का प्रतिपादक-मात्र होता। किन्तु भगवान् बुद्ध ने पता लगाया कि दुःखो की वेदना से मुक्ति भी सत्य है—मौलिक और अनिवार्य सत्य है। यह आर्य सत्य है। दुःखों का मूल कारण उतना ही सत्य है जितने कि दुःखमूलक जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने वाले साधन।

बौद्ध धर्म की मूलभूत शिक्षाए इस अनुभूति मे निहित है, जिसे जीवन के चार आर्य सत्य—मौलिक अनिवार्य सत्य कहा गया है। वे इस प्रकार हैं :

१ दुःख—कष्ट और शोक,
२ दुःखका मूल,
३ दुःख का निवारण,
४. दुःख-निवारण के उपाय।

प्रथम आर्य सत्य—दुःख

दु ख का वास्तविक स्वरूप क्या है ? विश्लेषणात्मक चिन्तन और सम्यग्-ज्ञान के द्वारा हमे यह विदित होता है कि जीवन मे मनुष्य ऐसे शारीरिक और मानसिक अभ्यास एव विचारो का ग्रहण तथा सचय करता है, जिनमे दु ख और वेदना छिपी रहती है । उनके जनक हम स्वय ही होते है । जिस प्रकार कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ के एक स्कन्ध अथवा अध्याय मे सापेक्ष और बिखरे हुए विचारो का सकलन करता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने जीवन के स्कन्ध अथवा अध्याय मे वेदनाओ, अनुभूतियो, स्मृतियो और सस्कारो का सचय करता है । इन सबका समुच्चय ही व्यक्ति का जीवन होता है ।

इन समुच्चयो का वाहन केवल देह अर्थात् स्थूल शरीर ही नही अपितु उपादान अर्थात् सस्कार भी होते है । देह और उपादान उस वृक्ष के स्कन्ध है, जिन पर दु ख के फल लगते है ।

देह अथवा स्थूल शरीर—१ रूप, २ वेदना, ३ सज्ञा, ४ सस्कार और ५ विज्ञान—इन पाँच के समुच्चय से उत्पन्न होता है ।

रूप अथवा जगत् का भौतिक स्वरूप चार तत्त्वो—पृथ्वी, जल अग्नि (तेज) और वायु, शरीर की पाँच इन्द्रियो, लिग-सस्कारो, मनोदशा और ज्ञानेन्द्रियो का समुच्चय होता है ।

इस प्रकार सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु ख 'दु ख' के अन्तर्गत है । उपादानो का सचय जन्म, रोग, मृत्यु, शोक, पश्चात्ताप, दु ख, निराशा और वियोग मे होता है । अपने प्रवाह मे जीवन इन शक्तियो का सचय और सग्रह करता है तथा स्कन्ध अथवा वृक्ष का धड निर्माण करता है उसे ही हम जीवन कहते है । साहित्य मे स्कन्ध उसे कहते हैं, जिसमे विचारो का सकलन किया जाता है ।

दूसरा आर्य सत्य—दुःख का मूल

दूसरा आर्य सत्य है—दु खो का मूल । दु खो का मूल कारण तन्हा अथवा तृष्णा है । उसका उद्भव 'कर्म-चेतना' और 'प्रतीत्यसमुत्पाद' मे होता है । कर्म-चेतना का अर्थ होता है—कर्म करने के लिए चैतन्य की उत्कट अभिलाषा । प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है—बाह्य विषयो पर निर्भर तृष्णा की उत्पत्ति का कारण । हमे अपने दैनिक जीवन मे इन्द्रियो के सुखोपभोग की इच्छा होती है, जिसमे हममे **भव तृष्णा** उत्पन्न होती है । जिस प्रकार हमे ऐन्द्रिय विषयो मे मुक्ति की तृष्णा (**विभव तृष्णा**) होती है, उसी प्रकार हम शाश्वत जीवन की भी तृष्णा करते है । जिस प्रकार हम इन्द्रियो की मरीचिका के पीछे दौडते है, उसी प्रकार हम जब पार्थिव सुखोपभोग की व्यर्थता समझ जाते है तो अलौकिक जीवन की ओर दौडते है ।

तीसरा आर्य सत्य—निर्वाण

तीसरा आर्य सत्य निर्वाण है । यह अनिवार्य सत्य है, जिसका सम्बन्ध उस प्रयत्न मे है, जिसे हम जीवन कहते हैं ।

यह विवाद का विषय रहा है—क्या निर्वाण सक्रिय दशा है अथवा सम्पूर्ण विनाश की दशा ? क्या वह पूर्ण शून्यावस्था है, अथवा शोक और पुनर्जन्म से मुक्त शाश्वत अवस्था ? यदि वह शाश्वत आनन्द की सक्रिय दशा है, तो निर्वाण की बौद्ध कल्पना भगवद्गीता की ब्रह्म-निर्वाण की कल्पना के समकक्ष ठहरती है । किन्तु बुद्ध ने शाश्वत आत्मा की कल्पना को स्वीकार नही किया, इसलिए कठिनाई उत्पन्न होती है ।

महान् बौद्ध दार्शनिक कवि अश्वघोष का अभिमत है कि निर्वाण शून्य अवस्था है—वहाँ अस्तित्व ही असद्-अवस्था को प्राप्त हो जाता है । एडविन आर्नोल्ड ने अपनी कविता मे कहा है ·

यदि कोई कहते है कि निर्वाण का अर्थ नाश है,

उनसे कहो कि वे झूठ बोलते हैं।
यदि कोई कहते है कि निर्वाण का अर्थ जीवन है,
उनसे कहो कि वे भूल करते हैं।
वे नही जानते कि दीपक टूट जाने के बाद प्रकाश नही चमकता
निर्वाण जीवनातीत और समयातीत आनन्द है।[१]

वास्तव मे निर्वाण शून्य नही है, प्रत्युत ऐसी अवस्था है जिसका वर्णन अथवा कल्पना नही की जा सकती। यह विचार केवल कवि का ही नही है।

महान् पाश्चात्य विद्वान् मैक्स मूलर ने पूर्ण उत्साह और उमग के साथ कहा था कि निर्वाण मनुष्य की पूर्ण अवस्था है, न कि उसका विलय अथवा शून्यावस्था। वे प्रश्न करते है—'क्या जो धर्म हमको शून्यावस्था मे पहुँचा देता है, वह धर्म जीवित भी रह सकेगा?'

डा० ओल्डनबर्ग, जो यद्यपि इस निष्कर्ष को स्वीकार करने मे हिचकिचाते हैं, फिर भी विपरीत धारणा रखने वालो को चुनौती देते हुए कहते हैं—

"निर्वाण के विषय मे एक विकल्प यह है कि वह शून्य है, और दूसरा विकल्प यह है कि वह सर्वोच्च आनन्द का प्रतीक है। दोनो ही विकल्पो के पक्ष मे नाना प्रकार के तर्क दिये जाते है। किन्तु मुझे कम आश्चर्य नही हुआ जब मैंने यह पाया कि पूर्ण सत्य न इस विकल्प के पक्ष मे है और न उस विकल्प के पक्ष मे।" यह स्पष्ट है कि ओल्डनबर्ग पूर्ण नाश के सिद्धान्त का समर्थन नही करते।

सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् रीस डेविड्स के अनुसार

"निर्वाण वह अवस्था है, जिसमे मन और हृदय पाप-पाश से मुक्त हो जाता है, अन्यथा कर्म के महान् रहस्य के अनुसार पुन व्यक्तिगत जीवन धारण करना आवश्यक हो जाता है। 'अत निर्वाण मन की पाप-रहित शान्त दशा का ही नाम है और उसकी व्याख्या ही करना हो तो 'पवित्रता' उसका सर्वोत्तम पर्याय हो सकती है। बौद्ध कल्पना के अनुसार पूर्ण शान्ति, पूर्ण मगल और पूर्ण विवेक को निर्वाण कहना चाहिए।"

बौद्ध धर्म के अधिकारी विद्वान् डॉ० थामस कहते है

"इस विचार पर चर्चा करना अनावश्यक है कि निर्वाण का अर्थ व्यक्ति का नाश होता है। बौद्ध धर्म के ग्रन्थो मे इस विचार का कही समर्थन नही मिलता, उनमे उसके वास्तविक अर्थ को प्रकट करने वाली प्रचुर सामग्री है और वह यह कि निर्वाण-अवस्था मे कामनाए शान्त हो जाती हैं। रीस डेविड्स का भी हमेशा यही आग्रह रहा है। उनमे बहुधा कामनाओ की तुलना अग्नि मे की गई है और कामनाओ को सचेत करना अग्नि मे ईंधन डालने के समान कहा गया है।"

भारतीय लेखक, जिनमे डा० बी० सी० ला जैसे विद्वान् भी हैं, शून्य को अस्तित्वहीनता का पर्याय नही मानते। डा० ला० ने अपने कथन को 'विशुद्धि-मार्ग', 'मिलिन्द प्रश्न' और अन्य बौद्ध ग्रन्थो से पुष्ट किया है। हम निश्चयपूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह धारणा सत्य नही है कि बौद्ध धर्म निष्क्रियता, नकारात्मकता अथवा निराशावाद का पोषण करता है।

जब हम 'बुद्ध' शब्द का उपयोग करते है, तो हम भ्रान्ति के प्रकट दलदल मे फंस जाते हैं। बुद्धत्व का अर्थ होता

---

१ If any teach Nirvana is to cease,
Say unto them they lie;
If any teach Nirvana is to live,
Say unto them they err; not knowing this,
Nor what light shines beyond their broken lamps,
Nor lifeless timeless bliss.

है, जीवन और उसके व्यवहार के शाश्वत सत्यों का पूर्ण ज्ञान। बुद्ध ने जगत् को वह मार्ग दिखाया, जिस पर चलकर मानवता भ्रम के आवरण को चीर सकती है। उनकी चेतना ने शाश्वत ज्योति प्रकाशित की। क्या निर्वाण का अर्थ पूर्ण ज्ञान के उस दीप का बुझना हो सकता है? प्रकाश का अन्धकार और शाश्वत सत्य की चेतना को शाश्वत निद्रा मानना एक भयकर विरोधी कल्पना प्रतीत होती है।

मानवता का उत्थान करने वाली बुद्ध की शिक्षाओं मे मेरे विचार की पुष्टि होती है। अहिंसा के विकास मे ही बुद्ध अर्हत की अवस्था को प्राप्त हुए थे। क्या यह सब 'शून्य' की प्राप्ति के लिए था?

रवीन्द्रनाथ की कवि-प्रकृति ने बुद्ध के जीवन के इस पहलू मे अपूर्व प्रकाश की छटा देखी थी और बुद्ध का यही पहलू हमे आकर्षित करता है। बुद्ध के मानस की इस करुणामूलक पृष्ठभूमि का, जिसे **'ब्रह्म-विहार'** कहते है, वर्णन करते हुए कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है :

"**ब्रह्म-विहार** का पाठ कोई प्रवचन नही था और न ही नैतिक सिद्धान्तो का सामान्य प्रतिपादन। हम जानते हैं कि उनके जीवन मे वह साकार रूप मे विकसित हुआ। सर्वव्यापी सदा जागृत दया की भावना कोई आवश्यकता से प्रेरित वस्तु नही थी। वह किसी कारण से उत्पन्न नही हुई थी। वह मैत्री-भावना थी। वह मानव-चर्चा का विषय नही थी। वह सत्य के रूप मे प्रकट हुई। यह भावना मानवता के कोषागार मे सदा-सर्वदा सुरक्षित रहेगी।"

चतुर्थ आर्य सत्य—अष्टांग मार्ग

चतुर्थ आर्य सत्य है—दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्। यह है 'अष्टाग मार्ग', जो दुःख के निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग है। जीवन के शाश्वत सहचर दुःख का मूल स्रोत मनुष्य के मानसिक बन्धनों और शारीरिक आकाक्षाओं मे निहित है। जीवन नाना पथो और पगडडियो मे यात्रा करता है। आस-पास की झाडियो मे निरन्तर अपमान और आक्रमण होते रहते है। जिससे अन्त मे पथ दुःखदायी हो जाता है और इस प्रकार पुन एक नया पथ खलता है। समस्या ऐसा पथ चुनने की होती है, जो यात्री को यात्रा के लक्ष्य तक पहुँचा दे।

भगवान् बुद्ध ने मानवता के लिए जिस पथ का निर्माण किया है, उसे अष्टाग मार्ग कहते है। धम्मपद मे कहा गया है—जिस प्रकार सत्यो मे चार आर्य सत्य श्रेष्ठ है और मनुष्यो मे आँखे खोल कर चलने वाला मनुष्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सब मार्गों मे अष्टाग मार्ग श्रेष्ठ है।

अष्टाग मार्ग मे निम्न बातो का समावेश होता है

१. **सम्यक् दृष्टि**—सम्पूर्ण व्यापक अखण्ड दृष्टि और ज्ञान।

२. **सम्यक् सकल्प**—मार्ग निर्धारित करने के बाद उस पर चलने का पूरा अपरिवर्तनीय आग्रह।

इन दोनो का प्रज्ञा अर्थात् विवेक मे समावेश होता है

३. **सम्यक् वाचा**—सही भाषण, सम्पूर्ण भाषण, अर्थात् हम ऐसा कोई शब्द न बोले, जो निर्वाण के आदर्श के अनुपयुक्त हो।

४ **सम्यक् कर्मान्त**—पूर्ण निर्देशित कर्म। केवल नैतिक सिद्धान्तो के ज्ञान से उस व्यक्ति को कोई लाभ नही हो सकता, जिसके कर्म धर्म और आदर्शो के विपरीत हो।

५. **सम्यक् आजीव**—अनुचित आजीविका को छोडना।

इन तीनो प्रयत्नो का समावेश शील अर्थात् नैतिक सदाचार मे होता है।

६. **सम्यक् व्यायाम**—कुशल धर्मों के सिद्धान्त और दृष्टिकोण को व्यवहार मे लाने के लिए सम्पूर्ण और सही पुरुषार्थ।

७ **सम्यक् स्मृति**—सम्पूर्ण एकाग्रता।

८. **सम्यक् समाधि**—कामादि भावो से रहित होकर उन आदर्श विषयो पर ध्यान केन्द्रित करना, जो निर्वाण-प्राप्ति मे सहायक हो।

अन्तिम तीनों का समावेश योग और ध्यान की समान समाधि अथवा एकाग्रता की श्रेणी में होता है।

पंचशील

अष्टांग-मार्ग के अनुसरण का व्यावहारिक उपाय है—शील अर्थात् नैतिक नियमों का पालन। इनका भी विस्तृत वर्णन और वर्गीकरण किया गया है। इनको पंचशील कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि शील के आचरण का सम्बन्ध मनुष्य के अपने बन्धुओं के प्रति होने वाले व्यवहार से है। पंचशील के पालन से व्यक्ति को बल और मानसिक सौन्दर्य उपलब्ध होता है। इससे मनुष्य को निरर्थक आचरणों और बन्धनों से मुक्त होने में सहायता मिलती है। सामाजिक दृष्टि-कोण से ये आचार-नियम श्रेष्ठ हैं। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति उन पर आचरण करे, तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है।

पंचशील इस प्रकार है :

१ मैं किसी प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा—इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

२. मैं ऐसी कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं करूँगा, जो मुझे उसके मालिक से न्यायोचित रीति से नहीं मिली होगी और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

३ मैं काम-विषयक दुराचार नहीं करूँगा और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

४ मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

५ मादक पेयों और औषधियों का सेवन नहीं करूँगा और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

इस मार्ग की आठ बातो मे कितना विवेक छिपा है, यह आसानी से ज्ञात हो सकता है। जब तक मनुष्य पार्थिव अस्तित्व के अनित्य स्वरूप को सम्पूर्णतया नही देख लेगा, तब तक वह मिथ्या कल्पना और अहंकार की भूलभुलैया से बाहर नही निकल सकता। साथ ही केवल दृष्टि भी कुछ काम नही आ सकती, जब तक मनुष्य इन विचारों को व्यवहार मे नहीं लाता। शील जीवन का व्यावहारिक मार्ग है।

मैंने संक्षेप मे आर्य सत्यो और अष्टांग मार्ग की चर्चा की है। बुद्ध से पूर्वकालीन कुछेक भारतीय दर्शन और नैतिक आचार-संहिताओं के साथ तुलना करने से पता चलता है कि ये सिद्धान्त भगवद्गीता और उपनिषदो मे भी बिखरे पड़े हैं। भक्ति-परम्परा में सृष्टिकर्त्ता के रूप मे ईश्वर को माना जाता है, किन्तु कट्टर बौद्ध मत के अनुसार बुद्ध ने ऐसे ईश्वर की सत्ता को मान्यता नहीं दी।

बुद्ध ने स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में उन गुणों का वर्णन किया है, जो मानव की दृष्टि को उन्नत कर सकते है। विश्व के किसी भी व्यक्ति के लिए ये चार सत्य और अष्टाग-मार्ग हितकारी हैं। उनके वर्गीकरण का आधार असाधारण है और उनका व्यावहारिक आचरण अवश्य ही मानवता को अन्ध बनाने वाले भ्रम के आवरण को हटा कर मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जायेगा।

जैन दर्शन व बौद्ध दर्शन में कर्म-वाद एवं मोक्ष

डा० वीरमणिप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष—संस्कृत विभाग, गोरखपुर-विश्वविद्यालय

कर्म-विपाक का सिद्धान्त, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति (चार्वाक को छोडकर) और दार्शनिक चिन्तन की मूल आधार-भित्ति का निर्माण करता है। ऋग्वेद के समय से लेकर उपनिषदो, बुद्ध और महावीर के वचनो तथा उनसे विकसित दर्शनो मे और सभी आस्तिक सम्प्रदायो मे इस सिद्धान्त का विकसित रूप उपलब्ध होता है। अविद्या के हेतु कर्म उत्पन्न होते है, कर्म संस्कारो के जनक है, संस्कार कामना के हेतु है, कामना ही जीवन का स्रोत और क्रिया का द्वार है, और क्रियाओ मे सम्पूर्ण लौकिक विकल्प-जाल ग्रथित होता है। ये सभी विकल्प प्रपञ्च-रूप है और प्रपञ्च ज्ञान-हेतुक है, जो परमतत्त्व (Absolute) के यथार्थ स्वरूप को मलिन और आवृत्त कर लेते है। अज्ञान मे, जो कर्म का ही एक विशेष रूप है, असीमित सीमित रूप मे प्रकट होता और शुद्ध मलिन रूप मे भासित होता है। आर्षदर्शनो और जैन सम्प्रदाय मे इसी को ही जीव का बन्ध कहा जाता है। जैन दर्शन कर्म और आत्मिक अवयवो के मिथः सम्मिश्रण को ही बन्ध रूप मानता है। शैव दर्शनो मे भी आणव मलो मे ही जीव का पशु-भाव सम्पन्न होता है। योग दर्शन और सभी बौद्ध सम्प्रदायो मे एक भव के कर्म दूसरे भव के हेतु माने गए है। प्रत्येक भव मे पृथक्-पृथक् संस्कार और अविद्या प्रोद्भूत होते है। ये संस्कार या उपादान कर्महेतुक है। ये भव के हेतु है और जाति को भव-प्रत्यय कहा गया है। इस प्रकार कर्म ही इस अनादि भव-चक्र या प्रपञ्च-जाल के हेतु है। हम यहाँ संक्षेप मे बौद्ध और जैन कर्म-सिद्धान्तो के एक विशेष पक्ष को लेकर उनकी समीक्षा कर रहे है।

बौद्ध दर्शन में कर्मवाद

यह ऊपर बताया जा चुका है कि बौद्ध दर्शन कर्म को अनादि भव-चक्र का हेतु मानता है। उसने लोक-वैचित्र्य का हेतु भी और कुछ न मानकर कर्म को ही माना है। ये कर्म सामान्य रूप मे दो प्रकार के माने गए है—चेतना या मानसिक कर्म (मनस्कार) और चेतयित्वा कर्म, जिसकी उत्पत्ति मे मानस कर्मों की अपेक्षा होती है। ये दूसरे प्रकार के कर्म कायिक और वाचिक के भेद से दो प्रकार के माने गए है। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान के विचार से भी विविध कर्मों के भेद सम्भव होते है। वसुबन्धु कृतकर्म और उपचित कर्म में भेद मानते हैं।[1] उन सञ्चित कर्मों को ही 'उपचित कर्म' कहते हैं, जो अपना फल प्रसूत करना आरम्भ कर देते हैं। बुद्धिपूर्वक किये गए कर्म 'उपचित कर्म' कहे जाते हैं। जो कर्म विपाक-दान मे नियत है, वही उपचित होता है, जो कर्म अनियत है, वह उपचित नही होता। जो कर्म असमाप्त होते है वे उपचित न होकर 'कृत कर्म' की संज्ञा मे सम्बोधित किये जाते हैं। दूसरे शब्दो मे अनियत विपाक कर्म ही 'कृत कर्म' कहे जाते है।

विशुद्ध मानसिक कर्म, जिन्हे 'चेतना कर्म' की संज्ञा दी गई है, अपने अभीष्ट की प्राप्ति कायिक और वाचिक कर्मों के बिना ही कर सकते हैं। मैत्री-चित्त इस मानस कर्म का एक निर्धारक हेतु है। इस चेतना से पृथक् काय-विज्ञप्तियाँ और वाग्-विज्ञप्तियाँ होती हैं। ये मानस कर्म से पृथक् उदित नही हो सकती। क्षणिक चेतना पौनःपुन्येन अभ्यासवश

१ अभिधर्म कोश, ४।१२०

कार्यविज्ञप्ति के समुत्थान द्वारा गुरु होती है। प्रयोग, मौल-प्रयोग, मौल-कर्म पथ और पृष्ठ—इन चतुर्विध हेतु-प्रत्ययों से कर्म की यह गुरुता प्राप्त होती है।

विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति के भेद से सभी कर्म दो प्रकार के होते हैं। विज्ञप्ति चित्त की अभिव्यक्ति करती है। अविज्ञप्ति इसके विपरीत है। विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति के भेद से उपर्युक्त कर्म द्विविध पाये गए हैं, जो पुन: कुशल-अकुशल के दो स्थूल वर्गों में विभक्त किये गए हैं। व्यक्ति की चित्त-सन्तान और मन:स्थिति के भेद से उसकी अविज्ञप्तियाँ संवर-असंवर आदि रूपों में व्यक्त होती है।

सभी कर्म अपना-अपना कर्म-फल उत्पन्न करते हैं और ये कर्म-फल लोक-वैचित्र्य के हेतु हैं। सत्वों के कर्म का प्रभाव भाजन, लोक की निस्थता, अस्थायिता, सम-विषम परिणाम आदि पर पड़ता है। ये कर्म-फल—कारण-हेतु से निवृत्त 'अधिपति फल,' सत्वा-ख्य कुशलाकुशलव्यतिरिक्त 'विपाक-फल,' और 'सभाग' तथा 'सर्वत्रग' हेतुओं द्वारा प्रदत्त 'निष्यन्द फल', तीन प्रकार के होते है।

नियत कर्म त्रिविध बताये गए है—दृष्टधर्म वेदनीय, उपपद्य वेदनीय और अपरपर्याय वेदनीय। अनियत कर्म दो प्रकार के होते है—नियत विपाक और अनियत विपाक।[1]

स्थविरवादी व्यक्ति की चेतना में ही कर्म का उद्भव मानते हैं। लोभ, दोष, मोह तथा इनके प्रतियोगी अलोभ आदि चेतना के निर्मागक तत्त्व (Constituents) है। जीवन वस्तुत. इन्हीं में निहित है। सज्ञा, वेदना और चेतना इन त्रिविध प्रक्रियाओं का संघान ही चित्त के रूप मे उपलब्ध होता है। यह चित्त (=चेतना) तीन प्रकार का माना गया है—कुशल,[2] अकुशल और अव्याकृत। कर्म भी कुशल-अकुशल आदि भेद से त्रिविध माने जाते है। कुशल कर्म शुभ विपाक दान मे सामर्थ्य रखने हैं। इनके फल शोभन होते हैं। ये कर्म परार्थ और आत्मोत्सर्ग की भावना से अनुप्राणित होते हैं। पृथक् जनो के कर्म ही विपाक-दान-समर्थ होते हैं, किन्तु अर्हत् के कर्म ऐसे नही होते। इसीलिए उनके कर्मों को 'अक्रिय' (अकिरिय) कहा गया है। अकुशल चित्त अशुभ भावनाओ से सयुक्त रहता है और लोभ, दोष, मोह के त्रितय में से किसी एक से अवश्य सम्बद्ध रहता है। अव्याकृत (अब्याकत) चित्त किसी भी प्रकार के विपाक-दान मे सामर्थ्य नही रखता। उसे निर्विपाक चित्त कहा जा सकता है। यह अहेतुक होता है और लोभ, अलोभ आदि षड्विध हेतुओ से नियत नहीं होता। चित्त की त्रिविध भूमियाँ (परित्त, महग्गत, लोकुत्तर) स्वीकृत हैं और क्रमेण ये निर्वाण के अधिगम में सहायक होती हैं। कर्मों के पृथक्-पृथक् कार्य होते है और उन्ही के अनुसार उनका स्वरूप निर्धारित होता है। ये कर्म है—जनक, उपष्टम्भक, उपपीडक और उपघातक।

संक्षेप में यह बौद्ध दृष्टिकोण से कर्मों का स्वरूप और उनका वर्गीकरण है।

जैन दर्शन में कर्मवाद

जैन विचारधारा मे आत्मा या जीव अपने वास्तविक रूप मे अत्यन्त विमल और ज्ञान-स्वरूप होता है, जो अनेक आस्रवो और मलों से सयुक्त होकर विभिन्न रूपो में अनुभव और व्यवहार का विषय बनता है। कर्म-पुद्गल जीव के कषाय स्वरूप से नियत होते हैं और कर्म-पुद्गल कषायों का स्वरूप निर्धारित करते हैं। कर्म-पुद्गल और जीव का यह सम्बन्ध अनादि काल से प्रवाह रूप में चला आ रहा है।

यथार्थवादी और अनेकान्तिक विचारधारा रखने के कारण जैन व्यवहारत: लब्ध सत्य पर भी विश्वास रखते है। पुद्गल और उनके धर्मों (modes and qualities) को व्यवहार में तद्रूप और अतद्रूप दोनों माना गया है और इस प्रकार एकता और भिन्नता के सहव्यापी सिद्धान्त (identity-cum-difference) का प्रतिपादन किया गया है। अन्य दर्शनों के विभिन्न दृष्टिकोणों का अतिक्रमण करते हुए जैन यह मानते हैं कि जिस प्रकार दूध में पानी मिल जाता

---

१ द्रष्टव्य, आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ५५०-५७७; अभिधर्म कोश, कोशस्थान, ४

२ इसे 'शोभन' भी कहते हैं

है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गलों के विभिन्न अवयव जीव के स्वरूप में संयुक्त हो जाते हैं और इसी रूप में उसका बन्ध व्यपदिष्ट होता है। जीव की अवगाहना तदाश्रयीभूत देह के परिणाम के साथ-साथ संकुचित होती है और विकास को प्राप्त होती रहती है। जब जीव का स्वरूप आस्रवों और कषायों से इतना वासित हो जाता है कि वह अपने पूर्व स्वरूप में गृहीत नहीं हो सकता, तो कर्म-पुद्गल के अवयव उसके (व्यवहारत उपलब्ध) स्वरूप में सम्मिश्रित होकर गृहीत होते हैं। यही उसका बन्ध है। इसी रूप में कर्म और जीव का तादात्म्य भी सम्भव होता है। जबकि बौद्ध अमूर्त विज्ञान पर मूर्त कर्म का आवरण स्वीकार न कर उसे अमूर्त अविद्या और वासनाओं से उपप्लुत हुआ मानते हैं, जैन अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म के कषायों का आवरण (या उनके अवयवों का मेलन) स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे व्यवहारत उपलब्ध जगत् के अस्तित्व का बौद्ध योगाचारियों की भान्ति निषेध नहीं करते। उनका अभिप्राय है कि व्यवहारत उपलब्ध सत्तों में अमूर्त आत्मा ग्रस्त हो सकता है, क्योंकि दोनों व्यवहार के स्तर पर एकत्र उपलब्ध होते हैं। जैन दर्शन पूर्णत अनेकान्तवादी और स्याद्वादी है, अत वह कर्म को पुद्गल रूप और आत्मा (जीव) में उनके बन्ध-क्षण में संयुक्त होने वाला मानता है। इसी दृष्टि से जीव का कार्मण शरीर सम्भव होता है। इस प्रकार कर्म-पुद्गल आत्मा की विमल प्रवृत्ति को मलिन बना देते हैं। जो कर्म-पुद्गल उसके ज्ञान तथा दर्शन को आवृत कर देते हैं, वे क्रमश 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। कर्म-पुद्गल का वह रूप, जो स्वाभाविक आनन्द को रोककर भौतिक सुखों और वेदना की प्रसूति करता है, 'वेदनीय कर्म' कहा जाता है। जो कर्म-पुद्गल आत्मा के चरित्र-गुण और श्रद्धा-गुण को आवृत करते हैं, वे 'मोहनीय-कर्म' कहे जाते हैं। कर्म का जो रूप, अनन्त आयुष्य को सीमित कर देता है, 'आयुष्य कर्म' कहलाता है और देह-विहीन तत्त्व को देहधारी बनाने वाले कर्म नाम-कर्म की संज्ञा से व्यवहृत होते हैं। उच्च-नीच गोत्र का प्राप्त कराने वाले कर्म यदि 'गोत्र कर्म' कहे जाते हैं, तो जीव की अनन्त शक्तियों को रोकने और धन, सुख इत्यादि के उपभोग में अन्तराय-रूप आने वाले कर्म 'अन्तराय कर्म' कहे जाते हैं। इन अष्टविध कर्मों[1] के अनेक भेदोपभेद भी जैनागमों में वर्णित हैं।[2] किन्तु स्थानाभाव के हेतु से उनके बारे में कुछ कहना यहाँ शक्य नहीं है।

जीव[3] कर्म से किस प्रकार सम्बद्ध होता है—उसकी जैन दर्शन में पाँच अवस्थाएं बताई जाती हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक।[4] इनमें से अन्तिम अवस्था ही जीव का वास्तविक स्वरूप है, जो ज्ञान से न तो अत्यन्त भिन्न ही है और न नितान्त अभिन्न भी।[5] शेष भाव जीव की विभिन्न स्थितियाँ हैं, जो कर्म से उसके सम्बन्ध हो जाने के हेतु होती हैं। औदयिक भावों में जीव कर्म के अवयवों से पूर्णत ग्रस्त रहता है, किन्तु शेष अवस्थाएं ऐसी नहीं होती। जब कर्म क्रियाशील नहीं रहता, तो उस अवस्था को औपशमिक भाव कहते हैं। कर्म विषयों का जब नितान्त क्षय हो जाता है तो वही क्षायिक भाव कहलाता है। यही जीव के बन्ध-विराम रूप मोक्ष की अवस्था है। क्षायोपशमिक भाव में इन दोनों भावों का सम्मिश्रित रूप होता है। इसमें कुछ कर्म निरुद्ध हो जाते हैं और कुछ वर्तमान रहते हैं।

जैन दर्शन में मोक्ष

जैन दर्शन यह मानता है कि कर्मों के बन्ध होने के पश्चात् व फल-प्रसूति के पूर्व कुछ समय तक वे अक्रिय रहते हैं। यह समय उनकी शब्दावली में 'अबाधाकाल' कहा जाता है। इस अबाधाकाल के विगत हो जाने पर वे फल-

१ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ८-४, तथा वृत्ति
२ देखिये—वही, ८।५ तथा वृत्ति, Dr Nathmal Tantia, Studies in Jain Philosophy p. 233ff.
३ जैन विचारधारा में आत्मा या जीव के स्वरूप के विस्तृत विवेचन के लिए, द्रष्टव्य, समयसार, [मूर्ति देवी जैन ग्रन्थ माला सीरीज में प्रकाशित
४ तत्त्वार्थ सूत्र, २।१
५ देखिए—सर्वदर्शन संग्रह, ५।६ में उद्धृत वाक्य

प्रसवार्थ उदय की अवस्था मे आते है। उनका यह उदय फल-विपाक की अवस्था तक रहता है और इसके पश्चात् वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। जैन दर्शन मे कर्म ग्रहण करने वाले जीव के परिणाम, आस्रव कहे जाते है। इनका निरोध ही 'सवर' के नाम से वहाँ व्यपदिष्ट हुआ है। आस्रव ही भव का हेतु है और सवर ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख कारण है। ऐन्द्रियिक विषयोपभोग की प्रवृत्तियों का निरोध ही सवर है। सवर द्वारा आत्मा मे प्रवेश पाता हुआ कर्म निरुद्ध हो जाता है। अत सवर द्वारा उनका निरोध कर, मन, वचन और शरीर की शुभ प्रवृत्ति द्वारा लगे हुए कर्मो का विच्छेद कर समस्त सांसारिक क्लेशो से आत्मा का मोक्ष सम्भव होता है। जो कर्म का उपचय आत्म-स्वरूप मे समाविष्ट रूप मे गृहीत हुआ था, उसकी तप के द्वारा निर्जरा (जला देना) तथा मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों की गुप्ति और पाँच महाव्रत आदि से सवर करना—ये ही जैन दर्शन मे जीव के बन्ध-विगम रूप मोक्ष की प्राप्ति के प्रमुख हेतु-भूत हैं। इनके सम्यक् आचरण करने पर मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

जैन 'अर्हत्' का सिद्धान्त भी इस सवर और निर्जरा की कल्पना से अति निकट रूप मे सम्बद्ध है। अर्हत् अपनी सभी इच्छाओं को जला कर क्लेश सहन करते हुए सम्पूर्ण सासारिक कामनाओं, कर्मों, सुख-दुःख, तृष्णा, आदि का क्षय कर परम पद को प्राप्त करते है और निर्वाण लाभ करते है।[1]

इस प्रकार जैन दर्शन सवर के साथ-साथ कर्मो के क्षय पर विशेष बल देते हुए निर्जरा तत्त्व को इसके क्षय का प्रधान कारण बतलाते है। जैन योग का इस दृष्टि से बड़ा ही महत्त्व है। यह जैनियो के आचार, चारित्रिक शुद्धि और साधना की पवित्रता का द्योतन करता है।

एक समीक्षा

बौद्धो का कर्म-सिद्धान्त यद्यपि पृथक् रूप मे उदित हुआ, तथापि वह जैन सिद्धान्तो से बहुत विलग न रह सका। वहाँ यद्यपि कर्म-विपाक का सिद्धान्त जैनो मे कुछ पृथक् रूप मे निबद्ध हुआ, तथापि लक्ष्य मे एक होने के कारण वह बहुत कुछ समान रहा।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि जैन कर्म-पुद्गलो के अवयवो के जीव के साथ अविभागापन्न रूप मे अवस्थान को ही बन्ध के नाम से व्यपदिष्ट करते है।[2] बौद्ध भी प्रकारान्तर या उक्त्यन्तर से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। 'द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त के मूल मे कर्मवाद का सिद्धान्त ही प्रतिष्ठित है, जिसके निमित्त से सम्पूर्ण भव-चक्र, पुनर्जन्मादि की व्यवस्था और लोक मे विचित्रता सम्भव होती है। क्लेश और कर्म से बधा हुआ विज्ञान-सन्तान पर-लोक की यात्रा करता है और इस प्रकार स्कन्धो से पृथक् रूप मे अपने विशुद्ध विज्ञान मे प्रतिष्ठित नही होता। हीनया-नियो का शमथ-दान और उनकी अर्हत् कल्पना इस जैन विचार से कदापि अप्रभावित नही मानी जा सकती। इन्द्रिय-निरोध और सामाजिक अवस्थाओं के प्रति उपेक्षा तथा प्राचीन बौद्धवाद मे समाधियो और शमथ का निवेश आदि बातें स्पष्ट रूप मे जैनों की देन ही है और इस दृष्टि से दोनो की विचारधाराओ मे पर्याप्त साम्य ही है।

जैनो और बौद्धो के कर्म-सिद्धान्त की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि यदि जैन कर्म को पुद्गल रूप मानते थे और उसके अवयवो का अमूर्त जीव से सम्बन्ध मानते थे तो बौद्ध इस विचार से कदापि सहमत न थे। कर्म के ऐसे अवयवादि की कोई स्फुट कल्पना बौद्धवाद मे दृष्टिगत नही होती। साथ ही अमूर्त विज्ञान का मूर्त कर्मावयवो के साथ वहाँ सम्बन्ध भी लक्षित नही किया गया है। जहाँ तक कर्मो के स्वरूप और वर्गीकरण का प्रश्न है, जैन और बौद्ध दोनो ही परम्पराओं मे कर्म की विचारधाराएं पृथक्-पृथक् रूपों मे पल्लवित हुई है और उनका भिन्न परम्पराओ मे विकास हुआ। कर्म और मोक्ष के सम्बन्ध पर यह बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का एक सादृश्य दिखला कर अब हम अपने इस लघु लेख को समाप्त करेंगे।

---

१ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८०

२ देखिये वही, पृ० ८१

परवर्ती बौद्ध साहित्य (महायान) मे कर्म और क्लेशो के क्षय से मोक्ष की उपपत्ति स्वीकार की गई है। जब अशेष कर्म वासनाए लुप्त हो जाती है, अविद्या और सस्कार भी नि शेष रूप मे क्षपित हो जाते है, रागादिक भी शान्त हो जाते है, तृष्णा का पुन उदय नही होता और सभी क्लेश और मोह उच्छिन्न हो जाते है, तब विशुद्ध विमल ज्ञान-रूप बोधि-स्वरूपिणी प्रज्ञा का, पुण्य सम्भार (पञ्च-पारमिताओ, दान, शील आदि के) उपचय (अभ्यास) मे उदय होता है और परम सुख, शान्ति और आनन्द रूप निर्वाण का उदय होता है तथा सभी प्रकार के क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का भी प्रहाण हो जाता है। इस दृष्टि मे भी बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन मे कर्म तथा मोक्ष के विषय को लेकर पर्याप्त विचार-सादृश्य लक्षित होता है।

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन

प्रो० उदयचन्द्र जैन

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

भारत पुरातन काल से ही धर्म तथा दर्शन-प्रधान देश रहा है। इस देश के ऋषि-महर्षियों ने समस्त भूमण्डल को अलौकिक ज्योति तथा दिव्य ज्ञान दिया है। इस भूमण्डल पर सभ्यता का जो विस्तार हुआ है, उसका श्रेय भारत को ही है। मनु ने कहा है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथिवीतल के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र को सीखा। मनुष्य की विचार-शक्ति का जितना भी विकास हुआ है, उसका प्रधान कारण दर्शन ही है। विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य प्रत्येक कार्य या बात में अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का दर्शन होता है, जो उसके जीवन के साथ सदा सम्बन्धित रहता है। मनुष्य और पशु में अन्तर केवल दर्शन का ही है। यदि मनुष्य में से दर्शन को निकाल दें, तो मनुष्य मनुष्य न रहकर निरा पशु रह जाएगा।

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य का अपना दर्शन होता है, फिर भी वह इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि दर्शन क्या है? दर्शन का अर्थ होता है—**दृश्यते अनेन इति दर्शनम्**, अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है। क्या देखा जाय? वस्तु का यथार्थ स्वरूप। जीवन क्या है, आत्मा है या नहीं, हम कहाँ से आए हैं, इस जगत् का स्वरूप क्या है, इसका कोई कर्ता है या नहीं, ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं, जीव शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है या उसका पुनर्जन्म होता है, इत्यादि बातों पर विचार करना दर्शन का काम है। दर्शन के साथ 'शास्त्र' शब्द भी लगा हुआ है। शास्त्र और विज्ञान का अर्थ एक ही होता है। दर्शन-शास्त्र इस संसार से सम्बन्धित सब बातों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। यहाँ के महर्षियों ने अपने दिव्यज्ञान से जिस वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार किया, वही दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भारतीय दर्शन का एक निश्चित उद्देश्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील रहता है तथा उसकी प्राप्ति के उपाय भी बतलाता है। संसार में चार बातें ऐसी हैं, जिनको प्राप्त करना पुरुष का कर्तव्य हो जाता है। नाम भी उनका पुरुषार्थ है। पुरुष का अर्थ अर्थात् प्रयोजन। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गए हैं। इनमें से मोक्ष या मुक्ति उत्कृष्ट पुरुषार्थ है। इस संसार में समस्त प्राणी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन प्रकार के दुःखों से सदा सन्तप्त रहते हैं। इन दुःखों से छुटकारा कैसे मिले, इसका उपाय 'दर्शन' बतलाता है। दुःखों से छूटना ही पुरुष का अन्तिम लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति कराना 'दर्शन' का काम है। इसलिए दर्शन-शास्त्र 'मोक्ष-शास्त्र' भी कहलाता है।

पाश्चात्य परम्परा में दर्शन-शास्त्र को 'फिलॉसॉफी' (Philosophy) कहते हैं। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के मेल से बना है : फिलास (प्रेम) तथा सोफिया (विद्या)। इसका अर्थ हुआ—विद्या का प्रेम या अनुराग। इस भूमण्डल पर अनेक विचित्र-विचित्र पदार्थ देखने में आते हैं। उनको देखकर यह जिज्ञासा होती है कि यह क्या है। बस इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए पश्चिम में फिलॉसॉफी का उदय हुआ है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने कहा है—'फिलॉसॉफी का उदय आश्चर्य

मे होता है।'[1] इतने से ही यह पता चल जाता है कि फिलासॉफी और दर्शन के अर्थ मे कितना भेद है। पश्चिम मे फिलासॉफी का न तो कोई लक्ष्य है, और न उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन। फिलॉसॉफी का काम कुछ विद्वानो का मनोविनोद मात्र है, इसके अतिरिक्त और कुछ नही। किसी को कुछ जिज्ञासा हुई, उसकी शान्ति के लिए कुछ तर्क-वितर्क कर लिया, इतने मात्र से ही फिलासॉफी का काम पूर्ण हो गया। पश्चिम मे धर्म तथा दर्शन मे कभी सामञ्जस्य नही रहा। इसके विपरीत कभी दर्शन का प्राधान्य रहा, तो कभी धर्म का और ऐसा होने से एक दूसरे का सहायक न होकर प्रत्युत घातक ही हुआ है। पश्चिम मे मध्य युग मे धर्म का प्राधान्य था। उस समय ईसाई धर्म के सम्प्रदाय ने दर्शन का गला घोट डाला। अब यद्यपि धर्म का प्राधान्य नही है, परन्तु दर्शन का भी उतना महत्त्व नही रहा, क्योंकि विज्ञान ने धर्म तथा दर्शन दोनो पर अधिकार कर लिया है। आरम्भ मे दर्शन के अन्तर्गत विज्ञान भी आता था। लेकिन अब पाश्चात्य देशो मे दर्शन से विज्ञान को पृथक् कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त पश्चिम मे दर्शन का धाराप्रवाह रूप मे कोई क्रमिक विकास नही हुआ है। वहाँ जितने भी दार्शनिक हुए, प्राय उनका दर्शन पृथक् पृथक् रहा है। एक दार्शनिक के विचार प्राय उसकी मृत्यु के साथ ही सीमित होकर रह गए। ऐसा बहुत कम देखने मे आया है कि एक दार्शनिक के विचारो को दूसरे दार्शनिक ने आगे बढाया हो। यद्यपि उक्त बात का सर्वथा अभाव नही है।

भारतीय दर्शन मे यह बात नही है। यहा दर्शन के अनेक समुदाय है और प्रत्येक समुदाय के विकास मे सैकडो व्यक्तियो का हाथ रहा है। यहा किसी व्यक्ति ने अपना पृथक् दर्शन नही बनाया, किन्तु पूर्व परम्परा से आगत दर्शन मे अपने विचारो को मिलाकर उस दर्शन के विकास मे पूर्ण सहयोग दिया है। यहाँ धर्म तथा दर्शन मे कभी विरोध नही रहा है। प्रत्युत दोनो के सामञ्जस्य ने परस्पर की उन्नति मे बडा सहयोग प्रदान किया है। भारतीय दर्शन धर्म के सिद्धान्तो को तर्क की कसौटी पर कसने मे घबडाता नही है, अपितु ईश्वर जैसे विषय पर भी अपना स्वतन्त्र विचार प्रगट करता है। भारतीय दर्शन की दृष्टि सदा व्यापक रही है। पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा भारतीय दर्शन अधिक व्यावहारिक तथा सुव्यवस्थित है।

पाश्चात्य दर्शन का श्रेणी-विभाग

तत्त्व-मीमासा (Metaphysics)—इसमे भौतिक तथा मानसिक पदार्थों के अस्तित्व के विषय मे विचार किया जाता है। कुछ लोग केवल भौतिक पदार्थों की ही सत्ता मानते है। ये लोग भौतिकवादी कहलाते है। अन्य लोग केवल मानसिक पदार्थों की ही सत्ता मानते है। ये प्रत्ययवादी कहलाते है। कुछ लोग भौतिक तथा मानसिक दोनो पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता मानते है। ये द्वैतवादी कहलाते है। इन सब वादो का विस्तृत विचार तत्त्व मीमासा मे किया गया है।

प्रमाण-मीमासा (Epistemology)—इसमे ज्ञान की विवेचना की जाती है। ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की सीमासा, ज्ञान का प्रामाण्य, सत्यासत्य का निर्णय आदि विषयो पर गम्भीर विचार प्रमाण-मीमासा मे किया जाता है। कुछ पदार्थ अनुभव के द्वारा जाने जाते है। इन को अनुभवजन्य (a posteriori) कहते है। कुछ पदार्थ अनुभव से अगम्य है। इनको प्रागनुभव (a priori) कहते है। इनका विचार भी प्रमाण-मीमासा मे किया जाता है।

तर्कशास्त्र (Logic)—यह विचारो का विज्ञान है। इसमे विचार के उन नियमो का प्रतिपादन किया गया है जिनका पालन करने से हम विचारो मे सत्यता की प्राप्ति कर सकते है और अपने विचारो मे से गलतियों को दूर कर सकते है।

आचार-मीमासा (Ethics)—मनुष्य का आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिए, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है, इत्यादि आचार-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तो का विस्तृत प्रतिपादन आचार-मीमासा मे किया गया है।

सौन्दर्य-शास्त्र (Esthetics)—सुन्दरता की तात्त्विक व्याख्या क्या है, किसी वस्तु को सुन्दर मानने का कारण क्या है, सौन्दर्य का मापदण्ड क्या है इत्यादि सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तो की सैद्धान्तिक चर्चा सौन्दर्य-शास्त्र में की गई है।

---

१ Philosophy begins in wonder.

तर्क-शास्त्र, आचार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र ये तीनों मिलकर **'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्'** की तात्त्विक व्याख्या करते है।

मनोविज्ञान (Psychology)—इसमे मन की विभिन्न प्रक्रियाओ का अध्ययन किया जाता है। मन का स्वरूप क्या है, मन मे विचार-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का प्रादुर्भाव किस प्रकार होता है, शरीर और मन मे किस प्रकार का सम्बन्ध है, बाह्य चेष्टाओ के द्वारा आन्तरिक भावो का ज्ञान कैसे किया जाता है इत्यादि मन से सम्बन्ध रखने वाली समस्त बातो का विस्तृत विवेचन मनोविज्ञान में मिलता है। वर्तमान मे यह विज्ञान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपने प्रयोग कर रहा है।

भारतीय दर्शन पर कुछ आरोप

कहा जाता है कि भारतीय दर्शन निराशावादी है, क्योकि भारतीय दर्शन ससार का वह नग्न दृश्य उपस्थित कर देता है, जिससे कि मानव को ससार मे कुछ सार प्रतीत नही होता है। यह आरोप यथार्थ बुद्धि के अभाव मे ही सम्भव हो सकता है। क्या यह कहना निराशावादिता है कि ससार दु खो मे भरा है तथा जितने भी सुख है वे दु खो मे मिश्रित है? यदि भारतीय दर्शन ससार को असार और दु:ख पूर्ण बतलाता है, तो वह दु खो की निवृत्ति का मार्ग भी बतलाता है। मोक्ष के आनन्द की या ब्रह्मानन्द की प्राप्ति भी उसी के द्वारा होती है। कहा है—**'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते**, अर्थात् आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है और वह मोक्ष मे मिलता है। ससार का आनन्द तो नकली आनन्द है। असली आनन्द मोक्ष है और वही अमृत है। कहा है—**भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।** याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रेयी का कथन है—**येनाहं नामृता स्या किमहं तेन कुर्याम्**, अर्थात् जिसके द्वारा मुझे अमृतत्व की प्राप्ति न हो उसमे मुझे क्या करना है। मैत्रेयी उस अमृतत्व के सामने ससार के सारे पदार्थो को तुच्छ समझती है। नारद मुनि सनतकुमार के पास आकर कहते है कि मैने समस्त विद्याओ का अध्ययन कर लिया है, किन्तु इससे मुझे कुछ भी सन्तोष नहीं हुआ। अब मुझे अध्यात्म विद्या की शिक्षा दीजिए, क्योकि आत्माको जानने वाला शोक समुद्र से पार हो जाता है।[1]

इस प्रकार यदि भारतीय दर्शन ससार को दु ख-बहुल बतलाता है, तो उसकी निवृत्ति का उपाय भी बतलाता है। इस कारण वह निराशावादी कैसे सिद्ध हो सकता है। पाश्चात्य दर्शन मे यह बात नही है। वहाँ दु ख की सत्ता तो बताई गई है, परन्तु उसकी निवृत्ति का कोई उपाय नही बताया गया है, प्रत्युत दु ख को स्थायी माना गया है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन निराशावादी न होकर पाश्चात्य दर्शन ही निराशावादी ठहरता है, क्योकि वहाँ मनुष्य अपने प्रयत्न द्वारा दु ख से नही छूट सकता।

भारतीय दर्शन पर दूसरा दोषारोपण यह है कि त्याग की एवं ससार से विरक्ति की शिक्षा देने के कारण वह अकर्मण्य है। यह ठीक है कि भारतीय दर्शन निवृत्ति की शिक्षा देता है, परन्तु साथ मे वहाँ सत्प्रवृत्ति की शिक्षा भी दी गई है।

भगवद्‌गीता मे योग द्वारा कर्ममार्ग और त्याग मार्ग का सामञ्जस्य किया गया है। योग का अर्थ है—ईश्वर के साथ तादात्म्य। यह तादात्मय कर्म से, ज्ञान से, ध्यान से तथा भक्ति आदि से भी हो सकता है। वहाँ कर्म को निष्काम कर्म के रूप मे बतलाया है—**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।** इस प्रकार भारतीय दर्शन को अकर्मण्य कहना तर्कसगत नहीं है।

भारतीय दर्शन की विशेषताएं

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये भारतीय दर्शन के प्रमुख मत है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों की सबसे बड़ी विशेषता है—लक्ष्य का अस्तित्व। उनका एक निश्चित लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए वे निश्चित साधन भी बतलाते हैं। वह लक्ष्य है—मोक्ष या मुक्ति। यद्यपि मुक्ति के स्वरूप के

---

1 तरति शोकमात्मवित्

विषय में दार्शनिकों में भेद है, तथापि मोक्ष नाम की वस्तु में सबका मतैक्य है। उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए यद्यपि विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न मार्गों को बतलाया है, तथापि उन सबका लक्ष्य एक ही है। विभिन्न मार्गों को बतलाने में कोई विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि एक ही स्थान पर कई मार्गों से पहुँचा जा सकता है।

यहां धर्म तथा दर्शन में सदा से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है। दर्शन-शास्त्र के द्वारा धार्मिक तत्त्वों का निर्णय होने के कारण धार्मिक तत्त्वों की सुदृढ़ नींव दर्शन ही है। भारतीय दर्शन की धारा वैदिक काल से अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। यहां दर्शन की उन्नति और विकास किसी व्यक्ति विशेष के कारण नहीं हुआ है, किन्तु पूर्व परम्परा से आगत सिद्धान्तों को आगे होने वाले महर्षियों ने वृद्धिगत किया है। यहाँ का दर्शन-शास्त्र बहुत ही स्वतन्त्र, लोकप्रिय तथा अध्ययन का विशिष्ट विषय रहा है। साथ ही अधिक व्यावहारिक तथा सुव्यवस्थित भी है। भारतीय दर्शन सदा ही उदार, व्यापक तथा विवेचनात्मक रहा है।

यहाँ के दर्शन पर दूसरे देशों के दर्शन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। प्रत्युत यहां के दर्शन ने दूसरे देशों के दर्शन पर ही अधिक प्रभाव डाला है। यूनानी दार्शनिक पाइथेगोरस के धर्म, रेखागणित तथा दर्शन पर—विशेषरूप से अहिंसा, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्तों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सूफी दार्शनिकों पर वेदान्त तथा तन्त्र का प्रभाव पड़ा है। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कराकर वितरित किया। फिर फारसी से लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ, जिससे यूरोपीय दार्शनिक बहुत ही प्रभावित हुए। जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहावर ने उपनिषदों से प्रभावित होकर कहा था कि उपनिषद् मेरे जीवन में सन्तोष देने वाले रहे हैं, और मेरी मृत्यु में भी सन्तोष देने वाले होंगे।

जैन दर्शन

भारतीय दर्शन में अपने विपुल साहित्य एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के कारण जैन दर्शन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जैन दर्शन को सुप्रतिष्ठित करने वाले कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, विद्यानन्दि, हेमचन्द्र जैसे महान् आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में अपनी प्रखर बुद्धि का परिचय देकर जैन दर्शन की ध्वजा को सर्वत्र फहराया है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी भी उन आचार्यों के द्वारा प्रवर्तित तथा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर जन-समाज के अभ्युत्थान एवं कल्याण के लिए जनता में अणुव्रतों का प्रचार कर जैन दर्शन तथा जैन-धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ा रहे हैं।

क्या जैन दर्शन नास्तिक है ?

किसी दर्शन को आस्तिक या नास्तिक कहने के पहले आस्तिक और नास्तिक शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक है। साधारण अर्थ में ईश्वर की सत्ता मानने वाले को आस्तिक तथा ईश्वर की सत्ता के निषेध करने वाले को नास्तिक कहते हैं। इस अर्थ में जैन दर्शन नास्तिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह ईश्वर की सत्ता मानता है। यह दूसरी बात है कि वह अकाट्य प्रमाणों के आधार पर ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता नहीं मानता है। व्याकरण के आचार्य पाणिनि ने आस्तिक और नास्तिक शब्दों का अर्थ निम्न प्रकार बतलाया है। परलोक की सत्ता में विश्वास रखने वाले को आस्तिक तथा परलोक की सत्ता के निषेध करने वाले को नास्तिक कहते हैं। इस अर्थ में भी जैन दर्शन नास्तिक नहीं है। लेकिन मनु ने उक्त शब्दों का अर्थ भिन्न प्रकार से ही किया है। मनु के अनुसार—आस्तिक वह है, जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे तथा नास्तिक वह है, जो वेद को प्रमाण न मानकर उसकी निन्दा करे। **नास्तिको वेद निन्दकः**। जो लोग जैन दर्शन को नास्तिक कहते हैं, वे मनु के उक्त अर्थ को लेकर ही वैसा करते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैन दर्शन समस्त वेद को अप्रमाण नहीं मानता है, किन्तु उतने ही अंश को अप्रमाण मानता है, जितना अंश अनुभव-विरुद्ध तथा तर्क-हीन प्रतीत होता है। वेद में विशेष रूप से ऐसी दो बातें हैं, जिन पर जैन दर्शन को आपत्ति है। वेदों में कहा गया है— **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**। इस विषय में जैन दर्शन का कहना है कि जिस प्रकार 'लौकिकी हिंसा' हिंसा कही जाती है,

उसी प्रकार 'वैदिकी हिंसा' भी हिंसा ही है। उसे अहिंसा कैसे माना जा सकता है? वेदों को अपौरुषेय मानना भी जैन-दर्शन को इष्ट नहीं है। वेद एक प्रकार की शब्द रचना है। अत रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि की तरह वेदों का निर्माण भी एक या अनेक व्यक्तियों ने अवश्य किया है। जैन दर्शन के स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, कर्मवाद, अहिंसावाद, सृष्टि-अकर्तृत्ववाद आदि अनेक विशिष्ट सिद्धान्त हैं।

जैन रास का विकास

डा० दशरथ ओझा एम० ए० डी० लिट्०
रीडर, दिल्ली-विश्वविद्यालय

रास सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य मे जैन-साहित्य का मुख्य स्थान है। इस साहित्य के रचनाकाल को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्यारहवी से सोलहवी शताब्दी तक शत-शत जैन रासो की रचना हुई।

जैनरास का प्रारम्भ

जिस प्रकार वैष्णव रास का सर्वप्रथम नामोल्लेख एव विवरण हरिवंश पुराण मे उपलब्ध है, उसी प्रकार प्रथम जैन रास का देवगुप्ताचार्य-विरचित नवतत्त्वप्रकरण के भाष्यकार अभयदेव सूरि की कृति मे विद्यमान है। अभयदेव सूरि ने नवतत्त्वप्रकरण का भाष्य विक्रम सवत् ११२८ मे रचते हुए कहा है कि 'मकुट सप्तमी' एव 'सन्धिबन्ध माणिक्य प्रस्तारिका' नामक रासो का सेवन करे।[1]

'मकुट सप्तमी' एव 'माणिक्य प्रस्तारिका' नामक रासो के अतिरिक्त प्राचीन रासो मे अम्बिकादेवी नामक रास का ग्यारहवी शताब्दी मे उल्लेख मिलता है। 'उपदेश रसायन' रास के पूर्व मे तीन रास ऐसे है, जिनका केवल नामोल्लेख मिलता है, किन्तु जिनके वर्ण्य विषय के सम्बन्ध मे निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। हा, उद्धरण के प्रसग मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये रास नीतिधर्म-विषयक रहे होगे, तभी इनका अनुशीलन धार्मिक कृत्य के रूप मे आवश्यक माना गया था। विचारणीय विषय यह है कि इन दोनो रासो—'मुकुट सप्तमी' और 'माणिक्य प्रस्तारिका' का रचनाकाल क्या है और किस काल मे इनका अनुशीलन इतना आवश्यक माना गया है।

अभयदेव सूरि का परिचय जिनवल्लभ सूरि ने इस प्रकार दिया है "चन्द्रकुल-रूपी आकाश के सूर्य श्री वर्धमान प्रभु के शिष्य सूरि जिनेश्वर हुए, जो दुर्लभराज की राज्यसभा मे प्रतिष्ठित थे। मेधानिधि जिन चन्द्र सूरि सस्थापित श्री स्तम्भन नवनवांग विवृतिभेदा जिनेन्द्रपाल अभय सूरि उत्पन्न हुए।' अभयदेव सूरि जिनवल्लभ से पूर्व और जिनचन्द्र के पश्चात् हुए। जिनवल्लभ को उनके गुरु जिनेश्वर सूरि ने श्री अभयदेव सूरि के यहा कुछ काल तक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा। जिनवल्लभ ने अभयदेव सूरि के यहा विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। जिनवल्लभ का देवलोक-प्रयाण सवत् ११६७ कार्तिक कृष्णा द्वादशी को हुआ। अत निश्चित है कि श्री अभयदेव सूरि वि० स० ११६७ से कुछ पूर्व हुए होगे और यह भी निश्चित है कि उनके समय तक 'मुकुट सप्तमी' एव 'माणिक्य प्रस्तारिका' नामक रास सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुके थे। अत इन रासो की रचना बारहवी शताब्दी या उससे पूर्व मानना उचित होगा।

'उपदेश रसायन रास' सम्भवत उपलब्ध जैन रास ग्रन्थो मे सबसे प्राचीन है। इस रास मे पद्धटिका छन्द का प्रयोग किया गया है, जो **'गीतिकोविदैः सर्वेषु रागेषु गीयत इति'** के अनुसार सभी रागो मे पाया जाता है।

इन उद्धरणो से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'उपदेश रसायन रास' को रास-परम्परा की प्रारम्भिक

---

१ मुकुट सप्तमी सन्धि माणिक्य-प्रस्तारिका प्रतिबन्ध रासकाभ्यामवसेय इति।—भाष्यविवरण, पृ० ५१

प्रवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है। 'मुकुट सप्तमी' एवं 'माणिक्य प्रस्तारिका' का मन्दिर मे अवसेवन इस तथ्य का प्रमाण है कि इनमे धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओ का अवश्य समावेश रहा होगा, 'उपदेश रसायन रास' भी उसी परम्परा मे विरचित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही।

'उपदेश-रसायन-रास' के अनुशीलन मे धार्मिक रास की उपयोगिता इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतीत होती है—"उन धार्मिक नाटको को नृत्य द्वारा दिखाना चाहिए, जिनमे भरतेश्वर, बाहुबली एव सगर का निष्क्रमण दिखाया गया हो। बलदेव दशार्णभद्रादि चरित को कहना चाहिए। ऐसे महापुरुष के जीवन को नर्तन के आधार पर दिखाना चाहिए, जिनमे प्रव्रज्या के लिए संवेग-वासना उत्पन्न हो।"[1]

'जम्बूस्वामिचरित' मे 'अम्बादेवी रास' का उल्लेख मिलता है। जम्बूस्वामिचरित की रचना वि० स० १०७६ मे हुई थी। इस उल्लेख मे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि अम्बादेवी के चरित के आधारपर जीवन को अध्यात्मतत्त्व की ओर उन्मुख करने के लिए इस रास की रचना हुई होगी।

इसी प्रकार अपभ्रंश मे एक 'अमरग रास' की रचना का भी उल्लेख पाया जाता है। यह रास अभी तक प्रकाशित पुस्तक के रूप मे नही आया है। मुझे इसकी हस्तलिखित प्रति भी अभी देखने को नही मिली। बारहवी शताब्दी तक उपलब्ध रासो की सख्या अब तक इतनी ही मानी जा सकती है।

बारहवी शताब्दी के पश्चात् विरचित उपलब्ध रास-ग्रन्थो की सख्या एक सहस्र तक पहुँच गई है। इनमे से अति प्रसिद्ध रासग्रन्थों का सामान्य विवेचन इस लेख मे देने का प्रयास किया गया है।

तेहरवीं शताब्दी के रास

तेरहवी-चौदहवी शताब्दी का काल रास-रचना की दृष्टि मे सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इस युग मे साहित्यिक एव अभिनेयता की दृष्टि मे कई उत्कृष्ट रचनाए दिखाई पडती हैं। जैनेतर रासकोमे काव्य-कला की दृष्टि मे सर्वोत्तम रास 'सन्देशरासक' इसी युग के आसपास की रचना है। वीररस पूर्ण 'भरतेश्वर-बाहुबलि घोर रास' तथा 'भरतेश्वर-बाहुबलि रास' काव्य की दृष्टि से उत्तम काव्यों मे परिगणित होते है। इस रास की भाषा परिमार्जित एव गम्भीर भावो के साथ होड लेती हुई चलती है। जैन-रासो मे 'जम्बूस्वामि रास' 'रैवतगिरि रास' एव 'आबूरास' प्रभृति ग्रन्थ प्रमुख माने जाते है। उनकी रचना इसी युग मे हुई है।

'उपदेश रसायन रास' की शैली पर विरचित 'बुद्धिरास' गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग दिखाता है। इसके रचयिता आचार्य शालिभद्र सूरि, सज्जन से विवाद, नदी-सरोवर मे एकान्त-प्रवेश, जुआरी से मैत्री, सुजन से कलह, गुरु-विहीन शिक्षा एवं धन-विहीन अभिमान को व्यर्थ बताते हुए गार्हस्थ्य धर्म के पालन पर बल देते है। इस प्रकार नैतिकता की ओर मानव मन को प्रेरित करने का रासकारो का प्रयास इस युग मे भी दिखायी पडता है।

जैन धर्म में जीव-दया (अहिंसा) पर बड़ा बल दिया जाता है। इस युग में आसिग कवि ने 'जीव-दया रास' मे श्रावक-धर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। 'बुद्धिरास' के समान इसमे भी भक्ति, सयम, सत्य आदि पर बल दिया गया है। धर्म की महिमा बताते हुए कवि धर्म-प्रेमियो मे विश्वास उत्पन्न कराना चाहता है कि धर्म-पालन से ही लोक में समृद्धि और परलोक में सुख सम्भव है। आगे चलकर कवि धर्मात्माओं की कष्ट-सहिष्णुता का उल्लेख करके धर्म-पालन के मार्ग की ओर भी सकेत करता है। इस प्रकार तिरेपन श्लोकों मे विरचित यह लघुकाय रास अभिनेय एव काव्य-छटा से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है।

इसी युग में एक ऐसा जैन-रास मिलता है, जिसका कृष्ण-बलराम से सम्बन्ध है। तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवन-

१ धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं, भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि-बल रायह-चरियइं, नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइं॥

गाथा के आधार पर, 'श्री नेमिनाथ रास' की रचना सुमतिगणि ने की। इस रास मे कृष्ण के चरित्र मे नेमिनाथ के चरित्र-बल की अधिकता दिखाना रासकार को अभीष्ट है। कृष्ण नेमिनाथ के चरित्र-बल को देखकर भयभीत हुए कि द्वारावती का राज्य उसे ही मिलेगा। अत मल्लयुद्ध के लिए नेमिनाथ को ललकारा। नेमिनाथ ने युद्ध की निस्सारता समझते हुए कृष्ण से मल्लयुद्ध मे भिडना स्वीकार नही किया। इसी समय ऐसा चमत्कार हुआ कि कृष्ण नेमिनाथ के हाथो पर बन्दर की भाति झूलते रहे, पर उनकी भुजाओ को झुका भी न सके। यह चमत्कार देखकर कृष्ण ने हार स्वीकार कर ली और वे नेमिनाथ की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। इसके पश्चात् उग्रसेन की कन्या राजिमती के साथ विवाह के अवसर पर जीव-हत्या देख कर नेमिनाथ के वैराग्य का वर्णन बडे मार्मिक ढग से किया गया है। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ स्थान-स्थान पर जैन भण्डारो मे उपलब्ध है।

कृष्ण-जीवन से सम्बन्ध रखने वाला एक और जैन रास 'गयसुकुमाल' मिला है। गजसुकुमाल मुनि का जो चरित्र जैन-आगमो मे पाया जाता है, वही इसकी कथा-वस्तु का आधार है।

इस रास मे गजसुकुमाल मुनि को कृष्ण का अनुज सिद्ध किया गया है। देवकी के छ सतक पुत्रो का इसमे उल्लेख है। उन पुत्रो के नाम है—अनीकसेन, अजितसेन, अनन्तसेन, अनहितरिपु, देवसेन और शत्रुसेन। देवकी के गर्भ से गजसुकुमाल के उत्पन्न होने से बाल-क्रीडा देखने की उनकी अभिलाषा पूर्ण हो, यही इस रास का उद्देश्य है। चौतीस श्लोको के इस लघुकाय रास का अभिनय देखने और उस पर विचार करने से शाश्वत सुख-प्राप्ति निश्चित मानी गई है।

रैवतगिरि एव आबू तीर्थों के महत्त्व के आधार पर 'रैवतगिरि रास' एव 'आबू रास' विरचित हुए। 'रैवतगिरि रास' चार कडवको मे और 'आबू रास' भासा और ठवणी मे विभक्त है। काव्य-सौष्ठव एव प्राकृतिक वर्णन की सूक्ष्मता की दृष्टि से 'रैवतगिरि रास' उत्कृष्ट रासो मे परिगणित होता है।

चौदहवीं शताब्दी के प्रमुख जैन रास

चौदहवी शती का मध्य आते-आते रासान्वयी काव्यो की एक नयी शैली 'फागु' के नाम से पनपने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि जब जैन-देवालयो मे रास के अभिनय की परम्परा ह्रासोन्मुख होने लगी तो बृहत् रासो की रचना होने लगी। इस तथ्य का प्रमाण मिलता है कि रास के अभिनेता युवक-युवतियो के सगीत-माधुर्य से यत्रतत्र प्रेक्षको के चारित्रिक पतन की आशका उपस्थित हो गई। ऐसी स्थिति मे विचारको ने सगठन के द्वारा यह निर्णय किया कि जैन मन्दिरो मे रास-नृत्य एव अभिनय निषिद्ध घोषित किया जाये। इसका परिणाम यह हुआ कि रासकारो ने रास की अभि-नेयता का बन्धन शिथिल देखकर बृहत् रास-काव्यो का प्रणयन प्रारम्भ किया। यह नवीन शैली इतनी विकसित हुई कि रास के रूप मे पन्द्रहवी शती मे और उसके पश्चात् पूरे महाकाव्य बनने लगे और रास की अभिनेयता एक प्रकार से समाप्त हो गई।

चौदहवी शती मे जनता ने मनोविनोद का एक नया समाधान ढूँढ निकाला और फागु-रचना होने लगी। ये फागु सर्वथा अभिनेय होने और धार्मिक बन्धनो से कभी-कभी मुक्त होने के कारण भली प्रकार विकसित हुए।

इसी शती की प्रमुख रचनाओ मे 'कछूली-रास' एव 'सप्त क्षेत्री रास' का महत्त्व है। 'कछूली रास' कछूली नामक नगर के माहात्म्य के कारण विरचित हुआ। यह नगर अग्नि-कुण्ड से उत्पन्न होने वाले परमारो के राज्य मे स्थित है। यह पवित्र तीर्थ आबू की तलहटी मे स्थित होने के कारण पुण्यात्माओ का वास-स्थल माना गया है। यहाँ पार्श्वजिन का विशाल मन्दिर है, जहाँ निरन्तर पार्श्वजिन भगवान् का गुणगान होता रहता है। यहाँ निवास करने वाले माणिक प्रभु सूरि आय-बिलादि व्रतो का निरन्तर पालन करते हुए अपना शरीर कृश बना डालते थे। उन्होने अन्तकाल समीप जानकर उदयसिंह सूरि को अपने पद पर आसीन किया। उदयसिह सूरि ने अपने गुरु के आदेश का पालन किया और तप के क्षेत्र मे दिग्विजय प्राप्त करके गुर्जरधरा, मेवाड़, मालवा, उज्जैन आदि राज्यो मे श्रावको को सद्धर्म का उपदेश किया। उन्होने स्थान-स्थान पर सघ की प्रभावना की और वृद्धावस्था मे कमलसूरि को अपने पद पर विभूषित करके अनशन द्वारा अपनी आत्मा को

शुद्ध किया। इस प्रकार इस रास में कलूवी नगरी के तीन मुनियों की जीवन-गाथा का संकेत प्राप्त होता है। इससे पूर्व विरचित रासों में प्राय एक ही मुनि का माहात्म्य मिलता है। इस कारण यह रास अपनी विशेषता रखता है। प्रज्ञा-तिलक का यह रास वस्त में विभाजित है और प्रत्येक वस्त के प्रारम्भ में ध्रुवपद के समान एक पदांश की पुनरावृत्ति पाई जाती है। जैसे—१ **तम्हि नयरी य तम्हि नयरी २ जिस नयरी य जिस नयरी ३ ताव संधीउ ताव संधीउ।** यह शैली जैन-काव्यों में आज भी पाई जाती है। सम्भवत एक व्यक्ति इनको प्रथम गाता होगा और तदुपरान्त **'कोरस'** के रूप में अन्य गायक इसकी पुनरावृत्ति करते रहे होंगे।

जैन-मन्दिरों में रास को नृत्य द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रणाली इस काल में भली प्रकार प्रचलित हो गई थी। वि० सं० १३७१ में अम्बदेव सूरि-विरचित 'समरा रासो' इस युग की एक उत्तम कृति है। बारह भासाओं में विभक्त यह कृति रास-साहित्य को नाटक की कोटि में परिगणित कराने के लिए प्रबल प्रमाण है। इस रास की एकादशी भासा का चौथा श्लोक इस प्रकार है—

जलवट नाटकु जोई नवरंग ए रास लउडारास ए।

जलाशय के समीप लकुटारास की शैली पर रास खेले जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

इसी कृति की द्वादशी भासा में समरा रास को पठन, मनन करने वालों को पुण्यात्मा माना गया है।[1] रास-साहित्य के विविध उपकरणों की भी इसमें चर्चा पाई जाती है।

इस युग की एक निराली कृति 'सप्तक्षेत्री रास' है। जैन-धर्म में विश्व (ब्रह्माण्ड) की रचना, सप्तक्षेत्रों की सृष्टि एव भरतखण्ड के निर्माण की विशेष प्रणाली पाई जाती है। 'सप्तक्षेत्री रास' में ऐसे नीरस विषय का वर्णन सरस-गतिमय भाषा में पाया जाता कवि-चातुर्य एवं रास-माहात्म्य का परिचायक है। सप्तक्षेत्रों के वर्णन के पश्चात् श्रावक के बारह मख्य व्रतों का उल्लेख भी किया गया है।

११६ श्लोकों वाले इस रास में व्रत-उपवास, चरित्र आदि का स्थान-स्थान पर विवेचन होने से यह रास पाठ्य-सा प्रतीत होने लगता है किन्तु सम्भव है, जैन धर्म की प्रमुख शिक्षाओं की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए नृत्यों द्वारा इस रास को सरस एव चित्ताकर्षक बनाने का प्रयास किया गया हो। यह तो निस्सन्देह मानना पड़ेगा कि जैन धर्म का इतना विस्तृत विवेचन एकत्र एक रास में मिलना कठिन है। कवि इसके लिए भूरि-भूरि प्रशसा प्राप्त करने का भाजन है। कवि ने विविध गेय छन्दों का प्रयोग किया है, अत यह रास-काव्य अभिनेय साहित्य की कोटि में आ सकता है।

चौदहवीं शताब्दी में जैन धर्म-प्रतिपालक कई महानुभावों के जीवन को केन्द्र बनाकर विविध रास लिखे गए। इस युग की यह भी एक विशेषता है। ऐतिहासिक रासों की परम्परा इस शताब्दी के पश्चात् भली प्रकार पल्लवित हुई।

पन्द्रहवीं शती के मुख्य रासकार

१. शालिभद्र सूरि—इन्होंने 'पडव चरित' की रचना देवचन्द सूरि की प्रेरणा से की। यह एक रास-काव्य है, जिसमें महाभारत की कथा वर्णित है। केवल ७९५ पंक्तियों में सम्पूर्ण महाभारत की कथा सार-रूप में कह दी गई है। कथा में जैन-धर्मानुसार कुछ परिवर्तन कर दिया गया है परन्तु यह सब गौण है। काव्य-सौष्ठव, काव्यबन्ध और भाषा, तीनों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। ग्रन्थ का वस्तु-संविधान बड़ा ही आकर्षक है। इतिवृत्त के तीव्र प्रवाह, घटनाओं के सुन्दर संयोजन और स्वाभाविक विकास की ओर हमारा ध्यान अपने-आप आकर्षित होता है। दूसरी ठवणी में ही कथा प्रारम्भ हो जाती है—

१ **रचियऊ ए रचियऊ ए रचियऊ समरा रासो,**
एहु रास जो पढइ गुणइ नाचिउ जिणहरिदेइ।
श्रवणी सुणइ सो बयठऊ ए,
तीरथ ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई॥

हबिणा-उरि पुरि-कुरि-नरिंद के रो कुलमंडण।
सहजिहिं संतु सुहाग सीलु हुइ नवइ संतणु ।।

कथानक की गति की दृष्टि से चतुर्थ ठवणी का प्रसग विशेष उल्लेखनीय है। ऐसे अनेक प्रसग इस ग्रन्थ मे मिलते हैं। काव्य-बन्ध के दृष्टिकोण से देखा जाये तो समग्र ग्रन्थ १५ ठवणियो (प्रकरणो) मे विभाजित है। प्रत्येक ठवणी गेय है। प्रत्येक ठवणी के अन्त मे छन्द बदल दिया गया है और आगे की कथा की सूचना दी गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ मे बन्ध-वैविध्य पाया जाता है।

२. जयानन्द सूरि—इनकी कृति 'क्षेत्र प्रकाश' है। वि० स० १४१० के लगभग इसकी रचना हुई। यह भी एक रास ही है।

३. विजयभद्र सूरि—इनके 'कमलावती रास' (वि० स० १४११) मे ३६ कडियाँ हैं और 'कलावती रास' मे ४६ कडियाँ हैं। इसमे तत्कालीन भाषा के स्वरूप का अच्छा आभास मिलता है।

४. विनयप्रभ—'गौतमरास' (वि० स० १४१२) ५६ कडियो का यह ग्रन्थ ६ भासा (प्रकरण) मे विभक्त है। प्रत्येक भासा के अन्त मे छन्द बदल दिया गया है। इसकी रचना कवि ने खभात मे की है—

चउदह से बारोत्तर वरिसे गोयम गणधर।
केवल दिवसे, खंभनयर प्रभुपास पसाये कीधो ।।
कवित उपगार परो आदि ही मगल एह भणीजे।
परब महोत्सव पहिलो दीजे रिद्धि-सिद्ध कल्याण करो ।।

इस ग्रन्थ मे काव्य चमत्कार भी कही पाया जाता है। अलकारो का सुन्दर उपयोग झलकता है। चमत्कार का मूल भी यही अलकार योजना है।

काव्य-बन्ध की दृष्टि से यह ग्रन्थ छ भासा (प्रकरण) मे विभाजित है। छन्द-वैविध्य भी इस मे पाया जाता है और इसका गेय तत्त्व सुरक्षित है।

५. ज्ञानकलश मुनि—'श्री जिनोदय सूरिपट्टाभिषेक रास' (वि० स० १४१५) ३७ कडियो के इस ग्रन्थ मे जिनोदय सूरि के पट्टाभिषेक का सुन्दर वर्णन है। अलकारिक पद्धति मे लिखित एक सुन्दर एव सरल काव्य है।

काव्य की दृष्टि से इसमे वैविध्य कम ही है। रोला, सोरठा, घत्ता आदि छन्दो का प्रयोग पाया जाता है। सस्कृत की तत्सम शब्दावली इसमे पाई जाती है। साथ ही **तासु, सीसु** आदि रूप भी मिलते है। **तीयरे, नीबड, पाहि, परि, हारि, दीसई, लेखई** जैसे रूप भी मिलते है।

६ पहराज—इन्होने अपने गुरु जिनोदय सूरि की स्तुति मे छ छप्पय लिखे है। प्रत्येक छप्पय के अन्त मे अपना नाम दिया है। इन छप्पयो मे ऐसा विदित होता है कि अपभ्रश के स्वरूप को बनाए रखने का मानो प्रयत्न-सा किया जा रहा हो। **इम जाणिकरि, बखाणइ** आदि शब्द इस मे प्रयुक्त हुए हैं।

इसी युग मे किसी अज्ञात कवि का एक और छप्पय भी जिनप्रभ सूरि की स्तुति का मिला है। सम्भव है, यह लघु रचना भी रास-सदृश गायी जाती रही हो। पर जब तक इसका कही प्रमाण नही मिलता, इसे रास कैसे माना जाये ?

७ विजयभद्र—'हँसराज वच्छराज चउपई' (वि० स० १४६६) हँस और बच्छ राज की कथा इसमे वर्णित है।

८ असाइत—'हँसाउली'। इसमे हँस और बच्छराज की एक लोक कथा है। 'हँसाउली' का वास्तविक नाम 'हँसवच्छचरित' है। यह एक सुन्दर रसात्मक-काव्य है। इसका अगी रस है—अद्भुत। करुण और हास्य रस को भी स्थान मिला है। तीन विरह-गीतो मे करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

छन्द की दृष्टि से दूहा, गाथा, वस्तु और चौपाई का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस ग्रन्थ की विशेषता है—इसका सुन्दर चरित्राकन। हंस और बच्छ दोनो का चरित्र स्वाभाविक बन पड़ा है।

९. मेरुनंदनगणी—'श्री जिनोदय सूरि विवाहलउ'। इसका रचना-काल है वि० स० १४३२ के बाद। इसमें श्री जिनोदय सूरि की दीक्षा के प्रसग का रोचक वर्णन है। रचयिता स्वयं श्री जिनोदय सूरि के शिष्य थे। चवालीस

कडियो का यह काव्य अलंकारिक शैली मे लिखा गया है।

काव्य बन्ध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। झूलणा, वस्तु, धात, पादाकुल का विशेष प्रयोग पाया जाता है। इन्होंने बत्तीस झूलणा छन्दो में रचना की।

इसी कवि का बत्तीस कडियो का काव्य-ग्रन्थ है—'अजित-शान्ति-स्तवन'। कहा जाता है कि कवि संस्कृत का विद्वान् था, परन्तु अब तक उसकी कोई प्रति प्राप्त नही हुई।

इस युग मे मातृका और कक्का (वर्ण-माला के प्रथम अक्षर से लेकर अन्तिम वर्ण तक क्रमश पद-रचना) शैली में भी काव्य-रचना होती थी। फारसी में 'दीवान' इसी शैली में लिखे जाते हैं। जायसी की 'अखरावट' भी इसी शैली मे लिखा गया है।

देवसुन्दर सूरि के किसी शिष्य ने उन्नहत्तर कडियों की 'काक बन्धि चउपइ' की रचना की है। इस ग्रन्थ मे कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। कवि के सम्बन्ध मे भी कुछ ज्ञात नहीं होता, केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आरम्भ में वह देवसुन्दर सूरि को नमस्कार करता है। देवसुन्दर सूरि वि० स० १४५० तक जीवित थे, अत रचना भी उसी समय की मानी जा सकती है।

भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो तत्सम शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। साथ ही **बीजइ, चितवइ, लाघइ, जिनवर** आदि शब्द-प्रयोग भी मिलते हैं।

इस युग मे जैनों के अतिरिक्त अन्य कवियो ने भी काव्य-रचना की है, जिसमे श्रीधर व्यास विरचित 'रणमल-छन्द' का विशेष स्थान है।

१०. **हंस**—'शालिभद्र रास' (वि० स० १४५५), कडियाँ २१६। इस काव्य की खडित प्रति प्राप्त हुई है। हस कवि जिनरत्न सूरि के शिष्य थे। आश्विन सुदी दशवी के दिन यह रास-रचना पूर्ण हुई।

११. जयशेखर सूरि—प्राकृत, संस्कृत और गुजराती के बडे भारी कवि थे। इनके गुरु का नाम था—महेन्द्रप्रभ सूरि। इनकी मुख्य रचना है 'प्रबोध चिन्तामणि' (४३२ कडियो वाला एक रूपक काव्य)। रचना-काल वि० स० १४३२ है। इसकी रचना संस्कृत भाषा मे भी है।

इसीके साथ कवि ने 'त्रिभुवन-दीपक-प्रबन्ध' की रचना देशी भाषा मे की है। उसके 'उपदेश चिन्तामणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थ मे बारह हजार से भी अधिक श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त शत्रुजय तीर्थ द्वात्रिंशिका, गिरनारगिरि द्वात्रिंशिका, महावीर जिन द्वात्रिंशिका, जैन कुमार सम्भव, छन्द शेखर नवतत्त्व कुलक, अजित शान्तिस्तव, धर्म-सर्वस्व आदि मुख्य हैं। जयशेखर सूरि महान् प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इस रास नाम से इनकी कोई पृथक् कृति नही मिलती, किन्तु शत्रुजय तथा गिरनार तीर्थों पर बत्तीस छन्दो की रचना रास के सदृश गेय हो सकती है। इस प्रकार इसे रासान्वयी काव्य माना जा सकता है।

१२. भीम—असाइत के बाद लोक-कथा लिखने वालो मे दूसरा व्यक्ति है—भीम। उसने 'सदयवत्सचरित' की रचना वि० स० १४६६ मे की। कवि की जाति और निवास-स्थान का पता नही मिलता।

यह एक सुन्दर रसमयी कृति है। ग्रन्थारम्भ मे ही प्रतिज्ञा की गई है—

सिंगार हास करुणा रवो, वीरा भयान बीभत्सो।
अद्भुत शत नवइ रसि अंपिसु सुवय वच्छस्स।

फिर भी विशेषरूप से वीर और अद्भुत रस मे ही अधिकांश रचना हुई है। शृंगार का स्थान अतिगौण है। भाषा ओजपूर्ण एवं प्रसादगुण-युक्त है।

अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग इसमें पाया जाता है। दूहा, पद्धडी, चौपाई, वस्तु, छप्पय, कुडलियाँ और मुक्तिदाम का इसमे आधिक्य है। पदो का भी वैविध्य है।

१३. शालि सूरि—इन्होंने पौराणिक कथा के आधार पर १८२ छन्दों की एक सुन्दर रचना की। जयशेखर सूरि के पश्चात् वर्णवृत्तों में रचना करने वाले यही व्यक्ति है। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। काव्य-बन्ध की दृष्टि

मे इस ग्रन्थ का कोई मूल्य नही, परन्तु विविध वर्णवृत्तो का विस्तृत प्रयोग इसकी विशेषता है।

गद्य और पद्य मे साहित्य की रचना करने वालो मे सोमसुन्दर सूरि का स्थान सर्व प्रथम है। अनेक जैन-ग्रन्थो का इन्होने सफल अनुवाद किया है। इनके गद्य-ग्रन्थो मे बालावबोध, उपदेशमाला, योगशास्त्र आराधना-पताका, नवतत्त्व आदि प्रमुख है। कहा जाता है कि इन्होने आराधना-रास की भी रचना की थी। परन्तु अब तक उक्त ग्रन्थ अप्राप्य है। इनका दूसरा प्राप्त सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है, 'रग सागर नेमिनाथ फाग'। नेमिनाथ के जन्म से इनका चरित्र आरम्भ किया गया है।

यह काव्य तीन ग्रन्थो मे विभक्त है, जिनमे क्रमश ३७, ४५ और ३७ पद्य है। छन्दो मे भी वैविध्य है। अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, गाथा आदि छन्दो का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस युग मे 'खरतर गुण वर्णन छप्पय' नामक एक और विस्तृत ग्रन्थ भी किसी अज्ञात कवि का प्राप्त हुआ है। इतिहास की दृष्टि से इस काव्य का विशेष महत्त्व है। कई ऐतिहासिक घटनाए इसमे आती है। काव्यतत्त्व की दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता नही है। इसकी भाषा अवहट्ट से मिलती-जुलती है। कही-कही डिंगल का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

लोक-कथाओ को लेकर लिखे जाने वाले काव्यो—'हस बच्छ चउपई' हसाउली और 'सदय वत्स चरित्र' के पश्चात् हीरानन्द सूरि विरचित 'विद्याविलास पवाड' का स्थान आता है। इनकी अन्य कृतियाँ भी मिलती है, यथा 'वस्तुपाल तेजपाल रास', 'कलिकाल दर्शाण भद्रकाल' आदि। परन्तु इन सबमे श्रेष्ठ है—'विद्याविलास पवाड'। काव्य-सौष्ठव, काव्य-बन्ध और भाषा, इन तीनो की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व है। इसकी कथा लोक-कथा है जो मल्लिनाथ काव्य मे भी मिलती है।

काव्य-बन्ध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। इसमे सवैया इसी, वस्तु-छन्द, दूहे, चौपाई, राग भीम-पलासी, राग मधूड, राग बसन्त आदि का विपुल प्रयोग मिलता है। समस्त ग्रन्थ गेय है और यही इसकी विशेषता है। प्रत्येक छन्द के अन्त मे कवि का नाम पाया जाता है।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। राजदरबार, वाणिज्य नारी का रोब व समाज मे होने वाले कलह, राज्य की खटपट, विवाह-समारोह आदि का सजीव वर्णन इसमे पाया जाता है।

रास द्वारा जैन-दर्शन का प्रसार

पन्द्रहवी शताब्दी तक विरचित परवर्ती अपभ्रश रासो के विवेचन एव विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस काव्य-प्रकार के निर्माता जैन-मुनियो का आशय एकमात्र धर्म-प्रचार था। जैन-धर्म मे चार प्रकार के अनुयोग मूलरूप से माने जाते हैं, जिनके नाम है द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, कथानुयोग और गणितानुयोग। गणितानुयोग के आधार पर अनेक रास लिखे गए हैं, जिनमे द्रव्य, गुण, पर्याय, स्याद्वाद, नय, अनेकान्तवाद एव तत्त्व-ज्ञानका उपदेश सन्निहित है। ऐसे रासो मे यशोविजय गणी विरचित 'द्रव्यगुणपर्याय नो रास' सबसे अधिक माना जाता है। चरणकरणानुयोग के आधार पर विरचित रासो मे महामुनियो के चरित्र, साधु-गृहस्थो के धर्म, अणुव्रत-महाव्रत-पालन की विधि, श्रावको के इक्कीस गुण, साधुओ के सत्ताईस गुण, सिद्धो के आठ गुण, आचार्यों के छत्तीस और उपाध्याय के पच्चीस गुणो का वर्णन मिलता है। 'उपदेश-रसायन-रास' इसी कोटि का रास प्रतीत होता है। कथानुयोग रास मे, कल्पित और ऐतिहासिक, दो प्रकार की कथा-पद्धति पाई जाती है। यद्यपि कल्पित रासो की सख्या अत्यल्प है, तथापि इनका महत्त्व निराला है। ऐसे रासो मे 'अगडदत्त रास', 'चूनडी रास', 'रोहिणीया चोर रास', 'जोग रासो', 'पोसहरास', 'जोगी-रासो' आदि का नाम उल्लेखनीय है। यदि 'चतुष्पादिका' को रासान्वयी काव्य मान ले, तो विजयभद्र का 'हसराज बच्छ-राज' एव असाइत की 'हसाउली' लोक-कथा के आधार पर विरचित है।

ऐतिहासिक रासो की सख्या अपेक्षाकृत अधिक है। ऐतिहासिक रासो मे भी रासकारो ने कल्पना का योग लिया है और अभीष्ट सिद्धि के लिए काव्य रस का सन्निवेश करके ऐतिहासिक रासो को रसाप्लुत कर देने की चेष्टा की

है। किन्तु ऐतिहासिक रासो मे ऐतिहासिक घटनाओ की प्रधानता इस बात को सिद्ध करती है कि रासकार की दृष्टि कल्पना की अपेक्षा इतिहास को अधिक महत्त्व देना चाहती है। ऐतिहासिक रासो मे 'ऐतिहासिक रास सग्रह', के चार भाग अत्यन्त महत्त्व के है।

गणितानुयोग के आधार पर विरचित रासो मे भूगोल और खगोल के वर्णन को महत्त्व दिया जाता है। इस पद्धति पर विरचित रास सृष्टि की रचना, तारा-ग्रहो के निर्माण, सप्तक्षेत्रो, महाद्वीपो, देश-देशान्तरो की स्थिति आदि का परिचय देते है। ऐसे रासो मे विश्व के प्रमुख पर्वतो, नदी-सरोवरो, वन-उपवनो, उपत्यकाओ और मरुस्थलो का वर्णन एव प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा का वर्णन प्रिय विषय रहा है। किन्तु गणितानुयोग पर निर्मित रासो मे प्राकृतिक छटा की अपेक्षा प्रकृति मे पाये जाने वाले पदार्थों की नामावली पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसे रासो मे 'सप्तक्षेत्री रास' बहुत अधिक प्रसिद्ध है।

जिस युग मे लघुकाय रास अभिनय के उद्देश्य से लिखे जाते थे, उस युग मे कथानक के उत्कर्ष एवं अपकर्ष, चरित्र-चित्रण की विविधता एव मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की रक्षा पर उतना बल नही दिया जाता था जितना काव्य को रसमय एव अभिनेय बनाने पर। आगे चलकर जब रास लघुकाय न रहकर विशालकाय होने लगे तो उनमे अभिनेय गणो को सर्वथा उपेक्षणीय माना गया और उनके स्थान पर पात्रो के चरित्र-चित्रण की विविधता, कथा-वस्तु की मौलिकता व चरित्रो की मनोवैज्ञानिकता पर बहुत बल दिया जाने लगा।

रस की दृष्टि से इस युग मे वीर, शृगार, करुण, बीभत्स, रौद्र आदि सभी रसो के रास विरचित हुए।

जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त

श्री दरबारीलाल जैन कोठिया, एम० ए०, न्यायाचार्य
प्राध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी

यो तो सभी दर्शनो मे अपने-अपने सिद्धान्त और आदर्श होते है। किन्तु जैन दर्शन के सिद्धान्त और आदर्श अपना कुछ विशेष स्थान रखते हैं। उसके सिद्धान्तों की विशेषता यही है कि उनमें व्यापकता तथा असकीर्णता के साथ विचार को भी स्थान प्राप्त है। यहाँ जैन दर्शन के उन्ही मौलिक सिद्धान्तो पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

परीक्षण-सिद्धान्त

जैन दर्शन का सबसे पहला और कठोर, किन्तु महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि किसी बात को तुम इसलिए ग्रहण मत करो कि वह अमुक की कही हुई है और अन्य को इसलिए मत छोड़ो कि वह अमुक की कही हुई नही है। किन्तु परीक्षण की कसौटी पर पहले उसे कस लो और उसकी सत्यता तथा असत्यता को जान लो। यदि परीक्षण (परख) द्वारा वह सत्य सिद्ध हो, तो उसे स्वीकार करो और यदि सत्य सिद्ध न हो, तो उसे ग्रहण मत करो—उसमे उपेक्षा (न राग और न द्वेष) धारण कर लो। जीवन बहुत ही अल्प है, उसके साथ खिलवाड नही होना चाहिए। एक पैसे की हाँडी खरीदी जाती है, तो वह भी सब तरह से ठोक-बजाकर ली जाती है। फिर जीवन-विकास के मार्ग को चुनने मे भूल क्यो होनी चाहिए? अत जीवन-विकास अथवा आत्मोन्नति के लिए परीक्षण-सिद्धान्त नितान्त आवश्यक है और उसे सदैव उपयोग मे लाना चाहिए। लौकिक कार्यों मे एक बार भी यदि उसकी उपेक्षा कर दी जाये, तो वहाँ भी उसकी उपेक्षा करने से भयकर अलाभ और हानियाँ ही पल्ले मे पड़ती है, तो फिर धर्म के विषय मे उसकी उपेक्षा तो होनी ही नही चाहिए। मानव-जीवन और उसके लिए धर्म बार-बार नही मिलते हैं। यदि जीवन के साथ ऐसे धर्म का गठ-बन्धन हो गया है कि जीवन-विकास पर उसका कोई प्रभाव ही नही पड रहा है, तो मानव-जीवन और उससे सम्बन्धित धर्म दोनो ही उसके लिए व्यर्थ भार है। अत धर्म के सम्बन्ध मे तो परीक्षण-सिद्धान्त बहुत ही आवश्यक है। जैन दर्शन मे सम्यक्त्व के आठ अगो का जहाँ वर्णन किया गया है,उनमे **अमूढ दृष्टि** का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक सत्यान्वेषी को सत्यान्वेषण मे अ + मूढ दृष्टि होना परम आवश्यक है। उसके बिना वह सत्य का अन्वेषण ठीक तरह से नही कर सकता है। यह 'अमूढ दृष्टि' ही परीक्षण-सिद्धान्त है और दूसरी कोई वस्तु नही है। जैन दर्शन के इस अमूढ दृष्टि बनाम परीक्षण-सिद्धान्त के आधार पर जैनाचार्यो ने यहाँ तक घोषणा की है कि ईश्वर-परमात्मा जैसी श्रद्धेय और सर्वोच्च वस्तु को भी परीक्षा करके मानो। जैसा कि आचार्य हरिभद्र ने प्रकट रूप मे कहा है—

"महावीर मे न तो मेरा अनुराग है और न कपिल आदिको मे द्वेष है। किन्तु जिसके वचन युक्तिपूर्ण है,उन्ही का अनुगमन करना न्याययुक्त है।"[1]

स्याद्वाद तीर्थ के प्रभावक एव सुप्रसिद्ध जैन तार्किक स्वामी समन्तभद्राचार्य ने 'आप्तमीमासा' नाम का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है, जिसमे उन्होने भगवान् महावीर की खूब परीक्षा-मीमासा की है और परीक्षा के

---

१ पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

पश्चात् उनमे परमात्मा के योग्य गुणो को पाकर उन्हे परमात्मा स्वीकार किया है ।[1] विद्यानन्द आदि उत्तर कालीन आचार्यों ने भी 'आप्तपरीक्षा' जैसे परीक्षा-ग्रन्थो का निर्माण करके परीक्षण के सिद्धान्त को उद्दीप्त किया है । वस्तुत सत्य का ग्रहण परीक्षण के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना हो ही नही सकता । अत जैन दर्शन मे उसे प्रथम महत्त्व दिया गया है और उसे अपनाया गया है । हमे प्रसन्नता है कि आज विज्ञान के युग मे समूची दुनिया भी इस परीक्षण-सिद्धान्त को स्वीकार करने लगी है । इतना ही नही उसे प्रामाणिकता की सर्वोच्च कसौटी माना जाने लगा है और जो विज्ञान (Science) के नाम से हमारे सामने प्रस्तुत है ।

यहाँ एक बात और कहने को रह गई है, वह यह कि परीक्षक को न्यायवान् (उपपत्तिचक्षु) और निष्पक्ष (समदृष्टि) होना चाहिए ।[2] इससे यह फल होगा कि उसका निर्णय विचारपूर्ण एव अभ्रान्त तथा सत्य होगा और वह सत्य के ग्रहण एव अनुसरण मे सदैव प्रस्तुत रहेगा ।

स्याद्वाद-सिद्धान्त

जैन दर्शन का दूसरा मौलिक सिद्धान्त स्याद्वाद है । कोई भी वस्तु क्यो न हो, उसे एक पहलू से मत देखो उसे सभी पहलुओ-दृष्टियो से देखो, क्योकि हर वस्तु अनुकूल-प्रतिकूल, विरोधी-अविरोधी आदि अनेक धर्मों का पिण्ड है । जो भोजन भूखे के लिए उसकी भूख-निवृत्ति करने मे अच्छा एव अमृतोपम है, वही भोजन भरपेट (अफरे अजीर्णवान्) के लिए अनिष्टकर एव विष-तुल्य है । जो दूध अनेको के लिए पौष्टिक और लाभदायक होता है, वही दूध पित्तज्वर वाले रोगी को अच्छा नही लगता । जो अग्नि रोटी बनाने, प्रकाश करने आदि के लिए उपयोगी और लाभ पहुँचाने वाली है वही अग्नि करोडो-अरबो की सम्पत्ति को राख बना देने वाली भी है । इससे यह ज्ञात हुआ कि सभी वस्तुओ मे अनुकूल-प्रतिकूल अनेक धर्म समाये हुए है । एक धर्म वाली कोई भी वस्तु नही है, अत उसे एक ही पहलू से देखना और मानना उचित नही है । यदि ऐसा किया जायेगा तो वस्तु के साथ तो अन्याय होगा ही, किन्तु उसकी सत्यता को भी हम नही पा सकेगे । अतएव उसे स्यात् की मान्यता—स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षा-सिद्धान्त द्वारा देखना और मानना चाहिए । जब वस्तु अनेकान्तात्मक—अनेक धर्मरूप है, तो उसका निर्दोष दर्पण स्याद्वाद ही हो सकता है, जिसमे समग्र धर्म प्रतिबिम्बित हो सकते है और एक की भी उसमे उपेक्षा या अभाव नही हो सकता है । इतना हो सकता है कि एक धर्म की विवक्षा मे उसकी प्रधानता और शेष धर्मों की विवक्षा न होने से उनकी अप्रधानता (गौणता अथवा तदगता) रहे[3] और वस्तुत यही होता है । स्याद्वाद का प्रयोजन है—यथावत् वस्तु-तत्त्व का ज्ञान कराना, उसकी ठीक तरह से व्यवस्था करना, और 'स्याद्वाद' शब्द का अर्थ है—कथञ्चित्वाद, दृष्टिवाद, अपेक्षावाद, सर्वथा एकान्त का त्याग, भिन्न-भिन्न पहलुओ से वस्तु-स्वरूप का निरूपण, मुख्य और गौण की दृष्टि से पदार्थ का विचार, अपनी दृष्टि को रखते हुए अथवा उस पर विचार करते हुए विरोधी दृष्टि की उपेक्षा नही करना—उसको भी लक्ष्य मे रखना ।[4]

स्याद्वाद पद मे दो शब्द है : **स्यात्** और **वाद** । इनमे 'स्यात्' का अर्थ है किसी एक अपेक्षा से—एक दृष्टि

१ आप्तमीमांसा, कारिका १ से ६ तक ।

२ जैसाकि स्वामी समन्तभद्र ने 'युक्त्यनुशासनम्' नाम की अपनी दार्शनिक कृति में निम्न पद्य द्वारा प्रकट किया है

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥

—युक्त्यनुशासनम्, का० ६३

३ धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः ।
अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता ॥

—आप्तमीमांसा, का० २२

४ लेखक द्वारा सम्पादित न्यायदीपिका का प्राक्कथन, पृ० ६

मे—सब प्रकार से नही, और 'वाद' का अर्थ है कथन या मान्यता। स्यात् के कथन या मान्यता का नाम स्याद्वाद है। अर्थात् अमुक धर्म अमुक अपेक्षा से है और अमुक धर्म अमुक अपेक्षा से है, इस प्रकार के कथन का नाम स्याद्वाद है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' नही है, जैसा कि कुछ लोग समझते है। उसका तो उल्लिखित 'कथचित्' (एक अपेक्षा से) अर्थ है। किसी एक व्यक्ति को लीजिये। वह किसी का पुत्र है, किसी का पिता है, किसी का मामा है, किसी का भानजा है, किसी का ताऊ है और किसी का भतीजा है। इस तरह उसमे अनेक धर्म एव सम्बन्ध समाये हुए है। अपने पिता की अपेक्षा वह पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। अपने भानजे की अपेक्षा मामा और अपने मामा की अपेक्षा भानजा है। इसी तरह वह अपने ताऊ की अपेक्षा भतीजा और भतीजे की अपेक्षा से ताऊ भी है। इस प्रकार उसमे पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व और स्वस्रीयत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते है और उनमे परस्पर कोई विरोध या असगति नही है। स्याद्वाद इन सब धर्मों की यथावत् व्यवस्था करता है। हाँ, मामा कहे जाने पर शेष सब धर्म गौण होकर रहते है और विवक्षित धर्म प्रधान बन जाता है।

'स्याद्वाद' वास्तव मे दो विरोधी-से दिखने वाले धर्मों मे समन्वय का मार्ग प्रदर्शित करता है। परन्तु आश्चर्य है कि उसका व्यवहार मे उपयोग करते हुए भी उसे सिद्धान्तत स्वीकार नही किया जाता। कितने ही व्यक्ति उसका पूरा उपयोग ही करना नही जानते, और अनेक ऐसे है कि उसके नाम से ही चिढते है। जब स्वभावत प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है, तब उसकी व्यवस्था के लिए स्याद्वाद-सिद्धान्त को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी धर्म के द्वारा वस्तु का अथवा वस्तु के किसी धर्म का प्रतिपादन करते समय उसके प्रतिकूल किसी भी निमित्त, किसी भी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्य को लक्ष्य मे रखना आवश्यक है और इस तरह से ही वस्तु की विरुद्ध धर्म-विशिष्टता अथवा वस्तु मे विरुद्ध धर्म का अस्तित्व अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यदि उक्त प्रकार मे स्याद्वाद को न अपनाया जायेगा, तो वस्तु की विरुद्ध धर्म-विशिष्टता का, अथवा वस्तु मे विरोधी धर्म का अभाव मानना अनिवार्य हो जायगा और इस तरह मे अनेकान्त स्वरूप का भी जीवन समाप्त हो जायेगा। अत स्याद्वाद-सिद्धान्त एक वस्तु-व्यवस्थापक निर्णायक सिद्धान्त है और उसकी सार्वभौमता स्वतः सिद्ध है। वह एक सर्वोच्च न्यायाधीश है, जिसके निर्णय मे अन्यथात्व का कभी भी प्रदर्शन नही हो सकता।

अहिंसा-सिद्धान्त

जैन दर्शन का तीसरा आदर्श सिद्धान्त है—अहिसा। अहिसा का अर्थ है—दुष्ट अभिप्राय से किसी को पीडा न पहुंचाना। जब तुम किसी जीव को जीवन-दान नही दे सकते, तो उसे तुम्हे लेने का भी अधिकार नही है। सृष्टि का छोटे-से-छोटा प्राणी जीने की इच्छा रखता है। वह यह नही चाहता कि मैं मारा जाऊँ, यद्यपि प्रकृति के नियम—आयु के समाप्त हो जाने पर मरने—की वह अवहेलना नही कर सकता है और उसका उसे पालन करना ही पडता है। पर जब हमे अपने प्राण प्यारे है तो दूसरो को क्यो नही होने चाहिए? इसलिए स्वय अपने अनुचित स्वार्थों के लिए दूसरो को कष्ट न पहुँचाओ। यही अहिंसा-तत्त्व है। इस अहिसा-तत्त्व के बिना एक पल भी कोई जी नही सकता। अत यदि अहिसा के इस श्रेष्ठ भाव को ससार का प्रत्येक मानव समझ ले और अपने जीवन मे उसे उतार ले, तो मानव-जगत् मे अत्याचारो एव अन्यायो की सृष्टि न हो।

जैन धर्म की भित्ति इसी अहिसा-तत्त्व की नीव पर स्थित है। जैन धर्म के प्रवत्तको ने इस अहिसा के अग-प्रत्यग का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है और यह सिद्ध किया है कि अहिसा का परिपालन प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एव राष्ट्रीय स्थिति में किया जा सकता है, कोई बाधा उपस्थित नही हो सकती। अहिसा के सम्यक् आचरण से जब साधारण आत्मा भी परमात्मा हो सकती है—कर्म-बन्धन से छूट सकती है, तब अन्य लौकिक कार्यों की सफलता प्राप्त होना असम्भव नही है।

आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओ पर विजय पाने वाले (वीर) व्यक्तियो की समष्टि को 'जैन' कहा गया है और

ऐसे व्यक्तियो द्वारा आचरित धर्म ही जैन धर्म है।[1] जब जैन-धर्म की भित्ति इतनी सुदृढ एव विशाल है, तब उसकी नीव—अहिसा, विशेष सुदृढ एव विशाल होनी ही चाहिए। जैन धर्म के सभी आचार-विचार इसी अहिसा-तत्त्व के ऊपर रचे गए है। जिस आचार और विचार मे अहिसा नही सधती है, जैन-धर्म की दृष्टि मे वह आचार सदाचार नही है और विचार सद्विचार नही है। ऊपर जिस स्याद्वाद-सिद्धान्त की चर्चा की गई है, वह भी मानसिक अहिसा (विचार-शुद्धि) के परिपालन के लिए है।

यो तो इस अहिसा-तत्त्व का भारतीय सभी धर्मों मे स्थान मिला है और उसकी कुछ-न-कुछ रूपरेखा खीची गई है, किन्तु उनकी अहिसा स्थूल जगत् तक ही सीमित है—मानव तथा कुछ दूसरे स्थूल प्राणियो मे ही परिसमाप्त हो जाती है। किन्तु जैन धर्म की अहिसा स्थूल जगत के परे सूक्ष्म जगत्—छोटे-छोटे जगम और स्थावर प्राणियो मे भी व्याप्त है। इसमे भी आगे बढती हुई वह रागद्वेषादि विकारो के उत्पन्न न होने मे ही विश्रान्त होती है। तात्पर्य यह कि जैनो की अहिसा मानसिक, वाचिक और कायिक होती हुई आत्मिक होकर रहती है, जब कि दूसरो की अहिसा मात्र कायिक, और वह भी कुछ मर्यादा तक ही पाई जाती है। जैन धर्म के प्रवर्तको ने इस अहिसा-तत्त्व का मात्र कथन ही नही किया, अपितु अपने जीवन मे उसे व्यवहार्य एव आचरणीय भी बनाया है।

जैन-धर्म मे अहिसा की एक अविच्छिन्न धारा होते हुए भी साधु-अहिसा और गृहस्थ-अहिसा के भेद से उसके दो भाग कर दिये गए है। सर्वसग-विरत साधुजन सब तरह की कठिनाइयो, उपद्रवो, परीषहो और कष्टो को सहन करते हुए अहिसा की साधना करते है। वे अपने विरोधी अथवा हानि पहुँचाने वालो को भी मित्र समझते है। उन पर न कभी रोष भाव लाते है और न हिसक वृत्ति को आने देते है। जो भी कष्ट आ पडे उसे समता-भावो से सहन करना ही उनका एकमात्र कर्तव्य होता है। वे ऐसे प्रसगो मे कभी घबराते नही है। उनका स्वागत करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहते है। इस तरह अहिसा का आचरण करने से उनकी आत्मा मे महान् आत्म-बल, प्रबल आत्म-साहस और असाधारण आत्म-तेज आदि गुण उदित होते है, जिससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी भी अपना विरोध भूल जाते है और उनके अनुयायी बन जाते है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इस बात को स्वीकार किया है।[2] जैन दर्शन मे साधु-अहिसा के बारे मे स्पष्ट कहा गया है कि मुमुक्षु के लिए मोक्ष-प्राप्ति की साधना मे साधु-पद अन्तिम स्थिति है। उसे अधिकाधिक निर्विकार एव निर्लिप्त होना चाहिए तथा सम्पूर्ण प्रकार की कठिनाइयो को झेलने के पूर्ण सामर्थ्य से युक्त भी होना चाहिए। अतएव साधु-अहिसा के पालन मे कोई अपवाद या छूट नही है। इस अहिसा की पूर्णता के लिए ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतो—अपवादहीन व्रतो का जैन साधु आचरण करते है।

गृहस्थो के लिए देश-अहिसा के पालन का उपदेश है। वे गृहस्थाश्रम मे रहकर पूर्ण हिसा का त्याग नही कर सकते है। उन्हे अपने परिवार की, अपनी जाति की अपने देश की, अपनी सम्पत्ति की और स्वय अपनी भी रक्षा करने के लिए एव अपने जीवन-निर्वाह के लिए आरम्भादि अवश्य करने पडते है। तात्पर्य यह कि गृहस्थ जब हिसा को छोड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है तो वह समस्त हिसा को चार भागो मे बाँट लेता है। वे चार भाग इस प्रकार है

१. **सांकल्पिकी**—सकल्प-पूर्वक होने वाली हिसा।

२. **आरम्भी**—भोजनादि बनाने में होने वाली हिसा।

३. **उद्योगी**—कृषि आदि से उत्पन्न होने वाली हिसा।

४. **विरोधी**—आत्म-रक्षा के निमित्त से होने वाली हिसा।

इन चार तरह की हिसाओ मे पहले प्रकार की अर्थात् सकल्पपूर्वक की जाने वाली हिसा का गृहस्थ, द्रव्य और भाव, दोनो तरह से त्याग करता है, अन्य हिसाओ का त्याग केवल भावत करता है। क्योकि द्रव्यत अन्य हिसाओ को

१ अन्तः बाह्यारातीन् जयतीति जिनः, तदनुयायिनो जैना :।

२ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग :।

—योगसूत्र

करते हुए भी उसका भाव हिंसा की ओर नहीं रहता, बल्कि आत्म-पोषण और आत्म-रक्षण की ओर रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक सभी जीवनों और सभी क्षेत्रों में अहिंसा का उपयोग एवं प्रयोग अव्यवहार्य नहीं है। यह तो उपयोक्ता और प्रयोक्ता के मनोभावों पर निर्भर है। निष्कर्ष यह निकला कि हम अहिंसा को गृहस्थाश्रम में अपनी न्यायोचित सविधानुसार पाल सकते हैं और उसके मधुर फलों को चख सकते हैं। वस्तुतः दुनिया में जितनी अधिक अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी, उतनी ही अधिक सुख-शान्ति होगी। यही जैन दर्शन के इस अहिंसा सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट दृष्टि है।

कर्म-सिद्धान्त और सृष्टि का अकर्तृत्व

जैन दर्शन का चौथा सिद्धान्त कर्मवाद है और इसका फलित सृष्टि का अकर्तृत्व है। हम देखते हैं कि कोई तो निर्धन है, कोई धनी है, कोई नीरोग है, कोई रोगी है, कोई मूर्ख है, कोई विद्वान् है, कोई निर्बल है, कोई बलवान् है, कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है। और तो क्या, एक ही माँ के पेट से पैदा हुई सन्तानों में भी यह विषमता पाई जाती है। एक तो लाखों की सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और दूसरा दर-दर का भिखारी बना फिरता है। इस तरह सारे ही संसार में विषमता देखी जाती है। इस विषमता का कारण क्या है? क्यों एक ही माँ की कुक्षि से पैदा होने वाले कोई मूर्ख और कोई विद्वान्, कोई दुःखी और कोई सुखी देखे जाते हैं? जैन दर्शन में इसका उत्तर है—प्राणियों के अपने-अपने कर्म। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। चूँकि जीवों के कर्म भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उन्हें फल भी भिन्न-भिन्न भोगने पड़ते हैं। इस बात को प्रायः ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सभी स्वीकार करते हैं। न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने स्पष्टतया कहा है[1]—'जगत् में जो सुख-दुःखादि की विचित्रता देखी जाती है, खेती, नौकरी आदि के समान होने पर भी किसी को लाभ होता है और किसी को हानि उठानी पड़ती है, किसी को अचानक सम्पत्ति मिल जाती है और किसी के ऊपर बिजली पड़ जाती है, कोई प्रयत्न नहीं करता, फिर भी उसे फल प्राप्त हो जाता है और कोई प्रयत्न करने पर भी फल नहीं पाता। इससे दृष्ट कारण से अतिरिक्त अदृष्ट कारण भी मानना पड़ता है और वह प्राणियों का अपना-अपना अदृष्ट (धर्माधर्म) कर्म है।' रामायण का यह वाक्य तो अति प्रसिद्ध है

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा।

स्थूल रूप में यही कर्म-सिद्धान्त है और जिसे सामान्यतया प्रायः सभी दर्शनों में स्वीकार किया गया है। परन्तु जहाँ दूसरे दर्शनों में क्रिया, प्रवृत्ति या तज्जन्य संस्कार रूप ही कर्म है, जो अनादि संसार का कारण है और फलदान तक ही ठहरने वाला है, वहाँ जैन दर्शन में राग-द्वेषमूलक क्रिया-प्रवृत्ति से आने वाले (जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होने वाले) पुद्गल द्रव्य को कर्म कहा गया है, जो वास्तविक है—काल्पनिक नहीं और यही द्रव्य कालान्तर में आत्मा को शुभ अथवा अशुभ फल देता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' में स्पष्ट कहा है—'जब राग अथवा द्वेष से युक्त होकर आत्मा अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्त होता है तो उस समय कर्म-रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप में आता है और यही पुद्गल द्रव्य-

१ जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदुःखादिभेदत.।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदय ॥
अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित्।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिण ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥

—न्यायमञ्जरी

रूप कर्म है।'[1]

जब यह पुद्गल-द्रव्य कर्म फलोन्मुख होता है तो आत्मा मे राग-द्वेष, क्रोध-मोह आदि विकार-भाव पैदा होते है और फिर उनसे पुन पुद्गल-द्रव्य कर्म आत्मा मे आता है। इस तरह भाव और द्रव्य दोनो को ही जैन दर्शन मे कर्म स्वीकार किया गया है और दोनो को अनादि प्रवाह माना है।[2]

ईश्वरवादी कहते है कि जीव अपने अच्छे या बुरे कर्मों के कर्ता तो स्वय है और उनका फल भी उन्हे ही भोगना पड़ता है, परन्तु उस फल की व्यवस्था ईश्वर ही करता है।[3] परन्तु जैन दर्शन का मन्तव्य है कि कर्म स्वय अपना फल देते है। उसकी व्यवस्था के लिए किसी दूसरे व्यवस्थापक की अपेक्षा नही होती। आप भूख मे अधिक खा जाए तो उसका फल (अजीर्ण-अफरा) आपको वह ज्यादा भोजन ही देगा। आप दस्तावर दवा खा ले तो उसका फल वह दवा ही आपको दस्तो के रूप मे दे देगी। यदि हम आँख मे मिर्च आँज ले तो उसका फल -- जलना, वह मिर्च हमे स्वय दे देगी। सब जानते है कि शराब नशा करती है और दूध पुष्टि करता है। जो मनुष्य शराब पीता है, उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है, उसके शरीर मे पुष्टता आती है। शराब या दूध पीने के बाद यह अपेक्षा नही रहती कि उसका फल देने के लिए दूसरा नियामक शक्तिमान हो।[4] अतएव हमारे कर्म ही हमे फल देते है। हम पढ़ना सीखते हैं तो पढ़ जाते है, नही सीखते हैं तो अनपढ रह जाते है—आदि प्राकृतिक बातो से यही निश्चित होता है कि जीवो को सुख-दु ख, उनके अपने कर्म ही स्वय देते है। जीव के साथ जो राग-द्वेष के निमित्त से कर्म पुदगल बंधते है, उनमे ही अच्छा या बुरा फल देने की शक्ति रहती है। यहाँ यह शङ्का नही होनी चाहिए कि कर्म अचेतन है, वह बिना चेतन ईश्वर की सहायता के फल कैसे दे सकता है? यह किसी से छिपा हुआ नही है कि हमारे आहार-विहार का प्रभाव हमारे मन और वाणी पर पडता है 'जैसा खावे अन्न वैसा हो मन्न, जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी।' सिनेमा, चित्र, शराब आदि सैकडो पदार्थ अचेतन होते हुए भी अपना प्रभाव या असर डालते हुए देखे जाते है। अत कर्म ही स्वय जीवो को फलदाता है, ईश्वर नही।

जगत् की विषमता आदि को देखकर कितनेक दर्शन ईश्वर को उसका कर्ता बतलाते हैं। परन्तु जब कर्म को मान लिया जाता है तो फिर ईश्वर उसका कर्ता नही ठहरता। अन्यथा जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् और बुद्धिमान् है तो उसकी सृष्टि मे विषमता, न्यूनताए, असगतता, असुन्दरता और अव्यवस्था आदि बाते होनी ही नही चाहिए थी। सर्वत्र एकरूपता ही होनी चाहिए थी। अत जीव और अजीव के सम्बन्ध से ही जगत् अनादिकाल से बना चला आ रहा है और नाना परिवर्तनो को प्राप्त करता आ रहा है।[5] द्रव्य-समुदाय का नाम जगत् अथवा लोक है और सभी द्रव्य उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप है। इसलिए यह जगत् स्वयमेव इसी प्रकार से अवस्थित है और अनादि-निधन है। जैन शास्त्रो मे कर्म-सिद्धान्त और सृष्टि के अकर्तृत्व पर बहुत ही विस्तृत और सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया गया है।

● ● ●

१ परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि राग-दोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥

२ पंचास्तिकाय, गा० १२८, १२९, १३०

३ अज्ञो जन्तु रनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥
—महाभारत

४ पंचम कर्म ग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० १५

५ आप्तमीमांसा, का० ९९
गीता (५-१४, १५,) में भी 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' कहकर ईश्वर के कर्तृत्वादि का निषेध किया गया है।

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०
दिल्ली-विश्वविद्यालय

अठारह पुराणो का सार देते हुए कहा जाता है 'परोपकार करना पुण्य है और पर-पीडन पाप है।'[1] किन्तु एक ही कार्य किसी अपेक्षा से परोपकार सिद्ध होता है और दूसरी अपेक्षा से पर-पीडन। इसी प्रकार कुछ कार्य ऐसे भी है जो न परोपकार है, न पर-पीडन।

कठोपनिषद् मे नचिकेता का वृत्तान्त आता है। उसके पिता धर्म का अर्थ केवल विधि-विधान समझते है और यह मानते है कि बूढी एव निकम्मी गौए देने पर भी दान का लक्ष्य पूरा हो सकता है। नचिकेता यह मानता है कि धर्म मे सत्य और प्रामाणिकता का होना आवश्यक है। वह पिता का विरोध करता है, किन्तु उसका लक्ष्य है, उन्हे सत्य के मार्ग पर लाना। नचिकेता के व्यवहार से पिता को कष्ट पहुँचता है, अत क्रिया की दृष्टि से पर-पीडन होने पर उद्देश्य की दृष्टि से यह परोपकार ही है। महाभारत मे राजा शिवि की कथा आती है जिसने अपनी शरण मे आये हुए कबूतर की रक्षा के लिए भूखे बाज को अपना मास काट कर दे दिया। यही कथा जैन-साहित्य मे मेघरथ राजा के नाम से आती है, जो कि सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ का पूर्व भव माना जाता है। बौद्ध साहित्य मे भी इसी प्रकार की एक कथा नागानन्द के नाम से आती है। यहाँ यह प्रश्न खडा होता है कि अपने मास का बलिदान देकर एक हिंसक एव क्रूर प्राणी की रक्षा करना कहाँ तक पुण्य है? जहाँ तक शरणागत की रक्षा का प्रश्न है, वह बाज को मार देने पर भी हो सकती थी। हिंसक की रक्षा, बलिदान देने वाले के त्याग की दृष्टि मे परोपकार होने पर भी, परिणाम की दृष्टि से परोपकार नही है। उसमे अन्य प्राणियो के प्रति भय एव अमगल का जन्म होता है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओ को कहा था—'हे भिक्षुओ! ऐसी चर्या का पालन करो, जो आदि मे मगल हो, मध्य मे मगल हो तथा अन्त मे भी मगल हो। हे भिक्षुओ! ऐसे धर्म की देशना दो, जो आदि मे मगल हो, मध्य मे मगल हो और अन्त मे भी मगल हो।' हिंसक की रक्षा आदि मे मगल होने पर भी अन्त मे मगल नही है। इस प्रकार किसी कार्य को परोपकार या पर-पीडन की कोटि मे रखने के लिए किन तत्त्वो की आवश्यकता है, प्रस्तुत लेख मे इसी पर विचार किया जायेगा। साथ मे इस बात की भी चर्चा की जायेगी कि इन दोनो की क्या सीमाए है। अन्त मे इस बात पर विचार करेगे कि परमार्थ और परोपकार मे क्या भेद है और जीवन का अन्तिम लक्ष्य परमार्थ है या परार्थ अर्थात् परोपकार।

भर्तृहरि ने मनुष्यो को चार कोटियो मे बाँटा है

१ सत्पुरुष—वे लोग, जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरे का हित-साधन करते है।

२ सामान्य जन—वे जन, जो स्वार्थ को क्षति न पहुँचाते हुए परहित-साधन करते है।

३ मानव राक्षस—जो स्वार्थ के लिए दूसरे को हानि पहुँचाते है।

१ अष्टादशपुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥

४ पशुराक्षस—जो बिना ही स्वार्थ के दूसरे को हानि पहुँचाते है।

भर्तृहरि ने चौथी कोटि के लिए कोई नाम नही दिया। ऐसे व्यक्तियो के लिए ते के न जानीमहे कहकर छोड दिया है।

उपर्युक्त चार कोटियो मे से प्रथम दो परार्थ मे आती है और अन्तिम दो स्वार्थ या पर-पीडन मे। इनके साथ एक कोटि और जोडी जा सकती है और वह उन लोगो की है,जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरो को हानि पहुँचाना चाहते है, उन्हे 'उन्मत्त राक्षस' कहा जायेगा।

स्वार्थ एव परार्थ तथा उनकी तारतम्यता का निर्णय नीचे लिखे चार तत्त्वो से होना है

१ क्षेत्र की व्यापकता,

२ त्याग-वृत्ति,

३ उद्देश्य की पवित्रता,

४ परिणाम की मगलमयता।

क्षेत्र की व्यापकता

पर-हित का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, परार्थ मे उतनी ही उत्कृष्टता आती जायेगी। जब वही क्षेत्र बढते-बढते अखिल विश्व तक पहुँच जाता है, तो परमार्थ बन जाता है। इसका प्रारम्भ कुटुम्ब से होता है, अर्थात् व्यक्ति जब निजी सुख-दुःख एव इच्छाओ को भूल कर उन्हे अपने परिवार के सुख-दुःख के साथ मिला देता है, परिवार के सुख मे सुखी तथा उसके दुःख मे दुःखी होने लगता है, यह परार्थ की ओर पहला कदम है। मानवशास्त्रियो का कथन है कि मनुष्य मे इतनी भी परार्थ-वृत्ति न होती, तो वह कभी का नष्ट हो गया होता। उसने यह पाठ जीवन एव अस्तित्व के रक्षण के लिए सघर्ष करते हुए सीखा है। अत उसमे त्यागवृत्ति के स्थान पर स्वार्थ की भावना ही अधिक है। मानव-शास्त्रियो का यह मत अशत ठीक होने पर भी सब जगह लागू नही होता।

परिवार से आगे बढकर मनुष्य वश या कुल तक जाता है। पुरानी असभ्य जातियो मे अपने वश या कुल तक तो परस्पर परोपकार एव सहानुभूति की भावना रहती थी, परन्तु उस परिधि से बाहर उत्पीडन की। परिणामस्वरूप विभिन्न कुलो मे परस्पर युद्ध होते रहते थे और विजेता कुल विजित कुल को समाप्त कर देता था। इस प्रकार का परोपकार कुल-धर्म होने पर भी आध्यात्मिक धर्म या पुण्य की कोटि मे नही आता, क्योकि वह क्षेत्र की दृष्टि से सकुचित तथा परिणाम की दृष्टि से अमगल है।

ऐसे कुलो से आगे बढकर मनुष्य ने जाति, धर्म, राष्ट्र या ऐसी अन्य परिधियो तक परार्थी, किन्तु उनके बाहर स्वार्थी बन कर रहना सीखा। यहूदी धर्म मे पाप और पुण्य की परिभाषा भी इसी प्रकार है। अर्थात्, एक यहूदी यदि दूसरे यहूदी पर अत्याचार करता है, तो वह पाप है, किन्तु उस परिधि के बाहर किसी को लूटना-मारना, स्त्रियो पर बलात्कार करना या अन्य किसी प्रकार अत्याचार करना पाप नही है। ईसाई तथा मुसलमान धर्मो ने सिद्धान्त रूप मे तो विश्व-बन्धुत्व को आदर्श माना, किन्तु व्यवहार मे अपने-अपने धर्म की परिधि से बाहर अत्याचार करने मे कोई पाप नहा माना। आर्यों ने भी प्रारम्भ मे भारत के आदिवासियो के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत मे धर्म की परिधि का पभाव अभी तक विद्यमान है। राष्ट्रीय परिधियो का प्रभाव तो सारे विश्व को घेरे हुए है और वही विभिन्न राष्ट्रो मे गुटबन्दी, परस्पर भय एव युद्ध की विभीषिका का कारण बना हुआ है।

क्षेत्र की दृष्टि से परार्थ का सर्वोत्कृष्ट रूप विश्व-मैत्री है। उपनिषदो ने समस्त चराचर-जगत् का आधारभूत एक तत्त्व बताया और प्रत्येक व्यक्ति से कहा—तू वही महान् तत्त्व है।[1] इस प्रकार सार्वभौम एकता का सन्देश दिया। बौद्ध एव जैन परम्परा ने उसी तत्त्व को विश्व-मैत्री के रूप मे उपस्थित किया। ईसामसीह का जो सन्देश पर्वतीय प्रवचन

१ तत्त्वमसि।

(Sermon on the mount) में मिलता है, वह भी इसी कोटि का है। बुद्ध, महावीर, ईसामसीह आदि कुछ विरल पुरुषों ने उस महान् आदर्श को जीवन में उतार कर भी बताया है।

जिस प्रकार क्षेत्र जितना विकसित होगा, परार्थ उतना ही श्रेष्ठ तथा उदात्त होता जायगा, उसी प्रकार क्षेत्र-विकास के साथ-साथ स्वार्थ निम्न से निम्नतर होता जाता है। प्राचीन समय में तैमूरलंग, नादिरशाह आदि बहुत से आततायियों ने व्यापक रूप में लूटमार की और वे विश्व के लिए अमंगल बने। जब व्यक्ति की पाशविक वृत्ति को धर्म का समर्थन मिल जाता है, तो वह और भी क्रूर हो जाती है। धर्म-युद्ध के नाम से संसार में जो अत्याचार हुए हैं वे इसका उदाहरण है। भर्तृहरि ने उन लोगों को निम्नतम कोटि में रखा है, जो बिना स्वार्थ के पर-पीड़न करते हैं। स्वार्थ का अभिप्राय जानने की आवश्यकता है। जहाँ तक भौतिक आवश्यकताओं या साधारण आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न है, उन्हें स्वार्थ कहा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति की उद्दाम लिप्सा सब सीमाओं को पार कर अनर्गल बन जाती है, जब वह केवल अपना आतंक जमाने, दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने, दूसरों के न्यायोचित अधिकार को छीनने के लिए अत्याचार करता है तो वह स्वार्थ की सीमा में नहीं रहता और भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित चौथी कोटि में आता है। अमेरिका ने हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु-बम गिराकर जो लाखों निर्दोष व्यक्तियों का भस्म कर डाला, उसे भी इसी कोटि में रखा जायेगा।

त्याग-वृत्ति

परार्थ का दूसरा तत्त्व त्याग-वृत्ति है। व्यक्ति में अपने सुख तथा स्वार्थ को छोड़ने की भावना जितनी प्रबल होगी, उतना ही परार्थ उच्च कोटि का होगा। विभिन्न धर्मों में त्याग का उपदेश दिया गया है। साथ ही फल का प्रलोभन भी कहा गया है—इस जन्म में दान देने से अगले जन्म में सैकड़ों गुना धन प्राप्त होगा। इस जन्म में काम-भोगों का त्याग करने से स्वर्ग में अप्सराएं मिलेंगी। इस्लाम में बताया गया है—इस जन्म में मदिरापान न करने से बहिश्त मिलेगा, जहाँ शराब की नदियाँ बह रही हैं। शंकराचार्य ने इस प्रकार के त्याग को वणिक्-वृत्ति कहा है। वास्तव में वह एक प्रकार का व्यापार है, जहाँ थोड़ी पूँजी लगा कर अधिक पूँजी प्राप्त करने की आशा की जाती है। वस्तुतः परार्थ में त्याग के लिए त्याग किया जाता है। वह अपने-आप में सुख है। उससे सात्त्विक आनन्द की वृद्धि होती है। मनुष्य दूसरे के लिए परित्याग करते-करते जब उसकी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब उसका 'स्व' कुछ नहीं रहता, सब कुछ 'पर' हो जाता है। इसी को सूफी परम्परा में 'खाकपरस्ती', वेदान्त में 'ब्रह्मलय', बौद्ध दर्शन में 'शून्यविलय' तथा जैन दर्शन में 'मोहनाश' कहा गया है।

इसके विपरीत स्वार्थ-साधन की भावना जितनी उग्र होगी, स्वार्थ उतना ही निम्नकोटि का होता जायेगा। इस उग्रता के कई मापदण्ड हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक सभी प्रकार के प्रतिबन्धों को तोड़कर स्वार्थ-साधन करता है, अर्थात् जो सामाजिक दृष्टि से दुराचारी, राजकीय विधि के अनुसार अपराधी तथा धर्मशास्त्र के अनुसार पापी भी है, वह निम्नतम कोटि पर है। बहुत-से व्यक्ति राजकीय नियमों को तो नहीं तोड़ते, किन्तु सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का भंग करते हैं। राजकीय कानून का समर्थन प्राप्त होने के कारण वे अपने को अपराधी नहीं मानते, फिर भी दुराचारी एवं पापी तो हैं ही। दूसरी ओर कुछेक व्यक्ति अपराधी होने पर भी अत्याचार एवं पाप की दृष्टि से अपेक्षाकृत उच्च-स्तर पर होते हैं। चरित्र की दृष्टि से राजकीय एवं सामाजिक विधान की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्त्व है, जो व्यक्ति धर्म के शाश्वत नियमों का उल्लंघन करता है, वह निम्नतम कोटि पर है। किन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि धार्मिक नियमों का अर्थ साम्प्रदायिक नियम नहीं है। साम्प्रदायिक नियमों का निर्माण मनुष्य अपने संगठन के लिए स्वयं करता है और धार्मिक नियम शाश्वत होते हैं। योगसूत्र में उन्हें देश, काल एवं परिस्थिति की परिधि से मुक्त सार्वभौम कहा गया है। साम्प्रदायिक मर्यादाएं मुख्यतया सामाजिक नियमों की कोटि में आती हैं।

सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लंघन भी चरित्र-विकास की दृष्टि से हेय है। किन्तु उसमें निर्णायक

तत्त्व उद्देश्य है। बहुत से सामाजिक नियम या रूढ़ियाँ अपने जन्म-काल में उपयोगी होने पर भी धीरे-धीरे निर्जीव हो जाती है और व्यक्ति के सच्चे विकास में बाधाएँ उपस्थित करने लगती हैं। बहुत से राजकीय नियम भी इसी प्रकार के हो जाते हैं। ऐसे नियमों का उल्लंघन पाप के स्थान पर भी धर्म हो सकता है। अत: सामाजिक या राजकीय नियमों का पालन सापेक्ष है। अर्थात् उनका पालन करते समय उन्हें स्वमगल तथा परमगल की कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। यदि वे उसमें सहायक हो, तो स्वीकार करने योग्य हैं, अन्यथा हेय। इसके विपरीत धार्मिक नियम शाश्वत हैं। उन्हें तात्कालिक विकास की परख पर नहीं उतारा जा सकता।

लक्ष्य-शुद्धि

परार्थ का तीसरा तत्त्व लक्ष्य-शुद्धि है, अर्थात् दूसरे की भलाई करते समय लक्ष्य जितना पवित्र और आध्यात्मिक होगा, परार्थ उतना ही उच्च कोटि का होगा। धन-प्राप्ति, वासनापूर्ति या किसी अन्य प्रकार की भौतिक कामना की पूर्ति या किसी अन्य प्रकार की भौतिक कामना के लिए दूसरे की सहायता करना परार्थ कोटि में नहीं आता। ये सब स्वार्थ के अन्तर्गत हैं। उनमें भी लक्ष्य जितना हिंसा, वासना या अन्य पापवृत्तियों वाला होगा, उतना ही स्वार्थ निम्न-कोटि का होगा। व्यक्ति जब भौतिक कामनाओं से ऊपर उठकर व सात्त्विक इच्छाओं से प्रेरित होकर पर-हित करता है तब वहाँ से परार्थ प्रारम्भ होता है।

विभिन्न धर्मों में व्यक्ति को परार्थ एवं परमार्थ की ओर प्रेरित करने के लिए विविध प्रकार के प्रलोभन दिये गए हैं। इसी प्रकार स्वार्थवृत्ति को दूर करने के लिए भय बताये गए हैं। कहा गया है जो तपस्या द्वारा काम-भोगों पर नियन्त्रण करता है, उसे चक्रवर्ती का राज्य या स्वर्ग का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार दूसरे की हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने तथा दुराचार आदि के कारण इस जन्म में विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे जन्म में नरक तथा पशुयोनि के कष्ट भोगने पड़ते है। इस प्रकार भय या कामनापूर्ति के लक्ष्य से प्रेरित होकर जो पर-हित या धर्मसाधन किया जाता है, वह लक्ष्य-शुद्धि की दृष्टि में निम्न कोटि का ही माना जायेगा।

परिणाम की मंगलमयता

परोपकार का चौथा तत्त्व परिणाम की मंगलमयता है। इस दृष्टि से सर्वोत्तम रूप वह होगा, जो सभी के लिए मंगलमय है। जो आदि में भी मंगल है, मध्य में भी मंगल है और अन्त में भी मंगल है—ऐसा परोपकार परार्थ की सीमा से बढ़कर परमार्थ बन जाता है।

इस तत्त्व में क्षेत्र, भावना या लक्ष्य की अपेक्षा समझ या विवेक की अधिक आवश्यकता होती है। पिछली तीनों बातों के होने पर भी यदि करने वाले में विवेक नहीं है,तो उसका कार्य परोपकार के स्थान पर पर-पीडन बन जाता है। धार्मिक एवं सामाजिक संगठनों में इस प्रकार का अविवेक पाया जाता है। धर्म के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर किये जाते है और समझा जाता है कि उनसे धर्म का उत्कर्ष होता है। किन्तु उन्हीं आडम्बरों के कारण धर्म की आत्मा घुट कर मर जाती है। उसके अन्दर रहा हुआ 'शिव' समाप्त हो जाता है और केवल शव बाकी रहता है। अत: इस बात की आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि इस लक्ष्य से न हटने पाये कि धर्म मंगलमय है। हमारे पुराने सस्कार,अहंकार, अस्मिता, मोह आदि विकारों के कारण वह दृष्टि से ओझल न हो।

महाकवि रवीन्द्र ने गीताञ्जलि में प्रश्नोत्तर के रूप में कहा है—

'दीपक क्यों बुझ गया ?

मैंने उसे अपनी चादर में ढक लिया और वह बुझ गया।'

वास्तव में हम धर्म के दीप पर अस्मिता की चादर डाल देते हैं और जिससे हमें प्रकाश प्राप्त करना चाहिए, वह बुझ जाता है। गीताञ्जलि में दूसरा प्रश्न किया गया है—

'फूल क्यों मुरझा गया ?

मैंने उसे तोडकर अपनी छाती से चिपका लिया, अत. फूल मुरझा गया।'

अनेक महापुरुषो की तपस्या एव साधना-रूपी खाद को प्राप्त करके यह धर्म-रूपी पुष्प खिलता है और चारो ओर सुगन्ध फैलाने लगता है। आवश्यकता है इस बात की कि हम त्याग और तपस्या के बल से इस लता को सीचते रहे, फूल अपने-आप खिला रहेगा और नये-नये फूल भी प्रकट होते रहेगे। किन्तु अहकार के मिथ्या अभिनिवेशो से प्रेरित होकर स्वार्थी मानव इसे तोडकर अपनी छाती से चिपका लेता है। न स्वय सुगन्ध लेता है, न दूसरो को लेने देता है। दीपक के प्रकाश और फूल की सुगन्ध पर एकाधिपत्य की भावना लोक के लिए मगलमय सिद्ध नही हुई। यदि धार्मिक सगठनो का उद्देश्य लता को सीचना है, तो उनकी उपयोगिता समझ मे आ सकती है, किन्तु यदि वे फूल को तोड़ने का प्रयत्न करते है, तो धर्म-रक्षक के स्थान पर धर्म-भक्षक बन जाते है।

परिणाम की अमंगलमयता का एक और रूप भी धार्मिक इतिहास मे देखा गया है। शताब्दियो एव सहस्राब्दियो से एक सम्प्रदाय वाले दूसरे सम्प्रदाय वालो को अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करते आ रहे है और इसके लिए षड्यन्त्र, सैनिक आक्रमण आदि उपायो का आश्रय लेते आये है। वे यह दावा करते है कि हम मिथ्यात्व के मार्ग पर चलने वालो को धर्म के मार्ग पर ला रहे हैं और इस प्रकार पर-कल्याण के मार्ग पर चल रहे है। किन्तु वास्तव मे दूसरे को धर्म-पथ पर लाना तो दूर रहा, स्वय पाप के मार्ग पर चल पडते है। वे दूसरो को मोक्ष और स्वर्ग का सुख देना चाहते है, पर इसके लिए उन्हे इस लोक के सुखो से जबरदस्ती वचित कर देते है। वास्तव मे धर्म की आड लेकर उद्दाम अहकार तथा क्रूरवृत्तियो की पुष्टि की जाती है। यह अविवेक के कारण होता है और परिणाम मगलमय नही है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है—क्या ऐसा कोई परिचित रूप है जो किसी के लिए अमगल न हो? व्यक्तिया एव प्राणियो के स्वार्थ परस्पर टकराते है। एक जीव दूसरे जीव का जीवन अथवा भोजन है। इसका अर्थ है, एक का पोषण दूसरे का शोषण किये बिना नही हो सकता। फिर परममगल क्या होगा? वास्तव मे यह विचारणीय प्रश्न है। इस दृष्टि से देखा जाये तो सर्वमगल का चरम रूप समस्त व्यवहार की निवृत्ति है। इसी को भारतीय दर्शनो मे 'मोक्ष' कहा गया है। वह स्थिति ब्रह्मसमाप्ति है या शून्य मे विलय या सिद्धावस्था या अन्य कोई अवस्था—हम इस दार्शनिक चर्चा मे नही जाना चाहते। परन्तु यह निश्चित है कि इस लक्ष्य की ओर बढते जाना विश्व के लिए मगलमय है।

परमार्थ के दो रूप

ऊपर मुख्य रूप मे स्वार्थ एव परार्थ की चर्चा की गई है। यथास्थान यह भी बताया गया है कि परार्थ ही अपनी चरम सीमा को प्राप्त करने पर परमार्थ बन जाता है। उपनिषदो मे ईश्वर का विराट् के रूप मे वर्णन किया गया है। विश्व की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। बुद्ध ने कहा है—'माता जिस प्रकार अपने इकलौते पुत्र मे प्रेम करती है, इसी प्रकार का उत्कट प्रेम समस्त विश्व मे फैला दो। जैन दर्शन मे भी राग और द्वेष को जीतकर विश्वमैत्री पर बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों मे परार्थ ही समस्त परिधियो को पार कर लेने पर परमार्थ बन जाता है।

बौद्धो की महायान परम्परा मे साधना का लक्ष्य अशुभ वासना का क्षय और शुभवासना का विकास बताया गया है। परिणामस्वरूप प्रवृत्तिमात्र का निरोध नही होता। किन्तु अशुभ प्रवृत्ति रोककर शुभ प्रवृत्ति का विकास किया जाता है। विविध प्रवृत्तियो की पराकाष्ठा के रूप मे दस पारमिताए बतायी गई हैं, जिनका अभ्यास बोधिसत्त्व करते है। वे दूसरो के लिए निर्वाण अर्थात् मोक्ष भी छोड देते हैं। ईसाई-परम्परा भी इसी मार्ग का समर्थन करती है। भगवद्गीता मे निवृत्ति-मार्ग साख्य अर्थात् ज्ञान-योग की अपेक्षा से है और प्रवृत्ति-मार्ग कर्म-योग एवं भक्ति-योग की अपेक्षा से। दोनो मार्ग व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवलम्बित है। जिसकी जिधर अभिरुचि हो,वह उसे अपना सकता है। दोनो ही परम मगलमय माने गये हैं। वैष्णव परम्परा मे कहा गया है—परमात्मा की भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है।[1]

---

१ भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी।

बौद्धों के हीनयान तथा जैन परम्परा में वैयक्तिक मुक्ति को सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। इन दोनों परम्पराओं की मान्यता है कि शुभ एवं अशुभ सभी प्रवृत्तियों का कारण वासना अथवा मोह है। जब तक इसका अस्तित्व रहेगा, परममंगल की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः वासना-क्षय या मोहनाश ही परममंगल है। उस समय व्यक्ति किसी के लिए अमंगल नहीं रहता। इन दोनों के मत में पारमार्थिक दृष्टि से अमंगल का नाश ही मंगल है। अद्वैतवेदान्त तथा सांख्य-दर्शन में भी दुःखाभाव को ही सुख बताया गया है। न्याय-दर्शन में मोक्ष का क्रम बताते हुए कहा है—तत्त्वज्ञान से मिथ्या-ज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःख का नाश और दुःख का नाश ही 'मोक्ष' है।

द्रव्यप्रमाणानुगम

श्री जबरमल भंडारी, एडवोकेट
अध्यक्ष, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

जीवो का परिमाण जानने के लिए जैनागमो मे चार अपेक्षाए बतलाई गई है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव[1]।

द्रव्य प्रमाण

द्रव्य प्रमाण के तीन भेद हैं—सख्यात, असख्यात और अनन्त। जो सख्या पॉच इन्द्रियो का विषय है, वह सख्यात है; उसके ऊपर जो सख्या अवधिज्ञान का विषय है वह असख्यात है, और उसके ऊपर जो सख्या केवलज्ञान द्वारा ही विषय-भाव होती है, वह अनन्त है।[2]

संख्यात

सख्यात के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गणना की आदि '२' से मानी जाती है, क्यो कि '१' सत्ता को सूचित करता है, भेद को सूचित नही करता।[3] इस प्रकार जघन्य सख्यात '२' है और उत्कृष्ट सख्यात, 'जघन्य परीतासख्यात' (जिसकी परिभाषा आगे बताई जायेगी) से एक कम होता है। जघन्य सख्यात और उत्कृष्ट सख्यात के बीच सब मध्यम सख्यात के भेद हैं।

असंख्यात

असख्यात के तीन भेद हैं—परीत, युक्त और असख्यात, और इन तीनों मे से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—तीन-तीन भेद होने से सर्व नौ भेद होते हैं—जघन्य परीतासख्यात, मध्यम परीतासख्यात, उत्कृष्ट परीता-सख्यात, जघन्य युक्तासख्यात, मध्यम युक्तासख्यात, उत्कृष्ट युक्तासख्यात, जघन्य असख्यातासख्यात, मध्यम असख्यातासख्यात और उत्कृष्ट असख्यातासख्यात।

जघन्य परीतासंख्यात—इसको समझने के लिए असत्कल्पना के द्वारा चार पल्य जम्बूद्वीप प्रमाण लम्बे-चौडे और एक हजार योजन गहरे कल्पित किए जाए। उनको शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित नाम से पुकारा जाए। अनवस्थितपल्य को सरसो के दानो से भर दिया जाए। अब असत्कल्पना द्वारा एक सरसो का दाना एक-एक द्वीप मे व एक-एक समुद्र मे डाला जाए। जब एक सरसव बाकी रहे, तब उसे शलाकापल्य मे डाला जाए। जिस क्षेत्र मे अन्तिम

---

१ कई आचार्यों ने क्षेत्र के पहले काल रखा है और उनका कहना है कि काल की अपेक्षा क्षेत्र प्रमाण सूक्ष्म होता है और स्थूल व अल्प वर्णनीय का आख्यान पहले करने का नियम है।

२ अहवा जं संखाण पंचिदिया विसओ तं सखेज्जं णाम।
तदो उवरि जमवहिणाणविसओ तमसखेज्जं णाम॥
तदो उवरि जं केवलणाणस्सेव विसओ तमणतं णाम॥ —षट्खण्डागम

३ एको गणणं न उवेइ दुप्पभिति संखा। —अनुयोगद्वार सूत्र

सरसों का दाना डाला गया था, उसी क्षेत्र का एक और अनवस्थितपल्य कल्पित किया जाए और उसे सरसों से भरकर पूर्ववत् अन्य द्वीप-समुद्रों में प्रक्षिप्त किया जाये। जब एक दाना सरसों का रहे, तो उसे शलाकापल्य में प्रक्षिप्त किया जाए और इसी उपरोक्त क्रिया द्वारा शलाका को भर दिया जाए। फिर शलाकापल्य के सरसों को अन्य द्वीप-समुद्रों में एक-एक डाला जाए और जब एक दाना बचे, तो उसे प्रतिशलाकापल्य में डाला जाए। फिर अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाकापल्य को वापस भर, फिर शलाका को पूर्व रीति अनुसार खाली करते हुए बचा एक सरसों प्रतिशलाकापल्य में डाले। इस प्रकार अनवस्थित से शलाका भर लिया जाए शलाका में प्रतिशलाका। फिर उपरोक्त क्रिया द्वारा ही प्रतिशलाका में महा-शलाकापल्य भरा जाए। जब चारों पल्य भर जाए, तब उन सरसों की एक राशि बना ली जाए। इस राशि को जघन्य परीतासंख्यात कहते हैं और इस राशि में से एक सरसों कम करने से उत्कृष्ट संख्यात रह जाता है।

जघन्य युक्तासंख्यात का प्रमाण, जो आगे बताया जाएगा, उसमें एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण मिलेगा। जघन्य परीतासंख्यात और उत्कृष्ट परीतासंख्यात के बीच सब गणना मध्यम परीतासंख्यात के भेद हैं।

जघन्य परीतासंख्यात के वर्गित संवर्गित[1] करने से जघन्य युक्तासंख्यात परिमाण प्राप्त होता है[2] और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात का प्रमाण, जघन्य असंख्यातासंख्यात (जिसको आगे समझाया गया है) से एक कम है। जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के बीच की प्रत्येक गणना मध्यम युक्तासंख्यात का भेद है। जघन्य युक्तासंख्यात से आवलिका को परस्पर गुणा कर उसमें एक न्यून उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है अथवा जघन्य असंख्यातासंख्यात का एक न्यून उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है।

जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग ($य^2$ अथवा $य \times य$) अथवा जघन्य युक्तासंख्यात के साथ आवलिका की राशि को परस्पर गुणा करने से जघन्य असंख्येयासंख्येयक प्राप्त होता है अथवा उत्कृष्ट युक्तासंख्यात में एक जोड़ने से जघन्य असंख्येयासंख्येयक होता है। आगे जिसको बताया जायेगा उस जघन्य परीतानन्त से एक न्यून को उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात कहते हैं और जघन्य असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के बीच की गणना मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेद हैं। जघन्य असंख्यातासंख्यात की राशि का वर्ग करने से अर्थात् उस राशि को उसी के साथ परस्पर गुणा करने से जघन्य परीतानन्त आता है या एक रूप कम करने से उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात आता है।

अनन्त

जघन्य परीतानन्तक राशि को परस्पर गुणन करके गुणनफल में से एक न्यून करने से उत्कृष्ट परीतानन्तक होता है। जघन्य परीतानन्तक और उत्कृष्ट परीतानन्तक के बीच की गणना मध्यम परीतानन्तक के भेद हैं।

जघन्य परीतानन्तक राशि को परस्पर गुणा करने से जघन्य युक्तानन्तक होता है अथवा उत्कृष्ट परीतानन्तक में एक और जोड़ देने से भी जघन्य युक्तानन्तक ही होता है। अभव्य जीवों की राशि जघन्य युक्तानन्तक प्रमाण है। तत्पश्चात् जहाँ तक उत्कृष्ट युक्तानन्तक नहीं होता, वहाँ तक सब गणना मध्यम युक्तानन्तक के भेद हैं।

यदि जघन्य युक्तानन्तक की राशि को उसके साथ गुणा कर या जघन्य युक्तानन्तक की राशि को अभव्यों की

१ वर्गित-संवर्गित का प्रयोग किसी संख्या का संख्या तुल्य घात करने के अर्थ में किया गया है, जैसे $न^{न}$ 'न' का प्रथम वर्गित-संवर्गित है। $\left(न^{न}\right)^{न^{न}}$ द्वितीय वर्गित संवर्गित; $\left\{\left(न^{न}\right)^{\left(न^{न}\right)}\right\}^{\left\{\left(न^{न}\right)^{\left(न^{न}\right)}\right\}}$ तृतीय वर्गित-संवर्गित है।

२ जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण के जितने सरसों हों उतने ही आवलिका के समय होते हैं।

राशि के साथ गुणा करे तो जघन्य अनन्तानन्तक की राशि प्राप्त होती है, उसमे से एक न्यून कर दे तो उत्कृष्ट युक्तानन्तक होता है। अथवा यदि उत्कृष्ट युक्तानन्तक की राशि मे एक रूप और प्रक्षेप कर दे तो भी जघन्य अनन्तानन्तक होता है। इसके पश्चात् अजघन्योत्कृष्ट मध्यम अनन्तानन्त ही होता है। उत्कृष्ट अनन्तानन्तक नही होता।[1]

क्षेत्र प्रमाण

पुद्गल द्रव्य के उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग को परमाणु कहते है जिसका पुन विभाग न हो सके और जो स्वतन्त्र हो। परमाणु इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नही है। वह अप्रदेशी है, इसका आदि, अन्त, मध्य नही है। परमाणु अग्निकाय मे प्रवेश कर सकता है, परन्तु जलता नही, पुष्कल सवर्त नामक महामेघ मे प्रवेश कर सकता है परन्तु पानी से आर्द्र नही होता। ऐसा अविभागी परमाणु जितने आकाश को अवगाह करता है, उस क्षेत्र को एक प्रदेश कहते है। 'क्षेत्र प्रमाण' दो प्रकार के है—प्रदेश-निष्पन्न और विभाग-निष्पन्न।

प्रदेश-निष्पन्न—प्रदेश निर्विभाग है, उसमे द्रव्य यावन्मात्र प्रदेशो पर ठहरता है, उस अपेक्षा से प्रदेश-निष्पन्न 'क्षेत्र प्रमाण' होता है, जैसे कि एक प्रदेशावगाही, द्विप्रदेशावगाही, सख्यातप्रदेशावगाही, असख्यात प्रदेशावगाही पुद्गल।

विभाग-निष्पन्न—जो क्षेत्र विभाग से निष्पन्न हो, उसे विभाग-रूप क्षेत्र कहते है। उदाहरणार्थ—अङ्गुल, वितस्ति, हस्त, कुक्षि, धनुष, कोश आदि।

विभाग-निष्पन्न क्षेत्र प्रमाण के मान

अङ्गुल तीन प्रकार के है—आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल और प्रमाणाङ्गुल। जिस काल मे जो मनुष्य उत्पन्न हो उस काल मे उसका अङ्गुल आत्माङ्गुल कहा जाता है। प्रामाणिक पुरुष का शरीर अपने अङ्गुल (आत्माङ्गुल) के माप से एक सौ आठ अङ्गुल और मुख द्वादश अङ्गुल प्रमाण होता है। आत्माङ्गुल के तीन भेद है—सूच्यङ्गुल (Linear), प्रतराङ्गुल (Square) घनाङ्गुल (Cubic)। परमाणु से लेकर उत्सेधाङ्गुल तक के मान इस प्रकार है

अनन्त परमाणु	=	१ उच्छ्लक्ष्णश्लक्षिणका
८ उच्छ्लक्ष्णश्लक्षिणका	=	१ श्लक्षिणका
८ श्लक्षिणका	=	१ ऊर्ध्वरेणु
८ ऊर्ध्वरेणु	=	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु
८ रथरेणु	=	१ देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्य का बालाग्र
८ दे० उ० बालाग्र	=	१ हरिवर्ष, रम्यकवर्ष ,, ,, ,, ,,
८ ह० र० बालाग्र	=	१ हेमवय एरण्यवय ,, ,, ,, ,,
८ हेम० ए० बालाग्र	=	१ महाविदेह ,, ,, ,, ,,
८ महाविदेह-बालाग्र	=	१ भरत, एरावत ,, ,, ,, ,,
८ भरत, एरावत बालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यव-मध्य भाग
८ यव-मध्य भाग	=	१ उत्सेधाङ्गुल
१००० उत्सेधाङ्गुल	=	१ प्रमाणाङ्गुल

१ किसी किसी आचार्य ने अनन्त के नव भेद भी किये है, किन्तु वे श्वेताम्बर आगमों में विहित नहीं हैं। अनुयोगद्वार आगम में उत्कृष्ट अनन्तानन्तक का प्रतिपादन नहीं किया है, मध्यम अनन्तानन्तक पर्यन्त ही गणना संख्या सम्पूर्ण कर दी है। दिगम्बर परम्परा के षट्खंडागम में अनन्तानन्तक के तीन भेद किये हैं अर्थात् उत्कृष्ट अनन्तानन्तक भेद भी किया है।

अङ्गुल के आगे के प्रमाण आत्म, उत्सेध व प्रमाण अङ्गुल के अनुसार तीन-तीन प्रकार के होते है।

६ अङ्गुल	=	१ पाद
२ पाद	=	१ विहस्ति (वितस्ति)
२ विहस्ति	=	१ हाथ
२ हाथ	=	१ किष्कु (कुक्षि)
२ किष्कु	=	१ धनुष (दण्ड, युग, नालिक)
२००० धनुष	=	१ कोस
४ कोस	=	१ योजन

उत्सेधाङ्गुल से नरक, तिर्यक् योनि के जीवों के तथा मनुष्य और देवो के शरीरो की अवगाहना मापी जाती है। उत्सेधाङ्गुल के भी तीन प्रकार है—सूच्यङ्गुल, प्रतराङ्गुल, और घनागुल। जो लोक मे शाश्वत है—जैसे रत्नप्रभादि पृथ्वियो, देवलोको, विमानो, वर्षधरो, द्वीपो, समुद्रो आदि, उन की लम्बाई, चौडाई, गहराई आदि प्रमाणाङ्गुल के माप से निष्पन्न कोस, योजन आदि द्वारा मापी जाती हैं। सर्व लौकिक व्यवहार के दर्शक प्रमाण-भूत तथा इस अवसर्पिणी काल मे प्रथम युगादिदेव श्री ऋषभदेव के अङ्गुल को एव उनके पुत्र भरत चक्री के अङ्गुल को 'प्रमाण-अङ्गुल' कहते हैं। प्रमाणाङ्गुल के भी श्रेणी अङ्गुल, प्रतराङ्गुल और घनाङ्गुल, तीन प्रकार हैं। उत्सेधाङ्गुल भगवान् महावीर की आधी अङ्गुल के बराबर होता है। उदाहरणार्थ—भगवान् महावीर सात हाथ ऊँचे थे; एक हाथ चौबीस अङ्गुल का होता है, इसलिए भगवान् महावीर १६८ उत्सेध अङ्गुल प्रमाण ऊँचे हुए। मतान्तर की अपेक्षा मनुष्य अपने हाथ से ३½ हाथ (आत्माङ्गुल) ऊँचा होता है, अत भगवान् महावीर चौरासी अङ्गुल ऊँचे हुए। इस तरह भगवान् महावीर की एक अङ्गुल दो उत्सेधाङ्गुल प्रमाण हुई। एक उत्सेधाङ्गुल को सहस्रगुणा करने से एक प्रमाणाङ्गुल होता है।

काल प्रमाण

जीवो का परिमाण जानने के लिए तीसरा माप काल का बनाया गया है। 'काल प्रमाण' के दो भेद हैं—प्रदेश-निष्पन्न और विभाग निष्पन्न।[1]

समय

एक परमाणु को एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश-प्रदेश पहुँचने मे जो काल लगता है, उसे 'समय' कहते है। यह काल का सबसे छोटा अविभागी परिमाण है। इसको समझने के लिए आगमो मे 'कमलपत्रभेद' एव 'जीर्ण वस्त्रकर्त्तन' के उदाहरण दिये गए हैं। चतुर युवा पुरुष के द्वारा कमल के पत्तो की जुडी को सूक्ष्म काल (निमेष मात्र) मे तीक्ष्ण लम्बी सूई द्वारा छेद दिया जाता है और कपडे को भी निमेष मात्र मे ही फाड दिया जाता है, परन्तु 'समय' इस सूक्ष्म काल मे भी बहुत छोटा है। यदि कमल के पत्तो की जुडी मे २०० पत्ते है तो यह मानना ही पड़ेगा कि पहला, दूसरा यावत् दो सौवाँ पत्ते के छेदे जाने का काल पृथक्-पृथक् है, क्योकि पहला पत्ता छेदा गया तब दूसरा छेदा नही गया था। इस तरह निमेष के २०० भाग तो हम ने बुद्धिगम्य कर दिये। समय, निमेष के दो सौवाँ भाग से बहुत छोटा है। इसी तरह कपडे को फाड़ने मे निमेष मात्र लगा, उस सूक्ष्म काल के भी अनेक विभाग बुद्धिगम्य होते हैं, क्योकि कपडा सख्यात तन्तुओं के समुदाय से बनता है; इसलिए ऊपर का तन्तु टूटने के पश्चात् ही दूसरा फिर तीसरा यावत् अन्तिम तन्तु टूटता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक तन्तु के टूटने का काल भिन्न-भिन्न है। तो प्रश्न उठता है कि क्या जितने काल मे ऊपर का तन्तु टूटा, उसे समय कहें? नहीं, समय इससे भी छोटा है। क्योकि प्रत्येक तन्तु सख्यात पक्ष्मणों (Fibers) का बना

---

१ से किं तं कालप्पमाणे ?
दुविहे पण्णत्ते, तंजहा पएस-निप्फण्णे य विभाग निप्फण्णे य···

—अनुयोगद्वार सूत्र

हुआ होता है, ऊपर के तन्तु के ऊपर के पक्ष्मण के टूटे बिना नीचे का पक्ष्मण नहीं टूटता। अतः एक तन्तु के संख्यात पक्ष्मणों के टूटने का काल भी भिन्न-भिन्न है। समय इससे भी छोटा है। उपरोक्त दोनों स्थूल दृष्टान्त है, परन्तु जिज्ञासु के लिए पर्याप्त है।

एक समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध, दो समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध यावत असंख्यात समय की स्थिति वाले परमाणु-स्कन्धों को 'प्रदेश-निष्पन्न' काल प्रमाण कहते हैं।

विभाग-निष्पन्न काल प्रमाण

समय, आवलिका, मुहूर्त्त आदि 'विभाग-निष्पन्न' काल प्रमाण है।

समयावलिअ मुहुत्ता, दिवस अहोरत्त पक्ख मासाय।
संवच्छर जुग पलिया, सागर ओसप्पि परियट्टा॥[1]

काल का सबसे छोटा विभाग समय है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, जघन्य-युक्त-असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है और संख्यात आवलिकाओं का एक श्वासोच्छ्वास या प्राण होता है। नीचे दी गई तालिका में शास्त्रोक्त काल-मान आधुनिक काल-मानों के साथ दिये गए हैं।

४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका	=	१ प्राण	=	$\frac{२८८०}{३७७३}$ सेकेण्ड
७ प्राण	=	१ स्तोक	=	५ $\frac{१८५}{५३९}$ सेकेण्ड
७ स्तोक	=	१ लव	=	३७ $\frac{३१}{७७}$ सेकेण्ड
७७ लव	=	१ मुहूर्त = २ नाली	=	४८ मिनिट
३० मुहूर्त्त	=	१ अहोरात्र		२४ घण्टे
१५ अहोरात्र	=	१ पक्ष		
२ पक्ष	=	१ मास[2]		
१२ मास	=	१ संवत्सर (वर्ष)		
५ संवत्सर		१ युग		

एक मुहूर्त्त में ३७७३ (७७×७×७=३७७३) प्राण होते हैं। एक अहोरात्र में ३७७३×३०=११३१९० श्वासोच्छ्वास (प्राण) होते हैं एक महूर्त्त के मिनिट ४८ होते हैं। अतः एक मिनिट में $\frac{३७७३}{४८}$ = ७८.६ श्वासोच्छ्वास आते हैं, जो आधुनिक मान्यतानुसार ही है।

८४ लाख वर्षों का 'पूर्वांग' और ८४ लाख 'पूर्वांग' का एक 'पूर्व' होता है। इसके आगे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में नामों का भेद है, जो निम्नांकित तालिका में दिये जाते हैं—

श्वेताम्बर

८४ लाख पूर्व = १ त्रुटितांग
इसी प्रकार आगे भी ८४ लाख से गुणा करते रहने से त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हुहुअंग, हुहुय, उप्पलांग, उप्पल, पद्मांग, पद्म, नलिणांग, नलिण, अच्छनिऊरंग, अच्छनिऊर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका।

दिगम्बर

८४ लाख पूर्व = नयुतांग
इसी प्रकार आगे-आगे ८४ लाख से गुणा करने से जो संख्याएं आती है, उनके नाम, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग अटट, अममांग, अमम, हाहांग, हाहा, हूहांग, हूहू, लतांग, लता, महालतांग, महालता, श्रीकल्प, हस्त प्रहेलिका और अचलप्र।[3]

१ पन्नवणा सूत्र, पद १३
२ दो मास = एक ऋतु और तीन ऋतु = १ अयन, दो अयन = १ वर्ष
३ तिलोय पण्णत्ति के अनुसार अचलप्र का प्रमाण नब्बे अंक वाली संख्यात वर्षों का है, परन्तु लघुरिक्थ (logarithms) से ८० अंक प्रमाण संख्या आती है।

आगमो मे उपरोक्त अंक-गणना बताई गई है। ऐसी बड़ी संख्याओं का विवरण अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता।

जैन ग्रन्थो मे एव आगमो में इसके आगे भी गणना बताई है, परन्तु इसके आगे की गणना असख्य होने से उसका स्वरूप उपमाओं द्वारा बताया गया है। औपमिक विवरण दो प्रकार से प्रतिपादित है—पल्योपम और सागरोपम। पल्य का उपमा देकर पदार्थों का विवरण करने को पल्योपम कहते हैं और 'पल्योपम' से ही 'सागरोपम' प्राप्त होता है। पल्योपम तीन प्रकार के है—उद्धार पल्योपम, अद्धा पल्योपम और क्षेत्र पल्योपम। प्रत्येक के दो-दो भेद है—व्यावहारिक और सूक्ष्म।

व्यावहारिक उद्धार पल्योपम—एक पल्य की कल्पना कर, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई एक योजन हो और गहराई भी एक योजन हो।[1] उस पल्य को एक से लेकर सात दिन तक के शिशुओं के बालाग्रो से भरा जाये और इतना सघन भरा जाये कि अग्नि से, वायु से, एव वर्षा-जल से खण्डित न हो, फिर एकेक बालाग्र को एकेक समय[2] मे निकाला जाये। जितने काल मे वह पल्य नि:शेष हो जाये, उस काल को 'व्यावहारिक उद्धार पल्योपम' कहते है। ऐसे पल्यो को दस कोटाकोटि से गुणन करने से जो गुणनफल हो, उसे 'व्यावहारिक उद्धार सागरोपम' कहते हैं। व्यावहारिक पल्योपम का कथन, केवल आगे वर्णन किये जाने वाले सूक्ष्म उद्धार पल्योपम व सागरोपम को समझने के लिए ही किया गया है।

सूक्ष्म उद्धार पल्योपम—ऊपर बताये हुए पल्य को बालाग्रो से परिपूर्ण करने के बाद एक-एक बालाग्र के असख्यात-असख्यात खण्ड किये जाय और उन खण्डो मे पल्य को परिपूर्ण सघनता से भरा जाये। बालाग्रो के जो खण्ड किये जाए, वे खण्ड द्रव्य से दृष्टिगत पदार्थों से असख्यात भाग प्रमाण न्यून हो व क्षेत्र से निगोद (पनक) के जीव के शरीर की अवगाहना से असख्यात गुणाधिक हो। एक-एक बालाग्र-खण्डो को यदि प्रति समय निकाला जाये, तो जितने काल मे पल्य बिल्कुल रिक्त हो जाये, उस काल को 'सूक्ष्म उद्धार पल्योपम' कहते है। दश कोटाकोटि ऐसे पल्यो का एक 'सूक्ष्म उद्धार सागर' का परिमाण होता है। इन सूक्ष्म उद्धार पल्यो एव सागरो द्वारा द्वीप-समुद्रादि का परिमाण किया जाता है। उदाहरणार्थ—ढाई उद्धार सूक्ष्म सागरो के या पच्चीस कोटाकोटि उद्धार पल्यो के तुल्य द्वीप-समुद्र है।

व्यावहारिक अद्धा पल्योपम—ऊपर बताये हुए बालाग्रो से परिपूर्ण व्यावहारिक उद्धार पल्य के बालाग्रो को सौ-सौ वर्षों से एक-एक बालाग्र निकालकर पल्य को निरज करने मे जितना काल लगता है उसे 'व्यावहारिक अद्धा पल्य' कहते है और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यो को खाली करने मे जितना समय लगेगा, उस काल को 'व्यावहारिक अद्धा सागर' कहते है।

सूक्ष्म अद्धा पल्योपम—उन्ही बालाग्रो के असख्यात-असख्यात खण्ड कर पल्य भर और एक-एक खण्ड को सौ-सौ वर्षों से निकाले। जितने काल मे पल्य नि:शेष हो, उस काल को 'सूक्ष्म अद्धा पल्योपम' कहते है और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यो का एक 'अद्धा सागर' होता है। ऐसे दश कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धा सागरो की एक 'उत्सर्पिणी' और इतने ही काल की एक 'अवसर्पिणी' होती है। दोनो मिलने से एक 'कालचक्र' या 'कल्प' होता है। सूक्ष्म अद्धा पल्य एव सागर का कथन इसलिए किया है कि इनसे नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवो की आयु का परिमाण बताया है।

क्षेत्र पल्योपम—यह भी दो प्रकार का है—व्यावहारिक और सूक्ष्म। पूर्व—कथित बालाग्रो मे परिपूर्ण पल्य के उन आकाश-प्रदेशो को, जो बालाग्रो से स्पर्शित हुए हो, एकेक समय मे एकेक निकाले। जितने काल मे वह पल्य ऐसे आकाश-प्रदेशों से क्षीण हो, उस काल को 'व्यावहारिक क्षेत्र पल्योपम' कहते है और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यो का एक सागर होता है। यदि एक-एक बालाग्र के असख्य-असख्य खण्ड कर उनसे पल्य को सघन परिपूर्ण भरें, तो भी उन खण्डो को पल्य के कई आकाश-प्रदेश स्पर्श करते हैं और कई स्पर्श नही भी करते है। उन दोनो प्रकार के सर्व आकाश-प्रदेशो को एकेक कर

---

१ दिगम्बर मान्यता के अनुसार पल्य का विस्तार प्रमाणाङ्गुल से निष्पन्न योजन का है और श्वेताम्बर मान्यतानुसार उत्सेधाङ्गुल से निष्पन्न योजन का है।

२ दिगम्बर ग्रन्थों में एक-एक बालाग्र को सौ-सौ वर्षों से निकालने का उल्लेख है।

एक-एक समय मे निकालें, तो जितने काल मे पल्य प्रदेशो से खाली हो जाये, उस काल को 'सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम' कहते है और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यो का 'सूक्ष्म क्षेत्र सागर' होता है। सूक्ष्म क्षेत्र पल्य एव सागर मे दृष्टिवाद के द्रव्य-मान किये जाते है

भाव-प्रमाण

जिसके द्वारा पदार्थों का भली प्रकार ज्ञान हो उसे 'भाव-प्रमाण' कहते है। यह तीन प्रकार का है—गुण प्रमाण, नय प्रमाण और सख्या प्रमाण। गुणो मे द्रव्य का बोध होना 'गुण प्रमाण' और अनन्त धर्मात्मक वस्तुओ का एक अश द्वारा ज्ञान करने वाला एव निर्णय करने वाला तथा अन्य अशो का खण्डन नही करने वाला 'नय प्रमाण' है।[1]

गुण प्रमाण

भेदानुभेद करने मे 'गुण प्रमाण' के दो भेद—जीव गुण प्रमाण और अजीव गुण प्रमाण होते है। पाँच वर्ण है, गध पाँच रस-स्पर्श और पाँच सस्थान ये पच्चीस 'अजीव गुण प्रमाण' के उपभेद है। ज्ञान गुण प्रमाण, दर्शन गुण प्रमाण और चारित्र गुण प्रमाण ये तीन 'जीव गुण प्रमाण' के भेद है।

ज्ञान गुण प्रमाण दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अनुमान, उपमा, आगम आदि परोक्ष मे समाविष्ट हो जाते है। निम्नाकित कोष्टक मे 'ज्ञान प्रमाण' के भेदानुभेद स्पष्ट किये गये है—
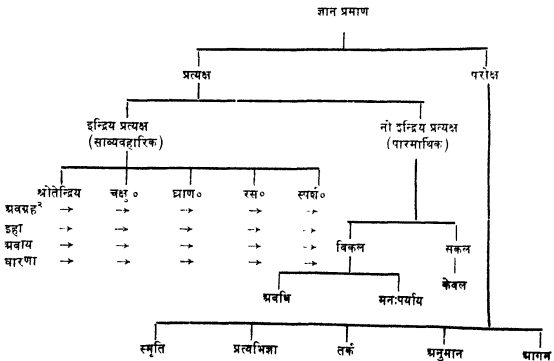
१ अनिराकृतेतरांशो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।

—जैन सिद्धान्त दीपिका, ६। २७

२ अवग्रह के दो प्रकार हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।

प्रत्यक्ष प्रमाण स्पष्टतया निर्णय करता है[1] और परोक्ष प्रमाण अस्पष्टतया निर्णय करता है।[2] 'अक्ष' शब्द को भिन्न प्रकार से सिद्ध करने से इसके भिन्न-भिन्न अर्थ आचार्यों ने किये है। इसी कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया हुआ मिलता है।[3] परोक्ष के पाँच भेद है।

स्मृति—अनुभूत विषय का स्मरण करना है।

प्रत्यभिज्ञा—सकलनात्मक ज्ञान है अर्थात् भूतकाल मे जो अनुभूत है और वर्तमान मे जो अनुभव कर रहे, है इन दोनों का सयुक्त ज्ञान है।

व्याप्ति—साध्य और साधन का नित्य सम्बन्ध है; और जिस ज्ञान से साध्य और साधन का निश्चय होना है उसे **तर्क** कहते है।

अनुमान—साधन से साध्य का ज्ञान होना **अनुमान** है।

आगम—आप्त-वचन को **आगम** कहते है।

दर्शन गुण प्रमाण के चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन— ये चार भेद है और **चारित्र गुण प्रमाण** के पांच भेद है—सामायिक चारित्र गुण प्रमाण, छेदोपस्थापनीय चारित्र गुण प्रमाण, परिहार विशुद्धि चारित्र गुण प्रमाण, सूक्ष्म सम्पराय चारित्र गुण प्रमाण और यथाख्यात चारित्र गुण प्रमाण।

नय प्रमाण

नय प्रमाण सात प्रकार का है—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत। पहले के तीन नय द्रव्यार्थिक है और शेष चार पर्यायार्थिक है। निश्चय और व्यवहार इन दो भेदो मे भी सातो नयो का समावेश हो जाता है। सातो नयो मे उत्तरोत्तर नय का क्षेत्र सामान्य से विशेष की ओर होता गया है। नय एक स्वतन्त्र विषय है, इसलिए इस लेख मे इनका केवल साधारण रूप से कथन किया है। ज्ञाता के सकल्पग्राही अभिप्राय को **नैगमनय** कहा है। जिसने सम्यक् प्रकार से एक जाति रूप अर्थ को ग्रहण किया है, उसे **सग्रह नय** कहते है। इसमे केवल सामान्य स्वरूप ही माना जाता है। जो द्रव्यो मे सर्वदा विशेष भाव हो अर्थात् सामान्य स्वरूप का अभाव सिद्ध करने वाला है, वह **व्यवहार नय** है। वर्तमान काल को ही ग्रहण करने वाला **ऋजुसूत्र नय** है। यह भूत व भविष्य को असत् इस दृष्टि से मानता है कि भूतकाल मे उत्पन्न वस्तु वर्तमान मे अवस्तु है और भविष्यत्काल की वस्तु वर्तमान मे अनुत्पन्न होने से

१ स्पष्टं प्रत्यक्षम्।

—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका ६।३

२ अस्पष्टं परोक्षम्।

—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका ६।४

३ (क) कश्चिदाह—अक्ष नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियं, तत्प्रतीत्य यदुत्पद्यते तदेव प्रत्यक्षमुचित नान्यत्।

—न्यायदीपिका

(ख) 'परीक्षामुख' में मति, श्रुत को परोक्ष 'आद्ये परोक्षे' एवं अन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष 'प्रत्यक्षमन्यत्' कह कर लिखा है, जो 'एवंभूतनय' से ठीक भी है।

(ग) नन्दी सूत्र में इन्द्रिय जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

(घ) अवग्रह आदि का ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अन्य ज्ञानों की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होने से लोक-व्यवहार में उन्हें प्रत्यक्ष माना है। इस दृष्टि से आचार्य तुलसी ने पारमार्थिक और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद कर जटिलता को सुलझाया है। स्मृति, ज्ञान धारण की, प्रत्यभिज्ञा, अनुभव और स्मृति की, तर्क व्याप्ति की, अनुमान हेतु की और आगम शब्द-संकेत की अपेक्षा रखता है। इसलिए ये सब अस्पष्ट हैं और परोक्ष में रखे गये हैं।

•

अवस्तु ही है। **शब्द नय** मे शब्द प्रधान है, ऋजुसूत्र मे लिंग-भेद होने पर भी अभेद-रूप माना जाता है, किन्तु शब्द नय मे लिंग-भेद के साथ अर्थ-भेद गौण रूप होना है। **समभिरूढ़ नय** मे वस्तु स्व गुण मे प्रवेश करती है। इस नय की दृष्टि मे यदि एक शब्द मे अन्य शब्द का एकत्व किया जाये, तो वह वस्तु अवस्तु हो जाती है। इस प्रकार इन्द्र शब्द से शक्र शब्द उतना ही भिन्न है जितना घट से पट। इस नय को एक वस्तु के अनेक नाम मान्य नही है। बढते-बढते यहाँ तक कि **एवम्भूत नय** मे केवल वर्तमान मे पूर्ण गुण प्राप्त को ही वस्तु माना है, शेष सब अवस्तु।

संख्या प्रमाण

जिसके द्वारा सख्या-गणना की जाये, उसे सख्या प्रमाण कहते है, जो आठ प्रकार की है—१ नाम सख्या, २ स्थापना सख्या, ३ द्रव्य सख्या, ४ भाव सख्या, ५ उपमान सख्या, ६ परिमाण सख्या, ७ ज्ञानसख्या और, ८ गणना सख्या।

१. नाम संख्या—किसी जीव या अजीव एक या अनेक का, शब्द के अर्थ की अपेक्षा न रखते हुए, नाम 'सख्या' दिया जाए, उसे कहते है नाम सख्या।

२ **स्थापना सख्या**—मूल अर्थ से रहित वस्तु की 'सख्या' के अभिप्राय स स्थापना करना।

३ **द्रव्य संख्या**—उपयोग-शून्य को द्रव्य 'सख्या' कहते है। वर्तमान म गुण-रहित, एव अनुप्रेक्षा-रहित उसके लक्षण है।

४ **भाव संख्या**—विवक्षित अर्थ की क्रिया मे परिणत और उपयुक्त को भाव सख्या कहते है। अथवा सख्या के स्वरूप को जो उपयोग पूर्वक जानता है, उसका नाम भाव सख्या है। उपरोक्त चारो के भेदानुभेद निम्न कोष्टक मे दिये गए है
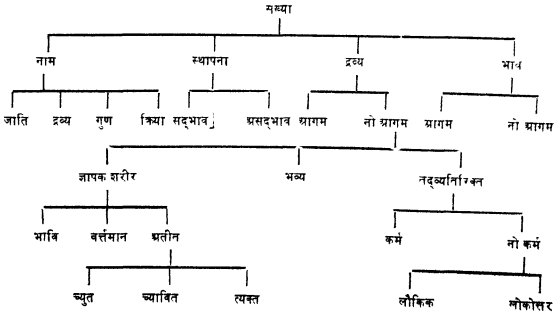
५. उपमान संख्या प्रमाण—इसके चार भेद है—१. विद्यमान पदार्थ को विद्यमान पदार्थ की उपमा देना, २ विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान पदार्थ की उपमा देना, ३ अविद्यमान पदार्थ को विद्यमान पदार्थ की उपमा देना, ४ अविद्यमान पदार्थ को अविद्यमान पदार्थ की उपमा देना।

६. परिमाण सख्या प्रमाण—जिसकी गणना की जाये, उसे सख्या कहते है। जिसमे पर्यवादि का परिमाण हो उसे 'परिमाण सख्या' कहते है, जो दो प्रकार की है १ कालिक श्रुत परिमाण संख्या, २ दृष्टिवाद श्रुत परिमाण सख्या।

जिन-जिन सूत्रों की प्रथम या दूसरे प्रहर में वाचना दी जाये और उनका जिसमें परिमाण हो, उसे कालिक श्रुत परिमाण संख्या कहते है, उदाहरणार्थ—गाथा संख्या, शतक संख्या, श्रुत स्कन्ध संख्या आदि। इसी प्रकार ही दृष्टिवाद श्रुत परिमाण संख्या है।

७ **ज्ञान संख्या प्रमाण**—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते है, और जिसमें उसकी संख्या का परिमाण हो, उसे 'ज्ञान संख्या' कहते हैं।

८. **गणना संख्या प्रमाण**—जिसके द्वारा गणना की जाए, उसे गणना संख्या कहते है। जिसके तीन भेद है—संख्येयक, असंख्येयक और अनन्तनक। इनकी चर्चा लेख की आदि में हो चुकी है।
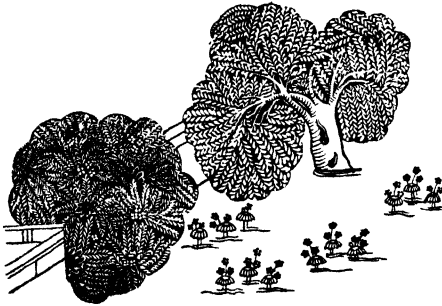
भगवान् महावीर और उनका सत्य-दर्शन

साध्वी श्री राजिमतीजी

दर्शन सत्य का सौन्दर्य है और सत्य 'दर्शन' का जीवन। दर्शन का इतिहास सत्य का इतिहास है। दर्शन की आलोचना तत्त्वत सत्य की आलोचना है। भारतीय दार्शनिको ने सत्य को जीवन का माधुर्य माना और दर्शन को उस सत्य का हल्का-सा अनुभव। सत्य स्वय मे पूर्ण है, दर्शन के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति का क्रम बनता है। दर्शन स्वय मे कुछ नही, सत्य के द्वारा उसकी पृष्ठ-भूमि बनती है, फलत दर्शन का विषय सत्य है।

प्रश्न इतना-सा रहता है—स्वय मे पूर्ण अपरिवर्तनशील सत्य, परिवर्तनशील दर्शन का विषय कैसे बना ? सत्य की अनन्तता आज भी सारे ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ मे समाये हुए है। दर्शन, पूर्ण सत्य का प्रयोग है। एक उपयोगिता है। दर्शन का विषय सत्य की खोज करना है, पर पूर्ण सत्य खोज का विषय नही। सत्य अनुभवगम्य है और अनुभव के द्वारा ही साध्य है। फिर पूर्ण सत्य, अपूर्ण सत्य (दर्शन) का विषय कैसे ?

दर्शन का विषय—सत्य

सत्य एक गुण है। यह स्वतन्त्र द्रव्य नही है। गुण का आधार द्रव्य होता है। सत्य गुण का आधार चित्त या चेतन है। प्रत्येक आत्मा पूर्ण सत्य की एकान्तत आराधक और अनाराधक नही होती। किसी-न-किसी सीमा तक वह प्राणी-मात्र मे रहता है। यही आशिक सत्य स्थूल दर्शनो का विषय बनता है और हमारे सत्यवहार की सम्पूर्ति करता है। दार्शनिक किसी नये सत्य का अन्वेषण नही करता, वह तो उसी आदर्श सत्य (पूर्ण) के हेतु-गम्य मात्र को छूता है, गह-राई मे उसका अनुशीलन करता है। दार्शनिक का परीक्षित सत्य न्यायाधीश और वैज्ञानिक के सत्य से कुछ भिन्न होता है। एक न्यायाधीश यह कह सकता है—"मैं कहता हूँ वही ठीक है।" पर दार्शनिक की दृष्टि मे पक्ष के अनेक स्वभाव रहेगे। वह कहेगा—मैं कहता हूँ वह मेरी दृष्टि से सत्य है। अन्य विरोधी दृष्टियो मे वह विवाद का हेतु भी हो सकता है। मेरी दृष्टि ही सत्य है, अन्य नही, यह आग्रह सापेक्षवादी दार्शनिक नही कर सकता। अपेक्षा का भाव एक मे नही बनता। इसीलिए सापेक्ष मे स्व और पर का द्वैध दार्शनिको ने माना है।

एक समय था, जब दर्शन का अर्थ अध्यात्म की पर्यालोचना मात्र किया जाता था। आज वही दर्शन शब्द अनेक शब्दो मे प्रयुक्त होता है। पर आज उन सब दर्शन वाच्य के अर्थों का आधार सत्य और अध्यात्म ही है, यह कहना कठिन है। ऐसी स्थिति मे आवश्यकता हुई कि दर्शन की पृष्ठ-भूमि को सुदृढ किया जाये और सत्य-विषयक विशेषण जोड दिए जायें। अध्यात्म-दर्शन के चिन्तको ने यही सोचा और दर्शन के पीछे एक विशेषण जोडा—सत्य। समस्या और आगे बढ़ी। कौन कहेगा कि मेरा दर्शन सत्य नहीं ? इस प्रश्न के समाधान मे इतना-सा सशोधन और हुआ—भगवान् महावीर का सत्य-दर्शन अथवा आत्म-दर्शन।

भगवान् महावीर सत्य के उद्गाता थे। वे जितने आदर्श पक्ष के समर्थक और प्रचारक थे, उससे कम व्यवहार पक्ष के नही थे। वे यह मानते थे कि व्यक्ति के प्रत्येक भौतिक और अभौतिक अवयव से सत्य का सम्बन्ध है और वह परस्पर सापेक्ष है। श्रद्धा हमारे हृदय का धर्म है और दर्शन (तर्क) हमारी बुद्धि का फल है। दोनो मे से किसी एक को निकाल कर हम सत्य को व्यवहार्य और सापेक्ष नही बना सकते। युग बदलते है। एक युग के बाद दूसरा युग आता है। आगम-युग के बाद दर्शन-युग आया। यह सही है, पर किसी नवीन युग मे प्राचीन युग का नामशेष होना सर्वथा असम्भव है।

आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग तर्क-प्रधान। युग व्यक्ति की रुचि और जिज्ञासा के बल पर बदलते है। विस्तार-रुचि वालो के लिए आगम-युग मे भी दर्शन-युग (तर्क) था। संक्षेप-रुचि और आज्ञा-रुचि वालो के लिए आज भी आगम-युग है। भगवान् महावीर ने दोनों के उचित सहावस्थान मे ही दृष्टि की पूर्णता स्वीकार की। आचाराग सूत्र इसका साक्षी है। एक जगह भगवान् महावीर कहते है—'मेरा धर्म आज्ञा मे है।'[1] दूसरी जगह इससे सर्वथा विरुद्ध पक्ष मे कहते है—'तू देख कि तेरा हित किस बात मे है?'[2] ऐसे अनेक स्थान है जो श्रद्धा और युक्ति की सहज संगति सिद्ध करते है। भगवान् का एक वाक्य है, 'वही सत्य और निर्विवाद है, जो सर्वज्ञ-कथित है।'[3] यह विश्वास की पराकाष्ठा और चरमवेदी है। 'सशय को जानने वाला ससार को जानता है।'[4] यहाँ सशय का अर्थ है—तर्क और जिज्ञासा। यह वाक्य तर्क का प्रबल समर्थक है। ऐसा एक और स्थल है जो दोनो की एक विषयक उपयोगिता सिद्ध करता है। गति और अगति-ज्ञान के हेतुओ का उल्लेख करते हुए कहा गया है—स्वसम्मति, परव्याकरण और विशिष्ट ज्ञानी मुनिजन—ये तीन हेतु है।[5] कितनेक लोग स्व-बुद्धि से तत्त्व को पहचानते है, कितनेक तीर्थकरो की सदेशना से और कितनेक प्रत्यक्षदर्शी और पूर्वधरो से सुन कर अपने गमनागमन की दिशा को जानते है। इसमे प्रथम हेतु युक्तिपरक और दर्शन-(तर्क) प्रधान है, बाद के दो श्रद्धा परक है। इन आगमिक स्थलो मे यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि सम्यग् दर्शन का और सम्यग् ज्ञान का आधार सापेक्ष सत्य है। दर्शनो की अनेकता और विभिन्नता मे वही दार्शनिक स्वय को सुरक्षित रख सकता है, जो सापेक्षवाद को लेकर चलता है।

सफल जीवन के दो पक्ष होते है—आचार और विचार। भगवान् महावीर ने आचार मे अहिंसा-दर्शन दिया और विचार मे स्याद्वाद-दर्शन। केवल विचारगत सत्य व्यवहार को पवित्र नही बना सकता। अत भगवान् महावीर ने क्रिया और चिन्तन के बीच होने वाले अन्तर् को क्रिया सिद्धि मे बाधक माना और सक्रिय सत्य को जीवन का आधार तथा सौन्दर्य माना। उन्होने कहा—'अपनी सुनियत्रित वृत्तियो मे सत्य की खोज करो और फिर उसका आचरण करो।'[6] यह समस्त शास्त्रो का नवनीत है।

सत्य का उत्स

आत्मा अमर है, पर उसके धर्म परिवर्तनशील है। सत्य हमारी परिवर्तनशील आत्मा है अथवा अमर आत्मा की एक पर्याय है। विश्व के महान् दार्शनिक इस बात को स्वीकार कर चुके है कि सत्य का जन्म जिज्ञासामयी, प्रयोजनमयी और आनन्दमयी आत्म-प्रवृत्तियो से होता है। जिज्ञासा से दर्शन का जन्म हुआ, प्रयोजन से विज्ञान का और आनन्द से साहित्य का जन्म हुआ। दर्शन से विचारो का परिष्कार होता है, विज्ञान से दृश्य जगत के साथ सम्बन्ध जुडता है और साहित्य से कल्पना-शक्ति तथा बुद्धि का विकास होता है। सापेक्ष सत्य का उपादान दर्शन है, प्रायोगिक सत्य का उपादान विज्ञान और आदर्श-सत्य का उपादान साहित्य है। जिज्ञासा से सत्य पाने वाला दार्शनिक कहलाता है, प्रयोजन से सत्य पाने वाला वैज्ञानिक और आनन्दात्मक प्रवृत्तियो से सत्य पाने वाला साहित्यकार कहलाता है। इन तीनो से हमारा दर्शन व्यापक और व्यवहार्य बनता है।

१ आणाए मामगं धम्मं।
२ मइमं पास।
३ तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।
४ जो संसयं जाणइ सो संसारं जाणइ।
५ सहसम्मइयाए, परवागरणेणं, अन्नेसिं वा अन्तिए सोच्चा।

—आचारांग सूत्र, १।१

६ अप्पणा सच्च मेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए।

—उत्तराध्ययन सूत्र

भगवान् महावीर का युग आगम-युग कहलाता था। उस समय वही सत्य माना जाता था, जो भगवान् कहते थे, क्योकि वीतराग का वाक्य स्वत प्रमाण होता है। यह क्रम श्रद्धालु लोगो का रहा। न्याय-युग मे शास्त्रो पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गए। नायक की भिन्नता से न्यायोचित अर्थ का मापदण्ड एक नही रहा। अनेक मान्यताए बनी। विभिन्न सम्प्रदाय जन्मे। अब केवल 'आज्ञा ग्राह्य भाव' कहकर अपने तत्त्व को बनाए रखना कठिन हो गया। ऐसी स्थिति मे जैन मनीषियो ने शास्त्रो (आगमो) का यौक्तिक परीक्षण किया और कहा —आगम और युक्ति की सहज सगति मे ही दृष्टि ज्ञेय को यथार्थतया समझ सकती है। भगवान् ने दो प्रकार के पदार्थ बतलाए—हेतु-ग्राह्य और अहेतु-ग्राह्य। फिर भी किसी एक से हम पदार्थ-समूह को नही समझ सकते। जब अधिकाश पदार्थों का स्वभाव ही हेतु और अहेतु-ग्राह्य है, तब किसी एक से यथार्थता को पाना महा कठिन है। इसलिए हमे यह मानकर चलना होगा कि दृष्टि तर्क और श्रद्धा, दोनो से पूर्ण बनती है। अध्यात्मोपनिषद् मे आचार्य यशोविजयजी कहते है

"प्रत्येक धर्म के आगम-ग्रन्थ सुनने चाहिए। विश्वास युक्ति-परीक्षा के बाद होना चाहिए। श्रवण और मनन जैसे भिन्न-भिन्न दो क्रियाए है, वैसे इनका व्यापार भी भिन्न है। श्रवण श्रद्धा का विषय है और मान्यता उपपत्ति (युक्ति) और श्रद्धा दोनो का विषय है।"[1]

विभज्यवाद

भगवान् महावीर का युग विभाजन की दृष्टि से आगम-युग था और प्रवचन की दृष्टि से दर्शन-युग। तत्कालीन पर्यनुयोग-परम्परा दार्शनिक होते हुए भी अधिक स्पष्ट और सुश्लिष्ट नही थी। महात्मा बुद्ध विभज्यवाद (प्रतिपदावाद) के द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन करते थे और भगवान् महावीर भी विभज्यवाद (स्याद्वाद) मे बोलते थे।[2] शब्द साम्य होते हुए भी दोनो मे लम्बी भेद-रेखा थी। प्रसिद्ध विद्वान् डा० देवराज ने इस विषय की समालोचना करते हुए लिखा है—"वास्तव मे जैनियो को भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी प्रश्नो पर मौन धारण करना चाहिए था। जिसके आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि पर निश्चित सिद्धान्त हो, उसके मुख मे स्याद्वाद की दुहाई शोभा नही देती।"[3] पर तत्त्व यह नही है। महात्मा बुद्ध का विभज्यवाद अनिश्चायक था। भगवान् महावीर का स्याद्वाद (विभज्यवाद) उससे सर्वथा भिन्न और निश्चायक था। तत्त्व-व्याख्या मे उन्होने 'यह हो सकता है और यह भी' इस लचीली वाक्य पद्धति को स्थान नही दिया। उन्होने निश्चय की भाषा मे बोलते हुए कहा—अमुक पदार्थ अमुक उपेक्षा से ऐसा ही है। जैन मनीषी शीलाकाचार्य (वि० आठवी शताब्दी) विभज्यवाद की विशद विवेचना करते हुए दार्शनिक कृति सूत्रकृताग की टीका मे लिखते है—'वस्तु मे अनन्त स्वधर्म और अनन्त पर धर्म होते है। उनका (प्रत्येक का) ग्रहण अपेक्षा-भेद से होता है, अपेक्षा के बिना अनेकान्त-दृष्टि (चिन्तन-शैली) प्रतिपादन योग्य अर्थात् स्याद्वाद का विषय नही बन सकती। प्रतिपादन सत्य का होता है। सत्य प्रतिपादित होकर व्यवहार्य बनता है। व्यवहार्य, अस्खलित, अविसवादी सत्य ही सर्वव्यापी और अखण्ड सत्य की सन्निधि पा सकता है। हमारे प्रतिपादन का आधार द्रव्य और पर्याय ये दो तत्त्व है। विभिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तित होने पर भी किसी द्रव्य का द्रव्यत्व नष्ट नही होता, इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु नित्य (शाश्वत) है। अवस्थाओ के द्वारा होने वाला परिवर्तन द्रव्यगत (वस्तुगत) होता है, इस दृष्टि से समस्त पदार्थ अनित्य है। यद्यपि वस्तु मे नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो युगपत् रहते है तथा स्वधर्म की दृष्टि से दोनो का प्रकटन भी एक साथ होता है, परन्तु प्रतिपादक की प्रवृत्ति

१ आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये॥
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं एते दर्शन-हेतवः॥

२ विभज्जवायं च वियागरेज्जा

३ दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ० १३५

के अनुसार उसमे मुख्य और गौण का आरोप होता है।"[1]

आचार और विचार दोनो अन्योन्याश्रित हैं। भगवान् महावीर के सत्य-दर्शन की सर्वांगीणता का प्रमुख हेतु यही अन्योन्याश्रय है। उन्होने आचार-विशुद्धि के लिए अहिंसा-दर्शन दिया और विचार-विशुद्धि के लिए स्याद्वाद-दर्शन।

भगवान् महावीर के ये दोनो सिद्धान्त जीवन के ऊर्ध्वगत तथा अधोगत चरणो के समतल है। भगवान् ने कहा—"मानवीय वृत्तियो का आरोहण तथा अवरोहण चलता आया है और चलता रहेगा। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि हम प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्त की दृष्टि से देखे और उसका स्याद्वाद की पद्धति मे प्रतिपादन करे।"

१ सर्वत्र अस्खलितं लोकसंव्यवहार अविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेत्। अथवा सम्यग् अर्थात् विभज्य पृथक्कृत्या कृत्वा तद्वादं वदेत्। नित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्।

भौतिक मनोविज्ञान बनाम आध्यात्मिक मनोविज्ञान

कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार,
उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सत्य एक है। जहाँ सत्य मे अनेकता दिखाई देती है, वहाँ विविधता होती है, विरोध नही होता, एक ही सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। सत्य की खोज के लिए मनुष्य हर देश मे और हर काल मे प्रवृत्त रहा है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की तात्त्विक रचना मे बुद्धि का निवास है, मनुष्य बुद्धिरूप है।

मानस-तत्त्व

साख्य दर्शन ने ससार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है—'प्रकृति का जब विकास शुरु हुआ तब पहले-पहल महत् तत्त्व उत्पन्न हुआ, महत् तत्त्व से अहकार पैदा हुआ।'[1] एक दूसरे स्थल पर साख्यकार ने अन्त करण चतुष्टय का वर्णन करते हुए मन-बुद्धि-चित्त-अहकार—ये चार अन्त करण गिनाये है। अहकार अन्त करण चतुष्टय का एक अग है और अहकार महत् से उत्पन्न हुआ है। महत् महान् को कहते है, परन्तु प्रकृति से जो महान् मानस-तत्त्व है, यह मानस-तत्त्व ही प्रकृति से उत्पन्न होकर अगली सृष्टि का विकास करता है। जो सत्य भारत मे प्रकट हुआ वही जर्मनी के दार्शनिक हेगल के दर्शन मे प्रकट हुआ। उसने कहा कि सृष्टि का प्रारम्भ तर्क (Reason) से हुआ, बुद्धि से हुआ।

ससार की रचना मे जो 'मानस-तत्त्व,' 'बुद्धि' या 'रीज़न' काम कर रहा है, उसे जानने के यत्न से ही सब ज्ञान-विज्ञान उत्पन्न हुआ है। हम ससार-समुद्र के अथाह 'मानस-तत्त्व' मे से जो कुछ इने-गिने नियम, सिद्धान्त या कायदे खोज निकालते है, उन्ही को हमने गणित, भौतिकी, रसायन, यांत्रिकी या दर्शन का नाम दिया है।

यदि ससार की रचना का आधार-भूत तत्त्व 'मानस-तत्त्व' है, तो उसको खोजना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। यूरोप मे ई० पू० चौथी-पाँचवी शताब्दी मे हुए यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने कहा—'अपने को जानो।' लोग समझते थे कि वे अपने को जानते हैं, परन्तु सुकरात जब उनसे बहस करता था तब वह उन्हे यह विश्वास करा देता था कि वे और तो बहुत कुछ जानते है, किन्तु अपने को नही जानते। उसका कहना था कि दूसरे लोग यह भी नही जानते कि वे अपने को नही जानते, मैं इतना तो जानता हूँ कि मैं अपने को नही जानता। सृष्टि के आधारभूत इस 'मानस-तत्त्व' को भारत के ऋषियो ने भी खोजने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि जो समझते है कि वे उसे नही जानते, वे ही उसे जानते है, जो समझते हैं कि वे उसे जानते है, वे उसे नही जानते।

प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या हम ससार के आधारभूत 'मानस-तत्त्व' को नही जान सकते ? इस बिन्दु पर आकर पाश्चात्य तथा भारतीय विचारधारा भिन्न-भिन्न दिशाओ की तरफ चल पड़ती हैं। पाश्चात्य विचारधारा का कथन है कि हमे इन्द्रियो से परे की सत्ताओ का ज्ञान नही हो सकता। हर्बर्ट स्पेंसर ने ससार की सत्ताओं को दो भागो मे बाँटा है—'अज्ञेय' तथा 'ज्ञेय'। उसका कहना है कि आधारभूत सत्ता आदि तत्त्व ऐसे है जो 'अज्ञेय' के गर्भ मे छिपे हैं, हमे अपने को 'अज्ञेय' के साथ निरर्थक टकराने की अपेक्षा 'ज्ञेय' के क्षेत्र मे सीमित रखना चाहिए। भारतीय दर्शन भी

---

१ सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेः महान्, महतोऽहंकारः

इस बात को स्वीकार करते हैं कि सृष्टि का आधारभूत 'मानस-तत्त्व' एक दृष्टि से अज्ञेय है, सर्वथा अज्ञेय नहीं। इसकी झाँकी हमें मिल सकती है। इस 'अज्ञेय' की झाँकी ही 'ज्ञेय' के साक्षात्कार से भी कहीं ज्यादा महत्त्व की है।

भौतिक मनोविज्ञान

पाश्चात्य विचारक 'ज्ञेय' के पीछे पड़े और उन्होंने आज के युग के सब ज्ञान-विज्ञान पैदा कर दिये। इन विज्ञानों के दो रूप हैं, एक विज्ञान तो वे हैं, जो सर्वथा भौतिक हैं। भौतिकी, रसायन, यान्त्रिकी आदि विज्ञानों को उन्होंने भौतिक रूप दे ही दिया है, सामाजिक विज्ञानों को भी पाश्चात्य विचारक भौतिक रूप देने जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, राजनीति-शास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का प्रतिपादन भौतिक-पद्धति के अनुसार किया जाने लगा है। भौतिक-पद्धति से अभि-प्राय यह है कि जैसे भौतिकी, रसायन, यान्त्रिकी आदि में निरीक्षण-परीक्षण-तुलना आदि द्वारा तथ्यों का निर्धारण होता है, वैसे ही राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र में भी यही पद्धतियाँ काम में लाई जाने लगी हैं। इसके अतिरिक्त वे 'मानस तत्त्व', जो 'अज्ञेय' के क्षेत्र में है, उस पर भी भौतिक-पद्धति का, निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का प्रयोग करते हैं। मानस-तत्त्व ही को वे उस क्षेत्र में खींच लाते हैं, जिस क्षेत्र में निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का प्रयोग किया जा सकता है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

'मानस-तत्व' का अर्थ है—'आत्म-तत्त्व'। पाश्चात्य विचारकों का कहना है कि आत्मा क्या है—हम नहीं जानते। आत्मा पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना नहीं हो सकती, इसलिए वह हमारे अध्ययन का विषय नहीं हो सकता। 'मन' पर भी हम निरीक्षण-परीक्षण-तुलना नहीं कर सकते। 'मन' कहाँ है, कैसे है, है या नहीं, क्या इसकी सत्ता स्नायु-मण्डल से अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से है या नहीं, इन प्रश्नों का उत्तर जब तक हम यह सब नहीं जान सकते तब तक मन हमारे अध्ययन का विषय नहीं बन सकता है। तो क्या स्नायु-मण्डल हमारे अध्ययन का विषय है? स्नायु-मण्डल के अध्ययन में भी यह मानना पड़ता है कि जो ज्ञान अन्त वाही तन्तुओं से मस्तिष्क तक पहुँचता है, उसे कोई अज्ञेय शक्ति पहले समझे और समझकर फिर तन्तुओं द्वारा अपना आदेश आगे भेजे। इन सब कारणों से पाश्चात्य विचारकों ने अज्ञेय क्षेत्र के इस ज्ञान को जिसे 'मनोविज्ञान' कहा जाता है, ज्ञेय क्षेत्र में लाने का यत्न किया। पहले मनोविज्ञान आत्म गुणों को जानने वाला ज्ञान था, फिर इसका काम मन के गुण जानना हो गया। अब मनोविज्ञान का काम स्नायु-मण्डल का अध्ययन करना हो गया, इसलिए मनोविज्ञान का वर्तमान रूप सिर्फ भौतिक रूप हो गया। वह आत्मा, मन, चेतना आदि के क्षेत्र से बाहर निकल आया है और अन्य भौतिक विज्ञानों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ा हो गया है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान भौतिक मनोविज्ञान है, क्योंकि पाश्चात्य मनोविज्ञान ने अपने को आत्मा, मन, चेतना, मस्तिष्क से अलग करके एक नया रूप धारण कर लिया है। आज के मनोविज्ञान का रूप है 'व्यवहारवाद'। इसके अनुसार—हम आत्मा, मन, मस्तिष्क के विषय में कुछ नहीं जानते। हम व्यक्ति के विषय में केवल यह जानते है कि वह कैसा व्यवहार करता है। किसी विशेष परिस्थिति के उत्पन्न होने पर मनुष्य क्या प्रतिक्रिया करता है, क्या व्यवहार करता है—बस, इसका अध्ययन मनोविज्ञान का काम है। यह व्यवहार क्योंकि भौतिक है, देखा जा सकता है, इसे नापा-तोला जा सकता है, इस पर परीक्षण किये जा सकते है, यह निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का विषय हो सकता है; इसलिए आज का मनोविज्ञान व्यवहार को अपने अध्ययन का विषय बनाता जा रहा है। इसी दिशा पर चलते हुए आज मनोविज्ञान में परीक्षणात्मक मनोविज्ञान के नाम से अनेक परीक्षण किये जा रहे है, जिनके लिए प्रयोगशालाओं का निर्माण हो रहा है।

"मनोविज्ञान का काम मन की 'चेतना' का अध्ययन करना नहीं, प्राणी के 'व्यवहार' का अध्ययन करना है"—यह विचार उन्नीसवीं सदी में वाटसन के मनोविज्ञान की देन थी। इस विचार को आधार बना कर थोर्नडाइक, पवलव आदि मनोवैज्ञानिकों ने पशुओं पर अनेक परीक्षण किये, जो शिक्षा-मनोविज्ञान की नींव हैं। यद्यपि फ्रायड के 'मनोविश्लेषण-वाद' तथा 'व्यवहारवाद' दोनों मनोविज्ञान के अलग-अलग सम्प्रदाय है, तो भी दोनों के आधार में यूरोप की भौतिक-पद्धति काम कर रही है। वाटसन, थोर्नडाइक तथा पवलव ने पशुओं के व्यवहार पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना करके

मनोविज्ञान के नियमों का प्रतिपादन किया है। फ्रायड ने अस्वस्थ मनुष्यों पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना करके मनोविज्ञान के नियमों का प्रतिपादन किया है।

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के विषय में कहा जा सकता है कि उसने मन के अज्ञेय-क्षेत्र में भी प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। परन्तु फ्रायड भी मन को मनुष्य के व्यवहार में ही पकड़ने का प्रयत्न करता है। जिस बालक में भावना-ग्रन्थि पड़ जाती है, उसका व्यवहार बदल जाता है। हीनता-ग्रन्थि आदि सब ग्रन्थियाँ, जिनकी मनोविश्लेषणवाद में जगह-जगह चर्चा पाई जाती है, मनुष्य के व्यवहार को ही अपने अध्ययन का विषय बनाते है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो यह कहने में संकोच नहीं हो सकता कि यूरोप के वर्तमान मनोविज्ञान का आधार भौतिकवाद है, भौतिक पद्धति है, निरीक्षण-परीक्षण-तुलना है, प्रयोगशाला है।

'मानस-तत्त्व' अज्ञेय कोटि में है, इसलिए उसके आत्मा, मन, मस्तिष्क आदि के विषय में पाश्चात्य मनोविज्ञान तटस्थ हो जाता है। वह तो केवल उसके व्यवहार में आने वाले भौतिक रूप पर विचार करता है और इसीलिए उसे 'भौतिक-मनोविज्ञान' कहा जा सकता है। इस 'भौतिक-मनोविज्ञान' ने ज्ञान के जगत् को बहुत-सी नवीन बातें दी है और इससे मनुष्य के मानसिक-विकास में पर्याप्त प्रगति हुई है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

आध्यात्मिक मनोविज्ञान

पाश्चात्य 'भौतिक-मनोविज्ञान' के मुकाबले में भारतीय मनोविज्ञान को आध्यात्मिक मनोविज्ञान कहा जा सकता है। इसे 'आध्यात्मिक मनोविज्ञान' कहने का कारण यह है कि भारतीय मनोविज्ञान ने सांख्य के 'महत्' को या 'मानस-तत्त्व' को, या हीगल की परिभाषा में 'रीज़न' को, या स्पेंसर की परिभाषा में 'अज्ञेय' को अज्ञेय कहा, अनिर्वचनीय कहा, यह कहा कि जो उसे जानने का दावा करता है, वह उसे नहीं जानता, जो उसके विषय में यह कहता है कि वह उसे नहीं जानता, वही जानता है, यह सब कहते हुए भी भारतीय मनोविज्ञान ने उस अज्ञेय को जानने का प्रयत्न किया। अज्ञेय को जानने के प्रयत्न को ही आध्यात्मिक कहा जा सकता है और इसीलिए भारतीय मनोविज्ञान भौतिक न होकर आध्यात्मिक है।

'मानस-तत्त्व' का क्या रूप है? इसे जानने में पहले भारतीय मनोवैज्ञानिकों के सामने सबसे पहला प्रश्न यह था कि 'मानस-तत्त्व' की सत्ता है या नहीं। 'मानस-तत्त्व' है—इसका प्रतिपादन करते हुए माण्डूक्योपनिषद् में मन की तीन अवस्थाओं का वर्णन पाया जाता है। ये अवस्थाएं है—जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जागृत अवस्था में मनुष्य की वृत्ति चारों तरफ फैली हुई होती है, बिखरी हुई होती है। वह देखता है, सुनता है, सूंघता है, चलता है, फिरता है। स्वप्न अवस्था में मनुष्य के अंग निश्चल हो जाते है। उसकी आँखें बन्द हो जाती है, कान-नाक की इन्द्रियाँ काम नहीं करती, शब्द को वह सुन नहीं सकता, गन्ध को सूंघ नहीं सकता, हाथ-पैर शिथिल पड़ जाते है। स्वप्नावस्था में आँखें बन्द होने पर भी वह देखता है—ठीक वैसे ही देखता है, जैसे खुली आँखों से देखना होता है, बन्द कानों से वह सुनता है—ठीक वैसे ही सुनता है, जैसे खुले कानों से जागृतावस्था में सुना करता है, शिथिल हाथों से वह पकड़ता है तथा निश्चल पैरों से चलता-भागता है—ठीक वैसे ही पकड़ना, चलना, भागना है, जैसे जागृतावस्था में ये सब काम करता है। यदि कोई जागृत हो और आँखें बन्द कर ले और बन्द आँखों से देखने की कल्पना करना चाहे, तो वैसी कल्पना नहीं कर सकता, जैसे मनुष्य सोता हुआ देखता है। सोता हुआ मनुष्य जब देखता, सुनता, सूंघता, चलता, फिरता है, तब उसे यह अनुभव ही नहीं होता कि वह जाग नहीं रहा। उपनिषद् के ऋषि का कहना है कि जागृतावस्था में तो मनुष्य का शरीर तथा मन दोनों दूध-पानी की तरह घुले-मिले रहते हैं, इन दोनों को पृथक् ही नहीं किया जा सकता, परन्तु स्वप्नावस्था में शरीर तथा मन ये दोनों स्पष्टतया पृथक्-पृथक् जान पड़ते है। तभी तो सब इन्द्रियाँ सोई पड़ी हैं, फिर भी जागी इन्द्रियों का-सा अनुभव होता है। यह अनुभव अनुमान का विषय नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष का है, सबके निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का विषय है। हम सबको हर रात यह अनुभव प्राप्त होता है। इस अनुभव का इसके सिवाय क्या अर्थ हो सकता है कि शरीर से भिन्न कोई 'मानस-तत्त्व' है, वह तत्त्व, जो बिना आँखों से देख सकता है, बिना कानों के सुन सकता है, बिना हाथों के पकड़ सकता है और बिना पैरों के चल सकता है। उपनिषद्कार स्वप्नावस्था का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि शरीर से भिन्न

'चेतना' की—'मानस-तत्त्व' की एक स्वतन्त्र सत्ता है, स्वतन्त्र इसलिए कि जागृतावस्था में तो यह शरीर से मिली-जुली रहती है, परन्तु स्वप्नावस्था में यह शरीर से अलग होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता दिखला देती है। फिर चाहे हम इस चेतना को आत्मा कहें, मन कहें या अन्य किसी नाम से स्थापित करें। इतना तो स्पष्ट है कि शरीर से भिन्न कोई सत्ता अवश्य है, ऐसी सत्ता, जो शरीर के बिना रह सकती है, जिसके बिना शरीर नहीं रह सकता, जो शरीर के बिना क्रियाशील है, जिसके बिना शरीर क्रियाशील नहीं रह सकता।

भारत के 'आध्यात्मिक मनोविज्ञान' की दूसरी समस्या यह थी कि यदि शरीर से भिन्न कोई 'मानस-तत्त्व' है और यदि भौतिक-शरीर की अपेक्षा वही सत्य है, तो उसका स्वरूप क्या है? उसके स्वरूप का वर्णन करने के लिए माण्डूकोपनिषद् ने फिर जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओं का वर्णन किया है। इन अवस्थाओं का वर्णन उपनिषत्कार इसलिए करते हैं कि ये तीनों अवस्थाएं प्रत्येक के अनुभव में आती है। इनके विषय में कुछ भी कहना कल्पना की बात कहना नहीं, अपितु अनुभव की बात कहना है। जागृत के बाद स्वप्नावस्था और स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्ति की अवस्था आती है। स्वप्नावस्था में तो मनुष्य बिना विषयों के सब-कुछ देखता-सुनता है। यह देखना-सुनना सिर्फ स्मृति नहीं होती। स्मृति में देखे-सुने की वह अनुभूति नहीं होती, जो स्वप्न में होती है। स्मृति में सचमुच का देखना-सुनना नहीं होता, स्वप्न में सचमुच का-सा देखना-सुनना होता है। एक चीनी विचारक च्यागसे ने अपने लेखों में लिखा था कि मुझे तितली होने का स्वप्न आया। प्रश्न यह है कि क्या मैं वास्तव में च्यागसे हूँ और मुझे तितली होने का स्वप्न आ रहा है, या मैं वास्तव में तितली हूँ और मुझे च्यागसे होने का स्वप्न आ रहा है। स्वप्न तथा जागृत में इतनी समानता पाई जाती है। स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्ति की अवस्था आती है। सुषुप्ति में सब ज्ञान लुप्त हो जाता है। मनुष्य छः-सात घण्टे की सुषुप्ति के बाद जब जागता है, तब क्या कहता है? वह कहता है—**सुखमहमस्वाप्सम्**—"मैं बड़े आनन्द में सोया, ऐसा सोया कि कुछ भी पता नहीं रहा, कोई स्वप्न तक नहीं आया।" उपनिषत्कार का कहना है कि सुषुप्ति के बाद मनुष्य यों कहता है कि मैं आनन्द में रहा। वस्तुतः 'मानस-तत्त्व' का यथार्थ रूप आनन्द का रूप है। जब वह जागृत अवस्था से स्वप्न में जाता है, तब शरीर तथा मन का सम्बन्ध टूट जाता है, मन अपने स्वरूप में आने लगता है, उस समय मन में सकल्प-विकल्प बने रहते हैं। जब वह स्वप्न से सुषुप्ति में जाता है, तब उसका सकल्प-विकल्प से भी सम्बन्ध टूट जाता है, 'मानस-तत्त्व' अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। 'मानस-तत्त्व' का शुद्ध रूप—वह रूप, जिसमें वह शरीर से जुदा होता है, आनन्द-मय रूप है और इसीलिए सुषुप्ति से फिर जागृत में लौट आने पर मनुष्य कहता है कि मैं बड़े आनन्द में रहा। सुषुप्ति अवस्था वह है जिसमें शरीर तथा मन का सम्बन्ध सर्वथा जुदा हो जाता है, जिसमें शरीर मानो मर जाता है, मन (आत्मा) अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। उस अवस्था में जो अनुभूति होती है उसी अनुभूति का वर्णन करते हुए मनुष्य कहता है कि मुझे ऐसा आनन्द आया जैसा कभी अनुभव नहीं किया।

दो शब्दों में भारत के 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान' का सार शरीर तथा आत्मा के, शरीर तथा मन के भेद को अनुभव कर लेना है। आज के बीसवीं सदी के आधिभौतिक युग में मनोविज्ञान ने भौतिक रूप धारण करके आत्मा, मन, चेतना—इन सब अज्ञेय तत्त्वों को छोड़ कर व्यवहार को, जो ज्ञेय तत्त्व है, पकड़ लिया है, परन्तु भारत के मनोविज्ञान का रूप सदा आध्यात्मिक बना रहा है। वेदों में, उपनिषदों में, गीता में, रामायण में, महाभारत में, आगमों में और त्रिपिटकों में निरन्तर एक ही खोज दिखाई पड़ती है—उस खोज का लक्ष्य शरीर से भिन्न मन तथा आत्मा को पकड़ना है।

—:o:—

जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय

डॉ० लूडो रोचेर
प्राध्यापक, ब्रसेल्स-विश्वविद्यालय

भारतीय दर्शनो मे धर्मशास्त्र आदि के द्वारा 'धर्म' का विश्लेषण किया गया है। वहाँ धर्म शब्द नीति-शास्त्र अथवा आचार-शास्त्र (Ethics) से सम्बन्धित है। जैन दर्शन की तत्त्व-मीमासा (Metaphysics) मे भी धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। आचार शास्त्र मे प्रयुक्त धर्म शब्द इससे सर्वथा भिन्न अर्थ रखता है। 'धर्म' का सिद्धान्त जैन दर्शन मे जिस विलक्षणता के साथ देखने को मिलता है, वैसा पाश्चात्य दर्शनो मे हमे कही दृष्टिगोचर नही होता। 'धर्म' शब्द जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता की इस विषय मे अति प्रसिद्ध उक्ति है "जैन तत्त्व-मीमासा मे 'धर्म' और 'अधर्म' शब्द अन्य भारतीय दर्शनो से नितान्त भिन्न रूप मे भी व्यवहृत हुए है।"[1] जैन दर्शन के 'धर्म' और 'अधर्म' क्या है? इसकी एक सक्षिप्त चर्चा यहा की गई है।

आचार्यश्री तुलसी ने 'धर्म', 'अधर्म' की व्याख्या इस प्रकार की है—

"गति मे असाधारण रूप मे सहाय करने वाला धर्म है।"[2]

"स्थिति मे असाधारण-रूप मे सहाय करने वाला अधर्म है।"[3]

जैन-दर्शन से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए इन शब्दो का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार इस विश्व मे छ प्रकार के द्रव्य है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। यूरोप के विद्वान् इस द्रव्य मीमासा से १८९५ ई० मे परिचित हो चुके थे, जबकि सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हर्मन जेकोबी ने उत्तराध्ययन सूत्र के अनुवाद मे इसका उल्लेख किया था—"धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छ प्रकार के द्रव्य इस विश्व को बनाते है, ऐसा उत्तम ज्ञानवान जिन (अरिहन्त) का निरूपण है।"[4] उत्तराध्ययन सूत्र मे दी गई धर्म-अधर्म की परिभाषा का अनुवाद जेकोबी ने इस प्रकार किया है—

"धर्म का लक्षण गति है, अधर्म का स्थिति।"[5]

जेकोबी के इन सूत्रो के अनुवाद से गति और धर्म के सम्बन्ध तथा स्थिति और अधर्म के सम्बन्ध के विषय मे पाश्चात्य भारतीय विद्याविदो और विचारको मे एक नया आकर्षण उत्पन्न हो गया है। उन्होने जैन दर्शन के इन लाक्षणिक सिद्धान्तो के विषय मे स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और मनुष्य-चिन्तन के विकास-क्रम सम्बन्धी अपने विचारो के आलोक मे इन्हे समझाने का प्रयास भी किया है।

---

१ A History of Indian Philosophy, Vol. I, p 197, Cambridge University Press, 1922.

२ गत्यसाधारणसहायो धर्मः।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।४

३ स्थित्यसाधारणसहायोऽधर्मः।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।५

४ उत्तराध्ययन सूत्र, २८।७ का हर्मन जेकोबी द्वारा किया गया अनुवाद—
Jain Sutras, Part II, Sacred Books of the East, 45, p 153, Oxford Clerendon Press, 1895

५ वही, २८।९

डा० हर्मन जेकोबी ने स्वय जैन दर्शन के धर्म-अधर्म-सिद्धान्त के विषय मे प्रसगानुसार यत्र-तत्र चर्चा की है। जेकोबी द्वारा किये गए उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र के अनुवाद[१] के आधार पर इन तत्त्वो (धर्म-अधर्म) के लक्षणो की चर्चा यहाँ की जा रही है, जिससे इनके विषय मे हमारा ज्ञान स्पष्ट हो सके।

१ अन्य द्रव्यो मे जीव को छोड कर शेष धर्म, अधर्म आदि द्रव्य **अजीव काया** अर्थात् निर्जीव हैं।[२] यह ध्यान देने योग्य बात है कि काल को यहाँ पर न गिन कर, उसके विषय मे अन्यत्र सूत्र दिया गया है—'काल भी कुछ एक लोगो के अनुसार द्रव्य है।'[३]

२ धर्म और अधर्म मे द्रव्य के सामान्य गुण पाये जाते है, जिनमे **नित्यत्व** भी है अर्थात् धर्म और अधर्म द्रव्य नित्य है।[४]

३ धर्म और अधर्म अरूपी है, अर्थात् वर्ण आदि गुणो से रहित हैं। इस दृष्टि से वे पुद्गल को छोड कर अन्य द्रव्यो के साथ समानता रखते है, क्योकि केवल पुद्गल-द्रव्य रूपी है।[५]

४ धर्म और अधर्म आकाश के साथ इस अपेक्षा से सादृश्य रखते हैं कि वे **एक-द्रव्य** हैं, अर्थात् ये एक अखण्ड द्रव्य है।[६] इसी सूत्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं।

५ इसी तरह धर्म अधर्म और आकाश मे यह समानता भी है कि वे तीनो ही निष्क्रिय हैं। इसका अर्थ होता है कि पुद्गल और जीव-ये दो द्रव्य क्रियाशील है।[७]

६ धर्म और अधर्म द्रव्यो के प्रदेश—अविभागी अवयव, जीव की तरह असख्येय है, जब कि आकाश के प्रदेशो की सख्या अनन्त है और पुद्गल के प्रदेशो की सख्या अनन्त, असख्येय अथवा सख्येय भी हो सकती है, जिसमे भी परमाणु तो अप्रदेशी ही है।[८]

७ अवगाह के विषय मे—समस्त लोकाकाश (Worldly Space) मे व्याप्त केवल दो द्रव्य—धर्म और अधर्म ही है। पुद्गल और जीव विविध प्रकार से आकाश का अवगाहन करते है।[९]

इस प्रकार धर्म और अधर्म परस्पर सर्वथा समान गुण वाले होते हुए भी—जिनमे से कुछ एक गुण तो सभी द्रव्यो मे सामान्य है, कुछ एक द्रव्य विशेष मे ही है और कुछ एक अन्य द्रव्यो मे है ही नही—केवल एक ही बात के द्वारा इनमे भेद किया जा सकता है। वह है उनका उपकार—धर्म द्रव्य का गति-सहायता-रूप और अधर्म द्रव्य का स्थिति-सहायता-रूप।

जैन परम्परा मे धर्म द्रव्य की गति-सहायता को समझाने के लिए सामान्यतया जल और मत्स्य का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार जल मत्स्य की गति का माध्यम है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य सभी गतिशील द्रव्यो की गति का माध्यम है। क्योकि जैसे जल के माध्यम से मत्स्य की गति सम्भव हो सकती है, वैसे ही धर्म-द्रव्य के विषय मे भी है। पुन प्रसिद्ध विद्वान् श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता के शब्दो मे—"इस गति-तत्त्व के निमित्त से ही, जो कि सर्वत्र व्याप्त है, पदार्थो की गति

१ Eine Jain Dogmatik, Umasvati's Tattvathadhigama Sutra Ubersetzund erlautert von Hermann Jacobi, in Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft 60 (1906) pp 287-325 and 512 -551

२ तत्त्वार्थ सूत्र, ५।१-२

३ वही, ५।३६

४ वही, ५।४

५ वही, ५।५

६ वही, ५।६

७ वही, ५।७

८ वही, ५।८-११

९ वही, ५।१२-१६

सम्भव हो सकती है, जैसे जल से मत्स्य की गति। मत्स्य की गति के लिए पानी तक निष्क्रिय निमित्त या माध्यम है अर्थात् पानी प्रेरक निमित्त न होकर उदासीन निमित्त होता है। पानी कभी स्थिर मीन को गति करने के लिए बाध्य नहीं करता, किन्तु यदि मत्स्य गति करना चाहता है, तो पानी उसकी गति के लिए आवश्यक हो जाता है। इसी तरह धर्म द्रव्य कदापि आत्मा या पुद्गल (भौतिक पदार्थों) को चला नहीं सकता, किन्तु उसके अस्तित्व के अभाव में वे गति कर ही नहीं सकते। दूसरी ओर अधर्म द्रव्य भी ऐसा ही उदासीन तत्त्व है, जो जीव-पुद्गल को स्थिर रहने में सहायक होता है। यदि धर्म न हो, तो कोई भी द्रव्य गति नहीं कर सकता और यदि अधर्म न हो, तो कोई भी द्रव्य स्थिर नहीं रह सकता।"[1]

पाश्चात्य विद्वानों के सामने जब धर्म-अधर्म के जैन-सिद्धान्त आये, तब वे केवल जैन रचयिताओं द्वारा की गई इनकी व्याख्याओं को समझ लेने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुए अपितु इन्होंने जैन सिद्धान्तों की गवेषणाओं में यह जानने का प्रयत्न भी किया कि किस कारण से जैन शास्त्रकारों ने इन दो शब्दों (धर्म-अधर्म) का प्रयोग अपने यहाँ विशेष अर्थ में किया, जब कि भारतीय दर्शनों में ये शब्द नितान्त भिन्न अर्थ के सूचक थे।

पाश्चात्य गवेषकों के प्रतिनिधि के रूप में सर्वप्रथम हम प्रो० जन गोण्डा, यूट्रेक्ट विश्वविद्यालय (हालैण्ड) को उद्धृत करेंगे। प्रो० गोण्डा के अभिमतानुसार—"जैन दर्शन के विकास-काल में भारत में ये दो शब्द धर्म और अधर्म इतने प्रचलित थे कि जैन दर्शन अपने सिद्धान्तों में इन्हें स्थान दिये बिना नहीं रह सका। सामान्यतया इनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ जैन दर्शन को मान्य नहीं था, अतः जैन दर्शन ने इन शब्दों को बिल्कुल नवीन अर्थ में ही प्रयुक्त किया, जो कि अन्य भारतीय दर्शनकारों को ज्ञात नहीं था।"[2]

धर्म-अधर्म की आधुनिक व्याख्या का दूसरा उदाहरण सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता के शब्दों में मिलता है—"जैन दार्शनिकों ने इन दो द्रव्यों को सम्भवतः इसलिए आवश्यक माना हो कि उनकी विचारधारा में जीव अथवा परमाणु (पुद्गल) की आन्तरिक प्रवृत्ति के बाह्य प्रवर्तन के लिए कोई बाह्य निमित्त होना चाहिए, जिसके बिना उसकी परिणति बाह्य गति के रूप में होनी असम्भव है। ... इस प्रकार यह चिन्तन किया गया होगा कि गति की परिणति या निष्पत्ति के लिए किसी बाह्य तत्त्व की सहायता अपेक्षित होनी चाहिए, जिसके अभाव में मुक्त आत्मा की गति भी असम्भव हो जाती है।"[3]

अन्त में हम जेकोबी को उद्धृत करेंगे, जिन्होंने जैन दर्शन की इस विचारधारा के मूल उद्गम के विषय में चिन्तन किया है। जेकोबी के अनुसार—"यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि आकाश (Space) के सामान्यतया प्रकल्पित उपादानों को जैन दर्शन तीन तत्त्वों में विभाजित कर देता है—आकाश, धर्म और अधर्म। यह अत्यन्त ही कल्पना-प्रधान तथा अति तार्किक-सा प्रतीत होता है। किन्तु धर्म और अधर्म शब्द का पारिभाषिक अर्थ में आगमों में जो प्रयोग हुआ है, वह तो धर्म-अधर्म की प्राथमिक (Primitive) कल्पना पर आधारित है, ऐसा प्रतीत होता है चूंकि 'धर्म', 'अधर्म' के विषय में सम्भवतः प्राथमिक कल्पना तो यही रही होगी कि धर्म-अधर्म वे अदृश्य तरल तत्त्व हैं जिनके सम्पर्क से 'पुण्य' और 'पाप' लगता है।"[4]

व्यक्तिगत-रूप से मैं जैन दर्शन के 'धर्म-अधर्म' शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध से उपस्थित समस्याओं को थोड़े-से भिन्न रूप से रखना चाहता हूँ। ऊपर दिये गए उद्धरणों में कुछ एक अंश लेकर, आगे का विचार-विमर्श मैं स्वतन्त्र रूप से करूँगा। मेरे विचार से तो इस विषय में सबसे मौलिक बात यही है कि जैन विचारकों ने इस स्पष्ट तथ्य को जान लिया था कि पदार्थ स्थिति अवस्था से गति-अवस्था में और गति-अवस्था से स्थिति-अवस्था में लाये जा सकते हैं।

१ A History of Indian Philosophy, Vol I, pp. 197-198

२ डच भाषा में लिखे गये विद्वत्तापूर्ण लेख में यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है—
Het Begrip dharma in het Indische denken, in ' Tijdschrift voor philosophie, 20 (1958) p 244.

३ A History of Indian Philosophy, Vol I pp 198

४ Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol I, p 469, (1914) यही अभिप्राय प्रो० वाल्टेर शूब्रिंग ने भी व्यक्त किया है। द्रष्टव्य, Die Lehre der Jainas, nach den alten Quellen dargestell, p 12, Berlin—Leipzig, 1935.

इन गति-स्थिति तत्त्वो का नाम जैन दार्शनिकों ने धर्म-अधर्म दिया है, यह कोई आश्चर्य की बात नही लगती, यद्यपि हम इस सत्य की उपेक्षा नही करना चाहते कि भारत मे धर्म-अधर्म शब्दों का प्रयोग सामान्यतया इनसे भिन्न अर्थों मे ही हुआ है। इस शब्द-प्रयोग की विस्तृत चर्चा मे न जाकर केवल इतना ही कहना होगा कि धर्म-अधर्म शब्दो का व्यापक अर्थों मे जो प्रयोग हुआ है, वह प्राचीन हिन्दू दर्शन की देन है। तात्पर्य यह हुआ कि धर्म-अधर्म शब्दो का व्यापक अर्थ मे प्रयोग, जिसको सामान्यतया हम जानते है, जैन दर्शन के तात्त्विक प्रयोग से पूर्ववर्ती है, यहाँ तक कि जैनो के प्राचीनतम आगम से भी पूर्ववर्ती है। प्राचीनतम वैदिक और बौद्ध शास्त्रो मे धर्म-अधर्म शब्दों के व्यापक अर्थ-प्रयोग के उदाहरण यदि यहाँ उद्धृत किये जाय, तो उनसे सहसा यह स्पष्ट हो सकता है कि इन दो शब्दो का चयन जैन दर्शनकारो ने अपने विशिष्ट तात्त्विक विचारो के प्रतिपादन के लिए क्यो किया।

दूसरी चर्चनीय बात यह है कि प्रथम अवलोकन मे को भी व्यक्ति धर्म-अधर्म कोई गुण-वाचक शब्द मान सकता है और जैनो के इन शब्दो के द्रव्यवाचक प्रयोगो के विषय मे आश्चर्य व्यक्त कर सकता है। फिर भी जैनो की द्रव्य-मीमासा की साधारण रूपरेखा के अन्तर्गत इनका समावेश होने का कारण यही एकमात्र हल था। प्रथम तो यह बात है कि गुण सदा द्रव्याश्रित होते है, अब यदि धर्म-अधर्म भी द्रव्यो के गुण ही होते तो एक ही द्रव्य मे दोनो विरोधी धर्मों का युगपत् आश्रय हो जाता। इसके अतिरिक्त स्वय गुण होने के कारण, इनमे गुणो का अभाव हो जाता, जब कि, जैसा हम ऊपर देख चुके है, धर्म-अधर्म मे अन्य द्रव्यो की तरह वास्तविक गुण होते है।

इस सक्षिप्त टिप्पणी की समाप्ति मे एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि हम यहाँ यह चर्चा करना नही चाहते कि जैनो की धर्म-अधर्म की विचारधारा कोई जादुई तरल पदार्थ की प्राथमिक कल्पना पर आधारित है या नही। वस्तुत तो वर्तमान समाजशास्त्र और मानव शास्त्र मे 'प्राथमिक' शब्द का महत्त्व जो किसी युग मे यूरोप मे विशेष रूप मे था, कम हो गया है। फिर भी इसके विषय मे विशेष चर्चा करने का हमारा उद्देश्य नहीं है। हम तो इस तथ्य को आगे लाना चाहते है कि जैन दार्शनिको ने ऐसे दो तत्त्वो के अस्तित्व को जाना, पहिचाना — चाहे हम इसे द्रव्य कहे या और कुछ—जो भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, एक तो वह तत्त्व, जिसकी सहायता से स्थिर पदार्थ गति कर सकते है और दूसरा वह तत्त्व, जिसके माध्यम से गतिमान् पदार्थ स्थिर हो सकते है। तदुपरान्त यद्यपि मै व्यक्तिगत रूप से प्राच्य आविष्कारो की पाश्चात्य आविष्कारो के साथ तुलना करने के पक्ष मे अधिक विश्वास नही रखता हूँ, फिर भी जैन दर्शन की धर्म-अधर्म की विचारधारा का चिन्तन करते समय हम अवश्य आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञान की ऊर्जा (energy) और जडत्व (inertia) की विचारधारा को भूल नही सकते। यद्यपि दोनो विचारधाराओं मे पूर्णत सामजस्य नही है, फिर भी यह लगता है कि 'ऊर्जा' और 'जडत्व' के सदर्भ मे जैन दर्शन के धर्म-अधर्म को समझा जाये, तो इनके विषय मे अधिक स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो सकती है।

मानव-संस्कृति का उद्गम और आदि विकास

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

क्रम-ह्रासवाद और क्रम-विकासवाद

इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण और रोचक स्थल संस्कृति का उद्गम और आदि विकास ही हुआ करता है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा, अत उसके रचना काल का प्रश्न भी नहीं उठता, वह शाश्वत है। क्रम-ह्रासवाद व क्रम-विकासवाद के आधार पर समय व्यतीत होता है, युग बनते है और उनमें इस विश्व मे क्रमश अवसर्पण और उत्सर्पण होता है। जैन धारणा के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग और कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक्र' के नाम से अभिहित किया गया है। कालचक्र के मुख्यत दो विभाग है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। दोनो ही विभाग फिर छ-छ भागो मे विभक्त किये गए है। अवसर्पिणी के छ विभागो के नाम है—१ एकान्त सुषमा, २ सुषमा, ३ सुषम-दु षमा, ४ दु षम-सुषमा, ५ दु षमा और ६ दु षम-दु षमा। उत्सर्पिणी मे इनका व्यतिक्रम होता है। इन छ विभागो को 'आरा' भी कहा जाता है। अवसर्पिणी मे वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श, सहनन, सस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमश अवनति होती है और उत्सर्पिणी मे उन्नति। जब उन्नति चरम सीमा पर पहुच जाती है, तब अवनति आरम्भ होती है और जब अवनति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरम्भ से एक तरह की नई सृष्टि का आरम्भ होता है और समाप्ति होने पर समाप्ति।

अवसर्पण की आदि सभ्यता

प्रथम विभाग एकान्त सुषमा मे मनुष्यो का आयुष्य तीन पल्य[1] का होता था और उनका शरीर तीन कोस-परिमाण। उनका समचतुरस्र सस्थान होता था और वज्र-ऋषभनाराच सहनन। वे अपक्रोध, निरभिमान, निश्छद्म व अवितृष्ण, विनीत, भद्र, भोज्य व भक्ष्य पदार्थो का सग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, औत्सुक्य-रहित और सर्वदा-धर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी और मिट्टी चीनी की तरह अतिशय मिष्ट, अत नदियो मे पानी भी मधुर व निर्मल ही होता था। पदार्थ अति स्निग्ध थे, अत बुभुक्षा भी अल्प थी। चौथे दिन केवल तुअर की दाल के प्रमाण थोड़ा-सा भोजन करते थे। यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता की मृत्यु के छ मास पूर्व एक युग्म पैदा होता था और वही आगे चल कर पति-पत्नी के रूप मे परिवर्तित हो जाता था। विवाह, पूजन, प्रेतकार्य आदि नही थे, अत व्यग्रता भी नही थी। पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति भी नही थी। मनुष्य केवल युगल रूप मे व्यष्टि ही था। कर्म-युग था, पर कर्म-युग का प्रवर्तन नही हुआ था।

विकार अत्यल्प थे। जीवन की आवश्यकताए बहुत सीमित थी। खेती, सेवा व्यापार के आधार पर आजीविका चलाने की कोई आवश्यकता न थी। उनकी आवश्यकताए दश प्रकार के कल्पवृक्षो से पूर्ण होती थी।

१ मद्याङ्ग वृक्ष—शारीरिक पौष्टिक पदार्थ,

२ भृताङ्ग वृक्ष—भाजन,

---

१ असंख्य वर्षों का एक काल-मान

३ तूर्याङ्ग वृक्ष—विविध वाद्य,
४ दीपाङ्ग वृक्ष—दीपक का प्रकाश,
५ ज्योतिष्क वृक्ष—सूर्य या अग्नि का कार्य,
६ चित्राङ्ग वृक्ष—पुष्प,
७ चित्ररस वृक्ष—विविध भोजन,
८ मण्यङ्ग वृक्ष—आभूषण,
९ गेहकार वृक्ष—मकान की तरह आश्रय, और
१० अनग्न वृक्ष—वस्त्र की पूर्ति।

इन दश प्रकार के वृक्षो द्वारा ही बुभुक्षा और प्यास की शान्ति, वस्त्र, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व अग्नि के अभाव की पूर्ति, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद के साधनों की उपलब्धि होती थी।

जन-संख्या बहुत कम थी और जीवन-यापन के साधन प्रचुर मात्रा मे थे, अत कलह, वैमनस्य या स्पर्धा नही होती थी। किसी के परस्पर स्वार्थ नही टकराते थे, अत कुल, जाति या वर्ग भी नही बने। ग्राम या राज्य की तो कोई आवश्यकता भी न थी। सभी स्वेच्छाचारी या वनवासी थे। कोई शासक या शासित नही था और न कोई भी शोषक या शोषित। दास, प्रेष्य, कर्मचारी व भागीदार भी नही होते थे।

असत्याचरण, लूट-खसोट, लड़ना-झगड़ना व मार-काट नही थे। अब्रह्मचर्य सीमित था। नैसर्गिक आनन्द और शान्ति थी। धर्म और उसके प्रचारक भी न थे। जीवन सहज धार्मिक होता था। विश्वासघात, प्रतिशोध, पिशुनता या आक्षेप आदि न थे। हीनता और उच्चता के भावो का भी अभाव था। सफाई करने वाला वर्ग भी नही था।

हाथी, घोड़े, बैल, ऊंट आदि सभी प्रकार के पशु होते थे, पर मनुष्य उन्हे वाहन के रूप मे प्रयुक्त नही करता था। गाय, भैंस, बकरी आदि दुधारू पशु भी होते थे, पर न कभी उनका दूध निकाला जाता था और न कभी किसी ने दूध का स्वाद भी चखा था। गेहूं, चावल आदि धान्य बिना बोये ही उगते थे, पर उन्हे उपयोग मे नही लाया जाता था। सिह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी किसी पर हमला नही करते थे। किसी प्रकार के शस्त्र भी नही थे। जीवन बहुत लम्बे होते थे। असामयिक मृत्यु नही होती थी। श्वास, ज्वर व महामारी आदि छोटी व बडी किसी प्रकार की भी व्याधि नही होती थी। इस प्रकार चार कोटाकोटि सागर[1] का एकान्त सुषमा नामक प्रथम विभाग समाप्त हुआ।

सभ्यता में परिवर्तन

अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमश बीत गया। सभी बाते ह्रासोन्मुख होने लगी। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थो की यथेच्छ उपलब्धि क्रमश कम होती गई। आयुष्य भी तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य व एक पल्य का हो गया। भोजन की आवश्यकता भी तीसरे व दूसरे दिन होने लगी। शरीर का परिमाण भी घटने लगा। कल्पवृक्षो ने भी आवश्यकताए पूर्ण करना कुछ कम कर दिया।

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था। एक पल्य का केवल आठवां भाग अवशिष्ट था। यौगलिक व्यवस्था डोलने लगी। सरलता, निरभिमान व निश्छद्म के स्थान पर जीवन मे कुटिलता, अह व छद्म प्रविष्ट होने लगे। कल्पवृक्षो के द्वारा अभीप्सित मिलना अल्प हो गया। भूमि की सहज स्निग्धता और मधुरता मे भी और अन्तर आ गया। आवश्यकताए बढ़ने लगी और उससे सग्रहवृत्ति भी। जब अनिवार्य आवश्यकताए पूर्ण न हुईं, तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-झपटी भी बढ़ी। सहज रूप मे उगने वाले धान्य का भोजन के रूप मे उपयोग होने लगा। क्षमा, शान्ति व सौहार्द आदि सहज गुण बदल गये। अपराधी मनोभावना के बीज अकुरित होने लगे। असख्य वर्षो के बाद ऐसी परिस्थिति हुई थी।

---

१ दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर होता है।

समष्टि जीवन के आरम्भ के निमित्त

अव्यवस्था व अपराध न हो, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे। अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा। एक-दूसरे की निकटता बढ़ी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया। उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया।

मनुष्यों में अहवृत्ति जागृत होने लगी थी, अत उस 'कुल' का मुखिया कौन हो, यह प्रश्न भी सामने आया। पद-लिप्सा भड़कने लगी थी। परन्तु उसके लिए किसी प्रकार का विग्रह उचित नहीं समझा जाता था। किसी मध्यम मार्ग की गवेषणा की जा रही थी। एक दिन एक विशेष घटना घटी। एक युगल स्वेच्छया वन में भ्रमण कर रहा था। सामने से एक उज्ज्वल व बलिष्ठ हाथी आ रहा था। दोनों की आँख मिली। हाथी के हृदय में युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुआ। उसे अपने गत भव की स्मृति हुई, जिससे उसने जाना, हम दोनों ही पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में वणिक् पुत्र थे और दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यह सरल था, अत यहाँ मनुष्य रूप में उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त मायाचारी था, अत इस पशु-योनि में आया हूँ। उसने अपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी, अपनी पीठ पर बैठा लिया। अन्य युगलों ने जब इस घटना को देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। क्योंकि इस अवसर्पण काल में यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ हुआ था। हाथी बहुत विमल था, अत उस युगल का नाम भी विमलवाहन कर दिया गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया। इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानने और वह सबको व्यवस्था देता।

दण्डनीति की आवश्यकता

अपराधी मनोवृत्ति बढ़ती हुई कुछ रुकी। किन्तु व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्त्रित न हुई। कुछ दण्ड-नीति की भी आवश्यकता अनुभव की गई। इससे पूर्व कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। उस स्थिति का निम्न श्लोक से अभि-व्यक्त किया जा सकता है

नैव राज्य, न राजासीत्, न दण्डो, न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा, रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

विमलवाहन के समय यह स्थिति बदल गई। कल्पवृक्षों ने अभीप्सित प्रदान करना कुछ कम कर दिया, अत युगलों का उन पर ममत्व होने लगा। एक युगल द्वारा अधिकृत कल्पवृक्ष का दूसरा युगल उपयोग करने लगा और इस प्रकार वे परस्पर लड़ने लगे। विमलवाहन ने सबको एकत्रित किया और अपने ज्ञान वैशिष्ट्य से झगड़ा टालने की दृष्टि से, कुटुम्बियों में जिस तरह सम्पत्ति बाँटी जाती है, कल्पवृक्षों को परस्पर बाँट दिया।

हाकार नीति

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही, पर इसका भी अतिक्रमण होने लगा। विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ किया। सर्वप्रथम हाकार नीति का प्रचलन हुआ। अपराधी को इतना ही कहा जाता— 'हा! तुमने यह किया?' अपराधी पानी-पानी हो जाता। उस समय इतना कथन ही मृत्यु-दण्ड का काम करता था। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही। अपराध भी कम होते, व्यवस्था भी बनी रहती। किन्तु आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में वैमनस्य बढ़ने लगा और प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगों के लिए सहज बन गई।

माकार नीति

विमलवाहन के बाद उसका ही पुत्र चक्षुष्मान् दूसरा कुलकर हुआ। वह भी अपने पिता की तरह ही व्यवस्थाएं देता रहा। कभी अपराध बढ़ते और कभी कम होते। 'हाकार' दण्ड से सब कुछ ठीक हो जाता। चक्षुष्मान् के बाद जब

उसका पुत्र यशस्वी तृतीय कुलकर बना, तब वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी बढ़ते ही गये। यशस्वी ने यह सोचकर कि एक औषधि से यदि रोगोपशान्ति न होती हो तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिए, 'माकार नीति' का प्रचलन किया। अपराधी से कहा जाता—और कभी ऐसा अपराध मत करना। अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दण्ड दिया जाता।

धिक्कार नीति

यशस्वी और चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दण्ड-व्यवस्थाओं से ही काम चलता रहा। पाँचवें कुलकर प्रसेनजित् को भी फिर इसमें परिवर्तन करना पड़ा। अपराधों की गुरुता बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि में आ चुका था। युगल कामार्त्त, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे, इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार और माकार के साथ 'धिक्कार नीति' का भी प्रचलन किया। अपराध-वृद्धि के साथ दण्ड-वृद्धि भी हुई। इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता—तुझे धिक्कार है, जो इस तरह के काम करता है। इस दण्ड-व्यवस्था से पुनः मर्यादाएं स्थापित हुई। युगल भोले रहते और अपराध करते हुए सकुचाते। छठे मरुदेव और सातवें नाभि कुलकर तक यह व्यवस्था चलती रही। नाभि कुलकर की पत्नी का नाम मरुदेवा था।

कुलकरों की संख्या

दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुलकरों की संख्या चौदह है और प्रथम, षष्ठ व एकादशम कुलकर के समय क्रमशः एक-एक नीति का प्रवर्तन हुआ। कुछ एक परम्पराएं अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र ऋषभदेव को भी कुलकर मानती हैं। किन्तु वे कुलकर नहीं थे। क्योंकि उस समय कुलकर व्यवस्था से आगे समाज-व्यवस्था व राज्य-व्यवस्था का प्रवर्तन हो चुका था। व्यष्टि समष्टि में परिवर्तित होने लगी थी। उस समय नाना प्रकार के सामाजिक नियमन भी बन चुके थे और कुलकर व्यवस्था में जहाँ कल्पवृक्षों द्वारा आवश्यकताएं पूर्ण होती थीं, वहाँ ऋषभदेव के समय से ऐसा होना समाप्त हो गया था। क्रमशः असि, मषि, कृषि का विकास हो गया था और उसके आधार पर ग्राम-निर्माण, शासन-प्रणाली, वैवाहिक सम्बन्ध व उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रियों के कार्यों का विभाजन भी हो चुका था। इन विभिन्न आधारों से सहज निष्कर्ष निकलता है कि नाभि अन्तिम कुलकर थे और श्री ऋषभदेव मानवीय सभ्यता के आदि सूत्रधार। चौदह कुलकरों का जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ प्रथम छः सर्वथा नये हैं। इनके नाम भी भिन्न है। सातवें से चौदहवें कुलकर तक के नाम दोनों परम्पराओं में एक ही हैं। केवल ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ को श्वेताम्बर परम्पराएं नहीं मानती हैं। इस तरह दिगम्बर परम्परा के ग्यारहवें कुलकर को छोड़ कर अन्तिम सात कुलकर, उनकी पत्नियाँ व उनके हाथी आदि वे ही हैं, जिन्हें श्वेताम्बर परम्परा में माना गया है। कुलकरों को 'मनु'[1] भी कहा जाता है।

कर्मयुग का आरम्भ

अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी। यह समय यौगलिक सभ्यता व मानवीय सभ्यता का सन्धिकाल था। आयु, संहनन, संस्थान व शरीर-परिमाण आदि घटने लगे थे। तृतीय विभाग सुषम-दुःषमा समाप्त होने में चौरासी हजार वर्ष अवशिष्ट थे। नाभि कुलकर के घर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। माता ने चौदह स्वप्न देखे। उनमें प्रथम स्वप्न वृषभ का था। शिशु के वक्षःस्थल पर वृषभ का लाञ्छन भी था, अतः उनका नाम वृषभनाथ—ऋषभदेव रखा गया। आगे चलकर समाज-व्यवस्था व धर्म-व्यवस्था के आदि प्रवर्तक होने से वे आदिनाथ के नाम से भी विश्रुत हुए। सहजात कन्या का नाम सुमङ्गला रखा गया।

१ आदि पुराण, ३।१५

वंश-उत्पत्ति व उनके नामकरण

जब ऋषभदेव कुछ कम एक वर्ष के हुए, वंश का नामकरण किया गया। इन्द्र स्वयं इस कार्य के लिए आया। उसके हाथ में गन्ना था। उस समय ऋषभदेव नाभि राजा की गोद में बैठे थे। इन्द्र के अभिप्राय को जान कर उन्होंने उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाया, अतः इक्षु + आकु (भक्षणार्थे) = इक्ष्वाकु वंश के नाम से वह प्रसिद्ध हुआ। पहला वंश इक्ष्वाकु बना, ऐसा इस आधार से कहा जा सकता है। इसी तरह एक-एक घटना विशेष को लेकर पृथक्-पृथक् समूहों के पृथक्-पृथक् वंश बनते गये।

अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का बाल्य-जीवन बहुत ही आनन्द से बीता। धीरे धीरे बड़े होने लगे। एक अद्भुत घटना घटी। एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड़ वृक्ष के नीचे बैठा कर स्वयं कदलीवन में क्रीडा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बड़ा फल टूटा और किसलय के समान कोमल उस पुत्र पर पड़ा। उसकी अकाल ही मृत्यु हो गई। यह पहली अकाल मृत्यु थी। यौगलिक माता-पिता ने अपनी उस लाडली कन्या का लालन-पालन किया। वह बहुत सुरूपा थी। उसके प्रत्येक अवयव से लावण्य टपकता था। कुछ महीनों बाद उसके माता-पिता का भी देहान्त हो गया। वह अकेली रह गई। उसका नाम सुनन्दा था। वह एकाकिनी यूथभ्रष्ट हरिणी की तरह इधर-उधर भटकने लगी। कुछ युगलों ने चलकर श्री नाभि के समक्ष यह सारा उदन्त कहा। श्री नाभि ने सुनन्दा को यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी होगी, अपने पास रख लिया।

विवाह-परम्परा

यौवन प्रवेश पर ऋषभदेव का सहजात सुमङ्गला और सुनन्दा के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। अपनी बहिन के अतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह-सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमङ्गला ने चवदह स्वप्न-पूर्वक भरत व ब्राह्मी को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबलि व सुन्दरी को। इसके बाद क्रमशः सुमङ्गला के अट्ठानवें पुत्र और हुए।

राज्य-व्यवस्था का आरम्भ

प्राचीन मर्यादाएं विच्छिन्न होती जा रही थी। तीनों ही दण्ड-व्यवस्थाओं की उपेक्षा होने लगी, अतः किसी भी प्रकार का नया विधान आवश्यक हो गया था। कल्पवृक्षों से प्रकृति सिद्ध जो ईप्सित मिलता था, वह अपर्याप्त होने लगा। तृष्णा बढ़ने लगी, आवेश उभरने लगा, अहं जागृत होने लगा और छद्म खुलकर सामने आने लगा। शान्ति भंग होने लगी। जिन युगलों ने कभी अपने जीवन में लड़ना, झगड़ना या वैमनस्य नहीं देखा था, उन्हें यह बहुत ही बुरा लगा। वे इन स्थितियों से घबरा गये। एक दिन वे ऋषभदेव के पास पहुँचे और सारी स्थिति उनसे निवेदित की। ऋषभदेव ने कहा—जो लोग मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। पहले भी ऐसा हुआ था और उसके प्रतिकार स्वरूप ही तीन प्रकार की दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था। अब अपराध और बढ़ गए हैं, अतः उनके शमन व मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त अन्य दण्ड-व्यवस्था का भी आविर्भाव होना चाहिए। यह सब कुछ तो राजा ही कर सकता है।

युगलों ने पूछा—राजा कौन होता है और उसके कार्य क्या होते हैं?

ऋषभदेव ने कहा—राजा के पास चार प्रकार की सेना होती है। उच्च सिंहासन पर बैठा कर सर्वप्रथम उसका अभिषेक किया जाता है। वह अन्याय का परिहार और न्याय का प्रवर्तन अपने बुद्धि-कौशल से करता है। शक्ति के सारे स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं, अतः वहाँ कोई मनमानी नहीं कर सकता।

हमारे मे तो आप ही सर्वाधिक बुद्धिशाली व समर्थ है, अत आप ही हमारे राजा बने। आपको हमारी उपेक्षा नही करनी चाहिए, युगलो ने कहा।

यह मांग आप कुलकर श्री नाभि के समक्ष प्रस्तुत करे। वे आपको राजा देगे, श्री ऋषभदेव ने युगलो से कहा।

युगल मिल-जुल कर नाभि के पास पहुँचे। उन्होने आत्म-निवेदन किया। नाभि ने ऋषभदेव को उनका राजा घोषित किया। युगलो ने उन्हे सहर्ष स्वीकार किया और ऋषभदेव के सम्मुख आकर कहने लगे नाभि कुलकर ने आपको ही हमारा राजा बनाया है।

युगलो ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक अपूर्व आह्लाद के साथ किया। ऋषभदेव राजा बने और शेष जनता प्रजा। उन्होने अपने पुत्र की तरह प्रजा का पालन आरम्भ किया। राजा बनने के बाद ऋषभनाथ पर व्यवस्था-सचालन का सारा भार आ गया। सारी परम्पराए जर्जरित हो चुकी थी। आवास, भूख, शीत, ताप आदि की समस्याए सताने लगी थी। अराजकता भी बढ रही थी। जनता अतिभद्र थी। वह किसी भी प्रकार का कर्म नही जानती थी। ऋषभदेव के सम्मुख यह एक जटिल पहेली थी, पर उन्होने अपने ज्ञान-चातुर्य से सबका समाधान प्रस्तुत किया। आवास-समस्या के समाधान हेतु उस समय नगर व ग्राम बसाये गये। पहले-पहल अयोध्या का निर्माण हुआ और उसके अनन्तर अन्य नगरो व ग्रामो का। सज्जनो की सुरक्षा और दुर्जनो के परिहार के निमित्त उन्होने अपने मत्रि-मण्डल का निर्माण किया। चोरी, लूट-खसोट व दूसरे के अधिकारो का अपहरण न हो, इसके लिए आरक्षक वर्ग की स्थापना की। राज्य-शक्ति को कोई चुनौती न दे, इसके लिए, गज, अश्व, रथ और पादातिक, चार प्रकार की सेना एकत्रित की और सेनापति की नियुक्ति भी। गो, बलीवर्द, भैसे, खच्चर, ऊंट आदि पशुओ को भी उपयोगी समझ कर एकत्र किया गया।

खाद्य-समस्या

इस समय तक युगलो का भोजन कल्पवृक्षो के अभाव मे कन्द, मूल, फल, पत्र, पुष्प आदि हो गया था। तृण की तरह स्वय उगने वाले चावल, गेहू, चने, मूंग आदि भी उनके भोजन मे सम्मिलित हो चुके थे। वनवास से गृहवास की ओर जब जनता का क्रम चला, कन्द, मूल, फल का भोजन अपर्याप्त व चावल, चने व गेहूँ का भोजन स्वास्थ्य के लिए अहित-कर अनुभव होने लगा। सहज उत्पन्न अन्न को पकाना भी वे नही जानते थे और न पकाने के साधन भी उनके पास थे। अपक्व अन्न-ग्रहण से अजीर्ण का रोग सताने लगा। युगल ऋषभदेव के पास अपनी व्यथा लेकर पहुँचे। उन्होने कहा—अनाज को अब हाथ से मलकर, उसके छिलके निकाल डालो और फिर खाओ। यह व्याधि दूर हो जायेगी। लोगो ने वैसा ही किया। कुछ दिन बीते किन्तु कडा होने से वैसा अनाज भी दुष्पाच्य रहा और वही व्याधि पुन सताने लगी। ऋषभदेव के पास फिर वही समस्या उपस्थित हुई। उन्होने समाधान दिया—हाथो से मलकर, पानी मे भिगोकर व पत्तो के दोनो मे रखकर खाओ। इससे तुम व्याधि से बच सकोगे। लोगो की ऋषभदेव पर पूरी श्रद्धा थी, अत उन्होने वैसा ही किया। कुछ दिन उस उपक्रम से काम चल गया, किन्तु स्थायी समाधान नही मिला। फिर ऋषभदेव के सम्मुख ही वे आये और अपनी चिन्ता सुनाने लगे। कुछ चिन्तन के बाद उन्होने उत्तर दिया—पूर्व विधि से अन्न तैयार कर कुछ देर मुट्ठी मे या बगल मे इस तरह रखो कि उससे अन्न कुछ गर्म हो जाये। फिर खाओ। सभी ऐसा करने लगे। ऐसा करने पर भी उनका अजीर्ण नहीं मिटा और वे कमजोर होते गये।

अग्नि और पात्र-निर्माण का आरम्भ

कुछ दिन बीते। एक दिन एक नई घटना घटी। वृक्षो के परस्पर टकराने से अग्नि प्रकट होने लगी। उसने भयकर रूप धारण कर लिया। तृण, काष्ठ व अन्य वस्तुएँ जलने लगी। ऐसा किसी ने कभी नही देखा था। लोगो ने उसे रत्न-राशि समझा और उसे लेने के लिए हाथ फैलाये। उनके हाथ जलने लगे। सारे ही भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुँचे। ऋषभदेव बोले—अब स्निग्धरूक्ष काल आ गया है, अतः अग्नि प्रकट हुई है। एकान्त रूक्ष व एकान्त स्निग्ध समय में अग्नि पैदा नहीं होती। इतने दिन अत्यन्त स्निग्ध समय था, अत. अन्न की पाचन-क्रिया मे भी दुविधा होती थी

और उससे अजीर्ण होता था। अब यह समस्या नहीं रहेगी। तुम लोग सब जाओ और पूर्व विधि से तैयार किये हुए अन्न को उसमे पका कर खाओ। उसके आस-पास जो भी घास-फूस व अन्य सामग्री है, उसे हटा दो।

सरलाशय मनुष्य दौड़े और उन्होंने पकाने के लिए अग्नि मे अन्न रखा। किन्तु अन्न तो सारा ही उसमे जल कर भस्म हो गया। बेचारे दौड़े-दौड़े फिर वही आये और कहने लगे—स्वामिन्! वह तो बिल्कुल भूखा राक्षस है। हमने उसके समीप जितना भी अन्न रखा, कुक्षिभरी की तरह अकेला ही सब कुछ खा गया। हमे तो उसने कुछ भी वापस नहीं किया।

ऋषभदेव ने उत्तर दिया—इस तरह नहीं। पहले तुम पात्र बनाओ, फिर उसमे अन्न पकाओ और खाओ।

जनता ने पूछा—स्वामिन्! ये पात्र कैसे बनाये जायंगे?

ऋषभदेव उस समय हाथी पर सवार थे। उन्होंने आर्द्र मृत्तिका-पिण्ड मंगवाया। हाथी के सर पर उसे रखा, हाथ से थपथपाया और उसका पात्र बना कर सबको दिखलाया तथा साथ मे शिक्षा भी दी कि इस प्रकार तरह-तरह के पात्र बनाओ और उनमे अन्न पका कर खाओ। इस प्रकार पाक-विद्या के साथ-ही-साथ पहला शिल्प कुम्भकार का भी समाज मे प्रचलित हुआ।

अध्ययन व कला-विकास

जीवन की आवश्यकताओं के भरने के निमित्त विविध शिल्प व अग्नि का आविष्कार हुआ। अपराध न बढ़े, और जीवन सुखमय हो, इसके लिए राज्य-व्यवस्था का प्रचलन हुआ। जीवन और अधिक सरस व शिष्ट हो और व्यवहार अधिक सुगमता से चल सके, इसके लिए ऋषभदेव ने कला, लिपि व गणित का ज्ञान भी दिया। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री भरत को बहत्तर कलाओं का व परमतत्त्व का ज्ञान दिया। बाहुबली को प्राणी-लक्षण ज्ञान, ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान व सुन्दरी को गणित का ज्ञान प्रदान किया। व्यवहार साधन के लिए मान (माप), उन्मान (तोला, मासा आदि वजन), अवमान (गज, फुट, इंच आदि) व प्रतिमान (छटांक, सेर, मन आदि) बताये। मणि आदि पिरोने की कला भी सिखाई।

व्यष्टि से समष्टि की ओर

विसंवाद—कलह उत्पन्न होने पर न्याय-प्राप्ति के लिए राज्याध्यक्ष के समक्ष जाने का विचार दिया। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक प्रकार के व्यवहार की स्थापना की। साम आदि नीति, बाहु आदि अनेक प्रकार की युद्ध-प्रक्रिया, धनुर्वेद, राजा की सेवा करने के प्रकार, चिकित्सा शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, रस्सी आदि से बांधना, गोष्ठादिक का मिलना, ग्राम-नगर आदि का अधिग्रहण, किसी प्रयोजन विशेष से ग्रामवासियों का एकत्रित होना आदि बातें भी ऋषभदेव ने ही सिखाईं। यहां आकर व्यष्टि एकदम टूट गई और समष्टि काफी मात्रा मे विकसित हो गई। कुलकर व्यवस्था में व्यष्टि अधिक थी और समष्टि का आरम्भ था। कुल, जातियाँ व समाज भी पृथक्-पृथक् बन गये। इस प्रणाली से जहाँ मनुष्य का जीवन कुछ सुखमय बना, बढ़ते हुए विकार रुके, वहाँ ममत्व, स्वार्थ व उनसे प्रतिस्पर्धा आदि विकार बढ़ने लगे। पहले मनुष्य के समक्ष सारा प्राणी-जगत् ही अपना बन्धु था, सबके प्रति मैत्री भाव थे, वहाँ ममत्व की यह कल्पना बल पकड़ने लगी—यह मेरा पिता है, भाई है, पुत्र है, माता है, पत्नी है। इस प्रकार के कौटुम्बिक ममत्व के अनन्तर लोकैषणा व धनैषणा भी वृद्धिगत हुई।

दण्ड-व्यवस्थाओं का विकास

समाज की धुरी सुस्थिर रखने के लिए साम, दाम, दण्ड व भेद का खुल कर प्रयोग होने लगा। सुख व समृद्धि के स्थायित्व के लिए दण्ड-व्यवस्था का नाना रूपों मे विकास होने लगा। औषधि और दण्ड, रोग और अपराध के निरोधक होते है, यह उस समय की मान्यता बन गई। कड़ी-से-कड़ी दण्ड-नीति के आविर्भाव की अनुभूति होने लगी, क्योंकि हाकार,

माकार और धिक्कार नीतियाँ असफल व शिथिल हो चुकी थीं। क्रमश १ परिभाष, २ मण्डल बन्ध, ३ चारक और ४ छविच्छेद आदि दण्ड भी चले।[1]

१ परिभाष—सीमित समय के लिए नजरबन्द करना। क्रोधपूर्ण शब्दो मे अपराधी को 'यहाँ से मत जाओ' ऐसा आदेश देना।

२ मण्डल बन्ध—नजरबन्द करना। सकेतित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३ चारक—जेल मे डालना।

४ छविच्छेद—हाथ, पैर आदि काटना।

ये चार दण्ड-नीतियाँ कब चली, इसमे थोडा-सा मतभेद है। कुछ की कल्पना है कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभनाथ के समय मे चली और दो भरत के समय। कुछ विद्वानों की मान्यता है ये चारो नीतियाँ भरत के समय चली। अभयदेव सूरी के अनुसार भरत के समय मे ही इन चारों नीतियो का प्रचलन हुआ। किन्तु ऐसा लगता है, उनके समय मे भी यह मतभेद चलता था, अत उन्होंने स्थानाग[2] वृत्ति मे अपर सिद्धान्त के रूप मे यह भी उल्लेख किया है कि चार प्रकारो मे से प्रथम दो प्रकार ऋषभनाथ के समय मे चले और शेष दो भरत के समय मे, ऐसा भी माना जाता है। आवश्यक-निर्युक्तिकार[3] के अभिमतानुसार बन्ध (बेडी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय प्रारम्भ हो गये थे और मृत्यु-दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ।

विभिन्न मतवादो के होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह समय बहुत नाजुक हो गया था। उस समय तक प्रचलित धिक्कार नीति अन्य दो नीतियो की तरह प्राचीन और सहज हो गई थी और सन्तुलन बिगड रहा था, अपराध बढने लगे थे, अतएव राजतत्र का उदय हुआ था और उस स्थिति मे किसी भी तरह की दण्ड-नीति का आरम्भ न हुआ हो, यह गले उतरता नही है। व्यवस्थित उल्लेख न मिलने से अनुमान के आधार पर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। अपना अनुमान आवश्यकनिर्युक्तिकार की मान्यता के अधिक समीप पहुँचता है।

दण्ड-व्यवस्थाओ की कठोरताओ से स्थितियाँ सुलझी और अन्य पद्धतियो से जीवन सुचारु रूप मे चलने लगा।

विवाह सम्बन्ध में नई परम्परा

यौगलिक परम्परा मे भाई-बहिन ही पति-पत्नी के रूप मे परिवर्तित हो जाया करते थे। ऋषभनाथ का सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण होने से यह परम्परा टूटी। इस नई परम्परा को सुदृढ रूप देने के लिए उन्होने भरत का विवाह बाहुबली की बहिन सुन्दरी के साथ और भरत की बहिन ब्राह्मी का विवाह बाहुबली के साथ विधिपूर्वक व ठाट-बाट से किया। इन विवाहो का अनुसरण कर जनता ने भिन्न गोत्र मे उत्पन्न कन्या का उसके माता-पिता द्वारा दान होने पर ही ग्रहण करना, यह नई परम्परा चल पडी।[4]

---

१ परिभासणाउ पढमा, मंडलबंधम्मि होइ बीयातु।
चारग छविछेदादि, भरहस्स चउव्विहा नीई॥ —स्थानांग वृत्ति, ७।३।५५७

२ ऋषभस्वामिकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये—स्थानांग वृत्ति, ७।३।५५७

३ गाथा २१७, २१८

४ युग्मिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभुः।
सोदर्यां बाहुबलिनः सुन्दरीं गुणसुन्दरीम्॥
भरतस्यचसोदर्यां ददौ ब्राह्मीं जगत्प्रभुः।
भूपाय बाहुबलिने तदादिजनताप्यथ॥
भिन्नगोत्रादिकां कन्यां दत्तां पित्रादिभिर्मुदा।
विधिनोपायत प्रायः प्रावर्तत तथा ततः॥ —लोकप्रकाश, सर्ग ३२ श्लोक ४७-४६

जैन पुराण-कथा : मनोविज्ञान के आलोक में

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन
सम्पादक—भारती

पुराण-कथा का मनोवैज्ञानिक उद्गम

मनुष्य कभी अपने वास्तविक रूप से तुष्ट नहीं होता है। उसे अनादिकाल से उच्चतर और सम्पूर्णतर जीवन की खोज रही है। इस खोज ने इन्द्रियगम्य वस्तु-जगत् की सीमा लाँघी है और मनुष्य ने लोकोत्तर और दिव्य सपने भी देखे है। सपने ही नहीं देखे, अपने उन सपनों को अपने रक्तांशों से जीवित कर, अपने ही माँस में से उसने प्रकाश की मूर्तियों को जीवन्त भी किया है। जब-जब मनुष्य के स्वप्न के उस 'परम सुन्दर' ने रूप ग्रहण किया, वह अपने सर्वांगीण ऐश्वर्य की अनेक लीलाओं को मानवीय मन पर बहुत गहरा अंकित कर गया। उस परम पुरुष या परम नारी का जो स्थूल व्यक्तीकरण होता है, वह अपने-आप में ही समाप्त नहीं है। उस लीला में एक अधिक गहरा और सूक्ष्म सत्य होता है जो अरूप होता है। चर्म-चक्षुओं की पकड़ में वह नहीं आता, पर बोध के द्वारा वह उस काल के मनुष्यों की अनुभूति में रम जाता है। यह अनुभूति मानवी रक्त में समाविष्ट होकर पीढ़ी-दरपीढ़ी संक्रमित होती रहती है। विकास के नव-नवीन उन्मेषों और सपनों में मनुष्य उस अनुभूति को सघनतर और विपुलतर बनाता जाता है, नाना काव्यों और कला-कृतियों में उसे सजोता है और अन्तत वही अनुभूति श्रेष्ठतर और उच्चतर मानवों के रूप में आविर्भूत होकर हमें आगामी देवत्व का आभास दे जाती है। हमारे वैज्ञानिक युग के 'सुपरमैन' की कल्पना के मूल में भी उत्तरोत्तर विकास की यही अजस्र चेतना काम कर रही है।

मनुष्य के भीतर अपार ऐश्वर्य की सम्भावनाएं दिन और रात हिलोरें ले रही हैं। उन्हें वह एक वास्तविक और सीमित घटना के वर्णन के रूप में नहीं आँक सकता, क्योंकि वह देश-काल की बाधा से मुक्त असीम भूमा का परिणमन है। इसी से उस अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त होने के लिए कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। सर्वकाल और सर्वदेश में उसी एक प्राण-पुरुष की सत्ता व्याप्त है। इसी से मनुष्य का मन सब जगह समान रूप से काम करता है और यही कारण है कि जहाँ भी और जब भी किसी लोकोत्तर, दिव्य सत्ता ने जन्म लिया है, तो उसने सर्वत्र मानवी मन पर अपनी असाधारणता की प्राय एक-सी छाप डाली है। इस तरह मनुष्य के स्वप्न में विगत, आगत और अनागत आदर्श पुरुषों की कथाओं को एक लाक्षणिक रूप-सा मिल गया है।

कल्प-पुरुष के इसी लाक्षणिक रूप को भिन्न-भिन्न देश-काल के लोगों ने और उनके कवि-मनीषियों ने नाना रंगों के प्रकाश-सूत्रों से बाँधा है। स्वप्न-पुरुष और स्वप्न-नारी की इस कल्पना-प्राह्य कथा को ही हम 'पुराण-कथा' कह सकते हैं। निरे वास्तव के तथ्य से ऊपर उठ कर कथा जब भी भाव-कल्पना के दिव्य लोक में चली गयी है, तभी वह पुराण-कथा बन गयी है। अपने मन की सारी उद्दीप्त आशा, कांक्षा और कामना से अभिषिक्त कर मनुष्य की अनेक पीढ़ियाँ उसी कल्प-पुरुष की कथा के नव-नवीन और महत्तर रूपों को दुहराती गयी है। मनुष्य की कथा जब भी प्रकट सामान्य के धरातल से उठ कर सम्भाव्य असामान्य के स्वप्न-जगत् में चली गयी है, तभी वह पुराण-कथा हो गयी है। इसी से प्राय ये कथाएं रूपक, प्रतीक और दृष्टांत के रूप में ही पायी जाती हैं। वे मात्र वास्तविक घटना की कथा नहीं कहतीं, वे तो बिना कहे ही जीवन के कई निगूढ़ सत्यों पर अनेक रंगों का प्रकाश डाल देती हैं।

जैन-पुराण में शलाका पुरुष

जैन-पुराणो मे भी इस कल्प-पुरुष यानी मनुष्य के परम काम्य आदर्श की कथा को ही लाक्षणिक रूप प्राप्त हुआ है। जैनो के यहाँ इन परम पुरुषो को 'शलाका पुरुष' कहा गया है। उनके स्वरूप, सामर्थ्य, लीला और चरम प्राप्ति की भिन्न-भिन्न कोटियो के अनुसार उनकी पृथक्-पृथक् लाक्षणिक मर्यादाए कायम कर दी गयी हैं। प्रत्येक उत्सर्पण व अवसर्पण कालचक्रार्ध मे ६३ शलाका पुरुष होते है जिनमे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वसुदेव और ९ प्रति-वासुदेव होते है।

तीर्थंकर

जैन कवि-मनीषियो ने अपने आदर्श की चूडा पर तीर्थंकर की प्रतिष्ठा की है। तीर्थंकर वह व्यक्तिसत्ता होती है, जिसमे सारे लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य एक साथ प्रकाशित होते है। दैहिक दृष्टि से वे असामान्य बल, वीर्य, शौर्य, विक्रम-प्रताप और सौन्दर्य का स्वामी माने जाते है। उनकी अग रचना का बडा ही विशद और सार्थक वर्णन शास्त्रो मे मिलता है। आदि से अन्त तक बाल-रूप का सलौना और निर्दोष मार्दव उनके मुख पर और काया मे विराजता रहता है। आयुष्य के प्रभाव से वे अविक्षत रहते है और स्वय काल भी उनकी देह का घात नही कर सकता। इसीसे उन्हे 'चरम शरीरी' कहा गया है। वे लोक के अपराजित आदित्य-पुरुष यानी पूषन होते हैं, जिनमे सारे तत्त्वो के सारभूत तेज, रस और शक्ति समाये रहते है। किसी पूर्व जन्म में निखिल चराचर के कल्याण की कामना करने मे वे तीर्थंकर-नाम कर्म-प्रकृति बाँधते हैं। इसी से जब वे तीर्थंकर होकर पैदा होते है, तो लोक मे सर्वांगीण अभ्युदय प्रकट होता है। प्राणिमात्र के प्राण एक अव्याहत सुख मे व्याप्त हो जाते है। तत्कालीन धरती पर वही लोक और परलोक की सारी सिद्धियो का प्रकाशक, विधाता और नेता होते है।

आदि से अन्त तक तीर्थंकर की जीवन-लीला बडी काव्यमय और रोचक होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-कवि की कल्पना का सारभूत मधु और तेजस् उस रूपक मे साकार हुआ है। वह मानवो और देवो की महत्त्वाकाक्षा का चरम रूप है। तीर्थंकर के गर्भ मे आने के छ महीने पहले से पच आश्चर्यों की वृष्टि होने लगती है। आस-पास के प्रदेशो मे निरन्तर रत्न-वर्षा होती है, नन्दन के कल्प-वृक्षो से फूल बरसते है, गन्धोदक की वृष्टि होती है और आकाश मे दुन्दुभियो के घोष के साथ देव जय-जयकार करते है। पृथ्वी अपने भीतर के समूचे रस से ससार को नव-नवीन सर्जनो से भर देती है। तीर्थंकर जिस रात गर्भ मे आते हैं, उस रात उनकी माता ऐरावत हाथी, वृषभ, सिह आदि के चौदह सपने देखती है, जो उस आगामी परम-पुरुष की अनेक विभूतियो के प्रतीक होते है। तीर्थंकर के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है, देवलोक और मर्त्यलोक मे अनेक आश्चर्य घटित होते है। सभी स्वर्गों के इन्द्र अपनी देवसभाओ-सहित अन्तरिक्ष को दिव्य सगीत से गुजित करते हुए, लोक मे प्रभु के जन्म का उत्सव मनाने आते है। बडे समारोह से शिशु भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर, उन्हे पाडुक शिला पर विराजमान किया जाता है, फिर देवागनाओ द्वारा लाये हुए क्षीर-सागर के जल के एक हजार आठ कलशो से उनका अभिषेक किया जाता है। कई दिनो तक इन्द्राणियाँ और देवियाँ प्रभु की माता की सेवा मे नियुक्त रहती है। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न तीर्थंकरो के प्रकरणो मे उनके कुमार काल और राज्यकाल की विशिष्ट कथाए वर्णित होती है।

दीर्घ समय तक विपुल सुख-भोग के साथ राज्य करते-करते किसी एक दिन अचानक सासारिक क्षणभगुरता पर उनकी दृष्टि अटक जाती है। सारा ऐहिक सुख-भोग उनकी दृष्टि मे विनाशी और हेय जान पडता है। देह, प्रासाद और ससार के बन्धन उन्हे असह्य हो उठते हैं। सब कुछ त्याग कर वे चल पडने को उद्यत हो जाते है, तभी लोकान्तिक देव आकर उनकी इस मांगलिक चित्त-वेदना का अभिनन्दन कर, उनके वैराग्य का सकीर्तन करते है। जब वे नरसिंह महाभिनिष्क्रमण के लिए उद्यत होते हैं, उस समय ससार की सारी विभूतियाँ हाहाकार कर उठती है कि हाय, उनका एकमेव समर्थ भोक्ता भी उन्हे त्याग कर चले जा रहे है और उन्हें बाँध कर पकड़ रखने की शक्ति उनमे नही है।

इन्द्र आकर बड़े समारोह से प्रभु का दीक्षा-कल्याणक उत्सव करता है। वे मानव-पुत्र निर्वसन होकर प्रकृति

की विजय-यात्रा पर निकल पड़ते है। महाविकट कान्तारो और पर्वत-प्रदेशो मे वे दीर्घकाल तक मौन समाधि मे लीन होकर रहते है। अनायास एक दिन कैवल्य के प्रकाश से उनकी आत्मा आरपार निर्मल हो उठती है। तीनो काल और तीनो लोक के सारे परिणमन उनके चेतन मे हस्तामलकवत् झलक उठते है। तब निर्जन की कन्दरा को त्याग कर लोक-पुरुष अपना पाया हुआ प्रकाश निखिल चराचर के प्राणो तक पहुँचाने के लिए लोक मे लौट आते है। इन्द्र और देवगण उनके आस-पास विशाल समवशरण की रचना करते हैं। तीर्थंकर की यह धर्मसभा देश-देशान्तरो मे विहार करती है। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है, दिशाएं नव युगोदय और नवीन परिणमन के प्रकाश से भर जाती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप लोक मे अनेक कल्याणकारी परिवर्तन होते है। प्रभु की अजस्र वाणी से प्राणीमात्र के परम कल्याण का उपदेश निरन्तर बहता रहता है। लोक मे उस समय अपूर्व मगल और आनन्द व्याप्त हो जाता है। जीवो के वैर, मात्सर्य, दुख-विषाद मानो एकबारगी लुप्त ही हो जाते हैं। इस तरह अनेक वर्ष दूर-दूर देशो मे विहार करके धर्मचक्र-प्रवर्तन करते हुए अनायास एक दिन किसी ज्योतिर्मय क्षण मे प्रभु का परिनिर्वाण हो जाता है व सदा के लिए वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेते है। ऐसी भव्य और दिव्य है तीर्थंकर की जीवन-कथा।

चक्रवर्ती

लोक का दूसरा प्रतापी शलाका पुरुष होता है चक्रवर्ती। चक्रवर्तित्व के साथ ही उसके महाप्रासाद मे उसकी नियोगिनी चौदह ऋद्धियो और सिद्धियो के देने वाले चौदह रत्न प्रकट होते है। इन्ही रत्नो मे से चक्रवर्ती की सारी आधिभौतिक और दैवी विभूतियाँ प्रकट होती हैं। वह पूर्व निदान मे ही षट् खड पृथ्वी के विजेता होने का नियोग लेकर जन्म लेता है। पृथ्वी के नाना खडो मे जहाँ पीडक असुरो और शोषक राजाओ के अत्याचारो से लोक-जन पीडित होते है, उन सब का निर्दलन कर, धरती पर परम सुख, शान्ति, कल्याण और समता का धर्म-शासन स्थापित करने के लिए ही चक्रवर्ती अवतरित होता है। जब चक्री दिग्विजय के लिए जाता है, तो उसका चक्र-रत्न आगे-आगे चलता हुआ उसका पन्थ-सन्धान करता है। यह चक्र एकबारगी ही धर्म और उसकी व्यापक कल्याणी शक्ति का प्रतीक होता है। जब ससागरा पृथ्वी के छ खडो को जीत कर चक्री अपनी विजय के शिखर पर गर्वोन्नत खडा होता है, तभी वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय का मुद्रालेख अकित करने जाता है। पर वहाँ जाकर देखता है कि विजय के उस शिलास्तम्भ पर उससे पहले ऐसे असख्य चक्री अपनी विजय की हस्तलिपि आँक गये है और उस शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है। उसी क्षण चक्री का विजयाभिमान चूर्ण हो जाता है। वह अकिंचन भाव से किसी पिछले चक्री का नाम मिटा, अपने हस्ताक्षर कर देता है और समभाव लेकर अपने राज-नगर को लौट जाता है। तब अपनी सारी शक्ति और विभूति प्रजा के कल्याण के लिए उत्सर्ग कर देता है और यो अप्रमत्त भाव से वह धर्म-शासन का सचालन करता है। इस कथा मे बडे ही लाक्षणिक ढग से भौतिक सत्ता के अन्तिम बिन्दु को, परम कल्याण के छोर से ग्रथित कर दिया गया है। आदि तीर्थंकर वृषभदेव के पुत्र भरत ऐसे ही चक्रवर्ती थे, जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पडा।

इस तरह वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलदेव के रूप मे परमता की कोटियाँ होती हैं और उनके विविध विवरण उपलब्ध होते है।

मानव-सृष्टि का ऐश्वर्य-कोष

इन शलाका पुरुषो के दिग्विजय, देशाटन, समुद्र-यात्रा, साहसिक व्यवसाय और अन्तत ब्रह्म-साधना की बडी ही सार्थक और लाक्षणिक कथाओ से जैन पुराण ओत-प्रोत हैं। वस्तु और घटना मात्र को देखने वाली स्थूल ऐतिहासिक दृष्टि को इन कथाओ मे शायद ही कुछ मिल सके। उनके मर्म को समझने के लिए पडित जवाहरलाल जैसा मानव इतिहास का पारगामी कवि द्रष्टा चाहिए। पडितजी ने अपनी 'Discovery of India' मे कहा है "पुराण, दतकथा और कल्पकथा को वास्तविक घटना के रूप मे न देख कर यदि हम उन्हें गहरे सत्यो के वाहक रूपको के रूप मे देखें, तो इनमे अनादिकालीन मानव-सृष्टि का अनन्त ऐश्वर्य-कोष हमे प्राप्त हो सकेगा।"

जैन धर्म का मर्म : समत्व की साधना

श्री अगरचन्द नाहटा

श्रमण धर्म

जैन धर्म का मूल नाम श्रमण धर्म है। जैन आगमों में श्रमण को निर्ग्रन्थ और श्रावकों को श्रमणोपासक (**समणोवासक**) कहा गया है। पक्खी सूत्र में अनेक बार पंच महाव्रत आदि को श्रमण धर्म (**समण धम्म**) शब्दों से सम्बोधित किया गया है। वैसे जैन धर्म की व्युत्पत्ति 'जिन' के अनुयायी के रूप में होती है और जिन का अर्थ होता है राग-द्वेष को जीतने वाला। उन जिन-प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा रखने वाला और उनको जीवन में स्थान देने वाला व्यक्ति जैनी या जैन धर्मी कहा जाता है। 'जिन' एवं 'अर्हत्' ये दोनों शब्द बौद्ध ग्रन्थों में भी बुद्ध के विशेषण रूप में प्रयुक्त मिलते हैं। दार्शनिक युग के जैन सम्प्रदाय में 'जिन' शब्द तीर्थंकरों के लिए रूढ़ होने से, उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म 'जैन' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जैन आगमों में से ज्ञाता सूत्र में और शक्रस्तव में **नमो जिणाणं ध्रुवं बाउं जिणवराणं** आदि के रूप में तीर्थंकरों के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग मिलता है और जैनों के परम मान्य मांगलिक नमस्कार सूत्र में **नमो अरिहंताण** आदि पदों द्वारा 'अर्हत्' विशेषण का प्रयोग प्राचीन काल में तीर्थंकरों के लिए प्रयुक्त होता आया है, यह सिद्ध ही है, पर तब यह 'जिन' या 'अर्हत्' शब्द केवल जैनों में ही प्रचलित न होकर बौद्धों में भी प्रचलित था। फिर भी 'जैन धर्म' यह शब्द पीछे में ही प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। प्राचीन नाम 'श्रमण धर्म' ही होगा। पीछे के कुछ आचार्यों के नाम के साथ भी 'क्षमा श्रमण' विशेषण संलग्न है, जैसे जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण, देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण आदि। क्षमा श्रमण में श्रमण शब्द प्रधान है और वन्दन के सूत्र में मुनियों व आचार्यों के लिए **खमा समण** सम्बोधन उपलब्ध होता है। कुछ भी हो जैन धर्म का मर्म 'श्रमण' शब्द में ही दिखाई देता है।

समण (श्रमण) शब्द के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं और विभिन्न ग्रन्थों में यह विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त भी हुआ है। 'श्रमण' का एक अर्थ है—**समण** = उपशमन अर्थात् दबाना, शान्त करना। श्रमण का दूसरा अर्थ होता है—सर्वत्र सम—समान प्रवृत्ति वाला मुनि या साधु। कल्प सूत्र आदि में जगह-जगह पर भगवान् महावीर का सम्बोधन **समणं भगवं महावीरे** आदि के रूप में मिलता है। वास्तव में उसके मूल में समदृष्टि, समता का उपासक, समत्व का प्रतीक, प्राणीमात्र को आत्मवत्—अपने समान समझने वाला, सब के साथ समानरूप से हित और सुख का व्यवहार करने वाला समता या समत्वरूप जीवन-धर्म वाला व्यक्ति का सम्बोधन 'समण' शब्द हो, यह अधिक उपयुक्त लगता है। ऐसा समत्व का उपासक व्यक्ति शान्त होगा ही और कषायों के उपशमन के बिना कोई भी व्यक्ति समत्व या समता पा नहीं सकता। अतः दोनों अर्थ एक ही भाव के दो प्रकार की व्याख्या-रूप हैं। मैंने 'समण' शब्द को जैन धर्म का मूल माना है, उसका प्रधान कारण यही है कि श्रमण भगवान् महावीर के सम्बोधन के रूप में समण शब्द मिलता है एवं उनके निर्दिष्ट धर्म का पालन करने वाले साधुओं के लिए भी वही **समण निग्गथ** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। साधु सर्व-विरति और गृहस्थ देश-विरति हैं, किन्तु दोनों ही श्रमण धर्म के ही उपासक हैं। वे दोनों ही क्षमा आदि दश धर्मों के पालन करने वाले हैं। क्षमा आदि दश धर्मों की संज्ञा **समण धम्म** है। स्थानांग सूत्र व समवायांग सूत्र में **दस विहे समणे धम्मे पन्नत्ते** इस प्रारम्भिक वाक्य के साथ उन दश धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। इससे भी **समण धम्म** ही जैन धर्म का मूल नाम व समभाव ही जैन धर्म का मर्म सिद्ध होता है।

समत्व की साधना

श्रमण शब्द का अर्थ समभाव व समता वाला ग्रहण करने का एक दूसरा कारण भी है कि तीर्थंकर जब सर्व सम्बन्ध-परित्याग करके चारित्र-धर्म स्वीकार करते हैं, तब उनका पहला प्रतिज्ञा वाक्य होता है **करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि** अर्थात् मैं सामायिक करता हूँ, सर्व सावद्य योगो का प्रत्याख्यान करता हूँ। आगे के वाक्यो मे उसकी व्याख्या रूप मे कहा है कि यह प्रत्याख्यान तीन करण व तीन योग से अर्थात् मन, वचन, काया, करने, कराने व अनुमोदन—इन नव भगो से करता हूँ। अपनी आत्मा को पाप कार्यों से छुडाता हूँ।[1] इसमे मूल प्रतिज्ञा सामायिक करने की और सावद्य योग के प्रत्याख्यान की है। इसमे पहला वाक्य विधेयक और दूसरा निषेधक है। विधि और निषेध, दोनो का सम्बन्ध एक दूसरे के पूरक रूप मे बहुत ही घनिष्ठ रहता है। जो अच्छा कार्य करता है, उसे बुरे को छोडना होना है, जो बुरे को करता है, उसे अच्छे को छोडना होता है। सावद्य योग समभाव मे बाधक है, क्योकि सावद्य योग जीव में विषमता लाते है, उसे अशान्त बनाते हैं। अत 'सामयिक करता हूँ।' इस विधेयक वाक्य के साथ सावद्य योगो का त्याग आवश्यक हो जाता है। इसलिए इस निषेधात्मक वाक्य का उच्चारण करना आवश्यक है एव वह पूर्व प्रतिज्ञा का पूरक है। वास्तव मे ये दोनो ही शब्द एक ही भाव को व्यक्त करने वाले है। प्रथम विधेयक वाक्य 'सामयिक करना हूँ' यही मूल है, विधेय है, दूसरा निषेधक वाक्य उसका पूरक है।

चारित्र

पाँच प्रकार के चारित्र मे पहला चारित्र सामायिक चारित्र है। पाँच महाव्रत की प्रतिज्ञाए तो उसके बाद दूसरे **छेदोपस्थापनीय** चारित्र ग्रहण करते समय ली जाती हैं, जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे वर्तमान मे 'बडी दीक्षा' कहते हैं। साधु और श्रावक के लिए अर्थात् श्रमण या श्रमणोपासक के लिए जो नित्य आवश्यक कर्तव्य बतलाये है, उनमे पहला आवश्यक कर्तव्य **सामायिक** का है। सामायिक का अर्थ है—समभाव का लाभ, समत्व की उपासना, समता की साधना। तीर्थंकरो का जीवन समत्व का प्रतीक है। उनके न कोई शत्रु है, न कोई मित्र, न कोई अच्छा है, न कोई बुरा। समभाव राग और द्वेष के अभाव का सूचक है। राग और द्वेष दोनों विषमता के प्रतीक हैं। कर्म-बन्धन के ये ही दो प्रधान व मूल कारण है और इनका नाश ही 'मुक्ति' है। द्वेष, राग भाव के कारण ही पैदा होता है, इसलिए राग को प्रधानता देकर तीर्थंकरो व केवलज्ञानियो का विशेषण 'वीतराग' दिया गया है अर्थात् जिनका रागभाव चला गया है। परम समत्व की वृत्ति की साधना ही जिनके जीवन का लक्ष्य प्रतीत होता है, ऐसे वीतरागी राग-द्वेष के विजेता ही जिन कहलाते है। उनके उपासक ही जैन, उनके द्वारा प्रणीत आचार धर्म ही जैन धर्म और उनकी तात्त्विक विचारधारा ही जैन दर्शन है।

तीर्थंकर स्वय पच महाव्रत आदि व्रत नही लेते। उनके व्रतो का समावेश सामायिक सूत्र में ही हो जाता है। वास्तव मे पाँच महाव्रत आदि सभी व्रत समभाव की साधना के सोपान है। जब समत्व की परिपूर्ण साधना कर तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तो उनकी वाणी का घोष यही होता है कि धर्म का द्वार सबके लिए खुला है। जाति-पाति के भेद-भाव और उच्च-नीच के भेद-भाव परिहार्य है। उनका समवसरण समस्त मानवों के लिए ही नही, अपितु पशु-पक्षियो के लिए भी खुला रहता है। जो भी आये—राजा हो या रक, पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या शूद्र, सबके लिए उनकी वाणी समान रूप से प्रचारित होती है। प्रत्येक जीव मे वे सिद्धत्व या परमात्मा का दर्शन करते है। उनके सिद्धान्त इतने ऊँचे हैं कि तीर्थंकरत्व का ठेका वे स्वय नही लेते। कोई एक विशिष्ट व्यक्ति ही परमात्मा है, ऐसा वे नही मानते। वे कहते हैं सत्तागत स्वभाव या स्वरूप की दृष्टि से सभी जीव सिद्ध के समान हैं। सिद्ध हो जाने पर तीर्थंकर या साधारण केवली मे कोई अन्तर नही रहता। अतः भेद व अलगाव से जो विषमता का उदय होता है—दर्शन होता है, वह वास्तविक नहीं, आरोपित व कल्पित है। सभी जीवो को समान रूप मे परमात्मा का पद प्राप्त हो सकता है।

---

१ अप्पाणं वोसिरामि।

पाँच महाव्रत

तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपने युग में देखा कि व्यक्ति-व्यक्ति में बड़ा भेद हो गया है। ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री, पुरुष व पशु आदि जीवो में इतनी ऊँच-नीच की भेद-भावना रूढ़ हो गई है कि ब्राह्मण के वस्त्र के स्पर्श-मात्र से शूद्र मारने का पात्र हो जाता है। स्त्रियों को पुरुष निर्जीव की भाँति समझ व्यवहार करते हैं। दास और दासियों को तो मुँह ऊँचा करने का भी अधिकार नही है। पशु तो मनुष्य के भक्षण व बलि के लिए ही जन्मे हैं। इस तरह की विषमता को व्याप्त देखकर उन्होंने अहिंसा का अपूर्व सन्देश प्रचारित किया। इन विषमताओं को नष्ट करने का अमोघ उपाय उन्होने अहिंसा में ही देखा। यद्यपि अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है, पर उस समय चारों ओर जो हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था, उसका निवारण करने के लिए इस निषेधात्मक वाक्य—अहिंसा की ही आवश्यकता थी। उसके साथ उसका विधेयक रूप भी उन्होंने रखा था, वह था—सब जीवो के साथ मैत्री-सम्बन्ध।[1] सबको अपने ही समान समझने और उनमे अच्छा व्यवहार करने का सन्देश अहिंसा के अन्तर्हित था ही। अनुकम्पा, दया दान आदि अहिंसा के ही पर्याय है।

सब व्रतो मे अहिसा को पहला स्थान दिया गया है—इसका यही कारण है कि वह समत्व की पहली और सीधी सीढी है। भगवान् महावीर ने कहा—कोई जीव दुःखी होना नहीं चाहता, मरना नही चाहता। तुम्हारे समान सभी को जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है, अर्थात् समस्त जीवों मे चैतन्य की एक-सी व्याप्ति है। इस एकता और समता को पहचानो, आत्मौपम्य भावना से सबके साथ मैत्री का सम्बन्ध जोड़ो; आत्मीयता बढाओ। तुम जिन जीवो को अपना आत्मीय कहते एव मानते हो, उन्हे मारते नही हो, सताते नही हो, तो उस आत्मीयता का विस्तार प्राणीमात्र तक व्याप्त कर दो। फिर कोई बध्य और दुःख देने योग्य रहेगा ही नही। अहिसा की साधना करने वाला साधक राग-द्वेष को कर्मों का बीज या मूल जानकर समभाव रखता है। जितने-जितने अशो में राग व द्वेष की कमी होगी या उनका नाश होगा, उतने-उतने अशो मे समता का विकास व प्रकाश होगा, यह नि.सशय है। अहिंसा के द्वारा हम समस्त प्राणियों मे समबुद्धि प्रचारित करते हैं। इसमे स्पष्ट है कि दूसरों को तुच्छ, हीन, नीच व घृणा-योग्य समझना हिसा है, क्योकि इनमें विषमता का भाव व्याप्त है। अहिंसा समता की सीढ़ी है; अतः सबसे पहले समभाव की साधना का आरम्भ अहिंसा से माना है।[2] अन्य चारो व्रत अहिंसा के ही पूरक रूप हैं या उसकी पुष्टि करने वाले हैं।

दूसरा व्रत है—असत्य का त्याग। मनुष्य असत्य चार कारणो से बोलता है—क्रोध, भय, लोभ व हास्य। ये चारो राग-द्वेष के ही भेद हैं। इनसे विषमता बढ़ती है, हिंसा होती है।

तीसरा व्रत—चोरी न करना है। दूसरे को क्षीण बनाकर अपने को समृद्ध बनाना, यह विषमता का बढ़ना ही है। गांधीजी ने कहा है—'आवश्यकता से अधिक सग्रह करना चोरी है। तुम्हें अधिक सग्रह का अधिकार नही हैं, अत वह सामाजिक अपराध है। दूसरे अभावग्रस्त रहे, दुःख भोगें और तुम उनके उपयोग व भोग की वस्तुओ पर अधिकार कर लो और संग्रह करते जाओ; यह व्यक्ति व समाज दोनो की दृष्टि से अपराध है—विषमता बढाने वाला असत्कर्म है।'

चौथा व्रत—मैथुन का परित्याग है। जैन आगमो में केवल स्त्री-पुरुष के मैथुन सम्बन्ध को ही परिहार्य नहीं माना गया, पर काम एवं भोग, इन दो शब्दों में पाँचों इन्द्रियों के विषयों का समावेश करके उनका विकारो से अलग रहना ही ब्रह्मचर्य माना गया है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर लुभा जाना, उनके उपभोग के लिए लालायित हो जाना, अपने समत्व को खो बैठना है, विषमता को बढ़ावा देना है; क्योंकि राग-द्वेष ही विषमता के मूल स्रोत है। राग-भाव के बिना विषय-भोग की प्रवृत्ति हो नहीं सकती। अतः समता की साधना के लिए ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है।

परिग्रह तो स्पष्ट-रूप से ही विषमता का सबसे बड़ा प्रतीक है, क्योकि जैन आगमों में मूर्च्छा को ही परिग्रह की संज्ञा दी है और मूर्च्छा, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व आदि को राग की सन्तान माना है। सग्रह-वृत्ति से बाह्य रूप मे भी विषमता

---

१ मित्ति मे सव्वभूएसु।

२ समता सर्वभूतेषु।

बढ़ती है। एक के पास साधन-सम्पत्ति का ढेर लगा रहे व बढ़ता रहे और दूसरे अभावग्रस्त रहें, भूखे-प्यासे व नंगे रहें; उनके लिए रहने को मकान न हो, जीवन-यापन दुष्कर हो जाये, यह धनी एवं गरीब की विषमता की खाई तो स्पष्ट ही है। सम्पन्न व्यक्ति को देखकर अभावी व्यक्ति के हृदय में विद्रोह व संघर्ष की ज्वाला भभकेगी ही। दूसरी ओर सम्पन्न व्यक्ति अपने को समृद्ध मानकर अहंकारी बनेगा। दूसरों को दीन, हीन व नीच मान लेने से उनके प्रति तुच्छता व घृणादि के भाव उदित होंगे ही। अतः दोनों के जीवन विषम बन जायेंगे। कलह, विवाद, विद्रोह, द्वेष, क्रोध, संघर्ष या युद्ध का मूल ममत्व-रूप परिग्रह ही है।

इस प्रकार पाँचों महाव्रतों का मूल उद्देश्य समता की साधना है—वीतराग-भाव की वृद्धि करना है। वीतराग-भाव को बढ़ाते-बढ़ाते जब साधक पूर्ण समदर्शी पद तक पहुँच जाता है तो उसकी आत्मा ही परमात्मा बन जाती है। यही परम पुरुषार्थ है, जीवन का परम व चरम लक्ष्य है। यही निर्वाण या मोक्ष है।

जैन दर्शन का अनेकान्तिक यथार्थवाद

श्री जे० एस० झवेरी, बी० एस-सी०

मानव-मस्तिष्क की यह भी एक विशिष्ट प्रकार की वृत्ति रहती है, जबकि वह सोचता है, "किसी भी वस्तु का अस्तित्व क्यो है?" जब हम अस्तित्व सम्बन्धी तथ्य पर एक समस्या के रूप मे विचार करते है,तो क्या हम किसी पारमार्थिक अथवा अनुभवातीत अतीन्द्रिय (Transcendental) समाधान की खोज करते है अथवा व्यावहारिक या अनुभव-गम्य (Empirical) समाधान द्वारा स्वय विश्व के भीतर ही विश्व की व्याख्या कर सकते है ? पाश्चात्य दार्शनिको की एक परम्परा मे ऐन्द्रिय ज्ञान की सामाओ के भीतर रहकर अस्तित्व की इस समस्या पर विचार किया गया है। अरस्तु (Aristotle) से आरम्भ होकर यह विचारधारा एक्विनाज (Acquinas) तथा अन्य चिन्तको के माध्यम से मध्य युग तक आ पहुँची, डेकार्टस (Decartes), स्पिनोजा (Spinoza) और लीबनिज (Leibniz) द्वारा पुनर्जीवित हुई, काण्ट ने इसमे आमूलचूल परिवर्तन किया और इस शती मे रसेल (Russell) की कृतियो मे भी यह विद्यमान है। दूसरी ओर अनेक भारतीय दार्शनिक पद्धतियो मे इस समस्या का समाधान विशुद्ध निगमनात्मक पद्धति द्वारा ढूंढा गया, अर्थात् वह पद्धति जिसमे प्राग्-अनुभव तर्क से सत्य क्या होना चाहिए—इसका निगमन होता है। जैन दर्शन ने सम्भवत एक अद्वितीय तत्त्व-मैमासिक चिन्तन पद्धति का विकास किया है, जो कि उनकी अपनी अपूर्व ज्ञान-मीमासा पर आश्रित है, जिसमे मानवी ज्ञान-क्षेत्र के अन्तर्गत अनुभव एवं पारमार्थिक, दोनों प्रकार की अनुभूतियो को स्थान दिया गया है। उनके मत से, सर्वप्रथम, वास्तवता (Reality) स्वसत्तामय (Self-existing) है, स्वगत और अपने आप मे पूर्ण है। अपने अस्तित्व के लिए यह किसी बाह्य पदार्थ पर निर्भर नही है। दूसरी बात यह है कि जैन-दर्शन सब प्रकार के निरपेक्ष-वाद अथवा एकान्तवाद से मुक्त है। प्राग्-अनुभव तर्क के समर्थन मे यह पद्धति अनुभवो की सामान्य बौद्धिक व्याख्याओ की उपेक्षा नही करती। उनके प्रयोगवाद अथवा अनुभववाद के साथ तर्क-सगत दृष्टिकोण घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है।

जैनदर्शन के ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तो अथवा पूर्ण तत्त्व-मीमासा की विस्तृत चर्चा करना इस लघु लेख मे सम्भव नही है। यहाँ केवल सक्षेप मे द्रव्य, गुण और पर्याय की समस्याओ के विषय मे जैनदर्शन के अनेकान्तिक यथार्थवाद के प्रयोग का विवेचन किया गया है।

पर्याय

दर्शनशास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र मे अस्तित्व अथवा सत्ता के अविरत परिवर्तन ने एक समस्या उपस्थित की हुई है। यह न केवल प्राचीनतम समस्याओं में से एक है अपितु प्रलम्बतम समस्याओं में से भी एक है। सीधे-सादे शब्दो मे इसे हम यों कह सकते हैं—'क्या नित्यत्व ही वास्तविक है अथवा परिवर्तन ही अथवा दोनों ?' अनुभवगम्य जगत का यह एक सामान्य लक्षण है कि एक ही पदार्थ में समय-प्रवाह के साथ-साथ निरन्तर रूप मे विभिन्न स्थितियाँ एक के बाद एक उप-स्थित होती रहती है। यह इसलिए होता है कि परिवर्तित होने वाला 'स्व' अब भी वही पुराना 'स्व' है और उसके परि-वर्तन से हम आनन्द अथवा दुःख का अनुभव करते हैं। यदि अपने 'स्व' मे प्रत्येक उत्तरोत्तर परिवर्तन के साथ हम पूर्ण रूप से नये हो जायें, तो अच्छा या बुरा जो भी परिवर्तन होगा, वह हमारे उल्लास और कष्ट का कारण नही होगा। इस प्रकार यह तथ्य कि केवल निर्विशेष और नित्य में ही परिवर्तन हो सकता है, सब पर्यायों या परिवर्तनो के विषय मे विरोधा-भास उत्पन्न कर देता है।

जो नित्य है, उसी मे परिवर्तन हो सकता है—इस विरोधात्मक विचार ने दर्शनशास्त्र के इतिहास को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया है। यूनानी दर्शन के प्रारम्भिक काल मे अणुवादी भौतिकशास्त्रियो का यह पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त था। बाद मे पारमेनाइडस इस चरम मतवाद पर आ गये कि नित्य और एकरूप वास्तवता मे परिवर्तन असम्भव होने के कारण परिवर्तन मात्र ऐन्द्रिय भ्रान्ति है। तत्पश्चात् पुन एम्पोडोकलस ने प्रत्यक्ष पर्यायत्व की पारमेनाइडस द्वारा की गई आलोचना के साथ सगति बैठाने के लिए आकाश मे तत्त्वो अथवा परमाणुओ के पुनर्वर्गीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। प्लेटो ने अधिक विकसित स्तर पर उठ कर सत्ता अथवा अस्तित्व के दो प्रकार बताये—एक तो वास्तविक, जो कि अपरिवर्तनशील, शाश्वत और स्व-निर्विशेष है और दूसरा केवल प्रतीयमान, जोकि परिवर्तनशील और अस्थिर है। फिर भी प्लेटो यह स्पष्ट करने मे असफल रहा कि सत्ता के ये दो प्रकार—नित्य और अनित्य—अन्ततोगत्वा किस प्रकार सम्बद्ध होते है।

इसी प्रकार उक्त विरोधाभास को हल करने के लिए इसकी सत्यता से ही इन्कार कर देने के प्रयत्न भी कम नही हुए है। परिवर्तन को निर्मूल व भ्रान्ति-रूप मे प्रतिपादित करना जहाँ इस प्रकार के प्रयत्नो की एक चरम सीमा प्रतीत होती है, वहा सतत् परिवर्तन मे नित्य निर्विशेष अथवा अन्तर्वर्ती एकत्व को स्वीकार करने से इन्कार करना दूसरी चरम सीमा प्रतीत होती है।[1] प्रथम वर्ग के लोग जहाँ एक ओर प्रत्यक्ष अनुभूति की एकदम उपेक्षा करके अपनी मान्यता का आधार प्राग्-अनुभव तर्क को बनाते है, वहाँ दूसरी ओर दूसरा वर्ग केवल सतत परिवर्तन को ही वास्तविक मानता हुआ अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि मे केवल प्रत्यक्ष अनुभूति को ही प्रमाण मानता है। इस दूसरे वर्ग का कहना है कि किसी भी वास्तविक अनुभूति मे हमे केवल परिवर्तन और क्षणिकता का ही बोध होता है, हमे कभी भी किसी नितान्त अपरिवर्तनशील वस्तु की अनुभूति होती ही नही है।

अनेकान्तवादी जैन दर्शन एकान्त नित्यता अथवा पूर्ण लय को स्वीकार नही करता। उसके मत मे नित्यत्व और अनित्यत्व, दोनो ही गुण एक ही द्रव्य मे सहवर्ती होते हैं। जैन दर्शन का यह तर्क है कि अनुभव न तो हमे केवल अपरिवर्तनशील तत्त्व के स्थायित्व का बोध कराता है और न हमे स्थायित्वहीन परिवर्तन का ही कभी बोध कराता है। हमारी वास्तविक अनुभूति तो निर्विशेषत्व और अस्थायित्व दोनो ही रूपो को सम्मुख ला देती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव उपर्युक्त एकान्तवादी धारणाओं की जरा भी पुष्टि नही करता। इन धारणाओ का भावात्मक अप्रामाण्य तो स्वय उनकी अपनी अन्तर्वर्ती असगति मे विद्यमान है। प्रत्येक परिवर्तन किसी-न-किसी वस्तु मे अथवा किसी-न-किसी वस्तु का परिवर्तन होगा, जहाँ यह आधारभूत निर्विशेष नही है, वहाँ परिवर्तन के लिए कुछ भी विद्यमान नही है। इसलिए निर्विशेष अथवा नित्य से पृथक् अपने-आप मे 'परिवर्तन' असम्भव है।

जैन दर्शन की विचारधारा इस प्रकार 'अनेकान्तिक यथार्थवाद' है। न तो यह एकान्त शून्यवाद का समर्थन करता है और न एकान्त शाश्वतवाद का, उसकी व्याख्या के अनुसार तो एक ही वास्तवता या सत्ता के विभिन्न पहलुओं के रूप मे ये दोनो चरम सीमाए वास्तविक है।

जैन दर्शन का मूल सिद्धान्त है 'परिणामी-नित्यत्ववाद।' जहाँ एकान्तवादी समान आकाश-काल मे एक ही वास्तवता मे नित्यत्व और अनित्यत्व, दोनो की प्रतीति आत्म-विरोधी समझते हैं, वहाँ अनेकान्तवादी जैन दर्शन कहता है कि किसी को भी इस सत्य को स्वीकार करने से घबराना नही चाहिए, क्योंकि पदार्थ का सहज धर्म ही ऐसा है और हमारे सामान्य अनुभव से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

इस प्रकार जैन दृष्टिकोण के अनुसार पर्याय या परिवर्तन असत् नही, अपितु एक निर्विशेष मे ही अनुक्रमण है और इस प्रक्रिया मे निर्विशेष उतना ही अनिवार्य है, जितना कि अनुक्रमण। साथ ही परिवर्तन उतना ही वास्तविक है, जितना कि स्थायित्व। पर्याय तो वस्तुतः घटनाओ का अनुक्रमण है जिसको जोड़ने वाला आधार एक ही निर्विशेष है।

---

१ प्रथम निरपेक्षवादी अथवा एकान्तवादी मतवाद में वेदान्तियों और ईलीटिक्सों ने उल्लेखनीय योगदान किया है, जबकि दूसरे मतवाद में बौद्धों और हेराक्लीटस के शिष्यों का योगदान रहा है।

किसी वस्तु के जीवनकाल का निर्माण करने वाली सतत प्रवाहशील उत्तरोत्तर अथवा अनुक्रमिक अवस्थाएं ही है और वे ही वस्तु की रचना को अभिव्यक्त करती हैं। किसी वस्तु की रचना को समझना उसकी अवस्थाओं के अनुक्रमण की कुंजी प्राप्त कर लेना है और यह हृदयगत कर लेना है कि किस नियम के आधार पर प्रत्येक अवस्था अपनी उत्तरवर्ती अवस्था को स्थान देती है।

तत्त्व मे अनुक्रमण के इस समाहार को परिवर्तन के रूप मे हृदयगम कर लेने पर, वह (परिवर्तन) न तो विरोधाभास रहता है और न ही पर्याय ऐसा रह जाता है, जो कि बुद्धिगम्य न हो। पर्याय किसी भी एक पूर्ण तत्त्व का निर्माण करने वाले अनेकत्व के अस्तित्व का केवलमात्र तर्क-संगत परिणाम है।

गुण

परिवर्तनो की शृंखला मे निरन्तर जो निर्विशेष व्याप्त रहता है, वह द्रव्य भी हो सकता है, गुण भी।[1] इसमे हमारे सम्मुख द्रव्य और गुण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो की समस्या उपस्थित होती है। जिसे हम 'एक वस्तु' कहते है, उसमे एकत्व विद्यमान होने पर भी अनेक गुण बताये जाते हैं। उदाहरणार्थ—एक भौतिक पिण्ड ही लीजिये, एक ही समय मे वह श्वेत है, चमकदार है, कठोर है और गोल है, अथवा एक साथ वह हरा, कोमल और स्निग्ध है। समस्या यह है कि एक ही वस्तु के जो अनेक गुण बताये जाते है, वह एक साथ उन्हे कैसे धारण किये रहता है। इस सम्बन्ध मे हमे अनेक प्रकार के सिद्धान्त उपलब्ध है, उनमे से कुछ पर हम यहाँ सक्षेप मे विचार करेंगे।

(क) एक स्पष्ट सिद्धान्त है, जिसमें पदार्थ को उसके गुणो से पूर्ण रूप से अभिन्न कर दिया जाता है अथवा जैसा कि सामान्य रूप मे किया जाता है, पदार्थ को उन कुछ गुणो (गुण-समूह) मे अभिन्न कर दिया जाता है, जिन्हे विशेष रूप मे महत्त्वपूर्ण अथवा अधिक स्थायी माना जाता है। उस अवस्था मे इस मूल गुणसमूह[2] को ही पदार्थ के रूप मे ग्रहण किया जाता है और कहा जाता है कि उसमे कुछ कम स्थायी 'गौण' गुण भी है।

इस सिद्धान्त के विषय मे जैन दर्शन का कहना है कि उसे इस सिद्धान्त को प्रयोगवादी विज्ञान की एक कामचलाऊ परिकल्पना के रूप मे स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है; परन्तु जहाँ तक द्रव्य और गुणो के पारस्परिक सम्बन्धो की तत्त्व-मीमांसिक समस्याओ के समाधान का प्रश्न है, इस सिद्धान्त मे स्पष्टत गम्भीर आपत्ति की बात है। सर्वप्रथम यह सिद्धान्त केवल भौतिक पदार्थों पर ही लागू होता है और केवल उन्ही की अवस्थाओ या स्थितियो की व्याख्या कर सकता है। दूसरा, मूल गुणो का सम्बन्ध भी ठीक उसी प्रकार वर्णित कर दिया जाता है, जिस प्रकार गौण गुणो का और इस समस्या के समाधान रूप मे जो पृथकत्व प्रस्तुत किया जाता है, वह ठीक वही ले जाता है जहाँ हम पहले से ही थे। वस्तु में आकार, सहति, घनत्व ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार उसमे भार, स्वाद और रग है। इसके साथ ही यह सिद्धान्त बुद्धिसगत रूप से इस प्रश्न का उत्तर देने मे असमर्थ रहता है कि मूल गुण किस प्रकार गौण गुण धारण करते हैं। मूल गुणो को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे बताने का और गौण गुणो को केवल स्वानुभूतिमूलक बताकर उपेक्षा कर देने का प्रयत्न किसी सन्तोषजनक परिणाम की ओर नही ले जाता। मूल गुण भी अनिवार्य रूप से किसी और अधिक चरम तत्त्व के गुण के रूप मे ही हो सकते है। इसके अतिरिक्त केवल अनुभूति के द्वारा हमे मूल गुणो की स्वतन्त्र उपलब्धि भी नही होती; हम कभी भी विस्तार आदि मूल गुणो को उक्त गौण गुणो मे पृथक्—स्वतन्त्र रूप मे अनुभव नही करते।

---

१ लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८।६

२ सामान्य-रूप से पदार्थ के वे गाणितिक गुण मूल गुण माने जाते हैं, जिनका विज्ञान की यांत्रिक भौतिकी में मौलिक महत्त्व है। विस्तार, आकार, संहति आदि मूल गुणों में से कुछ हैं, जबकि स्वाद, गंध, रंग आदि गौण गुण हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि स्वाद, गंध आदि गौण गुण हमारी संवेदनशीलता में होने वाले स्वानुभूतिमूलक (Subjective) परिवर्तन हैं, जो हमारी इन्द्रियों पर पड़ने वाले मूल गुणों के प्रभाव के कारण होते हैं।

(ख) कभी-कभी उपर्युक्त दृष्टिकोण के विकल्प मे एक दूसरी विचारधारा रखी जाती है। इस विचारधारा के अनुसार द्रव्य एक अज्ञात 'आश्रय' के रूप मे है और गुण इसमे मे अव्यक्त प्रकार से 'प्रवाहित' होते हैं। इसलिए, इस विचारधारा का प्रतिपादन है कि द्रव्य के सम्बन्ध मे हम कुछ भी नही जानते है, अर्थात् हम यह नही जान सकते कि 'पदार्थ' वस्तुत क्या है, हम तो केवल उसकी उपाधियो या गुणो अथवा उसकी अभिव्यक्तियो को जानते हैं। अब, इस प्रकार के आश्रय और उसमे 'प्रवाहित' गुणो का जो सम्बन्ध कल्पित किया गया है, वह बुद्धिगम्य नही है। क्योकि गुणो से पूर्णत. रहित द्रव्य या आश्रय हो ही नही सकता। जो द्रव्य सर्वथा ही गुण-शून्य है, वह तो केवल अवास्तविक विविक्त विचारणा है, द्रव्य के एक ऐसे पहलू को छोड कर हम इस धारणा पर पहुँचते है, जो कि वास्तविक अनुभव मे द्रव्य से अविच्छेद्य प्रतीत होती है और इसलिए यह विचारणा सम्भवत विधिसम्मत नही है। उसे अवैध कहने का तात्पर्य यही है कि हम पदार्थ की मौलिक वास्तवता के दृष्टिकोण से उसे प्रस्तुत करते हैं।

(ग) यही आपत्ति न्याय-वैशेषिक के 'समवाय सिद्धान्त' पर भी लागू होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य अपने गुणो से नितान्त भिन्न है। यह कहा जाता है कि गुण और द्रव्य 'समवाय सम्बन्ध' से जुडते है और स्वय समवाय भी द्रव्य और गुण की तरह भावात्मक वास्तविकता है। इससे आगे उक्त विचारधारा का कहना है—जब कि गुण अपने अस्तित्व के लिए द्रव्य पर निर्भर करता है, द्रव्य अपने-आप अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। साथ ही यह सम्बन्ध अविलोमी है, अर्थात यद्यपि द्रव्य मे गुण हो सकता है, गुण मे द्रव्य नही होता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन यद्यपि द्रव्य को गुण के आश्रय के रूप मे तो स्वीकार करते है, परन्तु वे गुणो को द्रव्य की सहज प्रकृति के रूप मे स्वीकार करने मे हिचकिचाते है।

इसके प्रत्युत्तर मे जैनो का कहना है कि यदि गुण अपने द्रव्य से एकान्तत भिन्न है, तो यह कहना अवैध होगा कि यह गुण 'द्रव्य का' है। यदि दो वस्तुए एक-दूसरे से एकान्तत भिन्न है, तो उनमे धर्म और धर्मी का सम्बन्ध नही हो सकता।[1] इसके अतिरिक्त समवाय को भी दो वस्तु के बीच की कडी नही समझा जा सकता, क्योकि किसी भी प्रकार से उसकी अनुभूति नही होती। पुन यह प्रश्न खडा होता है कि यह 'समवाय' द्रव्य 'मे' किस सम्बन्ध मे रहता है ? यदि समवाय की सत्ता वहाँ एक अन्य समवाय द्वारा है, तो स्पष्ट रूप से वहाँ अनवस्था दोष की उत्पत्ति हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि हम यह कल्पना नही कर पाते कि किस प्रकार से पहले तो कोई भी सुनिश्चित गुण या लक्षण धारण किये बिना ही द्रव्य 'अस्तित्व' रखता है और फिर बाद मे समवाय की सहायता से कैसे गुण प्राप्त करता है अथवा अपनी सत्ता के विशेष पर्यायो को धारण करता है। किसी निश्चित रूप मे 'हुए' बिना न तो कोई कुछ हो सकता है अथवा न विद्यमान रह सकता है और यह किसी निश्चित रूप मे होना ही ठीक वही है जिसे हम द्रव्य का 'गुण' कहते है; इसलिए हम वस्तु के 'अस्तित्व' को उसके 'निश्चित रूप मे होने' से पृथक् नही कर सकते। अर्थात् न तो हम 'निश्चित रूप मे होने' को ऐसी वस्तु समझ सकते हैं, जो कि अकस्मात् 'अस्तित्व' पर आ पडी हो अथवा उसमे उत्पन्न हुई हो, और न हम 'अस्तित्व' को कोई ऐसी वस्तु मान सकते है जो कि 'निश्चित रूप मे होने' से सर्वथा पृथक् होकर या उसके बिना रह सकती हो।

जैनो की मुख्य आपत्ति 'एकान्तिकता' के विरुद्ध है। गुण न तो द्रव्य से एकान्तत भिन्न हो सकते हैं और न द्रव्य के साथ एकान्तत तद्रूप हो सकते है। गुण ही स्वय द्रव्य का स्वरूप बने बिना और अस्तित्व बने बिना उससे द्रव्य का सम्बन्ध नही हो सकता।[2] जैन-दर्शन यह स्वीकार करता है कि गुण सदा बदलते रहते हैं, परन्तु वह निश्चय के साथ कहता है कि गुणो मे परिवर्तन का होना द्रव्य के स्वरूप का विनाश नही है। कोई भी सत्तावान् द्रव्य परिवर्तन के द्वारा ही अपने स्वरूप को बनाये रखता है। गुण भी अपने सदा परिवर्तनशील पर्यायो के द्वारा ही अपनी निर्विशेषता बनाये रखते हैं।

---

१ हेमचन्द्राचार्य, स्याद्वाद मंजरी।

२ सहभावी धर्मो गुणः।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।४०

इसलिए द्रव्य और इसके गुणो के बीच सही सम्बन्ध है—भिन्नाभिन्नता का। अभिन्नता का तत्त्व उसके नित्यत्व की अनुभूति की व्याख्या करता है, जबकि भिन्नता का तत्त्व उसके अनित्यत्व की अनुभूति की।

द्रव्य

परिभाषा और प्रकार

जैन दर्शन में वास्तवता या सत् की परिभाषा है—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त होता है।[1] अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश-रूप (अनन्त) परिवर्तनों द्वारा सतत् शाश्वत अस्तित्व बनाये रखने मे समर्थ है। साथ ही दूसरी परिभाषा है—जो गुणो का आश्रय है।[2] अर्थात् जो अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है।

द्रव्य एक चरम वास्तवता (Ultimate reality) है, अत. उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है—जो गुण और पर्यायों का आश्रय है।[3] अर्थात् जो गुण और पर्याय, दोनों को धारण करता है।

विश्व की सभी वस्तुओ को निम्न पाँच चरम द्रव्यो मे विभाजित किया जा सकता है[4]—

१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ पुद्गलास्तिकाय और ५. जीवास्तिकाय।

इन सबको 'अस्तिकाय' कहा जाता है, क्योकि इनमे से प्रत्येक केवल एक प्रदेशात्मक या एक बिन्दु परिमाण वाला नही है, अपितु अनेक प्रदेशात्मक एक अखण्ड द्रव्य है।[5] इन द्रव्यो के गुण-पर्यायों का सक्षिप्त विवेचन यहाँ किया गया है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा के अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्व-मैमासिक पद्धति मे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का मौलिक तत्त्वो के रूप मे निरूपण उपलब्ध नही होता। विज्ञान मे एक ईथर नामक तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, जो गति के प्रसार में माध्यम-रूप से सहायक बनता है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय को तुलनात्मक शब्दावलि मे धन ईथर और ऋण ईथर भी कहा जा सकता है।

जैन दर्शन अपनी इस मान्यता के पक्ष में यह तर्क उपस्थित करता है कि किसी भी गति के लिए 'माध्यम' का अस्तित्व होना ही चाहिए। वह माध्यम भी ऐसा होना चाहिए जो—

१ सर्वलोक व्यापी हो, २ स्वयं अगतिशील हो, और ३. अन्य गतिशील पदार्थों की गति मे सहायक हो।

धर्मास्तिकाय इन तीनो शर्तों की पूर्ति करता है। अत कहा गया है—धर्मास्तिकाय की सहायता सूक्ष्मतम स्पन्दन में भी अनिवार्य है।[6] यह तो स्पष्ट है ही कि गति और स्थिति, दोनो एक-दूसरे की सापेक्ष अवस्थाए हैं और इसलिए

---

१ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२९

२ गुणाणामासओ दव्वं।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८।६

३ गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।

—जैन सिद्धान्त दीपिका, १।३

४ धर्माऽधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकाया द्रव्याणि।

—वही, १।१

५ काल को भी द्रव्यों की सूची में छठे द्रव्य के रूप में रखा जाता है, पर वह अस्तिकाय नहीं है। द्रष्टव्य, वही, १।२

६ भगवती सूत्र, १३।४।४८१

अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व भी स्वत सिद्ध हो जाता है। इन दोनो में से प्रत्येक द्रव्य—

द्रव्यतः—एक, अखण्ड, समरूप और अरूपी (वर्णादि रहित) है, तथापि असख्य प्रदेशात्मक है।

क्षेत्रतः—सर्वव्यापी है, किन्तु लोक से बाहर—अलोक मे नही है। वस्तुत तो यह लोक की सान्तता का प्रमुख कारण है।

कालत—शाश्वत है, अनादि-अनन्त है, क्योकि पुद्गल और जीव, दोनो द्रव्यो के अस्तित्व एव गति-स्थिति अनादि-अनन्त है।

भावतः—चैतन्यरहित है एव इन्द्रियग्राह्य नही है।

आकाशास्तिकाय

जैन दर्शन आकाशास्तिकाय (Space) को एक वस्तु-निष्ठ वास्तवता (Objective reality) के रूप मे मानता है। यह अन्य सभी द्रव्यो को आश्रय देने वाला है, अनन्त असीम है, अनन्त प्रदेशात्मक है। इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्य सान्त-ससीम हैं, अत समस्त आकाश मे व्याप्त नही होते। आकाश का वह भाग, जो अन्य द्रव्यो द्वारा अवगाहित होता है, 'लोक' अथवा 'लोकाकाश' कहलाता है। हम इसको क्रियाशील विश्व भी कह सकते है। यह सान्त है और इसके चारों ओर सभी दिशाओ मे अलोक-आकाश है, जो निष्क्रिय एव अनन्त-असीम है। सभी द्रव्य लोक मे होते है[1], जबकि अलोक केवल आकाशमय ही होता है।[2] वस्तुत तो आकाश एक ही द्रव्य है, किन्तु धर्म-अधर्म द्रव्यो की सान्तता के कारण षड् द्रव्यमय लोकाकाश भी सान्त हो जाता है।

पुद्गलास्तिकाय

जो प्रसिद्ध रूप में जड या मैटर (Matter) कहा जाता है, उसे जैन दर्शन 'पुद्गल' कहता है। 'पुद्गल' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है और पुत्+गल से बना है। इसका तात्पर्य है जो द्रव्य सयुक्त (Fusion) और विभक्त (Fission) होने में समर्थ है, वह पुद्गल है। पुद्गल के अतिरिक्त और कोई भी द्रव्य इस क्रिया को करने मे समर्थ नहीं है, अत. यह पुद्गल द्रव्य का ही लक्षण है।

पुद्गल द्रव्य भौतिक है, अत उसके गुण और पर्याय इन्द्रिय-गम्य हो सकते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि भौतिक पदार्थों का अस्तित्व ही ज्ञाता पर आधारित है। उनका अस्तित्व तो वस्तु-सापेक्ष (Objective) है ही, केवल उनकी अनुभूति इन्द्रियों पर आधारित होती है।

वर्ण और आकार, इन दो गुणो के सयोग से रूप अथवा दृश्यता की उत्पत्ति होती है। जैन दर्शन के अनुसार जिस पदार्थ मे दृश्यता होती है, उसमे अनिवार्यतया गन्ध, रस (स्वाद) और स्पर्श के गुण भी होने ही चाहिए। दूसरे शब्दो मे जिसमे एक इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गुण है, उसमे अन्य तीनों इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य गुण होते है।

पुद्गल द्रव्य ही एकमात्र ऐसा द्रव्य है, जो इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। अन्य द्रव्यो से पुद्गल और भी कई दृष्टिकोणो से भिन्न है। उदाहरणस्वरूप एक आत्मा (जीव), आकाश, धर्म और अधर्म—ये चारों द्रव्य अविभाज्य हैं और अखण्ड है, जबकि परमाणु[3] को छोडकर शेष पुद्गलो को विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार, केवल पुद्गल

---

१ षड्द्रव्यात्मको लोकः।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।८

२ आकाशमयोऽलोकः।

—वही, १।१०

३ अविभाज्य परमाणुः।

—वही, १।१४

द्रव्य ही परस्पर सयुक्त होने योग्य होते हैं। प्रकाश और अंधकार, छाया और प्रतिबिम्ब तथा शब्द आदि भी पौद्गलिक ही है, यह प्रतिपादन वर्तमान वैज्ञानिक युग से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही जैन दार्शनिक कर चुके थे। भौतिक पदार्थ और ऊर्जा की द्विरूपता, जो न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धान्तो मे मिलती है और जिसका निषेध आधुनिक वैज्ञानिक करते है, जैन दर्शन के अनुसार केवल पर्यायों की द्विरूपता है, द्रव्यत तो ऊर्जा और भौतिक पदार्थ दोनो ही पुद्गल है।

परमाणु पुद्गल की चरम इकाई है, जो किसी भी प्रकार के बल-प्रयोग से विभाजित नही किया जा सकता। परमाणु का आदि, मध्य और अन्त वह स्वय ही है। परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनते हैं। स्कन्धो के टूटने से छोटे स्कन्ध अथवा परमाणु बनते है। दो, तीन, चार से लेकर अनन्त परमाणुओ के भी स्कन्ध होते हैं। सूक्ष्मतम चाक्षुष पदार्थ भी अनन्त परमाणुओ से बना हुआ होता है। परमाणु की गति, कम्पन, वेग आदि सम्बन्धी विस्तृत विवेचन जैन दर्शन मे उपलब्ध होता है और आधुनिक विज्ञान के कुछ एक नवीनतम सिद्धान्तो के साथ अद्भुत साम्य रखता है।[1]

जीवास्तिकाय

जीव 'आत्मा' है, जिसकी वास्तवता स्वत सिद्ध है। जीव की दो अवस्थाए हैं—१ मुक्त-अवस्था, २ बद्ध-अवस्था। दोनो अवस्थाओ में जीव का अस्तित्व 'वास्तविक' होता है। 'मुक्ति' का अर्थ 'सम्पूर्ण विनाश' नही है और 'बद्धता' भी केवल प्रपचमात्र नही है।

मुक्त-अवस्था की कल्पना के आधार मे 'मलिन-अवस्था' की कल्पना है। जीव की यह मलिनता का कारण है—जीव और पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध। जीव अपने स्वरूप मे शुद्ध और पूर्ण है, किन्तु पुद्गल के साथ बद्ध होने के कारण विकृत हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कुछ विशेष प्रकार के पुद्गल, जिसे कर्म-पुद्गल कहते है, जीव की यौगिक स्पन्दन क्रियाओ द्वारा आकृष्ट होकर, जीव के प्रदेशो में घुल-मिल जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे लोह के साथ अग्नि तथा दूध के साथ पानी। बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि कर्मों की अनेक अवस्थाए होती हैं। जीव की विकार-भावना जितनी तीव्र होती है, कर्मों का बन्धन-काल उतना ही अधिक दीर्घ और विपाक भी उतना ही अधिक तीव्र होता है। कुछ समय पश्चात् बँधे हुए कर्म-पुद्गल अपना फल देते हैं और बाद मे पृथक् हो जाते हैं।

कर्मों के फल भी दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। शुभ फल देने वाले कर्म पुद्गल पुण्य और अशुभ फल देने वाले पाप कहलाते हैं। अच्छा स्वास्थ्य, उच्च कुल, धन-वैभव आदि सासारिक सुखो का अनुभव पुण्य के निमित्त मे होता है, जब कि बुरा स्वास्थ्य, नीच कुल, गरीबी आदि दुःखो का अनुभव पाप के निमित्त से होता है। पुण्य और पाप, दोनो ही पौद्गलिक हैं और जीव से भिन्न हैं। अत मुक्त दशा मे दोनो से ही मुक्ति हो जाती है।

जहाँ वैदिक दर्शन 'ब्रह्म' और जीव को एक-दूसरे से नितान्त अभिन्न मानता है और केवल ब्रह्म को ही वास्तविक, नित्य और अनन्त मानता है, वहाँ बौद्ध दर्शन आत्मा के अस्तित्व को क्षणिक मानता हुआ 'शून्य मे विलय' को 'मोक्ष' या 'निर्वाण' की सज्ञा देता है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। वह न तो वैदिको के इस एकान्तवाद को स्वीकार करता है कि समग्र जगत् के प्रपच और अनेकताओ के पीछे वास्तवता तो केवल एकमात्र ब्रह्म ही है तथा न ही बौद्धो के इस एकान्तवाद को भी मान्यता देता है कि सब कुछ क्षणिक ही है। जैन दर्शन के अनुसार जीव, जन्म-मृत्यु रूप अनन्त परिवर्तनों में से गुजरने के बाद भी नष्ट नही होता। जीव शुभाशुभ कर्मों को बाँधता रहता है और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख भोगता रहता है तथा अन्तत. चरम मुक्त-अवस्था को भी प्राप्त कर सकता है, जिसमे वह अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है।

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य,
Jain Philosophy and Modern Science, Muni Shri Nagrajji, Chapter III.

उपसंहार

जैन तत्त्व-मीमांसा का सक्षिप्त अवलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह दर्शन-प्रणाली सब प्रकार के एकान्तवाद से मुक्त है और इसलिए बौद्ध या वैदिक दर्शन जैसे एकान्तवादी दर्शनो से बिल्कुल भिन्न है। हमने यह भी देखा कि जैन दर्शन न तो आदर्शवादी (Idealist) है और न सन्देहवादी (Sceptic) ही। वह वास्तववादी या यथार्थवादी (Realist) है, किन्तु अनीश्वरवादी (Atheist) नही। वह ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करता है, किन्तु सर्वव्यापी तत्त्व के रूप मे नही, जैसे सर्वेश्वरवादी (Pantheist) करते है अथवा जगत्-कर्त्ता के रूप मे नही, जैसे ईश्वरवादी (Theist) करते हैं। जैन दर्शन मध्ययुगीन पाण्डित्यवाद (Scholasticism) या वर्तमान युगीन कार्ल-मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ कहाँ तक साम्य रखता है, इसका निष्कर्ष निकालना स्वय पाठक पर छोड़ते हुए, इस लघु लेख को समाप्त करता हूँ।
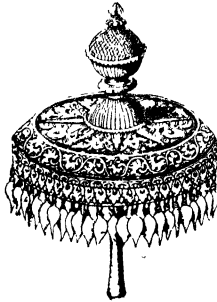
आदर्शवाद और वास्तविकतावाद

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय', बी० एस-सी० (ऑनर्स)

वास्तविकता (Reality) का क्या स्वरूप है ?—इस प्रश्न ने न केवल पश्चिम के अपितु पूर्व के भी, न केवल दर्शन-जगत् के अपितु विज्ञान-जगत् के तत्त्व-मीमांसकों को प्राचीनकाल से लेकर आज तक व्यथित किया है। यहाँ तक कि कुछ एक दार्शनिको ने सन्देहवाद[1] (Scepticism) स्थापित करके यह प्रतिपादित किया कि कोई भी नही जान सकता 'विश्व क्या है'। पश्चिम मे भिन्न-भिन्न दार्शनिको ने और भिन्न-भिन्न वैज्ञानिको ने भिन्न-भिन्न रूप मे इस प्रश्न का उत्तर दिया है। पूर्व मे भी अनेक दर्शन-प्रणालियाँ इस प्रश्न का समाधान विविध रूप मे प्रस्तुत करती है। इस सक्षिप्त लेख मे जैन-दर्शन और पाश्चात्य विचार-धाराओं का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पश्चिम की दो धाराएँ

पश्चिम मे वास्तविकता के स्वरूप का प्रतिपादन वैज्ञानिको और दार्शनिकों के द्वारा मुख्यतया दो रूप मे हुआ है :—

१. **आदर्शवाद**[2] (Idealism)—इस विचारधारा के अनुसार हमारे ज्ञान मे आने वाला विश्व 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality) न होकर केवल 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' (subjective reality) है।[3] आदर्शवाद कहता है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व होने पर भी हमारा (मनुष्य का) ज्ञान केवल ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता तक सीमित है। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिको मे डॉ० अलबर्ट आईन्स्टीन, सर ए० एस० एडिंगटन, सर जेम्स जीन्स, हर्मन वाइल, अर्नेस्ट माख, पोईनकारे आदि है और दार्शनिको मे प्लुतो (Plato),

---

१ सन्देहवाद (Scepticism) प्राचीन यूनानी दार्शनिक पीरो (Pyrrho) जिसकी मृत्यु ई० पू० २७० में हुई थी, से लेकर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक ह्यू म (Hume) तक नाना रूपों में प्रचलित हुआ है। इसके पश्चात् भी आंशिक रूप में तो हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) जैसे विज्ञानविद् दार्शनिकों में भी यह दिखाई पड़ता है। जैसे स्पेन्सर ने लिखा है : "वैज्ञानिक का शोध-प्रयत्न उसे सभी दिशाओं में एक ऐसे स्थान पर ले जाता है, जहाँ से आगे कोई मार्ग नहीं निकलता। इस बात का अनुभव उसे स्वयं भी अधिक-से-अधिक होता है कि कभी नहीं सुलझने वाली पहेली उसके सामने उपस्थित हो ही जाती है।''' वैज्ञानिक किसी भी दूसरे व्यक्ति से अधिक अच्छी तरह यह जानता है कि किसी भी पदार्थ के मूल स्वरूप का ज्ञान होना अशक्य है।"— (देखें फर्स्ट प्रिंसिपल्स, पृ० ५६)

२ आदर्शवाद (Idealism) शब्द तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) और नीतिशास्त्र (Ethics) में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। तत्त्व-मीमांसा में सामान्यतया आदर्शवाद का अर्थ होता है—वह विचारधारा, जो प्रत्यय (Idea) अथवा आत्मा को वास्तविकता का मूल मानती है। इस अर्थ में ही आदर्शवाद शब्द प्रस्तुत लेख मे प्रयुक्त हुआ है। नीतिशास्त्र में प्रयुक्त 'नैतिक आदर्शों की साधना' से सम्बन्धित 'आदर्शवाद' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

३ किसी भी पदार्थ का अस्तित्व यदि ज्ञाता की अपेक्षा बिना—अपने-आप में स्वतन्त्रतया—होता है, तो वह 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality) है। दूसरी ओर जिस पदार्थ का अपने-आप में स्वतन्त्रतया कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, किन्तु केवल ज्ञाता के मस्तिष्क में उसका अस्तित्व होता है, तो वह ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता (subjective reality) है।

लाइबनीज, लोक, बरकले, ह्यूम, काण्ट हेगल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

२ वास्तविकतावाद (Realism)—इसके अनुसार विश्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। विश्व-स्थित पदार्थ ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिकों में न्यूटन, बोहर (Bohr), हाईसनबर्ग, व्हीट्टाकर, राईशनबाख, सी० इ० एम० जोड, सर ओलिवर लोज और भौतिकवादी सोवियत वैज्ञानिक है तथा दार्शनिको में डेमोक्रिटस और अणुवादी यूनानी दार्शनिक, अरस्तु, ईसाई पाण्डित्यवादी (Scholastic) दार्शनिक, रेने डेकार्टस, बर्ट्रेण्ड रसेल, हेनरी मार्गेनो आदि के नाम उल्लेखनीय है।

दार्शनिकों का आदर्शवाद

आदर्शवादी दार्शनिको ने भिन्न-भिन्न रूप से आदर्शवाद का प्रतिपादन किया है। इनके सूक्ष्म वैसदृश्यो का विश्लेषण दर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थो मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है और अपने-आप मे एक स्वतन्त्र और अतिविस्तृत विषय है। यहाँ पर तो केवल स्थूल रूप से ही इनके अभिप्राय को ग्रहण करके प्रतिपादन किया जा सकता है। आदर्शवादियो के अभिप्राय को स्पष्टतया समझने के लिए यूनान के प्राचीन दार्शनिक प्लेटो (Plato) के 'गुफा के कैदी' का प्रसिद्ध रूपक सहायक हो सकता है। प्लुतो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' मे एक गुफा का वर्णन किया है, जिनमे रहे हुए कैदियो मे से एक कैदी मुक्त हो जाता है। वह भीतर के कैदियो को वस्तुस्थिति समझाने के लिए आता है। उसके और एक कैदी के बीच जो सवाद हुआ, उसको वह स्वय सुना रहा है[1]—मैंने कहा—देखो! यह है भूगर्भ के भीतर की गुफा। इस गुफा का द्वार प्रकाश की ओर खुला हुआ है, जिसमे से सारी गुफा मे प्रकाश आ रहा है। यहाँ गुफा मे मनुष्य रह रहे हैं। ये लोग यहाँ पर बाल्यकाल से ही हैं। इनके पैर जजीर से इस प्रकार बँधे हुए है कि ये चल-फिर नही सकते और केवल आगे ही देख सकते हैं, क्योकि उनकी गर्दन भी जजीर से इस प्रकार बाँध दी गई है कि ये अपनी गर्दन को पीछे की ओर हिला नही सकते। इनके पीछे और ऊपर की तरफ, कुछ दूरी पर अग्नि जल रही है। इन कैदियो और अग्नि के बीच एक थोडा-सा ऊँचा मार्ग है· और यदि आप देखेगे तो आपको एक ऊँची-सी दीवार उस मार्ग पर दिखाई देगी। यह दीवार वैसी ही लगती है जैसा कि नाटक मे पर्दा होता है, जिस पर छाया द्वारा नृत्य आदि दिखाया जाता है।

वह बोला—हाँ, मैं देख रहा हूँ।

मैं—और क्या आप देख रहे हैं कि बहुत लोग उस दीवार के पास से कुछ सामान लिए हुए गुजर रहे हैं ·····इन सबकी छाया उस दीवार पर पड रही है?······

वह—आपने मुझे बहुत ही विचित्र दृश्य दिखाया है—वे अति विचित्र कैदी है।

मैं—अपने जैसे ही हैं। वे केवल उनकी छाया अथवा दूसरो की छाया ही देख सकते है, जो अग्नि के प्रकाश द्वारा उस दीवार पर पड रही है?

वह—हाँ। जबकि वे अपनी गरदन को घुमा ही नही सकते, तब छाया के अतिरिक्त वे बेचारे और क्या देख सकेंगे?

मैं—और जो वस्तुएं वे उठाकर ले जा रहे हैं, उनकी भी वे केवल छाया देख सकते हैं?

वह—हाँ।

मैं—उनके लिए उन आकृतियो की छाया ही वास्तविक है, इसके अतिरिक्त और कोई 'सत्य' नहीं है।

प्लुतो ने इस रूपक में सामान्य मनुष्यो को उन कैदियो के सदृश माना है। मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। दूसरे शब्दो मे विश्व केवल ज्ञाता-सापेक्ष है—हमारे मस्तिष्क के अतिरिक्त उसका और कहीं अस्तित्व नही है। वस्तु-सापेक्ष तत्त्व का ज्ञान वही कर सकता है, जो मुक्त कैदी की तरह हो। किन्तु जो लोग गुफा में बद्ध हैं, उनके लिए यह सम्भव नही है। हम (मनुष्य) भी कैदी ही हैं, अत हमारा विश्व केवल ज्ञाता-सापेक्ष है।

---

१ रिपब्लिक, पुस्तक ७।

प्लुतो के पश्चात् अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने आदर्शवाद का अपने-अपने ढंग से निरूपण किया है। जैसे कि लाइबनीज (Leibniz) ने आत्मिक-इकाइयों (monads) के अतिरिक्त भौतिक-जगत् की वास्तु-सापेक्ष वास्तविकता को अस्वीकार किया है। लोक (Locke) ने पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार तो किया है, किन्तु मनुष्य के द्वारा उसका ज्ञान होना अशक्य माना है। दार्शनिक ज्योर्ज बरकले (George Berkeley) (ई० १६८५-१७५३) द्वारा भी इससे सदृश्यता रखने वाला चिन्तन आया।

बरकले ने कहा, "आकाश का समग्र नक्षत्र-मण्डल और पृथ्वी की समग्र सामग्री अथवा एक शब्द मे कहे तो वे सभी वस्तुएं, जो इस विश्व का विशाल रूप बनाती हैं, ज्ञाता (आत्मा) की अपेक्षा बिना असत् हैं।...जहाँ तक मेरे द्वारा इनका ग्रहण नही होता अथवा मेरे मस्तिष्क मे अथवा अन्य कोई प्राणी के मस्तिष्क मे इनका अस्तित्व नही होता, वहाँ तक इनका कोई अस्तित्व नही है अथवा तो कोई शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क मे ये विद्यमान हैं।"[1] इस प्रकार, बरकले भी विश्व को केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही मानते हैं। यद्यपि उन्होंने शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क मे विद्यमान विश्व के रूप मे[2] वस्तु-सापेक्ष विश्व का अस्तित्व स्वीकार किया है, फिर भी वह विश्व हमारी पहुँच से बाहर है। बरकले के बाद ह्यूम (Hume) के दर्शन ने सन्देहवाद (Scepticism) को जन्म दिया, जिससे विश्व के साथ आत्मा की वास्तविकता भी सन्दिग्ध हो गई। जर्मन दार्शनिक काण्ट (Kant) के दर्शन में वास्तविकता को पुनरुज्जीवित किया गया। परन्तु आदर्शवाद का प्रतिपादन तो उसने भी किया। अनुभव-प्राक् ज्ञान (a priori knowledge) को विशेष स्थान देकर काण्ट ने आदर्शवाद की ही पुष्टि की है। यद्यपि बरकले और ह्यूम ने तो वास्तविकतावाद से बिल्कुल ही सम्बन्ध तोड दिया था, काण्ट ने 'स्व-सापेक्ष वस्तुत्व' (thing-in-itself) को स्वीकार कर वास्तविकता के साथ कुछ सम्बन्ध रखा है। काण्ट के अनुसार हमारे ज्ञान मे आने वाला समग्र विश्व आभास के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो पारमार्थिक वास्तविकता (transcendental reality) है, वह इससे सर्वथा भिन्न है।[3] इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित आदर्शवाद मे आत्मनिरूपणात्मक (Subjective) दृष्टि का तारतम्य है, किन्तु स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि सभी आदर्शवादी दार्शनिक विश्व के वस्तुगत अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं।

वैज्ञानिकों का आदर्शवाद

प्राचीन दार्शनिक आदर्शवाद का प्रतिबिम्ब आधुनिक आदर्शवादी वैज्ञानिको के विचारो मे हमे देखने को मिलता है। आदर्शवादी वैज्ञानिकों की विचारधारा के अनुसार विज्ञान—विशेषत· भौतिक-विज्ञान—की गवेषणा का विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' है। प्रत्येक पदार्थ जिसको कि हम इन्द्रियो के द्वारा जानते हैं, वस्तुतः तो गुणो का समुदाय मात्र है और ये गुण हमारे मस्तिष्क मे ही अस्तित्व रखते हैं अर्थात् हमारी कल्पना से ही इनकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए, जड पदार्थ और शक्ति, अणु और आकाशगंगा आदि रूप समग्र विश्व वस्तुत· कोई अस्तित्व नही रखता; केवल हमारी चेतना शक्ति के द्वारा रचित काल्पनिक प्रासाद के अतिरिक्त इसका कोई अस्तित्व नहीं है।[4] आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आविष्कर्ता डा० अल्बर्ट आईन्स्टीन ने विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' है, इस अभिप्राय की पुष्टि की है।

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स ने इस विचारधारा का निरूपण अपनी पुस्तक 'दी मिस्टीयर्स युनिवर्स'

---

१ देखें, दी मिस्टीयर्स युनिवर्स, ले० सर जेम्स जीन्स, पृ० १२६।

२ सर जेम्स जीन्स ने बरकले की इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि "किसी भी वस्तु-सापेक्ष पदार्थ का अस्तित्व मेरे मस्तिष्क में हो अथवा अन्य किसी प्राणी के मस्तिष्क में अथवा न भी हो, यह कोई खास बात नहीं है। क्योंकि कोई 'शाश्वत आत्मा' के मस्तिष्क में होने के कारण वे वस्तु-सापेक्ष हो ही जाते हैं।"

—दी मिस्टीयर्स युनिवर्स, पृ० १२७।

३ दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० १४।

४ देखें, दी युनिवर्स एण्ड डा० आईन्स्टीन, पृ० २२।

में किया है। जीन्स ने वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया है। किन्तु उनकी यह दृढ़ मान्यता है कि मनुष्य का ज्ञान (जिसमें विज्ञान भी समाहित है) इस वास्तविकता पर पहुँचने में असमर्थ है। अतः हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व तो केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही है। विज्ञान और गणित द्वारा विश्व का प्रतिपादन जिन संज्ञाओं के द्वारा होता है, वे केवल हमारे मस्तिष्क की उपज हैं। इन संज्ञाओं के द्वारा विश्व का वास्तविक तत्त्व कदापि नहीं जाना जा सकता। ये संज्ञाएं विश्व की प्रक्रियाओं का ही, जो ज्ञाता-सापेक्ष है, प्रतिपादन हैं।

पदार्थत्व (Substantiality) भी अपने-आप में कुछ नहीं है, केवल हमारी इन्द्रियों पर पड़ने वाले पदार्थों का प्रभाव है। किसी भौतिक पदार्थ की सामान्य रूप से ठोस कणों के समुदाय के रूप में कल्पना की जाती है। विज्ञान इसको तरंगों के साथ और गणित के सूत्रों (Formulae) के साथ जोड़ता है। जीन्स का अभिमत है कि ठोस कणों से बने हुए पत्थर आदि पदार्थों का पदार्थत्व जितना वास्तविक है उतना ही वास्तविक तरंगमय अथवा गाणितिक सूत्र द्वारा प्रतिपादित पदार्थ का है। किन्तु इस पदार्थत्व का सम्बन्ध भी केवल हमारे विचारों में ही है।

स्वयं जीन्स ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है, "विश्व की सबसे अधिक उपयुक्त कल्पना यही है कि विश्व शुद्ध विचारों से बना है। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि हम वास्तविकतावाद को तिलांजलि दे रहे हैं और उसके स्थान में आदर्शवाद को आरूढ़ कर रहे हैं। फिर भी, मैं समझता हूँ, ऐसा कहना स्थिति का अपक्व अवलोकन होगा। क्योंकि, यदि यह बात सही है कि पदार्थों का वास्तविक तत्त्व हमारे लिए अज्ञेय है तो वास्तविकतावाद और आदर्शवाद के बीच की भेदरेखा को स्पष्ट रूप से परखना भी कठिन हो जाता है। "वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओं का अस्तित्व अवश्य है, क्योंकि कुछ पदार्थ आपकी चेतना को और मेरी चेतना को समान रूप से स्पर्श करते हैं। किन्तु, उन पदार्थों को 'वास्तविक' अथवा 'आदर्श' कहना तो हमारे अधिकार की बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि इनको हम 'गाणितिक' की संज्ञा दे सकते हैं "ऐसी संज्ञा यह नहीं बताती कि वस्तु का मूल तत्त्व क्या है, वह तो केवल इतना ही सूचित करती है कि पदार्थ किस प्रकार कार्य करते हैं।"[1]

आदर्शवादी विचारधारा के पोषक वैज्ञानिकों में सर० ए० एस० एडिंग्टन मुख्य रूप से हैं। एडिंग्टन ने वैज्ञानिक दर्शन को 'सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद' (Selective Subjectivism) के रूप में माना है, जो कि बरकले के ज्ञाता सापेक्षवाद से काफी भिन्न है। एडिंग्टन के अनुसार विश्व न तो ज्ञाता-सापेक्ष है और न केवल वस्तु-सापेक्ष; और न ज्ञाता-सापेक्ष व वस्तु-सापेक्ष पदार्थों और गुणों का सरल सम्मिश्रण है। परन्तु, विज्ञान द्वारा विश्व का जो ज्ञान हमें होता है, वह अधिकतर प्रेक्षणों पर आधारित होने के कारण, ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता पर अधिक प्रकाश डालता है। शुद्ध वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता 'आत्मा' है, जब कि भौतिक विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष' है। अतः वस्तु-सापेक्ष विश्व सम्बन्धी ज्ञान भौतिक विज्ञान नहीं करा सकता। भौतिक विज्ञान के नियम ज्ञाता-सापेक्ष विश्व के नियम हैं। जैसे कि उन्होंने लिखा है, "भौतिक विज्ञान के मूलभूत नियम और अचर (संख्याएं) पूर्णतः ज्ञाता-सापेक्ष हैं, क्योंकि वे ज्ञाता की इन्द्रियों और बुद्धि रूप साधनों का इन साधनों—इन्द्रियों और बुद्धि—द्वारा होने वाले ज्ञान पर जो प्रभाव पड़ता है, उसको व्यक्त करते हैं।"[2]

विज्ञान-जगत् के एक प्रमुख विचारक पोइनकारे (Poincare) ने यह अशक्य माना है कि ज्ञाता (आत्मा) के बिना कोई वास्तविकता का अस्तित्व हो सकता है। पोइनकारे के शब्दों में, "किसी भी वास्तविकता का अस्तित्व, जिस आत्मा (ज्ञाता) के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, वह देखी जाती है अथवा अनुभूत होती है, उस आत्मा के बिना स्वतन्त्र रूप से होना अशक्य है। इतना अधिक बहिःस्थित विश्व यदि अस्तित्ववान हो, तो भी वह सदा के लिए हमारी पहुँच से बाहर रहेगा। जिसको हम 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' मानते हैं, सही अर्थ में तो वह वही है, जो बहुत सारे चिन्तनशील प्राणियों के लिए समान रूप में है और संभवतः सभी प्राणियों के लिए समान रूप में हो।"[3]

---

१ दी मिस्टीरियस युनिवर्स, पृ० १२४, १२७।
२ दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साइन्स, पृ० १०४।
३ दी वेल्यु ऑफ साइन्स, सर ए० एस० एडिंग्टन द्वारा न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ० १ पर उद्धृत।

दार्शनिक वास्तविकतावाद

'विश्व का अस्तित्व वास्तविक है और पदार्थों की वास्तविकता स्व-आधारित है।' यह वास्तविकतावाद है। इसके भी अनेक रूप बने हैं। इनके भिन्न-भिन्न मतो का सूक्ष्म विश्लेषण न करके केवल स्थूल दृष्टि से इनकी मान्यता का प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है। आदर्शवाद में वास्तविकता का आधार ज्ञाता है, जबकि वास्तविकतावाद मे पदार्थ या वस्तु है। हम किसी एक भौतिक पदार्थ को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। रग, स्पर्श आदि गुणों के द्वारा पदार्थ का ज्ञान हम करते हैं। अब, आदर्शवाद कहता है कि ज्ञाता के इन रंग आदि गुणो के ग्रहण मे ही वस्तु अस्तित्व मे आता है, अत वह ज्ञाता-सापेक्ष है। जबकि वास्तविकतावाद के अनुसार हम केवल रंग आदि गुणो का ग्रहण ही नहीं करते। इसके अतिरिक्त हम 'कोई पदार्थ' के रूप में वस्तु को जानते हैं। अत. पदार्थ स्वयं मे वास्तविक है अर्थात् हमारे द्वारा ग्रहण होने पर ही अस्तित्व मे नही आता है, अपने-आप मे—ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी—इसका वास्तविक अस्तित्व है।

पाश्चात्य दार्शनिको मे प्राचीन यूनानी दार्शनिक परमेनिडस (Parmenides) ने पदार्थ के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार कर इस विचारधारा को मान्य रखा है। डेमोक्रिटस (Democritus) ने 'अणु' के रूप मे वास्तविकता को स्वीकार किया है। यद्यपि डेमोक्रिटस ने स्पर्श, रस, वर्ण आदि अणु के गुणो को वस्तु सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही किया है, फिर भी अणु, जोकि सभी पदार्थों की इकाइयो के रूप मे है, वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व रखते है, ऐसा माना है।

अरस्तु (Aristotle) ने प्लुटो के 'विचारो के सिद्धान्तो' (Theory of Ideas) का खण्डन किया और उसके स्थान मे 'पदार्थ' (Substance) और 'अस्तित्व' (Essence) के सिद्धान्त के रूप मे वास्तविकतावाद का समर्थन किया। अरस्तु के दर्शन से प्रभावित होने वाला ईसाई धर्म के अधिकारियो का दर्शन पाण्डित्यवाद (Scholasticism) वास्तविकतावाद का प्रबल पोषक है। पाण्डित्यवादियो ने (जिसमे ईसाई धर्म के सेंट थोमस आदि प्रसिद्ध पादरियो का समावेश होता है), "विश्व मे अनेक पदार्थ हैं और ये अपना-अपना वास्तविक रखते है", इस रूप मे विश्व की वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता स्वीकार की है।[1] आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के आदि दार्शनिक रेने डेकार्टस (Rene Descartes) ने स्पष्ट रूप से वास्तविकतावाद को स्वीकार किया है। डेकार्टस के अस्तित्ववाद (Ontology) मे वास्तविक अस्तित्व के विषय मे चिन्तन किया गया है।[2] ईश्वर के अतिरिक्त दो प्रकार के पदार्थों का वास्तविक (वस्तु-सापेक्ष) अस्तित्व डेकार्टस ने बताया है। एक तो भौतिक पदार्थ अथवा जड (matter) और दूसरा मानसिक पदार्थ अथवा मन, इस प्रकार के विभागीकरण को तात्त्विक वास्तविकतावाद (Metaphysical realism) कहा गया है।[3]

आधुनिक दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने वैज्ञानिक और गाणितिक तथ्यो के आधार पर एक नया दर्शन दिया है। उन्होने अपने दर्शन मे गणित और तर्क को प्रधानता दी है और गणित को प्रधानता देने का कारण यही है कि गणित के द्वारा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतिपादन किया जा सकता है।[4] इन्द्रियो की सहायता से होने वाले पदार्थों के ज्ञान अथवा अनुभूति (Perception) के विषय में वे लिखते हैं "अनुभूति कुछ अशो मे तो अनुभूत पदार्थ का प्रभाव ही है और इसलिए अनुभूति और अनुभूत पदार्थ में सादृश्य होना ही चाहिए, अन्यथा वह अनुभूति पदार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती। ....." इस प्रकार पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व हुए बिना हमारी अनुभूति पर उसका प्रभाव नही हो सकता तथा अनुभूति और अनुभूत पदार्थ की सदृशता भी तभी हो सकती है, जब अनुभूत

---

१ देखें, कोस्मोलोजी, ले० जेम्स ए० मेकविलियम्स, पृष्ठ ४८-५७, ७६
२ दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० ११
३ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, ले० हाईसनबर्ग, पृ० ७५
४ देखें, दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी, पृ० ३५६
५ हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ८६१

पदार्थ का स्वतन्त्र वास्तविक अस्तित्व हो।

प्रो० हेनरी मार्गेनौ आधुनिक विज्ञान के माने हुए विद्वान् है और वैज्ञानिक दर्शन के विषय मे अपना स्वतन्त्र और मौलिक दृष्टिकोण रखते हैं। प्रो० मार्गेनौ ने 'आधुनिक भौतिक-विज्ञान के दर्शन' सम्बन्धी 'भौतिक वास्तविकता का स्वरूप' नामक पुस्तक लिखी है, जिसमे ज्ञान-मीमांसा और वैज्ञानिक पद्धतियो के आधार पर 'वास्तविकता' पर प्रकाश डाला है। वास्तविकता की ज्ञाता-सापेक्षता को अस्वीकार करते हुए वे लिखते है : "हम चाहते हैं कि वास्तविकता हमारे छिछले ऐन्द्रिय-ज्ञान से अधिक शाश्वत हो वृक्ष तभी वास्तविक है जब कि वह मेरी खिडकी के सामने सदा ही अस्तित्व मे हो,चाहे मै उसको किसी समय न भी देखता हूँ।'[1] "वास्तविकता पदार्थ-सदृश होनी चाहिए, विचार-सदृश नही। : कोई भी व्यक्ति तर्क-सम्मत दृष्टि से ऐसा नही कह सकता कि सरल से सरल प्रकार के पदार्थ के भी सभी गुण बहिर्जन्य है अर्थात् केवल इन्द्रियो की अनुभूति के द्वारा उसमे आरोपित होते है।"[2] इन उद्धरणो मे स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता का केवल ज्ञाता-सापेक्ष होना, मार्गेनौ स्वीकार नही करते। मार्गेनौ की विचारधारा के अनुसार पदार्थों का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व पूर्ण रूप से इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नही होता, फिर भी कुछ एक साधनो के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभूति और वास्तविक पदार्थों के बीच सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु ये साधन केवल काल्पनिक या आदर्श नही है। ऐसे साधनो को उन्होने 'कन्स्ट्रक्ट्स' (Constructs)[3] कहा है। वे मानते है कि इनके द्वारा आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के बीच का मार्ग निकलता है।[4]

वैज्ञानिकों का वास्तविकतावाद

वास्तविकतावादी वैज्ञानिको का यह अभिमत है कि जितने भी पदार्थों का ज्ञान हम करते हैं, वे सभी स्वतन्त्र रूप से अपना-अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी उनका अस्तित्व बना रहता है। फोन वाइजसेइकर (von Weizsaker) के शब्दो मे "प्रकृति मनुष्य से पूर्वतर है।" यद्यपि वास्तविकतावाद का निरूपण कुछ सूक्ष्म भेद के साथ किया गया है और जिसमे वास्तविकतावाद के सरल वास्तविकतावाद (Simple or Naive Realism), विवेचनात्मक वास्तविकतावाद (Critical Realism), भौतिकवाद (Materialism), विधानवाद (Positivism) आदि अनेक प्रकार होते हैं, फिर भी सभी मुख्य रूप से विश्व को वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करते हैं।

आधुनिक युग के प्रमुख वैज्ञानिक वरनर हाईसनबर्ग (Heisenberg) वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के निरूपण को ही विज्ञान का लक्ष्य मानते है।[5] उदाहरणार्थ क्वान्टम सिद्धान्त (Quantum Theory) मे 'सम्भावना फलन' (Probability Function), जो कि आणविक कणो के स्थान और वेग सम्बन्धी एक गाणितिक संज्ञा है, के विषय मे उन्होने लिखा है, 'इसमे ज्ञाता-सापेक्ष और वस्तु-सापेक्ष तत्त्व जुड़े हुए है। 'सम्भावना फलन' मे वे कथन भी हैं, जो कि पूर्णता वस्तु-सापेक्ष हैं और वे कथन भी हैं, जो कि हमारे ज्ञान के विषय मे होने के कारण ज्ञाता-सापेक्ष है। किन्तु शुद्ध रूप मे, सम्भावना फलन मे ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व, वस्तु-सापेक्ष तत्त्वो की अपेक्षा मे नगण्य होते हैं।"[6] विश्व का वस्तु-सापेक्ष निरूपण करने मे हम कहाँ तक समर्थ हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होने लिखा है[7], "विज्ञान की यह मान्यता शुरू से रही है कि ज्ञाता-निरपेक्ष दृष्टि से विश्व का निरूपण किया जा सकता है। वस्तुत यह अधिकांशतया शक्य हुआ

१ दी नेचर ऑफ फिजिकल रीयालिटी, पृ० ४
२ वही, पृ० ५, ६
३ यह पारिभाषिक शब्द है, अतः इसका शब्दशः हिन्दी-अनुवाद नहीं दिया गया है।
४ देखें, दी नेचर ऑफ फिजिकल रीयालिटी, पृ० ७१
५ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ७६, १२५, १२६
६ वही, पृ० ५३
७ वही, पृ० ५४, ५५

है। हम जानते हैं कि लन्दन शहर का अस्तित्व है, चाहे हम उसे देखें या नहीं ''। उसकी (विज्ञान की) सफलता ने विश्व के वस्तु-सापेक्ष विवेचन के लक्ष्य तक हमें पहुँचाया है। 'वस्तु-सापेक्षता' किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष की प्रथम कसौटी बन चुकी है।" लोक, बरकले, ह्यूम आदि आदर्शवादी दार्शनिकों की विचारधारा का खण्डन करते हुए हाईसनबर्ग लिखते हैं, "हमारी अनुभूतियाँ केवल वर्ण और शब्दों की गठरियाँ नहीं हैं; जिस पदार्थ का हम ज्ञान करते हैं, वह 'कोई वस्तु' के रूप में पहले ही अनुभव में आ जाता है, यहाँ 'वस्तु' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अत यदि हम वास्तविकता का पारमार्थिक तत्त्व 'वस्तुओं' को न मानकर, अनुभूतियों को मानते हैं तो हम नि सदिग्ध रूप से गलती करते हैं।"[1]

वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को प्राथमिकता देने वाले वैज्ञानिकों में ब्रिटिश वैज्ञानिक सर एडमण्ड ह्वीट्टाकर (Whittaker) का नाम उल्लेखनीय है। वास्तविकता की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं, "जो सभी ज्ञाताओं द्वारा समान रूप मे जाना जाये, वह 'वास्तविकता' है।"[2] इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता का स्वरूप ज्ञाता-सापेक्ष न होकर वस्तु-सापेक्ष है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण ह्वीट्टाकर ने स्वय किया है, "यद्यपि उक्त परिभाषा से वास्तविकता का ज्ञान, इन्द्रियों द्वारा विषय-ग्रहण और व्यक्तिगत मन द्वारा बुद्धिपूर्वक चिन्तन पर आधारित हो जाता है, फिर भी वास्तविकता स्वय में किसी भी व्यक्ति के मन (ज्ञाता) से स्वतन्त्र है और व्यक्तियों (ज्ञाता) के जन्म और मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता है।"[3] ह्वीट्टाकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि वैज्ञानिक नियमों को गाणितिक रूप देने से सम्पूर्णत वस्तु-सापेक्ष दृष्टि से वास्तविकता का विवेचन किया जा सकता है।[4]

हंस राइशनबाख (Hans Reichenbach) बीसवीं सदी के माने हुए गणितज्ञ और दार्शनिक थे। राइशनबाख ने वैज्ञानिक दर्शन की चर्चा करते हुए लिखा है कि वैज्ञानिक दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ध्येय है—समस्त दार्शनिक ज्ञान की कसौटी के रूप में 'वस्तु-सापेक्ष सत्य' की स्थापना करना।[5] राइशनबाख ने गाणितिक आधारों पर 'आकाश और काल' सम्बन्धी नवीन वैज्ञानिक धारणाओं का मौलिक प्रतिपादन करके विश्व के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को सिद्ध किया है।[6]

आधुनिक वैज्ञानिकों में सी० ई० एम० जोड (C E. M. Joad) का नाम सुप्रसिद्ध है। जोड ने 'दर्शन का मार्गदर्शन' (Guide to Philosophy) नामक अपनी पुस्तक में वास्तविकता के स्वरूप-विषयक ज्ञाता-सापेक्ष आदर्शवाद, वास्तविकतावाद, विधानवाद, आधुनिक आदर्शवाद आदि नाना वादों की चर्चा की है। वास्तविकतावाद का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं, "यह स्पष्ट है कि जब कभी मैं किसी भी प्रकार की अनुभूति करता हूँ—चाहे मैं स्वप्न देखता हूँ या चिन्तन करता हूँ, चाहे मुझे भ्रम अथवा आभास होता है अथवा मैं केवल अनुभव ही करता हूँ, तब कोई-न-कोई वस्तु स्वप्न मे दिखाई देती है, चिन्तन में आती है, भ्रम या आभास के रूप में आती है अथवा उसका केवल अनुभव ही होता है, और मेरे मस्तिष्क का उस पदार्थ के साथ कोई-न-कोई रूप में सम्बन्ध होता है।"[7] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य पदार्थ का अपना अस्तित्व ज्ञाता के मस्तिक से (अथवा विचार से) भिन्न है। अत निष्कर्ष यही निकलता है कि "सभी प्रकार के मानसिक कार्यों में यह लाक्षणिक समानता है कि ज्ञाता से भिन्न तत्त्व का ज्ञान उनमें होता है। मानसिक कार्य का अर्थ यही होता है कि मन से भिन्न 'कोई पदार्थ' का ज्ञान उसमें होता है। अत यह कहा जा सकता है कि 'कोई अन्य पदार्थ' जिसका ज्ञान होता है, वह ज्ञाता के ज्ञान के कारण किसी भी प्रकार से प्रभावित

---

१ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ७७
२ फ्रॉम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० २
३ वही, पृ० ३, ४
४ देखें, वही, पृ० ४
५ दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाइम, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १६
६ इसके विवेचन के लिए देखें, वही, पृ० २८६ से २८८
७ गाइड टू फिलोसोफी, पृ० ११

नही होता है। (वास्तविक) अनुभूति के आधार पर इसी तथ्य को दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो पदार्थ वस्तुत. वही है, जो यदि ज्ञाता द्वारा ग्रहण न भी होता हो, तो भी उसी रूप मे रहता है।"[1] इस प्रकार, पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व है, इन्द्रियो या मन द्वारा उसके ग्रहण (perceiving) होने से हमारा (ज्ञाता का) उसके साथ सम्बन्ध होता है, किन्तु इस क्रिया से उस पदार्थ के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नही पडता।

भौतिकवादी सोवियत वैज्ञानिक आदर्शवाद के कडे विरोधी हैं। इसका कारण केवल यही नही है कि वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, किन्तु वे मानते है कि सभी पदार्थो के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार किये बिना विज्ञान बहुत सारी समस्याओ को सुलझाने मे असमर्थ बन जाता है। 'विश्व और परमाणु' के लेखक वैज्ञानिक व० मेजन्तसेव ने लिखा है "भौतिकवाद के दुश्मन आदर्शवादी पदार्थ के वस्तुगत (मनुष्य को छोडकर) अस्तित्व को अस्वीकार कर पदार्थ की अक्षयता के विधान को भी अस्वीकार करते है। ये अपनी हठधर्मी से इस महान् विधान को गलत साबित करने की कोशिश मे लगे रहते है।

"साथ ही वे 'शून्य' से पदार्थ की उत्पत्ति और 'शून्य' मे ही उसके रूपान्तर की सम्भावना के अनर्थक ख्याल को सिद्ध करने की कोशिश करते है।"[2] मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का आधार लेकर सोवियत वैज्ञानिको ने पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को प्रमाणित किया है। उदाहरणार्थ 'प्रकाश' के विषय मे न्यूटन (Newton) मे लेकर अब तक विविध प्रकार के सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत् मे आये है। प्रकाश 'तरगरूप' है या 'कणो के समुदाय' के रूप मे है, इस समस्या ने वैज्ञानिको को काफी व्यथित किया है। कुछ एक प्रक्रियाए प्रकाश को स्पष्ट रूप मे तरगमय बतानी है, तो दूसरी ओर कुछ एक प्रक्रियाए उसको कण-समुदाय के रूप मे स्थापित करती है। इतना ही नही, कुछ प्रक्रियाए पदार्थ-कणो को भी तरगमय बताती हैं। इस प्रकार पदार्थ एव प्रकाश तरगमय भी हैं और कणरूप भी। अत. द्रव्य, अर्थात् पदार्थ और प्रकाश मे तरगो एव कणो, दोनो के गुण साथ होते है, पर पूर्णरूप मे न तो वह तरग है, न कण और न दोनो का मिश्रण ही। प्रकाश और पदार्थ के बीच मे किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसका स्पष्टीकरण अब तक विज्ञान नही कर पाया है, फिर भी प्रकाश और पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष निरूपण करने मे वह सफल रहा है, ऐसा सोवियत वैज्ञानिको का मानना है।[3] जे० वी० स्तालिन ने इसके सम्बन्ध मे लिखा है, "आदर्शवाद के विपरीत, जो विश्व और उसके नियमो को जानने की सम्भावना को अस्वीकार करता है, जो हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता मे विश्वास नही करता, वास्तविक सत्य को नही मानता और यह मानता है कि ससार स्वय-सीमित वस्तुओ से, जिन्हे विज्ञान कभी नही जान सकता, भरा है, मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद का मत है कि विश्व और उसके नियम पूर्णत ज्ञातव्य हैं, प्रयोग तथा व्यावहारिकता द्वारा परीक्षित, प्रकृति के नियमों का हमारा ज्ञान प्रामाणिक ज्ञान है, और उसमे वास्तविक सत्य की प्रामाणिकता है तथा ससार मे ऐसी वस्तुए नही हैं, जो अज्ञातव्य हो, उसमे केवल वे वस्तुए है जो अब ज्ञात न भी हो, किन्तु जो विज्ञान की चेष्टाओ एव व्यावहारिकता से प्रकट और ज्ञात हो जायेगी।"[4] स्तालिन के इस कथन मे स्पष्टत आदर्शवाद का खण्डन कर वास्तविकतावाद की स्थापना की गई है।

जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा

जैन दर्शन वास्तविकतावादी है, किन्तु साथ मे अनेकान्तवादी भी। लोक (विश्व) की व्याख्या करते हुए जैन दर्शन मे कहा गया है, "जिसमे छ प्रकार के द्रव्य हैं, वह लोक है"[5] इन छ द्रव्यो के नाम इस प्रकार हैं—

१ गाइड टू फिलोसोफी, पृ० ७४
२ विश्व और परमाणु (हिन्दी-अनुवाद), पृ० १४२
३ देखें, स० इ० वाविलोव द्वारा लिखित 'नेत्र और सूर्य' (हिन्दी-अनुवाद), पृ० ५८-६१
४ सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, (संक्षिप्त पाठ्यक्रम) पृ० १७८, (नेत्र और सूर्य, पृ० ६२ से उद्धृत)
५ षड्-द्रव्यात्मको लोकः।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-८

१. धर्मास्तिकाय	:	गति-सहायक	द्रव्य
२. अधर्मास्तिकाय	:	स्थिति-सहायक	द्रव्य
३. आकाशास्तिकाय	:	आश्रय देने वाला	द्रव्य
४. काल	:	समय	
५ पुद्गलास्तिकाय	:	मूर्त जड़ पदार्थ	(Matter)
६ जीवास्तिकाय	:	चैतन्यशील आत्मा	(Soul)

इन छः द्रव्यों की सह-अवस्थिति 'लोक' है।[1] इस प्रकार की द्रव्य-मीमांसा जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। इन छः द्रव्यों में से 'काल' को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। 'अस्तिकाय' का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी[2]—सावयवी हैं। 'काल' द्रव्य के प्रदेश नहीं होते। अत. उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। इस कारण से कहीं-कहीं लोक की चर्चा करते हुए लोक को 'पचास्तिकायरूप' बताया गया है।[3] संक्षिप्त मे जिसको हम 'विश्व' (Universe) की संज्ञा देते है, वह 'लोक' है।

'द्रव्य' की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "गुण और पर्यायो के आश्रय को द्रव्य कहते हैं।"[4] अर्थात् द्रव्य वह है, जिसमें गुण और पर्याय (अवस्थाएं) होती हैं. प्रत्येक द्रव्य मे दो प्रकार के धर्म रहते हैं—एक तो सहभावी धर्म (गुण) जो द्रव्य मे नित्य रूप से रहता है, दूसरा क्रमभावी धर्म (पर्याय) जो परिवर्तनशील होता है। गुण भी दो प्रकार के हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण वे हैं, जो सभी द्रव्यो मे निश्चित रूप मे होते हैं। जैसे[5] अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व और अगुरुलघुत्व। ये छः गुण सामान्य गुण हैं, अत प्रत्येक द्रव्य मे ये गुण होते ही हैं। अस्तित्व गुण उसे कहते हैं, जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो अर्थात् द्रव्य सदा विद्यमान रहता है—कभी नष्ट नहीं होता। वस्तुत्व गुण का अर्थ होना है द्रव्य का सदा किसी-न-किसी प्रकार की अर्थक्रिया करते रहना। प्रत्यक द्रव्य अन्य पदार्थों के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धो मे जुडता है और अन्य पदार्थों के द्वारा प्रभावित भी होता रहता है। किन्तु इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं में भी द्रव्य 'वस्तुत्व' गुण के कारण अपनेपन को नहीं छोडता। 'द्रव्यत्व' गुण यह है जिसके कारण द्रव्य गुण और पर्यायों को धारण करता है। प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य की अवस्था बदलती रहती है। इन अवस्थाओं के परिवर्तन से द्रव्य मे 'उत्पत्ति और विनाश' का क्रम चलता रहता है। 'प्रमेयत्व' गुण के कारण द्रव्य ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। जो प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) का विषय बन सकता है, वह 'प्रमेय' है। प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशो का माप होता है। प्रत्येक द्रव्य का विस्तार (extension) उसके प्रदेशवान् होने के कारण होता है।

---

१ धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहि ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, २८-७

२ 'प्रदेश' शब्द का अर्थ है—द्रव्य का 'निरंश अवयव'। निरंशः प्रदेशः ॥
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-२३

३ 'किमियं भन्ते ! लोएत्ति पवुच्चइ ?'
'गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ तंजहा—
धम्मत्थिकाए, अहम्मत्थिकाए जाव पोग्गलत्थिकाए।'
—भगवती सूत्र, १३-४-४८१

४ गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-३

५ आद्योऽस्तित्ववस्तुत्वद्रव्यत्वप्रमेयत्वप्रदेशत्वाऽगुरुलघुत्वादि।
—वही, १-४२

अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य में अनन्त धर्म एकीभूत होकर रहते हैं—बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते। इसी गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के 'स्वरूप' की अविचलता होती है।

प्रत्येक द्रव्य (अस्तिकाय) एक वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। इनमे से पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य, विश्व के सक्रिय और महत्त्वपूर्ण द्रव्य है और पश्चिमी दर्शनो मे तथा विज्ञान मे इनकी ही चर्चा विशेष होने के कारण यहाँ पर सक्षिप्त मे इनका स्वरूप-चिन्तन किया गया है।

पुद्गल और जीव

'पुद्गल' शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वर्ण, स्पर्श, गन्ध और रस—इन गुणो से युक्त है, वह पुद्गल है। पुद्गल का आधुनिक पर्यायवाची शब्द जड (matter) अथवा भौतिक पदार्थ (Physical Substance) हो सकता है। किन्तु, ऊर्जा (energy), जो कि वस्तुत· जड का ही एक रूप है, पुद्गल के अन्तर्गत आ जाती है। पुद्गल के सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश को परमाणु कहा जाता है। विश्व (लोकाकाश) मे परमाणुओ की सख्या अनन्त है और प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र इकाई है। जब ये परमाणु परस्पर जुडते हैं, तब स्कन्ध का निर्माण होता है। स्कन्ध मे दो से लेकर अनन्त परमाणु हो सकते है। लोकाकाश के जितने भाग को एक परमाणु अवगाहित करता है, उतने भाग को 'प्रदेश' कहा जाता है। किन्तु, पुद्गल की स्वाभाविक अवगाहन-सकोच शक्ति के कारण लोकाकाश के एक प्रदेश मे 'अनन्त-प्रदेशी' (अनन्त परमाणुओ से बना हुआ) स्कन्ध भी ठहर सकता है। समग्र लोकाकाश मे (जो कि असख्यात प्रदेशात्मक है) अनन्त 'अनन्त-प्रदेशी' स्कन्ध विद्यमान हैं। इस प्रकार द्रव्य-सख्या की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य अनन्त है, क्षेत्र की दृष्टि से स्वतन्त्र परमाणु एक प्रदेश का अवगाहन करता है और स्वतन्त्र स्कन्ध एक से लेकर असख्यात प्रदेशो का अवगाहन करता है तथा समग्र पुद्गल द्रव्य समस्त लोक मे व्याप्त है, काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है, स्वरूप की दृष्टि से वर्ण, स्पर्श आदि गुणो से युक्त, चैतन्य-रहित और मूर्त है।

छ द्रव्यो मे केवल जीव द्रव्य ही चैतन्य युक्त माना गया है। 'जीव' शब्द 'आत्मा' (Soul) का पर्यायवाची है। चैतन्य (Consciousness) इसका मुख्य लक्षण है। द्रव्य की दृष्टि से जीव की सख्या अनन्त है और प्रत्येक जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र इकाई है। क्षेत्र की दृष्टि से एक स्वतन्त्र जीव कम-से-कम लोक के असख्यात भाग प्रमाण किन्तु असख्यात-प्रदेशात्मक आकाश का अवगाहन करता है और अधिक-से-अधिक समग्र 'लोकाकाश' का अवगाहन भी कर सकता है। सभी जीव द्रव्यो की अपेक्षा से समस्त लोक मे जीव द्रव्य व्याप्त है। काल की दृष्टि से प्रत्येक जीव अनादि और अनन्त है। स्वरूप की दृष्टि से जीव अमूर्त, वर्ण आदि गुणो से रहित और चैतन्य-युक्त है। ज्ञान चैतन्य की ही प्रवृत्ति होने से जीव का गुण है।

जीव और विशेष प्रकार के पुद्गल-स्कन्ध जिनको 'कर्म' कहा जाता है, परस्पर मे सम्बन्धित होते हैं। जीव की विविध प्रवृत्तियो और क्रियाओ के कारण कर्म-पुद्गलो का जीव के साथ सम्बन्ध होता है और उन क्रियाओ के अनुसार कर्म-पुद्गल विविध रूप मे जीव को प्रभावित करते हैं। विश्व मे जितने भी प्राणी (जीव) हैं वे सभी जहाँ तक कर्म-पुद्गलो से युक्त होते है, सुख, दु ख, जन्म, मृत्यु आदि परिणामो को भोगते रहते हैं और कर्म-पुद्गलो से जो मुक्त हो जाते हैं, वे इन सभी परिणामो से भी मुक्त हो जाते हैं और 'परमात्मा' अथवा 'सिद्ध' की सज्ञा को प्राप्त करते हैं।

समीक्षा

आदर्शवाद और जैन दर्शन

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि अनेकानेक दार्शनिको ने और वैज्ञानिको ने इस जटिल पहेली को हल करने का प्रयत्न किया है। पश्चिम मे 'विश्व के स्वरूप' का प्रतिपादन मुख्यतया आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के रूप में हुआ है। आदर्शवादी वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्व की वस्तु-निष्ठ वास्तविकता को अस्वीकार कर प्रत्यय (Idea), विचार (Thought), अनुभूति (Perception), ईश्वर (God), आत्मा (Soul), चैतन्य (Consciousness)

आदि तत्त्वों मे विश्व की वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ केवल ईश्वर (अथवा ब्रह्म) नामक तत्त्व को सत् (वास्तविक) माना गया है और शेष विश्व को असत् (मिथ्या) प्रतिपादित किया गया है, वहाँ सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के रूप मे आदर्शवाद प्रकट हुआ है। भारतीय वेदान्त दर्शन की विचारधारा—'ब्रह्म सत्, जगत् मिथ्या'—भी इस रूप मे आदर्शवाद को ही स्वीकार करती है। इस प्रकार के आदर्शवाद में केवल एक तत्त्व (ईश्वर) वास्तविक अस्तित्व रखता है और शेष विश्व केवल काल्पनिक माना जाता है अथवा उसी एक तत्त्व का ही रूप माना जाता है।

आदर्शवाद की दूसरी धारा अनुभूति मे आने वाले विश्व को 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप मे मानती है। इस विचारधारा के अनुसार—वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व तो है, किन्तु वह पारमार्थिक है। मनुष्य का ज्ञान और एन्द्रिय अनुभूति इस वास्तविक तत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकती। जो कुछ भी मनुष्य अपनी इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण करता है, वह सभी आभास रूप है—अवास्तविक है।

आदर्शवाद का एक रूप अनुभववाद (Empiricism) है। इसके अनुसार जब हम किसी भी पदार्थ का चिन्तन करते है अथवा उसको इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, तब वह पदार्थ अस्तित्व मे आता है, मूलतः पदार्थों का कोई वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व नही है। यह वाद 'अनुभूति' को विश्व की वास्तविकता का मूल तत्त्व मानता है।

आदर्शवादी वैज्ञानिकों की विचारधारा के अनुसार 'भौतिक पदार्थ' (Matter) का स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व नही है, किन्तु केवल आत्मा (Soul) ही स्वतन्त्र 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' है। भौतिक विज्ञान का क्षेत्र केवल ज्ञाता-सापेक्ष वस्तुओ तक सीमित रह जाता है। वस्तु-सापेक्ष विश्व का ज्ञान इसके क्षेत्र मे सन्निहित नही हो सकता।

इसके अतिरिक्त आदर्शवाद के अनेक रूप दर्शन-जगत में प्रचलित हुए हैं। जैन दर्शन के साथ आदर्शवाद की विचारधारा का सादृश्य भी है,वैसदृश्य भी। जैन-दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आत्मा को जैन दर्शन मे स्वतन्त्र द्रव्य—'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप मे माना गया है। आत्मा चैतन्य-युक्त तत्त्व है और ज्ञान उसका सहज गुण है। आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित होती है तब सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेती है। ऐसी अवस्था मे आत्मा स्वय परमात्मा अथवा ईश्वर बन जाती है। इस अर्थ मे तो जैन दर्शन ईश्वरवादी भी है।

आत्मवादी अथवा ईश्वरवादी होने पर भी जैन दर्शन की विचारधारा को हम 'आदर्शवादी' नही कह सकते। तत्त्व-मीमासा के दृष्टिकोण से देखा जाय तो जैन दर्शन स्पष्ट रूप से वास्तविकतावादी अथवा यथार्थवादी ही है। जैन दर्शन आत्मा के अतिरिक्त भी विश्व का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अस्तिकायवाद मे पच अस्तिकाय अस्तित्व की अपेक्षा से सर्वथा स्वतन्त्र और 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप मे माने गये है। इनमे भी आत्मा (जीवास्तिकाय) और पुद्गलास्तिकाय सख्या की दृष्टि से केवल एक ही द्रव्य नही, अपितु अनेक हैं। प्रत्येक आत्मा और पुद्गल का प्रत्येक परमाणु अपना-अपना वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व रखता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनो का भी अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिस प्रकार से वास्तविकता अथवा सत् की परिभाषा जैन दर्शन ने की है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक सत् (तत्त्व) ज्ञाता-निरपेक्ष है।

अब हम आदर्शवाद की नाना विचारधाराओ की पृथक्-पृथक् रूप मे जैन दर्शन के साथ समीक्षा करे। 'सर्वेश्वरवाद', जो केवल 'ईश्वर' को ही एकमात्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है, स्पष्ट रूप से जैन दर्शन को मान्य नही है। यद्यपि जैन दर्शन ईश्वर के वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व को अस्वीकार नही करता, फिर भी समग्र विश्व को सद्-रूप नही मानता। जैन दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थो मे सर्वेश्वरवाद का विस्तृत तार्किक चर्चाओ के द्वारा खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन तर्क और अनुभव के आधार पर भी यथार्थ नही लगता। वस्तु-सापेक्ष पदार्थों की बहुविधता और वास्तविकता सामान्य अनुभव से भी सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति मे सर्वेश्वरवाद की मान्यता सहज ही अप्रमाणित हो जाती है। ईश्वरवादी अन्य दर्शनो ने भी सर्वेश्वरवाद का खण्डन किया है। इसमे भी पाश्चात्य-दर्शन पाण्डित्यवाद (Scholasticism) द्वारा किया गया सर्वेश्वरवाद का खण्डन उल्लेखनीय है।[1]

---

१ देखें, कास्मोलॉजी, पृ० ५१-५३

प्लुतो, काण्ट और जैन दर्शन

आदर्शवाद की दूसरी विचारधारा, जिसमे वास्तविकता को व्यावहारिक न मान कर पारमार्थिक माना गया है, मुख्यत: प्लुतो और काण्ट जैसे दार्शनिको की देन है। प्लुतो ने 'प्रत्ययो के सिद्धान्त' (Theory of Ideas) में जो प्रतिपादन किया है,उसका सक्षिप्त मे यही तात्पर्य है कि वास्तविक पदार्थ पारमार्थिक है, अपनी अनुभूति मे आने वाले पदार्थ आभास रूप हैं। उदाहरणार्थ—'बिल्ली' का अर्थ है, वह एक निश्चित बिल्ली, जो कि वस्तुत ईश्वर द्वारा सर्जित है, वही 'बिल्ली' वास्तविक है। इसके अतिरिक्त जितनी भी बिल्लियाँ हम देखते हैं, वे सभी अवास्तविक और अपूर्ण हैं'[1]—अर्थात् मनुष्य जो कुछ भी जानता है, वह केवल अवास्तविक वस्तुओ के विषय मे जानता है। जैन दर्शन का वस्तुओ की वास्तविकता के विषय मे जो दृष्टिकोण है, वह तो स्पष्ट हो ही चुका है। जैन दर्शन छ द्रव्यो मे से केवल पुद्गल द्रव्य को एन्द्रिय अनुभूति का विषय मानता है। पुद्गल-द्रव्य के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अमूर्त हैं, ऐन्द्रिय अनुभूति के विषय नही बन सकते। पुद्गल-द्रव्य में भी परमाणु और कुछ एक सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय हैं। इस अर्थ मे हम यह कह सकते हैं कि विश्व के अधिकाश वास्तविक तत्त्वो का ज्ञान हम इन्द्रियो द्वारा नही कर सकते। किन्तु इसका अर्थ यह नही हो जाता कि हम इन्द्रियो द्वारा जिन पदार्थों को जानते है, वे सभी अवास्तविक हैं अथवा केवल आभास रूप है। अन्य दार्शनिको ने भी प्लुतो के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसका एक उदाहरण हमे रसेल के विचारो मे मिलता है। प्लुतो के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं—"यदि आभास वस्तुत दिखाई पडता है,तो वह अवस्तु नही है। अत वास्तविकता का ही अग है। यदि आभास वस्तुत दिखाई नही पडता तो हम क्यो इसके लिए सिर खपाए? परन्तु कदाचित् कोई कहेगा, 'आभास वस्तुत नही दीखता, किन्तु आभास रूप मे दिखाई पडता है।' तो यह भी ठीक नही है, क्योकि उसको हम पूछ सकते है, 'क्या वह वस्तुत आभास रूप से दिखाई पडता है अथवा केवल आभास रूप से आभास रूप दिखाई पडता है?' इस प्रकार चलते-चलते कहीं-न-कहीं तो उसे यह कहना पडेगा कि वह वस्तुत: दिखाई पडता है, चाहे वह आभास रूप मे दिखाई पडता हो। इसलिए वह स्वत ही वास्तविकता का अग बन जाता है। इस बात को तो स्वय प्लुतो भी अस्वीकार नही करता कि बहुत सारे बिछौने दिखाई पडते हैं, पर केवल 'एक बिछौना' वास्तविक है, जो कि ईश्वर द्वारा निर्मित है। परन्तु उसने इस बात के परिणामो के विषय मे तो सोचा ही नही होगा कि इसका तात्पर्य तो यही हो जाता है कि आभास भी बहुत सारे है, अत यह बहुलता भी वास्तविकता का ही अग हो जाती है। विश्व के कुछ एक तत्त्वो को दूसरो मे अधिक वास्तविक मानकर, किया जाने वाला विश्व-विभाजन का प्रयत्न सदा ही असफल रहेगा।"[2] रसेल द्वारा किया गया प्लुतो के प्रत्ययवाद का यह खण्डन वस्तुत तर्क पर आधारित है और सहज रूप से ही 'वास्तविकता के स्वरूप' के विषय मे एक नई दृष्टि देता है।

काण्ट के आदर्शवाद मे यह बताया गया कि वास्तविक तत्त्वो अथवा पदार्थों का अस्तित्व तो है, किन्तु हम जो कुछ भी इन्द्रियो के द्वारा जानते है,वह'वास्तविक'नही है। काण्ट का अभिप्राय है कि जब हम इन्द्रिय द्वारा किसी भी पदार्थ को ग्रहण करते हैं, तब हमारी ग्रहण-क्रिया के हस्तक्षेप के कारण अनुभूत पदार्थ वह नहीं होता जो मूलत: अस्तित्व मे था। अत. अनुभूति मे जो पदार्थ आया, वह तो केवल प्रपच (Phenomenon) अथवा आभास (Appearance) ही है; जो वास्तविक पदार्थ था (जिसको काण्ट ने अपने-आप मे-वस्तु (Thing-in-iteself) कहा है, उसकी अनुभूति हम इन्द्रियो के द्वारा कभी नही कर सकते, उसका अस्तित्व तो केवल अनुमान द्वारा माना जा सकता है; क्योकि ज्योंही हम उसे इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते हैं, त्यो ही वह मूल स्वरूप मे नही रह पाता।[3]

इस दृष्टि से देखा जाये तो काण्ट ने बाह्य विश्व अथवा भौतिक पदार्थों की वास्तविकता का निषेध नहीं किया

---

१ दी हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० १४३

२ वही, पृ० १५०-१५१

३ क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन, पृ० ३७ तथा देखें, दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी, पृ० २०६

है। 'अपने-आप में-वस्तु' का स्वीकार कर काण्ट का सिद्धान्त यद्यपि वास्तविकतावाद के निकट आ जाता है, फिर भी उसमें आदर्शवाद की ही प्रधानता रही है। यद्यपि इस आदर्शवाद में ज्ञाता के अतिरिक्त विश्व के अस्तित्व का निषेध नहीं किया गया है, फिर भी ज्ञाता की प्रधानता को अक्षुण्ण रखा गया है। इसलिए ऐन्द्रिय अनुभूति द्वारा ज्ञात पदार्थ प्रपंच अथवा आभास माना गया है।

अब, जैन दर्शन के दृष्टिकोण के साथ काण्ट के सिद्धान्त की तुलना की जाये, तो यहाँ तक तो दोनो सिद्धान्तो मे साम्य है कि अन्य पदार्थ ज्ञाता से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। जैन दर्शन ने पुद्गलास्तिकाय को स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष द्रव्य माना है। काण्ट ने 'अपने-आप मे-वस्तुओ' का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ मे—चाहे वह परमाणु के रूप में हो, चाहे परमाणुओं से बने स्कन्ध के रूप मे हो—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण नामक गुण रहते हैं। वस्तु की अपेक्षा अथवा वस्तु-निष्ठ होने के कारण ये गुण ज्ञाता से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। जब ज्ञाता किसी भी पुद्गल को इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करता है, तब ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण यदि वह वस्तु को मूल स्वरूप मे न भी जाने, तो भी इससे वस्तु का स्वरूप नहीं बदल जाता। उदाहरणार्थ—यह माना गया है कि प्रत्येक चक्षुग्राह्य पदार्थ अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध होता है। उसमे सभी वर्ण विद्यमान होते हैं। किन्तु जब हम उस पदार्थ को देखते है, तब यह आवश्यक नही होता कि उसमे रहे हुए सभी वर्ण हमे दिखाई दे। जैसे भ्रमर मे पाँचो ही वर्ण होते हैं, फिर भी हमे वह काला ही दिखाई देता है। यह ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा भ्रमर के सभी वर्णों का ज्ञान सम्भव हो सकता है। जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलि मे इस तथ्य को कहे तो निश्चय नय की दृष्टि मे तो भ्रमर पाँच वर्णों से युक्त है, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से भ्रमर काला है। काण्ट के सिद्धान्त का प्रपंच (Phenomenon) व्यवहार नय की दृष्टि से वस्तु-स्वरूप है, 'अपने-आप मे वस्तु' (Thing-in-iteself) के रूप मे पदार्थ का स्वरूप निश्चय नय की दृष्टि से है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी काण्ट और जैन दर्शन के 'वस्तु' और 'ज्ञाता' के स्वरूप के विषय मे तो मूलभूत मतभेद रह ही जाता है। जहाँ काण्ट की मान्यता के अनुसार पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कभी नही हो सकता, वहाँ जैन दर्शन इसको असम्भव नही मानता है। काण्ट के अनुसार ज्ञाता द्वारा ही अनुभूत वस्तु को रूप दिया जाता है; जबकि वस्तु के स्वरूप मे कोई परिवर्तन ज्ञाता के हस्तक्षेप के द्वारा होता है, ऐसा जैन दर्शन नहीं मानता। काण्ट के दर्शन मे ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ मे सर्वथा भेद माना गया है तथा ज्ञाता की प्रत्यय शक्ति को सर्वोपरि बताया गया है, वहाँ जैन दर्शन ज्ञात अथवा अनुभूत पदार्थ और ज्ञेय मे भेद नही मानता; हमे जो भिन्नता दिखाई देती है, वह हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण है, न कि वस्तु-निष्ठ गुणो के परिवर्तन के कारण। इसके अतिरिक्त ज्ञेय और ज्ञाता का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व माना गया है तथा ज्ञाता के हस्तक्षेप (विषय-ग्रहण) से ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप मे परिवर्तन नही होता, यह जैन दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है।

अनुभववाद और जैन दर्शन

आदर्शवाद का तीसरा रूप है—अनुभववाद (Empiricism)। लोक, बरकले, ह्यूम, विलियम जेम्स आदि दार्शनिक इस विचारधारा के प्रमुख प्रचारक हुए है। जैसे कि बरकले की विचारधारा के प्रतिपादन मे कहा जा चुका है, अनुभववाद ने आत्मा अथवा ज्ञाता के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की वास्तविकता को अस्वीकार किया गया है। अनुभववादी मानते हैं कि कोई भी पदार्थ जब तक हम उसको इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं करते, तब तक अस्तित्वहीन ही रहता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो पदार्थ हमारे अनुभव के विषय बनते हैं, उनके अतिरिक्त सभी पदार्थ अवास्तविक हैं। सामान्य ज्ञान और पारम्परिक विज्ञान इस विचारधारा को कभी मान्य नहीं रख सकता। क्योंकि हम जानते हैं कि विश्व मे बहुत सारे पदार्थ ऐसे हैं, जो किसी भी व्यक्ति की ऐन्द्रिय अनुभूति का विषय नहीं बनते। जैसे बर्ट्रेण्ड रसेल ने उदाहरण दिया है कि "रात्रि के समय में जब घोर अन्धकार होता है और मैं नींद लेता हूँ, तब मेरे शयनगृह में विद्यमान सारे उपकरण किसी

१ हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ६८२

की भी अनुभूति के विषय नही बनते।"[1] इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि उस समय वह सारे उपकरण अवास्तविक हो जाते हैं। इसी प्रकार का दूसरा दृष्टान्त जी० ई० मूर द्वारा दिया गया है, जिसमे यह बताया गया है कि "आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार तो जब ट्रेन स्टेशन मे होती है, तब तो उसके चक्र वास्तविक होते हैं और जब वह स्टेशन से दूर चली जाती है, जहाँ कि इसके चक्रो को देखने वाला कोई नही होता, तब वे अवास्तविक बन जाते हैं। मनुष्य की सामान्य बुद्धि भी यह कभी स्वीकार नही कर सकती कि जब हम चक्र को देखते है, तब वे एकाएक अस्तित्व मे आते है और जब उन्हे देखने वाला कोई नही होता, तब वे अस्तित्वहीन हो जाते हैं।"[2] इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये गए है। चन्द्र के पिछले भाग को हम कभी नही देख सकते। आदर्शवाद के अनुसार तो वह भी अवास्तविक हो जायेगा।[3] डा० सेम्युअल जॉन्सन ने बरकले के सिद्धान्त की व्यर्थता को प्रकट करने के लिए पास मे पड़े हुए पत्थर को लात मारकर बताया कि पत्थर वास्तविक पदार्थ है। रसेल ने अन्यत्र इसकी चर्चा करते हुए लिखा है, अनुभव क्या है ? यह जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अनुभूत होने वाली घटना और नहीं होने वाली घटना मे क्या अन्तर है। वर्षा की बूंदे जो हम देखते हैं अथवा स्पर्श द्वारा जिनका अनुभव हम करते है, वे तो 'अनुभूत' हैं और जो बूंदे जगल मे कही ऐसे स्थान मे गिरती हैं, जहाँ कोई उसे अनुभव करने वाला है ही नही, वे 'अननुभूत' हैं। इसका तात्पर्य यही होता है, कि अनुभव वहाँ ही हो सकता है, जहाँ जीवन है⋯ ।"[3] इस कथन के आधार पर अनुभववाद का खण्डन सहज रूप से हो सकता है, क्योंकि यदि 'अनुभूति' मे आने वाले पदार्थ ही वास्तविक हो, तब तो जिस स्थान मे जीवन्त प्राणी नही हैं, वहाँ तो कोई भी पदार्थ वास्तविक नही हो सकता। इस प्रकार के सिद्धान्त को सामान्य बुद्धि के आधार पर भी स्वीकार नही किया जा सकता।

जैन दर्शन की ज्ञान-मीमासा (epistemology) के अनुसार ऐसा कोई भी पदार्थ नही है, जो 'केवलज्ञानी'[4] के द्वारा न जाना जा सके। बरकले के अनुसार भी शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क मे जो पदार्थ अस्तित्व रखते हैं, वे चाहे किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत न हो, तो भी अस्तित्वमान हो जाते है। इस अर्थ मे देखा जाये तो विश्वस्थित सभी पदार्थ वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। किन्तु फिर भी बरकले और जैन दर्शन की विचारधारा मे मौलिक अन्तर रह जाता है। बरकले जहाँ शाश्वत आत्मा द्वारा अनुभूत होने के कारण ही बाह्य विश्व को अस्तित्वमान स्वीकार करता है, वहाँ जैन दर्शन विश्व के सभी द्रव्यो के अस्तित्व को वस्तु-सापेक्ष मानता है, ज्ञाता-सापेक्ष नही। बरकले का अभिमत है—ज्ञाता पदार्थों को जानता है अथवा उनका अनुभव करता है, इसलिए वे वास्तविक बनते है। जैन दर्शन प्रतिपादन करता है—द्रव्यो का अस्तित्व वास्तविक है, इसलिए वे ज्ञाता द्वारा जाने जाते है अथवा अनुभूत होते है।

वैज्ञानिकों का आदर्शवाद और जैन दर्शन

विज्ञान के सहज दार्शनिक स्वभाव के विषय मे यह कहा जाता है कि विज्ञान का एक सुनिश्चित दर्शन है। इसमे यही तात्पर्य है कि विज्ञान मनुष्य के ज्ञान की धारा होने के कारण 'दर्शन' मे अछूता नही रह सकता। किन्तु, वैज्ञानिको के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक धाराए विज्ञान का दर्शन है, ऐसा नही माना जा सकता। जैसे मार्गेनौ के शब्दो मे—वास्तविकता के विषय में वैज्ञानिको का भिन्न-भिन्न मत होना आश्चर्यजनक नही है।[5] इस अभिप्राय के आधार पर मार्गेनौ ने वैज्ञानिको को भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रकारो मे विभक्त किया है, जिनमे प्लान्क (Plank) और आईन्स्टीन को विवेचनात्मक वास्तविकतावादी (Critical realists), एडिग्टन और वाईलको सीमित आदर्शवादी (Moderate Idealists)

१ वेस्ले, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ६८२
२ वही, पृ० ४८१
३ वही, पृ० ४८१
४ 'केवलज्ञान' आत्मा का सहज गुण माना गया है, जो कर्मावरण के दूर होने पर प्रकट हो जाता है। 'केवलज्ञान' का अर्थ है—समस्त द्रव्य और पर्यायों का साक्षात्कार। इस ज्ञान में आत्मा को किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती है।
५ दि नेचर ऑफ फिजिकल रीयालिटी, पृ० १२

तथा बोहर और हाईसनबर्ग को विधानवादी अथवा प्रत्यक्षवादी (Positivists) बताये हैं। मार्गेनो तो यहां तक मानते हैं कि नितान्त आत्मवादी (Solipsist) भी कुछेक सीमाओ मे सफल वैज्ञानिक बन सकता है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक दर्शन और वैज्ञानिकों का दर्शन एक ही नही है। एडिंग्टन ने विज्ञान के दर्शन का जिस रूप में प्रतिपादन किया है, उसे हम एडिंग्टन का दर्शन कह सकते हैं, परन्तु विज्ञान का दर्शन नही कह सकते। इसी प्रकार अन्य वैज्ञानिको के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधाराएं, उन वैज्ञानिको के दर्शन हैं, न कि 'विज्ञान का दर्शन'।

आदर्शवादी वैज्ञानिको मे मुख्यतः एडिंग्टन, वाईल, सर जेम्स जीन्स जैसे वैज्ञानिक हैं। एडिंग्टन ने यह तो स्वीकार किया है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व है, किन्तु भौतिक विज्ञान के द्वारा हम विश्व का जो ज्ञान करते हैं, वह ज्ञाता-सापेक्ष है। एडिंग्टन की विचारधारा मे ज्ञाता अथवा चैतन्य को प्रधानता दी गई है।[2] विज्ञान (विशेषत: भौतिक विज्ञान) विश्व के विषय में निरपेक्ष सत्य को अथवा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को न जानना चाहता है और न जान सकता है। वैज्ञानिक पद्धतियो के द्वारा हम जो ज्ञान करते हैं, वह पूर्णत ज्ञाता-सापेक्ष है।[3] इसका कारण यही है कि विज्ञान चैतन्य और बाह्य विश्व की सयुक्त अनुभूति से सम्बन्धित है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि भौतिक-विश्व के पदार्थों का अस्तित्व चैतन्य की ज्ञान पद्धति के द्वारा ही व्यक्त होता है और विज्ञान का सम्बन्ध इसके साथ होने के कारण विज्ञान के द्वारा निर्मित नियम अथवा सिद्धान्त ज्ञाता-सापेक्ष ही है।

एडिंग्टन ने अपनी विचारधारा मे वास्तविकतावादियों का स्पष्ट विरोध किया है। वास्तविकतावादियो का अभिमत है कि भौतिक पदार्थ का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष है और उसमे रहे हुए स्पर्श, रस आदि गुण भी वस्तु-सापेक्ष हैं। एडिंग्टन कहते हैं कि भौतिक पदार्थों मे वास्तविक गुण (रस आदि) होते हैं, यह समझ से परे की बात हो जाती है। उदाहरण के लिए वे 'सेब' को लेते है और कहते हैं कि[4] सेब का अस्तित्व ज्ञाता के मस्तिष्क के बाहर स्वतन्त्र है, इस बात का मैं विरोध नही करता; और न मैं इस बात का भी विरोध करता हूँ कि 'रस' का वास्तविक अस्तित्व है। मेरा विरोध तो इस बात से है कि दार्शनिक लोग वास्तविक सेब के भीतर ही वास्तविक रस की कल्पना करते हैं। दूसरे स्थान मे वास्तविकतावादी विचारधारा को उद्धृत करके वे कहते हैं कि इस प्रकार की विचारधारा बीसवी सदी के दर्शन का आधार कैसे बन सकती है, यह मेरी समझ मे नही आता।[5]

जैन दर्शन के साथ एडिंग्टन के सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद की तुलना करने मे विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रहती है। यहां केवल एक-दो पहलुओं को लेकर ही हमे सन्तोष करना पड़ेगा। जैन दर्शन यह तो स्वीकार करता ही है कि एन्द्रिय ज्ञान (जिसमे भौतिक विज्ञान भी समाहित है) अप्रत्यक्ष है और इसलिए ज्ञाता (आत्मा) और ज्ञेय (पदार्थ) का सीधा सम्बन्ध इसमें नही बन पाता। इसमें सदा इन्द्रियों और बाह्य पौद्गलिक साधनो की अपेक्षा रहती है और इस प्रकार इससे होने वाला ज्ञान भी इनसे प्रभावित होता रहता है। किन्तु जहाँ तक पदार्थ के वस्तु-स्वरूप का या वास्तविक स्वरूप का सम्बन्ध है, जैन दर्शन वास्तविकतावादी है। वह निश्चयपूर्वक यह मानता है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ आत्मा की तरह ही स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है। प्रत्येक परमाणु मे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। ये गुण परमाणु के वस्तु-सापेक्ष गुण हैं और ज्ञाता की अपेक्षा बिना ये सदा परमाणु मे रहते है। इस प्रकार 'सेब' जिन परमाणुओ का बना है, उनमे से प्रत्येक परमाणु में कोई-न-कोई 'रस' तो होता ही है। इन सब परमाणुओ के समूहरूप 'सेब' का रस भी वास्तविक अस्तित्व रखता

---

१ दी नेचर ऑफ फिजिकल रीयालिटी, पृ० १२
नितान्त आत्मवाद (solipsism) में सामान्यतया 'स्व' (आत्मा) के अतिरिक्त समस्त विश्व की वास्तविकता का निषेध किया गया है। ज्ञाता-सापेक्ष आदर्शवाद का एकान्तिक रूप 'नितान्त आत्मवाद' है।

२ देखें, दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साइन्स, पृ० १८५, १८६.

३ देखें, वही, पृ० १८४

४ दी न्यू पाथ वेज इन साइन्स, पृ० २८१

५ दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साइन्स, पृ० २११, २१२

है। इससे आगे जैन दर्शन यह भी मानता है कि अतीन्द्रिय ज्ञानकी सहायता से 'सेब' के इस वस्तु-सापेक्ष रस का ज्ञान मनुष्य कर सकता है। हाँ, ऐन्द्रिय ज्ञान की सहायता से हम इसको जानने मे असमर्थ हो सकते हैं और इन्द्रिय आदि बाह्य साधनों के हस्तक्षेप के कारण हमारी अनुभूति मे आनेवाला 'रस' वस्तु-सापेक्ष रस से भिन्न भी हो सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वस्तु-सापेक्ष रस का कोई अस्तित्व ही नही है।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी है—वह आत्मा का स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व स्वीकार करता है और पुद्गल का भी। एक पुद्गल नाना आत्माओ (ज्ञाताओ) की अनुभूति का—ज्ञान का विषय बन सकता है, नाना पुद्गल एक आत्मा की अनुभूति के—ज्ञान के विषय बन सकते हैं। एडिंग्टन केवल आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सापेक्ष मानते हैं, पर एक ही पदार्थ का नाना ज्ञाताओं के द्वारा अनुभव, किस प्रकार होता है, यह उनके समझ मे नही आता। किन्तु जब प्रत्यक्ष रूप मे हमे यह अनुभव होता है कि एक ही पदार्थ अनेक ज्ञाताओ के ज्ञान का विषय बन सकता है, तो फिर पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व के विषय मे कोई विरोध ही नही रह जाता।

वाईल, सर जेम्स जीन्स आदि वैज्ञानिको ने अपने-अपने विचारो के आधार पर आदर्शवाद की पुष्टि का प्रयत्न किया है। जैन दर्शन की दृष्टि मे तो यह एकान्तवाद किसी भी रूप मे सत्य नही हो सकता कि केवल आत्मा ही एकमात्र स्वतन्त्र वास्तविकता है, शेष विश्व केवल इसी का ही सर्जन और कल्पना रूप है।

वैज्ञानिकों का वास्तविकतावाद और जैन दर्शन

जैन दर्शन वास्तविकतावादी है। अत वास्त विकतावादी वैज्ञानिको के साथ इसकी विचारधारा सहज रूप से सामजस्य रखती है। भौतिकवाद को छोडकर दूसरी विचारधाराए, जो आत्मा और भौतिक पदार्थ—दोनो के स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करती हैं, जैन दर्शन की विचारधारा के बहुत निकट हैं। उदाहरणस्वरूप, मार्गेनौ की विचारधारा के अनुसार वे सभी भौतिक पदार्थ वास्तविक हैं,जो हमारी सामान्य अनुभूति मे आते हैं, क्योकि वे सभी प्रमाणित कन्स्ट्रक्ट्स (Valid Constructs) हैं। इसके अतिरिक्त मार्गेनौ आकाश को भी वास्तविक मानते हैं। इतना ही नही,इससे आगे वे अभौतिक वास्तविकताओ की भी चर्चा करते हैं और यही धारणा बनाते है कि ऐसे तत्त्वो का भी वास्तविक अस्तित्व होता है।[1] इस प्रकार हाईसनबर्ग, रमेल, बोहर आदि के विचारो मे जैन दर्शन के वास्तविकवाद के साथ बहुत सदृश तत्त्व उपलब्ध होते हैं।

भौतिकवाद 'वास्तविकतावाद' का एक रूप है, जो एकान्तिक विचारधारा के रूप मे केवल भौतिक पदार्थ का ही वास्तविक अस्तित्व मानता है। सोवियत भौतिक वैज्ञानिक इस वाद के प्रबल पोषक हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते जैन दर्शन यद्यपि भौतिक पदार्थ (पुद्गल) के अस्तित्व को वास्तविक मानता है, फिर भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं करता। इस प्रकार, जैन दर्शन का वास्तविकतावाद अनेकान्तिक है, जबकि भौतिकवाद एकान्तिक है। 'आत्मा' का अस्तित्व ज्ञान-मैमासिक पद्धतियो द्वारा स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो सकता है और आदर्शवादी वैज्ञानिको का यही निरूपण है। जैन दर्शन मे भी आत्मा के अस्तित्व को तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है। इस दृष्टि से भौतिक-वाद के एकान्तिक दृष्टिकोण का खण्डन हो जाता है।

उपसंहार

जैन दर्शन का अनेकान्तिक वास्तविकतावाद तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र मे वास्तविकता के स्वरूप के विषय मे एक अनोखा सिद्धान्त उपस्थित करता है। आत्मा और पुद्गल, दोनो तत्त्वो के स्वरूप-विश्लेषण द्वारा जैन दर्शन आदर्शवादियों को एव भौतिकवादियों को एक चुनौती देता है। इसके अतिरिक्त षड्-द्रव्य-मीमासा, द्रव्य-गुण-पर्याय, आदि तात्त्विक सिद्धान्त जैन दर्शन की वे मौलिक देन हैं, जो आज के युग मे भी तत्त्व-मीमासा के क्षेत्र मे अप्रतिम और अनुपम हैं।

---

१ नेचर ऑफ फिजिकल रीयालिटी, पृ० ४५८

कर्म बन्ध निबन्धन भूता क्रिया

श्री मोहनलाल बांठिया, बी० कॉम०

जैन दर्शन कर्मवादी है। आत्मवाद और कर्मवाद जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त हैं। उसका कथन है कि आत्मा है, तथा वह अनादिकाल से कर्म-पुद्गलों (Karmic matter) के बन्धन मे लिप्त है। अनेक जीवात्माओ ने अनन्त अतीत मे इस कर्म-बन्धन से सर्वथा छुटकारा पाया है तथा अनेक अनन्त अनागत काल मे पायेगी। अवशेष आत्माएं कर्म-पुद्गलो से देश (आंशिक) छुटकारा पाती रहती हैं और अपने नाना विध कार्यों और भावनाओं से नवीन कर्म-पुद्गलो मे लिप्त होती रहती है। आत्मा के साथ कर्म का बन्धन कैसे होता है, इसका जैन दर्शन में विशद और वैज्ञानिक विश्लेषण है। कर्मवाद का ऐसा वास्तविक और बृहद् विवेचन अन्य किसी दर्शन में नही है।

जीवात्मा के विभिन्न कार्यों और भावनाओ के द्वारा नाना प्रकार से कर्मों का आत्म-प्रदेशों के साथ बन्धन होता रहता है। इन कार्यों और भावनाओ के द्वारा जो विभिन्न प्रकार से कर्म-बन्धन होता है, उसे जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली मे 'क्रिया लगना' कहते हैं। क्रिया शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—कर्म का बन्धन होना। **कर्म बन्ध निबन्धनभूता सा क्रिया**—जिससे आत्मा के साथ कर्म का बन्धन हो, वह क्रियाए भी है।

जैन आगमो में क्रिया की विविधता का बडा रोचक और तात्त्विक वर्णन है। मनुष्य के जीव के विभिन्न कार्यों का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से विवेचन करके बतलाया गया है—किस कार्य से किस प्रकार की और कैसी—हलकी, भारी, गाढी क्रिया लगती है। मनुष्य के एक ही कार्य से कार्य की विभिन्न अपेक्षाओ—दशाओं के निमित्त से विभिन्न प्रकार की क्रिया लग सकती है। एक ही समय मे कार्य की गतिविधियो से अधिक प्रकार की क्रियाए भी लग सकती है।

अप्रत्याख्यानी क्रिया

हिंसात्मक कार्यों के करने का, हिंसात्मक अधिकरणो (शस्त्रो) के ग्रहण-उपयोग करने का जब तक जीवात्मा त्याग नहीं करता, तब तक इन कार्यों और अधिकरणों की अपेक्षा उसके क्रिया लगती रहती है, चाहे वह हिंसात्मक कार्य करे या न करे, हिंसात्मक शस्त्रों का ग्रहण-उपयोग करे या न करे। उस क्रिया का नाम **अप्रत्याख्यानी क्रिया** है। यह क्रिया शारीरिक या मानसिक हिंसक कार्यों से नही लगती है, न अधिकरणों (शस्त्रो) के उपयोग से लगती है, बल्कि इन कार्यों के करने और शस्त्रों के ग्रहणोपयोग करने की अन्तर्मन की असयतता से लगती है; इस असयतता की भावना से अवचेतन मन का स्पन्दन (आन्दोलन) होता है और इस स्पन्दन से कर्म-रज आत्मा से चिपकती है।

अप्रत्याख्यानी क्रिया एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। आधुनिक विज्ञान की भाषा मे इसका सम्बन्ध अवचेतन मन (Subconscious mind) से है। जीवात्मा हिंसा नहीं करने का तथा हिंसात्मक अधिकरणो के संग्रह-उपयोग नहीं करने का जब तक निश्चय—त्याग—प्रतिज्ञा नहीं करता, तब तक उसके अवचेतन मन में एक भावना रूप लौ जलती रहती है। किसी काम को करना या न करना, यह चेतन मन का कार्य है। जब चेतन मन किसी काम के करने का विचार भी न कर रहा हो, अवचेतन मन मे उस काम के करने की असंयतता की भावना सदा विद्यमान रहती है। इस आकांक्षा की लौ से अप्रत्याख्यानी क्रिया लगती रहती है। यह लौ अत्यागमयी जीवात्मा के अवचेतन मन मे सदा एक मात्रा में और निरन्तर जलती रहती है। यह लौ सभी अत्यागमय जीवात्मा के एक समान होती है। अतः अप्रत्याख्यानी क्रिया सर्व अत्यागमय जीवों के समान रूप से लगती है।

सर्व जीवात्माओं की समानता (Equality) का अप्रत्याख्यानी क्रिया जैन दर्शन में एक ज्वलन्त उदाहरण है।

सर्व जीव समान हैं, यह जैन दर्शन का बुलन्द नारा है। कोई ऊँच, कोई नीच, कोई छोटा, कोई बड़ा नहीं है। आत्मा आत्मा समान है। अप्रत्याख्यानी क्रिया सर्व अत्यागमय संसारी जीवो के समान रूप से लगती है। चाहे सेठ हो या चोर हो, धनी हो या गरीब हो, कृपण हो या दानी हो, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो—समाज के किसी पद (Status) का हो, उसके अप्रत्याख्यानी क्रिया एक समान लगती है।[1] जीव के छोटे-बडे देह का इस अप्रत्याख्यानी क्रिया पर कोई प्रभाव नही पडता है। हाथी जैसे बृहद् शरीरी, कुन्थु-चीटी-किटभक्षु जैसे क्षुद्र देही जीवो के भी अप्रत्याख्यानी क्रिया सम्मान ही लगती है।[2] मनुष्य, पशु, कीटाणु, फल, फूल, पत्र, किसलय आदि सर्व अत्यागमय जीवो के यह क्रिया समान भाव से लगती है। जैन दर्शन मे मनुष्यात्मा, पश्वात्मा, किटाण्वात्मा या अन्य जीवात्मा, आत्म तत्त्व की अपेक्षा समान मानी गयी है। इस समानता को अप्रत्याख्यानी क्रिया की समानता समर्थन देती है।

कायिकी आदि क्रिया-पञ्चक

जैन दार्शनिको का कथन है कि हर हिसक (सावद्य) कार्य से कर्म का बन्धन होता है, अत उन्होने हर हिंसक कार्य को सूक्ष्मता से विश्लेषणपूर्वक देखा और उसको समझा। उन्होने अपने निरीक्षण से पाया कि हिंसक कार्य की पाँच अवस्थाए होती है।

१ काया से हिसा के लिए उद्यत होना—हिसा के लिए काया का सचालन करना,

२ हिसा के लिए शस्त्र का निर्माण, ग्रहण-उपयोग करना,

३ हिसा के परिणाम (भावना) का होना,

४ जीव को दु ख—कष्ट पहुँचाना,

५ जीव का प्राण-हनन करना।

जब कोई मनुष्य किसी जीव के वध करने का विचार करता है तो वह शरीर मे इस काम को करने के लिए उद्यत होता है, अस्त्र-शस्त्रादि वध के उपकरणो को सम्भालता है, निरीक्षण करता है, आवश्यकतानुसार धार तीक्ष्ण करता है या सफाई आदि करता है, मन को हिसा के विचारो से ओत-प्रोत करता है। इस सम्पूर्ण कार्य को जैन दर्शन मे पाँच विभागो मे बाँटा गया है और तदनुसार हिसक कार्य के लिए पाँच प्रकार की क्रिया बतलाई गई है और इन पाँचो क्रियाओ का एक दल (Group) 'पञ्चक' कहा गया है। प्रत्येक हिसा कार्य के लिए जीव को इस पञ्चक की तीन या चार या पाँचो क्रियाए, हिसा की अवस्था के अनुसार लगती है। वे पाँच क्रियाए इस प्रकार हैं—**१ कायिकी, २. आधिकरणिकी, ३. प्राद्वेषिकी, ४. पारितापनिकी, ५. प्राणातिपातिकी।**

ये पाँच क्रियाए निश्चित शृखला मे बतलाई गई हैं। यदि तीन क्रियाएं लगती है तो प्रथम तीन लगती हैं, यदि चार लगती हैं, तो प्रथम चार लगती हैं। कोई तीन या कोई चार नही लगती। निश्चित क्रम के अनुसार ही लगती हैं। कम-से-कम तीन क्रियाए अवश्य लगती हैं।

कायिकी—हिसा के लिए राग-द्वेष युक्त काया के उद्यम के लिए जो क्रिया लगे, वह कायिकी क्रिया है।

आधिकरणिकी—हिसा के उपकरणो के व्यवहार से जो क्रिया लगे, वह आधिकारणिकी क्रिया कहलाती है।

प्राद्वेषिकी—हिसा के परिणाम (भाव) होने से राग-द्वेष की वृद्धि के कारण जो क्रिया लगती है, वह प्राद्वेषिकी क्रिया है।

पारितापनिकी—अन्य जीव को दु ख, कष्ट पहुँचाने से जो क्रिया लगे, वह पारितापनिकी क्रिया है।

प्राणातिपातिकी—अन्य जीव के प्राण-हनन करने से जो क्रिया लगे, वह प्राणातिपातिकी क्रिया है।

यदि कोई किसी जीव की हिंसा करने की व्यवस्था करता है, तब तक प्रथम तीन क्रियाएं लगती हैं; व्यवस्था

---

१ भगवती सूत्र, १।६।३०१

२ वही, ७।८।६

उपरान्त जीव को जब दुःख—कष्ट पहुँचाता है, तब प्रथम चार क्रियाएं लगती हैं और जब उस जीव को मार डालता है, तब पाँचो क्रियाए लगती हैं।

कब कितनी क्रियाएं लगती हैं, इसको जैन-आगमों में अनेक हृदयग्राही उदाहरणों से समझाया गया है। उनमे से तीन उदाहरण वध के द्वारा व्यवहृत तीन प्रकार के अस्त्रों—जाल, अग्नि और तीर-धनुष को लेकर हैं।

(क) बहेलिया, शिकारी, शिकार संकल्पी, मृगादि पशु मारने को, वध करने को उद्यम मनुष्य, चाहे उसको किसी नाम से पुकारें कच्छ मे, द्रह मे, नदी के किनारे पर, गहन वन मे,गहन वन के एक प्रान्त मे,पर्वत मे,पर्वत के एक प्रान्त मे, सामान्य वन मे, किसी भी स्थान में जाकर—पशु-प्राणियो को देखकर उनको मारने के विचार से गड्ढा खोदे, जाल रचे तो अवस्थाविशेष की अपेक्षा उसे दो, तीन, चार या पाँच क्रियाए लगती हैं।

१ वह पुरुष जब तक गड्ढा खोदता है, जाल रचता है, लेकिन पशु को बाँधता नही है, मारता नही है, तब तक उसे प्रथम तीन क्रियाए लगती हैं।

२ जब तक पशु को पकडने को उद्यत है और उसको बाँध लेता है, लेकिन जान से मारता नही है, तब तक प्रथम चार क्रियाए लगती हैं।

३ जब उक्त शिकार के लिए उद्यत और बधक पुरुष पशु के प्राण-हनन करता है, तब उसे पाँचो क्रियाए होती हैं और वह पाँचो क्रियाओ से स्पृष्ट है।

(ख) उपरोक्त बहेलिया आदि नामांकित मनुष्य उपरोक्त या अन्य किसी स्थान मे जाकर सूखी घास एकत्रित करके, उसमे आग लगा कर मृगादि पशुओं को मारता है, तो उस मनुष्य के तीन, चार या पाँच क्रियाए अवस्थाविशेष से लगती हैं।

१ घास एकत्रित करने तक की प्रथम तीन क्रियाए।

२ तदुपरान्त अग्नि जलाने तक की चार क्रियाए।

३ आगी लगाने के बाद जलना आरम्भ होने से पाँच क्रियाए लगने लगती हैं।

(ग) उपरोक्त मृगादि शिकार को उद्यत पुरुष तीर-धनुष से सज्जित हो उपरोक्त या अन्य किसी स्थान मे जाकर मृगादि पशुओ को मारने के लिए बाण छोडता है, तो उस पुरुष को अवस्थाविशेष से तीन, चार या पाँच क्रियाए लगती हैं।

१ बाण धनुष से छोडने पर धनुष से निकल कर मृगादि पशुओ को बींधता नहीं, तब तक तीन क्रियाए।

२ बाण जब से पशुओ को बीधता है, किन्तु उनके प्राण-हनन नहीं होते, तब तक चार क्रियाए।

३ निक्षिप्त तीर पशु को बेधकर उसके प्राण विनष्ट कर देता है, तब पाँच क्रियाए लगती है।[1]

भारतीय दण्ड-विधान के अनुसार यदि कोई मनुष्य अन्य किसी मनुष्य को गुरुतर रूप से आहत करे और वह आहत व्यक्ति एक मास के अन्दर मर जाये तो आघातक व्यक्ति को हत्या का दायी माना जाता है। जैन मनीषियो का इसमे मतभेद है। वे कहते हैं कि मरने वाला आहत होने के बाद छः मास के अन्दर मर जाये तो आघातक को पाँचों क्रियाएं लगती हैं, वह हत्या का अपराधी है; लेकिन यदि आहत व्यक्ति छ मास के बाद मरे तो आघातक प्राणातिपात का दोषी नहीं है और उसको चार क्रियाए ही लगती है।[2]

आरम्भिकी आदि क्रिया-पञ्चक

आरम्भिकी, पारिग्राहिकी, माया प्रत्यया, अप्रत्याख्यानी और मिथ्या दर्शन प्रत्यय—इन पाँच क्रियाओ का भी एक दल (Group) है। ये जीव के सामान्य जीवन से सम्बन्धित है। प्रत्येक जीव के चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो, दानव

---

१ भगवती सूत्र, १।८।२६४, २६६, २६८

२ वही, १।८।२७० का भावार्थ

हो, पक्षी हो, प्राणी हो, भूत हो या सत्त्व हो—जीवन की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं से, कार्य-कलापों से इन क्रियाओं का सम्बन्ध है। जीवन की सामान्य-से-सामान्य, विशेष-से-विशेष सभी घटनाओं से इनका सम्बन्ध है। ये क्रियाएं जीव की प्रतिक्षण की भावनाओं,अवस्थाओं,घटनाओं से लगती हैं। ये क्रियाएं किसी विशिष्ट स्थिर-शृंखला (fixed order) में नहीं हैं। जीव की अवस्था, घटना की परिस्थिति के अनुसार कभी एक, कभी दो, कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच और किसी जीव विशिष्ट को बिल्कुल नही लगती हैं। स्थिर-शृंखला नही होते हुए भी विशृंखला (disorder) नहीं है। परस्पर में एक कड़ी हैं। जहाँ आरम्भिकी लगती है, वहाँ माया प्रत्यया निश्चय लगती है। बाकी तीन लग भी सकती हैं, नही भी लग सकती हैं। जहाँ पारिग्राहिकी लगती है, वहाँ आरम्भिकी और माया प्रत्यया निश्चय लगती है, बाकी दोनों की भजना (optional) है। जहाँ माया प्रत्यया लगती है, वहाँ आरम्भिकी, पारिग्राहिकी और माया प्रत्यया निश्चय लगती है और अवशेष की भजना है। जहाँ मिथ्यादर्शन प्रत्यया लगती है, वहाँ बाकी चार अवश्य लगती हैं।[1]

इस पचक की अपेक्षा सब मनुष्य समान क्रिया वाले नही होते, किन्तु हिसक-अहिंसक, सयमी-असंयमी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा-भेद होते हैं।[2] सम्यग्दृष्टि, अहिसक, वीतराग (राग-द्वेष से सर्वथा रहित) सयमी मनुष्य को इस पचक की कोई क्रिया नही लगती है।

जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि अप्रमादी है, किन्तु सराग (मोह सहित) सयमी है, उसको केवल माया प्रत्यया क्रिया लगती है। जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि, सराग (मोह सहित) सयमी, लेकिन अहिंसकवृत्ति मे यदा-कदा प्रमादी है, उसे आरम्भिकी और माया प्रत्यया यह दो क्रियाए लगती हैं। जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि है, पर आशिक सयत, आशिक-असंयत (सयता-संयत) है, उसके प्रथम तीन क्रियाए अवश्य लगती हैं। जो मनुष्य मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्मिथ्यादृष्टि है उसको पाँचों क्रियाए लगती हैं।

इस क्रिया पचक के अगणित उदाहरण हो सकते हैं। इस लेख मे मनुष्य के व्यापारिक जीवन सम्बन्धी तीन उदाहरण भगवती सूत्र से उद्धृत किये जाते है—

१ किसी व्यापारी का माल गोदाम से चोर चोरी कर के ले गये और और व्यापारी ने उसके लिए थाने मे फरियाद की, स्वय भी खोज करने लगे, खोज जारी रखने के समय उस व्यापारी के या तो प्रथम चार क्रियाए तीव्रता से लगें और यदि व्यापारी मिथ्यादृष्टि हो, तो पाचो लगे।

यदि सयोग मे चोरी हुआ माल वापस मिल जाये, तो क्रियाए ह्रस्वता से लगती है।

यदि सयोगवश चोरी हुआ माल सर्व प्रयत्न के बावजूद न मिले और व्यापारी आशारहित होकर-खोज खबर बद कर दे, तो क्रियाओ का लगना बन्द नही होता, किन्तु उनमे ह्रस्वता आ जाती है।[3]

२ विक्रेता व्यापारी क्रेता व्यापारी को माल भविष्य मे देने के (foreword delivary) हिसाब से बेचता है और बयाने (advance) के रूप मे लेता है तो—

(क) माल जब तक विक्रेता के स्थान से क्रेता के जिम्मे न चला जाये, तब तक—१ विक्रेता को चार या पाँच क्रियाए लगती हैं और २ क्रेता को भी चार या पाँच क्रियाए लगती हैं, पर विक्रेता की अपेक्षा ह्रस्व।

(ख) विक्रेता व्यापारी क्रेता को यथासमय माल डिलीवरी दे दे,तब—१. क्रेता को चार या पाच क्रियाएं लगती हैं और २ विक्रेता को भी चार या पाच क्रियाए लगती हैं, पर क्रेता की अपेक्षा ह्रस्व। यहां क्रिया लगना आपेक्षिक है और माल की अपेक्षा से है।[4]

३ विक्रेता व्यापारी ने माल उधार बेचा और माल यथासमय डिलीवरी दे दिया, पर माल का मोल (धन)

---

१ प्रज्ञापना सूत्र, २२।१२
२ भगवती सूत्र, १।२।६४-६५
३ वही, ५।६।५
४ वही, ५।६।५

न मिले तब तक १. विक्रेता व्यापारी को (धन न मिलने पर भी) धन की अपेक्षा क्रिया लगती है, किन्तु ह्रस्व भाव से। २. क्रेता जब तक मोल नहीं देता है, तब तक क्रेता को मोटी क्रिया लगती है।

क्रेता व्यापारी ने माल खरीद कर, माल डिलीवरी लेकर यथा समय माल मोल विक्रेता को दे दिया, किन्तु फिर भी क्रेता को मोल के धन की अपेक्षा क्रिया लगती है। पर ह्रस्व भाव से। विक्रेता को धन की प्राप्ति के बाद धन की अपेक्षा मोटी क्रिया लगती है।[१]

१ भगवती सूत्र, ५।६।५ के भाव से।

भाषा : एक तात्त्विक विवेचन

मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं)

अपनी भावना को प्रकट करने का स्पष्ट साधन है—भाषा। भाषा वह फसल है, जो एकमात्र आत्मा रूपी क्षेत्र मे ही पैदा होती है। जैसी आत्मा होगी, वैसी ही भाषा की फसल तैयार होगी। भाषा का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि जीव-विज्ञान का। जैन आगम तो जीव की भाँति भाषा को भी अनादिकालीन मानता है। इनके प्रकार में अन्तर अवश्य पडा है और पडता रहेगा। भाषा आखिर अपने-अपने युग के निर्धारित सकेत ही तो है, जो समयान्तर से तथा क्षेत्रान्तर से बदलते रहते हैं। फिर भी भाषा के उन सकेतात्मक शब्दो का अर्थ अपने-अपने समय मे निर्णयात्मक रहता है। यदि ऐसा न हो, तो भावों की अभिव्यक्ति भाषा के द्वारा हो ही नही सकती और आगमो मे कहा है भाषा निर्णयात्मक बोध कराने वाली है।[1]

यह एक आत्मा की विशेष प्रक्रिया का फल है। आत्मा जब बोलने की ओर प्रवृत्त होती है, तब कही भाषा की उत्पत्ति होती है। भाषा सजीव है या निर्जीव ? रूपी है या अरूपी ? उसके फैलाव की क्या प्रक्रिया है ? आदि अनेक विषयों का विशद विवेचन आगमो मे मिलता है।

भाषा का स्वरूप

प्रश्न—भगवन ! भाषा आत्मा है ? या आत्मा से पृथक् कोई दूसरा तत्त्व है ?

उत्तर—गौतम ! भाषा आत्मा नही है, आत्मा से अन्य पदार्थ है।

प्रश्न—भगवन् ! भाषा रूपी पदार्थ है, या अरूपी पदार्थ ?

उत्तर—गौतम ! भाषा रूपी पदार्थ है, अरूपी नही है। भाषा हमे सुनाई देती है। यदि अरूपी होती तो सुनाई कैसे देती ? आवाज रूपी पदार्थ की ही होती है।

प्रश्न—भगवन् ! भाषा सचित्त है या अचित्त तथा सजीव है अथवा निर्जीव ?

उत्तर—गौतम ! भाषा अचित्त है, निर्जीव है। भाषा आत्मा से पृथक् पुद्गल वर्गणा मात्र है।

प्रश्न—भगवन् ! भाषा जीवो के होती है, अथवा अजीवो के ?

उत्तर—गौतम ? भाषा जीवो के होती है, अजीवो के नही होती। यद्यपि भाषा स्वय अजीव है, किन्तु भाषा के रूप मे उसकी सकलना जीवो के पुरुषार्थ से ही होती है। जीवो के पुरुषार्थ से पहले भाषा नाम का कोई तत्त्व नही था। केवल तद्योग पुद्गल के रूप मे समूचे लोक में बिखरे रहते हैं। ज्यो ही जीवो का पुरुषार्थ हुआ, वे पुद्गल भाषा के रूप में सगठित हो जाते हैं। शब्द तो अजीव के भी होता है। दो स्थूल पुद्गल स्कन्ध, जब एक दूसरे से टकराते हैं, तब शब्द होता है। किन्तु भाषा नही, भाषा केवल वह ही कही जाती है, जो तालू, ओष्ठ आदि आठ स्थानों मे से किसी भी स्थान से निकली हुई हो और भाषा पर्याप्ति के द्वारा गृहीत भाषा वर्गणा के पुद्गल हो। ये स्थान तथा भाषा पर्याप्ति जीव के ही होती है, अजीव के नही।

प्रश्न—भगवन् ! बोलने से पहले भाषा कही जाती है, अथवा बोलते हुए को भाषा कही जाती है ? या फिर

1 गोयमा ! मण्णामीति ओहारिणी भाषा—अभिधान राजेन्द्र कोश

बोलने के बाद में भाषा कही जाती है।

उत्तर—गौतम ! बोलने से पूर्व भाषा नहीं कही जाती। बोलने के बाद में भी वह भाषा नहीं कहलाती। केवल बोलते समय में ही भाषा कहलाती है। उत्पन्न होने से पहले तो वे केवल असंगृहीत पुद्गल मात्र हैं। जब तक भाषा के योग्य पुद्गल एक स्थान पर व्यवस्थित रूप से भाषा पर्याप्ति के द्वारा संगृहीत नहीं हो जाते, तब तक वे केवल पुद्गल ही कहलाते हैं। इससे अधिक उन पुद्गलों को हम कुछ कहें तो द्रव्य भाषा कह सकते हैं। किन्तु फलितार्थ में वे पुद्गल ही हैं। उन्हें भाषा नहीं कहा जा सकता।

बोलने के बाद भी हम उन्हें भाषा नहीं कह सकते। जिन पुद्गलों को भाषा पर्याप्ति द्वारा ग्रहण करके आत्मा विसर्जन कर देती है, वे पुद्गल कुछ समय पर्यन्त उसी भाषा के रूप में वायुमंडल में मँडराते रहते हैं। फिर भी हम उन्हें भाषा नही कह सकते। भाषा तो केवल वर्तमान में ही है। जिस समय में व्यक्ति बोलता है, उसी समय मे उसे भाषा कहा जाता है, यह नैश्चयिक कथन है। व्यवहार में बोलने के बाद कुछ समय तक हमें जो सुनाई देता है, उसे हम भाषा ही कहेंगे।[1]

भाषा वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण शरीर योग से होता है तथा विसर्जन वचन योग से होता है। पाँच शरीर में से केवल तीन शरीर से ही ग्रहण होता है। ग्रहण करने में भाषा पर्याप्ति की अनिवार्यता मानी गई है, और पर्याप्तियाँ, औदारिक, वैक्रियक तथा आहारक शरीर में ही सक्रिय बनती हैं। कार्मण तथा तेजस् शरीर मे पर्याप्तियाँ नही होतीं, अतः तीन शरीर से ही भाषा वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं।[2]

ग्रहण करने की प्रक्रिया

भाषा पर्याप्ति के द्वारा आत्मा भाषा वर्गणा के पुद्गल ग्रहण करती है। भाषा वर्गणा के उन्हीं पुद्गलो को भाषा पर्याप्ति ग्रहण करती है, जो वर्तमान मे स्थिर है। अस्थिर पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता।[3]

पुद्गलों के स्वरूप का निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से किया जाता है। द्रव्य से जिन पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण किया जाता है। वे एक प्रदेशीय यावत् संख्य तथा असंख्य प्रदेशीय पुद्गल स्कन्ध नही होते, वे तो अनन्त प्रदेशीय पुद्गल स्कन्ध ही होते हैं। दो-तीन प्रदेशीय स्कन्ध तो क्या, असंख्य प्रदेशीय स्कन्ध को भी आत्मा ग्रहण नहीं कर सकती। आत्मा के काम आने वाले केवल अनन्त प्रदेशीय स्कन्ध ही हैं।[4]

क्षेत्र से एक प्रदेश में रहने वाले, दो प्रदेश में रहने वाले तथा संख्यात प्रदेश मे रहने वाले भाषा वर्गणा के पुद्गलो को आत्मा ग्रहण नहीं करती। आत्मा से गृहीत होने वाले पुद्गल असंख्य प्रदेशाकाश मे रहने वाले होते हैं।[5]

काल से एक समय की स्थिति वाले, दो समय की स्थिति वाले यावत् असंख्य समय की स्थिति वाले पुद्गलो को भाषा के रूप मे आत्मा ग्रहण करती है।[6] भाषा के पुद्गल कुछ एक समय के स्थिति वाले होते हैं, एक समय के बाद वे

---

१ भगवती सूत्र, शतक १३

२ अभिधान राजेन्द्र कोश

३ गोयमा ! ठियाइं गिण्हति नो अठियाइं गिण्हति।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

४ अणंतपदेसियाइं गेण्हति, नो असंखिज्जपदेसियाइं गिण्हइ।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

५ असंखेज्जपएसोगाढाइं गेण्हति।

—वही, पद ११

६ गोयमा ! एगसमय ठितीयाइं पि गेण्हति, दुसमय ठितीयाइं पि गेण्हति जाव असंखेज्ज समय ठितियाइं पि गेण्हति।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

भाषा के रूप मे काम नही आते। एक समय की स्थिति वाले पुद्गल भाषा की आदि परिणति में काम आते है। कुछ पुद्-गल ऐसे हैं, जो असख्य समय तक भाषा के रूप में अपरिवर्तनीय स्वरूप मे रह जाते है।

भाव से आत्मा वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान् तथा स्पर्शवान् पुद्गलो को ग्रहण करता है।

वर्ण मे ग्रहण द्रव्य की अपेक्षा से एक वर्ण वाले यावत पाँचो वर्ण वाले पुद्गलो को तथा सर्व ग्रहण की अपेक्षा नियमत· पाँचो वर्ण वाले पुद्गलो को आत्मा ग्रहण करता है। इसी प्रकार गन्ध और रस को जानना चाहिए।

स्पर्श में ग्रहण द्रव्य की अपेक्षा से भी एक स्पर्श वाले पुद्गलो को आत्मा ग्रहण नही करता। गृहीत होने वाले पुद्गलो मे कम-से-कम दो स्पर्श तथा अधिक-से-अधिक चार स्पर्श पाते है। उनके नाम है—शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, स्निग्ध-स्पर्श तथा रूक्षस्पर्श। पांच, छ यावत् आठ स्पर्श वाले पुद्गलो का भाषा के रूप मे ग्रहण नही होता। भाषा वर्गणा के पुद्गल-समूह नियमत: चतुस्पर्शी है।[1]

गृहीत होने वाले पुद्गल आत्मा से स्पृष्ट होते है, अस्पृष्ट नही। अस्पृष्ट पुद्गलो को आत्मा ग्रहण नही कर सकता। स्पृष्ट पुद्गल भी आत्म-प्रदेश के आकाश मे अवस्थित हो, तभी उन्हे आत्मा ग्रहण कर सकता है। जिन आकाश प्रदेशो मे आत्म-प्रदेश अवस्थित है, उन्ही आकाश प्रदेशो मे पुद्गल अवस्थित हो तो आत्मा उन्हे ग्रहण करता है। एक क्षेत्रावग्राही होने पर भी वे अनन्तरवर्ती (व्यवधानरहित) क्षेत्रावग्राही होने चाहिए। परम्परवर्ती (व्यवधान सहित) क्षेत्रावग्राही पुद्गल आत्मा के ग्रहण का विषय नही बन सकते।

अनन्तरवर्ती पुद्गल सूक्ष्म भी होते है, तथा बादर भी होते है। यहा सूक्ष्म का अर्थ परिमाण मे कम प्रदेशो वाला स्कन्ध करना चाहिए। कम परिमाण वाले पुद्गलो को भी आत्मा ग्रहण करता है और तीव्र प्रयत्न के द्वारा अधिक प्रमाण वाले पुद्गलो को भी एक साथ ग्रहण कर लेता है। चतु स्पर्शी होने के कारण वे चर्म-चक्षुओ से तो दीखते नही। जो पुद्गल-समूह अनन्त प्रदेशीय होते हुए भी कम मात्रा मे है, उन्हे सूक्ष्म कहा गया है और जो अधिक मात्रा मे है, उन्हे बादर कहा गया है। दोनो को आत्मा ग्रहण करता है। दोनो प्रकार के पुद्गल स्कन्धो का ऊर्ध्व, मध्य तथा नीचे से ग्रहण होता है; अत नियमत छहो दिशाओ से भाषा वर्गणा के पुद्गल-स्कन्धो का ग्रहण किया जाता है।

छहो दिशाओ से पुद्गल स्कन्धो का ग्रहण आदि मे भी होता है, मध्य मे भी होता है और अन्त मे भी होता है। अन्तर मुहूर्त पर्यन्त भाषा के पुद्गल ग्रहण किये जा सकते हैं। उस अन्तर मुहूर्त के आदि मे भाषा वर्गणा के पुद्गलो का ग्रहण होता है तथा मध्य और अन्त मे भी उसी प्रकार ग्रहण होता रहता है।[2]

गृहीत होने वाले पुद्गल अपने निर्धारित विषय के ही होते हैं, अन्य विषय के नही। जैसे सत्य बोलने वाला व्यक्ति जब बोलने के लिए पुद्गल ग्रहण करता है, तो सत्य विषयक पुद्गल ही गृहीत होगे, असत्य के नही। इसी प्रकार मृदु और कर्कश, स्त्रीलिंग, पुल्लिग, नपुसक लिग, एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि अनेक विषय हैं। जिस विषय मे तथा जिस रूप मे व्यक्ति बोलना चाहता है, तदनुरूप ही पुद्गल गृहीत होते है। वे भी अनुक्रम से, व्यतिक्रम से नही।

भाषा वर्गणा का ग्रहण निरन्तर भी होता है और सान्तर भी। व्यवधान पड़ता है तो कम-से-कम एक समय का और अधिक-से-अधिक असख्य समय का। यहाँ जो एक समय का व्यवधान लिया गया है, वह बोलने समय का समझना चाहिये। जैसे—पहले समय मे भाषा के पुद्गल ग्रहण किये, दूसरे समय मे उनका विसर्जन किया। नये पुद्गलो का ग्रहण दूसरे समय न कर तीसरे समय मे यदि करता है, तो एक समय का व्यवधान पड जाता है और निरन्तर ग्रहण करते समय दूसरे क्षण मे भी पुद्गल लेते रहते है। जिस समय मे विसर्जन होता है, उस समय मे भी ग्रहण होता रहता है।[3]

---

१ प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

२ वही, पद ११

३ वही, पद ११

विसर्जन प्रक्रिया

भाषा के पुद्गल गृहीत होते हैं। भाषा के रूप मे उनका परिणमन होता है, फिर उनका विसर्जन होता है। वस्तुत विसर्जन के समय मे ही भाषा है और तो उसकी प्रारम्भिक परिणतियाँ हैं।[1] जब उसका विसर्जन होता है, तभी वह जनोपयोगिनी बनती है। ग्रहण की भाँति विसर्जन निरन्तर नही होता, सान्तर ही होता है। एक पुद्गल-स्कन्ध के विसर्जन के बाद दूसरे पुदगल-स्कन्ध के विसर्जन मे व्यवधान केवल ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलो का है। जो पुद्गल वर्तमान क्षण मे गृहीत होते है, उनका विसर्जन उसी क्षण मे नही होता, उत्तरवर्ती क्षण मे होता है। अत विसर्जन प्रारभ होने के बाद समय की अपेक्षा मे निरन्तर होता है, पुद्गलों की अपेक्षा से सान्तर होता है। पुद्गलो का ग्रहण और विसर्जन पहले और अन्तिम समय को छोड कर बीच के सभी क्षणो मे साथ-साथ होता है। पहले समय मे केवल पुद्गलों का ग्रहण होता है, क्योकि विसर्जन तो ग्रहण किए बिना हो नहीं सकता और अन्तिम मे केवल विसर्जन ही होता है। बोलने की इच्छा बन्द होते ही, पुद्गलो का ग्रहण बन्द हो जाता है। उस समय मे केवल गृहीत पुद्गलो का विसर्जन ही होता है। समय की अपेक्षा से निरन्तर विसर्जन होते हुए भी उन गृहीत पुद्गलों की अपेक्षा मे व्यवधान सहित विसर्जन होता है। विसर्जन का क्रम गृहीत पुद्गलो के अनुरूप ही होगा। यदि सत्य भाषा के पुदगलो को ग्रहण किया है तो उसका विसर्जन भी सत्य भाषा के रूप मे होगा। इसी प्रकार जिस विषय मे पुद्गलों का ग्रहण होगा, उसी विषय मे उसका विसर्जन होगा। पुद्गल स्कन्ध की मात्रा भी गृहीत पुद्गलों के अनुरूप ही रहेगी।

विसर्जित होने वाले पुद्गल भिन्न होकर विसर्जित होते है, और अभिन्न भी। भाषा वर्गणा के कुछ पुद्गल ऐसे होते है जो भेद (टुकडे) होकर बाहर निकलते है और कुछ पुद्गल ऐसे भी होते है, जो बाहर निकलने के अन्तिम क्षण तक भेद प्राप्त नही होते। बाहर निकल जाने के बाद ही उनका भेद होता है।[2]

विस्तार की प्रक्रिया

वचन योग के द्वारा भाषा ज्यो ही बाहर निकलती है, उसी क्षण उसका फैलाव प्रारम्भ हो जाता है। सब पुद्गलो का विस्तार एक-सा नही होता है। जो पुद्गल वक्ता के तीव्र प्रयत्न द्वारा भेद प्राप्त होकर निकलते है, उनका विस्तार लोकान्त तक होता है और जो वक्ता के मन्द प्रयत्न के कारण भेद बिना पाये ही निकल जाते है, वे असख्य प्रदेशात्मक क्षेत्र दूर जाकर भेद प्राप्त होते हैं और सख्यात योजन दूर जाकर विध्वस हो जाते है। वे लोकान्त तक नही पहुँच सकते।[3]

भाषा वर्गणा के पुद्गलो को समूचे लोक मे फैलाव करने मे चार समय लगते है। उनके विस्तार की भी एक प्रक्रिया है और वह केवलीसमुद्घात के पहले चार समय की प्रक्रिया के अनुरूप ही प्रक्रिया है। पहले समय मे भाषा के पुद्गलो का चतुर्दशरज्ज्वात्मक एक दण्ड बनता है, जो ऊर्ध्व और अधो दिशि मे लोकान्त का स्पर्श करता है। दूसरे समय मे वे पुद्गल कपाट के आकार के हो जाते है। कपाट के द्वारा वे पुद्गल पूर्व, पश्चिम या उत्तर, दक्षिण वक्ता के सम्मुख तथा पीठवर्ती दो दिशाओं मे लोकान्त का स्पर्श कर लेते है। तीसरे समय मे वे पुद्गल मथनी के आकार के बन जाते है। इसमे अवशिष्ट दो दिशाओं के लोकान्त का स्पर्श कर लेते हैं। चौथे समय मे वे लोकव्यापी बन जाते है। चार दिशाओं के अलावा लोकान्त के कोण आदि मे भी फैल जाते है। इस प्रकार चार समय मे भाषा वर्गणा के पुद्गल समूचे लोक मे फैल

१ निसर्गसमय वर्तिन्येव भाषा।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

२ प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

३ वही, पद ११

जाते है ।[1]

कुछ आचार्यों का मत है, तीन समय मे ही ये पुद्गल लोक व्यापी बन जाते है । पहले समय मे छहो दिशाओ मे अनुश्रेणिगत लोकान्त तक पुद्गल फैल जाते है, दूसरे समय मे मन्थान करके विदिशाओ मे फैल जाते है तथा तीसरे समय मे बचे-खुचे प्रान्तरो को पूर देते है, ऐसा वे मानते है ।[2]

कुछ आचार्य पाँच समय की मान्यता भी रखते है । वे कहते है—वक्ता किसी विदिशा मे बैठा है। वहाँ से एक समय तो उन पुद्गलो को विदिशा से दिशा मे आने मे लग जाता है, दूसरे समय मे लोक के मध्य मे प्रवेश करना है । शेष तीन समय मे विस्तार की प्रक्रिया ऊपर बताई गई प्रक्रिया के समान ही समझ लेनी चाहिए ।[3]

तीन प्ररूपणा मे हमे तीन-चार तथा पाँच समय का उल्लेख मिलता है । समय की गणना अतीन्द्रिय-ज्ञानियो के द्वारा ही गम्य है । चर्म चक्षुओ के लिए तो यह केवल कल्पना का विषय रह जाता है। जहाँ एक पलक फेरने मे असख्य समय बीत जाते है, वहाँ तीन-चार तथा पाँच समय का माप हो ही कैसे सकता है ? आज जो वैज्ञानिको ने शब्द की गति का अकन किया है, वह स्थूल है । जैन दृष्टिकोण से भाषा के पुद्गल सेकिण्ड के असख्यातवे हिस्से जितने समय मे समूचे लोक मे फैल जाते हैं ।

१ केवली समुद्घातक्रमेण चतुर्भिः समयैः सर्वोऽपि लोको भाषा द्रव्यैरापूर्यंत इति । दण्ड प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तर तथा समये, मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे च ।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

२ पढम समयेच्चिय अम्रो मुक्काइं जंति छद्दिसि ताइं । बितिय समयम्मितेच्चिय, छवण्डा होंति धम्मंथा ।।
मंथं तरेहिं तइए, समए पुन्नेहि पुरिम्रो लोगो ।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

३ दिसि चिट्ठ यस्स पढमोऽतिगमे से चेव सेसया तिन्नि । विदिसि ट्ठियस्स समया पंचातिगमम्मि अ बोन्नि ।।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

वर्तमान युग में तेरापंथ का महत्त्व

डा० राधाविनोद पाल

तेरापथ के महत्त्व को समझने के लिए इस तथ्य को समझना आवश्यक है कि वर्तमान विश्व की स्थिति' विवेक पर आधारित 'श्रद्धा-युग' अथवा वास्तविक श्रद्धा पर आधारित 'विवेक-युग' की पुन स्थापना शीघ्र से शीघ्र चाहती है।

समस्याएं समय-समय पर उत्पन्न होती रहती है और विभिन्न समयो मे उनको अपने विशिष्ट पहलुओ के कारण विशेष महत्त्व मिल जाता है। मानव-समाज के सम्मुख उपस्थित एक युग के कतिपय बड़े प्रश्नो का घटनाओ के परिवर्तन के कारण आज हमारे युग मे अपेक्षाकृत अल्प महत्त्व रह गया है। जबकि कुछ प्रश्नो ने हाल के वर्षो मे नया और कही अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है। किन्तु विज्ञान ने मानव-जाति के हाथो मे वर्तमान युग मे जो विनाशकारी अस्त्र सौप दिये है, उनके कारण उत्पन्न समस्या से अधिक गम्भीर समस्या और कोई नही है। विनाश की इन सम्भावनाओ को देखते हुए, अहिंसा का सिद्धान्त जिस पर तेरापथ-सम्प्रदाय के पूज्य सस्थापक द्वारा अधिक बल दिया गया था, एक ऐसा सिद्धान्त माना जा सकता है, जो सभी सदाशयी व्यक्तियो को शीघ्र ही आकर्षित कर सकता है।

इस सत्य को कदाचित् ही अस्वीकार किया जा सकता है कि इस युग मे मानव समाज की रक्षा उसी दिशा मे हो सकती है जबकि आधुनिक मानव समुदाय विचार और व्यवहार मे अहिंसा के सिद्धान्त का सच्चाई से अनुसरण करना आरम्भ कर दे।

वर्तमान सामाजिक एव राजनैतिक प्रणालियो मे सशोधन की अत्यन्त आवश्यकता है और इसके लिए कुछ वास्तविक आन्तरिक रचना करनी होगी, जिससे श्रेष्ठ सामाजिक जीवन अस्तित्व मे आ सके और जो वर्तमान दुनिया को एक इकाई मान कर उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। यह सशोधन केवल समझौते का रूप न होकर वर्तमान स्थिति से उत्पन्न समस्याओं का वास्तविक समाधान होना चाहिए। किन्तु मनुष्य की शोध-शक्ति आज सर्वत्र ही भूल-भुलैया मे भटक रही है। इसका कारण यही है कि हम अपनी सीमित दृष्टियो को ही अन्तिम मान बैठे है। हम केवल अपने दृष्टिकोण की मर्यादाओं को ही अस्वीकार करने का प्रयत्न नही करते, अपितु हम अपने ज्ञान की अपर्याप्ति भावना और क्षुधा पर भी पर्दा डालने और उसे छिपाने का प्रयत्न करते है। उसके फलस्वरूप जो असहिष्णुता उत्पन्न होती है, वह शान्ति के लिए आवश्यक पारस्परिक सहमति के मार्ग मे सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है। आज की दुनिया इतनी असहिष्णु हो गई है कि निष्पक्ष आलोचना को भी सहन नही कर सकती। कोई भी ऐसा देश राज्य अथवा नेता नही है जो अपने दोषो की चर्चा सुनने को तैयार हो। यही कारण है कि तेरापथ के सिद्धान्तो मे सहिष्णुता पर इतना बल दिया गया है।

निस्सन्देह आज मनुष्य को अपने नैतिक और भावनात्मक साधनो मे ऊपर उठ कर सगठित होने को कहा जा रहा है। हम जिस सभ्यता के विकास की जिस कसौटी को खोज रहे है और मनुष्य बाह्य प्रकृति की उत्तरोत्तर विस्तृत और प्रभावशाली विजयों में जिसे पाने मे असफल रहा है, वह इस बात मे निहित है कि हम शक्ति के रूपान्तर पर अधिकाधिक जोर दे और उसका कार्य-क्षेत्र बाहरी क्षेत्र से हटाकर ऐसे क्षेत्र मे ले जाएं, जहां चुनौतियो का सफल समाधान बाहरी बाधाओ अथवा बाहरी शत्रु पर विजय प्राप्त करने के रूप मे नही होता, अपितु आन्तरिक आत्म-निर्माण और आत्म-निर्णय के रूप में होता है।

इस समय जबकि विश्व मे सर्वत्र हर कोई मानव-शक्ति के अत्यधिक विस्तार पर स्तभित है, तब मानव-ज्ञान

की सीमितता के विषय मे हमारा अज्ञान समस्त दुनिया के समक्ष एक महान् खतरा उपस्थित करता है और विघटनकारी रोग सिद्ध हो रहा है। कम-से-कम हम भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकारी तो इस खतरे से अपने को बचा सकते हैं।

हम अपने ज्ञान की सीमितता को जो अस्वीकार करते है, उसका कारण कुछ अश तक तो हमारे 'अज्ञान का अज्ञान' है, किन्तु अपने सत्य के लिए सम्पूर्णता के हमारे दावे हमारे 'अज्ञान का अज्ञान' नही होते। अवश्य हम कभी-कभी सत्य के अपने ज्ञान के आशिक और मन-गठित स्वरूप पर पर्दा डालने के सचेतन अथवा अर्ध चेतन प्रयास के रूप मे ऐसा दावा करते है।

सत्य और असत्य के बीच की सरल भेद-रेखा इस भयकर और करुणाजनक भ्रम का सुविधाजनक अस्त्र है कि 'हमारे सत्य' जो कुछ भी विरुद्ध है, वह असत्य है और उस असत्य का नाश करने के लिए हमें हर प्रकार के दमनकारी साधन का उपयोग करना चाहिए। यह भेद-रेखा इस बात को स्वीकार नही करती कि शुद्धतम सत्य मे भी कुछ-न-कुछ भूल हो सकती है और जो अधिक-से-अधिक प्रकट असत्य है। मानव बुद्धि की इस मर्यादा को समझ कर ही तेरापंथ के पूज्य सस्थापक आचार्यश्री भिक्षु ने सहिष्णुता पर इतना बल दिया है और उसे उच्च सास्कृतिक सद्गुण माना है।

हम पिछली अर्ध शताब्दी मे जिस इतिहास मे रहते आये है और मानवता के सामने जो नये-नये आतक और अकालीन भय उपस्थित हो रहे है, उनका स्मरण करके ही हम तेरापथ का महत्त्व पूर्णतया समझ सकते हैं। हमको यह स्मरण रखना होगा कि धर्म अन्य अनेक बातो के साथ एक ऐसी शिक्षा प्रणाली है, जिसके द्वारा मनुष्य प्रथमत आत्म-शिक्षा प्राप्त करता है और अपने व्यक्तित्व मे वाछनीय परिवर्तन करता है और दूसरे ऐसी चेतना का विकास करता है कि उसके और विश्व के मध्य उचित सम्बन्ध स्थापित हो सके, जिसका कि वह एक अग है। हम आज ऐसे युग मे हैं, जब विश्व-समुदाय को अपने समस्त विचारो मे एकता ही शक्तिशाली भावना का विकास करना चाहिए। दूसरे शब्दो में हमारे मानसिक ढाँचे मे भौतिक परिवर्तन होना चाहिए। इस युग मे जब विज्ञान ने सारे विश्व के सिर पर सहार के नये भीषण अस्त्र लटका दिये है और मानव के विवेक और बुद्धि अधिक-से-अधिक भ्रष्ट हो गए है, हमारे त्राण का यही सरलतम मार्ग हो सकता है। क्या हम इस सत्य की उपेक्षा कर सकते हैं कि हमारे जीवित रहने की न्यूनतम शर्त यह है कि हम अपने वर्तमान मानसिक गठन मे तुरन्त परिवर्तन करें ?

इस समय दुनिया मे हमारे सामने कठिनाई यह है कि यन्त्र विद्या की अद्भुत प्रगति ने एक नई ही दुनिया खडी कर दी है और हमारे भवन भावुक मन को उसके साथ आकस्मिक रूप मे सगति बिठानी पड रही है। यही तेरापथ समुदाय के सस्थापक स्वामी भिक्खनजी जैसे धर्म गुरु अहिंसा, सहिष्णुता और सत्य की अपनी शिक्षाओ और सिद्धान्तो को लेकर हमारे मध्य आते है। जिनके द्वारा मनुष्य का मन नई परिस्थितियो के साथ सगति बिठा सकता है।

यदि मनुष्य दूसरो पर सूर्य का प्रकाश डालना चाहे तो उसे सबसे पहले स्वय उस प्रकाश मे आलोकित होना चाहिए। विचारो ने केवल विचारो के रूप मे दुनिया को नही जीता है। प्रत्युत उन विचारो की शक्ति ने ही विजय प्राप्त की है। विचारो के बौद्धिक तत्त्व मनुष्यो के मन को उतना प्रभावित नही करते जितना उनकी जाज्वल्यमान शक्ति करती है, जो इतिहास के अमुक काल मे उनके द्वारा प्रसारित होती है। उनसे ऐसी तीव्र गन्ध प्रसारित होती है कि मंद-से-मंद घ्राण शक्ति पर भी वह विजय प्राप्त कर सकती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को केवल अपने शब्दो द्वारा प्रभावित नहीं कर सकता प्रत्युत अपने जीवन द्वारा प्रभावित कर सकता है। ऐसे महापुरुष होते हैं जो अपने नेत्रो से ही शक्ति और प्रेम का वातावरण फैला सकते है और उनके सकेतो मे और उनकी आत्मा की सौम्यता के मूक सम्पर्क मे अपूर्व शान्ति मिलती है।

बुद्ध ने इसी प्रकार जीवन का आलोक फैलाया था। वसन्त की भीनी वायु की भाँति मन्द-मन्द वह उस समय की दुनिया के तद्दिल प्राचीन भवन की दीवारो और बन्द खिडकियो मे प्रविष्ट हुआ। उसने उन स्त्री और पुरुषो को नया प्रकाश दिया जिनको शोक, निर्बलता और एकान्त ने वर्षों से क्षीण कर दिया था और जो सूखकर मूक प्राणियों के समान हो गये थे।

इसी प्रकार जैन धर्म के संस्थापको ने जीवन ज्योति फैलाई और तेरापंथ के संस्थापक आचार्यश्री भिक्खनजी

ने बडी जीवन ज्योति विकीर्ण की और उनके पश्चात् आने वाले आचार्यों ने भी उसी प्रकार जीवन ज्योति का प्रसार किया।

मुझे तेरापंथ के वर्तमान आचार्य पूज्य श्री तुलसी महाराज के सम्पर्क मे आने का अवसर मिला है और मुझे कहना चाहिए कि उनका हम पर जो भी प्रभाव है उसका कारण उनके शब्दो मे नही प्रत्युत उनके अपने जीवन मे है।

हम सबको आचार्यों के विचारो और शिक्षाओ—तेरापथ की शिक्षाओ और सिद्धान्तो से प्रेम करना चाहिए। हम सबको आचार्यश्री तुलसी के विचारो और शिक्षाओ से भी प्रेम करना चाहिए। यही नही हमको उनकी इच्छा और शिक्षाओ के आगे भक्ति पूर्वक नतमस्तक होना चाहिए। हमारी आत्मा स्वय समर्पण के लिए उत्सुक होनी चाहिए। उनकी शिक्षाओ को स्वीकारकरने और उन पर चलने की प्रेरणा हमारे अन्तरतम मे मे उद्भावित होनी चाहिए।

आचार्यश्री भिक्षु और उनका विचार-पक्ष

मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल'

तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने विचार-पक्ष के विषय मे बहुत गहन, सूक्ष्म एव व्यापक चिन्तन किया है। क्योकि मूल मान्यताओ की भूमिका पर ही कोई सगठन उच्च तथा नया जीवन देने वाला साबित हो सकता है। आचार्य भिक्षु ने आगम-मथन और अपनी तर्क प्रवण प्रतिभा के बल पर वे सत्य प्राप्त किये, जो जीवन-विकास के अप्रतिम आधार हो सकते थे। सत्य क्या है और उसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है? इस विषय पर उन्होने खूब खुले मस्तिष्क से विचार किया, फिर भी अपनी तर्कणा की कसौटी पर कसे हुए को भी अपनी समझ का सत्य माना। उस पर अपरिवर्तनीयता की छाप नही लगाई।

'कल्याण केवल उस मार्ग पर चलने से ही हो सकता है, जिस पर मै चल रहा हूँ', ऐसा आग्रह और अविवेक भरा कथन उन्होने कही नही किया। प्रत्युत विचार स्वातन्त्र्य के पथ को विशाल बनाते हुए कहा—"मैं जो कर रहा हूँ, वह उत्तरवर्त्ती आचार्यो को सही लगे तो करे और सही न लगे तो छोड दे।[1] इस प्रकार उन्होने विकास और स्थायित्व के मूल को अपने सगठन मे सुरक्षित कर लिया था।

सत्य की परख और उसकी प्राप्ति का मूल यही है कि हठवादिता न हो। अभिनिवेशपूर्वक यह मानना कि सत्य केवल वही है जो मैं मानता हूँ, सत्य के नही प्रत्युत असत्य के निकट होना है। सत्य केवल वही नही है, जो हमे दिखाई देता है। सम्भव है, वह बात भी सत्य हो, जो दूसरो के मुख से आ रही हो। सत्य मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की पहचान यही है कि वह दुराग्रही नही होता। वह इस बात को नही मानता कि मेरा मार्ग ही सही है और सबके गलत। आचार्य भिक्षु इसी कोटि के महापुरुष थे। उन्होने सत्य को बहुत विशाल और व्यापक माना। उन्होने चिन्तन के द्वार को सदा खुला रखा, फिर भी अपने मथन से प्राप्त तत्त्व को उन्होने तर्कपूर्ण तरीके से प्ररूपित किया। धर्म, दया, दान आदि विषयो को उन्होने गहराईपूर्वक तात्त्विक ढग से विवेचित किया।

धर्म

धर्म आत्म-विकास का साधन है। मौलिक रूप से उसका सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिकता से लिया जाता है, किन्तु उसकी व्यापकता हर पहलू पर अपनी छाप लगाती है। जीवन के हर व्यवहार मे उसे साधा जाना चाहिए। उस पर कोई प्रतिबन्ध नही होना चाहिए। वह किसी जाति-विशेष या वर्ग-विशेष का ही नही है। उसके गरीब, 'धनिक, ऊँच-नीच, काले-गोरे, सभी अधिकारी है। धर्म के दृष्टिकोण से उच्चता और नीचता की आधार भूमिका भी आचरण-व्यवहार ही है, न कि कुल, जाति या धन। किन्तु धर्म शब्द जितना प्रिय और आस्था को समेटे हुए है, उतना ही जन-साधारण के लिए भ्रान्तिमूलक भी है। उसके स्वरूप के विषय मे बहुत कुछ मिथ्या धारणाए मिलती है। लोगो ने उसे बहुत विकृत रूप मे प्रख्यात किया है। यही कारण है कि धर्म के नाम पर भयकर रक्तपात होते रहे है और मनुष्य ही मनुष्य का शत्रु होता रहा है। 'धर्म खतरे मे है' के नारे के बल पर मानव-समुदाय मे बहुत-बहुत वैमनस्य एव वैर को बढ़ावा दिया गया है।

१ कथाड़्या री ढालां, ५१

धर्म का कार्य शान्ति प्रदान करना है। शान्ति जहाँ भग होती हो, वहाँ वह टिक नही सकता, जैसे धूप मे छाया नही टिक सकती। धर्म के विषय मे गलत मान्यताओ के कारण बहुत बखेडे होते रहे हैं और विविध मतमतान्तरो का जाल बिछता रहा है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म की मूल आत्मा 'त्याग' को माना है। उन्होने स्पष्ट कहा कि धर्म भोगवृत्ति मे नही, त्याग-वृत्ति मे है। त्याग के बल पर व्यक्ति सयत, शुद्ध एव आत्मोन्मुख बनता है। असयतता से शोषण और सघर्ष निकलता है। असयम दूसरो के अधिकारो को छीनने का प्रतीक है। समुद्र अनेक नदी, नालो और निर्झरो का जल खीचकर उन्हे अस्तित्व विहीन बना देता है। वह असयतता और परिग्रह का परिणाम है। अपरिग्रह व्रत को निभाने वाला अपने पास कुछ संचय करने की बात नही सोचेगा। अत. वह दुर्व्यवस्था-जन्य दुविधा का जनक न होगा।

भोग और त्याग मे यही भेद-रेखा है। भोग व्यक्ति को विलासिता की ओर ले जाता है और विलासिता सग्रह की ओर ले जाती है। सग्रह निष्ठुरता को पैदा करता है। निष्ठुरता अर्थात् हृदय-काठिन्य शोषण और सघर्षों की कहानी प्रारम्भ करता है और तब शान्ति लडखडा जाती है। यह सब अनिष्ट परम्परा भोगवाद से प्रवाहित होती है। इसीलिए भारतीय दार्शनिको ने अनासक्ति और असग्रह को महत्त्व दिया। वैदिक ऋषियो ने कहा—**तेन त्यक्तेन भुञ्जीयथा**—त्यागपूर्वक भोग करो। भारतीय सस्कृति की मूल प्रेरणा है कि भोग के आगे त्याग को रखो, अनासक्ति को रखो। आचार्य भिक्षु ने इसी तथ्य को जनता के समक्ष दृढता के साथ रखा था।

आचार्य भिक्षु ने धर्म को धन-निरपेक्ष माना। उन्होने कहा—धर्म तो आत्म-परिष्कृति है, उसका धन से कोई लगाव नही। धन से यदि 'धर्मानुष्ठान होने लगे तो धनिक ही सबसे अधिक धार्मिक होगे। गरीब तो उसका अश भी न पा सकेंगे। धन से धर्म की निष्पत्ति मानने मे धर्म-प्राप्ति के लिए भी लोग द्रव्य-सचय चाहेगे और परिणाम यह होगा कि उसमे से अधर्म निकल आयेगा।

ऐहिक और भौतिक अभ्युदय धन से होता है, इस दृष्टि से वह समाज के लिए अनिवार्य है। समाज का परस्पर विनिमय भी धन के माध्यम से होता है। इससे समाज की एक व्यवस्था बनी रहती है और सामाजिक जीवन सुविधा से चलता रहता है। यहाँ तक उसकी आदेयता मानी जा सकती है, किन्तु वह धर्म के विषय मे कुछ भी उपकारक नही हो सकता। धर्म तो भौतिक जीवन से परे है। वहाँ मनुष्य का दृष्टिकोण और क्रियापद्धति ही विशेष होते है। धन की यहाँ कोई प्रेरणा नही रहती।

समाज-धर्म और आत्म-धर्म

आचार्य भिक्षु ने धर्म का विश्लेषण करते हुए यह भी प्ररूपणा की कि आत्म-धर्म और समाज-धर्म दोनो पृथक्-पृथक् सत्ता वाले है। दोनो का सम्मिश्रण नही होना चाहिए। हर सामाजिक कृत्य धर्म नही हो सकते। सामाजिक कृत्यो मे प्रवृत्ति का प्राचुर्य रहता है और उसमे बल, दबाव, नीति, स्वार्थ, मोह और द्वेष आदि भी सम्मिलित रहते है। अत. लौकिक धर्म विशुद्ध आत्म-धर्म के समक्ष नही ठहर सकता। सामाजिक कृत्य अपने समाज और राष्ट्र के लिए हितकर होते हुए भी दूसरे समाज या देश के लिए आक्रामक या अप्रिय हो सकते हैं, किन्तु आत्म-धर्म किसी के भी विरुद्ध नही हो सकता, अतः हर कर्तव्य को धर्म नही माना जाता। धर्म अवश्य कर्तव्य है, पर कर्तव्यमात्र धर्म नही है। सैनिक के लिए युद्ध करना कर्तव्य हो सकता है, पर धर्माङ्ग नही हो सकता। उसमे दूसरो के प्राणो का अपहरण होता है, जो कि अनधिकार प्रयत्न है। अपनी या अपने देश की सुरक्षा के लिए अन्य देश को असुरक्षित कर देना धर्मसम्मत कार्य नही है।

असल मे तो सामाजिक दृष्टिकोण धर्म-अधर्म की गहरी गुत्थी को लेकर नही चलता। सामाजिक दर्शन के अनुसार तो उपयोगी और निरुपयोगी का ही अधिक महत्त्व है। कोई कार्य यदि सामाजिक उत्थान या सामाजिक सुरक्षा के लिए उपयोगी होता है तो समाज-दर्शन उसे विहित मानेगा, भले ही उससे कितनी ही विकट हिंसा को प्रश्रय मिलता हो और कितना ही बड़ा अधर्म क्यों न होता हो, उसकी मर्यादा के अनुसार उसकी अपनी सुरक्षा करना और अपना ढाँचा बनाये रखना ही प्रमुख लक्ष्य है, न कि धर्म-अधर्म।

सामाजिक विचारधारा की अपनी सीधी-सी कसौटी तो यह है कि समाज के लिए जो वस्तु आवश्यक है और उपयोगी है, वह अच्छी है तथा जो उसके लिए अनावश्यक व अनुपयोगी है, वह बुरी है। अत सामाजिक दृष्टिकोण के अनुसार वही धर्म है, जो उसके विकास के लिए किया जाये, भले ही वह कार्य परम अधर्ममय और हिंसामय हो। अत सामाजिक कृत्यो को कभी आत्म-धर्म का रूप नही दिया जा सकता। उसे लौकिक व्यवहार, लोक-धर्म, समाज-व्यवस्था, सासारिक कर्तव्य, गृह-धर्म आदि के रूप मे ही देखना होगा।

समाज शास्त्र के अनुसार तो विकट परिस्थितियो मे की गई हिंसा क्षम्य है। वह सामाजिक धर्म है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वह विवशता की बात होगी, अनिवार्यता होगी, किन्तु वह धर्म की श्रेणी मे अवकाश नही पा सकेगी, रहेगी अनिवार्य हिंसा ही, अधर्म ही।

सामाजिक व्यक्ति को बहुत-से कर्तव्य निभाने होते है। सामाजिक जीवन में वे कर्तव्य न किये जायें तो समाज व्यवस्था मे या परस्पर के सम्बन्धो मे कटुता आ जाये अथवा अव्यवस्था उत्पन्न हो पाये। अत सामाजिक व्यक्ति के लिए वे सब कृत्य आवश्यक होते है, जो समाज के उन्नयन मे सहायक होते है। यह उसकी अनिवार्यता है, पर उसे धर्म मानना अज्ञान का परिणाम है।

खेती करना, उसकी सुरक्षा के लिए टिड्डियों को मारना, किसी रुग्ण की शारीरिक परिचर्या करना, किसी असहाय को सहायता देना आदि आवश्यक सामाजिक कार्य हो सकते है। सामाजिक जीवन के लिए ये अनिवार्य हो सकते हैं, किन्तु अनिवार्य होने से कोई वस्तु धर्म नही हो सकती। गृह-धर्म के लिए भोग अनिवार्य है, तो क्या वह आत्म-धर्म बन जायेगा ? अत सामाजिक कृत्य आत्म-धर्म की कल्पना मे निरुपयोगी और त्याज्य ही माने जायेंगे। यहाँ तो आत्म-विकासमूलक प्रवृत्तियो का ही ग्रहण हो सकता है। सबके प्रति प्रेम भावना या समत्व की दृष्टि रहे, अपनी किसी प्रवृत्ति मे दूसरे को सकट मे न डाला जाये, किसी का मन मे अहित-चिन्तन न हो, अपनी प्रवृत्ति से कोई आत्म-जागरण की दिशा मे बढ़े, यही अभीष्ट और धर्म है।

आचार्य भिक्षु के अभिमतानुसार अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी और असयमी को सयमी बनाना ही धर्म है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिरिक्त धर्म का कोई मार्ग नही है। अत. इस चतुरग धर्म की वृद्धि करना ही धर्म है। इसका विकास करना ही बडा उपकार है और वास्तविक धर्म है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के सिवा जो सहयोग, सेवा आदि किये जाते है, वे कार्य उनके स्वार्थमूलक पारस्परिक सम्बन्ध के सूत्र होते है। अत वहाँ आत्म-धर्म को खोजना जलती आग मे शैत्यान्वेषण के समान है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म का उद्गम स्थल आत्म-जागृति को माना है। मन मे परिवर्तन आये और आत्मा उसे ग्रहण करे, तभी धर्म की साधना हो सकती है। बल प्रयोग के माध्यम से धर्म की आराधना नही की जा सकती। एक हिंसक को बलपूर्वक हिंसक बनाना भी पाप ही है, धर्म नही। बल-प्रयोग से किसी को भोग मे निवृत्त करना भी अधार्मिक और पापमय कृत्य होगा। क्योकि वहाँ व्यक्ति का मानस जागता नहीं, उल्टा भयभीत होता है।

आचार्य भिक्षु ने स्पष्ट घोषणा की कि यदि बल-प्रयोग से धर्माराधना होती, तो अनन्तबली तीर्थंकर और सर्व-सत्ताधीश चक्रवर्ती अवश्य ही अपने आदेश मे समस्त हिंसा को बन्द करवा देते, किन्तु मूल तथ्य यह है कि धर्म की उपलब्धि बलात्कार मे नही, वह तो हृदय-परिवर्तन मे है। इस प्रकार उन्होने साध्य-साधन की पवित्रता पर पूरा बल दिया था। अशुद्ध साधन से पाप को मिटाना भी पाप माना और उसे हेय घोषित किया।

कुछ लोगो की मान्यता है कि जीवो को बचाना धर्म है, पर वास्तविक सत्य यह है कि धर्म का सम्बन्ध जीवो के बचने या मरने से नही, सयम और समता मे है। पर-पीडक बन कर व्यक्ति का अपने-आपका जीवन भी पापमय बन जाता है तो दूसरो को उत्ताप पहुँचा कर दूसरो की रक्षा करना धर्म-सगत कैसे हो सकता है ? जो जीवन दूसरो के लिए शस्त्र के समान है, उस जीवन की वाछा अज्ञानी लोग करते है। ज्ञानी तो जीवन-मरण मे समता रखते हैं। समता ही धर्म है।

जीवों को बचाने का विचार बहुत विशाल है। उसमे से आवेश और बलात्कार भी निकल सकते हैं। बचाने के

आग्रह में हिंसा को भी प्रश्रय मिल सकता है। इसीलिए 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' का सिद्धान्त उपयुक्त है। आचार्य भिक्षु ने अपनी क्रिया-कलापो द्वारा 'मत मारो' पर ही बल दिया था। उन्होंने 'बचाओ' को इस रूप मे ग्रहण किया कि पाप से अपनी और हिंसक की आत्मा बचाओ। वस्तुत तो हिंसक की आत्मा को ही मोडना है, उसे अहिंसक बनाना है। हिंसकों की हिंस्र मनोवृत्ति बदले बिना जीवों की रक्षा और बचाव कोई अर्थ नही रखता। एक हिंसक से किसी उपाय के द्वारा जीवों को बचा भी लिया जायेगा, तो भी उसकी क्या सुरक्षा हो सकेगी, जब कि अनेक हिंसक उपस्थित हैं। इस प्रकार आचार्य भिक्षु ने समस्या के उपरीतन को न पकड़कर मूल को ग्रहण किया था।

आचार्य भिक्षु ने धर्म के सम्बन्ध में अपने मौलिक एवं व्यापक विचार व्यक्त किये थे। लोगो मे जो कर्तव्य और धर्म को मिलाने की भ्रमणा थी, उसे मिटाने का प्रयास किया था। उन्होंने धर्म का अकुश सब क्रियाओ पर माना, पर हर क्रिया को धर्म नहीं माना। राजनीति और समाज-नीति से भी उन्होने धर्म को पृथक् माना क्योकि ये नीतियाँ सामाजिक और परिवर्तनशील होती हैं, जब कि धर्म का स्वरूप सब समयों और सब क्षेत्रो मे एक समान होता है।

दया

दया शब्द अत्यधिक प्रचलित है और वह धर्मांग के रूप मे ग्रहण किया जाता है। भारतीय सस्कृति मे इस क्रिया को अतिशय आस्था से देखा जाता है, पर जैसी हर शब्द की सीमा कालान्तर मे बहुत विस्तीर्ण हो जाया करती है, उसी प्रकार दया की परिधि भी बहुत व्यापक बन चुकी है। जैसे—दूध शब्द मे गौ, भैंस, आक, थोर आदि अनेक वस्तुओ के दूध समाविष्ट है, उसी प्रकार दया शब्द मे भी अनेक विध दयाओ का अन्तर्निवेशन है।

आचार्य भिक्षु ने यहाँ विश्लेषण चाहा। उन्होने कहा—जैसे दूध शब्द से दूध मात्र का निर्देशन होने पर भी दूध का उपयोग करने वाला और उसे व्यवहार मे लाने वाला पार्थक्य करता है कि कौन-सा दूध कहाँ काम मे लिया जाये। शारीरिक पौष्टिकता और स्वास्थ्य के लिए वह उसी दूध का उपयोग करता है, जो तदनुकूल परिणति कर सके। हर वस्तु अपने विशेष स्थान पर ही उपयुक्त हो सकती है सब जगह नही। पुष्टता एव बलवर्धन का अभिलाषुक व्यक्ति आक के दूध का पान करे तो उलटा परिणाम होगा। इसी प्रकार आध्यात्मिक और सामाजिक दया भी अपने पृथक-पृथक् स्थानो पर कार्यकारी है। उनका सम्मिश्रण करने से विपर्यास हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने दया के स्वरूप पर गहरा मन्थन किया है और कहा कि दया-दया सब पुकारते हैं। पर रहस्य की बात यह है कि उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानकर जो उसका पालन करेंगे, वे ही मुक्ति के निकट होगे। जो बिना इसका स्वरूप पहचान किये दया पालन करने वाले दया के नाम पर हिंसा को प्रश्रय दे डालते है, वे लाभ के बदले हानि के भागीदार बन जाते हैं।

आचार्य भिक्षु ने दया का विवेचन करते हुए कहा—सूक्ष्म और स्थूल सब जीवो के प्रति समभाव रखना ही दया है। किसी के प्रति मोह और किसी के प्रति विद्वेष पैदा न होने देना आत्माभिमुख क्रिया है और यही दया का सुन्दर स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि दया बाहर से सम्बद्ध न होकर व्यक्ति की अपनी ही आन्तरिक मनोवृत्ति और प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। एक को उबारना और एक को डुबोना दया की परिधि से एकदम बाहर है। निर्बल और असहाय की सुरक्षा के लिए किसी सबल पर प्रहार करना दया का कार्य नही है। यह तो राग-द्वेष का नर्तन है। बल-प्रयोग कभी दया का जनक नही हो सकता।

आचार्य भिक्षु की दया पूरी गहराई मे उतरी। उन्होने कहा—वह कभी दया नही मानी जा सकती, जिसमे तनिक भी हिंसा का मेल हो। बहुतों के लिए स्वल्पों की हिंसा भी हिंसा ही है। वह बहुतों की सुरक्षा के लिए की गई है, इस दृष्टि से उसे अहिंसा नहीं ठहराया जा सकता। इसी प्रकार बड़ों के लिए छोटी हिंसा भी अहिंसा की कोटि मे प्रवेश नही पा सकती। मनुष्य की सुविधा के लिए जो इतर जीवों का हनन किया जाता है, उसे अहिंसा समर्थन नहीं दे सकती। इस प्रकार के समर्थन से तो लघु जीवों के संहार को बहुत बड़ा प्रश्रय मिल जाता है।

मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। यह मनुष्य का अपना ही दर्शन है। अन्यथा तो अपने-अपने क्षेत्र मे सब जीव श्रेष्ठ हैं।

कोई हीन या लघु नही। कोई मृत्यु के लिए तैयार नही। कोई कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, फिर भी उसके लिए अपने प्राणो का बलिदान किसी को मान्य नही हो सकता। समर्थ प्राणी जो ऐसा करते हैं, वे अपनी सबलता के आधार पर ही करते हैं, उन्हे इसका कोई अधिकार नही होता, वे अनधिकार चेष्टा करते है।

अनिवार्य हिंसा

अनेक लोगो और मतमतान्तरों की मान्यता है कि जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य है। संसार मे जो जीव रहते हैं, उन्हे खान-पान, रहवास आदि जीवन के अनिवार्य कार्यों के निमित्त हिंसा का सहारा लेना ही पड़ता है। **जीवोजीवस्य जीवनम्** यह उक्ति इसी तथ्य को प्रगट करती है। जीवो की इतनी विवशता है कि हिंसा के बिना उनका जीवन ही नही टिक सकता। इतनी अनिवार्यता में जो हिंसा की जाती है, वह अहिंसा की कक्षा मे है, आचार्य भिक्षु ने इस सिद्धान्त का डट कर विरोध किया। उन्होने कहा—हिंसा कितनी ही अनिवार्य क्यो न हो, उसे अहिंसा नही माना जा सकता। विवेकशील व्यक्ति की यह कितनी बडी कमजोरी की बात है कि वह आदर्श तक नही पहुँच पाता, तो आदर्श को ही खिसका कर नीचे ले आना चाहता है, पर वस्तुत यह कार्य उसका समुचित नही है। हिंसा के सहारे की गई सेवा, सहानुभूति, सहयोग आदि सभी हिंसामय ही माने जायेंगे, क्योकि उसके मूल मे राग-द्वेष की भावना काम कर रही होती है। हिंसा हर अवस्था मे हिंसा ही रहेगी। हिंसा किसी भी पवित्र कार्य के लिए की जाये, पर उसमे धर्म नही हो सकता। सूई की नोक में कोई मोटे रस्से को पिरोना चाहे तो वह नही पिरोया जा सकता। वैसे ही हिंसा के किसी कार्य मे धर्म नही पिरोया जा सकता।

एक विचारधारा है कि बहुत प्राणियो के जीवन-हेतु जो थोडे प्राणियो की हिंसा की जाती है उसमे पाप तो लगता है, पर बहुत स्वल्प लगता है। क्योकि उनसे कई गुणे प्राणियो की रक्षा उस थोडी-सी हिंसा से हो जाती है। राष्ट्र या समाज की सुरक्षा के लिए कुछ व्यक्तियो को मौत के घाट उतार देना अहित का नही, प्रत्युत हित का साधन है। इसी तरह वे ऐसा भी मानते है कि योग्य और समर्थ जीवो के लिए क्षुद्र जन्तुओ का घात भी कोई अनिष्ट नही, उसमे दयाभाव की प्रधानता है। विशिष्ट जीवो को बचाने के लिए उठाया गया यह कदम अनुचित नही।

आचार्य भिक्षु ने इस विचारधारा पर सूक्ष्म विश्लेषण किया और पाया कि हिंसा और अहिंसा, दोनो एक जगह नही हो सकती। एक क्रिया से उभय की उत्पत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नही है। उन्होने कहा—अन्य कुछ वस्तुओ में तो सम्मिश्रण हो सकता है, पर दया और हिंसा मे किसी प्रकार का मेल नही हो सकता। जैसे पूर्व और पश्चिम के मार्ग परस्पर मेल नही खा सकते, उसी प्रकार जहाँ थोडी-सी भी हिंसा का सम्मिश्रण है, वहाँ दया नही हो सकती।

आचार्य भिक्षु ने दया के सम्बन्ध मे एक अन्य विश्लेषण भी प्रस्तुत किया। उन्होने कहा—दया दो प्रकार की होती है—एक आध्यात्मिक और दूसरी सासारिक। अध्यात्म क्षेत्र की दया मर्यादित होती है, उसमे किसी भी प्रकार से हिंसा प्रवेश नही पा सकती। आध्यात्मिक दया की सीमा वहाँ तक है, जहाँ तक उसे तनिक भी हिंसा-भाव का समर्थन न करना पड़े। पर सामाजिक दया धीरे-धीरे अपना विस्तार पा लेती है और खाद्य, न्याय तथा राष्ट्र की सुरक्षा के लिए हिंसा को प्रोत्साहन देने लगती है। समाज-शास्त्र अनेक दण्ड विधानो को मान्य करता है। राष्ट्र-सुरक्षा के लिए की गई हिंसा के लिए वैध करार देता है। अपने आक्रान्ता को मारने मे किसी प्रकार का दोष नही देखता, पर आध्यात्मिक दया इन सब कृत्यो से किसी भी अवस्था मे सहमत नही है। उसके मत मे प्राण-अपहरण तो दूर, किसी का अहित-चिन्तन मात्र हिंसा है। प्रवंचना करना भी हिंसा है।

आचार्य भिक्षु ने अपना यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट कहा है कि सासारिक दया केवल समाज व्यवहार की दृष्टि से ही उपयोगी मानी जा सकती है, आध्यात्मिक चिन्तन की अपेक्षा से नहीं, उसमे कोई आत्म-विश्वास का या समता-भाव का सवर्धन या पुष्टीकरण नही बल्कि आत्म-भाव का ह्रास और वैषम्य का उद्दीपन है। सामाजिक दया मे अभेद की प्रतिष्ठा न होकर, भेद की ही होती है। सामाजिक दया के माध्यम से जहाँ अनेक प्राणियों का कष्ट-निवारण होता है या उनके प्राणो की रक्षा होती है, वहाँ उनकी जानें भी चली जाती हैं। अत. यह अध्यात्म पथ के अनुसार महत्त्व-

पूर्ण नहीं रह जाती ।

दान

आचार्य भिक्षु ने दान के सम्बन्ध मे भी विशेष विश्लेषण प्रस्तुत किया । जन-साधारण मे जो दान की प्रथा प्रचलित है, वे उसमे सहमत न हुए । वहाँ उन्हे यश-कामना और ग्रह का पोषण तथा उसके अन्तर्-गर्भित शोषण नजर आया। प्रचलित दान प्रथा समाज में समता नही, वैषम्य पैदा करती है और याचक व्यक्ति में हीन भावना उत्पन्न करती है। तथा प्रकार के दान से व्यक्ति की शोषण करने की प्रकृति को प्रश्रय मिलता है, क्योकि समाज मे दाता को सन्मान मिलता है । लोग उसे हर आयोजन मे मिन्नते कर करके ले जाते हैं और ऊँचे मंच पर बैठाते है। धर्मशाला, विद्यालय और चिकित्सालय की पट्टी पर भी उनका ही सबमे पहले नाम होता है, जो बडी रकम देते हैं। इस प्रकार समाज के अधिकाश भाग का आदर उनको प्राप्त हो जाता है और उनके ग्रह की वृत्ति को प्रोत्साहन मिल जाता है। वे शोषण के अन्य नये मार्ग खोजते हैं तथा अधिक कमा कर और अधिक नाम कमाना चाहते हैं । परिणाम यह होता है कि उनकी शोषण की परम्परा कभी समाप्त नही होती ।

दान विषयक मन्थन करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा कि दान दो प्रकार के होते हैं—धार्मिक दान और लौकिक दान । धार्मिक दृष्टि से दान का अधिकारी संयमी ही हो सकता है, कोई अन्य नही । सयमी, जो कि अहिसा, सत्य, अपरिग्रह आदि की साधना मे लगा हुआ है जो अकिंचन और निर्ग्रन्थ है, जो अपने जीवन के लिए भी हिसा को आदेय नही मानता, ऐसे संयत पुरुष ही दान लेने के अधिकारी हैं । वे सिर्फ सयम-साधना के लिए अत्यन्त अनिवार्य वस्तु को ही ग्रहण करते हैं, उनका सग्रह नही करते । यहाँ पर दाता को सम्यक साधना मे समीचीन सहयोग देने के कारण शुद्ध दान का फल प्राप्त होता है । अत. धार्मिक दान ही सुपात्र दान है और वही आचरणीय है । लौकिक दान मे यद्यपि समाज के अबल, असहायो को सहायता प्राप्त होती है, उनकी दैहिक आवश्यकताओ की भी पूर्ति होती है, फिर भी वह शोषण पर आधारित है और आगे के लिए भी शोषण ही उत्पन्न करता है, अत वर्तमान समाज तथाप्रकार के दान को आशंका की दृष्टि से देखता है । वह शोषण-मुक्ति चाहता है, दान नही । तथाप्रकार के दान से वैषम्य को बहुत बढावा मिलता है। माँगने वालो की अकर्मण्यता और हीनवृत्ति इतनी बढ जाती है कि वे अपने को अपाग तक बना लेते हैं और अत्यन्त कारुणिक दृश्य उत्पन्न करके वे पैसा लेना चाहते है, पर कार्य करना नही चाहते ।

आचार्य भिक्षु ने अपने स्पष्टीकरण में यह भी बताया है कि असयत व्यक्ति का खाना, पीना, भोजन करना आदि सावद्य क्रियाए धार्मिक नही हैं; वैसे ही उस समाज के अगभूत एक याचक की सावद्य प्रवृत्तियाँ भी धर्ममय नही हैं, उसे आर्थिक या अन्य प्रकार का सहयोग देना धर्म नहीं, किन्तु एक सामाजिक कर्तव्य की पूर्ति मात्र है । वह आत्म-विकास का कार्य तो हो ही कैसे सकता है ? उनका स्पष्ट मत था कि पात्र दान के अतिरिक्त दान का समर्थन अध्यात्म दृष्टि से नही किया जा सकता ।

तेरापंथ में अवधान-विद्या

मुनिश्री मांगीलालजी 'मुकुल'

भारत सदा से ही अध्यात्म-विद्या मे अग्रणी रहा है। आज इस अन्वेषण-प्रधान युग मे जहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के विश्लेषण मे अपने को लगाये हुए है, वहाँ भारत के अध्यात्मवादी मुनियो ने आत्म-तत्त्व के अनुसन्धान मे अपना समग्र जीवन लगा कर उसका विश्लेषण किया और उसके साथ ही प्राप्त आत्म-ज्ञान के आधार पर उन्होने भौतिक पदार्थों का भी गम्भीरता से विवेचन किया, जो कि आज भी वैज्ञानिको के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री तथा मार्ग-दर्शन प्रस्तुत करता है। जैन अध्यात्म-वेत्ताओ ने इन विषय पर अपेक्षाकृत और भी अधिक सूक्ष्मता मे विचार किया है। लोक-रचना सम्बन्धी तथा परमाणु सम्बन्धी उनका तत्त्वज्ञान प्रयोगवादी वैज्ञानिको के लिए आधुनिक प्रगति के बाद भी मननीय है।

वैज्ञानिको ने जहाँ भौतिक सुख सुविधाओ का निर्माण कर दुनिया के लिए जीवनोपयोगी वस्तुओ की सुलभता की है, वहाँ अणुबम, उद्‌जनबम आदि विनाशकारी शस्त्रों का निर्माण कर न केवल मानव मात्र के जीवन को ही, अपितु प्राणीमात्र के जीवन को ही एक बहुत बडे खतरे मे डाल दिया है। यदि वैज्ञानिको ने इन भौतिक तत्त्वो के साथ-साथ आत्म-तत्त्व का भी अन्वेषण किया होता, तो बहुत सम्भव है कि यह खतरा उपस्थित न हो पाता। चन्द्रलोक व मगललोक की यात्रा मे सफल होने का स्वप्न देखने वाला वैज्ञानिक यदि आत्म-लोक की ओर उन्मुख होता, तो कितना महत्त्वपूर्ण होता ? अणु मे छिपी शक्तियो के आविष्करण के साथ ही यदि आत्मा मे छिपी अनन्त शक्तियो के आविष्करण मे भी दत्तचित्त होता, तो सम्भवत. उसने बहुत अधिक उन्नत और शान्त जीवन का प्रशस्त कर लिया होता।

वैज्ञानिको ने जिस दिशा को एक प्रकार से अछूता छोड दिया है,उसी दिशा की ओर भारत के मनीषियो ने बहुत पहले से ही ध्यान दिया है। उसमे विकास करते हुए उन्होने आत्म-शक्ति के अनेक पहलुओ को विकसित किया है। अवधान विद्या भी उन्ही मे से एक है। समय-समय पर भारत मे अनेक व्यक्तियो ने इस विद्या के द्वारा स्मृति-शक्ति मे एक चामत्कारिक विशेषता उपलब्ध की है। ऐसे व्यक्तियो की सख्या बहुत बडी तो नही, फिर भी काफी है। वर्तमान मे भी इस विद्या मे निपुण अनेक व्यक्ति हैं।

अवधान का तात्पर्य

अव उपसर्ग पूर्वक **धा धारणे** धातु के साथ **अनट्** प्रत्यय आने पर अवधान शब्द बना है। इसका अर्थ होता है— अच्छी तरह से धारण करना। प्रतिदिन बहुत-से पदार्थ देखे जाते हैं,बहुत-सी बातें सुनी जाती हैं, फिर भी स्मृति पर उनमे से कुछ तो बिल्कुल ही नही टिकती तथा कुछ आंशिक रूप से ही टिक पाती है। जो टिकती है, उनमे एक अवधि के बाद कई बाते भुला दी जाती हैं। बहुधा विद्यार्थी वर्ग की भी यह शिकायत सुनने मे आती है कि बहुत कुछ रटने पर भी पाठ याद नही होता। आज याद करते है और कल भूल जाते है। इसका उपचार क्या किया जाये ? यह समस्या केवल विद्यार्थियों के ही समक्ष नही है, अपितु सभी व्यक्तियो के सामने आती है। बहुधा मनुष्य अपनी आवश्यक बातों को भी याद नहीं रख पाता। इस स्मृति-अक्षमता का मूलभूत कारण यह है कि मनुष्य स्मर्तव्य के प्रति अवधान नहीं करता। यदि याद रखने के लिए अवधानपूर्वक देखा व सुना जाये, तो कोई कारण ही नही कि वे याद नहीं रह सकें।

उदाहरण के तौर पर सुनने को ही लिया जाये और पता लगाया जाये कि जितना सुना जाता है, वह याद क्यों

नहीं रहता ? कुछ विवेचक अनुसन्धान के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि स्वर लहरियो का कानो मे प्रविष्ट होना मात्र ही सुनना नहीं है, उसमें मस्तिष्क का सक्रिय सहयोग भी जरूरी है। इस सहयोग मे सबसे बडी बाधा यह है कि बोलने से सोचने की गति तीव्र होती है। एक मिनट में बोलने की गति एक सौ पच्चीस शब्द होती है, जबकि सोचना उससे चौगुनी गति से होता है। तात्पर्य यह है सौ शब्द सुनने के समय मे चार सौ शब्द सोचने योग्य समय बच जाता है। असावधान श्रोता इस समय मे और कुछ सोचने लग जाता है और वक्ता मे बिछुड जाता है। फिर बीच-बीच मे वक्ता की ओर ध्यान जाने पर भी बात का क्रम नही जुड़ पाता। वह ऊब जाता है। इससे सुनना कठिन और अन्य किसी विषय पर सोचना सुगम हो जाता है। आधी बात सुनने का अर्थ है—समय का अपव्यय। उपर्युक्त निष्कर्ष से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि यदि मनुष्य एकाग्र व सावधान होकर सुनने लग जाये तो नैरन्तरिक अभ्यास के द्वारा वह हर बात को सुगमतापूर्वक चिरकाल तक स्मृति पर अंकित रखने में समर्थ हो सकता है।

पौराणिक युग मे जब लिखने की परिपाटी नही थी, तब इस प्रकार के प्रयोगो द्वारा ही ऋषिजन लाखो पद्य कण्ठस्थ रखने मे समर्थ होते थे। वे अपने शिष्य-प्रशिष्यों को भी इन्हीं प्रयोगो द्वारा ग्रन्थ कण्ठस्थ करा दिया करते थे। यह परम्परा भारत में हजारो वर्षों तक चलती रही है। पर अब ज्यो-ज्यो मुद्रण-युग प्रगति कर रहा है, त्यो-त्यो मानव यह सोचने लगा है कि जिसे लिख कर या प्रकाशित कर अपने लिए व अपनी भावी पीढी के लिए सुरक्षित किया जा सकता है व आवश्यकता पडने पर उसका भली-भाँति उपयोग भी किया जा सकता है, तब स्मृति पर इतना अनधिकृत दबाव क्यो डाला जाये। सम्भव है, इस भावना ने ही मानव-मस्तिष्क को इतना कमजोर बना डाला कि यही सुनने को मिलता है कि स्मरण-शक्ति कमजोर हो गई है, कुछ भी याद नही रहता। अभी सुना कि अभी भूल गए। पर यह कैसी विडम्बना है कि जिनके पूर्वज सम्पूर्ण आगम-शास्त्र कण्ठस्थ रखते थे, उनकी सन्तान को अपने आवश्यक दैनिक कार्यों की स्मृति के लिए भी डायरी का अवलम्बन लेना होता है और उसके अभाव मे अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करते हैं। प्राचीन शिक्षा-परम्परा यह थी कि लोग सूत्र मे वृत्ति की ओर तथा फिर भाष्य और टीका की ओर बढते थे। उत्तरोत्तर ज्ञान की विशदता के लिए पक्ष-विपक्ष के तर्कों का मूल ग्रन्थो के द्वारा अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण समझते थे, पर आज की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। आज के छात्र किसी भी वस्तु-विस्तार को जानने को उतने उत्सुक मालूम नही देते। मूल-ग्रन्थों के अध्ययन की भी उन्हे अधिक परवाह नही है। वे काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त समझते है। इसलिए तो बहुधा नोट बुको, गाइडो या गैस पेपरो आदि पर निर्भर रहते हैं। छात्र यदि अवधान-विद्या मे रुचि लेने लगे, तो अवश्य ही उन्हे स्मृति विषयक विशेष सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है।

अवधान-प्रणाली का विद्या के रूप मे यद्यपि कुछ ही व्यक्ति प्रयोग कर सकते है, परन्तु साधारण रूप से तो इसका प्रयोग सर्वसाधारण के लिए भी हो सकता है। अवधान का अर्थ होता है—परिचित या अपरिचित किसी भी बात या वस्तु को मनोयोगपूर्वक अपने मस्तिष्क मे धारण कर रखना। जब कोई शब्द या वस्तु बहु परिचित होती है तो वह सहज ही याद रह जाती है। पर अल्प-परिचित या अपरिचित को याद रखना कठिन होता है। उसे याद रखने के लिए साधारणतया व्यक्ति अपनी नोट बुक मे उसका नाम लिख लेता है। पर इतने पर भी एक मूलभूत कमी यह रह सकती है कि उस नोट बुक के याद रखने का क्या साधन है ? किसी व्यक्ति को बाजार मे अपनी दैनिक आवश्यकता की कोई वस्तु खरीदनी है। उसका नाम उसको याद है। अथवा कोई अपरिचित वस्तु खरीदनी हुई, तो वह उसका नाम अपनी नोट बुक मे लिख लेता है। परन्तु जब वह बाजार मे से गुजरा, तब उसे न तो दैनिक आवश्यकता की वस्तु खरीदने का स्मरण हुआ और न उस नोट की हुई वस्तु के खरीदने का। घर आने पर पत्नी ने उलाहना देते हुए आगे के लिए सावधान किया और कहा—अब अपने रूमाल के गांठ देकर ही जाना ताकि जब-जब रूमाल पर हाथ लगेगा, तब-तब याद आता रहेगा कि बाजार से कुछ खरीदना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दो तरह से बात याद रखी जाती है। एक तो खरीदना है, दूसरे में 'क्या खरीदना है ?' खरीदना है, इसे गाँठ देकर याद रखते हैं और क्या खरीदना है, इसे नोट बुक में लिख कर।

जन-साधारण में प्रचलित इसी साधारण प्रक्रिया का एक विकसित तथा सुनियमित रूप अवधान-विद्या मे प्रयुक्त

किया जाता है। अपने मस्तिष्क को नोट बुक के पन्नों की तरह अनेक काल्पनिक भागो मे विभक्त करना, प्रत्येक भाग के प्रतीक स्थापित करना और फिर स्मरणीय वस्तु का उन प्रतीको के साथ सम्बन्ध योजित करना होता है। स्मरणीय वस्तुओ के प्रति तीव्र अभिरुचि तथा मस्तिष्क प्रकोष्ठो के प्रतीको के साथ सम्बन्ध योजन करने वाली प्रबल कल्पना-शक्ति इस विद्या मे प्रमुख रूप से सहायक सामग्री का काम देती है।

अवधान की प्रक्रिया के मुख्य चार अग माने जाते है

१. **ग्रहण**—जिस इन्द्रिय का विषय हो, उसके द्वारा उस वस्तु को एकाग्रता मे ग्रहण करना।

२. **धारण**—मस्तिष्क-प्रकोष्ठो के साथ सम्बन्ध-योजन द्वारा गृहीत बात को धारण कर सुरक्षित रखना।

३. **स्मरण**—आवश्यकता होने पर धारण की हुई बात को दोहराना।

४. **प्रत्यभिज्ञा**—स्मृति मे ली हुई वस्तु को पृथक्-पृथक् पहचानना।

अवधान-विद्या और जैन-परम्परा

जैन ग्रन्थो मे स्मरण-शक्ति विषयक उल्लेखो मे ईसा पूर्व मे हुए नन्दराज के महामत्री शकडाल की पुत्रियो की स्मृति-विलक्षणता का उल्लेख मिलता है। किन्तु उन्होने अधीन अवधान किया हो, ऐसा नही लगता। वह तो उनकी एक स्वाभाविक विशिष्टता थी। इस शक्ति को व्यवस्थित रूप मे विकसित करने तथा अवधान विद्या के रूप मे प्रयुक्त करने का सिलसिला क्रमश विकसित हुआ लगता है। इस परम्परा मे जैन मनि उपाध्याय श्री यशोविजयजी का नाम-विशेष उल्लेखनीय है। उन्होने इसका प्रयोग व्यवस्थित विधि से किया। उनका समय लगभग विक्रम की सोलहवी शताब्दी थी। वे सहस्रावधानी थे। कहा जाता है कि वे मनोयोग पूर्वक १००० गणित एव स्मृति प्रधान प्रश्नो को सुन कर घटो तक याद रख सकते थे। वाराणसी मे विद्वत् समाज के समक्ष जब उन्होने अवधान प्रस्तुत किये, तब आत्म-शक्ति के इस विलक्षण विकास पर सभी चकित रह गये थे। उनके बाद श्रीमद् रायचन्द्र का नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। वे एक महान् तत्त्वज्ञानी तथा अध्यात्मवेत्ता सद्गृहस्थ थे। महात्मा गाधी उनके जीवन से बहुत प्रभावित थे। अहिंसा विषयक उनके अनेक प्रश्नो का समाधान श्रीमद् रायचन्द्र ही किया करते थे। गाधीजी उन्हें गुरु-तुल्य माना करते थे। उन्होने गणित के जटिल प्रश्न एव स्मरण शक्ति के अद्भुत प्रयोगो द्वारा अनेको बार लोगो को चमत्कृत किया था। वर्तमान मे भी अनेक जैन मनि तथा सद्गृहस्थ इस विद्या के पारगत विद्वान है।

तेरापंथ में प्रथम अवधान-प्रयोग

तेरापथ सघ में सर्वप्रथम शतावधान का प्रयोग मनिश्री धनराजजी (सरसा) ने किया। वे सस्कृत, राजस्थानी तथा गुजराती आदि भाषाओ के कवि, तत्त्वज्ञ एव व्याख्यानी है। विक्रम सवत् २००३ मे भारत के प्रमुख नगर बम्बई में उन्होने सैकडो की उपस्थिति मे गणित एव स्मृति प्रधान १०१ जटिल प्रश्नो को लगभग सात घण्टे बाद दोहराया। उसका केवल वहाँ की जनता पर ही नही, अपितु अन्यत्र भी व्यापक असर हुआ। मनिश्री धनराजजी ने सौराष्ट्र, पजाब, राजस्थान मे अनेको बार इस विद्या के प्रयोग किये है व उससे जनता मे स्मृति-विलक्षणता के प्रति एक सहज अनुराग बढा है।

अवधान-विद्या का राष्ट्रव्यापी प्रभाव

अवधान-विद्या के प्रभाव को भारत की करोडो जनता तक फैलाने का श्रेय है—मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' को। वे सस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती आदि भाषाओ के विद्वान्, लेखक तथा सस्कृत के आशु कवि हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रचार-प्रसार मे भी उनका बेजोड श्रम रहा है। दिल्ली, जयपुर, बम्बई व लखनऊ उनके विशेष कार्यक्षेत्र रहे हैं। उन्होंने भी इसका पहला प्रयोग बम्बई नगर मे किया। अन्य नगरो के अतिरिक्त उन्होने दिल्ली मे भी तीन बार अवधान किये। यहाँ मे अवधानो की प्रसिद्धि और गरिमा सुविस्तृत बनी। तीनों बार के अवधानों ने क्रमश अधिक-से-अधिक वैचारिक क्षेत्रो को प्रभावित किया और भारत की राजधानी मे एक प्रकार की हलचल-सी पैदा कर दी। आध्या-

त्मिक विद्या का यह प्रयोग अनेक लोगों के लिए सर्वथा नया था। जो शिक्षित वर्ग अवधानों को एक तिकड़म मानता था, उनकी वास्तविकता को देख कर विस्मय विमुग्ध रह गया।

मुनिश्री नगराजजी के तत्त्वावधान में ता० ५ मई, १९५७ को दिल्ली के सुप्रसिद्ध स्थान टाउन हॉल में उन्होंने अवधान प्रस्तुत किये थे। इससे पूर्व दिल्ली में कोई अवधान-प्रयोग सुनने में नहीं आया था। जनता में उत्साह और कौतूहल दोनों विद्यमान थे। प्रस्तुत आयोजन में वाणिज्यमंत्री श्री मुरारजी देसाई, रेलमंत्री श्री जगजीवनराम, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा, उद्योगमंत्री श्री नित्यानन्द कानूनगो आदि तथा अन्य अनेक साहित्यकार प्रश्न-कर्ता के रूप में उपस्थित थे। इस आयोजन की सफल समाप्ति का जनता पर अपूर्व असर पड़ा। इसके अनन्तर अनेक शिक्षा-केन्द्रों तथा दूसरे स्थानों से उनको निमन्त्रण मिले।

अवधान का दूसरा आयोजन कान्स्टीट्यूशन क्लब में रखा गया। प्रस्तुत समारोह में गृहमंत्री पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयंगर, श्रममंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दा, खाद्यमंत्री श्री अजितप्रसाद जैन, इस्पातमंत्री सरदार स्वर्णसिंह, श्री महावीर त्यागी, सुप्रसिद्ध कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के अतिरिक्त अनेक साहित्यकार, पत्रकार और नगर के गण्यमान व्यक्ति उपस्थित थे। इस अवधान-प्रयोग का राजकीय वर्ग पर बहुत सुन्दर असर रहा। बहुत सारे लोगों ने इसे दैवी चमत्कार ही माना। मुनिश्री नगराजजी द्वारा इसका स्पष्टीकरण करने पर भी पं० गोविन्द वल्लभ पन्त यह मानने को तैयार न हुए कि यह कोई दैवी-चमत्कार नहीं है।

ता० २५ अक्तूबर, १९५७ को तीसरा अवधान-प्रयोग, राष्ट्रपति भवन में रखा गया, जिसमें केन्द्रीय मंत्री, उपमंत्री, संसद सदस्य, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, प्लानिंग कमीशन के सदस्य व प्रमुख साहित्यकार आमन्त्रित थे। राष्ट्रपति भवन के अशोक हॉल में यह समारोह हुआ था। प्रस्तुत समारोह में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्, प्रधानमंत्री प० जवाहरलाल नेहरू, दिल्ली विश्वविद्यालय के तात्कालीन उपकुलपति डा० वी० के० आर० वी० राव आदि प्रश्नकर्ता के रूप में तथा अन्य मन्त्री, संसद सदस्य, साहित्यकार, पत्रकार एवं सम्भ्रान्त नागरिक अवधान-प्रयोग देखने के लिए उपस्थित हुए थे।

अवधान का आरम्भ करते हुए डा० राजेन्द्रप्रसाद ने ८,३,४,२,५,४,६,९,१,७,४,३,२,९,६,१,८,५ के रूप में अठारह अंक कहे थे। पं० जवाहरलाल नेहरू ने फ्रेंच भाषा का 'पक्लतिरसे एपद मुहिय' वाक्य कहा था और उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने तेलगू भाषा का एक वाक्य और संस्कृत का एक श्लोक बोला था। मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' अपनी समाधि लगाकर बैठ गये और एक के बाद एक-एक अवधान सुनने लगे तथा सवा घण्टा के बाद उन्हें विधिवत् दोहरा दिया।

संस्कृत में आशु कविता के लिए प्रधानमंत्री ने 'रूस का कृत्रिम चाँद' विषय दिया था। वस्तुतः ही यह कार्यक्रम बहुत रोचक व आकर्षक रहा था। इस अवसर पर भाषण करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—हम लोगों को आज का यह दृश्य देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। आपकी इस विद्या से हम प्रभावित भी हुए हैं और बहुत चकित भी। भारतवर्ष की पुरानी विद्या, जिसे हम लोग भूलते जा रहे हैं, उसको आपने जीवित रखने का यह सुन्दर प्रयास किया है, इसके लिए आप बधाई के पात्र हैं।

आभार प्रदर्शन करते हुए उन्होंने कहा—मैं सबकी ओर से मुनिश्री नगराजजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी तथा उनके साथियों का धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने अपना समय देकर, कष्ट उठा कर हमें ऐसा चामत्कारिक प्रयोग दिखाया। हम आपके आभारी हैं।

अवधान विद्या में नया उन्मेष

प्रथम नवोन्मेष मुनिश्री राजकरणजी ने किया जो कि गणित एवं अवधान-विद्या के पूर्ण अधिकारी हैं। उन्होंने सं० २०१५ की ग्रीष्म ऋतु में उदयपुर डिवीजन के अन्तर्गत धारीण गाँव में बाहर से समागत सैकड़ों ग्रेजुएट छात्रों, वकीलों एवं सम्भ्रान्त नागरिकों के बीच ५०१ अवधान करके नया रिकार्ड स्थापित किया। उन्होंने ये अवधान अपने

प्रत्युत्पन्न बुद्धि की स्वतन्त्र स्फुरणा के आधार पर ही किये थे। पुस्तक एव व्यक्ति आदि के मार्गदर्शन बिना ऐसा कर पाना सहज नही हो पाता। उन्होने गणित विषयक अनेकों नये 'गुर' निकाले तथा अनेको नये प्रयोग किये। पूर्व अवधानकार मुनियो ने २५ खानो से अधिक का यन्त्र नही भरा था, पर उन्होने अधिक खानो वाले यन्त्रो के गुर निकाले तथा ४९, ६४, १२५ खानो वाले यन्त्र ही नही,अपितु ऊपर से ८८१ खानो के यत्र को अस्खलित भर कर अवधान-विद्या मे एक नई कड़ी जोड दी। सबसे अधिक आश्चर्य तो तब हुआ, जब मुनिश्री ने ५०१ अवधानो को लगभग आठ घण्टे बाद क्रमश तथा व्युत्क्रम से पूछे जाने पर भी बतला दिया। आप अच्छे तत्वज्ञ,चिन्तक,जैन शास्त्रो के विद्वान् एव चर्चावादी माने जाते हैं।

सहस्रावधान

अर्ध-सहस्रावधान के लगभग एक सप्ताह पश्चात दूसरा नवोन्मेष एक हजार अवधान का हुआ। इसका श्रेय मुनिश्री चम्पालालजी (सरदारशहर) को है, जोकि हिन्दी के आशुकवि एव सस्कृत के अच्छे विद्वान् है। उन्होने बीकानेर डिवीजन के अन्तर्गत तारानगर मे सुबह से शाम तक बिना कुछ खाये लगभग तेरह घण्टे तक एक स्थान पर ही बैठे रह कर सैकडो की उपस्थिति मे १००१ अवधान कर लोगो को चकित कर दिया। इसके बाद अब वे अवधान विद्या मे एक और नया उन्मेष करने मे लगे हुए है। वे चाहते है कि सौ मनुष्य अपने-अपने विषय चुन कर उन्हे दे और वे उसी समय आशु-कविता के रूप मे उन सभी विषयो पर कविता के प्रथम दो चरण पहले बोल दे और अन्तिम दो चरण कुछ समय पश्चात् क्रमश बोलते चले जाए। उनकी यह साधना विकासोन्मुख है और आशा है कि वे शीघ्र ही उसमे निष्णात होगे।

मुनिश्री श्रीचन्दजी 'कमल' ने केवल साधुओ की उपस्थिति मे ही डेढ हजार (१५०१) अवधान करके अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया। मुनिश्री श्रीचन्दजी सस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती भाषा एव गणित के अच्छे विद्वान है। अत कलकत्ता, कानपुर आदि अनेक नगरो मे आचार्यश्री के सान्निध्य मे वे इस विद्या के सफल प्रयोग कर चुके है।

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' के अवधान-प्रयोग भी काफी चामत्कारिक व प्रभावोत्पादक रहे हैं। इन्होने पहला प्रयोग विद्वानो की नगरी वाराणसी मे किया था। वाराणसी मे इन शताब्दियो मे यह पहला प्रयोग था। विद्वानो की सभा मे उन्होने कठिन-से-कठिन सस्कृत श्लोक व विदेशी भाषाओ के वाक्य स्मृति मे रखकर तथा गणित के दुरूह से भी दुरूह प्रश्नो का तत्काल समाधान प्रस्तुत कर जनता को चमत्कृत कर दिया। पटना के राजभवन मे भी उनके सफल प्रयोग हुए। कलकत्ता महानगरी मे दस हजार की जनता के बीच अवधान प्रस्तुत कर उन्होने अपनी स्मृति-विलक्षणता का विशेष परिचय दिया। उन्नीस वर्ष की वय मे मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' बम्बई विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण करके दीक्षित हुए है और केवल आठ मास के अल्पकाल पश्चात् ही अवधान-प्रयोग करने मे सफल हुए है। वे सस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, अग्रेजी, जर्मनी आदि भाषाओ के भी अच्छे ज्ञाता हैं।

साध्वी समाज मे भी अवधान-विद्या पनपने लगी है। अनेको साध्वियाँ इसका अभ्यास कर रही हैं। इनमें प्रथम प्रयोग साध्वी श्री किस्तूराजी ने दक्षिण भारत मे किया। वे सस्कृत, हिन्दी आदि की अच्छी विदुषी साध्वी हैं।

आदि घटना

आज से करीब बीस साल पहले आचार्यश्री का ध्यान अवधान-विद्या की ओर आकृष्ट हुआ था। उस समय गुजरात के एक श्रावक श्री धीरजलाल टोकरसी शाह ने आचार्यश्री के सम्मुख कुछ अवधान प्रस्तुत किये थे। तभी से आचार्यश्री की इच्छा थी कि सघ के साधु इस कला मे निष्णात हो। लेकिन तत्काल तो ऐसा कुछ नही हो सका, पर लग-भग छ. वर्ष बाद जबकि मुनिश्री धनराजजी (सरसा) ने बम्बई मे चातुर्मास किया, तो वहाँ श्री शाह के पास उन्होंने यह अभ्यास किया। इस प्रकार आचार्यश्री की वह मन कामना पूर्ण हुई। उसके बाद तो अवधान-विद्या का तेरापंथ में विकास होता ही गया। सार्ध सहस्रावधान के बाद तो आचार्यश्री को इसकी सख्या-वृद्धि पर एक प्रकार से रोक ही लगा देनी पड़ी। अन्यथा दो हजार अवधान करने की कामना तथा शक्ति रखने वाले भी साधु हैं।

परिशिष्ट

धवल समारोह समिति

(पदाधिकारी व सदस्य)

पदाधिकारी

१	श्री यू० एन० ढेबर, भूतपूर्व अध्यक्ष अ० भा० कांग्रेस कमेटी	अध्यक्ष
२	डा० सम्पूर्णानन्द, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री उत्तरप्रदेश	उपाध्यक्ष
३	श्री वाई० वी० चह्वाण, मुख्यमन्त्री महाराष्ट्र	,,
४	श्री मोहनलाल सुखाडिया, मुख्यमन्त्री राजस्थान	,,
५	श्री बी० डी० जत्ती, मुख्यमन्त्री मैसूर	,,
६.	श्री श्रीमन्नारायण, सदस्य योजना आयोग	संयोजक
७	श्री जबरमल भण्डारी, अध्यक्ष श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा	सह-संयोजक
८	श्री सुगनचन्द आंचलिया, भूतपूर्व अध्यक्ष अ० भा० अणुव्रत समिति	,,
९	लाला गिरधारीलाल जैन, अध्यक्ष जै० श्वे० तेरापंथी सभा दिल्ली	कोषाध्यक्ष

सदस्य

१० श्री बी० पी० सिन्हा, मुख्य न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय
११ आचार्य जे० बी कृपलाणी, भू० पू० अध्यक्ष प्रजा समाजवादी पार्टी
१२ श्री अटलबिहारी वाजपेयी, मन्त्री अखिल भारतीय जनसंघ
१३ श्री जयसुखलाल हाथी, विद्युत् उपमन्त्री भारत सरकार
१४ महाराजा श्री करणीसिंहजी, संसद सदस्य
१५. सेठ गोविन्ददास, संसद सदस्य, मन्त्री भारतीय संगम
१६. श्री सादिक अली, महामन्त्री अ० भा० कांग्रेस कमेटी
१७ श्री चपलाकान्त भट्टाचार्य, संसद सदस्य, अध्यक्ष अ० भा० समाचार-पत्र सम्पादक सम्मेलन
१८. श्री फादर जे० एस० विलियम्स, आर्चबिशप इण्डियन नेशनल चर्च बम्बई
१९. श्री गोपीनाथ 'अमन', अध्यक्ष जनसम्पर्क समिति दिल्ली प्रशासन
२०. डा० युद्धवीरसिंह, अध्यक्ष औद्योगिक सलाहकार मण्डल दिल्ली प्रशासन
२१. डा० विश्वेश्वरप्रसाद, अध्यक्ष इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
२२. डा० हरिवंशराय 'बच्चन', एम० ए०, डी० लिट्
२३. डा० सतकौड़ी मुकर्जी, निर्देशक नवनालन्दा महाविहार
२४ डा० हीरालाल जैन, अध्यक्ष भाषा विभाग जब्बलपुर विश्वविद्यालय
२५. डा० नथमल टांटिया, निर्देशक वैशाली प्राकृत विद्यापीठ
२६. श्री के० एस० धरणेन्द्रय्या, निर्देशक सांस्कृतिक व साहित्यिक संस्थान मैसूर राज्य
२७ श्री एल० ओ० जोशी, मुख्य सचिव दिल्ली प्रशासन

२८ डा० रामसुभगसिंह, मन्त्री कांग्रेस संसदीय दल
२६ श्री आई० डी० जालान, स्वायत्त शासन मन्त्री बंगाल
३० चौधरी कुम्भाराम आर्य, संसद सदस्य, उपाध्यक्ष अ० भा० पंचायत संघ
३१ श्री रामनिवास मिर्धा, अध्यक्ष राजस्थान विधान सभा
३२ श्री चन्दनमल बैद, भूतपूर्व वित्त उपमन्त्री राजस्थान
३३ श्री यशपाल जैन, सम्पादक जीवन साहित्य
३४ श्री रिषभदास राका, सम्पादक जैन जगत्
३५ श्री चिरजीलाल बडजाते
३६ आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दन शर्मा, आयुर्वेदाचार्य
३७ सेठ श्री पद्मपत सिंहानिया
३८ साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन
३६ श्री लालचन्द सेठी
४० समाजभूषण श्री छोगमल चोपड़ा, भूतपूर्व अध्यक्ष श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४१ श्री नेमचन्द गधैया ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
४२ श्री मदनचन्द गोठी ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
४३ श्री प्रभुदयाल डाबडीवाल भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४४ श्री पन्नालाल सरावगी ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
४५, श्री डालिमचन्द सेठिया बार एट ला ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
४६ श्री मोहनलाल बाठिया, प्रधान ट्रस्टी श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४७ श्री सन्तोषचन्द बरडिया, भूतपूर्व मन्त्री बीकानेर स्टेट
४८ श्री श्रीचन्द रामपुरिया, भूतपूर्व मन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४६ डा० जेठमल भसाली, मन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
५० श्री हणूतमल सुराणा, संस्थापक आदर्श साहित्य संघ
५१. श्री पारस जैन, अध्यक्ष अखिल भारतीय अणुव्रत समिति
५२ श्री रामचन्द्र जैन, संस्थापक भारती लोजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट श्रीगंगानगर
५३ श्री जयचन्दलाल दफ्तरी, भूतपूर्व मन्त्री अ० भा० अणुव्रत समिति
५४ श्री मोहनलाल कठौतिया, मन्त्री अणुव्रत समिति दिल्ली
५५ श्री कुन्दनमल सेठिया
५६ सेठ सुमेरमल दूगड
५७ श्री शुभकरण दसाणी
५८ श्री तेजमाल चोपड़ा
५६ श्री खेमकरण भूतोडिया, भूतपूर्व मन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६० श्री जसवन्तमल सेठिया, ट्रस्टी श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६१ श्री जयचन्दलाल कोठारी
६२ श्री धनराज सेठिया
६३ श्री केवलचन्द नाहटा, उपमन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६४ श्री नथमल कठौतिया, उपमन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६५ श्री नेमचन्द नगिनचन्द जवेरी, अध्यक्ष श्री जै० श्वे० ते० सभा बम्बई

६६. श्री जेठालाल झवेरी
६७. श्री रमणीकचन्द जवेरी
६८ श्री कन्हैयालाल दूगड, सयोजक बिहार प्रदेशीय अणुव्रत समिति
६९. श्री चूनी भाई मेहता, भूतपूर्व दिवान वाव स्टेट
७० श्री मोहनराज कोठारी, एडवोकेट
७१ श्री हीरालाल कोठारी
७२ प्रो० भैरूलाल धाकड
७३ श्री मगतराय जैन, उपाध्यक्ष अणुव्रत समिति दिल्ली
७४ श्री केसरीमल सुराणा
७५ श्री सुमेरमल आचलिया
७६ श्री नूनीयामल जैन
७७ श्री मुलतानसिंह जैन
७८ श्री सागरमल बेगाणी
७९ श्री हनुमानमल बेगाणी
८० श्री रामलाल गोलछा
८१ श्री चम्पालाल बैद
८२ श्री केसरीचन्द बोथरा
८३ श्री धर्मचन्द सेठिया
८४ श्री फतेहचन्द चोपडा, अवकाश प्राप्त आयकर अधिकारी
८५ श्री चन्दनमल बेगाणी
८६ श्री केवलराज सिंघी, प्रोप्राइटर मारवाड टेण्ट फैक्ट्री
८७ श्री कजोडीमल मेहता
८८ श्री मोतीलाल रांका
८९ श्री भँवरलाल कर्णावट
९०. श्री छगनलाल शास्त्री
९१ श्री सोहनलाल बाफणा, उपमत्री अणुव्रत समिति दिल्ली
९२. श्री लाडूलाल आच्छा, एम० काॅम
९३. श्री बच्छराज सचेती, सम्पादक जैन भारती
९४. श्री खेमचन्द सेठिया
९५. श्री कल्याणमल बरडिया, सयोजक पारमार्थिक शिक्षण सस्था
९६. श्री पन्नालाल बाठिया, मंत्री अणुव्रत समिति जयपुर
९७. श्री शुभकरण दूगड
९८ श्री शोभाचन्द सुराणा
९९. श्री रिखपाल जैन
१००. श्री ए० वी० आचार्य, मत्री कन्नड सघ पूना

सम्पादक-मण्डल : परिचय

श्री जयप्रकाश नारायण

जीवन के पूर्वार्ध में सर्वोच्च श्रेणी के राजनयिक, वर्तमान मे सर्वोदयी विचारक, जननेता और विश्वशान्ति के अन्तर्देशीय ख्यातिलब्ध समर्थक।

श्री नरहरि विष्णु गाडगिल

पंजाब के राज्यपाल, मराठी के महान् साहित्यकार, भूतपूर्व केन्द्रीय निर्माण मंत्री।

श्री के० एम० मुंशी

उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल, भू० पू० केन्द्रीय खाद्य-मंत्री, भारतीय विद्याभवन के संस्थापक।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

गांधीवादी साहित्य के महान् लेखक, तात्कालिक अजमेर राज्य के मुख्यमंत्री, राजस्थान के वित्तमंत्री।

श्री मुकुटबिहारी वर्मा

हिन्दुस्तान दैनिक के प्रधान सम्पादक, अ० भा० समाचार-पत्र सम्पादक सम्मेलन की कार्यकारिणी के सदस्य।

मुनिश्री नगराजजी

अणुव्रत-भावना के महान् प्रेरक, शोध प्रधान और तुलनात्मक साहित्य के यशस्वी लेखक, तेरापथ के कर्मण्य और विचारक मुनि।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

साकेत, भारत-भारती आदि के रचयिता, राष्ट्रकवि, संसद सदस्य।

श्री एन० के० सिद्धान्त

सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति, ग्रन्थ के सम्पादन काल में ही निधन प्राप्त।

श्री जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार, सूक्ष्म विचारक, साहित्य अकादमी की हिन्दी समिति के सदस्य।

श्री जबरमल भण्डारी

एडवोकेट, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के अध्यक्ष, आदर्श अणुव्रती।

श्री अक्षयकुमार जैन

नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन दिल्ली के प्रधानमंत्री, अ० भा० समाचार पत्र सम्पादक सम्मेलन की कार्यकारिणी के सदस्य।

श्री मोहनलाल कठौतिया

मैनेजिंग डायरेक्टर मैक्वेल इलेक्ट्रिकल्स (इण्डिया) लि०,
अध्यक्ष फैन मेकर एसोसियेशन,
मंत्री अणुव्रत समिति दिल्ली।

●

अकारादि-अनुक्रम